सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरेव च ॥ ४४ ॥
दश पुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ॥ ४५ ॥
भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ॥ ४६ ॥
ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणां च सर्वशः ।
संभूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सुविस्तराः ॥ ४७ ॥
भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत् ।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मोऽर्थः काम एव च ॥ ४८ ॥
धर्मकामार्थयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च ।
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ॥ ४९ ॥
इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च ।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ॥५० ॥
विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥ ५१ ॥

बडे पंडित और अनेक पुत्रों के जन्म-दाता दशज्योतिः, शतज्योतिः और सहस्रज्योति. नामक तीन पुत्र हुए। महानुभाव दशज्योतिः के दश सहस्र, शतज्योतिः के एक लक्ष और सहस्रज्योतिः के दशलक्ष पुत्र उत्पन्न हुए, उन्हीं लोगोंसे कुरुवंश, यदुवंश, ययातिवंश, इक्ष्वाकुवंश और दूसरे अनेक राजर्षि-वंश उपजे, और वे सब उपजे हुए वंश इस कालमे बहुत फैल गये है । (४१–४७)

सब भूतगात्रोंके स्थान, धर्म, अर्थ और काम के रहस्य, चारों वेद, योग शास्त्र, विज्ञान-शास्त्र, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष तथा धर्म, अर्थ और काम संबंधी अनेक शास्त्र, लोगोंके व्यवहार चलानेके उपयोगी अनेक शास्त्र श्री महाराज वेद व्यास ऋषि जानते थे। वह संपूर्ण विषय, व्याख्या-सहित सब इतिहास और अनेक भांति की कथाएं इस ग्रंथमें कही हैं; सो वही सब विषय इस ग्रंथके लक्षण हैं। (४८–५०)

कोई कोई विद्वान् इसको संक्षेपमें जानना चाहते हैं। इसलिये श्री महाराज वेद व्यास जी ने इसे संक्षेपमें और विस्तार-पूर्वक कहा है। भिन्न भिन्न पाण्डित भिन्न भिन्न स्थानसे इस संहिताका आरंभ समझते हैं; (१) कोई कोई तो "नारायणं नमस्कृत्य"

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५२ ॥
विविधं संहिताज्ञानं दीपयंति मनीषिणः।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद् ग्रन्थान् धारायितुं परे ॥५३॥
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम्।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥ ५४ ॥
पराशरात्मजो विद्वान् ब्रह्मर्षिः संशितव्रतः।
तदाख्यानवरिष्ठं स कृत्वा द्वैपायनः प्रभुः ॥ ५५ ॥
कथमध्यापयानीह शिष्यानित्यन्वचिन्तयत्।
तस्य तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ऋषेर्द्वैपायनस्य च ॥५६ ॥
तत्राजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकगुरुः स्वयम्।
प्रीत्यर्थं तस्य चैवर्षेर्लोकानां हितकाम्यया ॥ ५७ ॥
तं दृष्ट्वा विस्मितो भूत्वा प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः।
आसनं कल्पयामास सर्वैर्मुनिगणैर्वृतः ॥ ५८ ॥
हिरण्यगर्भमासीनं तस्मिंस्तु परमासने।
परिवृत्यासनाभ्याशे वासवेयः स्थितोऽभवत् ॥ ५९ ॥

इस ग्रन्थ में (२) कोई कोई आस्तीक पर्वसे और (३) कोई कोई राजा उपरिचर की कथासे इसका आरंभ समझकर पढने लगते हैं। ज्ञानी लोग अनेक उपायोंसे इस संहिता का ज्ञान प्रकाशित करते हैं। उनमें कोई कोई तो इसकी सुन्दर व्याख्या करते हैं और दूसरे इसको कंठ करके धारण करते हैं। (५१–५३)

सत्यवतीपुत्र विद्वान् ब्रह्मर्षि व्यासजी, अपनी तपस्या और ब्रह्मचर्य के प्रभावसे सनातन वेदका विभाग कर इस पवित्र इतिहास को रच गये हैं। वह शक्तिपूर्ण द्वैपायन सोचने लगे, कि इस श्रेष्ठतम इतिहास-ग्रन्थ की रचना के पश्चात् मैं इसे किस प्रकार शिष्यों को पढा सकूंगा। ऋषि द्वैपायन जी को ऐसी चिन्ता करते हुए जानकर सर्वलोकों के गुरुदेव भगवान् ब्रह्माजी श्रीमहाराज व्यासजी के सन्तोष के निमित्त और लोकोंके हित करनेकी इच्छासे उस स्थानमें स्वयं उपस्थित हुए। उन्हे देखते ही वेदव्यासजीने समस्त मुनियो के सहित अचम्भे में होकर उनको प्रणाम किया और बैठने को श्रेष्ठ आसन दिया। हिरण्यगर्भ के, उस आसन में बैठने पर, सत्यवती पुत्र उनके समीप दोनों हाथ जोड कर खडे रहे। (५४–५९)

अनुज्ञातोऽथ कृष्णस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
निषसादासनाभ्यासे प्रीयमाणः शुचिस्मितः ॥ ६० ॥
उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥ ६१ ॥
ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥ ६२ ॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥ ६३ ॥
जरामृत्यु-भय व्याधि-भावाभाव-विनिश्चयः ।
त्रिविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥ ६४ ॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च सर्वशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥ ६५ ॥
ग्रह- नक्षत्र- ताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥ ६६ ॥
न्यायः शिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥ ६७ ॥

अनन्तर कृष्णद्वैपायन जी परमेष्ठी की आज्ञा पाकर प्रसन्ननेत्र और आनन्द-भरे मुख से उन के आसन के निकट बैठ गये। कुछ काल पीछे अति तेजस्वी व्यासजी ब्रह्माजी से कहने लगे, कि हे भगवन् ! मैंने एक ऐसा परम पवित्र काव्य रचने की कल्पना की है, जिसमें वेद के गूढतत्त्व; वेद वेदांग और उपनिषद की व्याख्या; पुराण और इतिहास का प्रकाश; भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान-इन तीनों का निरूपण; बुढापा, मृत्यु, भय, व्याधि, भाव और अभाव का निर्णय; विविध धर्म और आश्रम के लक्षण; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-इन चारों वर्ण के लिये नाना पुराणों में कथित आचार, विधि, तपस्या और ब्रह्मचर्य; पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा और चारों युग के प्रमाण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और आत्मतत्त्व के निरूपण, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान-धर्म, पाशुपतधर्म और उनका वृतान्त कि जिस जिसने जिस जिस कारण से दिव्य वा मानव-योनिमें जन्म लिया है; पवित्र तीर्थ, देश, नदी, वन, पर्वत, समुद्र दिव्यपुरी, व्यूह, रचनेके नियमादि युद्ध-कौशल, विशेष विशेष जाति, लोकयात्रा के विधान कथित होंगे और इन सबके उपरान्त वह परब्रह्म, जो

तीर्थानां चैव पुण्यानां दिशानां चैव कीर्तनम।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥ ६८ ॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥ ६९ ॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम।
परं न लेखकः कश्चिदेतस्य भुवि विद्यते ॥ ७० ॥
ब्रह्मोवाच — तपो विशिष्टादपि वै विशिष्टान्मुनिसंचयात।
मन्ये श्रेष्ठतरं त्वां वै रहस्यज्ञानवेदनात् ॥ ७१ ॥
जन्मप्रभृति सत्यां ते वेद्मि गां ब्रह्मवादिनीम्।
त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति।७२॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे।
विशेषणे गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥ ७३ ॥
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने।
सौतिरुवाच — एवमाभाष्य तं ब्रह्मा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ७४ ॥
ततः सस्मार हेरम्बं व्यासः सत्यवतीसुतः।
स्मृतमात्रो गणेशानो भक्त-चिन्तितपूरकः ॥ ७५ ॥

संपूर्ण संसार में व्याप्त है, सिद्ध किया जावेगा;पर इस भूमण्डलमें इसे लिख सके ऐसा कोई योग्य लेखक नहीं है।(६९-७०)

ब्रह्माजी बोले—तुममें रहस्योंका ज्ञान रहने के कारण तुम बडे उग्र तप करने वाले, कुल-शील से सुशोभित और सब ऋषियोंमे श्रेष्ठ हो। मै जानता हूं; कि तुम जन्मके समयसे सत्य और ब्रह्म-संबंधी वाक्य ही कहा करते हो, सो जब तुमने स्वरचित ग्रंथको काव्य करके निर्णय किया है, तब वह काव्य ही करके प्रसिद्ध होगा; जैसे सब आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम सर्व प्रधान है, तैसे ही सब काव्यों में तुम्हारा यह काव्य सर्व-श्रेष्ठ होगा; कोई भी कवि इस से बढकर सुन्दर काव्य रच नहीं सकेगा। इस समय तुम गणेश जी को स्मरण करो, वही तुम्हारे इस काव्य के लेखक होंगे। (७१-७३)

श्री उग्रश्रवाजी बोले—कि ऐसा कहकर ब्रह्माजी के अपने स्थान को चले जाने पर सत्यवती-पुत्र श्री महाराज व्यासजीने हेरम्ब को स्मरण किया। भक्तो की इच्छा भरने वाले विघ्न-नाशी गणनायक को स्मरण करते ही वह वहां आ पहुंचे। वेदव्यासजी से पूजे जाकर उनके आसन मे विराजने पर, श्री महाराज व्यासजी बोले, हे अनघ

तत्राजगाम विघ्नेशो वेदव्यासो यतः स्थितः।
पूजितश्चोपविष्टश्च व्यासेनोक्तस्तदाऽनघ ॥ ७६ ॥
लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च ॥ ७७ ॥
श्रुत्वैतत्प्राह विघ्नेशो यदि मे लेखनी क्षणम्।
लिखतो नावतिष्ठेत तदा स्यां लेखको ह्यहम् ॥७८ ॥
व्यासोऽप्युवाच तं देवमबुध्वा मा लिख क्वचित्।
ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखकः ॥ ७९॥
ग्रन्थग्रन्थिं तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात्।
यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनस्त्विदं ॥ ८० ॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ॥ ८१ ॥
तत् श्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च ॥ ८२॥
सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् स्वयमास्ते विचारयन्।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनपि ॥ ८३ ॥

गणनायक ! मै बोले जाता हूं, आप मेरे मानस संकल्पित महाभारत ग्रन्थके लेखक होवें। यह सुन कर गणपतिजी वोले कि लिखना आरम्भ करने पर, यदि मेरी लेखनी क्षणमात्र भी न रुके, तो मै लेखक हो सकता हूं। श्री व्यासजी वोले, कि आपभी किसी स्थान का अर्थ विना समझे न लिखिये। गणनायकजी 'तथास्तु' कहके लेखक के कार्यमें नियुक्त हुये। व्यास जी ने इसीसे कौतूहलवश होकर वीच वीच ग्रन्थग्रन्थी अर्थात् समझने में अति कठिन श्लोक रचे हैं, और इसी प्रतिज्ञा के अनुसार इस महाभारत में ऐसे गूढार्थयुक्त आठ सहस्र आठ सौ श्लोक हैं, जिनके सत्य अर्थ मै जानता हूं, श्री शुकदेवजी भी जानते हैं और इसमें सन्देह है, कि सञ्जय जानता है वा नही। शिष्योंके निकट उन सब गूढार्थ युक्त व्यास-कूटो के वडे वडे कूट अर्थों की व्याख्या कोई नही कर सकता। उन श्लोकों के लिखने के समय श्री गणपती जी सब विषयों के जानकार होने पर भी, अर्थ समझने के लिये क्षणमात्र सोचा करते थे, और उसी अवसर में श्री व्यासदेव दूसरे अनेक श्लोक रच डालते थे। (७४–८३)

महाभारत-रूपी-सूर्यने मानवों का अंधेरा दूर किया है; यह पुराणरूपी-पूर्ण

अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥ ८४ ॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥ ८५ ॥
पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः ।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत्प्रकाशनम् ॥ ८६ ॥
इतिहास-प्रदीपेन मोहाऽऽवरण--घातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत्संप्रकाशितम् ॥ ८७ ॥
संग्रहाध्यायबीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान् ।
संभवस्कन्धविस्तारः सभारण्यविटंकवान् ॥ ८८ ॥
अरणीपर्वरूपाढ्यो विराटोद्योग-सारवान् ।
भीष्मपर्वमहाशाखो द्रोणपर्वपलाशवान् ॥ ८९ ॥
कर्णपर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्वसुगन्धिभिः ।
स्त्रीपर्वैषीकविश्रामः शांतिपर्वमहाफलः ॥ ९० ॥
अश्वमेधाऽमृतरसस्त्वाश्रम-स्थान-संश्रयः ।
मौसलः श्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवितः ॥ ९१ ॥
सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥ ९२ ॥

चन्द्रमा श्रुति-रूपी-ज्योत्स्ना को प्रगट कर मनुष्य बुद्धिरूपी-कुमुदवन को प्रकाशित कर रहा है; इस इतिहास-रूपी-दीपकने मोह रूपी अंधेरे को हरकर संपूर्ण भुवनरूपी गुहामें उजाला भर दिया है। बादल जैसे प्रजाओं का आश्रय है, तैसे ही यह महा-भारत-रूपी अविनाशी-वृक्ष सब बडे बडे कवियोंका आश्रय होगा। भारत-वृक्ष का संग्रह-अध्याय उसके बीज रूपी, पौलोम और आस्तीकपर्व जडरूपी, संभवपर्व गुद्दे रूपी, सभा और वनपर्व पक्षियों के घोसले-रूपी, अरणीपर्व पर्वरूपी, विराट और उद्योग पर्व साररूपी, भीष्मपर्व बडी शाखा रूपी, द्रोणपर्व पत्ररूपी, कर्णपर्व सुफेद फूलरूपी, शल्यपर्व गन्धरूपी, स्त्रीपर्व और ऐषीकपर्व छायारूपी, शान्तिपर्व महाफलरूपी, अश्व-मेधपर्व अमृतरसरूपी, आश्रमवासिकपर्व आधाररूपी, और मौसलपर्व बडी बडी शाखाओंके अन्तभाग रूपी हुए हैं। उत्तम ज्ञानी उस महाभारत रूपी वृक्षकी शरण लेते हैं; तथा यह महा-भारतरूपी वृक्ष पर्जन्यके समान सब को शांति प्रदान

सौतिरुवाच— तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम् ।
स्वादु-मेध्य-रसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥ ९३ ॥
मातुर्नियोगाद्धर्मात्मा गांगेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ॥ ९४ ॥
त्रीनग्नीनिव कौरव्याञ्जनयामास वीर्यवान् ।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ॥
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ९५ ॥
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ।
अब्रवीद्भारतं लोके मानुषेऽस्मिन् महानृषिः ॥ ९६ ॥
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमान्तिके ॥ ९७ ॥
स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ॥ ९८ ॥
विस्तरं कुरुवंशस्य गांधार्या धर्मशीलताम् ।
क्षत्तुःप्रज्ञांधृतिंकुंत्याःसम्यग्द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९९ ॥

करनेमें समर्थ है ॥ मै अब उसी वृक्षके स्वादिष्ट और पवित्र रसभरे नित्य धर्म रूपी फूल और फलोंसे युक्त कथा कहूंगा। (८४—९३)

पूर्व कालमें बडे वीर्यवन्त, धर्मात्मा कृष्ण द्वैपायनजी ने अपनी माता और प्रज्ञाशील भीष्म देव के नियोगसे विचित्र-वीर्य के क्षेत्र में तीनो अग्नि के समान तेजस्वी तीन पुत्र उपजाये थे। वेदव्यास जी महाराज इस प्रकार से धृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर इन तीन सन्तानों को जन्म-देकर तपस्या के लिये फिर आश्रम को गये। आगे उन पुत्रों के वृद्ध होकर परलोक सिधारने पर,वेदव्यासजीने मनुष्य लोक मे महाभारत को प्रगट किया। अनन्तर जनमेजय के सर्पयज्ञके समय मे सहस्रों ब्राह्मण और स्वयं जनमेजय के बडी चाहके साथ महाभारत सुनने की इच्छा दिखाने पर, श्री वेदव्यासजी ने शिष्यो के सहित पासही मे बैठे हुए श्री वैशम्पायन जी को ग्रन्थ सुनाने की आज्ञा दी। नित्य यज्ञ के कर्म पूरे होने के पीछे वैशम्पायन मुनि बार बार पूछे जा कर सभा में सभ्यों के साथ बैठकर महाभारत सुनाने लगे। (९४–९८)

भगवान् द्वैपायन ऋषीने इस महा भारत ग्रन्थ में कुरुवंशका विस्तार, गान्धारीकी धर्मशीलता, विदुर की प्रज्ञा,

अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥ ८४ ॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥ ८५ ॥
पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत्प्रकाशनम् ॥ ८६ ॥
इतिहास- प्रदीपेन मोहाऽऽवरण--घातिना।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत्संप्रकाशितम ॥ ८७ ॥
संग्रहाध्यायबीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान्।
संभवस्कन्धविस्तारः सभारण्यविटंकवान् ॥ ८८ ॥
अरणीपर्वरूपाढ्यो विराटोद्योग–सारवान।
भीष्मपर्वमहाशाखो द्रोणपर्वपलाशवान् ॥ ८९ ॥
कर्णपर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्वसुगन्धिभिः।
स्त्रीपर्वैषीकविश्रामः शांतिपर्वमहाफलः ॥ ९० ॥
अश्वमेधाऽमृतरसस्त्वाश्रम–स्थान–संश्रयः।
मौसलः श्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवितः ॥ ९१ ॥
सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥ ९२ ॥

चन्द्रमा श्रुति-रूपी-ज्योत्स्ना को प्रगट कर मनुष्य बुद्धिरूपी-कुमुदवन को प्रकाशित कर रहा है; इस इतिहास-रूपी-दीपकने मोह रूपी अंधेरे को हरकर संपूर्ण भुवनरूपी गृहमें उजाला भर दिया है। बादल जैसे प्रजाओं का आश्रय है, तैसे ही यह महा-भारत-रूपी अविनाशी-वृक्ष सब बडे बडे कवियोंका आश्रय होगा। भारत-वृक्ष का संग्रह-अध्याय उसके बीज रूपी, पौलोम और आस्तीकपर्व जडरूपी, संभवपर्व गुद्दे रूपी, सभा और वनपर्व पक्षियों के घोंसले-रूपी, अरणीपर्व पर्वरूपी, विराट और उद्योग पर्व साररूपी, भीष्मपर्व बडी शाखा रूपी, द्रोणपर्व पत्ररूपी, कर्णपर्व सुफेद फूलरूपी, शल्यपर्व गन्धरूपी, स्त्रीपर्व और ऐषीकपर्व छायारूपी, शान्तिपर्व महाफलरूपी, अश्व-मेधपर्व अमृतरसरूपी, आश्रमवासिकपर्व आधाररूपी, और मौसलपर्व बडी बडी शाखाओंके अन्तभाग रूपी हुए हैं। उत्तम ज्ञानी उस महाभारत रूपी वृक्षकी शरण लेते है; तथा यह महा–भारतरूपी वृक्ष पर्जन्यके समान सब को शांति प्रदान

सौतिरुवाच— तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम् ।
स्वादु-मेध्य-रसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥ ९३ ॥
मातुर्नियोगाद्धर्मात्मा गांगेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ॥ ९४ ॥
त्रीनग्नीनिव कौरव्याञ्जनयामास वीर्यवान् ।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ॥
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ९५ ॥
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ।
अब्रवीद्भारतं लोके मानुषेऽस्मिन् महानृषिः ॥ ९६ ॥
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥ ९७ ॥
स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ॥ ९८ ॥
विस्तरं कुरुवंशस्य गांधार्या धर्मशीलताम् ।
क्षत्तुःप्रज्ञांधृतिंकुंत्याःसम्यग्द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९९ ॥

करनेमें समर्थ है ॥ मै अब उसी वृक्षके स्वादिष्ट और पवित्र रसभरे नित्य धर्म रूपी फूल और फलोंसे युक्त कथा कहूंगा । (८४—९३)

पूर्व कालमें बडे वीर्यवन्त, धर्मात्मा कृष्ण द्वैपायनजी ने अपनी माता और प्रज्ञाशील भीष्म देव के नियोगसे विचित्र-वीर्य के क्षेत्र में तीनो अग्नि के समान तेजस्वी तीन पुत्र उपजाये थे । वेदव्यास जी महाराज इस प्रकार से धृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर इन तीन सन्तानों को जन्म-देकर तपस्या के लिये फिर आश्रम को गये । आगे उन पुत्रों के वृद्ध होकर परलोक सिधारने पर,वेदव्यासजीने मनुष्य लोक में महाभारत को प्रगट किया । अनन्तर जनमेजय के सर्पयज्ञके समय मे सहस्रों ब्राह्मण और स्वयं जनमेजय के बडी चाहके साथ महाभारत सुनने की इच्छा दिखाने पर, श्री वेदव्यासजी ने शिष्यो के सहित पासही मे बैठे हुए श्री वैशम्पायन जी को ग्रन्थ सुनाने की आज्ञा दी । नित्य यज्ञ के कर्म पूरे होने के पीछे वैशम्पायन मुनि बार बार पूछे जा कर सभा में सभ्यों के साथ बैठकर महाभारत सुनाने लगे । (९४–९८)

भगवान् द्वैपायन ऋषीने इस महा भारत ग्रन्थ में कुरुवंशका विस्तार, गान्धारीकी धर्मशीलता, विदुर की प्रज्ञा,

वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम्।
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान भगवानृषिः ॥ १०० ॥
इदं शतसहस्रं तु श्लोकानां पुण्यकर्मणाम।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम ॥ १०१ ॥
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम ।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ १०२ ॥
ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ।
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम ॥ १०३ ॥
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम ।
ततोऽन्येभ्योनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः ॥१०४॥
षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम ॥ १०५ ॥
त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम ।
पित्र्ये पंचदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश ॥ १०६ ॥
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम ।
नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन ॥ १०७ ॥
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशंपायन उक्तवान ॥ १०८ ॥

कुन्तिका धैर्य, श्रीकृष्णका माहात्म्य, पाण्डवों की सत्यनिष्ठा और धृतराष्ट्रपुत्रों की दुष्टता वर्णन की है। पहिले उन्होंने उपाख्यानको छोड़कर चौबीस सहस्र श्लोकोंमें भारत संहिता रची थी; पंडित गण उन्हीं चौबीस सहस्र श्लोकों ही को 'भारत' कहा करते हैं। आगे वेदव्यासजीने संपूर्ण पर्व और वृत्तांतों को संक्षेप कर डेढ सौ श्लोकों में अनुक्रमणिका–अध्याय को रचा। भगवान् द्वैपायन ने पहिले इसे अपने पुत्र शुकदेव जी को पढ़ाया और पीछे योग्य शिष्योंको भी प्रदान किया। इसके पीछे उन्होंने साठ लाख श्लोकों की दूसरी एक संहिता रची थी; उसके तीस लाख देवलोकमें, पन्द्रह लाख पितृलोकमें, चौदह लाख गन्धर्व लोकमें और एक लाख श्लोक मर्त्य लोक में प्रतिष्ठित हुए हैं। नारदजीने देवताओंको, असित देवलने पितरों को, और शुकदेवजीने गन्धर्व, यक्ष और राक्षसों को वह सब श्लोक सुनाये थे। (९८–१०७)

श्री व्यासजी महाराज के शिष्य सर्व वेदोंके ज्ञाता, धर्मात्मा श्री. वैशंपायनजी ने इस नरलोकमें जनमेजयके सर्पयज्ञके समय लाख श्लोकों की जिस भारत-

शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः ।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ॥ १०९ ॥
दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः फलपुष्पे समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥ ११० ॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ १११ ॥
पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् बुध्या विक्रमणेन च ।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसन् मुनिभिः सह ॥ ११२ ॥
मृगव्यवायनिधनात् कृच्छ्रां प्राप स आपदम् ।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ॥ ११३ ॥
मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति ।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ॥ ११४ ॥
तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ॥ ११५ ॥
ऋषिभिर्यत्तदानीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम् ।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ॥ ११६ ॥

संहिता को कीर्तन किया था, मै उसको वर्णन करता हूं, आप लोग श्रवण कीजिये । (१०८-१०९)

दुर्योधन मन्युमय अर्थात् अहंकारी महावृक्ष है; कर्ण उसका गुद्धा, शकुनी उसकी शाखा दुःशासन उसके बढे चढे फल-फूल; और अज्ञानसे अन्धे, प्रज्ञा-रहित धृतराष्ट्र उसकी जड-रूपी है। युधिष्ठिर धर्ममय महा-वृक्ष है; अर्जुन उसका गुद्धा, भीमसेन उसकी शाखा, नकुल और सहदेव उसके बढे-चढे फल-फूल और श्रीकृष्ण देव और ब्राह्मण उसकी जडरूपी है ॥(११० -१११)

राजा पाण्डु अपनी बुद्धि और विक्रमसे बहुत देश जयकर अंतमे अहेर खेलते हुए वनमें जाकर मुनियोंके साथ बसे थे; वह भोगमें आसक्त मृग- को मारकर घोर विपदमें पडे थे। उस वनमें आपद्धर्मके अनुसार कुन्ती और माद्री के गर्भमे धर्म, वायु, इन्द्र, और दोनों अश्विनी कुमार-इन पांच देवताओंके औरस से पाण्डवोका जन्म हुआ और क्रमानुसार सदाचार की विधिसे उनके जात कर्मादि सब किये गये। पाण्डव लोग पवित्र वनके भीतर बडे बडे तपस्वि-योंके पुण्याश्रम में साधुओंके सहित कुन्ती और माद्री से रक्षित होने और बढने लगे। कुछ काल पीछे एक समय ऋषि लोग उन

पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः ।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ॥ ११७ ॥
तांस्तैर्निवेदितान्दृष्ट्वा पाण्डवान्कौरवास्तदा ।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ॥ ११८ ॥
आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे ।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्येति चापरे ॥ ११९ ॥
स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम संततिम् ।
उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ १२० ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा निनादयन् ।
अन्तर्हितानां भूतानां निःस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ १२१ ॥
पुष्पवृष्टिः शुभा गन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः ।
आसन्प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १२२ ॥
तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसंभवः ।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवस्पृक्कीर्तिवर्धनः ॥ १२३ ॥
तेऽधीत्य निखिलान्वेदाञ्शास्त्राणि विविधानि च ।
न्यवसन्पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयाः ॥ १२४ ॥

राजलक्षणों से सुशोभित जटाधारी, ब्रह्मचारी शिशुओंको स्वेच्छासे धृतराष्ट्र आदिके पास ले गये। आगे वे मुनि लोग यह कह कर, कि " ये पाण्डुपुत्रगण तुम्हारे पुत्र, भ्राता, चेले और सुहृत है " वहांसे लौट चले। (११०–११७)

इस प्रकारसे पाण्डवों को अर्पण कर मुनियोंके चले जाने पर, उन्हें देख देख कर साधु कौरव लोग और नाना जाति पुरवासी हर्ष प्रकट करने लगे। कोई कोई बोले " यह पांडुपुत्र नहीं है। " कोई कोई बोले " ये ही पाण्डुकी सन्तान है" दूसरे लोग बोले " राजा पाण्डुको परलोक गये तो बहुत दिन हो चुके, तब उनके पुत्र कहांसे उपजे?" उस समय सर्वत्र पुरवासियोंका यह शब्द ही सुनाई देने लगा; कि "आज हमारा आना सब प्रकार शुभ निकला; क्यों कि सौभाग्यवश पाण्डुपुत्रोंका दर्शन हुआ; हे पाण्डवो! तुम तो कुशलसे आये न" यह शब्द बन्द होनेपर दशो ओरसे गूंजती हुई देवोंकी आकाशवाणी हुई। पाण्डवोंके नगरमें पहुंचते ही आश्चर्य रूपसे फूलोंकी वृष्टि, सुगंधका संचार, शंख और नगारे की ध्वनि होने लगी। उस आनंदसे पुरवासियोंकी कीर्ति बढानेवाली और आकाशतक पहुंचती हुई हर्षध्वनि उत्पन्न हुई। पाण्डव

युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन् ।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ॥ १२५ ॥
गुरुशुश्रूषया क्षान्त्या यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ॥१२६ ॥
समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्तृस्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १२७ ॥
ततःप्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्यःसर्वधनुष्मताम् ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ॥ १२८ ॥
स सर्वान् पार्थिवाञ् जित्वा सर्वांश्च महतो गणान् ।
आजहारार्जुनो राज्ञो राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १२९ ॥
अन्नवान् दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः ।
युधिष्ठिरेण संप्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ॥ १३० ॥
सुनयाद्वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
घातयित्वा जरासंधं चैद्यं च बलगर्वितम् ॥ १३१ ॥
दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः ।
मणि-कांचन-रत्नानि गो-हस्त्यश्व-धनानि च॥ १३२ ॥

नाना शास्त्र और संपूर्ण वेद पढ कर तथा निर्भय हो कर बडे आदर सम्मान से बसने लगे । (११७-१२४)

प्रजा , युधिष्ठिर के शुद्ध आचार, भीमसेन के धैर्य, अर्जुन के विक्रम, नकुल और सहदेव की नम्रता और कुन्ती की गुरुसेवासे परम प्रसन्न हुई; विशेष कर पांचो भाई की शूरता से सब लोगों को सन्तोष हुआ । आगे द्रौपदी के स्वयंवर स्थलमें अगणित राजाओं के एकत्रित होने पर, अर्जुन ने कठोर लक्ष्य को भेदकर उस राजपुत्री को जीत लिया । उस काल से वह इस धरती पर के धनुष धारियों के पूज्य हुए, और रण क्षेत्र में सूर्य की भांती उन पर किसी की दृष्टि नही ठहरती थी । आगे उन्होने राजाओ और बडे बडे शूर वीरों को जीत कर राजसूय – यज्ञ का आयोजन कर दिया । महाराज युधिष्ठिर ने वासुदेव जी की सुन्दर नीति और भीमार्जुन के भुजबल के सहारे अपरिमित अन्न और दक्षिणा दान कर सब प्रकारसे श्रेष्ठ राजसूययज्ञ किया(१२५-१३०

उस यज्ञमें बल–गर्वित जरासन्ध और अहंकारी शिशुपाल का विनाश हुआ था । कोशाध्यक्ष दुर्योधन के पास नाना स्थानोंसे मणि, सुवर्ण, रत्न, गौ, हाथी

विचित्राणि च वासांसि प्रावाराचरणानि च।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च॥ १३३ ॥
समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम्।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ॥ १३४ ॥
विमानप्रतिमां तत्र मयेन सुकृतां सभाम् ।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ॥ १३५ ॥
तत्रावहसितश्चासीत प्रस्कन्नमिव संभ्रमात ।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानभिजातवत् ॥ १३६ ॥
स भोगान विविधान् भुञ्जन रत्नानि विविधानि च।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ॥ १३७ ॥
अन्वजानात्ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः समभवन्महान्॥ १३८॥
नातिप्रीत-मनाश्चासीद्विवादांश्चान्वमोदत ।
द्यूतादीननयान घोरान विविधांश्चाप्युपेक्षत॥ १३९ ॥
निरस्य विदुरं भीष्मं द्रोणं शारद्वतं कृपम ।
विग्रहे तुमुले तस्मिन दहन क्षत्रं परस्परम ॥ १४० ॥

घोडे, रंगबिरंगके वस्त्र, शिबिर अर्थात कपडेके घर, यवनिका अर्थात पर्दा, अच्छे अच्छे मृगचर्म, रंकु मृगके लोम से बनी हुई चादरें—यह सब भेंट आने लगीं!! (१३१-१३३)

पाण्डवोंका वह बढा चढा ऐश्वर्य देखकर दुर्योधनके हृदयमें द्वेष-घटित क्रोध उत्पन्न हुआ। उस यज्ञमें मयदानव कृत विमान सदृश अपूर्व सभा देखकर वह दुःखसे जलने लगा। उस सभामें दुर्योधन को चलते समय भ्रमवश गिरते देखकर भीमसेनने श्रीकृष्ण चन्द्रके सन्मुख छोटे मनुष्यके समान अपमान दिखाकर उसकी बडी हंसी की। नाना प्रकार के रत्न और भांति भांति के भोग भोगने पर भी दुर्योधन चित्त—पीडासे मलिन, पीला और दुबला होने लगा। पुत्र-प्रेमी राजा धृतराष्ट्र के निकट यह बात कही जाने पर, उन्होंने जुआ खेलने की आज्ञा दी। (१३४-१३८)

यह सुनकर श्री वासुदेवजी को बडा क्रोध उपजा। उन्होंने बडे असन्तोष के साथ उस झगडे में अपनी सम्मति दी और विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य और शरद्वत के पुत्र कृपाचार्य की असम्मति से आपस की उस घोर लडाई में भिडे हुए क्षत्रियों

जयत्सु पाण्डुपुत्रेषु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तदा ॥ १४१ ॥
धृतराष्ट्रश्चिरं ज्ञात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु संजय सर्वं मे न चासूयितुमर्हसि ॥ १४२ ॥
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः ।
न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुलक्षये ॥ १४३ ॥
न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।
वृद्धं मामभ्यसूयंति पुत्रा मन्युपरायणाः ॥ १४४ ॥
अहं त्वचक्षुःकार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ॥ १४५ ॥
राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ॥ १४६ ॥
अमर्षणः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान् रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तं सुश्रियं क्षत्रियोऽपि सन् ॥ १४७ ॥
गान्धार-राज-सहित-श्छद्म-द्यूतममंत्रयत् ।
तत्र यद्यद्यथा ज्ञातं मया संजय तच्छृणु ॥ १४८ ॥

के नष्ट होनेके कारणरूपी भयावने जुआ आदि नाना कुनीतियों की ओर ध्यान नहीं दिया। पाण्डवोंके जय पाने के पीछे राजा धृतराष्ट्र, उस अति अप्रिय वाणीको सुनकर और दुर्योधन, कर्ण और शकुनि की पूर्व प्रतिज्ञा को स्मरण कर, देर तक सोचने समझने के पश्चात् संजय से कहने लगे। (१३८-१४२)

" हे संजय! मै सब वृत्तान्त कहता हू सुनो। तुम शास्त्र के ज्ञाता, मेधावी, बुद्धिमान् और पण्डितमण्डली में महाभाग्य हो; सो मुझ पर व्यर्थ दोष न लगाओ। देखो, युद्ध कुछ मुझे अभीष्ट नहीं था, और न मै कुलक्षय होनेसे सन्तुष्ट होता हूं, मेरे पुत्रों और पाण्डुके पुत्रों में कुछ विशेपता भी नहीं है। मेरे ईर्ष्या भरे पुत्रगण मुझ को वृद्ध जानकर मानते ही नहीं; मै अंधा और दीन हूं; सो पुत्र-स्नेह से सब सह लेता हूं, अचेत दुर्योधन के मोहयुक्त होनेसे मै भी मोह में पडता हूं। क्षत्रियवंशी दुर्योधन राजसूय यज्ञ में बडे प्रभावी युधिष्ठिर का अपार ऐश्वर्य देखकर और सभामें जानेके समय उस प्रकार हंसे जाकर, सह नहीं सका; और युद्धमें स्वयं पाण्डवों का पराजय करनेमें असमर्थ होकर पहिले राजलक्ष्मी

श्रुत्वा तु मम वाक्यानि बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥ १४९ ॥
यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम्।
कृष्णां हृतां प्रेक्षतां सर्वराज्ञां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५० ॥
यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५१ ॥
यदाश्रौषं देवराजं प्रवृष्टं शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५२ ॥
यदाश्रौषं जातुषाद्वेश्मनस्तान्मुक्तान् पार्थान् पञ्च कुंत्या समेतान्।
युक्तं चैषां विदुरं स्वार्थसिद्धौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५३ ॥
यदाश्रौषं द्रौपदीं रङ्गमध्ये लक्ष्यं भित्त्वा निर्जितामर्जुनेन।
शूरान्पंचालान्पाण्डवेयांश्च युक्तांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५४ ॥
यदाश्रौषं मागधानां वरिष्ठं जरासन्धं क्षत्रमध्ये ज्वलन्तम् ।
दोर्भ्यां हतं भीमसेनेन गत्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५५ ॥

पान का उत्साह खो दिया; पीछे राजा गान्धार से कपट जुए की युक्ति की। उस कालमें मैं जो कुछ जान सका था; वह सुनो। हे सूत-पुत्र ! मेरे वह सब बुद्धियुक्त वचन सुनकर मुझे सच्चा प्रज्ञाचक्षु जानोगे"। (१४३-१४९)

"जब सुना, कि अर्जुन ने विचित्र धनु चढाकर लक्ष्यका भेद करके धरती पर गिराया है, और सब राजाओंके सामने द्रौपदी को हर लाया है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि अर्जुन ने द्वारकामें जाकर माधव कि छोटी बहिन, सुभद्रासे बलपूर्वक विवाह किया है, और तिसपर भी श्री बलरामजी और श्रीकृष्णचंद्र दोनों इन्द्रप्रस्थमें आये हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि खाण्डव दाह के कालमें देवराज के जल बरसाने पर अर्जुन ने दिव्य बाणोंसे वृष्टि को रोककर अग्निको प्रसन्न किया है, हे संजय! तभी मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि पाण्डव लोग कुन्तीसहित जतु गृह से बच गये और विदुर उनकी मंगल-चेष्टा कर रहा है, हे संजय! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। (१५०-१५३)

जब सुना, कि रंग-स्थल में अर्जुनने लक्ष्यका भेद कर जय-सहित द्रोपदीका लाभ किया है, और महाबली पांचाल और पाण्डव एक हो गये हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब

यदाश्रौषं दिग्विजये पाण्डुपुत्रैर्वशीकृतान् भूमिपालान् प्रसह्य ।
महाक्रतुं राजसूयं कृतं च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५६ ॥
यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकंठीं सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५७ ॥
यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः ।
दुःशासनो गतवान्नैव चान्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५८ ॥
यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम् ।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयैस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५९ ॥
यदाश्रौषं विविधास्तत्र चेष्टा धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय ।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६० ॥
यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रैरन्वागतं धर्मराजं वनस्थम् ।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६१॥
यदाश्रौषमर्जुनं देवदेवं किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे ।
अवाप्तवन्तं पाशुपतं महास्त्रं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६२ ॥

सुना, कि भीम-सेन ने क्षत्रियों में वडे तेजस्वी, मगधनाथ जरासन्ध को भुज-वलसे मार डाला है, हे संजय! तभी मैंने फिर जयकी आशा नहीं की। जब सुना, कि पाण्डुपुत्रों ने दिग्विजय में सब नरेशों को वल-पूर्वक अधीन कर राजसूय महा यज्ञ सम्पूर्ण किया है, हे संजय! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि रोती-पीटती, एक -वस्त्र-पहरी हुई, दुःखमें डूबी, रजस्वला, सनाथ द्रौपदी अनाथ की भांति सभामें लिवाई गई है, हे संजय! तभी मैंने फिर जयकी आशा नहीं की। (१५४ १५७)

जब सुना, कि कुबुद्धि कपटी दुःशासन ने उस सभाके वीच में द्रौपदी के अंग से वस्त्र खीच कर ढेर लगाया, तिस पर भी वस्त्र का पार नही पा सका, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि, शकुनिने युधिष्ठिर को जुए में हराकर राज हर लिया है, और तिस पर भी, वडे प्रतापी भाई लोग युधिष्ठिर के आज्ञाधीन वने है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि धार्मिक पाण्डव लोग वनमें जाकर वडे भाई को प्रसन्न रखने के लिये अनेक कष्ट उठाते हुए वडी वडी चेष्टा करते है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि सहस्रों महानुभाव स्नातक और भिक्षाभाग लगानेवाले ब्राह्मण-गण वनमें धर्मराज के अनुगत हुए है, हे

श्रुत्वा तु मम वाक्यानि बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥ १४९ ॥
यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम्।
कृष्णां हृतां प्रेक्षतां सर्वराज्ञां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५० ॥
यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५१ ॥
यदाश्रौषं देवराजं प्रवृष्टं शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५२ ॥
यदाश्रौषं जातुषाद्वेश्मनस्तान्मुक्तान् पार्थान् पञ्च कुंत्या समेतान्।
युक्तं चैषां विदुरं स्वार्थसिद्धौ तदा नाशंसे विजयाय संजय॥ १५३ ॥
यदाश्रौषं द्रौपदीं रङ्गमध्ये लक्ष्यं भित्त्वा निर्जितामर्जुनेन।
शूरान्पंचालान्पाण्डवेयांश्च युक्तांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५४ ॥
यदाश्रौषं मागधानां वरिष्ठं जरासन्धं क्षत्रमध्ये ज्वलन्तम् ।
दोर्भ्यां हतं भीमसेनेन गत्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५५ ॥

पान का उत्साह खो दिया; पीछे राजा गान्धार से कपट जुए की युक्ति की। उस कालमें मैं जो कुछ जान सका था; वह सुनो। हे सूत-पुत्र ! मेरे वह सब बुद्धियुक्त वचन सुनकर मुझे सच्चा प्रज्ञाचक्षु जानोगे "। (१४३-१४९)

"जब सुना, कि अर्जुन ने विचित्र धनु चढ़ाकर लक्ष्यका भेद करके धरती पर गिराया है, और सब राजाओंके सामने द्रौपदी को हर लाया है, हे संजय ! तभी मैने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि अर्जुन ने द्वारकामें जाकर माधव कि छोटी बहिन, सुभद्रासे बलपूर्वक विवाह किया है, और तिसपर भी श्री बलरामजी और श्रीकृष्णचंद्र दोनों इन्द्रप्रस्थमे आये हैं, हे संजय ! तभी मैने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि खाण्डव दाह के कालमें देवराज के जल बरसाने पर अर्जुन ने दिव्य बाणोंसे वृष्टि को रोककर अग्निको प्रसन्न किया है, हे संजय! तभी मैने जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि पाण्डव लोग कुन्तीसहित जतु गृह से बच गये और विदुर उनकी मंगल-चेष्टा कर रहा है, हे संजय! तभी मै ने फिर जय की आशा नहीं की। (१५०-१५३)

जब सुना, कि रंग-स्थल में अर्जुनने लक्ष्यका भेद कर जय-सहित द्रौपदीका लाभ किया है, और महाबली पांचाल और पाण्डव एक हो गये है, हे संजय! तभी मैने फिर जय की आशा नहीं की। जब

यदाश्रौषं दिग्विजये पाण्डुपुत्रैर्वशीकृतान् भूमिपालान् प्रसह्य ।
महाक्रतुं राजसूयं कृतं च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५६ ॥
यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकंठीं सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५७ ॥
यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः ।
दुःशासनो गतवान्नैव चान्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५८ ॥
यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम् ।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयैस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५९ ॥
यदाश्रौषं विविधास्तत्र चेष्टा धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय ।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६० ॥
यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रैरन्वागतं धर्मराजं वनस्थम् ।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६१ ॥
यदाश्रौषमर्जुनं देवदेवं किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे ।
अवाप्तवन्तं पाशुपतं महास्त्रं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६२ ॥

सुना, कि भीम-सेन ने क्षत्रियों में बडे तेजस्वी, मगधनाथ जरासन्ध को भुज-बलसे मार डाला है, हे संजय! तभी मैंने फिर जयकी आशा नहीं की। जब सुना, कि पाण्डुपुत्रों ने दिग्विजय में सब नरेशों को बल-पूर्वक अधीन कर राजसूय महा यज्ञ सम्पूर्ण किया है, हे संजय! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि रोती-पीटती, एक-वस्त्र-पहरी हुई, दुःखमें डूबी, रजस्वला, सनाथ द्रौपदी अनाथ की भांति सभामें लिवाई गई है, हे संजय! तभी मैने फिर जयकी आशा नहीं की। (१५४ १५७)

जब सुना, कि कुबुद्धि कपटी दुःशासन ने उस सभाके बीच में द्रौपदी के अंग से वस्त्र खींच कर ढेर लगाया, तिस पर भी वस्त्र का पार नहीं पा सका, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि, शकुनिने युधिष्ठिर को जुए में हराकर राज हर लिया है, और तिस पर भी, बडे प्रतापी भाई लोग युधिष्ठिर के आज्ञाधीन बने है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि धार्मिक पाण्डव लोग वनमें जाकर बडे भाई को प्रसन्न रखने के लिये अनेक कष्ट उठाते हुए बडी बडी चेष्टा करते हैं, हे संजय! तभी मैने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि सहस्रों महानुभाव स्नातक और भिक्षाभाग लगानेवाले ब्राह्मण-गण वनमें धर्मराज के अनुगत हुए हैं, हे

यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनंजयं शक्रात् साक्षाद्दिव्यमस्त्रं यथावत् ।
अधीयानं शंसितं सत्यसंधं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६३॥
यदाश्रौषं कालकेयास्ततस्ते पौलोमानो वरदानाच्च दृप्ताः ।
देवैरजेया निर्जिताश्चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६४॥
यदाश्रौषमसुराणां वधार्थे किरीटिनं यान्तममित्रकर्शनम् ।
कृतार्थं चाप्यागतं शक्रलोकात्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६५॥
यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्धं समागतं भीममन्यांश्च पार्थान् ।
तस्मिन् देशे मानुषाणामगम्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६६॥
यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां बंधं गन्धर्वैर्मोक्षणं चार्जुनेन ।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६७॥
यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं समागतं धर्मराजेन सूत ।
प्रश्नान् कांश्चिद्विब्रुवाणं च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६८॥

संजय ! तभी मैंने जयकी आशा नही की। (१५८-१६१)

जब सुना, कि अर्जुन ने किरात—रूप–धारी देवाधिदेव महादेव को युद्धमें प्रसन्न कर पाशुपत नामक महा अस्त्र पाया है; हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि प्रशंसा योग्य और सत्यप्रेमी धनंजय देवलोकमें जा कर इन्द्रसे विधिपूर्वक दिव्य अस्त्र सीख रहा है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि उसने वरदान–गर्वित, देवों के अजेय, पुलोम--पुत्र कालकेय नाम दुष्ट असुरोंका जय किया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि शत्रुनाशी किरीटी असुरवध के लिये इन्द्र-लोक में जा कर कार्य पूरा करके लौट आया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की । जब सुना, कि भीम और दूसरे पांडु पुत्रोंने मनुष्योंके न जाने योग्य देशमें श्री कुबेरजीसे भेट की है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा न की । (१६२-१६६)

जब सुना, कि कर्ण के मतानुसारी मेरे पुत्रगण घोष यात्रामें जा कर गंधर्वों से पकडे गये और अर्जुनसे मुक्त हुए, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की । जब सुना, कि धर्म ने यक्ष का स्वरूप धारण करके युधिष्ठिरके समीप आकर कुछ प्रश्न पूछे हैं और उसने ठीक ठीक उत्तर दे दिये हैं, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि पाण्डवगण द्रौपदी–सहित विराट–राज्य में गुप्त -- भावसे टिके थे,

यदाश्रौषं न विदुर्मामकास्तान् प्रच्छन्नरूपान् वसतः पाण्डवेयान्।
विराटराष्ट्रे सह कृष्णया च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६९ ॥
यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान् धनंजयेनैकरथेन भग्नान् ।
विराटराष्ट्रे वसता महात्मना तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७० ॥
यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय ।
तां चार्जुनः प्रत्यगृह्णात्सुतार्थे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७१ ॥
यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य प्रव्राजितस्य स्वजनात् प्रच्युतस्य ।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७२ ॥
यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम् ।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहुस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७३ ॥
यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य ।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७४ ॥
यदाश्रौषं लोकहिताय कृष्णं शमार्थिनमुपयातं कुरूणाम् ।
शमं कुर्वाणमकृतार्थं च यातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७५ ॥

पर हमारी ओर के किसीने यह हाल नहीं जाना था, हे सजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि महात्मा पाण्डवों के विराट–नगरमें रहनेके कालमें एकरथ धनंजय ने हमारी ओर के बडे बडे योद्धाओं को परास्त किया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । (१६७-१७०)

जब सुना, कि मत्स्य— राज ने अर्जुन को नाना अलंकारोंसे सुहाती हुई अपनी उत्तरा नाम कन्या अर्पण कर दी है और अर्जुनने उस कन्याको अपने पुत्र, अभिमन्यु के निमित्त ग्रहण किया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि युधिष्ठिरने, जीते जाने, निर्धन होने, देशसे निकाले जाने और अपने जनोंसे छोडे जाने पर भी सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित की है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि यह भूलोक जिनके एक पदके समान हुआ था, वही मधुवंशी वासुदेव सब प्रकारसे पाण्डवोंके हित साधने की चेष्टा कर रहे है, हे संजय तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब नारदजीसे सुना, कि श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन नरनारायण के अवतार हैं और उन्होंने उनका ब्रह्मलोकमें भलीभांति दर्शन किया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । (१७१-१७४)

जब सुना, कि श्रीकृष्णचन्द्र लोकोंके

यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं तदा नाशंसे विजयाय सजयं ॥ १७६ ॥
यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम् ।
आर्ता पृथां सान्त्विता केशवेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७७ ॥
यदाश्रौषं मंत्रिणं वासुदेवं तथा भीष्मं शान्तनवं च तेषाम् ।
भारद्वाजं चाशिषोऽनुब्रुवाणं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७८ ॥
यदाश्रौषं कर्ण उवाच वाक्यं नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति।
हित्वा सेनामपचक्राम चापि तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७९ ॥
यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ तथा धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८० ॥
यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै।
कृष्णं लोकान् दर्शयानं शरीरे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८१ ॥
यदाश्रौषं भीष्ममामित्रकर्शनं निघ्नन्तमाजावयुतं रथानाम् ।
नैषां कश्चिद्वध्यते ख्यातरूपस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८२ ॥

हितार्थ दुर्योधनसे मेल करनेको आयेथे; पर सफल मनोरथ न होकर लौटगये हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि कर्ण और दुर्योधन ने श्रीकृष्ण-चन्द्रको कष्टमें डालने की चेष्टा की है, पर उन्होंने उनको अपना विश्वरूप दिखाया है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि श्रीवासुदेव जी के जानेके कालमें रोती पीटती हुई कुन्ती उनके रथके सामने खडी हुई है और उन्होंने उसको अनेक प्रकार से सम-झाया है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि श्रीवासुदेवजी और शान्तनु-पुत्र भीष्म दोनों पाण्डवोंके मंत्री बने है और भारद्वाज द्रोण उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि कर्ण भीष्मसे यह कहकर, कि "तुम युद्ध करोगे, तो मैं न लडूंगा" सेना को छोड कर चला गया है, हे संजय तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। (१७५-१७९)

जब सुना, कि श्रीकृष्णचन्द्र, अर्जुन और अप्रमेय गाण्डीव धनुष्य, यह तीन कठोर वीर्य पदार्थ एकसाथ मिलगये हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, की रथारूढ अर्जुन के मोहयुक्त और विकल होनेपर श्रीकृष्णचंद्रने उसको अपने शरीरमें चौदहों लोक दिखाये हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा

यदाश्रौषं चापगेयेन संख्ये स्वयं मृत्युं विहितं धार्मिकेण ।
तच्चाकार्षुः पाण्डवेयाः प्रहृष्टास्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८३ ॥
यदाश्रौषं भीष्ममत्यंतशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८४ ॥
यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः ।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८५ ॥
यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने पानीयार्थे चोदितेनार्जुनेन ।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८६ ॥
यदा वायुश्चन्द्रसूर्यौ च युक्तौ कौन्तेयानामनुलोमा जयाय ।
नित्यं चास्माञ्श्वापदा भीषयन्ति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८७ ॥
यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान्निदर्शयन् समरे चित्रयोधी ।
न पाण्डवाञ्छ्रेष्ठतरान्निहंति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८८ ॥

नहीं की । जब सुना, कि शत्रुनाशी भीष्मजी रणभूमि में नित्य दश सहस्र रथियों को नष्ट करके भी शत्रुओं में से एक भी प्रसिद्ध पुरुष को मार नहीं सके, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । (१८०-१८२)

जब सुना, कि गंगानन्दन, धार्मिक-वर भीष्म जी ने अपनी मृत्युका उपाय स्वयं ही पाण्डवों से कह दिया और उन्होंने प्रसन्न मनसे उसी उपायका आश्रय किया, हे संजय! तभी मैंने फिर जयकी आशा नहीं की । जब सुना, कि अर्जुन ने शिखण्डीको सामने रखकर युद्धमें बडे कठोर महावीर भीष्मजी को घायल किया है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि वृद्धवीर भीष्मजी सोमक सेनाओंको प्रायः नष्ट होनेकी दशामें पहुंचा कर स्वयं बाणोंसे छेदे भेदे गये हैं, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि भीष्मदेवने शरशय्यापर शयन कर अर्जुन को जल लानेकी आज्ञा दी है, और उसने धरती से जल निकाल उसको प्रसन्न किया है, हे संजय ! तभी मैं ने फिर जयकी आशा नहीं की । (१८३--१८६)

जब सुना, कि वायु, इन्द्र और सूर्य पाण्डवों को जय देने के निमित्त उनके सहायक बने हैं और हिंसक जन्तुगण हमको भय दिखा रहे हैं, हे संजय ! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि आश्चर्य योद्धा द्रोणाचार्यजी रणभूमि में अस्त्र चलाने के अनेक कौशल दिखा करके भी पाण्डवपक्षके किसी श्रेष्ठ पुरुषको नहीं मारते, हे संजय ! तभी मैं ने

यदाश्रौषं चास्मद्रयिान् महारथान् व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान्निहतानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८९ ॥
यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यैर्भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९० ॥
यदाभिमन्युं परिवार्य बालं सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवंतस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९१ ॥
यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान् ।
क्रोधादुक्तं सैंधवे चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९२ ॥
यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९३ ॥
यदाश्रौषं श्रान्तहये धनंजये मुक्त्वा हयान् पाययित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९४ ॥

फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना कि हमारी ओर की संसप्तक नामक सेना अर्जुन को मारने के लिये व्यूह रचने पर भी, आपही अर्जुन से मारी गई है, हे, संजय! तभी मैं ने फिर जयकी आशा नहीं की। जब सुना, कि अद्वितीय वीर अभिमन्यु, शस्त्रधारी द्रोणाचार्य से रक्षित और दूसरों से न भेदे-जाने-वाले चक्रव्यूह को भेदकर उसमें प्रवेश कर गया है, हे संजय! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। (१८७-१९०)

जब सुना, कि महारथी योद्धा लोग अर्जुन का वध करनेमें अशक्त होकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेर करके मारकर आनन्द कर रहे है, हे संजय! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि वीरों के अभिमन्युको मारकर आनन्द से मोहित हो कोलाहल मचानेपर अर्जुन ने क्रोधसे जल कर जयद्रथवध की प्रतिज्ञा की है, हे संजय! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि अर्जुन जयद्रथ वधकी प्रतिज्ञा करके शत्रुओंके बीचमें उस सत्य–प्रतिज्ञा से उत्तीर्ण हुआ है, हे संजय तभी मैने फिर जयकी आशा नहीं की। (१९१-१९३)

जब सुना, कि अर्जुन के घोडोंके थकने पर, श्रीकृष्णचन्द्र उनको बंधनसे मुक्तकर जल पिला लेनेके पश्चात् फिर जोत कर रथको हांक ले गये हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं कि। जब सुना, कि घोडोंके अशक्त होने पर पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने अकेले रथपर रहकर संपूर्ण वीरोंको हराया है, हे संजय! तभी मैंने

यदाश्रौषं वाहनेष्वक्षमेषु रथोपस्थे तिष्ठता पाण्डवेन ।
सर्वान् योधान् वारितानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९५ ॥
यदाश्रौषं नागबलं सुदुःसहं द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य ।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९६ ॥
यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं वधाद्भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः ।
धनुष्कोट्या तुद्य कर्णेन वीरं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९७ ॥
यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः ।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९८ ॥
यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन ।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९९ ॥
यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम् ।
यया वध्यः समरे सव्यसाची तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०० ॥
यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम् ।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०१ ॥

फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि वृष्णिवंशी सात्यकि हाथीपर चढी हुई सेनाओंके द्वारा द्रोणाचार्य के बडे कठोर दलको भेद कर श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुनके पास जा पहुंचा है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । (१९४-१९६)

जब सुना, कि कर्णने भीमका वध न कर धनुपकी कोटिसे सता सता करके " मुर्ख, पेटू " आदि बातोंसे लांछनपूर्वक छोड दिया है, हे संजय तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और वीरवर मद्रराजने बदला लेनेमें अशक्त होकर जयद्रथवधके दुःखको सह लिया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना कि माधवने घोररूपी घटोत्कच राक्षस पर इन्द्रजी की दी हुई दिव्य शक्तिको चलवा कर उसको व्यर्थ कर दिया है, हे संजय ! तभी मैने फिर जय की आशा नही की। (१९७-१९९)

जब सुना, कि कर्णने अर्जुन के मारने के लिये रखी हुई दिव्य शक्तिको घटोत्कच मे लडने में उस पर चलाया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि द्रोणाचार्य के अस्त्र छोडकर अनशन–मृत्यु की इच्छा से अकेले रथपर बैठनेपर धृष्टद्युम्नसे धर्म-लंघन कर उसको मारा है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय

यदाश्रौषं चास्मदीयान् महारथान् व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान्निहतानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८९ ॥
यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यैर्भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९० ॥
यदाभिमन्युं परिवार्य बालं सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवंतस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९१ ॥
यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान् ।
क्रोधादुक्तं सैंधवे चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९२ ॥
यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९३ ॥
यदाश्रौषं श्रान्तहये धनंजये मुक्त्वा हयान् पाययित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९४ ॥

फिर जय की आशा नही की। जब सुना कि हमारी ओर की संसप्तक नामक सेना अर्जुन को मारने के लिये व्यूह रचने पर भी, आपही अर्जुन से मारी गई है, हे, संजय ! तभी मैं ने फिर जयकी आशा नही की। जब सुना, कि अद्वितीय वीर अभिमन्यु, शस्त्रधारी द्रोणाचार्य से रक्षित और दूसरों से न भेदे-जाने-वाले चक्रव्यूह को भेदकर उसमें प्रवेश कर गया है, हे संजय ! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। (१८७-१९०)

जब सुना, कि महारथी योद्धा लोग अर्जुन का वध करनेमें अशक्त होकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेर करके मारकर आनन्द कर रहे है, हे संजय ! तभी मैं ने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि वीरों के अभिमन्युको मारकर आनन्द से मोहित हो कोलाहल मचानेपर अर्जुन ने क्रोधसे जल कर जयद्रथवध की प्रतिज्ञा की है, हे संजय ! तभी मैं ने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि अर्जुन जयद्रथ वधकी प्रतिज्ञा करके शत्रुओंके बीचमें उस सत्य–प्रतिज्ञा से उत्तीर्ण हुआ है, हे संजय तभी मैने फिर जयकी आशा नही की। (१९१-१९३)

जब सुना, कि अर्जुन के घोडोंके थकने पर, श्रीकृष्णचन्द्र उनको बंधनसे मुक्तकर जल पिला लेनेके पश्चात् फिर जोत कर रथको हांक ले गये हैं, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं कि। जब सुना, कि घोडोंके अशक्त होने पर पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने अकेले रथपर रहकर संपूर्ण वीरोंको हराया है, हे संजय ! तभी मैंने

यदाश्रौषं वाहनेष्वक्षमेषु रथोपस्थे तिष्ठता पाण्डवेन ।
सर्वान् योधान् वारितानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९५ ॥
यदाश्रौषं नागबलं सुदुःसहं द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य ।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९६ ॥
यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं वधाद्भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः ।
धनुष्कोट्या तुद्य कर्णेन वीरं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९७ ॥
यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः ।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९८ ॥
यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन ।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९९ ॥
यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम् ।
यया वध्यः समरे सव्यसाची तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०० ॥
यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम् ।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०१ ॥

फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि वृष्णिवंशी सात्यकि हाथीपर चढी हुई सेनाओंके द्वारा द्रोणाचार्य के बडे कठोर दलको भेद कर श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुनके पास जा पहुंचा है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । (१९४-१९६)

जब सुना, कि कर्णने भीमका वध न कर धनुपकी कोटिसे सता सता करके " मुर्ख, पेटू " आदि वार्तासे लांछनपूर्वक छोड दिया है, हे संजय तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और वीरवर मद्रराजने बदला लेनेमें अशक्त होकर जयद्रथवधके दुःखको सह लिया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना कि माधवने घोररूपी घटोत्कच राक्षस पर इन्द्रजी की दी हुई दिव्य शक्तिको चलवा कर उसको व्यर्थ कर दिया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। (१९७-१९९)

जब सुना, कि कर्णने अर्जुन के मारने के लिये रखी हुई दिव्य शक्तिको घटोत्कच मे लडने में उस पर चलाया है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि द्रोणाचार्य के अस्त्र छोडकर अनशन—मृत्यु की इच्छा से अकेले रथपर बैठनेपर धृष्टद्युम्नसे धर्म- लंघन कर उसको मारा है, हे संजय ! तभी मैंने फिर जय

यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये।
समं युद्धे मण्डलेभ्यश्चरन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०२ ॥
यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन्।
नैषामन्तं गतवान् पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०३॥
यदाश्रौषं भीमसेनेन पीतं रक्तं भ्रातुर्युधि दुःशासनस्य।
निवारितं नान्यतमेन भीमं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०४॥
यदाश्रौषं कर्णमत्यंतशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्यधृष्यम्।
तस्मिन् भ्रातृणां विग्रहे देवयुद्धे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०५ ॥
यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं च शूरं दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम्।
युधिष्ठिरं धर्मराजं जयन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०६ ॥
यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं रणे शूरं धर्मराजेन सूत।
सदा संग्रामे स्पर्धते यस्तु कृष्णं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०७ ॥
यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं मायाबलं सौबलं पाण्डवेन।
हतं संग्रामे सहदेवेन पापं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०८ ॥

की आशा नहीं की। जब सुना, कि माद्रीपुत्र नकुल ने युद्ध मण्डल में घूम घाम कर सब लोगोंके सामने अश्वत्थामाके साथ समान-भाव से द्वैरथ युद्ध किया है, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नहीं की। (२००-२०२)

जब सुना, कि द्रोणाचार्य जी के मारे जाने पर अश्वत्थामा दिव्य नारायण अस्त्र मारके भी पाण्डवोंको मार नहीं सका, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि रणभूमि में भीमसेन ने भाई दुःशासनका रक्त पिया और कोई उसको रोक नही सका, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि दैव-निरूपित भ्रातृयुद्ध में अर्जुन ने रणमें बडे कठोर महावीर कर्णको नष्ट किया है, हे संजय तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि धर्मराज युधिष्ठिर ने वीरवर द्रोणपुत्र, दुःशासन, और उग्र स्वभावी कृतवर्मा को जीत लिया है, हे संजय! तभी मैने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि वही मद्रराज जो श्रीकृष्णचन्द्र से लडने से अहंकार रखते थे, रणवीर युधिष्ठिर से हने गये हैं, हे संजय! तभी मैंने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि पाण्डुपुत्र सहदेव ने कुखेल और झगडे की जड, पापिष्ठ, छली शकुनि को लडाई में मारा है, संजय! तभी मैं ने फिर जय की आशा नही की। (२०३-२०८)

यदाश्रौषं श्रान्तमेकं शयानं ह्रदं गत्वा स्तम्भयित्वा तदम्भः ।
दुर्योधनं विरथं भग्नशक्तिं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०९ ॥
यदाश्रौषं पांडवांस्तिष्ठमानान् गत्वा ह्रदे वासुदेवेन सार्धम् ।
अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१० ॥
यदाश्रौषं विविधांश्चित्रमार्गान् गदायुद्धे मण्डलशश्चरन्तम् ।
मिथ्याहतं वासुदेवस्य बुद्ध्या तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २११ ॥
यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तैर्हतान् पंचालान् द्रौपदेयांश्च सुप्तान् ।
कृतं बीभत्समयशस्यं च कर्म तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१२ ॥
यदाश्रौषं भीमसेनानुयातेनाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम् ।
क्रुद्धेनैषीकमवधीद्येन गर्भं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१३ ॥
यदाश्रौषं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन स्वस्तीत्युक्त्वास्त्रमस्त्रेण शान्तम् ।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१४ ॥
यदाश्रौषं द्रोणपुत्रेण गर्भे वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रैः ।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं परस्परेणाभिशापैः शशाप ॥ २१५ ॥

जब सुना, कि अकेला हीनबल रथरहित, थका-मादा दुर्योधन ह्रद में जाकर जलस्तम्भ रचके रह गया है, हे संजय! तभी मैने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि पाण्डव-गण श्रीकृष्णचंद्र के संग ह्रदके निकट खडे होकर मेरे पुत्र असहनशील दुर्योधन को लाञ्छन दे रहे हैं, हे संजय ! तभी मैने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि गदायुद्ध में नाना आश्चर्य कौशल दिखाने-वाला दुर्योधन, मण्डलाकारमें घूमते समय वासुदेव के परामर्श से अन्याय रूप से घायल हुआ है, हे संजय ! तभी मै ने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना, कि अश्वत्थामा आदिने रात्रिके सोतेहुए पांचालों और द्रौपदीके पुत्रों को नष्ट कर अति घृणित और अयश का कार्य किया है, हे संजय ! तभी मैं ने फिर जय की आशा नही की। (२०९-२१२)

जब सुना, कि भीम को पुत्र-वध के कारण क्रोधसे अन्धे बन कर अपने पीछे दौडते हुए देख कर अश्वत्थामाने ऐशिक नामक परमास्त्र मारकर उत्तरा का गर्भ नष्ट किया है। हे संजय ! तभी मै ने फिर जय की आशा नही की। जब सुना, कि अश्वत्थामाने अर्जुनवधके निमित्त ब्रह्मशिरःनामक अव्यर्थ अस्त्र को मारा है, पर अर्जुनने "स्वस्ति" कह कर अपने अस्त्रमे उस अस्त्र को रोक दिया है और अश्वत्थामाने उसको मणिरत्न दे दिया है, हे संजय तभी मे ने फिर जय की आशा नहीं की। जब सुना कि

शोच्या गान्धारी पुत्रपौत्रैर्विहीना तथा बंधुभिः पितृभिर्भ्रातृभिश्च ।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ॥२१६॥
कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे त्रयो स्माकं पाण्डवानां च सप्त ।
द्व्यूना विंशतिराहताक्षौहिणीनां तस्मिन् संग्रामे भैरवे क्षत्रियाणाम् ॥२१७॥
तमस्त्वतीव विस्तीर्णं मोह आविशतीव माम् ।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ॥२१८॥
सौतिरुवाच — इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहु दुःखितः ।
मूर्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥२१९॥
धृतराष्ट्र उवाच— संजयैवंगते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम् ।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे ॥२२०॥
सौतिरुवाच — तं तथा वादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं मुह्यमानं पुनः पुनः ।
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥२२१॥
संजय उवाच — श्रुतवानसि वै राजन् महोत्साहान् महाबलान् ।
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ॥ २२२॥

अश्वत्थामाको महास्त्र से विराट – पुत्री को नष्ट करते हुए देख कर द्वैपायन जी और श्रीकृष्णचंद्र जी दोनोंने उसको शाप दिया है, हे संजय ! तभी मैने फिर जय की आशा नहीं की । इस समय पुत्र, पोत्र, स्वजन, पिता, माता को खोकर गांधारी, वडी विकल हुई है। पाण्डवोंने दुष्कर कर्म कर फिर अपने राज्य को अकण्टक कर लिया है। हमारी ओरके तीन और पाण्डव–पक्षके सात, केवल येही दश मनुष्य जीते है, इस भयानक युद्धमें क्षत्रियों की अठारह अक्षौहिणी सेना नष्टभ्रष्ट हो गई, हे सूत ! मै चारों ओर अंधेरा देखता हूं, मोहसे विकल हो रहा हूं, चेतना मुझे छोडकर भाग रही है, चित्त बडा उदास हो रहा है "। (२१५–२१८)

श्री उग्रश्रवाजी बोले कि राजा धृतराष्ट्र अति खेदयुक्त होकर इस प्रकार बहुत विलाप करके मूर्छित हो गये । आगे फिर चेतना आ जाने पर संजय से यह बात कहने लगे, " हे संजय ! मेरी दशा इस प्रकार बिगड गई है, कि मै इसी समय बिना विलम्ब प्राण छोडना चाहता हूं, मेरे इस जीवन के रखने का कुछ भी फल नहीं दीखता । " (२१९–२२०)

श्री उग्रश्रवाजी महाराज बोले, कि इतनी कथा कहनेके पीछे दीनभाव–युक्त राजा धृतराष्ट्रको उन्मत्त गजकी भांति लंबी

महत्सु राजवंशेषु गणैः समुदितेषु च ।
जातान् दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ॥२२३॥
धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वाप्तदक्षिणैः।
अस्मिँल्लोके यशः प्राप्य तत कालवशं गतान् ॥२२४॥
शैव्यं महारथं वीरं संजयं जयतां वरम् ।
सुहोत्रं रन्तिदेवं च काक्षीवन्तमथौशिजम् ॥२२५॥
बाह्लीकं दमनं चैद्यं शर्यातिमजितं नलम् ।
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाबलम् ॥२२६॥
मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भरतमेव च।
रामं दाशरथिं चैव शशबिन्दुं महारथम् ॥२२७॥
कृतवीर्यं महाभागं तथैव जनमेजयम् ।
ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ॥२२८॥
चैत्ययूपांकिता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा ॥२२९॥
इति राज्ञां चतुर्विंशं नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा श्वैत्याय कीर्तितम् ॥२३०॥
तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ॥२३१॥

सांस छोड छोड विलाप करते हुए हरघडी मोहवश देखकर धीमान् संजय उनसे उत्तम अर्थयुक्त यह वचन बोले," महाराज! आपने धीमान् नारद और वेदव्यासजी के मुख से यह सुना होगा, कि महारथी शैव्य, जयशील संजय, सुहोत्र और रंतिदेव; अतिप्रभावी काक्षीवान्, बाल्हीक और दमन; शत्रुनाशी शर्याति, अजीत, नल और विश्वामित्र; महाबली अंबरीष, महात्मा मरु, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत, परशुराम, राम, शशबिन्दु, भगीरथ, कृतवीर्य और जनमेजय; और शुभ कर्मशील ययाति, स्वयं देवताओंने जिनका यज्ञ कराया था और जिनके यज्ञीय यूपसमूह में कानन सहित महीमण्डल अंकित हुआ था; ये सब सर्वगुणसंपन्न लोग, प्रधान प्रधान राजवंश में जन्म लेने, इन्द्रजी के सदृश तेजस्वी और दिव्य अस्त्रों में निपुण होने, धरणीमंडल को धर्म युद्ध से जय कर लेने, और नाना यज्ञानुष्ठान कर इस लोकमें अतुल यशोलाभ करने पर भी अन्त में कालकवल में पतित हुए है। (२२१—२२९)

पूर्वकाल में राजा शैव्य के पुत्रशोक से विकल होने पर देवर्षि नारदने उनके समीप उन चोवीस राजाओंके उपाख्यानों

पुरुः कुरुर्यदुः शूरो विश्वगश्वो महाद्युतिः।
अणुहो युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः॥ २३२॥
विजयो वीतिहोत्रोऽङ्गो भवः श्वेतो बृहद्गुरुः।
उशीनरः शतरथः कंको दुलिदुहो, द्रुमः॥ २३३॥
दंभोद्भव : परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः।
अजयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः॥ २३४॥
देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः॥ २३५॥
सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः।
जानुजंघोऽनरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुचिव्रतः॥ २३६॥
बलबंधुर्निरामर्दः केतुशृंगो बृहद्बलः।
धृष्टकेतुर्बृहत्केतुर्दीप्त–केतुर्निराऽऽमयः॥ २३७॥
अविक्षिच्चपलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः।
महापुराणसंभाव्यः प्रत्यंगः परहा श्रुतिः॥ २३८॥
एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः।
श्रूयन्ते शतशश्चान्ये संख्यातांश्चैव पद्मशः॥ २३९॥
हित्वा सुविपुलान्भोगान् बुद्धिमन्तो महाबलाः।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रा इव प्रभो॥ २४०॥

को कीर्तन किया था, इन के अतिरिक्त और भी बहुतेरे अतिबलशाली महारथी, सर्व गुणशाली महात्मा राजा कालगर्भमे लय पागये है। सुना जाता है, कि पुरु, कुरु, यदु, शूर विश्वगश्व, महाद्युति, अणुह, युवनाश्व, ककुत्स्थ, विक्रमी रघु, विजय, वीतिहोत्र, अंग, भव, श्वेत, बृहद्गुरु, उशीनर, कंक, दुलिदुह, दंभोद्भव, पर, वेन, सगर, संकृति, निमि, अजेय, परशु, पुण्ड्र, देवावृध, अनघ, देवाह्वय, सुप्रतिम, सुप्रतीक बृहद्रथ, महोत्साह, विनीतात्मा, सुक्रतु, नैषध नल, सत्यव्रत, शांतभय, सुमित्र, सुबल, प्रभु, जानुजंघ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुचिव्रत, बलबन्धु, निरामर्द, क्रतु, शृंग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय, अविक्षित्, चपल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराण-संभाव्य, प्रत्यंग, परहा, श्रुति, ये सब राजा और दूसरे सैकडों, सहस्रों, पद्म संख्या तक के बुद्धिमान, अतिबलवान्, प्रतापवान् राजागण आपके पुत्रो के सदृश अपार ऐश्वर्य छोडकर परलोक को गये हैं। पण्डित सुकविगण

येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च ।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम् ॥ २४१ ॥
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः ॥ २४२ ॥
तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना ।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥ २४३ ॥
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसंमतः ।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत ॥ २४४ ॥
निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप ।
नात्यंतमेवानुवृत्तिः कार्या ते पुत्ररक्षणे ॥ २४५ ॥
भवितव्यं तथा तच्च नानुशोचितुमर्हसि ।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति ॥ २४६ ॥
विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते ।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥ २४७ ॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥ २४८ ॥

पुराणमें जिनके अलौकिक कार्य, विक्रम, दान-माहात्म्य, आस्तिकता, सत्य-निष्ठा, शौच, दया, सरलता, आदि कीर्तन करते है, वह सब सर्व-गुणसंपन्न महाधन महात्मा भी निधन हो गये हैं । आपके पुत्रगण दुरात्मा, द्वेषी, लोभी और बडे दुराचारी थे, अत एव उनके निमित्त शोक करना नही चाहिये । (२३०-२४३)

आप शास्त्रज्ञ,मेधावान्,धीमान् और पंडित समाजमें अतिसंमानित है; जिसकी बुद्धि शास्त्रानुसारिणी होती है, वे कभी मोहवश नहीं होते । आप तो जानते ही होंगे कि, आपने पांडवोको निर्दयता और अपने पुत्रों को दया दिखाई थी । ऐसा तो कहीं सुना नहीं जाता, कि किसी दूसरेने अपनी संतान रक्षा के निमित्त आपके सदृश यत्न किया हो, पर जो होना था सो हो चुका , अब उस बारेमें खेद न करें । जो कुछ भाग्यमें बंधा है, कौन उसे कौशल से रोक सकता है? विधाता निर्णीत पथको कोई भी लंघन नहीं कर सकता । भाव , अभाव, सुख दुःख , सबही कुछ कालवश संघटित होते है । काल ही सृजन करता है, फिर काल ही उनका संहार करता है, काल प्रजाओंको जलाता है , फिर कालही उनको शीतल करता है । सारे भुवन मंडल के शुभा-

कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥२४९॥
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥२५०॥
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् ।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि २५१॥
सौतिरुवाच – इत्येवं पुत्रशोकार्तं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
आश्वास्य स्वस्थमकरोत् सूतो गावल्गणिस्तदा २५२॥
अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥२५३॥
भारताध्ययनं पुण्यमपि पादमधीयतः ।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ॥२५४॥
देवा देवर्षयो ह्यत्र तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षा महोरगाः ॥२५५॥
भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥२५६॥

शुभ संपूर्ण पदार्थ कालहीसे बनरहे हैं, कालही में लय होते हैं और कालही मे फिर उत्पन्न होते है। सब जीवोंके सो जाने पर काल जागता रहता है ; कालका अतिक्रम कोई कर नही सकता। काल विना बाधा विपत्ति के सब भूतों में तुल्यभावसे विचर रहा है। वर्तमान, भूत, भविष्यत् सभी वस्तु कालसे रची हुई हे, यह सब जान कर आप को मोहवश होना कदापि उचित नही है। (२४४-२५१)

श्री उग्रश्रवाजी बोले – संजयने शोकार्त जननाथ धृतराष्ट्र को इस प्रकार से समझा बुझा कर शान्त किया। श्री कृष्ण द्वैपायन जी महाराज इस विषय में परम पवित्र उपनिषत् कह गये हैं, जिसे विद्वान् सुकविगण पुराण और लोक मण्डली मे कीर्तन करते है। यदि कोई इसकी एक चरण कविता भी श्रद्धासहित पढे, तो वह सब पापो से मुक्त होकर पवित्र होता है। इस भारत में निष्पाप और कर्म शील देव, देवर्षि, महोरग और यक्षों का वर्णन है। जो सत्य और ऋत स्वरूप, पवित्र और पवित्रकारी, नित्य और निर्गल, ज्योतिस्वरूप पवित्र और सनातन परब्रह्म है; पण्डित गण जिनके लोकातीत कार्यों को कीर्तन करते हैं; जिन से

शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥२५७॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद्विश्वं प्रवर्तते ।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्म-मृत्यु-पुनर्भवाः ॥२५८॥
अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम् ।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ॥२५९॥
यत्तद्यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥२६०॥
श्रद्दधानः सदा युक्तः सदा धर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात्प्रमुच्यते ॥२६१॥
अनुक्रमणिकाध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन्न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥२६२॥
उभे संध्ये जपन् किंचित् सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
अनुक्रमण्या यावत्स्यादह्ना रात्र्या च संचितम् ॥२६३॥
भारतस्य वपुर्ह्येतत्सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥२६४॥

वचनातीत कार्यकारणआत्मक यह विश्व, हिरण्यगर्भादि रूपमें विश्वका विस्तार, यागादि कर्म की प्रवृत्ति, जन्म, मृत्यु, और फिर उत्पत्ति हो रही है। जो अध्यात्म रूपमें पंचभूती देहके अधिष्ठाता और अव्यक्तादि संपूर्ण वस्तुओंसे भिन्न करके वेदमें वर्णित हुए हैं और जिनको जीवन्मुक्त यतिश्रेष्ठ लोग ध्यान और योग-बलसे आदर्शमें स्थित प्रति बिम्बके सदृश अवलोकन करते हैं, वही सनातन भगवान् वासुदेव इस ग्रंथमें कीर्तित हुए हैं। धर्मशील नर, नियम और श्रद्धाके साथ इस अध्याय को पाठ करके सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होते हैं। आस्तिक पुरुष भारत ग्रंथके इस अनुक्रमणिका-अध्यायको प्रथमसे सदा सुना करें, तो किसी क्लेशमें कातर नहीं होंगे। सन्ध्या और प्रातः काल में इस अनुक्रमणिका-अध्याय को कुछ कुछ पाठ करने से दिन और रात्रि के सब पाप उसी कालमें छूट जाते हैं। यह अनुक्रमणिका अध्याय महाभारत की सत्य और अमृत भरा देह के [illegible] हुआ है। जैसे दधिमें मक्खन, द्विपाद जीवों में ब्राह्मण, वेदमें आरण्यक, ओषधियों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पदों में गौ श्रेष्ठ हैं, तैसे ही इतिहासों में यह महाभारत प्रधान

आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥ २६५ ॥
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते।
यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ॥ २६६ ॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥ २६७ ॥
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते।
भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं जह्यादसंशयम् ॥ २६८ ॥
य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि।
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः॥ २६९ ॥
यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धा समन्वितः।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः॥ २७० ॥
एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ॥ २७१ ॥
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा।

है। जो पुरुष श्राद्ध कालमें इस का एक चरणभी ब्राह्मणोंको सुनाता है, उसके दिये हुए अन्न और पान पितृलोक मे अक्षय होते है। इतिहास और पुराणसे वेदके अर्थका प्रकाश करें क्यों कि थोडी-विद्या पढे-हुए जनसे वेदको यह भय उपजता है कि वह मुझे बिगाडेगा। पण्डित गण श्री कृष्णद्वैपायन जीके कथित इस वेदको सुनाकर अर्थ पाते है और निश्चय ही भ्रूणहत्यादि पापों को भस्म कर देते है। जो पुरुष शुची हो करके इस अध्याय को पर्वों के क्रम मे पाठ करता है, मेरी समझ मे उसको संपूर्ण भारत को पढने का फल मिलता है। जो पुरुष श्रद्धायुक्त होकर ऋषि सेवित इस अध्याय को नित्य सुनाता है, वह दीर्घायु हो और कीर्ति लाभ कर अन्तको देवलोकमे चला जाता है। पूर्व कालमें सब देवताओं ने मिलकर तराज की एक ओर चारो वेद और दूसरी ओर इस भारत को चढाकर तोल किया था, इससे रहस्य-सहित चारो वेदोसे यही भारी निकला! उस दिनसे लोग इसको महाभारत कहा करते है। यह बडाई और गुरुआई मे वेदसे बढ कर है, सो बडाई और गुरूआई के कारण महाभारत ही करके प्रसिद्ध हुआ है। जो पुरुष महाभारत शब्दके सत्यार्थसे

तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ॥ २७२ ॥
महत्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ।
महत्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥ २७३ ॥
निरुक्तमस्य यो वेद महापापैः प्रमुच्यते ॥ २७४ ॥
तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ २७५ ॥

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां
आदिपर्वण्यनुक्रमणिका पर्वणि प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

ऋषय ऊचुः– समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन ।
एतत्सर्वं यथातत्वं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १ ॥
सौतिरुवाच– शृणुध्वं मम भो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः ।
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः ॥ २ ॥
त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः ।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः ॥ ३ ॥
स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान्ह्रदान् ॥ ४ ॥

विदित होता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। तपस्या, पठन, संपूर्ण स्वाभाविक वेद-विधि और युद्धादिकों के आक्रमणसे द्रव्यप्राप्ति करना इत्यादि कदापि पापजनक नहीं हो सकते; पर वे असद् अभिप्रायसे दूषित होवें, तो निःसंदेह पापजनक होते है। (२५२-२७५)

॥ आदिपर्व प्रथम अध्याय और अनुक्रमणिका-पर्व समाप्त ॥

दूसरा अध्याय। पर्व संग्रह पर्व।

ऋषिगण बोले, हे सूतनन्दन! तुमने जिस समन्तपंचक देशका नाम कहा था, हम उसके सब सत्य वृत्तान्तों को सुनना चाहते है। सूतपुत्रजी बोले, हे श्रेष्ठ ऋषि गण! मै समन्तपंचक तीर्थका सब वृत्तान्त वर्णन करता हू, श्रवण कीजिये। (१ — २)

त्रेता और द्वापर युगों के सन्धिकाल में अस्त्रविद्या के पारंगत भगवान् परशुराम जी ने क्रोधके वशमें होकर पृथ्वी पर के समस्त क्षत्रिय कुल को बार बार विनाश किया था। उस अग्नितुल्य तेजस्वी रामने अपने भुजवीर्य के बलसे क्षत्रिय कुल का सत्यानाश कर, उन के शोणित से समन्तपंचक में पांच हृद बनाये थे। सुना है, कि क्रोधयुक्त होकर उन रक्त भरे हृदों के किनारे उन्हों ने रक्तसे पितरोंका तर्पण किया था। अनन्तर

आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥ २६५ ॥
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते।
यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितृंस्तस्योपतिष्ठते ॥ २६६ ॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥ २६७ ॥
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते।
भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं जह्यादसंशयम् ॥ २६८ ॥
य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि।
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः॥ २६९ ॥
यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धा समन्वितः।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः॥ २७० ॥
एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ॥ २७१ ॥
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा।

है। जो पुरुष श्राद्ध कालमें इस का एक चरणभी ब्राह्मणोंको सुनाता है, उसके दिये हुए अन्न और पान पितृलोक मे अक्षय होते हैं। इतिहास और पुराणसे वेदके अर्थका प्रकाश करे क्यों कि थोडी-विद्या पढे-हुए जनसे वेदको यह भय उपजता है कि वह मुझे बिगाडेगा। पण्डित गण श्री कृष्णद्वैपायन जीके कथित इस वेदको सुनाकर अर्थ पाते हे और निश्चय ही भ्रूणहत्यादि पापों को भस्म कर देते हैं। जो पुरुष शुची हो करके इस अध्याय को पर्वों के क्रम से पाठ करता है, मेरी समझ मे उसको संपूर्ण भारत को पढने का फल मिलता है। जो पुरुष श्रद्धायुक्त होकर ऋषि-सेवित इस अध्याय को नित्य सुनाता है, वह दीर्घायु हो और कीर्ति लाभ कर अन्तको देवलोकमें चला जाता है। पूर्व कालमें सब देवताओ ने मिलकर तराजू की एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर इस भारत को चढाकर तोल किया था, इससे रहस्य-सहित चारो वेदोंसे यही भारी निकला! उस दिनसे लोग इसको महाभारत कहा करते है। यह बडाई और गुरुआई मे वेदसे बढ कर है, सो बडाई और गुरूआई के कारण महाभारत ही करके प्रसिद्ध हुआ है। जो पुरुष महाभारत शब्दके सत्यार्थसे

तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ॥ २७२ ॥
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ।
महत्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥ २७३ ॥
निरुक्तमस्य यो वेद महापापैः प्रमुच्यते ॥ २७४ ॥
तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ २७५ ॥

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां
आदिपर्वण्यनुक्रमणिका पर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ऋषय ऊचुः– समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन ।
एतत्सर्वं यथातत्वं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १ ॥
सौतिरुवाच– शृणुध्वं मम भो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः ।
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः ॥ २ ॥
त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः ।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः ॥ ३ ॥
स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान्ह्रदान् ॥ ४ ॥

विदित होता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। तपस्या, पठन, संपूर्ण स्वाभाविक वेद-विधि और युद्धादिकों के आक्रमणसे द्रव्यप्राप्ति करना इत्यादि कदापि पापजनक नहीं हो सकते; पर वे असद् अभिप्रायसे दूषित होवें, तो निःसंदेह पापजनक होते हैं। (२५२-२७५)

॥ आदिपर्व प्रथम अध्याय और अनुक्रमणिका-पर्व समाप्त ॥

दूसरा अध्याय । पर्व संग्रह पर्व ।

ऋषिगण बोले, हे सूतनन्दन ! तुमने जिस समन्तपंचक देशका नाम कहा था, हम उसके सब सत्य वृत्तान्तों को सुनना चाहते हैं। सूतपुत्रजी बोले, हे श्रेष्ठ ऋषि गण ! मैं समन्तपंचक तीर्थका सब वृत्तान्त वर्णन करता हूं, श्रवण कीजिये। (१ — २)

त्रेता और द्वापर युगों के सन्धिकाल में अस्त्रविद्या के पारंगत भगवान् परशुराम जी ने क्रोधके वशमें होकर पृथ्वी पर के समस्त क्षत्रिय कुल को बार बार विनाश किया था। उस अग्नितुल्य तेजस्वी रामने अपने भुजवीर्य के बलमे क्षत्रिय कुल का सत्यानाश कर, उन के शोणित से समन्तपंचक में पांच हद बनाये थे। सुना है, कि क्रोधयुक्त होकर उन रक्त भरे हदों के किनारे उन्हों ने रक्तसे पितरोंका तर्पण किया था. अनन्तर

स तेषु रुधिराम्भःसु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः ।
पितॄन्संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥
अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो राममब्रुवन् ।
राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥ ६ ॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण तव प्रभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यमिच्छसि महाद्युते ॥ ७ ॥
राम उवाच— यदि मे पितरः प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ॥ ८ ॥
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेष मे प्रार्थितो वरः ।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ ९ ॥
एवं भविष्यतीत्येवं पितरस्तमथाब्रुवन् ।
तं क्षमस्वेति निषिषिधुस्ततः स विरराम ह ॥ १० ॥
तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम् ।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं यत्परिकीर्तितम ॥ ११ ॥
येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते ।
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

ऋचीक आदि पितृलोक आकर बोले," हे महाभाग, महातेजस्वी भृगुनन्दन राम ! तुह्मारी यह पितृभक्ति और विक्रम देख कर हम अतिप्रसन्न हुए है, तुह्मारा मंगल होवे, अब मन माना वर मांगो ।" परशुराम जी बोले, कि यदि मेरे पितृलोक प्रसन्न होकर कृपा करते हों, तो यह वर मांगता हूं, कि मै ने क्रोधपूर्वक क्षत्रियकुल को नष्ट करजो पाप किया है, उससे मुक्त हो जाऊं और मुझसे बने हुए रक्त के यह पांचों झील भूमण्डल मे प्रसिद्ध तीर्थ बनें । अनंतर पितरों ने " वही होगा " ऐसा कहकर "क्षमस्व" इस वचनसे उन्हे क्षत्रियकुलके उच्छेद करनेसे निवृत्त किया, और वह भी उस कार्यसे दूर रहे । रक्तरूपी जलयुक्त इन पांच ह्रदों के आस पास जो देश, है वह पवित्र " समन्तपंचक " नामसे प्रसिद्ध हुआ है । क्यो कि जिस देशमे जो कुछ चिन्ह होते है, पाण्डितगण उन्हीके अनुसार उस देशका नाम ठहराते है । द्वापर और कलियुग के सन्धिकाल मे उस समंतपंचक देशमे कुरुपांडवोकी सेनाओ मे सग्राम हुवा था । उस भूदोष-वार्जित धर्मभरे देश मे अठारह अक्षौहिणी सेना युद्ध करनेकी कामनासे गई थी । हे द्विजो ! वे वहीं मिलकर वहीं मारी गई । हे व्रतशील,साधु

अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरु-पाण्डव-सेनयोः ॥ १३ ॥
तस्मिन्परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते ।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ॥ १४ ॥
समेत्य तं द्विजास्ताश्च तत्रैव निधनं गताः ।
एतन्नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः ॥ १५ ॥
पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः ।
तदेतत्कथितं सर्वं मया ब्राह्मणसत्तमाः ।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिषु लोकेषु सुव्रताः ॥ १६ ॥
ऋषय ऊचुः—अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन ।
एतादिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ १७ ॥
अक्षौहिण्याः परीमाणं नराश्वरथदन्तिनाम् ।
यथावच्चैव नो हि सर्वं हि विदितं तव ॥ १८ ॥
सौतिरुवाच—एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्याभिधीयतेः ॥ १९ ॥
पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥ २० ॥

ब्राह्मणो ! मै ने आप लोगों से जिस पुण्यभरे सुन्दर देश का नाम लिया था उसके समतपंचक नाम पडनेका वृत्तान्त संपूर्ण कह सुनाया है। (३ — १६)

ऋषिगण बोले, हे सूतनन्दन ! आपने जो अक्षौहिणी शब्द कहा, हम उस का सच्चा अर्थ सुनना चाहते है। एक अक्षौहिणी मे कितने पैदल, कितने घोडे, कितने रथ, कितने हाथी रहते हैं, वह आप जानते हैं, सो हमारे निकट ठीक ठीक वर्णन कीजिये । (१७—१८)

श्री उग्रश्रवाजी बोले एक रथ, एक हाथी, पांच पैदल और तीन घोडे मिलकर एक पत्ति होती है; तीन पत्तिओं से एक सेनामुख; तीन सेनामुखोंसे एक गुल्म; तीन गुल्मों से एक गण; तीन गणों से एक वाहिनी; तीन वाहिनीयों के एक होनेपर पृतना कही जाती है, और तीन पृतनाओं से एक चमु होती है; तीन चमुओंमे एक अनीकिनी होती है: दश अनीकिनीयों के एकत्र मिलनेसे पण्डित लोग एक अक्षोहिणी कहते हैं। हे द्विजश्रेष्ठगण; संख्या गिननेके तत्त्व जानने वाले पुरुषोंने अक्षोहिणी सेना की यह संख्या लगाई है, कि

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः ।
स्मृतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥ २१ ॥
चमूस्तु पृतनास्तिस्रस्तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥ २२ ॥
अक्षौहिण्याःप्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ २३ ॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ।
गजानां च परीमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ॥ २४ ॥
ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु ।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥ २५ ॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च ।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥ २६ ॥
एतामक्षौहिणीं प्राहुःसंख्यातत्त्वविदो जनाः ।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण तपोधनाः ॥ २७ ॥
एतया संख्यया ह्यासन्कुरुपाण्डवसेनयोः ।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाःपिण्डिताष्टादशैव तु ॥ २८ ॥
समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः ।
कौरवान्कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ २९ ॥
अहानि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित् ।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ॥ ३० ॥

(२१,८,७०) इकीस सहस्र, आठ सो, सत्तर रथ, उतने ही गज, (१,०९,३,५०) एक लक्ष , नो महस्र, तीन सो, पचास पेदल और (६५,६,१०) पेसठ सहस्र, छः सो, दश, घोडोंसे एक अक्षाहिणी बनती है। हे तपोधनो ! मै ने पहिले कहा है, कि ऐसी ही अठारह अक्षाहिणी सेना उस देश में जा मिली थी। हे द्विजश्रेष्ठगण ! वे कौरवों को उपलक्ष करके आश्चर्यकारी काल के आ जाने पर उसी देश में नष्ट हो गई। परमास्त्रोंके जाननेवाले भीष्मजीने दश दिन युद्ध किया था। द्रोणाचार्य ने पांच दिवस कौरवी-सेना की रक्षा की थी। शत्रुसेना-नाशी कर्णने दो दिन और शल्य ने आधा दिन युद्ध किया था, अनतर आधा दिन भीम और दुर्योधन मे गदायुद्ध हुआ था । उस दिन रात्रि को अश्वत्थामा, कृतवर्मा

अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः ।
शल्योऽर्धदिवसं चैव गदायुद्धमतः परम् ॥ ३१ ॥
तस्यैव दिवसस्यान्ते द्रौणिहार्दिक्यगौतमाः ।
प्रसुप्तं निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ३२ ॥
यत्तु शौनक सत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत्सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥ ३३ ॥
कथितं विस्तरार्थं च यशो वीर्यं महीक्षिताम् ।
पौष्यं तत्र च पौलोममास्तीकं चादितः स्मृतम् ॥ ३४ ॥
विचित्रार्थ-पदाख्यानमनेक-समयान्वितम् ।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥ ३५ ॥
आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥ ३६ ॥
अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३७ ॥
तदेतद्भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते ।
उदय-प्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ ३८ ॥

और कृपाचार्य, इन तीनो ने युधिष्ठिर की विश्वासी और निद्रित सेनाओं पर आक्रमण किया था । (१९-३२)

हे शौनक जी ! मै आप के यज्ञ में जो सुन्दर भारतोपाख्यान कीर्तन कर रहा हूं, श्रीमहाराज व्यासजी के शिष्य, धीमान् वैशम्पायन जी ने इसे जनमेजय के सर्पयज्ञमे विस्तारपूर्वक कहा था । इस में राजाओं के यश और वीर्य की कथा कही गई है । इस की आदि में पौष्य, पौलोम और आस्तीक, यह तीन पर्व है । इस में विचित्र पद, आख्यान और नाना प्रकार के आचारादि प्रकाशित हुए है, मोक्षार्थी जन जैसे वैराग्य को आश्रय करते है, तैसे ही प्राज्ञलोग इस भारत की शरण लिये रहते है । जैसे जानने योग्य वस्तुओंमे आत्मा और प्यारी वस्तुओ मे जीवन प्रधान है, तैसे ही श्रेष्ठ विषयों से भरा हुआ यह इतिहास संपूर्ण आगमो में बढियां बना है । जैसे भोजन विना शरीर-धारण का दूसरा उपाय नही है, तैसे ही इस आख्यान की शरण विना, भूमंडल मे कोई दूसरा आख्यान विद्यमान नही है । जैसे उन्नति चाहने वाले नौकर चाकर, सद्वंशी राजा का आश्रय लेते है, तैसे ही कविगण इस भारत को अवलंबन करते है । जैसे सब लौकिक और

इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥ ३९ ॥
तस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ ४० ॥
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ।
पर्वानुक्रमणी पूर्वं द्वितीयः पर्वसंग्रहः ॥ ४१ ॥
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ।
ततः संभवपर्वोक्तमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ४२ ॥
दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते ।
ततो बकवधः पर्व पर्व चैत्ररथं ततः ॥ ४३ ॥
ततः स्वयंवरो देव्याःपाञ्चाल्याःपर्व चोच्यते ।
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ४४ ॥
विदुरागमनं पर्व राज्यलम्भस्तथैव च ।
अर्जुनस्य वने वासः सुभद्राहरणं ततः ॥ ४५ ॥
सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेया हरणहारिका ।
ततः खाण्डवदाहाख्यं तत्रैव मयदर्शनम् ॥ ४६ ॥

वैदिक वाक्य, स्वर और व्यंजन वर्णो से परिपूर्ण रहते हैं, तैसे ही इतिहासों में श्रेष्ठ यह भारत हित साधनेवाली बुद्धि का आधार है। इस समय आप लोग अनन्त प्रज्ञा के आधार, विचित्र पद और पर्व संयुक्त, सूक्ष्मार्थ न्याय विशिष्ट और वेदार्थ-विभूषित भारत इतिहास का पर्व संग्रह श्रवण कीजिये। (३३ — ४०)

प्रथम अनुक्रमणिका पर्व (१), द्वितीय पर्व-संग्रह पर्व (२), आगे पौष्य पर्व (३), पौलोम पर्व (४), आस्तीक पर्व (५), और आदिरंशावतारण पर्व (६), अनन्तर जिसके श्रवण करनेसे हर्ष से शरीर रोमांचित होता है, वही विचित्र संभव पर्व (७), आगे जतु गृह दाह पर्व (८), तिसके बाद हिडिम्ब पर्व (९), अनन्तर बकवध पर्व (१०), चैत्ररथ पर्व (११), पश्चात् देवी पांचाली स्वयंवर पर्व (१२), तिसके बाद क्षत्रिय-धर्म मे जयलाभके पश्चात् पाण्डवोका विवाह पर्व (१३), अनन्तर विदुरागमन पर्व (१४) पीछे राज्यलाभ पर्व (१५), तब अर्जुन का वनवास पर्व (१३), पश्चात् सुभद्रा-हरण पर्व(१७), हरणाहरण पर्व (१८), अनंतर खाण्डवदाह पर्व, जिसमे मयदानव का दर्शन हुआ (१९), आगे सभाक्रिया

सभापर्व ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व ततः परम् ।
जरासन्धवधः पर्व पर्व दिग्विजयं तथा ॥ ४७ ॥
पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते ।
ततश्चार्घाभिहरणं शिशुपालवधस्ततः ॥ ४८ ॥
द्यूतपर्व ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः परम् ।
तत आरण्यकं पर्व किर्मीरवध उच्यते ॥ ४९ ॥
अर्जुनस्याभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम् ॥ ५० ॥
इन्द्रलोकाभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
नलोपाख्यानमपि च धार्मिकं करुणोदयम् ॥ ५१ ॥
तीर्थयात्रा ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः ।
जटासुरवधः पर्व यक्षयुद्धमतः परम् ॥ ५२ ॥
निवातकवचैर्युद्धं पर्व चाजगरं ततः ।
मार्कण्डेयसमस्या च पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ५३ ॥
संवादश्च ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः ।
घोषयात्रा ततः पर्व मृगस्वप्नोद्भवं ततः ॥ ५४ ॥

पर्व (२०) तब मन्त्रणा पर्व (२१). अनन्तर जरासंधवध पर्व (२२). जिसके अनन्तर दिग्विजय पर्व (२३). दिग्विजय के बाद राजसूयिक पर्व (२४). पश्चात् अर्घाभिहरण पर्व (२५). तिसके बाद शिशुपालवध पर्व । (२६). अनन्तर द्यूत पर्व (२७). पश्चात् अनुद्यूत पर्व (२८). अनंतर अरण्य-यात्रा-पर्व (२९). तब किर्मीर वध पर्व (३०). तिसके बाद अर्जुनाभिगमन पर्व (३१). तब ईश्वरार्जुन के युद्धसंबंधी किरात पर्व (३२). अनन्तर इद्रलोकाभिगमन पर्व (३३). तब धर्म और करुणारसयुक्त नलोपाख्यान पर्व (३४). तिसके बाद कुरराज युधिष्ठिर का तीर्थयात्रा पर्व. उसी मे जटासुरवध वर्णित हुआ है (३५). तब यक्षयुद्ध पर्व (३६). तब निवात कवचयुद्ध पर्व (३७). अनन्तर आजगर पर्व (३८). तब मार्कण्डेय समस्या पर्व. (३९). तिसके बाद द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद पर्व (४०) अनंतर. घोषयात्रा पर्व. उसीमे मृगस्वप्नोद्भव और मुद्गल व्रीहिका नीति द्रौणिक उपाख्यान है (४१). तब द्रौपदी हरण पर्व उसी मे जयद्रथमन्थान. पतिव्रता सावित्रीका अद्भुत माहात्म्य और रामोपाख्यान कथित हुए है (४२). आगे कुण्डला-

व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च।
द्रौपदीहरणं पर्व जयद्रथविमोक्षणम् ॥ ५५ ॥
पतिव्रताया माहात्म्यं सावित्र्याश्चैवमद्भुतम्।
रामोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५६ ॥
कुण्डलाहरणं पर्व ततः परमिहोच्यते।
आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनन्तरम्।
पाण्डवानां प्रवेशश्च समयस्य च पालनम् ॥५७॥
कीचकानां वधः पर्व पर्व गोग्रहणं ततः।
अभिमन्योश्च वैराट्याः पर्व वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ५८ ॥
उद्योगपर्व विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम्।
ततः संजययानाख्यं पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५९ ॥
प्रजागरं तथा पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया।
पर्व सानत्सुजातं वै गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ॥ ६० ॥
यानसंधिस्ततः पर्व भगवद्यानमेव च।
मातलीयमुपाख्यानं चरितं गालवस्य च ॥ ६१ ॥
सावित्रं वामदेव्यं च वैन्योपाख्यानमेव च।
जामदग्न्यमुपाख्यानं पर्व षोडशराजकम् ॥ ६२ ॥

हरण पर्व (४३), तिसके बाद आरणेय पर्व (४४), अनन्तर विराट पर्व के अन्तर्गत पाण्डवोंका प्रवेश और समय पालन पर्व (४५), आगे कीचकवध पर्व (४६), अनन्तर गोग्रहण पर्व (४७), तब अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह पर्व (४८), अनन्तर अति आश्चर्य सैन्योद्योग पर्व (४९), तब संजययान पर्व (५०), तिसके पश्चात् चितायुक्त धृतराष्ट का प्रजागर पर्व (५१) अनन्तर गुह्यात्मक अध्यात्म ज्ञानसंबंधी सनत्सुजात पर्व (५२), आगे यानसंधि पर्व (५३), भगवद्यान पर्व, मातली का उपाख्यान, गालवचरित, श्री कृष्णचन्द्र का सभाप्रवेश, विदुलापुत्रशासन, सविता, वामदेव, वेन, जमदग्नि और सोलह राजाओं के आख्यान वर्णित है (५४), श्रीकृष्णचद्र और कर्णका वादविवाद पर्व (५५), तिसके पश्चात् कुरुपाण्डवोंका सैन्य निर्यान पर्व (५६) अनंतर रथातिरथ संख्या पर्व (५७), आगे क्रोधवृद्धि करने वाला उलूक दूताभिगमन पर्व (५८) तिसके पश्चात अंबोपाख्यान पर्व (५९), अनंतर आश्चर्य भीष्माभिषेक पर्व (६०), आगे

सभाप्रवेशः कृष्णस्य विदुलापुत्रशासनम् ।
उद्योगः सैन्यनिर्याणं विश्वोपाख्यानमेव च ॥ ६३ ॥
ज्ञेयं विवादपर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणं च ततः पर्व कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६४ ॥
रथातिरथसंख्या च पूर्वोक्तं तदनंतरम् ।
उलूक-दूतागमनं पर्वामर्ष-विवर्धनं ।
अम्बोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ६५ ॥
भीष्माभिषेचनं पर्व ततश्चाद्भुतमुच्यते ॥ ६६ ॥
जंम्बूखण्डाविनिर्माणं पूर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व ततः प्रोक्तं द्वीपविस्तारकीर्तनम् ।
पूर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः ॥ ६७ ॥
द्रोणाभिषेचनं पर्व संशप्तकवधस्ततः ॥ ६८ ॥
अभिमन्युवधः पर्व प्रतिज्ञा पर्व चोच्यते ।
जयद्रथ-वधः पर्व घटोत्कच-वधस्ततः ॥ ६९ ॥
ततो द्रोणवधः पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ७० ॥

जंबुद्वीप सन्निवेश पर्व (६१), अनंतर द्वीप विस्तारके कीर्तन-युक्त भूमि पर्व (६२). तब भगवद्गीता पर्व (६३), तिसके पश्चात् भीष्मवध पर्व (६४), अनन्तर द्रोणाभिषेक पर्व (६५), तब संशप्तकवध पर्व (६६), आगे अभिमन्यु वध पर्व (६७), अनन्तर प्रतिज्ञा पर्व (६८) तब जयद्रथ वध पर्व (६९), तिसके पश्चात् घटोत्कचवध पर्व (७०), अनन्तर लोमहर्षण पर्व (७१), आगे नारायणास्त्रत्याग पर्व (७२), तिसके पश्चात् कर्ण पर्व (७३), अनन्तर शल्यवध पर्व (७४), तब ह्रदप्रवेश (७५), तिसके पश्चात् गदायुद्धपर्व (७६), अनन्तर सारस्वत तीर्थ वंशानुकीर्तनपर्व (७७), तिसके पश्चात् अतिवीभत्स सौप्तिकपर्व (७८), आगे अति कष्टदायी ऐषीकपर्व (७९), तिसके पश्चात् जलप्रादानिक पर्व (८०), अनन्तर स्त्री विलाप पर्व (८१), तब कौरवोंका और्ध्वदेहिक श्राद्धपर्व (८२) तिसके पश्चात् ब्राह्मणवेशधारी चार्वाक राक्षस का वधपर्व (८३), अनन्तर धीमान धर्मराज का अभिषेचनिक पर्व (८४), तब गृहविभागपर्व (८५), तिसके पश्चात् शांतिपर्व (८६), तब राजधर्मानुशासन-पर्व (८७), अनंतर आपद्धर्म पर्व (८८)

कर्णपर्व ततो ज्ञेयं शल्यपर्व ततः परम्।
हृदप्रवेशनं पर्व गदायुद्धमतः परम् ।
मारस्वतं ततः पर्व तीर्थवंशानुकीर्तनम् ॥ ७१ ॥
अत ऊर्ध्वं सुबीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते।
ऐषीकं पर्व चोद्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ॥ ७२ ॥
जलप्रदानिकं पर्व स्त्रीविलापस्ततः परम् ॥ ७३ ॥
श्राद्धपर्व ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदेहिकम्।
चार्वाकनिग्रहः पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ॥ ७४ ॥
आभिषेचनिकं पर्व धर्मराजस्य धीमतः ।
प्रविभागो गृहाणां च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ॥ ७५ ॥
शान्तिपर्व ततो यत्र राजधर्मानुशासनम्।
आपद्धर्मश्च पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः परम् ॥ ७६ ॥
शुकप्रश्नाभिगमनं ब्रह्मप्रश्नानुशासनम् ।
प्रादुर्भावश्च दुर्वासः संवादश्चैव मायया ॥ ७७ ॥
ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं परम् ।
स्वर्गारोहणिकं चैव ततो भीष्मश्च धीमतः ॥ ७८ ॥
ततोऽश्वमेधिकं पर्व सर्वपापप्रणाशनम् ।
अनुगीता ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ॥ ७९ ॥
पर्व चाश्रमवासाख्यं पुत्रदर्शनमेव च।
नारदागमनं पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ८० ॥

तब मोक्षधर्म पर्व, जिसमें शुक प्रश्नाभिगमन, ब्रह्मप्रश्नानुशासन, दुर्वासा जी का प्रादुर्भाव और मायाके साथ कथोपकथन है (८९), तिसके पश्चात् आनुशासनिक पर्व जिसमे धीमान् भीष्म जी का स्वर्गारोहण वर्णित हुआ है (९०), तब सर्व पापनाशी आश्वमेधिक पर्व (९१), तिसके पश्चात् अध्यात्मसंबंधी अनुगीता पर्व (९२), अनन्तर आश्रम वासिक पर्व (९३), तब पुत्रदर्शन पर्व (९४), तिसके पश्चात् नारदागमन पर्व (९५), अनन्तर अतिकष्टदायी मौसल पर्व (९६), आगे महा प्रस्थानिक पर्व (९७), तिसके पश्चात् स्वर्गारोहणिक पर्व (९८), अनंतर खिल नामक हरिवंश पर्व के अन्तर्गत विष्णु पर्व, जिसमे शिशुचर्या और श्रीकृष्ण से कंसवध होना वर्णित हुए हैं (९९), तब अति आश्चर्य भविष्य पर्व (१००)।

मौसलं पर्व चोद्दिष्टं ततो घोरं सुदारुणम् ।
महाप्रस्थानिकं पर्व स्वर्गारोहणिकं ततः ॥ ८१ ॥
हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम् ।
विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्ततः ॥ ८२ ॥
भविष्यपर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत् ।
एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ॥ ८३ ॥
यथावत्सूतपुत्रेण लौमहर्षणिना ततः ।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ॥ ८४ ॥
समासो भारतस्यायमत्रोक्तः पर्वसंग्रहः ।
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिवंशावतारणम् ॥ ८५ ॥
संभवो जतुवेश्माख्यं हिडिम्बबकयोर्वधः ।
तथा चैत्ररथं देव्याः पाञ्चाल्याश्च स्वयंवरः ॥ ८६ ॥
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ।
विदुरागमनं चैव राज्यलम्भस्तथैव च ॥ ८७ ॥
वनवासोऽर्जुनस्यापि सुभद्राहरणं ततः ।
हरणाहरणं चैव दहनं खाण्डवस्य च ॥ ८८ ॥
मयस्य दर्शनं चैव आदिपर्वणि कथ्यते ।
पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम् ॥ ८९ ॥
पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परिकीर्तितः ।
आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च संभवः ॥ ९० ॥

इन सौ पर्वों को महात्मा व्यासदेव कीर्तन कर गये है। सूतवंशी लोमहर्षणपुत्र नैमिषारण्यमें संक्षेप क्रमानुसार जो अठारह पर्व कह गये है, भारत के वही संक्षिप्त पर्वसंग्रह कहे जाते है। (४१ – ८५)

पौष्य, पौलोम, आस्तीक, आदिवंशावतरण, संभव, जतुगृहदाह, हिडिंबवध, बकवध, चैत्ररथ, द्रौपदी का स्वयंवर, वैवाहिक, विदुरागमन, राज्यलाभ, अर्जुन का वनवास, सुभद्राहरण, हरणाहरण, खांडवदाह, मयदर्शन यह सब आदिपर्व में कथित हुए है। (८५-८९)

पौष्य पर्वमें उतङ्क माहात्म्य है। पौलोमपर्व में भृगुवंश का विस्तार वर्णित है। आस्तीक पर्व में गरुड और संपूर्ण सर्पों की उत्पत्ति, समुद्र मंथन, उच्चैःश्रवा की उत्पत्ति, और महाराज परीक्षितपुत्र के सर्पयज्ञ के कालमें भृगुवंशी महात्मावर्ग संबंधी

क्षीरोदमथनं चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा ।
यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च ॥ ९१ ॥
कथेयमभिनिर्वृत्ता भरतानां महात्मनाम् ।
विविधाः संभवा राज्ञामुक्ताः संभवपर्वणि ॥ ९२ ॥
अन्येषां चैव शूराणामृषेर्द्वैपायनस्य च ।
अंशावतरणं चात्र देवानां परिकीर्तितम् ॥ ९३ ॥
दैत्यानां दानवानां च यक्षाणां च महौजसाम् ।
नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्रिणाम् ॥ ९४ ॥
अन्येषां चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः ।
महर्षेराश्रमपदे कण्वस्य च तपस्विनः ॥ ९५ ॥
शकुन्तलायां दुष्यन्ताद्भरतश्चापि जज्ञिवान् ।
यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम् ॥ ९६ ॥
वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम् ।
शान्तनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि ॥ ९७ ॥
तेजोंशानां च संपातो भीष्मस्याप्यत्र संभवः ।
राज्यान्निवर्तनं तस्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः ॥ ९८ ॥
प्रतिज्ञापालनं चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च ।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः ॥ ९९ ॥
विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये संप्रतिपादनम् ।
धर्मस्य नृषु संभूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥ १०० ॥

महाभारत की कथा वर्णित हुई है।(८९-९१) संभवपर्व में राजगण तथा दूसरे वीरगण और महर्षि द्वैपायन की भिन्न भिन्न प्रकार की उत्पत्ति; देवताओं का अंशावतार; दैत्य, दानव, यक्ष, सर्प, गंधर्व, पक्षी और दूसरे नाना प्राणियों की उत्पत्ति और जिन महाराज भरत के नामानुसार भारतवंश लोक में प्रसिद्ध हुआ है, जिन्होंने महा तपस्वी महर्षि कण्वके आश्रममें दुष्यन्त के औरस से शकुतला के गर्भ में जन्म लिया था, उनका वृत्तांत; राजा शान्तनु के गृहमें गंगा के गर्भमें महानुभाव वसुओं की उत्पति, पुनः स्वर्गारोहण और तेजोभावापत्ति, भीष्म का जन्म और उन का राज्यत्याग, ब्रह्मचर्यावलंबन तथा प्रतिज्ञा पालन; भीष्म के द्वारा चित्रांगद की रक्षा और चित्रांगदके मारे जाने पर

कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा ।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च संभवः ॥ १०१ ॥
वारणावतयात्रायां मन्त्रो दुर्योधनस्य च ।
कूटस्य धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान्प्रति ॥ १०२ ॥
हितोपदेशश्च पथि धर्मराजस्य धीमतः ।
विदुरेण कृतो यत्र हितार्थं म्लेच्छभाषया ॥ १०३ ॥
विदुरस्य च वाक्येन सुरङ्गोपक्रमक्रिया ।
निषाद्याः पञ्चपुत्रायाः सुप्ताया जतुवेश्मनि ॥ १०४ ॥
पुरोचनस्य चात्रैव दहनं संप्रकीर्तितम् ।
पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम् ॥ १०५ ॥
तत्रैव च हिडिम्बस्य वधो भीमान्महाबलात् ।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ॥ १०६ ॥
महर्षेर्दर्शनं चैव व्यासस्यामिततेजसः ।
तदाज्ञयैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ १०७ ॥
अज्ञातचर्यया वासो यत्र तेषां प्रकीर्तितः ।
बकस्य निधनं चैव नागराणां च विस्मयः ॥ १०८ ॥
संभवश्चैव कृष्णाया धृष्टद्युम्नस्य चैव ह ।
ब्राह्मणात्समुपश्रुत्य व्यासवाक्यप्रचोदिताः ॥ १०९ ॥

उसके कनिष्ठ सहोदर विचित्रवीर्य की रक्षा और उसको राज्य में स्थापना; अनीमाण्डव्य के शाप से धर्म की नरयोनि में उत्पत्ति, वरदान के बल से कृष्णद्वैपायनजी से धृतराष्ट्र और पाण्डु का जन्म, और पाण्डवों की उत्पत्तिःपाण्डवों को वारणावत में भेजने के बारेमें दुर्योधन की मंत्रणा और उससे पाण्डवों के समीप पुरोचन का भेजा जानाः हित करने के लिये पथ में विदुर का म्लेच्छ भाषा मे धीमान धर्मराज के प्रति उपदेशः विदुर के वाक्य से सुरङ्ग खोदा जाना, पांच पुत्रों के सहित व्याधपत्नी और पुरोचन का जल मरना; घने वनमें पाण्डवों की राक्षसी हिडिम्बा से भेट और भीम से हिडिंब का मारा जाना, घटोत्कच की उत्पत्तिःपांडवों को अतितेजस्वी महर्षि वेद व्यास जी से भेट और उनकी आज्ञा से एकचक्रा नगरी मे ब्राह्मण के घर उनका अज्ञातवास, राक्षस बकका वध और यह देखकर नगर वासियों का विस्मयः द्रौपदी और धृष्टद्युम्न का जन्मः ब्राह्मणों

द्रौपदीं प्रार्थयन्तस्ते स्वयंवरादिदृक्षया ।
पञ्चालानभितो जग्मुर्यत्र कौतूहलान्विताः ॥ ११० ॥
अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा ।
सख्यं कृत्वा ततस्तेन तस्मादेव च शुश्रुवे ॥ १११ ॥
तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पञ्चालानभितो ययौ ॥ ११२ ॥
पाञ्चालनगरे चापि लक्ष्यं भित्वा धनंजयः ।
द्रौपदीं लब्धवानत्र मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ॥ ११३ ॥
भीमसेनार्जुनौ यत्र संरब्धान्पृथिवीपतीन् ।
शल्यकर्णौ च तरसा जितवन्तौ महामृधे ॥ ११४ ॥
दृष्ट्वा तयोश्च तद्वीर्यमप्रमेयममानुषम् ।
शङ्कमानौ पाण्डवांस्तान्रामकृष्णौ महामती ॥ ११५ ॥
जग्मतुस्तैः समागन्तुं शालां भार्गववेश्मनि ।
पञ्चानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च ॥ ११६ ॥
पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते ।
द्रौपद्या देवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः ॥ ११७ ॥
क्षत्तुश्च धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान्प्रति ।
विदुरस्य च संप्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च ॥ ११८ ॥

से द्रौपदी के स्वयंवर की वार्ता सुन कर कौतूहली हो करके श्री व्यासजी की आज्ञासे पाण्डवों का द्रौपदी लाभ की आशासे स्वंयंवर देखनेके लिये पांचाल देश की ओर जाना; गंगाकिनारे अंगारपर्ण गंधर्व को जय कर उससे अर्जुन की मित्रता और उसके मुखसे तपती, वसिष्ठ और और्व का सुन्दर उपाख्यान सुनना; पाण्डवों का पांचाल नगर मे जाना; वहां सम्पूर्ण राजाओं के बीच में लक्ष्य को भेद कर अर्जुन का द्रौपदीलाभ, और उस हेतु युद्ध उभडने पर, भीमसेन और अर्जुन से शल्य, कर्ण और दूसरे क्रोधसे अन्धे नरेशोंकी पराजय; भीमार्जुन के उस असाधारण अपरिमित वीर्य को देखकर इस समझ से, कि वे पाण्डव है, मिलने के लिये भार्गव के घरमे अति बुद्धिशाली श्री बलरामजी और श्री कृष्णचंद्र का जाना, द्रौपदी के पांच पति होने की बात सुन कर राजा द्रुपद का विषाद; तिसपर पांच इन्द्रो का अति आश्चर्य उपाख्यान कहा जाना; द्रौपदी का

खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धसर्जनम् ।
नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया ॥ ११९ ॥
सुन्दोपसुन्दयोस्तद्वदाख्यानं परिकीर्तितम् ।
अनन्तरं च द्रौपद्या सहासीनं युधिष्ठिरम् ॥ १२० ॥
अनुप्रविश्य विप्रार्थे फाल्गुनो गृह्य चायुधम् ।
मोक्षयित्वा गृहं गत्वा विप्रार्थं कृतनिश्चयः ॥ १२१ ॥
समयं पालयन्वीरो वनं यत्र जगाम ह ।
पार्थस्य वनवासे च उलूप्या पथि संगमः ॥ १२२ ॥
पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च ।
तत्रैव मोक्षयामास पञ्च सोप्सरसः शुभाः ॥ १२३ ॥
शापाद् ग्राहत्वमापन्ना ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
प्रभासतीर्थे पार्थेन कृष्णस्य च समागमः ॥ १२४ ॥
द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन भामिनी ।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना ॥ १२५ ॥
गृहीत्वा हरणं प्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने ।
अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः ॥ १२६ ॥

देवी अमानवी विवाह; धृतराष्ट्र द्वारा पाण्डवों के निकट विदुर का प्रेपित होनाः विदुर का पहुंचना और श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन । पाण्डवों का खाण्डवप्रस्थ में बसना और आधा राज्य शासना. श्री नारदजी की आज्ञासे पांचों भाईका द्रौपदी से नियम करना; सुन्द और उपसुन्द का उपाख्यानः युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ जिस निराले गृहमें विराज रहे थे. उस गृहमें ब्राह्मण के उपकारार्थ जा करके अस्त्र लाकर विप्रवर की गौ उद्धार कर नारद-कृत नियम रक्षा के लिये वीरवर अर्जुन का वन को जानाः पार्थ के वनवास काल में पथ में नागकन्या उलूपी से संगम और पुण्यतीर्थ को जाना; बभ्रुवाहन का जन्मः तपस्वी ब्राह्मण के शापसे ग्राहयोनि मे जन्मी हुई पांच सुन्दरी अप्सराओं का अर्जुन-द्वारा शापसे मुक्त होनाः प्रभासतीर्थ मे श्रीकृष्णचन्द्र से अर्जुन का मिलापः द्वारकाजी में श्रीकृष्णचन्द्र की संमति से काम-यान पर अर्जुन का अभिलाषा रखती हुई सुभद्रा को हरलेना; देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र का दहेजसहित खाण्डव-प्रस्थमें गमनः सुभद्रा के गर्भमें तेजोवंत अभिमन्यु का जन्मः द्रौपदी के पुत्र होनाःश्री कृष्ण और अर्जुन के जल-विहार के लिये यमुना जी में जाने

द्रौपद्यास्तनयानां च संभवोऽनुप्रकीर्तितः ।
विहारार्थं च गतयोः कृष्णयोर्यमुनामनु ॥ १२७ ॥
संप्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम् ।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद्भुजङ्गस्य च मोक्षणम् ॥ १२८ ॥
महर्षेर्मन्दपालस्य शाङ्गर्यां तनयसंभवः ।
इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम् ॥ १२९ ॥
अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥ १३० ॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्मुनिनोक्ता महात्मना ॥ १३१ ॥
द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सभाक्रिया पाण्डवानां किंकराणां च दर्शनम् ॥ १३२ ॥
लोकपालसभाख्यानं नारदाद्देवदर्शिनः ।
राजसूयस्य चारम्भो जरासंधवधस्तथा ॥ १३३ ॥
गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोक्षणम् ।
तथा दिग्विजयोऽत्रैव पाण्डवानां प्रकीर्तितः ॥ १३४ ॥
राज्ञामागमनं चैव सार्हणानां महाक्रतौ ।
राजसूयेऽर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ॥ १३५ ॥
यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च ।

पर वहां चक्र और चाप मिल जाना; खाण्डवदाह; मय-दानव और सर्प की अग्नि से रक्षा; शार्ङ्गी के गर्भ में मन्दपाल नामक महर्षिका पुत्र उपजाना; यह सब वृत्तान्तभरा आदिपर्व पहिले कहा गया है। भगवान् तेजोवान् महात्मा महर्षि वेदव्यास ने इस पर्वमें दो सौ सत्ताइस अध्यायों की संख्या लगाई है; और इस में आठ सहस्र, आठ सौ, चौरासी श्लोक कीर्तन किये गये है। (९२ — १३१)

अनेक वृत्तांत वाले दूसरे पर्व का नाम सभापर्व है; पाण्डवों का सभा-निर्माण; किङ्कर दर्शन; देवलोक देखनेवाले श्रीनारद जी का लोकपालों की सभाका वर्णन; राजसूय यज्ञ का प्रारंभ; जरासंधवध; गिरिदुर्ग में कैद भोगते हुए राजाओं का श्रीकृष्ण से मुक्त होना; पाण्डवों का दिग्विजय; राजसूय महायज्ञ में राजाओं का भेट-सहित आना; अर्घ देने के बारे में वाद विवाद होने के समय शिशुपाल-वध; यज्ञका ऐश्वर्य

दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभानले ॥ १३६ ॥
यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत् ।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोजयत् ॥ १३७ ॥
यत्र द्यूतार्णवे नग्नां द्रौपदी नौरिवार्णवात् ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः स्नुषां परमदुःखिनाम् ॥ १३८ ॥
तारयामास तांस्तीर्णाञ्ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ॥ १३९ ॥
जित्वा स वनवासाय प्रेषयामास तांस्ततः ।
एतत्सर्वं सभापर्व समाख्यातं महात्मना ॥ १४० ॥
अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्च श्लोकशतानि च ॥ १४१ ॥
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाःपर्वण्यस्मिन्द्विजोत्तमाः ।
अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ॥ १४२ ॥
वनवासं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पौरानुगमनं चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ १४३ ॥
अन्नौषधीनां च कृते पाण्डवेन महात्मना ।
द्विजानां भरणार्थं च कृतमाराधनं रवेः ॥ १४४ ॥

देखकर दुःख और द्वेष-युक्त हुए दुर्योधन की भीम से सभा के बीच में हंसी होनी; उससे दुर्योधन का क्रोध होना और जूए का अनुष्ठान; कपटी शकुनि से द्यूत में धर्मपुत्र युधिष्ठिर की हार; समुद्र में डूबी हुई नाव की भांति द्यूत रूपी समुद्र मे डूबी हुई परम दुःखिनी पुत्रवधू द्रौपदी का महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र से उद्धार। वह देखकर फिर द्यूत खेलने के लिये दुर्योधन का पाण्डवों को बुलाना। उस में जय पाये हुए दुर्योधन से पाण्डवों का वनको भेजा जाना। महात्मा व्यासजी ने सभापर्व में इन विषयों को वर्णन किया है। हे श्रेष्ठ द्विजो! इसपर्व में अठत्तर अध्याय और दो सहस्र, पांच सौ,ग्यारह श्लोक विद्यमान है। (१३२ — १४२)

इसके पश्चात् आरण्यक नामक बडा भारी तीसरा पर्व है। महात्मा पाण्डवों के वन को सिधारने पर धीमान धर्मपुत्रके पीछे नगर वासियों का जाना। अनुगत ब्राह्मणोंके पोषणार्थ श्रीमहाराज धौम्यमुनिके उपदेशानुसार महानुभाव युधिष्ठिर का अन्न और औषधिके लिये सूर्यनारायणसे प्रार्थना। सूर्य देव की कृपा से अन्न पाना। धृतराष्ट्र से हित

धौम्योपदेशात्तिग्मांशुप्रसादादन्नसंभवः ।
हितं च ब्रुवतः क्षत्तुः परित्यागोऽम्बिकासुतात् ॥ १४५ ॥
त्यक्तस्य पाण्डुपुत्राणां समीपगमनं तथा ।
पुनरागमनं चैव धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १४६ ॥
कर्ण-प्रोत्साहनाच्चैव धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
वनस्थान्पाण्डवान्हन्तुं मन्त्रो दुर्योधनस्य च ॥ १४७ ॥
तं दुष्टभावं विज्ञाय व्यासस्यागमनं द्रुतम् ।
निर्याणप्रतिषेधश्च सुरभ्याख्यानमेव च ॥ १४८ ॥
मैत्रेयागमनं चात्र राज्ञश्चैवानुशासनम् ।
शापोत्सर्गश्च तेनैव राज्ञो दुर्योधनस्य च ॥ १४९ ॥
किर्मीरस्य वधश्चात्र भीमसेनेन संयुगे ।
वृष्णीनामागमश्चात्र पञ्चालानां च सर्वशः ॥ १५० ॥
श्रुत्वा शकुनिना द्यूते निकृत्या निर्जितांश्च तान् ।
क्रुद्धस्यानुप्रशमनं हरेश्चैव किरीटिना ॥ १५१ ॥
परिदेवनं च पाञ्चाल्या वासुदेवस्य संनिधौ ।
आश्वासनं च कृष्णेन दुःखार्तायाः प्रकीर्तितम् ॥१५२॥
तथा सौभवधाख्यानमत्रैवोक्तं महर्षिणा ।
सुभद्रायाः सपुत्रायाः कृष्णेन द्वारकां पुरिम् ॥ १५३ ॥

कहने वाले विदुर जी का निकाला जाना। उनका पाण्डवों के समीप पहुंचना और धृतराष्ट्र की आज्ञा से फिर लौट आना। कर्णके उपहास वाक्य पर वनवासी पाण्डवों की हत्या के लिये दुर्मति दुर्योधन की युक्ति। उस दुष्टभाव को समझ कर श्रीमहाराज व्यासजी का शीघ्र आगमन और दुर्योधन को वन की ओर जानेसे रोकना। सुरभि का उपाख्यान। मैत्रेय का हस्तिनापुर में आगमन और धृतराष्ट्र को उपदेश करना तथा दुर्योधन को शाप देना। युद्ध में भीमसेन से किर्मीर का वध होना। यह सुनकर, कि शकुनि ने धूर्तता से पाण्डवों को जय कर लिया है, वृष्णि और पांचालों का युधिष्ठिर के निकट जाना; अर्जुन द्वारा क्रोध युक्त श्रीकृष्णका क्रोध शान्त होना। श्री कृष्ण के निकट द्रौपदीका दुःख। दुःखिता द्रौपदी को श्रीकृष्ण का समझाना। सोभवध का उपाख्यान। श्रीकृष्ण से पुत्र सहित सुभद्रा का द्वारका जी में भेजा जाना। धृष्टद्युम्नका द्रौपदी के पुत्रों को पांचाल देश में ले जाना।

नयनं द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नेन चैव ह ।
प्रवेशः पाण्डवेयानां रम्ये द्वैतवने ततः ॥ १५४ ॥
धर्मराजस्य चात्रैव संवादः कृष्णया सह ।
संवादश्च तथा राज्ञा भीमस्यापि प्रकीर्तितः ॥ १५५ ॥
समीपं पाण्डुपुत्राणां व्यासस्यागमनं तथा ।
प्रतिस्मृत्याथ विद्यायाः दानं राज्ञो महर्षिणा ॥ १५६ ॥
गमनं काम्यके चापि व्यासे प्रतिगते ततः ।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ॥ १५७ ॥
महादेवेन युद्धं च किरातवपुषा सह ।
दर्शनं लोकपालानामस्त्रप्राप्तिस्तथैव च ॥ १५८ ॥
महेन्द्र-लोक-गमनमस्त्रार्थे च किरीटिनः ॥
यत्र चिन्ता समुत्पन्ना धृतराष्ट्रस्य भूयसी ॥ १५९ ॥
दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
युधिष्ठिरस्य चार्तस्य व्यसनं परिदेवनम् ॥ १६० ॥
नलोपाख्यानमत्रैव धार्मिष्ठं करुणोदयम् ।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य चरितं तथा ॥ १६१ ॥
तथाक्षहृदयप्राप्तिस्तस्मादेव महर्षितः ।
लोमशस्यागमस्तत्र स्वर्गात्पाण्डुसुतान्प्रति ॥ १६२ ॥

पाण्डवों का रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश । युधिष्ठिर, भीम और द्रौपदी का वार्तालाप । पांडुपुत्रों के समीप महर्षि वेदव्यासजी का आगमन और युधिष्ठिर को स्मृति नामक विद्या दान, श्रीव्यास जी के चले जाने पर पाण्डवों का काम्यक वन में प्रवेश । दिव्यास्त्र लाभ करने की चेष्टा में अपरिमित तेजस्वी अर्जुन का प्रवास । व्याधरूपी महादेव के संग अर्जुन का युद्ध । अर्जुन का लोकपाल दर्शन, अस्त्रप्राप्ति और अस्त्रशिक्षा के लिये महेन्द्र लोक में गमन । उस बात को सुन कर धृतराष्ट्र की अतिचिन्ता । युधिष्ठिर का परमार्थ ज्ञानी बृहदश्व नामक महर्षिका दर्शन । (१५३—१६०)

उन के समीप अतिकातर हो कर युधिष्ठिर का परिताप और विलाप । धर्म और करुणरस भरा नलोपाख्यान, जिसमें नल वृत्तांत और विपत्काल में भी दमयंती के मर्यादा पालने की कथा कही गई है । महर्षि बृहदश्व से युधिष्ठिर का अक्षहृदय नामक विद्या पाना । पाण्डवों

वनवासगतानां च पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ॥ १६३ ॥
संदेशादर्जुनस्यात्र तीर्थाभिगमनक्रिया ।
तीर्थानां च फलप्राप्तिः पुण्यत्वं चापि कीर्तितम् ॥ १६४ ॥
पुलस्त्यतीर्थयात्रा च नारदेन महर्षिणा ।
तीर्थयात्रा च तत्रैव पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १६५ ॥
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरंदरात् ।
तथा यज्ञविभूतिश्च गयस्यात्र प्रकीर्तिता ॥ १६६ ॥
आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणं ।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेस्तथा ॥ १६७ ॥
ऋष्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः ।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ॥ १६८ ॥
कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानां च वर्ण्यते ।
प्रभासतीर्थे पाण्डूनां वृष्णिभिश्च समागमः ॥ १६९ ॥
सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः ।
शर्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान्सोमपीतिनौ ॥ १७० ॥
ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः ।
मांधातुश्चाप्युपाख्यानं राज्ञोऽत्रैव प्रकीर्तितम् ॥ १७१ ॥

के समीप स्वर्गसे लोमश ऋषिका आना और वनवासी महानुभव पाण्डवोंको स्वर्गमें विराजते हुए अर्जुनका समाचार सुनाना। अर्जुन का समाचार सुनकर पाण्डवों की तीर्थ यात्रा। तीर्थ यात्रा के फल और पुण्यकीर्तन। महर्षि नारदजी की पुलस्त्य तीर्थ की यात्रा और महानुभव पाण्डवोंका भी उसही तीर्थ में गमन। कुण्डल देकर कर्णका इन्द्रकी प्रार्थना पूरी करना। गयासुरका यज्ञ। अगस्त्यका उपाख्यान और वातापि भक्षण। सन्तानके निमित्त अगस्त्य ऋषिका लोपामुद्रा नाम कन्यासे विवाह। कौमार ब्रह्मचारी ऋष्य-शृंग जी का चरित्र। जमदग्निपुत्र महावीर्य परशुरामजी का चरित्र। कार्तवीर्यवध। हैहयवध। प्रभास तीर्थ मे वृष्णिओं के साथ पाण्डवों का मिलाप। (१६०—१६९)

सुकन्या का अति सुंदर उपाख्यान। शर्यातिके यज्ञ मे भृगुवंशी च्यवनमुनि का दोनो अश्विनी कुमारो को यज्ञीय सोमरस देना। अश्विनीकुमारो का च्यवनमुनिको यौवनावस्था मे स्थापन करना। मान्धाता

जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः ।
पुत्रार्थमयजद्राजा लेभे पुत्रशतं च सः ॥ १७२ ॥
ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनुत्तमम् ।
इन्द्राग्नी यत्र धर्मश्चाप्यजिज्ञासच्छिबिं नृपम् ॥ १७३ ॥
अष्टावक्रीयमत्रैव विवादो यत्र बन्दिना ।
अष्टावक्रस्य विप्रर्षेर्जनकस्याध्वरेऽभवत् ॥ १७४ ॥
नैयायिकानां मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च ।
पराजितो यत्र बन्दी विवादेन महात्मना ॥ १७५ ॥
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः ।
यवक्रीतस्य चाख्यानं रैभ्यस्य च महात्मनः ।
गन्धमादनयात्रा च वासो नारायणाश्रमे ॥ १७६ ॥
नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने ।
व्रजन्पथि महाबाहुर्दृष्टवान्पवनात्मजम् ॥ १७७ ॥
कदलीषण्डमध्यस्थं हनूमन्तं महाबलम ।
यत्र सौगन्धिकार्थेऽसौ नलिनीं तामधर्षयत् ॥ १७८ ॥
यत्रास्य युद्धमभवत्सुमहद्राक्षसैः सह ।
यक्षैश्चैव महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ॥ १७९ ॥

का उपाख्यान । जन्तु नामक राजपुत्र का उपाख्यान।सोमकराज का अनेक पुत्र पानेके लिये पुत्र को मार कर याग करना और सौ पुत्र पाना । श्येन-कपोतका मनभावन उपाख्यान । इन्द्र, अग्नि और धर्म से शिविराजा की परीक्षा । अष्टावक्र का उपाख्यान । जनकराज के यज्ञ में नैयायिकवर वरुणपुत्र बन्दी के साथ विप्रर्षि अष्टावक्र का वाद विवाद । महाप्रभावी अष्टावक्र के साथ विवादमें बन्दी की पराजय । जयलाभ कर के अष्टावक्रका समुद्र मे डूबे हुए कहोड नामक निज पिता का उद्धार करना । यवक्रीत की कथा ।महानुभव रैभ्यकी कथा । पाण्डवों की गन्धमादन पर यात्रा । वहां रहने के कालमें सुगन्धी पदार्थ बटोरने के लिये द्रौपदी से नियुक्त होकर महाबली भीमसेन को पथ में कदली वन के भीतर अतिबलशाली पवननन्दन हनुमान जी से भेंट। (१६९—१७८)

भीम का पद्मवन बिगाडना और वहां राक्षस और मणिमत् आदि महावीर्य यक्षों के साथ घोर युद्ध । वृकोदर से जटासुर नामक राक्षस का वध होना । वृषपर्व नामक राजर्षिके समीप पाण्डवोंका

जटासुरस्य च वधो राक्षसस्य वृकोदरात्।
वृषपर्वणो राजर्षेस्ततोऽभिगमनं स्मृतम् ॥ १८० ॥
आर्ष्टिषेणाश्रमे चैषां गमनं वास एव च।
प्रोत्साहनं च पाञ्चाल्या भीमस्यात्र महात्मनः॥१८१॥
कैलासारोहणं प्रोक्तं यत्र यक्षैर्बलोत्कटैः।
युद्धमासीन्महाघोरं मणिमत्प्रमुखैः सह ॥ १८२ ॥
समागमश्च पाण्डूनां यत्र वैश्रवणेन च।
समागमश्चार्जुनस्य तत्रैव भ्रातृभिः सह ॥ १८३ ॥
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थं सव्यसाचिना।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ॥ १८४ ॥
निवातकवचैर्घोरैर्दानवैः सुरशत्रुभिः।
पौलोमैः कालकेयैश्च यत्र युद्धं किरीटिनः ॥ १८५ ॥
वधश्चैषां समाख्यातो राज्ञस्तेनैव धीमता।
अस्त्रसंदर्शनारम्भो धर्मराजस्य संनिधौ ॥ १८६ ॥
पार्थस्य प्रतिषेधश्च नारदेन सुरर्षिणा।
अवरोहणं पुनश्चैव पाण्डूनां गन्धमादनात् ॥ १८७ ॥
भीमस्य ग्रहणं चात्र पर्वताभोगवर्ष्मणा।
भुजगेन्द्रेण बलिना तस्मिन्सुगहने वने ॥ १८८ ॥
अमोक्षयद्यत्र चैनं प्रश्नानुक्त्वा युधिष्ठिरः।
काम्यकागमनं चैव पुनस्तेषां महात्मनाम् ॥ १८९ ॥

गमन। पाण्डवों का आर्ष्टिषेणाश्रम में गमन और वास। पांचालीका महानुभव भीमको उत्साह देना। भीमका कैलास पर चढ जाना और महाबल शाली माणिमत् आदि यक्षों से घोर युद्ध। पाण्डवोंके साथ कुबेरजी का मिलाप। भाईयोंसे अर्जुन का मिलाप। दिव्यास्त्र पाये हुए सव्यसाची अर्जुन से इन्द्रजी के कार्यके लिये हिरण्यपुरवासी निवात कवच नामक देव शत्रु भयानक दानवों और पुलोम पुत्र कालकेयोंका घोर युद्ध और पार्थसे उनका मारा जाना। महाराज युधिष्ठिर को अर्जुनका अस्त्र दिखाने का उद्योग और देवर्षि नारदजी का अस्त्र दिखाने से रोकना। पाण्डवों का गंध मादन से उतरना। उस बडे वन में पर्वतके समान शरीर-धारी प्रबल सर्पका भीमको निगल जाना, प्रश्न के अर्थ कहकर युधिष्ठिर का

तत्रस्थांश्च पुनर्द्रष्टुं पाण्डवान्पुरुषर्षभान् ।
वासुदेवस्यागमनमत्रैव परिकीर्तितम् ॥ १९० ॥
मार्कण्डेयसमास्यायामुपाख्यानानि सर्वशः ।
पृथोर्वैन्यस्य यत्रोक्तमाख्यानं परमर्षिणा ॥ १९१ ॥
संवादश्च सरस्वत्यास्तार्क्ष्यर्षेः सुमहात्मनः ।
मत्स्योपाख्यानमत्रैव प्रोच्यते तदनन्तरम् ॥ १९२ ॥
मार्कण्डेयसमास्या च पुराणं परिकीर्त्यते ।
ऐन्द्रद्युम्नमुपाख्यानं धौन्धुमारं तथैव च ॥ १९३ ॥
पतिव्रतायाश्चाख्यानं तथैवाङ्गिरसं स्मृतम् ।
द्रौपद्याः कीर्तितश्चात्र संवादः सत्यभामया ॥ १९४ ॥
पुनर्द्वैतवनं चैव पाण्डवाः समुपागताः ।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र बद्धः सुयोधनः ॥ १९५ ॥
ह्रियमाणस्तु मन्दात्मा मोक्षितोमौ किरीटिना ।
धर्मराजस्य चात्रैव मृगस्वप्ननिदर्शनात् ॥ १९६ ॥
काम्यके काननश्रेष्ठे पुनर्गमनमुच्यते ।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ॥ १९७ ॥
दुर्वाससोप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ॥ १९८ ॥

भीम को उद्धार करना । महात्मा पाण्डवों का फिर काम्यक वन मे आगमन । पुरुष श्रेष्ठ पाण्डवों को फिर देखने के लिये वासुदेव का काम्यकवन में आना । मार्कंडेय समास्या घटित अनेक भांति की कथा । (१७८--१९१)

उस महर्षि से वेणुपुत्र पृथुराजा का उपाख्यान कहा जाना । महानुभव तार्क्ष्य ऋषि और सरस्वती जी की कथा । मत्स्योपाख्यान । मार्कण्डेय-समस्या और पुराणों का कीर्तन । इन्द्रद्युम्न का उपाख्यान । धुन्धुमारका उपाख्यान । [illegible] उपाख्यान । [illegible] । द्रौपदी और सत्यभामा का संवाद । [illegible] पुनः द्वैतवन में [illegible] । [illegible] और [illegible] ([illegible])

[illegible]

यत्रैनमन्वयाद्भीमो वायुवेगसमो जवे ।
चक्रे चैनं पञ्चशिखं यत्र भीमो महाबलः ॥ १९९ ॥
रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ।
यत्र रामेण विक्रम्य निहतो रावणो युधि ॥ २०० ॥
सावित्र्याश्चाप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
कर्णस्य परिमोक्षोत्र कुण्डलाभ्यां पुरंदरात् ॥ २०१ ॥
यत्रास्य शक्तिस्तुष्टोसावददादेकवधाय च ।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोन्वशात्सुतम् ॥ २०२ ॥
जग्मुर्लब्धवरा यत्र पाण्डवाः पश्चिमां दिशम् ।
एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ॥ २०३ ॥
अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यया परिकीर्तिते ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥ २०४ ॥
एकादश सहस्राणि श्लोकानां षट्शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाःपर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ॥ २०५ ॥
अतःपरं निबोधेदं वैराटं पर्व विस्तरम् ।
विराटनगरे गत्वा श्मशाने विपुलां शमीम् ॥ २०६ ॥
दृष्ट्वा संनिदधुस्तत्र पाण्डवा ह्यायुधान्युत ।
यत्र प्रविश्य नगरं छद्मना न्यवसंस्तु ते ॥ २०७ ॥

का द्रौपदी को हर लेना और भीमसेन का वायुके समान उसके पीछे जाना ; महाबली भीम का जयद्रथ को पांच शिखाधारी बनाना; महाराज रामचन्द्र जी की बडी भारी कथा, जिसमें श्री रामचंद्र ने युद्ध मे बडे विक्रम से रावण को मारा था; सावित्री की कथा। इन्द्रजी के उद्देश मे कर्णका दोनो कुण्डल त्याग देना और उससे प्रसन्न होकर इन्द्र जी का कर्ण को एक पुरुष मारने वाली शक्ति देना; आरणेय उपाख्यान; धर्मद्वारा निज पुत्र का अनुशासन; वर लाभ के पश्चात् पाण्डवों का पश्चिम दिशा को जाना; यह सब विषय-युक्त आरण्यक नामक ती--सरा पर्व वर्णित हुआ है। इस मे दो सौ उन हत्तर अध्याय और ग्यारह सहस्र, आठ सौ, चौसठ श्लोक कीर्तन किये गये है। (१९८—२०५)

इसके पश्चात् विराट पर्व का व्योरा सुनिये, विराट नगर में जाकर श्मशान के बीचमें बडे भारी शमीवृक्ष को देख करके उस पर पाण्डवो का अस्त्र रखना, पुर मे प्रवेश कर उनका गुप्तभावसे रहना, दुराचारी कामी

पाञ्चालीं प्रार्थयानस्य कामोपहतचेतसः ।
दुष्टात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ॥ २०८ ॥
पाण्डवान्वेषणार्थं च राज्ञो दुर्योधनस्य च ।
चाराःप्रस्थापिताश्चात्र निपुणाःसर्वतोदिशम् ॥ २०९ ॥
न च प्रवृत्तिस्तैर्लब्धा पाण्डवानां महात्मनाम् ।
गोग्रहश्च विराटस्य त्रिगर्तैः प्रथमं कृतः ॥ २१० ॥
यत्रास्य युद्धं सुमहत्तेरासील्लोमहर्षणम् ।
ह्रियमाणश्च यत्रासौ भीमसेनेन मोक्षितः ॥ २११ ॥
गोधनं च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः ।
अनन्तरं च कुरुभिस्तस्य गोग्रहणं कृतम् ॥ २१२ ॥
समस्ता यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि ।
प्रत्याहृतं गोधनं च विक्रमेण किरीटिना ॥ २१३ ॥
विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ॥ २१४ ॥
चतुर्थमेतद्विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम् ।
अत्रापि परिसंख्याता अध्यायाः परमर्षिणा ॥ २१५ ॥
सप्तषष्टिरथो पूर्णाः श्लोकानामपि मे शृणु ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ॥ २१६ ॥

कीचक की पाञ्चालीसे संभोग की प्रार्थना और भीमसे उसका वध। पाण्डवों के अन्वेषण के लिये राजा दुर्योधन का चारों ओर चतुर दूत भेजना और पाण्डवों को ढूंढ निकालने में उन दूतों की अक्षमताः पहिले त्रिगर्त की सेनाका विराट-राज की गौ हरना और उनसे विराट-राज का लोमाञ्च करनेवाला घोर युद्धः त्रिगर्तसे पकडे गये हुए विराट का भीमसे मुक्त होना और पाण्डवों का गौ फेर लेनाः कौरवों का गौ हर लेनाः अर्जुन के युद्ध में संपूर्ण कौरवों का पराजयः किरीटी का विक्रमपूर्वक गौ फेर लेनाः सुभद्रा के पुत्र-शत्रुनाशी अभिमन्यु की पत्नी और पार्थ की पुत्रवधू करनेके लिये विराट का अपनी उत्तरा नाम कन्यादानः यह सब विषय युक्त विराट नामक चौथा पर्व विस्तार पूर्वक कहा गया है। इस पर्व में सरसट अध्याय हैं और वेदज्ञ महर्षि व्यासजीने इसमें दो सहस्र पचास श्लोक कीर्तन किये हैं। (२०८ — २१६)

इसके अनंतर विशेष रूप से जानने

उक्तानि वेदविदुषा पर्वण्यस्मिन्महर्षिणा ।
उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम् ॥ २१७ ॥
उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया ।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ॥ २१८ ॥
साहाय्यमस्मिन्समरे भवान्नौ कर्तुमर्हति ।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ॥ २१९ ॥
अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य किंवा ददाम्यहम् ॥ २२० ॥
वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः ।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनंजयः ॥ २२१ ॥
मद्रराजं च राजानमायान्तं पाण्डवान्प्रति ।
उपहारैर्वञ्चयित्वा वर्त्मन्येव सुयोधनः ॥ २२२ ॥
वरदं तं वरं वव्रे साहाय्यं क्रियतां मम ।
शल्यस्तस्मै प्रतिश्रुत्य जगामोद्दिश्य पाण्डवान् ॥ २२३ ॥
शान्तिपूर्वं चाकथयद्यत्रेन्द्रविजयं नृपः ।
पुरोहितप्रेषणं च पाण्डवैः कौरवान्प्रति ॥ २२४ ॥
वैचित्रवीर्यस्य वचः समादाय पुरोधसः ।

योग्य उद्योग नामक पांचवे पर्व की अनुक्रमणी श्रवण कीजिये। पाण्डवो के जय की इच्छासे उपप्लव्य नाम स्थान मे रहने के समय दुर्योधन और अर्जुन का वासुदेव जी के पास जाना और उसके ऐसी प्रार्थना करने पर, कि "आप उपस्थित युद्ध मे हमारी सहायता कीजिये," महामति श्री कृष्ण का इस से यह कहना, कि "हे श्रेष्ठ पुरुष युगल! युद्ध न करके केवल युक्तिमात्र देनेवाला मै और एक अक्षौहिणी सेना, इन दो मे किस को क्या दूं?" अभागी कुमति दुर्योधन का सेना का वर मांगना और अर्जुन का युद्ध से दूर रहने वाले श्रीकृष्ण को मंत्रणा-कार्य मे नियुक्त कर लेना। (२१६—२२१)

मद्रराज पांडवो के निकट आ रहेथे कि ऐसे समयमे दुर्योधन का समाचार पाकर उनके पास पहुंचना और छलसे उपहार देकर संतुष्ट करनेपर वह जब वर देने को उद्यत हुए, तब उपस्थित युद्ध मे सहायताकी प्रार्थना करना और मद्रराज शल्यका सहायता देना स्वीकार कर पाण्डवो के समीप जाना ; शल्यका युधिष्ठिर को समझाना और इन्द्रकी विजय वर्णन करना;

तथेन्द्रविजयं चापि यानं चैव पुरोधसः ॥ २२५ ॥
संजयं प्रेषयामास शमार्थी पाण्डवान्प्रति ।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ॥ २२६ ॥
श्रुत्वा च पाण्डवान्यत्र वासुदेवपुरोगमान् ।
प्रजागरः संप्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥ २२७ ॥
विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च ।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ॥ २२८ ॥
तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम् ।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ॥ २२९ ॥
प्रभाते राजसमितौ संजयो यत्र वा विभो ।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ॥ २३० ॥
यत्र कृष्णो दयापन्नः संधिमिच्छन्महामतिः ।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ॥ २३१ ॥
प्रत्याख्यानं च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
शमार्थे याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ॥ २३२ ॥
दम्भोद्भवस्य चाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
वरान्वेषणमत्रैव मातलेश्च महात्मनः ॥ २३३ ॥
महर्षेश्चापि चरितं कथितं गालवस्य वै ।

पांडवों का कौरवों के समीप पुरोहित भेजना, उससे इन्द्र की विजय संबंधी कथा सुनकर शांति चाहने वाले महाप्रतापी धृतराष्ट्र का विदुर की मंत्रणा से संजय नामक दूतका भेजना; वासुदेव और पाण्डवों का वृत्तांत सुन कर चिन्तासे धृतराष्ट्रका निद्रा त्याग देनाः विदुर के मुख से बुद्धिमान् धृतराष्ट्र का विचित्र और हितवाक्य सुननाः मनःपीडासे पीसे जाते हुए शोकाकुल धृतराष्ट्र का सनत्सुजात ऋषिसे अति उत्तम अध्यात्म संबंधी शास्त्र सुननाः प्रातःकाल मे संजय से वासुदेव और अर्जुनका ऐकात्मभाव का विषय कहा जाना; महामति और कृपावान् श्रीकृष्ण का सान्धि स्थापन करने को आगमनः दोनों पक्ष की हितेच्छा से श्रीकृष्णचंद्र का सन्धि-स्थापन का प्रस्ताव करने पर दुर्योधन का उस बातको टाल देना। दंभोद्भव का उपाख्यानः महात्मा मातली का अपनी दुहिता के लिये वर ढूंढना। महर्षि गालव चरित्र । (२२२—२३३)

विदुलाका पुत्र को उपदेशः कर्ण और

विदुलायाश्च पुत्रस्य प्रोक्तं चाप्यनुशासनम् ॥ २३४ ॥
कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम् ।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राज्ञां प्रदर्शितम् ॥ २३५ ॥
रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमान्त्रितः ।
उपायपूर्वं शौटीर्यात्प्रत्याख्यातश्च तेन सः ॥ २३६ ॥
आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिंदमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं सर्वमाख्यातवान्हरिः ॥ २३७ ॥
ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा च यद्धितम् ।
साङ्ग्रामिकं ततः सर्वं सज्जं चक्रुः परंतपाः ॥ २३८ ॥
ततो युद्धाय निर्याता नराश्वरथदन्तिनः ।
नगराद्धास्तिनपुराद्बलसंख्यानमेव च ॥ २३९ ॥
यत्र राजा ह्युलूकस्य प्रेषणं पाण्डवान्प्रति ।
श्वोभाविनि महायुद्धे दौत्येन कृतवान्प्रभुः ॥ २४० ॥
रथातिरथसंख्यानमम्बोपाख्यानमेव च ।
एतत्सुबहुवृत्तान्तं पञ्चमं पर्व भारते ॥ २४१ ॥
उद्योगपर्व निर्दिष्टं संधिविग्रहमिश्रितम् ।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥ २४२ ॥
श्लोकानां षट् सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना ॥ २४३ ॥

दुर्योधन आदिकी दुष्ट मत्रणा को समझकर राजगणके समीप श्रीकृष्णका अपना योगेश्वर भाव दिखाना; श्रीकृष्णका कर्ण को अपने रथ पर चढाना और हित परामर्श देना, मदगर्वित कर्ण का कौशल पूर्वक श्रीकृष्ण की हित बात को अस्वीकार करना; हास्तिनापुर से उपलव्य नगरमें पाण्डवो के निकट आकर श्रीकृष्ण का सारा वृतांत कहना; श्रीकृष्णसे मव बातों को सुनकर, हितकार्य की युक्ती ठहरा करके पाण्डवो की युद्ध की तय्यारी; हास्तिनापुर से युद्ध के लिये हाथी, घोडे, रथ और पैदल की यात्रा; सैन्यसंख्या; घोर युद्ध के पूर्व दिन दुर्योधन का उलूक नामक मनुष्य को दूत नियुक्त कर पाण्डवों की सेवा में भेजना, रथ अतिरथ की संख्या; अम्बोपाख्यान; उद्योग नामक पांचवें पर्व मे संधि विग्रह की वातो में मिले हुए यह सब वृत्तान्त वर्णित हुए हैं। हे तपोधन! उदार चित्त महानुभाव महर्षि वेदव्यासने इस पर्व में छः सहस्र, छः सौ, अट्ठानव्वे

व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः ।
अतः परं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते ॥ २४४ ॥
जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं संजयेन ह ।
यत्र यौधिष्ठिरं सैन्यं विषादमगमत्परम् ॥ २४५ ॥
यत्र युद्धमभूद्धोरं दशाहानि सुदारुणम् ।
कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ॥ २४६ ॥
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ।
समीक्ष्याधोक्षजः क्षिप्रं युधिष्ठिरहिते रतः ॥ २४७ ॥
रथादाप्लुत्य वेगेन स्वयं कृष्ण उदारधीः ।
प्रतोदपाणिराधावद्भीष्मं हन्तुमपेतभीः ॥ २४८ ॥
वाक्यप्रतोदाभिहतो यत्र कृष्णेन पाण्डवः ।
गाण्डीवधन्वा समरे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ २४९ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः ।
विनिघ्नन्निशितैर्बाणै रथाद्भीष्ममपातयत् ॥ २५० ॥
शरतल्प-गतश्चैव भीष्मो यत्र बभूव ह ।
षष्ठमेतत्समाख्यातं भारते पर्व विस्तृतम् ॥ २५१ ॥
अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशापरे ।
पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्यायाष्टौ शतानि च ॥ २५२ ॥
श्लोकाश्च चतुराशीतिरस्मिन्पर्वणि कीर्तिताः ।

श्लोक कीर्तन किये हैं। (२३४—२४३)

अब अत्याश्चर्य भीष्मपर्व की कथा कहता हूं। जम्बूखण्ड निर्माण करनेकी कथाः युधिष्ठिरकी सेना में बडी उदासीः दश दिनों तक ठहरी हुई कठोर लडाई के समय में योग संबंधी नाना हेतुओंको दिखा कर महामति वासुदेव का अर्जुन की उदासी को दूर करनाः युधिष्ठिर के हितेच्छुक उदारचित्त स्वयं श्रीकृष्ण का रथसे उतर कर निर्भय चित्तसे हाथमें प्रतोद लेकर भीष्मवधार्थ गमन, वाक्य रूपी दण्डसे श्रीकृष्ण का अर्जुन को आघात करना; सर्व शास्त्रो में पारगत गाण्डीव चापधारी अर्जुन का शिखंडी को सामने रखकर तेजबाणोंके आघात से भीष्म को रथसे भूमिपर गिराना. भीष्मका शर-शय्या पर शयनः इन सब वृत्तान्तोंसे भरा हुआ भीष्मपर्व नामक अति विस्तृत भारतीय छठवा पर्व वर्णित हुआ है। वेद वेत्ता वेदव्यासने इस पर्व में एक सौ

व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥ २५३ ॥
द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सेनापत्येऽभिषिक्तोऽथ यत्राचार्यः प्रतापवान् ॥ २५४ ॥
दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
ग्रहणं धर्मराजस्य पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २५५ ॥
यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ।
भगदत्तो महाराजो यत्र शक्र-समो युधि ॥ २५६ ॥
सुप्रतीकेन नागेन स हि शान्तः किरीटिना ।
यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुरेकं महा-रथाः ॥ २५७ ॥
जयद्रथ-मुखा बालं शूरमप्राप्त-यौवनम् ।
हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ॥ २५८ ॥
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।
यत्र भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः ॥ २५९ ॥
अन्वेषणार्थं पार्थस्य युधिष्ठिर नृपाज्ञया ।
प्रविष्टौ भारतीं सेनामप्रधृष्यां सुरैरपि ॥ २६० ॥
संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ।
संशप्तकानां वीराणां कोट्यो नव महात्मनाम् ॥ २६१ ॥

सतरह अध्याय और पांच सहस्र, आठ सौ, चौरासी श्लोक कीर्तन किये हैं। (२४४–२५३)

अनन्तर बहु वृत्तांत युक्त अति आश्चर्य कारक द्रोण-पर्व कहता हूं; प्रतापी द्रोणाचार्य का सेनापति पदमें अभिषिक्त होना; दुर्योधन की प्रीतिके निमित्त बडे भारी अस्त्रज्ञ द्रोणाचार्य जी का यह कह कर की " धीमान् युधिष्ठिर को पकड लाऊं गा " प्रतिज्ञा करना। संशप्तक युद्ध स्थलसे अर्जुन का खदेडा जाना, महाराज भगदत्त का सुप्रतीक नामक अपने हाथी पर रणस्थल में इन्द्रतुल्य अतुल विक्रम प्रकाश करना; अर्जुनसे भगदत्तका मारा जाना; जयद्रथ आदि महारथी योद्धाओंसे महाबली अप्राप्त–यौवन अकेले बालक अभिमन्यु का वध होना; अभिमन्युके मारे जाने पर क्रोध से जले हुए अर्जुन का रणभूमिमें सात अक्षौहिणी सेनाओं को मार कर मद्रराज जयद्रथ को मार डालना; महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से पार्थ को ढूढ निकालने के लिये महाभुज भीम और महारथी सात्यकी का देवताओंके पार होनेके अयोग्य कुरुसैन्य में घुसना; शेष

किरीटिनाभिनिष्क्रम्य प्रापिता यमसादनम् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राश्च तथा पाषाण-योधिनः ॥ २६२ ॥
नारायणाश्च गोपालाः समरे चित्रयोधिनः ।
अलम्बुषः श्रुतायुश्च जलसंधश्च वीर्यवान् ॥ २६३ ॥
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोण-पर्वणि ॥ २६४ ॥
अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते ।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥ २६५ ॥
आग्नेयं कीर्त्यते यत्र रुद्रमाहात्म्यमुत्तमम् ।
व्यासस्य चाप्यागमनं माहात्म्यं कृष्णपार्थयोः २६६ ॥
सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम् ।
यत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः ॥ २६७ ॥
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ।
अत्राध्यायशतं प्रोक्तं तथाध्यायाश्च सप्ततिः ॥ २६८ ॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ।
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्वदर्शिना ॥ २६९ ॥
पाराशर्येण मुनिना संचिन्त्य द्रोणपर्वणि ।
अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम् ॥ २७० ॥
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः ।

संशप्तकोंका युद्धमें नाशः अलम्बुष, श्रुतायु, जलसन्ध, वीर्यशाली भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद और घटोत्कच आदि अनेक वीरों का पतनः युद्धमें द्रोणाचार्य जी के गिरने पर क्रोध से जले हुए अश्वत्थामा का भयानक आग्नेय नारायण अस्त्र मारनाः उत्तम रूपमें रुद्रमाहात्म्य का कीर्तनःश्रीमहाराज व्यास देव का आगमनः श्रीकृष्ण और अर्जुन का माहात्म्य वर्णनः यही सब विषय सविस्तृत सातवें पर्व में कहे गये है। जिन सब पुरुष श्रेष्ठ भूपालों का निर्देश है, उनमें प्रायःसभीके मृत्युवृत्तान्त इस पर्व में वर्णित हुए है। तत्त्वदर्शी पाराशरि व्यासजीने विचार-पूर्वक इस पर्वमें एक सौ सत्तर अध्याय और आठ सहस्र, नौ सौ, नौ श्लोक कीर्तन किये हैं। (२५४ –२७०)

इसके पश्चात् परम अद्भुत कर्णपर्व कहता हूं। धीमन्मद्रराज का सारथी के कार्य में नियुक्त होनाः युद्धार्थ यात्रा करने

व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥ २५३ ॥
द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सेनापत्येभिषिक्तोथ यत्राचार्यः प्रतापवान् ॥ २५४ ॥
दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
ग्रहणं धर्मराजस्य पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २५५ ॥
यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ।
भगदत्तो महाराजो यत्र शक्र-समो युधि ॥ २५६ ॥
सुप्रतीकेन नागेन स हि शान्तः किरीटिना ।
यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुरेकं महा-रथाः ॥ २५७ ॥
जयद्रथ-मुखा बालं शूरमप्राप्त-यौवनम् ।
हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ॥ २५८ ॥
अक्षौहिर्णाः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।
यत्र भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः ॥ २५९ ॥
अन्वेषणार्थं पार्थस्य युधिष्ठिर नृपाज्ञया ।
प्रविष्टौ भारतीं सेनामप्रधृष्यां सुरैरपि ॥ २६० ॥
संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ।
संशप्तकानां वीराणां कोट्यो नव महात्मनाम् ॥ २६१ ॥

सतरह अध्याय और पांच सहस्र, आठ सौ, चौरासी श्लोक कीर्तन किये है। (२४४–२५३)

अनन्तर बहु वृत्तांत युक्त अति आश्चर्य कारक द्रोण-पर्व कहता हूं; प्रतापी द्रोणाचार्य का सेनापति पदमे अभिषिक्त होना; दुर्योधन की प्रीतिके निमित्त बडे भारी अस्त्रज्ञ द्रोणाचार्य जी का यह कह कर की " धीमान् युधिष्ठिर को पकड लाऊ गा " प्रतिज्ञा करना। संशप्तक युद्ध स्थलसे अर्जुन का खदेडा जाना, महाराज भगदत्त का सुप्रतीक नामक अपने हाथी पर रणस्थल में इन्द्रतुल्य अतुल विक्रम प्रकाश करना; अर्जुनसे भगदत्तका मारा जाना; जयद्रथ आदि महारथी योद्धाओंसे महाबली अप्राप्त–यौवन अकेले बालक अभिमन्यु का वध होना; अभिमन्युके मारे जाने पर क्रोध से जले हुए अर्जुन का रणभूमिमे सात अक्षौहिणी सेनाओं को मार कर मद्रराज जयद्रथ को मार डालना; महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से पार्थ को ढूढ निकालने के लिये महाभुज भीम और महारथी सात्यकी का देवताओंके पार होनेके अयोग्य कुरुसैन्य में घुसना; शेष

किरीटिनाभिनिष्क्रम्य प्रापिता यमसादनम् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राश्च तथा पाषाणयोधिनः ॥ २६२ ॥
नारायणाश्च गोपालाः समरे चित्रयोधिनः ।
अलम्बुषः श्रुतायुश्च जलसंधश्च वीर्यवान् ॥ २६३ ॥
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोणपर्वणि ॥ २६४ ॥
अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते ।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥ २६५ ॥
आग्नेयं कीर्त्यते यत्र रुद्रमाहात्म्यमुत्तमम् ।
व्यासस्य चाप्यागमनं माहात्म्यं कृष्णपार्थयोः २६६ ॥
सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम् ।
यत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः ॥ २६७ ॥
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ।
अत्राध्यायशतं प्रोक्तं तथाध्यायाश्च सप्ततिः ॥ २६८ ॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ।
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्वदर्शिना ॥ २६९ ॥
पाराशर्येण मुनिना संचिन्त्य द्रोणपर्वणि ।
अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम् ॥ २७० ॥
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः ।

संशप्तकोंका युद्धमें नाशः अलम्बुष, श्रुतायु, जलसन्ध, वीर्यशाली भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद और घटोत्कच आदि अनेक वीरों का पतनः युद्धमें द्रोणाचार्य जी के गिरने पर क्रोध से जले हुए अश्वत्थामा का भयानक आग्नेय नारायण अस्त्र मारना: उत्तम रूपसे रुद्रमाहात्म्य का कीर्तनःश्रीमहाराज व्यास देव का आगमनः श्रीकृष्ण और अर्जुन का माहात्म्य वर्णनः यही सब विषय सविस्तृत सातवें पर्व में कहे गये है। जिन सब पुरुष श्रेष्ठ भूपालों का निर्देश है, उनमें प्रायःसभीके मृत्युवृत्तान्त इस पर्व मे वर्णित हुए है। तत्त्वदर्शी पाराशरि व्यासजीने विचार-पूर्वक इस पर्वमें एक सौ सत्तर अध्याय और आठ सहस्र, नौ सौ, नौ श्लोक कीर्तन किये हैं। (२५४ –२७०)

इसके पश्चात परम अद्भुत कर्णपर्व कहता हूं। धीमन्मद्रराज का सारथी के कार्य में नियुक्त होनाः युद्धार्थ यात्रा करने

आख्यानं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ॥ २७१ ॥
प्रयाणे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः ।
हंसकाकीयमाख्यानं तत्रैवाक्षेपसंहितम् ॥ २७२ ॥
वधःपाण्ड्यस्य च तथा अश्वत्थाम्ना महात्मना।
दण्डसेनस्य च ततो दण्डस्य च वधस्तथा ॥ २७३ ॥
द्वैरथे यत्र कर्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संशयं गमितो युद्धे मिषतां सर्वधान्विनाम् ॥ २७४ ॥
अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः ।
यत्रैवानुनयः प्रोक्तो माधवेनार्जुनस्य हि ॥ २७५ ॥
प्रतिज्ञापूर्वकं चापि वक्षो दुःशासनस्य च ।
भित्वा वृकोदरो रक्तं पीतवान्यत्र संयुगे ॥ २७६ ॥
द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः ।
अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद्भारतचिन्तकैः ॥ २७७ ॥
एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ॥ २७८ ॥
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाःपर्वण्यास्मिन्प्रकीर्तिताः।
अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ॥ २७९ ॥
हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोभवत् ।
यत्र कौमारमाख्यानमभिषेकस्य कर्म च ॥ २८० ॥

के काल में कर्ण और मद्रराज के बीच में परस्पर वाक्य युद्ध, कर्ण के तिरस्कारार्थ शल्यका हंस और काक की कथा कहना; महा प्रभावी अश्वत्थामा से पांड्य-राज मारा जाना; दण्डसेनवध और दण्डवध; सर्व चापधारी जनों के सन्मुख कर्णसे द्वैरथयुद्ध करनेमें धर्मराज युधिष्ठिर का प्राण जानेपर होना; युधिष्ठिर और अर्जुन का आपस में क्रोध करना; श्री कृष्ण का अर्जुनसे विनय; वृकोदर का युद्धस्थलमें पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार दुःशासन की छाती चीर कर शोणित पीना; द्वैरथ युद्ध में अर्जुन से महारथी कर्णका मारा जाना; यही सब विषय महाराज व्यास जी ने आठवें पर्वमें कहे है। वेदव्यासजी ने इस कर्ण पर्व में उनहत्तर अध्याय और चार सहस्र, नौ सौ, चौसठ श्लोक कीर्तन किये है। (२७१ –– २७९)

इसके अनन्तर विचित्र अर्थयुक्त शल्यपर्व कहता हूं। कर्ण के मारे जाने पर

वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः ।
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ॥ २८१ ॥
शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महात्मनः ।
शकुनेश्च वधोत्रैव सहदेवेन संयुगे ॥ २८२ ॥
सैन्ये च हतभूयिष्ठे किंचिच्छिष्टे सुयोधनः ।
ह्रदं प्रविश्य यत्रासौ संस्तभ्यापो व्यवस्थितः ॥ २८३ ॥
प्रवृत्तिस्तत्र चाख्याता यत्र भीमस्य लुब्धकैः ।
क्षेपयुक्तैर्वचोभिश्च धर्मराजस्य धीमतः ॥ २८४ ॥
ह्रदात्समुत्थितो यत्र धार्तराष्ट्रोत्यमर्षणः ।
भीमेन गदया युद्धं यत्रासौ कृतवान्सह ॥ २८५ ॥
समवाये च युद्धस्य रामस्यागमनं स्मृतम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ॥ २८६ ॥
गदायुद्धं च तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम् ।
दुर्योधनस्य राज्ञोथ यत्र भीमेन संयुगे ॥ २८७ ॥
उरू भग्नौ प्रसह्याजौ गदया भीमवेगया ।
नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ॥ २८८ ॥
एकोनषष्टिरध्याया पर्वण्यत्र प्रकीर्तिता ।
संख्याता बहुवृत्तांताः श्लोक संख्या तु कथ्यते ॥२८९ ॥

मद्रेश्वर शल्य का सेनापति के पद में नियुक्त होनाः नाना रथिओं के पृथक् रूपसे रथयुद्धोंका वर्णनः कौरव-पक्षके प्रधान योध्दों का मारा जानाः महानुभाव धर्मराज से शल्य का वध होनाः अधिक सेना मारी गई और स्वल्प बाकी रही. देख कर दुर्योधन का ह्रद में घुसना और जलस्तम्भ रच कर वहां ठहरनाःव्याधों का भीम को दुर्योधन का समाचार देनाः धीमान् धर्मराज युधिष्ठिर के लाञ्छन से क्रोधी दुर्योधन का झील से बाहर निकल आनाः जहां पर भीमके साथ दुर्योधन का गदा युद्ध होनेवाला थाः वहां सबोंके एकत्रित होनेपर बलरामजी का आगमनः सरस्वती तीर्थ और दूसरे नाना तीर्थोंका माहात्म्य कीर्तनः उस रण-भूमिमें भीमके साथ दुर्योधन का घोर गदायुद्धः युद्धस्थलमें अति वेगवती गदासे भीम का महाराज दुर्योधनके दोनों उरू भग्न कर देना. यह नव विषय आश्चर्य अर्थ युक्त नवे पर्वमें वर्णित हुए हैं । कौरवों के यशःकीर्तन करने वाले व्यासमुनि ने इसमें नाना वृत्तान्त-युक्त

त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा ।
मुनिना संप्रणीतानि कौरवाणां यशोभृता ॥ २९० ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणं ।
भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ॥ २९१ ॥
अपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षितम् ॥ २९२ ॥
समेत्य ददृशुर्भूमौ पतितं रणमूर्धनि ।
प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः ॥ २९३ ॥
अहत्वा सर्व पञ्चालान्धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पाण्डवांश्च सहामात्यान्न विमोक्ष्यामि दंशनम् ॥२९४॥
यत्रैवमुक्त्वा राजानमपक्रम्य त्रयो रथाः ।
सूर्यास्तमनवेलायामासेदुस्ते महद्वनम् ॥ २९५ ॥
न्यग्रोधस्याथ महतो यत्राधस्ताद्व्यवस्थिताः।
ततःकाकान्बहून्रात्रौ दृष्ट्वोलूकेन हिंसितान् ॥ २९६ ॥
द्रौणिः क्रोधसमाविष्टः पितुर्वधमनुस्मरन् ।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां वधं प्रति मनो दधे ॥ २९७ ॥

उनसठ अध्याय कीर्तन किये हैं और तीन सहस्र, दो सौ, वीस श्लोक रचे है । (२८० —२९०)

इसके पश्चात् दुःखदायी सौप्तिक पर्व कहता हूं । पाण्डवों के रणस्थल से चले जाने पर क्रोधी दुर्योधन जिस स्थान मे पडा था, वहां संध्याके समय कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा इन तीन महारथियो ने उपस्थित होकर देखा, कि राजा दुर्योधन के उरू भग्न हुए है और सर्व शरीर रुधिर से युक्त हो कर वह रण भूमि में पडा है, इस से महा—रथी द्रोणपुत्र ने क्रोध से जल कर यह प्रतिज्ञा की कि, "धृष्टद्युम्न आदि पांचाल और सहचर समेत पाण्डवों को न मार कर कवच नहीं छोडूंगा।" अनंतर उन तीन महारथिओं ने राजा से यह प्रतिज्ञावचन कह कर वहां से पधारे ओर सूर्यास्त होने पर एक वडे वनमें प्रवेश करके वहां एक बडे वड की जड मे बैठ करके देखा, कि एक उल्लू उस रात्रि कालमें अनेक कौवों को मार रहा है, उसे देख कर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने पितृवध की वात स्मरण करके क्रोधवश मनही मन में यह कल्पना की, कि पांचालों के सो जाने पर सेना को मार डालूंगा। अनन्तर इन्हो ने

गत्वा च शिविरद्वारि दुर्दृशं तत्र राक्षसम् ।
घोररूपमपश्यत्स दिवमावृत्य धिष्ठितम् ॥ २९८ ॥
तेजोऽभ्याघातमन्त्राणां क्रियमाणमवेक्ष्य च ।
द्रौणिर्यत्र विरूपाक्षं रुद्रमाराध्य सत्वरः ॥ २९९ ॥
प्रसुप्तान्निशि विश्वस्तान्धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पञ्चालान्सपरीवारान्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥ ३०० ॥
कृतवर्मणा च सहितः कृपेण च निजघ्निवान् ।
यत्रामुच्यन्त ते पार्थाः पञ्च कृष्णबलाश्रयात् ॥ ३०१ ॥
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः ।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां यत्र द्रोणसुताद्वधः ॥ ३०२ ॥
धृष्टद्युम्नस्य सूतेन पाण्डवेषु निवेदितः ।
द्रौपदी पुत्रशोकार्ता पितृभ्रातृवधार्दिता ॥ ३०३ ॥
कृतानशनसंकल्पा यत्र भर्तृनुपाविशत् ।
द्रौपदीवचनाद्यत्र भीमो भीमपराक्रमः ॥ ३०४ ॥
प्रियं तस्याश्चिकीर्षन्वै गदामादाय वीर्यवान् ।
अन्वधावत्सुसंक्रुद्धो भारद्वाज गुरोः सुतम् ॥ ३०५ ॥
भीमसेनभयाद्यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।

पाण्डवों के शिविर द्वार पर उपस्थित हो कर देखा, कि एक आकाश स्पर्श कारी वडा भारी भयानक आकार-धारी राक्षस द्वार के सामने खडा है। उस राक्षस को अस्त्र मारने में वाधा देते देखकर,द्रोणपुत्रने तत्क्षण विरूपाक्ष रुद्रकी आराधना कर के, कृप और कृतवर्मा के संग शिविर में प्रवेश कर, विश्वास पूर्वक सोते हुए धृष्टद्युम्न आदि परिवार सहित संपूर्ण पांचाल और द्रौपदी के पुत्रों को नाश किया। श्रीकृष्ण के कौशल से इस प्रकारसे केवल महाचाप-धारी सात्यकि और पांच पाण्डव बचे, शेष सब मारे गये। अश्वत्थामाने अपने हाथ ही से पांचालों को हनन किया था। धृष्टद्युम्न के सारथिके इस भयानक विषयके पाण्डवों के निकट कहने पर, पुत्र शोक और पितृ-भ्रातृ वध से कातर द्रौपदी ने भूखी रहकर प्राण त्यागने की कल्पना कर, पतिओं से प्रार्थना की। वीर्यवान भीम-पराक्रम भीमसेन द्रौपदी का वचन सुनकर उसकी प्रिय इच्छा पालने को क्रोधवश गदा लेकर अश्वत्थामा के पीछे दौडे। द्रोण पुत्र ने भीम के भय से अभि-

अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ॥ ३०६ ॥
मैवमित्यब्रवीत्कृष्णः शमयंस्तस्य तद्वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ॥ ३०७ ॥
द्रौणेश्च द्रोहबुद्धित्वं वीक्ष्य पापात्मनस्तदा ।
द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ॥३०८॥
मणिं तथा समादाय द्रोणपुत्रान्महारथात् ।
पाण्डवाः प्रददुर्हृष्टा द्रौपद्यै जितकाशिनः ॥ ३०९ ॥
एतद्वै दशमं पर्व सौप्तिकं समुदाहृतम् ।
अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ॥३१० ॥
श्लोकानां कथितान्यत्र शतान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता मुनिना ब्रह्मवादिना ॥ ३११ ॥
सौप्तिकैषीके संबद्धे पर्वण्युत्तमतेजसा ।
अत उर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ॥ ३१२ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्तः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कृष्णोपनीतां यत्रासावायसीं प्रतिमां दृढाम् ॥ ३१३ ॥
भीमसेनद्रोहबुद्धिर्धृतराष्ट्रो बभञ्ज ह ।
तथा शोकाभितप्तस्य धृतराष्ट्रस्य धीमत: ॥ ३१४ ॥

भूत और दैव प्रेरणा से क्रोध पूर्वक "पृथ्वी अपांडवा हो" ऐसा कहकर अस्त्र मारा; इस पर श्रीकृष्ण चंद्र ने "ऐसा न करो" कह के अश्वत्थामा को रोका। पापात्मा अश्वत्थामा की विद्रोहिता देख कर अर्जुन ने अस्त्र द्वारा उस अस्त्र को निवारण किया, अश्वत्थामा और द्वैपायन आदिने परस्पर शाप दिया। जय श्री पाये पाण्डवों ने महारथी द्रोणपुत्र से मणि लेकर प्रसन्न चित्त होकर उसे द्रौपदी को दिया। यह सब वृत्तांत युक्त इस दशवें पर्व का नाम सौप्तिक पर्व कहा है। वेद वक्ता महात्मा व्यास मुनिने इसमे अठारह अध्याय कीर्तन किये और आठ सौ सत्तर श्लोक रचे है। तेजो वान् व्यासजी ने ऐषिक पर्व को इस पर्वके अन्तर्गत किया है। (२९१ -३११ ।

अनन्तर करुणरसयुक्त स्त्रीपर्व कहा जाता है । प्रज्ञाशील भूपाल धृतराष्ट्र ने पुत्र शोक से कातर होकर भीम का विनाश करने की कामना से कृष्ण की दी हुई लोहे की बनी प्रति मूर्ति तोड डाली। धीमान् राजा धृतराष्ट्र को शोकसे बहुत ही कातर देखकर बुद्धिमान विदुर ने मोक्ष-संबंधी नाना हेतुवादो से उनकी

संसारगहनं बुद्ध्या हेतुभिर्मोक्षदर्शनैः ।
विदुरेण च यत्रास्य राज्ञ आश्वासनं कृतम् ॥ ३१५ ॥
धृतराष्ट्रस्य चात्रैव कौरवायोधनं तथा ।
सान्तःपुरस्य गमनं शोकार्तस्य प्रकीर्तितम् ॥ ३१६ ॥
विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रमोहश्च गांधारीधृतराष्ट्रयोः ॥ ३१७ ॥
यत्र तान्क्षत्रियाः शूरान्संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
पुत्रान्भ्रातॄन्पितॄंश्चैव ददृशुर्निहतान्रणे ॥ ३१८ ॥
पुत्रपौत्रवधार्तायास्तथात्रैव प्रकीर्तिता ।
गांधार्याश्चापि कृष्णेन क्रोधोपशमनाक्रिया ॥ ३१९ ॥
यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतांवरः ।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ॥ ३२० ॥
तोयकर्माणि चारब्धे राज्ञामुदकदानिके ।
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयात्मनः ॥ ३२१ ॥
सुतस्यैतदिह प्रोक्तं व्यासेन परमर्षिणा ।
एतदेकादशं पर्व शोकवैक्लव्यकारणम् ॥ ३२२ ॥
प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम् ।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ॥ ३२३ ॥

सांसारिक माया दूर कर ढाडस दिया और धृतराष्ट्र अन्तःपुरवासिनी सीमान्तिनियों को संग लेकर शोकाकुल चित्तसे रणस्थल को देखने गये. वीरों की स्त्रियां अति करुणस्वर से विलाप करने लगीं। गांधारी और धृतराष्ट्र को क्रोध और मोह उपस्थित हुआ: क्षत्रिय नारियां युद्ध में पीठ न दिखाये हुए शूरवीर, पिता, भ्राता और पतियों को रणमें मरे और गिरे देखने लगीं। पुत्रशोक में कातर होकर गांधारी के क्रोधयुक्त होनेपर श्रीकृष्णने उनका क्रोध शान्त किया। धार्मिक वर महा प्राज्ञ राजा युधिष्ठिर ने शास्त्रानुसार युद्ध में मरे राजाओं के शरीर दाह किये। राजाओं को जल देने की तर्पण क्रिया आरम्भ होने पर कुन्ती ने गुप्त भावसे जन्मे हुए कर्ण को स्वपुत्र करके प्रकाश किया। प्रज्ञाशील परम ऋषि व्यासदेवने घोर शोक उपजाने, सज्जन-नेत्र द्रवाने, चित्त-विकल करने स्त्रीपर्व नामक इस ग्यारहवें पर्वमें सतरह अध्याय कीर्तन कर मान मी

श्लोकसप्तशती चापि पञ्चसप्ततिसंयुता ।
संख्यया भारताख्यानमुक्तं व्यासेन धीमता ॥ ३२४ ॥
अतः परं शांतिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्धनम् ।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३२५ ॥
घातयित्वा पितॄन्भ्रातॄन्पुत्रान्संबन्धिमातुलान् ।
शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताःशारतल्पिकाः ३२६॥
राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः ।
आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शिनः ॥ ३२७ ॥
यान्बुद्ध्वा पुरुषःसम्यक्सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ॥ ३२८ ॥
द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत्प्राज्ञजनप्रियम् ।
अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ॥ ३२९ ॥
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः ।
चतुर्दश सहस्राणि तथा सप्त शतानि च ॥ ३३० ॥
सप्त श्लोकास्तथैवात्र पञ्चविंशति संख्यया ।
अत ऊर्ध्वं च विज्ञेयमनुशासनमुत्तमम् ॥ ३३१ ॥
यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम् ।
भीष्माद्भागीरथीपुत्रात्कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३३२ ॥

सत्तर श्लोक रचे हैं। (३१२–३२४)

इसके पश्चात् ज्ञान-वृद्धि कारी शान्तिपर्व नामक बारहवां पर्व कहता हूं। इसमे धर्म-राज युधिष्ठिर को पिता, भ्राता, कुटुम्ब, मातुल आदि सबों को मरवा डालने के कारण उदासी छा गई। भीष्मदेव ने शर-शय्या पर पतित हो करके युधिष्ठिर को तत्त्वज्ञान चाहने वाले राजाओ के अवश्य जानने योग्य राजधर्म सुनाया है और उनके द्वारा हेतु दर्शाने वाला आपद्धर्म भी प्रकाशित हुआ है। मानवलोग जिसे जानकर सर्वज्ञ बनते हैं, वह बहु विस्तृत मोक्ष-धर्म भी इसमे भीष्मजी से कहा गया है। ज्ञानियो के प्रिय इस बारहवें पर्वका नाम शांति पर्व है, इसमे तीन सौ उनतालीस अध्याय है। हे तपोधनो! धीमान् पराशरि व्यासजी ने इस पर्व मे चौदह सहस्र, सात सौ, सात श्लोक कीर्तन किये है। (३२५–३३०)

इसके पश्चात् उत्तम अनुशासन पर्व जानिये। कुरुराज युधिष्ठिर भागीरथी पुत्र भीष्मजी का धर्म निर्णय सुन करके अपने स्वाभाविक भावमे

व्यवहारोत्र कार्त्स्न्येन धर्मार्थीयः प्रकीर्तितः ।
विविधानां च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः ॥ ३३३ ॥
तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः ।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ॥ ३३४ ॥
महाभाग्यं गवां चैव ब्राह्मणानां तथैव च ।
रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम् ॥ ३३५ ॥
एतत्सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम् ।
भीष्मस्यात्रैव संप्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ॥ ३३६ ॥
एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम् ।
अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥ ३३७ ॥
श्लोकानां तु सहस्राणि प्रोक्तान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम् ॥ ३३८ ॥
तत्संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम् ।
सुवर्णकोशसंप्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः ॥ ३३९ ॥
दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात्संजीवनं पुनः ।
चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः ॥ ३४० ॥
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः ।
चित्राङ्गदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः ॥ ३४१ ॥
संग्रामे बभ्रुवाहेन संशयं चात्र दर्शितः ।

आ गये । इस पर्व में धर्म और अर्थ संबंधी संपूर्ण व्यवहार, विविध दानोंके भिन्न भिन्न फलःआचार व्यवहार का निरूपणः सत्य की पूर्ण उन्नति, गौ-ब्राह्मण का माहात्म्यः देश और काल के भेद से धर्मका भेद और भीष्म की स्वर्ग प्राप्ति वर्णित हुई है। इस धर्म-निर्णयकारी नाना वृत्तांत-धारी तेरहवे पर्वमें एक सौ छियालीस अध्याय है और आठ सहस्र श्लोक रचे गये है। (३३१-३३८)

इसके पश्चात आश्वमेधिक नामक चौदहवां पर्व कथित हुआ है। संवर्त और मरुत्त का सुन्दर उपाख्यानः सुवर्ण कोष का पानाः पहिले अस्त्राग्नि से जले और श्रीकृष्णसे फिर प्राण पाये परीक्षित का जन्मः यज्ञ के घोडे को छोडनेपर उसके पीछे चलने वाले अर्जुनसे स्थान स्थान में क्रोधी राजाओं का युद्धः चित्रवाहन राजा की पुत्री चित्रांगदा के गर्भजात निज पुत्र बभ्रुवाहन से अर्जुन का जीवन जोखिम

अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ॥ ३४२॥
इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम्।
अध्यायानां शतं चैव त्रयोध्यायाश्च कीर्तिताः ॥३४३॥
त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना॥३४४॥
ततस्त्वाश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम् ।
यत्र राज्यं समुत्सृज्य गांधार्या सहितो नृपः ॥३४५॥
धृतराष्ट्रोऽश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह ।
यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा ॥३४६॥
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता ।
यत्र राजा हतान्पुत्रान्पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान् ॥३४७॥
लोकान्तरगतान्वीरानपश्यत्पुनरागतान् ।
ऋषेः प्रसादात्कृष्णस्य दृष्ट्वाश्चर्यमनुत्तमम् ॥ ३४८ ॥
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः ।
यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः ॥ ३४९ ॥
संजयश्च सहामात्यो विद्वान्गावल्गणिर्वशी ।
ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३५० ॥

होना; अश्वमेध महायज्ञ के काल में नकुलोपाख्यान; यह सब विषय अति अद्भुत आश्वमेधिक पर्वमें वर्णित हुए है। तत्वदर्शी महर्षीने इस में एक सौ तीन अध्याय कीर्तन किये हैं और तीन सहस्र, तीन सौ बीस श्लोक रचे है। (३३८ — ३४४)

अनन्तर आश्रमवासिक नामक पन्द्रहवां पर्व कहा जाता है। इस पर्व में गान्धारी सहित राजा धृतराष्ट्र और विदुर राज्य छोडकर आश्रमवास के लिये वन को सिधारे। वह देखकर गुरुसेविका सती कुन्ती पधारे हुए धृतराष्ट्र की अनुगामिनी हुई। वहां राजा धृतराष्ट्र ने युद्ध मे मरे और परलोक को सिधारे हुए पुत्र, पौत्र और दूसरे वीर राजाओं को फिर आते देखा। उन्होंने कृष्णद्वैपायनजी की कृपा से यह उत्तम और अत्याश्चर्य व्यापार देख कर गान्धारी के साथ शोक परित्याग करके परम सिद्धि प्राप्त की। जितेन्द्रिय विद्वान् गावल्गण के पुत्र महात्मा संजय और विदुर ने धर्म का आश्रय कर सुगति प्राप्त की। धर्मराज युधिष्ठिर ने नारद जी के दर्शन कर उनके मुख से वृष्णियो के कुलक्षय होने की वार्ता सुनी। यह सब वृत्तांत

नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत् ।
एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं महदद्भुतम् ॥ ३५१ ॥
द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ।
सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च ॥ ३५२ ॥
षडेव च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
अतः परं निबोधेदं मौसलं पर्व दारुणं ॥ ३५३ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा शस्त्रस्पर्शहता युधि ।
ब्रह्मदण्डविनिष्पिष्टाः समीपे लवणाम्भसः ॥ ३५४ ॥
आपाने पानकलिता दैवेनाभिप्रचोदिताः ।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ३५५ ॥
यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ ।
नातिचक्रामतुः कालं प्राप्तं सर्वहरं महत् ॥ ३५६ ॥
यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविना कृताम् ।
दृष्ट्वा विषादमगमत्परां चार्तिं नरर्षभः ॥ ३५७ ॥
स संस्कृत्य नरश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मनः ।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ॥ ३५८ ॥
शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः ।
संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ॥ ३५९ ॥

अति अद्भुत आश्रमवासिक पर्व में कहे गये हैं। तत्त्वदर्शी महर्षि ने इस पर्व में बयालीस अध्याय और एक सहस्र,पांच सौ, छः श्लोक रचे हैं। (३४५ — ३५३)

अनंतर दुःखदायी मौसल-पर्व को श्रवण कीजिये। जो लोग रणभूमिमें सहज ही में अस्त्र के आघात सह लेते थे, वह सर्व पुरुषों में श्रेष्ठ यादवगण ब्रह्मशापरूपी दण्डसे पीडित होकर दैववश समुद्र-तट पर मदिरा पीनेकी सभा में पानोन्मत्त हो कर के परस्पर एरका तृणरूपी वज्राघातसे आहत हुए। इस प्रकार राम, कृष्ण, दोनोंने संपूर्ण यदुवंश का नाश कर आपने भी सर्वसंहारी काल का लंघन नहीं किया। आगे नर श्रेष्ठ अर्जुन द्वारका जी में आकर और उसे यादवों से खाली पाकर बडी मनःपीडा से खेद वश हुए। उन्हों ने अपने मातुल नर-श्रेष्ठ वसुदेव की अग्निक्रिया कर सुरापान सभा में यदुवंशी वीरोंका अति विनाश देखा। आगे उन्होंने बलरामजी, श्री कृष्णचन्द्र और प्रधान प्रधान यदुवंशियों के शरीर दाह किये

स वृद्धबालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम् ।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ॥ ३६० ॥
सर्वेषां चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम् ।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावानामनित्यताम् ॥ ३६१ ॥
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः ।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ॥ ३६२ ॥
इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम् ।
अध्यायाष्टौ समाख्याता श्लोकानां च शतत्रयम् ३६३॥
श्लोकानां विंशतिश्चैव संख्यातास्तत्वदर्शिना ।
महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम् ॥ ३६४ ॥
यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
द्रौपद्याः सहिता देव्या महाप्रस्थानमास्थिताः ॥ ३६५॥
यत्र तेऽग्निं ददृशिरे लौहित्यं प्राप्य सागरम् ।
यत्राग्निना चोदितश्च पार्थस्तस्मै महात्मने ॥ ३६६ ॥
ददौ संपूज्य तद्दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
यत्र भ्रातॄन्निपतितान्द्रौपदीं च युधिष्ठिरः ॥ ३६७॥
दृष्ट्वा हित्वा जगामैव सर्वाननवलोकयन् ।

और द्वारकाजी से बाल, वृद्ध, सर्व जनोंको ले आने के समय पथमें घोर आपदसे घेरे जाकर निज गाण्डीव धनुषका पराजय और दिव्यास्त्रों की अप्रसन्नता देखी। आगे उन्होंने यादव-नारियों की चोरी और विक्रम की अनित्यता देखकर बडे उदास होकर युधिष्ठिर के निकट लौट करके व्यासजी के वचनानुसार सन्यास-आश्रम की शरण लेने की अभिलाषा की। यह सोलहवां पर्व मोसल पर्व करके कहा गया है। तत्त्वदर्शी वेदव्यासजी ने इस पर्व में आठ अध्याय और तीन सौ बीस श्लोक कीर्तन किये है। (३५४–३६४)

इसके पश्चात् महाप्रास्थानिक नामक सतरहवां पर्व कथित है। पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डवों ने देवी द्रौपदी के सङ्ग राज्य छोडकर महाप्रस्थान अवलंबन किया। आगे उन्हों ने लाल समुद्र- कूलमें गमन करके अग्निका दर्शन किया। उस स्थानमें अग्नि की आज्ञासे अर्जुन ने उस महा प्रभावी अग्निकी पूजाकर दिव्य श्रेष्ठ गाण्डीव चाप को चढा दिया। आगे युधिष्ठिर सब भाइयों और द्रोपदी को गिरते देखकर उनकी माया छोड किसी की ओर न देख करके अकेले

एतत्सप्तदशं पर्व महाप्रस्थानिकं स्मृतम् ॥ ३६८ ॥
यत्राध्यायास्त्रयःप्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ३६९॥
स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत्तदमानुषम् ।
प्राप्तं दैवरथं स्वर्गान्नेष्टवान्यत्र धर्मराट् ॥ ३७० ॥
आरोढुं सुमहाप्राज्ञ आनृशंस्याच्छुना विना ।
तामस्याविचलां ज्ञात्वा स्थितिं धर्मे महात्मनः ३७१ ॥
स्वरूपं यत्र तत्त्यक्त्वा धर्मेणासौ समन्वितः ।
स्वर्गं प्राप्तः स च तथा यातना विपुला भृशम् ॥ ३७२ ॥
देवदूतेन नरकं यत्र व्याजेन दर्शितम् ।
शुश्राव यत्र धर्मात्मा भ्रातृणां करुणा गिरः ॥ ३७३ ॥
निदेशे वर्तमानानां देशे तत्रैव वर्तताम् ।
अनुदर्शितश्च धर्मेण देवराज्ञा च पाण्डवः ॥ ३७४ ॥
आप्लुत्याकाशगंगायां देहं त्यक्त्वा स मानुषम् ।
स्वधर्मनिर्जितं स्थानं स्वर्गे प्राप्य स धर्मराट् ॥ ३७५ ॥
मुमुदे पूजितः सर्वैः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ।

चले गये। इस सतरहवें पर्व का नाम महाप्रास्थानिक पर्व है, इसमें तत्त्वदर्शी महर्षि ने तीन अध्याय और तीन सौ तेईस श्लोक कीर्तन किये हैं। (३६४-३६९)

अनन्तर अमानुषी आश्चर्य स्वर्गारोहण पर्व जानिये। स्वर्गसे देवयान उपस्थित होनेपर महाप्राज्ञ धर्मराज, सदय हृदय से अपने साथी कुत्ते को छोड कर जाने में संमत नहीं हुए। महात्मा युधिष्ठिर की इस प्रकार की अटल धर्म-निष्ठा देखकर धर्म ने कुत्ते का स्वरूप छोडकर युधिष्ठिर को दर्शन दिया। युधिष्ठिर के धर्मसहित स्वर्गारूढ होने पर देवदूत ने छलपूर्वक उनको नरक दिखाया; इसमें उनको बडी कठोर यातना मिली। धर्मात्मा युधिष्ठिर ने उस नरक में यमराज के वशीभूत अपने भाइयों का करुण स्वर श्रवण किया। इन्द्रजी और धर्मराज दोनों ने युधिष्ठिर को " ऐश्वर्य भोगने का यही फल है" ऐसा कहकर वह सब विषय दिखाये। युधिष्ठिर आकाश स्थित गंगाजीके जल में स्नानपूर्वक मानव शरीर छोड कर देवलोक में अपने धर्मसे मिले हुए स्थान को प्राप्त कर देवराज और दूसरे देवताओं के सहित पूजे जाकर परमानन्द भोगने लगे। श्री शास्त्रिमान

एतदष्टादशं पर्व प्रोक्तं व्यासेन धीमता ॥ ३७६ ॥
अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन्महात्मना।
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ॥ ३७७ ॥
नव श्लोकास्तथैवान्ये संख्याताः परमर्षिणा।
अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्येतान्यशेषतः ॥ ३७८ ॥
खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यं च प्रकीर्तितम्।
दश श्लोकसहस्राणि विंशत्श्लोकशतानि च ॥ ३७९ ॥
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा।
एतत्सर्वं समाख्यातं भारते पर्वसंग्रहः ॥ ३८० ॥
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया।
तन्महादारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ॥ ३८१ ॥
यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ ३८२ ॥
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ ३८३ ॥
श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव ॥ ३८४ ॥

व्यासदेवने अठारहवें पर्वमें यह सब विषय कहे हैं। हे तपोधनो! महात्मा परमर्षिने इस पर्व मे पांच अध्याय और दो सौ नौ श्लोक रचे हैं। (३७० — ३७८)

इस प्रकारसे संपूर्ण अठारह पर्व कहे गये है। इसके पश्चात् खिल हरिवंश और भविष्य पर्व कीर्तित हुए है, महर्षि व्यासजीने उसमे बारह सहस्र श्लोकों की संख्या की है। महाभारत का यह सब संग्रह पर्व कह चुके। अठारह अक्षौहिणी सेना युद्ध करनेके निमित्त एकत्र होने पर अठारह दिनोंतक अति कठोर युद्ध हुआ था। (३७९—३८१)

जो ब्राह्मण चतुर्वेद, वेदांग और संपूर्ण उपनिषद् से ज्ञात हैं, पर महाभारतीय उपाख्यान नहीं जानते, वह कभी विज्ञ नही कहे जा सकते हैं। अपार बुद्धिमान व्यासदेवजीने महाभारत को अर्थ शास्त्र, काम शास्त्र और अतिविस्तृत धर्मशास्त्र करके निर्दिष्ट किया है। जैसे पुंस्कोयल का कूजन श्रवण करके कौवे की कर्कश बोली सुनने की इच्छा नही होती, तैसे ही इस उपाख्यान को सुनने से और कुछ सुनने की अभिलाषा नहीं रहती। जैसे पंच भूतोसे तीनों

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥ ३८५ ॥
अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः ।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥ ३८६ ॥
क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः ।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ॥ ३८७ ॥
अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३८८ ॥
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ ३८९ ॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥ ३९० ॥
धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम ॥
द्वैपायनौष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च । ॥ ३९१ ॥

प्रकारके लोको की उत्पात्ति होती है तैसे ही इस सर्व श्रेष्ठ इतिहास से कवित्व बुद्धि उपजती है। जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज यह चार प्रकार की प्रजाए आकाश में ही रहती है, तैसे ही सम्पूर्ण पुराण इस उपाख्यान में है। जैसे आश्चर्य चित्तक्रिया सब इन्द्रियोंका आश्रय रुपी है तैसे ही यह उपाख्यान, दान, अध्ययन आदि क्रिया और शम, दम आदि गुणो का आश्रय रूपी हुआ है। जैसे भोजन विना शरीर धारण का कोई दूसरा उपाय नहीं है, तैसे ही इस उपाख्यान के आश्रय विना भूमण्डल में कोई भी आख्यान विद्यमान नहीं है। जैसे उन्नति चाहनेवाला भृत्य सद्वंशी भूपाल की शरण लेता है, तैसे ही श्रेष्ठ कविकुल कवित्व शक्ति की उन्नति के लिये इस महा-भारत का आश्रय लेते है। जैसे कोई दूसरा आश्रम सदाचारयुक्त गृहस्थाश्रम के समान नहीं हो सकता है, तैसे ही किसी कवि-कृत कोई काव्य इस काव्य के समान नहीं हो सकेगा। सदा उद्योगी बने रहो और धर्म मे तुम्हारी प्रवृत्ति हो, क्यो कि वह एक धर्म ही परलोक का मित्र है, अर्थ और स्त्री आदि सब भोग की वस्तु चतुर जनो से भली प्रकार सेवित होनेपर भी कभी अपनी और स्थिर नहीं होती।

यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन।
यदह्ना कुरुते पापं ब्राह्मणस्त्विन्द्रियैश्चरन्। ॥३०२॥
महाभारतमाख्याय संध्यां मुच्यति पश्चिमाम॥ ३०३॥
यद्रात्रौ कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
महाभारतमाख्याय पूर्वां संध्यां प्रमुच्यते ॥ ३०४॥
यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय।
पुण्यां च भारतकथां शृणुयाच्च नित्यं तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव।
आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं विज्ञेयं महदिह पर्वसंग्रहेण। ॥३०५॥
श्रुत्वादौ भवति नृणां सुखावगाहं विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन ॥३०६॥

इतिश्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
पर्वसंग्रहपर्वणि द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

सौतिरुवाच। जनमेजयः पारिक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्र-मुपास्ते। तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेनः उग्रसेनो भीमसेन इति। तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेयः॥१॥जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो

महाभाग्यवान् द्वैपायनजी के दोंनो होठों से निकले हुए अप्रमेय, परम पवित्र; पाप विनाशी परम कल्याणदायी महाभारत का पाठ करने के समय जो उसे सुनते हैं उनको पुष्करतीर्थ के जल में नहानेका क्या प्रयोजन है? ब्राह्मण दिनको इन्द्रियों से जो कुछ पाप करते है, संध्या को महाभारत का कीर्तन करने मे उन पापों से मुक्त हो जाते हैं। और रात्रि को तन मन वचन से जो पाप करते है,प्रातःकाल में महाभारत का गान कर उससे छूटते है। वेदविद् ब्राह्मण को सुवर्ण शृंग युक्त सौ गो दान करने वाला बहुश्रुत जन और सदा सुपवित्र भारतीय कथा सुननेवाला इन दोनो को तुल्य फललाभ होता है। जैसे मनुष्यगण अर्णव-यान पर परम सुखसे विस्तीर्ण समुद्र को पार कर सकते है, तैसे ही पहिले इस पर्वसंग्रह को सुनने से इसके द्वारा अतिश्रेष्ठ महार्थयुक्त इस महत् आख्यान रूपी सागर को सुखसे पार कर सकते हैं। (३८२-३९६)

आदिपर्वमें दूसरा अध्याय और
पर्व संग्रह पर्व समाप्त।

तीसरा अध्याय। पौष्यपर्व।

श्री उग्रश्रवाजी बोले,श्रुतसेन उग्रसेन और भीमसेन, इन भाइयो के साथ परीक्षित पुत्र महाराज जनमेजय ने कुरुक्षेत्र में दीर्घ

रोरूयमाणो मातुः समीपमुपागच्छत् ॥ २ ॥ तं माता रोरूयमाणमुवाच किं रोदिषि केनास्यभिहत इति ॥ ३ ॥ स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोस्मीति ॥ ४ ॥ तं माता प्रत्युवाच व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत इति ॥ ५ ॥ स तां पुनरुवाच नापराध्यामि किंचिन्नावेक्षे हवींषि नावलिह इति ॥ ६ ॥ तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा पुत्रदुःखार्ता तत्सत्रमुपागच्छद्यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृभिर्दीर्घसत्रमुपास्ते ॥ ७ ॥ स तया क्रुद्धया तत्रोक्तोऽयं मे पुत्रो न किंचिदपराध्यति नावेक्षते हवींषि नावलेढि किमर्थमभिहत इति ॥ ८ ॥ न किंचिदुक्तवन्तस्ते सा तानुवाच यस्मादयमभिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति ॥ ९ ॥ जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं संभ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥ १० ॥ स तस्मिन्सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरोहितमनुरूपमन्विच्छमानः परं यत्नमकरोद्यो मे पापकृत्यां शमयेदिति ॥११॥

यज्ञ का अनुष्ठान किया । उनके उस यज्ञानुष्ठान के कालमें वहां एक कुत्ता आकर उपस्थित हुआ । जनमेजय के भाइयों के उसे मारने पर वह रोता हुआ अपनी माता के पास जा पहुंचा । उसे रोते देखकर माताने पूछा " तुम क्यों रो रहे हो ? किसने तुमको मारा है ! " मातासे पूछे जाकर कुत्तेने उत्तर दिया, "जनमेजय के भाइयों ने मुझे मारा है । " उस की माता बोली, " कदाचित् तुमने वहां कोई दोष किया होगा, सो उन्हों ने तुमको मारा है ।" कुत्ते ने फिर कहा, " नहीं, मैं ने कोई दोष नहीं किया, यज्ञका घृत भी नहीं चाटा और न उस पर दृष्टि दी थी ।" यह सुन कर उसकी माता को बड़ा दुःख हुआ और जहां महाराज जनमेजय भाइयों के साथ दीर्घ यज्ञ अनुष्ठान कर रहे थे, उस यज्ञ स्थल में उपस्थित होकर क्रोध दिखाकर जनमेजय से कहा, " मेरे इस पुत्र ने तुम्हारा कोई दोष नहीं किया, यज्ञ का घृत भी नहीं चाटा और न उस पर दृष्टि ही दी, फिर तुम लोगोंने क्यों उसको मारा है ?" उन्हो ने कोई उत्तर नहीं दिया, तिस पर सरमा नाम्नी देव कुत्तीने उनसे कहा, कि "जो तुमने मेरे निर्दोषी पुत्र को मारा है, सो तुम को अलक्षित भय आकर घेर लेगा ।" देव कुत्ती सरमा के इस प्रकार से शाप देनेपर, जनमेजय को बड़ी घबराहट और उदासी आगई । ९–१०

अनन्तर उस यज्ञके समाप्त होनेपर महाराज जनमेजय हस्तिनापुरमें आकर ऐसे योग्य पुरोहित के अन्वेषण के लिये बड़ा प्रयत्न

स कदाचिन्मृगयां गतः पारिक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित्स्वविषय आ-
श्रममपश्यत् ॥१२॥ तत्र कश्चिदृषिरासांचक्रे श्रुतश्रवा नाम। तस्य
तपस्यभिरतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ॥१३॥ तस्य तं पुत्रमभिगम्य
जनमेजयः पारिक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ॥१४॥ स नमस्कृत्य तमृषि-
मुवाच भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ॥१५॥ स एवमुक्तः
प्रत्युवाच जनमेजयं भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यां जातो महातपस्वी
स्वाध्यायसंपन्नो मत्तपोवीर्यसंभृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्तस्याः कुक्षौ
जातः ॥१६॥ समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितुमन्तरेण महा-
देव कृत्याम् ॥१७॥ अस्य त्वेकमुपांशु व्रतं यदेनं कश्चिद्ब्राह्मणः कंचिदर्थम-
भियाचेत्तं तस्मै दद्यादयं यद्येतदुत्सहसे ततो नयस्वैनमिति ॥१८॥
तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच भगवंस्तत्तथा भविष्यतीति॥ १९॥
स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातृनुवाच मयायं वृत उपाध्यायो यदयं
ब्रूयात्तत्कार्यमविचारयद्भिर्भवद्भिरिति। तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा

करने लगे, जो कुत्ती के शापसे मुक्त कर सकते हैं। एक दिन मृगया को निकल कर उन्हों ने अपने राज्य ही के किसी एक प्रदेश में एक आश्रम देखा। उस आश्रममे श्रुतश्रवा नामक एक ऋषि बसते थे उनके सोमश्री नामक एक परम तेजस्वी पुत्र थे। परीक्षित पुत्र जनमेजय ने उस ऋषिपुत्रके समीप जाकर पुरोहित बननेकी प्रार्थना की और उनके पिता को दण्डवत् कर बोले, "हे भगवन्! आपके यह पुत्र मेरे पुरोहित होवें।" जनमेजय के ऐसी प्रार्थना करनेपर ऋषिवर बोले "हे जनमेजय! मेरा यह पुत्र महातपस्वी, सदा वेदपठन में नियुक्त और तपोवीर्य से युक्त है। एक सर्पीने मेरा वीर्य पी लिया था, उसीसे उसके गर्भमे इसने जन्म लिया है यह तुमको सब शापो से मुक्त कर सकेगा; केवल महादेवजी के दिये हुए शाप को रोक नहीं सकेगा। इसका यह एक गूढ नियम है, कि कोई ब्राह्मण इससे जो कुछ प्रार्थना करेंगे, यह उन को वही दान देगा, यदि तुम इस बातका साहस कर सको, तो मेरे इस पुत्र को ले जाओ।" ऋषि के ऐसा कहने पर जनमेजय बोले "भगवन्! आप जो कहते हैं, वही होगा।" आगे वह पुरोहित को संग लेकर राजधानी में आकर भाइयों से बोले "इस ऋषि-कुमार को मैं ने पुरोहिती में वरण किया है। यह जब जो कुछ कहेंगे, तुम तभी विना विचारे वह पूरा करना।" जनमेजय के भ्रातृगण इस प्रकार आदिष्ट होकर ऋषि कुमार की आज्ञा पालने लगे। महाराज जनमेजय

चक्रुः स तथा भ्रातॄन् संदिश्य तक्षशिलां प्रत्यभिप्रस्थे तं च देशं वशे स्थापयामास ॥ २० ॥ एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामापोदस्तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुः ॥ २१ ॥ उपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥२२॥ स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा तत्केदारखण्डं बद्धुं नाशकत् । स क्लिश्यमानोपश्यदुपायं भवत्वेवं करिष्यामीति ॥२३॥ स तत्र संविवेश केदारखण्डे शयाने च तथा तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २४ ॥ ततः कदाचिदुपाध्याय आपोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत्क्वारुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥२५॥ ते तं प्रत्यूचुर्भगवंस्त्वयैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति। स एवमुक्तस्ताञ्छिष्यान्प्रत्युवाच तस्मात्तत्र सर्वे गच्छामो यत्र स गत इति ॥ २६ ॥ स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासि वत्सैहीति ॥२७॥ स तच्छ्रुत्वारुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात्केदारखण्डात्सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे ॥२८॥प्रोवाच चैनमयमस्म्यत्र केदार

भाइयोंको वह आज्ञा देकर तक्षशिला देश को जीतने चलेगये और उस देश को अपने वश में कर लिया। (११–२०)

जब राजा जनमेजय ने तक्षशिला देश को जीता था, उस समय आपोद धौम्य नामक जो एक ऋषि थे, उसके उपमन्यु, आरुणि और वेद यह तीन शिष्य थे। ऋषिने एक समय पांचाल देशीय शिष्य आरुणि को यह आज्ञा देकर, कि " बेटा आरुणे ! तुम क्षेत्र मे जाकर बांध बांधो. " क्षेत्र में भेज दिया। आरुणि गुरुसे आदिष्ट होकर के वहां जाकर बडे बडे कष्ट उठाने पर भी जब बांध को बांध नहीं सका, तब अन्तमे एक उपाय यह ठहराया, कि क्षेत्र की मोरी में जाकर लेट रहा। उसके लेटने पर जलकी गति भी रुक गई। (२१—२४)

अनन्तर एकदिन आपोदधौम्य ने शिष्यों से पूछा, " पाञ्चाल देशी आरुणि कहां गया है ?" शिष्योंने उत्तर दिया भगवन्! आपहीने उसको क्षेत्रका बांध बांधने को भेजा है। शिष्योंसे यह सुन कर आपोद धौम्यने कहा, " चलो, जहां आरुणि गया है, हम सब वहीं चलें। " आगे वह बांधके पास पहुंचकर चिल्लाकरके पुकारने लगे ' बेटा पांचालय आरुणे ! कहां हो ? चले आओ। " आरुणि उपाध्याय की बात सुनकर उस बांधसे एकाएक उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और कहा, " भगवन् ! मैं आया हूं; आपके क्षेत्र का जल निकल रहा था, जब किसी प्रकार उसे रोक नहीं।

खण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भगवन्तमुपस्थितः ॥२९॥ तदभिवादये भगवन्तमाज्ञापयतु भवान्कमर्थं करवाणीति ॥३०॥ स एवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच यस्माद्भवान्केदारखण्डं विदार्योत्थितस्तस्मादुद्दालक एव नाम्ना भवान्भविष्यतीत्युपाध्यायेनानुगृहीतः॥३१॥ यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोवाप्स्यसि सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ॥३२॥ स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम। अथापरः शिष्यस्तस्यैवापोदस्य धौम्यस्योपमन्युर्नाम ॥३३॥ तं चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति ॥ ३४ ॥ स उपाध्यायवचनादरक्षद्गाः स चाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरुगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३५ ॥ तमुपाध्यायः पीवानमपश्यदुवाच चैनं वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि पीवानसि दृढमिति ॥ ३६ ॥ स उपाध्यायं प्रत्युवाच भो भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ ३७॥ मय्यनिवेद्य भैक्ष्यं नोपयोक्तव्यमिति। स तथेत्युक्तो भैक्ष्यं चरित्वोपाध्यायाय

सका, तव अन्तमे वहां लेटा, इसीसे जल का निकलना वन्द हुआ। इस समय आप के पुकारनेपर एकायक क्षेत्रसे निकल कर आपके पास आ पहुंचा हूं और प्रणाम करता हूं, आप आज्ञा कीजिये, इस समय कौनसा कार्य करना होगा।" आरुणि की वात पूरी होने पर उपाध्याय ने कहा, "वेटा। क्षेत्र की मोरी से निकल आये हो, सो तुम उद्दालक नाम से प्रसिद्ध होगे।" यह कह कर उपाध्याय उस पर कृपाकटाक्ष कर वोले, "जो कि तुमने तन मन वचन से मेरी आज्ञा पालन की है, सो तुम्हारा मंगल होगा और सम्पूर्ण वेद और धर्म शास्त्र तुम्हारे मनमे प्रकाशित रहेंगे। आप आरुणि उपाध्याय की आज्ञा से अपने इष्ट देश को पधारा। (२४—३३)

आपोद धौम्य के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था। उपाध्यायने उसको यह कह कर, कि "वेटा! तुम गोरक्षा करो" गोरक्षा के लिये भेज दिया। उपमन्यु उपाध्यायके वाक्यानुसार गोरक्षा करने लगा। दिनभर गोरक्षा कर संध्या को गुरु के सामने आकर दण्डवत् किया करता था। एक दिन उपाध्याय जी उसको पुष्ट देख कर वोले, "वेटा उपमन्यो! तुमको वहुत पुष्ट देखता हूं, तुम क्यों कर भूख मिटाते हो!" उपमन्यु वोला, "मैं भिक्षा से अपनी जीविका निर्वाह कर

न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात् । स तथेत्युक्त्वा पुनररक्षद्गा अहनि गा रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागम्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३९ ॥ तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४० ॥ स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि तेन वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ ४१ ॥ नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्ष्योपजीविनां वृत्युपरोधं करोषीत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीति ॥ ४२ ॥ स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षद्रक्षित्वा च पुनरुपाध्यायगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४३ ॥ तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपमन्योऽहं ते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशं केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४४ ॥

लेता हूं । " उपाध्याय बोले कि, "मेरी आज्ञा विना भिक्षा का अन्न भोजन न करना । " उपाध्याय के ऐसी आज्ञा करने पर वह भिक्षामें जो कुछ पाता था, सब गुरु को संकल्प कर छोडता था, उपाध्याय के उसके सब भिक्षान्न ले लेने पर वह ' ऐसा ही हो ' कहकर गोरक्षा करने को जाता था। इस प्रकार से नित्य दिनभर गो-रक्षा कर रात्रि को गुरुके घर में आकर उन को नमस्कार किया करता था। तिस पर भी उस को पुष्ट देख कर उपाध्यायजी बोले, " बेटा उपमन्यो ! तुम्हारा सब भिक्षान्न तो मैं ले लेता हूं अब तुम किस प्रकार से भोजन कार्य निर्वाह करते हो ? ' उपमन्यु बोला, " पहिली बार की भिक्षा में जो कुछ मिलता है, वह आप को दे कर मैं फिर दूसरी बार भिक्षा करता हूं, इसी से मेरी जीविका निर्वाह होती है । " उपाध्याय बोले, ' ऐसा करना गुरुकुलमें रहने वाले को उचित नहीं है, इससे दूसरे भिक्षार्थि-यों की वृत्ति मारी जाती है, तथा तुम्हारा लोभ सिद्ध होता है । " उपमन्यु यह कह कर कि " फिर ऐसा न करूंगा " पूर्ववत गोरक्षा करने लगा और दिन भर गो-रक्षा कर के संध्या को गुरु के घर में आकर पूर्ववत् गुरु के सामने खडा होकर नमस्कार किया करता था । उपाध्यायने तिस पर भी उस को पूर्ववत् पुष्ट देखकर फिर पूछा, ' बेटा उपमन्यो ! तुम भिक्षा कर जो कुछ पाते हो, वह सब तो मैं ले लेता हूं, फिर दूसरी बार तुम भिक्षा भी नहीं करते हो, तिस पर भी तुम को बहुत पुष्ट देखता हूं, सो इन दिनों तुम क्या खाते हो ? "
३८-४४)

स एवमुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति। तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो मया नाभ्यनुज्ञातमिति ॥ ४५ ॥ स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्यायगृहमेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४६ ॥ तमुपाध्यायः पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यं नाश्नासि न चान्यचरासि पयो न पिबसि पीवानसि भृशं केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४७ ॥ स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनात्पिबन्त उद्गिरन्ति ॥ ४८ ॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाचैते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति तदेषामपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति। स तथेति प्रतिश्रुत्य पुनररक्षद्गाः ॥ ४९ ॥ तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यचरति पयो न पिबति फेनं नोपयुंक्ते स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत् ॥ ५० ॥ स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारतिक्तकटुरूक्षैस्तीक्ष्णविपाकैश्चक्षुष्युपहतोऽन्धो बभूव ॥ ततःसोऽन्धोपि चङ्क्रम्यमाणः कूपे पपात ॥ ५१ ॥

उपमन्यु बोला "इन गौओं का दूध पीकर जीता हूं।" उपाध्याय बोले, मैंने तुमको गौओं का दूध पीने नही कहा; सो मेरी आज्ञा विना दूध पीना उचित नही है। उपमन्यु तथास्तु कहकर प्रतिज्ञा-पूर्वक गोरक्षा करके फिर गुरुके घरमे आकर पूर्ववत् नमस्कार कर खडा हुआ। उपाध्यायने उसको पूर्व-वत् पुष्ट देख कर कहा, "बेटा उपमन्यो! भिक्षान्न भोजन नही करते, दूसरी वार भिक्षा भी नही करते, दूध भी नही पीते, तौभी पुष्ट बने हो, अब किस प्रकार से भूख मिटाते हो?" उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्यु बोला, "जब बछडे अपनी अपनी माताओं के स्तन पीते है, तब उनके मुहमे जो फेन निकल कर गिरता है, मै उसीको पीकर प्राण बचाता हूं।" उपाध्याय बोले, "यह सब गुणवान् बछडे तुमपर दया करके बहुत अधिक फेन उगिल डालते हैं; तुम उसी फेनको पीकर बछडो की वृत्ति लोप करते हो; सो फेन पीना भी तुमको अनुचित है। उपमन्यु तथास्तु कह कर अंगीकार करके फिर गोरक्षा करने लगा। पर गुरुके मना करने के कारण न तो भिक्षान्न भोजन किया, न दूसरी वार भिक्षा की, न दूध पीया और न उगिला हुआ फेन ही पीया, सो एक दिन वनमें भूखसे अति कातर होकर उसने मदार का पत्ता खा लिया, वह क्षारा, तीता, कडुआ, रूखा, पचने मे तीखा पत्र खाकर उसने अपनी आंखे बिगाडी। वह उसीसे

अथ तस्मिन्ननागच्छति सूर्ये चास्तावलम्बिन्युपाध्यायः शिष्यानवोच न्नायात्युपमन्युस्त ऊचुर्वनं गतो गा रक्षितुमिति तानाहोपाध्यायः ॥५२॥ मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः स नियतं कुपितस्ततो नागच्छति चिरम्। ततोन्वेष्य इत्येवमुक्त्वा शिष्यैः सार्धमरण्यं गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार भो उपमन्यो क्वासि वत्सैहीति॥५३॥ स उपाध्यायवचनं श्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैरयमस्मिन्कूपे पतितोऽहमिति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच कथं त्वमस्मिन्कूपे पतित इति॥५४॥ स उपाध्यायं प्रत्युवाचार्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्म्यतः कूपे पतित इति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥५५॥ अश्विनौ स्तुहि तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्ताराविति। स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः ॥५६॥

प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू गिरा वाऽशंसामि तपसा ह्यनन्तौ।

अन्धा हुआ; आगे वन में घूमता हुआ एक कूयेमें गिर पडा; सूर्यदेव अस्ताचल चोटी पर जढ गये; तौभी जब उपमन्यु गृहमें न लौटा, तब उपाध्याय ने शिष्योंसे पूछा "उपमन्यु क्यों नहीं आता हे ?" शिष्यों ने कहा, " कदाचित् गोरक्षा के लिये उपनन्यु वनमें गया हे।" उपाध्याय बोले. "मैने उसको सब प्रकारके भोजन करने को मना कर दिया है. इससे वह निःसंदेह क्रोधित हुआ है. सो अब तक न आता होगा; अब उसकी खोज करनी उचित हैं।" यह कहकर शिष्योंके संग वनमे जाकर उनको पुकारने लगे. "बेटा उपमन्यो ! कहां हो ? आओ । उपमन्यु गुरुकी बात सुनके चिल्लाकर बोला. "मैं इस कूपमें पडा हूं।" उपाध्याय ने पूछा. "तुम कैसे कूपमे जा गिरे ?" उपमन्यु बोला, "मदारका पत्ता खाकर मैं अंधा होगया हूं. सो कूपमें गिर गया हूं ।" उपाध्याय बोले. "दोनों अश्विनीकुमारोंका स्तव करो. वे देवताओंके चिकित्सक हैं. तुम्हारी आखें बना देंगे।" उपाध्याय की ऐसी आज्ञा पाकर उपमन्यु ऋग्वेद-विहित वाक्योंसे दोनों अश्विनीकुमारोंका स्तव करने लगा। (३९–५६)

हे दोनों अश्विनीकुमार! तुम सृष्टि के पहिले विद्यमान थे और हिरण्यगर्भरूप से उत्पन्न हुए थे; तुम ही विचित्र प्रपञ्च का स्वरूप धारण कर प्रकाशमान होते हो; देश, काल और अवस्था द्वारा तुम्हारा निर्णय नहीं हो सकता. सो मैं वाक्य और तपस्या द्वारा तुम को आत्मस्वरूप से प्राप्त करना चाहता हूं। तुम बुद्धि और चैतन्य का रूप धारण कर दीप्तिमान होते

उद्र्यौ सुपर्णौ विरजौ विमानावधिक्षिपन्तौ भुवनानि विश्वा ।।५७।।
हिरण्मयौ शकुनी सांपरायौ नासत्यदस्रौ सुनसौ वै जयन्तौ ।
शुक्लं वयन्तौ तरसा सुवेमावधिव्ययन्तावसितौ विवस्वतः ।।५८।।
ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकाममुञ्चतामश्विनौ सौभगाय ।
तावत्सुवृत्तावनमन्त मायया वसत्तमागा अरुणा उदावहन् ।।५९।।
षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति ।
नाना गोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम ।।६०।।
एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिता अराः।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ।।६१।।
एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं षण्णाभिमेकाक्षममृतस्य धारणं ।
यस्मिन्देवा अधि विश्वे विषक्तास्तावश्विनौ मुञ्चतं मा विषीदतम् ।।६२।।

हो: शरीर रूपी वृक्षपर पक्षी के स्वरूप में चढे हो और प्रकृतिगत विक्षेपनीशक्ति से संपूर्ण जगत् को रच रहे हो; तुम सत्व, रज, तम, इन तिनि गुणोंसे अतीत और मन के अगोचर हुए हो। तुम ज्योतिर्मय संग-रहित परब्रह्मस्वरूप, लय पाये जगत् के अधिष्ठान और भ्रम ओर क्षय वर्जित हुए हो। तुम सुन्दर नाक युक्त अर्थात् शरीरधर्मयुक्त हो; तिस पर भी काल को जीत चुके हो। तुम दिवाकर को रच-कर दिन और रात्रिरूपी शुक्ल और कृष्ण तांतों से वर्ष रूपी वस्त्र बना रहे हो; इसी से कर्मफल भोगने के लिये लोकों का पथ बना देते हो। जीवरूपी पक्षी के परमात्मा को कालशक्ति से ग्रसित होने के कारण उसको मोक्षरूपी महत् सौभाग्य देने को अश्विनी कुमारों के स्वरूप में प्रकटित हुए हो। रागादिविषयों मे जकडे हुए बडे मूर्ख जन जब तक इन्द्रियोंके अधीन फंसे रहते है, तब तक तुम लोगों को शरीरधारी समझते है! अहोरात्र रूपी तीन सौ साठ गाय सब को उपजाने और सब को नष्ट करनेवाला वर्षरूपी जो बछडा उत्पन्न करती है और तत्त्व जानने की अभिलाषा रखनेवाले जिस बछडे की सहायता से नाना क्रियाओं में तत्त्वज्ञान रूपी दूध दूह लेते है,तुम उस वर्ष के उप-जानेवाले हुए हो। वर्षरूपी जिस एक ही धूरे में अहोरात्ररूपी सात सौ बीस आरे बारह मासरूपी नाहे के अवलम्बन से हैं, तुमने उस अनियत मायामय अक्षय काल चक्र को नियुक्त किया है,वह कालचक्र इस लोक और परलोक की सम्पूर्ण प्रजा को स्पर्श कर रहा है। मेषादि राशिरूपी बारह आरे, ऋतुरूपी छः धूरे और वर्षरूपी एक अक्षवाला तथा कर्मफलरूपी आधार

आश्विनाविन्दुममृतं वृत्तभूयौ तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी ।
हित्वा गिरिमश्विनौ गा मुदाचरन्तौ तद्दृष्टिमह्ना प्रस्थितौ बलस्य ॥६३॥
युवां दिशो जनयथो दशाग्रे समानं मूर्ध्नि रथयानं वियन्ति ।
तासां यातमृषयोऽनु प्रयान्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥६४॥
युवां वर्णान्विकुरुथो विश्वरूपांस्तेऽधिक्षियन्ते भुवनानि विश्वा ।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६५ ॥
तौ नासत्यावश्विनौ वां महेऽहं स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य ।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधावृते देवास्तत्प्रपदे न सूते ॥ ६६ ॥
मुखेन गर्भं लभेतां युवानौ गतासुरेतत्प्रपदेन सूते ।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भस्तावश्विनौ मुंचथो जीवसे गाः ॥६७॥
स्तोतुं न शक्नोमि गुणैर्भवन्तौ चक्षुर्विहीनः पथि संप्रमोहः ।
दुर्गेऽहमस्मिन्पतितोऽस्मि कूपे युवां शरण्यौ शरणं प्रपद्ये ॥६८॥

युक्त जो एक चक्र है, काल के अधिष्ठाता देवगण भी जिसमें स्थित है, तुम मुझे उस कालचक्र से मुक्त करो मै जन्मादि दुःख से बडा उदास हो रहा हूं । तुम विषय आदि संपूर्ण प्रपंचों से भरे हो, तुम ही आकाशादि के लय के कारण हो, तुमही अनादि अविद्यादोष से भोग्य पदार्थों में इन्द्रिय संयोग करके परम सुख मे विचर रहे हो और इधर तुम ही परब्रह्म रूपी हो हे दोनों आश्विनीकुमार! तुमने पहिले दश दिशा, सूर्य और आकाश को रचाः उस सूर्यकृत दिशा और काल के अनुसार ऋषिलोग वेदविहित संपूर्ण कर्मो का अनुष्ठान करते है और देवता तथा मनुष्य अपने अधिकार के अनुसार ऐश्वर्य भोगते है । तुमने पञ्च तन्मात्र को रचकर उनके परस्पर मिलावटमे नाना प्रकारके पदार्थ उपजाये है और उन्हींसे इन चौदह भुवनों की सृष्टि हुई है। प्राणीगण देह, इन्द्रिय और बुद्धिरूपी विकार के वश में होकर विषय को भोग रहे है और देवता, मनुष्य और पशु आदि सब इस पृथ्वी को आश्रय किये हुए हैः हे प्रसिद्ध दोनों अश्विनी कुमार! मै तुम्हारी पूजा करता हूं। और तुम्हारे उत्पन्न किये हुए अनन्त आकाश के कार्यो की भी पूजा करता हूं । कर्म फल के विना देवगण भी किसी कार्य मे सफलमनोरथ नहीं हो सकते: तुम उस कर्मफलके उपजाने वाले और निरभिमान हो। तुम सब के स्वरूप मे किरणद्वारा जल रूपी गर्भ धारण करते हो वह किरण जीवन हीन होने पर भी गर्भ धारण करके प्रसव करती है, वह जलरूपी गर्भ मेघसे जन्म लेते ही भूलोक मे फैल जाता है,

इत्येवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुराहतुश्चैनं प्रीतौ स्व एष तेऽपूपोऽशानेनमिति ॥६९॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच नानृतमूचतुर्भगवन्तौ न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे गुरवेऽनिवेद्येति॥७०॥ततस्तमाश्विनावूचतुरावाभ्यां पुरस्ताद्भवत उपाध्यायेनैवमाभिष्टुताभ्यामपूपो दत्त उपयुक्तः स तेनानिवेद्य गुरवे त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा कृतमुपाध्यायेनेति ॥ ७१ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाचैतत्प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ नोत्सहेऽहमनिवेद्य गुरवेऽपूपमुपयोक्तुमिति ॥७२॥ तमाश्विनावाहतुः प्रीतौ स्वस्तवानया गुरुभक्त्योपाध्यायस्य ते कार्ष्णायसा दन्ता भवतोऽपि हिरण्मया भविष्यन्ति चक्षुष्मांश्च भविष्यसीति श्रेयश्चावाप्स्यसीति ॥७३॥ स एवमुक्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसकाशमागम्याभ्यवादयत् ॥ ७४ ॥ आचचक्षे च स चास्य प्रीतिमान्बभूव ॥ ७५ ॥ आह चैनं यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसि ॥ ७६ ॥ सर्वे च ते वेदाः

लोकों के जीवन के लिये तुम ही इस जीवन-रूपी गर्भ को त्याग करते हो। (५७—६८)

उपमन्यु के इस प्रकार स्तव करने पर दोनों अश्विनीकुमार उस स्थानमें आकर बोले, कि हम तुम्हारे स्तवसे प्रसन्न हुए हैं, तुमको पिष्टक देते हैं, भोजन करो। अश्विनीकुमारोंसे ऐसी आज्ञा पाकर उपमन्यु बोला, " तुम कभी मिथ्या नहीं बोलते, पर मै गुरुको विना निवेदन किये यह पिष्टक नहीं खा सकता। " अश्विनीकुमारोंने कहा," पहिले तुम्हारे उपाध्याय ने हमारा स्तव किया था, हमारे प्रसन्न होकर ऐसा पिष्टक देनेपर उन्होंने गुरुको विना निवेदन किये भोजन कर लिया था, तुम्हारे उपाध्याय ने जैसा किया था, तुम भी तैसा ही करो। " उपमन्युने उत्तर दिया, " हे दोनों अश्विनीकुमार ! आप कभी मिथ्यावचन नहीं बोलते, तो भी मै तुमसे विनय कर कहता हूं, " गुरुको विना निवेदन किये यह पिष्टक खा नही सकूंगा। " दोनों कुमार बोले, " तुम्हारी ऐसी अटल गुरुभक्ति देखकर हम वडे प्रसन्न हुए। तुम्हारे गुरुके काल लोहेके दांत हुए; पर तुम्हारे दांत सोनेके होगे, अर्थात् तुम्हारे गुरु, शिष्योंसे जिस निर्दयतासे व्यवहार करते है, तुम तैसा न करके उन पर दयाशील होग। बेटा ! तुम्हारी सुन्दर आंखे होंगी और तुम्हे मंगल प्राप्त होगा। " (६९-७३)

अश्विनीकुमारो के इस प्रकार वर देने पर उपमन्यु के सुन्दर नेत्र हुए। आगे उसने उपाध्याय के सम्मुख आकर नमस्कार किया और प्रारंभसे अन्त तक सम्पूर्ण वृत्तांत कह सुनाया। उपाध्याय वह सुनकर

प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति । एषा तस्यापि परीक्षोपमन्यो ॥ ७७ ॥ अथापरः शिष्यस्तस्यैवापोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम तमुपाध्यायः समादिदेश वत्स वेद इहास्यतां तावन्मम गृहे कंचित्कालं शुश्रूषुणा च भवितव्यं श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥ ७८ ॥ स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोवसत् । गौरिव नित्यं गुरुणा धूर्षु नियोज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वत्राप्रतिकूलस्तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम ॥ ७९ ॥ तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप । एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ॥ ८० ॥ स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृत्तस्तस्माद् गुरुकुलवासाद् गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः स शिष्यान्न किंचिदुवाच कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा चेति । दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान्परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ॥ ८१ ॥ अथ कस्मिंश्चित्काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्य वरयित्वोपाध्यायं चक्रतुः ॥ ८२ ॥ स कदाचिद् याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कनामानं शिष्यं नियोजयामास ॥ ८३ ॥

प्रसन्न होकर बोले. अश्विनीकुमारों ने जो कुछ कहा है, वही होगा. तुमको मंगल प्राप्त होगा. और सम्पूर्ण वेद और धर्म शास्त्र तुम्हारे स्मरण मार्ग में प्रकाटित रहेंगे गुरुभक्त उपमन्यु की यह परीक्षा हुई। (७४–७७)

उक्त आपोद धौम्य के तीसरे शिष्यका नाम वेद था। उपाध्यायने उसको आज्ञा करी, " बेटा वेद! तुम कुछ दिन मेरे घरमे रहकर गुरु-सेवा करो. तुम्हारा मगल होगा।" वेद तथास्तु कहकर बहुकाल गुरुकुल मे रहकर गुरु-सेवा करने लगा। उपाध्याय उसपर बैल के समान नित्य नाना भार डाल देते थे। उसने भी शीत.ग्रीष्म. क्षुधा. प्यास आदि सब दुःख सह लेकर और किसी बातमे विरोधी न होकर बहुत काल तक गुरुसेवा की। बहुत काल के पश्चात् उपाध्याय प्रसन्न हुए. इसीसे वेदने कल्याण और सर्वज्ञता लाभ की। उसने उपाध्याय की आज्ञासे गुरुकुलसे लौट कर गृहस्थाश्रम अवलंबन किया। (७८- ८०)

निज गृह में बसने के काल में उनके तीन शिष्य हुए। वह शिष्यों को कर्म करो वा गुरुसेवा करो कुछ कहता नहीं था. क्यों कि वह गुरुकुल में रहने का दुःख विलक्षण ही जानते थे सो शिष्यों को कष्ट देना नहीं चाहते थे। एक समय जनमेजय और पौष्य इन दो क्षत्रियों ने आकर वेद के उपाध्याय के पद मे

भो यत्किंचिदस्मद्गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीयमानं भवता क्रियमाणमिति। स एवं प्रतिसंदिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ॥ ८४ ॥ अथोत्तङ्कः शुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानो गुरुकुले वसति स्म। स तत्र वसमान उपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः ॥ ८५ ॥ उपाध्यायिनी ते ऋतुमत्युपाध्यायश्च प्रोषितोऽस्या यथायमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियतामेषा विषीदतीति॥८६॥एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं करणीयं न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टोऽकार्यमपि त्वया कार्यमिति ॥८७॥ तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहमाजगाम तस्मात्प्रवासात्। स तु तद्वृत्तं तस्याशेषमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ॥ ८८ ॥ उवाच चैनं वत्सोत्तङ्क किं ते प्रियं करवाणीति। धर्मतो हि शुश्रूषितोऽस्मि भवता तेन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा तदनुजाने सर्वानेव कामानवाप्स्यसि गम्यतामिति ॥८९॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच किं ते प्रियं करवाणीति।एवमाहुः।९०। यश्चाधर्मेण वै ब्रूयाद्यश्चाधर्मेण पृच्छति।

किया। एक दिन वेद ने याजन कार्य में जाने के कालमें उतङ्क नामक शिष्य को आज्ञा दी, " हे उतङ्क! मै चाहता हूं, कि मेरी अनुपस्थिति मे गृहमे जो कुछ अभाव हो, तुम उन को पूरा किया करो।" वेद उतङ्क को यह आज्ञा देकर बाहर चले गये। गुरुसेवाशील उतङ्क गुरुनियोग का अनुष्ठान कर के गुरुकुल में बसने लगा। उस काल में एक दिन उपाध्यायके घर की स्त्रियां एकत्र होकर उतङ्क को बुलाकर बोली, ' उतङ्क! तुम्हारी उपाध्यायनी ऋतुमती हुई है, तुम्हारे उपाध्याय भी घर मे नहीं है, परदेश को चले गये है, सो जिस से उन की ऋतु खाली न जाय, तुम तिसका विधान करो, क्यों कि वह बडी उदास हुई है।' उतङ्क ऐसी आज्ञा सुनकर बोला, मैं स्त्रियों की बात सुनकर ऐसा कुकर्म नही कर सकूंगा, उपाध्यायने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी, कि " तुम कुकर्म भी करना "। (८० — ८७)

कुछ कालान्तर उपाध्याय परदेश से घर मे लौट आये और यह सब वृत्तान्त जान कर उतङ्क पर प्रसन्न होकर बोले, ' बेटा उतङ्क! तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूं? तुमने धर्मानुसार मेरी सेवा की है, सो परस्पर हम में प्रीति बढी है, अब आज्ञा देता हूं कि तुम घर लौट जाओ तुम्हारी संपूर्ण अभिलाषा पूर्ण होगी।" उपाध्याय के ऐसा कहने पर उतङ्क बोला, "मैं आपका कौनसा पलटे में उपकार करूं? कहा है, जो विद्या पढाकर दक्षिणा नही लेता और जो धर्मपूर्वक विद्या पढकर

स्सोऽहमनुज्ञातो भवतेच्छामीष्टं गुर्वर्थमुपाहर्तुमिति। तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्कोष्यतां तावदिति ॥ ९२ ॥ स कदाचिदुपाध्यायमाहोत्तंक आज्ञापयतु भवान्किं ते प्रियमुपाहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९३ ॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तंक बहुशो मां चोदयसि गुर्वर्थमुपाहरामीति तद्गच्छैनां प्रविश्योपाध्यायिनीं पृच्छ किमुपाहरामीति ॥ ९४ ॥ एषा यद्ब्रवीति तदुपाहरस्वेति। स एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायिनीमपृच्छद्भगवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तुमिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपाहृत्यानृणो गन्तुमिति ॥ ९५ ॥ तदाज्ञापयतु भवती किमुपाहरामि गुर्वर्थमिति। सैवमुक्तोपाध्यायिनी तमुत्तङ्कं प्रत्युवाच गच्छ पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे ॥ ९६ ॥ आनयस्व चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता ताभ्यामाबद्धाभ्यां शोभमाना ब्राह्मणान्परिवेष्टुमिच्छामि। तत्संपादयस्वैवं हि कुर्वतः श्रेयो भवितान्यथा कुतः श्रेय इति ॥ ९७ ॥ स एवमुक्तस्तया प्रातिष्ठतोत्तङ्कः

दक्षिणा नहीं देता, उन दोनों में एक मर जाता है और उनमें आपसका द्वेषभाव खडा होता है, सो आपकी आज्ञा पानेसे मैं गुरुदक्षिणा बटोरने का प्रयत्न करूं। उपाध्याय बोले, "बेटा उतङ्क! तब तुम और कुछ दिन मेरे घर रहो, आगे कहूंगा।" (८९-९२)

कुछ दिनोंके पश्चात् उतङ्क उपाध्याय जी से बोला, " आज्ञा कीजिये, कैसी गुरुदक्षिणा देनेसे आप प्रसन्न होंगे, मैं उसे लानेकी चेष्टा करूं।" उतङ्क के ऐसी प्रार्थना करनेपर उपाध्याय बोले, " बेटा उतङ्क! तुम बार बार मुझे कह रहे हो गुरुदक्षिणा दूंगा, सो तुम गृहके भीतर जाकर उपाध्यायनी से पूछो, कि गुरुदक्षिणाके निमित्त क्या लाना होगा? वह जो कहेंगी, वही लाना। उपाध्याय के ऐसी आज्ञा करनेपर उतङ्कने उपाध्यायनी से पूछा " भगवति उपाध्यायने! मुझे घर जानेकी आज्ञा दी है, पर मैं आपकी मनमानी गुरुदक्षिणा लाकर ऋणमुक्त होकर घर जाना चाहता हूं; सो आप आज्ञा कीजिये, कि गुरुदक्षिणा के निमित्त क्या लाना होगा ?" उतङ्क के ऐसी प्रार्थना करने पर, उपाध्यायनी बोली, " बेटा उतङ्क! राजा पौष्य के निकट जाकर, उन की स्त्री के धारण किये हुए दोनों कुण्डल मांग लाओ। आगामी चौथे दिनको पुण्यक नामक व्रत का उत्सव होगा, मैं उस दिन उन दोनों कुण्डलों से सजधज कर ब्राह्मणों को परोसना चाहती हूं। तो [illegible] करो, ऐसा करने से तुम्हारा भला होगा

स पथि गच्छन्नपश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधिरूढं च पुरुषमतिप्रमाणमेव।
स पुरुष उत्तङ्कमभ्यभाषत ॥ ९८ ॥ भो उत्तङ्कैतत्पुरीषमस्य ऋषभस्य
भक्षयस्वेति। स एवमुक्तो नैच्छत् ॥ ९९ ॥ तमाह पुरुषो भूयो भक्षयस्वो-
त्तङ्क मा विचारयोपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्वमिति ॥ १०० ॥ स
एवमुक्तो बाढमित्युक्त्वा तदा तदृषभस्य मूत्रं पुरीषं च भक्षयित्वो-
त्तङ्कः संभ्रमादुत्थित एवाप उपस्पृश्य प्रतस्थे ॥ १०१ ॥ यत्र स क्षत्रियः
पौष्यस्तमुपेत्यासीनमपश्यदुत्तङ्कः। स उत्तङ्कस्तमुपेत्याशीर्भिरभि-
नंद्योवाच ॥ १०२ ॥ अर्थी भवन्तमुपागतोऽस्मीति स एनमभिवाद्योवाच
भगवन् पौष्यः खल्वहं किं करवाणीति ॥१०३॥ तमुवाच गुर्वर्थं कुण्डल-
योरर्थेनाभ्यागतोऽस्मीति ये वै ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले ते भवान्
दातुमर्हतीति ॥१०४॥ तं प्रत्युवाच पौष्यः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रिया
याच्यतामिति। स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रियां नापश्यत्॥१०५॥
स पौष्यं पुनरुवाच न युक्तं भवताहमनृतेनोपचरितुं न हि तेऽन्तःपुरे

और इसके न करनेसे किसी प्रकार से तुम्हारी भलाई नहीं है।" उपाध्यायनी के ऐसी आज्ञा करने पर उतङ्क उन कुंडलों को लाने गया। जाने के कालमें पथमें देखा, कि एक बृहदाकार पुरुष एक बड़े भारी बैलपर चढ कर चले जा रहे है। उन्होंने उतङ्क को देखकर कहा, " ऐ उतङ्क! इस बैल का यह गोबर खाओ।" उतङ्क के गोबर न खाने की इच्छा दिखाने पर उस पुरुषने फिर कहा, " उतङ्क! खाजाओ, मत विचारो। पहिले तुम्हारे उपाध्यायने भी यह किया था।" यह सुनकर उतङ्क बैल का गोबर और मूत्र खा पीकरके उठकर भ्रमवश पथमें चलते ही चलते आचमन कर चला गया। (९३ — १०१)

अनन्तर पौष्य नाम क्षत्रियवर के निकट उपस्थित होकर देखा, कि वह आसन पर विराज रहे है। उतङ्क उनको आशीस देकर बोला, " मै कुछ भिक्षाके निमित्त आपके पास आया हूं।" पौष्यने पांव छूकर कहा, " मै आपका नौकर पौष्य हू, कहिये क्या करना है।" उतङ्क बोला, " मै गुरुदाक्षिणा देनेके लिये दो कुण्डल मांगने आया हूं, आपकी धर्मपत्नी जो दो कुण्डल पहिनती है, आप उन्हींको दान दीजिये।" पौष्य बोले, " भीतर जाकर मेरी स्त्रीसे मांगिये।" यह सुन कर वह भीतर जाकर और पौष्य की स्त्री को न देखकर पौष्यके निकट लौट आकर बोला, " मुझे इस प्रकार झूठ मूठ ठगना नहीं चाहिये, भीतर आपकी धर्मपत्नी नहीं

क्षत्रिया संनिहिता नैनां पश्यामि ॥१०६॥ स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं
विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रि-
योच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात्सैषा नाशुचेर्दर्शनमु-
पैतीति ॥१०७॥ अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाचास्ति खलु मयोत्थिते-
नोपस्पृष्टं गच्छता चेति तं पौष्यः प्रत्युवाचैष ते व्यतिक्रमो नोत्थिते-
नोपस्पृष्टं भवतीति शीघ्रं गच्छता चेति ॥१०८॥ अथोत्तङ्कस्तं तथेत्युक्त्वा
प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपाणिपादवदनो निःशब्दाभिरफेनाभि-
रनुष्णाभिर्हृद्गताभिरद्भिः पीत्वा त्रिः परिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्य
चान्तःपुरं प्रविवेश ॥१०९॥ ततस्तां क्षत्रियामपश्यत्सा च दृष्ट्वैवोत्तङ्कं
प्रत्युत्थायाभिवाद्योवाच स्वागतं ते भगवन्नाज्ञापय किं करवाणीति ॥११०॥
स तामुवाचैते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति । सा प्रीता
तेन तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ते कुण्डले अवमु-
च्यास्मै प्रायच्छदाह चैनमेते कुण्डले तक्षको नागराजः सुभृशं प्रार्थयत्य-
प्रमत्तो नेतुमर्हसीति ॥१११॥ स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्युवाच

है. रहती तो दीखती ।" पौष्य क्षणमात्र सोचकर बोले. "भगवन्! स्मरण कर देखिये. कि अवश्य ही उच्छिष्ट आपके मुहमें है। उच्छिष्टसे अपवित्र जन उसकी भेंट नहीं कर सकता. वह पतिव्रता है. सो वह अशुचि जन को दिखाई नहीं देती। पौष्य के ऐसा कहने पर उतङ्क-ने स्मरण कर कहा. "हां मैंने आते समय एकायक उठकर चलते ही चलते आचमन किया था। 'पौष्य बोले.' आपही की भूल हुई। जाते हुए वा खडे खडे आच-मन करना ठीक नहीं है। उतङ्कने "ठीक कहा" यह कह कर पूर्व ओर मुह फेरके बैठकर हाथ पाद. मुह धोकर बिना शब्द तीन बार फेनरहित. शीतल.हृदय-

तक पहुंचने योग्य जल पीकर दोबार दोनो होठों को मलकर और सिगरि इन्द्रि-यों को छू करके आचमन कर अन्तःपुरमें प्रवेश किया और रानी क्षत्राणी को देखा। पौष्यकी स्त्री उतङ्क को देख करके उठकर नमस्कार पूर्वक स्वागत पूछ कर बोली. "भगवन्! आज्ञा कीजिये क्या करूं?" उतङ्क बोला." गुरुदक्षिणा देनेके लिये आपसे दोनो कुण्डल मांगता हूं मुझे दान कर दें।" उसकी यह गुरुभक्ति देखकर [illegible] पत्नी अति प्रसन्न हुई [illegible] कि "यह सुपात्र है इसकी प्रार्थना [illegible] न करनी चाहिये [illegible] कर [illegible] [illegible] दे [illegible]

भगवति सुनिर्वृता भव न मां शक्तस्तक्षको नागराजो धर्षयितुमिति ॥११२॥ स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामन्त्र्य पौष्यसकाशमागच्छदाह चैनं भोः पौष्य प्रीतोऽस्मीति। तमुत्तङ्कं पौष्यः प्रत्युवाच ॥११३॥ भगवंश्चिरेण पात्रमासाद्यते भवांश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्तुं क्रियतां क्षण इति ॥११४॥ तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच कृतक्षण एवास्मि शीघ्रमिच्छामि यथोपपन्नमन्नमुपस्कृतं भवतेति। स तथेत्युक्त्वा यथोपपन्नेनान्नेनैनं भोजयामास ॥११५॥ अथोत्तङ्कः सकेशं शीतमन्नं दृष्ट्वाशुच्येतदिति मत्वा तं पौष्यमुवाच यस्मान्मेऽशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति ।११६।तं पौष्यःप्रत्युवाच यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्मात्त्वमनपत्यो भाविष्यसीति। तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥११७॥ न युक्तं भवतान्नमशुचि दत्वा प्रतिशापं दातुं तस्मादन्नमेव प्रत्यक्षीकुरु। ततः पौष्यस्तदन्नमशुचि दृष्ट्वा तस्याशुचिभावमपरोक्षयामास ॥ ११८ ॥ अथ तदन्नं मुक्तकेश्या स्त्रिया यत्कृतमनुष्णं सकेशं चाशुच्येतदिति मत्वा तमृषिमुत्तङ्कं प्रसादयामास ॥ ११९ ॥ भगवन्नेतदज्ञानादन्नं सकेशमुपाहृतं शीतं

कुण्डलों को बहुत चाहते है, सो बडी सावधानतासे ले जाइये।" यह सुनकर उतङ्क बोला, " भगवति! मत सोचिये, तक्षक मुझसे कुण्डल नहीं ले सकेगा।" यह कह कर पौष्य की स्त्रीसे विदा होकर पौष्य के पास आ पहुंचा और कहा, " हे पौष्य! मुझे परम सन्तोष लाभ हुआ। पौष्यने उससे कहा, " भगवन् सदा सत्पात्र नहीं मिलते, आप भी सर्व गुणशील आतिथि उपस्थित है, सो श्राद्ध करना चाहता हूं; आप क्षण भर ठहरिये।" उतङ्क बोला " ठहरा हू. जो अन्न उपस्थित हो, आप वही शीघ्र लाइये।" पौष्यने यही स्वीकार कर जो अन्न उपस्थित था, वही लाकर उन्हे भोजन करनेको दिया। उतङ्क ने केशयुक्त और शीतल अन्न देखकर अशुचि समझ करके पौष्यसे कहा, " जो कि तुमने मुझको अशुचि अन्न दिया है, सो तुम अन्धे होगे।" पौष्य बोले, " तुम दोष देनेके अयोग्य अन्नपर दोष डालते हो, सो तुम्हे सन्तान न होगी।" उतङ्क बोला, " अशुचि अन्न भोजन करने देकर पलटे में शाप देना उचित नहीं है। आप भली भांति देख लीजिये, यह अन्न अशुचि है वा नहीं।" यह सुनकर पौष्यने उस अन्न की परीक्षा कर उसकी अपवित्रता प्रत्यक्ष की। अनन्तर अन्न को मुक्तकेशी स्त्री का लाया हुआ, शीतल और केशयुक्त जानकर राजा पौष्य उतङ्क ऋषि को प्रसन्न करने लगे और विनय से कहा," भगवन्! न

तत्क्षामये भवन्तं न भवेयमन्ध इति । तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥ १२० ॥ न मृषा ब्रवीमि भूत्वा त्वमन्धो न चिरादनन्धो भविष्यसीति ममापि शापो भवता दत्तो न भवेदिति ॥ १२१ ॥ तं पौष्यः प्रत्युवाच न चाहं शक्तः शाप प्रत्यादातुं न हि मे मन्युरद्याप्युपशमं गच्छति किं चैतद्भवता न ज्ञायते तथा ॥ १२२ ॥ नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निशितस्तीक्ष्णधारः । तदुभयमेतद्विपरीतं क्षत्रियस्य वाङ्नवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारमिति ॥ १२३ ॥ तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात्तं शापमन्यथा कर्तुं गम्यतामिति । तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच भवताहमन्नस्याशुचिभावमालक्ष्य प्रत्यनुनीतः प्राक्च तेऽभिहितं ॥१२४॥ यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति । दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति ॥ १२५ ॥ साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च ॥ १२६ ॥ अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे । एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते

जानकरके ही शीतल और केशयुक्त अन्न लाया हूं. अब आपसे क्षमा मांगता हूं. मुझे अन्धा होना न पडे " उतङ्क बोला।. " मेरी बात मिथ्या नहीं होती. आप. अन्धे होकर अति शीघ्र नेत्रशील होगे । आपने मुझको जो शाप दिया है. वह न फलने पावे । " पोष्य बोले " शाप लोटाने की सामर्थ्य मुझ में नही है. अभीतक मेरा क्रोध शांत नहीं हुआ. क्या आप नही जानते कि ब्राह्मण का हृदय मक्खनके समान है. थोडे ही मे गल जाता है और बात उनकी तेज अस्त्रके समान है: पर क्षत्रियोंमे यह दोनो ही विपरीत है अर्थात् बात उनकी मक्खन-तुल्य और हृदय-तेज अस्त्र के सदृश है । सो जाति - सिद्ध तेज-हृदय के हेतु उस शाप को लौटा नहीं सकूंगा. आप जाइये । " उतङ्क बोला. " आपने अन्न की अपवित्रता प्रत्यक्ष कर मुझसे विनय किया. पहिले कहा था. ' दोषस्पर्शरहित अन्न के अशुचि होने का दोष लगाते हो. सो तुम्हारे सन्तान नहीं होगी । ' अब जब अन्न मे दोष प्रत्यक्ष हो गया है. तब फिर वह शाप मुझ पर हार नहीं करेगा । अब मै जाता हूं. यह कह कर उत्तङ्क दोनों कुण्डल लेकर पधारा । १२० – १२६

पथमें देखा. कि एक नंगा सन्यासी कभी दीखता और कभी न दीखता [illegible] आरहा है । अनन्तर उत्तङ्क सन्यासी[illegible] दोनों कुण्डल रखकर [illegible] करने लगा ...

कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् ॥१२७॥ तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात् ॥१२८॥ तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह गृहीतमात्रः स तद्रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश ॥१२९॥ प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत्। अथोत्तङ्कस्तस्याः क्षत्रियाया वचः स्मृत्वा तं तक्षकमन्वगच्छत् ॥१३०॥ स तद्बिलं दण्डकाष्ठेन चखान न चाशकत् । तं क्लिश्यमानमिन्द्रोऽपश्यत्स वज्रं प्रेषयामास ॥१३१॥ गच्छास्य ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुरुष्वेति। अथ वज्रं दण्डकाष्ठमनुप्रविश्य तद्बिलमदारयत् ॥ १३२ ॥ तमुत्तङ्कोऽनु विवेश तेनैव बिलेन प्रविश्य च तं नागलोकपर्यन्तमनेकविधप्रासादहर्म्यवलभीनिर्यूहशतसंकुलमुच्चावचक्रीडाश्चर्यस्थानावकीर्णमपश्यत् ॥ १३३ ॥ स तत्र नागांस्तानस्तुवदेभिः श्लोकैः ॥

य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः ।
क्षरन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ॥ १३४ ॥

बीच में वह सन्यासी शीघ्रतासे आकर दोनों कुण्डल लेकर दौडा। पिशाच होजाने पर उतङ्क शुचि और संयत हो देवता और गुरुको नमस्कार कर बडे वेगसे सन्यासी के पीछे दौडा। जब बहुत निकट पहुंचा, तब उसको पकड लिया। तक्षक पकडे जाकर सन्यासीका रूप छोड कर अपना रूप धरके उसी स्थानमे एक चौडे बिल के भीतर जा घुसा, अनन्तर उस भारी बिल से नाग-लोक में जाकर अपने घरमें पहुंचा। पौष्यपत्नी की बात स्मरण कर उतङ्क तक्षक के पीछे चलने के लिये उस बिल को लकडीसे खोदने लगा; पर किसी प्रकारसे सफल-मनोरथ नहीं हो सका। तब इन्द्रने यह देखकर, कि ब्राह्मण बडा कष्ट पारहा है, वज्र को आज्ञा करके भेजा, " वज्र जाओ, उस ब्राह्मण की सहायता करो। " आगे वज्रने उस लकडी के अगले अंशसे घुसकर बिल को फाड दिया। तब उस बिलके भीतर घुस करके नागलोक में जाकर उतंकने भांति भांति के मन्दिर, राजमहल, गृहचोटी, द्वार और नाना प्रकार के आश्चर्य क्रीडा-स्थान देखे। अनन्तर यह नागो की स्तुति करने लगे। (१२६-१३३)

ऐरावत जिन सर्पो के राजा है, जो लोग रणभूमिमें सुशोभित और बिजली तथा पवन के समान वेगवान् होकर मानो अस्त्र वर्षाने लगते हैं, ऐसे सुन्दर रूपधारी और विचित्र कुण्डलधारी ऐरावतवंशी

सुरूपा बहुरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः ।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ॥ १३५ ॥
बहूनि नागवेश्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे ।
तत्रस्थानपि संस्तौमि महतः पन्नगानहम् ॥ १३६ ॥
इच्छेत्कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना ।
शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥ १३७ ॥
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदैजति ।
ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरपथं गताः ॥ १३८ ॥
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः ।
यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत्पुरा ॥ १३९ ॥
तं नागराजमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम् ।
तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ ॥ १४० ॥
कुरुक्षेत्रं च वसतां नदीमिक्षुमतीमनु ।
जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः सुतः ॥ १४१ ॥
अवसद्यो महद्द्युम्नि प्रार्थयन्नागमुख्यताम् ।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ॥ १४२ ॥
एवं स्तुत्वा स विप्रर्षिरुत्तङ्को भुजगोत्तमान् ।

नागगण देवलोकमें सूर्य की भांति प्रकाटित है। गंगाजी के उत्तर कुलमें अनेक सर्पों के वासस्थान है मै वहां के उन नागोंका भी स्तव करता हूं। ऐरावत के विना कौन जन सूर्य किरणरूपी सेना मे घूम घाम सकता है? जब धृतराष्ट्र चलते है, तब उनके पीछे अट्टाइस सहस्र आठ नाग दल बांधकर गमन करते है। ऐरावतके इन सब कनिष्ठ भाइयो को भी, धृतराष्ट्र के निकट के या दूरके है नमस्कार करता हूं। जो पहिले कुरुक्षेत्र और खाण्डवप्रस्थ मे बसते थे कुण्डलके निमित्त उन नागराज तक्षक का स्तव करता हूं। तक्षक और अश्वसेन यह दोनों नित्यके साथी होकर कुरुक्षेत्रमें इक्षुमती-नदीके तट पर बसते थे। श्रुतसेन नामक तक्षक के जो कनिष्ठ भ्राता नागों में श्रेष्ठता पानेकी प्रार्थना कर सूर्यकी उपासनापूर्वक कुरुक्षेत्र में स्थित थे, मै उन महात्मा को भी नमस्कार करता हूं। इस प्रकार से श्रेष्ठ नागों के स्तव करने पर भी कुण्डल न पाकर विप्रर्षि उत्तङ्क चिन्तायुक्त हुए। जब नागों की स्तुति करने पर भी कुण्डल न मिले तब उन्होंने देखा कि दो स्त्रि

नैव ते कुण्डले लेभे ततश्चिन्तामुपागमत् ॥ १४३ ॥

एवं स्तुवन्नपि नागान्यदा ते कुण्डले नालभत्तदापश्यत्स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य सुवेमे पटं वयन्त्यौ। तस्मिंस्तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवश्चक्रं चापश्यद्द्वादशारं षड्भिः कुमारैः परिवर्त्यमानं पुरुषं चापश्यदश्वं च दर्शनीयम् ॥ १४४ ॥ स तान्सर्वास्तुष्टावैभिर्मन्त्रवदेव श्लोकैः ॥१४५॥

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति॥ १४६ ॥
तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ वयतस्तन्तून्सततं वर्तयन्त्यौ।
कृष्णान्सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्त्रं भुवनानि चैव ॥१४७॥
वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥१४८॥
यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति।
नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय लोकत्रयेशाय पुरंदराय ॥ १४९ ॥

ततः स एनं पुरुषः प्राह प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण किं ते प्रियं करवाणीति। स तमुवाच ॥१५०॥ नागा मे वशमीयुरिति। स चैनं पुरुषः पुनरुवा-

सुन्दर वेमायुक्त तांत में वस्त्र बना रही हैं, उसके ताने सादे और काले रंगके है और छः बालकोंसे घुमाये जाते हुए बारह आरों का एक चक्र देखा; एक पुरुष और एक सुन्दर घोडेको भी देखा। उतङ्क निम्न लिखित मंत्रवाक्य से उनके स्तव करने लगा। (१३४--१४५)

इस चोवीस पर्वयुक्त सनातन चक्रमे तीन सौ साठ ताने लगाये गये है, छः कुमार इसको घुमा रहे है। विश्वरूपिणी दोनों युवती इस ताने मे सादे और काले सूत देकर सदा वस्त्र बनाती हुई सम्पूर्ण भूत और चौदहो भुवनों को घुमा रही है। जो महातमा दो काले वस्त्र पहिनते है, जिन्होंने वज्रधारी होकर नमुचि और वृत्रासुर को वध किया था; जो तीनो भुवनों को रक्षा करते है; जो लोकोंमे सत्य और असत्य बांट देते है; जिन्होंने वैश्वानर के समान तेजोवान् सामुद्रिक घोडेको प्राप्त किया है, उन त्रिलोकनाथ विश्वेश्वर पुरन्दर को नमस्कार करता हूं। (१४६ — १४९)

उतङ्क के ऐसे स्तव करने पर वह पुरुष उनसे बोले, तुम्हारे इस स्तवसे मै प्रसन्न हुआ हूं, तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूं उतङ्क उनसे बोला, " संपूर्ण सर्प मेरे वशमें आवे "। उस पुरुषने फिर उतङ्क से कहा, " इस घोडेके मलद्वार मे फूंको ।'

चैतमश्वमपाने धमस्वेति ॥१५१। ततोऽश्वस्यापानमधमत्ततोऽश्वाद्धम्यमानात्सर्वस्रोतोभ्यः पावकार्चिषः सधूमा निष्पेतुः ॥१५२॥ ताभिर्नागलोक उपधूपितेऽथ संभ्रान्तस्तक्षकोऽग्नेस्तेजोभयाद्विषण्णः कुण्डले गृहीत्वा सहसा भवनान्निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच ॥ १५३ ॥ इमे कुण्डले गृह्णातु भवानिति स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः प्रतिगृह्य च कुण्डलेऽचिन्तयत् ॥ १५४ ॥ अद्य तत्पुण्यकमुपाध्यायिन्या दूरं चाहमभ्यागतः स कथं संभावयेयमिति । तत एवं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच ॥१५५॥ उत्तङ्कैनमेवाश्वमधिरोह त्वां क्षणेनैवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यति॥१५६॥ स तथेत्युक्त्वा तमश्वमधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलमुपाध्यायिनी च स्नाता केशानावापयन्त्युपविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ॥ १५७ ॥ अथैतस्मिन्नन्तरे स उत्तङ्कः प्रविश्योपाध्यायकुलमुपाध्यायिनीमभ्यवादयत्तेचास्यै कुण्डले प्रायच्छत्सा चैनं प्रत्युवाच ॥१५८॥ उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः स्वागतं ते वत्स त्वमनागसि मया न शप्तः श्रेयस्तवोपस्थितं सिद्धिमाप्नुहीति ॥१५९॥ अथोत्तङ्क उपाध्याय-

उतङ्क ने उस पुरुष की आज्ञासे घोडेके मलद्वारमें फूंक दियाः इससे घोडेके सर्वशरीर के छिद्रोंसे धूंआसहित अग्निशिखा निकलने लगीं। अनन्तर उन अग्नि-शिखाओं से नागलोक गर्म होने पर तक्षकने आग के भयसे डरकर और चिन्तित होकर उन दोनो कुण्डलों के साथ गृहसे एकायक निकल कर उतङ्क से कहा, " आप इन दोनों कुण्डलों को लें। " उतङ्क ने कुण्डलों को लिया और उन्हे लेकर सोचने लगा, " आज ही तो उपाध्यायनी का पुण्यकव्रत होनेवाला है, मैं भी यहाँ दूर आ पडा हूं इसीलिए उचित समय पर वहां पहुंच करके कार्य पूरा कर सकूंगा। " उतङ्क ऐसा सोच रहा था कि ऐसे समय मे वह पुरुषने उनसे बोले, उत[illegible] इस घोडे पर चढ लो ऐसा करनेसे थोडे [illegible] मे तुम गुरु के घरमे पहुंच सकोगे। उतङ्क 'तथास्तु' कहके उस घोडे पर चढ कर उपाध्यायकुल में लौट आया। (१५० — १५७)

इधर उपाध्यायनी स्नान करके बैठ कर केश सवार रही [illegible] और ऐसा सोचती हुई, कि " उतङ्क अभीतक नहीं आया [illegible] शाप देने का विचार कर रही [illegible] इतने में उतङ्क ने उस [illegible] प्रवेश करके उपाध्यायनी को प्रणाम [illegible] कुण्डल दे दिये। [illegible] मे बोली [illegible] ' [illegible] आये, तुम [illegible]

मभ्यवादयत्। तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क स्वागतं ते किं चिरं कृतमिति ॥ १६०॥ तमुत्तङ्क उपाध्याय प्रत्युवाच भोस्तक्षकेण मे नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन्कर्मणि तेनास्मि नागलोकं गतः॥१६१॥तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ तस्मिंश्च कृष्णाः सिताश्च तन्तवः किं तत्॥१६२॥ तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारं षड्चैनं कुमाराः परिवर्तयन्ति तदपि किम्। पुरुषश्चापि मया दृष्टः स चापि कः। अश्वश्चातिप्रमाणो दृष्टः स चापि कः ॥१६३॥ पथि गच्छता च मया ऋषभो दृष्टस्तं च पुरुषोऽधिरूढस्तेनास्मि सोपचारमुक्त उत्तङ्कास्यर्षभस्य पुरीषं भक्षयोपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति ॥ १६४ ततस्तस्य वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुपयुक्तं स चापि कः। तदेतद्भवतोपदिष्टमिच्छेयं श्रोतुं किं तदिति। स तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ १६५ ॥ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च ते कृष्णाः सितास्तन्तवस्ते राज्यहनी यदपि तच्चक्रं द्वादशारं षड्वै कुमाराः परिवर्तयन्ति तेऽपि षड्ऋतवः संवत्सरचक्रम् ॥१६६॥ यः पुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वः सोऽग्निर्य ऋषभस्त्वया पथि गच्छता

अच्छा हुआ, कि मैंने तुमको विना दोष शाप नहीं दिया; अब तुम्हारे मंगल का अवसर आ पहुंचा है, तुम मन माने विषय में सिद्धिलाभ करो।" अनन्तर उतङ्क ने उपाध्याय को प्रणाम किया। उपाध्याय स्वागत पूछ कर बोले, "बेटा उतङ्क! तुमको आनेमें इतनी देर क्यों हुई?" उतङ्क ने उत्तर दिया," नागराज तक्षक ने कुण्डल लाने में मुझे विघ्न किया था, सो मैं नागलोक मे गया था। वहां देखा, कि दो स्त्रियां तांतमें वस्त्र बीन रही है, उसमें जो सादे और काले रङ्गके सूत है वह क्या हैं? और भी देखा, कि छः कुमारों से बारह आरे वाला एक पहिया घुमाया जाता है। वह क्या है? एक पुरुप को देखा,वह कोन है? और बडे भारी एक घोडे को देखा, वह कौन है? पथ में एक बैल को देखा था,उस पर एक पुरुप चढे थे। उन्हों ने विनय पूर्वक मुझ से कहा था, "बेटा उतङ्क! तुम इस बैलका गोवर खा लो, पहिले तुम्हारे उपाध्यायने भी ऐसाही किया था"; मैने उनका वचन सुनकर उस बैल का गोवर खा लिया। जिन्होंने मुझे गोवर खाने कहा था,वह कौन हैं? मैं इन सब विषयो का पूरा वृत्तांत आप से सुनना चाहता हूं। उतङ्क के यह सब पूछने पर उपाध्याय बोले,"बेटा उतङ्क! तुमने जिन दो स्त्रियों को देखा, वे धाता और विधाता हैं; जिन सादी और काली तांतोंको देखा, वे सब दिन और रात है; जिस चक्रको देखा,

दृष्टः स ऐरावतो नागराट् ॥१६७॥ यश्चैनमधिरूढः पुरुषः स चेन्द्रो यदपि ते भक्षितं तस्यर्षभस्य पुरीषं तदमृतं तेन खल्वसि तस्मिन्नागभवने न व्यापन्नस्त्वम् ॥१६८॥ स हि भगवानिन्द्रो मम सखा त्वदनुक्रोशादिममनुग्रहं कृतवान्। तस्मात्कुण्डले गृहीत्वा पुनरागतोऽसि ॥१६९॥ तत्सौम्य गम्यतामनुजाने भवन्तं श्रेयोऽवाप्स्यसीति। स उपाध्यायेनानुज्ञातो भगवानुत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकं प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ॥ १७० ॥

स हास्तिनपुरं प्राप्य न चिराद्विप्रसत्तमः ।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥ १७१ ॥
पुरा तक्षशिलासंस्थं निवृत्तमपराजितम् ।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ॥ १७२ ॥
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य सः ।
उवाचैनं वचः काले शब्दसंपन्नया गिरा ॥ १७३ ॥

उत्तङ्क उवाच— अन्यस्मिन्करणीये तु कार्ये पार्थिवसत्तम ।

वह वर्ष है; जिन छः कुमारों को उस बारह आरेवाले चक्र को घुमाते देखा, वे छः ऋतु हैं; और जिस पुरुष को देखा, वह इन्द्रजी हैं; जिस अश्व को देखा, वह अग्नि हैं; पथमें जानेके समय में जिस बैल को देखा, वह नागराज ऐरावत हैं; उन पर जो चढे थे वह इन्द्र है। और तुमने जो गोबर भोजन किया वह अमृत है। जिस अमृत को खानेके कारण तुम नागलोक में जाने पर भी नष्ट नहीं हुए। वही भगवान इन्द्र मेरे मित्र है, उन्होंने तुम्हारा कष्ट देख कर दयायुक्त होकर ऐसी कृपा दिखाई है, इसीसे कुण्डल लेकर तुम लौट आ सके हो। अत एव हे सुशील! मैं तुम को आज्ञा देता हूं, तुम घर जाओ, मङ्गल प्राप्त होंगे॥ (१५७ — १७०)

भगवान उतङ्क उपाध्यायसे विदा लेकर तक्षक पर क्रोध युक्त रहनेके कारण, बदला लेनेकी इच्छासे हस्तिनापुर को पधारे। विप्रवर उतङ्क विना विलम्ब हस्तिनापुर में जाकर महाराज जनमेजय के निकट उपस्थित हुए। अजय जनमेजय इसके पहिले तक्षशिला देशको जीतने गये थे। वहांसे जय लाभ कर के लौट कर मन्त्रियों से वेष्टित हो सिंहासन पर आरूढ थे। ऐसे समय में उतङ्क उनको देखकर अवसर समझके, विधिपूर्वक आशीस देकर साधुशब्दयुक्त सुशोभित वचनोंसे बोले ' हे श्रेष्ठ-नरनाथ ' अपना कर्तव्य न पालन करके तुम बालक के समान दूसरे

बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥ १७४ ॥

सौतिरुवाच— एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा जनमेजयः ।
अर्चयित्वा यथान्यायं प्रत्युवाच द्विजोत्तमम् ॥ १७५ ॥

जनमेजय उवाच—आसां प्रजानां परिपालनेन स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि मे किं करणीयमद्य येनासि कार्येण समागतस्त्वम् ॥ १७६ ॥

सौतिरुवाच— स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्वं स्वमेव कार्यं नृपते कुरुष्व ॥ १७७ ॥

उत्तङ्क उवाच— तक्षकेण महीन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।
तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ॥ १७८ ॥
कार्यकालं हि मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्गच्छापचितिं राजन्पितुस्तस्य महात्मनः ॥ १७९ ॥
तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद्राजा वज्राहत इव द्रुमः ॥ १८० ॥
बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः ।
अकार्यं कृतवान्पापो योऽदशत्पितरं तव ॥ १८१ ॥
राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम् ।
यियासुं कश्यपं चैव न्यवर्तयत पापकृत् ॥ १८२ ॥

कार्यों में लगे हो।" श्री उग्रश्रवाजी कहते हैं, कि उतङ्क से इस प्रकार कहे जाकर महाराज जनमेजय विधिपूर्वक उनकी पूजा करके बोले, "मैं इन प्रजाओंका पालन कर अपना क्षत्रियधर्म रक्षा कर रहा हू, इस क्षण आप जो विचार कर यहां आये है, मेरा वह कर्तव्य ही क्या है, आज्ञा करें। (१७०–१७६)

श्री उग्रश्रवाजी कहते हैं, कि नरनाथ की यह वात सुनकर अतिपुण्यशील द्विजोत्तम उतङ्कने उन अहीनकान्ति महाराज जनमेजय को उत्तर दिया, कि हे नरनाथ! मे तुमसे स्वकीय-साधन ही का अनुरोध करता हूं। हे श्रेष्ठ महीपाल ! जिस तक्षकने तुम्हारे पिताजी को नष्ट किया है, उस दुष्टात्मा सर्पको उचित फल दो। राजन् ! इस विधिदर्शित कार्यका काल आ पहुंचा है, सो तुम्हारे उन महानुभाव जन्मदाता का जो अनिष्ट हुआ है, उसका वदला लो। दुष्ट स्वभावी दुरात्मा तक्षकसे तुम्हारे पिताजी विना अपराध काटे जाकर वज्र-जले वृक्ष के समान मृत्युको प्राप्त हुए हे। जिस सर्पाधम तक्षकने वल और अहंकारमे उछल कर तुम्हारे पिताको काटनेका

होतुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने ।
सर्पसत्रे महाराज त्वरितं तद्विधीयताम् ॥ १८३ ॥
एवं पितुश्चापचितिं कृतवांस्त्वं भविष्यसि ।
मम प्रियं च सुमहत्कृतं राजन् भविष्यति ॥ १८४ ॥
कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना ।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥ १८५ ॥

सौतिरुवाच— एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकाय चुकोप ह ।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ॥ १८६ ॥
अपृच्छत्स तदा राजा मन्त्रिणस्तान्सुदुःखितः ।
उत्तङ्कस्यैव सान्निध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ॥ १८७ ॥
तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत् ।
यदैव वृत्तं पितरमुत्तङ्कादशृणोत्तदा ॥ १८८ ॥

[८५९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि पौष्यपर्वणि पौष्याख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अनुचित कार्य किया है और राजर्षिवंशवाले देवसदृश महाराज परीक्षित को बचाने के लिये काश्यपवर धन्वन्तरिजी को आते देखकर, उनको भी अर्थद्वारा जिस पापात्माने रोका था, हे महाराज ! सर्पयज्ञका अनुष्ठान कर प्रज्वलित अग्नि मे उस पापात्माकी आहुति चढानी चाहिये, सो शीघ्र उसका अनुष्ठान करो । ऐसा करने से तुम्हारे पिताजी का बदला हो जायगा और मेरा भी अति प्रिय कार्य होगा । हे निष्पाप पृथ्वीनाथ ! म गुरु के लिये धन लाने गया था, इसमें उस दुरात्माने मुझे बडा विघ्न किया था । [१७७-१८५

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि महाराज जनमेजय यह सुन कर जिस प्रकार घृतसे अग्नि जल उठता है, वैसे ही उत्तङ्क के वाक्यरूपी घृतसे उनका क्रोधरूपी अग्नि जल उठा । आगे अति दुःखित होकर उत्तङ्क के सामने ही मंत्रियोंसे पिताका परलोक सिधारनेका वृत्तान्त पूछा । पर वह जब उत्तङ्कसे पिताकी मृत्यु का वृत्तान्त सुन चुके, तभी से दारुण दुःख और शोक मे विकल हो पडे । [१८६-१८९ ८५०]

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवा सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ॥ १ ॥ पौराणिकः पुराणे कृतश्रमः स कृताञ्जलिस्तानुवाच किं भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति किमहं ब्रवाणीति ॥ २ ॥ तमृषय ऊचुः। परमं लौमहर्षणे वक्ष्यामस्त्वां नः प्रतिवक्ष्यसि वचः शुश्रूषतां कथायोगं नः कथायोगे ॥ ३ ॥ तत्र भगवान्कुलपतिस्तु शौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ॥ ४ ॥

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः ।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ॥ ५ ॥
स चाप्यस्मिन्मखे सौते विद्वान्कुलपतिर्द्विज ।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ६ ॥
सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः ।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत्प्रतिपाल्यताम् ॥ ७ ॥
तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम् ।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तम ॥ ८ ॥
सौतिरुवाच— एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि ।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ९ ॥

चौथा अध्याय। पौलोम पर्व।

लोमहर्षणपुत्र सौति पौराणिक श्रीउग्रश्रवा जी, नैमिषारण्य में कुलपति शौनक जी के द्वादश-वार्षिकी यज्ञमे शुभागमन किये हुए ऋषियों के समीप उपस्थित होकर दोनों हाथ जोडके बोले, "आप लोग इस समय क्या सुनना चाहते है? मै क्या कहूं?" ऋषिलोग बोले, "हे लोमहर्षणपुत्र! हम लोग विविध कथा सुनने के अभिलाषी होकर तुमसे जो जो पूछेंगे, तुम वह सब वर्णन करना। परंतु भगवान् कुलपति शौनक जी इस समय अग्निगृहमें विराजते है, जो देवासुर संबंधी सम्पूर्ण विषय जानते है और जो नर, उरग तथा गन्धर्वों के संपूर्ण वृत्तान्तों से ज्ञात है, विशेष करके जो इस यज्ञके कुलपति और विद्वान्, कार्यकुशल बुद्धिमान, कर्मकाण्ड संबंधी शास्त्र और उपनिषद सिखाने मे अद्वितीय गुरु हैं, तथा सत्यवादी, शान्तिमे रत, तपस्वी और व्रत-शील है;सो वह हम सबोंही के माननीय हैं अतएव उनके लिये कुछ काल ठहरो, वह श्रेष्ठासन पर आरूढ होकर जो कुछ प्रश्न करेंगे तुम वही वर्णन करना।" श्रीउग्रश्रवाजी बोले "वही होवे;महात्मा गुरु शौनकजी के बैठकर प्रश्न करने ही पर मै नाना विषय-सम्बन्धी कथा सुनाऊंगा।"(१--९)

सोऽथ विप्रर्षभ सर्वं कृत्वा कार्यं यथाविधि ।
देवान्वाग्भि पितॄनद्भिस्तर्पयित्वा जगाम ह ॥ १० ॥
यत्र ब्रह्मर्षय सिद्धाः सुखासीना धृतव्रताः ।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ॥ ११ ॥
ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्तदा ।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम्॥ १२ ॥ (८७१)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि पौलोमपर्वणि कथाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

शौनक उवाच— पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान्पुरा ।
कच्चित्त्वमपि तत्सर्वमधीषे लोमहर्षणे ॥ १ ॥
पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥ २ ॥
तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्पाः स्मः श्रवणे तव ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच— यदधीतं पुरा सम्यग्द्विजश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
वैशंपायनविप्राग्र्यैस्तैश्चापि कथितं यथा ॥ ४ ॥

अनन्तर विप्रवर श्री शौनकजी वाक्यों से देवताओं को और जलसे पितरों को तृप्त कर विधिपूर्वक सम्पूर्ण कार्यों को निर्वाह करके जिस स्थान पर उग्रश्रवा जी और सिद्धव्रतशील ब्रह्मर्षिगण सुखसे बैठे थे, उस यज्ञभूमि में उपस्थित हुए। आगे ऋत्विक और सभासदोंके बैठने पर कुलपति शौनक जी स्वयं बैठ कर बोलने लगे। (१० — १२) [८७१]

आदि पर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ।

पञ्चम अध्याय ।

श्री शौनक जी बोले, "हे लोमहर्षण-पुत्र! पहिले तुम्हारे पिताने सम्पूर्ण पुराण पाठ किये थे, क्या तुमने उन सबों को पढ लिया है? पुराणों में देवताओं के चरित्र और महानुभव पुरुषों के आदिवंश-वृत्तान्त कथित हुए हैं; पहिले तुम्हारे पिताके निकट हम लोग वह सब सुन चुके हैं, इस समय उनमें सबसे प्रधान भृगुवंश का वृत्तान्त सुनना चाहते हैं, तुम वह कीर्तन करो, हम लोग एकचित्त होकर सुन रहे हैं।" १ — ३

श्री सूतपुत्रजी बोले, "हे द्विजश्रेष्ठ आपने जिन विषयों को पुराणों में श्रवण किया है, और वैशम्पायन आदि द्विजगण और मेरे पिताने पाठ और कीर्तन किया

यदधीतं च पित्रा मे सम्यक्चैव ततो मया।
तावच्छृणुष्व यो देवैः सेन्द्रैः सर्षिमरुद्गणैः ॥ ५ ॥
पूजितः प्रवरो वंशो भार्गवो भृगुनन्दन।
इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवं ते महामुने ॥ ६ ॥
निगदामि यथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम्।
भृगुर्महर्षिर्भगवान्ब्रह्मणा वै स्वयंभुवा ॥ ७ ॥
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम्।
भृगोः सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः ॥ ८ ॥
च्यवनस्य च दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः।
प्रमतेरप्यभूत्पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ॥ ९ ॥
रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥
तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान्ब्रह्मवित्तमः।
धार्मिकः सत्यवादी च नियतो नियताशनः॥११ ॥

शौनक उवाच— सूतपुत्र यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः॥ १२ ॥

सौतिरुवाच — भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता।

है, मैने उन सब विषयों को पिताजी से भली भांति पढ लिया है; हे ब्रह्मन्! आप ध्यान देकर सुनिये। हे भृगुनन्दन! इन्द्र आदि देवगण, सप्तर्षिगण और मरुद्गण, जिस श्रेष्ठतर भृगुवंश का सन्मान किया करते हैं, मे पहिले उस वंशही का वृत्तान्त यथावत् कीर्तन करता हूं, आप श्रवण कीजिये। सुन चुका हूं, कि महर्षि भृगु वरुण के यज्ञानुष्ठान के समय स्वयंभू ब्रह्माजी के द्वारा अग्निसे उत्पन्न हुए थे। भृगुजीके बडे स्नेहपात्र पुत्र का नाम च्यवन है; च्यवन के परम धार्मिक पुत्र का नाम प्रमति; प्रमति के घृताची से जन्मे हुए औरस पुत्र का नाम रुरु है; रुरु से प्रमद्वराके गर्भसे आपके पूर्व पितामह वेदज्ञ, धर्मज्ञ, तपस्वी, यशस्वी, शास्त्रज्ञ, ब्रह्मज्ञ, परमधर्मशील, सत्यशील, जितेन्द्रिय, आचार-प्रिय शुनक नामक पुत्रका जन्म हुआ।" (४-११)

श्री शौनक जी बोले, "हे सूतनन्दन! कहो, महात्मा भृगुपुत्र क्यो कर च्यवननाम से प्रसिद्ध हुए थे, मै वह जानना चाहता हूं।" (१२)

श्री उग्रश्रवाजी बोले, महर्षि भृगुजी की प्रेमसुहानी, त्रिलोकजानी पुलोमा

तस्यां समभवद्गर्भो भृगुवीर्यसमुद्भवः ॥ १३ ॥
तस्मिन्गर्भेऽथ संभूते पुलोमायां भृगूद्वह ।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ॥ १४ ॥
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे ।
आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाऽभ्याजगाम ह ॥ १५ ॥
तं प्रविश्याऽऽश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ॥ १६ ॥
अभ्यागतं तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना ।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ॥ १७ ॥
तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन्हृच्छयेनाभिपीडितम् ।
दृष्ट्वा हृष्टमभूद्राजञ्जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ १८ ॥
जातमित्यब्रवीत्कार्यं जिहीर्षुर्मुदितः शुभाम् ।
सा हि पूर्वं वृता तेन पुलोम्ना तु शुचिस्मिता ॥ १९ ॥
तां तु प्रादात्पिता पश्चाद्भृगवे शास्त्रवत्तदा ।
तस्य तत्किल्बिषं नित्यं हृदि वर्तति भार्गव ॥ २० ॥
इदमन्तरमित्येवं हर्तुं चक्रे मनस्तदा ।
अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलन्तं जातवेदसम् ॥ २१ ॥

नाम्नी एक स्त्री थी। वह पतिसहवास से गर्भवती हुई! हे भृगुनंदन! धर्मधर यशसागर मुनिवर भृगु, समान प्रकृतिधारिणी अपनी धर्मपत्नी पुलोमाके गर्भवती होने पर, एक दिन नहाने गये थे, कि ऐसे अवसरमें पुलोम नामक राक्षस वहां आकर उनके आश्रम में जा घुसा और आश्रम के भीतर अनिन्दित भृगुपत्नी को देखकर काम पीडा से विचेतनसा हो पडा। सुदर्शना पुलोमाने राक्षस को आश्रम में आते देखकर वनके फलमूलों से अतिथि सत्कार किया। हे ब्रह्मन्! वह कामातुर राक्षस उस परम रूपवती रमणी को देखकर हरने की इच्छा से प्रसन्न होने लगा और मनही मनमें ऐसा कहने लगा, 'कदाचित मेरा अभीष्ट सिद्ध होने पर है। क्योंकि उस राक्षस ने पहिले उस सुहासिनी कामिनी को मन से पत्नी के आसन पर बैठाया था, पर उसके पिताने शास्त्रविधि के अनुसार भृगुजी के साथ विवाह कर दिया था। यह अनुचित काम राक्षस के चित्त में सदा खटकता था। [illegible]

तमपृच्छत्ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा।
शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृच्छे ऋतेन वै ॥ २२ ॥
मुखं त्वमसि देवानां वद पावक पृच्छते ।
मया ह्रीयं वृता पूर्व भार्यार्थे वरवर्णिनी ॥ २३ ॥
पश्चादिमां पिता प्रादाद् भृगवेऽनृतकारकः।
सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ॥ २४ ॥
तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम्।
स मन्युस्तत्र हृदयं प्रदहन्निव तिष्ठति ।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुराप सुमध्यमाम् ॥ २५ ॥

सौतिरुवाच— एवं रक्षस्तमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम् ।
शङ्कमानं भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ॥ २६ ॥
त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा ।
साक्षिवत्पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥ २७ ॥
मत्पूर्वापहृता भार्या भृगुणाऽनृतकारिणा ।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ॥ २८ ॥
श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्याश्रमादिमाम्।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ॥ २९ ॥

राक्षस ने अग्निगृहसे प्रज्वलित अग्निदेव को देखकर उनसे पूछा, 'हे अग्नि! तुम देवों के मुखवत् बने हो, मैं तुमसे पूछता हूं, ठीक बोलो, मैंने पहिले इस सुन्दरी नारी को मनही मनमें पत्नी बनाई थी, आगे इसके अन्यायकारी बापने इसे भृगु को दान किया है। आप सच कहिये, यह एकान्तवासिनी, सुनितम्बिनी, भृगुपत्नी है कि नहीं? मैं इस आश्रम से इसे हरलेना चाहता हूं, क्यों कि पहिले मैंने इस सुमध्यमा को पत्नी करके वरण किया था, पश्चात भृगु ने इसे अन्यायरूपसे प्राप्त किया; इससे क्रोधरूपी अग्नि जलकर मेरा हृदय जलाता हुआ आजतक बचा है।' (१३—२५)

श्री सूतपुत्रजी बोले, इस प्रकार से वह राक्षस जलते हुए अग्निको पुकार पुकार कर बार बार पूछने लगा, 'हे अग्नि! तुम सदा सर्व भूतों के हृदय में पाप और पुण्यके साक्षी स्वरूप होकर विराजमान हो, सो सच बोलो मेरी पहिले की वरण की हुई जिस पत्नी को अन्याय करने वाले भृगुने हर लिया है, वह यही नारी है या नहीं? हे अग्ने! तुम यह बात मुझसे सच बोलो, मैं तुम्हारे सामने ही इस भृगुपत्नी को इस

सौतिरुवाच— तस्यैतद्वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितोऽभवत् ।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ॥ ३० ॥
अग्निरुवाच— त्वया वृता पुलोमेयं पूर्वं दानवनन्दन ।
किं त्वियं विधिना पूर्वं मंत्रवन्न वृता त्वया ॥ ३१ ॥
पित्रा तु भृगवे दत्ता पुलोमेयं यशस्विनी ।
तुभ्यं प्रदत्ता न तु वै वरलोभान्महायशाः ॥ ३२ ॥
अथेमां वेददृष्टेन कर्मणा विधिपूर्वकम् ।
भार्यामृषिर्भृगुः प्राप मां पुरस्कृत्य दानव ॥ ३३ ॥
सेयमित्यवगच्छामि नाऽनृतं वक्तुमुत्सहे ।
नाऽनृतं हि सदा लोके पूज्यते दानवोत्तम ॥ ३४ ॥ (१०७)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
पौलोमपर्वणि पुलोमाग्निसंवादे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

सौतिरुवाच— अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद्रक्षः प्रजहार ताम् ।
ब्रह्मन्वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥ १ ॥
ततः स गर्भो निवसन्कुक्षौ भृगुकुलोद्वह ।

आश्रमसे हर ले जाना चाहता हूं । (२६—२९)

श्री सूतपुत्रजी बोले, "उस राक्षस की ऐसी बात सुनकर अग्नि इन दोनों भयसे भीत होकर कि एक ओर मिथ्या बोलना और दूसरी ओर भृगुका शाप लेना है, अति दुःखी चित्त से बोले, कि 'हे दानव नन्दन! तुमने पहिले इस पुलोमा को वरण तो किया था, पर वेदविधि के अनुसार मन्त्र पढ कर विवाह नहीं किया था. इस के पिताने अति यशस्वी सुपात्र के लोभसे इस यशस्विनी पुत्री को तुम्हें न देकर के भृगु को सम्प्रदान किया है और भृगुने भी वेदविधि के अनुसार मुझको साक्षी रखकर करके मन्त्र पढकर इससे विवाह किया है । हे दानव-प्रधान! मैं जानता हूं, कि तुमने जिस को वरण किया था, यह वही पुलोमा है. मैं झूठ नहीं बोल सकता, क्यों कि लोकों में कभी झूठी बात का आदर नहीं है ।" ३०—३४ [१०७]

आदिपर्व में सातवां अध्याय समाप्त

आदिपर्व । आठवां अध्याय

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, हे ब्रह्मन्! अनन्तर वह राक्षस अग्नि की ऐसी बात सुनकर शूकर का रूप धरके, वायु और मनके समान वेग से इस पुलोमा को हर ले गया । हे भृगुकुल तिलक! ऐसे समय में पुलोमा के

रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥ २ ॥
तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम ।
तद्रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ॥३ ॥
सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दनम् ।
च्यवनं भार्गवं पुत्रं पुलोमा दुःखमूर्छिता ॥ ४ ॥
तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
सान्त्वयामास भगवान्वधूं ब्रह्मा पितामहः ।
अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी ॥ ६ ॥
आवर्तन्ती सृतिं तस्या भृगोः पत्न्यास्तपस्विनः ।
तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ॥ ७ ॥
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः ।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ८ ॥
स एवं च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान् ।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भाविनीम् ॥ ९ ॥
स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः ॥ १० ॥

भृगुरुवाच— केनाऽसि रक्षसे तस्मै कथिता त्वं जिहीर्षते ।

गर्भस्थित बालक क्रोधसे अंधा होकर गर्भरूपी शय्यासे च्युत हुआ, इसी हेतु उसका नाम च्यवन हुआ। माताके गर्भ से गिरे हुए उस सूर्यके समान तेजस्वी बालक को देखते ही राक्षस, पुलोमा को छोडकर भस्म होके पृथ्वी पर गिरा। हे भृगुनन्दन! वह दुःख भरी, सुन्दरी भृगुपत्नी पुलोमा, भृगुके च्यवन नामक उस औरस पुत्रको गोदमें लेकर आश्रम की ओर चलने लगी। तब सर्व लोकों के पितामह ब्रह्माजी अपनी पुत्र-वधू उस परम-रूपवती भृगुपत्नी को रोती और नेत्रों से आंसू गिराती हुई देखकर समझाने लगे। तप करते हुए भृगुजी की धर्मपत्नी पुलोमा जिस पथसे चलने लगी, वहां उस की अश्रु गिरकर एक बडी नदी बन गई। अश्रु से निकली हुई उस नदी को वधूके साथ आश्रम की ओर बहते देख कर सर्वलोकों के पितामह ब्रह्माजी ने उसका नाम "वधूसरा" रखा। प्रतापी भृगुपुत्र च्यवन इस प्रकार से उत्पन्न हुए थे। (१–९)

अनन्तर महर्षि भृगुने उस दशामें च्यवन नामक पुत्र और पत्नी को देखा और अति क्रोधवश होके पुलोमा से पूछा, "हे मीठी

न हि त्वां वेद तद्रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ॥ ११ ॥
तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा ।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥ १२ ॥
पुलोमोवाच— अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता ।
ततो मामनयद्रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥ १३ ॥
साऽहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता ।
भस्मीभूतं च तद्रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ॥ १४ ॥
सौतिरुवाच— इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १५ ॥ (१२०)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि पौलोमपर्वण्यग्निशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच— शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन्कृतवानसि मां प्रति ॥ १ ॥
धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रुवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥

हमोडि ! राक्षस नहीं जानता था, कि तुम मेरी स्त्री हो कि नहीं; सो उसने जब तुम्हे हर लेने की इच्छा प्रकट करी थी, तब उसे किसने तुम्हारा परिचय दिया था? तुम सच सच बोलो, मुझे बडा क्रोध हो रहा है, मै उसको शाप दूं किसने यह अनिष्ट किया? कौन मेरे शाप से भय नहीं खाता? पुलोमा बोली, हे भगवन्! अग्नि ने उस राक्षस को मेरा परिचय दिया था, इसीसे राक्षस कुररीके समान रोती हुई मुझको ले चला; अन्तमें तुम्हारे इस पुत्रके तेजके प्रभाव से मुझ को छोडकर वह राक्षस भस्म हो गया, इसी से मै उस दुरात्मा के हाथ से बच गई हूं। श्रीउग्रश्रवा जी बोले, भृगुने पुलोमा की यह बात सुनकर अतिक्रोधसे यह कहकर, कि "तुम सर्वभक्षी होगे" अग्निको शाप दिया। ११-१५ [१२०]

आदिपर्वमें छठा अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें सातवां अध्याय।

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि भृगुके शाप देने पर अग्निने क्रोधान्वित होकर कहा "हे ब्रह्मन्! तुमने [illegible] मुझे यह क्या शाप दिया? सब बात [illegible] पूछे जाने पर मै ने धर्मानुसार जिस प्रकार सत्य ही कहा है इसमें मेरा [illegible] दोष है? जो साक्षी सत्य [illegible] कहने पर [illegible]

पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत्।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथाऽपरान् ॥ ३ ॥
यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नाऽत्र संशयः ॥ ४ ॥
शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन्कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥
योगेन बहुधाऽऽत्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ॥ ६ ॥
वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति ते ॥ ७ ॥
आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८ ॥
देवताः पितरस्तस्मात्पितरश्चाऽपि देवताः।
एकीभूताश्च दृश्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९ ॥
देवताः पितरश्चैव भुञ्जते मयि यद्धुतम्।
देवतानां पितॄणां च मुखमेतदहं स्मृतम् ॥ १० ॥

झूठी गवाही देता है, उसके ऊपर के सात पुरखे और नीचेके सात पुरखे नरक में गिरते हैं। जो जन गूढतत्त्व जानकर पूछे जाने पर गवाहि नहीं देता, वह भी उक्त पाप में डूबता है. इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हे। मैं भी तुम को शाप दे सकता हूं, पर ब्राह्मण का सन्मान करता हूं, इसीसे नहीं दिया। हे ब्रह्मन्! तुम सब जानते हो, तिस पर भी कहता हूं, सुनो। मै योगबलसे आत्मा को अनेक भागों में बांट कर मूर्ति भेदसे अग्निहोत्र, सत्र, यज्ञ और गर्भाधानादि सम्पूर्ण क्रियाओं में विराजता हूं। वेदोक्त विधान से मुझको जो हविर्द्रव्य चढाया जाता है, उससे देवलोक और पितृलोक तृप्त होते है। मुझ को चढाई हुई सोमरस घृत, दुग्ध आदि वस्तु देवता और पितरोंके शरीर के स्वरूप बन जाती है। देवता और पितरोंके निमित्त दर्श और पौर्णमास यज्ञ एकत्र किये जाते है, सो देवता और पितरो में कोई भिन्नता नहीं है। वे हर पर्वमे कभी एकत्र और कभी पृथक् रूपसे पूजित होते है। मुझे जो हवि चढाया जाता है, उसे देवता और पितर लोग भोजन करते है, सो मै ही उन देवता और पितरो के मुख के समान बना हूं। अमावास्यामें पितरलोग और पौर्णमासी में देवलोग आहुति पाकर

अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः ।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः ॥ ११ ॥
सर्वभक्षः कथं त्वेषां भविष्यामि मुखं त्वहम् ।
सौतिरुवाच— चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः ॥ १२ ॥
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च ।
निरोङ्कारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ १३ ॥
विनाऽग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन्सुदुःखिताः ।
अथर्षयः समुद्विग्ना देवान्गत्वाऽब्रुवन्वचः ॥ १४ ॥
अग्निनाशात्क्रियाभ्रंशाद्भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः ।
विधध्वमत्र यत्कार्यं न स्यात्कालात्ययो यथा ॥ १५ ॥
अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु ।
अग्नेरावेदयञ्छापं क्रियासंहारमेव च ॥ १६ ॥
भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक्तथा ॥ १७ ॥
हुतभुक्सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ।
श्रुत्वा तु तद्वचस्तेषामग्निमाहूय विश्वकृत् ॥ १८ ॥

मेरे मुखसे ही हवि भोजन करते हैं, सो मैं देवता और पितरों के मुख-स्वरूप हो करके क्योंकर सर्वभक्षक हूंगा? (९-१२)

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर अग्नि कुछ काल सोचकर ब्राह्मणों के अग्निहोत्र, सत्र, यज्ञ और दूसरी क्रियाओंसे गायब हुए। आगे प्रजा अग्नि बिना, ओंकार, वषट्कार, स्वधा और स्वाहादि वर्जित होकर अति दुःखी हुई। इस पर ऋषिलोग अति चिन्तित चित्तसे देवताओंके समीप उपस्थित होकर यह वचन बोले, "हे निष्पाप देवगण! अग्निके नष्ट होनेके कारण तीनों लोकों की प्रजा अग्निहोत्रादि क्रियाओंसे वर्जित होकर क्या करना चाहिये, समझ नहीं पाती। इस समय जो करना उचित समझें करें, विलम्ब का अवसर नहीं है। (१३-१५)

अनन्तर देवता और ऋषियोंने ब्रह्माजी के समीप गमन कर अग्नि के शाप और ब्राह्मणों की क्रियादि लोप होनेका समाचार जताकर बोले, "हे महाभाग! किसी कारण से भृगुजीने अग्नि को यह शाप दिया है कि तुम सर्व भक्षक होगे; परन्तु यह तो यज्ञ के अग्रभाग भोजन करने वाले और देवताओं के मुखस्वरूप होकर क्यों कर सर्व भक्षक हो सकते हैं? (१६-१८)

उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम् ।
लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्त्ता चाऽन्त एव च ॥ १९ ॥
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन्क्रियाणां च प्रवर्तकः ।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन्यथा क्रियाः ॥ २० ॥
कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन्हुताशन ।
त्वं पवित्रं सदा लोके सर्वभूतगतिश्च ह ॥ २१ ॥
न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि ।
अपाने ह्यर्चिषो यास्ते सर्वं भक्ष्यन्ति ताः शिखिन् ॥ २२ ॥
क्रव्यादा च तनुर्या ते सा सर्वं भक्षयिष्यति ।
यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ॥ २३ ॥
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ।
त्वमग्ने परमं तेजः स्वप्रभावाद्विनिर्गतम् ॥ २४ ॥
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो ।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ॥ २५ ॥

सौतिरुवाच— एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम् ।
जगाम शासनं कर्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ॥ २६ ॥

विश्वसृष्टि-कारी ब्रह्माजी ने उनकी वह बात सुनकर क्षय और उदय-वर्जित भूतभावन अग्नि को बुला करके मनभावन बातों में कहा, "हे अग्नि! तुम सर्वलोकों के कर्ता, संहर्ता, रक्षिता और अग्निहोत्रादि क्रियाओं के करानेवाले हो, अतएव हे लोकेश्वर, हुताशन! ऐसा करो कि जिनसे अग्निहोत्रादि क्रिया लोप न हो जांय। तुम लोकपाल होने पर भी क्यों ऐसे मुग्ध हो रहे हो? तुम पवित्र और अकेले सर्व लोकों की गति हुए हो; सो तुम सर्व शरीरसे सर्वभक्षक नहीं होंगे। हे शिखावान! तुम्हारे अपान भागमें जो सब शिखायें हैं, वे ही सर्वभक्षक होंगी और तुम्हारी जो मांसभोजी देह है, वह भी सर्व-भोजी होगी। जैसे सूर्यकिरण के स्पर्शसे हरेक वस्तु शुद्ध होती है, तैसेही तुम्हारी शिखा से जल कर सब वस्तु पवित्र होंगी। हे अग्ने! तुम निज प्रभाव से निकल कर परम तेज स्वरूप हुए हो, सो निज तेज ही से ऋषिके शापको सत्य कर दो और तुम्हारे मुह मे जिन वस्तुओं की आहुति चढाई जाती है, उनमे देवों का और अपना भाग ग्रहण करो। (१८–२५)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अग्नि "एवमस्तु" कहकर ब्रह्मा जी की बात मान कर के उनकी

देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ॥ २७ ॥
दिवि देवा मुमुदिरे भूतसंघाश्च लौकिकाः ।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ॥ २८ ॥
एवं स भगवाञ्छापं लेभेऽग्निर्भृगुतः पुरा ।
एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः ।
पुलोम्नश्च विनाशोऽयं च्यवनस्य च संभवः ॥ २९ ॥ [९४९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
पौलोमपर्वण्यग्निशापमोचने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

सौतिरुवाच— स चापि च्यवनो ब्रह्मन्भार्गवोऽजनयत्सुतम् ।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥
प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत् ।
रुरुः प्रमद्वरायां तु शुनकं समजीजनत् ॥ २ ॥
शुनकस्तु महासत्त्वः सर्वभार्गवनन्दनः ।
जातस्तपसि तीव्रे च स्थितः स्थिरयशास्ततः ॥ ३ ॥
तस्य ब्रह्मन्रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः ।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः ॥ ४ ॥

आज्ञा पालनेके निमित्त चले गये और देवता और ऋषिलोग भी हर्षित होकर निज निज स्थानमें पधारे। ऋषिगण पूर्ववत् क्रियादि करने लगे। देवलोकमें सम्पूर्ण जीव आनन्द भोगने लगे। अग्नि भी शापसे मुक्त होकर अति प्रसन्न हुए। भगवान हुताशन को इस प्रकारसे भृगु का शाप लगा था। यह अग्नि के शाप-सम्बन्धी इतिहास, पुलोमा राक्षस का नाश और च्यवन की उत्पत्ति कही गई। (२६—२९) [९४९]

आदि पर्व में सातवां अध्याय समाप्त।

आठवाँ अध्याय आरम्भ।

श्री उग्रश्रवाजी बोले कि हे ब्रह्मन्! भृगुनन्दन च्यवन ने सुकन्या नाम्नी स्त्री के गर्भ से प्रमति नामक एक तेजस्वी महात्मा पुत्र उत्पन्न किया। प्रमति ने भी घृताची के गर्भ से रुरु नामक पुत्रोत्पादन किया। रुरु ने प्रमद्वरा के गर्भ से शुनक नामक पुत्रको जन्म दिया। हे ब्रह्मन्! [illegible] अति तेजस्वी रुरु के चरित्र का सम्पूर्ण वृत्तान्त [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ऋषिरासीन्महान्पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः ।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः ॥ ५ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु मेनकायां प्रजज्ञिवान् ।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति स्मृतः ॥ ६ ॥
अप्सरा मेनका तस्य तं गर्भं भृगुनन्दन ।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति ॥ ७ ॥
उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरे जगाम सा ।
अप्सरा मेनका ब्रह्मन्निर्दया निरपत्रपा ॥ ८ ॥
कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया ।
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः ॥ ९ ॥
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम् ।
स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो महाद्विजः ॥१०॥
जग्राह च मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च ।
ववृधे सा वरारोहा तस्याऽऽश्रमपदे शुभे ॥ ११ ॥
जातकाद्याः क्रियाश्चाऽस्या विधिपूर्वं यथाक्रमम् ।
स्थूलकेशो महाभागश्चकार सुमहानृषिः ॥ १२ ॥
प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता ।
ततः प्रमद्वरेत्यस्य नाम चक्रे महानृषिः ॥ १३ ॥

सर्व भूतों के हितैषी स्थूलकेश नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे उन दिनों में गन्धर्व राज विश्वावसु के मीलन से मेनका नाम्नी अप्सरा गर्भवती हुई थी। अनन्तर निर्दयी, निर्लज्ञा मेनका यथाकाल में गंधर्व राजके ओरस जात उस गर्भ को स्थूलकेश ऋषिवर के आश्रम के निकट नदीतट पर गिरा कर चली गई। आगे उस तेजस्वी स्थूलकेश ऋषिने निर्जन नदी-तट पर छोडी, बंधुओं से उजाडी उस देव कन्यासी परम सुन्दरी कन्या को देखा। ऋषि श्रेष्ठ स्थूलकेशने उस नवजात कन्या को देखकर दयावश हो करके उठा लिया और पालने लगे। वह सुन्दरी कन्या ऋषिके पवित्र आश्रम में बढने लगी। महाभाग महर्षि स्थूलकेशने क्रमानुसार विधिपूर्वक कन्यावत् उस की जातकर्मादि क्रिया निर्वाह कराई। वह कन्या रूप सत्व तथा गुणादि में संपूर्ण प्रमदाओं से अच्छी होने लगी, इस लिये महर्षिने उस सुरूप और सद्गुणोंमे युक्त कन्या का नाम प्रमद्वरा रख दिया। (५-१३)

तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम् ।
बभूव किल धर्मात्मा मदनोपहतस्तदा ॥ १४ ॥
पितरं सखिभिः सोऽथ श्रावयामास भार्गवम् ।
प्रमतिश्चाऽभ्ययाचत्तां स्थूलकेशं यशस्विनम् ॥ १५ ॥
ततः प्रादात्पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम् ।
विवाहं स्थापयित्वाऽग्रे नक्षत्रे भगदैवते ॥ १६ ॥
ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते ।
सखीभिः क्रीडती सार्धं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ १७ ॥
नाऽपश्यत्संप्रसुप्तं वै भुजङ्गं तिर्यगायतम् ।
पदा चैनं समाक्रामन्मुमूर्षुः कालचोदिता ॥ १८ ॥
स तस्याः संप्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा ।
विषोपलिप्तान्दशनान्भृशमङ्गे न्यपातयत् ॥ १९ ॥
सा दष्टा तेन सर्पेण पपात सहसा भुवि ।
विवर्णा विगतश्रीका भ्रष्टाभरणचेतना ॥ २० ॥
निरानन्दकरी तेषां बन्धूनां मुक्तमूर्धजा ।
व्यसुरप्रेक्षणीया सा प्रेक्षणीयतमाऽभवत् ॥ २१ ॥
प्रसुप्तेवाऽभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता ।

अनन्तर एक समय धर्मात्मा रुरु उस आश्रम में प्रमद्वराको देखकर कामसे पीडित हुए। आगे रुरु ने अपने प्यारे साथीसे पिताके समीप अपना अभिप्राय प्रगट कराया। प्रमति ने भी यशस्वी स्थूलकेशजी से वह कन्या प्रार्थना की। प्रमद्वराके पिता स्थूलकेशने रुरु के निमित्त वह कन्या देदी। उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रमें उनके विवाह का दिन ठहरा। अनंतर विवाहके कई दिन पहिले अलौकिक रूपवती वह कन्या सहेलियों के संग खेल रही थी। उसने क्रीडास्थलमें टेढे भावसे पड़ा हुआ सर्प सोता था। पर प्रमद्वराने उसे न देखा, व मृत्युकाल आजानेसे मानो काल प्रेरणासे उस सर्प पर पग रखा. सर्पने भी उसे न जानती हुई बाला की देहमें विषैले दांतोंसे काटा। प्रमद्वराके सर्पके काटते ही उसका रंग बदला, शोभा बिगड़ी, देख सिरके गहने गिरे चेतना जाती रही, उसका देखने योग्य न रहा [illegible] देह धरती [illegible] [illegible] [illegible]

भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ॥ २२ ॥
ददर्श तां पिता चैव ये चैवाऽन्ये तपस्विनः ।
विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ॥ २३ ॥
ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः ।
स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ॥ २४ ॥
उद्दालकः कठश्चैव श्वेतश्चैव महायशाः ।
भरद्वाजः कौणकुत्स्य आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः ॥ २५ ॥
प्रमतिः सह पुत्रेण तथाऽन्ये वनवासिनः ।
तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम् ॥ २६ ॥
रुरुदुः कृपयाविष्टा रुरुस्त्वार्तो बहिर्ययौ ।
ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठास्तत्रैवोपाविशंस्तदा ॥ २७ ॥ [९७६]

इतिश्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
पौलोमपर्वणि प्रमद्वरासर्पदंशेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

सौतिरुवाच — तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वाऽतिदुःखितः ॥ १ ॥
शोकेनाऽभिहतः सोऽथ विलपन्करुणं बहु ।
अब्रवीद्वचनं शोचान्प्रियां स्मृत्वा प्रमद्वराम् ॥ २ ॥

भी उस सुमध्यमाने पुनः सुन्दर शोभा धारण की। स्थूलकेश और दूसरे तपस्वियों ने पद्मिनीके समान धरती पर लेटी हुई उस अचेत कन्या को देखा। (१४-२३)

अनन्तर ब्राह्मण लोग दयायुक्त होकर उसे देखने को उपस्थित हुए। स्वस्त्यात्रेय, महाजानु, कुशिक, शङ्खमेखल, उद्दालक, कठ, श्वेत, अतियशस्वी भरद्वाज, कौणकुत्स्थ, आर्ष्टिषेण, गौतम, प्रमति, उनके पुत्र रुरु और दूसरे वनवासी लोग आकर उस कन्या को सर्पविष से जली हुई और प्राणरहित देखकर रोने लगे, रुरु शोकाकुल होकर अन्यत्र चले गये। और सब ब्राह्मण वहांही बैठे रहे। (२४-२७) [९७६]

आदिपर्व मे आठवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमे नौवां अध्याय।

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि महात्मा ब्राह्मणो के उस स्थान में बैठने पर रुरु अति दुःखी होकर के घने वनमे घुमकर रोने लगे; और अति शोकसे विवश होकर करुण स्वरसे अनेक विलाप करते हुए प्यारी प्रमद्वरा का स्मरण

शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्धिनी ।
बान्धवानां च सर्वेषां किं नु दुःखमतः परम् ॥ ३ ॥
यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि ।
सम्यगाराधितास्तेन संजीवतु मम प्रिया ॥ ४ ॥
यथा च जन्मप्रभृति यतात्माऽहं धृतव्रतः ।
प्रमद्वरा तथाद्यैषा समुत्तिष्ठतु भामिनी ॥ ५ ॥
एवं लालप्यतस्तस्य भार्यार्थे दुःखितस्य च ।
देवदूतस्तदाऽभ्येत्य वाक्यमाह रुरुं वने ॥ ६ ॥

देवदूत उवाच — अभिधत्से ह यद्वाचा रुरो दुःखेन तन्मृषा ।
यतो मर्त्यस्य धर्मात्मन्नाऽऽयुरस्ति गतायुषः ॥ ७ ॥
गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता ।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथंचन ॥ ८ ॥
उपायश्चाऽत्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः ।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीमां प्रमद्वराम् ॥ ९ ॥

रुरुरुवाच — क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्त्वेन खेचर ।
करिष्येऽहं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ १० ॥

करके शोकसे कहने लगे." मेरा शोक बढाने वाली वह क्षीणांगी धरती पर सोती है. मेरे और मेरे बांधवों के लिये इस से क्या अधिक दुःख होगा! यदि मैने दान और गुरुजनों की अच्छी सेवा की हो, तो मेरी प्यारी जी उठे और यदि मै जन्म से व्रतशील और जितेंद्रिय रहा हूं, तो आज ही यह सुन्दरी प्रमद्वरा उठ खडी हो। (१-५)

वन में रुरु, स्त्रीके निमित्त शोकाकुल होकर ऐसा विलाप कर रहे थे कि ऐसे समय में देवदूत आकर उनसे यो बात बोले, ' हे धर्मात्मन रुरो! तुम दुःखी होकर जो कुछ कह रहे हो, सब व्यर्थ है क्योंकि जिसकी आयु पूरी हो गई है, वह फिर जीती नहीं। अप्सराके गर्भजात इस गन्धर्वकन्याकी आयु पूरी हो गई है इस लिए बेटा! तुम शोकसे चित्त को विकल मत करो, परन्तु महात्मा देवताओंने इसके लिए एक उपाय स्थिर किया है यदि वह करना चाहो, तो प्रमद्वरा को पा सकोगे। रुरु बोले " हे देवदूत! देवताओं ने क्या उपाय ठहराया है सच कहो मैं सुनकर उसके अनुसार कार्य करूंगा मुझे बचाओ। देवदूत बोला कि हे भृगुनन्दन रुरो!

देवदूत उवाच — आयुषोऽर्धं प्रयच्छ त्वं कन्यायै भृगुनन्दन।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा॥ ११॥
रुरुरुवाच — आयुषोऽर्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम।
शृङ्गाररूपाभरणा समुत्तिष्ठतु मे प्रिया॥ १२॥
सौतिरुवाच — ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम्॥ १३॥
धर्मराजाऽऽयुषोऽर्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा॥
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैवं यदि मन्यसे॥ १४॥
धर्मराज उवाच — प्रमद्वरां रुरोर्भार्यां देवदूत यदीच्छसि।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्धेन रुरोरेव समन्विता॥ १५॥
सौतिरुवाच — एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत्प्रमद्वरा।
रुरोस्तस्याऽऽयुषोऽर्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी॥ १६॥
एतद् दृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धमलुप्यत॥ १७॥
तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ॥ १८॥

तुम उस कन्या को अपनी आयुका आधाभाग दो, ऐसा करने ही से तुम्हारी पत्नी प्रमद्वराजी उठेगी।" रुरु बोले, "हे खेचरोत्तम! मैं उस विलासिनी कन्या को आयुका अर्द्धभाग देता हूं, मेरी प्यारी प्रमद्वरा शृंगार, रूप और आभूषणोंसे सुशोभिता होकर फिर जी जावे।" (६-१२)

सूतजी बोले, कि अनन्तर देवदूत और गंधर्वराज दोनों धर्मराज के समीप जाकर बोले, "हे धर्मराज! यदि आप अनुमति करें, तो रुरु की मरी स्त्री प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयु लेकरके कुशल लाभकर जी जासके।" धर्मराज बोले, "यदि तुम ऐसा ही चाहते हो, तो रुरु की भार्या प्रमद्वरा रुरु की आधी आयु पाकर फिर जी जावे।" धर्मराजके ऐसा कहने पर, वरवर्णिनी प्रमद्वरा रुरु की आधी आयु पाकर मानों निद्रा से जगने के समान उठ बैठी। भविष्यत् में भी यह देखने मे आवेगा, कि तेज-भरे रुरुजी की दीर्घ आयु का आधा अंश भार्या के निमित्त क्षय हुआ था। (१३-१७)

अनन्तर रुरु और प्रमद्वराके पिता प्रमति तथा स्थूलकेशने अति आनन्द से वांछित दिन मे उनका विवाह कर दिया। वह दम्पती परस्पर के हितवांछी होकर क्रीडा

स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिंजल्कसुप्रभाम् ।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः ॥ १९ ॥
स दृष्ट्वा जिह्मगान्सर्वांस्तीव्रकोपसमन्वितः ।
अभिहन्ति यथासत्त्वं गृह्य प्रहरणं सदा ॥ २० ॥
स कदाचिद्वनं विप्रो रुरुरभ्यागमन्महत् ।
शयानं तत्र चाऽपश्यड्डुण्डुभं वयसाऽन्वितम् ॥ २१ ॥
तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा ।
जिघांसुः कुपितो विप्रस्तमुवाचाऽथ डुण्डुभः ॥ २२ ॥
नाऽपराध्यामि ते किंचिदहमद्य तपोधन ।
संरंभाच्च किमर्थं मामभिहंसि रुषाऽन्वितः ॥ २३ ॥ [१११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
प्रमद्वरा जीवने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

—

रुरुरुवाच — मम प्राणसमा भार्या दष्टाऽऽसीद् भुजगेन ह।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः ॥ १ ॥
भुजङ्गं वै सदा हन्यां यं यं पश्येयमित्युत ।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेनाद्य मोक्ष्यसे २॥

डुण्डुभ उवाच — अन्ये ते भुजगा ब्रह्मन्ये दशन्तीह मानवान् ।

करने लगी। कमलतन्तु के समान रूपवती दुर्लभा भार्या को पाकर रुरुजी ने सर्पकुल का नष्ट करने का प्रण ठाना। सर्प देखते ही वह अति क्रोधवश होकर लाठी से अपनी शक्ति के अनुसार उसे नष्ट करते थे। एक दिन उन्होंने घने वनमें घुसकर देखा, कि एक बूढा डोंट-साप सोता है: उसे देखकर क्रोधित होकर यमदण्ड के समान छड़ी उठा करके उसको नष्ट करने को चले। यह देखकर डोंट बोला, "हे तपोधन! आज मैं ने तुम्हारी कोई हानि नहीं की, क्यों क्रोधवश होकर मुझ को मारते हो?"

डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥
एकानर्थान्पृथगर्थानेकदुःखान्पृथक्सुखान् ।
डुण्डुभान्धर्मविद् भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि॥ ४॥

सौतिरुवाच — इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा ।
नाऽवधीद्भयसंविग्नमृषिं मत्वाऽथ डुण्डुभम् ॥ ५ ॥
उवाच चैनं भगवान्रुरुः संशमयन्निव ।
कामं मां भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः॥६॥

डुण्डुभ उवाच— अहं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात् ।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

रुरुरुवाच — किमर्थं शप्तवान्क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम ।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद्भविष्यति ॥ ८ ॥ [१००७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
पौलोमपर्वणि रुरुडुण्डुभसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

डुण्डुभ उवाच— सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः ।

जाति के हैं, अत एव सर्प नाम की गन्ध पाते ही बिनविष डोंढ की हिंसा करनी उचित नहीं है। डोंढ जाति दूसरी जातियों के सर्पों से भिन्न प्रकार का सुख भोगती है और इन दोनों के लाभ के विषय भी अलग अलग हैं। पर अमंगल और दुःख भोगने के काल में दोनों समान हैं, अत एव धर्मशास्त्र में पण्डित होकर डोंढ-जातिकी हिंसा करनी आप को नहीं चाहिये। (१-४)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि महर्षि रुरुने सर्प की ऐसी बात सुनकर उसको भयसे जकडा हुआ डोंढ जानके वध नहीं किया। भगवान् रुरु उसको ढाडस देकर बोले, "हे भुजंग! मुझसे बोलो, कि तुम कौन हो, और किस कारण ऐसी दशाको प्राप्त हुए हो। डोंढ बोला, " हे रुरो! मै पहिले सहस्रपाद नामक ऋषि था, आगे ब्रह्मशाप मे सर्प बना हूं।" रुरु बोले, " हे सर्प-श्रेष्ठ! ब्राह्मण ने क्रोधित होकर किस हेतु तुमको शाप दिया था? और तुम कितने दिनोंतक सर्प-शरीर को आश्रय किये रहोगे?" (५-८) [१००७]

आदिपर्वमें दशवां अध्याय समाप्त।

—:०:—

आदिपर्व में ग्यारहवां अध्याय।

डोंढ बोला," पहिले खगम नामक सत्यवादी, तपोबली ब्राह्मण मेरे मित्र थे।

भृशं संशितवाक्तात तपोबलसमन्वितः ॥ १ ॥
स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णं भुजङ्गमम् ।
अग्निहोत्रे प्रसक्तस्तु भीषितः प्रमुमोह वै ॥ २ ॥
लब्ध्वा स च पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः ।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक्संशितव्रतः ॥ ३ ॥
यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्विभीषया ।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम शापाद्भविष्यसि ॥ ४ ॥
तस्याहं तपसो वीर्यं जानमानस्तपोधन ।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचमहं तदा ॥ ५ ॥
प्रणतः संभ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः ।
सखेति सहसेदं ते नर्मार्थं वै कृतं मया ॥ ६ ॥
क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मञ्छापोऽयं विनिवर्त्यताम् ।
सोऽथ मामब्रवीद्दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम् ॥ ७ ॥
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसंभ्रान्तस्तपोधनः ।
नाऽनृतं वै मया प्रोक्तं भवितेदं कथंचन ॥ ८ ॥
यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे तपोधन ।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु सदानघ ॥ ९ ॥

उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः ।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता न चिरादिव ॥ १० ॥
स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजोऽपि च ।
स्वरूपं प्रतिपद्याऽहमद्य वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ११ ॥
स डौण्डुभं परित्यज्य रूपं विप्रर्षभस्तदा ।
स्वरूपं भास्वरं भूयः प्रतिपेदे महायशाः ॥ १२ ॥
इदं चोवाच वचनं रुरुमप्रतिमौजसम् ।
अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर ॥ १३ ॥
तस्मात्प्राणभृतः सर्वान्न हिंस्याद्ब्राह्मणः क्वचित् ।
ब्राह्मणः सौम्य एवेह भवतीति परा श्रुतिः ॥ १४ ॥
वेदवेदाङ्गविन्नाम सर्वभूताभयप्रदः ।
अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ॥ १५ ॥
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणाऽपि च ।
क्षत्रियस्य हि यो धर्मः स हि नेष्येत वै तव ॥ १६ ॥
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ।
तदिदं क्षत्रियस्याऽऽसीत्कर्म वै शृणु मे रुरो ॥ १७ ॥
जनमेजयस्य यज्ञेऽस्मिन्सर्पाणां हिंसनं पुरा ।
परित्राणं च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ॥ १८ ॥
तपोवीर्यबलोपेताद्वेदवेदाङ्गपारगात् ।

उनको देखकर शीघ्र ही तुम मेरे शापसे मुक्त होगे। आप ही वह प्रमतिपुत्र प्रसिद्ध रुरुजी हैं, अतएव मैं इस समय अपना स्वरूप पाकर आपको कुछ हितोपदेश करूंगा। सूतपुत्रजी बोले, कि यह कह कर वह यशस्वी द्विजवर सर्परूप छोडकर अपना सुन्दर शरीर प्राप्त हुए और अति तेजस्वी रुरुजी से बोले, "हे सर्वजीवश्रेष्ठ ! अहिंसा ही परम धर्म है, अत एव ब्राह्मण हो करके किसी जीव की हिंसा न कीजिये। सुना है, कि ब्राह्मण को शान्तचित्त, वेद-वेदांगविद् और सर्व भूतों का अभयदाता होना चाहिये। अहिंसा, सत्यवचन, क्षमा और वेदाभ्यास, यह ही ब्राह्मण के परम धर्म हैं। दण्डधारण, उग्रता और प्रजापालन रूपी जो क्षत्रिय के धर्म है, वह आपके लिये मंगलदायी नहीं है। वह क्षत्रिय ही के कार्य हैं, हे द्विजोत्तम रुरो ! आप श्रवण कीजिये। पूर्वकालमें राजा जनमेजयने सर्पयज्ञ में सर्पोंकी हिंसा की थी, पर तपोवीर्यबल, वेद-वेदांगविद्,

आस्तीकाद् द्विजमुख्याद्वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ॥१९॥ [१०२६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि पौलोमपर्वणि डुण्डुभशापमोक्षे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

रुरुरुवाच — कथं हिंसितवान्सर्पान्स राजा जनमेजयः ।
सर्पा वा हिंसितास्तत्र किमर्थं द्विजसत्तम ॥ १ ॥
किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन धीमता ।
आस्तीकेन द्विजश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच — श्रोष्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत् ।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वाऽन्तरधीयत ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच — रुरुश्चाऽपि वनं सर्वं पर्यधावत्समन्ततः ।
तमृषिं नष्टमन्विच्छन्संश्रान्तो न्यपतद्भुवि ॥ ४ ॥
स मोहं परमं गत्वा नष्टसंज्ञ इवाऽभवत् ।
तदृषेर्वचनं तथ्यं चिन्तयानः पुनः पुनः ॥ ५ ॥
लब्धसंज्ञो रुरुश्चाऽयात्तदाऽऽचख्यौ पितुस्तदा ।
पिता चाऽस्य तदाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ६ ॥ [१०३२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि पौलोमपर्वणि [illegible] द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तमिदं पौलोमपर्व ॥

द्विजश्रेष्ठ आस्तीक मुनिसे भयार्त सर्पों की रक्षा हुई थी।" (१-१९)[१०२६]

आदिपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में बारहवां अध्याय।

रुरुजी बोले,"हे द्विजश्रेष्ठ! राजा जनमेजय ने किस हेतु और किस प्रकारसे सर्पों को नष्ट किया था? धीमान आस्तीक मुनि जी ने फिर किस हेतु उनकी रक्षा की थी? मैं यह सब सुनना चाहता हूं।" ऋषिवर बोले,"हे रुरो! तुम ब्राह्मणोंके मुखसे अति महत् आस्तीक-वृत्तान्त सुन लेना।" सूतपुत्र बोले, कि यह कह कर वह ऋषि गायब हुए। रुरु उस ऋषिको आगे न देखके उनकी खोजमें उस वनमें चारों ओर दौडने लगे. अन्तमें थक कर धरती पर गिर जाकर मोहयुक्त तथा अचेतन से बने और बीच बीच में उस ऋषि के विषय में सोचने लगे। अनन्तर उन्होंने चेतना पाकर पिताके समीप आ करके सम्पूर्ण वृत्तान्त और आस्तीक जी की कथा पूछा। उनके पिताने भी प्रारम्भ से अन्त तक संपूर्ण कथा सुनाई। (१-६) [[illegible]-३२]

आदिपर्वमें बारहवां अध्याय समाप्त।
[illegible]

अथाऽऽस्तीकपर्व।

शौनक उवाच— किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः ।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद्वदस्व मे ॥ १ ॥
निखिलेन यथा तत्त्वं सौते सर्वमशेषतः ।
आस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जपतां वरः ॥ २ ॥
मोक्षयामास भुजगान्प्रदीप्ताद्वसुरेतसः ।
कस्य पुत्रः स राजाऽऽसीत्सर्पसत्रं य आहरत् ॥ ३ ॥
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रोऽभिधत्स्व मे ।
सौतिरुवाच — महदाख्यानमास्तीकं यथैतत्प्रोच्यते द्विज ॥ ४ ॥
सर्वमेतदशेषेण शृणु मे वदतां वर ।
शौनक उवाच —श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ॥ ५ ॥
आस्तीकस्य पुराणर्षेर्ब्राह्मणस्य यशस्विनः ।
सौतिरुवाच —इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ॥ ६ ॥
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिषु ।
पूर्वं प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः ॥ ७ ॥
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणेष्विदमुक्तवान् ।
तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ८ ॥

आदिपर्व में तेरहवा अध्याय। आस्तीकपर्व ।

श्री शौनक जी बोले, "हे सूतनन्दन! भूपालों में सिंहरूपी राजा जनमेजय ने किस हेतु सर्पयज्ञ का अनुष्ठान कर सर्पों को नष्ट किया था; और द्विजश्रेष्ठ तपस्वी आस्तीक मुनि जी ने किस कारण से प्रज्वलित अग्नि से सर्पों की रक्षा की थी, उन सबों का सच्चा हाल विशेष कर के वर्णन करो। जिस राजर्षिने सर्पयज्ञ का अनुष्ठान किया था, वह किसके पुत्र हे? और वह द्विजवर आस्तीक जी फिर किसके पुत्र हैं? यह मुझसे बोलो।" सूतपुत्र बोले, "हे वाग्मिन्! मैं अति बृहत् आस्तीक वृत्तान्त को विशेष करके संपूर्ण कीर्तन करता हूं, श्रवण कीजिये।"

श्री शौनक जी बोले, "पुरातन ऋषि ब्रह्मनिष्ठ आस्तीक जी की यह मनहरणी कथा विस्तृत रूपसे सुनना चाहता हूं।" सौति जी बोले, "हे शौनक! ब्राह्मण गण इस इतिहास को पुराण करके कीर्तन किया करते हैं। पहिले व्यासदेव के शिष्य बुद्धिमान् सूतकुलोद्भव मेरे पिता लोमहर्षणजी ने नैमिषारण्यवासी ब्राह्मणोंसे पूछे जाकर महाराज श्री कृष्ण द्वैपायनजी का रचा हुआ यह उपाख्यान

इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते ।
कथयिष्याम्यशेषेण सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥
आस्तीकस्य पिता ह्यासीत्प्रजापतिसमः प्रभुः ।
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ॥ १० ॥
जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महातपाः ।
यायावराणां प्रवरो धर्मज्ञः संशितव्रतः ॥ ११ ॥
स कदाचिन्महाभागस्तपोबलसमन्वितः ।
चचार पृथिवीं सर्वां यत्रसायंगृहो मुनिः ॥ १२ ॥
तीर्थेषु च समाप्लावं कुर्वन्नटति सर्वशः ।
चरन्दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ॥ १३ ॥
वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्ननिमिषो मुनिः ।
इतस्तत परिचरन्दीप्तपावकसप्रभः ॥ १४ ॥
अटमानः कदाचित्स्वान्स ददर्श पितामहान् ।
लम्बमानान्महागर्ते पादैरूर्ध्वैरवाङ्मुखान् ॥ १५ ॥
तानब्रवीत्स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान् ।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्ते ह्यस्मिन्नधोमुखाः ॥ १६ ॥
वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते ।

कीर्तन किया था। मै उनके मुखमे जैसा सुन चुका हूं, आपके प्रश्नानुसार उस सर्वपापनाशी आस्तीक उपाख्यान को ठीक उसी प्रकार से ज्यों का त्यों वर्णन करता हूं।" (१—९)

आस्तीक जीके पिताका नाम जरत्कारु है। वह ब्रह्मा के समान प्रभावी ब्रह्मचारी, नियमित भोजी, महातपस्वी, सदा कठोर तपमें नियुक्त, ऊर्ध्वरेता, यायावरवंशतिलक, धर्मज्ञ, व्रतशील और तपोबली थे। वह महात्मा मुनिवर सदा यत्र-सायंगृह हो करके (अर्थात् जहां कहीं सन्ध्या उपस्थित हो, वहीं रहके) भूमण्डल में भ्रमण करते थे। बीच बीच में तीर्थस्नान और तीर्थाटन करते रहे। प्रज्वलित अग्निके समान महा तेजःप्रभावी वह ऋषि कभी गलित पत्र भोजन कर, कभी वाताहार कर, कभी आहार त्याग कर, शरीर सुखाकर निद्रा छोड़कर, घूमा करते थे। एक दिन उन्होंने भ्रमण करते हुए देखा, कि उनके पितामहगण एक बड़े गढ़े में लटके हैं, उनके पैर ऊपर और मुंह नीचे की ओर है। जरत्कारुने यह देखते ही पूछा [illegible] तुम कौन हो ? और किस हेतु इस तरह [illegible]

मूषकेन निगूढेन गर्तेऽस्मिन्नित्यवासिना ॥ १७ ॥
पितर ऊचु. ॥ —यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ॥ १८ ॥
अस्माकं संततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥१९॥
न स पुत्राञ्जनयितुं दारान्मूढश्चिकीर्षति ।
तेन लम्बामहे गर्ते सन्तानस्य क्षयादिह ॥ २० ॥
अनाथास्तेन नाथेन यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
कस्त्वं बन्धुरिवाऽस्माकमनुशोचसि सत्तम ॥ २१ ॥
ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन्को भवानिह नःस्थितः ।
किमर्थं चैव नः शोच्याननुशोचसि सत्तम ॥ २२ ॥
जरत्कारुरुवाच— मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ॥ २३ ॥
पितर ऊचु — यतस्व यत्नवांस्तात संतानाय कुलस्य नः ।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव वा विभो ॥ २४ ॥
न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः ।

छिपे रहनेवाले मूषों से प्राय काटे हुए खसखसके गुच्छे मे लटककर नीचे मुह किये रहते हो?" पितरों ने कहा, "हम यायावर नामक व्रतशील ऋषि है। हे ब्रह्मन्! वंश लोप होनेकी संभावनासे हमारी अधोगति हो रही है। पर इन बुरे भाग्यवालों की जरत्कारु नामक एक दुर्भाग्य सन्तान है। उस मूर्खने केवल तप ही का आश्रय किया है; पुत्रोत्पादन के निमित्त विवाह करना नहीं चाहता। अत एव वंशलोप की संभावना होने पर हम इस गड्ढे मे लटके हुए है। हम लोग नाथ रहने पर भी पापिष्ठ के समान अनाथ होकर नीचे गिर रहे है। हे निष्पाप साधु शिरोमणि! तुम कौन हो, कि हमारे मित्रके सदृश चिन्ता करते हो? हे ब्रह्मन्! हम जानना चाहते है, कि तुम कौन हो और किस हेतु हमारी शोचनीय दशा देखकरके यहां खडे होकर शोक प्रकाश कर रहे हो?' जरत्कारुजी बोले, "मेरा ही नाम जरत्कारु है, आप लोग मेरे ही पितृपितामहादि पूर्व पुरुष है; इस समय आज्ञा कीजिये, कि मुझको क्या करना होगा। पितृगण बोले "बेटा! तुम हम को, अपने को और धर्म को बचानेके निमित्त सचेष्ट हो करके हमारा

तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै॥ २५ ॥
तद्दारग्रहणे यत्नं संतत्यां च मनः कुरु।
पुत्रकाऽस्मान्नियोगात्त्वमेतन्नः परमं हितम् ॥ २६ ॥
जरत्कारुरुवाच —न दारान्वै करिष्येऽहं न धनं जीवितार्थिनः।
भवतां तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम् ॥ २७ ॥
समयेन च कर्ताऽहमनेन विधिपूर्वकम्।
यथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नाऽन्यथा ह्यहम् ॥ २८ ॥
सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ॥ २९ ॥
दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः।
प्रतिग्रहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित्प्रदास्यति ॥ ३० ॥
एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः।
अनेन विधिना शश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा ॥ ३१ ॥
तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम ॥ ३२॥ १०६४)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुपितृसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

वंश बढाओः हे तात! पुत्रवान् पुरुष जैसी सद्गति प्राप्त करते है, दूसरे बहुदिनों के बटोरे हुए तप अथवा दूसरे पुण्यफल से भी तैसी सद्गति पा नहीं सकते। हे पुत्र! इस हेतु तुम स्त्रीग्रहण और सन्तानोत्पादन में चित्त लगाओ। हम तुम को आज्ञा करते है, कि यही हमारा परम कल्याणकारी होगा। जरत्कारुजी बोले, "मै भोगके निमित्त स्त्रीग्रहण वा धनार्जन न करूंगा, पर आपके हितानुष्ठान के लिये विवाह करूंगा। कन्या, यदि मेरे नाम की हो, और उसके बंधुवर्ग स्वेच्छापूर्वक दान करें, तो उस कन्या को भिक्षा के समान ग्रहण कर विधिपूर्वक विवाह करना स्वीकार करता हूं। इस नियम के अनुसार यदि कन्या पाऊंगा, तो आप की आज्ञा अन्यथा न होगी। मै विधि-पूर्वक विवाह करूंगा। पर हे पितृगण! मै दरिद्र हूं कौन मुझे कन्यादान करेगा? परन्तु यदि कोई दान करे, तो मै उसको भी उसको लूंगा, इसमें सन्देह नहीं। उससे जो पुत्र उत्पन्न होंगे वह आपको उद्धार करेंगे। जिससे आप लोग भी शाश्वत स्थान पाकर परम आनन्दसे समय बितावेंगे। २५–३२
[१०६४] आदिपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त

सौतिरुवाच — ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत ॥ १ ॥
स कदाचिद्वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन्।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव॥ २ ॥
तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा ।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन्॥ ३ ॥
सनाम्नीं चोद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि ।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः ॥ ४ ॥
तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः ।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजङ्गम ॥ ५ ॥
वासुकिरुवाच — जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम ।
प्रतिगृह्णीष्व भार्यार्थे मया दत्तां सुमध्यमाम्।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
एवमुक्त्वा ततः प्रादाद्भार्यार्थे वरवर्णिनीम् ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ७ ॥ (१०७१)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि वासुकिस्वसृवरणे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

सौतिजी बोले, कि अनन्तर वह ब्रह्मचारी व्रतशील जरत्कारु, संसार-आश्रम में प्रवेशार्थ विवाह करनेके निमित्त धरणी मण्डल घूम आये, पर किसी स्थान में भी योग्य पत्नी प्राप्त नहीं हुए। एक समय उन्हों ने कन्या-भिक्षार्थ वनमें प्रवेश कर पितृवाक्य स्मरण करके कुछ चिल्लाकर तीन वार प्रार्थना की बातें कहीं, उस समय नागराज वासुकि उन को अपनी भगिनी दान करने को उद्यत हुए। पर उस कन्या को अपने नाम की न समझ कर महात्मा जरत्कारु एकायक ग्रहण न करके सोचने लगे, कि मैं ने यह प्रतिज्ञा की है, कि यदि कन्या निज नामकी हो और उसके बंधुगण स्वेच्छापूर्वक दान करे, तभी ग्रहण करूंगा। ऐसी चिंता कर वह महाप्राज्ञ तपःप्रभावी जरत्कारु जी वासुकि से बोले "हे भुजंग! सच बोलो, तुम्हारी इस बहिन का क्या नाम है?" वासुकि बोले, "हे जरत्कारो! मेरी इस अनुजा का नाम जरत्कारु है, मैं इस सुमध्यमाको दान करता हूं, भार्यार्थ ग्रहण करो। हे द्विजोत्तम! मैंने इस भगिनी को तुम्हारे निमित्त रख छोड़ा है, प्रतिग्रह करो।" वासुकीने यह बात कह कर उन को अपनी सुन्दरी भगिनी संप्रदान की। जरत्कारुने भी वेद विधि के

सौतिरुवाच — मात्रा हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदां वर ।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ॥ १ ॥
तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः ।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय महात्मने ॥ २ ॥
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महात्मनः ॥ ३ ॥
तपस्वी च महात्मा च वेदवेदांगपारगः ।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः ॥ ४ ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य पाण्डवेयो नराधिपः ।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः ॥ ५ ॥
तस्मिन्प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै ।
मोचयामास तान्नागानास्तीकः सुमहातपाः ॥ ६ ॥
भ्रातॄंश्च मातुलांश्चैव तथैवाऽन्यान्स पन्नगान् ।
पितॄंश्च तारयामास संतत्या तपसा तथा ॥ ७ ॥
व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन्स्वाध्यायैश्चाऽनृणोऽभवत् ।
देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ ८ ॥

अनुसार विवाह के संस्कार-कर्मके पश्चात् उस कन्यासे विवाह किया । (१-७)

[१०७१] आदिपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें पन्द्रहवां अध्याय ।

सौतिजी बोले, हे वेदनिपुण ! पहिले सर्पमाताने सर्पों को यह शाप दिया था, कि " महाराज जनमेजय के यज्ञ में अग्नि-देवता तुम को जलावेंगे । " नागराज वासुकिने उस शाप की शान्ति के निमित्त व्रतशील, तपस्वी जरत्कारु ऋषिको बहिन दान की । जरत्कारु ने भी वेदविधिके अनुसार उससे विवाह किया । कुछ कालान्तर उस कन्याके गर्भमें आस्तीक नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह वेदवेदाङ्ग में पण्डित, तपस्वी, महानुभाव सब भूतों को तुल्य देखनेवाले और पितृ-मातृ कुलों के भयनाशी हुए थे । अनन्तर बहुदिनों के पश्चात्, पाण्डवनन्दन नरेश जनमेजयने वेदके अनुसार सर्पसत्र नामक महायज्ञ का प्रारंभ किया । सुना जाता है, कि सर्पकुलको नाश करनेके निमित्त उस यज्ञ के आरम्भ होने पर महातपस्वी आस्तीक ने भाई, मामा और दूसरे सर्पों को सर्पसत्र के शापसे बचाया था । और उन सन्तानो-त्पादन तथा तपस्या से पितरों का उद्धार कर और व्रत पाठ और [illegible]

ऋणांश्च ब्रह्मचर्येण संतत्या च पितामहान् ।
अपहृत्य गुरुं भारं पितृणां संशितव्रतः ।
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः ॥ ९ ॥
आस्तीकं च सुतं प्राप्य धर्मं चाऽनुत्तमं मुनिः ।
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमेयिवान् ॥ १० ॥
एतदाख्यानमास्तीकं यथावत्कथितं मया ।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किमन्यत्कथयामि ते ॥ ११ ॥ (१०८२)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सर्पाणां मातृशापप्रस्तावे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

शौनक उवाच— सौते त्वं कथयस्वेमां विस्तरेण कथां पुनः ।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः ॥ १ ॥
मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया ।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ॥ २ ॥
अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव ।
आचष्टैतद्यथाऽऽख्यानं पिता ते त्वं तथा वद ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच— आयुष्मन्निदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते ।

उनके निकट उऋण भी हुए;एवं भांतिभांति के दक्षिणायुक्त यागोंसे देवताओंके और ब्रह्मचर्य से ऋषियों के ऋण से मुक्त हुए थे। हे भृगुश्रेष्ठ ! व्रतशील जरत्कारु इस प्रकार से पितरों के कठिनभार के पालन कर और आस्तीक नामक पुत्र पाकर धर्मार्जन करके बहुतदिन पीछे पितरोंके साथ शाश्वत स्वर्ग प्राप्त हुए । मै यह आस्तीक का आख्यान ठीक ठीक कह गया; अब आज्ञा कीजिये , कि फिर क्या कहूं।(१—११)

[१०८२] आदिपर्वमें पन्द्रहवा अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें सोलहवा अध्याय।

शौनकजी बोले, "हे सूतनन्दन ! साधु स्वभावी आस्तीक ऋषि की कथा फिर विस्तृत रूप से कहो; उसे सुनने की मुझे बडी इच्छा है। विशेष करके तुम जो कुछ कहते जाते हो,वह बडी मीठी और सुन्दर जान पडती है। तुम अपने पिताके समान जिस प्रकारसे पुराण कह रहे हो, उससे हम लोग बडी प्रसन्नता लाभ कर रहे हैं, तुम्हारे पिता सदा हमारी सेवा के निमित्त जिसप्रकार पुराण कीर्त्तन करते रहे, तुम भी ठीक उसी प्रकार कहे जाओ।" (१–३)

श्री सौतिजी बोले, कि हे सदाजीविन्! मै ने यह आस्तीक कथा पिताजी से जैसे

यथाश्रुतं कथयतः सकाशाद्वै पितुर्मया ॥ ४ ॥
पुरा देवयुगे ब्रह्मन्प्रजापतिसुते शुभे ।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघ ॥ ५ ॥
ते भार्ये कश्यपस्याऽऽस्तां कद्रूश्च विनता च ह ।
प्रादात्ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः ॥ ६ ॥
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युत ।
वरातिसर्गं श्रुत्वैवं कश्यपादुत्तमं च ते ॥ ७ ॥
हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतु स्म वरस्त्रियौ ।
वव्रे कद्रूः सुतान्नागान्सहस्रं तुल्यवर्चस ॥ ८ ॥
द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रूपुत्राधिकौ बले ।
तेजसा वपुषा चैव विक्रमेणाऽधिकौ च तौ ॥ ९ ॥
तस्यै भर्ता वरं प्रादादत्यर्थं पुत्रमीप्सितम ।
एवमस्त्विति तं चाऽऽह कश्यपं विनता तदा ॥१०॥
यथावत्प्रार्थितं लब्ध्वा वरं तुष्टाऽभवत्तदा ।
कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ॥११॥
कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यवर्चसाम ।
धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ॥ १२ ॥

सुनो, ठीक वैसे ही कहे जाता हूं, सुनिये। पहिले सत्ययुग में कद्रू और विनता नाम्नी आश्चर्य रूपवती, सुन्दर लक्षणों से सुहाती दो कन्या थी। वे दक्ष प्रजापति की पुत्री और कश्यप मुनि की स्त्री थीं। प्रजापति सदृश कश्यप ने उन दोनो धर्मपत्नियों पर अति प्रसन्न होकर उनकी इच्छानुरूप वर देना चाहा। उनकी स्त्रियोंने भी पतिसे अभीष्ट वर पानेकी बात सुनकर हृदयमें अति प्रीति और प्रफुल्लता लाभ की। पहिले कद्रूने प्रार्थना की, कि मेरे गर्भसे तुल्य तेजवान सहस्र नाग उत्पन्न हों। विनता ने प्रार्थना की, कि बल, प्रभाव, सुन्दरता, और तेज में कद्रू के पुत्रों से श्रेष्ठ केवल दो ही पुत्र मेरे गर्भ से जन्म लें। विनता ने स्वामी से प्रार्थना के अनुसार पुत्र का वर पाकर उनसे "एवमस्तु" कह करके प्रार्थित वरलाभ से प्रसन्न हो कर अति बलवान दो पुत्रों के पाने की आशा से सन्तुष्टता लाभ की। कद्रूने भी तुल्य प्रभावी एक सहस्र पुत्रोंका वर पाकर अपने को कृतार्थ समझा। अनन्तर महातपस्वी कश्यपजी इच्छानुसार वर पाने से सन्तोष लाभ की हुई दोनों

ते भार्ये वरसंतुष्टे कश्यपो वनमाविशत् ।

सौतिरुवाच — कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ॥ १३ ॥

जनयामास विप्रेन्द्र द्वे चाऽण्डे विनता तदा ।

तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारका ॥ १४॥

सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्चवर्षशतानि च ।

ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः । ॥१५॥

अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न दृश्यत ।

ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ॥१६॥

अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमपश्यत ।

अध्यर्धकायसंपन्नमितरेणाऽप्रकाशता ॥ १७ ॥

स पुत्रः क्रोधसंरब्धः शशापैनामिति श्रुतिः ।

योऽहमेवं कृतो मातस्त्वया लोभपरीतया॥ १८ ॥

शरीरेणाऽसमग्रेण तस्माद्दासी भविष्यसि ।

पञ्चवर्षशतान्यस्या यया विस्पर्धसे सह ॥ १९ ॥

एष च त्वां सुतो मातर्दासीत्वान्मोचयिष्यति ।

यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाऽण्डविभेदनात् ॥२०॥

न करिष्यस्यनङ्गं वा व्यङ्गं वाऽपि तपस्विनम् ।

पत्नियों को यह कह कर कि "तुम अति यत्नसे गर्भ धारण किये रहना" वन को पधारे। (४-१२)

श्री सौतिजी बोले, बहुत दिनों के पश्चात् कद्रू ने एक सहस्र अण्डे और विनताने दो अण्डे प्रसव किये। तब सेविकाओं ने प्रफुल्ल हृदय से उन अण्डों को गर्म भांडोंमें पांच सौ वर्षों तक रखा। अनन्तर कद्रूके अण्डोंमें सहस्र पुत्र उत्पन्न हुए, परन्तु विनताके अण्डे उसी दशामें रहे। इससे तपस्विनी देवी विनता ने लज्जा पाकर पुत्र पानेके निमित्त एक अण्डेको स्वयं तोडकर देखा, कि पुत्र का पूर्वार्ध शरीर मात्र उत्पन्न हुआ है, शेषार्ध अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। सुना जाता है, कि उस पुत्रने क्रोधित होकर विनता को यह शाप दिया, कि हे माता! तुमने पुत्र देखने के लोभसे जैसे मेरे अंग बिगाड दिये, वैसे ही जिससे अहंकार दिखा रही हो, उसी कद्रू ही की पांच सौ वर्षों तक दासी बनी रहोगी। माता! यदि तुम इस दूसरे अण्डे को भी फोड कर उस यशस्वी पुत्र को भी अङ्गहीन वा विकलांग न करो, तो वह होनेवाला पुत्र

प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया ॥ २१ ॥
विशिष्टं बलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात्परः ।
एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः ॥ २२ ॥
अरुणो दृश्यते ब्रह्मन्प्रभातसमये सदा ।
आदित्यरथमध्यास्ते सारथ्यं समकल्पयत् ॥ २३ ॥
गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगभोजनः ।
स जातमात्रो विनतां परित्यज्य खमाविशत् ॥ २४ ॥
आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत् ।
विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितः पतगेश्वरः ॥ २५ ॥ (११०७)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पादीनामुत्पत्तौ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सौतिरुवाच— एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन ।
अपश्यतां समायान्तमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ १ ॥
यं तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपमपूजयन् ।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ॥ २ ॥
अमोघबलमश्वानामुत्तमं जवतां वरम् ।

तुमको दासीपन से मुक्त करेगा। हे माता! यदि तुम अण्डे के भीतर के पुत्र का विशेष बल चाहती हो, तो धैर्यके साथ पांच सौ वर्षोंतक उस पुत्र के जन्म का समय ताकती रहो। (१३-२२)

अरुणने विनता को इस प्रकार शाप देकर आकाश मार्ग में चढ कर के सूर्यके सारथिका कार्य प्रारंभ किया। हे ब्रह्मन्! सदा प्रातः काल में वह अरुण सूर्यके रथ पर दिखाई देता है। और उचित समय पर सर्पभोजी गरुड भी उत्पन्न हुए। हे भृगुशार्दूल! वह पक्षीराज जन्म लेते ही और क्षुधित होकर विनता को छोड कर के विधाता के नियमित भोजन की खोजमें आकाश-मार्ग में चढ गये। (२३-२५) [११०७]

आदिपर्व में सोलहवां अध्याय समाप्त।

श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणपूजितम् ॥ ३ ॥

शौनक उवाच— कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे।
यत्र जज्ञे महाराजः सोऽश्वराजो महाद्युतिः ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच— ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम्।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः॥५॥
कनकाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ॥ ६ ॥
व्यालैरावारितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम् ॥ ७ ॥
अगम्यं मनसाऽप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानापतगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ॥ ८ ॥
तस्य शृङ्गमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम्।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः ॥ ९ ॥
ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्राऽऽसीना दिवौकसः।
अमृताय समागम्य तपोनियमसंयुताः ॥ १० ॥

है, वही उच्चैःश्रवा उनके पास से चला जाता है। (१-३)

श्री शौनक जी बोले, " हे सूत! हमसे कहो, कि देवताओं ने कहां और क्यो समुद्र मथन किया था, जिस से वह महावीर्यवान् और अति सुहावना अश्वराज उच्चैश्रवा उत्पन्न हुआ? सौतिजी बोले, कि जलती हुई ज्योति की भांति सुमेरु नामक एक अति सुन्दर पर्वत सोनेसे मढी हुई चोटी मे सूर्य की प्रभा रोक कर खडा है, उसके भीतर का सुन्दर सुवर्ण ही उसके आभूषण के समान हुआ है। उस पर्वतपर देवता और गंधर्वलोग विराजमान हैं, उसे माप कर अन्त पाने की शक्ति किसी की नही है। अधर्मी लोग उस पर पैर भी रख नही सकते; वह पर्वत घोर रूप, भयानक सर्पों से घेरा हुआ और सुन्दर औषधियोंसे सुशोभित है, उस महागिरिने ऊंचाई में आकाशमार्ग को ढांप रखा है; कोई प्राकृत पुरुष वहां मनसे भी पहुंचने को सामर्थ्य नही रखता; वहां अगणित नद, नदी, वृक्ष सुशोभित है और भांति भांतिके कीडे मकोडे मीठे कलरव मचा रहे हैं। अतितेजस्वी तथा महाशक्तिशाली सम्पूर्ण देवता एकत्र होकर उस पर्वतकी आकाशसमान सीमारहित और विविध रत्नों से सुहावनी मनहरणी चोटी पर चढके बैठ कर अमृत

तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत्
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः ॥ ११ ॥
देवैरसुरसंघैश्च मथ्यतां कलशोदधिः ।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ ॥ १२ ॥
सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह ।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः ॥ १३ ॥ (११२०)

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थने

सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच— ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम् ।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमाकुलम् ॥ १ ॥
नानाविहगसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम् ।
किंनरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम् ॥ २ ॥
एकादश सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम् ।
अधो भूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
तमुद्धर्तुमशक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा ।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ॥ ४ ॥
भवन्तावत्र कुर्वीतां बुद्धिं नैःश्रेयसीं पराम् ।

मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियतां च हिताय नः ॥ ५ ॥

सौतिरुवाच — तथेति चाऽब्रवीद्विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव ।
अचोदयदमेयात्मा फणीन्द्रं पद्मलोचनः ॥ ६ ॥
ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः ।
नारायणेन चाऽप्युक्तस्तस्मिन्कर्मणि वीर्यवान् ॥७॥
अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः ।
उज्जहार बलाद्ब्रह्मन्सवनं सवनौकसम् ॥ ८ ॥
ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे ।
तमूचुरमृतस्याऽर्थे निर्मथिष्यामहे जलम् ॥ ९ ॥
अपांपतिरथोवाच ममाऽप्यंशो भवेत्ततः ।
सोढाऽस्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ॥ १० ॥
ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारे सुरासुराः ।
अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान्भवितुमर्हति ॥ ११ ॥
कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम् ।
तं शैलं तस्य पृष्ठस्थं यन्त्रेणेन्द्रो न्यपीडयत् ॥ १२ ॥
मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम् ।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥१३॥

विष्णुजी के समीप जाकर कहा, कि आप हमारे हित करने के निमित्त मन्दर पर्वत को उखाडने की आज्ञा दीजिये। (१-५)

सूतपुत्रजी बोले, कि हे भृगुकुलोत्पन्न! ब्रह्मदेवके साथ अतर्क्य स्वरूप कमलनयन महाविष्णुने 'ठीक है' ऐसा कहके शेष को प्रेरित किया। अनन्तर महाबली अनन्तने उठकर वनों से भरे और कराल सर्पजन्तुओंसे घेरे उस पर्वतराज मन्दर को बलसे उखाडा। आगे देवगण उसके साथ समुद्रतट पर उपस्थित हुए और समुद्र से कहा, कि हम अमृत के निमित्त तुम्हारा जल मथन करेंगे। समुद्र ने कहा, कि यदि मुझको अमृत का अंश देना स्वीकार करो, तो मन्दरपर्वत की कठिन रगड सह ले सकता हूं। समुद्र की इस बात पर सुरासुर लोग संमत हुए और वे सागरतट पर खडे होकर कूर्मराज से बोले, "हे कूर्मराज! तुम इस मन्दर का अवलंब बने रहो, नहीं तो जलमें वह डूब जायगा। कूर्मराज ने "तथास्तु" कह कर पीठ पर मन्दर को रखा। इन्द्रजी, कूर्मके पीठ पर उस मन्दर पर्वत को यंत्रसे घुमाने लगे।

अमृतार्थे पुरा ब्रह्मंस्तथैवासुरदानवाः ।
एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः ॥ १४ ॥
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः ॥ १५ ॥
अनन्तो भगवान्देवो यतो नारायणस्ततः ।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ॥ १६ ॥
वासुकेरथ नागस्य सहसाऽऽक्षिप्यतः सुरैः ।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् ॥ १७ ॥
ते धूमसङ्घाः संभूता मेघसंघाः सविद्युतः ।
अभ्यवर्षन्सुरगणाञ्छ्रमसंतापकर्शितान् ॥ १८ ॥
तस्माच्च गिरिकूटाग्रात्प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान्सर्वान्समन्तात्समवाकिरन् ॥ १९ ॥
बभूवात्र महानादो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ॥ २० ॥
तत्र नाना जलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ॥ २१ ॥
वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ॥ २२ ॥
तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ संघृष्यन्तः परस्परम् ।

देवता और असुर अमृत के निमित्त मन्दर को मथनदण्ड और वासुकि को मथनरस्सी बना कर समुद्र मथने लगे। जिस ओर वासुकि का मुख था, उधर दानव और जिस ओर उसकी पूछ थी उधर देवतालोग पकड़ कर मथने लगे. अनन्तदेव नारायण के स्वरूप हैं, इस हेतु नारायण वासुकिनाग का मुख उठा कर विष की तेजी सहने लगे। अनन्तर सुरोंसे चलाये जाते हुए वासुकिके मुख से प्रतिक्षण धूंआं और अग्निशिखायुक्त स्वासवायु

न्यपतन्पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ॥ २३ ॥
तेषां संघर्षजश्चाऽग्निरर्चिर्भिः प्रज्वलन्मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥ २४ ॥
ददाह कुञ्जरांस्तत्र सिंहांश्चैव विनिर्गतान् ।
विगतासूनि सर्वाणि सत्वानि विविधानि च ॥ २५ ॥
तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तमितस्ततः ।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वशः ॥ २६ ॥
ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि ।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥ २७ ॥
तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च ।
अमृतत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निःस्रवात् ॥ २८ ॥
ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः ।
रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम् ॥ २९ ॥
ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन्नोद्भवत्यमृतं च तत् ॥ ३० ॥
विना नारायणं देवं सर्वेऽन्ये देवदानवाः ।
चिरारब्धमिदं चाऽपि सागरस्याऽपि मन्थनम् ॥ ३१ ॥

हिलोडे जाकर लय पाने लगे। उस घूमते हुए पर्वत-शिखर पर के वृक्ष आपस में घिस कर पक्षियों-समेत गिरने लगे। जैसे बिजलीके दलसे नील जलद घेरा जाता है, वैसे वृक्षादिकी रगड से जली, शिखावाली आग से मन्दर पर्वत घेरा गया। रगड से जली हुई वह आग पर्वत पर के सब हाथी और सिंहों को तथा दूसरे अनेक भान्तिके जीवों को जलाने और मारने लगी। अनन्तर अमरश्रेष्ठ इन्द्रजी बादल से निकले जल से चारों और फैले जलाने वाले अग्निको बुझाने लगे। आगे नानाविध वृक्षों का दूध और पौधों का अपरिमित रस समुद्रजल में चूने लगा। उस अमृत-सदृश रसरूपी जल और जले हुए सुवर्ण के प्रभावसे देवताओं ने अमरता लाभ की। जब समुद्र जल उस सुन्दर रससे मिलकर दूध बना, तब उस दूधसे घृत बनने लगा। अनंतर देवगण बैठे हुए वर देनेवाले ब्रह्माजी से बोले, "हे ब्रह्मन्! नारायण जी के सिवाय, हम सब, क्या देवता क्या दानव बहुत थक गये है। बहुत दिन होगये, समुद्र-मथन शुरू

ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ॥ ३२ ॥

विष्णुरुवाच— बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद्ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ॥ ३३ ॥

सौतिरुवाच— नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत्पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥ ३४ ॥
ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात् ।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥ ३५ ॥
श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात्पाण्डुरवासिनी ।
सुरा देवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डुरस्तथा ॥ ३६ ॥
कौस्तुभस्तु मणिर्दिव्य उत्पन्नो घृतसम्भवः ।
मरीचिविकचः श्रीमान्नारायणउरोगतः ॥ ३७ ॥
श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः ।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ॥ ३८ ॥
धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत ।

श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥ ३९ ॥
एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः ।
अमृतार्थे महान्नादो ममेदमिति जल्पताम् ॥ ४० ॥
श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम् ।
ऐरावतो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः ॥ ४१ ॥
अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्ततः परः ।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ४२ ॥
त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद्विषम् ।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ॥ ४३ ॥
दधार भगवान्कण्ठे मन्त्रमूर्तिर्महेश्वरः ।
तदा प्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः ॥ ४४ ॥
एतत्तदद्भुतं दृष्ट्वा निराशा दानवाः स्थिताः ।
अमृतार्थे च लक्ष्म्यर्थे महान्तं वैरमाश्रिताः ॥ ४५ ॥
ततो नारायणो मायां मोहिनीं समुपाश्रितः ।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ॥ ४६ ॥
ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः ।

अमृतभरा शुक्ल कमण्डलु लेकर उठ आये। दानव लोग यह आश्चर्य लीला देखकर यह कहते हुए, कि "यह हमारा होगा, यह हमारा होगा" बडा कोलाहल मचाने लगे। (३४—४०)

अनन्तर श्वेत रंग का चार दांत-वाला ऐरावत नामक बडा भारी हाथी निकला और देवराज उसपर अधिकार कर बैठे। इस पर भी न ठहर कर देवताओं के बार बार मथन करने पर धूंआ सहित आगके समान कालकूट विष जग को घेर कर उत्पन्न हुआ। उसको सूंघते ही तीनों लोकके जीवों की चेतना जाती रही। तब ब्रह्माजी की प्रार्थना से मंत्ररूपी भगवान् महेश्वर ने विष को निगलकर गलेमें धारण किया और उसी दिनसे वह नीलकंठ नामसे प्रसिद्ध हुए। दानव लोग यह आश्चर्य लीला देखकर निराश हुए, आगे अमृत और लक्ष्मी के लिये देवताओं मे बडी शत्रुता प्रगट करने लगे। अनन्तर नारायण जी मोहिनी माया आश्रय करके अपूर्व स्त्री-मूर्तिधारण-पूर्वक दानवोंके निकट जा पहुंचे, आगे सब दैत्योंने उस अपूर्व रूपवती युवती को देख करके उस रूप में मग्न होकर और जडवत्

स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ ४७ ॥ (११६७)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वण्यमृतमन्थनेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच— अथाऽऽवरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
प्रगृह्याऽभ्यद्रवन्देवान्सहिता दैत्यदानवाः ॥ १ ॥
ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान् ।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ॥ २ ॥
ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा ।
विष्णोः सकाशात्संप्राप्य संभ्रमे तुमुले सति ॥ ३ ॥
ततः पिबत्सु तत्कालं देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत्तदा ॥ ४ ॥
तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा ।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥
ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ॥ ६ ॥
तच्छैलशृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत् ।
चक्रच्छिन्नं खमुत्पत्य ननादातिभयंकरम् ॥ ७ ॥

बनकर उनको अमृत दे दिया। (४१-४७)
[११६७] आदिपर्वमें अठारहवां अध्याय समाप्त।

आदि पर्वमें उन्नीसवां अध्याय।

सौतिजी बोले, कि अनन्तर दानव वृन्द एकत्र होकरके तनुत्राण (जिरह बख्तर) पहिन कर अस्त्रादि सहित देवताओं पर चढ दौडे। इधर वीर्यवान प्रभु नारायण नरदेव से मिलकर दानवों से अमृत हर लाये। देवता लोग भी उस भारी लडाई के डर से नारायणजी से अमृत पाकर पीने लगे। अमर लोग इच्छानुरूप अमृत पीतेही थे, ऐसे

तत्कबंधं पपाताऽस्य विस्फुरद्धरणीतले ।
सपर्वतवनद्वीपां दैत्यस्याऽकम्पयन्महीम् ॥ ८ ॥
ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै ।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्याऽपि चैव तौ ॥ ९ ॥
विहाय भगवांश्चाऽपि स्त्रीरूपमतुलं हरिः ।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान्समकम्पयत् ॥ १० ॥
ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः ।
सुराणामसुराणां च सर्वघोरतरो महान् ॥ ११ ॥
प्रासाश्च विपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः ।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ॥ १२ ॥
ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु ।
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ॥ १३ ॥
छिन्नानि पट्टिशैश्चैव शिरांसि युधि दारुणैः ।
तप्तकाञ्चनमालीनि निपेतुरनिशं तदा ॥ १४ ॥
रुधिरेणाऽनुलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः ।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ॥ १५ ॥
हाहाकारः समभवत्तत्र तत्र सहस्रशः ।

भयानक शब्द करने लगा। उस दैत्य के सिरवर्जित शरीरके धरती पर लोटने पर पहाड, वन और द्वीपों के सहित धरती थरथराने लगी इसी समय से राहुके मुखसे चन्द्र और सूर्य की स्थायी शत्रुता बन गई, इसी से राहु बीच बीच मे चन्द्र और सूर्य को ग्रास कर लेता है। इस समय में भगवान् विष्णु सुन्दरी स्त्री का अनुपम रूप छोड कर भांति भांति के भयावने अस्त्रों से दानवो को कम्पित करने लगे। अनन्तर समुद्रतट पर देवदानवों मे अति घोर युद्ध शुरू हुआ। सहस्रो तेज कटार और नोखदार तोमर आदि भांति भांति के अस्त्र बरसने लगे। आगे असुर लोग चक्रसे काटे जाकर रक्त उगलने लगे, कोई कोई खड्ग, शक्ति और गदा से घायल होकर धरती पर लोटने लगे। और असुरो के शुद्ध सुवर्ण माला धारी सिर कठोर पट्टिश से शरीरों से अलग ही होकर सदा गिरने लगे। महावीर असुरवृन्द रक्तसे लाल होकर और मारे जाकर धातुओसे रंगे पर्वत-शृङ्ग के समान लेटने लगे। सूर्य के लाल

अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायसि ॥ १६ ॥
परिघैरायसैस्तीक्ष्णैः संनिकर्षे च मुष्टिभिः ।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवाऽस्पृशत् ॥१७॥
छिन्धि भिन्धि प्रधाव त्वं पातयाऽभिसरेति च ।
व्यश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः ॥ १८ ॥
एवं सुतुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये ।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम् ॥ १९ ॥
तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि ।
चिन्तयामास तच्चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ॥ २० ॥
ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं महाप्रभं चक्रममित्रतापनम्।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं सुदर्शनं संयति भीमदर्शनम् ॥ २१ ॥
तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं भयंकरं करिकरबाहुरच्युतः।
मुमोच वै प्रबलवदुग्रवेगवान्महाप्रभं परनगरावदारणम् ॥ २२ ॥
तदन्तकज्वलनसमानवर्चसं पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा ।
विदारयद्दितिदनुजान्सहस्रशः करेरितं पुरुषवरेण संयुगे ॥ २३ ॥
दहत्क्वचिज्ज्वलन इवाऽवलेलिहत्प्रसह्य तानसुरगणान्न्यकृन्तत।

होने पर उस रणभूमि में आपस में कटते हुए सुरासुरों मे हाहाकार मच उठा ; रणभूमि में दूरसे बरसते हुए परिघ अस्त्र और निकट के घूसों से एक दूसरे को मारते हुए सुरासुरों की आहट आकाश तक पहुंचने लगी। " काटो, चूर करो, दौडो, धरती पर गिराओ, खुद आगे बढो ' चारों ओर से केवल यही सब आहट सुनाई देने लगी। यह अति घोर युद्ध हो रहा था, कि नर और नारायण देव रणभूमिमें आ पहुंचे। भगवान् नारायण ने नरदेव का सुन्दर चाप देख कर अपने दैत्यनाशी चक्र का स्मरण किया: स्मरण करते ही शत्रु ओं के दुःख दायी, सूर्यसदृश प्रभावी, न टूटने हारा और रणभूमि में अति कठोर सुदर्शन स्वर्गसे आ पहुंचा। आगे हत्ती सुंड समान भुजवान् कठोर वेगवान् नारायणजी ने जलती हुई आग के समान भयानक, प्रबल, पराये-देश-नाशी, अति प्रभाशील उस उपस्थित चक्र को शत्रुदल पर फेंका। तब प्रलयकाल के अग्नि के समान तेजोवान् सुदर्शन पुरुष-श्रेष्ठ से हाथ से चलाये जाकर सहस्रों दैत्य—दानवों को बडे वेग से काटता हुआ बार बार गिराने लगा।

प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तथा पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत् ॥ २४ ॥
तथाऽसुरा गिरिभिरदीनचेतसो मुहुर्मुहुः सुरगणमार्दयंस्तदा।
महाबला विगलितमेघवर्चसः सहस्रशो गगनमभिप्रपद्य ह ॥ २५ ॥
अथाऽम्बराद्भयजननाः प्रपेदिरे सपादपा बहुविधमेघरूपिणः।
महाद्रयः परिगलिताग्रसानवः परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः ॥ २६ ॥
ततो मही प्रविचलिता सकानना महाद्रिपाताभिहता समन्ततः।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू रणाजिरे भृशमभिसंप्रवर्तिते ॥ २७ ॥
नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणैर्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत्।
विदारयन्गिरिशिखराणि पत्रिभिर्महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ॥ २८ ॥
ततो महीं लवणजलं च सागरं महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं सुदर्शनं परिकुपितं निशम्य ते ॥ २९ ॥
ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशस्ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ॥ ३० ॥
ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम्।

कहीं कहीं तो अग्निके समान जलाने लगा, कहीं असुरों को एकायक काटा कूटा और पिशाच की भांति रणभूमि तथा आकाश में हर घडी घूमता घामता रक्त चूसने लगा। बिना जल के बादल सदृश शोभायुक्त महाबली, सहस्रो साहसी असुर आकाश में चढकर बार बार पर्वतों को गिराकर देवताओं को घायल करने लगे। नाना रंग के मेघ सदृश, वनयुक्त भयानक पर्वत आपस मे लडकर चूर चूर होकर घोर आहटके साथ गिरने लगे। एक दूसरे को ललकारते हुए घोर भयानक लडाई में फंसे देवासुरों की रणभूमि की चारों ओर बडे बडे पर्वतों के गिरने से वनसहित धरती चोट खाकर कांपने लगी। अनन्तर असुरो के साथ उस घोर लडाई मे नरदेवने सुवर्ण मढे बाणोंसे पर्वतोंकी चोटी काट काटकर उनसे आकाशतल छा लिया। आगे दैत्यलोग देवताओं से मारे काटे जाकर और आकाश में घूमते हुए प्रज्वालित अग्निके समान सुदर्शनको क्रोधित देखकर पृथ्वीके भीतर और खार समुद्र मे जा घुसे। तब देवताओं ने जय पाकर मन्दरपर्वत का यथोचित सत्कार करके उसको उसके स्थान में जड दिया। सम्पूर्ण बादल भी चारो ओर आकाश और स्वर्ग में शब्द मचाते हुए अपने अपने स्थानो को पधारे; पश्चात् देवता लोग अति आनन्दसे अमृत रखने लगे। अनन्तर

दद‍ौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं किरीटिने बलभिदथाऽमरैः सह ॥ ३१॥
[११०८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वण्यमृतमन्थन-समाप्तिर्नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

सौतिरुवाच— एतत्ते कथितं सर्वममृतं मथितं यथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ १ ॥
यं निशम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा हि किंवर्णो भद्रे तद्‌ब्रूहि मा चिरम् ॥ २ ॥

विनतोवाच— श्वेत एवाऽश्वराजोऽयं किंवा त्वं मन्यसे शुभे ।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ॥ ३ ॥

कद्रूरुवाच— कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते ।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनि ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच— एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः ।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ॥ ५ ॥
ततः पुत्रसहस्रं तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती ।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाऽञ्जनप्रभाः ॥ ६ ॥

इन्द्रजीने देवताओं से मिलकर अमृत रक्षाके लिये नरदेव के हाथ में अमृत-भाण्ड को सौंप दिया ।

आदिपर्व में उन्नीसवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में बीसवां अध्याय ।

श्री सौतिजी बोले, हे शौनकजी ! जिस प्रकार अति बल-शाली अश्वराज उच्चैःश्रवा की उत्पत्ति हुई थी, वह अमृत-मथन की कथा आपको कह सुनाई। उस उच्चैःश्रवा को देखकर कद्रु विनतासे बोली, " बहिनि ! जल्द कहो तो सही, यह उच्चै॰ ॰॰ किस रंग का है? विनता बोली, " मैं जानती हूं, कि ॰॰ उच्चैः-श्रवा सुफेद रङ्ग ॰॰ है ! क्यों कल्याणि ! तुम क्या समझती हो? तुम्हारी सुनकर मैं इस बारे में बाजी लगाऊंगी।" कद्रु बोली, " री मीठी हंसोडि ! जान पडता है, कि इस घोडे की पूंछ का॰ ॰॰ ॰॰ की है। आओ इस बारे में बाजी लगावें, कि जो हारेगी, वह सदा दूसरी की दासी बनी रहेगी।' सौतिजी बोले, कि इस प्रकार कद्रु और विनता आपस में दासी पन की बाजी लगा करके यह कह कर, कि "कल घोडा देख लिया जायगा" अपने अपने ॰॰ को पधारीं। आगे कद्रु ने ठगाने की इच्छासे अपने सहस्र पुत्रों

आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा।
नाऽवपद्यन्त ये वाक्यं ताञ्शशाप भुजङ्गमान्॥ ७॥
सर्पसत्रे वर्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः॥ ८॥
शापमेनं तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः।
अतिक्रूरं समुत्सृष्टं कद्र्वा दैवादतीव हि॥ ९॥
सार्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया॥ १०॥
तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानां च हिताय च।
युक्तं मात्रा कृतं तेषां परपीडोपसर्पिणाम्॥ ११॥
अन्येषामपि सत्त्वानां नित्यं दोषपरास्तु ये।
तेषां प्राणान्तिको दण्डो दैवेन विनिपात्यते॥ १२॥
एवं संभाष्य देवस्तु पूज्य कद्रूं च तां तदा।
आहूय कश्यपं देव इदं वचनमब्रवीत्॥ १३॥
यदेते दन्दशूकाश्च सर्पा जातास्त्वयाऽनघ।

को बुलवाकर आज्ञा दी, "बेटा! तुम शीघ्र काले लोम बना कर उच्चैःश्रवा को ढाप लो, कि जिससे मुझ को दासी बननी न पडे।" कद्रूके ऐसा कहने पर, जिन सर्पोंने उस की बात न मानी, उनको उसने यह शाप दिया, कि पाण्डवपुत्र बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजय के सर्पयज्ञ के समय अग्निदेवता तुमको जलावेंगे। कद्रूने क्रोधित होकर दैवसंयोगसे सर्पों को जैसा कठोर शाप दिया था, उसे स्वयं ब्रह्माजीने सुना और सम्पूर्ण देवोंके सहित कद्रु की वह बात अनुमोदन की, क्यों कि कटीले सर्पगण उन दिनो बडे विषैले और प्रभावी हो गये थे और उन की संख्या भी बहुत बढी थी। "दूसरों को पीडा देनेवाले, तेज विषैले सर्पों का अपनी माता से इस प्रकार शाप पाना अनुचित नहीं हुआ, क्यों कि यह प्रजाओं के मंगलार्थ ही हुआ था। जो लोग सदा दूसरों की हिंसा किया करते है, वे दैवहीसे प्राणघातकी सजा पा सकते है।" ब्रह्माजी ऐसा कह कर कद्रूकी बडी प्रशंसा करके कश्यपऋषिजी को बुलवा कर बोले, "हे अनघ! हे परन्तप! जिन तेज विषैले कटीले सर्पोंने तुम्हारे औरससे जन्म लिया

विषोल्वणा महाभोगा मात्रा शप्ताः परंतप ॥ १४ ॥
तत्र मन्युस्त्वया तात न कर्तव्यः कथंचन ।
दृष्टं पुरातनं ह्येतद्यज्ञे सर्पविनाशनम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा सृष्टिकृद्देवस्तं प्रसाद्य प्रजापतिम् ।
प्रादाद्विषहरीं विद्यां कश्यपाय महात्मने ॥ १६ ॥ [१२१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

सौतिरुवाच — ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभातेऽभ्युदिते रवौ ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ॥ १ ॥
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा ।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमान्तिकात् ॥ २ ॥
ददृशातेऽथ ते तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम् ।
महान्तमुदकागाधं क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ॥ ३ ॥
तिमिङ्गिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ।
सत्त्वैश्च बहुसाहस्रैर्नानारूपैः समावृतम् ॥ ४ ॥
भीषणैर्विकृतैरन्यैर्घोरैर्जलचरैस्तथा ।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ॥ ५ ॥

हैं, देवसंयोग से शाप पा गये हैं । बेटा ! इस हेतु तुम्हें क्रोधित होना नहीं चाहिये । देखो, सर्पयज्ञमें सर्पों का नाश होगा, यह बात पुराण काल से प्रसिद्ध है ।" सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्माजीने महानुभाव प्रजापति कश्यप को उक्त बातों से प्रसन्न कर विष हरने वाली विद्या दी ।

आदिपर्व में बीसवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में इक्कीसवां अध्याय ।

श्रीसूतपुत्रजी बोले, कि हे तपोधन दूसरे दिन सवेरे सूर्य उगते ही, दासीपन की बाजी लगाये हुई, हिंसा और क्रोधसे उछली हुई कद्रु और विनता दोनों बहिन उच्चैःश्रवा को देखने चलीं, यात्रा करके कुछ दूर चलकर उन्होंने पासही में बड़ा गहरा महासमुद्र देखा । जो समुद्र प्रलयकालिक हवा से हिलोडे जाकर घोर शब्द मचा रहा है; जो कछुए, घरि-यार, तिमि, तिमिंगल, मकर आदि भांति भांति के सहस्रों जीवोंसे सदा भरा रहता है; जिस में नाना प्रकारके भयानक देहधारी जलचर जन्तुओं के रहने के कारण कोई उतर नहीं सकता ; जो अ-पार सोच के बाहर, पवित्र जलधर अपूर्व

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ॥ ६ ॥
पातालज्वलनावासमसुराणां च बान्धवम् ।
भयंकरं च सत्त्वानां पयसां निधिमर्णवम् ॥ ७ ॥
शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याऽऽकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलमद्भुतम् ॥ ८ ॥
घोरं जलचरारावरौद्रं भैरवनिःस्वनम् ।
गम्भीरावर्तकलिलं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ९ ॥
वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम् ।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ॥ १० ॥
चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम् ।
पाञ्चजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
गां विन्दता भगवता गोविन्देनाऽमितौजसा ।
वराहरूपिणा चाऽन्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥ १२ ॥
ब्रह्मर्षिणा व्रतवता वर्षाणां शतमत्रिणा ।
अनासादितगाधं च पातालतलमव्ययम् ॥ १३ ॥
अध्यात्मयोगनिद्रां च पद्मनाभस्य सेवतः ।

समुद्र सर्व रत्नका आधार, वरुणजी का घर, सर्पोंका सुन्दर और श्रेष्ठ आगार, बाडवाग्नि का आधार, असुरों का मित्रवर, स्थलचर जीवों का भयाकर, जलका अक्षय भाण्डार, देवभोगयोग्य अमृत का मंगलमय श्रेष्ठ अलौकिक आधार, जलचरों के घोर शब्दसे भयाकर और भयानक शब्दागार, भारी भारी लहरों के कारण घुसने के अपार, सर्वभृतों का भयदायी और तट पर प्रबल वेगसे बहती हुई हवासे चञ्चल हुआ है और हवासे चोट खाने के हेतु लहरों से ऊंचा होकर मानो चारों ओर लहररूपी हाथ उठाकर नाच रहा है; जो सुन्दर रत्नाकर चन्द्र की घटी बढी के कारण अति ऊंची लहरों से उछल उठता है, जो पांचजन्य शङ्खकी उत्पत्ति का स्थान है; अमित तेजोवान् भगवान् नारायण ने भूमण्डलके उद्धार के निमित्त बाराह का स्वरूप लेकर जिसका जल हिलोड और गदला किया था; व्रतशील ब्रह्मर्षि अत्रि सैकडों वर्षों में भी जिसके अथाह जलके पाताल - तलके तलतक पहुंच नहीं सके थे; अपरिमित तेजोपूर्ण पद्मनाभ विष्णु प्रलयकालमें

युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ॥ १४ ॥
वज्रपातनसंत्रस्तमैनाकस्याऽभयप्रदम् ।
डिम्बाहवार्दितानां च असुराणां परायणम् ॥ १५ ॥
वडवामुखदीप्ताग्नेस्तोयहव्यप्रदं शिवम् ।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ॥ १६ ॥
महानदीभिर्बह्वीभिः स्पर्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ॥ १७ ॥
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यमानमिवोर्मिभिः ॥ १८ ॥
गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः। [१२३३]
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

सौतिरुवाच— नागाश्च संविदं कृत्वा कर्तव्यमिति तद्वचः ।
निःस्नेहा वै दहेन्माता असंप्राप्तमनोरथा ॥ १ ॥
प्रसन्ना मोक्षयेदस्मांस्तस्माच्छापाच्च भामिनी ।
कृष्णं पुच्छं करिष्यामस्तुरगस्य न संशयः ॥ २ ॥

योग की निद्रामें जहां सोते है जो समुद्र वज्राघात के भयसे डरे हुए मैनाक पर्वत का निर्भय करनेवाला और भय भरे युद्ध में हारे असुरों का एकमात्र आश्रय तथा वडवामुखसे प्रज्वालित अग्नि में जल रूपी हव्य की आहुति चढाने वाला हुआ है; जिस लम्बे चौडे अपरिमित अपार समुद्रवर का तल छुआ नहीं जाता, सहस्रों महानदी जिस समुद्रवर के समीप नायिका की भांति अहंकार पूर्वक सदा दौड रही है, वह बहुत जल भरा हुआ, लहरों मे नाचता हुआ, अति गहरा, तिमि–मकरादि उग्र जीवोंमे पूरा, जलचरों के घोर शब्दमे गूंजता हुआ, आकाश समान फैला हुआ, अथाह अपार जलसागर कद्रू और विनता को देख पडा! (१-१९) [१२३३]

आदिपर्व मे इक्कीसवा अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में बाईसवा अध्याय ।

श्री उग्रश्रवाजी बोले, इधर सर्पोंने सलाह की, कि "माता की आज्ञा पालनी ही पडेगी, क्यो कि उसकी अभीष्ट सिद्ध न होने से वह स्नेहवर्जित होकर हम लोगों को नष्ट करेगी। वह प्रसन्न हो, तो हमको इस शापसे बचा सकती है, सो निश्चय ही हम लोग उस घोडे की पूछ को काली

तथा हि गत्वा ते तस्य पुच्छे वाला इति स्मृताः ।
एतस्मिन्नन्तरे ते तु सपत्न्यौ पणिते तदा ॥ ३ ॥
ततस्ते पणितं कृत्वा भगिन्यौ द्विजसत्तम ।
जग्मतुः परया प्रीत्या परं पारं महोदधेः ॥ ४ ॥
कद्रूश्च विनता चैव दाक्षायण्यौ विहायसा ।
आलोकयन्त्यावक्षोभ्यं समुद्रं निधिमम्भसाम्॥ ५॥
वायुनाऽतीव सहसा क्षोभ्यमाणं महास्वनम्।
तिमिंगिलसमाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ॥ ६ ॥
संयुतं बहुसाहस्रैः सत्त्वैर्नानाविधैरपि ।
घोरैर्घोरमनाधृष्यं गम्भीरमतिभैरवम् ॥ ७ ॥
आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं चाऽपि सुरम्यं सरितां पतिम् ॥ ८ ॥
पातालज्वलनावासमसुराणां तथाऽऽलयम् ।
भयंकराणां सत्त्वानां पयसो निधिमव्ययम्॥ ९ ॥
शुभ्रं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याऽऽकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सपुण्यजलसंमितम् ॥ १० ॥
महानदीभिर्बह्वीभिस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ॥ ११ ॥
इत्येवं तरलतरोर्मिसंकुलं तं गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम् ।
पातालज्वलनशिखाविदीपिताङ्गं गर्जन्तं द्रुतमभिजग्मतुस्ततस्ते॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे समुद्रदर्शनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥ [१२४५]

देंगे।" यह सलाह करके वे उच्चैःश्रवा के निकट जाकर उसकी पूंछ के लोमवत् बने रहे। हे द्विजोत्तम! इस अवसर में वे दोनो सौत बहिन, बाजी लगाकर अति सन्तोष पूर्वक समुद्र के दूसरे पार चली गईं। जो समुद्र प्रबल हवासे संचालित, घोर शब्द पूर्ण तिमि तिमिङ्गिल मकरादि भान्ति के महस्रो भयानक, जीवो से भरा हुआ, अति भयानक, रत्नाकर वरुणजी का घर, नाग-मन्दिर, नदीनायक, बडवानल और असुरों की वासभूमि, भयानक जीवो और जल का अक्षय भण्डार, देवभोग्य अमृत की मङ्गलमय दिव्य श्रेष्ठ खानि है, उस धारणातीत, चिन्ता-उपमा-रहित, पवित्र

सौतिरुवाच— तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह ।
न्यपतत्तुरगाभ्याशे न चिरादिव शीघ्रगा ॥ १ ॥
ततस्ते तं हयश्रेष्ठं ददृशाते महाजयम् ।
शशाङ्ककिरणप्रख्यं कालवालमुभे तदा ॥ २ ॥
निशम्य च बहून्वालान्कृष्णान्पुच्छसमाश्रितान्।
विषण्णरूपां विनतां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ॥ ३ ॥
ततः सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता ।
अभवद्दुःखसंतप्ता दासीभावं समास्थिता ॥ ४ ॥
एतस्मिन्नन्तरे चाऽपि गरुडः काल आगते ।
विना मात्रा महातेजा विदार्याऽण्डमजायत॥ ५ ॥
महासत्त्वबलोपेतः सर्वा विद्योतयन्दिशः ।
कामरूपः कामगमः कामवीर्यो विहंगमः ॥ ६ ॥
अग्निराशिरिवोद्भासन्समिद्धोऽति भयंकरः ।
विद्युद्विस्पष्टपिङ्गाक्षो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ७ ॥
प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः ।
घोरो घोरस्वनो रौद्रो वह्निरौर्व इवाऽपरः ॥ ८ ॥

जलपूरित, सहस्रों महानदियों से पूजित अति तरल लहरों से भरे हुए सोते से नाचते हुए, आकाश समान फैले हुए, वाडवाग्नि बढानेवाले महासमुद्र को देखती हुई दक्षपुत्री कद्रू और विनता आकाश मार्ग से शीघ्र चलने लगी ।

आदिपर्व में बाइसवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में तेइसवां अध्याय ।

श्री वाजी बोले, कि द्रुत चलने वाली कद्रु और विनता महासमुद्र के पार उतरकर शीघ्र ही उच्चैःश्रवा के समीप जा पहुंचीं; वहां पहुंच करके उन दोनों ने उस बडे वेगवान और चन्द्रमा की चान्दनी समान सुफेद घोडे की काली पूछ देखी। इससे विनता बडी उदास हुई और कद्रू ने उस को अपनी दासी बनाई। बाजी में हार कर विनता दुःखसे जलती हुई दासी के कार्य करने लगी। इस अवसर में बडे प्रभावी गरुडजी कालपूर्ण होने पर माता की सहायता विना स्वयं अण्डे को फोड कर निकल आये। महा सत्त्वशाली, महा बली, दिशाओं को प्रकाश करनेवाले, पिंगल नेत्रधारी, अति भयकारी कालाग्निसमान प्रज्वलित, महावीर, स्वेच्छागामी, भारी शरीरधारी, जलती हुई आग की भांति अति भयानक, कामरूपी, कामवीर्य से पूर्ण,

तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुर्देवाः सर्वे विभावसुम् ।
प्रणिपत्याऽब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ॥ ९ ॥
अग्ने मा त्वं प्रवर्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि ।
असौ हि राशिः सुमहान्समिद्धस्तव सर्पति ॥ १० ॥

अग्निरुवाच— नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः ।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यश्च तेजसा ॥ ११ ॥
जातः परमतेजस्वी विनतानन्दवर्धनः ।
तेजोराशिमिमं दृष्ट्वा युष्मान्मोहः समाविशत् ॥ १२ ॥
नागक्षयकरश्चैव काश्यपेयो महाबलः ।
देवानां च हिते युक्तस्त्वहितो दैत्यरक्षसाम् ॥ १३ ॥
न भीः कार्या कथं चाऽत्र पश्यध्वं सहिता मम ।
एवमुक्तास्तदा गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ॥ १४ ॥
ते दूराद्भ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा ।

देवा ऊचुः— त्वमृषिस्त्वं महाभागस्त्वं देवः पतगेश्वर ॥ १५ ॥
त्वं प्रभुस्तपनः सूर्यः परमेष्ठी प्रजापतिः ।
त्वमिन्द्रस्त्वं हयमुखस्त्वं शरस्त्वं जगत्पतिः ॥ १६ ॥

कामगतिशील वह पक्षीराज दशो ओर प्रकाशित करके दूसरे वाडवाग्नि के समान एकायक देह बढाकर घोर शब्द मचाते हुए आकाश को उड गये। यह देखकर देवतालोग भय खाकर सुख से बठे हुए विश्वरूपी अग्निदेव की शरण लेकर उनके पांव छूकर बोले, "हे अग्ने! तुम अपने शरीर को और न बढाओ; क्या तुम ने हमको जलानेकी इच्छा की है? वह देखो, तुम्हारे बढेचढे तेज-समूह आ रहे है।" यह सुन कर अग्निदेव बोले," हे दैत्यनाशी देवगण! तुमने जो सोचा है, वह ठीक नहीं है, यह मेरे सदृश प्रभावी महात्मा गरुड है; जन्म लेकर माता विनता का आनन्द बढा रहे हैं; तुम लोग तेजपूरित गरुड जी को देखकर मोहित हो गये हो; कश्यप के पुत्र, महाबली, सर्पनाशक यह गरुड जी देवताओं के हित करने वाले तथा दैत्य, दानव और राक्षसों के शत्रु होंगे; तुम डरो मत, आओ हम सब मिलकर उनका दर्शन करें।" अग्नि के इतनी कथा कहने पर देवगण ऋषियों से मिल कर पधारे और दूर ही से गरुड जी की स्तुति करने लगे। देवगण बोले, हे पक्षीराज! तुम ऋषि हो, तुम महा भाग्यवान हो, तुम देवता हो, तुम स्वामी हो, तुम ताप देनेवाले

त्वं मुखं पद्मजो विप्रस्त्वमग्निः पवनस्तथा ।
त्वं हि धाता विधाता च त्वं विष्णुः सुरसत्तम ॥१७॥
त्वं महानभिभूः शश्वदमृतं त्वं महद्यशः ।
त्वं प्रभास्त्वमभिप्रेतं त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ॥ १८ ॥
बलोर्मिमान्साधुरदीनसत्त्वः समृद्धिमान्दुर्विषहस्त्वमेव ।
त्वत्तः सृतं सर्वमहीनकीर्ते ह्यनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥ १९ ॥
त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं गभस्तिभिर्भानुरिवाऽवभाससे ।
समाक्षिपन्भानुमतः प्रभां मुहुस्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥ २० ॥
दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ ।
भयङ्कर प्रलय इवाऽग्निरुत्थितो विनाशयन्युगपरिवर्तनान्तकृत् ॥ २१ ॥
खगेश्वरं शरणमुपागता वयं महौजसं ज्वलनसमानवर्चसम् ।
तडित्प्रभं वितिमिरमभ्रगोचरं महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरम् ॥ २२ ॥
परावरं वरदमजय्यविक्रमं तवौजसा सर्वमिदं प्रतापितम् ।

सूर्य हो तुम परमेष्ठी हो, तुम प्रजापति हो, तुम चन्द्र हो तुम हयग्रीव हो, तुम आशुग हो, तुम जगदीश्वर हो, तुम आदिभूत हो, तुम ब्रह्म हो, तुम ब्राह्मण हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम धाता हो तुम विधाता हो, तुम देवताओं के शिरोमणि विष्णु हो, तुम महान् तत्त्व हो, तुम अहङ्कार तत्त्व हो, तुम नित्य हो, तुम निर्विकार हो, तुम महत् यश हो, तुम तेज हो, तुम बुद्धिवृत्ति हो, तुम हमारे सबसे प्रधान मुक्तिदाता हो, तुम बलसागर हो, तुम साधु हो, तुम अनेक सत्वयुक्त हो, तुम ऐश्वर्यवान् हो, तुम अजीत हो, हे पूर्ण कीर्तिवान् ! तुमही से आगत अनागत सबों की उत्पत्ति होती है। तुम चिन्मात्र हो, तुमही सूर्य के समान किरणों से स्थावर जंगमात्मक सम्पूर्ण जगत को प्रकाश कर रहे हो और फिर तुमही सूर्य के प्रकाश को हर कर इस चराचर विश्व को लय कर रहे हो। हे अग्निसमानप्रभाववान् ! जिस प्रकार प्रलय काल में सूर्यदेव क्रोधित होकर प्रजाओं को जलाते हैं, तुम भी उसी प्रकार उनको जला रहे हो और युग बदलने के कालमें सृष्टिनाशी प्रलयाग्नि जिस प्रकार भयानक रूप से जलकर संहार करता है, तुम भी उसी प्रकार सृष्टि को नष्ट कर रहे हो। बिजली सदृशशोभावान् अन्धकारनाशक, आकाशव्यापक, महाबली, कार्य कारण रूपी, वर देने वाले, अजेयविक्रम, गमन मार्ग में विचरने वाले पक्षिराज ! हम तुम्हारी शरण लेते हैं। हे जगत प्रभो ! तुम्हारे तेजसे यह सम्पूर्ण जगत तप रहा है। अत

जगत्प्रभो तप्तसुवर्णवर्चसा त्वं पाहि सर्वांश्च सुरान्महात्मन ॥ २३ ॥
भयान्विता नभसि विमानगामिनो विमानिता विपथगतिं प्रयान्ति ते २४॥
ऋषेः सुतस्त्वमसि दयावतः प्रभो महात्मनः खगवर कश्यपस्य ह।
स मा क्रुद्धः कुरु जगतो दयां परां त्वमीश्वरः प्रशममुपैहि पाहि नः ॥ २५॥
महाशनिस्फुरितसमस्वनेन ते दिशोऽम्बरं त्रिदिवमियं च मेदिनी।
चलन्ति नः खग हृदयानि चानिशं निगृह्यतां वपुरिदमग्निसन्निभम्॥ २६॥
तव द्युतिं कुपितकृतान्तसन्निभां निशम्य नश्चलति मनोऽव्यवस्थितम्।
प्रसीद नः पतगपते प्रयाचतां शिवश्च नो भव भगवन्सुखावहः ॥ २७॥
एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥ २८॥ [१२७३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

सौतिरुवाच— स श्रुत्वाऽथाऽऽत्मनो देहं सुपर्णः प्रेक्ष्य च स्वयम्।
शरीरप्रतिसंहारमात्मनः संप्रचक्रमे ॥ १ ॥
सुपर्ण उवाच— न मे सर्वाणि भूतानि बिभियुर्देहदर्शनात्।

एवं तुम तपे हुए सुवर्ण वर्ण तेजों से इस सम्पूर्ण जगत् तथा देवगण और महात्माओं की रक्षा करो। देखो, आकाश में चलनेवाले देवता लोग तुम्हारे तेजो से हार मान और भय खाकर मार्ग भूल रहे हैं। हे पक्षीवर! तुम दयावान् महानुभव कश्यप ऋषि के पुत्र हो, सो क्रोधयुक्त मत बनो, जगत् पर दया दिखाओ, तुम समर्थ हो, सब कुछ कर सकते हो, पर शांति आश्रय कर हमको बचाओ। हे पक्षीराज! तुम्हारे बिजली की कड़कड़ाहट के समान शब्दसे दिशा आकाश स्वर्ग और इस पृथ्वी तथा हमारे हृदय में प्रतिक्षण हलचल मच रहा है, सो तुम अपने अग्नितुल्य शरीर को संभालो। हे यमराज-समान-क्रोधवान्! तुम्हारी द्युति देखकर हमारे चित्त एकबारगी अस्थिर और चञ्चल हो रहे हैं, हे पक्षीश्रेष्ठ! प्रार्थना करते हैं, कि हम लोगोंपर प्रसन्न होओ। हे भगवन्! तुम हमारे सुख देनेवाले और मंगलदायी होओ। गरुडजी ने ऋषि और देवताओं की ऐसी स्तुति सुनकर अपने तेजसमूह को हर लेने की प्रतिज्ञा की।(१-२८) [१२७३]

आदिपर्व मे तेईसवा अध्याय समाप्त।

आदिपर्व मे चौबीसवा अध्याय।

गरुडजी देवताओं के यह सब वचन सुनकर और अपनी देहको देखकर उसे

भीमरूपात्समुद्विग्नास्तस्मात्तेजस्तु संहरे ॥ २ ॥

सौतिरुवाच— ततः कामगमः पक्षी कामवीर्यो विहंगमः।
अरुणं चाऽऽत्मनः पृष्ठमारोप्य स पितुर्गृहात्॥ ३ ॥
मातुरन्तिकमागच्छत्परं तीरं महोदधेः।
तत्राऽरुणश्च निक्षिप्तो दिशं पूर्वां महाद्युतिः।
सूर्यस्तेजोभिरत्युग्रैर्लोकान्दग्धुमना यदा ॥ ४ ॥

रुरुरुवाच— किमर्थं भगवान्सूर्यो लोकान्दग्धुमनास्तदा।
किमस्याऽपहृतं देवैर्येनेमं मन्युराविशत् ॥ ५ ॥

प्रमतिरुवाच— चन्द्रादित्यैर्यदा राहुराख्यातो ह्यमृतं पिबन्।
वैरानुबन्धं कृतवांश्चन्द्रादित्ये तदाऽनघ ॥ ६ ॥
वध्यमाने ग्रहेणाऽथ आदित्ये मन्युराविशत्।
सुरार्थाय समुत्पन्नो रोषो राहोस्तु मां प्रति॥ ७ ॥
बह्वनर्थकरं पापमेकोऽहं समवाप्नुयाम् ।
सहाय एव कार्येषु न च कृच्छ्रेषु दृश्यते ॥ ८ ॥
पश्यन्ति ग्रस्यमानं मां सहन्ते वै दिवौकसः।

संभालने लगे और बोले, कि मेरी देहको देखकर जीवों को भय खाना नहीं पडेगा। तुम लोग मेरे भारी आकार को देखकर डर गये हो, सो मै अपना तेज हर लेता हूं। श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि पश्चात् कामचारी काम वीर्य पक्षीराज स्वरूप संभालकर अपने बडे भाई अरुण को पीठ पर चढाकरके पितृगृह मे महासमुद्र के दूसरे तट पर माता के समीप पधारे। इस समय सूर्यदेवने तेज किरणजाल फैलाकर तीनो लोक जलानेकी कल्पना की थी. इस हेतु अति द्युतिमान गरुड ने अरुण को पूर्व ओर फेंक दिया। (१-४)

श्री रुरुजी बोले, की भगवान सूर्यदेवने इस समय किस कारण से तीनों लोकों को जलाना चाहा था? और, देवताओंने उनको कौनसी हानि पहुंचाई थी, कि वह क्रोधित हुए थे? प्रमति बोले, कि हे निष्पाप! जब चन्द्र और सूर्यने राहुके अमृत पीनेका वृत्तान्त प्रकाश कर दिया था, तब राहुने चन्द्र और सूर्यके विरुद्ध शत्रुता ठान ली थी। उस शत्रुता के हेतु जब राहु सूर्य को ग्रास करने लगा, तब वह यह सोच कर क्रोधित हुए, कि मै तो देवताओं के कार्य के लिए राहुसे शत्रुता कर बडी हानि और कष्ट सह रहा हूं पर विपत के समय देवों मे से कोई भी मेरी सहायता नहीं करते, वरण राहु

तस्माल्लोकविनाशार्थं ह्यवतिष्ठे न संशयः ॥ ९ ॥
एवं कृतमतिः सूर्यो ह्यस्तमभ्यगमद्गिरिम् ।
तस्माल्लोकविनाशाय संतापयत भास्करः ॥ १० ॥
ततो देवानुपागम्य प्रोचुरेवं महर्षयः ॥ ११ ॥
अद्याऽर्धरात्रसमये सर्वलोकभयावहः ।
उत्पत्स्यते महान्दाहस्त्रैलोक्यस्य विनाशनः॥१२ ॥
ततो देवाः सर्षिगणा उपगम्य पितामहम् ।
अब्रुवन्किमिवेहाऽद्य महद्दाहकृतं भयम् ॥ १३ ॥
न तावद् दृश्यते सूर्यः क्षयोऽयं प्रतिभाति च ।
उदिते भगवन्भानौ कथमेतद्भविष्यति ॥ १४ ॥
पितामह उवाच—एष लोकविनाशाय रविरुद्यन्तुमुद्यतः ।
दृश्यन्नेव हि लोकान्स भस्मराशीकरिष्यति ॥
तस्य प्रतिविधानं च विहितं पूर्वमेव हि ॥ १५ ॥
कश्यपस्य सुतो धीमानरुणेत्यभिविश्रुतः ।
महाकायो महातेजा स स्थास्यति पुरो रवे ॥ १६ ॥
करिष्यति च सारथ्यं तेजस्त्वस्य हरिष्यति ।
लोकानां स्वस्ति चैवं स्यादृषीणां च दिवौकसाम् ॥ १७॥

जब मुझको ग्रास करता है, तब ये देख देख कर हंसा करते है, सो मैं निःसन्देह सम्पूर्ण लोको को नाश करूंगा। सूर्यदेव ऐसी प्रतिज्ञा ठानकर अस्ताचल की चोटी पर चढ गये और वहासे लोकोमे संहार का भय उपजाने लगे। यह देखकर महर्षिगण देवताओंके समीप जाकरके बोले, कि आज आधी रातके समय सर्वलोकभयकारी त्रिलोकनाशी महादाह शुरू होगा। यह सुनकर देववृन्दने ऋषियों के सहित ब्रह्माजी के समीप जाकर निवेदन किया, कि हे भगवन! आज दाह का यह कैसा महाभय आ पडा? अभी तो सूर्यदेव दीख नही पडते, पर तौभी मानो सृष्टि लोप हो रही है; जब वह उगेंगे, तब न जाने, क्या होगा? पितामहजी बोले, कि लोकोको नाश करनेके लिये सूर्यदेव उगने पर है, वह निकलते ही सर्व लोको को भस्म करेंगे, पर पहिले ही इसका प्रतिविधान किया गया है; धीमान्, बृहत शरीरधारी अरुण नामक अति प्रभावी कश्यपपुत्र सूर्य के सामने विराजेंगे। वह सूर्य के सारथी का कार्य कर तेज हर लेंगे, इसीसे देवता ऋषि और सर्व लोको

प्रमतिरुवाच — ततः पितामहाज्ञातः सर्वं चक्रे तदाऽरुणः ।
उदितश्चैव सविता ह्यरुणेन समावृत ॥ १८ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्सूर्यं मन्युराविशत् ।
अरुणश्च यथैवाऽस्य सारथ्यमकरोत्प्रभुः ॥ १९ ॥
भूय एवाऽपरं प्रश्नं शृणु पूर्वमुदाहृतम् ॥ २० ॥ (१२९३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

सौतिरुवाच — ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः ।
मातुरन्तिकमागच्छत्परं पारं महोदधेः ॥ १ ॥
यत्र सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता ।
अतीव दुःखसंतप्ता दासीभावमुपागता ॥ २ ॥
ततः कदाचिद्विनतां प्रणतां पुत्रसन्निधौ ।
काले चाऽऽहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ॥ ३ ॥
नागानामालयं भद्रे सुरम्यं चारुदर्शनम् ।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते नय ॥ ४ ॥
ततः सुपर्णमाता तामवहत्सर्पमातरम् ।
पन्नगान्गरुडश्चाऽपि मातुर्वचनचोदितः ॥ ५ ॥
स सूर्यमभितो याति वैनतेयो विहंगमः ।

का मंगल होगा । प्रमति बोले, कि अनन्तर पितामह की आज्ञानुसार अरुणने वह सब कार्य किये और सूर्यदेव भी अरुण से आच्छादित होकर उदय हुए। सूर्य जिस हेतु क्रोधित हुए थे और अरुण जिस कारण उनके सारथी बने, वह कह चुके, अब पहिले जो प्रश्न किये गये थे उनके उत्तर सुनिये। (५–२०) [१२९३]

आदिपर्व में चौबीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में पच्चीसवां अध्याय।

श्रीसौतिजी बोले, अनन्तर अति वीर्यशाली, महाबली, कामचारी पक्षीराज समुद्र के दूसरे पार माता के समीप जा पहुंचे। वहां उनकी माता विनता बाजी हार कर और अति दुःखी होकर, दासी बन दिन काट रही थीं। एक दिन कद्रु गरुड के सामने ही पैर छूती हुई विनता का नाम लेकर बोली, " री विनता ! उस निराले समुद्र के भीतर नागों के घरमें मुझको ले चल। " यह सुनकर गरुड की माता सर्प माताको वहां ले चली गरुड भी माता की आज्ञानुसार सर्पों को ले चले; पर ले चलने

सूर्यरश्मिप्रतप्ताश्च मूर्छिताः पन्नगाऽभवन् ।
तदवस्थान्सुतान्दृष्ट्वा कद्रू शक्रमथाऽस्तुवत्॥ ६ ॥
नमस्ते सर्वदेवेश नमस्ते बलसूदन ।
नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते ॥ ७ ॥
सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव।
त्वमेव परमं त्राणमस्माकममरोत्तम ॥ ८ ॥
ईशो ह्यसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरंदर ।
त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वमग्निर्विद्युतोऽम्बरे ॥ ९ ॥
त्वमभ्रगणविक्षेप्ता त्वामेवाऽऽहुर्महाघनम् ।
त्वं वज्रमतुलं घोरं घोषवांस्त्वं बलाहकः ॥ १० ॥
स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्ता चाऽपराजितः।
त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः॥११ ॥
त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तम ।
त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणम ॥१२॥
त्वं सर्वममृतं देव त्वं सोमः परमार्चितः ।
त्वं मुहूर्तस्तिथिस्त्वं च त्वं लवस्त्वं पुनः क्षणः॥ १३ ॥

के समय वह विनतापुत्र पक्षीराज सूर्यमंडल के निकट होकर जाने लगे। इससे सर्पगण सूर्यके तेजसे तप कर मुर्झाने लगे। (१-६)

कद्रू पुत्रोंको वैसी दशामें देखकर देव-राज की स्तुति करने लगी, कि हे सर्वदेवों के नाथ ! तुमको नमस्कार करती हूं, हे बलसूदन ! तुमको नमस्कार करती हूं, हे नमुचिनाशी सहस्राक्ष शचीकान्त ! तुमको प्रणाम करती हूं, जल बरसा कर तुम सूर्यसे जलते हुए सर्पों की रक्षा करो; हे देवोत्तम ! तुम हमारे एकही रक्षक हो; हे पुरन्दर ! तुम अपरिमित वृष्टि की सृष्टि कर सकते हो। तुम वायु हो, तुम बादल हो, तुम अग्नि हो, तुम आकाश की बिजली समूह हो, तुम मेघों के चलानेवाले हो, तुमही प्रलय-काल के भारी बादल हो, तुम तुलनारहित घोर वज्र हो, तुम गरजने वाले जलधर हो, तुम तीनों लोक के रचने हारे हो, तुम नाश करनेवाले हो, तुम जीतने के अयोग्य हो, तुम सर्वभूतोंके प्रकाशरूपी हो तुम आदित्य हो, तुम विभावसु हो, तुम आश्चर्ययुक्त महान् तत्त्व हो, तुम राजा हो, तुम देवों में श्रेष्ठ हो तुम विष्णु हो, तुम सहस्राक्ष हो, तुम परात्पर पर देव हो, तुम अमृत हो, तुम ही परम पूजित सोमदेव

शुक्लस्त्वं बहुलस्त्वं च कला काष्ठा त्रुटिस्तथा ।
संवत्सरर्तवो मासा रजन्यश्च दिनानि च ॥ १४ ॥
त्वमुत्तमा सगिरिवना वसुंधरा सभास्करं वितिमिरमम्बरं तथा।
महोदधिः सतिमितिमिंगिलस्तथा महोर्मिमान्बहुमकरो झषाकुलः॥१५॥
महायशास्त्वमिति सदाऽभिपूज्यसे मनीषिभिर्मुदितमना महर्षिभिः ।
अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे वषट् कृतान्यपि च हवींषि भूतये॥१६॥
त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं वेदाङ्गेष्वतुलबलौघ गीयसे च ।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा वेदाङ्गान्यभिगमयन्ति सर्वयत्नैः॥१७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि [१३१०]
सौपर्णे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

सौतिरुवाच — एवं स्तुतस्तया कद्र्वा भगवान्हरिवाहनः ।
नीलजीमूतसंघातैः सर्वमम्बरमावृणोत् ।
मेघानाज्ञापयामास वर्षध्वममृतं शुभम् ॥ १ ॥
ते मेघा मुमुचुस्तोयं प्रभूतं विद्युदुज्ज्वलाः ।
परस्परमिवाऽत्यर्थं गर्जन्तः सततं दिवि ॥ २ ॥

हो, तुम मुहूर्त हो, तुम तिथि हो, तुम लव हो, तुम क्षण हो, तुम शुक्लपक्ष हो, तुम कृष्णपक्ष हो, तुम कला हो, तुम काष्ठा हो, तुम त्रुटि हो, तुम वर्ष, ऋतु, मास, दिन और रात हो, तुम उत्तर पर्वतयुक्त धरती हो, तुम सूर्ययुक्त निर्मल आकाशमंडल हो, तुम तिमि तिमिङ्गिल मीन मकरादि नाना जलजन्तुओं से भरे और लहराते हुए महासमुद्र हो, तुम अति यशस्वी हो, इस हेतु प्रज्ञायुक्त महर्षिगण आनन्द चित्त से सदा तुम्हारी उपासना किया करते हैं, तुम मङ्गलार्थ यज्ञों में स्तुति प्राप्त होकर वषट् किये हुए घृत और सोमरस को पीते हो, हे अनन्तबली ! विप्रवृन्द फल पानेके निमित्त सदा तुम्हारे नामसे यज्ञ किया करते हैं, और संपूर्ण वेदांगमें तुम्हारे गुण कीर्तित हैं, इसीहेतु यागशील श्रेष्ठ द्विजवृन्द सर्वप्रकार से प्रयत्न पूर्वक वेदांगों की मीमांसा किया करते हैं । (६–१७) [१३१०]

आदिपर्व में पच्चीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में छब्बीसवां अध्याय।

श्री उग्रश्रवाजी बोले कि कद्रू के इस प्रकार स्तुति करने पर भगवान् मेघवाहनने धौले बादलों से संपूर्ण आकाश मंडल को आच्छादित कर लिया और मेघों को आज्ञा दी, कि तुम भली भांति जल बरसाओ। मेघवृन्द बिजलीसमूह से उज्ज्वल

संवर्तितमिवाऽऽकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः।
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः ॥ ३ ॥
संप्रनृत्तमिवाऽऽकाशं धारोर्मिभिरनेकशः।
मेघस्तनितनिर्घोषैर्विद्युत्पवनकम्पितैः ॥ ४ ॥
तैर्मेघैः सततासारं वर्षद्भिरनिशं तदा।
नष्टचन्द्रार्ककिरणमम्बरं समपद्यत ॥ ५ ॥
नागानामुत्तमो हर्षस्तथा वर्षति वासवे ॥ ६ ॥
आपूर्यत मही चाऽपि सलिलेन समन्ततः।
रसातलमनुप्राप्तं शीतलं विमलं जलम् ॥ ७ ॥
तदा भूरभवच्छन्ना जलोर्मिभिरनेकशः।
रामणीयकमागच्छन्मात्रा सह भुजंगमाः ॥८॥ (१३१८)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि पञ्चविंशोऽध्याय ॥ २६ ॥

सौतिरुवाच— संप्रहृष्टास्ततो नागा जलधाराप्लुतास्तदा।
सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं द्वीपमाशु वै ॥ १ ॥
तं द्वीपं मकरावासं विहितं विश्वकर्मणा।

होकर आपस में घोर गर्जना करते हुए जल बरसाने लगे। अति अद्भुत बडे शब्द-शील बादलों के बहुत जल बरसाने पर आकाश देखकर जान पडने लगा, कि मानो प्रलयकाल आगया है। बिजली और हवासे डोलते हुए बादलों की मन-सनाहट रूपी बाजों के साथ अगणित धाराओं की लहरों से मानो आकाश भी नाचने लगा और बादलों से सदा जल की धार बहने से आकाशतल चन्द्र और सूर्य से खाली जान पडने लगा। देवराज की वर्षा से सर्पों को बडा आनन्द हुआ; धरती जल मे भर गई; निर्मल शीतल जल पाताल तल तक पहुंचने लगा। इस प्रकार अपार जलकी लहरोंसे पृथ्वी आह्लादित होने पर सर्पगण माता के सहित रामणीयक द्वीप को पधारे। (१-८) [१३१८]

आदिपर्व मे छब्बीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व मे सत्ताइसवां अध्याय।

श्री सौतिजी बोले, कि अनन्तर गरुड पर चढे हुए सर्पगण जलधारा से नहा कर प्रसन्न हृदय से थोडे काल मे रामणीयक द्वीप मे जा पहुंचे! मकरों के वासस्थान और विश्वकर्माजी से बने हुए उस द्वीप मे नागोंने पहिले पहल बडे

तत्र ते लवणं घोरं ददृशुः पूर्वमागताः ॥ २ ॥
सुपर्णसहिताः सर्पाः काननं च मनोरमम् ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसंघनिनादितम् ॥ ३ ॥
विचित्रफलपुष्पाभिर्वनराजिभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४ ॥
प्रसन्नसलिलैश्चाऽपि ह्रदैर्दिव्यैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ॥ ५ ॥
उत्पतद्भिरिवाऽऽकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धतैः ॥ ६ ॥
वायुविक्षिप्तकुसुमैस्तथाऽन्यैरपि पादपैः ।
किरद्भिरिव तत्रस्थान्नागान्पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ॥ ७ ॥
मनःसंहर्षजं दिव्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
मत्तभ्रमरसंघुष्टं मनोज्ञाकृतिदर्शनम् ॥ ८ ॥
रमणीयं शिवं पुण्यं सर्वैर्जनमनोहरैः ।
नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रूपुत्रप्रहर्षणम् ॥ ९ ॥
तत्ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगास्तदा ।
अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥ १० ॥

भयानक खार समुद्रको देखाः पीछे गरुडजी के साथ अति सुंदर वनमें प्रवेश किया । वह महावन सदा सागर–जलसे धोया हुआ और भांति भांति के पक्षियो के कलरवों से पूरित, रंग विरंग के फल-फूलों से सजे सजाये वन, सुन्दर सुन्दर गृह मंदिर, कमलकलाप से भरे हुए सुन्दर झीलों से सुशोभित हैः उस वन में शुद्ध सुगन्धित हवा मन्द मन्द वह रही हैः हवाने धीरे धीरे डोलते हुए ऊंचे ऊंचे सुहावने चन्दन के वृक्ष फूल वर्षा कर अपूर्व अतुल शोभा को बढा रहे हैं; भांति भांति के पौधों से फूलों के गिरने से ऐसा जान पडता है, कि मानों वहां पहुंचे हुए सर्पों पर फूल बरस रहे हैः इस गन्धर्व और अप्सराओं के परम प्यारे, मधु-मत्त भौंरे मधुमाक्षियों से गूंजते हुए, मनोहर, दिव्य, पवित्र और सुन्दर वन की शोभा निहारने से सर्वों के मन में आनन्द की लहर लहराने लगती हैः वह नाना पक्षियों की आहट से बाजता हुआ सुंदर वन कद्रूके पुत्र, नागों का परम प्रिय था, सो वे वहां प्रवेश कर विहार करने लगे और अते

संवर्तितमिवाऽऽकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः।
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः ॥ ३ ॥
संप्रनृत्तमिवाऽऽकाशं धारोर्मिभिरनेकशः।
मेघस्तनितनिर्घोषैर्विद्युत्पवनकम्पितैः ॥ ४ ॥
तैर्मेघैः सततासारं वर्षद्भिरनिशं तदा।
नष्टचन्द्रार्ककिरणमम्बरं समपद्यत ॥ ५ ॥
नागानामुत्तमो हर्षस्तथा वर्षति वासवे ॥ ६ ॥
आपूर्यत मही चाऽपि सलिलेन समन्ततः।
रसातलमनुप्राप्तं शीतलं विमलं जलम् ॥ ७ ॥
तदा भूरभवच्छन्ना जलोर्मिभिरनेकशः।
रामणीयकमागच्छन्मात्रा सह भुजंगमाः ॥८॥ (१३१८)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सौतिरुवाच— संप्रहृष्टास्ततो नागा जलधाराप्लुतास्तदा।
सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं द्वीपमाशु वै ॥ १ ॥
तं द्वीपं मकरावासं विहितं विश्वकर्मणा।

होकर आपस में घोर गर्जना करते हुए जल बरसाने लगे। अति अद्भुत बडे शब्द-शील बादलों के बहुत जल बरसाने पर आकाश देखकर जान पडने लगा, कि मानो प्रलयकाल आगया है। बिजली और हवासे डोलते हुए बादलों की मन-मनाहट रूपी बाजों के साथ अगणित धारा ओं की लहरों से मानों आकाश भी नाचने लगा और बादलों में सदा जल की धार बहने से आकाशतल चन्द्र और सूर्य से खाली जान पडने लगा। देवराज की वर्षा से सर्पों को बडा आनन्द हुआ; धरती जल में भर गई; निर्मल शीतल जल पाताल तल तक पहुंचने लगा। इस प्रकार अपार जलकी लहरोंसे पृथ्वी आह्लादित होने पर सर्पगण माता के सहित रामणीयक द्वीप को पधारे। (१-८) [१३१८]

आदिपर्व में छब्बीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में सत्ताईसवां अध्याय।

श्री सौतिजी बोले, कि अनन्तर गरुड पर चढे हुए सर्पगण जलधारा से नहा कर प्रसन्न हृदय से थोडे काल में रामणीयक द्वीप में जा पहुंचे! मकरों के वासस्थान और विश्वकर्माजी से बने हुए उस द्वीप में नागोंने पहिले पहल बडे

तत्र ते लवणं घोरं ददृशुः पूर्वमागताः ॥ २ ॥
सुपर्णसहिताः सर्पाः काननं च मनोरमम् ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसंघनिनादितम् ॥ ३ ॥
विचित्रफलपुष्पाभिर्वराजिभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४ ॥
प्रसन्नसलिलैश्चाऽपि ह्रदैर्दिव्यैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ॥ ५ ॥
उत्पतद्भिरिवाऽऽकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धतैः ॥ ६ ॥
वायुविक्षिप्तकुसुमैस्तथाऽन्यैरपि पादपैः ।
किरद्भिरिव तत्रस्थान्नागान्पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ॥ ७ ॥
मनःसंहर्षजं दिव्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
मत्तभ्रमरसंघुष्टं मनोज्ञाकृतिदर्शनम् ॥ ८ ॥
रमणीयं शिवं पुण्यं सर्वैर्जनमनोहरैः ।
नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रूपुत्रप्रहर्षणम् ॥ ९ ॥
तत्ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगास्तदा ।
अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥ १० ॥

भयानक खार समुद्रको देखा; पीछे गरुडजीके साथ अति सुंदर वनमें प्रवेश किया। वह महावन सदा सागर-जलमे धोया हुआ और भांति भांति के पक्षियो के कलरवों से पूरित, रंग विरंग के फल-फूलों से सजे सजाये वन, सुन्दर सुन्दर गृह मंदिर, कमलकलाप से भरे हुए सुन्दर झीलों से सुशोभित है; उस वन में शुद्ध सुगन्धित हवा मन्द मन्द वह रही है; हवासे धीरे धीरे डोलते हुए ऊंचे ऊंचे सुहावने चन्दन के वृक्ष फूल वर्षा कर अपूर्व अतुल शोभा को बढा रहे है; भांति भांति के पौधो से फूलों के गिरने से ऐसा जान पडता है, कि मानों वहां पहुंचे हुए सर्पों पर फूल बरस रहे हैं; इस गन्धर्व और अप्सराओं के परम प्यारे, मधु-मत्तभौंरे मधुमक्षियों से गूंजते हुए, मनोहर, दिव्य, पवित्र और सुन्दर वन की शोभा निहारने से सबों के मन मे आनन्द की लहर लहराने लगती है; वह नाना पक्षियों की आहट से बाजता हुआ सुंदर वन कद्रूके पुत्र, नागों का परम प्रिय था, सो वे वहां प्रवेश कर विहार करने लगे और अति

वहाऽस्मानपरं द्वीपं सुरम्यं विमलोदकम् ।
त्वं हि देशान्बहून्रम्यान्व्रजन्पश्यसि खेचर ॥ ११ ॥
स विचिन्त्याऽब्रवीत्पक्षी मातरं विनतां तदा ।
किंकारणं मया मातः कर्तव्यं सर्पभाषितम् ॥ १२ ॥

विनतोवाच— दासीभूताऽस्मि दुर्योगात्सपत्न्याः पतगोत्तम ।
पणं वितथमास्थाय सर्पैरुपधिना कृतम् ॥ १३ ॥
तस्मिंस्तु कथिते मात्रा कारणे गगनेचरः ।
उवाच वचनं सर्पांस्तेन दुःखेन दुःखितः ॥ १४ ॥
किमाहृत्य विदित्वा वा किं वा कृत्वेह पौरुषम् ।
दास्याद्वो विप्रमुच्येयं तथ्यं वदत लेलिहाः ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच— श्रुत्वा तमब्रुवन्सर्पा आहराऽमृतमोजसा ।
ततो दास्याद्विप्रमोक्षो भविता तव खेचर ॥ १६ ॥ [१३३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीक-
पर्वणि सौपर्णे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

वीर्य-शाली पक्षी-राज से कहा, " हे खेचर ! तुम आकाश में घूमनेके काल अनेक प्रकारके देश देखते हो, सो जहां कहीं अमल जल और सुन्दर स्थल हो, ऐसे किसी दूसरे द्वीप में हमको ले चलो । " (१-११)

यह सुनकर कुछ काल सोच करके गरुड जी विनता से बोले, " माता ! मैं क्यों सर्पोंकी आज्ञा पालूं ! " गरुड के ऐसा कहने पर विनताने सब गुणों से भूषित, महाबली, परमवीर्यशाली, आकाशविहारी अपने पुत्र गरुड से कहा, " हे पक्षीराज मैं सर्पों के छल से अर्थात् बाजी हार कर, दुर्दैववश अपनी सौत की दासी बनी हूं । " जब गरुडमाता ने दासी बनने का कारण कह सुनाया, तब आकाशविहारी गरुड जी माता के दुःख से दुःखी होकर सर्पों से बोले, " हे सर्पों ! सच बोलो, मेरे कौनसी वस्तु ढूंढलाने वा किस बात को जान कर लाटने अथवा किस प्रकार के पौरुष प्रकाश करने से हम तुम्हारी सेवकाई से छूट सकते हैं " श्री उग्रश्रवाजी बोले, सर्पों ने गरुड की बात सुनकर कहा, " हे पक्षीवर ! तुम बलपूर्वक अमृत लाओ, तो सेवकाई से छूट सकते हो । " (१२-१६) [१३३४]

आदिपर्व में सत्ताइसवां अध्याय समाप्त ।

मातिरुवाच— इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत् ।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥
विनतोवाच— समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम ।
निषादानां सहस्राणि तान्भुक्त्वाऽमृतमानय ॥ २ ॥
न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन ।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥ ३ ॥
अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः ।
गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥
एवमादिभी रूपैस्तु सतां वै ब्राह्मणो मतः ।
स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनाऽपि सर्वथा ॥ ५ ॥
ब्राह्मणानामभिद्रोहो न कर्तव्यः कथंचन ।
न ह्येवमग्निर्नाऽऽदित्यो भस्म कुर्यात्तथाऽनघः ॥ ६ ॥
यथा कुर्यादभिक्रुद्धो ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तदेतैर्विविधैर्लिङ्गैस्त्वं विद्यास्तं द्विजोत्तमम् ॥ ७ ॥
भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ।
गरुड उवाच— किंरूपो ब्राह्मणो मातः किंशीलः किंपराक्रमः ॥ ८ ॥
किंस्विदग्निनिभो भाति किंस्वित्सौम्यप्रदर्शनः ।

आदिपर्व में अठाइसवा अध्याय ।

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि गरुड सर्पों की इतनी कथा सुनकर माता से बोले, माइ ! मैं अमृत लाने को जाऊं गा, कुछ भोजन करना चाहता हूं, कहो क्या खाऊं ।" विनता बोली," निराले समुद्र में धीवरों के रहने के सुन्दर स्थान हैं, वहा सहस्रों धीवर वसते हैं, तुम उन्हे भोजन कर अमृत लाने को जाओ, पर कभी ब्राह्मण मारने की अभिलाषा मत करो । ब्राह्मण सर्व जीवोंके अवध्य हैं, क्यों कि वह अग्निके समान है । ब्राह्मण सब भूतों के गुरु है, वह क्रोधित होने से अग्नि, सूर्य, विष और अस्त्रके समान बनजाते हैं, साधुलोग इसी हेतु ब्राह्मण की पूजा करते है, बेटा ! क्रोध मे उछल उठने पर भी तुम कभी ब्राह्मणवध मत करना, कभी ब्राह्मण की हानि भी न पहुचाना, हे अनघ ! व्रतशील ब्राह्मण क्रोधित होकर जिस प्रकार भस्म करते हैं, अग्नि और सूर्य भी उस प्रकार भस्म नहीं कर सकते । इन्ही कारणों से ब्राह्मण का सम्मान करना ; ब्राह्मण सर्व भूतों के अग्रज वर्णों में श्रेष्ठ, पिता और गुरु हैं । १-८ ।

गरुड बोले, " माइ ! ब्राह्मण का रूप

यथाऽहमभिजानीयां ब्राह्मणं लक्षणैः शुभैः॥ ९ ॥
तन्मे कारणतो मातः पृच्छतो वक्तुमर्हसि ।
विनतोवाच— यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा ॥ १० ॥
दहेदङ्गारवत्पुत्र तं विद्याद्ब्राह्मणर्षभम् ।
विप्रस्त्वया न हन्तव्यः संक्रुद्धेनाऽपि सर्वदा॥ ११ ॥
प्रोवाच चैनं विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।
जठरे न च जीर्येद्यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम् ॥ १२ ॥
पुनः प्रोवाच विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।
जानन्त्यप्यतुलं वीर्यमाशीर्वादपरायणा ॥ १३ ॥
प्रीता परमदुःखार्ता नागैर्विप्रकृता सती ।
विनतोवाच— पक्षौ ते मारुतः पातु चन्द्रसूर्यौ च पृष्ठतः ॥ १४ ॥
शिरश्च पातु वह्निस्ते वसवः सर्वतस्तनुम् ।
अहं च ते सदा पुत्र शान्तिस्वस्तिपरायणा ॥ १५ ॥
इहाऽऽसीना भविष्यामि स्वस्तिकारे रता सदा ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं पुत्र कार्यार्थसिद्धये ॥ १६ ॥
सौतिरुवाच— ततः स मातुर्वचनं निशम्य वितत्य पक्षौ नभ उत्पपात।

कैसा, स्वभाव कैसा, और पराक्रम कैसा है? क्या वह अग्नि की भांति जलते है अथवा शान्तमूर्ति है? माइ! जिन शुभ लक्षणो से ब्राह्मण को जान सकें, वह मुझको हेतु दर्शाकर बता दो, मैं पहिले यही जानना चाहता हूं।" विनता बोली, "हे पुत्र! जो तुम्हारे भोजन के काल मे गले तक पहुंचते ही कांटेके समान गलेमें अठक जायं और जलते अंगार की भांति जला दें, उन्ही को तुम ब्राह्मण जान लेना, तुम क्रोधयुक्त होनेपर भी कभी ब्राह्मण को हत्या न करना।" विनता पुत्र-स्नेह से फिर बोली "बेटा! जो तुम्हारे पेट में न पचे, उन्ही को अच्छे ब्राह्मण जान लेना।" सर्पो से ठगी, अतिदुःखी, साधुशीला विनता, पुत्रके अतुल बल जानने पर भी पुत्र-स्नेहसे प्रसन्नचित्त होकर उनको आशीस देने लगी और बोली, "बेटा! पवन-देवता तुम्हारे दोनों पंखो को बचावें, चन्द्र और सूर्य तुम्हारी पीठ को बचावें, अग्निदेव तुम्हारे सिरको बचावें, वसुलोग तुम्हारे संपूर्ण शरीर को बचावें। बेटा! मैं भी यहां रहकर तुम्हारी शान्ति और स्वस्तिके लिये मङ्गलचिन्ता में सदा नियुक्त रहूंगी तुम विनाविघ्न कार्य-साधन के लिये पधारो।" (८-१६)

ततो निषादान्बलवानुपागतो बुभुक्षितः काल इवाऽन्तकोऽपरः ॥ १७ ॥
स तान्निषादानुपसंहरंस्तदा रजः समुद्धूय नभःस्पृशं महत् ।
समुद्रकुक्षौ च विशोषयन्पयः समीपजान्भूधरजान्विचालयन् ॥ १८ ॥
ततः स चक्रे महदाननं तदा निषादमार्गं प्रतिरुध्य पक्षिराट् ।
ततो निषादास्त्वरिताः प्रवव्रजुर्यतो मुखं तस्य भुजङ्गभोजिनः ॥ १९ ॥
तदाननं विवृतमतिप्रमाणवत्समभ्ययुर्गगनमिवाऽर्दिताः खगाः ।
सहस्रशः पवनरजोविमोहिता यथाऽनिलप्रचालितपादपे वने ॥ २० ॥
ततः खगो वदनममित्रतापनः समाहरत्परिचपलो महाबलः ।
निषूदयन्बहुविधमत्स्यजीविनो बुभुक्षितो गगनचरेश्वरस्तदा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
सौपर्णेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ (१३५०)

सौतिरुवाच — तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया ।
दहन्दीप्त इवाऽङ्गारस्तमुवाचाऽन्तरिक्षगः ॥ १ ॥
द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णं न स्यादपावृतात् ।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर महाबली गरुड माताकी बात सुनकर दोनों पख फैलाकर आकाश को उडे; और क्षुधा से कातर होकर सर्वनाशी दूसरे यमराज की भांति वह धीवरों के पास जा पहुंचे। धीवर मारने को उनके नीचे उतरने के काल में आकाश चूमती हुई देरसिमाप धूल उडने लगी, उस धूल के नीचे गिरने पर समुद्र-जल सूखने पर हुआ और उनके उतरने के समय निकट के पर्वतों के वृक्ष हिलने लगे। अनन्तर सर्पभक्षक पक्षीराज गरुड भारी मुहको फैलाकरके धीवरों के मार्ग रोककर खडे रहे। धीवरगण भी भय से उनके मुह मे ही शीघ्र घुमने लगे। जिस प्रकार वन-स्थित वृक्षोंके प्रबल पवन से हिलाये जाने से सहस्रों पक्षी समूह धूल और हवा के वेग से विकल और मुग्ध होकर आकाश में इधर उधर घूमते रहते है, उसी प्रकार धीवरगण गरुडजीके फैले हुए मुख में घुमने लगे। आगे शत्रु तरसानेवाले महाबली क्षुधासे [illegible] पक्षीराजने अगणित धीवरों को मारकर [illegible] बन्द कर लिया। (१७-२१) [१३५०]

आदिपर्व मे अठाइसवा अध्याय समाप्त

आदिपर्व मे उन्तीसवा अध्याय

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि [illegible] स्त्री सहित एक ब्राह्मण [illegible] के कंठ में प्रविष्ट होकर [illegible] के समान गलेको [illegible]

न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ॥ २ ॥
ब्रुवाणमेवं गरुडं ब्राह्मणः प्रत्यभाषत ।
निषादी मम भार्येयं निर्गच्छतु मया सह ॥ ३ ॥

गरुड उवाच— एतामपि निषादीं त्वं परिगृह्याऽऽशु निष्पत ।
तूर्णं संभावयाऽऽत्मानमजीर्णं मम तेजसा ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच— ततः स विप्रो निष्क्रान्तो निषादीसहितस्तदा ।
वर्धयित्वा च गरुडमिष्टं देशं जगाम ह ॥ ५ ॥
सहभार्ये विनिष्क्रान्ते तस्मिन्विप्रे च पक्षिराट् ।
वितत्य पक्षावाकाशमुत्पपात मनोजवः ॥ ६ ॥
ततोऽपश्यत्स पितरं पृष्टश्चाऽऽख्यातवान्पितुः ।
यथान्यायममेयात्मा तं चोवाच महानृषिः ॥ ७ ॥

कश्यप उवाच— कच्चिद्वः कुशलं नित्यं भोजने बहुलं सुत ।
कच्चिच्च मानुषे लोके तवाऽन्नं विद्यते बहु ॥ ८ ॥

गरुड उवाच— माता मे कुशला शश्वत्तथा भ्राता तथा ह्यहम् ।
न हि मे कुशलं तात भोजने बहुले सदा ॥ ९ ॥
अहं हि सर्पैः प्रहितः सोममाहर्तुमुत्तमम् ।

उनसे बोले, "हे द्विजोत्तम! मैं मुंह खोलता हूं, तुम शीघ्र निकल जाओ, ब्राह्मण सदा पाप में रत होने पर भी मेरे वधयोग्य नहीं है।" गरुडजी का यह वचन सुनकर ब्राह्मण ने उत्तर दिया, कि मेरी स्त्री यह धीवरी भी मेरे संग निकले। गरुड बोले, "मेरे तेज से पच जाने के पहिले अपनी धीवरी को लेकर के शीघ्र निकलो। (१—४)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर ब्राह्मण धीवरी के संग निकल आये और गरुड को आशीस देकर मनमाने देश को पधारे। स्त्री-सहित ब्राह्मणके निकलने पर काम रूपी पक्षीराज दोनों पंख फैलाकर आकाश को उड गये, आगे पिताजी से भेट होने पर उनसे पूछे जाकर यथावत् सब वृतान्त कह सुनाये। अमेयात्मा महर्षि कश्यपजी उनसे बोले, "बेटा! तुम लोग तो कुशल से हो? तुमको नित्य यथोचित भोजन तो मिलता है? इस भूलोक मे तुम्हारे भोजनयोग्य सामग्री बहुत है न?" गरुडजी बोले, "पिता! मेरी माता और भ्राता नित्य कुशल से हैं, मैं भी कुशल से तो हूं, पर मेरे यथोचित भोजन के विषय मे नित्य ही अमंगल सूझता है, हालमे सर्पों ने मुझको दुर्लभ

मातुर्दास्यविमोक्षार्थमाहरिष्ये नमस्य वै ॥ १० ॥
मात्रा चाऽत्र समादिष्टो निषादान्भक्षयेति ह।
न च मे तृप्तिरभवद्भक्षयित्वा सहस्रशः ॥ ११ ॥
तस्माद्भक्ष्यं त्वमपरं भगवन्प्रदिशस्व मे।
यद्भुक्त्वाऽमृतमाहर्तुं समर्थः स्यामहं प्रभो ॥
क्षुत्पिपासाविघातार्थं भक्ष्यमाख्यातु मे भवान्॥ १२ ॥
कश्यप उवाच — इदं सरो महापुण्यं देवलोकेऽपि विश्रुतम्।
यत्र कूर्मोग्रजं हस्ती सदा कर्षत्यवाङ्मुखः ॥ १३ ॥
तयोर्जन्मान्तरे वैरं संप्रवक्ष्याम्यशेषतः।
तन्मे तत्त्वं निबोधस्व यत्प्रमाणौ च तावुभौ ॥ १४ ॥
आसीद्विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम्।
भ्राता तस्याऽनुजश्चाऽऽसीत्सुप्रतीको महातपाः॥१५ ॥
स नेच्छति धनं भ्राता सहैकस्थं महामुनिः।
विभागं कीर्तयत्येव सुप्रतीको हि नित्यशः ॥ १६ ॥
अथाऽब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः ॥ १७ ॥
विभागं बहवो मोहात्कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः।

अमृत लाने को भेजा है, मैं भी माता की सेवकाई छुडाने को अमृत लाऊंगा। माताने मुझे आज्ञा दी थी, कि तुम धीवरों को खालेना, पर सहस्रो धीवरों को खाजाने पर भी मेरी क्षुधा न गई, सो भगवन्! आप आज्ञा दीजिये, कि और कुछ भोजन की सामग्री कहां मिलेगी। जिसे खाकर अमृत ला सकूं; हे प्रभो! आप मेरी भूख प्यास मिटाने को भोजन सामग्री का पता बता दीजिये। कश्यपजी बोले, " यह जो सरोवर देखते हो, अति पवित्र है, और देवलोक में भी प्रसिद्ध है; यहां एक हाथी मुंह नीचे कर कूर्मरूपी बडे भाई पर सदा चढ आता है। पूर्वजन्म मे उनमें जिस कारणसे शत्रुता हुई थी और उनका जितना परिमाण है, वह सब गूढ वृत्तान्त कहता हूं, सुनो।" (१०–१४)

विभावसुनामक एक बडे क्रोधी महर्षि और सुप्रतीक नामक उनके एक बडे तपस्वी छोटे भाई थे। सुप्रतीक की ऐसी इच्छा नहीं थी, कि पैत्रिक धन एकत्र रहे, सो वह कभी कभी संपत्ति बटवाने की बात कहा करते थे। एक समय विभावसु अपने छोटे भाई सुप्रतीक से बोले, "भाई! बहुतेरे मनुष्य मुग्ध होकर पैत्रिक

ततो विभक्तास्त्वन्योन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः ॥१८॥
ततः स्वार्थपरान्मूढान्पृथग्भूतान्स्वकैर्धनैः ।
विदित्वा भेदयन्त्येनानमित्रा मित्ररूपिणः॥ १९ ॥
विदित्वा चाऽपरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ॥ २० ॥
तस्माद्विभागं भ्रातॄणां न प्रशंसन्ति साधवः ।
गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाऽभिशङ्किनाम्॥२१॥
नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ।
यस्मात्तस्मात्सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि॥२२॥
शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाऽब्रवीत् ।
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः संभविष्यसि॥ २३ ॥
एवमन्योन्यशापात्तौ सुप्रतीकविभावसू ।
गजकच्छपतां प्राप्तावर्थार्थं मूढचेतसौ ॥ २४ ॥
रोषदोषानुषङ्गेण तिर्यग्योनिगतावुभौ ।
परस्परद्वेषरतौ प्रमाणबलदर्पितौ ॥ २५ ॥
सरस्यस्मिन्महाकायौ पूर्ववैरानुसारिणौ ।

धन बंटवाना चाहते तो है, पर बंट जाते ही वे धन की माया में मोहित होकरके आपस के झगडेमें फंस जाते हैं। स्वार्थी और अज्ञानी भाइयों के अपना अपना अंश लेकर अलग होते ही शत्रुलोग मित्र बनकर उनमें आपस का द्वेष खडा कर देते हैं। आगे जब उनमें शत्रुता हो जाती है, तब शत्रुलोग भी दोष निकालने लगते हैं, सो बिना विलंब उनका सत्यानाश हो जाता है, इसी से साधुलोग गुरु और शास्त्रों की आज्ञा न मानने वाले आपस में लडते हुए भाइयों के अलग होने की प्रशंसा नहीं करते, हे सुप्रतीक! तुम भाई से बिगड कर धन की अभिलाषा कर रहे हो और तुम किसी प्रकारसे रुकते नहीं हो, सो हस्तीयोनि में जन्म लोगे।" सुप्रतीक इस प्रकार शाप पाकर विभावसुसे बोले, "तुम भी जलचर कच्छप होकर जन्म लोगे।" इस प्रकारसे क्रोधवश पशु-योनि में जन्म लिये हुए, विभावसु और सुप्रतीक धन के निमित्त बुद्धि खोकर एक दूसरे के शापसे हाथी और कछुआ बने हैं। इस सरोवर में वे दोनों भाई महाबली हाथी और कछुये के स्वरूप में अलौकिक परिमाण और बलसे गर्वित होकरके पूर्व-शत्रुता स्मरण

तयोरन्यतरः श्रीमान्समुपैति महागजः ॥ २६ ॥
यस्य बृंहितशब्देन कूर्मोऽप्यन्तर्जलेशयः ।
उत्थितोऽसौ महाकायः कृत्स्नं विक्षोभयन्सरः॥२७॥
यं दृष्ट्वा वेष्टितकरः पतत्येष गजो जलम् ।
दन्तहस्ताग्रलांगूलपादवेगेन वीर्यवान् ॥ २८ ॥
विक्षोभयंस्ततो नागः सरो बहुझषाऽऽकुलम् ।
कूर्मोऽप्यभ्युद्यतशिरा युद्धायाऽभ्येति वीर्यवान ॥२९॥
षडुच्छ्रितो योजनानि गजस्तद्द्विगुणायतः ।
कूर्मस्त्रियोजनोत्सेधो दशयोजनमण्डलः ॥ ३० ॥
तावुभौ युद्धसंमत्तौ परस्परवधैषिणौ ।
उपयुज्याऽऽशु कर्मेदं साधयेहितमात्मनः ॥ ३१ ॥
महाभ्रघनसंकाशं तं भुक्त्वाऽमृतमानय ।
महागिरिसमप्रख्यं घोररूपं च हस्तिनम ॥ ३२ ॥
सौतिरुवाच— इत्युक्त्वा गरुडं सोऽथ माङ्गल्यमकरोत्तदा ।
युध्यतः सह देवैस्ते युद्धे भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥
पूर्णकुम्भो द्विजा गावो यच्चाऽन्यत्किंचिदुत्तमम् ।

कर एक दूसरे की हिंसा किया करते है। वह देखो, सुन्दर मूर्ति वडाभारी हाथी सरोवर के तट को आ रहा है, उसकी चिल्लाहट सुनते ही वडा भारी कछुआ भी संपूर्ण जलको हिलोड कर बाहर निकला है। वह महाबली हाथी उसको देखते ही सूंडको कुंडलवत बनाकर दांत, सूंडके अगले भाग, पूंछ और पांव आदि के धक्कोंसे मछलियों से भरे हुए तालावको हिलोड कर जल में जा उतरा है, विस्रमी कछुआ भी सिर ऊपर कर लडने को आगे बढा है। उस हाथी का परिमाण ऊंचाई में ६ योजन और लंबाई में बारह योजन है। कुछए की ऊंचाई तीन योजन की और गोलाई दश योजन की; अब वे दोनों एक दूसरे को मारनेको घोर लडाई में फस गये है, सो तुम शीघ्र उन दोनों को खाकर अपना मनमाना कार्य करो; बडे बादल समान कूर्म और बृहत पर्वतवत् घोररूप हस्ती को भोजन करके अमृत लाने जाओ। (१५–३२)

श्री सूतपुत्रजी बोले, कि महर्षि कश्यपने यह कहकर गरुड को इन वचनोंसे असीस दिया, कि हे अंडज! देवोंके साथ युद्ध के समय तुम्हारा मंगल होगा, पूर्णकुंभ, गौ, ब्राह्मण और जो दूसरी मांगलिक वस्तु है,

शुभं स्वस्त्ययनं चाऽपि भविष्यंति तवाऽण्डज॥३४॥
युध्यमानस्य संग्रामे देवैः सार्धं महाबल ।
ऋचो यजूंषि सामानि पवित्राणि हवींषि च ॥ ३५ ॥
रहस्यानि च सर्वाणि सर्वे वेदाश्च ते बलम् ।
इत्युक्तो गरुडः पित्रा गतस्तं ह्रदमन्तिकात् ॥ ३६ ॥
अपश्यन्निर्मलजलं नानापक्षिसमाकुलम् ।
स तत्स्मृत्वा पितुर्वाक्यं भीमवेगोऽन्तरिक्षगः॥ ३७॥
नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाऽक्षिपत् ।
समुत्पपात चाऽऽकाशं तत उच्चैर्विहंगमः ॥ ३८ ॥
सोऽलम्बं तीर्थमासाद्य देववृक्षानुपागमत् ।
ते भीताः समकम्पन्त तस्य पक्षानिलाहताः ॥ ३९ ॥
न नो भञ्ज्यादिति तदा दिव्याः कनकशाखिनः ।
प्रचलाङ्गान्स तान्दृष्ट्वा मनोरथफलद्रुमान् ॥ ४० ॥
अन्यानतुलरूपाङ्गानुपचक्राम खेचरः ।
काञ्चनै राजतैश्चैव फलैर्वैदूर्यशाखिनः ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तान्भ्राजमानान्महाद्रुमान् ॥४१॥
तमुवाच खगश्रेष्ठं तत्र रौहिणपादपः ।

वे तुम्हारे मंगलदायी होवे । जब तुम देवोंके साथ युद्धमें प्रवृत होगे, तब ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद. यज्ञका शुद्ध हव्य,संपूर्ण रहस्य और अंगों के सहित संपूर्ण वेद तुमको बल दें । कश्यप ऋषिके इतनी कथा कहने पर गरुडने वहांसे चलकर निकट ही मे पक्षियोंसे भरे हुए उस सुंदर जलपूर्ण सरोवर को देखा । आगे अति वेगवान् पक्षीवर अपने पिताजीके वचनो को स्मरण करके एक नखसे हस्ती और दूसरे से कच्छप को लेकर आकाश की बडी ऊंचाई पर उड गये और स्थान ठहर करके सुमेरु की चोटी पर देववृक्षो के निकट जा पहुंचे । सुन्दर सुवर्ण–पर्वत पर के वृक्षसमूह पक्षीवर के पंखों की हवासे चोट खाकर टूटने के भयसे कांपने लगे । गरुडजी अभीष्ट फलदायी वृक्षों को कांपते देखकर दूसरे अपार, बृहत–आकार, वैदूर्य–मणिकी शाखाओ से सुहावने, सुवर्ण और चांदीके फलों से बने ठने, समुद्रजलमे प्रक्षालित और शोभा–पूरित महावृक्षोंके पास गये । वहां बडे ही पुराने एक बडे वडने मनके समान वेगवान पक्षीराजको उधर जाते

अतिप्रवृद्धः सुमहानापतन्तं मनोजवम् ॥ ४२ ॥

रोहिण उवाच --- यैषा मम महाशाखा शतयोजनमायता ।

एतामास्थाय शाखां त्वं खादेमौ गजकच्छपौ॥ ४३ ॥

ततो द्रुमं पतगसहस्रसेवितं महीधरप्रतिमवपुः प्रकम्पयन् ।

खगोत्तमो द्रुतमभिपत्य वेगवान्बभञ्ज तामविरलपत्रसंचयाम्॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ (१३९०)

सौतिरुवाच— स्पृष्टमात्रा तु पद्भ्यां सा गरुडेन बलीयसा ।

अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैकामधारयत्॥ १ ॥

तां भङ्क्त्वा स महाशाखां स्मयमानो विलोकयन् ।

अथाऽत्र लम्बतोऽपश्यद्वालखिल्यानधोमुखान्॥२॥

ऋषयो ह्यत्र लम्बन्ते न हन्यामिति तानृषीन् ।

तपोरतांल्लम्बमानान्ब्रह्मर्षीनभिवीक्ष्य सः ॥ ३ ॥

हन्यादेतान्संपतन्ती शाखेत्यथ विचिन्त्य सः ।

नखैर्दृढतरं वीरः संगृह्य गजकच्छपौ ॥ ४ ॥

स तद्विनाशसंत्रासादभिपत्य खगाधिपः ।

शाखामास्येन जग्राह तेषामेवाऽन्ववेक्षया ॥ ५ ॥

अतिदैवं तु तत्तस्य कर्म दृष्ट्वा महर्षयः ।

देखकर कहा, "गरुडजी ! तुम मेरी सौ योजन फैली हुई यह जो एक महाशाखा देखते हो, इसीपर बैठकर हाथी और कछुए को भोजन करो। अनन्तर महीधर समान बृहत-प्रमाण तेजोवान् पक्षिश्रेष्ठके उतरते ही सहस्रो पाक्षिभरा वह वृक्ष हिलने लगा और पत्तों की घनी कतार से सुहावनी वह शाखा टूटभी गई। (३३-४४)

[१३९०] आदिपर्वमें उनतीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें तीसवां अध्याय।

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि गरुडजी के पांवोंसे छूते ही वृक्षशाखाके टूटने पर उसे उन्होंने पकड रखा। आगे आश्चर्य होकर उस टूटी हुई बडी शाखा की ओर आंख फेरकर देखा, कि उस में "बालखिल्य ऋषिलोग नीचे मुहकर लटकते है। तपस्यामग्न लंबमान ब्रह्मर्षियों को देखकर पक्षीवर सोचने लगे, कि ' ऋषिगण इस शाखामें लटक रहे हैं, ऐसा करना होगा कि ये मारे न जायं; यदि शाखा गिर जाय, तो इनके प्राण जाते रहेंगे। " ऐसा विचारकर वीरवर पक्षीनाथने नखोंसे

विस्मयोत्फुल्लहृदया नाम चक्रुर्महाखगे ॥ ६ ॥
गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एष विहंगमः ।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तस्मात्पन्नगभोजनः ॥ ७ ॥
ततः शनैः पर्यपतत्पक्षैः शैलान्प्रकम्पयन् ।
एवं सोऽभ्यपतद्देशान्बहून्सगजकच्छपः ।
दयार्थं वालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत ॥ ८ ॥
स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमञ्जसा ।
ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम् ॥ ९ ॥
ददर्श तं पिता चाऽपि दिव्यरूपं विहंगमम्।
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम् ॥ १० ॥
शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।
अचिन्त्यमनभिध्येयं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ११ ॥
महावीर्यधरं रौद्रं साक्षादग्निमिवोद्यतम् ।
अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः ॥ १२ ॥
भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां समुद्रजलशोषणम् ।
लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम् ॥ १३ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान्कश्यपस्तदा ।

दृढताके साथ गज और कच्छप को पकडकर ऋषियों के नष्ट होनेके भयसे उस शाखा को दोनों चोचों से सम्भाल लिया। महर्षियों ने गरुड का यह अद्भुत कार्य देखकर, अचंभे में होकर उनका "गरुड" नाम रखा, क्योंकि वह सर्पभक्षक पक्षीवर भारी भार लेकर उडे (१-७)

अनन्तर गरुड पंखोंकी हवासे पर्वतों को विकल करते हुए वहां से धीरे धीरे चले। आगे वालखिल्यों की रक्षाके निमित्त उस शाखाको और गजकच्छपको लेकर अनेक देश घूम डाले; पर कहीं बैठके भोजन करने को योग्य स्थान न मिला। अनंतर उन्होंने पर्वतश्रेष्ठ गन्धमादन पर जाकर अपने पिता कश्यप को तप में मग्न देखा। भगवान् कश्यपभी उस तेज-वीर्य-भरे, मन और हवा के समान वेगवान् दिव्य-देही पर्वतशृंगवत्, उद्यत ब्रह्मदंड-रूपी, चिन्तातीत, अद्भुत विकटाकार, भयंकर-मूर्ति महावीर्यशाली, साक्षात् प्रज्वालित अग्नि-सदृश रौद्रमूर्ति, देवदैत्य और दानवोंके अधृष्य तथा अजेय, पर्वत-शृंगविदारक, जलसमुद्र सोखने वाले, तीनों लोकोंको मथने योग्य, घोर यमराज-

विदित्वा चास्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

कश्यप उवाच— पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम् ।
मा त्वां दहेयुः संक्रुद्धा वालखिल्या मरीचिपाः ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच— ततः प्रसादयामास कश्यपः पुत्रकारणात् ।
वालखिल्यान्महाभागांस्तपसा हतकल्मषान् ॥ १६ ॥

कश्यप उवाच —प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः ।
चिकीर्षति महत्कर्म तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच— एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः ।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोर्थिनः ॥ १८ ॥
ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतासुतः ।
शाखाव्याक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम् ॥ १९ ॥
भगवन्क विमुञ्चामि तरो शाखामिमामहम् ।
वर्जितं मानुषैर्देशमाख्यातु भगवान्मम ॥ २० ॥
ततो निष्पुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकंदरम् ।
अगम्यं मनसाऽप्यन्यैस्तस्याऽऽचख्यौ स कश्यपः ॥ २१ ॥
तं पर्वतं महाकुक्षिमुद्दिश्य स महाखगः ।

सदृश, भयानक पक्षीराज को उपस्थित होते देखकर और उनका अभिप्राय समझकर बोले, "बेटा! सावधान! साहस मत करो. आजही कष्ट भोगना न पडे. मरीचिप वालखिल्य लोग क्रोधित होकर तुमको भस्म न करें"। (८-१५)

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर कश्यपने पुत्र के निमित्त तपोवलसे निष्पाप महाभाग्यवान वालखिल्य मुनियों को प्रसन्न किया और बोले, "हे तपोधनो! गरुड लोकोंके मंगलके निमित्त जिस कार्य में उद्यत हुआ है और जिस महान कार्य के करने की अभिलाषा की है, आप लोग उसे उस कार्य के करने की आज्ञा दें।"

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि भगवान कश्यप के ऐसा कहने पर वालखिल्य मुनिगण उस शाखा को छोडकर तपके निमित्त अति पवित्र हिमालय पर्वत को पधारे। पर विनता-पुत्रने, अपने शाखाभार से कातर-मुखसे अस्पष्ट वातों में कश्यपजी से पूछा, "भगवन! मैं इस वृक्ष शाखा को कहां रक्खूं, मुझे बताइये, कि मनुष्यों से खाली देश कहां है। (१५-२०)

यह सुनकर कश्यपजीने, हिम से आच्छादित कन्दरवाले, मनसे भी औरोंके न पहुंचनेके योग्य, मनुष्यों

तथारूपांश्च तान्दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितांवरा ॥ ११ ॥
किमिदं नष्टरूपा स्थ कच्चित्क्षेमं दिवौकसाम् ।
तामूचुर्वसवो देवा शप्ताः स्मो वै महानदि ॥ १२ ॥
अल्पेऽपराधे संरम्भाद्वसिष्ठेन महात्मना ।
विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम् ॥ १३ ॥
सन्ध्यां वसिष्ठमासीन तमत्यभिसृताः पुरा ।
तेन कोपाद्वयं शप्ता योनौ संभवतेति ह ॥ १४ ॥
न तच्छक्यं निवर्तयितुं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ।
त्वमस्मान्मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान्वसून्भुवि ॥ १५ ॥
न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे ।
इत्युक्ता तैश्च वसुभिस्तथेत्युक्त्वाऽब्रवीदिदम् ॥ १६ ॥

गङ्गोवाच— मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्ता भविष्यति ॥ १७ ॥

वसव ऊचुः — प्रतीपस्य सुतो राजा शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
भविता मानुषे लोके स नः कर्ता भविष्यति ॥ १८ ॥

गङ्गोवाच— ममाऽप्येवं मतं देवा यथा मां वदताऽनघाः ।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम् ॥ १९ ॥

भागीरथीने उनको उस दशामें देखकर पूछा, कि तुम क्यों श्रीभ्रष्ट हुए हो? देवोंका कोई अमङ्गल तो नहीं हुआ? (८-१२)

बनाओ। हे शुभे! हम मानवीके पेटमें नहीं घुसेंगे। गङ्गाने वसुओंकी बातको सुनकर जाना और कहा कि मर्त्यलोकमें

अधीयानस्य राजर्षेर्दिव्यरूपा मनस्विनी ।
दक्षिणं शालसङ्काशमूरुं भेजे शुभानना ॥ ३ ॥
प्रतीपस्तु महीपालस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
करोमि किं ते कल्याणि प्रियं यत्तेऽभिकांक्षितम् ॥ ४ ॥

स्त्र्युवाच— त्वामहं कामये राजन्भजमानां भजस्व माम् ।
त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः ॥ ५ ॥

प्रतीप उवाच— नाऽहं परस्त्रियं कामाद्गच्छेयं वरवर्णिनि ।
न चाऽसवर्णां कल्याणि धर्म्यमेतद्धि मे व्रतम् ॥ ६ ॥

स्त्र्युवाच— नाऽश्रेयस्यस्मि नाऽगम्या न वक्तव्या च कर्हिचित् ।
भजन्तीं भज मां राजन्दिव्यां कन्यां वरस्त्रियम् ॥ ७ ॥

प्रतीप उवाच— त्वया निवृत्तमेतत्तु यन्मां चोदयसि प्रियम् ।
अन्यथा प्रतिपन्नं मां नाशयेद्धर्मविप्लवः ॥ ८ ॥
प्राप्य दक्षिणमूरुं मे त्वमाश्लिष्टा वराङ्गने ।
अपत्यानां स्नुषाणां च भीरु विद्ध्येतदासनम् ॥ ९ ॥
सव्योरुः कामिनीभोग्यस्त्वया स च विवर्जितः ।

गंगाने जलमे निकलकर पाठपरायण राजर्षिके शालवृक्षके समान दाहिनी उरुकी भजना की। महीपाल प्रतीप उस यशस्विनीसे बोले, कि हे कल्याणि! तुम्हारे प्रार्थित कौनसा प्रिय कार्य करूं? नारी बोली, कि महाराज! मैं तुमको कामना करके भजती हूं। तुम मुझको भजो साधुलोग इच्छावती कामिनीको त्याग देना दोषयुक्त कहा करते हैं। १–५

अयोग्य वा निंदित स्त्री नहीं हूं; मैं प्रार्थनीया सुन्दरी नारी तथा स्वर्गकी कन्या होकर तुमसे प्रार्थना कर रही हूं, तुम मेरा भजन करो। प्रतीप बोले, कि तुम जिस प्रिय कार्यके लिये मुझे प्रवृत्ति दिलाती हो, मैं उससे निवृत्त हूं, यदि इसरूप उसका विरुद्धाचरण करूं तो यह धर्म विरोध मुझको नष्ट करेगा, विशेष तुमने मेरे दक्षिण उरुका आश्रयण

तपस्तेपे सुतस्याऽर्थे सभार्यः कुलनन्दनः ।
तयोः समभवत्पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ॥ १८ ॥
शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत्स शान्तनुः ।
संस्मरंश्चाऽक्षयाँल्लोकान्विजितान्स्वेन कर्मणा॥१९ ॥
पुण्यकर्मकृदेवाऽऽसीच्छान्तनुः कुरूत्तमः ।
प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात्॥ २० ॥
पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव ।
त्वामाव्रजेद्यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
कामयानाऽभिरूपाढ्या दिव्यस्त्री पुत्रकाम्यया ।
सा त्वया नाऽनुयोक्तव्या काऽसि कस्याऽसि चाङ्गने२२
यच्च कुर्यान्न तत्कर्म सा प्रष्टव्या त्वयाऽनघ ।
मन्नियोगाद्भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम्॥२३ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शान्तनुं तदा ।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह॥ २४ ॥

समयसेही क्षत्रियोंसे श्रेष्ठ कुरुकुलप्रदीप प्रतीप स्त्रीके सहित पुत्रके लिये तप करने लगे। आगे दम्पतिके बुढापेमें उन महात्मा महाभिषने जन्म लिया: वृद्ध भूपालके शान्तचित्त होने पर उस कालमें उस सन्तानका जन्म हुआ. इस हेतु उनका नाम, शातनु हुआ कुरुश्रेष्ठ शातनु निज कर्मसे जो अक्षय पुण्यलोक जीता जाता है. वह मनमें ठहराकर पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे। १८–२०

अनन्तर राजा प्रतीप निजपुत्र शातनु को युवा देखकर बोले. कि हे शातनो! तुम्हारे मंगलके निमित्त पूर्वकाल में एक सुंदरी नारी मेरे पास आई थीः हे पुत्र! वह अनुपम रूपवती युवती वरवर्णिनी काम गामिनी दिव्यकामिनी यदि पुत्रकी कामना से तुम्हारे पास निरालेमें आवे. तो तुम उसको ऐसा मत पूछना. कि "हे अङ्गने? तुम कौन किसकी बेटी हो? और वह कामिनी जो कर्म करेगी वह भी तुम उससे मत पूछना: हे अनघ! मैं तुमको यह आज्ञा करता हूं कि इस आज्ञाके अनुसार तुम उस भजने वाले युवतीको भजना। २०–२३

श्रीवैशम्पायनजी बोले. कि राजा प्रतीप तब अपने पुत्र शान्तनुको ऐसी आज्ञा देनेके पश्चात् निज राज्यपर अभिषिक्त करके वनको पधारे। देवराजके समान धीमान् श्रीमान् धरणीनाथ शान्तनु

तस्मादहं नाऽऽचरिष्ये त्वयि कामं वराङ्गने॥ १० ॥
स्नुषा मे भव सुश्रोणि पुत्रार्थं त्वां वृणोम्यहम्।
स्नुषापक्षं हि वामोरु त्वमागम्य समाश्रिता॥ ११ ॥
स्त्र्युवाच— एवमप्यस्तु धर्मज्ञ संयुजेयं सुतेन ते ।
त्वद्भक्त्या तु भजिष्यामि प्रख्यातं भारतं कुलम्१२
पृथिव्यां पार्थिवा ये च तेषां यूयं परायणम्।
गुणा न हि मया शक्या वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ १३ ॥
कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम्।
समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद्विभो ॥ १४ ॥
तत्सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ।
एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम्॥ १५ ॥
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः।
वैशम्पायन उवाच—तथेत्युक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवाऽन्तरधीयत॥ १६॥
पुत्रजन्म प्रतीक्षन्वै स राजा तद्धारयत् ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ॥ १७ ॥

इस लिये मै तुमसे काम- युक्त आचरण नही कर सकता हूं। री कल्याणि ! जोंकि तुमने आकरकेही मेरी पुत्रवधूके पक्ष की दाहिनी उरुको आश्रय किया है, सो तुम मेरी पुत्रवधु होओ, अतएव अपने पुत्रके निमित्त तुमको ले लिया। ६—११

नारि बोली, कि हे धर्मज्ञ ! तुम अपने पुत्रके साथ मेरा विवाह करनेके लिये जो कुछ कह रहे हो, वहा होवे; तुम पर भक्ति करके मै इस वंशकी सेवा करूंगी; भूमण्डल मे जितने भूपाल हैं, तुम्ही उनकी गति हो। तुम्हारे इस वंशके जितने गुण है, वह मे सैकडों वर्षोंमेंभी कहके अन्त नही कर सकती और इस वंशमे जो प्रख्यात थे, उनकी जितनी साधुता और श्रेष्ठता थी, उसभी कह करके अन्त नहीं की जासकती। हे धर्मज्ञ विभो ! मेरे साथ यह एक नियम ठहराना पडेगा, कि मै जो कुछ करूंगी, तुम्हारा पुत्र उसका कभी विचार नही कर सकेगा, मै ऐसाही नियममे रहकर तुम्हारे पुत्रसे प्रेम बढाऊंगी, तुम्हारे पुत्र प्रणय तथा प्रियकार्य और पुत्रसे स्वर्गकी प्राप्ति करेंगे। (१२—१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! गङ्गाने ऐसा कहकर उसी स्थानमे अन्तर्हिता हुई। राजाने पुत्रके जन्मकी प्रतीक्षा करके वही निश्चय किया। उसी

तपस्तेपे सुतस्याऽर्थे सभार्यः कुलनन्दनः ।
तयोः समभवत्पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ॥ १८ ॥
शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत्स शान्तनुः ।
संस्मरंश्चाऽक्षयाँल्लोकान्विजितान्स्वेन कर्मणा ॥ १९ ॥
पुण्यकर्मकृदेवाऽऽसीच्छान्तनुः कुरुसत्तमः ।
प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ॥ २० ॥
पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव ।
त्वामाव्रजेद्यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
कामयानाऽभिरूपाढ्या दिव्यस्त्री पुत्रकाम्यया ।
सा त्वया नाऽनुयोक्तव्या काऽसि कस्याऽसि चाङ्गने २२
यच्च कुर्यान्न तत्कर्म सा प्रष्टव्या त्वयाऽनघ ।
मन्नियोगाद्भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम् ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शान्तनुं तदा ।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ॥ २४ ॥

समयसेही क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलप्रदीप प्रतीप स्त्रीके सहित पुत्रके लिये तप करने लगे। आगे दम्पतिके बुढापेमें उन महात्मा महाभिषने जन्म लिया; वृद्ध भूपालके शान्तचित्त होने पर उस कालमें उस सन्तानका जन्म हुआ, इस हेतु उनका नाम, शान्तनु हुआ कुरुश्रेष्ठ शान्तनु निज कर्मसे जो अक्षय पुण्यलोक जीता जाता है, वह मनमें ठहराकर पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे। १८-२०

अनन्तर राजा प्रतीप निजपुत्र शान्तनु को युवा देखकर बोले, कि हे शान्तनो! तुम्हारे मंगलके निमित्त पूर्वकाल में एक सुन्दरी नारी मेरे पास आई थी; हे पुत्र! वह अनुपम रूपवती युवती वरवर्णिनी काम गामिनी दिव्यकामिनी यदि पुत्रकी कामना से तुम्हारे पास निरालेमें आवे, तो तुम उससे ऐसा मत पूछना, कि "हे अङ्गने? तुम कौन किसकी बेटी हो? और वह कामिनी जो कर्म करेगी वह भी तुम उससे मत पूछना; हे अनघ! मैं तुमको यह आज्ञा करता हूँ कि इस आज्ञाके अनुसार तुम उस भजने वाले युवतीको भजना। २१-२३

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजा प्रतीप तब अपने पुत्र शान्तनुको ऐसी आज्ञा देके पश्चात् निज राज्यपर अभिषिक्त करके वनको पधारे। देवराजके समान द्योतमान धीमान् धर्मात्मा शान्तनु

स राजा शान्तनुर्धीमान्देवराजसमद्युतिः ।
बभूव मृगयाशीलः सततं वनगोचरः ॥ २५ ॥
स मृगान्महिषांश्चैव विनिघ्नन्राजसत्तमः ।
गङ्गामनु चचारैकः सिद्धचारणसेविनाम् ॥ २६ ॥
स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवाऽपराम् ॥ २७ ॥
सर्वानवद्यां सुदतीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
सूक्ष्माम्बरधरामेकां पद्मोदरसमप्रभाम् ॥ २८ ॥
तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाऽभूद्विस्मितो रूपसंपदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नाऽतृप्यत्स नराधिपः ॥ २९ ॥
सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नाऽतृप्यत विलासिनी ॥ ३० ॥
तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ।
देवी वा दानवी वा त्वं गन्धर्वी वाऽथवाऽप्सराः ॥ ३१ ॥
यक्षी वा पन्नगी वापि मानुषी वा सुमध्यमे ।
याचे त्वां सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने ॥ ३२ ॥ [३९६७]

इतिश्रीमहाभारते शतसाहस्र्यासंहितायांवैयासिक्यामादिपर्वणि सभवपर्वणि शान्तनूपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥

सदा वनमें जाकर मृगया करने लगे। महाराज! एक समय वह राजश्रेष्ठ मृग और भैंस वध करके सिद्धचारणों से सेवित गङ्गाके सामने अकेले घूम रहे थे, कि ऐसे समयमे साक्षात् लक्ष्मीके सदृश कान्तिवती, अनिन्दिता, दिव्य आभूषणोंसे सजी, शोभा देनेवाले दांतों से सुशोभिता एक परमा नारीको देखा। नराधिप शान्तनुने पद्मोदर सदृश सुन्दरी, पतला वस्त्र पहिने हुए उस रमणीको देख कर उसके रूपैश्वर्य से आश्चर्य माना और उनके नेत्ररूपी दो चकवे रूप चन्द्रमाके अमृतको पीकर तृप्त नहीं हुए और विलासिनी नारिभी राजाको अति उज्ज्वल रूपलावण्यसे चमकते और घूमते देखकर स्नेह और प्रेममें फंसकर अपनी देखनेकी लालसाको भले प्रकार पूर्ण नहीं कर सकी। राजाने उसको मीठी बातोंसे समझाकर कहा कि सुन्दरी शोभने देवीवत् कान्तिमती! मैं तुमसे यह प्रार्थना करता हूं, कि तुम चाहे देवी वा दानवी, अथवा गन्धर्वी वा अप्सरा पन्नगी यक्षी वा मानवी जो हो, मेरी भार्या होओ। २४—३२

आदिपर्वमें सतानव्वे अध्याय समाप्त। [३९६७]

अंक १—९] [अध्याय १-९७]

महाभारत आदिपर्वकी अनुक्रमणिका ।

पर्वोंकी श्लोक संख्या ।

पर्व	श्लोक	कुलसंख्या
१ अनुक्रमणिकापर्व	२७५—	२७५
२ पर्वसंग्रहपर्व	३९६—	६७१
३ पौष्यपर्व	१८८—	८५९
४ पौलोमपर्व	१७३—	१०३२
५ आस्तीकपर्व	१२०२—	२२३४
६ अंशावतरणपर्व	३२१—	२५५५
७ संभवपर्व (अपूर्ण)		३९६७

पर्वोंकी अध्याय संख्या ।

	अध्याय ।	कुलअध्याय
१ अनुक्रमणिका पर्व	१ —	१
२ पर्वसंग्रह पर्व	१ —	२
३ पौष्यपर्व	१ —	३
४ पौलोमपर्व	९ —	४१२
५ आस्तीकपर्व	४६—	१३-५८
६ अंशावतरणपर्व	६	५९-६४
७ संभवपर्व (अपूर्ण)	३३	६५-९७

महाभारत आदिपर्व विषयसूची ।

संभव पर्व अपूर्ण ।

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
वसूनां समयं स्मृत्वाऽथाऽभ्यगच्छदनिन्दिता ॥१॥
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा ।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ॥ २ ॥
यत्तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
न तद्वारयितव्याऽस्मि न वक्तव्या तथाऽप्रियम् ॥३॥
एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव ।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम् ॥ ४ ॥
तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम ।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम् ॥ ५ ॥
आसाद्य शान्तनुस्तां च बुभुजे कामतो वशी ।
न प्रष्टव्येति मन्वानो न स तां किंचिदूचिवान् ॥ ६ ॥
स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च ।
उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः ॥ ७ ॥
दिव्यरूपा हि सा देवी गङ्गा त्रिपथगामिनी ।
मानुषं विग्रहं कृत्वा श्रीमत्सा वरवर्णिनी ॥ ८ ॥
भाग्योपनतकामस्य भार्या चोपनताऽभवत् ।

शान्तनोर्नृपसिंहस्य देवराजसमद्युतेः ॥ ९ ॥
संभोगस्नेहचातुर्यैर्हावलास्यमनोहरैः ।
राजानं रमयामास यथा रेमे तथैव सः ॥ १० ॥
स राजा रतिसक्तत्वादुत्तमस्त्रीगुणैर्हृतः ।
संवत्सरानृतून्मासान्बुबुधे न बहून्गतान् ॥ ११ ॥
रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः ।
अष्टावजनयत्पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान् ॥ १२ ॥
जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत ।
प्रीणाम्यहं त्वामित्युक्त्वा गङ्गा स्रोतस्यमज्जयत् १३
तस्य तन्न प्रियं राज्ञः शान्तनोरभवत्तदा ।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद्भीतो महीपतिः ॥१४॥
अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसतीमिव ।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन्पुत्रमात्मनः ॥१५॥
मा वधीः कस्य काऽसीति किं हिनत्सि सुतानिति ।
पुत्रघ्नि सुमहत्पापं संप्राप्तं ते सुगर्हितम् ॥ १६ ॥

समान द्योतमान नृपसिंह शान्तनुके सौभाग्य से उनका मनोरथ सफल करती हुई प्यारी पत्नी हुई। वह सम्भोग, स्नेह, चतुरता, सुन्दर नाच और मनोहर हाव भावसे राजाका मन बहलाने लगी; राजाभी उसके प्रेमी बने; वह अच्छी स्त्रीके गुणसे, वशीभूत होकर क्रीडामें आसक्त रहनेसे यह जान नहीं सके, कि अनेक महीने, ऋतु और वर्ष बीत रहे है। ९--११

नरेशने मनमानी उनसे क्रीडाकरते हुए क्रमशः अमर सदृश आठ पुत्र उत्पन्न किये। हे भारत! जब जो पुत्र जन्म लेता था, तबही गङ्गा उसको जलमें डालदेती और कुमारको यह कहकर सोतेमें डूबा देती थी, कि तुमको प्रसन्न करती हूं। इस प्रकार क्रमसे सात पुत्रोंको डाल देने पर गङ्गाका ऐसा निर्दयी व्यवहार राजाके लिये अति असन्तोषका होने लगा, पर इस भयसे, कि कहीं छोडकर चली न जाय, उससे कुछ कहते नहीं थे। अनन्तर आठवें पुत्रके जन्म लेने पर जब गङ्गा हंस रहीं थीं, कि ऐसे समयमें राजा अति दुःखी होकर निज पुत्रकी रक्षाके निमित्त उनसे बोले, कि पुत्रको मत मारो; तुम कौन किसकी बेटी हो? क्यों पुत्रको मार डालती हो? री पुत्रघात करनेवाली! तुम यह अति अनुचित और महत् पाप कर रही हो। (१२- १६)

स्त्र्युवाच— पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर ।
जीर्णोऽस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः ॥१७॥
अहं गङ्गा जह्नुसुता महर्षिगणसेविता ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुषिताऽहं त्वया सह ॥ १८ ॥
इमेऽष्टौ वसवो देवा महाभागा महौजसः ।
वसिष्ठशापदोषेण मानुषत्वमुपागताः ॥ १९ ॥
तेषां जनयिता नाऽन्यस्त्वदृते भुवि विद्यते ।
मद्विधा मानुषी धात्री लोके नाऽस्तीह काचन॥ २० ॥
तस्मात्तज्जननीहेतोर्मानुषत्वमुपागता ।
जनयित्वा वसूनष्टौ जिता लोकास्त्वयाऽक्षयाः २१॥
देवानां समयस्त्वेष वसूनां संश्रुतो मया ।
जातं जातं मोक्षयिष्ये जन्मतो मानुषादिति ॥ २२ ॥
तत्ते शापाद्विनिर्मुक्ता आपवस्य महात्मनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि पुत्रं पाहि महाव्रतम्॥२३॥
एष पर्यायवासो मे वसूनां संनिधौ कृतः ।

नारी बोली, कि हे पुत्र-कामी! तुम पुत्रवान् जनोंमें श्रेष्ठ हुए, तुम्हारे इस पुत्रको न मारूंगी; पर मैंने जो नियम बांधा था, उसके अनुसार तुम्हारे पास मेरे रहनेका काल बीत गया। मैं महर्षियोंसे सेवित जन्हुकी कन्या गङ्गा हूं, देवताके कार्य साधनेके लिये तुमसे सहवास किया था, तुम्हारे पुत्र महातेजस्वी महाभाग अष्टवसु वसिष्ठजीके शापसे मनुष्य होकर जन्मे थे, इस मर्त्यलोक भरमें तुम्हारे विना उनका जन्मदाता होनेवाला कोई नहीं है, और मेरे विना कोई उनकी माता होनेवालीभी नहीं है, इस हेतु मैंने वसुओंकी माता होनेके लिये मानवी शरीर को आश्रय किया था, तुमने अष्टवसुओं को जन्म देकर अक्षयलोक लाभ किया। (१७–२१)

वसुओं से मेरा यह नियम स्वीकार किया हुआ था, कि जन्म लेतेही मैं उनको मानवी जन्मसे मुक्त करूंगी। इसलिये उनको उस प्रकारसे जल में डाल दिया था, इससे वे महात्मा आपव ऋषिके शापसे मुक्त हुए, इस समय तुम इस महाव्रत पुत्रको पालो; तुम्हारा मङ्गल होवे, मैं जाती हूं। मैंने तुम्हारे लिये वसुओंके निकट एक पुत्र मांगा था इससे हरेक वसुके आठवें भागसे इस पुत्रका जन्म हुआ है। सो मेरे प्रत्य

मत्प्रसूतं विजानीहि गङ्गादत्तमिमं सुतम् ॥२४॥ [३९०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि भीष्मोत्पत्तावष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

शान्तनुरुवाच — आपवो नाम को न्वेष वसूनां किं च दुष्कृतम्
यस्याऽभिशापात्ते सर्वे मानुषीं योनिमागताः॥ १ ॥
अनेन च कुमारेण त्वया दत्तेन किं कृतम् ।
यस्य चैव कृतेनाऽयं मानुषेषु निवत्स्यति ॥ २ ॥
ईशा वै सर्वलोकस्य वसवस्ते च वै कथम् ।
मानुषेषूदपद्यन्त तन्ममाऽऽचक्ष्व जाह्नवि ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता तदा गङ्गा राजानमिदमब्रवीत् ।
भर्तारं जाह्नवी देवी शान्तनुं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
गङ्गोवाच — यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भरतसत्तम ।
वसिष्ठनामा स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ॥ ५ ॥
तस्याऽऽश्रमपदं पुण्यं मृगपक्षिसमन्वितम् ।
मेरोः पार्श्वे नगेन्द्रस्य सर्वर्तुकुसुमावृतम् ॥ ६ ॥
स वारुणिस्तपस्तेपे तस्मिन्भरतसत्तम ।

किये हुए, इस पुत्रको " गङ्गादत्त " अर्थात् गङ्गाका दिया हुआ करके जानना । (२२—२४) [३९०१]

आदिपर्व में अठानव्वे अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में निनानवे अध्याय ।

शान्तनुजी बोले, कि आपव नामके कौनसे ऋषि हैं ? और वसुओं ने उनका कौनसा दोष किया था ? और तुम्हारे दिये हुए इस पुत्रने कौनसा दोष किया था, कि उस कर्मफलसे वह मानवलोकमें वास करेगा ? हे जाह्नवी ! वसुलोग सर्व लोकोंके ईश्वर है, सो मुझे यह कहो, कि वे क्या मर्त्यलोकमें उत्पन्न हुए । (१-३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि देवी जाह्नवी गङ्गा पुरुषश्रेष्ठ पति राजा शान्तनु से यह कहने लगी, कि हे भारत-श्रेष्ठ ! पूर्वकालमें वरुणदेवने जिनको पुत्रलाभ किया था, वह वसिष्ठ नामक मुनि आपव नामसे प्रसिद्ध हुए । पर्वतोंमे श्रेष्ठ सुमेरु के किनारे उनका पवित्र आश्रम था, वह आश्रम मृग पक्षियोंसे गूंजता हुआ और सदा सर्वऋतुओंके फूलों से घिरा रहता था । हे भारतश्रेष्ठ ! पुण्यवानोंमे श्रेष्ठ वही वरुणपुत्र मीठे फल मूल और जलयुक्त उस आश्रमके वनमें तप किया करते है, हे भरतर्षभ !

वने पुण्यकृतां श्रेष्ठः स्वादुमूलफलोदके ॥ ७ ॥
दक्षस्य दुहिता या तु सुरभीत्यभिशब्दिता ।
गां प्रजाता तु सा देवी कश्यपाद्भरतर्षभ ॥ ८ ॥
अनुग्रहार्थं जगतः सर्वकामदुहां वरा ।
तां लेभे गां तु धर्मात्मा होमधेनुं स वारुणिः ॥ ९ ॥
सा तस्मिंस्तापसारण्ये वसन्ती मुनिसेविते ।
चचार पुण्ये रम्ये च गौरपेतभया तदा ॥ १० ॥
अथ तद्वनमाजग्मुः कदाचिद्भरतर्षभ ।
पृथ्वाद्या वसवः सर्वे देवा देवर्षिसेवितम् ॥ ११ ॥
ते सदारा वनं तत्र व्यचरन्त समन्ततः ।
रेमिरे रमणीयेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥ १२ ॥
तत्रैकस्याऽथ भार्या तु वसोर्वासवविक्रम ।
संचरन्ती वने तस्मिन्गां ददर्श सुमध्यमा ॥ १३ ॥
नन्दिनीं नाम राजेन्द्र सर्वकामधुगुत्तमाम् ।
सा विस्मयसमाविष्टा शीलद्रविणसंपदा ॥ १४ ॥
वसवे वै दर्शयामास तां गां गोवृषभेक्षण ।
आपीनां च सुदोग्ध्रीं च सुवालधिखुरां शुभाम् ॥ १५ ॥
उपपन्नां गुणैः सर्वैः शीलेनाऽनुत्तमेन च ।
एवं गुणसमायुक्तां वसवे वसुनन्दिनी ॥ १६ ॥

एक समय सर्वकामदुघा सुरभी नाम्नी देवी दक्षपुत्रीने जगत पर कृपा प्रगट करनेके लिये कश्यपसे एक कन्या प्रसव की; धर्मात्मा वरुणपुत्रने उस कन्याको लेकर हवनधेनु बनायी सुरभीकी कन्या गौ उन मुनियोंसे सेवित पवित्र और रमणीय उपवनमें जाकर निर्भय चित्तसे चरने लगी। (४-१०)

हे भरतश्रेष्ठ अनन्तर किसी समयमें पृथ्वादिक वसुगण देवर्षिसेवित उस वनमें आकर निज निज स्त्रीसे विचरने लगे और रमणीय पर्वत और निकुञ्जमें इधर उधर क्रीडा करनेको प्रवृत्त हुए। हे इन्द्रसमान विक्रमी! उनमेंसे एक वसुकी सुन्दरी एक स्त्रीने उस वनमें घूमती हुई सुरभी की कन्या नन्दिनीको देखा। हे राजेन्द्र! वसुकी स्त्रीने शीलसम्पदसे भरी पूरी नन्दिनीको देखा। हे शार्दूल समान आंखवाले! सर्वकामदुघाओंमें श्रेष्ठ, प्रसन्न थनवाली ... दुधारी, सुन्दर

दर्शयामास राजेन्द्र पुरा पौरवनन्दन ।
द्यौस्तदा तां तु दृष्ट्वैव गां गजेन्द्रेन्द्रविक्रम ॥ १७ ॥
उवाच राजंस्तां देवीं तस्या रूपगुणान्वदन् ।
एषा गौरुत्तमा देवी वारुणेरसितेक्षणा ॥ १८ ॥
ऋषेस्तस्य वरारोहे यस्येदं वनमुत्तमम् ।
अस्याः क्षीरं पिबेन्मर्त्यः स्वादु यो वै सुमध्यमे॥१९॥
दशवर्षसहस्राणि स जीवेत्स्थिरयौवनः ।
एतच्छ्रुत्वा तु सा देवी नृपोत्तम सुमध्यमा ॥ २० ॥
तमुवाचाऽनवद्याङ्गी भर्तारं दीप्ततेजसम् ।
अस्ति मे मानुषे लोके नरदेवात्मजा सखी ॥ २१ ॥
नाम्ना जितवती नाम रूपयौवनशालिनी ।
उशीनरस्य राजर्षेः सत्यसन्धस्य धीमतः ॥ २२ ॥
दुहिता प्रथिता लोके मानुषे रूपसंपदा ।
तस्या हेतोर्महाभाग सवत्सां गां ममेप्सिताम्॥२३॥
आनयस्वाऽमरश्रेष्ठ त्वरितं पुण्यवर्धन ।
यावदस्याः पयः पीत्वा सा सखी मम मानद ॥ २४ ॥

पूंछ और खुरयुक्त, शुभलक्षणा, सुशीला, और सर्वगुणवती देखकर अचरज मान कर अपने पति द्यु नामक वसुको दिखा या। (११–१७)

हे गजेन्द्र समान विक्रमी पौरव-नन्दन! द्यु नामक वसुने तब उस सुरभी की पुत्री को देखकर अपनी प्रेमिका देवीसे उस के रूप और गुणका वर्णन कर कहा, कि री सुन्दरी! जिन ऋषिका यह उत्तम तपोवन है, यह कालेनेत्रवाली देवी सुरभी की पुत्री उन वरुणपुत्रकी उत्तम गौ है। हे सुन्दरी! जो नर इस नंदिनी का मीठा दूध पीयेगा, वह अटल यौवन पाकर दशसहस्र वर्ष जीवित रहेगा। (१७—२०)

हे नृपोत्तम! सुमध्यमा सुंदरी देवी वसुपत्नीने यह सुनकर अति तेजस्वी पति से कहा, कि मर्त्यलोकमें रूप-यौवनवती भूदेवपुत्री जितवती नामक मेरी सहेली है, वह धीमान् सत्य प्रेमी राजर्षि उशीनरकी बेटी है, मानव लोकमे उसका रूप सम्पद प्रसिद्ध हैं, हे महाभाग! उस-के लिये मुझे बछडा-सहित इस गौको लेनेकी अभिलाषा हुई है। हे पुण्य बढाने वाले अमरश्रेष्ठ ! शीघ्र गौको लाइये, हे मानद! मेरी वह सहेली केवल इस

मानुषेषु भवत्वेका जरारोगविवर्जिता ।
एतन्मम महाभाग कर्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ २५ ॥
प्रियं प्रियतरं ह्यस्मान्नास्ति मेऽन्यत्कथंचन ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्या देव्याः प्रियचिकीर्षया ॥ २६ ॥
पृथ्वाद्यैर्भ्रातृभिः सार्धं द्यौस्तदा तां जहार गाम् ।
तया कमलपत्राक्ष्या नियुक्तो द्यौस्तदा नृप ॥ २७ ॥
ऋषेस्तस्य तपस्तीव्रं न शशाक निरीक्षितुम् ।
हृता गौः सा तदा तेन प्रपातस्तु न तर्कितः ॥ २८ ॥
अथाऽऽश्रमपदं प्राप्तः फलान्यादाय वारुणिः ।
न चाऽपश्यत्स गां तत्र सवत्सां काननोत्तमे ॥ २९ ॥
ततः स मृगयामास वने तस्मिंस्तपोधनः ।
नाऽध्यगमच्च मृगयंस्तां गां मुनिरुदारधीः ॥ ३० ॥
ज्ञात्वा तथाऽपनीतां तां वसुभिर्दिव्यदर्शनः ।
ययौ क्रोधवशं सद्यः शशाप च वसूंस्तदा ॥ ३१ ॥
यस्मान्मे वसवो जह्रुर्गां वै दोग्ध्रीं सुवालधिम् ।
तस्मात्सर्वे जनिष्यन्ति मानुषेषु न संशयः ॥ ३२ ॥

गौका दूध पीकर मर्त्यलोकमें जरारहित और रोग वर्जित होगी! हे अनिन्दित महाभाग! मेरा यह प्रियकार्य करना आपका कर्तव्य है, इससे अधिकप्रिय मेरा और कुछ नहीं है। (२४–२६)

द्यु नामक वसुने यह बात सुनकर प्रेमिका देवीको प्रिय अनुष्ठान करनेके लिये पृथु आदि भाइयोंके साथ उस कामधेनुको हर लिया! हे भूप! वह उस कालमें अपनी कमलनेत्रा स्त्रीकी बातोंमें आकर उन ऋषिकी कठोर तपस्याकी भली भांति आलोचना नहीं कर सके! वह यह एकबार भी मनमें नहीं उठाया, कि इस गौके हरनेसे हमारा पतन होगा। (२६–२८)

अनन्तर वरुणपुत्र ऋषि फल बटोर कर आश्रममें उपस्थित हुए; पर अपने सुहावने काननमें बछडा सहित उस गौको नहीं देखा। तब उदारधीमान उस वनमें इधर उधर ढूंढने लगे। पर ढूंढकर ढूंढ करके भी नहीं पाया। और दिव्य नेत्रसे जाना कि वसुओंने गौ हर लिया है, इससे उन्होंने उसी क्षण क्रोधयुक्त होकर वसुओंको यह शाप दिया कि जोकि वसुओंने मेरी सुन्दर पूंछवाली अच्छी दूधवाली दुधारी कामधेनुको हर लिया है

एवं शशाप भगवान्वसूंस्तान्भरतर्षभ ।
वशं क्रोधस्य संप्राप्त आपवो मुनिसत्तमः ॥ ३३ ॥
शप्त्वा च तान्महाभागस्तपस्येव मनो दधे ।
एवं स शप्तवान्राजन्वसूनष्टौ तपोधनः ॥ ३४ ॥
महाप्रभावो ब्रह्मर्षिर्देवान्क्रोधसमन्वितः ।
अथाऽऽश्रमपदं प्राप्तास्ते वै भूयो महात्मनः ॥ ३५ ॥
शप्ताः स्म इति जानन्त ऋषिं तमुपचक्रमुः ।
प्रसादयन्तस्तमृषिं वसवः पार्थिवर्षभ ॥ ३६ ॥
लेभिरे न च तस्मात्ते प्रसादमृषिसत्तमात् ।
आपवात्पुरुषव्याघ्र सर्वधर्मविशारदात् ॥ ३७ ॥
उवाच च स धर्मात्मा शप्ता यूयं धरादयः ।
अनुसंवत्सरात्सर्वे शापमोक्षमवाप्स्यथ ॥ ३८ ॥
अयं तु यत्कृते यूयं मया शप्ताः स वत्स्यति ।
द्यौस्तदा मानुषे लोके दीर्घकालं स्वकर्मणा ॥ ३९ ॥
नाऽनृतं तच्चिकीर्षामि क्रुद्धो युष्मान्यदब्रवम् ।
न प्रजास्यति चाऽप्येष मानुषेषु महामनाः ॥ ४० ॥
भविष्यति च धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः ।

सो इसमें सन्देह नहीं, कि वे सब मर्त्यलोकमें जन्म लेंगे। हे भरतकुलप्रदीप! मुनियोंमे श्रेष्ठ भगवान् आपवने क्रोधके वशमे होकर वसुओंको यह शाप दिया! उन महाभाग महर्षिने शाप देकर तप में मन लगाया। (२९—३४)

हे राजन ! क्रोधयुक्त महाप्रतापी ब्रह्मर्षि तपोधन से देवता आठोंवसु इस प्रकारसे शाप पाकर शापके वृत्तान्तसे ज्ञात होकर फिर उन महात्माके आश्रममें आकर उनकी उपासना करने लगे। हे पृथ्वीपालश्रेष्ठ पुरुषव्याघ्र! वसुगणने उन सर्वधर्मनिपुण ऋषिश्रेष्ठ आपवको प्रसन्न करनेके लिये बडी चेष्टा की, पर मनोरथ सफल नहीं हो सका। अनन्तर धर्मात्मा ऋषिने कहा, कि मैंने धर आदि तुम सबोंको जो शाप दिया है, वर्षभरमें तुम उस शापसे मुक्त हो सकोगे, पर तुम जिसके लिये शापग्रस्त हुए हो, वह द्यु-नामक वसुही केवल निज धर्मके दोषसे मनुष्यलोक मे दीर्घकालतक बसेगा, मैंने क्रोधित होकर जो कहा है, उसकी विरुद्धता नहीं कर सकूंगा। (३४-४०)

यह महामना द्यु नामक वसु मर्त्य-

पितुः प्रियहिते युक्तः स्त्रीभोगान्वर्जयिष्यति ॥ ४१ ॥
एवमुक्त्वा वसून्सर्वान्स जगाम महानृषिः ।
ततो मामुपजग्मुस्ते समेता वसवस्तदा ॥ ४२ ॥
अयाचन्त च मां राजन्वरं तच्च मया कृतम् ।
जाताञ्जातान्प्रक्षिपाऽस्मान्स्वयं गङ्गे त्वमम्भसि ॥ ४३ ॥
एवं तेषामहं सम्यक्शप्तानां राजसत्तम ।
मोक्षार्थं मानुषाल्लोकाद्यथावत्कृतवत्यहम् ॥ ४४ ॥
अयं शापादृषेस्तस्य एक एव नृपोत्तम ।
द्यौ राजन्मानुषे लोके चिरं वत्स्यति भारत ॥ ४५ ॥
वैशम्पायन उवाच–एतदाख्याय सा देवी तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
आदाय च कुमारं तं जगामाऽथ यथेप्सितम् ॥ ४६ ॥
स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाऽभवत् ।
द्युनामा शांतनोः पुत्रः शांतनोरधिको गुणैः ॥ ४७ ॥
शांतनुश्चाऽपि शोकार्तो जगाम स्वपुरं ततः ।
तस्याऽहं कीर्तयिष्यामि शान्तनोरधिकान्गुणान् ॥ ४८ ॥
महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य महात्मनः ।

लोकमे सन्तान उत्पादन नही करेगा, स्त्रीमिलन त्याग देगा, और धर्मात्मा सर्व शास्त्रोमे पण्डित होकर पिताके प्रिय कार्यमे सदा नियुक्त रहेगा। महर्षि सब वसुओंसे यह बात कहकर चले गये। तब सब वसुओंने एकत्र होकर मेरे पास आकर प्रार्थनापूर्वक कहा कि हे गंगे! हमारे जन्म लेतेही तुम स्वयं हमें जलमें डाल देना। हे राजश्रेष्ठ! शापसे ग्रसित वसुओंको शापसे छुडानेके लिये मैंने ऐसा किया है। हे नृपोत्तम भारत! उन ऋषि के शापसे यह द्यु नामक वसु अकेले दीर्घकाल मनुष्यलोकमें बसेगा। (४०—४५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि देवी गङ्गा यह कहकर उस स्थानहीमें अन्तर्हित हुई और उस कुमारको लेकर मनमाने स्थानको पधारी। वह द्यु नामक वसु शान्तनुकी सन्तान होकर देवव्रत और गाङ्गेय नामसे प्रसिद्ध हुए और शान्तनुसे भी अधिक गुणशील भये थे। इधर शान्तनुने शोकयुक्त होकर निज पुरमें प्रवेश किया। हे महाराज! इसक्षण उन महात्मा भारत राजा शान्तनु के अनुपम गुण और महाभाग्यकी कथा कहता हूं जिनका देदीप्यमान इतिहास महाभारत करके प्रसिद्ध

यस्येतिहासो द्युतिमान्महाभारतमुच्यते ॥४९॥ [४०४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वण्यापवोपाख्याने नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन उवाच-स राजा शान्तनुर्धीमान्देवराजर्षिसत्कृतः ।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥ १ ॥
दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
नित्यान्यासन्महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥ २ ॥
एवं स गुणसंपन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः ।
आसीद्भरतवंशस्य गोप्ता सर्वजनस्य च ॥ ३ ॥
कम्बुग्रीवः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
अन्वितः परिपूर्णार्थैः सर्वैर्नृपतिलक्षणैः ॥ ४ ॥
तस्य कीर्तिमतो वृत्तमवेक्ष्य सततं नराः ।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थिताः ॥ ५ ॥
एतान्यासन्महासत्त्वे शांतनौ पुरुषर्षभे ।
न चाऽस्य सदृशः कश्चिद्धर्मतः पार्थिवोऽभवत् ॥६॥
वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम् ।
तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ७ ॥

हुआ है। (४६--४९)

आदि पर्वमें निनानवे अध्याय समाप्त।

आदि पर्व मे एक सौ अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धीमान् शान्तनु सत्यवादी करके सर्व लोकों में प्रसिद्ध और देवता तथा राजर्षियोंसे सत्कार किये जाते थे। हे पुरुषश्रेष्ठ! महासत्त्व शान्तनुमें दम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य, और बडा प्रभाव यह सब गुण सदा विद्यमान थे। ऐसे सुगुणशाली, धर्मार्थपरायण वह राजा भरतवंश और सर्व जनोंके रक्षक थे; वह शङ्खसी ग्रीवायुक्त, बृहत् स्कन्धधारी, उन्मत्त हस्तिवत् पराक्रमी, विक्रमी, और संपूर्ण अर्थ और राजलक्षणोंसे अलंकृत थे। मानववृन्दने उस कीर्तिमान पुरुषके चरित्रको देखकर यह ठहराया था, कि काम और अर्थसे धर्मही श्रेष्ठ है; पुरुषश्रेष्ठ महासत्त्व शान्तनुमें यह सब गुण थे। (१—६)

कोई पृथ्वीपाल धर्मके विषयमें उनके समान नहीं हो सके। भूपोंने उन राजाको धर्मपथमें वर्तमान और धार्मिकोंमें प्रधान देखकर राजाओंके प्रधान पद पर बैठाया;

शान्तनौ पृथिवीपाले नाऽवर्तत तथा नृप ॥ १५ ॥
ब्रह्मधर्मोत्तरे राज्ये शान्तनुर्विनयात्मवान्।
समं शशास भूतानि कामरागविवर्जितः ॥ १६ ॥
देवर्षिपितृयज्ञार्थमारभ्यन्त तदा क्रियाः।
न चाऽधर्मेण केषांचित्प्राणिनामभवद्वधः॥ १७ ॥
असुखानामनाथानां तिर्यग्योनिषु वर्तताम्।
स एव राजा सर्वेषां भूतानामभवत्पिता ॥ १८ ॥
तस्मिन्कुरुपतिश्रेष्ठे राजराजेश्वरे सति।
श्रिता वागभवत्सत्यं दानधर्माश्रितं मनः ॥ १९ ॥
स समाः षोडशाऽष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथाऽपराः।
रतिमप्राप्नुवन्स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ॥ २० ॥
तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ॥ २१ ॥
सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥ २२ ॥
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन्नदीम्।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान्नृपः ॥ २३ ॥

वह राज्यको अहिंसा रूपी ब्रह्मधर्म से अलंकृत करके स्वयं काम क्रोधसे रहित, नम्र और यत्नशील होकर विना पक्षपात सर्व प्राणियोंका शासन करते थे। उन दिनों देव-यज्ञ, ऋषियज्ञ और पितृयज्ञ की क्रिया होने लगी, कोई अधर्म करके किसी जीवको मारता नहीं था। वह राजा दीन, दुःखी, अनाथ और पक्षी योनि में जन्म लिये हुए सर्व जीवोंके पिता के समान थे; और उनके साम्राज्यके कालमें वाणीने सत्यका तथा मनन दान-धर्मका आश्रय किया, और वह छत्तीस वर्ष तक स्त्री सम्भोगादि विषय सुख न प्राप्त होने के कारण वनको सिधारे। गङ्गाके गर्भ से जन्मे वसु उन के पुत्र देवव्रत सुन्दरता, आचार चरित्र और विद्या सर्व विषयहीमें उनके सदृश हुए थे। (१६-२१)

महाबलवीर्यवन्त महासत्ववान् महारथी और गदादि सर्व अस्त्रोंके चलाने मे निपुण नृपवर शान्तनुने एक समय एक मृगको बींधकर उसके पीछे जाते हुए निकटकी नदी भागीरथी गङ्गाको स्वल्प जलयुक्त देखा। पुरुषश्रेष्ठ

महाभारत चित्र माला। चित्र सख्या १९



भीष्म प्रतिज्ञा

[म० भा० आदिपर्व अध्याय १००]

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं त्वियं नाऽद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा॥२४॥
ततो निमित्तमन्विच्छन्ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसंपन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥ २५ ॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवास्थितम् ॥२६॥
तां शरैराचितां दृष्ट्वा नदीं गङ्गां तदन्तिके ।
अभवाद्विस्मितो राजा दृष्ट्वा कर्माऽतिमानुषम् ॥२७॥
जातमात्रं पुरा दृष्ट्वा तं पुत्रं शान्तनुस्तदा ।
नोपलेभे स्मृतिं धीमानाभिज्ञातुं तमात्मजम् ॥ २८ ॥
स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
संमोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवांऽतरधीयत ॥ २९ ॥
तदद्भुतं ततो दृष्ट्वा तत्र राजा स शांतनुः ।
शंकमानः सुतं गंगामब्रवीद्दर्शयेति ह ॥ ३० ॥
दर्शयामास तं गंगा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम ॥ ३१ ॥
अलंकृतामाभरणैर्विरजोम्बरसंवृताम् ।

शान्तनु वह देखकर सोचने लगे, कि इस जलभरी गङ्गामें आज क्यों पहिलेके समान सोता नहीं देखता हूं? अनन्तर उसका कारण ढूंढते हुए देखा, कि बडा भारी देखनेमें सुन्दर रूपधारी और देवराज सदृश सुन्दर एक कुमार तेजवाण-जालसे गङ्गाजीके सोतोंको रोक कर दिव्यास्त्र चला रहा है। (२२–२६)

राजाने अपने पासहीमें नदीगङ्गाको बाणोंसे ढंपी हुई देखकरके बालकका अलोकिक आश्चर्य कार्य निहार कर अचरज माना! धीमान् शान्तनुने पहिले जन्म लेनेही पर पुत्रको देखा था, सो इस क्षण निज पुत्र करके पहिचाननेके योग्य कोई लक्षण उनके स्मरणपथमें आरूढ नहीं हुआ; कुमार पिताको देख करकेही मायासे उनको मुग्ध करके उस स्थानहीमें अन्तर्हित हुए। अनन्तर राजा शान्तनु वह आश्चर्य लीला देखकर शङ्का-युक्त होकरके गंगासे बोले, कि उस अन्त-र्हित हुए कुमारको मुझे दिखाओ। २७-३०

गंगाने उत्तम रूप धरकर दाहिने हाथ में उस अलंकृत कुमारको लेकर राजा को दिखाया। निर्मल वस्त्रसे भली

दृष्टपूर्वामपि स तां नाऽभ्यजानात्स शांतनुः॥ ३२॥

गङ्गोवाच — यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः।
स चाऽयं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदनुत्तमः॥ ३३॥
गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम्।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो॥ ३४॥
वेदानधिजगे साङ्गान्वसिष्ठादेष वीर्यवान्।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि॥ ३५॥
सुराणां संमतो नित्यमसुराणां च भारत।
उशना वेद यच्छास्त्रमयं तद्वेद सर्वशः॥ ३६॥
तथैवाऽङ्गिरसः पुत्रः सुरासुरनमस्कृतः।
यद्वेद शास्त्रं तच्चापि कृत्स्नमस्मिन्प्रतिष्ठितम्।
तव पुत्रे महाबाहौ सांगोपांगं महात्मनि॥ ३७॥
ऋषिः परैरनाधृष्यो जामदग्न्यः प्रतापवान्।
यदस्त्रं वेद रामश्च तदेतस्मिन्प्रतिष्ठितम्॥ ३८॥
महेष्वासमिमं राजन्राजधर्मार्थकोविदम्।
मया दत्तं निजं पुत्रं वीरं वीर गृहं नय॥ ३९॥

भांति आवृता और नाना आभूषणोंसे सजी हुई गंगाको पहिले देखने परभी इस समय उन्होंने नहीं पहिचाना! तब गंगा बोली, कि हे पुरुषव्याघ्र नृपते! पहिले तुमने मेरे गर्भसे जो आठवां पुत्र लाभ किया था, यह वही पुत्र है। यह सम्पूर्ण अस्त्र विद्याओंमें अति पण्डित हुआ है। हे विभो, महाराज! इस पुत्र-को मैने बढाया है, इसे घरको ले जाओ। यह कुमार युद्धमें देवराज समान बडे चापधारी, अस्त्र विद्यामें दक्ष और वीर्य-वान हुआ है; तुम्हारे इस पुत्रने ऋषि वसिष्ठसे छओ अंगके सहित वेद पढ लिया है। (३१-३५)

हे भारत! यह सुर और असुर दोनोंके प्यारे हैं; असुरोंके गुरु उशना जिन जिन शास्त्रोंसे ज्ञात है, इस पुत्रने वह सब पढ लिये; और अंगिराके पुत्र तथा सुरासुरोंके नमस्कारयोग्य बृहस्पतिजी जो जो शास्त्र जानते है, इस पुत्रने वह सबभी सीख लिये है। प्रतापी कठोर ऋषि जामदग्न्य राम जिन सब अस्त्रविद्या ओंमे ज्ञात है, इस महाबाहु महात्मा पुत्रमें सांगोपांग वह सब विद्या अधि-ष्ठित हुई है। हे राजन्, हे वीर! धर्मार्थ कोविद महाधनुर्धारी तुम्हारे इस वीर

वैशम्पायन उवाच–तथैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शांतनुः।
भ्राजमानं यथाऽऽदित्यमाययौ स्वपुरं प्रति ॥ ४० ॥
पौरवस्तु पुरीं गत्वा पुरन्दरपुरोपमाम्।
सर्वकामसमृद्धार्थं मेने सोऽऽत्मानमात्मना ॥ ४१ ॥
पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम्।
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ४२ ॥
पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः।
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ॥ ४३ ॥
स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः।
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ॥ ४४ ॥
स कदाचिद्वनं यातो यमुनामभितो नदीम्।
महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद्गन्धमुत्तमम् ॥ ४५ ॥
तस्य प्रभवमन्विच्छन्विचचार समन्ततः।
स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ॥ ४६ ॥
तामपृच्छत्स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम्।
कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि ४७

पुत्र को मैं इस समय दे देती हूं, इसे घर लेते जाओ। (३६—३९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजा शान्तनु गंगासे ऐसी आज्ञा पाकर दिवाकर सदृश देदीप्यमान पुत्रको लेकर अपने पुरमें आये और उन्होंने पुरन्दरपुर ऐसी पुरीमें प्रवेशकर अपनेको अति सम्पद युक्त और सिद्धकाम समझा। अनन्तर पौरववंश के राज्यको भले प्रकार रखनेके निमित्त अभय-देनेवाले और गुणशील महात्मा पुत्रको यौवराज्यमें अभिषिक्त किया। हे भरतर्षभ! महायशस्वी शान्तनुपुत्रने सुचरित्रसे अपने पिता, पौरवगण और प्रजावृन्द सबोंको प्रेमी बनाया था। अपरिमित विक्रमयुक्त महीपाल शान्तनुने अपने पुत्रके साथ आमोद आनन्दमें चार वर्षकाल काटा। (४०–४४)

किसी समयमें उन महीपति शान्तनु ने यमुनातटके वनमें जाकर एक प्रकार की अनजानी अच्छी गन्धका अनुभव किया। यह पता लगानेके लिये, कि कहांसे वह गन्ध आ रही थी, चारों ओर घूमघाम कर अन्तमें देवरूपिणी एक दासीको देखा; काली आंखवाली उस कन्याको देख करके ही उन्होंने पूछा, कि हे भीरु! तुम कौन किसकी बेटी हो?

साऽब्रवीद्दाशकन्याऽस्मि धर्मार्थं वाहये तरीम् ।
पितुर्नियोगाद्भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ॥ ४८ ॥
रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम् ।
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शांतनुः॥ ४९ ॥
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ।
पर्यपृच्छत्ततस्तस्याः पितरं सोऽऽत्मकारणात् ॥५०॥
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ॥ ५१ ॥
जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित्तं निबोध जनेश्वर ॥ ५२ ॥
यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः ॥ ५३ ॥
समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहमिमां नृप ।
न हि मे त्वत्समः कश्चिद्वरो जातु भविष्यति॥ ५४ ॥
शान्तनुरुवाच —श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं तव ।
दातव्यं चेत्प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन ॥ ५५ ॥

इस वनमें क्यों आई हो ? कन्या बोली, कि तुम्हारा मङ्गल होवे, मैं दासकन्या हूं, महात्मा दासराज मेरे पिता हैं । उन की आज्ञासे मैं धर्मके लिये नाव चलाती हूं । (४७—४८)

राजा शान्तनने उस दासकन्याको रूपवती सुगन्धवती मधुरतासे मोहिनी और देवरूपिणी देखकर मनही मनमें उसकी कामना की, फिर उसके पिताके पास जाकर वह कन्या मांगी और यहभी पूछा, कि मुझसे विवाह कर देनेको संमत हो या नहीं । दासराजने उनसे कहा, कि हे नरेश ! इस सुन्दरीने जब जन्म लिया है, तभी निश्चय हुआ है, कि यह कन्या किसी वरको सम्प्रदान की जायगी, पर मेरी एक इच्छा है, उसे सुनिये; हे अनघ ! आप सत्यवादी हैं, अतएव यदि इस कन्याको धर्मपत्नी बनानेकी प्रार्थना करें, तो आपको मेरे पास सत्य करके एक बात अङ्गीकार करनी होगी । हे नृप ! उसके अंगिकार करनेहीसे मैं कन्याको दान कर दूंगा । मेरे लिये आपके समान सुपात्र फिर कभी न मिलेगा । (४९—५४)

शान्तनु बोले, कि हे दास ! कहो, तुम क्या वर मांगते हो । मैं सुनकर उसकी व्यवस्था करूंगा, यदि देने योग्य हो, तो दूंगा, न देनेका हो, तो न दे



शंतनुमत्स्यगंधा।

[म० भा० आदिपर्व अध्याय १००]

दाश उवाच —अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नाऽन्यः कश्चन पार्थिव॥ ५६॥
वैशम्पायन उवाच--नाऽकामयत तं दातु वरं दाशाय शांतनुः।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत॥ ५७॥
स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः॥ ५८॥
ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम्।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत्॥ ५९॥
सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः।
तत्किमर्थमिहाऽभीक्ष्णं परिशोचासि दुःखितः॥६०॥
ध्यायन्निव च मां राजन्नाऽभिभाषासि किंचन।
न चाऽश्वेन विनिर्यासि विवर्णो हरिणः कृशः॥ ६१॥
व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै।
एवमुक्तः स पुत्रेण शान्तनुः प्रत्यभाषत॥ ६२॥
असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु।

सकूंगा। दासराजने कहा, कि हे पृथ्वीनाथ! इस कन्याके गर्भसे जो पुत्र जन्म लेगा वह पुत्र आपके पीछे राजा होगा; उसीको अभिषिक्त करना होगा, दूसरे पुत्रको अभिषिक्त नहीं कर सकेंगे। (५५–५६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! राजा शान्तनु कठिन कामपीडासे जलने परभी दासको वह देनेको सम्मत नहीं हुए। वह उस दास-कन्याकी चिन्ता करते हुए कामसे चेत रहित होकर हस्तिनापुरको लौट गये; अनन्तर एक समय शान्तनु शोकसे विह्वल होकर सोच रहे थे, कि ऐसे समयमें पुत्र देवव्रतने आकर उनसे कहा, कि आपका सबप्रकारसे कुशल देखता हूं, सब राजालोग आपकी आज्ञावश हैं तिसपरभी आप क्यों दुःखित होकर शोक प्रगट कर रहे हैं? मुझे जान पडता है, मानों आप मेरे ही विषयमें सोच रहे हैं। हे राजन्! मुझसे कुछ बात नहीं कहते हैं, पर मैं देखता हूं, कि आप पहिले बदरङ्ग और दुबले हो गये हैं, अब घोडे पर चढकर घूमते नहीं; सो जानना चाहता हूं कि आपको कौनसी पीडा हुई है, मैं उसको दूर करने का उपाय करूंगा। (५७—६२)

पुनरी यह बात सुनकर शान्तनु बोले कि ऐ बेटा! यह सन्देह नहीं है,

अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ॥ ६३ ॥
शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ॥ ६४ ॥
कथंचित्तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥ ६५ ॥
न चाऽप्यहं वृथा भूयो दारान्कर्तुमिहोत्सहे ।
सन्तानस्याऽविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥ ६६ ॥
अनपत्यं त्वेकपुत्रमित्याहुर्धर्मवादिनः ।
अग्निहोत्रं त्रयीविद्या सन्तानमपि चाऽक्षयम् ॥ ६७ ॥
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम् ।
एवमेतन्मनुष्येषु तच्च सर्वं प्रजास्विति ॥ ६८ ॥
यदपत्यं महाप्राज्ञ तत्र मे नास्ति संशयः ।
एषा त्रयी पुराणानां देवतानां च शाश्वती ॥ ६९ ॥
त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत ।

कि मैं सोचयुक्त हूआ हूं; उसका कारण सुनो। ऐ बेटा भरत-कुल प्रदीप! हमारे इस महत् वंशमें एकमात्र सन्तान तुमने जन्म लिया हैं, पर तुम सदा अस्त्र चलानेमें नियुक्त और पौरुषकी इच्छा रखते हो, सो मनुष्यकी अनित्यता समझ कर मैं शोकयुक्त हुआ हूं! हे गाङ्गेय! यदि किसी प्रकार तुमको विपत् होय, तो हमारा वंश नहीं रहेगा, पर इसमें सन्देह नहीं, तुम एक पुत्रही मेरे शत पुत्रोंसे श्रेष्ठ हो, इस हेतु मैं फिर विवाह करनेकी इच्छाभी नहीं करता, केवल वंश की रक्षाके लिये इतनीही कामना करता हूं, कि तुम कुशलसे रहो; धर्मवादीलोग कहा करते हैं, कि जिसका एकमात्र पुत्र है, वह नि सन्तान है। (६३-६७)

अग्निहोत्र वेदाध्ययन और शिष्य प्रशिष्योंसे विद्याका प्रकार इन सबके अक्षय फल देनेवाले होनेपरभी पुत्रके सोलह भागके एकांशकेभी तुल्य नहीं होते और पुत्र जिस प्रकार मनुष्यके लिये मंगल साधनेहारा करके प्रसिद्ध है, उस प्रकार पशु पक्षी आदि दूसरे जीवोंके लिये भी प्रसिद्ध हुआ है। हे महाप्राज्ञ! इस में मुझे संशय नहीं है, कि पुत्रसे स्वर्ग प्राप्त होता है। सब पुराणोंकी जड और देवोंके प्रमाणभूत जो वेद हैं, उससे सदा इसका प्रमाण मिलता है। हे भारत! तुम शूर, अमर्षयुक्त और अस्त्र चलाने में सदा नियुक्त रहते हो, इससे युद्ध-

नाऽन्यत्र युद्धात्तस्मात्ते निधनं विद्यते क्वचित्॥ ७० ॥
सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वयि शांते कथं भवेत्।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ॥ ७१ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चाऽन्वचिन्तयत्॥ ७२ ॥
अभ्यगच्छत्तदैवाऽऽशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम्।
तमपृच्छत्तदाऽभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम्॥ ७३ ॥
तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत्परिपृच्छते।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा।
अभिगम्य दाशराजं कन्या वव्रे पितुः स्वयम्॥ ७५ ॥
तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत्प्रतिपूज्य च।
अब्रवीचैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥ ७६ ॥
त्वमेव नाथः पर्याप्तः शांतनोर्भरतर्षभ।
पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः॥ ७७ ॥
को हि संबन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौनमीदृशम्।

स्थलही मे तुम्हारे नष्ट होनेकी सम्भावना देखता हूं। ऐसा होनेसे वंशकी कैसी गति होगी? इसी लिये मैं संशययुक्त हुआ हूं। बेटा! तुमको दुःखके सम्पूर्ण कारणोंसे ज्ञात किया। (६७–७१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महाबुद्धि देवव्रत राजाके वह सब कारण ज्ञात होकर बुद्धिसे कुछकाल सोच करके उसी-क्षण परम हितैषी वृद्ध मन्त्रीके पास जाकर पिताके उस शोकके कारण का वृत्तान्त पूछा। हे भरतर्षभ! कुरुराज-पुत्र के यथावत् पूछने पर उस गन्धवती कन्याके लिये दाशराजने जो वर मांगा था, मन्त्रीने वह कह सुनाया। अनन्तर देवव्रत वृद्ध क्षत्रियोंसे मिलकर स्वयं दाशराजके साथ जाकरके पिताके लिये वह कन्या मांगी। दाशराजने उनको विधिपूर्वक पूजकर स्वागत किया। (७२-७६)

हे भारत! देवव्रतके उस दाशराजकी सभामें बैठनेपर दाशराजने उनसे कहा, कि हे भरतर्षभ! आप शस्त्र धरनेवालोंमें श्रेष्ठ और शान्तनुके एक मात्र पुत्र हैं, आप सब सम्बधारियों में प्रधान हैं, और मैं एक बात कहता हूं, सुनिये। कन्या के पिताके साक्षात् इन्द्र होने पर भी ऐसे मानयुक्त और प्रार्थनीय सम्बन्धके

अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ७८ ॥
अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः।
यस्य शुक्रात्सत्यवती संभूता वरवर्णिनी ॥ ७९ ॥
तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ॥ ८० ॥
असितो ह्यपि देवर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया।
सत्यवत्या भृशं चाऽर्थी स आसीदृषिसत्तमः ॥ ८१ ॥
कन्यापितृत्वात्किंचित्तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलं ॥ ८२ ॥
यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्याऽसुरस्य वा।
न स जातु चिरं जीवेत्त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥ ८३ ॥
एतावानत्र दोषो हि नाऽन्यः कश्चन पार्थिव।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ॥ ८४ ॥
वैशम्पायन उवाच -एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत ।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ॥ ८५ ॥
इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतांवर ।

छोडनेसे उसको अवश्य ही सन्तापित होना पडता है। जो पुरुष-प्रधान तुम्हारे ऐसे गुणवान् है, उन्हींके वीर्यसे इस सत्यवती नाम्नी सुन्दरी कन्याने जन्म लिया है; उन्होंने बहुवार मेरे पास आप के पिताका नाम लेकर कहा था, कि वह धर्मज्ञ भूपाल सत्यवतीसे विवाह करनेके योग्यपात्र है; फिरभी ऋषिश्रेष्ठ देवर्षि असितने पहिले इस सत्यवतीके लिये वार वार प्रार्थना की थी, मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया। हे नृपोत्तम! मैं कन्याका पिता हूं, इस लिये यह एक बात कहता हूं, कि इसमें केवल एक बलवत् सपत्न दोष है। हे शक्रको पीडा देनेवाले! आप जिसके सपत्न है, यद्यपि वह गन्धर्व वा असुर होवे, तथापि आपके क्रोधित होनेसे वह कभी दीर्घकाल तक जी नहीं सकेगा, तौभी हे पृथ्वीनाथ! इस विषयमें इतनाही दोष है, कोई दूसरा दोष नहीं; हे परन्तप! आपका मंगल होवे, देने और न देनेके विषयमें यही जानना। (७६-८४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरत-वंशतिलक! गङ्गापुत्र देवव्रत दासराजकी यह बात सुनकर पिताके उपकारके लिये सब वृद्ध क्षत्रियोंके सामने बोले, कि हे

नैव जातो न वाऽजात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥ ८६ ॥
एवमेतत्करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति॥८७॥
इत्युक्तः पुनरेवाऽथ तं दाशः प्रत्यभाषत ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥८८ ॥
त्वमेव नाथः संप्राप्तः शान्तनोरमितद्युतेः ।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन्प्रभुर्दानाय चेश्वरः ॥८९ ॥
इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे ।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिंदम ॥ ९० ॥
यत्त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण ।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥९१ ॥
नाऽन्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवाऽपत्यं भवेद्यत्तु तत्र नः संशयो महान् ॥ ९२ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।

सत्यवादिन्! जानना, कि सत्यही मेरा व्रत है, मै सत्य करके कहता हूं ऐसा मनुष्य जन्मा नही है, कि यह कहनेका उत्साही हो और यह भी जान नही पडता, कि पीछे जन्म लेगा। तुम जो अभिप्राय प्रगट करते हो मै वैसाही करूंगा, तुम्हारी इस कन्या के गर्भमें जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह सन्तानही हमारे राज्यकी अधिकारी होगी। (८६-८७)

हे भरतर्षभ! उनकी यह बात सुनकर दासराजने राज्यके लिये कठोर कर्म करने पर होकर फिर यह कहा, कि हे धर्मात्मन्! अति प्रकाशमान आप शान्तनु पक्षके कर्ता होकर आये है, पर इस कन्या दानकर्ता आप कर्ता होवें। हे शान्तशील! इसस्थल में और एक बात कहनी है,उसका भी विधान आप कीजिये। हे अरिन्दम! जिनकी कन्या पर स्नेह है, उनको यह अवश्यमेव कहना पडता है, अतएव मै कन्याके प्रेमसे ही कहता हूं। हे सत्यधर्मशील! इन राजाके बीचमें आपने सत्यवतीके निमित्त जो प्रतिज्ञा की, वह आप जैसे महानुभाव है, उसके योग्य ही हुआ। हे महाबाहो! इस विषयमें मुझे कुछभी शङ्का नहीं है कि उसका विपरीत नहीं होगा, पर आपकी जो सन्तान होगी उसके लिये मुझे बडा संशय होता है। (८८-९२)

वैशम्पायन बोले, कि हे राजन्! सत्य धर्मशील, सत्यव्रत धारी, गङ्गानन्दन देव-

प्रत्यजानात्तदा राजन्पितुः प्रियचिकीर्षया ॥ ९३ ॥

गाङ्गेय उवाच — दाशराज निबोधेदं वचनं मे नृपोत्तम ।
शृण्वतां भूमिपालानां यद्ब्रवीमि पितुः कृते ॥ ९४ ॥
राज्यं तावत्पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ॥ ९५ ॥
अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्याऽपि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ९६॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः ।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥ ९७ ॥
ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवा सर्षिगणास्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाऽब्रुवन् ९८॥
ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भाविनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शांतनोः संन्यवेदयत् १००॥

राजका अभिप्राय जानकर पिताकी प्रीतिके लिये प्रतिज्ञा पूर्वक बोले; कि हे नृपोत्तम दासराज! मैं पिताके लिये इन राजाओंके सम्मुख यह कहता हूं सुनो। हे राजवृन्द! मैने पहिलेही राज्य छोड दिया है, अब मेरे पुत्रके राज्य पानेके विषय में जो शङ्का कही गयी है, उसके निमित्तभी प्रतिज्ञा करता हूं; हे दास! मै जितने दिन जीवित रहूंगा, आजसे तब-तक के लिये ब्रह्मचर्य अवलम्बन कर लेता हू, इससे मेरे निःसन्तान होने पर भी मेरा अक्षय स्वर्ग होगा। श्रीवैश-म्पायनजी बोले, कि धर्मात्मा दासराज उनकी यह बात सुनकर परमानन्दसे गद्गद होकर कन्यादानके लिये सम्मत हुए। (९३–९७)

अनन्तर आकाशसे अप्सरा गण और ऋषिगण गंगानन्दन देवव्रत के वैसे भयानक संकल्पको सुनकर यह कहके, कि "यह भीष्म है" उनपर फूल वर्षाने लगे। आगे भीष्म पिताके लिये उस यशस्विनी योजनगन्धा कन्यासे बोले, कि हे माता! रथपर आरूढ होओ, अपने घर-को चलना होगा। वैशम्पायन बोले, कि भीष्मने यह बात कह कर भाविनी गन्ध-वतीको रथपर चढाकर हस्तिनापुर में गमन करके शान्तनुसे सब कह सुनाया। राजगणभी आकर सब मिल करके और

तस्य तद् दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समताश्च पृथक्चैव भीष्मोऽयमिति चाऽब्रुवन् १०१
तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शांतनुः।
स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने ॥१०२॥
न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि ।
त्वत्तो ह्यनुज्ञां संप्राप्य मृत्युः प्रभविताऽनघ १०३॥ [४१४३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
सत्यवतीलाभोपाख्याने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शांतनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसंपन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥ १ ॥
ततः शान्तनवो धीमान्सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान्पुरुषेश्वरः ॥ २ ॥
अथाऽपरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान्कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४ ॥

हरेक मनुष्य पृथक रूपसे उनके उस दुष्कर कार्य की प्रशंसा करने लगे और बोले, कि इनके भयङ्कर कार्य करनेसे इनका नाम भीष्म हुआ है। महाराज शान्तनुने भीष्म कृत वह दुःसाध्य कार्य सुनकर सन्तुष्ट होकरके उन महात्माको इच्छामृत्यु का वर दिया। " हे निष्पाप! जबतक तू जीनेकी इच्छा करेगा तबतक मृत्युका प्रभाव तुझपर न होगा और तेरी आज्ञा प्राप्त करकेही तेरेपर मृत्यु का प्रभाव होजायगा।" (९८-१०३) [४१४३]

आदिपर्वमें सौवां अध्याय समाप्त।

— —

आदिपर्वमें एकसौ पहिला अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महीपाल! अनन्तर विवाह होजाने पर राजा शान्तनुने रूपवती सत्यवतीको अपने घरमें स्थापन किया। उनके वीर्य और सत्यवतीके गर्भमें चित्रांगद नामक श्रीमान् वीर्यवान् पुरुष श्रेष्ठ एक वीरपुत्रने जन्म लिया। अनन्तर वीर्यवन्त प्रभु शान्तनुने उन सत्यवतीसे विचित्रवीर्य नामक बडे चापधारी एक पुत्रको उत्पादन किया था। पुरुषश्रेष्ठ विचित्रवीर्य वयःप्राप्त होनेके पहिलेही श्रीमान् शान्तनु कालके वशमें हुए। १-४

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम्।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः॥ ५ ॥
स तु चित्राङ्गदः शौर्यात्सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान्।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित्सदृशमात्मनः॥ ६ ॥
तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाऽभ्ययात्तदा॥ ७ ॥
तेनाऽस्य सुमहद्युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद्रणः॥ ८ ॥
तस्मिन्विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले।
मायाधिकोऽवधीद्वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम्॥ ९ ॥
स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिन्दमम्।
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः॥ १० ॥
तस्मिन्पुरुषशार्दूले निहते भूरितेजसि।
भीष्मः शान्तनवो राजा प्रेतकार्याण्यकारयत्॥ ११॥
विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम्।

शांतनुके स्वर्गको सिधारनेपर भीष्मने सत्यवतीके मतमें होकर अरिंदम चित्रांगद को राज्य पर अभिषिक्त किया। चित्रांगदने शूरतासे सम्पूर्ण राजों को पराजय किया था! वह किसी मनुष्यको आत्मसदृश नहीं समझते थे; यह देखकर, कि वह सुर असुर मनुष्योंको पराजय कर सकते हैं, चित्रांगद नामक एक बलवन्त गन्धर्वराज उनके पास उपस्थित हुए। अनन्तर शान्तनु पुत्र चित्रांगदके साथ गन्धर्वराज चित्रांगदका कुरुक्षेत्रमें अत्यन्त कठोर युद्ध हुआ; गंधर्वराज और कुरुराज दोनों महाबली थे; सो तीन वर्षोंतक सरस्वती नदीके तटपर दोनोंका युद्ध हुआ। (५—८)

हे नृपश्रेष्ठ! उसमें शस्त्रवृष्टियुक्त और मथनेहारा घोर युद्ध होनेके अंतमें बडी बडी माया धरनेवाले गन्धर्वराजने वीर कुरुनंदनको रणमें गिराया था। गंधर्वराज नरश्रेष्ठ, अरिंदम, चित्रांगदको मारकर एकही कालमें नष्ट करके स्वर्ग पर जा चढे! अति तेजस्वी चित्रांगदके हत होनेपर शांतनुनंदन भीष्मने उनकी सम्पूर्ण अंतक्रिया सम्पन्न की थी। उसके पश्चात् उन महाभुज सत्यव्रतशील भीष्मने यौवन न पाये हुए, बालक विचित्र-

कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥ १२ ॥
विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥ १३ ॥
स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥ १४ ॥ [४१८७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि चित्राङ्गदोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

वैशम्पायन उवाच—हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि कौरव।
पालयामास तद्राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः॥ १ ॥
संप्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाऽकरोन्मतिम्॥२॥
अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः।
शुश्राव सहिता राजन्वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥ ३ ॥
ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित्।
जगामाऽनुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥ ४ ॥
तत्र राज्ञः समुदितान्सर्वतः समुपागतान्।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः॥ ५ ॥

वीर्यको कुरुराज्यमें अभिषिक्त किया। महाराज! विचित्रवीर्य भीष्मके आज्ञानुसारी होकर पिताके राज्यको शासने लगे। वह धर्मशास्त्रज्ञ भीष्मको जिस प्रकार पूजते थे, भीष्मनेभी वैसाही धर्मानुसार उनका पालन किया था। (९–१४)

आदिपर्वमें एक सौ पहिला अध्याय समाप्त।[४१८७]

आदिपर्वमें एकसौ दूसरा अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि हे कौरव! भ्राता चित्राङ्गदके मारे जानेपर बालक भ्राता विचित्रवीर्य को उपलक्ष कर भीष्म सत्यवतीके मतमें रहकर राज्य पालने लगे। अनन्तर धीमान् भीष्मने भ्राता विचित्रवीर्यको यौवन प्राप्त होते देखकर उनके विवाहका निश्चय किया। हे राजन्! अनन्तर उन्होंने सुना, कि काशीराजकी अप्सरा समान तीन कन्याओंका एकत्र स्वयंवर होगा। महारथी शत्रुजित प्रभु भीष्म माताकी आज्ञा लेकर प्रधान रथपर चढकर वाराणसी पुरीमें गये। उन्होंने वहां पहुंचकर देखा, कि सर्वत्रसे राजालोग आकर उपस्थित हुए हैं, और उनके बीचमें स्वयंवरकी अभिलाषिणी वे तीन कन्या भी विद्यमान हैं। (१–५)

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ॥ ६ ॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिंतया ॥ ७ ॥
वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः।
किंकारणमिहाऽऽयातो निर्लज्जो भरतर्षभः ॥ ८ ॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि ॥ ९ ॥
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः।
वैशम्पायन उवाच—क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत ॥ १० ॥
भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः।
उवाच च महीपालान्राजञ्जलदनिस्वनः ॥ ११ ॥
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः।
आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः ॥ १२ ॥
अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि।
प्रयच्छन्त्यपरे कन्यां मिथुनेन गवामपि ॥ १३ ॥
वित्तेन कथितेनाऽन्ये बलेनाऽन्येऽनुमान्य च।

हे राजन् ! जब सब राजाओंके नाम कहे जाने लगे, तब उस अकेले वृद्ध शांतनुपुत्र भीष्माचार्यजीको देख कर वह सुंदर कन्याएं खेदके साथ वहांसे दूर चली गयीं। तथा " यह वृद्ध, सफेद बालोंसे युक्त, भारतोंमें श्रेष्ठ, भीष्म निर्लज्ज बन कर यहां क्यों आगया है? हे भारत ! अपनीही प्रतिज्ञा असत्य करके अब यह जनतामें क्या कहेगा ? भीष्म ब्रह्मचारी है, यह बात सच मुच असत्य ही है। ' इस प्रकार बोलते हुए वे सब अधम राजा लोग उसकी हंसी करने लगे। (६—१०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत ! क्षत्रियोंका उक्त भाषण श्रवण करके भीष्माचार्य क्रोधित हुए, और उन्होंने स्वयं उन तीन कन्याओंको हर लिया और उन कन्याओंको निज रथपर चढाकर मेघस्वन से बोलने लगे। बुधोंसे कथित हुआ है, कि गुणवान् वरको बुलवाकर यथाशक्ति कन्याको अलंकृत करके धनदानपूर्वक सम्प्रदान करना, और दूसरे लोग दो गौ लेकर कन्यादान करते हैं। कोई कोई पण्डित धन लेकर कन्यादान करते हैं, कोई कोई बलपूर्वक कन्याको लेजाते

प्रमत्तामुपयन्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ॥ १४ ॥
आर्षं विधिं पुरस्कृत्य दारान्विन्दन्ति चाऽपरे ।
अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिर्वृतम् ॥ १५ ॥
स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ॥ १६ ॥
ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः ।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥ १७ ॥
स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ।
एवमुक्त्वा महीपालान्काशिराजं च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम् ।
आमन्त्र्य च स तान्प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः ॥ १९ ॥
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान्बाहून्दशन्तो दशनच्छदान् ॥ २० ॥
तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम् ।

है, कोई कोई कन्याकी सम्मतिसे विवाह करते हैं, कोई कोई प्रमत्ता कन्यासे मिलते हैं. दूसरे लोग दान करनेवाले को बुलाकर वा स्वयं जाकर कन्याको प्राप्त करते हैं और कोई कोई उचित विधानके अनुसार दक्षिणाके स्वरूपमें कन्याको लाभ करते हैं, आठ संख्याओंमें गिने जाते हुए यह शेषोक्त विवाह कवियोंका प्रार्थनीय है: पर राजगण स्वयंवरहीकी प्रशंसा करते हैं और उसमेंही उपगत होते हैं; परन्तु धर्मवादी जन कहते हैं कि स्वयंवरके स्थलमें विपक्षपक्षको दबाकर बलपूर्वक जो कन्या ली जाती है, वह परीही श्रेष्ठ है. इस कारण मैं बलपूर्वक इस स्थानसे कन्या हरता हूं, हे राजवृंद ! तुममें जिसकी जितनी शक्ति हो, उसके अनुसार जयके लिये यत्नवान होओ, अथवा हार मान जाओ । हे महीपतिगण ! मैं युद्धके लिये निश्चित हो रहा हूं । वीर्यवान् कौरवनंदन काशी-राज और दूसरे महीपालोंसे ऐसा कहकर कन्याओंको अपने रथपर ले करके राजाओंको युद्धार्थ बुलाकर शीघ्र पधारे । (१०—१९)

अनन्तर सम्पूर्ण भूप क्रोधित होकर निज निज बड़ाई प्रगट करके दांतोंसे होंठ काटते हुए उठ खडे हुए, और उनमेंसे किसी किसी ने क्रोधवश ऐसी शीघ्रता की, कि उनके पहिने हुए आभूषण और कवचादि शरीरसे गिरने लगे,

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम्॥ ६ ॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिंतया॥ ७ ॥
वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः।
किंकारणमिहाऽऽयातो निर्लज्जो भरतर्षभः॥ ८ ॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि॥ ९ ॥
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः।
वैशम्पायन उवाच—क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत॥ १० ॥
भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः।
उवाच च महीपालान्राजञ्जलदनिस्वनः॥ ११ ॥
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः।
आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भयः स्मृतं बुधैः॥ १२ ॥
अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि।
प्रयच्छन्त्यपरे कन्यां मिथुनेन गवामपि॥ १३ ॥
वित्तेन कथितेनाऽन्ये बलेनाऽन्येऽनुमान्य च।

हे राजन्! जब सब राजाओंके नाम कहे जाने लगे, तब उस अकेले वृद्ध शांतनुपुत्र भीष्माचार्यजीको देख कर वह सुंदर कन्याएं खेदके साथ वहांसे दूर चली गयीं। तथा " यह वृद्ध, सफेद बालोंसे युक्त, भारतोंमें श्रेष्ठ, भीष्म निर्लज्ज बन कर यहां क्यों आगया है? हे भारत! अपनीही प्रतिज्ञा असत्य करके अब यह जनतामें क्या कहेगा? भीष्म ब्रह्मचारी है, यह बात सच मुच असत्य ही है।' इस प्रकार बोलते हुए वे सब अधम राजा लोग उसकी हंसी करने लगे। (६—१०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! क्षत्रियोंका उक्त भाषण श्रवण करके भीष्माचार्य क्रोधित हुए, और उन्होंने स्वयं उन तीन कन्याओंको हर लिया और उन कन्याओंको निज रथपर चढाकर मेघस्वन से बोलने लगे। बुधोंसे कथित हुआ है, कि गुणवान् वरको बुलवाकर यथाशक्ति कन्याको अलंकृत करके धनदानपूर्वक सम्प्रदान करना, और दूसरे लोग दो गौ लेकर कन्यादान करते हैं। कोई कोई पण्डित धन लेकर कन्यादान करते है, कोई कोई बलपूर्वक कन्याको लेजाते

प्रमत्तामुपयन्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ॥ १४ ॥
आर्षं विधिं पुरस्कृत्य दारान्विन्दन्ति चाऽपरे।
अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिर्वृतम् ॥ १५ ॥
स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ॥ १६ ॥
ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः ।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥ १७ ॥
स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ।
एवमुक्त्वा महीपालान्काशिराजं च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम् ।
आमन्त्र्य च स तान्प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः॥ १९ ॥
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान्बाहून्दशंतो दशनच्छदान्॥ २० ॥
तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम् ।

हे कोई कोई कन्याकी सम्मतिसे विवाह करते हैं. कोई कोई प्रमत्ता कन्यासे मिलते हैं. दूसरे लोग दान करनेवाले को बुलाकर वा स्वयं जाकर कन्याको प्राप्त करते हैं और कोई कोई उचित विधानके अनुसार दक्षिणाके स्वरूपमें कन्याको लाभ करते हैं, आठ संख्याओंमें गिने जाते हुए यह शेषोक्त विवाह कवियोंका प्रार्थनीय हैः पर राजगण स्वयंवरहीकी प्रशंसा करते हैं और उसमेंही उपगत होते हैं; परन्तु धर्मवादी जन कहते हैं कि स्वयंवरके स्थलसे विपक्षपक्षको, दबाकर बलपूर्वक जो कन्या ली जाती है, वह पत्नीही श्रेष्ठा है. इस कारण मैं बलपूर्वक इस स्थानमें कन्या हरता हूं, हे राजवृंद ! तुममें जिसकी जितनी शक्ति हो, उसके अनुसार जयके लिये यत्नवान् होओ, अथवा हार मान जाओ। हे महीपतिगण ! मैं युद्धके लिये निश्चित हो रहा हूं। वीर्यवान् कौरवनंदन काशी-राज और दूसरे महीपालोंसे ऐसा कहकर कन्याओंको अपने रथपर ले करके राजाओंको युद्धार्थ बुलाकर शीघ्र पधारे। (१०—१९)

अनन्तर सम्पूर्ण भूप क्रोधित होकर निज निज बडाई प्रगट करके दांतोंसे होंठ काटते हुए उठ खडे हुए; और उनमेंसे किसी किसी ने क्रोधवश ऐसी शीघ्रता की, कि उनके पहिने हुए आभूषण और कवचादि शरीरसे गिरने लगे,

आमुञ्चतां च वर्माणि संभ्रमः सुमहानभूत् ॥ २१ ॥
ताराणामिव संपातो बभूव जनमेजय ।
भूषणानां च सर्वेषां कवचानां च सर्वशः ॥ २२ ॥
सवर्मभिर्भूषणैश्च प्रकीर्यद्भिरितस्ततः ।
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूकषायीकृतलोचनाः ॥ २३ ॥
सूतोपक्लृप्तान्रुचिरान्सदश्वैरुपकल्पितान् ।
रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः ॥ २४ ॥
प्रयान्तमथ कौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः ।
ततः समभवद्युद्धं तेषां तस्य च भारत ॥ २५ ॥
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २६ ॥
ते त्विषून्दशसाहस्रांस्तस्मिन्युगपदाक्षिपन् ।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वास्तथांतरा॥ २७ ॥
अच्छिनच्छरवर्षेण महता लोमवाहिना ।
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवार्य तम् ॥ २८ ॥
ववृषुः शरवर्षेण वर्षेणेवाऽद्रिमम्बुदाः ।
स तं बाणमयं वर्षं शरैरावार्य सर्वतः ॥ २९ ॥
ततः सर्वान्महीपालान्पर्यविध्यत्त्रिभिस्त्रिभिः ।

उनके वह गिरते हुए, कवच और आभूषण तारोंके पतनके समान दीख पडे। वह सब राजालोग इधर उधर कवच और अलङ्कारोंके गिर जानेसे क्रोध और अमर्षवश भौंहें चडाय और आंख वडाय अस्त्र शस्त्र लेकर सारथियोंसे अच्छे घोडे जोते हुए, प्रस्तुत सुन्दर रथोंपर चढके अस्त्र शस्त्र उठाकर चले जाते हुए भीष्मको पछियाते हुए चले। (२०-२५)

हे भारत! अनन्तर अकेले भीष्मसे उन सब राजाओंका रोयें खडा करनेवाला घोर युद्ध होने लगा। राजा लोगोंने एकही कालमें भीष्मपर दश सहस्र बाण मारे, भीष्म ने उसीक्षण अर्थात् उन बाणोंके आ पहुचनेके बीचपथहीमें रोयें तक को बीधनेवाले और बाणोंको विना रोक टोक की वृष्टिमें टुकरे टुकरे कर डाला। इस के पीछे सब राजालोग चारों ओरसे उनको घेरकर जिस प्रकार बादल दल पर्वतपर विना रोक टोक जल-धारा वर्षाते है, उस प्रकार उनपर बाण वर्षाने लगे। तब भीष्मने बाणजालसे उन सब बाणोंका वर्षना रोककर तीन

एकैकस्तु ततो भीष्मं राजान्विव्याध पञ्चभिः॥ ३० ॥
स च तान्प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमान् ।
तद्युद्धमासीत्तुमुलं घोरं देवासुरोपमम ॥ ३१ ॥
पश्यतां लोकवीराणां शरशक्तिसमाकुलम् ।
स धनूंषि ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च॥ ३२ ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्याऽतिपुरुषानन्यॉल्लाघवं रथचारिणः ॥ ३३ ॥
रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन्।
तान्विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥
कन्याभिः सहितः प्रायाद्भारतो भारतान्प्रति।
ततस्तं पृष्ठतो राजञ्छाल्वराजो महारथः॥ ३५ ॥
अभ्यगच्छदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे ।
वारणं जघने भिन्दन्दन्ताभ्यामपरो यथा ॥ ३६ ॥
वासितामनुसंप्राप्तो यूथपो बलिनां वरः ।
स्त्रीकामस्तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिवः॥ ३७ ॥

तीन बाणोंसे हरेक महीपालको विद्ध किया राजाओंमें से भी हरेकने पांच बाणोंसे भीष्मको विद्ध किया। (२५- ३०)

हे राजन् ! भीष्मने फिर प्रभाव प्रगट कर दो दो बाणोंसे हर भूपको विद्ध किया। वह युद्ध इतना कठोर होने लगा, कि जो सब वीर देवासुरके युद्धके समान और शरशक्तियोंसे समाकुल उस घोर युद्धको देख रहे थे, उनके लिये भी यह भयानक हो गया, भीष्म युद्धस्थलमें कवच और शिर काटने लगे। तब रथ पर चढे हुए राजालोगोंने शत्रु पक्षी होने पर भी उनके अलोकिक आश्चर्य कार्य, शीघ्र हाथ चलानेका कौशल और आत्मरक्षाको देखकर उनको प्रशंसापूर्वक सम्मान प्रगट किया। अनन्तर शस्त्र धरने वालोंमें श्रेष्ठ भरतवशतिलक भीष्मने युद्धमें राजाओंको पराजयकर कन्याओंके साथ निज नगर की ओर यात्रा की। (३१–३५)

हे राजन्! जिस प्रकार महाबली हस्तीदलपति किसी हस्तिनीके प्राप्त किये हुए दूसरे हाथीके दो जघाको फाड कर हस्तिनी की ओर दौडता है, उस प्रकार अमेयात्मा महारथी शाल्वराज स्त्रीकामी होकर युद्धके लिये भीष्मके पीछे दौडे और वह महाभुज अमर्षयुक्त होकर " तिष्ठ तिष्ठ " ऐसा कहने लगे। शत्रुबल

शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेण प्रचोदितः ।
ततः स पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः ॥ ३८ ॥
तद्वाक्याकुलितः क्रोधाद्विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।
विततेषुधनुष्पाणिर्विकुञ्चितललाटभृत् ॥ ३९ ॥
क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसंभ्रमः ।
निवर्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ॥ ४० ॥
निवर्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमे ॥ ४१ ॥
तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे ।
अन्योन्यमभिवर्तेतां बलविक्रमशालिनौ ॥ ४२ ॥
ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः ।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ॥ ४३ ॥
पूर्वमभ्यर्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः ।
विस्मिताः समपद्यन्त साधुसाध्विति चाऽब्रुवन् ॥ ४४ ॥
लाघवं तस्य ते दृष्ट्वा समरे सर्वपार्थिवाः ।
अपूजयन्त संहृष्टा वाग्भिः शाल्वं नराधिपम् ॥ ४५ ॥

मथनेवाले पुरुषव्याघ्र भीष्म उस वाक्यसे आकुलित होकर क्रोधसे जलते हुए अग्नि समान जल उठे, क्षत्रिय धर्ममें सच्चे निष्ठावान् उस महारथीने लिलार को हिलोडकर शर और शरासनको फैलाकर शाल्वराजके निमित्त निडर और स्थिर चित्तसे रथको रोक लिया । ३५-४०

सम्पूर्ण राजालोग उनको निवृत्त होते देखकर भीष्म और शाल्व दोनोंका समागम देखनेके लिये खडे होगये । ऋतुमती गौके लिये बलवन्त दो बैल जिस प्रकार तर्जन गर्जन करते है, वैसेही महाबली पराक्रमी दो भूप आपसमे विक्रम प्रगट करने लगे । नरोंमें श्रेष्ठ शाल्वराजने शतसहस्र शीघ्रगामी शरोंसे भीष्मको ढांप लिया । राजालोग पहिले ही शाल्वराजसे भीष्मको मथे जाते देखकर अचरज मानकर शाल्वको बार बार साधुवाद करने लगे और शाल्वराज की लघु हस्तता और रण मे पण्डिताई को अवलोकन कर प्रसन्नचित्त से बडी प्रशसा करने लगे । (४१—४५)

अनन्तर शत्रु पुर-विजयी शान्तनुपुत्र ने क्षत्रियों की यह प्रशंसा की वाणी सुन करके क्रोधयुक्त होकर ' तिष्ठ तिष्ठ " यह बात कही और क्रोधपूर्वक सारथीको

क्षत्रियाणां ततो वाचः श्रुत्वा परपुरंजयः ।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत॥ ४६ ॥
सारथिं चाऽब्रवीत्क्रुद्धो याहि यत्रैष पार्थिवः।
यावदेनं निहन्म्यद्य भुजङ्गमिव पक्षिराट् ॥ ४७ ॥
ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग्योजयामास कौरवः।
तेनाऽश्वांश्चतुरो मृद्नाच्छाल्वराजस्य भूपतेः ॥४८॥
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराजस्य कौरवः।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत्तस्य सारथिम् ॥४९॥
अस्त्रेण चाऽप्यथैन्द्रेण न्यवधीत्तुरगोत्तमान्।
कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठ भीष्मः शांतनवस्तदा ॥ ५० ॥
जित्वा विसर्जयामास जीवंतं नृपसत्तमम् ।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ॥ ५१ ॥
स्वराज्यमन्वशाच्चैव धर्मेण नृपतिस्तदा ।
राजानो ये च तत्राऽऽसन्स्वयंवरदिदृक्षवः॥ ५२ ॥
स्वान्येव तेऽपि राष्ट्राणि जग्मुः परपुरंजया ।
एवं विजित्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ॥५३॥
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरव. ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा प्रशास्ति वसुधामिमाम् ५४

आज्ञा दी, कि जहां वह शाल्वराज है, वहा रथको ले चलो; जिस प्रकार गरुड सर्प नष्ट करता है, उस प्रकार मै आज उसका पूर्णनाश करूंगा। उसके अनन्तर कुरुनन्दन भीष्मने वारुणास्त्र छोडकर उससे शाल्वराजके घोडे नष्ट किये और अस्त्रसे शाल्वराजके सम्पूर्ण अस्त्र दूरकर उनके सारथीको यमराजका पाहुना बनाया। हे नरश्रेष्ठ ! शान्तनुनन्दन भीष्मने कन्याओंके लिये ऐन्द्र अस्त्रसे उनके अच्छे घोडोंको मारा। इस प्रकार मे उन्होंने नृपश्रेष्ठ शाल्वराजको जीतकर जीवन शेष रहते ही छोड दिया।४६-५१

आगे राजा शाल्व निज नगर में जाकर धर्मानुसार अपना राज्य पालनेमें प्रवृत्त हुए। शत्रुपुर विजयी जो सब भूप स्वयंवर देखनेको आये थे, वेभी निज निज राज्यको पधारे। महायोद्धा कुरुपुत्र भीष्म इस प्रकार तीन कन्या जीत कर हस्तिनापुरमें उस स्थानकी ओर चले जिस स्थानमें कौरवराज विचित्रवीर्य विराज रहे थे। उनके पिता कुरुवंशा

यथा पिताऽस्य कौरव्यः शांतनुर्नृपसत्तमः।
सोऽचिरेणैव कालेन अत्यक्रामन्नराधिप ॥ ५५॥
वनानि सरितश्चैव शैलांश्च विविधान्द्रुमान्।
अक्षतः क्षपयित्वाऽरीन्संख्येऽसंख्येयविक्रमः ५६॥
आनयामास काश्यस्य सुताः सागरगासुत।
स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिनीरिव चाऽनुजाः॥ ५७॥
यथा दुहितरश्चैव परिगृह्य ययौ कुरून्।
आनिन्ये स महाबाहुर्भ्रातुः प्रियचिकीर्षया॥ ५८॥
ताः सर्वगुणसंपन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः॥ ५९॥
एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्माऽतिमानुषम्।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे।
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान् ॥६०॥
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्धसती तदा॥ ६१॥
मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः।
तेन चाऽस्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः॥ ६२॥

नृपश्रेष्ठ शान्तनु जिस प्रकार धरती शासते थे, धर्मात्मा विचित्रवीर्यभी उस प्रकार शासन कर रहे थे। हे नराधिप! भीष्म स्वल्पकालके बीचमेंही वन, जल, पर्वत और भांति भांतिके वृक्षयुक्त उपवन अतिक्रम करने लगे। अन्तनर शत्रुकुल नष्टकर रणस्थलमें अक्षत शरीरमें काशीराजकी कन्याओंको ले आये। (५१-५६)

उन धर्मशील महाभुज भीष्मने भ्राताके प्रियसाधनके लिये विक्रमसे लाभ की हुई सर्वगुणयुक्त कुमारियोंको पुत्रवधू, छोटी बहिन और बेटीकी नाई लेकर कौरवोंके पास आकर कनिष्ठ भ्राता विचित्रवीर्यको देदिया। वह धर्मज्ञ उक्त प्रकार धर्मानुसार अलौकिक कार्य पूराकर भ्राता विचित्रवीर्यके विवाहके लिये प्रबन्ध करने लगे। जितेन्द्रिय भीष्म सत्यवतीसे परामर्श कर काशीराजकी कन्याओंसे विचित्रवीर्यका विवाह कर देना निश्चय कर चुके थे, कि ऐसे समय उन कन्याओंमेंसे बडी कन्या हसकर उनसे बोली, कि मैं पहिले सौभराज्यके अधीश शाल्वको मनही मनमें पति बना चुकी थी, उन्होंनेभी मनहीमनमें मुझको

मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन्स्वयंवरे।
एतद्विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ॥ ६३ ॥
एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि ।
चिन्तामभ्यगमद्वीरो युक्तां तस्यैव कर्मणः॥ ६४ ॥
विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥६५॥
अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद्भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६६॥
तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥६७॥
ते चापि बृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्धजे ।
रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ॥ ६८ ॥
आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते ।
विचित्रवीर्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुः शुभे ॥६९॥
स चाऽश्विरूपसदृशो देवतुल्यपराक्रमः ।
सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनो रहः ॥ ७० ॥

भार्या बनाया था, इसमें मेरे पिताकी इच्छा भी थी, उस स्वयंवर स्थलमें मै शाल्वहीको वरमाल देती, आप धर्मशील है; यह विचारकर धर्मानुसार कार्य कीजिये। (५८-६३)

उस कन्याके विप्रोंकी सभामें यह बात कहने पर धर्मज्ञ वीर भीष्म यह सोचने लगे कि वर्तमान विषयमें क्या कर्तव्य है। आगे उन्होंने वेदपारग ब्राह्मणोंसे युक्ति निश्चयकर काशी नरेशकी अम्बा नाम्नी उस बडी कन्याको अपना अभीष्ट पूर्ण करनेकी आज्ञा दी। अनन्तर यथा-विधि कर्मानुसार अम्बिका और अम्बालिका नाम्नी काशीराजकी दो छोटी बेटियोंसे विचित्रवीर्यका विवाह करादिया। रूप यौवनयुक्त धर्मात्मा विचित्रवीर्य अम्बिका, अम्बालिकाका पाणिग्रहण कर कामानुवर्त्ती हुए। (६४-६७)

घूंघराले नीले केशवाली, लाल और तुगनखयुक्त, काली और सुलक्षणा कल्याणी अम्बिका और अम्बालिका दोनो पीननितम्बिनी और पीनपयोधरा थी। वे विचित्रवीर्य को अपना मनमाना पति पाकर सन्तोष पूर्वक उपासना करने लगी। अश्विनीकुमार समान रूपवान और देवसम विक्रमी विचित्रवीर्य निराले

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन्पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥ ७१ ॥
सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामाऽस्तमिवाऽऽदित्यः कौरव्यो यमसादनम् ७२ ॥
धर्मात्मा स तु गाङ्गेयश्चिन्ताशोकपरायणः।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि तस्य सम्यगकारयत् ॥७३ ॥
राज्ञो विचित्रवीर्यस्य सत्यवत्या मते स्थितः।
ऋत्विग्भिः सहितो भीष्मः सर्वैश्च कुरुपुङ्गवैः॥ ७४ ॥ [४२३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि विचित्रवीर्योपरमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १ ॥
समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम्।
धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च भाविनी ॥ २ ॥
प्रसमीक्ष्य महाभागा गांगेयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य कौरवस्य यशस्विनः।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं च प्रतिष्ठितम्॥ ४ ॥

से दोनों नारियोंहीके मनमोहन बने थे। वह उन नारियोंके साथ लगातार सात वर्ष विहार कर यौवन कालहीमें भयानक क्षय रोगसे जकडे गये। अनन्तर विश्वासी चिकित्सकों से आरोग्यके लिये मित्रोंके यत्न करने पर भी कुरुकुल प्रदीप विचित्र वीर्य कालके वशमें होकर अस्ताचलको गये और सूर्यके समान अदृश्य हुए। धर्मात्मा भीष्मने चिन्तायुक्त और शोक वश होकर ऋत्विक और सम्पूर्ण कौरवों के साथ सत्यवतीके मतानुसारी होके राजा विचित्रवीर्यके सब प्रेतकर्म भल प्रकार किये। (६८–७४) [४२३१]

आदिपर्वमें एक सौ दूसरा अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एक सौ तीसरा अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! अनन्तर महाभागा भाविनी सत्यवती पुत्र शोक से विह्वला, दीन और क्षुब्धचित्त होकर पुत्र वधुओं के साथ पुत्रकी और्ध्व-दैहिक क्रिया पूरी कर भीष्मको और दोनों पुत्रवधुओंको समझा बुझा कर मातृवंश और पितृवंशकी दशा शोच के धर्म पर दृष्टि रखकरके भीष्मसे बोली, कि धर्मशील यशस्वी कुरुवंशी नरेश

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम्।
यथा चाऽऽयुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥ ५ ॥
वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ६ ॥
व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ ७ ॥
तस्मात्सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि॥८॥
मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान्सुप्रियश्च ते।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसंपन्ने पुत्रकामे च भारत ॥१०॥
तयोरुत्पादयाऽपत्यं संतानाय कुलस्य नः।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहाऽर्हसि ॥ ११ ॥
राज्ये चैवाऽभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ॥ १२ ॥

शान्तनुका वंश, कीर्ति और पिण्ड एक तुम्ही पर निर्भर हैः और जिस प्रकार शुभ कर्मसे निश्चयही स्वर्ग होता है, और सत्यशीलता से निश्चयही आयु की वृद्धि होती है, उस प्रकार तुममें निश्चयही धर्म प्रतिष्ठित है। हे धर्मज्ञ! तुम धर्म और नानाप्रकारकी श्रुति और सम्पूर्ण वेदांगों में संक्षेपमें और विस्तृत रूपसे ज्ञात हो। (१—६)

शुक्र और अङ्गिरा की नाई तुम्हे धर्मशीलता और कुलाचार तथा विपत्कालमें विचार करने की सामर्थ भी है, यह सब मै जानती हूं, इसलिये मै तुमसे बडा भरोसा पाकर तुमको किसी कार्यमें नियुक्त करूंगी। हे धार्मिकवर! यह सुनकर तुमको उसे पूरा करना चाहिये। हे पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हारा प्रिय भ्राता मेरा पुत्र वीर्यवान् विचित्रवीर्य पुत्र न होतेही बालपनमें स्वर्गको सिधारा है। हे भारत! तुम्हारे भ्राताकी रानी रूपयौवनयुक्ता, शुभलक्षणा यह काशीराजकी कन्यायें पुत्रकामा हुई है। हे महाभुज! हमारे वंश परम्परा की रक्षाके लिये मेरे नियोग मे उन दो पुत्रवधुओंके पुत्रोत्पादन कर धर्मरक्षा करो। तुम राज्यमें अभिषिक्त होकर भारत राज्यका शासन करो और

वैशम्पायन उवाच–तयोच्यमानो मात्रा स सुहृद्भिश्च परंतपः।
इत्युवाचाऽथ धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः ॥ १३ ॥
असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम् ॥ १४ ॥
जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः ॥ १५ ॥
परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाऽप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥ १६ ॥
त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्॥ १७ ॥
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम्।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत्१८॥
विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवस्येयं कथंचन ॥ १९ ॥
एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा।
माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम् ॥ २० ॥

धर्मानुसार विवाह करलो। पितरों को मत डुबाओ। (७–१२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि माता और मित्रोंके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा परन्तप भीष्मने धर्मसंयुक्त यह उत्तर दिया, कि हे माता! इसमे सन्देह नही है, कि आपने जो कहा, वह धर्मयुक्त है, पर सन्तानके लिये जो सत्य प्रण हुआ था उससेभी आप ज्ञात है, सो उस सत्यकी रक्षा के लिये फिर अभी प्रतिज्ञा करता हूं, कि देवलोकका राज्य त्याग दे सकता हूं, अथवा इससेभी अधिक जो कुछ हो, उसकोभी छोड सकता हूं,तथापि सत्यको किसी प्रकार छोड नही सकूंगा। यद्यपि पृथ्वी गन्धको छोड सके,जल निज रसको छोड सके, ज्योति रूपको छोड सके, पवन स्पर्शगुणको छोड सके, सूर्य निज प्रकाश को छोड सके,पुच्छलतारा गर्मी को छोड सके, आकाश शब्द को छोड सके,चन्द्रमा ठंढी किरणको छोड सके, इन्द्र विक्रमको त्याग सकें और धर्मराज धर्मको त्याग सके, तथापि मै सत्यको किसीप्रकार त्यागने को प्रवृत्त नही हूंगा। (१३-१९)

बहुबलधारी और तेजस्वी भीष्मके उत्साहसे ऐसा कहनेपर माता सत्यवतीने उनसे कहा, कि हे सत्यपराक्रमी! सत्यमे जो

जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम ।
इच्छन्सृजेथास्त्रींल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा॥ २१ ॥
जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥ २२ ॥
यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत् ।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परंतप ॥ २३ ॥
लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥
राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान्व्यनीनशः ।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ २५ ॥
शान्तनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयं भुवि ।
तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम्॥ २६ ॥
श्रुत्वा तं प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः ।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ॥ २७ ॥ [४२५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

भीष्म उवाच—जामदग्न्येन रामेण पितुर्वधममृष्यता ।

तुम्हारी परमनिष्ठा है, वह मै जानती हूं। तुम इच्छा करनेसे निज तेजसे अन्य त्रिलोक रच सकते हो, औरभी तुमने मेरे निमित्त जो सत्य किया था, उससेभी मै ज्ञात हूं : पर हे नृप ! तुम इस विपदकी दशापर ध्यान देकर पैतृक वंशका भार लो। ऐसा करो, कि जिससे कुलका क्रम न मिट कर धर्मरक्षा होवे और मित्रवर्ग आनन्दित होवे। यह सुनकर, कि सन्तान चाहने वाली सत्यवती कातर होकर ऐसी धर्मविरुद्ध बात बार बार कह रही है, भीष्मने फिर कहा, कि हे राज्ञी ! आप धर्मपर दृष्टि कीजिये, हम सबोंको मत नष्ट करना, क्षत्रियका असत्य व्यवहार धर्मशास्त्रमे प्रशंसित नहीं होता। हे रानी! आपसे ऐसा सनातन क्षत्रियधर्म कहता हूं, कि जिससे भूमण्डलमें शान्तनुका वंश अक्षय बना रहे, आप उसे सुनकर लोकयात्रा पर दृष्टि रख करके पुरोहित और उनके साथ, कि जो सब प्राज्ञ धर्मार्थ विषयोंमें पण्डित है विचारिये (२०-२७)

आदिपर्वमें एकसौ तीसरा अध्याय समाप्त।[४२५८]

आदिपर्वमें एकसौ चौथा अध्याय ।

भीष्मजी बोले, कि पूर्वकालमें जमदग्नि

राजा परशुना पूर्वं हैहयाधिपतिर्हतः ॥ १ ॥
शतानि दश बाहूनां निकृत्तान्यर्जुनस्य वै ।
लोकस्याऽऽचरितो धर्मस्तेनाऽति किल दुश्चरः॥ २ ॥
पुनश्च धनुरादाय महास्त्राणि प्रमुञ्चता ।
निर्दग्धं क्षत्रमसकृद्रथेन जयता महीम् ॥ ३ ॥
एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा॥ ४ ॥
एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
ततः संभूय सर्वाभिः क्षत्रियाभिः समन्ततः ॥ ५ ॥
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम् ॥ ६ ॥
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समभ्ययुः।
लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः ॥ ७ ॥
ततः पुनः समुदितं क्षत्रं समभवत्तदा ।
इमं चैवाऽत्र वक्ष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ॥ ८ ॥
अथोतथ्य इति ख्यात आसीद्धीमानृषिः पुरा।
ममता नाम तस्याऽऽसीद्भार्या परमसंमता॥ ९ ॥

के कुमार रामने पिताके वधसे दुःखी होकर परशुसे हैहय देशके अधीश कार्तवीर्यार्जुनको नष्ट किया था। जिस हैहयपतिने प्रजाओंमें अति कठोर धर्मका अनुष्ठान कराया था, परशुरामने उनके सहस्र भुजको काटकर, उससे भी न शान्त होकर फिर रथपर भूमण्डलको जीतने के लियेचापलेकर महास्त्रोंके प्रयोगसे वारंवार क्षत्रियकुलको नष्ट किया। उन महात्माने नाना अस्त्रोंसे इक्कीस बार धरतीको क्षत्रियोंसे खाली किया। उन महर्षिसे इस प्रकार भूमण्डलके क्षत्रियोंसे वर्जित होनेपर सब स्थानों की सम्पूर्ण क्षत्रियोंकी स्त्रियोंने वेदपारग ब्राह्मणोंसे सन्तान उत्पन्न करायी। वेदमें यह निश्चित है, कि जो जन विवाह करता है, उसके क्षेत्रमें सन्तान होनेसे उसकीही होती है, अतएव धर्म जानकरकेही क्षत्रिय पत्नियोंने ब्राह्मणोंसे संसर्ग किया था; इससेही क्षत्रियोंकी फिर उत्पत्ति हुई है। (१—८)

इस विषयमें और एक प्राचीन इतिहास कहता हूं, सुनिये, पूर्वकालमें उतथ्य नामक धीशील एक ऋषि थे; उनकी परम प्यारी ममता नाम्नी एक भार्या थी।

उतथ्यस्य यवीयांस्तु पुरोधास्त्रिदिवौकसाम् ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतामन्वपद्यत ॥ १० ॥
उवाच ममता तं तु देवरं वदतां वरम् ।
अन्तर्वत्नी त्वहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनाऽऽरम्यतामिति ॥ ११ ॥
अयं च मे महाभाग कुक्षावेव बृहस्पते ।
औतथ्यो वेदमत्राऽपि षडङ्गं प्रत्यधीयत ॥ १२ ॥
अमोघरेतास्त्वं चाऽपि द्वयोर्नास्त्यत्र संभवः ।
तस्मादेवंगते त्वद्य उपारमितुमर्हसि ॥ १३ ॥
एवमुक्तस्तदा सम्यग्बृहस्पतिरुदारधीः ।
कामात्मानं तदाऽऽत्मानं न शशाक नियच्छितुम् ॥ १४ ॥
स बभूव ततः कामी तया सार्धमकामया ।
उत्सृजन्तं तु तं रेतः स गर्भस्थोऽभ्यभाषत ॥ १५ ॥
भोस्तात मा गमः कामं द्वयोर्नाऽस्तीह संभवः ।
अल्पावकाशो भगवन्पूर्वं चाऽहमिहाऽऽगतः ॥ १६ ॥
अमोघरेताश्च भवान्न पीडां कर्तुमर्हसि ।
अश्रुत्वैव तु तद्वाक्यं गर्भस्थस्य बृहस्पतिः ॥ १७ ॥
जगाम मैथुनायैव ममतां चारुलोचनाम् ।

एक समय उतथ्यके कनिष्ठ भ्राता देवोंके पुरोहित और परम तेजस्वी बृहस्पति उस ममताके पास उपगत हुए, इससे ममता उन वाचस्पति देवरसे बोली, कि तुम्हारे बडे भाईसे मै गर्भवती हुई हूं; सो तुम लौट जाओ हे महाभाग बृहस्पते ! मेरे गर्भमें स्थित इस उतथ्य मुनिने कोखमें स्थित होकरकेही षडंग वेदको पाठ किया है. तुमभी अमोघ वीर्यवान् हो, सो "इस कोखमें" दो सन्तानोंका स्थान क्योंकर संभव हो सकता है ? इसलिये आज तुम लौट जाओ । ममताके ऐसा कहनेपर बृहस्पति अतिप्रदीप्त तेजस्वी होने परभी तब कामके वशमे अपने चित्त को रोक नहीं सके, अकामा कामिनी परभी अनुरागी हुए । (८—१४)

अनन्तर वीर्यगिरानेमें उद्यत बृहस्पति से गर्भमें स्थित बालकने कहा कि हे तात ! आप शान्त होवें; इस गर्भमें दो की स्थिति संभव नहीं हो सकती । हे भगवान ! यह स्थान स्वल्प है, मै पहिले यहा आया हूं, आप अमोघ वीर्यवान हैं, सो मुझको पीडा न पहुंचावें । बृहस्पति उस गर्भमे स्थित मुनिकी बातको न मान कर

शुक्रोत्सर्गं ततो बुद्ध्वा तस्य गर्भगतो मुनिः ॥१८॥
पद्भ्यामारोधयन्मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पतेः।
स्थानमप्राप्तमथ तच्छुक्रं प्रतिहतं तदा ॥ १९ ॥
पपात सहसा भूमौ ततः क्रुद्धो बृहस्पतिः।
त दृष्ट्वा पतितं शुक्रं शशाप स रुषान्वितः॥ २० ॥
उतथ्यपुत्रं गर्भस्थं निर्भर्त्स्य भगवानृषिः।
यन्मां त्वमीदृशे काले सर्वभूतेप्सिते सति ॥ २१ ॥
एवमात्थ वचस्तस्मात्तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यसि।
स वै दीर्घतमा नाम शापादृषिरजायत ॥ २२ ॥
बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्बृहस्पतिरिवौजसा।
जात्यन्धो वेदवित्प्राज्ञः पत्नीं लेभे स विद्यया ॥ २३ ॥
तरुणीं रूपसंपन्नां प्रद्वेषीं नाम ब्राह्मणीम्।
स पुत्राञ्जनयामास गौतमादीन्महायशाः ॥ २४ ॥
ऋषेरुतथ्यस्य तदा सन्तानकुलवृद्धये।
धर्मात्मा च महात्मा च वेदवेदाङ्गपारगः ॥ २५ ॥
गोधर्मं सौरभेयाच्च सोऽधीत्य निखिलं मुनिः।
प्रावर्तत तदा कर्तुं श्रद्धावांस्तमशङ्कया ॥ २६ ॥

मैथुनके लिये मनोहर नेत्रवती ममताकी ओर गये। अनन्तर गर्भमें स्थित उस मुनिने बृहस्पतिके वीर्य गिरनेके समयको समझकर वीर्य घुसनेके पथको दोनों पावोंसे रोक रखा; तब वही वीर्य रोके जाकर स्थान न पानेसे उसी क्षण भूमिपर गिर गया। (१८—२०)

यह देखकर भगवान् ऋषि बृहस्पतिने क्रोधित होकर गर्भमें स्थित उतथ्य पुत्रको लाञ्छन कर शाप दिया, कि जोकि ऐसे मनोहर कालमें तुमने मुझको ऐसी बात कही सो तुम दीर्घ अंधेरीमें प्रविष्ट होगे अर्थात् अन्धे होगे। बृहत कीर्तियुक्त बृहस्पतिके इस शापके हेतु बृहस्पति सदृश तेजस्वी वह ऋषि जन्म लेकर दीर्घतमा नामसे प्रसिद्ध हुए। वेदज्ञ, प्राज्ञ, जन्मान्ध दीर्घतमाने विद्या बलसे प्रद्वेषी नाम्नी एक तरुणी और रूपवती ब्राह्मणीको पत्नी प्राप्त किया। इससे महायशने उतथ्य ऋषिके कुलको बढानेके लिये गौतमादि पुत्रोत्पादन किये। (२०—२५)

धर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारग महात्मा वह दीर्घतमा सुरभीकी सन्तान कामधेनुसे सम्पूर्ण गोधर्म शिक्षा करके उससे श्रद्धा

तो वितथमर्यादं तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमाः ।
क्रुद्धा मोहाभिभूतास्ते सर्वे तत्राऽऽश्रमौकसः ॥ २७ ॥
अहोऽयं भिन्नमर्यादो नाऽऽश्रमे वस्तुमर्हति ।
तस्मादेनं वयं सर्वे पापात्मानं त्यजामहे ॥ २८ ॥
इत्यन्योन्यं समाभाष्य ते दीर्घतमसं मुनिम् ।
पुत्रलाभा च सा पत्नी न तुतोष पतिं तदा ॥ २९ ॥
प्रद्विषन्तीं पतिर्भार्यां किं मां द्वेक्षीति चाऽब्रवीत्।
प्रद्वेष्युवाच — भार्याया भरणाद्भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः ॥ ३० ॥
अहं त्वां भरणं कृत्वा जात्यन्धं ससुतं तदा ।
नित्यकालं श्रमेणाऽऽर्ता न भरेयं महातपाः ॥ ३१ ॥
भीष्म उवाच— तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा ऋषिः कोपसमन्वितः ।
प्रत्युवाच ततः पत्नीं प्रद्वेषीं ससुतां तदा ॥ ३२ ॥
नीयतां क्षत्रियकुले धनार्थश्च भविष्यति ।
प्रद्वेष्युवाच — त्वया दत्तं धनं विप्र नेच्छेयं दुःखकारणम् ॥ ३३ ॥
यथेष्टं कुरु विप्रेन्द्र न भरेयं पुरा यथा ।

युक्त होकर निःशङ्क चित्तसे खुलाखुली मैथुनादि करनेको प्रवृत्त हुए। आश्रमनिवासी मुनिगण दीर्घतमा को मर्यादा छोडते देखकर मोहयुक्त और क्रोधित हुए और आपसमें कहने लगे, कि क्या आश्चर्य है ! इसने मर्यादा और लज्जा त्याग दी है, सो यह पापात्मा आश्रममें रहनेके योग्य नहीं है; हम इसको आश्रम से निकाल बाहर करें; और दीर्घतमाकी पत्नीभी पुत्र लाभके हेतु उस अन्धेपति पर सन्तुष्ट नहीं थी। (२६-२९)

एक समय दीर्घतमाने भार्याको असन्तुष्ट देखकर कहा, कि तुम क्यों मुझ पर विद्वेषका व्यवहार करती हो ? प्रद्वेपी बोली, कि पति स्त्रीको भरते पोषते हैं; इस हेतु वह भर्ता कहे जाते हैं और पालते हैं; इससे पति कहे जाते हैं। हे महातपस्वि ! मैं सदासे तुम्हारी जन्मान्धताके हेतु तुम्हारा और तुम्हारे पुत्रोंका भरण पोषण कर कर थक गयी हूं, अब और भरण कर नहीं सकूंगी। (३०-३१)

भीष्म बोले, कि ऋषिने पत्नीकी बात सुन करके क्रोधयुक्त होकर पुत्रवती पत्नी प्रद्वेषीसे कहा, कि मुझ को क्षत्रियोंके कुलमें ले जाओ, तो तुम धनवती बन सकोगी। प्रद्वेषी बोली, कि हे विप्रेन्द्र ! तुम्हारे दिये हुए दुःखदायी धनकी मुझे इच्छा नहीं है, तुम जो चाहो करो, मैं

दीर्घतमा उवाच—अद्यप्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता ॥ ३४ ॥
एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम् ।
मृते जीवति वा तस्मिन्नाऽपरं प्राप्नुयान्नरम् ॥ ३५ ॥
अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः ।
अपतीनां तु नारीणामद्यप्रभृति पातकम् ॥ ३६ ॥
यद्यस्ति चेद्धनं सर्वं वृथाभोगा भवन्तु ताः ।
अकीर्तिः परिवादाश्च नित्यं तासां भवन्तु वै ॥ ३७ ॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणी भृशकोपिता ।
गङ्गायां नीयतामेष पुत्रा इत्येवमब्रवीत् ॥ ३८ ॥
लोभमोहाभिभूतास्ते पुत्रास्तं गौतमादयः ।
बद्ध्वोडुपे परिक्षिप्य गङ्गायां समवासृजन् ॥ ३९ ॥
कस्मादन्धश्च वृद्धश्च भर्तव्योऽयमिति स्म ते ।
चिन्तयित्वा ततः क्रूराः प्रतिजग्मुरथो गृहान् ॥ ४० ॥
सोऽनुस्रोतस्तदा विप्रः प्लवमानो यदृच्छया ।
जगाम सुबहून्देशानन्धस्तेनोडुपेन ह ॥ ४१ ॥
तं तु राजा बलिर्नाम सर्वधर्मविदांवरः ।
अपश्यन्मज्जनगतः स्रोतसाऽभ्याशमागतम् ॥ ४२

पहिले की नाई फिर भरण पोषण नहीं कर सकूंगी। (३२-३४)

दीर्घतमा बोले, कि मैं आजसे ऐसी लोक मर्यादा स्थापन करता हूं, कि नारी एक पतिपर जीवनभर निर्भर करेगी। एक पति जीवित रहे, वा मर जावे कोई स्त्री दूसरे पतिकी शरण ले नहीं सकेगी; यदि कोई नारी दूसरा पति कर ले, तो वह पतित होगी, इसमें सन्देह नहीं। जिनको पति नहीं है, वात वातमें उनका पाप होगा और उनका प्रचुर धनभी रहे, तो उसका भोग व्यर्थ होगा। वे नित्य अकीर्ति तथा निन्दाकी पात्र होंगी; ब्राह्मणी उनकी यह बात सुनकर अतिक्रोधयुक्त होकर बोली, कि हे पुत्रो! इसको गङ्गामें डाल आओ। (३४-३८)

आगे लोभ और मोह से अभिभूत गौतमादि पुत्रोंने अन्धे बापको बांधकर बेडे पर रख करके गङ्गामें बहा दिया। अनन्तर वे कुटिल पुत्र यह सोचते हुए घरको लौटे, कि इस अन्धे और बूढेको हम क्यों भरने पोषने चले। आगे अन्धे विप्र बेडे पर गङ्गाके सोतेमें बहते हुए, मनमाने अनेक देशोंसे ही चले। धार्मिक

एकलव्य का धनुर्वेदाभ्यास।



गुरु द्रोणाचार्यजी की प्रतिमा सन्मुख रख कर एकाग्र चित्त से एकलव्य धनुर्वेद का अभ्यास कर रहा है।

(महाभारत आदि अ० १३२)

जग्राह चैनं धर्मात्मा बलिः सत्यपराक्रमः ।
ज्ञात्वा चैवं स वव्रेऽथ पुत्रार्थे भरतर्षभ ॥ ४३ ॥
संतानार्थं महाभाग भार्यासु मम मानद ।
पुत्रान्धर्मार्थकुशलानुत्पादयितुमर्हसि ॥ ४४ ॥
एवमुक्तः स तेजस्वी तं तथेत्युक्तवानृषिः ।
तस्मै स राजा स्वां भार्यां सुदेष्णां प्राहिणोत्तदा॥४५॥
अन्धं वृद्धं च तं मत्वा न सा देवी जगाम ह ।
स्वां तु धात्रेयिकां तस्मै वृद्धाय प्राहिणोत्तदा॥४६॥
तस्यां काक्षीवदादीन्स शूद्रयोनावृषिस्तदा ।
जनयामास धर्मात्मा पुत्रानेकादशैव तु ॥ ४७ ॥
काक्षीवदादीन्पुत्रांस्तान्दृष्ट्वा सर्वानधीयतः ।
उवाच तमृषिं राजा ममेम इति भारत ॥ ४८ ॥
नेत्युवाच महर्षिस्तं ममेम इति चाऽब्रवीत् ।
शूद्रयोनौ मया हीमे जाताः काक्षीवदादयः ॥ ४९ ॥
अन्धं वृद्धं च मां दृष्ट्वा सुदेष्णा महिषी तव ।
अवमन्य ददौ मूढा शूद्रां धात्रेयिकां मम ॥ ५० ॥

वर बलि नाम एक राजाने गङ्गास्नान को जाकर सोतेसे निकट आये हुए, उन अन्धे ऋषिको देखा। बलि उनको सत्य पराक्रमी धर्मशील जानकर अपने घरमें लाये और अपने पुत्रके लिये उनसे प्रार्थना कर बोले, कि हे मानद महाभाग! मेरे वंश की रक्षाके लिये मेरी स्त्रीसे सन्तान उत्पन्न कीजिये, कि धर्म और अर्थमें कुशल होवे। (३९– ४४)

तेजस्वी ऋषिके राजाकी उस बात पर सम्मत होनेपर राजाने उनके पास अपनी सुदेष्णा नाम्नी स्त्रीको भेज दिया; पर राजरानी सुदेष्णाने उनको अन्धा और बूढा देखकर स्वयं उनके पास न जाकर अपनी दासीको भेजा। धर्मात्मा ऋषिने उस शूद्रयोनिमें काक्षीवदादि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये। अनन्तर राजाने काक्षीवदादि पुत्रों को पठनशील देखकर यह उस अन्धे ऋषिसे कहा, कि " यह मेरे पुत्र है। " परन्तु महर्षि ने कहा, कि यह तुम्हारे पुत्र नहीं हैं; यह मेरे है, उन्होंने मुझसे शूद्रयोनिमें जन्म लिया है। सुदेष्णा नाम्नी तुम्हारी रानीने मूर्खताके हेतु मुझको अन्धा और बूढा देखकर, अनादर करके शूद्रा धात्रियोंको भेज दिया था। (४५-५०)

ततः प्रसादयामास पुनस्तमृषिसत्तमम् ।
बलिः सुदेष्णां स्वां भार्यां तस्मै स प्राहिणोत्पुनः ५१
तां स दीर्घतमाऽङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवीमथाऽब्रवीत् ।
भविष्यन्ति कुमारास्ते तेजसाऽऽदित्यवर्चसः॥५२॥
अङ्गो वंगः कलिंगश्च पुण्ड्रः सुह्मश्च ते सुताः।
तेषां देशाः समाख्याताः स्वनामकथिता भुवि॥५३॥
अंगस्यांऽगोऽभवद्देशो वंगो वङ्गस्य च स्मृतः।
कलिंगविषयश्चैव कलिंगस्य च स स्मृतः ॥५४॥
पुण्ड्रस्य पुण्ड्राः प्रख्याताः सुह्मा सुह्मस्य च स्मृताः।
एवं बलेः पुरा वंशः प्रख्यातो वै महर्षिजः ॥ ५५ ॥
एवमन्ये महेष्वासा ब्राह्मणैः क्षत्रिया भुवि।
जाताः परमधर्मज्ञा वीर्यवन्तो महाबलाः ॥
एतच्छ्रुत्वा त्वमप्यत्र मातः कुरु यथेप्सितम् ५६॥ [४३१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४॥

भीष्म उवाच--पुनर्भरतवंशस्य हेतुं सन्तानवृद्धये ।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥

अनन्तर बलिने फिर उन ऋषिको प्रसन्न करके अपनी स्त्री सुदेष्णाको उनके पास भेजा। ऋषि दीर्घतमा देवी सुदेष्णा के अङ्गोंको स्पर्शकर बोले, कि तुम्हारे आदित्य समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होंगे ! उन पुत्रोंके नाम, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग,पुण्ड्र और सुह्म होंगे; इस भूमण्डल में उनके निज निज नाममें एक एक देश प्रख्यात होगा। अङ्गके नाममें अङ्गदेश, वङ्गके नाममें वङ्गदेश, कलिङ्गके नाममें कलिङ्गदेश पुण्ड्रके नाममें पुण्ड्रदेश और सुह्मके नाममें सुह्मदेश होगा। पूर्वकाल में इस प्रकार महर्षिसे जन्म लिया हुआ राजा बलिका वंश प्रसिद्ध हुआ था। इनके अतिरिक्त महाबल पराक्रमी परम धर्मज्ञ बडे बडे चापधारी बहुतेरे क्षत्रियों ने ब्राह्मणोंके वीर्यसे जन्म लिया था; हे मा ! आप यह सुनकर जो मन चाहे करें। (५१-५६) [४३१४]

आदि पर्वमें एकसौ चौथा अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ पांच अध्याय।

भीष्म बोले, कि हे माता ! भरतवंश की सन्तान बढानेके लिये योग्य उपाय कहता हूं, सुनिये; किसी गुणवन्त

ब्राह्मणो गुणवान्कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम्।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु : समुत्पादयेत्प्रजाः ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
विश्वासात्ते प्रवक्ष्यामि सन्तानाय कुलस्य नः ॥ ४ ॥
न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धर्मं तथाविधम्।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परा गतिः ॥ ५ ॥
तस्मान्निशम्य सत्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम्।
धर्मयुक्तस्य धर्मार्थं पितुरासीत्तरी मम ॥ ६ ॥
सा कदाचिदहं तत्र गता प्रथमयौवनम्।
अथ धर्मविदां श्रेष्ठः परमर्षिः पराशरः ॥ ७ ॥
आजगाम तरीं धीमांस्तरिष्यन्यमुनां नदीम्।
स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याऽब्रवीत्तदा ॥ ८ ॥
सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं वचः।
उक्तं जन्म कुलं मह्यमस्मि दाशसुतेत्यहम् ॥ ९ ॥
तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत।

ब्राह्मणको धन देकर नेवता दीजिये; वह विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें पुत्रोत्पादन करेंगे। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर सत्यवती मुह नीचे कर लज्जाके साथ टूटी फूटी बातोंमें भीष्मसे बोली, कि हे महाभुज, भारत! तुम जो कहते हो, सब ठीक है। परन्तु तुम पर विश्वास रहनेके हेतु अपने वंश की वृद्धिके लिये जैसा कहूंगी. उस आपद्धर्मको तुम पलट नहीं सकोगे। हमारे वंशमें तुम्ही धर्म, तुम्ही सत्य और तुम्ही परमा गति भये हो, सो मेरी सत्य बातको सुनकर आगे जैसा कर्तव्य होवे, वही करो। (१-६)

मेरे पिता धार्मिक थे; उनकी धर्म कर्मके लिये नाव थी, एक समय में अपने नवयौवन के दिनों में उस नावको चलाती थी, कि उस समय धीमान् धार्मिक श्रेष्ठ परमर्षि पराशर यमुना नदीके पार उतरनेके लिये आकर मेरी नावपर चढ बैठे। मैं उन मुनिश्रेष्ठ को यमुना पार कर रही थी, कि ऐसे समयमें वह कामवश होकर मीठी बातोंमें मुझको लुभाने लगे। हे भारत! मैं पिताके भय और ऋषिके शापका भय खाकर मृन्द-

वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे ॥ १० ॥
अभिभूय स मा बालां तेजसा वशमानयत्।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत ॥ ११ ॥
मत्स्यगन्धो महानासीत्पुरा मम जुगुप्सितः।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रादात्स मे मुनिः ॥ १२ ॥
ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम्।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ १३ ॥
पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः।
कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः ॥ १४ ॥
यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च ॥१५॥
सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः।
समुत्पन्नः स तु महान्सह पित्रा ततो गतः ॥ १६ ॥
स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाऽप्रतिमद्युतिः।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥ १७ ॥
स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृच्छ्रेषु मामिति।

वान् वर पाकर उनकी बात पलट नहीं सकी। (८—१०)

हे भारत! उन ऋषि-मुझको नावपर स्थित और बालिका पाकर तेजसे विवश कर अंधेरीसे भूमण्डलको छायकर अपने वशमें कर लिया। पहिले मेरे शरीरमें मछली की बडी बुरी गन्ध थी, उन्होंने उनको भगाकर यह सुन्दर गन्ध कर दी। अनन्तर बोले, कि तुम इस यमुना द्वीपही पर मेरे वीर्यसे पैदा हुए इस गर्भको छोडकर फिर कन्यावस्थाहीमें रहोगी। उससे यमुनाके द्वीप पर मेरी कन्यावस्थाके उस गर्भसे पराशर के पुत्र महर्षि महायोगी जन्म लेकर द्वैपायन नामसे प्रसिद्ध हुए। (११-१४)

वह भगवान् ऋषि तपके प्रभावसे चारों वेदोंके व्यास अर्थात् विभाग कर व्यास नामसे प्रख्यात हुए है और कृष्णवर्ण होनेसे उनका नाम कृष्ण हुआ है। सत्यवादी शान्तशील और पापरहित वह महात्मा जन्म लेकरकेही उसीक्षण पिताके साथ चले गये थे उन अप्रतिम द्युतिमान् व्यासको मेरे नियुक्त करनेसे वह तुम्हारे भ्राताके क्षेत्रमें उत्तम पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं। हे महाभुज! उन्होंने पहिले मुझसे कहा था, कि

तं स्मरिष्ये महाबाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि॥१८॥
तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच–महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान्योऽनुपश्यति ॥ २० ॥
अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मं धर्मानुबन्धनम् ।
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान्पृथक्पृथक् ॥ २१ ॥
यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ॥ २२ ॥
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते शुभम् ।
वैशम्पायन उवाच- ततस्तस्मिन्प्रतिज्ञाते भीष्मेण कुरुनन्दन ॥ २३ ॥
कृष्णद्वैपायनं काली चिन्तयामास वै मुनिम् ।
स वेदान्विब्रुवन्धीमान्मातुर्विज्ञाय चिन्तितम्॥२४॥
प्रादुर्बभूवाऽविदितः क्षणेन कुरुनन्दन ।
तस्मै पूजां ततः कृत्वा सुताय विधिपूर्वकम् ॥ २५ ॥

प्रयोजन होवे, तो मुझे स्मरण करना । हे भीष्म! यदि तुम चाहो, तो अब उनको स्मरण करूं तुम्हारी सम्मति होनेसे वह महातपा द्वैपायन अवश्य ही विचित्र-वीर्यके क्षेत्रमें सन्तान उत्पादन करेंगे । (१५-१९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि उन महर्षि कृष्णद्वैपायनके नाम कहतेही भीष्मने दोनों हाथ जोडकर कहा, कि जो धर्म, अर्थ और काम इन विषयोंकी भले प्रकार आलोचना करते है और इस प्रकार अर्थ और अर्थसे सबंधित, धर्म और धर्मसे संबंधित, तथा काम और कामसे संबंधित व्यवहारों को तथा उनके विपरीत पृथक् पृथक् व्यवहारों को जो अपनी बुद्धि मे विचार करके जानता और तदनुसार अनुष्ठान करता है वही बुद्धिमान कहा जाता है । आपने मेरे कुलका हितजनक धर्मयुक्त और मङ्गल-कारी जो वचन मुझसे कहा, उससे मैं पूर्ण रूपसे सम्मत हूं । (२०-२३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे कुरुनन्दन ! अनन्तर भीष्मके उस विषयमे सम्मत होने पर कालीने मुनि कृष्णद्वै-पायनका स्मरण किया । धीमान् वेदव्यास वेदकी व्याख्या कर रहे थे, कि ऐसे समयमें माताकी चिन्ता जानकर क्षण कालमें माताके सम्मुख प्रगट हुए.

परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्रवैरभ्यषिञ्चत ।
मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु ॥ २६ ॥
तामद्भिः परिषिच्याऽऽर्त्तां महर्षिरभिवाद्य च।
मातरं पूर्वजः पुत्रो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥
भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः ।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥ २८ ॥
तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत्पुरोधाः परमर्षये ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २९ ॥
पूजितो मन्त्रपूर्वं तु विधिवत्प्रीतिमाप सः ।
तमासनगतं माता पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३० ॥
सत्यवत्यथ वीक्ष्यैनमुवाचेदमनन्तरम् ।
मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे॥ ३१ ॥
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः।
विधानविहितः स त्वं यथा मे प्रथमः सुतः॥ ३२॥
विचित्रवीर्यो ब्रह्मर्षे तथा मेऽवरजः सुतः ।

दूसरा कोई कुछ जान नहीं सका। आगे धीवर की बेटीने पुत्रका विधिपूर्वक समादर कर हाथोंसे गले लगाकर स्तन दुग्धसे नहाया और बहुकालके पीछे पुत्रको देखकर अश्रुजलसे आपभी नहा गयी। पूर्व पैदा भये पुत्र व्यास दुःखिता माता पर जल छोड़ ठाड़ाकर प्रणामपूर्वक बोले, कि हे धर्मतत्त्व जाननेवाली! आपकी जैसी इच्छा है, उसको पूरी करनेके लिये मैं आया हूं, आप आज्ञा कीजिये,आपका मनमाना अनुष्ठान करूंगा। अनन्तर पुरोहितने आकर उन परमर्षिकी यथाविधि पूजा की, उन्होने भी मन्त्र से वह पूजा ली और मन्त्रसे उपासना किये जाकर प्रसन्न हुए। आगे माता सत्यवतीने उनको आसन पर बैठे हुए देखकर कुशल पूछ करके कहा, कि हे कवि! पितासे जो उत्पन्न होते हैं, वे पिता माता दोनोंमें साधारण होते हैं। पुत्र पर पिताका जैसा अधिकार है, इसमें सन्देह नहीं है, माताका भी वैसाही अधिकार रहता है। हे ब्रह्मर्षि! दैवविधानसे पैदा भये तुम मेरे जिस प्रकार प्रथम पुत्र हो, विचित्रवीर्यभी उस प्रकार मेरा कनिष्ठ पुत्र था और विचित्रवीर्य तथा भीष्म एक पिताके पुत्र होनेसे भीष्म जिस प्रकार विचित्रवीर्य के भ्राता भये हैं, उस

यथा च पितृतो भीष्मस्तथा त्वमसि मातृतः ॥३३॥
भ्राता विचित्रवीर्यस्य यथा वा पुत्र मन्यसे।
अयं शान्तनवः सत्यं पालयन्सत्यविक्रमः ॥३४॥
बुद्धिं न कुरुतेऽपत्ये तथा राज्यानुशासने ।
स त्वं व्यपेक्षया भ्रातुः सन्तानाय कुलस्य च॥३५॥
भीष्मस्य चाऽस्य वचनान्नियोगाच्च ममाऽनघ।
अनुक्रोशाच्च भूतानां सर्वेषां रक्षणाय च ॥ ३६ ॥
आनृशंस्याच्च यद् ब्रूयां तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि।
यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे ॥ ३७ ॥
रूपयौवनसंपन्ने पुत्रकामे च धर्मतः ।
तयोरुत्पादयाऽपत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक ॥ ३८ ॥
अनुरूपं कुलस्याऽस्य संतत्याः प्रसवस्य च।
व्यास उवाच— वेत्थ धर्मं सत्यवति परं चाऽपरमेव च ॥ ३९ ॥
तथा तव महाप्राज्ञे धर्मे प्राणिहिता मतिः।
तस्मादहं त्वन्नियोगाद्धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ४० ॥
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत्सनातनम्।

प्रकार तुम और विचित्रवीर्य एक माताके गर्भसे पैदा होने के कारण यह मुझको समझ पडता है, कि तुमभी विचित्रवीर्यके भ्राता भये हो, आगे तुमको जैसी समझ हो। (३३-३४)

यह शान्तपुत्र सत्यविक्रमी भीष्म सत्य पालनेके लिये राज्य शासन पुत्रोत्पादन करनेको सम्मत नहीं होते, अतएव हे अनघ! मै जो कहती हूं, सुनकर अपने भाई विचित्रवीर्य पर स्नेहवश होके कुरुवंशकी रक्षा, प्रजाका पालन, भीष्मकी बात, मेरा नियोग, सर्वजीवों पर कृपा और अनिर्द-यिताके लिये तुमको पूरा करना चाहिये। तुम्हारे कनिष्ठ भ्राताकी देवकन्या समान रूप यौवनवती दो भार्या है, वे धर्मानुसार पुत्रकामा हुई हैं। ऐ बेटा! तुम समर्थ हो, सो उन दो राणियोंसे इस कुल की परम्परा को बनाये रखने के योग्य पुत्रोत्पादन करो। (३४-३९)

व्यासजी बोले, कि हे अतिबुद्धिमती सत्यवती! आप अपर और पर दोनों प्रकारके धर्मोंसे जिस प्रकार ज्ञात हैं; उस विषयमें आपका चित्तभी उसी प्रकार धर्म मे स्थित है; अतएव मैं आपके नियोगके अनुसार धर्मको स्मरणकर आपकी इच्छा पूरी करूंगा, क्योंकि यह सनातनधर्म

भ्रातुः पुत्रान्प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान्॥४१॥
व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ।
संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ॥ ४२ ॥
न हि मामव्रतोपेता उपेयात्काचिदङ्गना ।
सत्यवत्युवाच— सद्यो यथा प्रपद्येते देव्यौ गर्भं तथा कुरु ॥ ४३ ॥
अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजाऽनाथा विनश्यति ।
नश्यन्ति च क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता ॥४४॥
कथं चाऽराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो।
तस्माद्गर्भं समाधत्स्व भीष्मः संवर्धयिष्यति ॥४५॥
व्यास उवाच— यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः।
विरूपतां मे सहतां तयोरेतत्परं व्रतम् ॥ ४६ ॥
यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।
अद्यैव गर्भं कौशल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥ ४७ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा महातेजा व्यासः सत्यवतीं तदा।
शयने सा च कौशल्या शुचिवस्त्रा ह्यलंकृता ॥ ४८॥
समागमनमाकाङ्क्षेदिति सोऽन्तर्हितो मुनिः।

मेरा शात है, मैं भ्राताको मित्र-वरुण-सदृश पुत्र दान करूंगा; पर अब यह एक नियम बना देता हूं, कि वधूगण न्यायानुसार वर्ष भर व्रत किये रहें; तभी वे शुद्धा होंगी, व्रत न करके कोई नारी मेरे पास नहीं आसकेगी। (३९-४२)

सत्यवती बोली, कि ऐसा करो, कि जिससे दवो राजरानियां आजही गर्भवती होवें। राज्य राजासे खाली रहनेपर प्रजा अनाथ होकर नष्ट होगी, क्रिया लोप हो जायगी, वृष्टि नहीं होगी और देवगण चले जायंगे, सो विना राजाके राज्यकी क्यों कर रक्षा हो सकती है; अतएव तुम आजही गर्भाधान करो, भीष्म उस गर्भजात बालकको बढावेंगे। व्यासजी बोले, कि यदि विलम्ब न कर अकालही में पुत्र देना पडे, तो रानियां मेरे कुरूपको सहें, यही उनका परम व्रत होगा। यदि कौशल्या मेरी गन्ध, रूप, वेश और शरीरको सह सके, तो वह आजही विशेष गर्भ ले। (४३–४७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि महातेजस्वी व्यासजी सत्यवतीसे यह बात कहकर फिर बोले, कि राजमहिषी कौशल्या अच्छा शुद्ध वस्त्र पहिन करके अच्छे आभूषणोंसे सजकर मेरे मिलन की कामना

ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ४९॥
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ।
कौशल्ये धर्मतन्त्रं त्वां यद्ब्रवीमि निबोध तत्॥५०॥
भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात्।
व्यथितां मां च संप्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ॥५१॥
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्याऽस्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ॥ ५२ ॥
नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ॥ ५३ ॥
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ॥ ५४॥
सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद्धर्मचारिणीम् ।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ५५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि सत्यवत्युपदेशे पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥ [४३६९]

वैशम्पायन उवाच- ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा ।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत ॥ १ ॥
कौशल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वाऽनुप्रवेक्ष्यति ।

करे; सत्यवती पुत्रवधूके पास जाकर निराले में भेंटकर धर्म और अर्थयुक्त और हितजनक यह बात बोली, कि हे कौशल्ये! तुमसे धर्म सम्मत जो बात कहती हूं, सुनो। मेरे दुर्भाग्यसे भरतवंश उखड गया है, उसमे भीष्मने मुझको पीडित देखकर और पिताके वंशको उखडनेपर विचारकरके कुल बढानेके लिये मुझको युक्ति दी है, ऐ बेटी! वह युक्ति तुम्हारे अधीन है, अतएव तुम मेरा अभीष्ट सिद्धकर उस युक्तिको सफल करो, विनष्ट भरतवंशका फिर उद्धार करो। री सुन्दरी! देवराज समान कुमार प्रसव करो, वह कुमार हमारे इस भारी राज्यके भारको संभाल लेगा। सत्यवती ने उस धर्मचारिणीको धर्मानुसार विनय करके किसी प्रकार सम्मत कराके देव, ऋषि, ब्राह्मण और अतिथियोंको भोजन कराया। (४८ – ५५) [४३६९]

आदिपर्वमें एकसौ पांच अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ छः अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर वधू कौशल्याके योग्य समय में ऋतु-स्नान करने पर सत्यवती उसे भले प्रकार

अप्रमत्ता प्रतीक्षस्व निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥
श्वश्र्वास्तद्वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे ।
साऽचिन्तयत्तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥ ३ ॥
ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥
तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने ।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥ ५ ॥
संबभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
भयात्काशिसुता तं तु नाऽशक्नोदभिवीक्षितुम ॥६॥
ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह ।
अप्यस्या गुणवान्पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥
निशम्य तद्वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः ।
प्रोवाचाऽतीन्द्रियज्ञानो विधिना संप्रचोदितः ॥ ८ ॥
नागायुतसमप्राणो विद्वान्राजर्षिसत्तमः ।
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति ॥ ९ ॥
तस्य चाऽपि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महात्मनः ।

सजे हुए विस्तर पर बैठाकर धीमे स्वरसे बोले, कि हे कौशल्ये ! तुम्हारे एक देवर हैं; वह आज रात्रिको तुम्हारे पास आवेंगे; तुम एकमन होकर उनकी बाट ताकती रहो। अम्बिका सासकी वह बात सुनकर शुभ शयनमें सोकर भीष्म और दूसरे कुरुश्रेष्ठोंकी चिन्ता करने लगी। अनन्तर सत्यवतीके सुत सत्यबात बोलने वाले ऋषिने पहिले अम्बिकाके लिये नियुक्त होकर दीप जलते रहते ही घरमें प्रवेश किया। अम्बिकाने उन कृष्णवर्ण पुरुषकी पिङ्गल जटा, बडी भारी दाढी और जलते हुए नेत्रोंको देखकर आंखें मूद लीं। द्वैपायनने माताका प्रिय साधने के लिये उसके साथ सङ्गम किया; पर काशी राजकी कन्या भयसे उनको देख नहीं सकी। (१—६)

अनन्तर व्यासजीके घरसे निकलने पर उनकी माताने उनसे पूछा, कि क्यों बेटा। इस बधूसे गुणवान् पुत्र जन्म लेगा ? इन्द्रियोंसे अतीत ज्ञान रखनेवाले सत्यवतीनन्दन व्यासजी माताकी यहबात सुनकर बोले, कि विधिपूर्वक जन्म लिया हुआ यह गर्भमें स्थित बालक दश सहस्र हस्ती के समान बलवान्, विद्वान राजर्षिओंमे श्रेष्ठ, महाभाग महा वीर्यवन्त

किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ॥ १० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाऽब्रवीत्।
नाऽन्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन ॥ ११ ॥
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितृणां वंशवर्धनम् ।
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ॥ १२ ॥
स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः।
साऽपि कालेन कौशल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम्॥ १३॥
पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ।
ऋषिमावाहयत्सत्या यथापूर्वमरिन्दम ॥ १४ ॥
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ॥ १५ ॥
अम्बालिकामथाऽभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च साऽपि तम् ।
विवर्णा पाण्डुसकाशा समपद्यत भारत ॥ १६ ॥
तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् । १७ ॥
यस्मात्पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह ।
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति ॥ १८ ॥
नाम चाऽस्यैतदेवेह भविष्यति शुभानने ।

और अति बुद्धिमान् होगा और उस महात्मासे सो सन्तान उत्पन्न होंगी; पर वह माताके दोषसे अन्धा होगा। ७-१०

पुत्र की बात सुनकर माता बोली, कि हे तपोधन ! अन्धा पुरुष कुरुवंशके योग्य भूप नहीं हो सकता; अतएव जाति कुलके रक्षक पितरोंके वंशधर और कुरुवंशका राजा होसके, ऐसा एक पुत्र उत्पन्न करना होगा। महायशा व्यास उसपर स्वीकृत होकर चले गये। आगे समय आने पर कौशल्याने ऋषिकथित एक अन्धापुत्र प्रसव किया। हे अरिन्दम ! देवी सत्यवतीने पूर्ववत पुत्रवधूको आज्ञा देकर फिर उन ऋषिको बुलाया। महर्षि पूर्ववत विधिके अनुसार अम्बालिकाके पास आकर उपगत हुए। (११—१५)

हे भारत ! अम्बालिका उन ऋषिको देखकर पीली हो गयी। सत्यवतीके सुत व्यासजी उसको भीत, दुःखित और पीली देखकर बोले, कि इस कारण, कि तुम मुझको विरूप देख कर पीली हुई हो, तुम्हारा पुत्रभी पीला होगा। हे शुभानने ! वह पुत्र पीला अर्थात पाण्डु नामहीसे प्रख्यात होगा। भगवान ऋषि-

इत्युक्त्वा स निराक्रामद्भगवानृषिसत्तमः ॥ १९॥
ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाऽब्रवीत्।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ॥२०॥
तं माता पुनरेवाऽन्यमेकं पुत्रमयाचत ।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥
ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ।
पाण्डुं लक्षणसंपन्नं दीप्यमानं वराश्रिया ॥ २२॥
यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः।
ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत् ॥ २३॥
सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम्।
नाऽकरोद्वचनं देव्या भयात्सुरसुतोपमा ॥ २४ ॥
ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाऽप्सरोपमाम्।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता॥ २५॥
सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याऽभिवाद्य च ।
संविवेशाऽभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ।
कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ॥ २६ ॥
तया सहोषितो राजन्महर्षिः संशितव्रतः ।

श्रेष्ठके यह बात कहकर घरसे निकलने पर सत्यवतीने उनसे सन्तानकी बात पूछी। व्यासने माताको फिर पुत्रके पीला होनेका विषय कह सुनाया। (१९—२०)

सत्यवतीने वह सुनकर फिर उनसे और एक पुत्रकी प्रार्थना की; महर्षिने वहभी स्वीकार किया। अनन्तर समय आनेपर देवी अम्बालिकाने सुन्दर श्रीयुक्त पाण्डुवर्ण एक कुमार प्रसव किया, जिनके पुत्र पांच पाण्डव बडे चापधारी भये थे। अनन्तर बडी वधूको ऋतु काल आनेपर सत्यवतीने उसको उन ऋषिके निकट नियुक्त किया; पर उसने ऋषिके शरीरकी वैसी गन्ध स्मरणकर देवीके वाक्यानुरूप कर्म नहीं किया। (२१—२४)

अनन्तर देवकन्या सदृशी उस काशीराज पुत्रीने अप्सरा समान एक दासीको अपने आभूषणों से अलंकृता कर कृष्ण द्वैपायनजीके निकट नियोग किया। आगे ऋषिके आनेपर दासी उठकर नमस्कार पूर्वक ऋषिकी आज्ञानुसार उनको उपचारित और सत्कृत कर विस्तर पर जा बैठी। हे राजन्! व्रतशील महर्षि निरालेमें उससे सहवासमें कामको भोगकर उस पर

उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ॥ २७ ॥
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः ।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २८ ॥
स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥ २९ ॥
धर्मो विदुररूपेण शापात्तस्य महात्मनः ।
माण्डव्यस्याऽर्थतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ॥३०॥
कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत्सत्यवत्यै न्यवेदयत् ।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥ ३१ ॥
स धर्मस्याऽनृणो भूत्वा पुनर्मात्रा समेत्य च ।
तस्यै गर्भं समावेद्य तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ ३२ ॥
एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि ।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥ ३३ ॥ [४४०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि विचित्रवीर्यसुतोत्पत्तौ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

जनमेजय उवाच— किं कृतं कर्म धर्मेण येन शापमुपेयिवान् ।
कस्य शापाच्च ब्रह्मर्षेः शूद्रयोनावजायत ॥ १ ॥

अति प्रसन्न हुए और उठकर जानेके काल उससे बोले, तुम्हारा दासीपन मुक्त होगा। हे शुभे ! तुम्हारे गर्भमें स्थित सन्तान धर्मात्मा मङ्गलभाजन और बुद्धिमान जनोंमें सबसे श्रेष्ठ होगी। महाराज! श्रीकृष्णद्वैपायनजी के वीर्य और उसके गर्भसे धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डु के भाई विदुरने जन्म लिया। (२५-२९)

अर्थ तत्त्व जाननेवाले और जितेन्द्रिय श्रीकृष्णद्वैपायनजीने माताके निकट आकर महात्मा माण्डव्यके शापसे धर्मका विदुरके स्वरूपमें जन्म और अपने सामने दासीका नियोग, और उससे पुत्रके स्वरूपमें धर्मका जन्म यह सब कह सुनाये। अनन्तर वह उस गर्भ की कथा माताके निकट कहकर धर्मानुसार ऋणसे छुटकारा पाकर उस स्थानही में अन्तर्हित हुए। हे भूप ! श्रीद्वैपायनजी के वीर्य और विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें कुरुकुलके बढानेवाले देवकुमार समान कुमारोंने इस प्रकार जन्म लिया था। (३०-३३)

आदिपर्वमें एक सौ छः अध्याय समाप्त। [४४०२]

आदिपर्वमें एक सौ सात अध्याय।

जनमेजय बोले, कि धर्मने कौनसा कर्म

वैशम्पायन उवाच—बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः।
धृतिमान्सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ॥ २ ॥
स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः ।
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ॥ ३ ॥
तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपसि वर्तत‌ः ।
तमाश्रमपदं प्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः ॥ ४ ॥
अनुसार्यमाणा बहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ ।
ते तस्याऽऽवसथे लोप्त्रं दस्यवः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवाऽनागते बले ।
तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद्रक्षिणां बलम् ॥ ६ ॥
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः ।
तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम् ॥ ७ ॥
कतमेन पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम ।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन्यथा शीघ्रतरं वयम् ॥ ८ ॥
तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः ।
न किंचिद्वचनं राजन्नब्रवीत्साध्वसाधु वा ॥ ९ ॥
ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम् ।

किया था, कि उस कारण शापसे ग्रसित हुए और किस ब्रह्मर्षिके शापसे शूद्र योनिमें जन्म लिया? (१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि माण्डव्य नामसे प्रसिद्ध सर्व धर्मज्ञ धृतिमान सत्यनिष्ठ और तपमें नियुक्त एक महातपा महायोगी ब्राह्मण एक समय आश्रमके द्वारपर स्थित वृक्षकी जड़में ऊर्ध्वबाहु और मौनी होकर बहुत दिनोंसे तप कर रहे थे, कि ऐसे समयमें एकदिन लुटेरे लूटी हुई वस्तुओंको लेकर उनके उस आश्रममें आये। हे भरतवंशश्रेष्ठ उनके पीछे रखवारे आरहे थे; सो वे भय खाकर रखवारोंके आते न आते उस आश्रममें लूटे हुए धनको छिपाकर आपभी वहीं रहे। (२–६)

अनन्तर चोरोंको पाछियाते हुए पैदल रखवारे उसी क्षण उस स्थानमें आपहुंचे। हे राजन्! उन्होंने उस दशामें तपस्वी उस ऋषि को देखकर पूछा, कि हे द्विजवर! लुटेरे किस पथमें गये? हे ब्राह्मण! कह दीजिये, हम शीघ्र उस पथमें जायंगे। हे राजन्! रखवारोंके उस प्रकार पूछनेपर तपोधन माण्डव्यने भली बुरी कुछ नहीं कही। अनन्तर राजपुरुषोंने

ददृशुस्तत्र लीनांस्तांश्चौरांस्तद् द्रव्यमेव च॥१०॥
ततः शङ्का समभवद्रक्षिणां तं मुनिं प्रति ।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन् ॥ ११ ॥
तं राजा सह तैश्चौरैरन्वशाद्वध्यतामिति ।
स रक्षिभिस्तैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः ॥१२ ॥
ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा ।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ ॥ १३ ॥
शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाऽभ्यपद्यत ॥ १४ ॥
धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत् ।
शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना ॥ १५ ॥
संतापं परमं जग्मुर्मुनयस्तपसान्विताः ।
ते रात्रौ शकुना भूत्वा संनिपत्य तु भारत ॥ १६ ॥
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन्द्विजोत्तमम्।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्किं पापं कृतवानसि।
येनेह समनुप्राप्तं शूले दुःखभयं महत् ॥ १७ ॥ [४४१९]

इति श्रीमहा० शत० संहि० वैयासिक्या० सम्भवपर्वणि माण्डव्योपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥१०७॥

उस आश्रममें ढूंढते हुए चुराये हुए पदार्थोंके साथ चोरोंको पाया। (९-१०)

आगे उन मुनिपर रखवारोंका सन्देह होनेपर उन्होंने लुटेरों और मुनिको बांधकर राजाके पास दे दिया। राजाने लुटेरोंके साथ मुनिकोभी मारनेकी आज्ञा दी। रखवारोंने महातपा माण्डव्य को न जानकर शूलीपर चढा दिया; अनन्तर चुरायी हुई वस्तुओंको लेकर राजाके यहां गये! धर्मात्मा विप्रर्षि बहुकाल शूलीपर चढे हुए और विना भोजन रहने परभी मृत्युके मुखमें न गिरे। वह तपके बलसे जीवित रहे, आगे ऋषिओंको अपने पास बुलवाया। हे भारत! तपोबल-युक्त मुनिलोग रात्रिको पक्षियोंका स्वरूप लेकर उनके पास आकरके उन महात्माको शूलीके ऊपर तपमें मग्न देखकर, अति दुःखी हुए और उन्होंने निज निज रूप लेकर द्विजोत्तमसे पूछा, कि हे ब्रह्मन्! हम सुनना चाहते हैं, कि तुमने कौनसा पाप किया है, कि इस शूलीका भारी दुःख और भय सहना पडता है। (११--१७) [४४१९]

आदिपर्वमें एकसौ सात अध्याय समाप्त ।

वैशम्पायन उवाच—बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः।
धृतिमान्सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ॥ २ ॥
स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः ।
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ॥ ३ ॥
तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपासि वर्ततः ।
तमाश्रमपदं प्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः ॥ ४ ॥
अनुसार्यमाणा बहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ ।
ते तस्याऽऽवसथे लोप्त्रं दस्यवः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवाऽनागते बले ।
तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद्रक्षिणां बलम् ॥ ६ ॥
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः ।
तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम् ॥ ७ ॥
कतमेन पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम ।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन्यथा शीघ्रतरं वयम् ॥ ८ ॥
तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः ।
न किंचिद्वचनं राजन्नब्रवीत्साध्वसाधु वा ॥ ९ ॥
ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम् ।

किया था, कि उस कारण शापसे ग्रसित हुए और किस ब्रह्मर्षिके शापसे शूद्र योनिमें जन्म लिया ? (१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि माण्डव्य नामसे प्रसिद्ध सर्व धर्मज्ञ धृतिमान् सत्यनिष्ठ और तपमें नियुक्त एक महातपा महायोगी ब्राह्मण एक समय आश्रमके द्वारपर स्थित वृक्षकी जडमें ऊर्ध्ववाहु और मौनी होकर बहुत दिनोंमे तप कर रहे थे, कि ऐसे समयमें एकदिन लुटेरे लूटी हुई वस्तुओंको लेकर उनके उस आश्रममें आये। हे भरतवंशश्रेष्ठ उनके पीछे रखवारे आरहे थे; सो वे भय खाकर रखवारोंके आते न आते उस आश्रममें लूटे हुए धनको छिपाकर आपभी वही रहे। (२–६)

अनन्तर चोरों को पछियाते हुए पैदल रखवारे उसी क्षण उस स्थानमे आपहुंचे। हे राजन् ! उन्होंने उस दशामें तपस्वी उस ऋषि को देखकर पूछा, कि हे द्विजवर! लुटेरे किस पथसे गये? हे ब्राह्मण ! कह दीजिये, हम शीघ्र उस पथमें जायंगे। हे राजन् ! रखवारोंके उस प्रकार पूछनेपर तपोधन माण्डव्यने भली बुरी कुछ नहीं कही। अनन्तर राजपुरुषोंने

ददृशुस्तत्र लीनांस्तांश्चौरांस्तद् द्रव्यमेव च॥१०॥
ततः शङ्का समभवद्रक्षिणां तं मुनिं प्रति।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन्॥११॥
तं राजा सह तैश्चौरैरन्वशाद्वध्यतामिति।
स रक्षिभिस्तैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः॥१२॥
ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ॥१३॥
शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाऽभ्यपद्यत॥१४॥
धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत्।
शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना॥१५॥
संतापं परमं जग्मुर्मुनयस्तपसान्विताः।
ते रात्रौ शकुना भूत्वा संनिपत्य तु भारत॥१६॥
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन्द्विजोत्तमम्।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्किं पापं कृतवानसि।
येनेह समनुप्राप्तं शूले दुःखभयं महत्॥१७॥ [४४१०]

इति श्रीमहा० शत० संहि० वैयासिक्यां० संभवपर्वणि माण्डव्योपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः॥१०७॥

उस आश्रममें ढूंढते हुए चुराये हुए पदार्थोंके साथ चोरोंको पाया।(९-१०)

आगे उन मुनिपर रखवारोंका सन्देह होनेपर उन्होंने लुटेरों और मुनिको बांधकर राजाके पास दे दिया। राजाने लुटेरोंके साथ मुनिकोभी मारनेकी आज्ञा दी। रखवारोंने महातपा माण्डव्य को न जानकर शूलीपर चढा दिया; अनन्तर चुरायी हुई वस्तुओंको लेकर राजाके यहां गये! धर्मात्मा विप्रर्षि बहुकाल शूलीपर चढे हुए और बिना भोजन रहने परभी मृत्युके मुखमें न गिरे। वह तपके बलसे जीवित रहे, आगे ऋषिओंको अपने पास बुलवाया। हे भारत! तपोबल-युक्त मुनिलोग रात्रिको पक्षियोंका स्वरूप लेकर उनके पास आकरके उन महात्माको शूलीके ऊपर तपमें मग्न देखकर, अति दुःखी हुए और उन्होंने निज निज रूप लेकर द्विजोत्तमसे पूछा, कि हे ब्रह्मन्! हम सुनना चाहते हैं, कि तुमने कौनसा पाप किया है, कि इस शूलीका भारी दुःख और भय सहना पडता है। (११--१७) [४४१०]

आदिपर्वमें एकसौ सात अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच—ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान् ।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति॥१॥
तं दृष्ट्वा रक्षिणस्तत्र तथा बहुतिथेऽहनि ।
न्यवेदयंस्तथा राज्ञे यथावृत्तं नराधिप ॥ २ ॥
श्रुत्वा च वचनं तेषां निश्चित्य सह मन्त्रिभिः ।
प्रसादयामास तदा शूलस्थमृषिसत्तमम् ॥ ३ ॥
राजोवाच— यन्मयाऽपकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम ।
प्रसादये त्वां तत्राऽहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः ।
कृतप्रसादं राजा तं ततः समवतारयत् ॥ ५ ॥
अवतार्य च शूलाग्रात्तच्छूलं निश्चकर्ष ह ।
अशक्नुवंश्च निष्क्रष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे ॥ ६ ॥
स तथाऽन्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः ।
तेनाऽतितपसा लोकान्विजिग्ये दुर्लभान्परैः ॥ ७ ॥
अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु गीयते ।
स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमात्मवित् ॥ ८ ॥

आदिपर्व में एकसो आठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर मुनि शार्दूल माण्डव्यने उन तपोधनोंसे कहा, कि मैं किसको दोष लगाऊं, कोई और मनुष्य इस विषयमें दोषी नहीं है। हे नराधिप! अनेक दिनोंके पीछे रखवारोंने उनको उस दशामें देखकर राजासे सब हाल कह सुनाया। वह सुनकर भूपाल तब मन्त्रियोंसे युक्ति करके, उस शूलीपर स्थित ऋषिको प्रसन्न करनेके लिये विनयके साथ कहने लगे, कि मैंने मोहवश अज्ञानतासे आप की हानि की है, अब आपकी प्रसन्नताके लिये प्रार्थना करता हूं, आप मुझपर क्रोधित न होवें। (१–४)

राजाकी ऐसी बात सुनकर मुनि प्रसन्न हुए। भूपाल उनको प्रसन्न देखकर शूलीके खम्भेसे उतार कर उसे निकालने लगे, पर उसमें मनोरथ सफल नहीं हो सका, आगे देहके भीतर घुसी हुई शूलीकी जड काट डाली। तब मुनि भीतर घुसी हुई शूलीको ले करके ही कठोर तपस्या करने लगे; उससे औरोंके लिये दुर्लभ पुण्यलोकको जीत लिया। वह अणी अर्थात् शूलीके अगले भागको लिये रहनेके कारण अणि-माण्डव्य नामसे लोगोंमें प्रसिद्ध हुए। तत्त्वज्ञ ब्राह्मण

वैशम्पायन उवाच—ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान् ।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति॥१ ॥
तं दृष्ट्वा रक्षिणस्तत्र तथा बहुतिथेऽहनि ।
न्यवेदयंस्तथा राज्ञे यथावृत्तं नराधिप ॥ २ ॥
श्रुत्वा च वचनं तेषां निश्चित्य सह मन्त्रिभिः ।
प्रसादयामास तदा शूलस्थमृषिसत्तमम् ॥ ३ ॥
राजोवाच— यन्मयाऽपकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम ।
प्रसादये त्वां तत्राऽहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः ।
कृतप्रसादं राजा तं ततः समवतारयत् ॥ ५ ॥
अवतार्य च शूलाग्रात्तच्छूलं निश्चकर्ष ह ।
अशक्नुवंश्च निष्कष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे ॥ ६ ॥
स तथाऽन्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः ।
तेनाऽतितपसा लोकान्विजिग्ये दुर्लभान्परैः ॥ ७ ॥
अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु गीयते ।
स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमात्मवित् ॥ ८ ॥

आदिपर्व में एकसौ आठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर मुनि शार्दूल माण्डव्यने उन तपोधनोंसे कहा, कि मैं किसको दोष लगाऊं, कोई और मनुष्य इस विषयमें दोषी नहीं है। हे नराधिप ! अनेक दिनोंके पीछे रख-वारोंने उनको उस दशामें देखकर राजासे सब हाल कह सुनाया। वह सुनकर भूपाल तब मन्त्रियोंसे युक्ति करके, उस शूलीपर स्थित ऋषिको प्रसन्न करनेके लिये विनयके साथ कहने लगे, कि मैंने मोह-वश अज्ञानतासे आपकी हानि की है, अब आपकी प्रसन्नताके लिये प्रार्थना करता हूं, आप मुझपर क्रोधित न होवें। (१-४)

राजाकी ऐसी बात सुनकर मुनि प्रसन्न हुए। भूपाल उनको प्रसन्न देख-कर शूलीके खम्भेसे उतार कर उसे निका-लने लगे, पर उसमें मनोरथ सफल नहीं हो सका, आगे देहके भीतर घुसी हुई शूलीकी जड़ काट डाली। तब मुनि भीतर घुसीहुई शूलीको ले करके ही कठोर तपस्या करने लगे; उससे औरोंके लिये दुर्लभ पुण्यलोकको जीत लिया। वह अणी अर्थात् शूलीके अगले भागको लिये रहनेके कारण अणि-माण्डव्य नामसे लोगोंमें प्रसिद्ध हुए। तत्त्वज्ञ ब्राह्मण

आसनस्थं ततो धर्मं दृष्ट्वोपालभत प्रभुः ।
किं नु तद्दुष्कृतं कर्म मया कृतमजानता ॥ ९ ॥
यस्येयं फलनिर्वृत्तिरीदृश्यासादिता मया ।
शीघ्रमाचक्ष्व मे तत्त्वं पश्य मे तपसो बलम् ॥ १० ॥
धर्म उवाच— पताङ्गिकानां पुच्छेषु त्वयेषीका प्रवेशिता ।
कर्मणस्तस्य ते प्राप्तं फलमेतत्तपोधन ॥ ११ ॥
स्वल्पमेव यथा दत्तं दानं बहुगुणं भवेत् ।
अधर्म एवं विप्रर्षे बहुदुःखफलप्रदः ॥ १२ ॥
अणीमाण्डव्यउवाच-कस्मिन्काले मया तत्तु कृतं ब्रूहि यथातथम् ।
तेनोक्तो धर्मराजेन बालभावे त्वया कृतम् ॥ १३ ॥
अणीमाण्डव्य उवाच-बालो हि द्वादशाद्वर्षाज्जन्मतो यत्करिष्यति ।
न भविष्यत्यधर्मोऽत्र न प्रज्ञास्यन्ति वै दिशः ॥ १४ ॥
अल्पेऽपराधेऽपि महान्मम दण्डस्त्वया धृतः ।
गरीयान्ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि ॥ १५ ॥
शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः संभविष्यसि ।
मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम् ॥ १६ ॥
आचतुर्दशकाद्वर्षान्न भविष्यति पातकम् ।
परतः कुर्वतामेव दोष एव भविष्यति ॥ १७ ॥

अणि माडव्य एक समय धर्मके पास गये। धर्मको वहां बैठे देखकर प्रभु अणि-माण्डव्य उनको लाञ्छन कर बोले, कि मैंने अज्ञानतामें कौनसा कुकर्म किया है, कि जिसमें ऐसा फल पाया ? इसका गूढ तत्त्व मुझसे शीघ्र कहो और मेरी तपस्याका प्रभाव देखो। (५—१०)

धर्म बोले, कि तुमने एक दिन पतंगे की पूछमें इषीका अर्थात् तिनका घुमाया था, हे तपोधन! तुमने उग्र कर्म-का यह फल प्राप्त किया है । स्वल्प किया हुआ दान भी जैसा बहुफलदायी होता है, अधर्म भी उसी प्रकार बहुत दुःख देनेवाला होता है। अणि-माण्डव्य बोले, कि हे धर्म ! मेरी बालावस्थामें किये हुए छोटेसे दोषका तुमने ऐसा कठोर दण्ड दिया है, इस हेतु तुम मनुष्य होकर शूद्र योनिमें जन्म लोगे। आजसे मैं कर्मके फल भोगनेके विषयमें लोकों में यह नियम स्थापन करता हूं, कि जब तक चौदह वर्षकी आयु पूर्ण न होवे तबतक पाप करनेसेभी पाप नहीं होगा ! चौदह

वैशम्पायन उवाच- एतेन त्वपराधेन शापात्तस्य महात्मनः ।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत ॥ १८ ॥
धर्मे चाऽर्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः ॥ १९ ॥(४४३८)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वण्यणी-
माण्डव्योपाख्यानेऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

वैशम्पायन उवाच- तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम् ।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥ १ ॥
ऊर्ध्वसस्याऽभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥ २ ॥
वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः ।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च॥ ३ ॥
वणिग्भिश्चाऽन्वकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन् ॥ ४ ॥
नाऽभवन्दस्यवः केचिन्नाऽधर्मरुचयो जनाः ।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥ ५ ॥

वर्षके पीछे पापकर्म करनेसे उसके फल की प्राप्ति होगी। (११-१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले,कि इस दोषके हेतु महात्मा अणि-माण्डव्यके शापसे धर्मने विदुरके स्वरूपमें शूद्रयोनिमें जन्म लिया; पर वह धर्म और अर्थके विषयमें पण्डित, लोभ क्रोध वर्जित शांत और परिणामदर्शी होकर कुरुवंशके हित साधनेमें सदा उत्साही थे।

आदिपर्वमें एकसो आठ अध्याय समाप्त ।४४३८

आदिपर्वमें एकसौ नौ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर उन तीन कुमारोंके जन्म लेने पर कौरवगण, कुरुजाङ्गल देश और कुरुक्षेत्र इन तीनोंकी पूरी उन्नति हुई। तब भूमिमें बहुत शस्य उपजने लगे, शस्य रसयुक्त हुए, बादलोंके उचित समयमें वृष्टि करनेसे वृक्षोंके अपरिमित फल और फूल होने लगे। उनदिनों सब वाहन प्रसन्न, मृग पक्षी प्रमुदित, पुष्प गन्धयुक्त और फल अच्छे रसयुक्त होते थे। तब नगर वाणिज्य और शिल्प पर जीनेवालेसे भरा पूरा था; और शूरलोग, विद्वानलोग और साधुगण सुखी होने लगे। उस समयमें कोई लुटेरा वा अधर्मशील न था, सो राज्यके सब प्रदेशोंमें मानो सत्ययुग प्रवृत्त हुआ। (१-५)

धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः ।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्त प्रजास्तदा ॥ ६ ॥
कामक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवार्जिताः ।
अन्योन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥ ७ ॥
तन्महोदधिवत्पूर्णं नगरं वै व्यरोचत ।
द्वारतोरणनिर्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ।
प्रासादशतसंबाधं महेन्द्रपुरसन्निभम् ॥ ८ ॥
नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु ।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ॥ ९ ॥
उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस्तथा ।
विस्पर्धमाना व्यचरंस्तथा देवर्षिचारणैः ॥ १० ॥
नाऽभवत्कृपणः कश्चिन्नाऽभवन्विधवाः स्त्रियः ।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ॥ ११ ॥
कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
बभूवुः सर्वर्द्धियुतास्तस्मिन्राष्ट्रे सदोत्सवाः ॥ १२ ॥
भीष्मेण धर्मतो राजन्सर्वतः परिरक्षिते ।
बभूव रमणीयश्च चैत्ययूपशताङ्कितः ॥ १३ ॥

प्रजा धर्मशील, यागशील, सत्यशील, और आपसमें प्रेमशील होकर विशेष रूपसे बढने लगी। संपूर्ण जन क्रोध लोभ और अभिमानवर्जित होकर धर्मानुसारही परस्पर आनन्द मानने लगे। उस कालमें वह नगर बडे भारी समुद्रके समान भरा, सैकडों बडे बडे भवनोंसे पूरा और बादल दलके सदृश द्वार और तोरणोंसे संयुक्त होकर अमरावती की सी अपूर्व शोभा पाने लगा। मानवगण नदी, वन, तडाग, सरोवर, रमणीय फुलवाडी और पर्वतोंकी समभूमि पर प्रसन्न चित्तसे विहार करने लगे। दक्षिण कुरुलोग उत्तर कुरुओंसे एक दूसरेको अहङ्कार दिखा कर सिद्ध, ऋषि और चारणोंके साथ विचरने लगे। (६—१०)

कुरुओंसे बढे हुए उस सुन्दर जनपदमें कोई कृपण नहीं था और कोई नारी विधवा नहीं होती थीं। कूप, उपवन, तडाग, सभा और ब्राह्मणोंकी वस्ती सर्व सम्पदयुक्त हुई, और सब स्थानोंमें सदा उत्सव होने लगे। वह राज्य भीष्मसे धर्मानुसार इस प्रकार रक्षित हुआ कि अनेक देशोंके यज्ञयूपोंसे चित्रित होकर

स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याऽभिप्रवर्धितः।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ॥ १४ ॥
क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम्।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः परमोत्सुकाः ॥ १५ ॥
गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः॥१६ ॥
धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत्परिपालिताः ॥ १७ ॥
संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥ १८ ॥
धनुर्वेदे च वेदे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः॥ १९ ॥
इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥ २० ॥
पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत्।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः॥ २१ ॥
त्रिषु लोकेषु न त्वासीत्कश्चिद्विदुरसंमितः।

अति रमणीय वन गया; भीष्म के विधान से उस राज्यमे धर्मचक्र ऐसा प्रवर्तित हुआ, कि बहुतेरे दूसरे राज्योंको छोडकर उस राज्यमें बसने लगे। महात्मा कुरु-कुमारोंसे किये जाते हुए कार्योंको देखकर जनपद और पुरवासी सब अति उत्साहयुक्त हुए। हे नराधिप! प्रधान कौरवों और पुरवासियोंके घरोंमें "खाओ, पीओ" यह बात सदा सुनाई देने लगी। (१४—१६)

धृतराष्ट्र, पाण्डु और महामति विदुर जन्महीसे भीष्मसे पुत्रकी भांति प्रतिपालित, जातिके योग्य संस्कारोंसे संस्कृत, व्रत तथा पठन मे नियुक्त, और श्रम तथा व्यायाममें पण्डित होकर उचित समयमें यौवनदशाको प्राप्त हुए। वे धनुर्वेदमें, गदा-युद्धमें, खड्ग-चर्म चलानेमें गजशिक्षामे और नीतिशास्त्रमे दक्ष हुए। वे वेद वेदाङ्गके तत्त्वज्ञ होकर इतिहास, पुराण और दूसरे नाना विषयोंकी शिक्षा आदि सब विषयो मे पण्डित हुए थे। विक्रमी पाण्डु धनुर्विद्यामे और महीपति धृतराष्ट्र बलवत्ता में सबोंसे श्रेष्ठ भये। (१७-२१)

धर्मनित्यस्तथा राजन्धर्मे च परमं गतः ॥ २२ ॥
प्रनष्टं शान्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्तत ॥ २३ ॥
वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम् ॥ २४ ॥
धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद्राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद्विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥ २५ ॥
कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः ।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ॥ २६ ॥ [४४६४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुराज्याभिषेके नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

भीष्म उवाच— गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अत्यन्यान्पृथिवीपालान्पृथिव्यामधिराज्यभाक् ॥ १ ॥
रक्षितं राजभिः पूर्वं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ।
नोत्सादमगमच्चेदं कदाचिदिह नः कुलम् ॥ २ ॥
मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना ।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु ॥ ३ ॥

हे राजन्! तीनों लोकोंमे विदुरके समान धर्मशील और धर्म विषयमें परम तत्त्वज्ञ कोई दूसरा नही था। उस काल मे राजा शांतनुके नष्ट होते हुए वंशको फिर जगते देखकर संपूर्ण राज्योंमें ऐसी प्रशंसा की बात उडने लगी, कि वीर प्रसविनी स्त्रियोंमे दोनो काशीराजकी बेटिया, देशोंमें कुरुजाङ्गल सर्व धर्मज्ञ जनोंमें भीष्म और नगरोंमे हास्तिनापुर श्रेष्ठ है। धृतराष्ट्रको जन्मान्ध होने और विदुरको शूद्राणीके गर्भमे जन्म लेनेके हेतु राज्यकी प्राप्ति नहीं हुई, सो पाण्डु ही राज्याधिप हुए। अनन्तर एक समय नीति शास्त्रमे पंडित गंगानन्दन धर्मतत्त्वज्ञ विदुरको यथोचित यह बात बोले। (२२—२६) [४४६४]

आदि पर्वमें एक सौ नौ अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एक सौ दश अध्याय।

भीष्मजी बोले, कि हमारा यह सर्वगुण युक्त और सर्वत्र प्रख्यात कुरुकुल पृथ्वी भर में दूसरे सब पृथ्वीपालोंपर अधिकार फैलाता आया है इसविषयमें कि धर्मशील, महात्मा राजाओंके द्वारा पहिलेसे रक्षित इस कुलकी कभी उखडनेकी दशा न

तच्चैतद्वर्धते भूयः कुलं सागरवद्यथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ॥ ४ ॥
श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्याऽऽत्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥ ५ ॥
कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः ।
उचिताश्चैव संबन्धे ह्यस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥ ६ ॥
मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर ।
सन्तानार्थं कुलस्याऽस्य यद्वा विदुर मन्यसे ॥ ७ ॥
विदुर उवाच— भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः ।
तस्मात्स्वयं कुलस्याऽस्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥८॥
वैशम्पायन उवाच—अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ९ ॥
गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा ।
इति शुश्राव तत्त्वेन भीष्मः कुरुपितामहः ॥ १० ॥
ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत ।
अचक्षुरिति तत्राऽऽसीत्सुबलस्य विचारणा ॥ ११ ॥

होवे, मेरे, सत्यवतीके और महात्मा कृष्णद्वैपायनके प्रयत्नसे तुम तीन कुलतन्तु उत्पन्न हुए हो। अब तुम लोगोंही पर कुल स्थापित हुआ है, सो तुम्हारी और मेरी ऐसी चेष्टा होनी चाहिये, कि यह कुल सागर सदृश बढे। (१-४)

सुन चुका हूं, कि यदुवंशी शूरसेनकी कन्या, सुबलराजपुत्री और मद्रदेशाधिप की बेटी, यह तीन कन्या हमारे वंशके योग्य है। हे पुत्र ! क्षत्राणियोंमें श्रेष्ठ वे कन्याये कुलीन, रूपवती और हर बातमें हमारे साथ सम्बन्धके योग्य हैं ; हे धीमान् विदुर ! मैं समझता हूं, कि इस वंशकी सन्तानके निमित्त उन्हींसे विवाह करना उचित है, अथवा तुम्हारी समझमें जो अच्छा होवे, कहो। विदुर बोले, कि आप हमारे पिता है, आपहीं हमारी माता है और आपही हमारे परम गुरु है, अतएव आपही स्वयं विचारकर जो इस वंशका मङ्गलदायी होवे, वही कीजिये। (५--८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कुरुपितामह भीष्मने ब्राह्मणोंके मुखसे सुना, कि शुभ लक्षणयुक्त सुबलपुत्री गान्धारीने भगनामक देवताके नेत्रहारी वरदायी महादेवकी आराधना कर सौ पुत्र

कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः ।
ददौ तां धृतराष्ट्रस्य गान्धारीं धर्मचारिणीम्॥ १२॥
गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम् ।
आत्मानं दित्सितं चाऽस्मै पित्रा मात्रा च भारत १३
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा ।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन्पतिव्रतपरायणा ॥ १४॥
नाऽभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया ॥ १५॥
ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात्।
स्वसारं वयसा लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान् १६॥
तां तदा धृतराष्ट्राय ददौ परमसत्कृताम् ।
भीष्मस्याऽनुमते चैव विवाहं समकारयत्॥ १७॥
दत्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम्।
पुनरायात्स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ॥ १८॥
गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः ।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥ १९॥
वृत्तेनाऽऽराध्य तान्सर्वान्गुरून्पतिपरायणा ।

पानेका वरलाभ किया है। हे भारत ! अनन्तर भीष्मने गान्धारराजके निकट दूत भेजा। धृतराष्ट्र अन्धे है, सो गान्धार राजने बहुत विचार किया । आगे उन्होंने कौरवोंके कुल, प्रसिद्धि और चरित्र को भले प्रकार आलोचना करके धृतराष्ट्र को गान्धारी नाम्नी कन्या दान करना निश्चय किया। (९-१२)

हे भारत ! अनन्तर गान्धारीने सुना, कि धृतराष्ट्र अन्धे है और उन अन्धेसे उनका विवाह होगा । तब उन्होंने पतिव्रता होनेके हेतु वस्त्र लेकर कई फेरा लगा करके अपने नेत्रोंको बांधा. क्योंकि उन्होंने यह निश्चय किया था, कि मैं पतिसे डाह न करूंगी। अनन्तर गान्धारराजकुमार शकुनिने रूप यौवन-वती परम सुरूपा भगिनीको लेकर कौरवोंके निकट आ करके धृतराष्ट्रको सम्प्रदान किया, तब भीष्मके मतानुसार दोनोंका विवाह कर दिया गया।(१३-१७)

वीर शकुनि धृतराष्ट्र को यथोचित वस्त्रादि देकर बहिनको सम्प्रदान करके भीष्मसे भले प्रकार आदर सत्कार पाकर निज नगर को पधारा । हे भरतवंश तिलक ! सुन्दरी गान्धारी शीलता, सदाचार और यत्नसे सम्पूर्ण कौरवोंका

वाचाऽपि पुरुषानन्यान्सुव्रता नाऽन्वकीर्तयत् ॥ २० ॥ ४४८४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि धृतराष्ट्रविवाहे दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

वैशम्पायन उवाच- शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताऽभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाऽप्रतिमा भुवि ॥ १ ॥
पितृष्वस्रीयाय स तामनपत्याय भारत ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्याऽपत्यं स सत्यवाक् ॥ २ ॥
अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षिणे ।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥ ३ ॥
नियुक्ता सा पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरत्तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ ५ ॥
तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया ।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवींच्चैव तां मुनिः ॥ ६ ॥

सन्तोष उपजाने लगी ! सुव्रत वाली गान्धारी सुन्दर व्यवहारसे गुरुओंकी सेवा किया करती थीं, वाक्यसेभी कभी अन्य पुरुषका नाम नहीं लेती थी। (१७-२०)

आदिपर्वमें एकसौ दश अध्याय समाप्त। [४४८४]

आदिपर्वमें एकसौ ग्यारह अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शूरनामक यदुकुलमें श्रेष्ठ एक महात्मा वसुदेवके पिता थे। उनकी पृथा नाम्नी एक कन्या थी। वह कन्या ऐसी रूपवती थी; कि भूमण्डलमें कोई नारि उनके रूपकी बराबरी नहीं कर सक्ती थी। हे भारत ! सत्यवादी शूरने कृपाकांक्षी निःसन्तान पितृस्वस्रीय प्रिय मित्र महात्मा कुन्ती-भोजराजसे पहिले स्वीकार किया था, कि अपनी पहिली सन्तान तुमको दे दूंगा; उस स्वीकारके अनुसार प्रथम गर्भसे जन्मी हुई उस कन्याको दे दिया। (१—३)

पृथा उस पिताके घरमें ब्राह्मणोंकी सेवा और अतिथियो के सत्कारमे नियुक्त रहती थी, एक समय उसने जितेन्द्रिय व्रतशील उग्रस्वभावी और धर्मके गूढ तत्त्वोंके जाननेवाले ब्राह्मण दुर्वासाको सर्व प्रयत्नसे सेवा कर प्रसन्न किया ! उस मुनिने भविष्यत्में सन्तान आपद्धर्मकी बात सोचकर उसको अभिचारयुक्त मन्त्र दिया और बोले, कि तुम इस मन्त्रसे जिन

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणाऽऽवाहयिष्यसि।
तस्य तस्य प्रभावेण तव पुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥
तथोक्ता सा तु विप्रेण कुन्ती कौतूहलान्विता।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ ८ ॥
सा ददर्श तमायान्तं भास्करं लोकभावनम्।
विस्मिता चाऽनवद्याङ्गी दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ ९ ॥
तां समासाद्य देवस्तु विवस्वानिदमब्रवीत्।
अयमस्म्यसितापाङ्गि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १० ॥

कुन्त्युवाच— काश्चिन्मे ब्राह्मणः प्रादाद्वरं विद्यां च शत्रुहन्।
तद्विजिज्ञासयाऽऽह्वानं कृतवत्यस्मि ते विभो॥ ११ ॥
एतस्मिन्नपराधे त्वां शिरसाऽहं प्रसादये।
योषितो हि सदा रक्ष्याः स्वापराद्धापि नित्यशः॥१२॥

सूर्य उवाच— वेदाऽहं सर्वमेवैतद्यद्दुर्वासा वरं ददौ।
संत्यज्य भयमेवेह क्रियतां संगमो मम ॥ १३ ॥
अमोघं दर्शनं मह्यमाहूतश्चाऽस्मि ते शुभे।
वृथाह्वानेऽपि ते भीरु दोषः स्यान्नाऽत्र संशयः॥१४॥

जिन देवताओंको बुलाओगी उन उन देवताके प्रभावसे तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा। (४—७)

यशस्विनी बाला पृथाने दुर्वासा की यह बात सुन करके अचरज मान कर कन्यावस्थाहीमें सूर्यदेवको बुलाया। आगे उस अनिन्दित अङ्गवालीने लोकभावन आदित्य को आते देखकर महत आश्चर्य देख करके विस्मय माना। सूर्य देव उसके पास आकरके बोले, कि री असिताङ्गि! मैं यह आया हूं, कहो, तुम्हारा क्या प्रियकार्य करना होगा। (८-१०)

पृथा बोली, कि हे शत्रुनाशी विभो! किसी ब्राह्मणने मुझको विद्या और वर दिया है, उसकी परीक्षाके लिये आपको बुलाया है। मैं इस अपराधके लिये सिर नायकर आपको प्रसन्न करती हूं; नारी यद्यपि बहुत अपराध भी करे, तथापि उसकी रक्षा करना चाहिये। सूर्य बोले, कि मैं यह सब जानता हूं, कि मुनि दुर्वासाने तुमको वर दिया है, अब तुम भय त्यागकर मुझसे संगम करो। री शुभे! मेरा दर्शन अव्यर्थ है; री भीरु! तुमने जिस कारण मुझको बुलाया, यदि वह व्यर्थ हो, तो इसमें सन्देह नहीं, कि हानि होगी। (११—१४)

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ता बहुविधं सान्त्वपूर्वं विवस्वता ।
सा तु नैच्छद्वरारोहा कन्याऽहमिति भारत॥ १५॥
बन्धुपक्षभयाद्भीता लज्जया च यशस्विनी ।
तामर्कः पुनरेवेदमब्रवीद्भरतर्षभ ॥ १६ ॥
मत्प्रसादान्न ते राज्ञि भविता दोष इत्युत ।
एवमुक्त्वा स भगवान्कुन्तिराजसुतां तदा ॥ १७ ॥
प्रकाशकर्ता तपनः संबभूव तया सह ।
तत्र वीरः समभवत्सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
अमुक्तकवचः श्रीमान्देवगर्भश्रियान्वितः ॥ १८ ॥
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ।
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ १९ ॥
प्रादाच्च तस्यै कन्यात्वं पुनः स परमद्युतिः ।
दत्वा च तपतां श्रेष्ठो दिवमाचक्रमे ततः ॥ २० ॥
दृष्ट्वा कुमारं जातं सा वार्ष्णेयी दीनमानसा ।
एकाग्रं चिन्तयामास किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥२१॥
गूहमानाऽपचारं सा बन्धुपक्षभयात्तदा ।
उत्ससर्ज कु[illegible]रं तं जले कुन्ती महाबलम् ॥ २२ ॥
तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! सूर्य इस प्रकार अनेक बातोंसे समझाने बुझाने लगे; पर सुन्दरी यशस्विनी कुन्ती ने कन्यावस्थामें रहनेके कारण बन्धुओंके भय और लज्जासे अपनी सम्मति नहीं दी। हे भरतर्षभ ! दिवाकरने फिर उससे कहा, कि हे राज्ञी ! मेरी कृपासे तुम कोई दोषयुक्ता न होओगी । प्रकाशनाथ भगवान् आदित्य कुन्तीराजकी कन्यासे यह कहकर उससे जा मिले। इससे सर्व-शस्त्रधारियोंमें प्रधान, देववत् श्रीमान्, जन्म के साथ कवचकुण्डलोंसे सर्वलोकोंमें प्रशंसावान् कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अनन्तर परम द्युतिमान आदित्य फिर उसको कन्यावस्था देकर आकाशको गये। (१५—२०)

यादव-कन्या जन्मे हुए कुमारको देख कर दीनचित्तसे सोचने लगी कि अब कौन उपाय करना चाहिये? क्या करूं; तो मङ्गल होवे ! अनन्तर उसने उस बुरी लीलाको छिपानेके लिये महाबली कुमार को जलमें बहा दिया । अति यशवन्त

पुत्रत्वे कल्पयामास सभार्यः सूतनन्दनः ॥ २३ ॥
नामधेयं च चक्राते तस्य बालस्य तावुभौ ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ॥ २४ ॥
स वर्धमानो बलवान्सर्वास्त्रेषूद्यतोऽभवत् ।
आपृष्ठतापादादित्यमुपातिष्ठन वीर्यवान् ॥ २५ ॥
तस्मिन्काले तु जपतस्तस्य वीरस्य धीमतः ।
नाऽदेयं ब्राह्मणेष्वासीत्किंचिद्वसु महीतले ॥ २६ ॥
तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत् ।
कवचं प्रार्थयामास फाल्गुनस्य हिते रतः ॥ २७ ॥
स्वशरीरात्समुत्कृत्य कवचं स्वं निसर्गजम् ।
विप्ररूपाय शक्राय ददौ कर्णः कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥
प्रतिगृह्य तु देवेशस्तुष्टस्तेनाऽस्य कर्मणा ।
ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २९ ॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम ।
यमेकं जेतुमिच्छेथाः सोऽनया न भविष्यति॥ ३०॥

सूतपुत्र राधापतिने जलमें डाले हुए बालक को उठाकर स्त्रीके साथ पुत्रका प्रतिनिधि बनाया। उस बालकने वसु अर्थात् कुण्डल और कवचरूपी धनके साथ जन्म लिया था, इससे राधापति और उसकी स्त्रीने उस बालकका वसुषेण यह नाम रखा। (२१—२४)

बली और प्रभावी वह बालक ज्यों ज्यों बढने लगा त्यों त्यों अस्त्र विद्याओंमेंभी दक्ष होने लगा। जबतक पीठपर्यन्त ताप युक्त नहीं होता था, तबतक वह सूर्यकी उपासना करते थे; उपासना करनेके काल-में धीमान् वसुषेणके पास भूमण्डलमें ऐसा कोई अर्थ नहीं था जो वह ब्राह्मणोंको नहीं देते थे। एक समय देवराज इन्द्रने अर्जुनके हित साधनेके निमित्त ब्राह्मणका वेष लेकर भिक्षार्थी होकरके उनके निकट आकर कवच पानेकी प्रार्थना की, उस-पर कर्णने कर जोडकर निज शरीरमें स्वभावहीसे मिले हुए कवचको काटकर ब्राह्मण रूपी इन्द्रको दे दिया। (२५-२८)

सुरनाथ इन्द्रने कवच लेकर कर्णके इस प्रकार कार्यसे प्रसन्न होकर उनको एक पुरुष नष्ट करनेवाला शक्तिअस्त्र दे दिया और कहा, कि देव, असुर मनुष्य, गंधर्व, उरग और राक्षस इनमेंसे चाहे जिस एकको तुम जय करना चाहोगे, इस शक्तिसे वह नष्ट होगा। सूर्य पुत्र

प्राक् नाम तस्य कथितं वसुषेण इति क्षितौ।
कर्णो वैकर्तनश्चैव कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥ ३१ ॥ (४५१५)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आदिपर्वणि सम्भवपर्वण्यै-
न्द्रशक्तिलाभ एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

वैशम्पायन उवाच- सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता ।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥ १ ॥
तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम् ।
व्यावृण्वन्पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥ २ ॥
ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय नराधिपान् ।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥ ३ ॥
ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी ।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥ ४ ॥
सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम् ।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ॥ ५ ॥
तिष्ठन्तं राजसमितौ पुरन्दरमिवाऽपरम् ।
तं दृष्ट्वा साऽनवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा ॥ ६ ॥
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाऽऽकुलाऽभवत् ॥ ७ ॥
ततः कामपरीताङ्गी सकृत्प्रचलमानसा ।

पहिले वसुषेण नामसे धरतीमें प्रसिद्ध थे, अब कवच काटनेसे कर्ण नामसे प्रख्यात हुए। (२९—३१) [४५१५]

आदिपर्वमें एकसौ ग्यारह अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ बारह अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कुंतिभोज की कन्या प्रशस्त नेत्रवाली पृथा सत्त्व-गुणयुक्त व्रतशील और धर्मप्रेमी थी; पर ऐसी रूपयौवनवती, तेजस्विनी और अच्छे अच्छे स्त्रीगुणोंसे भरी हुई कन्याको किसी राजाने प्रार्थना नहीं की थी। हे राजश्रेष्ठ ! इस हेतु पिता राजा कुंति-भोजने राजाओंको बुलवाकर कन्याको स्वयंवरमें नियुक्त किया। (१—३)

मनस्विनी पृथाने उन सब भूपालोंके मध्य रङ्गभूमिमें भरतवंशश्रेष्ठ राजसिंह पाण्डुको देखा। राजसभामें स्थित दूसरे देवराजके समान सिंह सदृश विक्रमी बैलकी भांति नेत्रवाले, महामति, महाबली और आदित्यकी नाईं सब राजाओंकी प्रभा ढंपनेवाले नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर अनिन्दित अङ्गवाली शुभलक्षणभरी

व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत्॥ ८॥
तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः ।
यथागतं समाजग्मुर्गजैरश्वै रथैस्तथा ॥ ९ ॥
ततस्तस्याः पिता राजन्विवाहमकरोत्प्रभुः ।
स तया कुन्तिभोजस्य दुहित्रा कुरुनन्दन॥ १० ॥
युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मघवानिव।
कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तिभोजो महीपतिः११॥
कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरार्चितम् ।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥ १२ ॥
ततो बलेन महता नानाध्वजपताकिना ।
स्तूयमानः स चाऽऽशीर्भिर्ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः१३॥
संप्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥१४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
कुन्तीविवाहे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥ [४७०९]

वैशम्पायन उवाच–ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः ।

कुन्ती बडी विकल हुई; अनन्तर उसने एकही वार कामसे विह्वल अंगयुक्त और चञ्चलचित्त होकरके लज्जाके साथ राजा पाण्डुके गलेमें माला दे दी। (४—८)

कुन्तीके पाण्डुको माला देते देखकर भूपाललोग हस्ती, घोडे और रथों पर चढकर जिस प्रकार आये थे, वैसेही निज निज स्थानोंको पधारे। हे राजन् ! अनन्तर कन्याके पिताने यथाविधि उनका विवाह कर दिया। देवराज जिस प्रकार शचीके साथ मिले हे, उनके समान अतुल सौभाग्ययुक्त कुरुनन्दन कुन्ती-भोजकी कन्यासे मिले। हे राजेंद्र ! कुरुश्रेष्ठ ! महीपाल कुंतीभोजने कुंतीका विवाहकर दामादको अनेक धनोंसे पूज कर बेटीको उनके पुरमें भेजदिया। अनतर राजा कौरवनंदन पाण्डु महर्षि और ब्राह्मणोंके आशीससे स्तुति किये जाकर नाना प्रकार ध्वजासंयुक्त अनेक सेनाओं के सहित निज नगरमें उपस्थित हुए। अनतर प्रभु पाण्डुने स्त्री कुंतिको अपने गृहमें रखा। (९—१४) [४७०९]

आदिपर्वमें एक सौ बारह अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एक सौ तेरह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर

विवाहस्याऽपरस्यार्थे चकार मतिमान्मतिम् ॥ १ ॥
सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥ २ ॥
तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं वाह्लीकपुङ्गवः ।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥ ३ ॥
दत्त्वा तस्याऽऽसनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च।
मधुपर्कं च मद्रेशः पप्रच्छाऽऽगमनेऽर्थिनाम् ॥ ४ ॥
तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः ।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिंदम ॥ ५ ॥
श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी ।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥ ६ ॥
युक्तरूपो हि संबन्धे त्वं नो राजन्वयं तव।
एतत्संचिन्त्य मद्रेश गृहाणाऽस्मान्यथाविधि ॥ ७ ॥
तमेवंवादिनं भीष्मं प्रत्यभाषत मद्रपः ।
न हि मेऽन्यो वरस्त्वत्तः श्रेयानिति मतिर्मम ॥ ८ ॥
पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित्कुलेऽस्मिन्नृपसत्तमैः ।
साधु वा यदि वाऽसाधु तन्नाऽतिक्रान्तुमुत्सहे॥९ ॥

शान्तनुके पुत्र मतिमान् भीष्मने यशवन्त भूपाल पाण्डुका और एक विवाह करना निश्चय किया, वह वृद्ध मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों और चतुरङ्गी सेनाओंके साथ मद्रेश्वरके नगरको गये। वाह्लीकोंमें श्रेष्ठ मद्रपति भीष्मके आनेकी बात सुनकर आगे बढकर यथाविधि उनकी पूजाकर निजपुरमें लिवाय लाये और पाद्य अर्घ्य, मधुपर्क और शुद्ध आसन देकर आनेका कारण पूछा। (१—४)

कुरुवंशके प्रधान भीष्म उनसे बोले, कि हे अरिंदम ! मैं कन्याके लिये आया हूं। सुन चुका हूं, कि साध्वी यशस्विनी माद्री नाम्नी आपकी बहिन है, मैं पाण्डुके लिये उसको मांगता हूं। हे राजन्! विवाह के सम्बन्धमें आप हमारे योग्य पात्र हैं। हे मद्रेश्वर! इस विषयमें सोच विचार कर आप हमको यथाविधि सम्बन्धी की भांति समझिये। (५—७)

भीष्म की यह बात सुन मद्रपति बोले, कि हे कौरव ! मैं समझता हूं, कि हमारे लिये आपसे अच्छे पात्र कोई दूसरे नहीं है हमारे वंशमें पहिले के भूपोंने शुल्क लेनेका जो एक नियम किया है, वह

व्यक्तं तद्भवतश्चाऽपि विदितं नाऽत्र संशयः।
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान्देहीति सत्तम॥ १० ॥
कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत् ।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन्॥ ११ ॥
तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः ।
धर्म एष परो राजन्स्वयमुक्तः स्वयंभुवा ॥ १२ ॥
नाऽत्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः ।
विदितेयं च ते शल्य मर्यादा साधुसंमता॥ १३ ॥
इत्युक्त्वा स महातेजाः शातकुम्भं कृताकृतम्।
रत्नानि च विचित्राणि शल्यायाऽदात्सहस्रशः॥ १४
गजानश्वान्रथांश्चैव वासांस्याभरणानि च ।
मणिमुक्ताप्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजच्छुभम्॥१५ ॥
तत्प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः संप्रीतमानसः ।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभे ॥ १६ ॥
स तां माद्रीमुपादाय भीष्मः सागरगासुतः।
आजगाम पुरीं धीमान्प्रविष्टो गजसाह्वयम्॥ १७ ॥

भला होवे वा बुरा, मैं उसके विरुद्ध कार्य करने का साहसी नहीं हो सकता: यह नियम प्रकाशही है, सो संदेह नहीं, कि आपभी उससे ज्ञात है. अतएव हे वीर! "दान करो" यह बात कहना आपके योग्य नहीं है। हे शत्रुनाशी! शुल्क लेना हमारा कुलधर्म है. और वही परम प्रमाण है. सो मैं विना सङ्कोच आपसे यह बात नहीं कह सकता हूं। (८-११)

जनाधिप भीष्मने तब मद्रराजसे कहा, कि हे राजन्! स्वयं ब्रह्माजीने भी इसको परमधर्म कहा है। पूर्वके पुरुष इस विधिके अनुसार चलते थे, सो यह दोषयुक्त नहीं है। हे शल्य! यहभी ज्ञात हो, कि यह मर्यादा साधुओंकी संमति युक्त है। महातेजस्वी गङ्गानन्दनने यह बात कहकर सहस्रों बना तथा बिन बना अपारिमित सुवर्ण, विचित्र रत्न, गज, रथ, अश्व, वस्त्र, आभूषण अच्छी मणि, मोती और लाल शल्यको दिये। शल्यने यह सब धन लेकर प्रसन्नचित्तसे कौरवश्रेष्ठ भीष्मको नाना अलङ्कारोंसे सजी हुई कन्या दान की। धीमान गङ्गापुत्र भीष्म माद्रीको लेकर हस्तिनापुरको लौट कर पुरमें प्रविष्ट हुए। (१२-१७)

तत इष्टेऽहनि प्राप्ते मुहूर्ते साधुसंमते।
जग्राह विधिवत्पाणिं माद्र्याः पाण्डुर्नराधिपः १८
ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा कुरुनन्दनः ।
स्थापयामास तां भार्यां शुभे वेश्मनि भाविनीम् १९
स ताभ्यां व्यचरत्सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः ।
कुन्त्या माद्र्या च राजेन्द्रो यथाकामं यथासुखम् २०
ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः ।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत्पुरात्प्रभो ॥ २१ ॥
स भीष्मप्रमुखान्वृद्धानभिवाद्य प्रणम्य च।
धृतराष्ट्रं च कौरव्यं तथाऽन्यान्कुरुसत्तमान् ॥ २२॥
आमन्त्र्य प्रययौ राजा तैश्चैवाऽभ्यनुमोदितः २३॥
मङ्गलाचारयुक्ताभिराशीर्भिरभिनान्दितः ।
गजवाजिरथौघेन बलेन महताऽगमत् ॥ २४ ॥
स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुन्धराम्।
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात्पाण्डुः शत्रूननेकशः ॥ २५ ॥
पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः।
पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ॥ २६ ॥
ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम्।

अनन्तर नराधिप पाण्डुने साधुओंकी सम्मतियुक्त शुभ दिनमें, शुभलग्नमें, विधिपूर्वक माद्री से विवाह किया। आगे विवाहके निर्वाह हो जाने पर कुरुनन्दनने नयी व्याही स्त्रीके रहनेके लिये एक सुन्दर घर निर्दिष्ट कर दिया। राजश्रेष्ठ पाण्डु कुन्ती और माद्रीके साथ मनमाने सुखसे रमने लगे। (१८—२०)

हे प्रभो! राजा पाण्डुने स्त्रीमें तीस रात्रि विहार करके धरतीके जय करनेके लिये यात्रा की। पृथ्वीके जयेच्छुक राजा पाण्डु भीष्मादि वृद्धोंको, धृतराष्ट्रको और कुरुओंमे दूसरे श्रेष्ठ जनोंको प्रणाम नमस्कार और निमंत्रण करके उनकी आज्ञा लेकर मङ्गलाचारयुक्त अशीस सुनते हुए हाथी, घोडे और रथोंसे भरी हुई बडी भारी सेनाके साथ चले। वह प्रसन्न और पुष्ट सेनाओंके सङ्ग शत्रु मण्डलीकी खोजके लिये निकले। (२१—२५)

कौरवोंके यश बढानेवाले नरोंमें सिंह-रूपी पाण्डुने पहिलेही दोषी दशार्ण देशके राजाओंको लडाई मे परास्त किया।

प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसंकुलाम् ॥ २७ ॥
आगस्कारी महीपानां बहूनां बलदर्पितः ।
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दीर्घो राजगृहे हतः ॥ २८ ॥
ततः कोशं समादाय वाहनानि च भूरिशः ।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः ॥ २९ ॥
तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु च नरर्षभ ।
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद्यशः ॥ ३० ॥
तं शरौघमहाज्वालं शस्त्रार्चिषमरिन्दमम् ।
पाण्डुपावकमासाद्य व्यदह्यन्त नराधिपाः ॥ ३१ ॥
ते ससेनाः ससेनेन विध्वंसितबला नृपाः ।
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरुकर्मसु योजिताः ॥ ३२ ॥
तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरन्दरम् ॥ ३३ ॥
तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः ।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥ ३४ ॥
मणिमुक्ताप्रवालं च सुवर्णं रजतं बहु ।
गोरत्नान्यश्वरत्नानि रथरत्नानि कुञ्जरान् ॥ ३५ ॥

अनन्तर रङ्गबिरङ्गे झण्डोंके साथ अगणित हाथी, घोडे, रथ और पैदलोंसे बनी हुई सेनाको लेकर अनेक राजाओंको हानि पहुंचाये हुए बल तथा अहङ्कारसे गर्वित मगधके दीर्घनामक राजाका राज मन्दिरहीमें वध किया। वहांसे कोष और बहुत वाहन लूटकर मिथिलामें जाकरके विदेह को परास्त किया। (२६–२९)

हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर उन्होंने काशी, सुह्म और पुण्ड्रदेशमें जाकर निज भुजवीर्यसे कौरव वंशका यश फैलाया। तब वाणरूपी समूह शिखासे सुशोभित और शस्त्ररूपी तेजसे प्रज्वलित शत्रु नाशी पाण्डुरूपी अग्निसे भूपाललोग जल कर मरनेलगे। सेना सहित पाण्डुने सेनासहित नरेशोंके बलको तोड कर और वशमें लाकर अपने काममें नियुक्त किया। (३०—३२)

धरती भरके सब भूपोंने पाण्डुसे पराभ्त होकर मानवोंमें उनको ऐसा वीर समझा, कि जैसे देवोंमें इन्द्र है; और सब कर जोड उनको प्रणाम कर नाना अस्त्र मणि, मुक्ता, प्रवाल, सुवर्ण, चांदी, गौ, घोडे, हाथी, गदहे, ऊंट, भैंसे, बकरे,

खरोष्ट्रमहिषीश्चैव यच्च किंचिदजाविकम् ।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ।
तत्सर्वं प्रतिजग्राह राजा नागपुराधिपः ॥ ३६ ॥
तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः ।
हर्षयिष्यन्स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥ ३७ ॥
शान्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः ।
प्रनष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ॥ ३८ ॥
ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जन्हुः कुरुधनानि च ।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥ ३९ ॥
इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च संगताः ।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ॥ ४० ॥
प्रत्युज्जग्मुश्च तं प्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः ।
ते न दूरमिवाऽध्वानं गत्वा नागपुरालयात् ॥ ४१ ॥
आवृतं ददृशुर्हृष्टा लोकं बहुविधैर्धनैः ।
नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तदा ॥ ४२ ॥
हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैस्तथाऽविभिः ।
नाऽन्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ॥ ४३ ॥

भेड, कम्बल, मृगचर्म, और रंकुमृगके बने चंदवे इत्यादि नाना धन भेट लेकर उनके सामने खडे हुए। हस्तिनापुरके नाथ पाण्डुने उन सबोंको लेलिया। (३३-३६)

अनन्तर वह अति प्रसन्न सेनाओंके साथ निज राज्यकी प्रजा और पुर वासियों को आनन्द देनेके लिये हस्तिनापुरमे लौट गये। तब राजा और मन्त्रिगण पुरवासी और ग्राम वासियोंसे मिलकर प्रसन्न चित्तसे आपसमें यह कहने लगे, कि धीमान भरत और राजाओंमें सिंहरूपी शान्तनुकी कीर्ति बिगडनेपर हुई थी, पर अब पाण्डुने फिर उसका उद्धार किया। जिन राजाओंका धन और राज्य हर लिया गया था, अब नागपुरनाथ पाण्डुने उनको कर देनेवाले बनाये। (३७—४०)

आगे पाण्डुके निकट आनेपर भीष्म आदि कौरव हृदयसे उनको लौटा लानेको चले। वे हस्तिनापुरसे कुछ दूर जाकर राजाके साथियोंको बहुत धनसे भरा पूरा देखकर प्रसन्न हुए; नाना यानो पर लाये हुए बडे बडे हाथी, घोडे, रथ, ऊंट, भेड आदि नाना धन रत्न इतने अधिक आरहे थे, कि उन्होंने उनका अंत नहीं

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौसल्यानन्दवर्धनः ।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ॥ ४४ ॥
प्रमृद्य पुरराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम् ।
पुत्रमाश्लिष्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४५ ॥
स तूर्यशतशंखानां भेरीणां च महास्वनैः ।
हर्षयन्सर्वशः पौरान्विवेश गजसाह्वयम् ॥ ४६ ॥ [४५७५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुदिग्विजये त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच- धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम् ।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ॥ १ ॥
विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद्धनम् ।
सुहृदश्चाऽपि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत् ॥ २ ॥
ततः सत्यवती भीष्मं कौसल्यां च यशस्विनीम् ।
शुभैः पाण्डुजितैरर्थैस्तोषयामास भारत ॥ ३ ॥
ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम् ।
जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम् ॥ ४ ॥

देखा: कौशल्याके आनद बढाने वाले पांडुने चचा भीष्मके पांव छूकर नगर तथा जनपदवासियोंकाभी यथोचित सन्मान किया । भीष्म शत्रुपुरजयकारी सफल मनोरथ घरको लौटे हुए भतीजे पांडुको गलेमें लगाकर आनंदसे आंसू वर्षाने लगे । पाण्डुने अनेक तूर्य और भोंपू आदिके घोर शब्दसे संपूर्ण पुरवासियों को प्रसन्न कर हस्तिनापुरमे प्रवेश किया । (४१-४६) [४५७५]

आदिपर्वमें एकसौ तेरह अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ चौदह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले. कि अनन्तर धर्मात्मा पाण्डुने धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर अपने भुजबलसे लाभ किये हुए धनको भीष्म, सत्यवती और माता कौशल्याको भेट दी और कुछ विदुरके पास भेजा । उन्होंने आत्मजनोंको धनसे सन्तुष्ट किया। हे भारत! सत्यवतीने पाण्डुके जीत लाये हुए नाना रत्नोंसे भीष्म और यशस्विनी कौशल्याको प्रसन्न किया । शची जिस प्रकार जयन्तको गलेमें लगाकर सुखको प्राप्त करती है, वैसे ही कौशल्याने अतुल तेजस्वी नरश्रेष्ठ पाण्डुको गले लगा कर के आनन्द पाया । (१—४)

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः ।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥ ५ ॥
संप्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रिस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥ ६ ॥
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ॥ ७ ॥
स चरन्दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशालवनेषु च ॥ ८ ॥
रराज कुन्त्या माद्र्या च पाण्डुः सह वने चरन् ।
करेण्वोरिव मध्यस्थः श्रीमान्पौरन्दरो गजः ॥ ९ ॥
भारतं सह भार्याभ्यां खड्गबाणधनुर्धरम् ।
विचित्रकवचं वीरं परमास्त्रविदं नृपम् ॥ १० ॥
देवोऽयमित्यमन्यन्त चरन्तं वनवासिनः ॥ ११ ॥
तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्यमतन्द्रिताः ।
उपजह्रुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ॥ १२ ॥
अथ पारसवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।

धृतराष्ट्र, वीरवर पाण्डुके बलार्जित इतने अधिक धनसे पञ्चमहायज्ञ किया करते थे, कि उस धनसे सैकडों सहस्रों गुणा अधिक दक्षिणायुक्त सैकडों अश्वमेध यज्ञ हो सकते थे। हे भरतकुलप्रदीप! अनालसी पाण्डु, कुन्ती और माद्रीके साथ एकत्र होकर वनमें जा बसे ! वह सुखदायी भवन और कोमल बिस्तर छोडके वनमें सदा बसते हुए आखेट खेलने लगे। वह हिमालय पहाडके मन-मोहन दाहिने छोरमें घूमधाम कर बडे बडे साल वनोंमें मोहते हुए पहाडकी पीठ पर बसने लगे। (५—८)

श्रीमान् पाण्डु, कुन्ती और माद्रीके संग वनमें बसते हुए दो हथनियोंके बीच में ऐरावतके समान शोभा पाने लगे। दो स्त्रियां साथ लिये खड्ग बाण और चाप धरे हुए, परमास्त्र चलानेमें दक्ष, विचित्र कवचसे सुशोभित, विचरते हुए पाण्डुको देख करके वनवासी लोग देवता समझने लगे। धृतराष्ट्र की आज्ञासे मनुष्यगण सदा आलससे रहित होकर वनमें उनके लिये कामना और भोजनकी सामग्री पहुंचाने लगे। (९— १२)

इधर गङ्गापुत्र भीष्मने सुना, कि महीपाल देवकके शूद्राणीके गर्भसे जन्मी

रूपयौवनसंपन्नां स शुश्रावाऽऽपगासुतः ॥ १३ ॥
ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥ १४ ॥
तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दन ।
पुत्रान्विनयसंपन्नानात्मनः सदृशान्गुणैः ॥ १५ ॥ [४५९०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि विदुरपरिणये चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चाऽपि शतात्परः ॥ १ ॥
पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः ।
देवेभ्यः समपद्यन्त सन्तानाय कुलस्य वै ॥ २ ॥
जनमेजय उवाच- कथं पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां द्विजसत्तम ।
कियता चैव कालेन तेषामायुश्च किं परम् ।
कथं चैकः स वैश्यायां धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३ ॥
कथं च सदृशीं भार्यां गान्धारीं धर्मचारिणीम् ।
आनुकूल्ये वर्तमानां धृतराष्ट्रोऽभ्यवर्तत ॥ ४ ॥

हुई रूप और यौवनयुक्त एक कन्या है। अनन्तर उन्होंसे राजा देवकमें मांगकर वह कन्या ला करके महामति विदुरका विवाह कर दिया। कुरुनन्दन विदुर ने उस क्षत्रियके वीर्य और शूद्राणीके गर्भसे जन्मी हुई कन्यासे अपने समान गुण और नम्रतायुक्त अनेक पुत्रोंको जन्म दिया। (१३-१५) [४५९०]

आदिपर्वमें एक सौ चौदह अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एक सौ पन्द्रह अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय! अनन्तर धृतराष्ट्रके वीर्य और गान्धारीके गर्भमें सौ पुत्र और वैश्या के गर्भमें एक पुत्रने जन्म लिया और पाण्डुके वंशकी रक्षाके लिये देवोंने कुंती और माद्रीके गर्भसे महारथी पांच पुत्र उत्पन्न किये। (१—२)

जनमेजयने पूछा, कि हे द्विजश्रेष्ठ! गांधारीके गर्भमें क्योंकर और कितने दिनोंमें सौ पुत्र उत्पन्न हुए उनकी आयु कितनी थी? धृतराष्ट्रने वैश्याके गर्भमें क्योंकर एक पुत्रको जन्म दिया? धृतराष्ट्र अपनी प्यारी स्त्री गांधारीसे कैसा व्यवहार किया करते थे? महात्मा मृगरूपी मुनिके शाप देनेपर क्योंकर पाण्डुके पांच महारथी पुत्र उत्पन्न हुए? हे विद्वान

कथं च शप्तस्य सतः पाण्डोस्तेन महात्मना।
समुत्पन्ना दैवतेभ्यः पुत्राः पञ्च महारथाः ॥ ५ ॥
एतद्विद्वन्यथान्यायं विस्तरेण तपोधन ।
कथयस्व न मे तृप्तिः कथ्यमानेषु बन्धुषु ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच- क्षुच्छ्रमाभिपरिम्लानं द्वैपायनमुपस्थितम् ।
तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ ॥ ७ ॥
सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः।
ततः कालेन सा गर्भं धृतराष्ट्रादथाऽग्रहीत् ॥ ८ ॥
संवत्सरद्वयं तं तु गान्धारी गर्भमाहितम् ।
अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम् ।
उदरस्याऽऽत्मनः स्थैर्यमुपलभ्याऽन्वचिन्तयत् ॥ १०॥
अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः ।
सोदरं घातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता ॥ ११॥
ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता ।
द्विवर्षसंभृता कुक्षौ तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १२ ॥
अथ द्वैपायनो ज्ञात्वा त्वरितः समुपागमत्।

पंडित तपोधन ! यह सब कथा विस्तृत रूपसे यथारीति कहिये, कुलका चरित्र सुनकर मै तृप्त नहीं हूं। (३—६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि एक समय भगवान् द्वैपायनके भूख और थकावटसे कातर होकर गांधारीके पास आ पहुंचने पर गांधारीने उनको संतुष्ट किया था; उससे व्याससे गांधारीकी प्रार्थनाके अनुसार यह वर दिया, कि तुम्हे पतिके समान वीर्यवान् सौ पुत्र पैदा होंगे। अनन्तर गांधारी योग्य कालमें धृतराष्ट्रसे गर्भवती हुई। गर्भ होनेके पीछे दोवर्ष बीते पर तौभी संतान नहीं हुई, इससे वह बडी दुःखी होने लगी; आगे यह सुन कर, कि कुंतीके बाल सूर्यके समान पुत्र भये है, अपने गर्भको स्थिर देख चिंतायुक्त होकर अति मनः पीडासे धृतराष्ट्रके अज्ञातमे बडे यत्नपूर्वक अपने पेटमे आघात किया, उससे दो वर्षका वह गर्भ कडीहुई लोहेकी गेंदके समान मांस पेशी स्वरूपसे भूमिपर गिरा। (७-१२)

गांधारीके उसे त्यागने पर होतेही जापकोंमें श्रेष्ठ द्वैपायनने उस बातसे ज्ञात होकर तुरन्त वहा पहुंच करके उस मांस-

तां स मांसमयीं पेशीं ददर्श जपतां वरः ॥ १३ ॥
ततोऽब्रवीत्सौबलेयीं किमिदं ते चिकीर्षितम् ।
सा चाऽऽत्मनो मतं सत्यं शशंस परमर्षये ॥ १४ ॥

गान्धार्युवाच– ज्येष्ठं कुन्तीसुतं जातं श्रुत्वा रविसमप्रभम् ।
दुःखेन परमेणेदमुदरं घातितं मया ॥ १५ ॥
शतं च किल पुत्राणां वितीर्णं मे त्वया पुरा ।
इयं च मे मांसपेशी जाता पुत्रशताय वै ॥ १६ ॥

व्यास उवाच– एवमेतत्सौबलेयि नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।
वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १७ ॥
घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम् ।
सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम् ॥ १८ ॥
शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमां च परिषेचय ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच–सा सिच्यमाना त्वष्ठीला बभूव शतधा तदा ।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु ॥ २० ॥
एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशांपते ।
मांसपेश्यास्तदा राजन्क्रमशः कालपर्ययात् ॥ २१ ॥
ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा ।
स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां वै व्यदधात्ततः ॥ २२ ॥

पेशीको देखाः अनन्तर सुबलकन्या से बोले, कि तुम यह क्या करनेको उद्यत हुई हो । गांधारीने महर्षिसे अपनी यह सच्ची इच्छा प्रगटकर, कि कुंतीके सूर्यके समान प्रकाशमान पुत्र उत्पन्न हुए सुनकर अति दुःख से मैंने पेटमें चोट मारी है । आपने पहिले मुझको वर दिया था, कि सौ पुत्र उत्पन्न होंगे, अब सौ पुत्रोंके बदले यह मांसपेशी पैदा हुई है । व्यासजी बोले कि हे सुबलपुत्री ! जो कहा था, सोही होगा, कदापि बात नहीं पलटेगी हँसीमेंभी मैंने कभी झूठी बात नहीं कही है, फिर क्यों वह बात उलट जायगी ? अब घृतसे सौ घडे भरकर निरालेमें यत्नसे रखो और ठण्डे जलसे इस मांसपेशीको नहलाओ । (१३—१९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे नरेश ! अनन्तर नहलाते नहलाते वह मांसपेशी बहुत भागोंमें बंट गयी । काल पूर्ण होने पर उनकी संख्या सौ हुई; और प्रत्येक भाग अंगूठे के पोरके समान हुआ । अनंतर वह सब मांसपेशी घृतभरे घडोंमें रक्षित

शशंस चैव भगवान्कालेनैतावता पुनः ।
उद्घाटनीयान्येतानि कुण्डानीति च सौबलीम्॥२३॥
इत्युक्त्वा भगवान्व्यासस्तथा प्रतिनिधाय च ।
जगाम तपसे धीमान्हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ २४ ॥
जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः ।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
तदाख्यातं तु भीष्माय विदुराय च धीमते ।
यस्मिन्नहनि दुर्धर्षो जज्ञे दुर्योधनस्तदा ॥ २६ ॥
तस्मिन्नेव महाबाहुर्जज्ञे भीमोऽपि वीर्यवान् ।
स जातमात्र एवाऽथ धृतराष्ट्रसुतो नृप ॥ २७ ॥
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ।
तं खराः प्रत्यभाषन्त गृध्रगोमायुवायसाः ॥ २८ ॥
वाताश्च प्रववुश्चाऽपि दिग्दाहश्चाऽभवत्तदा ।
ततस्तु भीतवद्राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २९ ॥
समानीय बहून्विप्रान्भीष्मं विदुरमेव च ।
अन्यांश्च सुहृदो राजन्कुरून्सर्वांस्तथैव च ॥ ३० ॥
युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः।

होकर भले अच्छे गुप्त स्थानमें भली भांति रखी जाने लगीं। भगवान व्यास तब सुबलकन्यासे बोले, कि इतने समय में अर्थात् दो वर्ष पीछे यह सब घडे खोलना। धीमान् भगवान द्वैपायन यह कहकर वह सब गर्भ स्थापन कर फिर तप के लिये हिमाचलको पधारे। (२०-२४)

अनन्तर योग्यकालमें उन टुकडोंमें से पहिले राजा दुर्योधनका जन्म हुआ पर राजा युधिष्ठिर पहिले जन्म लेनेके हेतु ज्येष्ठ भये थे। यह बात धीमान विदुर और धृतराष्ट्रके कानोंमें पहुंची। जिस दिन दुर्योधनका जन्म हुआ, उसी दिन महाभुज वीर्यवान भीमनेभी जन्म लिया था। (२५—२७)

हे महाराज! दुर्योधन जन्म लेतेही गदहेके समान शब्द करने और चिल्लाने लगा, उसे सुनकर गिद्ध, गदहे, सियार और कौए कोलाहल मचाने लगे, हवा वेगसे बहने लगी और दिशायें जलने लगीं। हे महाराज! राजा धृतराष्ट्र इससे भय खाकर भीष्म, विदुर, ब्राह्मण, मित्र और कौरवोंको बुलवाकर बोले, कि हमारे वंश बढानेवाले राजपुत्र युधिष्ठिर ज्येष्ठ

...मः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन्वाच्यमस्ति नः ३१ ॥
...त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति ।
...प्रब्रूत मे तथ्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ॥ ३२ ॥
...यस्यैतस्य निधने दिक्षु सर्वासु भारत ।
...यादाः प्राणदन्घोराः शिवाश्चाऽशिवशंसिनः ॥ ३३ ॥
...यित्वा निमित्तानि तानि घोराणि सर्वशः ।
...ुवन्ब्राह्मणा राजन्विदुरश्च महामतिः ॥ ३४ ॥
यथेमानि निमित्तानि घोराणि मनुजाधिप ।
उत्थितानि सुते ज्येष्ठे तानि ते पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥
व्यक्तं कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव ।
तस्य शान्तिः परित्यागे गुप्तावपनयो महान् ॥ ३६ ॥
शतमेकोनमप्यस्तु पुत्राणां ते महीपते ।
त्यजैनमेकं शान्तिं चेत्कुलस्येच्छसि भारत ॥
एकेन कुरु वै क्षेमं कुलस्य जगतस्तथा ॥ ३७ ॥
त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे ग्रामस्याऽर्थे कुलं त्यजेत् ।

है, सो वह अपनेही गुणसे राज्यको पा सकते हैं, उस विषयमें मुझे कुछ कहना नहीं है, पर मेरे इस पुत्रने युधिष्ठिरके पीछे जन्म लिया है, उससे क्या यह कुमार राजा हो सकेगा? इस विषयमें जो निश्चय हो, वह आप ठीक ठीक कहिये। (२८—३२)

हे भारत ! इस बातके कहे जाने पर सियार और मांस खानेवाले कुटिल जंतु अमङ्गलकारी शब्द मचाने लगे। हे महाराज! चारों ओर यह सब अमङ्गल चिह्न देख कर के ब्राह्मणगण और महामति विदुर धृतराष्ट्रसे बोले, कि हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज ! आपके ज्येष्ठ पुत्रके जन्म लेतेही जिस प्रकार यह सब भयानक अमङ्गल चिह्न दीख पडते है, उससे यह प्रकाश हो रहा है कि आपका यह पुत्र कुलहानि करनेवाला होगा, इसको त्याग देनेहीसे कुल की शांति हो सकती है, नहीं तो बडी हानि होगी, हे महीपाल भारत ! यदि आप अपने कुलकी शांति रखनी चाहते हों, तो यही अच्छा होगा, कि इस एक पुत्रको त्याग दीजिये; तब आपके निनानवे पुत्र तो बचेंगे आप एकको छोड कर इस वंश और जगतका हित कीजिये। हे महाराज! कहा है, कि कुलकी रक्षाके लिये एकको त्यागना, ग्रामकी भलाईके लिये कुलको त्यागना,

ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ३८ ॥
स तथा विदुरेणोक्तस्तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ।
न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ॥ ३९ ॥
ततः पुत्रशतं पूर्णं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ।
मासमात्रेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका ॥ ४० ॥
गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता ।
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत्किल ॥ ४१ ॥
तस्मिन्संवत्सरे राजन्धृतराष्ट्रान्महायशाः ।
जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप ॥ ४२ ॥
एवं पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका ॥ ४३ ॥
युयुत्सुश्च महातेजा वैश्यापुत्रः प्रतापवान् ॥ ४४ ॥ [४६३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
गान्धारीपुत्रोत्पत्तौ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

जनमेजय उवाच– धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामादितः कथितं त्वया ।
ऋषेः प्रसादात्तु शतं न च कन्या प्रकीर्तिता ॥ १ ॥
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च कन्या चैका शताधिका ।

देशकी भलाईके लिये ग्रामको त्यागना और आत्माके लिये पृथ्वीको त्यागना उचित है। (३३—३८)

उन सब द्विजों और विदुरके ऐसा कहने पर राजा धृतराष्ट्रने पुत्रके स्नेहमें उनकी बात नहीं सुनी। हे पृथ्वीनाथ! अनन्तर महीने भरमें धृतराष्ट्रके सौ पुत्र और एक कन्या ने जन्म लिया। गांधारी जब बढते हुए गर्भकी पीडासे कातर थी, उसी वर्ष उस वैश्याके गर्भसे धृतराष्ट्रके अतिशययुक्त धीमान युयुत्सु नामक एक पुत्रने जन्म लिया। वैश्याके गर्भ और क्षत्रियके वीर्यसे जन्म लेनेके हेतु वह पुत्र करण करके कथित हुआ है। इस प्रकार धीमान धृतराष्ट्रसे महारथी वीर सौ पुत्र और एक कन्या और महातेजस्वी युयुत्सुने जन्म लिया था। (३९–४४)

आदिपर्वमें एकसौ पन्द्रह अध्याय समाप्त। [४६३४]

आदिपर्वमें एकसौ सोलह अध्याय।

जनमेजय बोले, कि हे अनघ! धृतराष्ट्रके ऋषिकी कृपासे सौ पुत्रोंका जन्म लेना आप कह चुके, पर ऋषिकी प्रसन्नतासे कन्याके उत्पन्न होनेकी कोई कथा आपने नहीं कही है। आप धृतराष्ट्रके

गान्धारराजदुहिता शतपुत्रेति चाऽनघ ॥ २ ॥
उक्ता महर्षिणा तेन व्यासेनाऽमिततेजसा ।
कथं त्विदानीं भगवन्कन्यां त्वं तु ब्रवीषि मे ॥ ३ ॥
यदि भागशतं पेशी कृता तेन महर्षिणा ।
न प्रजास्यति चेद्भूयः सौबलेयी कथंचन ॥ ४ ॥
कथं तु संभवस्तस्या दुःशलाया वदस्व मे ।
यथावदिह विप्रर्षे परं मेऽत्र कुतूहलम् ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच- साध्वयं प्रश्न उद्दिष्टः पाण्डवेय ब्रवीमि ते ।
तां मांसपेशीं भगवान्स्वयमेव महातपाः ॥
शीताभिरद्भिरासिच्य भागं भागमकल्पयत् ॥ ६ ॥
यो यथा कल्पितो भागस्तं तं धात्र्या तथा नृप ।
घृतपूर्णेषु कुण्डेषु एकैकं प्राक्षिपत्तदा ॥ ७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे साध्वी गान्धारी सुदृढव्रता ।
दुहितुः स्नेहसंयोगमनुध्याय वराङ्गना ॥ ८ ॥
मनसाऽचिन्तयद्देवी एतत्पुत्रशतं मम ।

सौ पुत्रोंसे अधिक एक वैश्याके गर्भसे जन्म लिये हुए, पुत्र, युयुत्सु और गान्धारी के गर्भसे जन्म ली हुई एक कन्याके जन्म लेनेकी कथा कह चुके, पर अस्वल्प तेजयुक्त महर्षि व्यासजी बोले थे, कि गांधारराजपुत्रीके सौ पुत्र जन्म लेंगे, भगवन् ! अब आपने क्योंकर गांधारी के गर्भमे सौ पुत्रोंसे अधिक एक कन्याकी बात कही ? यदि महर्षिने उन मासपेशियोंको सौ भागोंसे बांटा हो और यदि सुबलपुत्रीका फिर गर्भ न हुआ हो: तो, क्यों कर दुःशलाकी उत्पत्ति हुई ? हे विप्रवर! इस विषयको सुननेके लिये मुझे बडी इच्छा हुई है, आप यथावत् कह सुनावें । (१—५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे पाण्डव ! आपने अच्छा प्रश्न किया है । मै आपसे व्यक्त रूपसे कहता हूं । भगवान् व्यासने स्वयं ठण्डे जलसे उन मांसपेशियों को नहलवा कर उन्हें अलग अलग बांट डालनेकी कल्पना करी । हे महाराज ! वह ज्यों ज्यों बांटने लगे, त्यों त्यों धात्री उन्हें घृतके घडोंमें छोडने लगी । इस समय कठोर व्रत करनेवाली सती सुन्दरी देवी गान्धारी कन्यास्नेह की आलोचना कर मनही मनमें सोचने लगी, कि इसमें संदेह नहीं है, कि इन मांस पेशियोंसे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे, क्योंकि

भविष्यति न संदेहो न ब्रवीत्यन्यथा मुनिः ॥ ९ ॥
ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद्यदि ।
एका शताधिका बाला भविष्यति कनीयसी ॥ १० ॥
ततो दौहित्रजाल्लोकादबाह्योऽसौ पतिर्मम ।
अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत् ११ ॥
यदि नाम ममाऽपि स्याद् दुहितैका शताधिका ।
कृतकृत्या भवेयं वै पुत्रदौहित्रसंवृता ॥ १२ ॥
यदि सत्यं तपस्तप्तं दत्तं वाऽप्यथ वा हुतम् ।
गुरवस्तोषिता वापि तथाऽस्तु दुहिता मम ॥ १३ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ।
व्यभजत्स तदा पेशीं भगवानृषिसत्तमः ॥ १४ ॥
गणयित्वा शतं पूर्णमंशानामाह सौबलीम् ।
व्यास उवाच— पूर्णं पुत्रशतं त्वेतन्न मिथ्या वागुदाहृता ॥ १५ ॥
दौहित्रयोगाय भाग एकः शिष्टः शतात्परः ।
एषा ते सुभगा कन्या भविष्यति यथेप्सिता ॥ १६ ॥
ततोऽन्यं घृतकुम्भं च समानाय्य महातपाः ।
तं चापि प्राक्षिपत्तत्र कन्याभागं तपोधनः ॥ १७ ॥

मुनिकी बात कभी मिथ्या नहीं होती; पर यदि मुझे सौ पुत्रोंमें अधिक कनिष्ठा एक कन्या हो, तो मेरे हृदयको बडा सन्तोष मिले और उससे मेरे पति दौहित्र से मिलते हुए पुण्यलोकके बाहर न होवें; विशेष नारी मात्रको दामादसे बडी प्रीति होती है; सो यदि मेरी सौ पुत्रोंसे ऊपर एक पुत्री भी होवे तो, मैं पुत्र और नातियोंमें घिरी जाकर कृतार्थ होऊं। (९—१२)

यदि मैं सच्ची रीति पर तप दान वा अग्निमें हवन किया हो अथवा यदि गुरुओंको प्रसन्न किया हो, तो मुझे एक कन्या भी होवे। इस अवसरमें ऋषिओंमे श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन जी स्वयं उन मांसपेशियोंको बांट रहे थे। वह पूर्ण सौ भाग गिन कर गांधारीसे बोले, कि सौबली ! तुम्हारे सौ बेटे हुए; मैने तुमसे झूठी नहीं कही थी। दैव संयोगसे ऊपर एक भाग बचा रहा, तुम्हारी इच्छानुसार इस भागसे एक सुंदरी कन्या होगी। (१३-१६)

अनंतर महातपा तपोधनने दूसरे एक घृतके घडेको मंगवाकर उसमें कन्याके

एतत्ते कथितं राजन्दुःशलाजन्म भारत ।
ब्रूहि राजेन्द्र किं भूयो वर्णयिष्यामि तेऽनघ ॥ १८॥[४६५२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
दुःशलोत्पत्तौ षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

जनमेजय उवाच– ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक्पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्या प्रकीर्तय ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच–दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन्दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसन्धः समः सहः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥ ३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥ ४ ॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ५ ॥
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विमोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ॥ ६ ॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डधारो महोदरः ॥ ७ ॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा।

भागको छोड दिया । हे अनघ भरतवंश श्रेष्ठ ! दुःशलाकी जन्म कथा आपसे यह कह चुका । हे राजेन्द्र ! कहिये, फिर क्या कहना होगा । (१७-१८) [४६५२]

आदिपर्वमें एकसौ सोलह अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ सत्रह अध्याय ।

जनमेजय बोले कि धृतराष्ट्रके बडे छोटेके क्रमसे सब लडकोंके, और हरेकका अलग नाम आद्योपान्त कहिये । श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज ! दुर्योधन, युयुत्सु, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, जलसन्ध, सम, सह, विंद, अनुविंद, दुर्धर्ष सुबाहु, दुष्प्रधर्षण, दुर्मर्षण दुर्मुख, दुष्कर्ण, कर्ण, विविंशति, विकर्ण, शल सत्त्व, सुलोचन, चित्र उपचित्र, चित्राक्ष, चारुचित्र, शरासन दुर्मद, दुर्विगाह विवित्सु विकटानन, ऊर्णनाभ, सुनाभ, नंद उपनंद, चित्रबाण चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्विमोचन, अयोबाहु, महाबाहु चित्रांग चित्रकुण्डल, भीमवेग, भीमबल बलाकी, बल-

दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ८ ॥
दृढसन्धो जरासन्धः सत्यसन्धः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥ ९ ॥
अपराजितः कुण्डशायी विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥ १० ॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः कुण्डी कुण्डधारो धनुर्धरः ॥ ११ ॥
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥ १२ ॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥ १४ ॥
इति पुत्रशतं राजन्कन्या चैव शताधिका ।
नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ॥ १५ ॥
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ १६ ॥
सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।

वर्द्धन उग्रायुध, सुषेण, कुण्डधार, महोदर, चित्रायुध, निषङ्गी पाशी, वृन्दारक, दृढवर्मा, दृढक्षत्र, सोमकीर्ति, अनूदर, दृढसन्ध, जरासन्ध, सत्यसन्ध, सदःसुवाक्, उग्रश्रवा, उग्रसेन, सेनानी, दुष्पराजय, अपराजित, कुण्डशायी विशालाक्ष, दुराधर, दृढहस्त, सुहस्त, वातवेग, सुवर्चा, आदित्यकेतु, बह्वाशी, नागदत्त, अग्रयायी कवची, क्रथन, कुण्डी, कुण्डधार, धनुर्धर, उग्र, भीमरथ, वीरबाहु, अलोलुप अभय, रौद्रकर्मा, दृढरथाश्रय, अनाधृष्य, कुण्डभेदी, विरावी, दीर्घलोचन, प्रमथ, प्रमाथी, वीर्यवान् दीर्घरोम, दीर्घबाहु, महाबाहु, व्यूढोरु, कनकध्वज, कुण्डाशी, विरजा, यह सौ पुत्र और कन्या दुःशला है।(१-१४)

महाराज! धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंके और सौके अतिरिक्त कन्या दुःशलाका नाम यह कह चुका, हे महाराज! इन नामोंके क्रमके अनुसार इनके जन्मका क्रमभी जानना। वे सबके सब महारथी शूर, युद्धमें दक्ष, वेदमें पंडित और अस्त्र चलानेमें

धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥ १७ ॥
दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ॥ १८ ॥ [४६७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
धृतराष्ट्रपुत्रनामकथने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

जनमेजय उवाच—कथितो धार्तराष्ट्राणामार्षः संभव उत्तमः ।
अमनुष्यो मनुष्याणां भवता ब्रह्मवादिना ॥ १ ॥
नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः ।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन्पाण्डवानां च कीर्तय ॥ २ ॥
ते हि सर्वे महात्मानो देवराजपराक्रमाः ।
त्वयैवांशावतरणे देवभागाः प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुमतिमानुषकर्मणाम् ।
तेषामाजननं सर्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-राजा पाण्डुर्महारण्ये मृगव्यालनिषेविते ।
चरन्मैथुनधर्मस्थं ददर्श मृगयूथपम् ॥ ५ ॥
ततस्तां च मृगीं तं च रुक्मपुङ्खैः सुपत्रिभिः ।

निपुण थे । हे महीपाल! धृतराष्ट्रने परीक्षाद्वारा योग्य कन्याओंका निश्चयकर उचित समयमे यथारीति उन सबोंका विवाह कर लिया । हे भरतकुलप्रदीप ! अनन्तर महाराजा धृतराष्ट्रने योग्य कालमें जयद्रथ को दुःशला नाम्नी कन्या सम्प्रदान कर दी । १४—१८ [४६७०]

आदि पर्वमें एक सौ सतरह अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एक सौ अठारह अध्याय ।

जनमेजय बोले, कि हे ब्रह्मवादिन् ! आप मनुष्य धृतराष्ट्रके पुत्रोंके श्रेष्ठ अलौकिक आर्ष जन्मकी कथा और उनके अलग नाम भी कह चुके हैं । हे ब्राह्मण! वह सब आपसे सुन लिया है अब पांडवोंके चरित्रकी कथा कहिये; आपने वंशोंके अवतरणमें कहा है, कि पांडवगण सब महात्मा तथा इन्द्रके समान पराक्रमी थे और देवोंके अंशोंसे जन्म लिया था; सो मैं उन अलौकिक कर्म करने वाले पांडवोंकी जन्मसे लेकर आद्योपान्त सम्पूर्ण कथा सुनना चाहता हूं, हे वैशम्पायन ! आप उसे कह जाइये । (१-४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महाराज ! राजा पाण्डुने मृगव्यालोंसे भरे एक बड़े वनमें घूमते घामते मैथुन धर्ममें आसक्त एक यूथपति मृगको देखा और उन्होंने

निर्विभेद शरैस्तीक्ष्णैः पाण्डुः पञ्चभिराशुगैः॥ ६ ॥
स च राजन्महातेजा ऋषिपुत्रस्तपोधनः।
भार्यया सह तेजस्वी मृगरूपेण सङ्गतः॥ ७ ॥
संसक्तश्च तया मृग्या मानुषीमीरयन्गिरम्।
क्षणेन पतितो भूमौ विललापाऽऽकुलेन्द्रियः॥ ८ ॥
मृग उवाच—काममन्युपरीता हि बुद्ध्या विरहिता अपि।
वर्जयंति नृशंसानि पापेष्वपि रता नराः॥ ९ ॥
न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः।
विधिपर्यागतानर्थान्प्राज्ञो न प्रतिपद्यते॥ १० ॥
शश्वद्धर्मात्मनां मुख्ये कुले जातस्य भारत।
कामलोभाभिभूतस्य कथं ते चालिता मतिः॥ ११ ॥
पाण्डुरुवाच—शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता।
राज्ञां मृग न मां मोहात्त्वं गर्हयितुमर्हसि॥ १२॥
अच्छद्मना मायया च मृगाणां वध इष्यते।
स एव धर्मो राज्ञां तु तद्वि त्वं किं नु गर्हसे॥ १३ ॥
अगस्त्यः सत्रमासीनश्चकार मृगयामृषिः।

सोनेकी पूछसे सुशोभित सुदर परवाले नोकदार और तेज चलनेवाले पांच बाणोंसे उस मृग और मृगीको विद्ध किया। हे महाराज! कोई बडे तेजस्वी तपोधन ऋषिकुमार मृगका स्वरूप लेकर स्त्रीके साथ उस प्रकारसे मिले थे। वह उस मृगीसे लिपटे रहते ही बाणाघातसे क्षण भरमें धरतीपर गिरकर मनुष्यकी बातोंसे विकल चित्तसे पांडुसे बोले, कि काम क्रोधयुक्त हीनबुद्धि जनभी ऐसा निठुर कार्य नहीं करता; पर मानवी बुद्धि दैवका पार नहीं पा सकती; दैवही मानवी बुद्धिसे बढ चढ जाता है, सो दैवी विषयको बुद्धिमान् जनभी समझ नहीं सकते। (९– १०)

हे भारत! तुम सदाके धर्मयुक्त प्रधान वंशमें जन्म लेकर क्योंकर काम लोभसे अभिभूत हुए, और क्योंकर तुम्हारा चित्त ऐसा डगमगाया? पाण्डु बोले, कि हे मृग! राजालोग शत्रु नाशन में जैसा किया करते है, मृग वेधने में वैसाही करते है, सो तुम्हे मोहसे मुझको ऐसा लाञ्छन नहीं करना चाहिये। छिपकर और कौशलसे मृग वध करना राजाओंका धर्म है; तुम फिर क्यों उस विषयमें निन्दा कर रहे हो? ऋषि अगस्त्यने

आरण्यान्सर्वदैवत्यान्मृगान्प्रोक्ष्य महावने॥ १४ ॥
प्रमाणदृष्टधर्मेण कथमस्मान्विगर्हसे ।
अगस्त्यस्याऽभिचारेण युष्माकं च वपा हुता॥ १५ ॥
न रिपून्वै समुद्दिश्य विमुञ्चन्ति नराः शरान्।
रन्ध्र एषां विशेषेण वधकालः प्रशस्यते ॥ १६ ॥
पाण्डुरुवाच— प्रमत्तमप्रमत्तं वा विवृतं घ्नंति चौजसा ।
उपायैर्विविधैस्तीक्ष्णैः कस्मान्मृग विगर्हसे ॥ १७ ॥
मृग उवाच— नाऽहं घ्नन्तं मृगान्राजन्विगर्हे चाऽऽत्मकारणात् ।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाऽद्याऽनृशंस्यतः ॥ १८ ॥
सर्वभूतहिते काले सर्वभूतेप्सिते तथा ।
को हि विद्वान्मृगं हन्याच्चरन्तं मैथुनं वने ॥ १९ ॥
अस्यां मृग्यां च राजेन्द्र हर्षान्मैथुनमाचरम् ।
पुरुषार्थफलं कर्तुं तत्त्वया विफलीकृतम् ॥ २० ॥
पौरवाणां महाराज तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वंशे जातस्य कौरव्य नाऽनुरूपमिदं तव ॥ २१ ॥

यज्ञकर सम्पूर्ण वनमें सर्वदेवोंके उद्देशसे सम्पूर्ण मृगोंको प्रोक्षण कर मृगया की थी। उन्होंने अभिचार कर्मके लिये तुम्हारी वपासे हवन किया था; सो प्रमाणित धर्मके अनुसार तुम मुझसे मारे गये हो, फिर क्यों हमारी निन्दा कर रहे हो। ११-१५

मृग बोला, कि मनुष्यलोग शत्रु को भली भांति न देखकर बाण नहीं चलाते, विशेष जिस समय शत्रुसे दोष होता है, उसी समयमें शत्रु वधनेका सुन्दर अवसर करके कहा है। पाण्डु बोले, कि ऐ मृग! मृग प्रमत्त रहें वा अप्रमत्त ही रहें, लोग नाना कठोर उपायोंसे खुलाखुली उनका वध करते हैं, अतएव तुम क्यों निन्दा करते हो? मृग बोला, कि महाराज! तुमने मृग मारे हैं, इस लिये तुम्हारी निन्दा नहीं करता! पर तुमको इस समय निष्ठुर व्यवहार न कर मेरे मैथुनकाल तक ठहरे रहना चाहिये था। सर्वभूतोंके प्रिय और सर्वभूतोंके हितयुक्त ऐसे समयमें क्या कोईभी विद्वान् जन वनमें मैथुन करते हुए, मृग को वध कर सकता है? (१६—१९)

हे राजेंद्र! मैं आनंदसे इस मृगीसे संतान पैदा करनेके लिये लिपट गया था, तुमने वह व्यर्थ कर दिया। महाराज! तुमने शुद्ध कर्म करनेवाले पौरव राजोंके वंशमें जन्म लिया है, सो यह कार्य

नृशंसं कर्म सुमहत्सर्वलोकविगर्हितम् ।
अस्वर्ग्यमयशस्यं चाऽप्यधर्मिष्ठं च भारत ॥ २२ ॥
स्त्रीभोगानां विशेषज्ञः शास्त्रधर्मार्थतत्त्ववित्।
नाऽर्हस्त्वं सुरसंकाश कर्तुमस्वर्ग्यमीदृशम् ॥ २३ ॥
त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः ।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ॥ २४ ॥
किं कृतं ते नरश्रेष्ठ मामिहाऽनागसं घ्नता ।
मुनिं मूलफलाहारं मृगवेषधरं नृप ॥ २५ ॥
वसमानमरण्येषु नित्यं शमपरायणम् ।
त्वयाऽहं हिंसितो यस्मात्तस्मात्त्वामप्यहं शपे॥२६॥
द्वयोर्नृशंसकर्तारमवशं काममोहितम् ।
जीवितान्तकरो भाव एवमेवाऽऽगमिष्यति ॥ २७ ॥
अहं हि किंदमो नाम तपसा भावितो मुनिः।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ॥ २८ ॥
मृगो भूत्वा मृगैः सार्धं चरामि गहने वने।
न तु ते ब्रह्महत्येयं भविष्यत्यविजानतः ॥ २९ ॥

तुम्हारे योग्य नहीं हुआ है। हे भारत! यह बडा निष्ठुर कर्म स्वर्गनाशी, यशनाशी, धर्मनाशी और सर्व लोकोंके लिये अनुचित हुआ है, हे देवोपम ! तुमने शास्त्र जाननेवाले धर्मार्थ तत्त्वोंके जानने वाले, और स्त्रीसे मिलनके सुखको अनुभव करनेवाले होकरकेभी जो यह स्वर्गनाशी कार्य किया है, वह तुम्हारे योग्य नहीं हुआ है। (२०-२३)

हे नरेशोंमें श्रेष्ठजन ! जो सब लोग निष्ठुर कार्य करने वाले पापाचारी और धर्मार्थ काममें रहित होते हैं, तुम्हीं उनको दण्ड करते हो। हे महाराज! मैं मृगके स्वरूपमें फल मूल पर जीता हुआ मुनि हूं, मुझको विना अपराध मार कर कौनसा बडा लाभ उठाया ? मैं शमशील होकर नित्य वनमें रहता हूं, तिसपरभी तुमने विनादोष मुझको मारा ! सो तुमको शाप देता हूं, कि तुमने जिस प्रकार स्त्री पुरुष से कठिन व्यवहार किया है, उस प्रकार जब स्वयं काम युक्त होकर विवश होओगे, तब तुमभी ऐसीही जीवनाशी दशा प्राप्त करोगे। (२४-२७)

मैं किमिन्दम नामक तपस्वी मुनि हूं, मनुष्योंकी लज्जासे बचनेके लिये मृगीसे मिल रहा था। तुम्हारे यह न जाने रहने

मृगरूपधरं हत्वा मामेवं काममोहितम्।
अस्य तु त्वं फलं मूढ प्राप्स्यसीदृशमेव हि ॥३०॥
प्रियया सह संवासं प्राप्य कामविमोहितः।
त्वमप्यस्यामवस्थायां प्रेतलोकं गमिष्यसि ॥ ३१ ॥
अन्तकाले हि संवासं यया गन्ताऽसि कान्तया ।
प्रेतराजपुरं प्राप्तं सर्वभूतदुरत्ययम् ॥ ३२ ॥
भक्त्या मतिमतां श्रेष्ठ सैव त्वाऽनुगमिष्यति ॥ ३३ ॥
वर्तमानः सुखे दुःखं यथाऽहं प्रापितस्त्वया।
तथा त्वां च सुखं प्राप्तं दुःखमभ्यागमिष्यति ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो जीवितात्स व्यमुच्यत।
मृगः पाण्डुश्च दुःखार्तः क्षणेन समपद्यत ॥ ३५ ॥ (४७०५)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुमृगशापेऽष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

वैशम्पायन उवाच—तं व्यतीतमतिक्रम्य राजा स्वमिव बान्धवम्।
सभार्यः शोकदुःखार्तः पर्यदेवयदातुरः ॥ १ ॥

पाण्डुरुवाच— सतामपि कुले जाताः कर्मणा बत दुर्गतिम्।

से कि मै मृगका स्वरूप लेकर मृगोंसे घने वनमें चरा करता हूं. मुझको मार डालनेके कारण तुम पर ब्रह्महत्याका पाप न बनेगा। रे मूर्ख! जैसे कि तूने मृगके स्वरूपधारी मुझको इस प्रकार मारडाला. त्यो तू भी इसका फल योंही प्राप्त करेगा। तू कामवश प्रियामे मिलते ही इसी दशामें प्रेतलोकको सिधारेगा । हे मतिमन ! तुम अन्तकालमें जिस स्त्रीसे मिलोगे. वह प्यारीभी सर्वलोकोंके लङ्घनके अयोग्य प्रेतलोकोंमे भक्ति पूर्वक तुम्हारे साथ चली जायगी । मुझको जिस प्रकार सुख समय तुमने दुःख मिला, वैसेही तुमभी सुख पानेके काल दुःख प्राप्त करोगे। (२८–३४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि मृगने यह बात कहकर अति दुःखी होकर प्राण छोडा। राजा पाण्डुभी क्षण भरमें दुःखके समुद्रमें डूबे। (३५) [४७०५]

आदिपर्वमें एकसौ अठारह अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ उन्नीसवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले. कि राजा पांडु अपने मित्र समान उस ऋषिको छोड कर स्त्रियोंके सहित शोक और दुःखमें पीडित और विकल होकर बहुत विलपने लगे। वह कहने लगे. कि हाय! बुरी आत्मा-

प्राप्नुवन्त्यकृतात्मानः कामजालविमोहिताः ॥ २ ॥
शश्वद्धर्मात्मना जातो बाल एव पिता मम।
जीवितान्तमनुप्राप्तः कामात्मैवेति नः श्रुतम्॥ ३ ॥
तस्य कामात्मनः क्षेत्रे राज्ञःसंयतवागृषिः।
कृष्णद्वैपायनः साक्षाद्भगवान्मामजीजनत ॥ ४ ॥
तस्याऽद्य व्यसने बुद्धिः संजातेयं ममाऽधमा।
त्यक्तस्य दैवैरनयान्मृगयां परिधावतः ॥ ५ ॥
मोक्षमेव व्यवस्यामि बन्धो हि व्यसनं महत्।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ६ ॥
अतीव तपसाऽऽत्मानं योजयिष्याम्यसंशयम्।
तस्मादेकोऽहमेकाकी एकैकस्मिन्वनस्पतौ ॥ ७ ॥
चरन्भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डश्चरिष्याम्याश्रमानिमान्।
पांसुना समवच्छन्नः शून्यागारकृतालयः॥ ८ ॥
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः।

युक्त जन अच्छे वंशमें जन्म लेने पर भी कामके फन्देमें फंसकर अपने कर्मके दोषसे कुगति प्राप्त करता है। मैंने सुना है, कि मेरे पिता विचित्रवीर्य धर्मात्मा शांतनुसे जन्म लेकर के केवल कामयुक्त आत्मा होनेहीसे बालेपनहीमें परलोकको सिधारे थे; उन कामयुक्त राजाके क्षेत्रमें साक्षात् भगवान् ऋषि संयतवादी श्रीकृष्णद्वैपायनने मुझे जन्म दिया था; ऐसे मनुष्यके पुत्र होने-परभी मैं बुरी रीतिसे केवल वनहीमें घूम फिर रहा हूं! आज मेरी बुरी बुद्धि व्यसनके विषयमें लिप्त हुई है, तो देवोंने मुझको त्याग दिया है, क्योंकि मेरा पुत्रका मुख विना देखे स्वर्ग पानेका पथ रुक गया। (२—५)

अब मैं मोक्षमार्ग का पथिक बनूं! पुत्र उत्पादन आदि सांसारिक बंधन ही अति दुःखका कारण हुआ है, सो मैं ब्रह्मचारी बनकर जन्मदाता व्यासजीसे किये जाते हुए कार्यमें नियुक्त होऊंगा। मैं अपने चित्तको विना संदेह कठोर तपमें नियुक्त करूंगा, उसमें भार्यादि त्याग कर अकेले सिर मुंडाकर मुनि हो आश्रमोंमें स्थित इन सब वृक्षोंमेंसे एक एकसे भीख मांग मांग जीवनको बचाऊंगा। सब प्रिय और अप्रियको छोडकर धूलसे देहको नहला कर खाली घरमें वा पेडकी जडमें बसूंगा, किसी प्रकारसे न तो हर्ष और न शोक करूंगा, अपनी निंदा और प्रशंसा को समान समझूंगा, अशीस वा

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ९ ॥
निराशीर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
न चाऽप्यवहसन्कंचिन्न कुर्वन्भृकुटीं क्वचित् ॥ १० ॥
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वभूतहिते रतः ।
जङ्गमाजङ्गमं सर्वमविहिंसंश्चतुर्विधम् ॥ ११ ॥
स्वासु प्रजास्विव सदा समः प्राणभृतः प्रति ।
एककालं चरन्भैक्ष्यं कुलानि दश पञ्च वा ॥ १२ ॥
असंभवे वा भैक्ष्यस्य चरन्ननशनान्यपि ।
अल्पमल्पं च भुञ्जानः पूर्वालाभे न जातुचित् ॥ १३ ॥
अन्यानविचरँल्लाभादलाभे सत्यपूरयन् ।
अलाभे यदि वा लाभे समदर्शी महातपाः ॥ १४ ॥
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाऽकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥ १५ ॥
न जिजीविषुवत्किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन ।
जीवितं मरणं चैव नाऽभिनंदन्न च द्विषन ॥ १६ ॥

प्रमाण की इच्छा न करूंगाः और विना बखेडा तथा किसीसे दान न लेकर दिन काटूंगा। (९—१०)

मै किसीपर न तो हसूंगा और न भौंह चढाऊंगाः सदा प्रसन्नमुख होकर सर्व भूतोंके हितमें नियुक्त रहूंगाः अण्ड स्वेद जरायु और उद्भिदसे जन्म लिये हुए इन चार प्रकारके स्थावर जंगम प्राणियों पर हिंसा प्रगट नहीं करूंगा. अपनी प्रजावत सर्व भूतो पर तुल्य दृष्टि रखूंगा। नित्य पाच वा दश घरोंमें एकही वार भीख मांगूंगा. उनमे भीख न मिले तो विना भोजनभी दिन गंवाऊंगा स्वल्प भोजन किया करूंगा. पर तौभी एक वारमें न मिले. तो फिर कभी भीख न मागूंगाः सात वा दश घरमें मांगने-पर यदि भीख न मिले, तो लोभसे दूसरे घरमें फिर नहीं जाऊंगा। चाहे लाभ होवे वा नहीं. मै सबोंको समान समझूंगा और कठोर तप करूंगा। (१०-१४)

किसीके बसूलेसे मेरे एक हाथको काटने और चदनसे दूसरे हाथको सुगंध युक्त कर देनेमें दोनोंमें से किसीको नतो हित और न अहितकी इच्छा करूंगा। मै जीवन और मृत्युसे आनंद वा द्वेष प्रगटकर न तो कभी उछल उठूं और न कभी मुर्झाऊंगा। चेतन इच्छा जन निमे-षादि कालके नियमसे जो सब स्वर्गादि

या: काश्चिज्जीवता शक्या: कर्तुमभ्युदयाक्रिया:।
ता: सर्वा: समतिक्रम्य निमेषादिष्वयवस्थिता: १७॥
तासु चाऽप्यनवस्थासु त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रिया:।
संपरित्यक्तधर्मार्थ: सुनिर्मुक्तात्मकल्मष: ॥१८॥
निर्मुक्त: सर्वपापेभ्यो व्यतीत: सर्ववागुरा:।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन्सधर्मा मातरिश्वन: ॥१९॥
एतया सततं वृत्त्या चरन्नेवंप्रकारया ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थित: ॥२०॥
नाऽहं सुकृपणे मार्गे स्ववीर्यक्षयशोचिते।
स्वधर्मात्सततोपेते चरेयं वीर्यवर्जित: ॥२१॥
सत्कृतोऽसत्कृतो वापि योऽयं कृपणचक्षुषा।
उपैति वृत्तिं कामात्मा स शुनां वर्तते पथि ॥२२॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा सुदु:खार्तो निश्वासपरमो नृप:।
अवेक्ष्यमाण: कुन्तीं च माद्रीं च समभाषत ॥२३॥
कौशल्या विदुर: क्षत्ता राजा च सह बन्धुभि:।
आर्या सत्यवती भीष्मस्ते च राजपुरोहिता: ॥२४॥

फलदायी मङ्गलयुक्त कार्य कर सकते है, स सपूर्ण रूपसे चित्तके पापको धोकर उन सब क्रियादिको कर कर धर्मार्थ त्याग और अनित्य फल देनेवाली सब इंद्रियोंकी क्रियाओं को त्याग दूंगा और अविद्यादि सब प्रकारके जालको फाडकर सब पापोंसे साफ होकर वायुका गुण लिये रहूंगा, किसीके वशमे नहीं जाऊं गा। (१५—१९)

सदा ऐसी रीतिसे चलकर निर्भय पथको आश्रय करके देह छोडूंगा; वीर्य वर्जितहोकर आत्मतत्त्वरूपी धर्मसे सदा च्युत निजवीर्यनाशी कुमार्ग पर कभी पांवको न रखूंगा। काम रहित होनेपरभी जो कामयुक्त होकर दीनके समान फिर काम-क्रियामें फंसता है, वह सुकार्य करे वा कुकार्य करे अवश्यही कुत्तेके पथमें चलता है अर्थात् जूठा चाटनेवाला है। (२०—२२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनंतर राजा अति दु:खीचित्तसे यह सब बातें कह कर लम्बी सांस छोडकर कुन्ती और माद्री की ओर आंख फेर कर बोले, कि कौशल्या, विदुर, बन्धु सहित राजा धृतराष्ट्र, आर्या सत्यवती, भीष्म, राजपुरोहित-लोग, व्रतशील सोम पीनेवाले महात्मा

ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः शंसितव्रताः ।
पौरवृद्धाश्च ये तत्र विवसन्त्यस्मदाश्रयाः ।
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ॥ २५ ॥
निशम्य वचनं भर्तुर्वनवासे धृतात्मनः ।
तत्समं वचनं कुन्ती माद्री च समभाषताम् ॥ २६ ॥
अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ ।
आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्तुं तपो महत् ॥ २७ ॥
शरीरस्याऽपि मोक्षाय स्वर्गं प्राप्य महाफलम् ।
त्वमेव भविता भर्ता स्वर्गस्याऽपि न संशयः ॥ २८ ॥
प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे ।
त्यक्त्वा कामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः ॥ २९ ॥
यदि चाऽऽवां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशांपते ।
अद्यैवाऽऽवां प्रहास्यावो जीवितं नाऽत्र संशयः ॥ ३० ॥
पाण्डुरुवाच — यदि व्यवसितं ह्येतद्युवयोर्धर्मसंहितम् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ३१ ॥
त्यक्त्वा ग्राम्यसुखाहारं तप्यमानो महत्तपः ।
वल्कली फलमूलाशी चरिष्यामि महावने ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणगण और जितने नगरके वृद्धजन मेरे आश्रयमें है, उन सबोंमे प्रसन्नकर कहना, कि पाण्डु प्रव्रज्या आश्रमकी शरण लेकर वनमें गया है ! (२३—२५)

कुन्ती और माद्री वनवासका संकल्प ठाने हुए पतिके वचन सुनकर यथायोग्य वाक्य बोली । हे भरतश्रेष्ठ ! दूसरे बहुत आश्रम है, जिनको आश्रयकर आप इन दो धर्मपत्नियोंके साथ कठोर तपस्या कर सकेंगे और इसमें सन्देह नहीं है, कि देह छोडनेके लिये महाफलको पाकर स्वर्गको प्राप्त करेंगे । हम दोनोंभी पति-लोकयुक्त होकर अब इन्द्रियोंको रोककर कामना और सुखको तजकर कडी तपस्या करेंगी । हे महाप्राज्ञ पृथ्वीनाथ ! आप हमको छोड देंगे तो विना सन्देह हम आजही प्राण छोडेंगी । (२६–३०)

पाण्डु बोले, कि तुम्हारा यह निश्चय यदि धर्मके अनुसार होवे, तो मै अपने पिताकी अव्ययवृत्तिको आश्रयकर लूंगा। ग्रामके भोजन और ग्रामके सुखको छोडकर वल्कल पहिन कर और फल मूल खाता हुआ भारी तपकर घने वनमे घूमूंगा : चीर, चर्म और जटा धारणकर

अग्नौ जुह्वदुभौ कालावुभौ कालावुपस्पृशन्।
कृशः परिमिताहारश्चीरचर्मजटाधरः ॥ ३३ ॥
शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासानवेक्षकः।
तपसा दुश्चरेणेदं शरीरमुपशोषयन् ॥ ३४ ॥
एकान्तशीलो विमृशन्पक्वापक्वेन वर्तयन्।
पितृन्देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ ३५ ॥
वानप्रस्थजनस्याऽपि दर्शनं कुलवासिनाम्।
नाऽप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम्॥ ३६॥
एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम्।
कांक्षमाणोऽहमासिष्ये देहस्याऽस्य समापनात्॥३७॥
वैशम्पायन उवाच–इत्येवमुक्त्वा भार्ये ते राजा कौरवनन्दनः।
ततश्चूडामणिं निष्कमङ्गदे कुण्डलानि च ॥ ३८ ॥
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च।
प्रदाय सर्वं विप्रेभ्यः पाण्डुः पुनरभाषत ॥ ३९ ॥
गत्वा नागपुरं वाच्यं पाण्डुः प्रव्रजितो वनम्।
अर्थं कामं सुखं चैव रतिं च परमात्मिकाम् ॥ ४० ॥
प्रतस्थे सर्वमुत्सृज्य सभार्यः कुरुनन्दनः।

नियमित भोजन कर, भूख प्यास पर ध्यान न रखकर ठण्डी हवा और धूपको सहकर और अङ्गको दुबला पतला बनाकर दोनों समय नहाता और अग्नि में हवन करता हुआ कठोर तपस्यासे इस शरीरको सुखा डालूंगा। (३१–३४)

निराले में रहकर कच्चा और पक्का और वानप्रस्थके योग्य शास्त्रकी चर्चा करता हुआ, वनके फल, जल और बातोंसे पितर और देवोंका तर्पन करूंगा, ग्रामवासियोंकी बात तो दूर रहो, एकही वनमें टिके हुए, वानप्रस्थोंकाभी कभी अप्रिय कार्य नहीं करूंगा ; जबतक यह देह न छूटेगी तबतक मैं योंही इन सब वनके शास्त्रोंकी कठोर विधियोंको पालन करता हुआ जीवित रहूंगा। (३५–३७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कौरवनन्दन राजा पाण्डु दोनों स्त्रियोंसे यह बात कह कर चूडामणि, निष्क, अङ्गद, कुण्डल, मूल्यवान वस्त्र और स्त्रियोंके आभूषण आदि सब वस्तु ब्राह्मणों को देकर, साथियोंसे बोले, कि तुम हस्तिनापुर में जाकर कहना, कि कुरुनन्दन पाण्डु अर्थ, काम, सुख, और परम प्रिय स्त्रीसे

ततस्तस्याऽनुयातारस्ते चैव परिचारकाः ॥४१॥
श्रुत्वा भरतसिंहस्य विविधाः करुणा गिरः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा हाहेति परिचुक्रुशुः ॥४२॥
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तं तं विहाय महीपतिम् ।
ययुर्नागपुरं तूर्णं सर्वमादाय तद्धनम् ॥४३॥
ते गत्वा नगरं राज्ञो यथावृत्तं महात्मनः ।
कथयाञ्चक्रिरे राज्ञस्तद्धनं विविधं ददुः ॥४४॥
श्रुत्वा तेभ्यस्ततः सर्वं यथावृत्तं महावने ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठः पाण्डुमेवाऽन्वशोचत ॥४५॥
न शय्यासनभोगेषु रतिं विंदति कर्हिचित् ।
भ्रातृशोकसमाविष्टस्तमेवाऽर्थं विचिन्तयन् ॥४६॥
राजपुत्रस्तु कौरव्यः पाण्डुर्मूलफलाशनः ।
जगाम सह पत्नीभ्यां ततो नागशतं गिरिम् ॥४७॥
स चैत्ररथमासाद्य कालकूटमतीत्य च ।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम् ॥४८॥
रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः ।
उवास स महाराज समेषु विषमेषु च ॥४९॥

मिलनेके सुख सबको तज प्रव्रज्याश्रम लेकरके स्त्रियोंके संग वनको पधारा है। (३८—४१)

अनन्तर उनके साथी और नोकर उन भरतवंशके सिंहरूपी नरेशकी नाना करुणा की बाते सुनकर अति दुःखयुक्त कोलाहलसे हाहाकार करते हुए रोने लगे; और राजाको तज कर रोनेके आंसू गिराते हुए उनकी सब धनोंके साथ बिना बिलम्ब हस्तिनापुरमें जा पहुंचे। नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र उनके मुखसे उनकी सब घटनाओंको सुन कर पाण्डुके लिये बडा शोक करने लगे। वह भाईके शोकसे विकल होकर उन्हीं बातोंको सोचसोच सेज, आसन, भोग किसीसे सुख नहीं पासके। (४२—४६)

इधर कौरवकुलके राजकुमार पाण्डु फल मूल खाते हुए दोनों स्त्रियोंके साथ नागशत पर्वतको पधारे। आप उस चैत्ररथ पर चढ कर कालकूट पर्वतको पीछे रखके हिमाचलसे होते हुए गन्धमादनमें जा पहुंचे। हे महाराज! वह महाभूत, सिद्ध और परम ऋषियोंसे रक्षित होकर समभूमि और ऊंचे स्थानमें

न सोढनामदुःखार्हे मा गमो भरतर्षभ ॥ १५ ॥

पाण्डुरुवाच — अप्रजस्य महाभागा न द्वारं परिचक्षते ।
स्वर्गे तेनाऽभितप्तोऽहमप्रजस्तु ब्रवीमि वः ॥ १६ ॥
पित्र्यादृणादनिर्मुक्तस्तेन तप्ये तपोधनाः ।
देहनाशे ध्रुवो नाशः पितॄणामेष निश्चयः ॥ १७ ॥
ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ।
पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः ॥ १८ ॥
एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः ।
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥
यज्ञैस्तु देवान्प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ।
पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ॥ २० ॥
ऋषिदेवमनुष्याणां परिमुक्तोऽस्मि धर्मतः ।
त्रयाणामितरेषां तु नाश आत्मनि नश्यति ॥ २१ ॥
पित्र्यादृणादनिर्मुक्त इदानीमस्मि तापसाः ।
इह तस्मात्प्रजाहेतोः प्रजायन्ते नरोत्तमाः ॥ २२ ॥

दुःख सहन नहीं किया है, सो दुर्गम शैलराज पर चलनेमें क्यों नहीं मुर्झावेगी अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! तुम मत आओ। (९—१५)

पांडु बोले, कि हे महाभागवृन्द! कहा है, कि जिसके सन्तान नहीं है, उसके स्वर्गमे पहुंचनेके द्वार नहीं है मेरी सन्तान नहीं है, सो अति दुःखसे जलकर आपसे ऐसा कहता हूं। हे तपोधनवृन्द! मै पितरोंके ऋणसे मुक्त न होनेके कारण बडा दुःखी बना हूं, मुझको निश्चय होगया है कि मेरे इस शरीरके नष्ट होने पर पितर लोगभी नष्ट होंगे। मनुष्यलोग पितरोंके, देवोंके, ऋषियोंके और मनुष्योंके इन चार ऋणोंको ले कर इस धरतीमे जन्म लेते है और धर्मानुसार उनको वह ऋण भरनाही चाहिये; धर्म जानने वाले कहते है, कि जो मनुष्य इन स्वाभाविक ऋणोंके भरनेके लिये उचित समयमें मन नहीं लगाता है, उसकी सुगति नहीं होती है। मानवलोग यागसे देवोंको, पठन तथा तपसे मुनियोंको, पुत्रोत्पादन तथा पिण्ड दानसे पितरोंको और निठुरतासे रहित होकर मनुष्योंको तुष्टकर उनके ऋणोंसे मुक्त होते है। (१६—२०)

मै देव, ऋषि और मनुष्य, इनके ऋणसे धर्मानुसार मुक्त हुआ हूं, पर मेरे शरीरके नष्ट होने पर पितरोंको नष्ट होना

यथैवाऽहं पितुः क्षेत्रे जातस्तेन महर्षिणा ।
तथैवाऽस्मिन्मम क्षेत्रे कथं वै संभवेत्प्रजा ॥ २३ ॥

ऋषय ऊचु — अस्ति वै तव धर्मात्मन्विद्मो देवोपमं शुभम् ।
अपत्यमनघं राजन्वयं दिव्येन चक्षुषा ॥ २४ ॥
दैवोद्दिष्टं नरव्याघ्र कर्मणेहोपपादय ।
अक्लिष्टं फलमव्यग्रो विंदते बुद्धिमान्नरः ॥ २५ ॥
तस्मिन्दृष्टे फले राजन्प्रयत्नं कर्तुमर्हसि ।
अपत्यं गुणसंपन्नं लब्धा प्रीतिकरं ह्यसि ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच- तच्छ्रुत्वा तापसवचः पाण्डुश्चिन्तापरोऽभवत् ।
आत्मनो मृगशापेन जानन्नुपहतां क्रियाम् ॥ २७ ॥
सोऽब्रवीद्विजने कुंतीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।
अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय ॥ २८ ॥
अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता ।
इति कुन्ति विदुर्धीराः शाश्वतं धर्मवादिनः ॥ २९ ॥

पडेगा । हे तपस्वीगण ! जो लोग नरोंमें श्रेष्ठ है. वे पितरोंके ऋणको भरनेको सन्तान पैदा करनेके निमित्त पृथ्वीमे जन्म लेते है. पर मै अभीतक उक्त ऋणसे मुक्त नहीं हो सका हूं सो पूछता हूं. कि मैने जिस प्रकार पिता विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें महर्षि व्याससे जन्म लिया है. क्या वैसेही मेरे इस क्षेत्रमे सन्तान उत्पन्न हो सकेगी ? (२१–२३)

ऋषिलोग बोले कि हे धार्मिक नरेश ! हम दिव्य नेत्रोंसे देखते है कि तुम्हारे पाप रहित देववत् शुभ पुत्र उत्पन्न होंगे. सो हे नरव्याघ्र ! तुम करके देवोंका अभिप्राय पूरा करो. क्योंकि बुद्धिमान जन न घबराकर सुन्दर फल प्राप्त करते हैं ! ए महाराज ! तुम्हारा फल दीख पडता है. तुम सन्तान उत्पन्न करनेका प्रयत्न करो उससे अवश्यही आनन्द देनेवाले सर्व गुणोंसे सजे हुए पुत्र पा सकोगे । (२४—२६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले. कि राजा पाण्डु तपस्वियोंकी वह बात सुनकर और यह स्मरणकर. कि मृगके शापसे उनकी पुत्र पैदा करनेकी शक्ति नष्ट हो गयी है. चिन्ता युक्त हुए । आगे वह यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्तीसे निरालेमें बोले. कि हे कुन्ती ! तुम इस विपत्काल में पुत्र उत्पन्न करनेका प्रयत्न करो: देखो.धर्म कहनेवाले सदा कहते है. कि सन्तान इन तीनों लोकोंमें धर्म भरी प्रतिष्ठा

इष्टं दत्तं तपस्तप्तं नियमश्च स्वनुष्ठितः ।
सर्वमेवाऽनपत्यस्य न पावनमिहोच्यते ॥ ३० ॥
सोऽहमेवं विदित्वैतत्प्रपश्यामि शुचिस्मिते ।
अनपत्यः शुभाँल्लोकान्न प्राप्स्यामीति चिंतयन्॥ ३१ ॥
मृगाभिशापान्नष्टं मे जननं ह्यकृतात्मनः ।
नृशंसकारिणो भीरु यथैवोपहतं पुरा ॥ ३२ ॥
इमे वै बन्धुदायादाः षट् पुत्रा धर्मदर्शने ।
षडेवाऽबन्धुदायादाः पुत्रास्ताञ्छृणु मे पृथे ॥ ३३ ॥
स्वयंजातः प्रणीतश्च परिक्रीतश्च यः सुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः स्वैरिण्या यश्च जायते ॥ ३४ ॥
दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत्स्वयं च यः ।
सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः ॥ ३५ ॥

मी हुई है। याग, दान, तपस्या और भले प्रकार अनुष्ठान किया हुआ नियम, यह सब उनको पवित्र नहीं करते हैं, जिनके कि सन्तान नहीं होती। हे सुन्दरी! यह जाननेही कारण मैं सोचके देखता हूं कि मेरे पुत्र पैदा न होने से मैं शुभलोक को नहीं प्राप्त कर सकूंगा। (२७-३१)

री भीरु! पहिले जैसे मैं बुरी आत्म-युक्त और निठुर कार्य में दत्तचित्त था, वैसेही मृगके शाप से मेरी सन्तान पैदा करने की शक्ति जाती रही है। धर्मशास्त्रोंमे कहा है, कि छ प्रकारके पुत्र बन्धुके धनके अधिकारी होते हैं, और छ प्रकार के पुत्र उसके अधिकारी नहीं होते। री पृथे! मैं उन बारह प्रकारके पुत्रोंकी वर्णन करता हूं, सुनो। (पहिला) औरस अर्थात् जो ब्याही स्त्रीसे निजके द्वारा पैदा हो,(दूसरा) प्रणीत, अर्थात् जो अच्छे पुरुषके द्वारा निज क्षेत्रमे पैदा हो, (तीसरा) परिक्रीत, अर्थात् जो मोल लिये हुए वीर्यके द्वारा निज क्षेत्रमे पैदा हो, (चौथा) पौनर्भव अर्थात् जो विधवा के गर्भमे अन्यके द्वारा पैदा हो, (पांचवा) कानीन अर्थात् जो कन्यावस्था मे पैदा हो,(छठवां) स्वैरिणीके गर्भसे पैदा हुआ, अर्थात् जो गूढ वा कुण्ड नामसे प्रसिद्ध है, (सातवा) दत्त अर्थात जो पूर्व पिता मातासे देदिया जाय, (आठवां) क्रीत, अर्थात जो धन देकर ले लिया गया हो, (नवां) उपक्रीत, अर्थात् जो कृत्रिम हो, (दशवा) स्वयं उपागत अर्थात् मै तुम्हारा पुत्र बना, यह कह के जो स्वयं आवे, (ग्यारहवां) ज्ञातिरेता सहोढ अर्थात्

पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम्।
उत्तमाद्देवरात्पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि ॥ ३६ ॥
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥ ३७ ॥
तस्मात्प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात्स्वयम्।
सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनि॥ ३८ ॥
शृणु कुन्ति कथामेतां शारदण्डायिनीं प्रति।
सा वीरपत्नी गुरुणा नियुक्ता पुत्रजन्मनि ॥ ३९ ॥
पुष्पेण प्रयता स्नाता निशि कुन्ति चतुष्पथे।
वरयित्वा द्विजं सिद्धं हुत्वा पुंसवनेऽनलम् ॥ ४० ॥
कर्मण्यवसिते तस्मिन्सा तेनैव सहाऽवसत।
तत्र त्रीञ्जनयामास दुर्जयादीन्महारथान् ॥ ४१ ॥
तथा त्वमपि कल्याणि ब्राह्मणात्तपसाधिकात्।
मन्नियोगाद्यत क्षिप्रमपत्योत्पादनं प्रति ॥ ४२ ॥ (४७९७)

इति श्रीमहा० शत० संहि० वयासिक्यामादि० संभव० पाण्डुपृथासंवादे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

जो भाई आदिसे गर्भवती स्त्रीसे विवाह करने पर उसके गर्भसे पैदा हो, (बारहवां) हीनयोनिधृत,अर्थात् जो हीन जाति की स्त्रीसे पैदा हो। (३२–३५)

इन बारह प्रकारके पुत्रोंमें पहिला न बन पडे, तो उससे पिछला, फिर उससे पिछला; फिर वहभी न हो तो उससे पिछला, इस प्रकारसे माताको पुत्रकी इच्छा करनी चाहिये। लोग आपत्कालमे उत्तम छोटे सहोदर भाईसे पुत्रकी कामना किया करते है। स्वायंभुव मनुने कहा है, कि मनुष्यगण अपने वीर्यके विना भी धर्म-फलदेनेवाले श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त कर सकते है। अतएव हे कुन्ती ! मै इस समय सन्तान पैदा करने की शक्तिसे रहित हुआ हूं, सो तुमको नियोग करता हूं, तुम सत्य वा श्रेष्ठजनसे यशस्वी पुत्र प्रसव करो। (३६—३८)

हे पृथे ! शरदण्डायनकी कन्याकी कथा कहता हूं सुनो। वह वीरकी स्त्री पतिसे पुत्र पैदा करनेको नियुक्त होकर ऋतु-स्नान करके रात्रिको चौराहे पर खडी हुई। आगे एक सिद्ध ब्राह्मणको वरण कर पुंसवन यज्ञमें अग्निकी आहुति चढाकर उस धर्मको पूरा करनेके पीछे उनसे मिली। इससे दुर्जय आदि तीन महारथियोंका जन्म हुआ। हे कल्याणि ! इस प्रकार तुमभी मेरे नियोगसे ऐसे

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥
न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथञ्चन।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २ ॥
त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥
स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥
न ह्यहं मनसाऽप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः॥५॥
इमां च तावद्धर्मात्मन्पौराणीं शृणु मे कथाम्।
परिश्रुतां विशालाक्ष कीर्तयिष्यामि यामहम् ॥ ६ ॥
व्युपिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः।
पुरा परमधर्मिष्ठः पूरोर्वंशविवर्धनः ॥ ७ ॥
तस्मिंश्च यजमाने वै धर्मात्मनि महाभुजे।

किसी ब्राह्मणसे, जो मुझसे तप में श्रेष्ठ हो, शीघ्र सन्तान पैदा करने की चेष्टा करो! (३०—४२) [४५९७]

आदिपर्वमें एकसौ बीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ इक्कीस अध्याय।

वैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज! कुन्ती यह बात सुन कर कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ भूपति पाण्डुसे बोली, कि हे धर्मज्ञ राजीवनेत्र! मैं आपकी धर्मपत्नी और आपहीके प्रेममें फंसी हूं, सो आपको मुझसे ऐसा कहना कभी उचित नहीं है। हे वीर महाभुज! धर्मानुसार आपहीको मुझसे अपने वीर्यके द्वारा सन्तान पैदा करनी चाहिये। हे मानवोंमें व्याघ्ररूपी पुरुष! ऐसाही होनेसे मैं आपके साथ स्वर्गमें जा सकूंगी; अतएव हे कुरुनन्दन! आपही सन्तानके लिये मुझसे मिलिये क्योंकि मैं मनसे भी दूसरे पुरुषसे मिलना नहीं चाहती; विशेष इस भूमण्डलमें ऐसा कौन है, जो आपसे श्रेष्ठ हो सके? (१–५)

हे धार्मिक, विशालाक्ष! पहिले मैंने एक पौराणिक कथा सुनी थी, उसको आपसे कहती हूं, सुनिये। पूर्वकालमें कुरुवंश-बढानेवाले परम धार्मिक व्युपिताश्व नामक एक प्रसिद्ध राजा थे। उन धर्मात्मा महाभुज नरेशके याग आरम्भ करदेने पर इन्द्र सहित देवता और देवर्षि

उपारमंस्ततो देवाः सेन्द्रा देवर्षिभिः सह ॥ ८ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
व्युषिताश्वस्य राजर्षेस्ततो यज्ञे महात्मनः ॥ ९ ॥
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव चक्रुः कर्म स्वयं तदा ।
व्युषिताश्वस्ततो राजन्नतिमर्त्यान्व्यरोचत ॥ १० ॥
सर्वभूतान्यति यथा तपनः शिशिरात्यये ।
स विजित्य गृहीत्वा च नृपतीन्राजसत्तम ॥ ११ ॥
प्राच्यानुदीच्यान्पाश्चात्यान्दाक्षिणात्यानकालयत् ।
अश्वमेधे महायज्ञे व्युषिताश्वः प्रतापवान् ॥ १२ ॥
बभूव स हि राजेन्द्रो दशनागबलान्वितः ।
अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ॥ १३ ॥
व्युषिताश्वे यशोवृद्धे मनुष्येन्द्रे कुरूद्वह ।
व्युषिताश्वः समुद्रान्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १४ ॥
अपालयत्सर्ववर्णान्पिता पुत्रानिवौरसान् ।
यजमानो महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ॥ १५ ॥
अनन्तरत्नान्यादाय स जहार महाक्रतून् ।
सुषाव च बहून्सोमान्सोमसंस्थास्ततान च ॥ १६ ॥

लोग वहा आ पहुचे थे। आगे उन महात्मा राजर्षि व्युषिताश्वके यज्ञमें देवराज सोमरस पीकर और ब्राह्मणलोग दक्षिणा पाकर उन्मत्तके समान हो गये थे, वे देवगण और ब्रह्मर्षिलोग स्वयं कर्म पूरा करने लगे। (९-१०)

हे राजन्! जिस प्रकार हिम अन्त होनेपर भगवान आदित्य सम्पूर्ण भूतोंको पीछे रखकर आगे बढकर प्रकाशमान होते है, वैसेही व्युषिताश्व सर्वलोकोंको पीछे रखकर सोहने लगे। हे श्रेष्ठभूप! वह प्रतापी राजेन्द्र व्युषिताश्व दश हस्तीके समान बल रखते थे, सो अश्वमेधयज्ञमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, और दक्षिण, उन चारो ओरके राजाओंको हराके पकड पकड कर अपने वशमे लाये थे। हे कुरुकुल-श्रेष्ठ! पुराण कहने वाले लोग यह कथा कहा करते है, कि यशवन्त व्युषिताश्वके पृथ्वीनाथ होनेसे उन्होंने समुद्र तक इस धरतीको जीतकर सर्वलोकोंको इस प्रकार पालन किया था, कि जैसे पिता औरस पुत्रको पालते है। उन्होंने अनन्त रत्न बटोरकर सोमसंस्था अर्थात ज्योतिष्टोमादि महायज्ञोंको बटा-

आसीत्काक्षीवती चाऽस्य भार्या परमसंमता।
भद्रा नाम मनुष्येन्द्र रूपेणाऽसदृशी भुवि ॥ १७ ॥
कामयामासतुस्तौ च परस्परमिति श्रुतम् ।
स तस्यां कामसंपन्नो यक्ष्मणा समपद्यत ॥ १८ ॥
तेनाऽचिरेण कालेन जगामाऽस्तमिवांऽशुमान् ।
तस्मिन्प्रेते मनुष्येन्द्रे भार्याऽस्य भृशदुःखिता १९॥
अपुत्रा पुरुषव्याघ्र विललापेति नः श्रुतम् ।
भद्रा परमदुःखार्ता तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

भद्रोवाच— नारी परमधर्मज्ञ सर्वा भर्तृविनाकृता ।
पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता॥ २१ ॥
पतिं विना मृतं श्रेयो नार्याः क्षत्रियपुङ्गव ।
त्वद्गतिं गन्तुमिच्छामि प्रसीदस्व नयस्व माम्॥ २२ ॥
त्वया हीना क्षणमपि नाऽहं जीवितुमुत्सहे ।
प्रसादं कुरु मे राजन्नितस्तूर्णं नयस्व माम् ॥ २३ ॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि समेषु विषमेषु च ।

कर अगणित सोमलता निचोडी और ब्राह्मणोंको प्रचुर धन दिया था। (१०-१६

राजा काक्षीवान् की कन्या भद्रा उनकी परम प्यारी स्त्री थी। हे मनुष्यों-में इन्द्ररूपी ! भूमण्डलभरमें उन भद्राके समान अनुपम रूपवती नारी कोई दूसरी नहीं थी। उस दम्पतिमें नारी जिस प्रकार पतिहीकी कामना करती थी। उस प्रकार पतीभी उस नारीके प्रेमी थे। अनन्तर भद्राके बडे प्रेमी व्युषिताश्वको क्षयने घेरा, इससे वह सूर्यकी भांति स्वल्प कालके बीचमें अस्त हो गये। उस भूपालके परलोकको सिधारनेपर उनकी स्त्री शोकसे बडी विह्वल हुई। हे पुरुषोंमें व्याघ्ररूपी नरेश ! भद्राने अति दुःखी होकर जैसा शोक किया था, वह कहती हूं, सुनिये। (१७-२०)

भद्रा भर्ताको लक्ष्यकर बोली, कि हे परम धर्मज्ञ ! पतिके बिना नारी अति निष्फला होती है । जो नारी पतिके बिना जीवनको धारण किये रहती है, वह सदा दुःखी होकर मरीसी बनी रहती है। हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! पति के बिना अबलाओंकी मृत्युही मङ्गलदायी होती है, अतएव मैं तुम्हारे साथ चली जाना चाहती हूं, प्रसन्न होकर मुझको साथ ले चलो। हे महाराज! तुम्हारे बिना मुझे क्षण भर भी जीनेकी इच्छा नहीं है, अतएव

कृपणां नाथ करुणां विलपन्तीं नरेश्वर ॥ ३२ ॥

कुन्त्युवाच— एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः ।
तं शवं संपरिष्वज्य वाक्लिान्तर्हिताऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥
उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव ।
जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि ॥ ३४ ॥
आत्मकीये वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम् ।
अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह ॥ ३५ ॥
एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता ।
यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा ॥ ३६ ॥
सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ ।
त्रीञ्शाल्वांश्चतुरो मद्रान्सुतान्भरतसत्तम ॥ ३७ ॥
तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ ।
शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगबलान्वितः ॥३८॥ [४८३५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि व्युषिताश्वोपाख्याने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तया राजा तां देवीं पुनरब्रवीत् ।
धर्मविद्धर्मसंयुक्तमिदं वचनमुत्तमम् ॥ १ ॥

इस दीना अधीनाको आज्ञा दो। (२७-३२)

कुन्ती बोली, कि इस प्रकारसे वह व्युषिताश्वकी स्त्री उस मुर्देसे लिपटकर बार बार भांति भांतिके विलाप कर रही थी, कि ऐसे समयमें यह आकाश-वाणी हुई, कि—"भद्रे! उठो, जाओ; हे मधुरहासिनी! तुझको वर देता हूं, तेरेसे संतान पैदा करूंगा। हे सुंदरी! अष्टमी चतुर्दशीमें तू ऋतुस्नान कर मुझसे अपने बिस्तर पर लेटना।" यह आकाश-वाणी होनेपर पुत्र चाहती हुई देवी पतिव्रता भद्रा उस बातके अनुसार उस प्रकार लेटी रही। हे भरतवंशमें श्रेष्ठ पुरुष! उस देवीने उस शवके वीर्यसे तीन शाल्व और चार मद्र, सात सन्तान प्रसव कीं। हे भरतश्रेष्ठ! उसी प्रकार आपभी तप और योगके बलसे मानसके द्वारा मुझसे सन्तान पैदा कर सकते हैं। (३३—३८) [४८३५]

आदिपर्वमें एकसौ इक्कीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ बाईस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, धर्मज्ञ राजा पाण्डु देवीसे यह बात सुनकर फिर उनको अच्छा धर्मयुक्त यह वाक्य बोले, कि हे

पाण्डुरुवाच— एवमेतत्पुरा कुंति व्युषिताश्वश्चकार ह ।
यथा त्वयोक्तं कल्याणि स ह्यासीदमरोपमः ॥ २ ॥
अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्त्वं निबोध मे ।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥
अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने ।
कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥ ४ ॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् ।
नाऽधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत् ॥ ५ ॥
तं चैव धर्मं पौराणं तिर्यग्योनिगताः प्रजाः ।
अद्याऽप्यनुविधीयन्ते कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ६ ॥
प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः ।
उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्याऽपि पूज्यते ॥ ७ ॥
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः ॥ ८ ॥
अस्मिंस्तु लोके न चिरान्मर्यादेयं शुचिस्मिते ।
स्थापिता येन यस्माच्च तन्मे विस्तरतः शृणु ॥ ९ ॥
बभूवोद्दालको नाम महर्षिरिति नः श्रुतम् ।

कुन्ति! तुमने जो कहा, वह ठीकही है । व्युषिताश्वने ऐसाही किया था, क्योंकि वह देवव्रत थे. पर धर्मज्ञ महात्मा महर्षियोने पुराणोंमें धर्मका जो तत्त्व दिखाया है वह तुमसे कहता हूं सुनो. ऐ सुन्दरि ! पूर्वकालमे स्त्रियोंको कुछ मनाही नही थी; ऐ मधुरहासिनी ! वे उन दिनो स्वतन्त्र अर्थात् पतिआदियोंसे न रोकी जाकर भोगके सुखकी आशासे घूमा करती थी । (१–४)

ऐ सुन्दरी ! वे कुमारी—दशाहीसे व्यभिचार किया करती थी. इससे उन को अधर्म नही होता था. क्योंकि यही पूर्व कालका धर्म था । ऐ सुन्दरि ! आजतक तिर्यग् योनिकी प्रजा काम द्वेषसे रहित होकर उस पुराने धर्मसे चलती है । महर्षिलोग भी प्रमाणसे दर्शाये हुए इस धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं, ऐ सुन्दरि ! उत्तरकुरुओंमे आज तक इस धर्मकी पूजा हो रही है, क्योंकि यह सनातन धर्म स्त्रियों पर कृपायुक्त है । पर थोडे कालसे इस विषयमे वर्त्तमान नियम हो रहा है जिस हेतु जिनसे यह स्थापित हुआ है विस्तारपूर्वक कहता हूं सुनो।५-९

हमने सुना है कि उद्दालक नामक एक महर्षि थे । श्वेतकेतु नामसे प्रसिद्ध

श्वेतकेतुरिति ख्यातः पुत्रस्तस्याऽभवन्मुनिः ॥१०॥
मर्यादेयं कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना ।
कोपात्कमलपत्राक्षि यदर्थं तन्निबोध मे ॥ ११ ॥
श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः ।
जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाऽब्रवीत्॥१२॥
ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकाराऽमर्षचोदितः ।
मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव ॥ १३ ॥
क्रुद्धं तं तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह ।
मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः ॥ १४ ॥
अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि ।
यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः॥ १५॥
ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे ।
चकार चैव मर्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि ॥ १६ ॥
मानुषेषु महाभागे न त्वेवाऽन्येषु जन्तुषु ।
तदाप्रभृति मर्यादा स्थितेयमिति नः श्रुतम्॥ १७ ॥
व्युचरन्त्याः पतिं नार्या अद्यप्रभृति पातकम्।
भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम् ॥ १८ ॥

उनके एक पुत्र भये थे। उन श्वेतकेतुहीने क्रोधित होकर धर्मके अनुसार यह मर्यादा ठहरायी है। ए पद्मनेत्रवती! उनका कारण सुनो। एक समय एक ब्राह्मण श्वेतकेतुके पिताके सामने उसकी माताका हाथ थामकर बोला, कि आओ हम चलें। अनन्तर ऋषिकुमार श्वेतकेतु अन्य पुरुषसे माताको लिवाये जाते देखकर दुःखी और क्रोधित हुए। (१०–१३)

उनके पिता उद्दालक उनको क्रोधसे कांपते हुए देखकर बोले, कि बेटा! तुम क्रोधित मत होओ सनातन धर्म ऐसाही है। इस भूमण्डलमें सर्व वर्णोंकीही स्त्रियां विना रोक टोक सबोंसे मिलती है। ए बेटा! गौके समान सर्व वर्णोंकी प्रजाभी निज निज वर्णोंमे व्यवहार किया करती है। आगे ऋषिकुमारने वह सहनेको अक्षम होकर भूमण्डलमें स्त्रीपुरुषोंकी यह मर्यादा ठहरायी। ए महाभागे! हमने सुना है, कि उससे मनुष्य समाज में यह नियम ठहर गया है; यह दूसरे प्राणियों पर नहीं वर्तता है। (१४-१७)

श्वेतकेतुने यह नियम रचा, कि आजसे जो नारी पतिको तजकर व्यभिचार करे-

भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम्।
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ॥ १९ ॥
पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च।
न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि॥ २० ॥
इति तेन पुरा भीरु मर्यादा स्थापिता बलात्।
उद्दालकस्य पुत्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना ॥ २१ ॥
सौदासेन च रम्भोरु नियुक्ता पुत्रजन्मनि।
मदयंती जगामर्षिं वासिष्ठमिति नः श्रुतम्॥ २२ ॥
तस्माल्लेभे च सा पुत्रमश्मकं नाम भाविनी।
एवं कृतवती साऽपि भर्तुः प्रियचिकीर्षया॥ २३ ॥
अस्माकमपि ते जन्म विदितं कमलेक्षणे।
कृष्णद्वैपायनाद्भीरु कुरूणां वंशवृद्धये ॥ २४ ॥
अत एतानि सर्वाणि कारणानि समीक्ष्य वै।
ममैतद्वचनं धर्म्यं कर्तुमर्हस्यनिंदिते ॥ २५ ॥
ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्ता पतिव्रते।
नाऽतिवर्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः ॥ २६ ॥

गी उसको घोर दुखदायी भ्रूणहत्याका पाप लगेगा। फिरभी इस भूमण्डलमें जो पुरुष कौमारावस्थासे ब्रह्मचारिणी पतिव्रता प्यारी स्त्रीको तजकर परायी नारीसे मिलेगा उसकोभी वैसाही पाप लगेगा। जो स्त्री पुत्र पैदा करनेके लिये पतिसे न मिलकर उनकी बात नहीं मानेगी, उसकोभी वैसाही पाप पहुंचेगा। हे भीरु! उन उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतुने बलपूर्वक धर्मके अनुसार यह मर्यादा ठहरायी थी। (१८—२१)

ऐ सुन्दरी! हमने सुना है, कि सौदास की स्त्री मदयन्ती पतिसे पुत्र पैदा करनेमे नियुक्त होकर महर्षि वसिष्ठके निकट गयी थी और उनसे अश्मक नामक पुत्र प्राप्त किया था। उस कामिनीने भर्ताका प्रिय कार्य करने हीके लिये ऐसा किया था। ऐ पद्मनेत्रे! तुम यहभी जानती हो, कि कुरुओंका वंश बढानेके लिये भगवान् कृष्णद्वैपायनसे हम लोगोंका जन्म हुआ। अतएव हे सुन्दरी! इन सब विषयों की भली भांति आलोचना करके मेरी इस धर्मानुसारी बातको मानना तुम्हें उचित है। (२२—२५)

हे पतिव्रते, राजपुत्रि! धर्म जाननेवाले पुरातन धर्मकी यह व्याख्या तो करते

शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातंत्र्यं स्त्री किलाऽर्हति ।
धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते ॥ २७ ॥
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा ।
यद् ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति वेद विदो विदुः ॥ २८ ॥
विशेषतः पुत्रगृद्धी हीनः प्रजननात्स्वयम् ।
यथाऽहमनवद्याङ्गि पुत्रदर्शनलालसः ॥ २९ ॥
तथा रक्तांगुलितलः पद्मपत्रनिभः शुभे ।
प्रसादार्थं मया तेऽयं शिरस्यभ्युद्यतोऽञ्जलिः ॥ ३० ॥
मन्नियोगात्सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाऽधिकात् ।
पुत्रान्गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ।
त्वत्कृतेऽहं पृथुश्रोणि गच्छेयं पुत्रिणां गतिम् ॥ ३१ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्ता ततः कुन्ती पाण्डुं परपुरञ्जयम् ।
प्रत्युवाच वरारोहा भर्तुः प्रियहिते रता ॥ ३२ ॥
पितुर्वेश्मन्यहं बाला नियुक्ताऽतिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरं तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ३३ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।

है, कि भार्या हर ऋतुमें पतिको छोड कर अन्यत्र न जाय, शेष अन्य समयमें वह स्वतन्त्र हो सकती है ; पर ए राजपुत्री! वेद जानने वाले यहभी कहते है, कि चाहे धर्म वा अधर्म होवे, पति भार्यासे जो कहे, भार्याको वह अवश्य मानना चाहिये। ए सुन्दरि ! विशेष में पैदा करनेकी शक्तिसे हाथ धो चुका हूं, पर पुत्र पानेकी इच्छाभी रखता हूं, सो हे शुभे ! मैं पुत्र देखनेकी इच्छासे तुमको प्रसन्न करनेके लिये लाल उंगलियोंसे सुशोभित इस पद्मपत्र समान हथेलीको सिर पर उठाता हूं । ए सुकेशिनी ! तुम मेरे नियोगके अनुसार अच्छी तपस्यायुक्त ब्राह्मणसे गुणवन्त पुत्र प्रसव करो । हे पृथुश्रोणि तुमसे मैं पुत्रवान जनोंकी गति लाभ करूंगा । (२७–३१)

श्रीवैशम्पायन जी बोले, कि पतिके प्रिय कार्य और हित चाहने वाली सुन्दरी कुन्ती, शत्रुपुर नाशनेहारे पति पाण्डुकी यह बात सुन कर बोली, कि बालेपनमें मै पिताके घरमें अतिथियोकी सेवामें नियुक्त थी । उन दिनों प्रशंसित व्रतयुक्त ब्राह्मणोंकी भले प्रकार सेवा किया करती थी । एक समय धर्मके गूढ तत्त्व जाननेवाले दुर्वासा नामक प्रसिद्ध

तमहं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयम् ॥ ३४ ॥
स मेऽभिचारसंयुक्तमाचष्ट भगवान्वरम् ।
मन्त्रं त्विमं च मे प्रादादब्रवीच्चैव मामिदम् ॥ ३५ ॥
यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणाऽऽवाहयिष्यसि ।
अकामो वा सकामो वा वशं ते समुपैष्यति ॥ ३६ ॥
तस्य तस्य प्रसादात्ते राज्ञि पुत्रो भविष्यति ।
इत्युक्ताऽहं तदा तेन पितृवेश्मनि भारत ॥ ३७ ॥
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तस्य कालोऽयमागतः ।
अनुज्ञाता त्वया देवानाह्वयेयमहं नृप ॥ ३८ ॥
तेन मंत्रेण राजर्षे यथा स्यान्नौ प्रजा हिता ।
आवाहयामि कं देवं ब्रूहि सत्यवतां वर ॥ ३९ ॥
त्वत्तोऽनुज्ञाप्रतीक्षां मां विद्ध्यस्मिन्कर्मणि स्थिताम् ॥ ४० ॥

पाण्डुरुवाच— अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक् ॥ ४१ ॥
अधर्मेण न नो धर्मः संयुज्येत कथंचन ।
लोकश्चाऽयं वरारोहे धर्मोऽयमिति संस्यते ॥ ४२ ॥

जितेन्द्रिय महर्षि वहां आये । मैंने उनको सर्वप्रकारके प्रयत्नसे सन्तुष्ट किया। उन भगवानने मुझको अभिचारयुक्त वर देकर एक मंत्र दे दिया और कहा, कि तुम इस मन्त्रसे जिन जिन देवोंको बुलाओगी, वह चाहे काम रहे वा नहीं रहे उसीक्षण तुम्हारे वशमें हो जायगे। ए रानि! उन देवोंकी कृपासे तुम्हारे पुत्र होंगे। (३२—३७)

हे भारत ! पिताके घरमे उन दुर्वासा ने मुझसे ऐसा कहा था। हे भूपाल! ब्राह्मणकी बात झूठी नहीं होती । अब उसका समय आ पहुंचा है : अतएव हे राजर्षि ! आपकी आज्ञा होवे, तो उस मन्त्रसे किसी देवताको बुला सकती हूं, इससे हमे हितकरने वाला पुत्र प्राप्त होगा। हे सत्यकहनेवाले ! कहिये, हालमें किस देवको बुलाऊं आपहीकी आज्ञासे मैं इस कार्यमें दत्तचित्त होती हूं। (३८–४०)

पाण्डु बोले, कि ए सुन्दरि तुम आजही इस बातका यथाविधि प्रयत्न करो। ए शुभे ! धर्म को बुलाओ, क्योंकि वह देवोंमे पुण्यात्मा है। ए सुन्दरि ! धर्म हमको किसी प्रकारसे अधर्ममें डाल नहीं सकेंगे और लोकभी समझेंगे, यह काम धर्मयुक्त ही हुआ है। इसमें सन्देह नहीं

धार्मिकश्च कुरूणां स भविष्यति न संशयः।
धर्मेण चाऽपि दत्तस्य नाऽधर्मे रंस्यते मनः॥ ४३॥
तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य नियता त्वं शुचिस्मिते।
उपचाराभिचाराभ्यां धर्ममावाहयस्व वै॥ ४४॥
वैशम्पायन उवाच- सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना।
अभिवाद्याऽभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत॥४५॥ [४८८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि
कुन्तिपुत्रोत्पत्त्यनुज्ञाने द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२२॥

वैशम्पायन उवाच-संवत्सरधृते गर्भे गान्धार्या जनमेजय।
आह्वयामास वै कुंती गर्भार्थं धर्ममच्युतम्॥ १॥
सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह।
जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा॥ २॥
आजगाम ततो देवो धर्मो मंत्रबलात्ततः।
विमाने सूर्यसङ्काशे कुंती यत्र जपस्थिता॥ ३॥
विहस्य तां ततो ब्रूयाः कुन्ति किं ते ददाम्यहम्।
सा तं विहस्यमानाऽपि पुत्रं देह्यब्रवीदिदम्॥ ४॥
संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह।

है, कि धर्मका दिया हुआ वह पुत्र कुरुओं में धार्मिक होगा और उसका मन कभी अधर्ममें रमा नहीं जायगा; सो ए सुन्दरि! तुम संयत होकर और धर्मको आश्रयकर अभिचार तथा उपचारसे धर्म-हीको बुलाओ। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर वह श्रेष्ठ नारी कुन्ती भर्ता-की वह बात सुन उसको मान, पांव छू करके उनकी आज्ञा मानली। (४१-४५)

आदिपर्वमें एकसौ बाईस अध्याय समाप्त। [४८८०]

आदिपर्वमें एकसौ तेईस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय! जब गान्धारीने वर्ष भर गर्भधारण किया था, तब कुन्तीने गर्भके निमित्त अक्षर धर्मको बुला करके शीघ्र उनकी पूजा की और पहिले दुर्वासाने जो मन्त्र दिया था, उसको यथाविधि जपने लगी। अनन्तर मन्त्रके प्रभाव से धर्मराज सूर्य सदृश यानमें आरूढ होकर उस स्थानमें, जहां कुन्ती जप कर रही थी, आन पहुंचे और हंसते हुए बोले, कि ए कुन्ति! कहो तुमको क्या देना होगा। कुन्ती कुछ हंसकर बोली, कि मुझको पुत्र दीजिये। (१—४)

लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम् ॥ ५ ॥
ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे ।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते ॥ ६ ॥
समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवरं सुतम् ।
जातमात्रे सुते तस्मिन्वागुवाचाऽशरीरिणी ॥ ७ ॥
एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति नरोत्तमः ।
विक्रान्तः सत्यवाक्चैव राजा पृथ्व्यां भविष्यति॥८॥
युधिष्ठिर इति ख्यातःपाण्डोः प्रथमजः सुतः ।
भाविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥ ९ ॥
यशसा तेजसा चैव व्रतेन च समन्वितः ।
धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत्॥ १० ॥
प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु ।
ततस्तथोक्ता भार्या तु वायुमेवाऽऽजुहाव सा ॥ ११ ॥
ततस्तामागतो वायुर्मृगारूढो महाबलः ।
किं ते कुन्ति ददाम्यद्य ब्रूहि यत्ते हृदि स्थितम्॥१२॥
सा सलज्जा विहस्याऽऽह पुत्रं देहि सुरोत्तम ।

अनन्तर सुन्दरी कुन्तीने योगीका स्वरूप लिये हुए धर्मसे मिलकर सर्वजीवों का हित करनेवाला पुत्र प्राप्त किया। इसके पश्चात् कार्तिक महीनेकी अति प्रशंसित पूर्णा तिथि अर्थात् शुक्ला पञ्चमी की चन्द्रयुक्त ज्येष्ठा नक्षत्रमें अभिजित नामक आठवें मुहूर्तमें दिन दोपहर के समय कुन्तीने अति यशवन्त एक श्रेष्ठ पुत्र प्रसव किया। उस पुत्रके जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई, कि पाण्डुका यह पहिला पुत्र धर्मशील मनुष्योंमें श्रेष्ठ,विक्रमी, नरोंमें उत्तम सत्य कहनेवाला,भूमण्डलका एकही अधिकारी,तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध यशवन्त,तेजवन्त व्रतशील और युधिष्ठिर नामसे प्रसिद्ध होगा। (५—१०)

पाण्डु वह धार्मिक पुत्र पाकर फिर कुन्तीसे बोले कि पण्डित लोग क्षत्रिय को बलमें श्रेष्ठ कहते हैं, सो तुम एक बलमें प्रधान हो ऐसे पुत्रकी प्रार्थना करो। अनन्तर कुन्तीने पति की यह बात सुनकर पवनदेवको बुलाया। आगे महाबली पवनदेव मृग पर चढके उसके पास आये और बोले, कि हे कुन्ति तुम्हें क्या दूं? तुम्हारे हृदयमें जो इच्छा हो, सो कहो। कुन्ती लज्जासे मुंह नीचा-कर कुछ हंस कर बोलीं, कि हे देवोत्तम!

बलवन्तं महाकायं सर्वदर्पप्रभञ्जनम् ॥ १३ ॥
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाऽशरीरिणी ॥ १४ ॥
सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत।
इदमत्यद्भुतं चाऽऽसीज्जातमात्रे वृकोदरे ॥ १५ ॥
यदङ्कात्पतितो मातुः शिलां गात्रैरचूर्णयत्।
कुन्ती व्याघ्रभयोद्विग्ना सहसोत्पतिता किल॥ १६ ॥
नाऽन्वबुध्यत संसुप्तमुत्सङ्गे स्वे वृकोदरम् ।
ततः स वज्रसंघातः कुमारो न्यपतद्गिरौ ॥ १७ ॥
पतता तेन शतधा शिला गात्रैर्विचूर्णिता ।
तां शिलां चूर्णितां दृष्ट्वा पाण्डुर्विस्मयमागतः॥ १८॥
यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम ।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ॥ १९ ॥
जाते वृकोदरे पाण्डुरिदं भूयोऽन्वचिन्तयत्।
कथं नु मे वरः पुत्रो लोकश्रेष्ठो भवेदिति॥ २० ॥
दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं संप्रतिष्ठितः ।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥ २१ ॥

मुझको बडे शरीरधारी महाबली, सर्व अहङ्कारको हरनेहारा एक पुत्र दीजिये। अनन्तर पवनदेवसे महाभुज भीमपराक्रमी भीमका जन्म हुआ। हे भारत! उस महाबली पुत्रके जन्म लेतेही आकाशवाणी हुई, कि 'यह जन्म लिया हुआ बालक सम्पूर्ण बलियोंमे श्रेष्ठ होगा। (१०—१५)

वृकोदर के जन्म लेतेही यह एक आश्चर्य घटना हुई, कि उसने माताकी गोदमे गिरकर देहसे पत्थर तोड डाला। कुन्ती बाघके भयसे भय खाकर एकायक गिर पडी; यह समझ नहीं सकी, कि उसकी गोदमे वृकोदर सोता था, सो वह वज्र समान शरीरधारी कुमार पहाड पर गिर पडा, उसकी देहकी चोटसे पत्थर सैकडों भागोंमे चूर होगया। उस आश्चर्य लीलाको देखकर पाण्डुने अचरज माना। हे भरतश्रेष्ठ! जिस दिन भीमने जन्म लिया, उसी दिन पृथ्वीनाथ दुर्योधनका जन्म हुआ। (१५—१९)

वृकोदरका जन्म होनेपर पाण्डु फिर सोचने लगे, कि क्योंकर मेरे एक प्रधान

इन्द्रो हि राजा देवानां प्रधान इति नः श्रुतम् ।
अप्रमेयबलोत्साहो वीर्यवानमितद्युतिः ॥ २२ ॥
तं तोषयित्वा तपसा पुत्रं लप्स्ये महाबलम् ।
यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान्भविष्यति ॥ २३ ॥
अमानुषान्मानुषांश्च संग्रामे स हनिष्यति ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्तप्स्ये महत्तपः ॥ २४ ॥
ततः पाण्डुर्महाराजो मन्त्रयित्वा महर्षिभिः ।
दिदेश कुन्त्याः कौरव्यो व्रतं संवत्सरं शुभम् ॥ २५ ॥
आत्मना च महाबाहुरेकपादस्थितोऽभवत् ।
उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना ॥ २६ ॥
आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् ।
सूर्येण सह धर्मात्मा पर्यतप्यत भारत ॥ २७ ॥
तं तु कालेन महता वासवः प्रत्यपद्यत ।
शक्र उवाच— पुत्रं तव प्रदास्यामि त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ २८ ॥
ब्राह्मणानां गवां चैव सुहृदां चार्थसाधकम् ।
दुर्हृदां शोकजननं सर्वबान्धवनन्दनम् ॥ २९ ॥

लोकश्रेष्ठ पुत्र पैदा होगा। यह भूमण्डल दैव और पुरुषकारसे पूरा प्रतिष्ठित है; उनमेंसे दैव कालके अनुसार विधि वश प्राप्त होता है। सुनता हूं, कि इन्द्र देवोंके राजा तथा प्रधान हैं; वह अपरिमित बल और उत्साहयुक्त हैं, और उनका वीर्य तथा प्रकाश भी अपरिमित है। तपस्यासे उनको प्रसन्न कर सकूं तो महाबली पुत्र पा सकूंगा; वह मुझको जो पुत्र देंगे, वह अवश्यही सबोंसे श्रेष्ठ होगा और रणस्थलमें मर्त्य लोक तथा अन्तर्लोक वालोंको हरा सकेगा, सो मैं कर्म, मन और वाक्यसे कठोर तप करूंगा। (२०—२४)

अनन्तर कौरवनन्दन महाराज पाण्डुने, महर्षियोंसे परामर्श कर कुन्तीको यह आज्ञा दी, कि वर्षभरमें पूर्ण होवे, ऐसा कोई शुभ व्रत करो और आपभी उस स्वर्गनाथकी उपासनाकी इच्छासे परम समाधिमें कठोर तपस्याको आश्रयकर एक पावसे खडे हो सूर्यकी तृपसे उदयके कालसे अस्तकालतक तपने लगे। बहुतकाल बीतने पर देवराज उनके पास आपहुंचे और बोले, कि मैं तुमको तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ पुत्र दूंगा, वह पुत्र गौ ब्राह्मण और मित्रोंका

सुतं तेऽग्र्यं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम्।
इत्युक्तः कौरवो राजा वासवेन महात्मना ॥ ३० ॥
उवाच कुन्तीं धर्मात्मा देवराजवचः स्मरन् ।
उदर्कस्तव कल्याणि तुष्टो देवगणेश्वरः ॥ ३१ ॥
दातुमिच्छति ते पुत्रं यथा संकल्पितं त्वया ।
अतिमानुषकर्माणं यशस्विनमरिन्दमम् ॥ ३२ ॥
नीतिमन्तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
दुराधर्षं क्रियावन्तमतीवाऽद्भुतदर्शनम् ॥ ३३ ॥
पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ।
लब्धः प्रसादो देवेन्द्रात्तमाह्वय शुचिस्मिते ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाऽऽजगाम देवेन्द्रो जनयामास चाऽर्जुनम्॥३५ ॥
जातमात्रे कुमारे तु वागुवाचाऽशरीरिणी ।
महागम्भीरनिर्घोषा नभो नादयती तदा ॥ ३६ ॥
शृण्वतां सर्वभूतानां तेषां चाऽऽश्रमवासिनाम्।
कुन्तीमाभाष्य विस्पष्टमुवाचेदं शुचिस्मिताम् ३७

हित करनेवाला, अमित्रोंको शोक पहुंचाने हारा, सब बान्धवोंका आनन्ददायी और सम्पूर्ण शत्रुकुलका नाश करनेवाला होगा। (२५—३०)

महात्मा इन्द्रके यह बात कहनेपर, धर्मात्मा कौरव देवराज की उस बातको स्मरण कर कुन्तीसे बोले, कि ए कल्याणि! तुम्हारा कर्म सफल हुआ है। देवनाथ प्रसन्न होकर तुम्हें सङ्कल्पित पुत्रको देना चाहते हैं। ए सुन्दरी ! अब एक और यशस्वी शत्रु दमनेहारा, नीतियुक्त महात्मा, सूर्य समान तेजपूर्ण, न हारनेवाला, क्रियावान देखनेमें अद्भुत क्षत्रिय-तेजसे पूरित ऐसे कीर्त्तियुक्त जैसा मनुष्यों में दीख नहीं पडता, पुत्र उत्पन्न करो। ए सुन्दरी ! मैने देवराजको प्रसन्न कर लिया है, तुम उनको बुलाओ। (३०-३४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यशस्विनी कुन्ती ने यह सुनकर इन्द्रको बुलाया। अनन्तर देवराजने आकर अर्जुनको जन्म दिया। कुमारके जन्म लेते ही बडे गंभीर शब्दसे आकाश गूंजकर आकाशवाणी हुई। उससे सम्पूर्ण आश्रम में रहनेवाले प्राणियोंके कानोंमे सुन्दरी कुन्तीको पुकार सहित यह सुन पडा, कि ए कुन्ति ! कार्त्तवीर्य सदृश वीर्यवान,

कार्तवीर्यसमः कुन्ति शिवितुल्यपराक्रमः ।
एष शक्र इवाऽजय्यो यशस्ते प्रथयिष्यति ॥ ३८ ॥
अदित्या विष्णुना प्रीतिर्यथाऽभूदभिवर्धिता ।
तथा विष्णुसमः प्रीतिं वर्धयिष्यति तेऽर्जुनः ॥ ३९ ॥
एष मद्रान्वशे कृत्वा कुरूंश्च सह सोमकैः ।
चेदिकाशिकरूषांश्च कुरुलक्ष्मीं वहिष्यति ॥ ४० ॥
एतस्य भुजवीर्येण खाण्डवे हव्यवाहनः ।
मेदसा सर्वभूतानां तृप्तिं यास्यति वै पराम् ॥ ४१ ॥
ग्रामणीश्च महीपालानेष जित्वा महाबलः ।
भ्रातृभिः सहितो वीरस्त्रीन्मेधानाहरिष्यति ॥ ४२ ॥
जामदग्न्यसमः कुन्ति विष्णुतुल्यपराक्रमः ।
एष वीर्यवतां श्रेष्ठो भविष्यति महायशाः ॥ ४३ ॥
एष युद्धे महादेवं तोषयिष्यति शङ्करम् ।
अस्त्रं पाशुपतं नाम तस्मात्तुष्टादवाप्स्यति ॥ ४४ ॥
निवातकवचा नाम दैत्या विबुधविद्विषः ।
शक्राज्ञया महाबाहुस्तान्वधिष्यति ते सुतः ॥ ४५ ॥
तथा दिव्यानि चाऽस्त्राणि निखिलेनाऽऽहरिष्यति ।
विप्रनष्टां श्रियं चाऽयमाहर्ता पुरुषर्षभः ॥ ४६ ॥

शिवि समान पराक्रमी, इन्द्रवत् अजीत यह कुमार सर्वत्र तुम्हारा यश फैलावेगा। उपेन्द्रसे जिस प्रकार अदितिकी प्रीति बढी थी, वैसेही उपेन्द्रवत् यह पुत्र तुम्हारी प्रीति और भी बढावेगा। यह कुमार मद्र, कुरु, सोमक, चेदि, काशी, करूष आदि देशोंको वशमें लाकर कौरव वंशकी राजलक्ष्मी धारण करेगा। और इस पुत्रके भुजवीर्यसे अग्निदेव खाण्डवप्रस्थमें सब भूतोंके मेदसे बडा सन्तोष प्राप्त करेंगे (३८–४१)

यह महाबली वीर पुरुष भाइयोंके सहित सम्पूर्ण महीपालोंको जीतकर तीन बार अश्वमेध यज्ञ करेगा। हे कुन्ति! यह अतिशयवन्त पुत्र जामदग्न्य और विष्णु समान पराक्रमी और वीर्यवान जनोंमें श्रेष्ठ होगा। यह युद्धमें महादेव शङ्करको प्रसन्न कर उनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करेगा और देवराजकी आज्ञासे देवोंसे द्वेष करनेवाले निवातकवच नामक दैत्योंको वध करेगा। यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जन, सम्पूर्ण दिव्यास्त्र लेकर फिर नष्ट हुई राजलक्ष्मीको फिर लौटावेगा। (४२-४६)

एतामत्यद्भुतां वाचं कुन्ती शुश्राव सूतके ।
वाचमुच्चरितामुच्चैस्तां निशम्य तपस्विनाम् ॥ ४७ ॥
बभूव परमो हर्षः शतशृङ्गनिवासिनाम् ।
तथा देवनिकायानां सेन्द्राणां च दिवौकसाम् ॥४८॥
आकाशे दुन्दुभीनां च बभूव तुमुलस्वनः ।
उदतिष्ठन्महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः ॥ ४९ ॥
समवेत्य च देवानां गणाः पार्थमपूजयन् ।
काद्रवेया वैनतेया गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥
प्रजानां पतयः सर्वे सप्त चैव महर्षयः ॥ ५० ॥
भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः।
यश्चोदितो भास्करेऽभूत्प्रनष्टे सोऽप्यत्राऽत्रिर्भगवानाजगाम ॥ ५१ ॥
मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
दक्षः प्रजापतिश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५२ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधराः सर्वालङ्कारभूषिताः ।
उपगायन्ति बीभत्सुं नृत्यन्त्यप्सरसां गणाः ॥५३ ॥
तथा महर्षयश्चाऽपि जेपुस्तत्र समन्ततः ।
गन्धर्वैः सहितः श्रीमान्प्रागायत च तुम्बुरुः ॥ ५४ ॥

कुन्तीने पुत्रके विषयमें यह आश्चर्य वाणी सुनी। बडे वेगसे उचारी हुई उस वाणीको सुनकर शतशृङ्ग पर विराजते हुए, तपस्वियोंको बडा आनन्द हुआ और विमानपर आरूढ देवगण भी बडे प्रसन्न हुए। आकाशमें बडे घोर कोलाहलसे नगाडे बजने लगे, घोर शब्द होने लगा, विना रोक टोक फूल वर्षने लगे और सब देव मिलकर पार्थ की पूजा करने लगे। कद्रु और विनता के पुत्रगण, गन्धर्वगण, अप्सरागण और प्रजापतिगण, तथा भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और सूर्यके नष्टहोने पर जो उदित हुए थे, वह भगवान् अत्रि यह सात महर्षि वहां आये। (४७--५१)

मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रजापति दक्ष, गन्धर्व और अप्सरागण यह भी वहां आये। अप्सरावृन्द दिव्यमाला और दिव्यवस्त्र पहिनकर सर्व आभूषणोंसे बन ठन कर अर्जुनकी प्रशंसा के गीत गाने और नाचने लगी। चारो ओर महर्षिलोग स्वस्त्ययनके मन्त्र जपने लगे; श्रीमान् तुम्बरुने गन्धर्वोके साथ गीत आरम्भ किया। हे नरेश! भीमसेन,

भीमसेनोग्रसेनौ च ऊर्णायुरनघस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चास्तथाऽष्टमः ॥ ५५ ॥
युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्चित्ररथस्तथा ।
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः ॥ ५६ ॥
कलिः पञ्चदशश्चैव नारदश्चाऽत्र षोडशः ।
ऋत्वा बृहत्वा बृहकः करालश्च महामनाः ॥ ५७ ॥
ब्रह्मचारी बहुगुणः सुवर्णश्चेति विश्रुतः ।
विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रश्च शरुस्तथा ॥ ५८ ॥
गीतमाधुर्यसंपन्नौ विख्यातौ च हाहा हुहूः ।
इत्येते देवगन्धर्वा जगुस्तत्र नराधिप ॥ ५९ ॥
तथैवाऽप्सरसो हृष्टाः सर्वालङ्कारभूषिताः ।
ननृतुर्वै महाभागा जगुश्चाऽऽयतलोचनाः ॥ ६० ॥
अनूचानाऽनवद्या च गुणमुख्या गुणावरा ।
अद्रिका च तथा सोमा मिश्रकेशी त्वलम्बुषा ॥ ६१ ॥
मरीचिः शुचिका चैव विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ।
अम्बिका लक्षणा क्षेमा देवी रम्भा मनोरमा ॥ ६२ ॥
असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया च वपुस्तथा ।
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी ॥ ६३ ॥
काम्या शारद्वती चैव ननृतुस्तत्र सङ्घशः ।
मेनका सहजन्या च कर्णिका पुञ्जिकस्थला ॥ ६४ ॥

उग्रसेन, ऊर्णायु, अनघ, गोपति धृतराष्ट्र सूर्यवर्चा, युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि चित्ररथ, शालिशिरा पर्जन्य, कलि नारद ऋत्वा, बृहत्वा बृहक, कराल महामना, ब्रह्मचारी, बहुगुण, विख्यात सुवर्ण, विश्वावसु, भुमन्यु, सुचन्द्र, शरु और ललित गीत गाने वाले प्रख्यात हाहा और हूहू यह देव और गन्धर्व गीत गाने लगे। (५५-५९)

प्रशस्तलोचना, महाभागा अप्सरायें सब आभूषणों से सजधज कर प्रसन्न चित्त से नाचने और गाने लगीं। अनूचाना, अनवद्या, गुणमुख्या गुणावरा, अद्रिका सोमा मिश्रकेशी अलम्बुषा, मरीचि शुचिका विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा अम्बिका, लक्षणा, क्षेमा देवी रम्भा, मनोरमा, असिता सुबाहु, सुप्रिया, वपु पुण्डरीका सुगन्धा सुरसा, प्रमाथिनी काम्या

ऋतुस्थला घृताची च विश्वाची पूर्वचित्त्यपि।
उम्लोचेति च विख्याता प्रम्लोचेति च ता दश॥६५॥
उर्वश्येकादशी तासां जगुश्चाऽऽयतलोचनाः॥ ६६ ॥
धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा।
इन्द्रो विवस्वान्पूषा च त्वष्टा च सविता तथा ॥६७॥
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः।
महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः॥ ६८॥
मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तप ॥ ६९ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पते ।
स्थाणुर्भगश्च भगवान्रुद्रास्तत्राऽवतस्थिरे ॥ ७० ॥
अश्विनौ वसवश्चाऽष्टौ मरुतश्च महाबलाः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्यास्तत्राऽऽसन्परिसंस्थिताः॥७१॥
कर्कोटकोऽथ सर्पश्च वासुकिश्च भुजङ्गमः ।
कच्छपश्चाऽथ कुण्डश्च तक्षकश्च महोरगः ॥ ७२ ॥
आययुस्तपसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः।
एते चाऽन्ये च बहवस्तत्र नागा व्यवस्थिताः॥ ७३ ॥

और शरद्वती यह सब अप्सरायें जुट बांध नाचने लगीं। (६०—६४)

और मेनका, सहजन्या, कर्णिका, पुंजिकस्थला, ऋतुस्थला, घृताची विश्वाची, पूर्वचित्ती, उम्लोचा, प्रम्लोचा, उर्वशी, और विशालनेत्रा यह ग्यारह स्वर्गकी वेश्या एकत्र होकर गीत गाने लगीं। धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान, पूषा, त्वष्टा सविता और विष्णु यह बारह आदित्य और पर्जन्य तथा पावकगण आकाशमें विराजते हुए पाण्डुपुत्र की महिमा बढाने लगे। (६५—६८)

हे शत्रुनाशी पृथ्वीनाथ! मृग-व्याघ्र, सर्प; अति यशवन्त निर्ऋति, अजकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु और भगवान भग यह ग्यारह रुद्र वहां आये। दोनो अश्विनीकुमार आठो वसु, महाबली मरुद्गण, विश्वदेवगण और साध्यगण आनकर वहां विराजने लगे। कर्कोटक, वासुकी, कच्छप, कुण्ड और महोरग तक्षक, वह सब तपयुक्त बडे क्रोधी महाबली सर्प और दूसरे बहुत नाग वहां आपहुंचे। तार्क्ष्य,

तार्क्ष्यश्चाऽरिष्टनेमिश्च गरुडश्चाऽसितध्वजः ।
अरुणश्चाऽऽरुणिश्चैव वैनतेया व्यवस्थिताः ॥ ७४ ॥
तांश्च देवगणान्सर्वास्तपःसिद्धा महर्षयः ।
विमानगिर्यग्रगतान्ददृशुर्नेतरे जनाः ॥ ७५ ॥
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः ।
अधिकां स्म ततो वृत्तिमवर्तन्पाण्डवान्प्रति ॥७६॥
पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः ।
वक्तुमैच्छद्धर्मपत्नीं कुन्ती त्वेनमथाऽब्रवीत् ॥ ७७ ॥
नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत ।
अतः परं स्वैरिणी स्याद्बन्धकी पञ्चमे भवेत् ॥७८॥
स त्वं विद्वन्धर्ममिममधिगम्य कथं नु माम् ।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ॥ ७९ ॥ (४९५९)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि
पाण्डवोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

वैशम्पायन उवाच—कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्ट्रात्मजेषु च ।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
न मेऽस्ति त्वयि संतापो विगुणेऽपि परन्तप ।

अरिष्टनेमि, गरुड, असितध्वज, अरुण और आरुणि यह सब विनताके पुत्रभी वहां आ गये। (६९–७४)

विमानों पर चढे और पर्वत की चोटीपर टिके देवों को तपसे सिद्ध महर्षि लोग देखने लगे, किसी दूसरे ने नहीं देखा। मुनियोंने वह सब अति आश्चर्य लीला देखकर अचरज माना और भी श्रद्धा करने लगे. अति यशवन्त पाण्डुने पुत्रके लोभसे फिर धर्मपत्नी कुन्तीको नियोग करना चाहा। उसपर कुन्ती उनसे बोली. कि धर्म जाननेवाले लोग आपत्कालमें भी चौथे प्रसवकी प्रशंसा नहीं करते क्योंकि चौथे पुरुषसे नारि स्वैरिणी होती है और पाचवे पुरुषसे मिलने से वेश्या होती है। हे विद्वन्! आप यह धर्म जानने पर भी क्यों बावले के समान उसको लांघ कर फिर सन्तान के लिये मुझसे कहते है? (७५—७९) [४९५९]

आदिपर्वमें एकसौ तेईसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ चौवीसवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर कुन्ती और गान्धारीके पुत्रोंके पैदा होने पर माद्री निरालेमें पाण्डुसे बोली. कि

नाऽवरत्वे वराहांयाः स्थित्वा चाऽनघ नित्यदा ॥ २ ॥
गान्धार्यांश्चैव नृपते जातं पुत्रशतं तथा ।
श्रुत्वा न मे तथा दुःखमभवत्कुरुनन्दन ॥ ३ ॥
इदं तु मे महद्दुःखं तुल्यतायामपुत्रता ।
दिष्ट्या त्विदानीं भर्तुर्मे कुन्त्यामप्यस्ति सन्ततिः ॥४॥
यदि त्वपत्यसन्तानं कुन्तिराजसुता मयि ।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात्तव चाऽपि हितं भवेत् ॥ ५ ॥
संरम्भो हि सपत्नीत्वाद्वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति ।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥ ६ ॥
पाण्डुरुवाच— ममाऽप्येवं सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते ।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥ ७ ॥
तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम् ।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत् ।
कुलस्य मम सन्तानं लोकस्य च कुरु प्रियम् ॥ ९ ॥

शत्रुनाशिन् ! आपके मुझपर कृपायुक्त न रहनेके कारण मुझे कोई विशेष दुःख नहीं है, हे अनघ! कुन्तीसे श्रेष्ठ होकर सदा अश्रेष्ठ मुझे बनी रहने परभी दुःख नहीं है, हे नरनाथ कुरुनन्दन! गान्धारीके सौ पुत्र भये सुनकरके भी मुझे कोई बडा क्लेश नहीं हुआ है, पर इसका मुझे बडा दुःख है, कि हम दोनों सौत समान हैं, पर तोभी मेरे सन्तान नहीं हुई, भाग्यवश कुन्तीसे आपके सन्तान हुए हैं, इस समय यदि कुन्तिराजपुत्री मेरे सन्तान होनेके उपाय कर दें, तो मुझपर बडी दया होवे और उससे आपकाभी हित हो सकता है। कुन्तिपुत्री मेरी सौत है, सो उससे स्वयं कहनेको अभिमान होता है, यदि आप मुझ पर प्रसन्न होवे, तो आपही उनको आज्ञा दीजिये। पाण्डु बोले, कि ए माद्रि ! इस विषयमें मैं सदा मनही मनमें आलोचना किया करता हूं, पर यह तुम्हारा इष्ट है, वा नहीं यही जानने की अपेक्षामें तुमसे कहनेका साहस नहीं हुआ था : अब तुम्हारा मत जान लिया, सो उस विषयमें प्रयत्नभी करूंगा, जान पडता है, कि मेरे कहनेसे कुन्ती मान लेगी। (२—८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर पाण्डु फिर निरालेमें कुन्तीसे बोले, कि ए कल्याणि ! मेरी प्रीति के लिये लोकों

मम चाऽपिण्डनाशाय पूर्वेषामपि चाऽऽत्मनः।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम्॥ १० ॥
यशसोऽर्थाय चैव त्वं कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
प्राप्याऽधिपत्यमिन्द्रेण यज्ञैरिष्टं यशोर्थिना ॥ ११ ॥
तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम्।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भाविनि॥ १२ ॥
तथा राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणाश्च तपोधनाः ।
चक्रुरुच्चावचं कर्म यशसोऽर्थाय दुष्करम् ॥ १३ ॥
सा त्वं माद्री प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते ।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वाऽब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम् ।
तस्मात्ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥ १५ ॥
ततो माद्री विचार्यैव जगाम मनसाऽश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ॥ १६ ॥
नकुलं सहदेवं च रूपेणाऽप्रतिमौ भुवि ।
तथैव तावपि यमौ वायुवाचाऽशरीरिणी ॥ १७ ॥
सत्त्वरूपगुणोपेतौ भवतोऽत्यश्विनाविति ।

के प्रिय कल्याणयुक्त ऐसा काम करो. कि जिससे मेरा वंश न उखडे और मेरे पितरोंके और तुम्हारेभी पिण्डलोप होने की संभावना न रहे । ऐ भामिनि ! तुम यशके लिये इस कठिन कार्यमें हाथ डालो देखो. देवोंके अधिकारी होने परभी केवल यशके लिये देवराजने यज्ञ किया था। मन्त्रजाननेवाले ब्राह्मणलोग यशहीके लिये कठोर तप कर कर गुरुकी उपासना किया करते हैं और राजर्षि तथा तपोधन ब्राह्मण लोगोंने केवल यशहीके लिये नाना कठिन कर्म किये हैं. इसलिये हे अनिन्दा वर्जित प्यारी ! तुम सन्तानरूप बेडेसे माद्रीका उद्धार करो । उसको पुत्रवती कर परम कीर्ति लो। (९-१४)

कुन्ती यह सुनकर माद्रीसे बोली. कि तुम एकबार किसी देव का स्मरण करो. इसमें सन्देह नहीं. कि उनसे तुम्हारे उनके सदृश पुत्र होगा । माद्रीने मनही मनमें विचार कर दोनों अश्विनी कुमारोंको स्मरण किया। दोनों अश्विनी कुमारोंने वहां आकर नकुल और सहदेव नामक अनुपम रूपवान दो यमज पुत्रोंको जन्म दिया। तब आकाशवाणी हुई. कि

भ्राजमानस्तेजसाऽत्यर्थं रूपद्रविणसम्पदा ॥ १८ ॥
नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाऽऽशीर्भिर्विशाम्पते १९॥
ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥ २० ॥
पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चाऽपरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥ २१ ॥
अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव ॥ २२ ॥
महासत्त्वा महावीर्या महाबलपराक्रमाः ।
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान्महौजसः ॥ २३ ॥
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ।
ऋषीणामपि सर्वेषां शतशृङ्गनिवासिनाम् ॥ २४ ॥
प्रिया बभूवुस्तासां च तथैव मुनियोषिताम् ।
कुन्तीमथ पुनः पाण्डुर्माद्र्यर्थे समचोदयत् ॥ २५ ॥
तमुवाच पृथा राजन्रहस्युक्ता तदा सती ।

"मत्यरूपी गुणयुक्त यह दो कुमार रूप-संपदमे दोनों अश्विनीकुमारोंमेभी अधिक प्रकाशित हुए है"। (१५-१८)

हे पृथ्वीनाथ ! अनन्तर शतशृंग पर रहनेवाले ब्राह्मणोंने कुमारोंके पुत्रोंमे आश्चर्य कर्म और भक्ति देखकर प्रसन्न चित्तसे अशीस देके नाम रख दिये । उन्होने कुन्तीके पुत्रोंमें बडेका नाम युधिष्ठिर, मझलेका नाम भीमसेन, तीसरेका नाम अर्जुन और माद्रीके दो पुत्रोंमेसे पहिले जन्म लिये हुए पुत्रका नाम नकुल और दूसरेका नाम सहदेव रखा । कुरु वंशमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्रगण बालपनमें महाबली, पराक्रमी, महासत्त्वयुक्त और बडे वीर्यवन्त हुए । उनकी आयु जब वर्ष भरकी हुई, तब वे पांच वर्ष की अवस्थावाले जान पडने लगे। (१९—२२)

नरनाथ पाण्डु उन पुत्रोंको देव समान और बडे तेजस्वी देखकर बडे आनन्दित हुए। पाण्डवगण शतशृङ्ग पर रहनेवाले मुनियोंके और उनकी स्त्रियोंकेभी प्यारे बने। अनन्तर पाण्डुने फिर निरालेमे माद्रीके लिये कुन्तीसे विनय की, तब कुन्तीने उत्तर दिया, कि मेरे एकबार कहने से माद्रीने दो पुत्र लाभ किया है, इससे मैं ठगी गयी हूं, सो अब उससे

उक्ता सकृद्द्वन्द्वमेषा लेभे तेनाऽस्मि वञ्चिता ॥ २६ ॥
बिभेम्यस्याः परिभवात्कुस्त्रीणां गतिरीदृशी ।
नाऽज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ॥ २७ ॥
तस्मान्नाऽहं नियोक्तव्या त्वयैषोऽस्तु वरो मम ।
एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः ॥ २८ ॥
संभूताः कीर्तिमन्तश्च कुरुवंशविवर्धनाः ।
शुभलक्षणसंपन्नाः सोमवत्प्रियदर्शनाः ॥ २९ ॥
सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः ।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥ ३० ॥
विवर्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ॥ ३१ ॥
ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाऽप्स्विव नीरजाः ॥ ३२ ॥ (४९९१)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
पाण्डवोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

वैशम्पायन उवाच—दर्शनीयांस्ततः पुत्रान्पाण्डुः पञ्च महावने ।

हारनेका भय खाती हूं क्योंकि बुरी नारियोंका स्वभाव ऐसाही होता है। मैं मूर्ख हूं, पहिले नहीं जानती थी, कि एकही बार दो देवोंको बुलानेसे दो पुत्र पैदा होते हैं, सो आपसे यह वर मांगती हूं, कि आप इस विषयमें मुझे आज्ञा न कीजिये। २२-२८

महाराज! इस प्रकारसे पाण्डुके देवोंके दिये हुए महाबली कीर्तिशाली, कुरुवंश बढानेवाले पांच पुत्र उत्पन्न हुए थे। वे मानवोंमें श्रेष्ठ पाण्डवलोग शुभलक्षणयुक्त, चन्द्रमाके समान देखनेमें प्रिय बडे चापधारी, सिंह समान चालवाले, सिंहसत्वयुक्त, सिंहकीनाई आंखधारी, सिंहकी भांति महा विक्रमी, सिंहकी भांति गर्दनयुक्त, सिंहके विक्रमसे पवित्र स्थानमें जाने वाले और देवोंके समान विक्रमयुक्त होकर दिन पर दिन बढने लगे। पवित्र हिमालयपर एकत्रित महर्षि लोगोंने उनको इस प्रकार बढते देखकर अचरज माना था। जिस प्रकार जलमें थोडे कालमें पद्मवन खिल उठता है, वैसे ही वे एक सौ पांच कौरव स्वल्प कालमें ही बढ उठे। २८—३२ [४९९१]

आदिपर्वमें एकसौ पच्चीसवां अध्याय समाप्त।

तान्पश्यन्पर्वते रम्ये स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १ ॥
सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे
भूतसंमोहने राजा सभार्यो व्यचरद्वनम् ॥ २ ॥
पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्पसमृद्धिभिः ॥ ३ ॥
जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम्।
पाण्डोर्वनं तत्संप्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥ ४ ॥
प्रहृष्टमनसं तत्र विचरन्तं यथाऽमरम् ।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥ ५ ॥
समीक्ष्यमाणां स तु तां वयःस्थां तनुवाससम्।
तस्य कामः प्रववृते गहनेऽग्निरिवोद्गतः ॥ ६ ॥
रहस्येकां तु तां दृष्ट्वा राजा राजीवलोचनाम् ।
शशाक न नियन्तुं तं कामं कामवशीकृतः ॥ ७ ॥
तत एनां बलाद्राजा निजग्राह रहोगताम् ।

आदिपर्वमें एकसौ पचीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनतर पाण्डु देखनेके योग्य उन पांच पुत्रोंको देखकर केवल अपने भुजबलके आश्रयसे उस पहाडपर भारी वनमें सुखसे काल काटने लगे। एक समय प्राणियोंके मोहनेवाले वसंतके आने पर नाना फूलोंसे सजे सजाये वनमें राजा पाण्डु स्त्रीके साथ घूमने लगे। देखा, कि चारों ओर गूंजनेवाले भंवरोंसे छपे हुए पलाश, तिल,आम, चम्पा, पारिभद्रक, कर्णिकार, केशर, अतिमुक्त, अशोक, कुरुवक, खिले मान्दार वन और दूसरे पौधे नाना फल फूलोंसे सजे हैं; कोयल हर घडी कुलहलाय रही है; मधुमक्खी भनभनाती हुई, गीत गारही है; और नाना स्थानोंके ताल खिले पद्मवनोंसे सुशोभित हुए हैं। १—४

चित्तको मत्त करनेवाले उन वनोंको देखते हुए राजा पाण्डुके हृदयपर कामदेवका अधिकार प्रगट हुआ। अच्छा वस्त्र पहिरी हुई माद्री अकेली प्रफुल्लितचित्त और देवता समान घूमते हुए उस राजाके पीछे पीछे चलने लगी। तब पतला वस्त्र पहिरे हुई युवती माद्रीको देखकर राजाके हृदयमें इस प्रकार मदनकी आग सुलग उठी, कि जैसे वनमें आग बल उठती है। वह निरालेमें उस पद्मनेत्रा बालाको देखतेही एकबारही कामके वशमें होगये, किसी प्रकार कामको रोक नहीं सके। (५—७)

वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥ ८ ॥
स तु कामपरीतात्मा तं शापं नान्वबुध्यत ।
माद्रीं मैथुनधर्मेण सोऽन्वगच्छद्बलादिव ॥ ९ ॥
जीवितान्ताय कौरव्य मन्मथस्य वशंगतः ।
शापजं भयमुत्सृज्य विधिना संप्रचोदितः ॥ १० ॥
तस्य कामात्मनो बुद्धिः साक्षात्कालेन मोहिता ।
संप्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रनष्टा सह चेतसा ॥ ११ ॥
स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दन ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥
ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ॥ १३ ॥
सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ॥ १४ ॥
ततो माद्र्यब्रवीद्राजन्नार्ता कुन्तीमिदं वचः ।
एकैव त्वमिहाऽऽगच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवाऽऽधाय दारकान् ।

सो असहाया धर्मपत्नीको बलसे पकड लिया । तब देवी माद्री अपने पूरे बल और शक्तिसे रोकने लगी, पर राजा तब कामसे एकबार ही बावले बने थे, सो प्राणनाशी पूर्व कथित शापके भयको उनके चित्तमन्दिरमें स्थान नहीं जाती रही थी, सो वह परम धार्मिक कुरुनन्दन पाण्डु स्त्रीसे मिलकर कालके धर्ममें नियुक्त हुए । (८—१२)

अनन्तर माद्री चेतना रहित भूपालसे लिपटी रह करके बार बार दुःखसे चिल्लाकर गला फाडने लगी ।

हनाऽहमिति विक्रुश्य सहसैवाऽऽजगाम सा॥ १६॥
दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता॥ १७॥
रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान्।
कथं त्वामत्यतिक्रान्तः शापं जानन्वनौकसः॥ १८॥
ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम्॥ १९॥
कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम्।
तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत॥ २०॥
धन्या त्वमसि बाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा।
दृष्टवत्यसि यद्वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः॥ २१॥

माद्र्युवाच— विलपन्त्या मया देवि वार्यमाणेन चाऽसकृत्।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा॥ २२॥

कुन्त्युवाच — अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम।
अवश्यंभाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय॥२३॥
अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम्।

वहीं छोडकर यह कहके रोती हुई कि "मैं मारी गयी" उसीक्षण वहां आ पहुंची। (१३–१६)

वह माद्रीके साथ पाण्डुको धरतीपर लेटे हुए देखकर शोकसे विह्वल हुई और अति दुःखसे विलपती हुई बोली, कि इस जितेन्द्रिय वीरको मैं सदा बचाती फिरती थी, इन्होंने ऋषिके शापसे ज्ञात रह करकेभी क्योंकर तुझपर आक्रमण किया? री माद्रि! इस भूपालको तुझे बचाना उचित था, वह न करके तूने क्यों इन को निरालेमें लुभाया? यह शापसे भ्रमित होनेके कालमें सदा दुःखी चित्तसे उस शापके सोचमें रहते थे, फिर निरालेमें तुझे पाकर क्योंकर इनके चित्तमें हर्ष आन खडा हुआ? री बाह्लीकि! तू मुझसे धन्य और भाग्यवती है, क्योंकि तूने काममुक्त भूपालका प्रफुल्ल मुख देखा है! (१७—२१)

माद्री बोली, कि ऐ देवि! मैं विलपती हुई, बार बार रोकने लगी, पर राजा शाप हेतु दुर्भाग्यता सफल करनेहीके लिये अपनेको नहीं रोक सके। अनन्तर कुन्ती बोली, कि मैं बडी धर्मपत्नी हूं, प्रधान धर्मफल मुझकोही मिलता है, सो री माद्री! अवश्यमेव होनेवाले विषयमें

उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान्पालय दारकान्॥ २४॥

माद्र्युवाच-- अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम् ।
न हि तृप्ताऽस्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम्॥२५॥
मां चाऽभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद्भरतसत्तमः।
तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने ॥ २६॥
न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम्॥ २७॥
तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत्।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः॥ २८॥
राज्ञः शरीरेण सह ममाऽपीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ॥ २९॥
दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यं न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किंचन॥ ३०॥

वैशम्पायन उवाच--इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम् ।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद्यशस्विनी ॥ ३१॥(७०२२)

इति श्रीमहाभारते शत० वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुचरमे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१२५॥

मुझे मत रोक ; मै परलोकको सिधारे हुए पतिके साथ ही जाऊं; तू इनको छोड कर इन लडकोंको पालना। (२२-२४)

माद्री बोली, कि मैने पतिको पकड रखा है भागने नहीं दिया है, मैंही इनके साथ जाऊंगी, क्योंकि मै काम रससे भली प्रकार तृप्त नहीं हुई हूं; तुम बडी हो सो मुझे आज्ञा दो। यह भरत कुलके प्रदीप मुझसे मिलकरकेही कामसे च्युत हुए है, सो मै यमराज के घरमें क्योंकर इनके उस कामको उखाड डालूंगी? ए आर्ये! ऐसा ज्ञान नहीं पडता है, कि मै जीती रहकर तुम्हारे पुत्रोंको अपने पुत्रोंकी भांति पाल सकूंगी, सो उस हेतु मुझको पापकी आंच लग सकती है; अतएव ए कुन्ति! तुम मेरे इन दोनो पुत्रोंसे अपने पुत्रकी भांति बर्त्ताव करना, यह राजा मेरेही कामना करके परलोकको सिधारे है, सो इनके शरीरसे मेरे इस शरीरको ढांपकर फूंकना। ए आर्ये! मेरे इस प्रिय कार्यके करनेमे असमत मत होना। फिरभी तुम मेरे हित चाहनेवाली होकर लडकों पर ध्यान रखना। इसके अतिरिक्त मै नहीं समझती हूं, कि मुझे और कुछ कहनेको है। (२५-३०)

वैशम्पायनजी बोले, धर्मपत्नी यशस्विनी

वैशम्पायन उवाच—पाण्डोरुपरमं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयाञ्चक्रिरे मिथः ॥ १ ॥

तापसा ऊचुः-- हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन्स्थाने तपस्तप्त्वा तापसाञ्शरणं गतः ॥ २ ॥
स जातमात्रान्पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रदायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ॥ ३ ॥
तस्येमानात्मजान्देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नःस्मृतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच- ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः ।
पाण्डोः पुत्रान्पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम् ॥ ५ ॥
उदारमनसः सिद्धा गमने चक्रिरे मनः ।
भीष्माय पाण्डवान्दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि ॥ ६ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरे ते च तापसाः ॥ ७ ॥
सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला ।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत ॥ ८ ॥

मद्रराजकन्या यह कहकर बिना विलम्ब चिताकी आगमें स्थित पाण्डुके सङ्ग में गयी। (३१) [७०७२]

आदिपर्व में एकसौ पचीसवां अध्याय समाप्त।

आदि पर्वमें एकसौ छब्बीसवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि देवोंकी भांति युक्तिदाता महर्षि तपस्वीगण पाण्डु की मृत्युको देखकर आपसमें कहने लगे, कि अति यशस्वी महात्मा पाण्डुने राज्य को छोडके इस स्थानमें तप करते हुए तपस्वियोंकी शरण ली थी। वह स्त्री और बालकपुत्रोंको इस स्थानमें तुम्हारे पास निधिकी भांति रखकर यहांसे स्वर्ग को पधारे, सो चलो, हम उन महात्मा की स्त्री पुत्र और देहको लेकर उनके राज्यमें जांय, तभी हमारे धर्मकी रक्षा होगी। (१—४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि उदारचित्त सिद्ध और देवसदृश महर्षियोंने आपसमें ऐसी युक्तिकर भीष्म और धृतराष्ट्रके निकट सौंप देनेके लिये पाण्ड-वोंको आगे करके हस्तिनापुरको जाना चाहा। वे उसीक्षण पाण्डुकी स्त्री, पुत्र और दोनों मुर्दों को लेकर पधारे। पुत्र-प्रेमयुक्त कुन्तीने पहिले सदा सुखी रहने पर भी अब निज देशमें जानेके कौतूहलमें

सा त्वदीर्घेण कालेन संप्राप्ता कुरुजाङ्गलम् ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद यशस्विनी ॥ ९ ॥
द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय ।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः॥ १० ॥
तं चारणसहस्राणां मुनीनामागमं तदा ।
श्रुत्वा नागपुरे नृणां विस्मयः समपद्यत ॥ ११ ॥
मुहूर्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः ।
सदारास्तापसान्द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ॥ १२॥
स्त्रीसङ्घाः क्षत्रसङ्घाश्च यानसंघसमास्थिताः।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानां च योषितः॥ १३॥
तथा विट्शूद्रसङ्घानां महान्व्यतिकरोऽभवत्।
न कश्चिदकरोदीर्ष्यामभवन्धर्मबुद्धयः ॥ १४ ॥
तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः
प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम्॥१५ ॥
सा च सत्यवती देवी कौसल्या च यशस्विनी।
राजदारैः परिवृता गान्धारी चापि निर्ययौ ॥१६ ॥
धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधनपुरोगमाः ।

उस दूर पथसे चलनेपर उसको स्वल्प जाना। उस यशस्विनीने स्वल्पकालके बीचहीमें कुरुजाङ्गलमें पहुंचकर नगरके प्रधान द्वारको प्राप्त किया। (५-९)

तब तपस्वीलोग द्वारवानोंसे बोले, कि राजासे हमारे आनेकी बात कहो। द्वारवानने उसीक्षण राजसभामें जाकर वह समाचार सुनाया। हस्तिनापुरमें सहस्रों चारण और मुनियोंके आनेका समाचार सुन पुरवासी प्रजाओंने अचरज माना। अनन्तर सूर्य उगनेके क्षणभर पीछे पुरवासी लोग तपस्वियोंके दर्शनके निमित्त स्त्री पुत्रादिके साथ पहुंचने लगे। यानोंपर चढे स्त्री सहित क्षत्रियगण और ब्राह्मणोंके साथ ब्राह्मणियां चलीं, वैश्य तथा शूद्रोंकीभी बडी भीड लगी। उस समय किसीने किसी पर द्वेष प्रगट नहीं किया, सबोंकी बुद्धि धर्ममार्गमें बनी रही। (१०-१४)

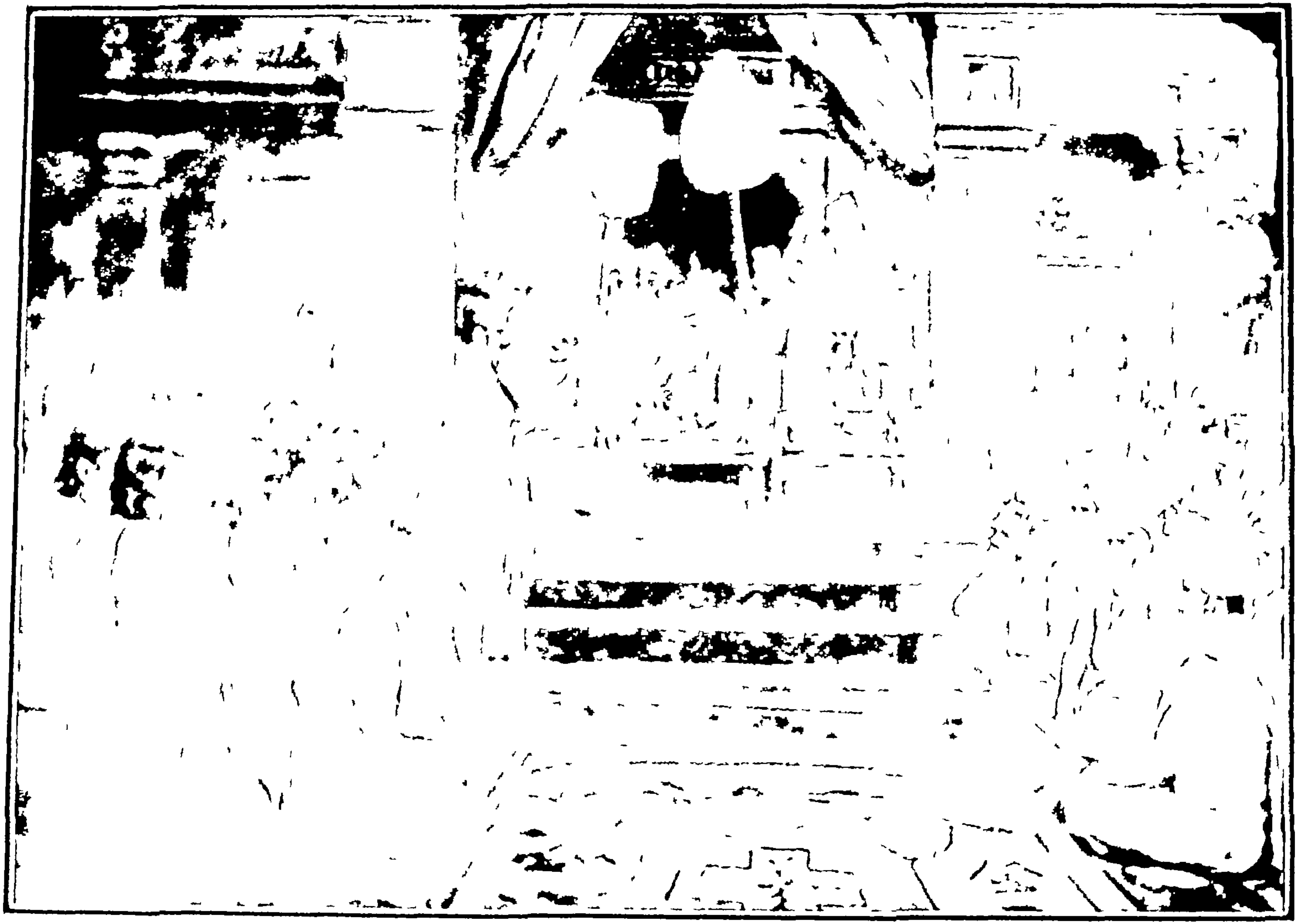
शान्तनुपुत्र भीष्म, बाह्लीक, सोमदत्त, प्रज्ञानेत्र राजर्षि धृतराष्ट्र, विदुर, देवी सत्यवती, यशस्विनी काशीराजकन्या और राजपत्नियोंके साथ गान्धारीभी निकली। दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके सौ पुत्र भी नाना सुन्दर गहनोंसे सजकर

भूषिता भूषणैश्चित्रैः जनसङ्ख्या विनिर्ययुः ॥ १७॥
तान्महर्षिगणान्दृष्ट्वा शिरोभिरभिवाद्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ॥ १८ ॥
तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे पौरजानपदा अपि ॥ १९ ॥
तमकूजमभिज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा ।
पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनाऽर्घ्येण च प्रभो ॥ २० ॥
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत् ॥ २१ ॥
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी ।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ २२ ॥
यः स कौरव्यदायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः ।
कामभोगान्परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥ २३ ॥
ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना ।
साक्षाद्धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥
तथैनं बलिनां श्रेष्ठं तस्य राज्ञो महात्मनः ।
मातरिश्वा ददौ पुत्रं भीमं नाम महाबलम् ॥ २५ ॥
पुरुहूतादयं जज्ञे कुन्त्यामेव धनञ्जयः ।

आये। पुरोहितके साथ कौरवलोग उन सब महर्षियोंको देखकर सिर नायकर प्रणाम करके सामने आ बैठे। उस प्रकार नागरिक और ग्रामवासी सभी भूमिपर स्वागतकर सिर नाय करके प्रणाम पूर्वक उनके सामने जा बैठे (१५–१९)

हे प्रभो ! अनन्तर भीष्म चारों ओर सब लोगोंको चुप चाप देखकर पाद्य और अर्घ्यसे न्यायके अनुसार उन महर्षियोंकी पूजाकर राज्य और राजाका हाल कह सुनाया। इसके पश्चात उनमें सबोंसे बूढे, जटा अजिन धारे हुए, एक महर्षि उठे और साथी ऋषियोंकी सम्मति लेकर यह बात बोले, कि कौरव-राज्यके अर्धांश पाण्डु नामक जो भूपाल कामके भोगको तजकर यहांसे शतशृङ्ग पर गये थे, उनके ब्रह्मचर्य व्रतके लेनेपर किसी दिव्य कारणसे उस शतशृङ्ग पर साक्षात् धर्मसे इस पुत्रका जन्म हुआ है इनका नाम युधिष्ठिर है। (२०—२४)

फिरभी उस महात्मा राजाने पवनसे बलवानोंमें श्रेष्ठ, भीम नामक यह पुत्र प्राप्त किया है! सत्य पराक्रमी इस बालकने देवराजसे कुन्तीके गर्भसे जन्म



ऋषिलोग पाण्डुकुमारोंको राजा धृतराष्ट्रके आधीन कर रहे हैं ।
(म. भा आ अ. १२७।३३)

मनोरंजन प्रेस, बम्बई नं ४

यस्य कीर्तिर्महेष्वासान्सर्वानभिभविष्यति ॥ २६ ॥
यौ तु माद्री महेष्वासावसूत पुरुषोत्तमौ ।
अश्विभ्यां पुरुषव्याघ्राविमौ तावपि पश्यत ॥ २७ ॥
चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना ।
नष्टः पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥ २८ ॥
पुत्राणां जन्म वृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च ।
पश्यन्तः सततं पाण्डोः परां प्रीतिमवाप्स्यथ ॥ २९ ॥
वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च ।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥ ३० ॥
तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम् ।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥ ३१ ॥
सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता ।
तस्यास्तस्य च यत्कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ॥ ३२ ॥
इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः ।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सह मात्रा परन्तपाः ॥ ३३ ॥
प्रेतकार्ये निवृत्ते तु पितृमेधं महायशाः ।
लभतां सर्वधर्मज्ञः पाण्डुः कुरुकुलोद्वहः ॥ ३४ ॥

लिया है, इसकी कीर्त्ति सम्पूर्ण चापधारियोंको पराजय करेगी। अन्य दोनो अश्विनी कुमारोंसे माद्रीने जो दो महा चापधारी पुरुष-श्रेष्ठोंको प्रसव किया है, उन पुरुषव्याघ्रोंकोभी यह देखो। यशस्वी पाण्डुने धार्मिक और वनचारी होकर के प्रायः नष्ट होनेवाले पितामह-वंशका फिर उद्धार किया है। तुम पाण्डुके पुत्रोंका जन्म वृद्धि और वेद पढनकी भली प्रकार आलोचना करके सदा परम प्रीति प्राप्त करोगे। (२५—२९)

पाण्डु साधुओंकी पदवीमें चलकर और पुत्र प्राप्त कर आज सतरह दिन हुए पितृलोकको सिधारे हैं। पतिव्रता माद्री उनको चितापर स्थित और अग्निके मुखमें आहुति चढते देखकर उस अग्निमें प्रवेश करके अपना जीवन त्यागकर पतिके साथ पतिलोकमें गयी है। अब उनके परलोककी जो कुछ क्रिया करनी हो, करो! ३०—३२

उनके यह दो शरीर और माताके साथ यह श्रेष्ठ पुत्रगण क्रियासे युक्त होवें। प्रेतक्रिया हो जानेपर अति यशस्वी सर्व-धर्म जाननेवाले कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ-

वैशम्पायन उवाच--एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान्कुरूणामेव पश्यताम्।
क्षणेनाऽन्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह॥ ३५॥
गन्धर्वनगराकारं तथैवाऽन्तर्हितं पुनः।
ऋषिसिद्धगणान्दृष्ट्वा विस्मयं ते परं ययुः॥ ३६॥ [५०५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि ऋषिसंवादे षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२६॥

धृतराष्ट्र उवाच— पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय।
राजवद्राजसिंहस्य माद्र्याश्चैव विशेषतः॥ १॥
पशून्वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्र्याश्च येभ्यो यावच्च वाञ्छितम्॥२॥
यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र्यास्तथा कुरु।
यथा न वायुर्नाऽऽदित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम्॥ ३॥
न शोच्यः पाण्डुरनघः प्रशस्यः स नराधिपः।
यस्य पञ्च सुता वीरा जाताः सुरसुतोपमाः॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत।

पुरुष पाण्डु पितृ-यज्ञको प्राप्त करें। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तपस्वीलोग यह कहकर उनके सामने ही गुह्यकोंके साथ क्षण भरमें अन्तर्हित हुए। उन ऋषि और सिद्धोंको गन्धर्वके नगरकी भांति अर्थात् भ्रमसे आकाशमें झुण्डादि युक्त जो नगर दीख पडता है, उसके समान उपस्थित होते और फिर अन्तर्हित होते देखकर सबोंने अचरज माना। (३३—३६) [५०५८]

आदि पर्वमें एकसौ छब्बीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ सत्ताईस अध्याय।

धृतराष्ट्र बोले, कि हे विदुर! राज-विधिके अनुसार राजाओंमें सिंहरूपी पाण्डु और माद्री की सम्पूर्ण प्रेतक्रिया भले प्रकार निर्वाह करो। पाण्डु और माद्रीके नामसे पशु,वस्त्र, रत्न और नाना धन, जिनकी जितनी इच्छा हो, वह उनको दान कर दो। ऐसा करो, कि कुन्ती माद्रीका सत्कार करे और माद्रीको भले प्रकार ऐसे तोप ताप रखो, कि वह पवन और सूर्यसेभी न दीख पडे। निष्पाप पाण्डुकी दशा बुरी नहीं है, क्योंकि देवकुमार समान शूरतापूरित पांच पुत्र उत्पन्न हुए है। (१—४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! विदुर उनको "जो आज्ञा हो" कह कर भीष्मके साथ परम पवित्र स्थानमें

पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमपूजिते ॥ ५ ॥
ततस्तु नगरात्तूर्णमाज्यगन्धपुरस्कृताः ।
निर्हृताः पावका दीप्ताः पाण्डो राजपुरोहितैः ॥ ६ ॥
अथैनमार्तवैः पुष्पैर्गन्धैश्च विविधैर्वरैः ।
शिबिकां तामलंकृत्य वाससाऽऽच्छाद्य सर्वशः ॥७॥
तां तथा शोभितां माल्यैर्वासोभिश्च महाधनैः ।
अमात्या ज्ञातयश्चैव सुहृदश्चोपतस्थिरे ॥ ८ ॥
नृसिंहं नरयुक्तेन परमालंकृतेन तम् ।
अवहन्यानमुख्येन सह माद्र्या सुसंवृतम् ॥ ९ ॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण चामरव्यजनेन च ।
सर्ववादित्रनादैश्च समलंचक्रिरे ततः ॥ १० ॥
रत्नानि चाप्युपादाय बहूनि शतशो नराः ।
प्रददुः काङ्क्षमाणेभ्यः पाण्डोस्तस्यौर्ध्वदेहिके ॥ ११ ॥
अथ छत्राणि शुभ्राणि चामराणि बृहन्ति च ।
आजह्रुः कौरवस्यार्थे वासांसि रुचिराणि च ॥ १२ ॥
याजकैः शुक्लवासोभिर्हूयमाना हुताशनाः ।
अगच्छन्नग्रतस्तस्य दीप्यमानाः स्वलंकृताः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव सहस्रशः ।

रुदन्तः शोकसंतप्ता अनुजग्मुर्नराधिपम् ॥ १४ ॥
अयमस्मानपाहाय दुःखे चाऽऽधाय शाश्वते ।
कृत्वा चाऽस्माननाथांश्च क्व यास्यति नराधिपः॥ १५ ॥
क्रोशन्तः पाण्डवाः सर्वे भीष्मो विदुर एव च ।
रमणीये वनोद्देशे गङ्गातीरे समे शुभे ॥ १६ ॥
न्यासयामासुरथ तां शिबिकां सत्यवादिनः ।
सभार्यस्य नृसिंहस्य पाण्डोरक्लिष्टकर्मणः ॥ १७ ॥
ततस्तस्य शरीरं तु सर्वगन्धाधिवासितम् ।
शुचिकालीयकादिग्धं दिव्यचन्दनरूषितम् ॥ १८ ॥
पर्यषिञ्चञ्जलेनाऽऽशु शातकुम्भमयैर्घटैः ।
चन्दनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन् ॥ १९ ॥
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुङ्गरसेन च ।
अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन् ॥ २० ॥
संछन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः ।
शुशुभे स नरव्याघ्रो महार्हशयनोचितः ॥ २१ ॥
याजकैरभ्यनुज्ञाते प्रेतकर्मण्यनुष्ठिते ।
घृतावसिक्तं राजानं सह माद्र्या स्वलंकृतम् ॥ २२ ॥

चलाते हुए उनके आगे चलने लगे और सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शोकयुक्त होकर रो रो कर यह कहते हुए राजाके पीछे चलने लगे, कि हे नराधिप ! आप हमको कठोर दुःखमे न्यास अनाथ कर कहां चले ? (१२-१५)

अनन्तर पाण्डवगण भीष्म और विदुर ने रोते हुए चलकर मङ्गलमयी गङ्गातट के सुन्दर वनयुक्त स्थानमें समभूमि पर सत्यवादी सुकर्मा स्त्रीसहित नरसिंह पाण्डुकी पालकी धरी। उनके पीछे उन्होंने कृष्णागुरुसे लिप्त, चन्दनसे चर्चित और सुगन्धसे सुगन्धित पाण्डुकी देहको सुवर्णके घडेमें लाये हुए जलसे नहलाकर चारों ओर श्वेत-चन्दन लगा दिया, आगे कृष्णअगुरुसे मिले हुए तुङ्गरस नामक सुगन्धी पदार्थसे लिप्त कर उनको देशीय शुक्लवस्त्रसे ढांप दिया। मूल्यवान् बिस्तर पर महाराज पाण्डु वस्त्रसे ढांपे जाकर जीवितके समान शोभा पाने लगे। (१६—२१)

अनन्तर ऋत्विकोंकी आज्ञानुसार प्रेतक्रिया होजाने पर उन्होंने घृतसे नहाये और अलंकृत माद्री-सहित राजाको

तुङ्गपद्मकमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना ।
अन्यैश्च विविधैर्गन्धैर्विधिना समदाहयन् ॥ २३ ॥
ततस्तयोः शरीरे द्वे दृष्ट्वा मोहवशं गता ।
हाहा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि ॥ २४ ॥
तां प्रेक्ष्य पतितामार्तां पौरजानपदो जनः ।
रुरोद दुःखसंतप्तो राजभक्त्या कृपान्वितः ॥ २५ ॥
कुन्त्याश्चैवार्तनादेन सर्वाणि च विचुक्रुशुः ।
मानुषैः सह भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ २६ ॥
तथा भीष्मः शान्तनवो विदुरश्च महामतिः ।
सर्वशः कौरवाश्चैव प्राणदन्भृशदुःखिताः ॥ २७ ॥
ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः ।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः ॥ २८ ॥
चुक्रुशुः पाण्डवाः सर्वे भीष्मः शान्तनवस्तथा ।
विदुरो ज्ञातयश्चैव चक्रुश्चाप्युदकक्रियाः ॥ २९ ॥
कृतोदकांस्तानादाय पाण्डवाञ्शोककर्शितान् ।
सर्वाः प्रकृतयो राजञ्शोचमाना न्यवारयन् ॥ ३० ॥
यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः ।

तथैव नागरा राजञ्छिश्यिरे ब्राह्मणादयः ॥ ३१ ॥
तद्गतानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत् ।
बभूव पाण्डवैः सार्धं नगरं द्वादश क्षपाः ॥ ३२ ॥ [५०९०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुदाहे सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा॥ १ ॥
कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः ।
रत्नौघान्विप्रमुख्येभ्यो दत्वा ग्रामवरांस्तथा ॥ २ ॥
कृतशौचांस्ततस्तांस्तु पाण्डवान्भरतर्षभान्।
आदाय विविशुः सर्वे पुरं वारणसाह्वयम् ॥ ३ ॥
सततं चाऽनुशोचन्तस्तमेव भरतर्षभम् ।
पौरजानपदाः सर्वे मृतं स्वमिव बान्धवम् ॥ ४ ॥
श्राद्धावसाने तु तदा दृष्ट्वा तं दुःखितं जनम्।
संमूढां दुःखशोकार्तां व्यासो मातरमब्रवीत्॥ ५ ॥
अतिक्रान्तसुखाः कालाः पर्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापिष्ठदिवसाः पृथिवी गतयौवना॥ ६ ॥

नगरवालेभी धरती पर सोये और नगर के लडको तक सम्पूर्ण प्रजाओंमेभी पाण्डवोंके साथ साथ विना हर्ष, विना आनन्द, विना स्वास्थ्य बारह रात गंवायी। (२८—३२)[५०९०]

आदि पर्वमें एकसौ सताइस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ अठाइस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर कुन्ती, धृतराष्ट्र और भीष्मने बन्धुओंके साथ सम्पूर्ण कौरव और सहस्रों अच्छे अच्छे विप्रोंको भोजन कराके और अच्छे अच्छे विप्रोंको रत्न और सुन्दर सुन्दर ग्राम दे दे कर पाण्डुको स्वधा और अमृतमय श्राद्ध दान किया। आगे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ शौच किये हुए पाण्डवोंको लेकर हस्तिनापुरमें प्रविष्ट हुए। नगर और जनपदवासी अपने मृत मित्रकी भांति उन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डुके लिये सदा शोक करने लगे (१-४)

अनन्तर महर्षि व्यास आनकर श्राद्ध क्रियाके अन्तमें सब जनोंको दुःखी देख कर मोहयुक्त और दुःख शोकमें विह्वल माता सत्यवतीसे बोले, कि मा! सुखका दिन जाता रहा है, अब कठोर काल आ

बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः ।
लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति ॥ ७ ॥
कुरूणामनयाच्चाऽपि पृथिवी न भविष्यति ।
गच्छ त्वं योगमास्थाय युक्ता वस तपोवने ॥ ८ ॥
मा द्राक्षीस्त्वं कुलस्याऽस्य घोरं संक्षयमात्मनः ।
तथेति समनुज्ञाय सा प्रविश्याऽब्रवीत्स्नुषाम् ॥ ९ ॥
अम्बिके तव पौत्रस्य दुर्नयात्किल भारताः ।
सानुबन्धा विनंक्ष्यन्ति पौराश्चेति न श्रुतम् ॥ १० ॥
तत्कौशल्यामिमामार्तां पुत्रशोकाभिपीडिताम् ।
वनमादाय भद्रं ते गच्छामि यदि मन्यसे ॥ ११ ॥
तथेत्युक्त्वा त्वम्बिकया भीष्ममामन्त्र्य सुव्रता ।
वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १२ ॥
ताः सुघोरं तपस्तप्त्वा देव्यो भरतसत्तम ।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच—अथाऽऽप्नवन्तो वेदोक्तान्संस्कारान्पाण्डवास्तदा ।
संव्यवर्धन्त भोगांस्ते भुञ्जानाः पितुर्वेश्मनि ॥ १४ ॥

पड़ा । दिन धीरे धीरे पापपूर्ण हो रहे हैं, पृथ्वीकी यौवन दशा जाती रही । अब पूर्ववत् शस्यकी उपज नहीं होगीः उसके पीछे बड़ी भारी मायासे पूरित, धर्मक्रिया और आचारनाशी, नाना वेषयुक्त कठोर काल आपडेगा कुरुओंकी बुरी नीतिसे धरती उजड़ जाने पर होगी, सो आप तपोवनमें जाकर चित्तकी वृत्तियोंको रोककर योगमें रहिये ! अपने वंशका घोर सर्वनाश न देखिये । ५-८

सत्यवती ' तथास्तु ' कहके वह मानकर अन्तःपुरमें जाकर पुत्रवधूसे बोली कि, हे अम्बिके ! मैने सुना है कि तुम्हारे पौत्रकी बुरी रीतिसे आत्मजनोंके साथ भरतवंशी और नगरवाले नष्ट हो जायगे, सो यदि तुम चाहो, तो तुम्हारा मङ्गल होवे, चलो हम इस पुत्र शोकसे विह्वल अम्बालिकाको लेकर वनमें जाय । यह कह कर सुव्रतयुक्त सत्यवती अम्बिकाके साथ भीष्म को इस प्रकारसे सम्बोधन कर दोनो पुत्र वधुओंके साथ वनको पधारी । हे भरतश्रेष्ठ महाराज ! उन देवियोंने वहां कठोर तप कर देह छोड़कर के मनमानी गति प्राप्त की । ९-१३

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तदनन्तर पाण्डव वेदानुसार संस्कारोंको पाकर

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम्।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाऽभवन्॥ १५ ॥
जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे।
धार्तराष्ट्रान्भीमसेनः सर्वान्स परिमर्दति ॥ १६ ॥
हर्षात्प्रक्रीडमानांस्तान्गृह्य राजन्निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैनान्योधयामास पाण्डवः॥ १७॥
शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम्।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद्वृकोदरः ॥ १८ ॥
कचेषु च निगृह्यैनान्विनिहत्य बलाद्बली ।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंसकान्॥ १९ ॥
दश बालाञ्जले क्रीडन्भुजाभ्यां परिगृह्य सः।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान्विमुञ्चति॥ २० ॥
फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते यदा।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान्॥ २१ ॥
प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।

नाना भोगके पदार्थ भोग करते हुए पिताके घरमें बढने लगे। वे प्रसन्नचित्त होकर धृतराष्ट्रके पुत्रों के साथ परम सुखसे खेलते कूदते थे और सब लडकपनके खेलोंमें अपने तेजसे बढ चढ निकलते थे। वेगके विषयमें, निशानेकी वस्तु लानेमें, सबोंसे पहिले भोजनकी सामग्री लेने में और धूल फेंकने इत्यादि लडकपने के खेलोंमें भीमसेन सम्पूर्ण धृतराष्ट्र-कुमारोंको हरा कर सताया करते थे। हे महाराज! जब धृतराष्ट्रके लडके आनन्द से खेलते थे, तब उक्त पाण्डव उनको पकडकर एकसे दूसरेको अलग कर देते थे और उनके सिरको थाम थाम कर एक दूसरे से लडा देते थे। (१४—१७)

उन बडे तेजवन्त एकसौ एक कुमारो को वृकोदर अकेले सहजहीमें दिक किया करते थे। महाबली भीम बलसे उनके केश पकड मारते पीटते थे, मिट्टी पर लेटते, सिर और गर्दन आदि रगड कर घसीट लेजाते थे। वे कष्टके मारे चिल्लाकर रोते थे। वह जलमें खेलते हुए, दोनो भुजोंसे दस लडकोंको पकड कर जलमें डुबाये रहते थे, आगे उनके मरने पर होनेसे छोड देते थे। जब धृतराष्ट्रके पुत्र पेडों पर चढकर फल तोडते थे, तब भीम उन पेडोंमें लात मार मार हिलाते थे; उन लातोंके बलसे हिलने

सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ॥ २२ ॥
न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ॥ २३ ॥
एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ॥ २४ ॥
ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ॥ २५ ॥
तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।
मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत ॥ २६ ॥
अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ॥ २७ ॥
प्राणवान्विक्रमी चैव शौर्येण महताऽन्वितः ।
स्पर्धते चाऽपि सहितानस्मानेको वृकोदरः ॥ २८ ॥
तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।
अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ॥ २९ ॥
प्रसह्य बन्धने बध्वा प्रशासिष्ये वसुन्धराम् ।

और डगमगाने पर लड़के उसीक्षण पेड़ोंसे टूटकर फलके साथ गिर जाते थे। (१८—२२)

प्रख्यात बल देखकर बुरा भाव दिखाने लगा। धर्महीन पापकर्मके देखनेवाले दुर्योधनका चित्त अज्ञानता और ऐश्वर्यके

एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवाऽन्तरप्रेक्षी भीमस्याऽऽसीन्महात्मनः॥३०॥
ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चेलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च॥ ३१॥
सर्वकामैः सुपूर्णानि पताकोच्छ्रायवन्ति च ।
तत्र संजनयामास नानागाराण्यनेकशः ॥ ३२॥
उदकक्रीडनं नाम कारयामास भारत ।
प्रमाणकोट्यां तं देशं स्थलं किंचिदुपेत्य ह ॥ ३३॥
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथाऽपि च।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ॥ ३४ ॥
न्यवेदयंस्तत्पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा ।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ॥ ३५ ॥
गङ्गां चैवाऽनुयास्याम उद्यानवनशोभिताम् ।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ॥ ३६ ॥
एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
ते रथैर्नगराकारैर्देशजैश्च गजोत्तमैः ॥ ३७॥
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह ।

पृथ्वीमें एकही राजा हुआ, पापात्मा दुर्योधन यह निश्चय कर महात्मा भीमसेन को सदा ढूंढने लगा। (२७—३०)

हे भारत! अनन्तर उस पापात्माने जलक्रीडार्थ गङ्गाजीके तटपर प्रमाण-कोटि नामक स्थानमें जल और स्थलपर वस्त्र और कम्बलका एक सुन्दर बडा भवन बनवाकर उसमें सम्पूर्ण कामके पदार्थोंसे भरे, फहराती हुई ध्वजासे सुशोभित नाना घर रचवाये। हे भारत-नन्दन! उस भवनका नाम उदक-क्रीडन भया, रसोई बनानेमें दक्ष रसोई वालोंने उसमें चबाने, चसने, चाटने, पीनेकी नाना भोजनकी वस्तु बनवाकर रखी। (३१–३४)

आगे सब ठीक होनेपर टहलुओंने दुर्योधनको यह समाचार सुनाया। आगे दुर्मति दुर्योधन ने पाण्डवों से कहा, कि चलो हम सब भाई मिलकर वन बगीचोंसे सुशोभित गङ्गाजीके किनारे जाकर जलमें खेले। युधिष्ठिरके सम्मत होनेपर शूर कौरव लोग पाण्डवोंके साथ नगरके समान बडे रथ और बडे बडे शरीरयुक्त हाथियोंपर नगरसे निकले।

उद्यानवनमासाद्य विसृज्य च महाजनम् ॥ ३८ ॥
विशन्ति स्म तदा वीराः सिंहा इव गिरेर्गुहाम्।
उद्यानमभिपश्यन्तो भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ३९ ॥
उपस्थानगृहैः शुभ्रैर्वलभीभिश्च शोभितम्।
गवाक्षकैस्तथा जालैर्यन्त्रैः साञ्चारिकैरपि ॥ ४० ॥
संमार्जितं सौधकारैश्चित्रकारैश्च चित्रितम्।
दीर्घिकाभिश्च पूर्णाभिस्तथा पुष्करिणीभिर्हि॥ ४१ ॥
जलं तच्छुशुभे छन्नं फुल्लैर्जलरुहैस्तथा।
उपच्छन्ना वसुमती तथा पुष्पैर्यथर्तुकैः ॥ ४२ ॥
तत्र प्रविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह।
उपच्छन्नान्बहून्कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः॥ ४३ ॥
अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥ ४४ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम्।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ॥ ४५ ॥
स्वयमुत्थाय चैवाऽथ हृदयेन क्षुरोपमः।
स वाचाऽमृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद्यथा ॥ ४६ ॥

आगे वे वीर भाइवर्ग बगीचेमें पहुंचकर साथियोंको विदा करके उपवनकी शोभा देखते हुए सिंहके पर्वतकी कन्दरामें घुसनेकी नाई उसके भीतर जा घुसे। (३५-३९)

देखा, कि राजलोगोंने साफ किये हुए, चित्र करनेवालोंने चित्रित, सुफेद बटके और गृहकी चोटियां सुहा रही हैं। बड़ा जंगले, फौहारे अर्थात् जिनमें सैकड़ों धारोंसे जल निकलकर आंसकी भांति पलके भीतर भागको तर देता है, ऐसी ऐसी कलोंकी अपूर्व शोभा दीख पड़ती है फिरि पद्म जलमें हुए कमलों पोखरे और तालोंकी बड़ी शोभा हो रही है और ऋतुमें उपजे हुए फूलोंसे वहांकी भूमिभी घिरी है। (४०—४२)

अनन्तर पाण्डव और कौरव वहां जा बैठे और नाना स्थानोंसे मंगाये हुए खानेके पदार्थोंका स्वाद लेने लगे। वे सुन्दर फुलवाड़ीमें खेलते हुए एक दूसरेके मुहमें खानेकी वस्तु देने लगे। इस अवसरमें पापात्मा दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे भोजनकी वस्तुमें विष मिलाया तब उस पापात्माने मित्रके हृदयके समान और बातमें अमृत

स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत्।
प्रतीष्टं तं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ॥ ४७ ॥
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव ।
कृतकृत्यमिवाऽऽत्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥ ४८ ॥
ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥ ४९ ॥
क्रीडावसाने ते सर्वे शुचिवस्त्राः स्वलंकृताः।
दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ॥ ५० ॥
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ।
खिन्नस्तु बलवान्भीमो व्यायम्याऽभ्यधिकं तदा॥५१॥
वाहयित्वा कुमारांस्ताञ्जलक्रीडागतांस्तदा।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापाऽवाप्य तत्स्थलम्॥५२
शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥ ५३ ॥
ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम् ।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत् ॥ ५४ ॥

सा था, स्वयं उठकर भाई और मित्रवत भीमसेनके मुखमें उस विषैली वस्तुका एक बडा भाग डाल दिया। भीमसेन ने भी कोई दोष न जानकर उसे भोजनके पदार्थके समान खा लिया। तब पुरुषोंमें बडा अधम दुर्योधन अपनी इच्छा पूरी हुई जानकर मानो मनहीमनमें हंसने लगा। (४३—४८)

आगे धृतराष्ट्रके लडके और पाण्डव लोग सब प्रसन्न चित्तसे एकत्र होकर जलमें खेलने लगे। जलमें खेलनेके पीछे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ वीरगण पवित्र वस्त्र पहिनकर अलंकृत हुए और खेलसे थक कर दिन बीतने पर होनेसे उस विहार के घरहीमें रहना चाहा। महाबली भीम जलमें खेलते हुए कुमारोंको बहुत लडा करके थककर आराम करनेकी इच्छासे उस प्रमाणकोटिके स्थलभागमें आकर-के ही सो गये। पाण्डुपुत्र भीम एक तो थके और विषके नशेमें अचेतन ही थे, फिर तिसपर ठंढी हवा पाकर और सर्व-शरीरमें विषके तत्त्वाव होनेके कारण एकबारही अज्ञान हो गये। तब दुर्योधन ने मरेके तुल्य हुए भीमको लताजाल से स्वयं बांधकर स्थलसे जलमें गिराया। (४९—५४)

ऽस्याऽन्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
त्वने नदा नागकुमारकान् ॥ ५५ ॥
हुभिस्तदा नागैर्महाविषैः ।
भीमो महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ॥ ५६ ॥
मानस्य तद्विषं कालकूटकम् ।
र स्थावरं जङ्गमेन तु ॥ ५७ ॥
नेषां मर्मस्वपि निपातिताः ।
वेभिदुः सारत्वात्पृथुवक्षसः ॥ ५८ ॥
न्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
सर्वान्केचिल्लीनाः प्रदुद्रुवुः ॥ ५९ ॥
रन सर्वे वासुकिमभ्ययुः ।
नं वासुकिं वासवोपमम् ॥ ६० ॥
न्द्र ह्यप्सु बध्वा प्रवेशितः ।
वीर विपर्पीतो भविष्यति ॥ ६१ ॥
ाम स च दष्टोऽन्वबुध्यत ।
त्ताश्छित्त्वा बन्धनमाशु नः ॥ ६२ ॥
ुं त्वं चैनं ज्ञातुमर्हसि ।

चेतना रहित नागोंके घरमें प अनन्तर अगणि. सर्प मिलकर भ से काटे जाक स्थावरी विष चर हो गया । उन के मर्मस्थानमें दी नहीं भागी कारण समझा गया । (६३—
अनन्तर …

बन्धनोंको काटकर उन सर्पोंको मारने लगे; उनमेंसे कुछ सर्प भय खाकर वेगसे भाग गये । उन मारने बचे हुए सर्पोंने देवराजके समान सर्पराज वासुकिके पास जाकर कहा, कि हे वीर नागेन्द्र ! एक मनुष्य किसीने बांधे जाकर जलमें गिरा- या गया था, हमको जान पड़ता है, कि उसने विष पिया था, क्योंकि जब हमारे आगे गिरा तब वह अचेत था … जब हमने उसे काटना आरम्भ कर दिया तब वह चेतना पाकरके … उसने … बन्धन काटकर हमको मारने

मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव
आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनाऽन्त
इहाऽऽगतस्य क नु गतस्त्वया वा प्रेषित
कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति श
यतः प्रसुप्तं मन्येऽहं भीमं नेति हतस्तु
इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धी
हाहेति कृत्वा संभ्रान्ता प्रत्युवाच युधि
न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसा
शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्याऽनुजैः
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयत
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्र
क ततो भगवन्क्षत्तर्भीमसेनो न दृ
उद्यानान्निर्गताः सर्वे भ्रातरो भ्रातृभिः
तत्रैकस्तु महाबाहुर्भीमो नाऽभ्येति म
न च प्रीणयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽन

को नहीं देखा; अन्तमें सबोंने यह समझ लिया, कि भीम हमारे पहिले ही आया होगा। ऐ महाभागे यशस्विनी! हम व्याकुल हृदयसे आ रहे है, सो कहिये, कि महाभुज भीम यहां आकर कहां गया है? आपने उसको कहीं भेजा तो नहीं? ऐ शोभने! उस वीरके विषयमें मेरा चित्त हडबडा रहा है, क्योंकि स्मरण होता है, कि भीम सोता था, उसके पीछे फिर नहीं आया, सो मारा गया होगा। (५-१०)

धीमान धर्मपुत्रकी यह बात सुनकर कुन्ती हाहाकार करती हुई दुःखमें उनसे

बोली, कि बे[illegible]
ह भीम मेरे प[illegible]टे,
भाइयोंको ले[illegible]ज
का प्रयत्न करो[illegible]
मे ज्येष्ठ पुत्र [illegible]र
विदुरको बुल[illegible]-
गवान् क्षत्तः [illegible]ह
दीख नहीं प[illegible]ग
भाइयोंके सा[illegible]ये
है, केवल अके[illegible]
नहीं आया है[illegible]
की आंखभी[illegible]ह

निहन्याद्यपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥ १६ ॥

विदुर उवाच— मैवं वदस्व कल्याणि गोपसंरक्षणं कुरु।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत्तव ॥ १७ ॥
दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच— एवमुक्त्वा ययौ विद्वान्विदुरः स्वं निवेशनम्।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥ १९ ॥
ततोऽष्टमे तु दिवसे प्रत्यबुध्यत पाण्डवः।
तस्मिंस्तदा रसे जीर्णे सोऽप्रमेयबलो बली ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वा प्रतिबुध्यन्तं पाण्डवं ते भुजङ्गमाः।
सान्त्वयामासुरव्यग्रा वचनं चेदमब्रुवन् ॥ २१ ॥
यत्ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसम्भृतः।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥
गच्छाद्य त्वं च स्वगृहं स्नातो दिव्यैरिमैर्जलैः।
भ्रातरस्तेऽनुतप्यन्ति त्वां विना कुरुपुङ्गव ॥ २३ ॥
ततः स्नातो महाबाहुः शुचिः शुक्लाम्बरस्रजः।

एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चाऽपि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ताञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ४१ ॥
पाण्डवा अपि तत्सर्वं प्रत्यजानन्नमर्षिताः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ ४२ ॥
कुमारान्क्रीडमानांस्तान्दृष्ट्वा राजाऽतिदुर्मदान् ।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तान्न्यवेदयत् ॥ ४३ ॥
शरस्तम्बे समुद्भूतं वेदशास्त्रार्थपारगम् ।
अधिजग्मुश्च कुरवो धनुर्वेदं कृपात्तु ते ॥ ४४ ॥ (५२०६)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
भीमप्रत्यागमने ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

जनमेजय उवाच– कृपस्याऽपि मम ब्रह्मन्संभवं वक्तुमर्हसि ।
शरस्तम्बात्कथं जज्ञे कथं चाऽस्त्राण्यवाप्तवान् ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- महर्षेर्गौतमस्याऽऽसीच्छरद्वान्नाम गौतमः ।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो ॥ २ ॥
न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत ।
यथाऽस्य बुद्धिरभवद्धनुर्वेदे परंतप ॥ ३ ॥

इस प्रकार दुर्योधन, कर्ण और सुबल पुत्र शकुनिने नाना उपायोंसे पाण्डवोंको नष्ट करनेकी चेष्टा की थी । हे शत्रुनाशिन्! पाण्डवगण वह जानने परभी विदुरके मतमें रह कर उस बातपर क्रोध प्रगट नहीं करते थे । अस्तु । इधर ये सब कुमार अत्यंत दुष्ट हैं, ऐसा जब धृतराष्ट्रने देखा, तब उनके लिये एक गुरु चाहिये ऐसा निश्चय करके, शरस्तम्भसे उत्पन्न वेद और शास्त्रोंमें पारगत भगवान् कृपाचार्यजीके अधीन उनको किया, और इस प्रकार कौरव कुमारोंका धनुर्वेदका अध्ययन कृपाचार्यजीके पास हुआ । (४१—४४) [५२०६]

आदिपर्वमें एकसौ उनतीसवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ तीसवां अध्याय ।

जनमेजयजी बोले कि हे ब्रह्मन्! कृपके जन्मकी भी कथा कहिये । उन्होंने क्योंकर शरकण्डेकी लकडी से जन्म लिया था, और क्योंकर अस्त्रोंको लाभ किया था? श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि, महाराज! महर्षि गौतमके शरद्वान नामक एक पुत्र थे; उन गौतमने शरकण्डेसे जन्म लिया था । हे शत्रुनाशिन् धनुर्वेदमें उनकी जैसी बुद्धि थी, वेद पठनमें वैसी बुद्धि नहीं हुई थी; जिस प्रकार ब्रह्म-

अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मचारिणः ।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह ॥ ४ ॥
धनुर्वेदपरत्वाच्च तपसा विपुलेन च ।
भृशं सन्तापयामास देवराजं स गौतमः ॥ ५ ॥
ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः ।
प्राहिणोत्तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव ॥ ६ ॥
सा हि गत्वाऽऽश्रमं तस्य रमणीयं शरद्वतः ।
धनुर्बाणधरं बाला लोभयामास गौतमम् ॥ ७ ॥
तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने ।
लोकेऽप्रतिमसंस्थानां प्रोत्फुल्लनयनोऽभवत् ॥ ८ ॥
धनुश्च हि शराश्चास्य कराभ्यां प्रापतन् भुवि ।
वेपथुश्चापि तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत ॥ ९ ॥
स तु ज्ञानगरीयस्त्वात्तपसश्च समर्थनात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्येण परमेण ह ॥ १० ॥
यस्त्वस्य सहसा राजन् विकारः समदृश्यत ।
तेन सुस्राव रेतोऽस्य स च तन्नावबुध्यत ॥ ११ ॥
धनुश्च सशरं त्यक्त्वा तथा कृष्णाजिनानि च ।
स विहायाऽऽश्रमं तं च तां चैवाप्सरसं मुनिः ॥ १२ ॥

जगाम रेतस्तत्तस्य शरस्तम्बे पपात च।
शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ॥ १३ ॥
तस्याऽथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः।
मृगयां चरतो राज्ञः शान्तनोस्तु यदृच्छया ॥ १४ ॥
कश्चित्सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत।
धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च ॥ १५ ॥
ज्ञात्वा द्विजस्य चाऽपत्ये धनुर्वेदान्तगस्य ह।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं धनुः ॥ १६ ॥
स तदादाय मिथुनं राजा च कृपयाऽन्वितः।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ॥ १७ ॥
ततः संवर्द्धयामास संस्कारैश्चाऽप्ययोजयत्।
प्रातिपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत् ॥ १८ ॥
गौतमोऽपि ततोऽभ्येत्य धनुर्वेदपरोऽभवत्।
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति ॥ १९ ॥
तस्मात्तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः।
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ॥ २० ॥

कृष्णसार मृगका चर्म और उस आश्रम और अप्सराको तजकर अन्य स्थानमें चले गये। उनका वीर्य शरकण्डे की लकडी पर गिरा था, इसलिये वह दो भाग होगया, उससे एक कन्या और एक पुत्रका जन्म हुआ। (११—१४)

अनन्तर मृगयाके लिये मनमाने घूमने वाले, नरनाथ शान्तनुके एक सैनिकने वनमें उस पुत्र और कन्याको देखा और वहां धनुर्बाण और मृगका चर्म देखकर समझा, कि यह दोनों धनुर्वेदमें दक्ष किसी ब्राह्मणकी सन्तान होंगी। तब उस सैनिकने धनुर्बाण और दोनों बच्चोंको लेजाकर नरनाथको दिखाया। नरनाथने कृपापूर्वक उन बच्चोंको लेलिया और यह कह कर, कि "यह मेरी सन्तान हुई" अपने स्थानको पधारे। (१४–१७)

अनन्तर प्रतीपके पुत्र नरश्रेष्ठ शान्तनुने गौतमके उस पुत्र और कन्याको सम्पूर्ण संस्कारसे सुधार और पाल पोषकर बढाया और गौतमभी उस आश्रमसे आनकर धनुर्वेदमें दत्तचित्त रहे। महीपाल शान्तनुने यह समझ कर, कि "मैंने कृपापूर्वक इन बच्चों को जिलाया है" उनके कृप और कृपी यही नाम रख दिये। १८–२०

आगम्य तस्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा।
चतुर्विधं धनुर्वेदं शास्त्राणि विविधानि च ॥ २१ ॥
निखिलेनास्य तत्सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्यतां गतः ॥ २२ ॥
ततोऽधिजग्मुः सर्वे ते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाः सह यादवैः ॥
वृष्णयश्च नृपाश्चान्ये नानादेशसमागताः॥ २३॥ [५२२०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि
कृपाद्युत्पत्तौ त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

वैशम्पायन उवाच विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया।
इष्वस्त्रज्ञान्पर्यपृच्छदाचार्यान्वीर्यसम्मतान् ॥ १ ॥
नाल्पधीर्नामहाभागस्तथा नानस्त्रकोविदः।
नादेवसत्त्वो विनयेत्कुरूनस्त्रे महाबलान् ॥ २ ॥
इति संचिन्त्य गाङ्गेयः सदा भरतसत्तमः ॥ ३ ॥
द्रोणाय वेदविदुषे भारद्वाजाय धीमते ।
पाण्डवान्कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान्नरर्षभ ॥ ४ ॥

शास्त्रतः पूजितश्चैव सम्यक्तेन महात्मना ।
स भीष्मेण महाभागस्तुष्टोऽस्त्रविदुषां वरः ॥ ५ ॥
प्रतिजग्राह तान्सर्वाञ्शिष्यत्वेन महायशाः ।
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ॥ ६ ॥
तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशास्त्रविशारदाः ।
बभूवुः कौरवा राजन्पाण्डवाश्चाऽमितौजसः ॥ ७ ॥
जनमेजय उवाच—कथं समभवद् द्रोणः कथं चाऽस्त्राण्यवाप्तवान् ।
कथं चाऽगात्कुरून्ब्रह्मन्कस्य पुत्रः स वीर्यवान्॥ ८ ॥
कथं चाऽस्य सुतो जातः सोऽश्वत्थामाऽस्त्रवित्तमः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच- गङ्गाद्वारं प्रति महान्बभूव भगवानृषिः ।
भरद्वाज इति ख्यातः सततं संशितव्रतः ॥ १० ॥
सोऽभिषेक्तुं ततो गङ्गां पूर्वमेवाऽगमन्नदीम्।
महर्षिभिर्भरद्वाजो हविर्धाने चरन्पुरा ॥ ११ ॥
ददर्शाऽप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः।
रूपयौवनसंपन्नां मदहृष्टां मदालसाम् ॥ १२ ॥
तस्याः पुनर्नदीतीरे वसनं पर्यवर्तत ।

चलानेवालोंमे श्रेष्ठ महाभाग और अति यशवन्त द्रोणाचार्यने महात्मा भीष्मसे शास्त्रानुसार भले प्रकार पूजे जाकर सन्तोषपूर्वक उन सबोंको शिष्य बनाया। और उन्होंने उनको विशेष प्रकारसे धनुर्वेद सिखाया। हे महाराज! वे अनन्त तेजयुक्त पाण्डव और कौरवलोग स्वल्पकालहीमें सब शास्त्रोंमें पण्डित होगये। (१–७)

जनमेजयने पूछा, कि हे ब्राह्मण! वह वीर्यवन्त द्रोण किसके पुत्र थे? किस प्रकार उनका जन्म हुआ था? क्योंकर उन्होंने शास्त्रोंको प्राप्त किया था? और क्योंकर कौरवोंसे मिले? फिर भी अश्वत्थामा नामक सर्वशास्त्रोंमे दक्ष प्रधान उनके पुत्रने क्योंकर जन्म लिया था? यह सब भले प्रकार सुनना चाहता हूं आप कहिये। (८–९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि गंगाद्वार के निकट भरद्वाज नामसे प्रख्यात सदा प्रशंसित व्रतयुक्त भगवान् महर्षि बसते थे। एक समय वह अग्निहोत्र करने के अभिप्रायसे पहिले ही महर्षियोंके साथ गंगाजीके किनारे नहाने गये थे;

व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ॥ १३ ॥
तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ १४ ॥
ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ १५ ॥
अग्निवेशं महाभागं भरद्वाजः प्रतापवान् ।
प्रत्यपादयदाग्नेयमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ १६ ॥
अग्नेस्तु जातः स मुनिस्ततो भरतसत्तम ।
भरद्वाजं तदाग्नेयं महास्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ १७ ॥
भरद्वाजसखा चाऽऽसीत्पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्याऽपि द्रुपदो नाम तदा समभवत्सुतः । १८ ॥
स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः ।
चिक्रीडाऽध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥ १९ ॥
ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत् ।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वरः ॥ २० ॥
भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा ।

रहा देखा, कि रूप-यौवनवती, मद गर्विता और मदसे उन्मत्त हुई घृताची नामी अप्सरा नहाकर उठी; फिर उस समय उसका वस्त्र भी गिर गया। धीमान महर्षि उस दिव्य अप्सराको देखकर कामके वशमें होगये, उनका चित्त घृताची पर लगनेसे वीर्य गिर गया। महर्षिने उस द्रोणनामक यज्ञके वर्तनमें उस वीर्यको रक्खा। (१३-१४)

धीमान भरद्वाजके द्रोणमें रक्खे हुए उस वीर्यसे द्रोणका जन्म हुआ। उन्होंने वेद और वेदाङ्ग सब पढ लिये थे। [illegible]

भरद्वाजने पहिले अग्निवेश नामक महाभाग महर्षिको अग्न्यस्त्र दिया था। हे भरतश्रेष्ठ! अग्निसे जन्म लिये हुए उन ऋषि अग्निवेशने अपने गुरुपुत्र द्रोणको वह अग्न्यस्त्र दे दिया। (१६-१७)

पृषत नामक एक राजा ऋषि भरद्वाजके मित्र थे, भरद्वाजके पुत्र होनेके कालमें उनको भी द्रुपद नामक एक पुत्र हुआ था। वह क्षत्रियश्रेष्ठ नित्य भरद्वाजके आश्रममें जाकर द्रोणके साथ खेलते और पढते थे। हे महाराज! पृषतराजके परलोक सिधारने पर उत्तर पञ्चाल देशके महाबाहु द्रुपद उनके पश्चात् देशके राजा

तत्रैव च वसन्द्रोणस्तपस्तेपे महातपाः ॥ २१ ॥
वेदवेदाङ्गविद्वान्स तपसा दग्धकिल्बिषः ।
ततः पितृनियुक्तात्मा पुत्रलोभान्महायशाः॥ २२ ॥
शारद्वतीं ततो भार्यां कृपीं द्रोणोऽन्वविन्दत।
अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रताम् ॥ २३ ॥
अलभद्गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च ।
स जातमात्रो व्यनदद्यथैवोच्चैःश्रवा हयः ॥ २४ ॥
तच्छ्रुत्वाऽन्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत्।
अश्वस्येवाऽस्य यत्स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् ॥२५॥
अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति।
सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत् ॥ २६ ॥
तत्रैव च वसन्धीमान्धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम् ॥ २७ ॥
सर्वज्ञानविदं विप्रं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन्दित्सन्तं वसु सर्वशः॥ २८ ॥
स रामस्य धनुर्वेदं दिव्यान्यस्त्राणि चैव ह ।

हुए। उस समय भगवान् ऋषि भरद्वाज का स्वर्ग गमन हुआ और अतितपयुक्त द्रोण भी उसी स्थान में रह कर तप करने लगे। (१८—२१)

अनन्तर वेद वेदाङ्गोंमे पण्डित और तपस्याके बलसे निष्पापी उन अतियशवंत द्रोणने पिताके पहिलेके नियोगानुसार पुत्रके लोभसे शरद्वतकी कन्या कृपीसे विवाह किया! उसके अनन्तर अग्निहोत्र मे बाक आदि बाहरी इन्द्रियोंके रोकनेमे और धर्ममें प्रेमी उस गौतम पुत्री कृपी ने अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया। पुत्रने जन्म लेतेही उच्चैःश्रवा अश्वकी भांति शब्द किया, वह सुनकर उसकालमें आकाश स्थित किसी बिन देखे प्राणीने कहा था, कि घोडेकी नाई शब्द करनेवाला इस बालकका स्थाम (शब्द) नाना दिशाओमे पहुंचा है, इस कारण इसका नाम अश्वत्थामा होगा। (२२–२६)

उससे भरद्वाजपुत्र धीमान् द्रोणने उस पुत्रसे बडी प्रीति प्राप्त की, और स्थानहीमे रहकर धनुर्वेदमें सन्नद्ध रहे। हे महाराज! उन्होंने उस समय सुना, कि सर्वशस्त्र धरनेवालोंमे श्रेष्ठ, सर्वज्ञानयुक्त, शत्रुनाशी ब्राह्मण महात्मा जामदग्न्य रामने ब्राह्मणोंको सब धन

श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च ॥ २९ ॥
ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः ।
वृतः प्रायान्महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ ३० ॥
ततो महेन्द्रमासाद्य भारद्वाजो महातपाः ।
क्षान्तं दान्तममित्रघ्नमपश्यद्भृगुनन्दनम् ॥ ३१ ॥
ततो द्रोणो वृतः शिष्यैरुपगम्य भृगूद्वहम् ।
आचख्यावात्मनो नाम जन्म चाङ्गिरसः कुले ॥ ३२ ॥
निवेद्य शिरसा भूमौ पादौ चैवाभ्यवादयत् ।
ततस्तं सर्वमुत्सृज्य वनं जिगमिषुं तदा ॥ ३३ ॥
जामदग्न्यं महात्मानं भारद्वाजोऽब्रवीद्विजः ।
भरद्वाजात्समुत्पन्नं तथा त्वं मामयोनिजम् ॥ ३४ ॥
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तमम् ।
तमब्रवीन्महात्मा स सर्वक्षत्रियमर्दनः ॥ ३५ ॥
स्वागतं ते द्विजश्रेष्ठ यदिच्छसि वदस्व मे ।
एवमुक्तस्तु रामेण भारद्वाजोऽब्रवीद्वचः ॥ ३६ ॥
रामं प्रहरतां श्रेष्ठं दित्सन्तं विविधं वसु ।

दान देनेकी इच्छा की है। रामके धनुर्वेद और दिव्यास्त्रों का समाचार पाकर उन्होंने वह सब और नीति शास्त्रोंको उन से सीखना चाहा। उसके अनुसार वह अति तपोयुक्त महाबाहु भरद्वाज तपस्वी और व्रतयुक्त शिष्योंसे घिरे रहकर महेन्द्र पर्वत पर गये। (२६—३०)

आगे वहां पहुंचकर शत्रुकुलनाशी क्षान्त और दान्त भृगुनन्दनको देखा। अनन्तर उसने शिष्योंके साथ उनके पास जाकर अपना नाम और अङ्गिराके कुलमें जन्म होनेकी बात आदि कही। और भूमिपर सिर नवाकर उनके दोनों पावों में प्रणाम किया। उसके पीछे द्रोण सब छोड छाड वनमें जानेकी इच्छा किये हुए महात्मा जामदग्न्यसे यह बोले, कि हे महामते! मैं बिन योनिसे जन्मा हुआ हूं, भरद्वाजसे द्रोणीमें उत्पन्न हुआ हूं, धनकी लालसासे यहां आया हूं। (३१—३५)

क्षत्रियकुलनाशी महात्मा परशुरामने उनसे कहा, कि हे द्विजश्रेष्ठ! तुम भले आये हो, जो चाहते हो कहो! रामके यह बात कहनेपर भरद्वाजपुत्र उन नाना धन दानके इच्छा किये हुए प्रधान जामदग्न्य से बोले कि हे महाभाग ब्रह्मर्षि!

अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ॥ ३७॥

राम उवाच— हिरण्यं मम यच्चाऽन्यद्वसु किंचिदिह स्थितम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत्तपोधन ॥ ३८ ॥
तथैवेयं धरा देवी सागरान्ता सपत्तना ।
कश्यपाय मया दत्ता कृत्स्ना नगरमालिनी ॥ ३९ ॥
शरीरमात्रमेवाऽद्य ममेदमवशेषितम् ।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च॥४०॥
अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्ममोद्यतम् ।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाऽऽशु तत् ॥४१ ॥

द्रोण उवाच— अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव ।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥ ४२ ॥
तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः ।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥ ४३ ॥
प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥ ४४ ॥[५२७३]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
द्रोणस्य भार्गवास्त्रप्राप्तावेकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।

मैं अपरिमित धन मांगता हूं। राम बोले, कि हे तपोधन ! मेरा सुवर्ण और दूसरा धन जो कुछ था, सब ब्राह्मणोंको दे चुका हूं, ग्राम और नगरोंकी मालासे भरी हुई, सागर तक चली गयी हुई, यह पृथ्वी भी कश्यपको दे दी है, अब मेरे केवल बडे मूल्यवान अस्त्र शस्त्र और मेरा यह शरीरही शेष है, हे द्रोण ! अब अस्त्र अथवा शरीर देनेको उद्यत हूं। शीघ्र कहो, कि इन दोनोंमेसे क्या चाहते हो, वह तुमको दे देता हूं। (३५—४१)

द्रोण बोले, कि हे भार्गव ! प्रयोग, उपसंहार और रहस्योंके साथ सम्पूर्ण अस्त्रों को भले प्रकार मुझको दीजिये । भार्गव ने तथास्तु कहकर उनको सम्पूर्ण अस्त्र और रहस्य और नियमोंके साथ धनुर्वेद को विशेषरूपसे दे दिया। द्विजोंमे श्रेष्ठ द्रोण सब अस्त्र शस्त्रो को लेकर कृतार्थ होकरके प्रसन्नचित्तसे प्रिय मित्र द्रुपदके पास गये। (४२—४४) [५२७३]

आदिपर्वमें एकसौ इकतीस अध्याय समाप्त।

महाभारत चित्रसंख्या ४



अब्रवीत्पार्थिवं राजन्सखायं विद्धि मामिह ॥ १ ॥
इत्येवमुक्तः सख्या स प्रीतिपूर्वं जनेश्वरः ।
भारद्वाजेन पाञ्चाल्यो नाऽमृष्यत वचोऽस्य तत् ॥ २ ॥
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूः कषायीकृतलोचनः ।
ऐश्वर्यमदसंपन्नो द्रोणं राजाऽब्रवीदिदम् ॥ ३ ॥

द्रुपद उवाच— अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन्नाऽतिसमञ्जसा ।
यन्मां ब्रवीषि प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ ४ ॥
न हि राज्ञामुदीर्णानामेवंभूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मञ्श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ॥ ५ ॥
सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत्पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ॥ ६ ॥
न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्यचित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ॥ ७ ॥
मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवदुपाकुरु ।
आसीत्सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ॥ ८ ॥
न दरिद्रो वसुमतो नाऽविद्वान्विदुषः सखा ।

न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते॥ ९ ॥
ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ १० ॥
नाऽश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नाऽरथी रथिनः सखा।
नाऽराजा पार्थिवस्याऽपि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच—द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाऽभिपरिप्लुतः॥ १२ ॥
स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान्।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम्॥ १३ ॥ [५२८६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि द्रोणद्रुपदसंवादे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने ।
भारद्वाजोऽवसत्तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ॥ १ ॥
भारद्वाजस्ततः पार्थान्कृपस्याऽनन्तरं प्रभुः।
अस्त्राणि शिक्षयामास नाऽबुध्यन्त च तं जनाः॥ २ ॥

हे द्विजोंमे श्रेष्ठजन! अवश्यही किसी प्रयोजनसे तुमसे मेरी मित्रता हुई थी; देखो, दरिद्र कभी धनीका मित्र नहीं होता; मूर्ख कभी पण्डितसे मित्रता नहीं कर सकता है, वीर्यवर्जित जन कभी वीर का मित्र नहीं हो सकता, फिर तुम क्यों पहिलेकी मित्रता चाहते हो ? जिनका धन समान है, जिनका ज्ञान समान है, उनहींमे मित्रता और शादी हो सकती है, पुष्ट और अपुष्ट जनोंमे कभी मित्रता नहीं हो सकती है; जो श्रोत्रिय नहीं है, वह कभी श्रोत्रियका मित्र नहीं हो सकता है रथवालेसे रथ वर्जितजन कभी मित्रता नहीं कर सकता है, राजा न होनेसे राजा के साथ मित्रता नही कर सकता है, सो तुम क्यों पहिलेकी मित्रता चाहते हो। (८-११)

वैशम्पायनजी बोले कि, प्रतापी भारद्वाजने द्रुपदकी यह सब बात सुनकर क्रोधसे जलकर क्षणभर सोचा; वह बुद्धिमान मनही मनमें पाञ्चाल राज की पराजयका उपाय निश्चयकर हस्तिनापुर नामक कौरवोंके नगरको गये। (१२—१४) [५२८६]

आदि पर्वमें एकसौ बत्तीस अध्याय।

आदिपर्वमें एकसौ तैतिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि द्विजश्रेष्ठ भारद्वाज हस्तिनापुरमें जाकर कृपाचार्य के घरमे छिप कर रहनेलगे। वहां

हेतुमागमने तत्र द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ॥ २६ ॥
द्रोण उवाच—महर्षेरग्निवेशस्य सकाशमहमच्युत ।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदचिकीर्षया ॥ २७ ॥
ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः ।
अवसं सुचिरं तत्र गुरुशुश्रूषणे रतः ॥ २८ ॥
पाञ्चाल्यो राजपुत्रश्च यज्ञसेनो महाबलः ।
इष्वस्त्रहेतोर्न्यवसत्तस्मिन्नेव गुरौ प्रभुः ॥ २९ ॥
स मे तत्र सखा चाऽऽसीदुपकारी प्रियश्च मे ।
तेनाऽहं सह संगम्य वर्तयन्सुचिरं प्रभो ॥ ३० ॥
बाल्यात्प्रभृति कौरव्य सहाऽध्ययनमेव च ।
स मे सखा सदा तत्र प्रियवादी प्रियंकरः ॥ ३१ ॥
अब्रवीदिति मां भीष्म वचनं प्रीतिवर्धनम् ।
अहं प्रियतमः पुत्रः पितुर्द्रोण महात्मनः ॥ ३२ ॥
अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चाल्यो यदा तदा ।
तद्भोज्यं भविता तात सखे सत्येन ते शपे ॥ ३३ ॥
मम भोगाश्च वित्तं च त्वदधीनं सुखानि च ।

स्वयं उसीक्षण वहां जाकर उनको आदर पूर्वक लिवा लाकर आनेका कारण योग्य रूपसे पूछा । (२३—२६)

द्रोण आद्योपान्त सब सुनाकर बोले, कि हे आयुष्मन ! मैं पहिले धनुर्वेद और अस्त्र शिक्षाके लिये महर्षि अग्निवेशके यहां गया था, वहां ब्रह्मचारी, नम्र ... चारी और गुरुकी सेवामें उत्साहित ... नक वर्ष रहा । उन दिनों ... कुमार महाबली प्रभावी यज्ञ- ... निकट अस्त्र विद्या और ... ने थे । हे ... मेरे मित्र और प्यारे थे, उनके साथ एकत्र रहकर मैं बहुत दिन सुखसे था, हे कौरव ! बालपनसे उनके साथ एकत्र मैंने पढा था, इस लिये वह सदा मेरे प्रिय करनेवाले और प्रिय कहनेवाले मित्र थे । (२६—३१)

हे भीष्म ! वह मेरी प्रीति के लिये सदा मुझसे यह कहा करते थे, कि "हे द्रोण ! मैं महानुभव पिताका बडा प्यारा पुत्र हूं, सो मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, कि जब पाञ्चालराज मुझको राज्यपर बैठावेंगे, तब वह राज्य तुम भोग करोगे, हे मित्र ! मेरा भोग, ऐश्वर्य और

एवमुक्त्वाऽथ वव्राज कृतार्थः पूजितो मया ॥ ३४ ॥
तच्च वाक्यमहं नित्यं मनसा धारयंस्तदा ।
सोऽहं पितुर्नियोगेन पुत्रलोभाद्यशस्विनीम् ॥ ३५ ॥
नातिकेशीं महाप्रज्ञामुपयेमे महाव्रताम् ।
अग्निहोत्रे च सत्रे च दमे च सततं रताम् ॥ ३६ ॥
अलभद्गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमौरसम् ।
भीमविक्रमकर्म्माणमादित्यसमतेजसम् ॥ ३७ ॥
पुत्रेण तेन प्रीतोऽहं भरद्वाजो मया यथा ।
गोक्षीरं पिबतो दृष्ट्वा धनिनस्तत्र पुत्रकान् ॥ ३८ ॥
अश्वत्थामाऽरुदद्बालस्तन्मे सन्देहयद्दिशः ।
न स्नातकोऽवसीदेत वर्त्तमानः स्वकर्म्मसु ॥ ३९ ॥
इति संचिन्त्य मनसा तं देशं बहुशो भ्रमन् ।
विशुद्धमिच्छन् गाङ्गेय धर्म्योपेतं प्रतिग्रहम् ॥ ४० ॥
अन्तादन्तं परिक्रम्य नाध्यगच्छं पयस्विनीम् ।
अथ पिष्टोदकेनैनं लोभयन्ति कुमारकाः ॥ ४१ ॥

द्रोण उवाच— कार्यं मे काङ्क्षितं किंचिद्धृदि संपरिवर्तते ।
कृतास्त्रैस्तत्प्रदेयं मे तदेतद्वदतानघाः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन्विशांपते ।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतप ॥ ७ ॥
ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः ।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ॥ ८ ॥
ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च ।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ॥ ९ ॥
राजपुत्रास्तथा चाऽन्ये समेत्य भरतर्षभ ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ॥ १० ॥
वृष्णयश्चाऽन्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात्तदा ॥ ११ ॥
स्पर्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्रोऽत्यमर्षणः ।
दुर्योधनं समाश्रित्य सोऽवमन्यत पाण्डवान् ॥ १२ ॥
अभ्ययात्स ततो द्रोणं धनुर्वेदचिकीर्षया ।
शिक्षाभुजबलोद्योगैस्तेषु सर्वेषु पाण्डवाः ॥ १३ ॥
अस्त्रविद्यानुरागाच्च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ।

मेरे मनमें जग रहा है। सो वह सत्य कर बोलो, कि जब तुम लोग अस्त्र विद्यामें दक्ष बनोगे, तब मेरी वह इच्छा पूरी करना। हे पृथ्वीनाथ! कौरवलोग यह सुनकर चुप हो रहे! अनन्तर शत्रु दमनेहारे अर्जुनने उनकी सब कामनाओंको पूरी करनेका प्रण ठाना। तब द्रोणने बार बार अर्जुनका सिर चूमकर प्रसन्नतासे उनको गलेसे लगाया और हर्षके मारे उनकी आंखोंसे आंसू गिरने लगे। अनन्तर वह वीर्यवन्त द्रोण पाण्डु-नन्दनको दिव्य और मानवी नाना प्रकारके अस्त्रोंकी शिक्षा देने लगे। (५—९)

हे भरतश्रेष्ठ! तब दूसरे अनेक राजकुमार भी आकर के अस्त्रशिक्षाके लिये द्विजोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके पास एकत्रित होने लगे। वृष्णिवंशी, अन्धकवंशी और अनेक देशोंके भूपालपुत्र तथा राधाकुमार सूतपुत्र कर्ण द्रोणाचार्यके निकट आकर के शिष्य बने। सूतपुत्र अति दर्पयुक्त होकर अर्जुनसे अहङ्कार दिखाकर दुर्योधनकी ओर झुककर पाण्डवोंका अनादर करने लगे। (१०—१३)

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रं प्रति फाल्गुनम्।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥ २२ ॥
अन्धकारेऽर्जुनायाऽन्नं न देयं ते कदाचन ।
न चाऽऽख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ॥ २३ ॥
ततः कदाचिद्भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने ।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ॥ २४ ॥
भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नाऽऽस्यादन्यत्र वर्तते ।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अनुग्रहणकारणात् ॥ २५ ॥
तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः ।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ॥ २६ ॥
तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत ।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ २७ ॥
द्रोण उवाच— प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नाऽन्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २८ ॥
वैशम्पायन उवाच- ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च ।
रथेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥ २९ ॥

गो द्रोणाचार्यके बडे प्रिय बने। आचार्य द्रोण अर्जुनको अस्त्रोंकी शिक्षामें सदा सदृढ देखकर रसोईदारको निराले में बुला कर बोले, कि तुम कभी अंधेरेमें अर्जुनको खानेके लिये अन्न मत देना और अर्जुनसे यह भी नहीं कहना, कि मैने तुमसे ऐसा कहा है। (२२-२३)

अनन्तर एक समय अर्जुन खा रहे थे, कि ऐसे समयमें हवा चलने लगी, इससे जलते हुए प्रदीपके बुझजाने पर भी तेजस्वी अर्जुन सब अंधेरेमें भोजन करने लगे : अभ्यासके कारण उनका हाथ मुखके सिवा और स्थान में नहीं गया; इससे महाभुज पाण्डुनन्दन अर्जुन ने, यह समझ कर, कि अभ्यासमेंही ऐसा होता है, रातके समय न देखने योग्य निशानेमें बाण चलानेका अभ्यास आरम्भ कर दिया। हे भारत ! आचार्य द्रोण रात्रिके समय उनके बाणोंके छुटनेका शब्द सुनकर उठकरके वहां गये और गले लगाकर अर्जुनसे बोले, कि तुमसे कहता हूं, कि ऐसा प्रयत्न करूंगा, कि मर्त्य लोक भरमें कोई दूसरा धन्वा धरने वाला तुम्हारे समान न होवे। (२३-२८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर वीर्यवन्त द्रोणाचार्यने अर्जुन को घोडे

तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद्यदृच्छया ।
राजन्ननुजगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान् ॥ ३८ ॥
तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्मचिकीर्षया ।
श्वा चरन्स वने मूढो नैषादिं प्रति जग्मिवान् ३९॥
स कृष्णामलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनजटाधरम् ।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषंस्तस्थौ तदन्तिके ॥४०॥
तदा तस्याऽथ भषतः शुनः सप्त शरान्मुखे ।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद्यथा ॥ ४१ ॥
स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवा वीराः परं विस्मयमागताः ॥ ४२ ॥
लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्ट्वा तत्परमं तदा ।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चाऽऽसन्प्रशशंसुश्च सर्वशः ॥ ४३ ॥
तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ४४ ॥
न चैनमभिजानंस्ते तदा विकृतदर्शनम् ।
तथैनं परिपप्रच्छुः को भवान्कस्य वेत्युत ॥ ४५ ॥

गये। हे राजन्! तब एक मनुष्य मृगया के योग्य जालादि लेकर, एक कुत्तेको साथ लेकर, अपनी इच्छानुसार पाण्डवों के सङ्ग चलने लगा। आगे उस वनमें जब सब लोग अपना अपना काम पूरा करनेके लिये घूमघाम रहे थे, तब उनका साथी वह कुत्ता किसीसे न देखे जाकर व्याधकी ओर गया और उसको काला, मलीन कृष्णाजिन पहिने हुए और जटाधारी देखकर उसके सामने खडा होकर भोंकने लगा। (३७—४०)

व्याधपुत्रने अस्त्र चलानेमें शीघ्रता दिखा कर उस चिल्लाते हुए कुत्तेके मुह में एक बारही सात बाण चलाया। बाणों से मुह बन्द होने पर कुत्ता पाण्डवोंके पास आया। वीर पाण्डवोंने उसको उस दशासे देखकर बडा अचरज माना और सबलोग अस्त्र चलानेवालेकी बडी फुर्ती तथा शब्दबेधनेकी सामर्थ देखकर बडे लज्जित हुए और सब प्रकारसे उसकी प्रशंसा करने लगे। (४१-४३)

हे राजन् तब पाण्डवोंने उस वनमें रहने वाले अस्त्र चलानेहारेको वनमें ढूंडते हुए देखा, कि वह हरघडी बाण चला रहा है; पर उन्होंने उस स्वरूप बिगाडे हुए व्याधको नहीं पहिचाना; अन्तमें पूछा,

पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत्स निषादजः।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५४ ॥
ततो द्रोणोऽब्रवीद्राजन्नेकलव्यमिदं वचः ।
यदि शिष्योऽसि मे वीर वेतनं दीयतां मम।
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ५५॥
एकलव्य उवाच—किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ।
न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम ॥ ५६ ॥
वैशम्पायन उवाच-तमब्रवीत्त्वयाऽङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ।
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ५७॥
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च नियतः सदा ।
तथैव हृष्टवदनस्तथैवाऽदीनमानसः ॥ ५८ ॥
छित्त्वाऽविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाऽङ्गुष्ठमात्मनः ५९
ततः शरं तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षत ।
न तथा च स शीघ्रोऽभूद्यथा पूर्वं नराधिप ॥ ६० ॥
ततोऽर्जुनः प्रीतमना बभूव विगतज्वरः ।
द्रोणश्च सत्यवागासीन्नान्योऽभिभविताऽर्जुनम् ६१॥

आके पांव छूकर प्रणाम किया, विधिपूर्वक पूजकर तथा यह कहकर कि मैं आपका शिष्य हूं, दोनों हाथ जोड़ सामने खड़ा रहा। (५१-५४)

हे राजन! अनन्तर द्रोणने एकलव्यसे कहा, कि हे वीर! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझको दक्षिणा दो। एकलव्यने सुनकर प्रसन्न चित्तसे कहा, कि भगवन! आज्ञा कीजिये, कि क्या दूं? हे ब्रह्मज्ञोंमें उत्तम! आप मेरे गुरु हैं, गुरुको मुझे कुछभी अदेय नहीं है! द्रोणाचार्य बोले, कि यदि तुम अवश्य देते हो, तो मुझको दाहिने हाथका अंगूठा देदो। (५५—५७)

एकलव्य सदा सत्य पर खड़ा था, सो आचार्य द्रोणकी वह कठोरवाणी सुनने पर भी चित्तमें दुःख न मानकर और मुखको प्रसन्न कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके बिना विचारे अपने दाहिने अंगूठेको काट कर द्रोणाचार्यको दे दिया। हे नरेश! अनन्तर निषादराज-कुमार शेष उंगलियोंसे बाण चलाने लगा, पर पहिले की समान शीघ्रतासे काम न कर सका। तब अर्जुन प्रसन्न चित्त हुए, उनकी मनःपीडा जाती रही और आचार्य द्रोणने पहिले जैसे कहा था, कि

अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥६९॥

द्रोण उवाच— शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठध्वं संहितेषवः ॥ ७० ॥
मद्वाक्यसमकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम्।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाऽङ्गिरसां वरः ।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्च तम् ॥ ७२ ॥
ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परन्तपः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ७३ ॥
ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
पश्यैनं त्वं द्रुमाग्रस्थं भासं नरवरात्मज ।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ ७५ ॥
स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ।

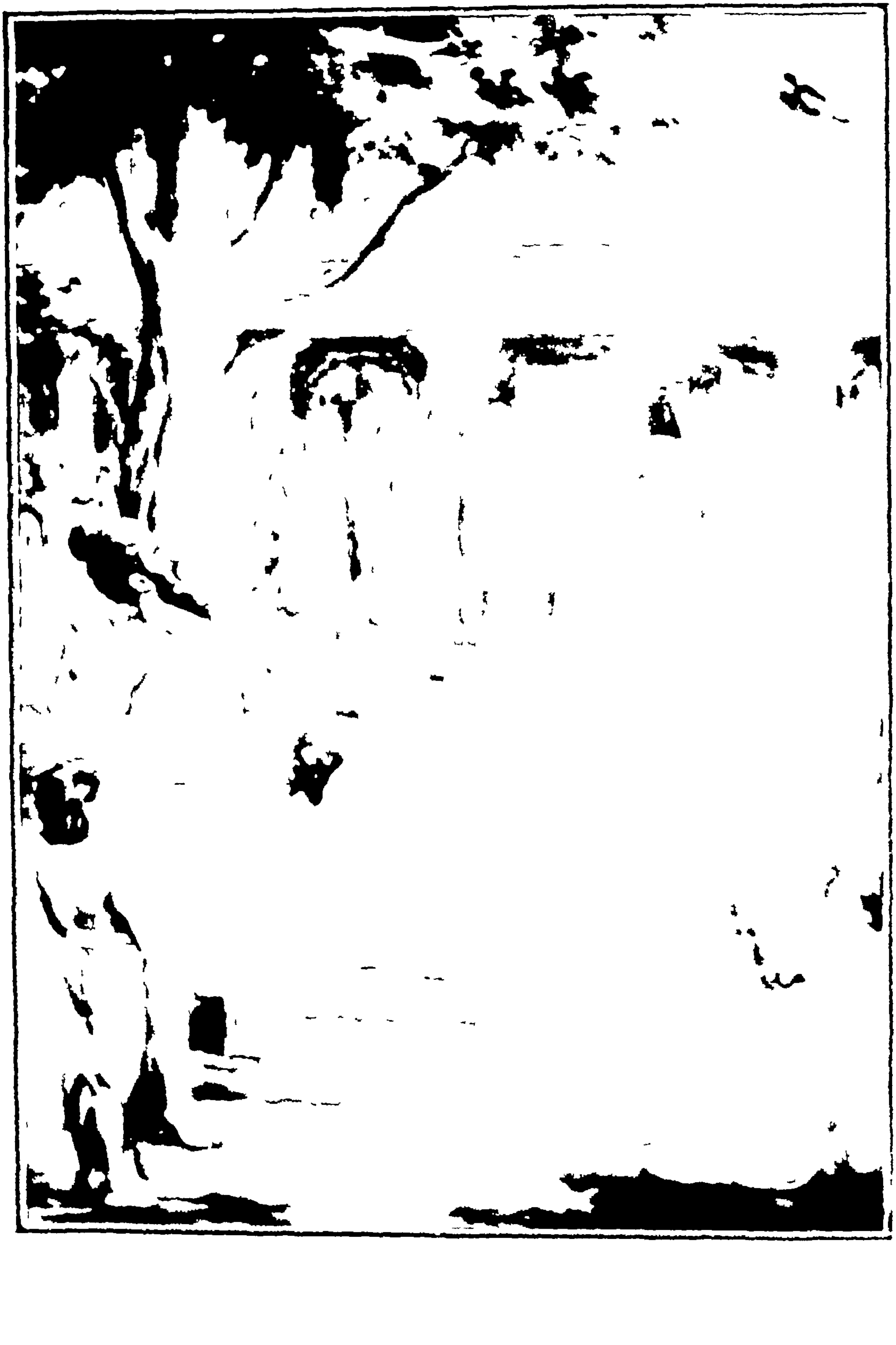
द्रोण उवाच-- अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन्वापि प्रपश्यसि॥ ७६ ॥
तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।

पहिले उन्होंने कुमारोंके न जाननेमें शिल्पकारसे बनवाकर एक कृत्रिम गिद्ध पक्षीको निशानेके लिये एक वृक्ष पर रख छोडा था। (६६—६९)

आगे शिष्योंसे बोले, कि कुमारो ! तुम शीघ्र धनुष लेकर उसमें बाण जोड करके उस देखे जाते हुए गिद्ध पर निशाना किये रहो मेरी बातके सुनतेही उस पक्षीके सिरको काटना पडेगा। ए बेटे ! मैं एक एक कर तुम सबोंसे जब जिसे नियोग करूंगा, वह उसीक्षण वैसाही करे। (७०—७१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर अङ्गिरावंशियोंमें श्रेष्ठ द्रोण पहिले युधिष्ठिरसे बोले, कि हे दुर्द्धर्ष ! बाणसे निशाना करलो, मेरी बात पूरी होतेही उसको चलाना। आगे शत्रुतपनेहारे युधिष्ठिर गुरुकी आज्ञासे पहिले धन्वा लेकर पक्षी पर निशाना किये खडे रहे। हे भरतश्रेष्ठ ! द्रोणने धन्वा पर गुण चढाये हुए कुलनन्दन युधिष्ठिरसे क्षण भर पीछे कहा, कि राजकुमार ! उस वृक्षपरके गिद्धको देखते हो ? युधिष्ठिर बोले, कि हां देखता हूं। (७२—७५)

द्रोणने कुछकाल पीछे फिर कहा, कि तुम इस वृक्षको मुझको अथवा अपने



पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चाऽर्जुन ॥ ४ ॥
पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत ।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥ ५ ॥
ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः ।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ॥ ६ ॥
भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः ।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ७॥
अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः ।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत्पार्थं स मुमोचाऽविचारयन् ॥ ८ ॥
ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च ।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥ ९ ॥
तस्मिन्कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम् ।
मेने च द्रुपदं सङ्ख्ये सानुबन्धं पराजितम् ॥ १० ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य सशिष्योऽङ्गिरसां वरः ।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥ ११ ॥
अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः ।

पक्षी पर निशाना जमाकर खडे रहे। क्षणभर पीछे द्रोणने पहिलेकी नाई कहा, कि अर्जुन ! तुम उस वृक्षपरके पक्षीको और मुझको देखते हो? (१—४)

हे भारत ! पार्थने कहा, केवल पक्षीहीको देखता हूं, वृक्षको वा आपको नहीं देखता हूं। अनन्तर दुर्द्धर्ष द्रोण प्रसन्नचित्त होकर मुहूर्तभर पीछे पाण्डवोंमें महारथी उन अर्जुनसे बोले, कि यदि तुम पक्षीहीको देखते हो तो कहो, उसको कैसा देखते हो। अर्जुनने उत्तर दिया, कि मै उस पक्षीका सिर मात्र देखता हूं शरीर नहीं देखता। अर्जुनकी यह बात सुनकर हर्षके मारे उनकी देहके रोये खडे हो गये और उनसे बोले, कि अब बाण छोडो। तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने कोई विचार न करके बाणको मारा, उससे उसीक्षण उस तेज अस्तुरेकी नाई बाणसे वृक्षपरके पक्षीका सिर कटकर नीचे गिरा। (५—९)

द्रोणाचार्यने यह काम पूरा होते देखकर प्रसन्नचित्त से अर्जुन को गले से लगाया और मनहीमनमें यह निश्चय किया, कि राजा द्रुपद सहायकोंके साथ युद्धमें हार जावेगा। हे भरतकुलमें श्रेष्ठ पुरुष ! उसके कुछदिन पीछे द्रोणने शिष्यों

नात्र स्थेयाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ॥ २० ॥
बाधेताऽमानुषः शत्रुर्यदि त्वां वीर कश्चन ।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदस्त्रमिदमाहवे ॥ २१ ॥
तथेति संप्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः ।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः ॥ २२॥
भविता त्वत्समो नाऽन्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः।
अजेयः सर्वशत्रूणां कीर्तिमांश्च भविष्यसि ॥ २३ ॥ [५४५५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणब्रह्मशिरोदाने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

वैशम्पायन उवाच— कृतास्त्रान्धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद्राजन्धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ १ ॥
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
गाङ्गेयस्य च सांनिध्ये व्यासस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥
राजन्संप्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥ ३ ॥
ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ।
धृतराष्ट्र उवाच— भारद्वाज महत्कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

करके प्रख्यात है; सो तुम इसे यत्नसे रखना और मैं जो कहता हूं, सुनो । हे वीर ! यदि कभी मनुष्यके बिना कोई और शत्रु तुम्हारी विरुद्धता करे, तो युद्धस्थलमें उसको वध करनेके लिये यह अस्त्र चलाना । बीभत्सुने दोनों हाथ जोडके, उस बातको मानकर उस परमास्त्रको ले लिया । तब गुरुने फिर उनसे कहा, कि इस भूमण्डल भरमें कोई जन तुम्हारे समान चापधारी नहीं होगा; तुम शत्रुओंसे जीते जानेके अयोग्य और यशवन्त होकर रहोगे । (२०—२३)

आदि पर्वमें एकसौ पैंतीस अध्याय समाप्त ।[५४५५]

आदिपर्वमें एकसौ छत्तीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन् ! द्रोणाचार्य धृतराष्ट्रके पुत्रों और पाण्डवोंको अस्त्रशिक्षामें दक्ष देखकर कृप, सोमदत्त, बाह्लीक, व्यास, विदुर और धीमान् भीष्मके सामने राजा धृतराष्ट्रसे बोले, कि हे कुरुकुलके श्रेष्ठ महाराज ! आपके कुमारोंने विद्या पढ ली है, अब आज्ञा हो, तो वे अपनी शिक्षा का परिचय दें ? अनन्तर महाराज उनसे प्रसन्नचित्तसे बोले, कि हे ब्राह्मण कुलमें श्रेष्ठ

विपुलानुच्छ्रयोपेताञ्छिबिकाश्च महाधनाः ॥ १२ ॥
तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा कृपं चाऽऽचार्यसत्तमम् ॥ १३ ॥
मुक्ताजालपरिक्षिप्तं वैदूर्यमणिशोभितम् ।
शातकुम्भमयं दिव्यं प्रेक्षागारमुपागमत ॥ १४ ॥
गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर ।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः ॥ १५ ॥
हर्षादारुरुहुर्मञ्चान्मेरुं देवस्त्रियो यथा ।
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद् द्रुतम् ॥ १६ ॥
दर्शनेप्सु समभ्यागात्कुमाराणां कृतास्त्रताम् ।
क्षणेनैकस्थतां तत्र दर्शनेप्सु जगाम ह ॥ १७ ॥
प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च ।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत्तदा ॥ १८ ॥
ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान् ।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥ १९ ॥
रङ्गमध्यं तदाऽऽचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह ।

और बड़ी बड़ी बेदी तथा मचान बनवा रखी। हे जयशील लोगोंमें श्रेष्ठ! अनन्तर कुमारों के विक्रम दिखानेके निश्चय किये हुए दिनके आजाने पर राजा धृतराष्ट्र मन्त्रियोंके साथ और भीष्म तथा आचार्यश्रेष्ठ कृपको आगे करके चले और स्थानस्थानमें मोतियोंकी लड़ी लटकाये और वैदूर्य मणियोंसे सजे सजाये सुवर्णके, सुन्दर दर्शनभवनमें गये और बड़ी भाग्यवती गान्धारी और कुन्तीभी दर्शन गृहमें गयीं। दूसरी राजरानियां दासियोंके साथ अपूर्व वस्त्र पहिर आनन्दकी उमंगसे बेदियों पर जा बैठीं. उस समय जान पड़ने लगा, कि मानो देवोंकी स्त्रियां सुमेरुकी चोटीपर चढी है। (११-१६)

ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारों वर्णके लोग कुमारोंकी अस्त्र विद्याकी योग्यता देखने के लिये नगरसे निकल कर बड़े वेगसे वहां देखनेकी बड़ी चाहसे क्षण भरमें एकत्र हुए। तब सम्पूर्ण रूपसे बजते हुए बाजोंके शब्द और लोगोंके आश्चर्य पूरित कल रवसे समाज महासमुद्रके समान लहराने लगा। अनन्तर वस्त्र, यज्ञोपवीत, केश, दाढी, माला और चंदन श्वेत होनेसे शोभायमान, तेजवान् आचार्य द्रोण अपने पुत्रके साथ अखाडेमें आये। उस समय जान

विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत॥ २८॥
कृत्वा धनूंषि ते मार्गान्रथचर्यासु चाऽसकृत्।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलाः ॥ २९॥
गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः ।
त्सरुमार्गान्यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु॥ ३०॥
लाघवं सौष्ठवं शोभां स्थिरत्वं दृढमुष्टिताम्।
ददृशुस्तत्र सर्वेषां प्रयोगं खड्गचर्मणोः ॥ ३१॥
अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाऽचलौ ॥ ३२॥
बद्धकक्षौ महाबाहू पौरुषे पर्यवस्थितौ ।
बृंहन्तौ वासिताहेतोः समदाविव कुञ्जरौ॥ ३३॥
तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ।
चेरतुर्निर्मलगदौ समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३४॥
विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्याः पाण्डवारणिः।
न्यवेदयेतां तत्सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम्॥ ३५॥[५४९०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि अस्त्रदर्शने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३६॥

सैकडों सहस्रों मनुष्य विस्मयसे प्रसन्न नेत्र होकर एकायक चिल्लाकर "साधु, साधु" ऐसी ध्वनि कर उठे। (२५--२८)

महाबली कुमारगण शरासन और रथ चलानेमें हाथीपर, घोडेपर चढने और हाथाबांहीमें नाना कौशल बार बार दिखाकर अन्तमें खडग चर्म लेकर फिर मारपीटमें लगकर निशानेके अनुसार नाना प्रकारसे अस्त्रोंका चलाना दिखा करके, अखाडेमें घूमने लगे। देखनेवाले उन वीर कुमारोंके असिचर्म प्रयोगमें तेज हाथ, कौशल धीरज, मुठ्ठीकी दृढता और अपूर्व शोभा देखने लगे। (२९-३१)

अनन्तर, सदाके अहङ्कारी दुर्योधन और वृकोदर गदा हाथमें लेकर एकही चोटी वाले पहाडोंके समान अखाडेमें उतरे! एक हथनीके लोभसे दो उन्मत्त हाथी जिस प्रकार चिल्लाते रहते है। उसके समान लडाई चाहने वाले वे दो महाभुज वीर कमर कसकर गर्जने लगे। सदा गदा लिये हुए मदमत्त हस्तियोंके समान महाबली सुयोधन और भीम दहिनी पलट और बांयी पलटके अनुसार गोलाकार होकर अखाडेमें घूमने लगे। तब

बद्धगोधांगुलित्राणः पूर्णतूणः सकार्मुकः ॥ ८ ॥
काञ्चनं कवचं विभ्रत्प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ।
सार्कः सेन्द्रायुधतडित्ससन्ध्य इव तोयदः ॥ ९ ॥
ततः सर्वस्य रंगस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत् ।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशंखानि समन्ततः ॥ १० ॥
एष कुन्तीसुतः श्रीमानेष मध्यमपाण्डवः ।
एष पुत्रो महेन्द्रस्य कुरूणामेष रक्षिता ॥ ११ ॥
एषोऽस्त्रविदुषां श्रेष्ठ एष धर्मभृतां वरः ।
एष शीलवतां चापि शीलज्ञाननिधिः परः ॥ १२ ॥
इत्येवं तुमुला वाचः शुश्रुवुः प्रेक्षकेरिताः ।
कुन्त्याः प्रस्रवसंयुक्तैरस्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत् ॥ १३ ॥
तेन शब्देन महता पूर्णश्रुतिरथाऽब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठो विदुरं हृष्टमानसः ॥ १४ ॥
क्षत्तः क्षुब्धार्णवनिभः किमेष सुमहास्वनः ।
सहसैवोत्थितो रङ्गे भिन्दन्निव नभस्तलम् ॥ १५ ॥

विदुर उवाच— एष पार्थो महाराज फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।

वह इन्द्रपुत्र अब दिखाई देवे। तब आचार्यकी आज्ञासे तरुणअवस्थाके अर्जुन मङ्गलाचरण करनेके पश्चात् गुणकी चोट रोकनेवाली चमडेकी पट्टी और उंगली रक्षक कसके बाणसे पूरित तूण, धनुष और सोनेके कवच पहरकर मानो सूर्यप्रकाशके समान जलते हुए और इन्द्र-धनु तथा बिजलीकी चमककी भांति सुहाते हुए, सन्ध्याकालके बादलके सदृश दीख पडे। (५—९)

उससे अखाडेकी चारो ओरसे आनन्द की ध्वनि उठने लगी और शंख तथा अनेक बाजे बजने लगे। यह श्रीमान पुरुष कुन्तीके पुत्र हैं, यह मझले पाण्डव हैं, यही कुरुओंकी रक्षा करनेवाले हैं, यही अस्त्र धरनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, यही धार्मिकोंमें प्रधान हैं, यही सुशीलोंकी शील ता और ज्ञानके परम आदर्शरूपी हुए हैं; दर्शकोंकी ऐसी अनेक बातें सुनकर कुन्ती की स्तनदुग्ध तथा आंसूसे छाती भीग गयी। (१०—१३)

उन सब बडे भारी शब्दोंसे नरोंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्रके कान भर जानेसे उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर विदुरसे पूछा, कि हे क्षत्त ! अखाडेमें हिलोडे हुए समुद्र की ध्वनिकी भांति यह महाशब्द मानो

गव्ये विषाणकोशे च चले रज्जववलम्बिनि।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ॥ २४ ॥
इत्येवमादि सुमहत्खड्गे धनुषि चाऽनघ ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि प्रदर्शयन् ॥ २५ ॥
ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन्कर्मणि भारत ।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने ॥ २६ ॥
द्वारदेशात्समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः ॥ २७ ॥
दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद्भूमिर्विदीर्यते।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ॥ २८ ॥
रंगस्यैवं मतिरभूत्क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाऽभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा॥ २९ ॥
पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥
अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम्।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत् ॥ ३१ ॥

एकही कालमें उनको चलाना। उन महावीरने रस्सी पर लटके हिलते हुए गौके सींगके कोषको इक्कीस बाण छोड-कर विद्ध किया। हे अनघ! शास्त्रमें पण्डित कुन्तीपुत्र इस प्रकारसे धनुर्वि-द्यामें, असि चलानेमें और गदा फेरनेमें नाना योग्यता दिखाने लगे। (२०–२५)

हे भारत वह कृत्रिम युद्ध अन्त होने पर था और लोगोंका कोलाहल और बाजोंकी ध्वनि घट गयी थी, कि ऐसे समयमें द्वारदेशमें उठती हुई गरता और वीरतासूचक वज्रके गर्जन समान ललकार सुनी गयी। हे नरनाथ। सब अखाडेके लोग समझने लगे, कि यह क्या है! कदाचित् पहाडोंकी पांति टूट रही है! वा धरती फटी जाती है! अथवा घने जलसे भरे बादल समूह आकाशमें छा रहे है! इसीके सब ऐसेही सन्देहसे उसक्षण द्वारकी ओर मुंह फेरके देखने लगे। (२६—२९)

तब पञ्च तारके समान हस्त नक्षत्रयुक्त चंद्रमाकी भांति आचार्यद्रोण युधिष्ठिर आदि पांच भाइयोंके बीच सुहाने लगे। शत्रुनाशी दुर्योधनके उठ खडे होने पर उनके उत्साही सौ भाई अश्वत्थामाके साथ उनको घेर कर खडे हुए। पूर्वकाल

गव्ये विषाणकोशे च चले रज्ज्ववलम्बिनि।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ॥ २४ ॥
इत्येवमादि सुमहत्खड्गे धनुषि चाऽनघ ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि प्रदर्शयन् ॥ २५ ॥
ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन्कर्मणि भारत ।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने ॥ २६ ॥
द्वारदेशात्समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः ॥ २७ ॥
दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद्भूमिर्विदीर्यते।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ॥ २८ ॥
रङ्गस्यैवं मतिरभूत्क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाऽभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा॥ २९ ॥
पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥
अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम्।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत् ॥ ३१ ॥

एकही कालमें उनको चलाना। उन महावीरने रस्सी पर लटके हिलते हुए गौके सींगके कोषको इक्कीस बाण छोड़कर विद्ध किया। हे अनघ! शास्त्रमें पण्डित कुन्तीपुत्र इस प्रकारसे धनुर्विद्यामें, असि चलानेमें और गदा फेरनेमें नाना योग्यता दिखाने लगे। (२२—२५)

हे भारत वह कृत्रिम युद्ध अन्त होने पर था और लोगोंका कोलाहल और बाजोंकी ध्वनि घट गयी थी, कि ऐसे समयमें द्वारदेशसे उठती हुई शूरता और वीरतासूचक वज्रके गर्जन समान ललकार सुनी गयी। हे नरनाथ। सब अखाडेके लोग समझने लगे, कि यह क्या है! कदाचित् पहाडोंकी पांति टूट रही है! वा धरती फटी जाती है! अथवा घने जलभरे बादल समूह आकाशमें छा रहे हैं! दर्शक सब ऐसेही सन्देहसे उसक्षण द्वारकी ओर मुह फेरके देखने लगे। (२६—२९)

तब पञ्च तारके समान हस्त नक्षत्रयुक्त चंद्रमाकी भांति आचार्यद्रोण युधिष्ठिर आदि पांच भाइयोंके बीच सुहाने लगे। शत्रुनाशी दुर्योधनके उठ खडे होने पर उनके उत्साही सौ भाई अश्वत्थामाके साथ उनको घेर कर खडे हुए। पूर्वकाल

स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधैर्गदाग्रपाणिः समवस्थितैर्वृतः।
बभौ यथा दानवसंक्षये पुरा पुरन्दरो देवगणैः समावृतः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वण्यस्त्रदर्शने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥ [५५२२]

वैशम्पायन उवाच—दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रंगं विस्तीर्णं कर्णः परपुरञ्जयः ॥ १ ॥
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ।
स धनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥ २ ॥
कन्यागर्भः पृथुयशाः पृथायाः पृथुलोचनः ।
तीक्ष्णांशोर्भास्करस्यांशः कर्णोऽरिगणसूदनः ॥३॥
सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ॥ ४ ॥
प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ।
असंख्येयगुणः श्रीमान्भास्करस्याऽऽत्मसंभवः ॥५॥
स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रमाणं द्रोणकृपयोर्नात्याहतमिवाऽकरोत् ॥ ६ ॥

में दानवोंको नष्ट करनेके लिये जिस प्रकार देवराज देवोंसे घेरे गये थे, वैसेही उस कालमें केवल गदाधारी दुर्योधन अस्त्र शस्त्रोंसे सुशोभित भाईयोंसे घेरे जाकर शोभा पाने लगे। (३०—३२)

आदिपर्वमें एकसौ सैंतीस अध्याय समाप्त।[५५२२]

आदिपर्वमें एकसौ अडतीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर देखने वालोंके विस्मय और प्रसन्न नेत्रोंमे प्रवेशका स्थान देनेपर शत्रुओंके नगरको जय करनेवाले कर्ण बडे भारी अखाडेमें प्रविष्ट हुए। जो सहज में जन्मे हुए कवचको पहिरे थे, जिनका मुख स्वाभाविक कुण्डलोंसे सुशोभित था, जिन्होंने बडे प्रकाशयुक्त भास्करके अंशसे पृथाके कन्याकालिक गर्भमे जन्म लिया था; जिनका वीर्य और पराक्रम सिंह और गजेन्द्र समान है; जिनकी प्रभा सूर्यके समान चद्रमाकी भांति और तेज अग्नि सदृश है; जो सुवर्णके ताडके समान लम्बे है, उस सूर्य कुमार अति गुणवन्त सिंह सदृश शरीर धारी; विशाल नेत्र, शत्रुकुलनाशी युवा श्रीमान् महाभुज कर्णने खड्ग बांधकर धनुषबाण लेकर चलते हुए पर्वतकी भांति अखाडेमे घुम करके चारों ओर

गव्ये विषाणकोशे च चले रज्ज्ववलम्बिनि।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ॥ २४॥
इत्येवमादि सुमहत्खड्गे धनुषि चाऽनघ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि प्रदर्शयन् ॥ २५॥
ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन्कर्मणि भारत।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने॥ २६॥
द्वारदेशात्समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः ॥ २७॥
दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद्भूमिर्विदीर्यते।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ॥ २८॥
रंगस्यैवं मतिरभूत्क्षणेन वसुधाधिप।
द्वारं चाऽभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा॥ २९॥
पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ३०॥
अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम्।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत् ॥ ३१॥

एकही कालमें उनको चलाया। उन महावीरने रस्सी पर लटके हिलते हुए गौके सीगके कोषको इक्कीस बाण छोड-कर विद्ध किया। हे अनघ! शास्त्रमें पण्डित कुन्तीपुत्र इस प्रकारसे धनुर्वि-द्यामें, असि चलानेमें और गदा फेरनेमें नाना योग्यता दिखाने लगे। (२२—२५)

हे भारत वह कृत्रिम युद्ध अन्त होने पर था और लोगोंका कोलाहल और बाजोंकी ध्वनि घट गयी थी, कि ऐसे समयमें द्वारदेशसे उठती हुई शूरता और वीरतासूचक वज्रके गर्जन समान ललकार सुनी गयी। हे नरनाथ। सब अखाडेके लोग समझने लगे, कि यह क्या है! कदाचित् पहाडोकी पांति टूट रही है! वा धरती फटी जाती है! अथवा घने जलभरे बादल समूह आकाशमें छा रहे है! दर्शक सब ऐसेही सन्देहसे उसक्षण द्वारकी ओर मुह फेरके देखने लगे। (२६—२९)

तब पञ्च तारके समान हस्त नक्षत्रयुक्त चंद्रमाकी भांति आचार्यद्रोण युधिष्ठिर आदि पांच भाईयोंके बीच सुहाने लगे। शत्रुनाशी दुर्योधनके उठ खडे होने पर उनके उत्साही सौ भाई अश्वत्थामाके साथ उनको घेर कर खडे हुए। पूर्वकाल

स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधैर्गदाग्रपाणिः समवस्थितैर्वृतः।
बभौ यथा दानवसंक्षये पुरा पुरन्दरो देवगणैः समावृतः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वण्यस्त्रदर्शने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १३७ ॥ [५५७२]

वैशम्पायन उवाच—दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रंगं विस्तीर्णं कर्णः परपुरञ्जयः ॥ १ ॥
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ।
स धनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥ २ ॥
कन्यागर्भः पृथुयशाः पृथायाः पृथुलोचनः ।
तीक्ष्णांशोर्भास्करस्यांऽशः कर्णोऽरिगणसूदनः ॥ ३ ॥
सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ॥ ४ ॥
प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ।
असंख्येयगुणः श्रीमान्भास्करस्याऽऽत्मसंभवः ॥ ५ ॥
स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रमाणं द्रोणकृपयोर्नात्याहतमिवाऽकरोत् ॥ ६ ॥

में दानवोंको नष्ट करनेके लिये जिस प्रकार देवराज देवोंसे घेरे गये थे, वैसेही उस कालमें केवल गदाधारी दुर्योधन अस्त्र शस्त्रोंसे सुशोभित भाईयोंसे घेरे जाकर शोभा पाने लगे । (३० — ३२)

आदिपर्वमें एकसौ सैंतीस अध्याय समाप्त। [५५७२]

आदिपर्वमें एकसौ अडतीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर देखने वालोंके विस्मय और प्रसन्न नेत्रोंमे प्रवेशका स्थान देनेपर शत्रुओंके नगरको जय करनेवाले कर्ण बडे भारी अखाडेमें प्रविष्ट हुए । जो सहज में जन्मे हुए कवचको पहिरे थे, जिनका मुख स्वाभाविक कुण्डलोंसे सुशोभित था, जिन्होंने बडे प्रकाशयुक्त भास्करके अंशसे पृथाके कन्याकालिक गर्भमें जन्म लिया था; जिनका वीर्य और पराक्रम सिंह और गजेन्द्र समान है; जिनकी प्रभा सूर्यके समान चंद्रमाकी भांति और तेज अग्नि सदृश है; जो सुवर्णके ताडके समान लम्बे है, उस सूर्य कुमार अति गुणवन्त सिंह सदृश शरीर धारी; विशाल नेत्र, शत्रुकुलनाशी युवा श्रीमान महाभुज कर्णने खड्ग बांधकर धनुषबाण लेकर चलते हुए पर्वतकी भांति अखाडेमें घूम करके चारों ओर

स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः ।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ॥ ७ ॥
सोऽब्रवीन्मेघगम्भीरस्वरेण वदतां वरः ।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम् ॥ ८ ॥
पार्थ यत्ते कृतं कर्म विशेषवदहं ततः ।
करिष्ये पश्यतां नृणां माऽऽत्मानं विस्मयं गमः ॥९ ॥
असमाप्ते ततस्तस्य वचने वदतां वर ।
यन्त्रोत्क्षिप्त इवोत्तस्थौ क्षिप्रं वै सर्वतो जनः ॥ १० ॥
प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत् ।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनाऽन्वाविवेश ह ॥ ११ ॥
ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा ।
यत्कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ॥ १२ ॥
अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत ।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

दुर्योधन उवाच— स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद।

आंख दौडा कर आचार्य द्रोण और कृपको मानो अनादरसे प्रणाम किया । (१—६)

तब अखाडे भरके सब लोग यह जाननेके लिये, कि यह कौन है, चुप हो और टकटकी लगाकर अप्रसन्न और आश्चर्ययुक्त हुए । सूर्यपुत्र सुन्दर बोलनेवाले कर्णने इन्द्रपुत्र अर्जुनको सगा भाई करके न जानकर बादल सदृश गंभीर शब्दसे उनसे कहा, कि हे पार्थ ! तुमने जो कार्य किया है मैं देखनेवालोंके सामने उससेभी विशेष कार्य करूंगा, सो तुम अपने कामको आश्चर्य करके मत जानना । (७—९)

हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ राजन् ! सूर्यपुत्रकी इस बातके पूरी होते न होतेही सब मानो यंत्रसे उठाये जाने की भांति उसी समय निज निज स्थानमें जा बैठे । हे मानव श्रेष्ठ ! तब दुर्योधनके हृदयमें प्रीति प्राप्त हुई और अर्जुनका चित्त क्रोध और लज्जासे अधीर हुआ । उसके अनन्तर पार्थने उस अखाडेमें जो जो कर्म किया था, सदा युद्ध चाहनेवाले महाबली कर्णने द्रोणकी आज्ञासे वह सब कर दिखाया । (१०—१२)

हे भारत ! अनन्तर दुर्योधन भाईयोंके साथ कर्णको गले लगाकर बोले, कि हे महाभुज ! आप भले आये हैं, हे मान देनेवाले ! मेरे सौभाग्यसे आप आये हैं;

अहं च कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ॥ १४ ॥

कर्ण उवाच— कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच— भुङ्क्ष्व भोगान्मया सार्धं बन्धूनां प्रियकृद्भव।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिन्दम ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः क्षिप्तमिवाऽऽत्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच— अनाहूतोपसृष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम्।
ये लोकास्तान्हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे॥ १८ ॥

कर्ण उवाच— रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥ १९ ॥
किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत।
गुरोः समक्षं यावत्ते हराम्यद्य शिरः शरैः ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरञ्जयः।
भ्रातृभिस्त्वरयाऽऽश्लिष्टो रणायोपजगाम तम्॥२१॥

अब मैं आपका अधीन हूं, आप इस कुरु राज्यको मनमाने भोगिये। कर्ण बोले, कि मुझे और किसी बातकी आवश्यकता नहीं है, केवल मित्रताका प्रार्थी हूं, और पार्थसे एकबार द्वन्द्व युद्ध करना चाहता हूं। दुर्योधन बोले, कि हे शत्रु नाशि! आप मेरे साथ नाना भोगकी वस्तु भोगते रहिये और बन्धुओंके मङ्गलेच्छुक होकर सम्पूर्ण शत्रुओंको दबाइये।१३-१६

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर पार्थ अपनेको अपमानितसा जानकर भाइयोंमें पर्वत समान खडे हुए कर्णसे बोले कि कर्ण! जो बिना बुलाये निकट आते हैं और न बुलाये जाकर अहितकी इच्छा करते हैं, उनकी जो गति होती है, मुझसे प्राण खोकर तुम उसको प्राप्त करोगे। कर्ण बोले, कि अर्जुन! यह अखाडा सबके लिये समान है, सो मेरे आनेसे तुम्हारी क्या हानि हुई? क्षत्रिय लोग बलहीसे प्रधान होते हैं, सो क्षत्रियोंका धर्म बलहीकी शरण लेता है हे भारत दुर्बलकी चेष्टाकी नाई लाञ्छनकी क्या आवश्यकता है? जब तक इन गुरुके सम्मुख चोखे बाणसे तुम्हारा सिर नहीं काटता हूं, तबतक जो कुछ कहना हो, बाणहीसे प्रगट करो। १७-२०

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अनन्तर शत्रुनगरको जीतनेवाले धनञ्जय द्रोणाचार्य

ततो दुर्योधनेनाऽपि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ २२ ॥
ततः सविद्युत्स्तनितैः सेन्द्रायुधपुरोगमैः ।
आवृतं गगनं मेघैर्बलाकापंक्तिहासिभिः ॥ २३ ॥
ततः स्नेहाद्धरिहयं दृष्ट्वा रङ्गावलोकिनम् ।
भास्करोऽप्यनयन्नाशं समीपोपगतान्घनान्॥ २४ ॥
मेघच्छायोपगूढस्तु ततोऽदृश्यत फाल्गुनः ।
सूर्यातपपरिक्षिप्तः कर्णोऽपि समदृश्यत ॥ २५ ॥
धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन्देशे व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ॥२६॥
द्विधा रङ्गः समभवत्स्त्रीणां द्वैधमजायत ।
कुन्तिभोजसुता मोहं विज्ञातार्था जगाम ह ॥ २७ ॥
तां तथा मोहमापन्नां विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुन्तीमाश्वासयामास प्रेष्याभिश्चन्दनोदकैः ॥ २८॥
ततः प्रत्यागतप्राणा तावुभौ परिदंशितौ ।
पुत्रौ दृष्ट्वा सुसंभ्रान्ता नाऽवपद्यत किंचन ॥ २९ ॥

की आज्ञा पाकर और भाइयोंके गलेसे लग कर युद्धके लिये कर्ण के सामने गये। इधर कर्ण दुर्योधन और उनके भाइयोंसे मिलकर बाणसहित शरासन लेकरके युद्धके लिये खडे रहे। इससे इन्द्र धनुसे सोहते हुए, बिजली तथा गर्जनसे भरे और बगुलोंसे मानो हंसते हुए बादलदलसे आकाशमण्डल ढंप गया। अनन्तर इन्द्रको निजपुत्र अर्जुनपर स्नेहवश अखाडेकी ओर ताकते देख कर सूर्यने अपने पुत्र कर्णके निकटके जलधरनेवाले बादलोंको नष्ट किया। तब अर्जुन मेघकी छांहसे ढंपे और कर्ण सूर्यके किरणसे घिरे दीख पडने लगे। (२१-२५)

जिधर कर्ण थे, उधर धृतराष्ट्रके पुत्र और जिधर अर्जुन थे; उधर द्रोण, कृप और भीष्म खडे रहे। अखाडा दो भागोंमें बंट गया और स्त्रियांभी दो दल हो गयीं। कुन्तीभोजकन्या पृथा अपने पुत्र कर्ण और अर्जुनका युद्धमे प्रवृत होना जानकर मोहसे विवश हुई। सर्वधर्मज्ञ विदुरने दासियोंकी सहायतासे चन्दनके जलसे उस मूर्च्छित हुई, कुन्तीको चेतनयुक्त किया। कुन्ती चेत पाकर युद्धके लिये सजे हुए दोनो पुत्रोंको देखकर भयभीत बनी रही, कुछ कर नहीं सकी। (२६-२९)

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ ३० ॥
अयं पृथायास्तनयः कनीयान्पाण्डुनन्दनः ।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ॥ ३१ ॥
त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम् ।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणः ॥ ३२ ॥
ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा ।
वृथाकुलसमाचारैर्न युध्यन्ते नृपात्मजाः ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच— एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम् ।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥ ३४ ॥
दुर्योधन उवाच— आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये ।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥ ३५ ॥
यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाऽराज्ञा योद्धुमिच्छति ।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच— ततस्तस्मिन्क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः ।

अनन्तर सर्व धर्म जाननेवाले विशेष द्वन्द्वयुद्धकी रीतिको भले प्रकार जानते हुए शारद्वत उन दोनों वीरोको बडे बडे शरासन उठाते देखकर कर्णसे बोले, कि यह अर्जुन कुरुवंशी राजा पाण्डुके पुत्र है, कुन्तीके तीसरे गर्भमे जन्म लिया है, यह तुमसे द्वन्द्वयुद्ध करेंगे। हे महाभुज! तुमभी जिस राज-वंशके अलङ्कार बने हो, उस कुलका वृत्तान्त और पिता माताके नाम कहो, उसके जान लेनेमे पार्थ यह निश्चय करेंगे, कि तुमसे लडेंगे वा नहीं, क्योंकि राजकुमारगण छोटे कुलमे जन्म लिये हुए, सदाचार वर्जित जनोंसे द्वन्द्वयुद्ध नहीं करते। (३०-३३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि आचार्य कृपके इसप्रकार कहनेपर कर्णका मुह लज्जा से नीचा होकर वर्षाजलसे धोये हुए पद्मकी नाई मलिन हो गया। तब दुर्योधन बोले, कि हे आचार्य! शास्त्रोंमें यह निश्चय है, कि राजकुलमें जन्म लिये हुए, शूर और सेनापति यह तीन भूपाल हो सकते है, सो यदि अर्जुन भूपालके विना किसी अन्यसे न लडना चाहें, तो मैं अभी इन कर्णको अङ्गराज्यमे अभिषिक्त कर देता हूं। (३४-३६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर महाबलवन्त महारथी श्रीमान कर्ण उसी क्षण सुवर्ण पीठपर स्थित होकर मन्त्रज्ञ

काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ॥ ३७ ॥
अभिषिक्तोऽङ्गराज्यस्य श्रिया युक्तो महाबलः।
सच्छत्रवालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ॥ ३८ ॥
उवाच कौरवं राजा वचनं स वृषस्तदा ।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददामि ते॥ ३९ ॥
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप ।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥४०॥
एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाच तम् ।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः॥ ४१ ॥ [५५६३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वण्य-स्त्रदर्शनेऽष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १३८ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः ।
विवेशाऽधिरथो रंगं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥ १ ॥
तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥ २ ॥
ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससंभ्रमः ।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद्रथसारथिः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणोंके द्वारा लाज, फूल और सुवर्ण घटसे अङ्गराज्यमें अभिषिक्त हुए। महाराज ! अनन्तर कर्ण जयके शब्दके साथ अच्छे छत्र और चवरयुक्त होकर कुरुनन्दन दुर्योधनसे बोले, कि हे राजाओंमें व्याघ्र समान महाराज! आपने जो मुझको राज्य दिया, कहिये, मै आपको इसके योग्य क्या दूं ? आप जैसा कहेंगे, मै वैसाही करनेको सम्मत हू । सुयोधन बोले, कि मै आपसे अच्छी मित्रताकी प्रार्थना करता हूं, ऐसा कहे जाकर कर्णने प्रतिज्ञाके साथ उसको मान लिया और दोनों हर्षसे एक दूसरेको गले लगा कर बडे प्रसन्न हुए। (३७-४१)[५५६३]

आदिपर्वमे एकसौ अडतीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमे एकसौ उन तालीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर कांपता, पसीनेसे न्हाया,बूढा अधिरथ लाठी थामकर लटकते हुए चादरसे कर्णको बुलाता हुआ अखाडेमें आन पहुंचा, कर्णने उसको देखतेही पितृगौरव वश धनुषबाणको छोडकर अभिषेकके जलसे भिंगे हुए सिरसे प्रणाम किया। रथके सारथि अधिरथने सम्मानके साथ

परिष्वज्य च तस्याऽथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः ।
अंगराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥ ४ ॥
तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवाः ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत्प्रहसन्निव ॥ ५ ॥
न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम् ।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥ ६ ॥
अंगराज्यं च नाऽर्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम ।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाऽध्वरे ॥ ७ ॥
एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः ।
गगनस्थं विनिःश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ॥ ८ ॥
ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः ।
भ्रातृपद्मवनात्तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ॥ ९ ॥
सोऽब्रवीद्भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम् ।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥ १० ॥
क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ॥ ११ ॥

वस्त्रके अन्त भागमे अपने पावोंको ढांप कर राज्य पानेसे सफल मनोरथ कर्णको पुत्र कहके सभाषण किया और स्नेहसे चित्त गलजानेसे गले लगाकरके अङ्गराज्य में अभिषिक्त कर्णके भीगे सिरको आनन्दके आंसूसे फिर भिगोया। (१-४)

भीमसेन उसको देखकरके कर्णको सूतका पुत्र जानकर मानो हंसीसे बोले, कि हे सूतपुत्र! तुम रणभूमिमें अर्जुनसे मारे जानेके योग्य नहीं हो तुम शीघ्र घोडा चलानेके निमित्त अपने कुलके योग्य पैनेको थामो! रे नराधम! कुत्ता जैसे यज्ञीय अग्निके सामने स्थित घृत पानेके योग्य नहीं है। वैसेही तूभी अङ्गराज्यको भोगनेके योग्य नहीं है। भीमकी इस बातसे कर्णके होठ कांपने लगे। उन्होंने ऊंची सांस लेकर आकाशमें स्थित दिननाथ पर आंख फेरी! (५-८)

अनन्तर महाबली दुर्योधन क्रोधित होकर मदसे उन्मत्त हस्तीके समान भ्रातृवर्गरूपी पद्मवनसे उसीक्षण कूद उठे और निकट ठहरे हुए, भीमकर्म करनेवाले भीमसेनसे बोले, कि वृकोदर! तुमको ऐसा कहना न चाहिये था; क्षत्रियोंका बलही श्रेष्ठ है, क्षत्रियके निन्दित होनेपरभी उससे लडना चाहिये। ऐसा कहा

सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम् ।
दधीचस्याऽस्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम् ॥ १२ ॥
आग्नेयः कृत्तिकापुत्रो रौद्रो गाङ्गेय इत्यपि ।
श्रूयते भगवान्देवः सर्वगुह्यमयो गुहः ॥ १३ ॥
क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः।
विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम् ॥ १४ ॥
आचार्यः कलशाज्जातो द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
गौतमस्याऽन्ववाये च शरस्तम्बाच्च गौतमः ॥ १५ ॥
भवतां च यथा जन्म तदप्यागमितं मया ।
सकुण्डलं सकवचं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
कथमादित्यसदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति ॥ १६ ॥
पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाऽङ्गराज्यं नरेश्वरः ।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाऽऽज्ञानुवर्तिना ॥ १७ ॥
यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम् ।

है, कि नदी और वीरोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त जानने योग्य नही है। (९–११)

देखो अग्निने जलसे उठकर इस चराचर भुवनको छेंक लिया है और जिस वज्रसे दानव-वंश नष्ट हुआ है, वह वज्र मुनिवर दधीचिकी हड्डीसे बना है; जो भगवान् देवकार्तिक है, उनकी उत्पत्तिभी जानने योग्य नही है, क्योंकि वह अग्निके पुत्र, कृत्तिकाके पुत्र, रुद्रके पुत्र और गङ्गाके पुत्र कहकेभी प्रसिद्ध होते है। फिर यह भी तुमने सुना होगा, कि जिन्होने पहिले क्षत्रियोसे जन्म लिया था, वेभी ब्राह्मण हुए है। देखो, विश्वामित्र आदिने क्षत्रियकुलमें जन्म लेकर अनश्वर अव्यय ब्राह्मणका पद प्राप्त किया था। (१२–१४)

अस्त्रधारियोमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण यज्ञके कलसेसे उत्पन्न हुए थे और आचार्य कृपने गौतमके वंशमें शरकण्डेकी लकडीसे जन्म लिया था; औरोकी कथा कहनेका क्या प्रयोजन है, तुम्हाराही जन्म जिस प्रकारसे हुआ था, वहभी मैं जानता हूं; यह सम्भवही नही होता, कि कुण्डल कवच सहित जन्म लिये हुए सर्व लक्षणयुक्त सूर्यवत् इस पुरुषव्याघ्रने मृगीसे जन्म लिया हो; विशेष इन कर्णके भुजबल और आज्ञानुसारी मेरे विद्यमान रहते इन नरेश्वरको केवल अंगराज्य हीका भोगना क्या है, बल्कि यह भूमण्डल भरके एकही अधिकारी होने योग्य है। पर यदि मेरा यह कार्य किसी-

रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम् ॥ १८ ॥
ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत् ।
साधुवादानुसंबद्धः सूर्यश्चाऽस्तमुपागमत् ॥ १९ ॥
ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याऽग्रकरे नृपः ।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद्रङ्गाद्विनिर्ययौ ॥ २० ॥
पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते ।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ २१ ॥
अर्जुनेति जनः कश्चित्कश्चित्कर्णेति भारत ।
कश्चिद् दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा ॥ २२ ॥
कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम् ।
पुत्रमङ्गेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरजायत ॥ २३ ॥
दुर्योधनस्याऽपि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव ।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ २४ ॥
स चापि वीरः कृतशस्त्रनिःश्रमः परेण साम्नाऽभ्यवदत्सुयोधनम् ।
युधिष्ठिरस्याऽप्यभवत्तदा मतिर्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
सम्भवपर्वण्यस्त्रदर्शने ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥ [५५८८]

को असहन जान पडा हो, तो वह रथपर आरूढ होकर दोनों पाओंके सहारे शरासन नवावे। (१५—१८)

अनन्तर अखाडे भरमें साधुवादयुक्त बडा कोलाहल उठने लगा, ऐसे समयमें दिननाथ अस्ताचलको सिधारे। अनन्तर भूपाल दुर्योधन कर्णके हाथ पकड दीपकके उजालेमें उस अखाडेसे निकले। पृथ्वीनाथ! पाण्डवगण और आचार्य द्रोण, कृप और भीष्मके साथ सब उस समय अपने अपने घरको चलेगये। तब देखने वालोंमें कोई अर्जुनकी, कोई कर्ण तथा दुर्योधनकी बात कहता हुआ चला गया। कुन्ती दिव्य लक्षणयुक्त पुत्रको पहिचानकर और उसको अङ्गराज्यमें अभिषिक्त देखकर स्नेह के कारण गुप्त भावसे प्रसन्न हुई। हे पृथ्वीपते! तब कर्णको पाकर दुर्योधनके हृदयमें अर्जुनका भय जाता रहा। शस्त्रविद्यामें परिश्रमी वीर कर्ण मीठी मीठी बातोंसे सुयोधनको प्रसन्न करने लगे और युधिष्ठिरकोभी समझ पडा, कि भूमण्डल भरमें कर्णके समान धनुष्यधारी कोई नहीं है। (१९-२५)[५५८८]

आदिपर्वमें एकसौ उनतीस अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच- पाण्डवान्धार्तराष्ट्रांश्च कृतास्त्रान्प्रसमीक्ष्य सः।
गुर्वर्थं दक्षिणाकाले प्राप्तेऽमन्यत वै गुरुः ॥ १ ॥
ततः शिष्यान्समानीय आचार्योऽर्थमचोदयत्।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते ॥ २ ॥
पाञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात्परमदक्षिणा ॥ ३ ॥
तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः ।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः ॥ ४ ॥
ततोऽभिजग्मुः पाञ्चालान्निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः ॥ ५ ॥
दुर्योधनश्च कर्णश्च युयुत्सुश्च महाबलः ।
दुःशासनो विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ॥ ६ ॥
एते चान्ये च बहवः कुमारा बहुविक्रमाः।
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवं क्षत्रियर्षभाः ॥ ७ ॥
ततो वररथारूढाः कुमाराः सादिभिः सह।
प्रविश्य नगरं सर्वे राजमार्गमुपाययुः ॥ ८ ॥
तस्मिन्काले तु पाञ्चालः श्रुत्वा दृष्ट्वा महद्बलम्।

आदिपर्वमें एकसौ चालीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर आचार्य द्रोणने पाण्डुके तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अस्त्रविद्यामें शिक्षित देखकर गुरु-दक्षिणाके काल आनेपर दक्षिणाके योग्य विषयका निश्चय किया। अनन्तर शिष्योंको लिवा लाकर गुरु दक्षिणाके वह योग्य वस्तुकी आज्ञाकर बोले, कि तुम लड करके पाञ्चालराज द्रुपदको पराजय पूर्वक पकड कर मेरे पास ले आओ। तुम्हारा मङ्गल होवे, ऐसा करनेहीसे तुम अच्छी दक्षिणा दोगे। शिष्यगण सब वह मानकर गुरु दक्षिणाके लिये अस्त्र शस्त्र लेकर रथ पर चढके गुरु द्रोणके साथ वेगसे पधारे। वे नरश्रेष्ठगण सब पाञ्चाल देशमें मारते पीटते हुए चले, आगे बडे तेजस्वी द्रुपदके नगरको बिगाडने लगे। (१—५)

दुर्योधन, कर्ण महाबली युयुत्सु, दुःशासन, विकर्ण, जलसन्ध, सुलोचन और दूसरे बडे विक्रमी क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कुमारगण यह कहते हुए कि " मै पहिले मै पहिले " अच्छे रथ पर चढ करके घुड चढोंसे घेरे जाकर नगरमें घुसकर राजमार्ग

भ्रातृभिः सहितो राजंस्त्वरया निर्ययौ गृहात्॥ ९ ॥
ततस्तु कृतसन्नाहो यज्ञसेनो महीधरः ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तः प्रणेदुः सर्व एव ते ॥ १० ॥
ततो रथेन शुभ्रेण समासाद्य तु कौरवान्।
यज्ञसेनः शरान्घोरान्ववर्ष युधि दुर्जयः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच–पूर्वमेव तु संमन्त्र्य पार्थो द्रोणमथाऽब्रवीत्।
दर्पोद्रेकात्कुमाराणामाचार्यं द्विजसत्तमम् ॥ १२ ॥
एषां पराक्रमस्याऽन्ते वयं कुर्याम साहसम्।
एतैरशक्तः पाञ्चालो ग्रहीतुं रणमूर्धनि ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
अर्धक्रोशे तु नगरादतिष्ठद्बहिरेव सः ॥ १४ ॥
द्रुपदः कौरवान्दृष्ट्वा प्राधावत समन्ततः ।
शरजालेन महता मोहयन्कौरवीं चमूम् ॥ १५ ॥
तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे ।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे तत्र कौरवाः ॥ १६ ॥
द्रुपदस्य शरा घोरा विचेरुः सर्वतो दिशम्।

से चलने लगे। हे राजन्! उस समय पाञ्चाल देशके, राजा यज्ञसेन वह सब बात सुनकर आयी हुई बडी भारी सेना देख करके युद्धके लिये सजकर भाइयोंके साथ भवनसे शीघ्र निकले। कौरवगण सब बडा शब्द करते हुये बाण वर्षाने लगे। तब दुर्जय यज्ञसेन श्वेत रथ पर चढकर रणमें पाण्डवोंके निकट आकर बहुत अधिक बाण वर्षाने लगे। (८-११)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अर्जुन कुमारोंको अहङ्कारसे बढते देखकर पहिलेही परामर्श कर द्विजश्रेष्ठ आचार्य द्रोणसे बोले कि इनके बल दिखा लेनेके पीछे हम साहस करेंगे, क्योंकि रणस्थल मे यह कदापि भूपाल पाञ्चालको पकड नहीं पावेंगे। अनघ कुन्तीपुत्र यह कहकर भाइयोंके साथ नगरसे आधेकोस की दूरी पर जा रहे; इधर द्रुपद कौरवोंको देखकर अगणित बाणोंसे कौरवी सेनाको मोहित करके चारों ओर दौडने लगे। (१२-१५)

कौरवलोग युद्धस्थलमें रथ पर चढे हुए लडनेमें उद्यत अकेले द्रुपदको शीघ्रता को देखकर भयके मारे मानो उस एकहीको अनेक समझने लगे। राजा द्रुपदके कठोर बाण चारों ओर फिरने लगे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्च सहस्रशः॥ १७॥
प्रावाद्यन्त महाराज पाञ्चालानां निवेशने।
सिंहनादश्च संजज्ञे पाञ्चालानां महात्मनाम्॥ १८॥
धनुर्ज्यातलशब्दश्च संस्पृश्य गगनं महान्।
दुर्योधनो विकर्णश्च सुबाहुर्दीर्घलोचनः॥ १९॥
दुःशासनश्च संक्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरन्।
सोऽतिविद्धो महेष्वासः पार्षतो युधि दुर्जयः॥ २०॥
व्यधमत्तान्यनीकानि तत्क्षणादेव भारत।
दुर्योधनं विकर्णं च कर्णं चाऽपि महाबलम्॥ २१॥
नानानृपसुतान्वीरान्सैन्यानि विविधानि च।
अलातचक्रवत्सर्वं चरन्बाणैरतर्पयत्॥ २२॥
ततस्तु नागराः सर्वे मुसलैर्यष्टिभिस्तदा।
अभ्यवर्षन्त कौरव्यान्वर्षमाणा घना इव॥ २३॥
सबालवृद्धास्ते पौराः कौरवानभ्ययुस्तदा।
श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं कौरवानेव भारत॥ २४॥
द्रवन्ति स्म नदन्ति स्म कौरवाः पाण्डवान्प्रति।
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा आर्तानां लोमहर्षणम्॥ २५॥

महाराज! अनन्तर पाञ्चालोंके घरमें सहस्रों शङ्ख, मृदङ्ग तथा नगाडे बजने लगे और उनके सिंह समान गर्जन तथा धन्वामें गुण चढानेके घोर शब्द आकाशमें गूंजने लगे। उससे दुर्योधन, विकर्ण, सुबाहु, दीर्घलोचन और दुःशासन यह क्रोधित होकर बाण वर्षाने लगे। (१९-२०)

हे भारत! लडाईमें दुर्जय बडे चापधारी पृषतपुत्र द्रुपद बाणोंसे बहुत विद्ध होकर उसीक्षण विपक्षी सेनाको बडी कठोर पीडा पहुंचाने लगे। वह अकेले रथके पहियेके समान घूमघूमकर दुर्योधन, विकर्ण, महाबली कर्ण और नाना देशके वीर राजकुमारोंको तथा अनेक सेनाओंको बाणोंसे डाटने लगे, किसीको उसका स्वाद बिना दिये नहीं छोडा। अनन्तर नगरवालोंने वर्षनेवाले बादलोंके समान मूसल और लाठियोंसे कौरवोंको घेर लिया। (२१—२३)

हे भारत! तब पुरवासियोंमें बच्चोंसे लेकर बुड्ढोंतक घोर युद्धकी बात सुनकर कौरवों पर दौडे; इससे कौरवगण भागकर चिल्ला चिल्लाके रोते हुए पाण्डवों की ओर चले। तब पाण्डवगण रोये

अभिवाद्य ततो द्रोणं रथानारुरुहुस्तदा।
युधिष्ठिरं निवार्याऽऽशु मा युध्यस्वेति पाण्डवम्॥२६॥
माद्रेयौ चक्ररक्षौ तु फाल्गुनश्च तदाऽकरोत्।
सेनाग्रगो भीमसेनः सदाऽभूद्गदया सह॥ २७॥
तदा शत्रुस्वनं श्रुत्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
आयाज्जवेन कौन्तेयो रथेनाऽनादयन्दिशः॥ २८॥
पाञ्चालानां ततः सेनामुध्दूतार्णवनिस्वनाम्।
भीमसेनो महाबाहुर्दण्डपाणिरिवाऽन्तकः॥ २९॥
प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा।
स्वयमभ्यद्रवद्भीमो नागानीकं गदाधरः॥ ३०॥
स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चाऽऽत्मनः।
अहनत्कुञ्जरानीकं गदया कालरूपधृक्॥ ३१॥
ते गजा गिरिसंकाशाः क्षरन्तो रुधिरं बहु।
भीमसेनस्य गदया भिन्नमस्तकपिण्डकाः॥ ३२॥
पतन्ति द्विरदा भूमौ वज्रघाताद्विवाऽचलाः॥ ३३॥
गजानश्वान्रथांश्चैव पातयामास पाण्डवः।

खडे करनेवाली लडाईके कोलाहलको सुनकर आचार्य द्रोणके पांव छूकर रथपर चढे। अर्जुनने शीघ्रतासे युधिष्ठिरसे यह कह कर मनाकरके कि "आप न लडिये" नकुल और सहदेवको चक्रकी रखवारीमें नियुक्त किया और सदा सेनाके आगे चलनेवाले भीमसेन हाथमें गदा लेकर चले। (२४–२७)

कुन्तीपुत्र अनघ अर्जुन शत्रुओंका शब्द सुनकर रथोंकी आहटसे दशों दिशा भरते हुए, भाईयोंके साथ बडे वेगसे रणभूमिमें आगये। जिस प्रकार मगर समुद्रमें प्रवेश करता है, वैसेही हाथमें दण्ड लिये यमराजके समान भीमसेन उछलते हुए समुद्रकी भांति शब्द करती हुई पाञ्चाल सेनामें प्रविष्ट हुए। अतुल भुजवीर्य युक्त, रणमें पण्डित पृथापुत्र भीम स्वयं गजपर चढी हुई सेनाकी ओर दौड कर और कालरूपी होकर गदाघातसे उसको नष्ट करने लगी। (२८—३१)

उन सब महीधर समान हस्तियोंके सिर भीमसेनकी गदाकी चोटसे टूट जानेपर वे रक्तकी धार बहाते हुए, वज्रकी चोट लगे हुए पर्वतकी भांति धरतीपर गिरने लगे। अर्जुनके बडे भाई वृकोदरने अगणित गज, घोडे और रथ धरती

पदातींश्च रथांश्चैव न्यवधीदर्जुनाग्रजः ॥ ३४ ॥
गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान्वने ।
चालयन्रथनागांश्च संचचाल वृकोदरः ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच–भारद्वाजप्रियं कर्तुमुद्यतः फाल्गुनस्तदा ।
पार्षतं शरजालेन क्षिपन्नागात्स पाण्डवः ॥ ३६ ॥
हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च समन्ततः ।
पातयन्समरे राजन्युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३७ ॥
ततस्ते हन्यमाना वै पाञ्चालाः सृञ्जयास्तथा ।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पार्थं संछाद्य सर्वशः ।
सिंहनादं मुखैः कृत्वा समयुध्यन्त पाण्डवम् ॥ ३८ ॥
तद्युद्धमभवद्घोरं सुमहाद्भुतदर्शनम् ।
सिंहनादस्वनं श्रुत्वा नामृष्यत्पाकशासनिः ॥ ३९ ॥
ततः किरीटी सहसा पाञ्चालान्समरेऽद्रवत् ।
छादयन्निषुजालेन महता मोहयन्निव ॥ ४० ॥
शीघ्रमभ्यस्यतो बाणान्संदधानस्य चाऽनिशम् ।
नाऽन्तरं ददृशे किंचित्कौन्तेयस्य यशस्विनः ॥ ४१ ॥

पर गिराये और असंख्य रथी और पैदलोंको यमराजके घर भेजने लगे। वनमे गौओंके रखवारे जिस प्रकार लकडीसे पशुदलको खदेडते है, वैसेही भीमसेन गज और रथियोंको गदासे भगाने लगे। (३२—३७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने आचार्य द्रोणके प्रिय कार्य करनेमे उद्यत होकर बाणोके द्वारा हस्तीपरसे पाञ्चालराजको गिराया। हे राजन् ! वह प्रलयकालके अग्निके समान जलकर चारों ओर घोडे रथ और गजोंको रणशय्यापर सुलाने लगे। अनन्तर मरते जाते हुए, सृञ्जय और पाञ्चाललोग मुखसे सिंहसमान गर्जनकर नाना बाणोंसे पार्थको घेरकर कठोर युद्ध करने लगे। तब देखने में वह घोर युद्ध बडाही विकराल हुआ। (३६–३९)

इन्द्रनन्दन अर्जुनसे वह सिंह-गर्जन सहा नही गया, वह उसीक्षण घोर बाणों से रणभूमिको चारो ओर घेरकर पाञ्चालोंको मोहित करके उनपर दौडे। यशस्वी कुन्तीपुत्र इतने शीघ्र बाण जोडने और चलाने लगे, कि उनका टुकभी अवसर दीख नही पडा। चारो ओर साधुवादसहित सिंह-गर्जन होने लगा! शम्बर

सिंहनादश्च संजज्ञे साधुशब्देन मिश्रितः।
ततः पाञ्चालराजस्तु तथा सत्यजिता सह ॥ ४२ ॥
त्वरमाणोऽभिदुद्राव महेन्द्रं शम्बरो यथा।
महता शरवर्षेण पार्थः पाञ्चालमावृणोत् ॥ ४३ ॥
ततो हलहलाशब्द आसीत्पाञ्चालके बले।
जिघृक्षति महासिंहो गजानामिव यूथपम् ॥ ४४ ॥
दृष्ट्वा पार्थं तदाऽऽयान्तं सत्यजित्सत्यविक्रमः।
पाञ्चालं वै परिप्रेप्सुर्धनञ्जयमदुद्रवत् ॥ ४५ ॥
ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ युद्धाय समुपागतौ।
व्यक्षोभयेतां तौ सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ॥ ४६ ॥
ततः सत्यजितं पार्थो दशभिर्मर्मभेदिभिः।
विव्याध बलवद्गाढं तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ ४७ ॥
ततः शरशतैः पार्थं पाञ्चालः शीघ्रमार्दयत्।
पार्थस्तु शरवर्षेण च्छाद्यमानो महारथः ॥ ४८ ॥
वेगं चक्रे महावेगो धनुर्ज्यामवमृज्य च।
ततः सत्याजितश्चापं छित्त्वा राजानमभ्ययात् ॥ ४९ ॥
अथाऽन्यद्धनुरादाय सत्यजिद्वेगवत्तरम्।

असुर जिस प्रकार महेन्द्रपर दौडा था, वैसेही पाञ्चालराज तब सत्यजितके साथ शीघ्रता करके अर्जुनपर दौडे। अर्जुनने बडे बडे बाणोकी वर्षा कर पाञ्चालराजको ढंप लिया। इससे उस समय पाञ्चालो में ऐसी हलहलावट उठने लगी, कि जैसी बडे सिंहके गजदलपतिके पकडने को चाहनेसे उठती है। (३९-४४)

तब सत्यविक्रमी सत्याजित अर्जुनको आते देखकर पाञ्चालराजकी रक्षाके लिये अर्जुन पर दौडे। इन्द्र और विरोचनके पुत्र के समान युद्धार्थ एकत्र भये। अर्जुन और सत्याजित दोनो एक दूसरेकी सेनामें हलचल मचाने लगे। आगे अर्जुनने मर्म भेद करने वाले बलपूर्वक कठिन रूपमें सत्यजितको विद्ध किया। वह लीला मानो आश्चर्यसी जान पडी। अनन्तर सत्याजितने उसीक्षण धनंजय को पीडा पहुंचाई। बडे वेगवान महारथी धनञ्जयने बाण वृष्टिसे ढंपे जाकर धनुषके गुणको मल कर फिर तेजको बढा लिया। आगे बाणोंसे सत्याजित का शरासन काटकर द्रुपदकी ओर चले। (४५-४९)

अनन्तर सत्याजितने शीघ्रतासे अधिक

साश्वं ससूत सरथं पार्थं विव्याध सत्वरः ॥ ५० ॥
स तं न मम्रृषे पार्थः पाञ्चालेनाऽर्दितो युधि ।
ततस्तस्य विनाशार्थं सत्वरं व्यसृजच्छरान् ॥ ५१ ॥
हयान्ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
स तथा भिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ॥ ५२ ॥
हयेषु विनियुक्तेषु विमुखोऽभवदाहवे ।
स सत्यजितमालोक्य तथा विमुखमाहवे ॥ ५३ ॥
वेगेन महता राजन्नभ्यवर्षत पाण्डवम् ।
तदा चक्रे महद्युद्धमर्जुनो जयतां वरः ॥ ५४ ॥
तस्य पार्थो धनुश्छित्वा ध्वजं चोर्व्यामपातयत्।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान्सूतं च सायकैः ॥ ५५ ॥
तत उत्सृज्य तच्चापमाददानं शरावरम्।
खड्गमुद्धृत्य कौन्तेयः सिंहनादमथाऽकरोत् ॥ ५६ ॥
पाञ्चालस्य रथस्येषामाप्लुत्य सहसाऽपतत्।
पाञ्चालरथमास्थाय अवित्रस्तो धनंजयः ॥ ५७ ॥
विक्षोभ्याऽम्भोनिधिं पार्थस्त नागमिव सोऽग्रहीत्।
ततस्तु सर्वे पाञ्चाला विद्रवन्ति दिशो दश ॥ ५८ ॥

वेगवान् दूसरे एक शरासनको लेकर घोडे, रथ और सारथिके साथ पार्थको विद्ध किया। पार्थने रण स्थलमें उससे पीडा पाकर उसकी क्षमा नही की। वरन उसको नष्ट करनेके लिये वेगसे घोडे, झण्डे, धनु, मुठ्ठी तथा पीठके रखवारे और सारथि पर कुछ वाण चलाये। अर्जुनसे इस प्रकार वार वार उनके धन्वा काटे और घोडे जोतसे निकाले जाने पर उन्होंने लडाईमें पीठ दिखाई। (५०—५३)

पाञ्चालराज सत्यजितको लडाईमें हार खाते देखकर अर्जुनपर बडे वेगसे वाण वर्षाने लगे। जययुक्त अर्जुनभी तब घोर युद्धमें प्रवृत्त हुए। उन्होंने उनके झण्डे और धनुषको काटकर धरती पर गिराया और पांच वाणोंसे उनके सारथि और घोडोंको विद्ध किया। अनन्तर द्रुपदराज उस टूटे धनुष्यको छोडकर दूसरा लेने लगे, इतनेहीमें कुन्ती-नन्दन खड्ग लेकर सिंह समान गर्जन करने लगे और एकायक कूदकर पांचाल राजके रथकी झण्डीपर जा गिरे। (५४—५७)

धनंजयने ऐसे निर्भय होकर द्रुपदकी रथपर चढकर पकड लिया, कि जैसे

दर्शयन्सर्वसैन्यानां स बाह्वोर्बलमात्मनः ।
सिंहनादस्वनं कृत्वा निर्जगाम धनञ्जयः ॥ ५९ ॥
आयान्तमर्जुनं दृष्ट्वा कुमाराः सहितास्तदा ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ६० ॥
अर्जुन उवाच— संबन्धी कुरुवीराणां द्रुपदो राजसत्तमः ।
मा वधीस्तद्बलं भीम गुरुदानं प्रदीयताम् ॥ ६१ ॥
वैशम्पायन उवाच—भीमसेनस्तदा राजन्नर्जुनेन निवारितः ।
अतृप्तो युद्धधर्मेषु न्यवर्तत महाबलः ॥ ६२ ॥
ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
उपाजह्रुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ ॥ ६३ ॥
भग्नदर्पं हृतधनं तं तथा वशमागतम् ।
सवैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत् ॥ ६४ ॥
विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया ।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ६५ ॥
एवमुक्त्वा प्रहस्यैवं किंचित्स पुनरब्रवीत् ।
मा भैः प्राणभयाद्वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम् ॥ ६६ ॥

लोग समुद्रमें हलचल मचाकर हस्तीको पकड लेते हैं; उसे देखकर सब पाञ्चाल दशों ओर भागने लगे। तब धनंजय सम्पूर्ण सेनाओंमें अपना भुजबल प्रगट करके सिंहगर्जनकर वहांसे लौट चले। कुमार लोग अर्जुनको लौटते देखकर सब एकत्र होकर उस समय महात्मा द्रुपदका नगर बिगाडने लगे। आगे अर्जुन बोले, कि हे भीम! राजश्रेष्ट द्रुपद कुरुवीरोंके सम्बन्धी हैं सो उनकी सेनाको मत मारो, केवल गुरुदक्षिणाही दीजिये। (५९-६१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! महाबली भीमसेन तब अर्जुनसे रोकेजाकर युद्धमें भले प्रकार तृप्त न होने परभी निवृत्त हुए। हे भरतश्रेष्ठ! कुमारलोगोंने रणभूमिमें यज्ञसेन द्रुपदको मन्त्रीके साथ पकड लेजाकर आचार्य द्रोणको भेट किया। द्रोण उस प्रकार वशमें आये, अहङ्कार छोडे और धन खोये द्रुपदको देखकर पहिलेकी शत्रुताको स्मरणकर बोले, कि मैंने बलसे तुम्हारे राज्यको बिगाडकर पुरीको भय डाला है, क्या अपने जीवनको पाकर जो अब इस विप्रके वशमें आ गया है पहिली मित्रताको चाहते हो? (६२-६५)

यह कह करके हंसकर फिर वह मनही

आश्रमे क्रीडितं यत्तु त्वया बाल्ये मया सह।
तेन संवर्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ ॥ ६७ ॥
प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप।
वरं ददामि ते राजन्राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ॥ ६८ ॥
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव ॥ ६९ ॥
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याऽहमुत्तरे।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे ॥ ७० ॥

द्रुपद उवाच— अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन्विक्रान्तेषु महात्मसु।
प्रीये त्वयाऽहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम् ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः स तं द्रोणो मोक्षयामास भारत।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत् ॥ ७२ ॥
माकन्दीमथ गङ्गायास्तीरेजनपदायुताम्।
सोऽध्यावसद्दीनमनाः काम्पिल्यं च पुरोत्तमम् ॥ ७३ ॥
दक्षिणांश्चापि पाञ्चालान्यावच्चर्मण्वती नदी।
द्रोणेन चैवं द्रुपदः परिभूयाऽथ पालितः ॥ ७४ ॥

मनमें निश्चय कर उनसे बोले, कि हे वीर! तुम प्राणका भय मत करो, हम ब्राह्मण है, सो क्षमायुक्त है। हे क्षत्रियोंमें श्रेष्ठजन! बालेपनमें मुझसे खेलने कूदनेहीके हेतु तुम पर मेरा स्नेह और प्रेम बढा था, सो हे नराधिप! मै फिर तुमसे मित्रता चाहता हूं। हे राजन्! तुमको वर देता हूं, कि तुम इस राज्यका आधा भाग पावोगे। हे यज्ञसेन! राजा न होनेसे कोई राजाका मित्र नही हो सकता है, इसी लिये मै तुमको राज्यदेनेके कारण ऐसा प्रयत्न कर रहा हूं। हे पाञ्चाल! तुम भागीरथीके दक्षिण किनारेके राजा होगे और मै उत्तर किनारेका राजा हूंगा, अब तुम चाहो तो मुझको मित्रकरके मानो। द्रुपद बोले, कि हे ब्रह्मन्! विक्रमी महात्मा पुरुषोंके लिये यह आश्चर्य नही है। मै आपसे प्यार किया जाता हूं, और यह चाहता हूं, कि आप भी मुझसे सदा-स्थायी प्रीति लाभ कर सके। (६६-७१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! द्रुपदके ऐसा कहनेपर द्रोणने उनको बन्धनसे मुक्तकर प्रसन्नचित्तसे सत्कार करके राज्यका आधा भाग दिया। द्रुपद गङ्गातटके जनपदोंके सहित माकन्दी देश और चर्मण्वती नदीतक दक्षिण

क्षात्रेण च बलेनाऽस्य नाऽपश्यत्स पराजयम्।
हीनं विदित्वा चाऽऽत्मानं ब्राह्मेण स बलेन तु ॥ ७५॥
पुत्रजन्म परीप्सन्वै पृथिवीमन्वसंचरत् ।
अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत ॥ ७६ ॥
एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता ।
युधि निर्जित्य पार्थेन द्रोणाय प्रतिपादिता ॥७७ ॥ [५६६५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
द्रुपदशासने चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

वैशम्पायन उवाच–ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव ।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात्तथाऽऽर्जवात् ।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात् ॥ २ ॥
ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पितुरन्तर्दधे कीर्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ॥ ३ ॥
असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः ।
संकर्षणादशिक्षद्वै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ॥ ४ ॥
समाप्तशिक्षो भीमस्तु द्युमत्सेनसमो बले ।

पाञ्चालपर अधिकार पाकर सुन्दर काम्पिल्य नगरमें मलिन चित्तसे वसने लगे। अनन्तर द्रोणकी शत्रुता उनसे सही नहीं गयी, उन्होंने क्षत्रियबलसे द्रोणको परास्त करना असंभव जाना, सो ब्राह्मणके बलसे अपनेको हीन जानकर पुत्र उत्पत्तिकी इच्छासे पृथ्वीके चारों ओर घूमने लगे। इधर द्रोणको अहिच्छत्र नामक राज्य मिल गया। हे राजन् ! धनञ्जयने जनपद समेत अहिच्छत्रा पुरी को लडाईमें जीतकर आचार्य द्रोणको सौंप दिया था। (७२—७७) [५६६५]

आदिपर्वमें एकसौ चालीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ एकतालीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे पृथ्वीनाथ! अनन्तर वर्षभर व्यतीत होनेपर धृतराष्ट्रने धीरता, स्थिरता, सहनशीलता अनिर्दयता, नौकरों पर दया, और स्थिर मित्रता गुणसे सुहावने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको युवराजके पदपर बैठाया। कुन्ती कुमारने शीलता, वृत्त और प्रजा समाधानसे पिताकी सुन्दर कीर्त्ति से हीं अपना नाम बढाया। पाण्डुनन्दन वृकोदरकी बलदेवजीसे सदा असि, गदा, रथके युद्धके

पराक्रमेण सम्पन्नो भ्रातृणामचरद्वशे ॥ ५ ॥
प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा ।
क्षुरनाराचभल्लानां विपाटानां च तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
ऋजुवक्रविशालानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत् ।
लाघवे सौष्ठवे चैव नाऽन्यः कश्चन विद्यते ॥ ७ ॥
बीभत्सुसदृशो लोक इति द्रोणो व्यवस्थितः ।
ततोऽब्रवीद्गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि ॥ ८ ॥
अगस्त्यस्य धनुर्वेदे शिष्यो मम गुरुः पुरा ।
अग्निवेश इति ख्यातस्तस्य शिष्योऽस्मि भारत॥९॥
तीर्थात्तीर्थं गमयितुमहमेतत्समुद्यतः ।
तपसा यन्मया प्राप्तममोघमशनिप्रभम् ॥ १० ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम यद्दहेत्पृथिवीमपि ।
ददता गुरुणा चोक्तं न मनुष्येष्विदं त्वया ॥ ११ ॥
भारद्वाज विमोक्तव्यमल्पवीर्येष्वपि प्रभो ।
त्वया प्राप्तमिदं वीर दिव्यं नाऽन्योऽर्हति त्विदम् १२
समयस्तु त्वया रक्ष्यो मुनिसृष्टो विशांपते ।

विषयमें अच्छी शिक्षा मिलती थी । द्युमत्सेनके समान बली भीमसेन भली भांति शिक्षित होकर पराक्रमी भाइयोंके परम मित्र बने रहे । (१—५)

अर्जुन क्षुरा, नाराच, भाला, विपाट आदि सीधे तथा टेढे बडे बडे अस्त्रोंके चलानेमें और बडी दृढता तथा शीघ्रतासे लक्ष्यको विद्ध करनेमे अच्छे समर्थ हुए । द्रोणाचार्यने निश्चय किया था, कि शीघ्रता तथा सुनियमके विषयमें अर्जुनके समान जगत्में कोई दूसरा नहीं है। यह समझकर द्रोण कौरवोंकी सभामें गुडाकेश अर्जुनसे कहने लगे, कि हे भारत! पूर्व कालमें अग्निवेश नामसे प्रसिद्ध मुनि अगस्त्यके शिष्य धनुर्वेदमें मेरे गुरु थे; मैंने उन अग्निवेशके शिष्य होकर शिक्षा पायी थी । मैंने तपोबलसे उन गुरुसे जो वज्रसमान ब्रह्मशिर नामक अमोघ अस्त्र पाया था, जो कि सम्पूर्ण पृथ्वीको जला सकता है, उस अस्त्रको किसी दूसरेके हाथमें सौंपकर उसके विरह न होनेके विषयमें प्रयत्न किया है। (६ - ११)

गुरुने जब मुझको वह अस्त्र दिया था, तब कहा था, कि " हे भारद्वाज ! तुम स्वल्प वीर्यवाले जन पर यह अस्त्र मत मारना । " हे वीर ! पीछे तुमने मुझसे वह दिव्य अस्त्र

आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञातिग्रामस्य पश्यतः ॥ १३ ॥
ददानीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाऽब्रवीद्गुरुः ।
युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युद्ध्यमानस्त्वयाऽनघ ॥ १४ ॥
तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः ।
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ॥ १५ ॥
स्वभावादगमच्छब्दो महीं सागरमेखलाम् ।
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद्धनुर्धरः॥ १६ ॥
गदायुद्धेऽसियुद्धे च रथयुद्धे च पाण्डवः ।
पारगश्च धनुर्युद्धे बभूवाऽथ धनञ्जयः ॥ १७ ॥
नीतिमान्सकलां नीतिं विबुधाधिपतेस्तदा ।
अवाप्य सहदेवोऽपि भ्रातॄणां ववृते वशे ॥ १८ ॥
द्रोणेनैव विनीतश्च भ्रातॄणां नकुलः प्रियः ।
चित्रयोधी समाख्यातो बभूवाऽतिरथोदितः ॥१९ ॥
त्रिवर्षकृतयज्ञस्तु गन्धर्वाणामुपप्लवे ।
अर्जुनप्रमुखैः पार्थैः सौवीरः समरे हतः ॥ २० ॥

पाया है, कोई दूसरा इसके पानेको योग्य नही है, पर हे पृथ्वीनाथ! मुनिने जो नियम बना दिया था उनको मत लांघना, हालमे अपने स्वजनोंके सामने मुझको गुरुदक्षिणा दो। उसके अनन्तर उनके वाञ्छित दानको देनेमें अर्जुनके सम्मत होन पर गुरुजी बोले, कि हे अनघ ! रणस्थलमें मेरे तुमसे लडनेको प्रवृत्त होनेसे तुम मेरे विरुद्ध लडना! कुरुश्रेष्ठ अर्जुन" तथास्तु"कहके वह बात मानकर उनके पावों पर प्रणाम कर योग्य उपदेश को प्राप्त हुआ।(११-१५)

समुद्रतक सम्पूर्ण धरतीमे आपही आप वह बात उडी, कि इस लोकमें अर्जुनके समान चापधारी कोई वीर नही है; चाहे गदायुद्ध वा असियुद्ध कहिये, चाहे रथयुद्ध वा धनुयुद्ध कहिये, हर बातमे धनञ्जय दक्ष बने है। सहदेव देवाधिपति इन्द्ररूपी आचार्य द्रोणसे सम्पर्ण नीति शिक्षा पाकर नीतिशील होकर भाईयोंके वशमे रहे। नकुल आचार्य द्रोणसे अच्छी शिक्षा पाकर चित्रयोधी और अतिरथ करके प्रख्यात और भाईयोंके प्यारे बने रहे। अर्जुन आदि पाण्डव इतने पराक्रमी हुए, कि उन्होंने उन सौवीरको जिन्होंने गन्धर्वोंमे विद्रोह मचाना तुच्छ जानकर तीन वर्ष यज्ञ किया था, भयभीत नही हुए थे, रणशय्या पर सुलाया।(१६-२०)

न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान्।
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजाऽऽसीद्यवनाधिपः॥ २१ ॥
अतीव बलसंपन्नः सदा मानी कुरून्प्रति।
विपुलो नाम सौवीरः शस्तः पार्थेन धीमता॥ २२ ॥
दत्तामित्र इति ख्यातं सङ्ग्रामे कृतनिश्चयम्।
सुमित्रं नाम सौवीरमर्जुनोऽदमयच्छरैः ॥ २३ ॥
भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः ।
अर्जुनः समरे प्राच्यान्सर्वानेकरथेऽजयत्॥ २४ ॥
तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणामजयद्दिशं ।
धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनञ्जयः ॥ २५ ॥
एवं सर्वे महात्मानः पाण्डवा मनुजोत्तमाः।
परराष्ट्राणि निर्जित्य स्वराष्ट्रं ववृधुः पुरा ॥ २६ ॥
ततो बलमतिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम्।
दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु॥ २७॥
स चिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि॥२८॥ [५६९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायामेकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

वीर्यवन्त पाण्डु जिस यवनराजको वशमें नहीं लासके थे, अर्जुनने उसको भी परास्त किया तथा आज्ञाधीन बनाया। उस सौवीर राज विपुलको जो अति बली होकर कुरुओंसे सदा अहंकार करते थे, धीमान् अर्जुनने गिराया। दत्तामित्र नामक प्रसिद्ध सुमित्र संज्ञायुक्त सौवीर देशी वीरके लडनेमें कटिबद्ध होने पर अर्जुनने बाणोंसे उसको रोका। अर्जुनने आप एक रथी होने परभी भीमके सहारे से दश सहस्र रथोंके साथ पूर्व देशीय सब राजाओं को परास्त किया और वैसेही रथपर चढकर दक्षिण ओर को परास्त कर कुरुराज्यमें अनेक धन भेजा। (२१-२५)

मानवोंमें श्रेष्ठ महात्मा पाण्डवोंमें पहिले इस प्रकार पराये राज्योंको परास्त कर कर निज राज्यको बढाया था। अनन्तर यह जानकर कि बडे भारी योद्धे पाण्डवोंका बलवीर्य बहुत प्रसिद्ध होगया, उनपर एकायक धृतराष्ट्रका भाव बिगड गया; वह बडे सोचके समुद्र में डूबे, इससे उन्हे रात्रिको नींद नही आतीथी। (२६—२८) [५६९३]

आदिपर्वमें एकसौ चालीस अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा पाण्डुसुतान्वीरान्बलोद्रिक्तान्महौजसः ।
धृतराष्ट्रो महीपालश्चिन्तामगमदातुरः ॥ १ ॥
तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम् ।
कणिकं मन्त्रिणां श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद्वचः ॥ २ ॥
धृतराष्ट्र उवाच —उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम ।
तत्र मे निश्चिततमं संधिविग्रहकारणम् ॥
कणिक त्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—स प्रसन्नमनास्तेन परिपृष्टो द्विजोत्तमः ।
उवाच वचनं तीक्ष्णं राजशास्त्रार्थदर्शनः ॥ ४ ॥
कणिक उवाच — शृणु राजन्निदं तत्र प्रोच्यमानं मयाऽनघ ।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या श्रुत्वैतत्कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात्परेषां विवरानुगः ॥ ६ ॥
नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ॥ ७ ॥
नाऽस्य च्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात् ।

आदिपर्वमें एकसौ बियालीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर कि वीर्यवन्त पाण्डवलोग बलसे बढ और बडे तेजस्वी हुए है, महाराज धृतराष्ट्र दुःखी चित्तमे सोचने लगे । वह राजशास्त्रार्थमें पण्डित मन्त्रज्ञ मुनियोंमें श्रेष्ठ कणिकको बुलवाकर बोले, कि हे द्विजराज ! पाण्डवोंको दिनों दिन बढते देखकर उन पर मुझे द्वेष हो रहा है, सो हे कणिक ! उनमे सन्धि वा युद्धके बिना जो कुछ और उचित हो, सो निश्चय करके कहो, मै उसके अनुसार काम करूंगा । (१—३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि द्विजोत्तम कणिक धृतराष्ट्रसे इस प्रकार पूछे जाकर प्रसन्न चित्तमे राजशास्त्रके प्रमाण सहित तेजभरी बातोंमें कहने लगे, कि महाराज! मै जो कहता हूं, सुनिये । हे अनघ कुरुश्रेष्ठ ! यह सुनकर मुझपर क्रोध न करना । राजोंको सदा दण्ड देनेमे उद्यत होकर अपनी बडाई फैलाना और स्वयं दोषवर्जित होकर पराये दोषोंको ढूंढकर उसके पीछे रहना चाहिये । राजाके सदा दण्डदेनेमे उद्यत रहनेसे लोग उससे बहुत डरते है, सो सब काम दण्डहीसे पूराकर लेना । राजा शत्रुकी चूक देखकर उसके

गूहेत्कूर्म इवाऽङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ ८ ॥
नाऽसम्यक्कृतकारी स्यादुपक्रम्य कदाचन ।
कण्टको ह्यपि दुच्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ॥ ९ ॥
वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम् ॥ १० ॥
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत् ॥ ११ ॥
नाऽवज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन ।
अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात् ॥ १२ ॥
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाऽऽश्रयेत् ।
कुर्यात्तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ॥ १३ ॥
सान्त्वादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुं वशे स्थितम् ।
दया न तस्मिन्कर्तव्या शरणागत इत्युत ॥ १४ ॥

पीछे चले, पर शत्रुगण उनकी चक न देखने पावे। कछुआ जिस प्रकार अपना अङ्ग छुपा लेता है,वैसेही राजा सहायता, साधना और और उपाय आदिसे अपने अङ्गोंको छिपा रखें और ऐसा यत्न करना चाहिये जिसमे शत्रुलोग उनकी चकके पीछे चलने न पावे। (४–८)

कोई काम आरम्भकर उसकी कुछ अंश छोड कर पूरा कर लेना कभी उचित नहीं है। देखिये, पूरा न काट डालने मे कांटेसेभी सदा चोट लग सकती है ; हानि करनेहारे शत्रुओंको वध करनाही बहुत प्रशंसायोग्य है ; यदि वह शत्रु बडा विक्रमी और योद्धा हो, तो उसकी विपतके समय, आनेमे उस पर चढकर नष्ट कर डालना, वा ऐसा करना, कि भाग जावे, इस विषयमे भला बुरा न विचारना। ए बेटा ! शत्रुके दुर्बल होनेसे भी उसको कभी कम न समझना चाहिये; देखिये, थोडीसी आग धीरे धीरे आसरा पाकर पूरे वनको जला सकती है। (९-१२)

कभी कभी राजाको अन्धे और बहिरे के समान बनना चाहिये, शत्रुओंके दोषको देख करके न देखना और सुन-करकेभी न सुनना चाहिये। तब अपने शरासनको तिनकेमे बना हुआ समझना; पर वनमे सोते हुए, मृग समूहके समान सदा सावधान रहना। आगे शत्रुको अपनी हथेलीके भीतर समझकर साम आदि उपायोंमे मरवा डालना। शरण ली है समझके, उस पर दया दिखानी नहीं चाहिये। स्वाभाविक शत्रुको दान दे करके वशमे लाकरभी मारना, शत्रुके नष्ट होनेमेभी चिन्ता जाती रहती है,

निरुद्विग्नो हि भवति न हताज्जायते भयम्।
हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम् ॥ १५ ॥
हन्यात्त्रीन्पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः।
मूलमेवाऽऽदितश्छिन्द्यात्परपक्षस्य नित्यशः॥ १६ ॥
ततः सहायांस्तत्पक्षान्सर्वांश्च तदनन्तरम्।
छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः॥ १७॥
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ।
एकाग्रः स्याददिवृतो नित्यं विवरदर्शकः ॥ १८॥
राजन्नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत्।
अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः॥ १९॥
लोकान्विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद्यथा वृकः।
अङ्कुशं शौचमित्याहुरर्थानामुपधारणे ॥ २०॥
आनाम्य फलितां शाखां पक्वं पक्वं प्रशातयेत्।

क्योंकि मरे हुए उनसे किसी प्रकार भयकी संभावना नहीं रहती। यदि कोई पहिले हानिकारी रहकर पीछे मित्रता दिखावे,तो उसकोभी मारना। (१३-१५)

शत्रुओंके दुर्ग आदिपर चढकर ऐश्वर्य को, भेदिया लगाके मन्त्रको और बलसे उत्साहको इन तीनोंको नष्ट करना और सहाय,साधन, उपाय देश और कालका विभाग तथा विपत्तिका प्रतिकार इन पांच अङ्गयुक्त नय अर्थात् नियमोंका और भेद, दण्ड, साम, दान, माया, ऐन्द्रजालिक कार्य और विपक्षियोंमें किये हुए उन विषयोंको तुच्छ समझना, इस सात प्रकारके राज्याङ्गको सब प्रकारसे नष्टकर डालना। पहिले काल और अकालका विचार न करके शत्रुकी जडहीको काट देना, आगे उसके सहाय और पक्षियोंको नष्ट करना। अव- लम्बरूपी जडके सम्पूर्ण उखड जानेसे, इसमें सन्देह नहीं है, कि उसके भरोसेभी रहते हुए सब मरेंगे, क्योंकि पेडकी जड कटनेसे उसकी शाखा कभी बनी नहीं रह सकती। (१६-१८)

राजन्! शत्रुसे निश्चिन्त न रहकर छिप छिपके सदा उसके दोष ढूंढनेमें चित्तको नियुक्तकर राज्य करना चाहिये। अग्निमें तपके,यज्ञकरके वृक्षकी छाल पहि- नकर और जटा अजिन धरकेभी पहिले शत्रुओंमें विश्वास उपजाकर पीछे समय होने पर वृकके समान चढ जाना, क्योंकि कहा है, कि धन बटोरनेमें कुटिल होना बहुत ही गुढ उपाय है। जिस प्रकार

फलार्थोऽयं समारम्भो लोके पुंसां विपश्चिनाम्॥२१॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद्घटमिवाऽश्मनि॥२२॥
अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन्।
कृपा न तस्मिन्कर्तव्या हन्यादेवाऽपकारिणम्॥२३॥
हन्यादमित्रं सांत्वेन तथा दानेन वा पुनः।
तथैव भेददण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशातयेत्॥२४॥
धृतराष्ट्र उवाच– कथं सान्त्वेन दानेन भेदैर्दण्डेन वा पुनः।
अमित्रः शक्यते हन्तुं तन्मे ब्रूहि यथातथम्॥२५॥
कणिक उवाच— शृणु राजन्यथावृत्तं वने निवसतः पुरा।
जम्बुकस्य महाराज नीतिशास्त्रार्थदर्शिनः॥२६॥
अथ कश्चित्कृतप्रज्ञः शृगालः स्वार्थपण्डितः।
सखिभिर्न्यवसत्सार्धं व्याघ्राखुवृकबभ्रुभिः॥२७॥
तेऽपश्यन्विपिने तस्मिन्बलिनं मृगयूथपम्।

फलयुक्त शाखा को हिलाकर पके फल चुन लिये जाते हैं, वैसेही चुन चुन कर शत्रुओं को नष्ट करना; शत्रुओंके नाशके लिये पण्डितलोग ऐसाही किया करते हैं। (१८—२१)

जबतक समय न आवे तबतक शत्रु को कन्धे पर चढाये रहना, आगे समय आने पर पत्थर पर कलसेको फोडनेकी भांति नष्ट करना। हानि करने वाले शत्रु के अति कातर वाणी कहने परभी उसको मत छोडना, एकबारही मार डालना, उसपर दया दिखानी कभी उचित नही है। शान्ति बनाये रखनेके लिये साम वा दान अथवा भेद वा दण्ड, चाहे जिस किसी उपायसे हो शत्रुको नष्ट करना।(२२-२४)

धृतराष्ट्रने कहा, कि मुझको समझाके कहो, कि साम, दान, भेद अथवा दण्ड से क्योंकर शत्रु नष्ट किये जा सकते है। कणिक बोले, कि हे महाराज! पहिले वनमे नीति शास्त्र जानने वाला एक सियार रहता था; उसकी कथा कहता हूं, सुनिये। (२५-२६)

स्वार्थमे तेज बुद्धिवाला एक सियार बाघ, मूसा, चीता, और नेवल इन चार मित्रोंके साथ बसता था। उन सबोंने वनमे एक बली मृगदलपतिको देखा और ऊपर चढनेमे असमर्थ होकर नाना परामर्ष करने लगे। पहिले सियार बोला, कि ऐ बाघ! आपने इस मृगको मार-नेको कई बार यत्न किया है, पर यह

अशक्ता ग्रहणे तस्य ततो मन्त्रममन्त्रयन्॥ २८ ॥

जम्बुक उवाच — असकृद्यतितो ह्येष हन्तुं व्याघ्र वने त्वया।
युवा वै जवसंपन्नो बुद्धिशाली न शक्यते॥ २९ ॥
मूषिकोऽस्य शयानस्य चरणौ भक्षयत्वयम्।
अथैनं भक्षितैः पादैर्व्याघ्रो गृह्णातु वै ततः॥ ३० ॥
ततो वै भक्षयिष्यामः सर्वे मुदितमानसाः।
जम्बुकस्य तु तद्वाक्यं तथा चक्रुः समाहिताः॥ ३१ ॥
मूषिकाभक्षितैः पादैर्मृगं व्याघ्रोऽवधीत्तदा।
दृष्ट्वैवाऽचेष्टमानं तु भूमौ मृगकलेवरम्।
स्नात्वाऽऽगच्छत भद्रं वो रक्षामीत्याह जम्बुकः ३२॥
शृगालवचनात्तेऽपि गताः सर्वे नदीं ततः।
स चिन्तापरमो भूत्वा तस्थौ तत्रैव जम्बुकः॥ ३३ ॥
अथाऽजगाम पूर्वं तु स्नात्वा व्याघ्रो महाबलः।
ददर्श जम्बुकं चैव चिन्ताकुलितमानसम्॥ ३४ ॥

व्याघ्र उवाच — किं शोचसि महाप्राज्ञ त्वं नो बुद्धिमतां वरः।
अशित्वा पिशितान्यद्य विहरिष्यामहे वयम्॥ ३५॥

मृगनाथ बडा वेगवान और बुद्धिमान है, सो आप सफल मनोरथ नहीं हो सके हैं, अतएव मै समझता हू, कि वह मृग जब सोता रहेगा, तब मूष जाकर उसके पांवोंको खालेगा; उसके पांव खाये जानेपर, उस चलनेमें अशक्त मृगको बाघजी पकड लेंगे अनन्तर हम सब आनन्दसे उसको खायगे। (२७-३१)

सियारकी यह बात सुनकर वे सब उनके अनुसार सावधान होकर काम करने लगे। पहिले मूषने मृगके पांव खालिये; उसके पीछे बाघने उस मृगको वध किया। तब सियारने उस मृगकी देहको धरती पर लोटते देखकर सबोंसे कहा, कि तुम लोगोंका मङ्गल होवे, तुम नहा आओ, मै मृगदेह की रक्षा करता हूं। बाघादि सब सियारकी बातके अनुसार नहानेको नदीमें गये; सियार बडे सोचसे वहां बैठा रहा। (३२—३३)

अनन्तर सबसे पहिले महाबली बाघ नहा कर वहां आया और देखा कि सियार बडे सोचके साथ वहां बैठा है। बाघने तब उससे पूछा, कि ए बडे बुद्धिमान! तुम हमसे सबोंसे अधिक बुद्धि रखते हो, फिर क्यों सोचमें हो, आओ हम अब मांस खाकर आनन्द लूटें।

जम्बुक उवाच— शृणु मे त्वं महाबाहो यद्वाक्यं मूषिकोऽब्रवीत्।
धिग्बलं मृगराजस्य मयाऽद्याऽयं मृगो हतः ॥ ३६ ॥
मद्बाहुबलमाश्रित्य तृप्तिमद्य गमिष्यति ।
गर्जमानस्य तस्यैवमतो भक्ष्यं न रोचये ॥ ३७ ॥
व्याघ्र उवाच— ब्रवीति यदि स ह्येवं काले ह्यस्मिन्प्रबोधितः।
स्वबाहुबलमाश्रित्य हनिष्येऽहं वनेचरान् ॥ ३८ ॥
खादिष्ये तत्र मांसानि इत्युक्त्वा प्रस्थितो वनम्।
एतस्मिन्नेव काले तु मूषिकोऽप्याजगाम ह॥ ३९ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य शृगालोऽप्यब्रवीद्वचः ।
जम्बुक उवाच — शृणु मूषिक भद्रं ते नकुलो यदिहाऽब्रवीत्॥ ४० ॥
मृगमांसं न खादेयं गरमेतन्न रोचते ।
मूषिकं भक्षयिष्यामि तद्भवाननुमन्यताम्॥ ४१ ॥
तच्छ्रुत्वा मूषिको वाक्यं संत्रस्तः प्रगतो बिलम्।
ततः स्नात्वा स वै तत्र आजगाम वृको नृप॥ ४२॥
तमागतमिदं वाक्यमब्रवीज्जम्बुकस्तदा ।
मृगराजो हि संक्रुद्धो न ते साधु भविष्यति॥ ४३ ॥

सियार बोला, कि ऐ महाभुज ! आज मूषने जो बात कही है, वह सुनिये ! "मूषने कहा है, कि आज मैंने ही इस मृगको मारा है सो बाघ के बल पर धिक्कार है; कि वह मेरे भुजबलसे आज तृप्त होंगे । मूषके ललकारके ऐसा कहने पर इसे खानेको मेरा मन नहीं चलता है।" (३४—३७)

बाघ बोला, कि मूषके ऐसी बात कहने पर अब मुझको चेतना आगयी, आजसे अपने हाथके बलसे वनैल जानवरोंको मारूंगा; और वही मांस खाऊंगा, यह कहकर वनमें चला गया। ऐसे समयमें मूष वहां आपहुंचा। सियार मूषको आया हुआ देखकर बोला, कि ऐ मूष ! तुम्हारा भला हो सुनो। आज नेवलने यह कहा है, कि यह मृग बाघसे मारे जानेके कारण इसका मांस विषके समान पचानेके अयोग्य होगा, सो मैं इसे न खाऊंगा; मेरी इस पर चाह दौडती ही नहीं है, सो आज्ञा करिये, कि मैं मूषको खाजाऊं। (३८-४१)

यह सुनकर मूष वेगपूर्वक वहांसे गडहेमें जा घुसा। हे नृप! अनन्तर चीता नहाकर वहां आपहुंचा। तब सियार उसको आया हुआ देखकर बोला, कि आज बाघ तुम पर अप्रसन्न हुआ है, उससे यह समझ नहीं

सकलत्रास्त्विहाऽऽयाति कुरुष्व यदनन्तरम् ।
एवं संचोदितस्तेन जम्बुकेन तदा वृकः ॥ ४४ ॥
ततोऽवलुम्पनं कृत्वा प्रयातः पिशिताशनः ।
एतस्मिन्नेव काले तु नकुलोऽप्याजगाम ह ॥ ४५ ॥
तमुवाच महाराज नकुलं जम्बुको वने ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य निर्जितास्तेऽन्यतो गताः ॥४६ ॥
मम दत्वा नियुद्धं त्वं भुङ्क्ष्व मांसं यथेप्सितम् ।
नकुल उवाच — मृगराजो वृकश्चैव बुद्धिमानपि मूषिकः ॥ ४७ ॥
निर्जिता यत्त्वया वीरास्तस्माद्वीरतरो भवान् ।
न त्वयाऽप्युत्सहे योद्धुमित्युक्त्वा सोऽप्यपागमत् ४८॥
कणिक उवाच— एवं तेषु प्रयातेषु जम्बुको हृष्टमानसः ।
खादति स्म तदा मांसमेकः सन्मन्त्रनिश्चयात् ॥४९ ॥
एवं समाचरन्नित्यं सुखमेधेत भूपतिः ।
भयेन भेदयेद्भीरुं शूरमंजालिकर्मणा ॥ ५० ॥
लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा ।
एवं ते कथितं राजञ्शृणु चाऽप्यपरं तथा ॥ ५१ ॥

पडती, कि तुम्हे भलाई होगी; वह स्त्रीके साथ यहां आरहा है। मांस भक्षक चीता सियारकी यह बात सुन करकेही अपनी जातिके स्वभावके अनुसार देहको सिकोडकर भागा। हे महाराज! उसके पीछे नेउलके वहां आने पर सियार उससे बोला, कि मैंने अपने हाथोंके बलसे बाघ वृक आदिको परास्त किया है, वे और जगहको भाग गये है. अब तुम मुझसे लडकर मनमाना मास खाओ। (४२—४७)

नेउल बोला, कि जब बाघ, वृक और बुद्धिमान मूष यह सब वीर तुमसे हार कर भाग गये, तुम बडे वीर हो, सो तुमसे लडनेके लिये मुझमें साहस नहीं है। यह कहकर नेउल भागा। इस प्रकार बाघादि सबोंके वहांसे चले जाने पर सियारने अपनी युक्ति पूरी होनेपर प्रसन्नचित्त होके अकेले मांस खाया। भूपाल लोग सदा ऐसा व्यवहार करनेसे सुखी हो सकते है। इस प्रकार भीत जनको डरकर वीरसे हाथ जोडकर, लोभीको धन देकर, बराबर और हीनको तेजी दिखाकर, वशमें लाना। महाराज! यह सब आपसे कह चुके औरभी कुछ कहता हूं सुनिये। (४७—५१)

पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता॥ ५२॥
शपथेनाऽप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथंचन॥ ५३॥
उभौ चेत्संशयोपेतौ श्रद्धावांस्तत्र वर्धते।
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः॥ ५४॥
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्॥ ५५॥
क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात्स्मितपूर्वाभिभाषिता।
न चाऽप्यन्यमपध्वंसेत्कदाचित्कोपसंयुतः॥ ५६॥
प्रहरिष्यन्प्रियं ब्रूयात्प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च॥ ५७॥
आश्वासयेच्चापि परं सान्त्वदानार्यवृत्तिभिः।
अथास्य प्रहरेत्काले यदा विचलिते पथि॥ ५८॥
अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्य तिष्ठतः।
स हि प्रच्छाद्यते दोषः शैलो मेघैरिवासितः॥ ५९॥

पुत्र, मित्र, भाई, पिता, वा गुरु यदि शत्रुता करैं, तो हित चाहनेवालेको उन्हेभी नष्ट करना उचित है। शपथ करके वा धन दानसे अथवा विष देकर मायाका जाल फैला कर शत्रुके नष्ट करनेमें कभी मत चूकना। दो विपक्षी आपसमे सहाय साधनोपाय आदिके हेतु शङ्कायुक्त होनेमे, जो जन श्रद्धा सहित मुझसे कही हुई नीतिके अनुसार काम करेगा उसीका सौभाग्य बढेगा। यदि बडा और मान्य पुरुषभी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यको न जानता हो, कुमार्गगामी और अहङ्कारी हो तो उसेभी दण्ड देना उचित है। (५२—५५)

क्रोध होनेसेभी क्रोध न होनेका ऐसा चेहरा दिखा करके हँसकर बात करना और क्रोधित होने परभी कभी लाञ्छन मत करना। मारनेके पहिले और मारनेके कालमेभी मीठी बाते कहना, मारकर अन्तमे कृपा दिखानी, शोक प्रगट करना और रो भी देना। शत्रुको बहुकाल, सान्त्वना वाक्य, दान और सरलतासे ढाडस देवे, इस परभी यदि वह न्यायके मार्गसे विरुद्ध चले उसको मारना। किसीके बडा अपराध करने परभी वह धर्मका आश्रय ले, तो काले बादलसे ढंपे हुए पर्वतके सदृश उसका वह दोष छिप जाता है। जो राजाके दण्डसे

यः स्यादनुप्राप्तवधस्तस्याऽगारं प्रदीपयेत् ।
अधनान्नास्तिकांश्चौरान्विषये स्वे न वासयेत्॥६०॥
प्रत्युत्थानासनाद्येन संप्रदानेन केनचित् ।
प्रतिविश्रब्धघाती स्यात्तीक्ष्णदंष्ट्रो निमग्नकः ॥६१॥
अशङ्कितेभ्यः शङ्केत शङ्कितेभ्यश्च सर्वशः ।
अशङ्क्याद्भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ॥ ६२ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाऽतिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ६३ ॥
चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य वा ।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ॥ ६४ ॥
उद्यानेषु विहारेषु देवतायतनेषु च ।
पानागारेषु रथ्यासु सर्वतीर्थेषु चाप्यथ ॥ ६५ ॥
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च ।

मारा जावे, उसका घर जला देना और जो मनुष्य बुरी रीतिसे धनार्जन करते है उनको और नास्तिक तथा चोरोंको राज्यमें न वसने देना। (५९–६०)

शत्रुको प्रत्युत्थान, आसन आदि युद्धके अङ्ग अथवा विषादि दान चाहे जिस किसी उपायसे हो वडे निष्ठुर और डुबोनेवाला बनकर मरवा डालना अर्थात् ऐसी मार मारना, कि वह फिर न उठ सके और उस-वधके विषयमें सन्देह न रहे। शङ्का देने योग्य हो वा न हो सब जनसे डरते रहना' क्योंकि किसीसे निर्भय बने रहनेसे पीछे उससे भय आ-जावे तो जडसे उखडनेकी वडी सभा-वना होती है। अविश्वासी जनका विश्वास मत करना, और विश्वासी होवे तो भी उसपर पूरा विश्वास करना उचित नहीं, क्योंकि विश्वासी जन से भय आजानेसे जडसे नष्ट होना पडता है। (६१—६३)

दूतलोगोंकी भले भांति परीक्षा करके निज राज्य और पराये राज्य मे नियुक्त रखना। पराये राज्यमे पापण्डी, तपस्वी, आदि ही की भरती करना। फुलवाडी, घूमनेका स्थान, देवमन्दीर, पानघर, मार्ग स्थान कूप, पर्वत, वन, नदी और सब प्रकारके मनुष्य बटोरनेका स्थान, इन स्थानोंमें और मन्त्री, पुरोहित, युव-राज, भूपाल, द्वारपाल, शिक्षक, कारागार, रखवारे, चीज वस्तु बटोरने वाले भले बुरे कामोंके टहरानेवाले नगरके स्वामी, काम बनानेहारे, धर्मस्वामी, सभापति,

समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ॥ ६६ ॥
वाचा भृशं विनीतः स्याद्धृदयेन तथा क्षुरः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सृष्टो रौद्रेण कर्मणा ॥ ६७ ॥
अञ्जलिः शपथःसान्त्वं शिरसा पादवन्दनम् ।
आशाकरणमित्येवं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ६८ ॥
सपुष्पितः स्यादफलः फलवान्स्याद्दुरारुहः ।
आमः स्यात्पक्वसंकाशो न च जीर्येत कर्हिचित् ॥ ६९ ॥
त्रिवर्गे त्रिविधा पीडा ह्यनुबन्धास्तथैव च ।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडास्तु परिवर्जयेत् ७० ॥
धर्मं विचरतः पीडा सापि द्वाभ्यां नियच्छति ।
अर्थं चाऽप्यर्थलुब्धस्य कामस्याऽतिप्रवर्तिनः ॥ ७१ ॥
आगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता ।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैः सह ॥ ७२ ॥

दण्डपाल, दुर्गपाल, अस्त्रपाल, राज्यके छोररक्षक और सेनापति, इन अठारहके पास गुप्त दूत नियुक्त कर भले बुरे काम-को देखना। (६४–६६)

सदा वातोंमें नम्र और हृदयमे छुरा रखना और अति कठोर काम करनेमे प्रवृत्त होकरकेभी हंसते हुए सम्भाषण करना। जो ऐश्वर्य चाहेंगे उनको हाथ जोडना, शपथ करना, खुसामद, पेरों पडना, आशा देना इन कामों का करना उचित है। नीतियुक्तजनरूपी पौधेका आशा दानादिरूपी सुन्दर फलयुक्त पर बिलकुल फलसे खाली होना चाहिये। फल-युक्त जान पडनेसभी चढनेके अयोग्य होना चाहिये, पके समान होनेपरभी बिन पके की नाई जान पडना चाहिये; ऐसा होनेसे कभी वह टूटेगा नहीं। (६७—६९)

धर्म अर्थ और काम यह तीन वर्ग तीन प्रकार की पीडा और तीन प्रकारके फल है, तिनमे फलोको शुभ जानना और पीडा ओंको त्याग देना। देखिये धर्म करने मे बडे अभिलाषीजन अर्थ और कामकी पीडासे बहुत सताये जाते है; अर्थमे बडे आसक्तजन धर्म और कामकी पीडासे पीसे जाते है और काममे बहुत लगे जनकोभी धर्म और अर्थकी पीडा सताती रहती है,सो ऐसे धर्मार्थ काम करना, कि पीडादायी न होवे। अहङ्कारसे खाली, नियमयुक्त, शान्तिपूर्ण, द्वेषवर्जित, कार्य देनेहारे और शुद्धात्मा होकर ब्राह्मणोके साथ परामर्श करना। (७०—७२)

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ७३ ॥
न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७४ ॥
यस्य बुद्धिः परिभवेत्तमतीतेन सान्त्वयेत् ।
अनागतेन दुर्बुद्धिं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ ७५ ॥
योऽरिणा सह संधाय शयीत कृतकृत्यवत् ।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ॥ ७६ ॥
मन्त्रसंवरणे यत्नः सदा कार्योऽनसूयया ।
आकारमभिरक्षेत चारेणाऽप्यनुपालितः ॥ ७७ ॥
नाऽच्छित्वा परमर्माणि नाऽकृत्वा कर्मदारुणम् ।
नाऽहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ ७८ ॥
कर्शितं व्याधितं क्लीवमपानीयमघासकम् ।
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्तव्यमरेर्बलम् ॥ ७९ ॥

जब आप बुरी दशामें आजावे सहज वा कठिन चाहे जिस किसी उपायसे हो अपनेको बचाना, आगे समर्थ होनेपर धर्माचरण करना। मनुष्य विना संशय में पडे मङ्गल लाभ नहीं कर सकता है, पर शङ्कायुक्त होकर जीता रहे, तो बडा सौभाग्यवान हो सकता है। जिसकी बुद्धि शोकादिसे हरी जाती है, उसको नलोपाख्यान आदि पुरानी कहानी सुना कर और बुरी बुद्धिवाले जनको समान आशा देकर, कि कुछ काल बीतनेपर तुम्हारा मङ्गल होगा और पण्डित को सन्तोष देनेवाले वर्त्तमान काममें समझाना। (७३—७५)

जो जन शत्रुसे सन्धि करके सफल मनोरथके समान निश्चिन्त हो सो रहता है, वह ऐसे जनकी नाई विपतमें पडकर चेतता है, कि जो वृक्षपर सोता हुआ नीचे गिर जाकर जग उठता है। राजाको असूयासे रहित होकर सदा परामर्श छुपानेका प्रयत करना और स्वयं चौकस होकर विपक्षियोंके भेजे हुए छिपे दूतोंकी आंखोंसे सदा भय और क्रोध आदि को रोके रहना चाहिये। मल्लाह जिस प्रकार हिंसा न करके धन नहीं पा सकता है, वैसेही राजा कठोर कर्म और शत्रुका मर्म विना नाश किये सौभाग्यवान नहीं हो सकते। (७६-७८)

शत्रुकी सैन्य जिस समय पीडित, व्याधिग्रस्त, अशक्त, तृषित, क्षुधित

नाऽर्थिकोऽर्थिनमभ्येति कृतार्थे नास्ति संगतम्
तस्मात्सर्वाणि साध्यानि सावशेषाणि कारयेत् ॥८०॥
संग्रहे विग्रहे चैव यत्नः कार्योऽनसूयता ।
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ८१ ॥
नास्य कृत्यानि बुद्धयेरन्मित्राणि रिपवस्तथा ।
आरब्धान्येव पश्येरन्सुपर्यवसितान्यपि ॥ ८२ ॥
भीतवत्संविधातव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ८३ ॥
दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः ।
स मृत्युमुपगृह्णीयाद्गर्भमश्वतरी यथा ॥ ८४ ॥
अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरः स्थितम् ।
न तु बुद्धिक्षयात्किंचिदतिक्रामेत्प्रयोजनम् ॥ ८५ ॥
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
विभज्य देशकालौ च दैवं धर्मादयस्त्रयः ।

और विश्वास से स्थित हो, उसीसमय उस पर हमला करना चाहिये। याचक की मित्रता याचक के साथ नही हो सकती, और प्रार्थी कृत कार्य होने परभी वह मित्र नही रहेगा। इस लिये दूसरों के लिये करनेके सब कार्य थोडे शेष रखकर ही करने चाहिये। अभ्युदय चाहने वालो को उचित है, कि वह असूया छोडकर संग्रह अर्थात् मित्रता और विग्रह अर्थात् युद्धविषयक यत्न किया करे। और सदा उत्साह धारण करें। नीतियुक्त जन ऐसे करें कि उनको कोईभी चाहे मित्र वा शत्रु हो पहिले समझने न पावें, पर जब काम हाथ लगे वा पूरा होजाने देख लें। जब तक भय न आन पडे तब तक भीत-जनके समान भयसे बचनेका उपाय सोचता रहै, पर भय आजाने पर निर्भयसा बनकर मारना उचित है। (७९–८३)

दण्डसे वशमें आये शत्रु पर जो कृपा करता है, वह खचरीके गर्भ धारणकी नाई अपनी मृत्युको आपही बुलाता है। अनागत कार्यको उपस्थित जानकर उचित विषयोंको करना, नही तो एकायक उपस्थित कामके समय बुद्धि नष्ट होनेसे कोई प्रयोजनीय कार्य विगड सकता है। ऐश्वर्य चाहनेवाले भूपालको देशकालका विभागकर यत्नक सहित उत्साह करना चाहिये और दैवी कर्म, धर्म, अर्थ, काम यह सबभी देशकालके विभाग करके करने पडेंगे; क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है, कि

भ्रातृभ्यो बलिनो यस्मात्पाण्डुपुत्रा नराधिप।
ब्रवीमि तस्माद्विस्पष्टं यत्कर्तव्यमरिन्दम ॥ ९३ ॥
सपुत्रः शृणु तद्राजञ्श्रुत्वा च भव यत्नवान्।
यथा भयं न पाण्डुभ्यस्तथा कुरु नराधिप ॥ ९४ ॥
पश्चात्तापो यथा न स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम्॥९५॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा संप्रतस्थे कणिकः स्वगृहं गतः।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यः शोकार्तः समपद्यत॥ ९६ ॥ [५७८९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि कणिकवाक्ये द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

समाप्तं सम्भवपर्व। अथ जतुगृहपर्व।

वैशम्पायन उवाच–ततः सुबलपुत्रस्तु राजा दुर्योधनश्च ह।
दुःशासनश्च कर्णश्च दुष्टं मन्त्रममन्त्रयन् ॥ १ ॥
ते कौरव्यमनुज्ञाप्य धृतराष्ट्रं नराधिपम्।
दहने तु सपुत्रायाः कुन्त्या बुद्धिमकारयन् ॥ २ ॥
तेषामिङ्गितभावज्ञो विदुरस्तत्त्वदर्शिवान्।
आकारेण च तं मन्त्रं बुबुधे दुष्टचेतसाम् ॥ ३ ॥
ततो विदितवेद्यात्मा पाण्डवानां हिते रतः।

भाईओंमे बडे बलवन्त होगये है। सो जैसा उचित है, स्पष्टरूपसे कह दिया, आप पुत्रके साथ वह सुनकर उचित विषयमें ऐसा प्रयत्न करिये, कि पाण्डवोंसे भय न रहे और पश्चात्ताप न हो, ऐसेही नीतिके पथपर चलिये। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कणिक ऐसा कहकर अपने घर पधारे, और कुरु नन्दन धृतराष्ट्र उसे सुनकर शोकयुक्त हुए। (९०–९६)

आदिपर्वमें एकसौ बियालीस अध्याय और सम्भवपर्व समाप्त। [५७८९]

आदिपर्व मे एकसौ तैतालीस अध्याय। जतुगृह पर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि, अनन्तर सुबलपुत्र शकुनि,राजा दुर्योधन, दुःशासन और कर्णने एकत्र होकर एक बुरा परामर्श किया! उन्होंने कौरवी राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर पुत्र सहित कुन्तीको जला देना निश्चय किया। उन दुष्टात्मा-ओंका इशारा और अभिप्राय समझने वाले तत्त्वदर्शी विदुर निर्दय आंखोकी सेन आदि चिह्नोंसे उस परामर्शको समझ गये। पाण्डवोंके हितैषी सम्पूर्ण जानने योग्य विषयोंके विशेष जानकार पापकी छतसे खाली विदुरने यह समझा, कि

पलायने मतिं चक्रे कुन्त्याः पुत्रैः सहानघः ॥ ४ ॥
ततो वातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
ऊर्मिक्षमां दृढां कृत्वा कुन्तीमिदमुवाच ह ॥ ५ ॥
विदुर उवाच— एष जातः कुलस्यास्य कीर्तिवंशप्रणाशनः ।
धृतराष्ट्रः परीतात्मा धर्मं त्यजति शाश्वतम् ॥ ६ ॥
इयं वारिपथे युक्ता तरङ्गपवनक्षमा ।
नौर्यया मृत्युपाशात्त्वं सपुत्रा मोक्ष्यसे शुभे ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा व्यथिता कुन्ती पुत्रैः सह यशस्विनी ।
नावमारुह्य गङ्गायां प्रययौ भरतर्षभ ॥ ८ ॥
ततो विदुरवाक्येन नावं विक्षिप्य पाण्डवाः ।
धनं चादाय तैर्दत्तमरिष्टं प्राविशन्वनम् ॥ ९ ॥
निषादी पञ्चपुत्रा तु जातुषे तत्र वेश्मनि ।
कारणाभ्यागता दग्धा सह पुत्रैरनागसा ॥ १० ॥
स च म्लेच्छाधमः पापो दग्धस्तत्र पुरोचनः ।
वञ्चिताश्च दुरात्मानो धार्तराष्ट्राः सहानुगाः ॥ ११ ॥

पुत्रोंके सहित कुन्तीको भागना ही चाहिये। (१—४)

आगे हवाकी तेजी सहने योग्य, लहरो में न डूबनेवाली, यन्त्र लगी हुई, मजबूत और झण्डा फहराती हुई एक नाव बना कर कुन्तीसे बोले, कि ए शुभे! धृतराष्ट्र इस कुल की कीर्ति और सन्तान को नाशने वाले बने है। वह उलटी बुद्धिसे शाश्वत धर्मको बिगार रहे है। चाहे जो कुछ हो, मैने लहर और हवाके वेगको सहनेवाली यह नाव बना कर जलमें छोड दी है इससे तुम पुत्रों के साथ मृत्युके पाशसे बच सकोगी। (५—७)

हे भरतश्रेष्ठ यशस्विनी कुन्ती वह बात सुनकर पीडित चित्तसे पुत्रोंके साथ नाव पर चढ कर गङ्गाजीमें गई थी। पाण्डव लोग विदुरकी बातसे नाव छोड कर दुर्योधनादिका दिया हुआ धन लेकरके विना विघ्न वनको गये थे। इधर एक बहेलिन किसी कारणसे पांच बेटोंके सङ्ग उसही जतुगृहमें आके सो रही थी, जो पाण्डवोंके जलानेको बनाया गया था। वह बिचारी निर्दोष होने परभी पुत्रोंके सहित भस्म हो गई और वह म्लेच्छसे भी अधम पापात्मा पुरोचन भी जो जलानेके लिये नियुक्त हुआ था, जल भुन कर भस्म होगया, सो धृतराष्ट्र पुत्रों

अविज्ञाता महात्मानो जनानामक्षतास्तथा ।
जनन्या सह कौन्तेया मुक्ता विदुरमन्त्रिताः ॥ १२ ॥
ततस्तस्मिन्पुरे लोका नगरे वारणावते ।
दृष्ट्वा जतुगृहं दग्धमन्वशोचन्त दुःखिताः ॥ १३ ॥
राज्ञे च प्रेषयामासुर्यथावृत्तं निवेदितुम् ।
संवृत्तस्ते महान्कामः पाण्डवान्दग्धवानसि ॥ १४ ॥
सकामो भव कौरव्य भुङ्क्ष्व राज्यं सपुत्रकः ।
तच्छ्रुत्वा धृतराष्ट्रस्तु सह पुत्रेण शोचयन् ॥ १५ ॥
प्रेतकार्याणि च तथा चकार सह बान्धवैः ।
पाण्डवानां तथा क्षत्ता भीष्मश्च कुरुसत्तमः ॥ १६ ॥

जनमेजय उवाच—पुनर्विस्तरशः श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम ।
दाहं जतुगृहस्यैव पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ १७ ॥
सुनृशंसमिदं कर्म तेषां क्रूरोपसंहितम् ।
कीर्तयस्व यथावृत्तं परं कौतूहलं मम ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—शृणु विस्तरशो राजन्वदतो मे परंतप ।
दाहं जतुगृहस्यैतत्पाण्डवानां च मोक्षणम ॥ १९ ॥

का अभीष्ट पूरा न होनेसे वे साथियोंके द्वारा ठगे गये। (८—११)

वहां वाले सब लोग यह न जान कर, कि महात्मा पाण्डव लोग माताके साथ विदुरके परामर्श से बचाये थे; वारणावतनगरके लोग जतुगृहको जलते देखकरके दुःखितचित्तसे शोक प्रगट करने लगे और उस वृत्तान्तसे जो, कि जाना गया था धृतराष्ट्रको ज्ञात करनेके लिये यह कह भेजा, कि हे कौरव ! आपकी वडी इच्छा पूरी भई। आपने पाण्डवों को जला मारा है, अब अपनी आशा मिटावें-पुत्रके साथ राज्य भोगें। यह सुनकर धृतराष्ट्र, कुरुश्रेष्ठ भीष्म, विदुर और धृतराष्ट्रके बेटोंने बान्धवोंके साथ शोक करते हुए पाण्डवोंकी प्रेत क्रिया कर डाली। (१२—१६)

जनमेजय बोले, कि हे द्विजश्रेष्ठ ! जतुगृहके जलने और पाण्डवोंके बचनेके वृत्तान्तको विस्तारसे फिर सुनना चाहता हूं। कुटिल जनके उपदेशसे उन्होंने जिस प्रकारसे उस कठोर निष्ठुर कार्यको किया था, वह कहै; सुननेकी मेरी वडी इच्छा होरही है। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे शत्रुनाशी भूपाल ! जतुगृहके जलने और पाण्डवोंके बचनेकी कथा में विस्तारसे

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनञ्जयम् ।
दुर्योधनो लक्षयित्वा पर्यतप्यत दुर्मनाः ॥ २० ॥
ततो वैकर्तनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ते जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ २१ ॥
पाण्डवा अपि तत्सर्वं प्रतिचक्रुर्यथागतम् ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ २२ ॥
गुणैः समुदितान्दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयाञ्चक्रिरे तेषां गुणान्संसत्सु भारत ॥ २३ ॥
राज्यप्राप्तिं च संप्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म संभूय चत्वरेषु सभासु च ॥ २४ ॥
प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान्पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥ २५ ॥
तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥ २६ ॥
ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥ २७ ॥

कहता हूं, सुनिये। कुमति दुर्योधन भीम को अति बलवन्त और धनञ्जयको कृतविद्य देखकर अपार सन्तापमें जलने लगा। आगे सूर्यपुत्र और सुबलकुमार शकुनि नाना उपायों से पाण्डवो के प्राण लेने की चेष्टा करने लगे। (१७—२१)

जब जो विपत आ पडती थी, पाण्डव लोगभी उससे बचनेका उपाय करलेते थे; पर विदुरके मतसे उसको फिर प्रकट नहीं करते थे। हे भारत! पुरवासी लोग पाण्डवोंको नाना गुणोंसे अलंकृत देख कर सब समाजोंमें उनके गुण गाने लगे। और सब मनुष्य सभामें और चबूतरों पर मिलकर पाण्डुके ज्येष्ठपुत्र युधिष्ठिर की राज्य पानेकी योग्यताके विषयमें कोलाहल मचाने लगे, और कहने लगे, कि प्रज्ञाचक्षु, जननाथ धृतराष्ट्रने अन्धे होने से पहिले राज्य प्राप्त नहीं किया था, अब वह क्योंकर राजा होगये? और सत्यशील महाव्रत शान्तनुकुमार भीष्मने पहिले राज्य त्याग दिया था; वह फिर उसको नहीं लेंगे अतएव आज हम लोग तरुण वयवाले गुणप्यारे और सत्यनिष्ठ दयालु पाण्डपुत्र युधिष्ठिरको भली प्रकार राज्यमें बैठावें। (२०—२७)

स हि भीष्मं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित्।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ॥ २८ ॥
तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम्।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ २९ ॥
स तप्यमानो दुष्टात्मा तेषां वाचो न चक्षमे।
ईर्ष्यया चापि संतप्तो धृतराष्ट्रमुपागमत् ॥ ३० ॥
ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरं प्रतिपूज्य सः ।
पौरानुरागसंतप्तः पश्चादिदमभाषत ॥ ३१ ॥
दुर्योधन उवाच— श्रुत्वा मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ३२॥
मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति ।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः॥ ३३ ॥
पितृतः प्राप्तवान्राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात्प्राप्तं राज्यं न लब्धवान्॥३४॥
स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः।

वह धर्मात्मा युधिष्ठिर शान्तनुनन्दन भीष्म और पुत्रोंके सहित धृतराष्ट्रकी अवश्य पूजा कर भोगनेकी नाना वस्तु देवेंगे। अनन्तर युधिष्ठिरके बारे मे प्रजाओंकी यह सब बात सुनकर दुर्योधन कुमतिसे बडा सन्तापित हुआ। वह दुष्टात्मा सन्तापयुक्त उनकी बात सह नही सका, सो द्वेषके मारे जलकर धृतराष्ट्र के पास गया। (२८-३०)

अनन्तर पिताको निरालेमें पाकर उचित नियमसे प्रणामकर दुःखी चित्तसे युधिष्ठिर पर पुरवासियोंके प्रेमके हेतु अनुचित चित्तसे कहने लगा, कि पिता! मैने आन्दोलन करनेवाले पुरवासियो से अशुभ बातें सुनी है! पुरवालोंने आप का और भीष्मका अनादरकर पाण्डवको अधीश बनानेकी कल्पना की है; इसमे भीष्मका भी मत होगा, क्योंकि वह स्वयं राज्य भोगकी इच्छा नही रखते; पर पुरवासी लोग केवल हम सबोंहीको मर्म पीडा देनेमे उद्यत हुए है, पहिले राजा पाण्डुने अपने गुणहीसे राज्य प्राप्त किया था, यद्यपि आप ज्येष्ठतासे राज्याधिकारी होनेके सुयोग्य थे, पर अन्धताके हेतु राज्य पा नहीं सके, अब यदि उन पाण्डुका पुत्र उत्तराधिकारी होकर राज्य पावे, तो भविष्यतमे उसका पुत्र अवश्य ही अधिकारी होगा और उसी प्रकार

तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥ ३५ ॥
ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥ ३६ ॥
सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः ।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ३७ ॥
यदि त्वं हि पुरा राजन्निदं राज्यमवाप्तवान् ।
ध्रुवं प्राप्स्याम च वयं राज्यमप्यवशे जने ॥ ३८ ॥ [५८२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनेर्ष्यायां त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवं श्रुत्वा तु पुत्रस्य प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कणिकस्य च वाक्यानि तानि श्रुत्वा स सर्वशः ॥१ ॥
धृतराष्ट्रो द्विधाचित्तः शोकार्तः समपद्यत ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिः सौबलस्तथा ॥ २ ॥
दुःशासनचतुर्थास्ते मन्त्रयामासुरेकतः ।
ततो दुर्योधनो राजा धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ३ ॥
पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात्तान्विवासयतां भवान् ।
निपुणेनाऽभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ ४ ॥

सिलसिलेवार उनके वंशवाले राजा हुआ करेंगे। (३१-३५)

हे जगत्पते ! ऐसा होनेसे हम सबोंकी पीढीके क्रमसे राजवंशियोंमे न गिने जाकर सबोंके अनादरके साथ जीना पडेगा। अतएव हे महाराज ! ऐसी कोई अच्छी नीति ठहराइये, कि हम सबोंकी पराई कृपापर पेट पालना न पडे। हे नरनाथ ! पहिले यदि आप राज्यको प्राप्त करते, तो प्रजाओंके वशमें न रहने से भी हमारी राज्यप्राप्तिमें कोई सन्देह नहीं रहता। (३६-३८)

आदिपर्वमें एकसौ तैंतालिस अ० समाप्त। [५८२७]

आदिपर्वमें एकसौ चौवालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि प्रज्ञानेत्र, महीपाल धृतराष्ट्र पुत्रकी ऐसी बातें सुन और कणिकसे जो कथा सुनी थी, पूरी पूरी उसे यादकर चित्तमें दुविधा करने लगे और शोकयुक्त हुए। आगे दुर्योधन ने कर्ण, शकुनि, और दुःशासन, इन तीनोंसे सहमत होकर युक्तिपूर्वक राजा धृतराष्ट्रसे कहा, कि आप किसी चतुर उपायसे पाण्डवोंको वारणावतमें भेज दीजिये, ऐसा करनेसे उनसे हमको फिर कोई भय नहीं रहेगा। (१—४)

धृतराष्ट्रस्तु पुत्रेण श्रुत्वा वचनमीरितम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य दुर्योधनमथाऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद्विशेषतः ॥ ६ ॥
नाऽसौ किंचिद्विजानाति भोजनादि चिकीर्षितम्।
निवेदयति नित्यं हि मम राज्यं धृतव्रतः ॥ ७ ॥
तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौरवाणां सुसंमतः ॥ ८ ॥
स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः ।
पितृपैतामहाद्राज्यात्ससहायो विशेषतः ॥ ९ ॥
भृता हि पाण्डुनाऽमात्या बलं च सततं भृतम्।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः॥ १० ॥
ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान्॥ ११ ॥
दुर्योधन उवाच —एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि ।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ॥ १२ ॥
ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यंति प्रधानतः।

पुत्रकी बात सुनकर उन्होंने क्षणभर चिन्ता की, पीछे बोले, कि धर्मशील पांडु सम्पूर्ण ज्ञातियोंमें विशेष मुझसे सदा धर्म अनुसार व्यवहार किया करते थे , उनको भोजन वस्त्र किसी विषयमे चाह नही थी। वह सदा व्रतधारी होकर मेरे हाथ सब राज्य सौंप दिये रहते थे। अब उनके पुत्र भी उनके समान धर्मशील गुणवन्त भूमण्डलमें प्रसिद्ध और पुर वासियोंके प्यारे हुए है, सो उस पाण्डुनन्दनको हम क्यों कर पैत्रिक राज्यसे खदेड सकते है ? विशेष वह सहाय वर्जित नही है; महाराजा पाण्डु मन्त्रियोको, सेनाको और उनके बेटे पोतोंको सदा पालते पोषते थे; ऐ बेटा! जब नगरके सब लोग पाण्डुसे सत्कृत हुए है, तब उनके पुत्र युधिष्ठिरके लिये व क्यों हमको और हमारे बान्धवोको न बिगाडेगें ? (५–११)

दुर्योधन बोले, कि हे पिता ! आपकी बात ठीक तो है, पर मेरे आपके वर्त्तमान अहितको सोचकर सब प्रजाओंको धनमानसे पूजित करनेसे, वे हमारे बडे पनके लिये अवश्यही सहाय होंगी, क्योंकि

अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥ १३ ॥
स भवान्पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति ।
मृदुनैवाऽभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ १४ ॥
यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन्भविष्यति ।
तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—दुर्योधन ममाऽप्येतद्धृदि संपरिवर्तते ।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैव तु विवृणोम्यहम् ॥ १६ ॥
न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः।
विवास्यमानान्कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् १७ ॥
समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक ।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥
ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम् ।
कथं न वध्यतां तात गच्छेम जगतस्तथा ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच—मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नाऽत्र संशयः ॥ २० ॥
कृप शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत् ।

हालमें धनकोष और मन्त्रिवर्ग हमारेही हाथमें है । अतएव हे पृथ्वीनाथ ! आप किसी कोमल उपायहीसे शीघ्र पाण्डवों को वारणावतमें भेजिये । हे राजन् जब कुछकाल पीछे राज्य मेरे हाथ लगेगा, तब पाण्डवगण कुन्तीके साथ फिर यहा लौटेंगे । (१३—१५)

धृतराष्ट्र बोले कि हे दुर्योधन ! तुमने जो बात कही मैभी चित्तमें उसका तर्क उठाये रहता हूं, पर इसे पाप अभिप्राय जानकर प्रकाश नही करता । भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर इनमे कोईभी कदापि सम्मत नहीं होंगे, कि पाण्डवगण खदेडे जाय। बेटा ! कुरुवंशियोंमे हम और पाण्डव दोनों समान है, इसमें सन्देह नही है, सो वे महानुभाव लोग कभी दोनों पक्षोंमे किसीको घट बढ करना नहीं चाहेंगे ! सुतरां पाण्डवोंको भगाकर हम कौरवोंसे, उन महात्माओंसे यहा तक कि निःसन्देह पृथ्वी भरके लोगोंसे वध किये जानेके योग्य होंगे । (१६—१९)

दुर्योधन बोले, कि भीष्म हम दोनों पक्षोंको समान स्नेह करते हैं । द्रोणके पुत्र अश्वत्थामा मेरेही पक्षमें है, सो इसमें सन्देह नही है, कि आचार्य द्रोणको इसीपक्षमें रहना पडेगा। जिस पक्षमे उनके

द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥
क्षत्ताऽर्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः।
न चैकः स समर्थोऽस्मान्पाण्डवार्थेऽधिबाधितुम् ॥२२॥
सुविश्रब्धः पाण्डुपुत्रान्सह मात्रा प्रवासय।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ॥ २३ ॥
विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवाऽर्पितम्।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय ॥ २४ ॥ [५८५१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनपरामर्शे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततो दुर्योधनो राजा सर्वाः प्रकृतयः शनैः।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः ॥ १ ॥
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित्कुशलमन्त्रिणः।
कथयाञ्चक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम् ॥ २ ॥
अयं समाजः सुमहान्रमणीयतमो भुवि।
उपस्थितः पशुपतेर्नगरे वारणावते ॥ ३ ॥
सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे।

पुत्र हैं; और जिस पक्षमें यह पिता पुत्र दोनों रहेंगे, शारद्वत कृपभी अवश्य उसी पक्षमें रहेंगे; क्योंकि वह कभी भाञ्जा और द्रोणको नहीं छोड सकेंगे। विदुर हमारे अर्थसे आवद्ध है, और छिपकर पाण्डवोंसे मिलभी जावें, तो वह अकेले पाण्डवोंके पक्षमें होकर हमारी कोई हानि नहीं कर सकेंगे; अतएव आप निःशङ्क चित्तसे पाण्डवोंको उनकी माताके सहित यहांसे दूर करिये। ऐसा प्रयत्न कीजिये, कि वे आजही वारणावतमे जांय; निद्रा-नाशी शोकाग्नि मानो कठोर शूलोंकी भांति मेरे हृदयमें गड गया है, आप यह काम कर उस को निकाल लीजिये। (२०-२४) [५८५१]

आदिपर्वमें एकसौ चौवालिस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ पतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर राजा दुर्योधन अपने छोटे भाईयोंसे मिलकर सम्मान और धन देकर क्रमशः प्रजावर्गको वशमे लाये। कई एक कार्य-दक्ष मन्त्री धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वारणावत नगरको सुन्दर कह कर यह प्रशंसा करने लगे, कि हालमे वारणावतमे बहुत सुन्दर पशुपतिका महोत्सव आ गया है, उस उत्सव मे समाज नाना रत्नोंसे भर जायगा,

इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः ॥ ४ ॥
कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते ।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप ॥ ५ ॥
यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति ।
उवाचैतानेत्य तदा पाण्डवानम्बिकासुतः ॥ ६ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— ममैते पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः ।
रमणीयतमं लोके नगरं वारणावतम् ॥ ७ ॥
ते ताता यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते ।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथाऽमराः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायकेभ्यश्च सर्वशः ।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः ॥ ९ ॥
कंचित्कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम् ।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिनः पुनरेष्यथ ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच–धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुद्ध्वा युधिष्ठिरः ।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम् ॥ ११ ॥
ततो भीष्मं शान्तनवं विदुरं च महामतिम् ।
द्रोणं च बाह्लिकं चैव सोमदत्तं च कौरवम् ॥ १२ ॥

उस नगरको देखतेही उसपर हर मनुष्यका चित्त झुक जाता है। (१—४)

हे नरनाथ! वारणावत नगरकी सुन्दरता इस प्रकार कही जाने पर वहा जानेके लिये पाण्डवलोगोंका मन दौडा। अंबिकापुत्र राजा धृतराष्ट्रने जब समझा, कि वारणावत नगरको देखनेको पाण्डवोंका मन चला है तब उनसे बोले, कि पुत्रो! यह सब लोग मुझसे बार बार कहा करते हैं, कि भूमण्डलमें वारणावत नगर बडा सुन्दर है, तुम वहां उत्सव देखना चाहो, तो परिवार और साथियों समेत वहा जाकर देवोंकी भांति आनन्द लूटो और गवैयों और ब्राह्मणोंको मनमाना धन रत्नादि देते रहो। इस प्रकारसे परम तेजस्वी सुरोंके समान कुछ काल विहारकर अच्छी प्रीति लाभ करो और अन्तको कुशलसे इस हस्तिनापुरमें लौट आना। (५—१०)

श्रीवैशंपायनजी बोले, कि युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका अभिप्राय समझकर और अपनेको असहाय जानकर उनको यह उत्तर दिया, कि आप जैसी आज्ञा करते हैं वही होगा। अनन्तर उन्होंने शान्तनुपुत्र भीष्म, महामति विदुर, द्रोण,

कृपमाचार्यपुत्रं च भूरिश्रवसमेव च ।
मान्यानन्यानमात्यांश्च ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ॥ १३ ॥
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम्।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा ॥ १४ ॥
रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते ।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १५ ॥
प्रसन्नमनसः सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत ।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान्न पापं प्रसहिष्यते ॥ १६ ॥
एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्तन्त पाण्डवान् ॥ १७ ॥
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित्सर्वशः पाण्डुनन्दनाः॥ १८ ॥
ततः कृतस्वस्त्ययना राज्यलम्भाय पार्थिवाः।
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि प्रत्ययुर्वारणावतम् ॥ १९ ॥ [५८७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि
वारणावतयात्रायां पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

वैशम्पायन उवाच —एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत ।

वाह्लीक, कौरव सोमदत्त, कृप, आचार्य का पुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा और दूसरे माननीय जनों और मन्त्रियों, ब्राह्मणों, तपोधनों, पुरोहितों, पुरवासियों और यशस्विनी गान्धारीसे दीनतापूर्वक कोमल भावसे कहा, कि हम राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे साथियों समेत जनोंसे भरे अति सुन्दर वारणावत नगरमें जायंगे; आप प्रसन्न चित्तसे पुण्य वचन कहिये, कि आपके अशीस से हम वृद्धिको प्राप्त कर पापयुक्त न होवें। (११—१६)

सम्पूर्ण कौरव युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर पाण्डवोंको इच्छानुरूप यह बोले, कि पथमें सर्वभूतोंसे सदा तुम लोगोंका मङ्गल होवे। हे पाण्डवो ! तुमपर कोई अहित न होने पावे । अनन्तर पाण्डव स्वस्त्ययन करके राज्य लाभके लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको पूराकर वारणावत नगरकी यात्राके लिये प्रस्तुत होने लगे। (१७–१९) [५८७०]

आदिपर्वमें एकसौ पैंतालिस अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में एकसौ छियालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत ! राजा धृतराष्ट्रके पाण्डवोंको ऐसी आज्ञा

दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत्स दुरात्मवान् ॥ १ ॥
स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत्॥ २ ॥
दुर्योधन उवाच —ममेयं वसुसंपूर्णा पुरोचन वसुन्धरा ।
यथेयं मम तद्वत्ते स तां रक्षितुमर्हसि ॥ ३ ॥
न हि मे कश्चिदन्योऽस्ति विश्वासिकतरस्त्वया।
सहायो येन संधाय मन्त्रयेयं यथा त्वया॥ ४ ॥
संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर ।
निपुणेनाऽभ्युपायेन यद्ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ५ ॥
पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम् ।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥
स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाऽऽशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥ ७ ॥
तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम्।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥ ८ ॥
शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित् ।
आग्नेयान्युत संनीह तानि तत्र प्रदापय ॥ ९ ॥
सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाऽप्यनल्पया ।

देनेपर दुरात्मा दुर्योधनको हर्ष हुआ। आगे पुरोचन नामक मन्त्रीको निरालेमें बुलाकर उसका दहिना हाथ थाम करके बोला कि पुरोचन 'यह धन भरी धरती मेरे वशमें है, इसपर मेरा जितना अधिकार है, तुम्हारा भी उतनाही है, सो तुमको उसकी रक्षा करनी चाहिये: देखो तुमसे अधिक विश्वासी सहायक मेरा कोई दूसरा नहीं है, कि जिससे मिलकर ऐसा परामर्श करूं, जैसा तुमसे कर सकता हूं: सो तुम इस परामर्शको भले प्रकार छुपाकर मेरे शत्रुको नष्ट कर डालो, मैं जो कुछ कहता हूं, वह कौशलयुक्त अच्छे उपायोंसे पूरा करो। (१–५)

राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको वारणावत नगरमें जानेकी आज्ञा दी है, वे धृतराष्ट्रकी आज्ञा से पाशुपत उत्सवमें वहां विचरेंगे; अतएव तुम ऐसा करो कि आजही खच्चरयुक्त शीघ्रगामी रथ पर वारणावत में जासको! वहां जाकर नगरके छोरमें अनेक अर्थ खर्च कर भले प्रकार घेरा हुआ एक चौपाल घर बनवाओ: सन,

मृत्तिकां मिश्रयित्वा तं लेपं कुड्येषु दापय॥ १०॥
शणं तैलं घृतं चैव जतु दारूणि चैव हि।
तस्मिन्वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः ११॥
यथा च तन्न पश्येरन्परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः।
आग्नेयमिति तत्कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः १२॥
वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान्परमार्चितान्।
वासयेथाः पाण्डवेयान्कुन्तीं च ससुहृज्जनाम्॥ १३॥
आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता॥ १४॥
यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत्कालस्य पर्ययः॥ १५॥
ज्ञात्वा च तान्सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान्।
अग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः॥ १६॥
दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः।
न गर्हयेयुरस्मान्वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित्॥ १७॥
स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः।

धूपआदि जितनी आग बालनेवाली वस्तु है, उनसेही वह घर बनवाना; आगे घृत, तेल, चर्वी और अधिक लाहके साथ कुछ मिट्टी मिलाकर उसकी भीतोंको पोतवा रखना; और सन, तेल, घृत, लाह और लकडी यह सब वस्तु उस घरमें गिरा रखना। (९-११)

पर ऐसा करना, कि पाण्डवलोग वा कोई दूसरे विशेष परीक्षासे यह समझ न पावें, कि वह गृह आगसे जलनेवाला है। इस प्रकार गृह बनवा करके पाण्डवों और मित्रोंके साथ कुन्तीको आदर पूर्वक वहां पाण्डवोंके लिये सुन्दर शय्या, आसन और यान इस प्रकार बनवा रखना, कि पिता सन्तुष्ट होवे। और यह करना, कि वारणावत नगरका कोई भी मनुष्य इस विषयमें कुछ जानने न पावे। आगे ठीक समय आनेपर अर्थात् पाण्डवोंको उस गृहमें अच्छे विश्वास पूर्वक सोते और निःशङ्क होते देखने पर उस गृहके द्वारमें आग लगाना; इसमें सन्देह नहीं, कि उससे पाण्डव जल मरेंगे। अनन्तर प्रजा समझेगी, कि पाण्डव उनके घरमें आग लगनेहीसे जल मरे; सो पाण्डवोंके लिये वह कभी हमारी निन्दा नहीं कर सकेगी। (१२-१७)

प्रायाद्रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाऽऽशुगामिना ॥ १८ ॥
स गत्वा त्वरितं राजन्दुर्योधनमते स्थितः ।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ॥ १९ ॥[५८८९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पुरोचनोपदेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन उवाच–पाण्डवास्तु रथान्युक्त्वा सदश्वैरनिलोपमैः।
आरोहमाणा भीष्मस्य पादौ जगृहुरार्तवत् ॥ १ ॥
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
अन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥
एवं सर्वान्कुरून्वृद्धानभिवाद्य यतव्रताः ।
समालिङ्ग्य समानान्वै बालैश्चाप्यभिवादिताः॥ ३॥
सर्वा मातॄस्तथाऽऽपृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्।
सर्वाः प्रकृतयश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ॥ ४ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथाऽन्ये कुरुपुङ्गवाः ।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वयुः शोककर्शिताः ॥ ५ ॥
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा ।

पुरोचन दुर्योधनसे उस बातकी प्रतिज्ञा कर अच्छे अच्छे खच्चरयुक्त शीघ्रगामी रथ पर चला । हे राजन् ! पुरोचन दुर्योधन की आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक वारणावतमें पहुचकर राजकुमार दुर्योधनके कहे हुए सब काम पूरा करने लगा । (१८—१९) [५८८९]

आदिपर्वमें एकसौ छियालिस अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ सैंतालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर व्रतशील पाण्डव लोग कुछ रथोंमें पवन समान वेगवान् अच्छे अच्छे घोडे जोतवा-कर चढनेके काल कातर होकर भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोण विदुर, कृप दूसरे वृद्धोंके पांव छूने लगे; इस प्रकार अपनेसे बडे सब कौरवोंको प्रणाम किया और अपने जोडियोंको गलेसे लगाया । और बालकोंका प्रणाम लेकर सब माताओंकी आज्ञासे और उनको सम्भाषण पूर्वक वारणावत नगरको चले । महाप्राज्ञ विदुर तथा दूसरे कौरवोंमें प्रधान लोग और पुरवासीवृन्द शोकाकुल होकर पुरुषोंमें व्याघ्ररूपी पाण्डवोंके पीछे पीछे चले । (१—५)

उनमेंसे कुछ पुरवासी और जनपद वासी पाण्डवोंके चित्तको मलिन देखकर

दीनान्दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः॥ ६ ॥
विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु न च धर्मं प्रपश्यति॥ ७ ॥
न हि पापमपापात्मा रोचयिष्यति पाण्डवः।
भीमो वा बलिनां श्रेष्ठः कौन्तेयो वा धनञ्जयः॥ ८ ॥
कुत एव महात्मानौ माद्रीपुत्रौ करिष्यतः।
तान्राज्यं पितृतः प्राप्तान्धृतराष्ट्रो न मृष्यते॥ ९ ॥
अधर्म्यमिदमत्यन्तं कथं भीष्मोऽनुमन्यते।
विवास्यमानानस्थाने नगरे योऽभिमन्यते॥ १० ॥
पितेव हि नृपोऽस्माकमभूच्छान्तनवः पुरा।
विचित्रवीर्यो राजर्षिः पाण्डुश्च कुरुनन्दनः॥ ११ ॥
स तस्मिन्पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति।
राजपुत्रानिमान्बालान्धृतराष्ट्रो न मृष्यते॥ १२ ॥
वयमेतदनिच्छन्तः सर्वे एव पुरोत्तमात्।
गृहान्विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः॥ १३ ॥
तांस्तथावादिनः पौरान्दुःखितान्दुःखकर्शितः।

अति दुःखसे कहने लगे, कि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट दुष्टबुद्धिवश सब प्रकारसे पक्ष-पात कर रहे हैं, वह एकवार भी धर्मकी ओर दृष्टि नहीं देते है। पापरहित पाण्डु-पुत्र कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर, महाबली भीम और धनञ्जय, यह कभी विद्रोह रूपी पाप कर्मकी इच्छा नहीं करते, सो महात्मा माद्रीकुमार भी चुप रहेंगे। हाय! कैसा गहरा दुःख है! पाण्डवोंका पितृ राज्यका पाना भी धृतराष्ट्रसे सहा नहीं जाता! इस अति अधर्मयुक्त कर्ममें फिर भीष्महीने क्योंकर अनुमति दी? ऐसे अन्याय पूर्वक पाण्डवोंको दूर करनेमें क्योंकर उनकी संमति हुई? (६–१०)

पहिले शान्तनुनन्दन राजर्षि विचित्र वीर्य और कुरुपुत पाण्डुने हमको पिताके समान पाला था। उन पुरुषव्याघ्र पाण्डुके स्वर्गको सिधारने पर अब धृतराष्ट्र इन बालक राजकुमारों पर द्वेषयुक्त हो गये। क्या ऐसे अत्याचार पर हमारी संमति हो सकती है? चाहे जो कुछ हो, युधिष्ठिर जहां जायगे, हम सब गृहको तज कर इस नगर से वहीं जायंगे। (११–१३)

पुरवासीलोग दुःखित होकर ऐसा आन्दोलन कर रहे थे, कि धर्मराज युधिष्ठिर

उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ १४॥
पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः।
अशङ्कमानैस्तत्कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम्॥१५॥
भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान्कृत्वा प्रदक्षिणम्।
प्रतिनन्द्य तथाऽऽशीर्भिर्निवर्तध्वं यथागृहम्॥ १६॥
यदा तु कार्यमस्माकं भवद्भिरुपपत्स्यते।
तदा करिष्यथाऽस्माकं प्रियाणि च हितानि च॥१७॥
एवमुक्तास्ततः पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
आशीर्भिश्चाऽभिनन्द्यैताञ्जग्मुर्नगरमेव हि॥ १८॥
पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सर्वधर्मवित्।
बोधयन्पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत्॥ १९॥
प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत्॥ २०॥
यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम्।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद्यथा॥ २१॥

मनहीमन मे कुछकाल सोच कर दुःखयुक्त चित्तसे उनसे बोले, कि पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्र हमारे पिता, माननीय, तथा गुरु है, और वही प्रधान है; हमारा व्रत यह है, कि उन्होंने जो कुछ कहा है उसे हम विना शङ्का पूरा करेंगे। आप हमारे हितकारी है, हमपर कृपा करके अशीस दे दे कर निज निज घरको लौट जावे। जब आप लोगोमे हम लोगोंका कोई आवश्यकीय काम आ पडेगा, तब आप हमारे इस कामको प्रिय और हितयुक्त जानकर करना। १४-१७।

पुरवासी लोग युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर प्रदक्षिण पूर्वक आशीस दे देकर कातरभावसे नगरको पधारे। उनके सम्पूर्ण रूपसे लौटनेपर सर्व नीतियोंके जानकार विदुर पाण्डवों मे प्रधान युधिष्ठिरको सावधान करनेके लिये कहने लगे। इसलिये, कि दूसरे समझ न सके, म्लेच्छ भाषाको जाननेवाले विदुर म्लेच्छ भाषाको समझते हुए युधिष्ठिरसे म्लेच्छ भाषामे इशारेसे बोले, कि जो शत्रुके चेष्टित विषयको नीति शास्त्रके अनुसार ज्ञात हो सके उनको समझकर ऐसा करना चाहिये, कि विपदसे बच सकें। जो लोग ऐसे अस्त्रोंको, कि जो विना लोहेके बना हो पर शरीरको नष्ट कर देता हो और उससे बचनेके उपायको जाननेसे

अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम्।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥ २२ ॥
कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः।
न दहेदिति चाऽऽत्मानं यो रक्षति स जीवति॥ २३ ॥
नाऽचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाऽचक्षुर्विन्दते दिशः।
नाऽधृतिर्बुद्धिमाप्नोति बुद्ध्यस्वैवं प्रबोधितः॥ २४॥
अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शस्त्रमलोहजम्।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात्॥ २५ ॥
चरन्मार्गान्विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन्नाऽनुपीड्यते ॥ २६ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं विज्ञातमिति पाण्डवः ॥ २७ ॥
अनुशिक्ष्याऽनुगम्यैतान्कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥ २८ ॥
निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा।

समर्थ है, उनको शत्रु बिगाड नही सकते। कक्षघ्न अर्थात् तृणनाशी और हिमनाशी वस्तु महाकक्षमें अर्थात् बडे वनके भीतर बिलमें रहनेवाले जीवोंको जला नही सकती है, इस नियमको आश्रयकर जो अपनी रक्षा करते है, वही जीते रहते है। जो आखोंसे नही देखते हैं, वह न तो पथ जान सक्ते है, और न दिशा निश्चयकर सकते हैं; जिनको धीरज नही है, वह विवेक बुद्धि नही प्राप्तकर सकते हैं। (१८–२४)

तुम मेरे इस उपदेशको भली भांति स्मरण रखना। जो पुरुष शत्रुओंके विना लोहेके बने शस्त्रके वशमें नही है, वह साहसीके घरकी भांति दोनो ओरसे निकलनेके पथयुक्त बिलोंके द्वारा आगसे बच सकते हैं और घूमने घामनेहीसे पथ जाने जा सकते है, नक्षत्रसेभी दिशाओंका निश्चय हो सकता है,और जो मनुष्य अपनी पांच वस्तुओंको बुद्धिपूर्वक बचा सकते है, वह शत्रुओसे पीसे नही जाते। पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर विज्ञवर विदुरकीयह बात सुनकर बोले,कि मै समझ गया। २४-२७)

विदुर पाण्डवोंको उक्त उपदेश देकर कुछ दूर पीछे चल प्रदक्षिण पूर्वक सम्भाषण कर गृहको लौटे। भीष्म, विदुर और पुरवासी सबोंके लौट जाने पर कुन्ती अजातपुत्र युधिष्ठिरके निकट जाकर

अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥
क्षत्ता यदब्रवीद्वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव ।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद्वयम् ॥ ३० ॥
यदीदं शक्यमस्माभिर्ज्ञातुं न च सदोषवत् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं संवादं तव तस्य च ॥ ३१ ॥
युधिष्ठिर उवाच — गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत् ।
पन्थाश्च वो नाऽविदितः कश्चित्स्यादिति धर्मधीः ॥ ३२ ॥
जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत् ।
विज्ञातमिति तत्सर्वं प्रत्युक्तो विदुरो मया ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच — अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नागरं जनम् ॥ ३४ ॥ [५०२३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि
वारणावतगमने सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

वैशम्पायन उवाच — ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद्वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ॥ १ ॥
श्रुत्वाऽऽगतान्पाण्डुपुत्रान्नानायानैः सहस्रशः ।

बोली, कि विदुरने सबोंके सामने अप्रकाशित अर्थयुक्त जो बात कही और तुमनेभी उनसे जैसी बात कही मै उसे समझ नहीं सकी; यदि वह हमारे जानने योग्य हो और यदि उसे जाननेसे हानि न होनेवाली हो, तो तुम दोनोंमें जो बात हुई, उसका अभिप्राय मैं जानना चाहती हूं। (२८–३१)

युधिष्ठिर बोले, कि विदुरने कहा है, कि गृहमें आग जल उठेगी तुम यह जानकर पहिलेसे सावधान होओ, कोई पथ तुम्हारा अनजाना नहीं है। जो जितेन्द्रिय होंगे, वही भूमण्डल भरका अधिकार पावेंगे। धर्मशील विदुरके मुझसे इतना कहने पर मैंने उनसे कहा है, कि मैं सब समझ गया। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि उसके अनन्तर पाण्डवोंने फाल्गुनके महीनेके आठवें दिनको रोहिणी नक्षत्रमें वारणावतकी यात्रा की। आगे वहां पहुंचे हुए पाण्डवोंसे नगर वाले जनोंकी भेंट हुई। (३२–३४) [५०२३]

आदिपर्वमें एकसौ सैंतालीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एक सौ अडतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर वारणावत नगरी की सब प्रजा पाण्डवों के शुभ आगमनको सुनकर सुमङ्गलों

अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठाञ्छ्रुत्वैव परया मुदा ॥ २ ॥
ते समासाद्य कौन्तेयान्वारणावतका जनाः।
कृत्वा जयाशिषः सर्वे परिवार्याऽवतस्थिरे ॥ ३ ॥
तैर्वृतः पुरुषव्याघ्रो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
विबभौ देवसङ्काशो वज्रपाणिरिवाऽमरैः ॥ ४ ॥
सत्कृताश्चैव पौरैस्ते पौरान्सत्कृत्य चाऽनघ।
अलंकृतं जनाकीर्णं विविशुर्वारणावतम् ॥ ५ ॥
ते प्रविश्य पुरीं वीरास्तूर्णं जग्मुरथो गृहान्।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु ॥ ६ ॥
नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तदा।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहाण्यपि ॥ ७ ॥
अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ।
जग्मुरावसथं पश्चात्पुरोचनपुरःसराः ॥ ८ ॥
तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ॥ ९ ॥
तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ॥ १० ॥

छोड शास्त्रके अनुसार माङ्गल्य पदार्थ लेकर नाना प्रकारके अगणित यानों पर चढ उनके निकट जा पहुंची। वे पाण्डवोंके निकट जाकर जय जयकारके साथ अशीस देते हुए चारों ओर खडे हुए। देव सदृश पुरुषव्याघ्र धर्मराज युधिष्ठिर तब नगरके जनोंसे घेरे जाकर सुरनाथके समान शोभा पाने लगे। निष्पाप पाण्डवलोग पुरवासियोंसे सत्कार पाकर उनकी यथायोग्य अभ्यर्थना और नाना अलङ्कारोंसे सत्कार पाकर उनका यथोचित सत्कार कर नाना अलङ्कारोंसे अलंकृत जनोंसे भरे वारणावत नगरमें जा पहुंचे। (१—५)

वीर पाण्डवनन्दन पुरमें प्रवेश कर पहिले वेद पठन आदि स्वकर्ममें नियुक्त ब्राह्मणोंके घरोंमें गये। आगे क्रमसे नगरपाल, रथी, वैश्य और शूद्रोंके घरोंमें भी गये। हे भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुपुत्रगण पुरवासियोंसे पूजे जाकर पीछे अगुया पुरोचनके साथ घरमें गये। पुरोचन उनको अच्छी अच्छी भोजन और पीनेकी वस्तु, शय्या, उत्तम आसनादि देने लगा। बहुत मूल्ययुक्त पहिरावा पहिरे हुए

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ॥ ११ ॥
तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात्कैलासमिव गुह्यकाः ॥ १२ ॥
तच्चाऽगारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरः ।
उवाचाऽऽग्नेयमित्येव भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ।
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परंतप ॥ १४ ॥
शणसर्जरसं व्यक्तमानीय गृहकर्मणि ।
मुञ्जबल्वजवंशादि द्रव्यं सर्वं घृतोक्षितम् ॥ १५ ॥
शिल्पिभिः सुकृतं ह्याप्तैर्विनीतैर्वेश्मकर्मणि ।
विश्वस्तं मामयं पापो दग्धुकामः पुरोचनः ॥ १६ ॥
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ।
इमां तु तां महाबुद्धिर्विदुरो दृष्टवांस्तदा ॥ १७ ॥
आपदं तेन मां पार्थ स संबोधितवान्पुरा ।
ते वयं बोधितास्तेन नित्यमस्मद्धितैषिणा ॥ १८ ॥

पाण्डवगण पुरोचनकी सेवा और पुरवासियोंकी उपासना पाकर वहां बसने लगे। (६—१०)

इस प्रकार दश दिनोंके व्यतीत होनेपर पुरोचनने उनको शिव नामक उस अशिव गृहकी बात सुनायी। गुह्यक लोग जिस प्रकार कैलासकी चोटी पर चढते हैं वैसेही पाण्डव-लोग परिवारसे सुशोभित होकर पुरोचनके वचन सुनकर उस गृहमें प्रविष्ट हुए। परम धार्मिक युधिष्ठिर उस गृहको भले प्रकार देखकर भीमसेनसे बोले, कि यही गृह आग लगनेवाली वस्तुओंसे बना होगा। हे शत्रुनाशि! घृत और लाहसे मिली हुई चर्बीकी गन्धको सूंघनेसे स्पष्ट प्रकाश होता है, कि यह गृह आग लगनेवाली वस्तुओंसे बना है। घर बनानेमें दक्ष और विपक्षियोंके विश्वासी शिल्पियोंने सन, धूप, सरकण्डा, तृण और बांस आदि को बटोर करके घृतमें डुबा कर उनसे यह घर बनाया है। सुयोधनका वशीभूत कुमति पुरोचन यह समझे हुआ है, कि मुझसे विश्वास आते देखकर हमको जलावेगा। (११—१७)

हे पार्थ! महामति विदुर जान सके थे, कि यह विपत आपडेगी ; इस लिये

पित्रा कनीयसा स्नेहाद् बुद्धिमन्तोऽशिवं गृहम्।
अनार्यैः सुकृतं गृहैर्दुर्योधनवशानुगैः ॥ १९ ॥
भीमसेन उवाच— यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिर उवाच— इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये ।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥ २१ ॥
यदि विन्देत चाऽऽकारमस्माकं स पुरोचनः।
क्षिप्रकारी ततो भूत्वा प्रसह्याऽपि दहेत नः॥ २२ ॥
नाऽयं बिभेत्युपक्रोशादधर्माद्वा पुरोचनः ।
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ॥ २३ ॥
अपि चायं प्रदग्धेषु भीष्मोऽस्मासु पितामहः ।
कोपं कुर्यात्किमर्थं वा कौरवान्कोपयीत सः २४ ॥
अथवाऽपीह दग्धेषु भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
धर्म इत्येव कुप्येरन्ये चान्ये कुरुपुङ्गवाः ॥ २५ ॥
वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेम हि ।

उन्होंने पहिले मुझको सावधान कर दिया था। उन छोटे चचाजीने स्नेहसे हमारे हितेच्छुक होकर जताया था, कि दुर्योधन के वशीभूत नीच स्वभावके लोगोंने इस अहित गृहको भले प्रकार बनाया है। भीमसेन बोले, कि जब कि आपने जान लिया है, कि यह गृह आग बालने वाली वस्तुओंसे बना है, तब हम पहिले जहां बसे थे, वहीं जायं तो हमारा मङ्गल हो सकता है। (१८-२०)

युधिष्ठिर बोले, कि हम यत्नमें सावधान हो यहीं रहकर बाहिरी देखनेमें कोई चेष्टा न करके बाहर निकलनेका पथ ढूंढेंगे। पुरोचन हमारे आकार वा किसी भावसे जान जायगा, तो उसी क्षण शीघ्रतापूर्वक एकायक हमको जला मारेगा; क्योंकि पुरोचन लोकनिन्दा वा अधर्म से भय खानेवाला नहीं है, वह बुरी बुद्धियुक्त दुर्योधन की आज्ञामें ऐसा अनिष्ट करनेको प्रवृत्त हुआ है। फिरभी हमारे यहां जल जानेसे पितामह भीष्म क्यों क्रोधमें होने चले, क्रोधित वह होकर क्यों कौरवोंको क्रोधयुक्त करेंगे; हां, ऐसा हो सकता है, कि जितने दूसरे कौरवश्रेष्ठ हैं, वे धर्मके नाम से क्रोध प्रकाश कर सकते हैं; और हम जलनेके भयसे भय खाकर भाग जावें, तो राज्यलोभी सुयोधन दूतोंके द्वारा हम सबोंको मरवा सकता है; क्योंकि

स्पशैर्नो घातयेत्सर्वान्राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥ २६ ॥
अपदस्थान्पदे तिष्ठन्नपक्षान्पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान्महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ॥ २७ ॥
तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित्क्वचित् ॥ २८ ॥
ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
तथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम् २९
भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढोच्छ्वासान्न नस्तत्र हुताशः संप्रधक्ष्यति ॥ ३० ॥
वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित्तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ ३१ ॥ [५०५४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमसेनयुधिष्ठिरसंवादेऽष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

वैशम्पायन उवाच— विदुरस्य सुहृत्कश्चित्खनकः कुशलो नरः ।
विविक्ते पाण्डवान्राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
प्रहितो विदुरेणाऽस्मि खनकः कुशलो ह्यहम् ।

वह दुरात्मा राजपदपर बना, सहाययुक्त और बडे ऐश्वर्यका अधिकारी है; और हम पदके बाहर, सहाय रहित और ऐश्वर्य वर्जित हैं; सो इसमें सन्देह नहीं है, कि वह हमको नाना उपायोंसे नष्ट कर सकेगा । (२६—२७)

अतएव हम पापात्मा पुरोचन और सुयोधनको ठगकर अनेक स्थानोंमें इस प्रकार छिपकर वास करेंगे, और मृगया करते हुए पृथ्वीपर भ्रमण करेंगे जिससे, कि भागनेके काल हमारा पथ अज्ञात नहीं रहेगा. वैसेही गुप्त भावसे आज ही धरतीके नीचे एक बिल खोदेंगे । गुप्त रूपसे ऐसा करनेसे हमको आशङ्का नहीं रहेगी : अतएव हम सजग होकर ऐसा करेंगे, कि पुरोचन वा कोई दूसरे पुरवासी हमारा अभिप्राय न जान सके । (२८-३१) [५०५४]

आदि पर्वमें एकसौ अडतालीस अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ उनचास अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महीपाल ! एक मनुष्य जो विदुरका मित्र और मिट्टी खोदनेमें दक्ष था, आनके निरालेमें पाण्डवोंसे बोला, कि मैं खनिक हूं, भूमि भली भांतिसे खोद सकता हूं. विदुरजीने मुझको यह कह भेजा है, कि

पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः॥ २ ॥
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिह पाण्डवान्।
प्रतिपाद्य विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥ ३ ॥
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रात्रावस्यां पुरोचनः ।
भवनस्य तव द्वारि प्रदास्यति हुताशनम् ॥ ४ ॥
मात्रा सह प्रदग्धव्याः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः।
इति व्यवसितं तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ५ ॥
किंचिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचाऽसि पाण्डव।
त्वया च तत्तथेत्युक्तमेतद्विश्वासकारणम् ॥ ६ ॥
उवाच तं सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै॥ ७ ॥
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ।
न विद्यते कवेः किंचिदविज्ञातं प्रयोजनम्॥ ८ ॥
यथा तस्य तथा नस्त्वं निर्विशेषा वयं त्वयि।
भवतश्च यथा तस्य पालयाऽस्मान्यथा कविः॥ ९ ॥
इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः।

तुम जाकर पाण्डवोंका प्रिय कार्य करो; सो पूछता हूं, कि आपका कौनसा काम करना पडेगा? उन्होंने मेरा विश्वास कर कहा है, कि तुम पाण्डवोंका हित करो, अब आज्ञा कीजिये, कि क्या करना है। हे पाण्डव! पुरोचन आपके इस गृहके द्वारपर कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिको आग लगा देगा। (१—४)

कुमति दुर्योधनने निश्चय किया है, कि पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंको माताके साथ जला मारेंगे। विदुरने म्लेच्छ भाषामें आपसे कुछ कहा था, उसमें आपनेभी उनको वैसाही उत्तर दिया था;यह बात ही मुझपर आपके विश्वास होनेका कारण है। (५—६)

सत्यशील कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर बोले, कि हे सौम्य! मैं जान गया, कि तुम विदुरके प्रिय मित्र, शुद्ध स्वभावी और विश्वासी हो, और उनपर सदा तुम्हारी बडी भक्ति है; वह सब जानते हैं, कोई काम उनका अनजाना नहीं है; तुम विदुरके जैसे प्यारे हो, हमारेभी वैसेही प्रिय हो, इसमें कुछ विशेष नहीं है। अतएव तुम उनको जैसा समझते हो, हमकोभी वैसाही समझकर हमारी रक्षा इस प्रकारसे करो, कि जैसे वह करते थे। (७-९)

पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १० ॥
स पापः कोशवांश्चैव ससहायश्च दुर्मतिः ।
अस्मानपि च पापात्मा नित्यकालं प्रबाधते ॥ ११ ॥
स भवान्मोक्षयत्वस्मान्यत्नेनाऽस्माद्धुताशनात्।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात्सुयोधनः॥१२॥
समृद्धमायुधागारमिदं तस्य दुरात्मनः ।
वप्रान्तं निष्प्रतीकारमाश्रित्येदं कृतं महत् ॥ १३ ॥
इदं तदशुभं नूनं तस्य कर्म चिकीर्षितम् ।
प्रागेव विदुरो वेद तेनाऽस्मानन्वबोधयत् ॥ १४ ॥
सेयमापदनुप्राप्ता क्षत्ता यां दृष्टवान्पुरा ।
पुरोचनस्याऽविदितानस्मांस्त्वं प्रतिमोचय ॥ १५ ॥
स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः ।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महद्बिलम् ॥ १६ ॥
चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्ये नाऽतिमहद्बिलम् ।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ॥ १७ ॥
पुरोचनभयाच्चैव व्यदधात्संवृतं मुखम् ।

मुझको भी समझ आ गयी कि दुर्योधनके मतसे पुरोचनने हमारे लिये ही यह अग्निघर बनवाया है; यह पापात्मा दुर्मति दुर्योधन धनयुक्त और सहाय सहित है सो सदा हमको नष्ट करनेकी चेष्टा करता है। अब तुम यत्नपूर्वक हमको इस अग्नि-घरसे बचाओ। और भी इसमें सन्देह नहीं है, कि हम यहां जल मरें, तो सुयोधनकी आशा पूर्ण होगी। देखो यह उस दुरात्माकी बडी भारी अस्त्रशाला है। इसे आश्रयकर यह बडा गृह ऐसा बना है कि भीतरसे जडसे अन्ततक बाहर निकलनेका कोई पथ नहीं है। विदुरने दुर्योधनके जिस सङ्कल्पित अनुचित कर्मको पहिले निश्चय स्वरूप जानकर हमको सावधान किया था, अब वही विपद आ पडी है, अतएव ऐसा करो कि हम पुरोचनसे गुप्तभावसे भाग सकें। (१०–१५)

खनकने वैसी प्रतिज्ञाकर खदक खोदनेके मिससे बिल खोदना आरम्भ किया। हे भारत! उस गृहके भीतर आगका अनजाना एक बडा बिल खोदकर उसमें ऐसा द्वार लगाया कि भूमिके समान हो गया और पुरोचनके भयसे उस बिलका मुख ढांप दिया। हे भूपाल!

स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥ १८ ॥
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप ।
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद्वनम् ॥ १९ ॥
विश्वस्तवदविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम् ।
अतुष्टास्तुष्टवद्राजन्नूषुः परमविस्मिताः ॥ २० ॥
न चैनानन्वबुध्यन्त नरा नगरवासिनः ।
अन्यत्र विदुरामात्यात्तस्मात्खनकसत्तमात् ॥ २१ ॥ [५९७५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहवासे ऊनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

वैशम्पायन उवाच—तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान् ।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥ १ ॥
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—अस्मानयं सुविश्वस्तान्वेत्ति पापः पुरोचनः ।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥ ३ ॥
आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।

अहित बुद्धियुक्त पुरोचन उस गृहके द्वारपर सदा रहा करता था। पाण्डव गणभी रात्रिको अस्त्र शस्त्र लेकर उस गृहके भीतर रहते और दिनको वनमें घूम घाम मृगया करते फिरते थे। हे राजन्! वे पुरोचनको ठगनेके लिये टुकभी विश्वास न रख करके भी विश्वासीके समान, सदा असन्तुष्ट हो करकेभी सन्तुष्ट की भांति और अति विस्मित होकर वहां बसने लगे। पर विदुरके मन्त्री उस खनिकके विना किसी नगरवासीने उनका अभिप्राय नहीं जाना। (१६-२१)

आदिपर्वमें एकसौ उनपचास अ० समाप्त [५९७५]

आदिपर्वमें एकसौ पचास अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर उनके उसप्रकार वर्षभर वहां बस जानेपर पुरोचन उनको विश्वास रखनेवालोंकी नाईं निःशङ्क जानकर मन ही मनमें आनन्द करने लगा। कुन्तीपुत्र धर्मवीर युधिष्ठिर उसको प्रसन्न देखकर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे बोले, कि इस पापात्मा पुरोचनने समझ लिया है, कि हममें पूरा विश्वास आगया है, सो इस कुटिलको हमने ठग लिया है; अब हमारे भागनेका काल आगया है। हम अस्त्रशालामें आग लगा करके पुरोचन



लाक्षागृह का दाह और पांडवोंका भाग जाना।

(महाभारत आदि. १५०।२०)

षट्प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिताः॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच–अथ दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम् ।
चक्रे निशि महाराज आजग्मुस्तत्र योषितः ॥ ५ ॥
ता विहृत्य यथाकामं भुक्त्वा पीत्वा च भारत।
जग्मुर्निशि गृहानेव समनुज्ञाप्य माधवीम् ॥ ६ ॥
निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन्भोज्ये यदृच्छया ।
अन्नार्थिनी समभ्यागात्सपुत्रा कालचोदिता ॥ ७ ॥
सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला।
सह सर्वैः सुतै राजंस्तस्मिन्नेव निवेशने ॥ ८ ॥
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप।
अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा ॥ ९ ॥
तदुपादीपयद्भीमः शेते यत्र पुरोचनः ।
ततो जतुगृहद्वारं दीपयामास पाण्डवः ॥ १० ॥
समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने ।
ज्ञात्वा तु तद्गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥
सुरुङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्धमरिंदमाः ।

को जलाके यहां छः मनुष्योंको छोडकर लोगोंसे छुपकर भागेंगे। (१-४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महाराज! अनन्तर कुन्तीने एक दिन दान देनेके मिषसे रात्रिको ब्राह्मणोंको भोजन कराया, इस कामके लिये वहां की बहुत स्त्रियां वहां आई थीं। हे भारत! स्त्रियां रात्रि को वहां पूरे सुखसे खा पीकर आनन्द पूर्वक कुन्तीकी आज्ञासे निज निज घरको पधारीं, दैववश कालकी प्रेरणासे एक बहेलिन पांच पुत्रोंके साथ मनमाने उस भोजमें खानेकी इच्छासे आई थी। हे पृथ्वीनाथ! वह बहेलिन अपने बेटोंके साथ मदिरा पीकर उन्मत्त और नशेसे विह्वल होकर उस घरहीमें सो गयी। एकबारही अचेत होकर मरीसी वहां पडी थी। (५—९)

अनन्तर रात्रिको बडी हवा बह रही थी, और नगरके लोग सोगये थे कि ऐसे समयमें भीमसेनने उस गृहमें जहां पुरोचन सोता था आग लगायी, और क्षण भरमें जतुगृहके द्वारको जलाकर अन्तमें उस गृहके चारों ओर आग लगादी। महात्मा पाण्डव चारों ओरसे गृहको जलते हुए देखकर माताके साथ बिलमें जा घुसे। अनन्तर जल्दी ...

ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः ॥ १२ ॥
प्रादुरासीत्तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः ।
तदवेक्ष्य गृहं दीप्तमाहुः पौरा कृशाननाः ॥ १३ ॥
पौरा ऊचुः — दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाऽकृतबुद्धिना ।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ॥ १४ ॥
अहो धिग्धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा ।
यः शुचीन्पाण्डुदायादान्दाहयामास शत्रुवत् ॥ १५ ॥
दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः ।
अनागसः सुविश्वस्तान्यो ददाह नरोत्तमान् ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः ।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः ॥ १७ ॥
पाण्डवाश्चाऽपि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः ।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः ॥ १८ ॥
तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः ।
न शेकुःसहसा गन्तुं सह मात्रा परन्तपाः ॥ १९ ॥
भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः ।

आगका कठोर तेज और घोर शब्द फैलने लगा। उससे पुरवाले जन उस गृहको जलते देखकर मलिनमुखसे कहने लगे, कि दुर्योधनके रखे हुए कुमति पापात्मा पुरोचनने स्वजनोंको नष्ट करनेके लिये ही यह गृह बनवाया था, अब उसमें आग लगायी। हाय! धृतराष्ट्रकी बुद्धि कैसी कच्ची है! उनकी उस बुद्धिपर धिक्कार है, बुद्धिसे उन्होंने निष्पापी पाण्डु-पुत्रोंको शत्रुके सदृश जला दिया! पर जिस पापिष्ठ पुरोचनने विश्वासयुक्त और निर्दोषी नरोत्तम पाण्डवोंको जलाया, अब वह दुरात्मा अपने कर्मफलमेंही जल मरा है। (९—१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि वारणावतवाले इस प्रकार विलपते हुए उस रात्रिको गृहको चारों ओरसे घेरकर खडे रहे। इधर शत्रुनाशी पाण्डवलोग माताके साथ अति दुःखी चित्त होकर लोगोंसे छिपकर उस बिलसे निकलकर दृढताके साथ शीघ्र चलने लगे; पर वे सब निद्राके झोंको और भयके कारण माताके साथ एकायक शीघ्र नहीं चल सके। हे राजेन्द्र! तब भीमवेगी तथा भीम पराक्रमी भीमसेन माता और सम्पूर्ण भाईयोंको लेकर चलने लगे।

जगाम भ्रातृनादाय सर्वान्मातरमेव च ॥ २० ॥
स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान् ।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ स महाबलः ॥ २१ ॥
उरसा पादपान्भञ्जन्महीं पद्भ्यां विदारयन् ।
स जगामाऽऽशु तेजस्वी वातरंहो वृकोदरः ॥२२॥ [५००७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहदाहे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

वैशम्पायन उवाच-एतस्मिन्नेव काले तु यथासंप्रत्ययं कविः ।
विदुरः प्रेषयामास तद्वनं पुरुषं शुचिम् ॥ १ ॥
स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान्ददृशे वने ।
जनन्या सह कौरव्य मापयानान्नदीजलम् ॥ २ ॥
विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः ।
ततस्तस्याऽपि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ॥ ३ ॥
ततः प्रवासितो विद्वान्विदुरेण नरस्तदा ।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ॥ ४ ॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विस्रम्भिभिः कृताम् ॥ ५ ॥

अति बल वीर्यवन्त और हवाकी नाईं वेगवान् तेजस्वी वृकोदर जानेके कालमें माताको कन्धेपर, नकुल और सहदेवको गोदमें और युधिष्ठिर तथा अर्जुनके हाथ पकडकर, छातीसे पेडोंको तोडते और पावोंसे धरतीको फोडते हुए चले। (१७—२२) [५००७]

आदिपर्वमें एकसौ पचास अध्याय समाप्त

आदिपर्वमें एकसौ एकावन अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर इस समय सर्वज्ञ विदुरने एक पवित्र मनुष्यको इस प्रकारसे, कि पाण्डवोंके मनमें उसपर विश्वास हो, उस वनको भेजा। हे कुरुनन्दन! वनमें जहां पाण्डव लोग माताके साथ नदीके जलको नाप रहे थे, विदुरके भेजे हुए पुरुषने वहां जाकर उनको देखा। अति बुद्धिमान महात्मा विदुर गुप्त दूतके सहारे पापिष्ठ दुर्योधनके चेष्टित उन सब कामोंसे ज्ञात हुए थे, इसी हेतु उन्होंने उस विद्वज्जनको वहां भेजा था। (१—४)

उस पुरुषने तब मङ्गलमय भागीरथीके तट पर विश्वासी जनोंसे बनी, पवनके सहन हारी यन्त्रवाली झण्डोंसे सुहावनी

ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम् ।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ॥ ६ ॥
कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ ७ ॥
तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयाऽनया ।
भूयश्चैवाऽह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ॥ ८ ॥
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे ।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेताऽसि न संशयः ॥ ९ ॥
इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी ।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद्देशान्न संशयः ॥ १० ॥
अथ तान्व्यथितान्दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान् ।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रस्थितानब्रवीत्पुनः ॥ ११ ॥
विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य वचो मुहुः ।
अरिष्टं गच्छताऽव्यग्राः पन्थानमिति चाऽब्रवीत् ॥ १२ ॥
इत्युक्त्वा स तु तान्वीरान्पुमान्विदुरचोदितः ।
तारयामास राजेन्द्र गंगां नावा नरर्षभान् ॥ १३ ॥

और मन या हवाकी नाई शीघ्रगामिनी पूर्व कथित नावको उन्हें दिखाया और विश्वासके लिये कहा, कि हे युधिष्टिर ! विदुरने इशारेसे जो कुछ कहा था, वह सुनिये। कक्षनाशी और हिमनाशी वस्तु महाकक्षके विल भीतर स्थित जनको नष्ट नहीं कर सकती है, इसप्रकार जो जन अपनी रक्षा कर सकता है, वह जीता रहता है। हे पाण्डव ! मैं विदुरका विश्वासी और कामोंका जानकार हूं। उन्होंने मुझको इशारेकी उस बातको कहकर यहां भेज दिया है। उस बहुत देखेभाले महाशयने यहभी कह दिया है, कि हे कुन्ती-पुत्र ! तुम रण स्थलमें कर्ण, भाइयो-समेत दुर्योधन तथा शकुनिको अवश्यही परास्त करोगे। अब इस में सन्देह नहीं है, कि जलमें रखी हुई, सुखसे जानेवाली इस नावपर आप इस स्थानसे बच जायंगे। (७—१०)

आगे उस पुरुषने नरोत्तम पाण्डवोंको माताके साथ दुःखीचित्त देखकर नावपर चढा करके गङ्गाजीसे उनके साथ चलने लगा और फिर बोला, कि विदुरने आपके नाम लेकर सिर चूमकर गले लगाकर वार वार कहा है, कि तुम पथमें न घबडाकर विना विघ्न मङ्गलपूर्वक जाओ।

तारयित्वा ततो गंगां पारं प्राप्तांश्च सर्वशः ।
जयाशिषः प्रयुज्याऽथ यथागतमगाद्धि सः ॥ १४ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानः प्रतिसंदिश्य वै कवेः ।
गंगामुत्तीर्य वेगेन जग्मुर्गूढमलक्षिताः ॥ १५ ॥ [६०१२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि गंगोत्तरणे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

वैशम्पायन उवाच– अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः ।
तत्राऽऽजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ॥ १ ॥
निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः ।
जातुषं तद् गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ॥ २ ॥
नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा ।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ३ ॥
विदिते धृतराष्ट्रस्य धार्तराष्ट्रो न संशयः ।
दग्धवान्पाण्डुदायादान्न ह्येनं प्रतिषिद्धवान् ॥ ४ ॥
नूनं शान्तनवोऽपीह न धर्ममनुवर्तते ।
द्रोणश्च विदुरश्चैव कृपश्चाऽन्ये च कौरवाः ॥ ५ ॥

हे राजेन्द्र! विदुरके भेजे हुए उस पुरुषने नरश्रेष्ठ वीर पाण्डवोंसे यह बात कहते हुए नावपर गङ्गाजीको पार किया. आगे उनके अन्य पारमें पहुचनेपर वह जय जयकारके साथ उनको अशीष देकर अपने स्थानको गया। महात्मा पाण्डव लोग गङ्गाजीको पारकर उस पुरुषसे विदुरको यहां पलटा समाचार देकर किसीसे न देखे जाकर वेग पूर्वक जाने लगे। (१४–१५) [६०१२]

आदिपर्वमें एकसौ इक्यावन अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ बावन अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर रात्रि बीतनेपर संपूर्ण नगरवाले पाण्डवों की भेंटके लिये शीघ्रता से वहां आये! उन्होंने आग बुझाकर मंत्री पुरोचनको जतुगृहके साथ जला हुआ पाया। आगे रोते हुए चिल्लाकर कहने लगे कि निश्चय जान पडता है कि पापात्मा दुर्योधनने केवल पाण्डवोंको नष्ट करनेके लियेही ऐसा किया है। इसमें संदेह नहीं है, कि दुर्योधनने पाण्डवोंको जलानेके विषयमें धृतराष्ट्रकी सम्मति ली उनकी सम्मति नहीं होती, तो वह मना करते। और शान्तनुनन्दन भीष्म, द्रोण, विदुर, कृप और दूसरे कौरवोंनेभी इस विषयमें धर्मपर

ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान्दग्धवानसि॥ ६ ॥
ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम्।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसम् ॥ ७ ॥
खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम्।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ॥ ८ ॥
ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद्राजा सुमहदप्रियम्।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः॥ १० ॥
अद्य पाण्डुर्मृतो राजा मम भ्राता महायशाः।
तेषु वीरेषु दग्धेषु मात्रा सह विशेषतः॥ ११ ॥
गच्छन्तु पुरुषाः शीघ्रं नगरं वारणावतम्।
सत्कारयन्तु तान्वीरान्कुन्तिराजसुतां च ताम॥१२॥
कारयन्तु च कुल्यानि शुभानि च बृहन्ति च।
ये च तत्र मृतास्तेषां सुहृदो यान्तु तानपि॥ १३ ॥

दृष्टि नही दी है। अब हम दुरात्मा धृतराष्ट्रसे कहे भेजते हैं, कि तुम्हारी बडी आशा पूरी हुई, तुमने पाण्डवोंको जला मारा। (१—६)

अनन्तर उन्होंने पाण्डवोंको ढूंढनेके लिये अग्निको उठा कर बुझाते हुए, पांचों पुत्रके सहित जलीभुनी व्हेलिनको देखा। उस समय विदुरके भेजे हुए, उस पूर्वोक्त खनिकने उस गृहके साफ करनेके मिषसे दूसरोंके न देखनेमे उस बिलका द्वार तोप दिया। इसके अनन्तर नगरवालोंने धृतराष्ट्रके निकट जाकर यह कह सुनाया, कि पाण्डवगण मंत्री पुरोचनके साथ जल मरे है। राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंके विनाश रूपी अति अप्रिय समाचार को सुनकर दुःखीचित्तसे विलपते हुए कहने लगे, कि हाय! आज उन सब वीरोंके माता समेत जल जानेसे मेरे भाई बडे यशस्वी पाण्डु सत्यही मरे! (७—११)

कौरवलोग वारणावतमे जाकर उन वीरों और कुंतीराजपुत्रीका अग्नि संस्कार करें; मेरे कुलकी प्रथाके अनुसार जितने शुभ तथा बडे बडे कर्म है, उनकोभी भले प्रकार करें और जिन जिन लोगोंने वहां पर देह छोडी हैं, उनके बांधवभी वहां जावें। इस दशामे पाण्डव और कुंतीके

एवं गते मया शक्यं यद्यत्कारयितु हितम् ।
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च तत्सर्वं क्रियतां धनैः॥१४॥
एवमुक्त्वा ततश्चक्रे ज्ञातिभिः परिवारितः ।
उदकं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १५॥
रुरुदुः सहिताः सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
हा युधिष्ठिर कौरव्य हा भीम इति चाऽपरे ॥१६॥
हा फाल्गुनेति चाप्यन्ये हा यमाविति चापरे ।
कुन्तीमार्ताश्च शोचन्त उदकं चक्रिरे जनाः॥ १७॥
अन्ये पौरजनाश्चैवमन्वशोचन्त पाण्डवान् ।
विदुरस्त्वल्पशश्चक्रे शोकं वेद परं हि सः॥ १८॥
पाण्डवाश्चाऽपि निर्गत्य नगराद्वारणावतात ।
नदीं गङ्गामनुप्राप्ता मातृषष्ठा महाबलाः ॥ १९॥
दाशानां भुजवेगेन नद्याः स्रोतोजवेन च ।
वायुना चाऽनुकूलेन तूर्णं पारमवाप्नुवन ॥ २०॥
ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशाम्।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम्॥ २१॥
यतमाना वनं राजन्गहनं प्रतिपेदिरे ।

लिये जितने हितकार्य हो सकें, सब धनके सहारे कर डाले। (१२-१४)

अम्बिका पुत्रने ऐसा कहकर ज्ञातियोंके साथ पाण्डवोंकी जलक्रिया की। सब कौरव एकत्र मिलकर अति शोकमें हाय हाय कर रोने लगे। किसीने हा कुल भूषण युधिष्ठिर ! किसीने हा भीम ! किसीने हा फाल्गुन ! किसी ने हा नकुल ! हा सहदेव ! अथवा किसी ने हा कुन्ति ! इस प्रकार कातर स्वरसे शोक करते हुए, उदकक्रिया पूरी की और दूसरे पुरवासी पाण्डवोंके शोकसे बहुत कातर हुए। विदुर अल्पशोक दिखाने लगे, क्योंकि वह सब समाचार जानते थे। (१५-१८)

इधर महाबली पाण्डवगण माताके साथ वारणावत नगरसे निकल करके गङ्गाजीके किनारे जाकर मल्लाहोंके भुजबल, सोतेके वेग और सहाय वायुके सहारे बड़े शीघ्र अन्तपारको जा पहुंचे। वे नावको छोड कर रात्रिमें तारोंके सहारे पथ जानकर दक्षिण ओर चलने लगे। हे राजन ! उनको यही यही चेष्टामें अन्तको एक गहन वन मिला।

ततः श्रान्ताः पिपासार्ता निद्रान्धाः पाण्डुनन्दनाः २२
पुनरूचुर्महावीर्यं भीमसेनमिदं वचः ।
इतः कष्टतरं किं नु यद्वयं गहने वने ॥
दिशश्च न विजानीमो गन्तुं चैव न शक्नुमः ॥ २३ ॥
तं च पापं न जानीमो यदि दग्धः पुरोचनः ।
कथं नु विप्रमुच्येम भयादस्मादलक्षिताः ॥ २४ ॥
पुनरस्मानुपादाय तथैव व्रज भारत ।
त्वं हि नो बलवानेको यथा सततगस्तथा ॥ २५ ॥
इत्युक्तो धर्मराजेन भीमसेनो महाबलः ।
आदाय कुन्तीं भ्रातॄंश्च जगामाऽऽशु महाबलः २६ [६०३८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पाण्डववनप्रवेशे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

वैशम्पायन उवाच—तेन विक्रममाणेन ऊरुवेगसमीरितम् ।
वनं सवृक्षविटपं व्याघूर्णितमिवाऽभवत् ॥ १ ॥
जङ्घावातो ववौ चाऽस्य शुचिशुक्रागमे यथा ।
आवर्जितलतावृक्षं मार्गं चक्रे महाबलः ॥ २ ॥

तब नींदसे अन्धे थके और प्यासे पाण्डवोंने भीमसेनसे कहा, कि देखो इससे अधिक और क्या कष्ट हो सकता है, कि हम इस सघन वनमें आपडे है, अब न तो दिशा निश्चय होती है ओर न चल सकते है । नहीं जानते वह पापात्मा पुरोचन जला वा नहीं, वह जलभी गया हो, तो हम औरोंके बिना देखे क्योंकर इस गहरी विपतसे पार होंगे? हे भारत! अकेले तुम्हीं हम सबोंसे बली और पवनसम वेगवान हो, सो फिर हम सबोंको पूर्ववत ले चलो । धर्मराजके ऐसा कहनेपर महाबली भीमसेन कुंती और भ्राताओंको लेकर शीघ्र चलने लगे । (१९ – २६) [६०३८]

आदिपर्वमें एकसौ बावनअध्याय समाप्त

आदिपर्वमें एकसौ तिरपन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महाबली भीमसेनके जानेके कालमें शाखापल्लवोंसे भरा हुआ, वह वन उनकी उरुकी चोटसे डोलता हुआ, मानो घूमने लगा । जिस प्रकार जेठ और आषाढ महीनोंमें प्रबल हवा बहती रहती है, वैसेही उन महाबली की जांघकी चोटसे पवन सनसनाने लगी; इससे निकटकी लता और वृक्ष टूट फूटकर अच्छा पथ बनने लगा ।

स मृद्नन्पुष्पितांश्चैव फलितांश्च वनस्पतीन् ।
अवरुज्य ययौ गुल्मान्पथस्तस्य समीपजान् ॥ ३ ॥
सरोषित इव क्रुद्धो वने भञ्जन्महाद्रुमान् ।
त्रिःप्रस्रुतमदः शुष्मी षष्टिवर्षो मतङ्गराट् ॥ ४ ॥
गच्छतस्तस्य वेगेन तार्क्ष्यमारुतरंहसः ।
भीमस्य पाण्डुपुत्राणां मूर्च्छेव समजायत ॥ ५ ॥
असकृच्चापि संतीर्य दूरपारं भुजप्लवैः ।
पथि प्रच्छन्नमासेदुर्धार्तराष्ट्रभयात्तदा ॥ ६ ॥
कृच्छ्रेण मातरं चैव सुकुमारीं यशस्विनीम् ।
अवहत्स तु पृष्ठेन रोधःसु विषमेषु च ॥ ७ ॥
अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम् ।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभ ॥ ८ ॥
घोरा समभवत्सन्ध्या दारुणा मृगपक्षिणः ।
अप्रकाशा दिशः सर्वा वातैरासन्ननार्तवैः ॥ ९ ॥
शीर्णपर्णफलै राजन्बहुगुल्मक्षुपैर्द्रुमैः ।
भग्नावभुग्नभूयिष्ठैर्नानाद्रुमसमाकुलैः ॥ १० ॥
ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः ।

वह उस पथके निकटके फूल फलवाले वनस्पति और लताओंको खूंदते हुए, चलने लगे। गर्दन आदि तीन प्रकारके अङ्गोंसे गलित अहंकृत साठ वर्ष अवस्थायुक्त, क्रोधित गजराज जिस प्रकार वनके बडे बडे पेडोंको तोडता हुआ चला जाता है, वैसेही वह बडे बडे पेडोंको तोडते हुए, चलने लगे। (३--४)

गरुड और पवन समान वेगवान भीमसेनकी गतिके वेगसे युधिष्ठिर आदि अचेतनकी भांति होगये थे। वह दोनों भुजरूपी पतवारोंसे पथमें गङ्गाजीकी बहती धारको बार बार पार कर दुर्योधनके भयसे छिपकर गये थे। नदीतटके ऊंचे नीचे स्थानमें यशस्विनी कोमलाङ्गी माताको पीठपर लेकर वह अति कष्टसे चले। हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर ऐसे निर्जन वनमें जहां फलफूल जल मिलते नहीं हैं और हिंसक प्राणी हैं सन्ध्याके समय आन पहुंचे। वहां भारी अंधेरीसे भरी सन्ध्या आगई। भयानक पशुपक्षियोंके शब्द सुनाई देने लगे और दिशायें देखी नहीं गयीं, और वहीं प्रचण्ड अकालिक पवन बह रही थी उससे बहुतसे गले सडे

नाऽशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया॥ ११॥
न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने।
ततस्तृपापरिक्लान्ता कुन्ती पुत्रानथाऽब्रवीत्॥ १२॥
माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता।
तृष्णया हि परीतास्मि पुत्रान्भृशमथाऽब्रवीत्॥१३॥
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात्प्रजल्पितम्।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ॥ १४॥
ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत्।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ॥ १५॥
तत्र निक्षिप्य तान्सर्वानुवाच भरतर्षभः।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो॥ १६॥
एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ॥ १७॥
अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः॥ १८॥
स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ।

पत्ते और सूखे फलवाले छोटे बडे पेड तथा लता कुछ टूटने और कुछ नीचे गिरने लगीं; तब कौरवलोग नींदसे जकडे थके और प्यासे बने, आगे चल नहीं सके, पानभोजन—रहित हो कर उस बडे भारी वन ही में बैठ गये। (५-१२)

आगे कुन्ती प्यासके मारे विकल पुत्रोंसे बोली, कि मैं पांच पाण्डवोंकी माता होकर पांचों पाण्डवोंके बीचमें रह करके भी जल की प्यासमे कातर हो गयी! कुन्ती बार बार यह कहने लगी। भीमसेनका हृदय उसे सुनकर मातृस्नेह तथा करुण भावसे पूरित हुआ। वह फिर चलने लगे। उसके अनन्तर निर्जन घोर महावनमे प्रवेशकर दूरतक छांह देनेवाले एक सुन्दर बडको देखा। हे प्रभो! भरतश्रेष्ठ भीमसेन उन सबों को वहां उतारकर बोले, कि आप यहां विराजे मै जल ढूंढ लाऊं। यहां जलमे चरनेवाले सारस पक्षियों का मीठा शब्द सुन पडता है, मुझको जान पडता है, कि यहां बडा जलाशय होगा। आगे वह बडे भाईकी आज्ञासे उधरको चले, जिधर जलमे चलनेवाले पक्षियोंकी ध्वनि सुनी जाती थी। (१२—१८)

नैषामर्थे च जग्राह भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलः ॥
उत्तरीयेण पानीयमानयामास भारत ॥ १९ ॥
गव्यूतिमात्रादागत्य त्वरितो मातरं प्रति ।
शोकदुःखपरीतात्मा निशश्वासोरगो यथा ॥ २० ॥
स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च वसुधातले ।
भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥ २१ ॥
अतः कष्टतरं किं नु द्रष्टव्यं हि भविष्यति ।
यत्पश्यामि महीसुप्तान्भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ॥ २२ ॥
शयनेषु परार्ध्येषु ये पुरा वारणावते ।
नाऽधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ॥ २३ ॥
स्वसारं वसुदेवस्य शत्रुसङ्घावमर्दिनः ।
कुन्तिराजसुतां कुन्तीं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ २४ ॥
स्नुषां विचित्रवीर्यस्य भार्यां पाण्डोर्महात्मनः ।
तथैव चाऽस्मज्जननीं पुण्डरीकोदरप्रभाम् ॥ २५ ॥
सुकुमारतरां स्त्रीणां महार्हशयनोचिताम् ।
शयानां पश्यताऽद्येह पृथिव्यामतथोचिताम् ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! उन्होंने वहां जाकर नहा करके जल पीया। आगे भ्रातृप्रिय भीम भाइयोंके लिये दुपट्टे में जल लेकर लौट चले। अनन्तर वेगसे उन दो कोसोंकी दूरीसे लौट आकर माताकी ओर देखकर शोक और दुःखके मारे विह्वल होकर उरग की भांति लम्बी सांस छोडी। वृकोदर माता और भाइयोंको धरती पर पडे और सोये देखकर अतिशोकसे विलपन लगे कि इससे और अधिक कष्ट क्या होना है, कि मुझ दुर्भाग्यको भाइयोंको धरती पर सोते हुए देखना पडता है! १९-२२

पहिले वारणावत नगरमे बडे बडे मूल्यके बिस्तरोंपर जिनको नींद नहीं आती थी, आज वे मिट्टी पर पडकर सोते है। देखो जो शत्रुदल के नाशने वाले वसुदेवकी बहिन राजा कुन्तीराज की बेटी, विचित्रवीर्यकी पुत्रवधू, महात्मा राजा पाण्डुकी स्त्री और हमारी माता है, जो सब अच्छे लक्षणोंसे सुशोभित पद्म-गर्भ सदृश रूपवती, बडी कोमलाङ्गी और बडे मूल्यवान बिस्तरों पर सोने योग्य है क्या उन कुन्तीको आज मिट्टी पर सोना सजता है? जिन्होंने धर्म इन्द्र और पवन इन सब

धर्मादिन्द्राच्च वाताच्च सुषुवे या सुतानिमान् ।
सेयं भूमौ परिश्रान्ता शेते प्रासादशायिनी॥ २७ ॥
किं नु दुःखतरं शक्यं मया द्रष्टुमतःपरम् ।
योऽहमद्य नरव्याघ्रान्सुप्तान्पश्यामि भूतले॥ २८ ॥
त्रिषु लोकेषु यो राज्यं धर्मनित्योऽर्हते नृपः ।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत्कथम्॥ २९ ॥
अयं नीलाम्बुदश्यामो नरेष्वप्रतिमोऽर्जुनः ।
शेते प्राकृतवद्भूमौ ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३० ॥
अश्विनाविव देवानां याविमौ रूपसंपदा ।
तौ प्राकृतवदद्येमौ प्रसुप्तौ धरणीतले ॥ ३१ ॥
ज्ञातयो यस्य वै न स्युर्विषमाः कुलपांसनाः ।
स जीवेत सुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ॥ ३२ ॥
एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत्पर्णफलान्वितः ।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः ॥ ३३ ॥
येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः ।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः॥ ३४ ॥

देवोंसे यह सब सन्तान प्राप्त की है और सदासे बडे बडे भवनोंमें सोती आई है, वह आज थकावटके मारे धरती पर लौटती है! फिर इससे मेरे लिये और कौन दुःख देखा जायगा, कि मैं आज इन पुरुषोत्तमोंको मिट्टी के बिछौने पर पडे हुए देखता हूं। (२३-२८)

धार्मिकवर राजा युधिष्ठिर जो तीनों लोकों के अकेले अधिकारी होनेके योग्य है, हाय! वह आज क्यों कर सामान्य जनकी भांति थकावटके मारे मिट्टी पर सोते है! इससे और क्या अधिक दुःख होना है कि, नीले बादल समान श्रीमान अर्जुन, जिनकी बराबरी करने वाला इस मर्त्यलोकमे कोई नही है, आज छोटेसे मनुष्यकी नाई मिट्टी पर पडे है! और यह दो जिलहे भाई जो रूप सम्पदमे देवोंमे अश्विनीकुमारोंके सदृश द्युतिमान् है, वे साधारण लोगों की भांति धरती पर लोट रहे है! जिसके कुल नाशी भयानक ज्ञाति अर्थात् पटैत नही है, वह ग्रामके वृक्ष ऐसा अकेला सुखसे दिन काट सकता है। (२९-३२)

देखो, ग्राम भरमें ज्ञातियोंसे खाली फल पत्रोंसे सुशोभित एकही वृक्ष रहे तो, वह वृक्ष चैत्य करके भले प्रकार पूजा

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः ।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ॥३५॥
वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना ।
विवासिता न दग्धाश्च कथंचिद्दैवसंश्रयात्॥ ३६ ॥
तस्मान्मुक्ता वयं दाहादिमं वृक्षमुपाश्रिताः ।
कां दिशं प्रतिपत्स्यामः प्राप्ताः क्लेशमनुत्तमम्॥३७॥
सकामो भव दुर्बुद्धे धार्तराष्ट्राऽल्पदर्शन ।
नूनं देवाः प्रसन्नास्ते नाऽनुज्ञां मे युधिष्ठिरः ॥३८॥
प्रयच्छति वधे तुभ्यं तेन जीवसि दुर्मते ।
नन्वद्य सपुत्रामात्यं सकर्णानुजसौबलम् ॥ ३९ ॥
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत्ते न क्रुध्यते नृपः ॥४०॥
धर्मात्मा पाण्डवश्रेष्ठः पापाचार युधिष्ठिरः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुः क्रोधसंदीप्तमानसः ॥ ४१ ॥
करं करेण निष्पिष्य निःश्वसन्दीनमानसः ।
पुनर्दीनमना भूत्वा शान्तार्चिरिव पावकः ॥ ४२॥

जाता है. अथवा इस भूलोकमे जिनके धार्मिक वीर वर बहुत ज्ञाति रहते है. वे भी विना क्लेश सुखसे काल काटते है और बहुतेरेभी बली ऐश्वर्ययुक्त और मित्र बान्धवोको आनन्द देते हुए वनमे उपजे हुए वृक्षोकी भाति एक दूसरेके सहारे परम सुखसे काल व्यतीत करते है.पर कुबुद्धि धृतराष्ट्र और दुर्योधनने हमको खदेडा है : किन्तु दैववश हम किसी तरह जलनेसे बचे । इस आगसे बचकर कठोर क्लेश भोगते हुए इस वृक्ष के आसरेमे आये है. अब किस दिशा जावे ! ३३—३७

रे कुबुद्धे ! अल्पदर्शिन ! धृतराष्ट्रपुत्र! तू अब अपनी आशा पूरीकर । सन्देह नहीं है. कि तुझपर देवगण प्रसन्न है । रे कुमते ! युधिष्ठिर तुझे मार डालनेकी आज्ञा नही देते. इस लिये तू जीता है ! क्या आजही मै कोपाविष्ट होकर तुझ को बेटा. मन्त्री. कर्ण छोटे भाईलोग और शकुनिके साथ यमराजके घर नही भेज सकता ? पर क्या करूं धर्मात्मा पाण्डवोमे श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर तुझ पर क्रोधित नहीं होते है ! ३८-४१

महाबाहु वृकोदरने इस प्रकार कहकर सांस खिचकर मलिन करके हाथसे हाथ

भ्रातॄन्महीतले सुप्तानवेक्षत वृकोदरः ।
विश्वस्तानिव संविष्टान्पृथग्जनसमानिव ॥ ४३ ॥
नाऽतिदूरेण नगरं वनादस्माद्धि लक्षये ।
जागर्तव्ये स्वपन्तीमे हन्त जागर्म्यहं स्वयम्॥ ४४ ॥
पास्यन्तीमे जलं पश्चात्प्रतिबुद्धा जितक्लमाः ।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा॥ ४५ ॥ [६०८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमजलाहरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥ समाप्तं च जतुगृहपर्व ।

अथ हिडिम्बवधपर्व ।

तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः ।
अविदूरे वनात्तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ॥ १ ॥
क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः ।
प्रावृड्जलधरश्यामः पिङ्गाक्षो दारुणाकृतिः॥ २ ॥
दंष्ट्राकरालवदनः पिशितेप्सुः क्षुधार्दितः ॥
लम्बस्फिग्लम्बजठरो रक्तश्मश्रुशिरोरुहः ॥ ३ ॥
महावृक्षगलस्कन्धः शंकुकर्णो विभीषणः ।

रगड दुखके मारे लम्बी सांस छोडी ; आगे बुझी हुई आगकी नाईं फिर दीन चित्तसे भाइयोंकी ओर देखकर सोचने लगे, कि यह लोग विश्वाससे साधारण जनोंकी भांति सो रहे है। मुझको जान पडता है, कि इस वनके पासही नगर है, जो जागना चाहिये ; पर ये सोगये है, सो मै जग रहूं। इनकी थकावट दूर होनेसे जब यह जागेंगे, तब जल पीयेंगे! भीमसेन तब ऐसा निश्चय कर स्वयं जागने लगे। (४१—४५) [६०८३]

आदिपर्वमें एकसौ तिरपन अध्याय और जतुगृहपर्व समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौचौवन अध्याय। हिडिम्बवधपर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि वे जहां सोते थे, वहांसे थोडी दूर पर एक सालके वृक्षपर नरमांस पर जीता हुआ बडा वीर्यवन्त अति पराक्रमी वर्षाके बादलकी भांति काला, देखने में भयानक और भूखा हिडिम्ब नामक एक कुटिल राक्षस था। उस मांसभोजीका जङ्घामूल और पेट बहुत बडे, दोनों नेत्र पिघले, दाढी और केश लाल, मुख बडे बडे दांतोंसे बडा विकराल, गला और गर्दन बडे वृक्षके कन्धेकी नाईं और दोनों कान शङ्ककी भांति थे। देखनेमें बडा भयानक

यदृच्छया नानपश्यत्पाण्डुपुत्रान्महारथान् ॥ ४ ॥
विरूपरूपः पिङ्गाक्षः करालो घोरदर्शनः ।
पिशितेप्सुः क्षुधार्तश्च तानपश्यद्यदृच्छया ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वाङ्गुलिः स कण्डूयन्धुन्वन्रूक्षाञ्शिरोरुहान्।
जृम्भमाणो महावक्त्रः पुनः पुनरवेक्ष्य च ॥ ६ ॥
हृष्टो मानुषमांसस्य महाकायो महाबलः ।
मेघसंघातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रोज्ज्वलाननः ॥ ७ ॥
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥
उपपन्नश्चिरस्याऽद्य भक्ष्योऽयं मम सुप्रियः।
स्नेहस्रवान्प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे मुखम् ॥ ९ ॥
अष्टौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्याऽऽपातदुःसहाः ।
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च॥ १० ॥
आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि ।
उष्णं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु ॥ ११ ॥
गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः।
मानुषो बलवान्गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ॥ १२ ॥

उस बेढब पिंगल आंखयुक्त मांसखोर भूखे करालरूप राक्षसकी दृष्टि एकायक सोते हुए पाण्डवों पर जापडी। बडा भारी, अति बली, घने बादलके समान, कटीले दांत वाला और जलता हुआ मुखयुक्त वह मांसखोर मनुष्योंकी गन्ध सूंघकर उंगली उठाकर सिर खुजलाता रूखे केश हिलाता लम्बा चौडा मुंह खोल बार बार उनको देखता हुआ नरमांस खानेकी आशासे बहिनसे बोला, कि बहुत दिन पर आज मेरा बडा प्यारा खाना आ पहुंचा है; मांसखानेका सुख आने पर मेरी जीभसे रस गिर रहा है। मेरे आठ दांतोंका अगला भाग बडा तेज है; यह बडे दांत जिस पर आ लगते हैं, इनकी चोट उससे सही नहीं जाती; उन दांतोंको आज बहुत दिनपर कोमल मांसवाली देहमें घुसाऊंगा। आज मैं मनुष्यका गला पकड नसें निकाल बहुत गर्म घना रक्त पीऊंगा। तुम यहां जाओ और जानो, कि ये कौन, क्यों इस वनमें सोते हैं? मुझको निश्चय जान पडता है कि ये मनुष्य होंगे; क्योंकि मनुष्यकी तेज गन्ध मेरी नाकको सुख पहुंचा रही है, सो तुम उन मनुष्योंको मार कर मेरे पास लेती आओ। ये मेरे

हत्वैतान्मानुषान्सर्वानानयस्व ममाऽन्तिकम्।
अस्मद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते ॥ १३॥
एषामुत्कृत्य मांसानि मानुषाणां यथेष्टतः।
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम ॥ १४॥
भक्षयित्वा च मांसानि मानुषाणां प्रकामतः।
नृत्याव सहितावावां दत्ततालावनेकशः ॥ १५॥
एवमुक्ता हिडिम्बा तु हिडिम्बेन तदा वने।
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणेव राक्षसी ॥
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ॥ १६॥
ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान्पृथया सह।
शयानान्भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥ १७॥
दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम्।
राक्षसी कामयामास रूपेणाऽप्रतिमं भुवि ॥ १८॥
अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ॥ १९॥
नाऽहं भ्रातुर्वचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम्।
पतिस्नेहोऽतिबलवान्न तथा भ्रातृसौहृदम् ॥ २०॥
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च भवेद्भ्रातुर्ममैव च ।

अधिकारमे सो रहे हैं, उनसे तुम कुछ भय मत खाना। हम दोनों एकत्र होकर उन मनुष्योंकी देहसे मांस चुन चुन कर मन माना खावेंगे, तुम तुरन्त मेरी बात मानकर काम करो। आज हम मन माना मांस खाकर दोनों एकत्र होकर भांति भांतिके ताल देते हुए नाचेंगे। (१—१५)

तब राक्षसी हिडिम्बा हिडिम्बकी यह बात सुनकर जहां पाण्डवलोग विराजते थे, वहां झट चली गयी और पहुंचकर देखा, कि पाण्डवलोग और पृथा सोती है और अपराजित भीमसेन जागते है। राक्षसी नये सालवृक्षके समान उदित और धरती भरमे अनुपम रूप सौन्दर्य युक्त सुन्दर पुरुष भीमसेन को देखते ही कामदेवके वशमे हो गयी और समझा; कि यह श्यामवर्ण महाभुज सिंह गर्दन अति द्युतिमान शङ्खग्रीव पद्मनेत्र पुरुष मेरे पति होनेके योग्य है। मै कभी निठुर भाईकी बात न मानूगी, क्योंकि पतिपर स्नेह जितना बल करता है, उतना

हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥ २१ ॥
सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम् ।
उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ॥ २२ ॥
लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता ।
स्मितपूर्वमिदं वाक्यं भीमसेनमथाऽब्रवीत् ॥ २३ ॥
कुतस्त्वमसि संप्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥ २४ ॥
केयं वै बृहती श्यामा सुकुमारी तवाऽनघ ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वगृहे यथा ॥ २५ ॥
नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम् ।
वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥ २६ ॥
तेनाऽहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा ।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपमाः ॥ २७ ॥
साऽहं त्वामभिसंप्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम् ।
नाऽन्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २८ ॥
एतद्विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर ।

भाईपर कभी नहीं करता. और इनको मारनेसेभी भइया और मुझको क्षणभर सुख मिलेगा. पर न मारनेसे सदा इनसे आनन्द की उमङ्गसे बड़ा सुख पा सकूंगी॥ १५–२१

ऐसा समझकर कामरूपी राक्षसी सुन्दर मानवरूप धरकर महाभुज भीमसेनके पास धीरे धीरे जा पहुंची। आगे सुन्दर आभूषणोंसे सजी हुई वह राक्षसी नम्र भावसे लज्जिता सी कुछ मुसकिराती हुई भीमसेनसे बोली, कि हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप कौन हैं, कहांसे आये हैं ! आप जो यह देवरूपी पुरुषगण सोते हैं वे कौन हैं ? हे अनघ ! यह जो तन सुवर्णके रङ्गकी कोमलांगी रमणी घरमें रहनेकी भांति विश्राम पूर्वक इस वनमें लेटकर सो रही है, यह आपकी कौन लगती है ! क्या यह नहीं जानती, कि इस वनमें राक्षस रहते हैं, यहां हिडिम्ब नामक पापात्मा राक्षस बसता है. यह राक्षस मेरा भाई है। २२—२६

हे देवतुल्य मनुष्यगण ! उस मांस भोजीने आपका मांस भोजन करनेके लिये बुरे अभिप्रायसे मुझे भेज दिया है पर मैं आपसे सच कहती हूं कि देवतुल्य आपको देखकर आपके सिवा किसी दूसरेको पति बनाना नहीं चाहती। हे

कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ॥ २९ ॥
त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात्पुरुषादकात्।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममाऽनघ ॥ ३० ॥
अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च ।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥ ३१ ॥

भीमसेन उवाच मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान्कथं त्विमान् ।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥ ३२ ॥
को हि सुप्तानिमान्भ्रातॄन्दत्वा राक्षसभोजनम्।
मातरं च नरो गच्छेत्कामार्त इव मद्विधः ॥ ३३ ॥

राक्षस्युवाच —यत्ते प्रियं तत्करिष्ये सर्वानेतान्प्रबोधय ।
मोक्षयिष्यास्यहं कामं राक्षसात्पुरुषादकात् ॥ ३४ ॥

भीम उवाच — सुखसुप्तान्वने भ्रातॄन्मातरं चैव राक्षसि ।
न भयाद्बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥ ३५ ॥
न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम् ।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥ ३६ ॥

धर्मशील ! इसपर ध्यान देकर मुझपर यथोचित व्यवहार करिये, मेरा मन और अंग सब कामके बाणसे घायल हुए है। मै आपको भज रही हूं, आप मुझपर कृपा करो। हे महाभुज ! मैं आपको इस पुरुष-भोजी राक्षससे बचाऊंगी । हे अनघ ! आप मेरे पति होवे। हम दोनो पहाड पर दुर्ग मे रहेंगे । मै आकाशमें उडनेवाली हूं; इच्छानुसार आकाशादि सब स्थानोंमें चलती फिरती हूं, आप मेरे सङ्ग उन सब स्थानोंमे घूमकर अपार आनन्द लूटेंगे। (२७–३१)

भीमसेन बोले, कि राक्षसि ! इन्द्रिय निग्रहवाले मुनिके समान कौन माता और बडे तथा छोटे भाईयोंको त्याग कर सकता है ? और मेरे सदृश कौन मनुष्य कामसे पीडितकी भांति सुखसे छोटे भाई और माताको राक्षसके भोजनके लिये छोडकर चला जा सकता है ? राक्षसी बोली, कि आप जैसा चाहेंगे मै वही करूंगी; आप इनको जगावे, मैं सहजही मे सबोंको मनुष्यखोर राक्षसके हाथसे मुक्त कर दूंगी। भीमसेन बोले, कि हे राक्षसि ! तुम्हारे दुरात्मा भाई के भयसे इस वनमें सुखसे सोये हुए भाइयो और माताको नहीं जगा सकूंगा। हे भीरु सुनेत्रे ! मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष वा राक्षसमे कोईभी मेरा पराक्रम सह नहीं सकता

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद्वाऽपीच्छसि तत्कुरु।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम्॥ ३७ ॥ [६१२०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि
हिडिम्बाभीमसंवादे चतुःपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

वैशम्पायन उवाच– तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः।
अवतीर्य द्रुमात्तस्मादाजगामाऽऽशु पाण्डवान्॥ १ ॥
लोहिताक्षो महाबाहुरूर्ध्वकेशो महाननः।
मेघसङ्घातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रो भयानकः॥ २ ॥
तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम्।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः॥ ३ ॥
आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः।
साऽहं त्वां भ्रातृभिः सार्धं यद्ब्रवीमि तथा कुरु॥ ४ ॥
अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता।
आरुहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा॥ ५ ॥
प्रबोधयैतान्संसुप्तान्मातरं च परंतप।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा॥ ६ ॥

है। हे भद्रे! तुम चाहे जाओ वा रहो, अथवा तुम जो चाहती हो करो, किंवा हे सुन्दरि! तुम अपने उस पुरुषभोजी भाईको भेजो; मैं न तो कोई विघ्न करूंगा और न मना करूंगा॥ ३६-३७ [६१२०]

आदिपर्वमें एकसौ चौवन अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ पचपन अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर लालनेत्र, महाभुज, केश ऊपर चढाया हुआ, लम्बे चौडे मुहवाला, घन मण्डल समान काला और तेज दांतवाला वह विकराल आकारयुक्त राक्षसनाथ हिडिम्ब हिडिम्बाको बहुतदेर हुई देख उस वृक्षसे नीचे उतर पाण्डवोंके पास शीघ्र आने लगा। हिडिम्बा उसे निकट आते हुए उस विकृतरूपवाले भाईको देखकर भयसे घबराकर भीमसेनसे बोली, कि वह देखो, दुष्टात्मा पुरुषभोजी क्रोधित होकर इधर आता है, अब मैं जैसा कहती हूं, आप भाइयोंके साथ वह करो। हे वीर! मैं राक्षसी जातिके बलवीर्य समेत हेतु मनमाने स्थानमें जा सकती हूं। आप मेरी कमरपर चढो, आपको आकाशमार्गसे ले चलूंगी। हे परंतप! आप इन सोते हुए माता और भाइयोंको जगादो मैं सबको लेकर आकाश मार्गसे जाऊंगी। —६

भीम उवाच— मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैव कश्चिन्मयि स्थिते।
हिंसितुं शक्नुयाद्रक्ष इति मे निश्चिता मतिः॥
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥ ७ ॥
नाऽयं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम ।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥ ८ ॥
पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ ।
ऊरू परिघसङ्काशौ संहतं चाप्युरो महत् ॥ ९ ॥
विक्रमं मे यथेन्द्रस्य साऽद्य द्रक्ष्यसि शोभने।
माऽवमंस्थाः पृथुश्रोणि मत्वा मामिह मानुषम् १० ॥

हिडिम्बोवाच— नाऽवमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम् ।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच– तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत ।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥ १२ ॥
अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः ।
स्रग्दामपूरिताशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ॥ १३ ॥
सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम् ।

भीमसेन बोले, कि ऐ सुन्दरी! तुम भय मत खाओ; मुझको निश्चय जान पडता है, कि मेरे लिये वह राक्षस बडा तुच्छ है; मेरी हिंसा नहीं कर सकेगा। ऐ सुन्दरी! तुम देखलो, तुम्हारे सामने ही मै उसको नष्ट करता हूं। री भीरु! उस नीच राक्षसकी क्या कहती हो; जितने भी राक्षस है, सब भी आवें तो मेरे साथ लडनेमें समान होकर नाश होने से नहीं बचेंगे। हस्तीकी सूंडसे भुज, यह दो लोहेके मुद्गर समान दो जांघ और बडी विशाल छातीको देखो। ऐ सुन्दरि! तुम आज महेन्द्रकी भांति मेरे विक्रमको देखोगी। ऐ चौडी कमरवाली! तुम मुझको मनुष्य मानकर कम न समझना। हिडिम्बा बोली, कि हे नरव्याघ्र आप देवरूपी हैं, मै आपका अनादर नहीं करती, पर मनुष्यपर राक्षसका जितना प्रभाव है, वह मै देख चुकी हूं। (७–११)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! भीमसेन हिडिम्बासे यह बातें कर रहे थे, कि ऐसे समय मनुष्यखोर हिडिम्बने क्रोधपूर्वक आनकर वह बातें सुन ली और देखा, कि हिडिम्बाने सुन्दर मनुष्य-का स्वरूप लिया है। उसके केशोंमे

सर्वाभरणसंयुक्तं सुसूक्ष्माम्बरवाससम् ॥ १४ ॥
तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥ १५ ॥
संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः ।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद्विप्रमोहिता ॥ १७ ॥
धिक्त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि ।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥ १८ ॥
यानिमानाश्रिताऽकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान्हनिष्यामि त्वया सह ॥ १९ ॥
एवमुक्त्वा हिडिम्बां तु हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाऽभिपपातैनान्दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ २० ॥
तमापतन्तं संप्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाऽब्रवीत् ॥ २१ ॥

फूलहार लगे हैं, मुह पूर्ण चन्द्रमासा शोभायमान है, भौंहे नाक नेत्र और केश सब सुशोभित हैं, नख और त्वचा कोमल हुए हैं और सुन्दर पतला वस्त्र तथा सम्पूर्ण आभूषणोंसे सर्व शरीर बने ठने हैं। उसको ऐसा सुन्दर मानवी स्वरूप लिये देखकर पुरुष चाहनेवाली जान करके वह बडा कोपाविष्ट हुआ। (१२—१५)

हे कुरुश्रेष्ठ! तब वह क्रोधके मारे अपनी बडी आखोंको निकाल कर बहिन से बोला, कि मैं भोजन चाहता हूं, किसकी ऐसी दुर्मति हुई कि मेरी उस इच्छामें विघ्न डालना चाहता है? हिडिम्बे! तू मोहित हो गयी क्या? मेरे क्रोधसे भय नहीं मानती? री असति! तू पुरुषकी चाहसे मेरे अप्रिय काममें हाथ डालती है? तुझ पर धिक्कार है! तुझसे पहिलेके श्रेष्ठ राक्षसोंके यशरूपी चन्द्रमा पर कलङ्कके धब्बे लगे। तू जिनके भरोसे मेरा बडा अप्रिय करने पर उद्यत हुई है, आज मैं अभी तेरे सहित उनका काम पूरा कर देता हूं। राक्षसश्रेष्ठ हिडिम्ब आंखे लालकर हिडिम्बाको इस प्रकार कहके दांतसे दांत पीसता हुआ पाण्डवोंके वधके लिये दौडा। मारनेमें दक्ष तेजस्वी भीमसेन उसको आते देखकर ललकारके साथ तिष्ठ तिष्ठ ऐसा बोले। (१६-२१)

वैशम्पायन उवाच— भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ॥ २३ ॥
मय्येव प्रहरैहि त्वं न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
विशेषतोऽनपकृते परेणाऽपकृते सति ॥ २४ ॥
न हीयं स्ववशा बाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनङ्गेन शरीरान्तरचारिणा ॥ २५ ॥
भगिनी तव दुर्बुद्धे रक्षसां वै यशोहर ।
त्वन्नियोगेन चैवेयं रूपं मम समीक्ष्य च ॥ २६ ॥
कामयत्यद्य मां भीरुस्तव नैषाऽपराध्यति ।
अनङ्गेन कृते दोषे नेमां गर्हितुमर्हसि ॥ २७ ॥
मयि तिष्ठति दुष्टात्मन्न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ॥ २८ ॥
संगच्छस्व मया सार्धमेकेनैको नराशन ।
अहमेको नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ॥ २९ ॥
अद्य मद्बलनिष्पिष्टं शिरो राक्षस दीर्यताम्।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि भीमसेन उस राक्षसको बहिन पर क्रोधित होते देखकर हंसते हुए बोलने लगे, कि रे कुमति नरखोर! तुझे हिडिम्बासे क्या प्रयोजन है और इन सब सुखसे सोये भाइयोंके जगाने ही की भी क्या आवश्यकता है? तू तुरन्त मेरे पास आ और मुझको मार। स्त्रीको मारना तुझे नहीं सोहता। विशेष एकके दोषमे दूसरेको मारना ठीक नहीं। है: इस बाला-ने आज अपने वशमें रहकर मुझे कामना नहीं की है। कामदेवने इसके शरीरमे घुसकरकेही इस ओर झुकाया है। रे राक्षसकुलके यशनाशी दुराचारी अधम राक्षस! तेरी बहिनने तेरेही नियोगसे यहां आनकर मेरा रूप देखके मुझे कामना की है, सो यह भीरु अबला तेरे पास दोषी नहीं बन सकती, कामदेवने ही यह दोष किया है, अतएव तुझे इस सुन्दरी को लाञ्छन करना नहीं चाहिये। (२२—२७)

रे दुष्टात्मन्! मेरे रहते तू इस नारी-को मार नहीं सकेगा। रे नरभोजी! तू अकेला है, अकले मेरेही साथ तू लड, मै अकेलाही आज तुझको यमराजके पाहुना बनाऊंगा। आज तेरा सिर मेरे भुजबल

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे ।
चोदिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥ ८ ॥
ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥ ९ ॥
चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः ।
स्वयमेवाऽऽगतो हन्तुमिमान्सर्वास्तवाऽऽत्मजान् १०
स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता ।
बलादितो विनिष्पिष्य व्यपनीतो महात्मना ॥ ११ ॥
विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम् ।
पश्य त्वं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः ।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम् ।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ १४ ॥
अथान्योन्यं समाश्लिष्य विकर्षन्तौ पुनः पुनः ।
दावाग्निधूमसदृशं चक्रतुः पार्थिवं रजः ॥ १५ ॥

बातसे यहां आके नव सुवर्ण समान अङ्गयुक्त आपके महाबली पुत्रको देखा। ऐ शुभे ! जो सर्वजीवोंके मन, मन्दिरमें घूमा फिरा करते हैं, मैं आपके पुत्रको देखतेही उसी मन्मथके वशमें होगयी हूं। मैंने मदनवाणको मनसे निकालना चाहा, पर किसी प्रकार समर्थ नहीं हुई; अतएव आपके महाबली पुत्रको मैंने मनही मनमें भर्त्ता करके वरण किया है। अनन्तर उस राक्षसपतिने मुझको जिस काममें भेजा था, उसकी देरी देखकर आपके इन पुत्रोंको नष्ट करनेको स्वयही आ गया है। आगे मेरे प्रिय धीमान् महात्मा आपके वह पुत्र बलपूर्वक उसको घसीटकर यहांसे कुछ दूर लेगये हैं। युद्धमें विक्रम दिखाकर ललकारते हुए एक दूसरेको बडे वेगसे पकड रहे हैं! (५—१२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि उसकी यह बात सुन करकेही वीर्यवन्त युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये एकायक उठकर उस युद्धस्थानके निकट गये। उन्होंने देखा, कि राक्षस और भीम दोनो जयकी आशासे एक दूसरेको पकडकर अति बली सिंह समान खेंच रहे हैं, और वे एक दूसरेमें लपटकर बार बार खेंचके

वसुधारेणुसंवीतौ वसुधाधरसंनिभौ ।
विभ्राजतुर्यथा शैलौ नीहारेणाऽभिसंवृतौ ॥ १६ ॥
राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च ।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥ १७ ॥
भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम् ।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शितम् ॥ १८ ॥
साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम् ।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥ १९ ॥
भीम उवाच-- उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः संभ्रमस्त्वया ।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥ २० ॥
अर्जुन उवाच-- किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा ।
गन्तव्यं न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिन्दम ॥ २१ ॥
पुरा संरज्यते प्राची पुरा सन्ध्या प्रवर्तते ।
रौद्रे मुहूर्ते रक्षांसि प्रबलानि भवन्त्युत ॥ २२ ॥
त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो विभीषणम् ।

दावाग्निके धूएकी नाईं धूंआ उठा रहे हैं. तथा पर्वतवत धुएंसे ढपे जाकर हिमसे ढंपे पर्वतकी भांति प्रगट होते है। अनन्तर अर्जुन भीमसेनको राक्षससे पीडित होते देखकर हंसते हुए धीरेसे बोले. कि हे महाबाहु भीम ! आप भय मत खाना । हम थके मांदे थे. सो नहीं जान सके. कि आप ऐसे घोररूप राक्षस से भिड गये है । पार्थ ! मैं आपको सहारा देनेको खडा होगया हूं मैं ही इस राक्षसको नष्ट करूंगा. नकुल और सहदेव माताकी रक्षा करेंगे ! १६-१९

भीम बोले कि तुम्हारे इससे मिलने का प्रयोजन नहीं होगा । देखो मत हडबडाओ। जब यह राक्षस मेरे दोनों हाथों के तले आ गया है. तब कभी जीता नहीं रहेगा । अर्जुन बोले कि हे भीम ! इस पापात्मा राक्षस को देरतक जीवित रखनेका क्या प्रयोजन है ? यदि मुझको जान पडे. तो यहां अब अधिक काल रहा नहीं जाता है। आगे पूर्वदिशा लाल और प्रातः सन्ध्याका काल आ जायगा। रौद्र मुहूर्तमें अर्थात् प्रातःसन्ध्या के पूर्व दो दण्डकाल राक्षस प्रबल होते हैं. अतएव हे भीम ! आप शीघ्र काम पूर्ण कीजिये [illegible] न कीजिये. इस भीषण मायावी राक्षसको त्याग दीजिये । [illegible]

पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच–अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषाज्ज्वलन्निव ।
बलमाहारयामास यद्वायोर्जगतः क्षये ॥ २४ ॥
ततस्तस्याऽम्बुदाभस्य भीमो रोषात्तु रक्षसः ।
उत्क्षिप्याऽभ्रामयद्देहं तूर्णं शतगुणं तदा ॥ २५ ॥
भीम उवाच–– वृथामांसैर्वृथापुष्टो वृथावृद्धो वृथामतिः ।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाऽद्य न भविष्यसि ॥ २६ ॥
क्षेममद्य करिष्यामि यथा वनमकण्टकम् ।
न पुनर्मानुषान्हत्वा भक्षयिष्यासि राक्षस ॥ २७ ॥
अर्जुन उवाच— यदि वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि ।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेष निपात्यताम् ॥२८॥
अथ वाऽप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर ।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ॥ २९ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
निष्पिष्यैनं बलाद्भूमौ पशुमारममारयत् ॥ ३० ॥

फैला सकता है, सो भुजबल प्रगट करिये। (१८—२३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि भीमने अर्जुनकी उस बातसे क्रोधके मारे जलकर प्रलयकालिक हवाका बल सञ्चय किया और उसीक्षण कोप प्रगटकर बादलके रङ्गकी उस राक्षसकी देहको सौ बार से भी अधिक ऊपर उठाकर घुमाया तथा उसका नाम लेकर बोले, कि तू वृथा मांससे वृथाही पुष्ट और बढा हुआ है; तेरा बढनाभी व्यर्थही हैं; इस लिये तू व्यर्थ मृत्युके अर्थात् जिस बाहु-युद्धमें मरनेमें स्वर्ग नहीं मिलता है, उसकेही योग्य है, इससे तू व्यर्थ मृत्युको प्राप्त करेगा! रे राक्षस ! आज मैं इस वनको शान्तियुक्त और कंटकरहित करूंगा। तू फिर मनुष्य मारकर खा नही सकेगा। अर्जुन बोले, कि आपने यदि युद्धमें इस राक्षसको भार समझा हो, तो मैं आपकी सहायता करूं; आप इसका तुरन्त अन्त कीजिये। हे वृकोदर ! अथवा कहिये तो मैंही अकेला इसका काम पूरा करूं; आप कार्य कर थक गये हैं, अब निवृत्त होना ठीक है। (२४—२९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले; कि भीमसेन ने उनकी उस बातको सुनके बडे क्रोधित हो बलसे राक्षसको मिट्टी पर पीसकर पशु मारनेकी भांति नष्ट किया। राक्षस

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम्।
पूरयंस्तद्वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥ ३१ ॥
बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तु बलवान्पाण्डुनन्दनः।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान् ॥ ३२ ॥
हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः।
अपूजयन्नरव्याघ्रं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३३ ॥
अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम्।
पुनरेवाऽर्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥ ३४ ॥
न दूरे नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात्सुयोधनः ॥ ३५ ॥
ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा मात्रा सह महारथाः।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥ ३६ ॥ [६२०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि
हिडिम्बवधे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

भीमसेन उवाच — स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम्।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच — क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः।

ने मरनेके समय जलसे भीगे हुए नगाडे की नाई घोर शब्दसे चिल्ला कर उस वनको पूरित किया। बलवन्त महाभुज पाण्डुनन्दनने राक्षसको हाथोंसे पकड कर उसके मध्य भागको तोडकर पाण्डवोंको आनन्दित किया। बलशाली पाण्डवोंने हिडिम्बको नष्ट होते देखकर प्रसन्न चित्तसे नरश्रेष्ठ शत्रुनाशी भीमसेन की बडी प्रशंसा की। ३१-३३

अनन्तर अर्जुन महात्मा भीमपराक्रमी वृकोदरका आदर कर बोले, हे विभो! मुझको जान पडता है कि इस वनसे नगर बडी दूर नहीं है। चलिये हम उस स्थानमें शीघ्र जाय जहां सुयोधन हमारा समाचार नहीं पावेगा। अनन्तर कुन्ती और महारथी पुरुषोत्तम पाण्डवगण उसपर सम्मत हो वहांसे चलनेको और हिडिम्बा भी उनके साथ चली। ३४-३६ [६२०२]

आदिपर्वमें एकसौ सत्तावन अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ अट्ठावन अध्याय।

भीमसेन हिडिम्बाको साथ आते देखकर बोले, हे हिडिम्बे! राक्षसगण मोहिनी माया अवलम्बन कर पहिलेकी शत्रुताको स्मरण किया करते हैं, सो तुम्हारा भाई जिस पथसे

शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥ २ ॥
वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम् ।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच–हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥
आर्ये जानासि यद्दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम् ।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥ ५ ॥
सोढं तत्परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया ।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः॥ ६ ॥
मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥ ७ ॥
वीरेणाऽहं तथाऽनेन त्वया वापि यशस्विनि।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते॥ ८ ॥
तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि ।
मत्वा मूढेति तन्मां त्वं भक्ता वाऽनुगतेति वा॥ ९ ॥
भर्त्राऽनेन महाभागे संयोजय सुतेन ते ।

गया है, तुम उसी पथमे जाओ। युधिष्ठिर यह सुनकर बोले, कि हे पुरुषव्याघ्र भीम ! तुम क्रोधित हुए हो, तो भी स्त्री को मत वधो। हे पाण्डव ! शरीर से धर्म बडा है, सो धर्मको पालन करो। जब तुमने उस महाबली राक्षसको जो हमको मारने आया था, मार डाला है, अब उसकी बहिन क्रोधकर हमारा क्या कर लेगी ? (१–३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर हिडिम्बा कुन्ती और युधिष्ठिरको प्रणाम कर कुन्तीसे बोली, कि ए आर्ये! आप जानती है, कि स्त्रियोंको अनङ्गसे कितना दुःख होता है। ए शुभे ! भीमसेनसे इस अनङ्गपीडाके द्वारा मै सतायी जाती हूं। मैने कालकी ओर ताककर उस गहिरे दुःखको सह लिया था, अब सुखका समय आपहुंचा है। ए शुभे! मैंने स्वधर्म, मित्रो और स्वजनोंको तजकर आपके पुरुषश्रेष्ठ पुत्रको पतिके पद पर बैठाया है। ए सुन्दरी यशस्विनी ! मैं सच कहती हूं,कि यदि यह वीर वा आप मेरी बातको न सुनेगी,तो मै न जीऊंगी. अतएव आप चाहे मूढा समझकर वा भक्त अथवा कृपा पात्र जान कर मुझ पर कृपा दिखावे। (४–९)

तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम् ।

पुनश्चैवाऽऽनयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥ १० ॥

अहं हि मनसा ध्याता सर्वान्नेष्यामि वः सदा ।

वृजिनात्तारयिष्यामि दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ११ ॥

पृष्ठेन वो वहिष्यामि शीघ्रां गतिमभीप्सतः ।

यूयं प्रसादं कुर्वन्तु भीमसेनो भजेत माम् ॥ १२ ॥

आपदस्तरणे प्राणान्धारयेद्येन तेन वा ।

सर्वमादृत्य कर्तव्यं तं धर्ममनुवर्तता ॥ १३ ॥

आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः ।

व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते ॥ १४ ॥

पुण्यं प्राणान्धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते ।

येन येनाऽऽचरेद्धर्मं तस्मिन्गर्हा न विद्यते ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच — एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः ।

स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥ १६ ॥

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।

ऐ महाभागे ! आपके पुत्र मेरे पति इन भीमसेनसे मुझको मिलावें. मैं इन देवरूपी पतिको लेकर जहां मन चाहे जाऊं । आगे फिर इनको लाऊंगी । ऐ शुभे ! आप मेरा विश्वास करें । आपके मुझे स्मरण करने पर मैं उसी क्षण आकर आप लोगोंको मनमाने स्थानसे ले जाऊंगी । फिरभी आप यदी शीघ्र जाना चाहें, तो आप लोगोंको उसीक्षण पीठपर चढकर लेती जाऊंगी । आप प्रसन्न होवें, कि भीमसेन मेरी भजना करें । १०–१२

विपत्ति तरनेके लिये चाहे जिस किसी उपायसे क्यों नहीं अपनी रक्षा करनी चाहिये, और उस एक धर्मको शरण ले करके सब कुछ दशा मान लेनी उचित है; धर्मशील जनोंके लिये विपत्तही धर्मको नाश करनेवाली है, सो जो जन विपत्कालमें भी धर्मकी रक्षा करते हैं वही धार्मिकोंमें उत्तम है । प्राण धरने के लिये पुण्य है, पुण्यहीको पण्डितोंने प्राण देनेवाला कहा है, अतएव हर किसी [illegible] करके प्राण बचाना चाहिये, उसमें निन्दा नहीं होती । १३–१५

युधिष्ठिर बोले कि हे सुन्दरी हिडिम्बे ! इसमें सन्देह नहीं, कि तुमने जो कहा वह ठीक है; पर तुमने जैसा कह

भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद्रवेः ॥ १७ ॥
अहःसु विहराऽनेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच- तथेति तत्प्रतिज्ञाय भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
शृणु राक्षसि सत्येन समयं ते वदाम्यहम् ॥ १९ ॥
यावत्कालेन भवति पुत्रस्योत्पादनं शुभे ।
तावत्कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-तथेति तत्प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ २१ ॥
शैलशृङ्गेषु रम्येषु देवतायतनेषु च ।
मृगपक्षिविघुष्टेषु रमणीयेषु सर्वदा ॥ २२ ॥
कृत्वा च रूपं परमं सर्वाभरणभूषिता ।
सञ्जल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम् ॥ २३ ॥
तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमसानुषु ।
सरःसु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च ॥ २४ ॥
नदीद्वीपप्रदेशेषु वैदूर्यसिकतासु च ।

तुमको उसी सत्यमें आवद्ध रहना पड़ेगा। भद्रे! भीमसेनके नहाने, आह्निक करलेने, और कौतुकमङ्गल कर चुकनेपर सूर्यास्त के पूर्वतक तुम उनकी भजना कर सकोगी। ए मनोवेगके अनुसार चलनेवाली ! दिनका इस भीमसेनसे जहां मन चले, विहार कर नित्य रात्रिको इन्हे लाय देना। (१६ —१८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि भीमसेन उस पर सम्मत होकर हिडिम्बासे बोले, कि ऐ निशाचरि ! सुनो. मैं सत्य करके तुमसे एक नियम करता हूं । ऐ शुभे सुन्दरि ! जबतक तुमको पुत्र नहीं होगा. तबतक तुम्हारे साथ मिलूंगा। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर राक्षसी हिडिम्बा वह मानकर भीमसेनको ले करके उसी क्षण आकाशमार्गको चली गयी। आगे मनके समान तेज चलनेवाली वह राक्षसी परम मनोहर रूप धारणकर सर्व आभूषणोंसे बनठन कर और मीठी बोली बोलती हुई समय समय पर नाना स्थानो में भीमसेनके साथ आनन्द लूटने लगी। कभी सुन्दर पहाड़की चोटी पर, कभी मृग पक्षियोंके शब्दसे गूंजते हुए मनोहर देवमन्दिरमें, कभी वन दुर्गमें, कभी फूले वृक्षोंसे सुहावनी सानुमें, कभी

सुतीर्थवनतोयासु तथा गिरिनदीषु च ॥ २५ ॥
काननेषु विचित्रेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु ।
हिमवद्गिरिकुञ्जेषु गुहासु विविधासु च ॥ २६ ॥
प्रफुल्लशतपत्रेषु सरःस्वमलवारिषु ।
सागरस्य प्रदेशेषु मणिहेमचितेषु च ॥ २७ ॥
पत्तनेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च ।
देवारण्येषु पुण्येषु तथा पर्वतसानुषु ॥ २८ ॥
गुह्यकानां निवासेषु तापसायतनेषु च ।
सर्वर्तुफलरम्येषु मानसेषु सरःसु च ॥ २९ ॥
बिभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम् ।
रमयन्ती तथा भीमं तत्र तत्र मनोजवा ॥ ३० ॥
प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम् ॥ ३१ ॥
भीमनादं सुताम्रोष्ठं तीक्ष्णदंष्ट्रं महारवम् ।
महेष्वासं महावीर्यं महासत्त्वं महाभुजम् ॥ ३२ ॥
महाजवं महाकायं महामायमरिंदमम् ।
दीर्घघोणं महोरस्कं विकटोद्बद्धपिण्डिकम् ॥ ३३ ॥

असानुषं मानुषजं भीमवेगं महाबलम् ।
यः पिशाचानतीत्याऽन्यान्बभूवाऽतीव राक्षसान् ३४
बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशाम्पते ।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद्बली ॥ ३५ ॥
सद्यो हि गर्भान्राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च ।
कामरूपधराश्चैव भवन्ति बहुरूपिकाः ॥ ३६ ॥
प्रणम्य विकचः पादावगृह्णात्स पितुस्तथा ।
मातुश्च परमेष्वासस्तौ च नामाऽस्य चक्रतुः ॥ ३७ ॥
घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत्तेन नामाऽस्य घटोत्कच इति स्म ह ॥ ३८ ॥
अनुरक्तश्च तानासीत्पाण्डवान्स घटोत्कचः ।
तेषां च दयितो नित्यमात्मनित्यो बभूव ह ॥ ३९ ॥
संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥ ४० ॥

लम्बी, छाती चौडी और पिण्डिका अर्थात् पावोंके डिम् ढढे और ऊंचे हुए थे ! वह कुमार सम्पूर्ण पिशाच और राक्षसोंमे बडा विक्रमी हुआ। (३१—३४)

हे राजन् ! उस बलवन्त वीरपुत्रने बालक होने परभी यौवनको प्राप्त किया और उसकी मनुष्य लोकमें प्रचलित सम्पूर्ण अस्त्रोंमे अति उन्नति हुई। राक्षसी जिस दिन गर्भ धरती है, उसी दिन प्रसव करती है और प्रसव किया हुआ बालकभी जन्म लेतेही बहुरूपी होकर मनमाना रूप धर सकता है। कमर, गर्दन, मुख, कान, और केश इन सब अङ्गोंके बेढब होने परभी अनेक प्रभायुक्त और बडा चापधारी हिडिम्बाकुमार जन्म लेतेही प्रणाम करनेको पिता माताके पांवो पर गिरा, उन्होंनेभी उसका नाम रख दिया। उस बालकके घटके ऐसे उत्कच अर्थात् खडे केश थे, सो हिडिम्बाने उसको देखकर ऐसा कहा, कि "इसके उत्कच घटकी भांति है।" इस लिये भीमसेनने उसका नाम "घटोत्कच" रखा; घटोत्कच स्वाधीन होने परभी पाण्डवोंका बडा प्रेमी था, पाण्डव लोगभी उसका बडा स्नेह करते थे। (३५–३९)

आगे हिडिम्बाने नियम के अनुसार कामकर यह कहके, " कि पतिसे रहने का काल बीता" पाण्डवोंको सम्भाषणपूर्वक अपने स्थान को चली गई। बडे

घटोत्कचो महाकायः पाण्डवान्पृथया सह ।
अभिवाद्य यथान्यायमब्रवीच्च प्रभाष्य तान् ॥४१॥
किं करोम्यहमार्याणां निःशङ्कं वदतानघाः ।
तं ब्रुवन्तं भैमसेनिं कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥४२॥
त्वं कुरूणां कुले जातः साक्षाद्भीमसमो ह्यसि ।
ज्येष्ठः पुत्रोऽसि पञ्चानां साहाय्यं कुरु पुत्रक ॥४३॥
वैशम्पायन उवाच--पृथयाऽप्येवमुक्तस्तु प्रणम्यैव वचोऽब्रवीत् ॥४४॥
यथा हि रावणो लोके इन्द्रजिच्च महाबलः ।
वर्ष्मवीर्यसमो लोके विशिष्टश्चाऽभवं नृषु ॥४५॥
कृत्यकाल उपस्थास्ये पितॄनिति घटोत्कचः ।
आमन्त्र्य रक्षसां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ॥४६॥
स हि सृष्टो मघवता शक्तिहेतोर्महात्मना ।
कर्णस्याऽप्रतिवीर्यस्य प्रतियोद्धा महारथः ॥४७॥ [६२४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि
घटोत्कचोत्पत्तौ चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

वैशम्पायन उवाच–ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान्बहून् ।

शरीरवाला घटोत्कच भी कुंती के साथ पाण्डवों को यथायोग्य रीतिसे प्रणाम करके उनसे बोला, कि 'आप आर्यों के हित के लिये मैं क्या करूं, इसकी आज्ञा आप बिना संदेह मुझे करें।' इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले भीम के पुत्रसे कुंती बोली, कि "हे बालक! तू कौरवोंके कुलमें उत्पन्न साक्षात् भीम जैसाही बलवान् श्रेष्ठ पुत्र है, इस लिये तू पांचों पाण्डवों की सहायता कर। ४०—४८

बोलने लगा, कि 'जिस प्रकार लोगोंमें रावण और इन्द्रजित शरीर और वीर्यसे महा बलाढ्य थे, उसी प्रकार मानवों में मैं अधिक बलवान् हुआ हूं। जब कार्य उपस्थित होगा आपके समीप आ पहुंचूंगा।' इस प्रकार राक्षसोंमें श्रेष्ठ घटोत्कच भी पितरोंसे कह कर उत्तर ओर पधारा। महात्मा महेन्द्रने निःसीम पराक्रमी कर्णका सामना करनेवाली शक्तिके लिये इस महात्मा घटोत्कचको निर्माण किया था।

अपक्रस्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥ १ ॥
मत्स्यांस्त्रिगर्तान्पञ्चालान्कीचकानन्तरेण च।
रमणीयान्वनोद्देशान्प्रेक्षमाणाः सरांसि च ॥ २ ॥
जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः॥ ३ ॥
क्वचिद्वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः॥ ४ ॥
ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम्॥ ५ ॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परंतपाः ॥ ६ ॥
व्यास उवाच— मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
यथा तु तैरधर्मेण धार्तराष्ट्रैर्विवासिताः ॥ ७ ॥
तद्विदित्वाऽस्मि संप्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम्।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत्सुखाय वः॥ ८ ॥

आदिपर्वमें एकसौ अठावन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर वे महारथी महात्मा वीर पाण्डवगण जटाधारी होकर मृगचर्म तथा वल्कल पहिन कर माता कुन्तीके साथ तपस्वीका वेष लेकर शीघ्रतासे मृगया करते हुए एक वनसे अन्यवनको, फिर उस वनसे वनान्तरमें गमन करने लगे। जानेके समय पथमें मत्स्य, त्रिगर्त्त, पाञ्चाल, और कीचक देशोंके भीतरके सुन्दर सुन्दर वनखण्ड और नाना प्रकारके तालतालाव देखने लगे। वे कहीं कहीं शीघ्रताके लिये कुन्तीको उठा लेते थे; और कहीं कहीं सहज चालसे सुखसे चलकर पीछे शीघ्र चलते थे। (१—४)

एक समय वे सम्पूर्ण वेद वेदाङ्ग और नीतिशास्त्र पढ रहे थे, ऐसे समयमें पितामह व्यासजीको देखा। महात्मा कृष्णद्वैपायनको देखतेही शत्रुनाशी पाण्डवगण माताके साथ उनको प्रणाम कर दोनों हाथ जोडके सामने खडे हुए।

व्यासजी बोले, कि राजगण! मैंने पहिले ही जाना है, कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने अधर्मसे तुमको निकाल बाहर किया है। इसी लिये तुम्हारे परम मङ्गलके निमित्त यहां आया हूं! तुम उस विषयमें दुःखी मत होओ, यह सब तुम्हारे सुखके लियेही होरहे हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ॥ ९ ॥
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम सांप्रतम्।
स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ॥ १० ॥
इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम् ।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममाऽऽगमनकांक्षिणः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत्प्रभुः ॥ १२ ॥
व्यास उवाच— जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा महात्मा पुरुषर्षभः ॥
पृथिव्यां पार्थिवान्सर्वान्प्रशासिष्यति धर्मराट्॥१३॥
पृथिवीमखिलां जित्वा सर्वां सागरमेखलाम् ।
भीमसेनार्जुनबलाद्भोक्ष्यत्ययं नात्र संशयः ॥ १४ ॥
पुत्रास्तव च माद्र्याश्च सर्व एव महारथाः ।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसः सदा ॥ १५ ॥
यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्रा निर्जित्य पृथिवीमिमाम्।

राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १६ ॥
अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखेन च ।
पितृपैतामहं राज्यमिमं भोक्ष्यन्ति ते सुताः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा निवेश्यैतान्ब्राह्मणस्य निवेशने।
अब्रवीत्पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ॥ १८ ॥
इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ॥ १९ ॥
स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप।
जगाम भगवान्व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः॥२०॥[६२७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि व्यासदर्शनेऽष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५८॥ समाप्तं च हिडिम्बवधपर्व ।

अथ बकवधपर्व ।

जनमेजय उवाच—एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
अत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २ ॥
रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च ।

अश्वमेधादि अनेक प्रचुर दक्षिणायुक्त यज्ञ करेंगे और भोग, ऐश्वर्य तथा सुखसे मित्रवर्गको कृपा दिखाकर परम आनन्दपूर्वक पितामहका राज्य भोगेंगे । (१२–१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महर्षि द्वैपायन यह कहकर उनको एक ब्राह्मण के घरमें बसाकर युधिष्ठिरसे बोले, कि तुम यहां मेरी अपेक्षामें रहो, मैं फिर आऊंगा। तुम देश कालको समझकर काम करते रहोगे, तो परम हर्ष प्राप्त करोगे । हे नराधिप ! उन सबोंने हाथ जोड जोड उनकी बात मान ली। अनन्तर भगवान् महर्षि व्यास जहांसे आये थे, वहांसे पधारे। (१८—२०) [६२६९]

आदिपर्वमें एकसौ अठावन अध्याय और हिडिम्बवध पर्व समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ उनसठ अध्याय और बकवधपर्व ।

जनमेजय बोले, कि हे द्विजश्रेष्ठ ! उसके पीछे महारथी कुन्तीपुत्र पाण्डवोंने एकचक्रा नगरीमें रहकर क्या किया ? वैशम्पायनजी बोले, कि महारथी कुन्तीपुत्र गण एकचक्रा नगरीमें ब्राह्मणके घर कुछ काल वसे । हे पृथ्वीनाथ !

पार्थिवानपि चोद्देशान्सरितश्च सरांसि च ॥ ३ ॥
चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः ॥ ४ ॥
निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि ।
तया विभक्तान्भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक्पृथक् ॥ ५ ॥
अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परंतपाः ।
अर्धं सर्वस्य भैक्षस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः ॥ ६ ॥
तथा तु तेषां वसतां तस्मिन्राष्ट्रे महात्मनाम् ।
अतिचक्राम सुमहान्कालोऽयं भरतर्षभ ॥ ७ ॥
ततः कदाचिद्भैक्षाय गतास्ते पुरुषर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्राऽऽस्ते पृथया सह ॥ ८ ॥
अथाऽऽर्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ॥ ९ ॥
रोरूयमाणांस्तान्दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात्साधुभावाच्च कुन्ती राजन्न चक्षमे ॥ १० ॥
मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥ ११ ॥

उन दिनों वे नित्य नाना सुन्दर प्रदेश सरोवर और नदी देखते हुए भिक्षावृत्ति से वहाँ रहते थे । क्रमशः वे अपने गुणसे नगरवालोंके प्रिय बने ।

हे भरतश्रेष्ठ ! महात्मा पाण्डवोंके इस प्रकार उस राज्यमें बसते हुए बहुत काल बीत गया । अनन्तर एक दिन

वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १२ ॥
सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्याऽस्य किं न्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत्कुर्युरुषिताः सुखम् ॥ १३ ॥
एतावान्पुरुषस्तात कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥
तदिदं ब्राह्मणस्याऽस्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्राऽस्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥ १५ ॥
भीमसेन उवाच— ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् १६
वैशम्पायन उवाच—एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशांपते ॥ १७ ॥
अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥ १८ ॥

तब कल्याणी कुन्ती भीमसेनसे करुणा भरी बातोंमें बोली, कि बेटा ! हम लोग धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे छिपकर इस ब्राह्मणसे सत्कार पाये और शोकरहित होकर सुखसे वस रहे हैं; इससे मैं सदा इस सोचमें रहा करती हूं, कि जिस प्रकार श्रेष्ठ श्रेष्ठ महात्मालोग जिसके घरमें वसते हैं, उसका कोई हित काम कर देते हैं, वैसेही मैं क्योंकर इस ब्राह्मणका पलटेमें उपकार करूं। बेटा ! उपकार करनेसे जो उसके पलटेमें उपकार करता है, वही पुरुष है; और जो जितना उपकार करता है, पलटेमें उसका उतना अधिक उपकार करना चाहिये। मुझको निश्चय जान पडता है, कि इस ब्राह्मणके घरमें कोई दुःख आपडा होगा, उस दुःखके दूर करनेके लिये इनकी कुछ सहायता कर सकें, तौभी पलटेसे उपकार करना होगा। भीमसेन बोले, कि इस ब्राह्मण पर जिस कारण दुःख आ खडा हुआ है; उससे आप ज्ञात होवे; आगे मैं जानलेने पर कठिन भी हो, तो उसके दूर करनेका प्रयत्न करूंगा। (११–१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे पृथ्वीनाथ! वे इस प्रकार बात चीत कर रहे थे, कि ऐसे समयमें फिर उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी कि कातर रुलाईकी ध्वनि सुन पडी। अनन्तर कुन्तीने इसप्रकार वेगसे कि कामधेनु अपने बछडेके बंधे रहनेसे जिस प्रकार उसके पास जाती है, उस महात्मा ब्राह्मण

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च ।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ॥ १९ ॥

ब्राह्मण उवाच-- धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम् ।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥ २० ॥
जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः ।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥ २१ ॥
आत्मा ह्येको हि धर्मार्थौ कामं चैव निषेवते ।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमनन्तकम् ॥ २२ ॥
आहुः केचित्परं मोक्षं स च नास्ति कथंचन ।
अर्थप्राप्तौ तु नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ॥ २३ ॥
अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥ २४ ॥
न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥ २५ ॥
यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत्तथा ।

के अन्तःपुरमें जाकर देखा कि ब्राह्मण महाराज मलिन मुख किये बैठे हैं और स्त्री, पुत्र तथा कन्याके सहित कहते हैं, कि यह संसार केवल दुःखकी जड अन्याधीन और अति हानिकारी है अतएव ऐसे व्यर्थ जीवन पर धिक्कार है ! देखो, जीते होने परम दुःख और परम पीडा भोगनी पडती है, क्यों कि जीते हुए मनुष्यको निश्चय ही दुःख घेर लेता है, एकही आत्मा धर्म अर्थ और काम, इन तीनोंकी एक दूसरेसे बिना विरोध किये सेवा नहीं कर सकता है, सो इनके द्वारा प्रयोग होने ही से अनन्त दुःख आ गिरता है । १९-२२ ।

कोई कोई पण्डित कहते हैं, कि मोक्ष ही श्रेष्ठ है; पर हम संसारके प्रेमी हैं, हमसे वह किसी प्रकार होनेकी संभावना नहीं है, फिर अर्थ पानेके विषयमें भी सब प्रकारसे दुःख भोगना पडता है, देखो उपार्जन की चाह बडी दुःखदायी होती है, और उपार्जन हुआ भी तो और भी दुःख भोगना पडता है; क्योंकि प्राप्त किये हुए धन पर स्नेह बढ जाता है, सो यदि किसी प्रकार वह अर्थ नष्ट हुआ तो पूर्वोक्त दुःख से भी अधिक दुःख घेर लेता है । ऐसा कोई उपाय भी नहीं दीखता, कि इस विपत्से बचें अथवा स्त्री पुत्र लेकर कहीं भाग जावें । २३—२५ ।

क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥ २६ ॥
इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयाऽसकृत् ॥ २७ ॥
स्वर्गतोऽपि पिता वृद्धस्तथा माता चिरं तव ।
बान्धवा भूतपूर्वाश्च तत्र वासे तु का रतिः ॥ २८ ॥
सोऽयं ते बन्धुकामाया अशृण्वन्त्या वचो मम।
बन्धुप्रणाशः संप्राप्तो भृशं दुःखकरो मम ॥ २९ ॥
अथवा मद्विनाशोऽयं न हि शक्ष्यामि कंचन।
परित्यक्तुमहं बन्धुं स्वयं जीवन्नृशंसवत् ॥ ३० ॥
सहधर्मचरीं दान्तां नित्यं मातृसमां मम ।
सखायं विहितां देवैर्नित्यं परमिकां गतिम् ॥ ३१ ॥
पित्रा मात्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्यभागिनीम्।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत्परिणीय च ॥ ३२ ॥
कुलीनां शीलसंपन्नामपत्यजननीमपि ।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम् ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणि ! स्मरण करके देखो, कि जहां जहां मङ्गल होना था, मै तहां जानेका प्रयत्न किया करता था, उस समय तुम मेरी बात पर ध्यान नहीं धरती थी। वह कुबुद्धि तुम्हारी ही ह, कि जब कि मेरे बार बार अन्य स्थानमें जानेको चाहने परभी तुमने कहा था, कि "यह मेरी पैत्रिक भूमि है, यहां मै जन्म लेकर बुढिया होगयी हूं, इसको त्याग नहीं सकती" प्यारी! तुम्हारे पिता, माता और पहिलेके बान्धवोंके स्वर्ग पाने पर बहुत दिन बीत गये थे, तिस परभी क्यों तुमने यहां बसना चाहा था ? (२६—२८)

तुमने जिस प्रकार बन्धुकी कामनासे मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया था, वैसेही अब तुम्हारे बन्धुनाशका समय आ पहुंचा है, इसमे मुझको बडा दुःख हो रहा है, [illegible] कि इस समय मेराही नाश उप[illegible] धिक, तो[illegible] ह; क्योंकि मै स्वयं जीता रहकर [illegible] प्रकार बन्धुको त्याग नहीं सकूंगा। तुम मेरी सहधर्मचारिणी, नित्य माता समान स्नेहकरनेवाली, गुणवती और परमागति हुई हो। देवोंने तुम्हे मेरी मित्र सदृश निश्चय कर दिया है; पिता माताने तुमको गार्हस्थ्य धर्म-भागिनी बनाया ह, और तुम कुलीना, शीलवती, सन्तान की जननी साध्वी,

परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम्।
कुत एव परित्यक्तुं सुतं शक्ष्याम्यहं स्वयम्॥ ३४ ॥
बालमप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ।
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना॥ ३५ ॥
यथा दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३६ ॥
मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः ।
कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यावुभौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥
यस्यां लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम्।
अपापां तामहं बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३८ ॥
आत्मानमपि चोत्सृज्य तप्स्यामि परलोकगः।
त्यक्ता ह्येते मया व्यक्तं नेह शक्ष्यन्ति जीवितुम्॥ ३९॥
एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना॥ ४० ॥

श्रमकारिणी और सदा व्रत शीला भार्या हो; पहिले वरणपूर्वक यथा विधि तुम्हारा पाणिग्रहण कर इस समय अपने जीवन की रक्षाके हेतु क्योंकर त्याग दूंगा ? २९-३४

फिर जिस बालककी आज तक दाढी मूछ नहीं निकली है, ऐसे अल्प अवस्था-के पुत्रहीको वा क्योंकर मैं स्वयं त्याग दे सकता हूं ? महात्मा विधाताने सुयोग्य भर्त्ताके हाथमें सौंपनेके लिये जिस कन्याको न्यायपूर्वक मेरे पास रख दिया है, जिस कन्यासे मैं पितरोंके साथ दौहित्रज लोकके पानेकी आशा रखता हूं, उस बालिकाको जन्मा कर क्योंकर स्वयं त्याग देनेके उद्यत होऊं ! कोई कोई ऐसा कहते हैं, कि पिताको पुत्रही पर अधिक स्नेह होता है, और कोई कोई कहते हैं कि कन्याही पर अधिक स्नेह होता है, पर मेरे लिये दोनों समान हैं। जिससे सुगति मिलती है, जिससे वंशकी रक्षा होती है और जिससे नित्य सुख मिलता है उस पापकी छूतसे रहित बालिकाको क्योंकर त्याग देनेका साहस करूं। (३४-३८)

मैं यदि अपने जीवनकी बलि चढाके परलोकको सिधारूं तोभी दुःखी होऊंगा; क्योंकि मेरे इनको छोड जानेसे यह कभी नहीं जी सकेंगे। इनमेंसे किसी एकको भी त्याग देना बडा अनुचित और निष्ठुर काम होगा; और अपना जीवन त्यागनेसे भी यह मेरे बिना जीवन देंगे; अतएव

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम् ।
अहो धिक्कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः॥४१॥
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम्॥ ४२॥ [६३११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणचिन्तायामेनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

ब्राह्मण्युवाच— न संतापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित्।
न हि संतापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥ १ ॥
अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।
अवश्यं भाविन्यर्थे वै संतापो नेह विद्यते ॥ २ ॥
भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते।
व्यथां जहि सुबुध्या त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च॥ ३ ॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्तृहितमाचरेत् ॥ ४ ॥
तच्च तत्र कृतं कर्म तवाऽपीदं सुखावहम् ।
भवत्यमुत्र चाऽक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम्॥ ५ ॥
एष चैव गुरुर्धर्मो यं प्रवक्ष्याम्यहं तव ।

मै गहरी विपतमें पडा हूं। हाय! विपत से बचनेका उपाय नहीं दीखता! अहो मुझपर धिक्कार है! आज परिवार सहित मेरी कोई गति नहीं है, सो परिवार सहित जीवन छोडनाही मेरे लिये मङ्गलदायी है; मेरा जीवित रहना कभी उचित नहीं है। (३९-४२) [६३११]

आदिपर्वमें एकसौ उनसठ अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ साठ अध्याय ।

ब्राह्मणी बोली, कि हे ब्राह्मण! साधारण मनुष्यकी भांति शोक करना कदापि आपको नहीं सोहता है; क्योंकि आप विद्वान है।। अब दुःख करनेका समय नहीं है। भूमण्डल परके सब लोगोंको अवश्यही मरना पडेगा, अतएव अवश्य होनेवाले विषयका दुःख करना उचित नहीं है। लोग अपने सुखके लिये ही स्त्री, पुत्र, कन्या, इन सबोंकी प्रार्थना करते है, अतएव अपनी सुबुद्धिसे मन पीडा त्याग देवें,मै स्वयं वहां जाऊंगी। संसार मे नारीके लिये सनातन धर्म यही है, कि वह प्राण दे करकेभी पतिका हित करेगी; अतएव उस कर्मके किये जाने पर वह इस लोकमे यशदेनेवाला और परलोकमें अक्षय तथा आपका भी सुखदायी होगा। (१—५)

अर्थश्च तव धर्मश्च भूयानत्र प्रदृश्यते ॥ ६ ॥
यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि।
कन्या चैका कुमारश्च कृताऽहमनृणा त्वया ॥ ७ ॥
समर्थः पोषणे चापि सुतयो रक्षणे तथा ।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥ ८ ॥
मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वप्राणधनेश्वर ।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भवेयं च कथं त्वहम् ॥ ९ ॥
कथं हि विधवाऽनाथा बालपुत्रा विना त्वया ।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ॥ १० ॥
अहंकृतावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम् ।
अयुक्तैस्तव संबन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ॥ ११ ॥
उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम् ॥ १२ ॥
साहं विचाल्यमाना वै प्रार्थ्यमाना दुरात्मभिः ।
स्थातुं पथि न शक्ष्यामि सज्जनेष्टे द्विजोत्तम ॥ १३ ॥
कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥ १४ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं जो कहती हूं, वह श्रेष्ठ धर्म है ; ऐसा करनेसे आपके लिये भी प्रचुर धर्म और अर्थका कार्य होगा। देखिये, जिस अभिप्रायसे स्त्रीकी प्रार्थना की जाती है, वह मुझसे आपको सिद्ध हो गयी है ; मैं आपसे पुत्र और कन्या प्रसव कर उऋण हो चुकी हूं । आप इस पुत्र और कन्याके पालने पोसने और देखने भालनेको समर्थ हैं ; मुझसे वह भली प्रकार सिद्ध होना कदापि सम्भव नहीं है । आप मेरे प्राण और धन सबके ईश्वर हैं, आपके बिना मैं क्योंकर जीऊंगी और आपके न रहनेसे क्योंकर दो शिशु सन्तान जी सकेंगी ? आपके बिना मैं विधवा और अनाथ होकर जीती रहनेसे भी क्योंकर सुपथमें रहकर इन दो बच्चोंको जिला सकूंगी ? (६—१०)

आपके साथ वैवाहिक सम्बन्धके अयोग्य कलङ्कित और गर्वित जन यदि आपकी इस कन्याकी प्रार्थना करें, तो मैं क्योंकर उसकी रक्षा कर सकूंगी ? जिस प्रकार पक्षी भूमिपर पड़ी हुई मछली को चाहते हैं, वैसे ही मनुष्यगण पतिहीना स्त्रियोंकी कामना करते हैं । हे द्विजश्रेष्ठ

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन्गुणानाधातुमीप्सितान्।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान्॥ १५ ॥
इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम्।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा॥ १६ ॥
तां चेदहं न दित्सेय त्वद्गुणैरुपबृंहिताम्।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वाङ्क्षा इवाऽध्वरात्॥ १७ ॥
सम्प्रेक्षमाणा पुत्रं ते नाऽनुरूपमिवाऽऽत्मनः।
अनर्हवशमापन्नामिमां चापि सुतां तव॥ १८ ॥
अवज्ञाता च लोकेषु तथाऽऽत्मानमजानती।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन्मरिष्यामि न संशयः॥ १९ ॥
तौ च हीनौ मया बालौ त्वया चैव तथाऽऽत्मजौ।
विनश्येतां न सन्देहो मत्स्याविव जलक्षये॥ २० ॥
त्रितयं सर्वथाऽप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम्।
त्वया विहीनं तस्मात्त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि॥ २१ ॥

मेरे पतिहीना होनेसे दुरात्मा लोग मेरी कामना कर मेरे चित्तको टाल सकते है, ऐसा होनेसे मै क्योंकर साधुओं के अभीष्ट पथसे रह सकूंगी ? और क्योंकर आपके वंशकी एकही कन्या इस निर्दोषी बालाको पितृ पितामहोंके पथमे नियोग कर सकूंगी और क्योंकर फिर उस पूरे अभावके कालमे इस पितृहीन अनाथ बालकको आप जैसे धर्मज्ञ है, उसके योग्य वाञ्छित विद्या पढा सकूंगी ? (११-१५)

अयोग्य जन, मुझको हरा कर शूद्रो के वेद सुनानेकी प्रार्थनाके सदृश इस अनाथ बालाको मांगेगे, तिस पर आपके गुणोसे सुहावनी इस कन्याको यदि मै अयोग्य वरको देना चाहूं, तो कौआ जैसे यज्ञकी वस्तु लूट खाता है, तैसेही वे लूट कर इसको बलपूर्वक हर ले जायेंगे। हे ब्रह्मन् ! तब मै लोकोमे अनादर की पात्री होऊंगी, और नहीं कह सकती, कि मेरी कैसी कुगति होगी; ऐसी दशामे आपके पुत्रको आपसे असदृश होते और आपकी कन्याको अयोग्य जनके वशमे जाते देखकर, इसमे सन्देह नहीं है, कि मै प्राण छोडूंगी अब कुछभी सन्देह नहीं कि आपके और मेरे बिना यह दो बच्चे बिन जलकी मछलीकी भांति प्राण छोड़ेंगे; अतएव समझलेव कि आपके न रहने मे मै और दो बच्चे इन तीनो हीके जीवन निश्चय नष्ट होंगे; सो मेरी समझमे मुझको त्याग देनाही आपको उचित है। १६-२१

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम् ।
गन्तुं ब्रह्मन्सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥
परित्यक्तः सुतश्चाऽयं दुहितेयं तथा मया ।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥ २३ ॥
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः॥२४॥
तदिदं यच्चिकीर्षामि धर्मं परमसम्मतम् ।
इष्टं चैव हितं चैव तव चैव कुलस्य च ॥ २५ ॥
इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः।
आपद्धर्मप्रमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम् ॥ २६ ॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २७ ॥
दृष्टादृष्टफलार्थं हि भार्या पुत्रो धनं गृहम् ।
सर्वमेतद्विधातव्यं बुधानामेष निश्चयः ॥ २८ ॥
एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धन ।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः ॥ २९ ॥

हे ब्रह्मन् ! धर्म जाननेवाले लोग कहा करते है, कि पुत्रवाली स्त्रिया यदि पतिके पहिले परलोक को सिधारे तो वह उनके लिये बडा भारी सौभाग्य है। मैं आपके हित केलिये पुत्र,कन्या,बान्धव और जीवन सब त्यागनेको उद्यत हूं स्त्रियाके लिये नाना यज्ञ, तप, नियम और दान इन सब बातो जितनी इष्ट वस्तु क्यों न हो, वह सब विपतसे बचनेके लिये रखी जाती है; और विपतसे बचनेके लिये धनको रखना चाहिये; धनके द्वारा स्त्रीको बचाना और आत्माको चाहे धनके द्वारा हो वा स्त्रीके द्वारा हो, सदा रक्षा करनी चाहिये २२—२९

स कुरुष्व मया कार्यं तारयाऽऽत्मानमात्मना।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥ ३० ॥
अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये।
धर्मज्ञान्राक्षसानाहुर्न हन्यात्स च मामपि॥ ३१ ॥
निःसंशयो वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि॥ ३२ ॥
भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो महान्।
त्वत्प्रसूतिः प्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्यजीवितम् ३३॥
जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ॥ ३४ ॥
उत्सृज्याऽपि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम्।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव॥ ३५ ॥
न चाऽप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकता नृणाम्।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान्भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥ ३६ ॥
एतत्सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम्।

हे आर्य! आप मुझसे काल पूरा कर लीजिये। बुद्धिके अनुसार अपनी रक्षा कीजिये मुझको जानेकी आज्ञा दीजिये; आप इन दो सन्तानो का पालन करना। (२८—३०)

धर्म जाननेवालोंने कहा है,कि स्त्रियोंका वध नहीं करना चाहिये और राक्षस लोग धर्मके जानकार होते हैं, सो वह राक्षस मुझको न मारकर त्यागभी दे सकता है। हे धर्मज्ञ! जब कि वहां पुरुषका वध निश्चय है और स्त्रीके वधके विषयमें सन्देह है, तब मुझकोही भेजना योग्य है। मैंने बहुत सुख कर लिया है, मेरे बहुत कुछ प्रियकार्य हो गये हैं, मैंने बहुत धर्मार्जन किया है, और आपसे प्यारी सन्तानभी पाचुकी हूं, अब जीवन छोडनेमें मुझे दुःख नहीं है। मेरी सन्तान हुई है, मैं बुढाय गयी हूं, और आपके प्रिय कार्य करनेमें सदासे मेरी चेष्टा है, इन सबोंकी आलोचना करके ही ऐसा निश्चय कर किया है। (३१-३४)

आप मुझको त्याग देकर दूसरी स्त्री पा सकेंगे; ऐसा करनेसे आपका धर्मभी फिर प्रतिष्ठित होगा; हे मङ्गलमय! पुरुष को अधिक स्त्री कर लेनेसे भी अधर्म नहीं होता। पर स्त्रीके पूर्वपतिको छोडकर अन्य पुरुषके वशमें जानेसे बडा अधर्म होता है। आप इन सबोंकी भली

आत्मानं तारयाऽऽशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥३७॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥३८॥ [६३३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि
ब्राह्मणीवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

वैशम्पायन उवाच—तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥ १ ॥
किमिदं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत्।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥२॥
धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्रातं सर्वं मयैकया ॥ ३ ॥
इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥ ४ ॥
इह वा तारयेद्दुर्गादुत वा प्रेत्य भारत।
सर्वथा तारयेत्पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ॥ ५ ॥
आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रानपि नित्यं पितामहाः।

प्रकार आलोचना करके अपना नाश करना अनुचित मानकर अपने कुल, इन दो बच्चे और आत्माकी रक्षा करो। वैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! वह ब्राह्मण ब्राह्मणीकी यह बातें सुनकर इसको गले लगायके उसके साथ अति दुःखी चित्तसे आंसू बहाने लगा। ३५—३८ [६३४०]

आदिपर्वमें एकसौ साठ अध्याय समाप्त।

कि आप क्यों अति दुःखी होकर अनाथके समान रो रहे हैं? संप्रति मेरी बात सुनकर जो उचित हो, करें। इसमें सन्देह नहीं है, कि आप धर्म के अनुसार मुझको कभी न कभी अवश्य त्याग देंगे, सो मेरे समान अवश्य छोड़ी जानेवाली को त्याग देकर सबकी रक्षा करें। सन्तानसे तरेंगे ऐसा समझ करके ही लोग सन्तान की कामना करते हैं, अतएव आप इस

तत्स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः ॥ ६ ॥
भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥ ७ ॥
तातेऽपि हि गते स्वर्गं विनष्टे च ममाऽनुजे।
पिण्डः पितॄणां व्युच्छिद्येत्तत्तेषां विप्रियं भवेत् ॥८॥
पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाऽहमसंशयम्।
दुःखाद्दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥ ९ ॥
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते माता भ्राता च मे शिशुः।
सन्तानश्चैव पिण्डश्च प्रतिष्ठास्यत्यसंशयम् ॥ १० ॥
आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल।
स कृच्छ्रान्मोचयाऽऽत्मानं मां च धर्मे नियोजय ११॥
अनाथा कृपणा बाला यत्र क्वचन गामिनी।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा सदा॥१२॥
अथवाऽहं करिष्यामि कुलस्याऽस्य विमोचनम्।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥१३॥
अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम।

इस लिये पण्डित लोग उसको पुत्र कहा करते है, पितृलोकोंके उद्धारके निमित्त ही मुझसे नाती की आशा करते ह, पर मै नाती की अपेक्षा न करके स्वयं पिताका जीवन बचा कर उनका उद्धार करूंगी! हे पिता ! यदि आप परलोकको सिधारें, तो इसमें सन्देह नहीं है, कि मेरा शिशु भाई स्वल्प कालहीके बीचमें कालके वशमें होजायगा, आपके और भाईके न रहनेसे एक बारही पितरोंका पिण्डा लोप होकर बडा अनिष्ट होगा; और मै तब पिता और भ्राताके बिना बडी दुःखी रहूंगी। मै तब दुःख पाकर अनुचित मृत्युके वशमें हो जाऊंगी। (५-९)

आपके स्वस्थ होकर इस विपतसे एकबारही मुक्त होनेसे माता, शिशु, भ्राता, वंश और सब रक्षित होंगे। विचारिये, कि पुत्र अपना स्वरुप,स्त्री मित्रका स्वरुप और कन्या कष्टका स्वरूप है। सो कष्टके स्वरुप कन्याके द्वारा अपनी रक्षा करें, मुझको धर्ममे नियुक्त कर देवे। हे पिता ! मै बालिका हू, सो आपके विना अनाथ और दीन होकर सदा जहां तहां जाना पडेगा; अतएव मै इस कठिन कामको कर कुलकी रक्षा पूर्वक फल प्राप्त करूंगी। हे द्विजश्रेष्ठ ! यदि आप मुझे

पीडिताऽहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि ॥ १४ ॥
तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं च सत्तम ।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥ १५ ॥
अवश्यकरणीये च मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
किं त्वतः परमं दुःखं यद्वयं स्वर्गते त्वयि ॥ १६ ॥
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत् ।
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते क्लेशादस्मात्सबान्धवे ।
अमृतेव सती लोके भविष्यामि सुखान्विता ॥ १७ ॥
इतः प्रदाने देवाश्च पितरश्चेति नः श्रुतम् ।
मया दत्तेन तोयेन भविष्यन्ति हिताय वै ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम् ।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥ १९ ॥
ततः प्ररुदितान्सर्वान्निशम्याथ सुतस्तदा ।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥ २० ॥
मा पितः रुद मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाऽब्रवीत् ।

छोडकर उस राक्षसके आगे जांय, तो मैं बडी कातर हूंगी. अतएव मुझ पर कृपा-दृष्टि करें । (१०—१४)

बस मरूंगी । यह भी हमारा सुना हुआ है, कि ऐसे अनुचित काममें कन्या देदेने परभी पितरोंको जल देनेसे वे हित

प्रहसन्निव सर्वास्तानेकैकमनुसर्पति ॥ २१ ॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत् ।
अनेनाऽहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥ २२ ॥
तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत् ।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥ २३ ॥
अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान् ।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥ २४ ॥ [६३६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणस्त्रीपुत्रवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

कुन्त्युवाच— कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ।
विदित्वाऽप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥ १ ॥
ब्राह्मण उवाच— उपपन्नं सतामेतद्यद्ब्रवीषि तपोधने ।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥ २ ॥
समीपे नगरस्याऽस्य बको वसति राक्षसः ।
ईशो जनपदस्याऽस्य पुरस्य च महाबलः ॥ ३ ॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः ।
रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली ॥ ४ ॥

रोओ। भाई! मत रो। बहिन! मत रो। यह कहता हुआ हरेकके पास एक एक बार जाने लगा। आगे एक तृण उठाकर आनन्दसे फिर बोला, कि इनसे मैं उस राक्षस को मारूंगा। उसके पिता, माता और बहिन यद्यपि बडे दुःखसे कातर थी, तौभी उस समय उस बालककी अस्पष्ट बात सुनकर उनको बडा हर्ष हुआ। अनन्तर कुन्ती यह समझकर, कि "यह अभिप्राय प्रकाश करनेका समय है" उनके निकट जा पहुंची। अनन्तर मरे हुओंको अमृतसे जिलाने की नाई उनसे बोलने लगी। (१९-२४) [६३७२]

आदि पर्वमें एकसौ एकसठ अध्याय समाप्त।

आदि पर्वमें एकसौ बासठ अध्याय।

कुन्ती बोली, मैं जानना चाहती हूं, कि ऐसे दुःखका कारण क्या है? क्योंकि यदि उससे पार पानेका उपाय बन पडे, तो करूंगी। ब्राह्मण बोले, कि ए तपोधने! तुम जो कहती हो, वह साधुओंके योग्यही है; पर यह दुःख दूर करना मनुष्यकी शक्तिके बाहर है। इस नगरके निकट बक नामक एक महाबली राक्षस रहता है, यह पुरुषादक इस नगर और प्रदेश का

नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः ।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ॥ ५ ॥
वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥ ६ ॥
एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम् ।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥ ७ ॥
तद्विमोक्षाय ये केचिद्यतन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
सपुत्रदारांस्तान्हत्वा तद्रक्षो भक्षयत्युत ॥ ८ ॥
वेत्रकीयगृहे राजा नाऽयं नयमिहाऽऽस्थितः ।
उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मन्दधीः ॥ ९ ॥
अनामयं जनस्याऽस्य येन स्यादद्य शाश्वतम् ॥ १० ॥
एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये ।
विषये नित्यमुद्विग्नाः कुराजानमुपाश्रिताः ॥ ११ ॥
ब्राह्मणाः कस्य वक्तव्याः कस्य वा छन्दचारिणः ।
गुणैरेते हि वत्स्यन्ति कामगाः पक्षिणो यथा ॥१२॥

अधीश है, मनुष्य मांससे पुष्ट, बली और दुष्टबुद्धि वह असुरराज सदा इस देशकी रक्षा करता है। इस देशके राक्षसी बलसे रक्षित होनेके कारण अन्य देश वा किसी प्राणीसे हमारे भयकी सम्भावना नहीं है। (४—५)

एक गाडी अन्न और दो भैंसे और वह मनुष्य जो उन्हें ले जाता है, यह सब उस राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपसे निर्दिष्ट है, इस देश का हरेक गृहस्थ बदली अपनी बारीसे एक एक दिनके हिसाबसे नित्य वह भोजन पहुंचाता है। बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थके लिये यह उद्धार बारी आजाती है। यदि कभी कोई इससे बचनेकी चेष्टा करता है तो वह राक्षस स्त्री पुत्रोंके साथ उसको मार कर खाजाता है। (६-८)

इस स्थलमें वेत्रकीय गृह नामक स्थानमें एक राजा है, वह बुद्धिहीन भूप नीतिको आश्रय नहीं करता, यद्यपि राक्षसके वधके लिये वह स्वयं असमर्थ है, पर यत्नसे ऐसा कोई उपाय नहीं ढूंढता, कि इन सब लोगोंके लिये सदा कुशल हो जाय। हमलोग जब उस दुर्बल बुरे राजाके भरोसे सदा भयभीत होकर के भी उसके अधिकारमें रहते हैं, तब अवश्य ही इस दुःखके भोगनेके योग्य हैं। देखो ब्राह्मण कोई अपनी भूमिसे

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम्।
त्रयस्य संचयेनास्य ज्ञातीन्पुत्रांश्च तारयेत्॥ १३॥
विपरीतं मया चेदं त्रयं सर्वमुपार्जितम्।
तदिमामापदं प्राप्य भृशं तप्यामहे वयम्॥ १४॥
सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया॥ १५॥
न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन॥ १६॥
गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम्॥ १७॥
सहैव तैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम्।
ततो नः सहितान्क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति॥ १८॥ [६३८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि
कुन्तीप्रश्ने द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६२॥

बचा नहीं सकता, क्योंकि वे किसीकी इच्छासे नहीं चलते। वे अपने गुणसे कामचारी पक्षीके सदृश मनमाना काम करते हैं, पर मैंने उसका विपरीत काम किया है और कहाभी है, कि 'पहिले भूप, तब स्त्री और पीछे धनार्जन करना, इन तीन विषयोंके सञ्चित होने पर ज्ञाति और पुत्रोंका उद्धार होता है।" इन तीन विषयोंके उपार्जनके विषयमें भी मैंने बड़ा विपरीत काम किया है; सो अब इस विपतके समुद्रमें गिरकर बड़ा दुःखी हो रहा हूं। (१०-१४)

आज हमारी कुलनाशी वह बारी आयी है, राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें एक मनुष्य मुझको देना पड़ेगा। पर मेरे पास इतना धन नहीं है, कि किसी स्थानमें एक मनुष्यको मोल लेकर दूं, और किसी स्वजनकोभी नहीं दे सकूंगा, सो ऐसा कोई उपाय नहीं दीखता, कि जिससे उस राक्षसके हाथसे बच सकूं; इस लिये अति अपार दुःखके समुद्रमें डूबा हूं। अतएव समझता हूं, कि मैं सब बान्धवोंके साथ उस राक्षसके पास जाऊंगा, कि जिससे वह नीचाशय राक्षस एक साथ हम सबोंको खा ले। (१५—१८) [६३०१]

आदिपर्वमें एकसौ बासठ अध्याय समाप्त।



कुन्तीका मातृपदको नमस्कार ।

कुन्त्युवाच— न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात्कथंचन।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः॥ १ ॥
एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥ २ ॥
मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच— नाऽहमेतत्करिष्यामि जीवितार्थे कथंचन ।
ब्राह्मणस्याऽतिथेश्चैव स्वार्थे प्राणवियोजनम्॥ ४ ॥
न त्वेतदकुलीनासु नाऽधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद्ब्राह्मणार्थे विसृजेदात्मानमपि चाऽऽत्मजम्॥ ५ ॥
आत्मनस्तु मया श्रेयो बोद्धव्यमिति रोचये।
ब्रह्मवध्याऽऽत्मवध्या वा श्रेयानात्मवधो मम॥ ६ ॥
ब्रह्मवध्या परं पापं निष्कृतिर्नाऽत्र विद्यते ।
अबुद्धिपूर्वं कृत्वाऽपि श्रेयानात्मवधो मम ॥ ७ ॥
न त्वहं वधमाकांक्षे स्वयमेवाऽऽत्मनः शुभे।

आदिपर्वमें एकसौ तिरसठ अध्याय।

कुन्ती बोली, कि ब्रह्मन्! तुम इस भयसे दुःख मत मानो, मैने उस राक्षससे बचनेका उपाय निश्चय किया है। तुम्हारा एक शिशु पुत्र और एकही व्रतशीला कन्या है, उनमेसे किसीका, तुम्हारी स्त्रीका अथवा स्वयं तुम्हारा जाना मेरी समझमें उचित नहीं है। मेरे पांच पुत्र है, उनमेंसे एक तुम्हारे उपकार के लिये उस पापी राक्षसके यहां जायगा। (१—३)

ब्राह्मण बोले, कि मै अपना जीवन बचानेके लिये कभी ऐसा काम नहीं कर सकूंगा, मै अपने लिये ब्राह्मण और अतिथिके प्राण लेनेका साहस नहीं कर सकता; जो नीच वंशमें उत्पन्न और अधार्मिक है, वेभी ऐसे काममें हाथ नहीं डालते है। ब्राह्मणके उपकारके लिये यह विधि है, कि अपनेको अथवा आत्मज को त्याग देना. मुझको यही मङ्गल-दायी समझना चाहिये; और मै वेसाही करना चाहता हूं। ब्राह्मणवध और आत्महत्या इन दोनोमें आत्महत्या ही मङ्गलयुक्त है। क्योंकि ब्रह्म वध बडा पाप है, उसके करनेसे फिर बचनेका उपाय नहीं रह जाता। मै समझता हूं, कि अनिच्छासे ब्रह्मवध करनेसे अनिच्छासे आत्महत्या करना मेरे लिये अच्छा है।

परैः कृते वधे पापं न किञ्चिन्मयि विद्यते ॥ ८ ॥
अभिसन्धिकृते तस्मिन्ब्राह्मणस्य वधे मया।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ॥ ९ ॥
आगतस्य गृहे त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥ १० ॥
कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कथंचन ।
इति पूर्वे महात्मान आपद्धर्मविदो विदुः ॥ ११ ॥
श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम्।
ब्राह्मणस्य वधं नाऽहमनुमंस्ये कदाचन ॥ १२ ॥

कुन्त्युवाच— ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन्विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा।
न चाऽप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत्॥ १३ ॥
न चाऽसौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने।
वीर्यवान्मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥ १४ ॥
राक्षसाय च तत्सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम् ।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः॥१५ ॥
समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः ।

और मैं स्वयं कुछ आत्महत्यामें हाथ नहीं डाल रहा हूं, अन्य जन मुझको मारेगा, इसका पाप नहीं लग सकता है; जान नहीं पडता, कि बुद्धिसे अथवा छलपूर्वक ब्रह्मवध करके सहजमें पार पा सकूंगा। (८—९)

पण्डितोंने कहा है, कि अतिथि वा शरण लिये हुएको त्याग देना और मांगने वाले को मारडालना अति निठुर अनुचित कार्य है। और आपद्धर्मके जानकार पहिलेके महात्माओंने कहा है कि निन्दित और निठुर कर्म कभी मत करना; अतएव आज मैं स्त्रीके साथ प्राण छोडूं-गा, मेरे लिये यही अच्छा है; मैं किसी प्रकारसे ब्राह्मण हत्या की सम्मति नहीं दे सकता। (१०—१२)

कुन्ती बोली, कि हे ब्रह्मन्! मेरा भी यह निश्चय किया हुआ है, कि ब्राह्मणो की अवश्य रक्षा करनी पडेगी। सौ पुत्र भी होवें, तौभी पुत्र कभी मेरे अनादरकी सामग्री नहीं होते। मेरे पुत्र वीर्यवन्त, तेजस्वी और मन्त्रमें सिद्ध है, सो वह राक्षस उनको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं होगा। मुझको निश्चय जान पडता है, कि मेरा पुत्र राक्षसको वह सब खाने की वस्तु पहुंचाभी देगा और अपनी रक्षा

बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ॥ १६ ॥
न त्विदं केषुचिद्ब्रह्मन्व्याहर्तव्यं कथंचन ।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान्विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥ १७ ॥
गुरुणा चाननुज्ञातो ग्राहयेद्यत्सुतो मम ।
न स कुर्यात्तथा कार्यं विद्ययेति सतां मतम् ॥ १८ ॥
एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः संप्रजग्राहाथ तद्वाक्यममृतोपमम् ॥ १९ ॥
ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥ २० ॥ [६४०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि
भीमबकवधाभ्युपगमे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

वैशम्पायन उवाच—करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्ष्यमादाय पाण्डवाः ॥ १ ॥
आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।

भी करेगा। मैंने पहिले देखा है, कि बडे बडे बली बहुत राक्षस आकर मेरे पुत्रोंसे यमराजके घर भेजे गये। (१३—१६)

हे ब्राह्मन! यह बात तुम किसीसे किसी प्रकार प्रकाश मत करना; प्रकाश होनेसे विद्यार्थी लोग बडी इच्छासे इस विद्याके सीखने के लिये मेरे पुत्रोंको सदा दिक करेंगे। मेरे पुत्र गुरु की आज्ञा बिना अन्य किसीको जो विद्या देंगे, उस विद्यासे फिर काम नहीं कर सकेंगे। ब्राह्मणने कुन्तीकी यह बात सुनकर स्त्रीके साथ अति प्रसन्न होकर अमृतसदृश उस बातको आदर पूर्वक मान लिया। आगे कुन्ती और ब्राह्मणने एकत्र होकर पवननन्दन भीमको वह कठोर कार्य करनेको कहा। भीमसेननेभी उसमें सम्मति देकर प्रत्युत्तर किया था। (१७-२०) [६४११]

आदिपर्वमें एकसौ तिरसठ अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ चौसठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! भीमसेनके उस कामके करने की प्रतिज्ञा करने पर सम्पूर्ण पाण्डव भिक्षाकी वस्तु लेकर गृहको लौट आये। अनन्तर युधिष्ठिरने आकार द्वारा यह सब कार्य जान कर निरालेमें बैठकर मातासे पूछा, कि माता! भीम पराक्रमी भीम किस कामको

भवत्यनुमते किंचित्स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥ ३ ॥

कुन्त्युवाच — ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः ।
ब्राह्मणार्थे महत्कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच — किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम् ।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥ ५ ॥
कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि ।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात्कृतं त्वया ॥ ६ ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे ।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥ ७ ॥
यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः ।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह॥ ८ ॥
यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद्वयम् ।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥ ९ ॥
यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम् ।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान्॥ १० ॥

जा रहा है ? क्या आपने इसमे आज्ञा दी है ? अथवा भीमने स्वयंही इसके करनेकी इच्छा की है ? कुन्ती बोली, कि यह शत्रुनाशी वृकोदर मेरी ही बातसे ब्राह्मणके उपकार और इस नगरको मुक्त करनेके लिये यह भारी काम पूरा करेगा। (१—४)

युधिष्ठिर बोले, कि आपने यह कैसा कठिन भयानक साहस किया है ? साधुगण कभी पुत्र त्यागनेकी प्रशंसा नही करते। और दूसरेके पुत्र बचानेके लिये अपना पुत्र त्यागना क्योकर उचित हो सकता है?आज आपने पुत्र तजकर लोकाचारके विपरीत और वेदके विरुद्ध कर्म किया है! जिनके भुजबलके आसरे मे हम सुखसे सो रहे है;जिनके भुजबलके भरोसे हम नीचाशय दुर्योधनादिसे लूट लिये हुए राज्यको लौटा पानेकी आशामें है, जिसके अपरिमित वीर्यको स्मरणकर दुर्योधन और शकुनिको दुःखके मारे रात्रिको निद्रा नही आती; जिस वीरके भुजवीर्यसे हम जतुगृहसे और दूसरी विपदोंसे पार पागये है और जिससे पुरोचन यमराजके घर भेजा गया;यहां तक कि जिसके भुजवीर्यकी आशासे हमको ऐसा विश्वास है, कि मानो हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर इस हरी हुई धरतीको पा चुके है , आपने कैसी बुद्धिसे उन भीमसेनको

तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया ।
कच्चिन्न दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥ ११ ॥

कुन्त्युवाच— युधिष्ठिर न संतापस्त्वया कार्यो वृकोदरे ।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद्व्यवसायः कृतो मया ॥ १२ ॥
इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ।
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता ॥ १३ ॥
एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद्बहुगुणं ततः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत् ।
हिडिम्बस्य वधाच्चैव विश्वासो मे वृकोदरे ॥ १५ ॥
बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत् ।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥ १६ ॥
वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते ।
यो व्यतीयाद्युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ॥ १७ ॥
जातमात्रः पुरा चैव ममाङ्कात्पतितो गिरौ ।

त्याग देना निश्चय किया है ? क्या आपने अपना ज्ञान खो दिया है ? क्या दुःखसे आपकी बुद्धि जाती रही है ? (५—११)

है, वास्तवमें वही पुरुष है, विशेष जो जितना उपकार करता है, पलटेमें उसका उससे अधिक उपकार करना ही उचित है । जतुगृहमें भीमसेनका जितना विक्रम

शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥ १८ ॥
तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पांडव ।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥ १९ ॥
नेदं लोभान्न चाऽज्ञानान्न च मोहाद्विनिश्चितम् ।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥ २० ॥
अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः ।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥ २१ ॥
यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित ।
क्षत्रियः स शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयादिति मे मतिः२२ ॥
क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम् ।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च॥ २३ ॥
वैश्यस्याऽर्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ॥ २४ ॥
शूद्रं तु मोचयेद्राजा शरणार्थिनमागतम् ।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते ॥ २५ ॥
एवं मां भगवान्व्यासः पुरा पौरवनन्दन ।

विष्णुकोभी युद्धमे परास्त कर सक्ता है ! हे पाण्डवश्रेष्ठ ! भीमसेन जन्म लेतेही मेरी गोदमे पहाड पर गिर गया था, उससे उसके शरीरकी रगडसे पत्थरके टुकडे पिसकर चूर चूर होगये थे, इस कारणसेभी मै भीमका बल जानती हूं, इस लिये ब्राह्मणके शत्रुको नष्ट करनेका संकल्प किया है। मैने लोभ, अज्ञानता या मोहसे इस काममें हाथ नही डाला है, बुद्धिसेही इस धर्मकार्यमें प्रवृत्त हुई हूं। (१८—२०)

हे युधिष्ठिर ! इस कार्यमे दो प्रयोजन सिद्ध होंगे: एक यह है, कि यहां बसनेसे पलटेमे दूसरा उपकार और महाधर्म। क्यों कि जो क्षत्रिय प्रसंग प्राप्त होनेपर ब्राह्मणकी सहायता करेगा वह निःसंदेह शुभलोकों को प्राप्त होगा, ऐसा मेरा मत है। मै निश्चय जानती हूं, कि जो क्षत्रिय क्षत्रियका प्राण बचाते है, वह इस लोक और परलोकमे अत्यन्त यश प्राप्त करते हैं; इसमे सन्देह नहीं है, कि क्षत्रिय होकर वैश्यकी सहायता करे, तो भूमण्डलमे सर्वत्र प्रजा इसकी प्रेमी होती है। क्षत्रिय शूद्र या शरण लिये हुए जनको विपतसे बचावे, तो वह ऐश्वर्ययुक्त राजोंसे पूजे जाने वाले वंशमें जन्म लेता है। पौरवनन्दन !



प्रोवाचाऽसुकरप्रज्ञस्तस्मादेवं चिकीर्षितम् ॥२६॥ [६४२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि
कुन्तीयुधिष्ठिरसंवादे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद्बुद्धिपूर्वकम् ।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥ १ ॥
ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम् ।
सर्वथा ब्राह्मणस्यार्थे यदनुक्रोशवत्यसि ॥ २ ॥
यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः ।
तथाऽयं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच- ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः ।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्राऽसौ पुरुषादकः ॥ ४ ॥
आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली ।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपपादयन् ॥ ५ ॥
ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात्तदा ।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ६ ॥
महाकायो महावेगो दारयन्निव मेदिनीम् ।

पूर्वकालमें अति तेज बुद्धिमान् भगवान् व्यासदेवने मुझको यह सब उपदेश किये थे, इसी लिये मैंने इस कामको करनेकी इच्छा की है । (२१–२६) [६४२७]

आदिपर्वमें एकसौ चौंसठ अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ पैंसठ अध्याय ।

माताकी यह बातें सुनकर युधिष्ठिर बोले, कि हे माता ! आपने इस विपत में पडे हुए ब्राह्मण पर कृपा दिखाकर बुद्धिसे जो यह कार्य किया है, वह बहुत ही अच्छा हुआ है । इसीसे, कि आप ब्राह्मण पर दयावती हुई है, इसमें सन्देह नहीं है, कि भीमसेन मनुष्य-भोजी राक्षसका नाश कर लौट आवेगा । आप यत्नपूर्वक ब्राह्मणसे कहकर यह स्वीकार करा लेना, कि नगरवाले यह बात न जान सकें । (१—३)

वैशम्पायनजी बोले, कि रात्रि बीतने पर भीमसेनने भोजनकी सामग्री लेकर वहांकी यात्रा की जहां वह राक्षस था । अनन्तर उस राक्षसके वनमें पहुंच-कर वह सब भोजनकी सामग्री खाते खाते हुए उसका नाम लेकर पुकारने लगे । इससे बडा भारी और अति तेजस्वी वह राक्षस भीमकी बातसे क्रोधित होकर, भूमि विदारण करता हुआ । जहां

लोहिताक्षः करालश्च लोहितश्मश्रुमूर्द्धजः ॥ ७ ॥
आकर्णाद्भिन्नवक्त्रश्च शंकुकर्णो विभीषणः ।
त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा संदश्य दशनच्छदम् ॥ ८ ॥
भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः ।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥
कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम् ।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥ १० ॥
भीमसेनस्ततः श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत ।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥ ११ ॥
रवं स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ ।
अभ्यद्रवद्भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ॥ १२ ॥
तथापि परिभूयैनं प्रेक्षमाणो वृकोदरः ।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ॥ १३ ॥
अमर्षेण तु संपूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥ १४ ॥
तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः ।
नैवाऽवलोकयामास राक्षसं भुङ्क्त एव सः ॥ १५ ॥

आगया, जहां भीम बैठे थे। उस राक्षस की आंखें, दाढी और केश लाल, मुह कान तक फैला हुआ और कान शंकुके समान थे। ऐसा विकट भयानक वह राक्षस भीमसेनको अन्न खाते देखकर दांतोंसे होठोंको काटता हुआ तीन रेखाओंके साथ भौहको ऊपर चढाय दोनों आखें फैलाके क्रोधसे बोला, कि किस पर यह कुबुद्धि चढी है, कि यमराजके घरको जानेको मेरे भोजनके लिये मंगाया हुआ अन्न मेरे सामनेही खा रहा है ? (४—१०)

हे भारत ! भीमसेन यह बात सुनने परभी हंसतेही हंसते राक्षसका अनादर कर मुहको फेर कर भोजन करने लगे; उसकी ओर आंख तक नही फेरी, तब वह मांसभोजी भयानक शब्दसे दोनो हाथ उठाकर भीमसनेको मार डालनेके लिये दौडा ! शत्रुनाशी वृकोदर तब राक्षसको अनादरसे एक बार देखकर भोजन करने लगे। राक्षसने तब क्रोधसे जलकर भीमसेनके पीछे खडा होके दोनों मुट्ठियोंसे पीठ पर मारा ! भीमसेनने उस बली राक्षसके दोनों भुजोंको

ततः स भूय सङ्क्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः ।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद्बली ॥ १६ ॥
ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः ।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥ १७ ॥
क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥ १८ ॥
ततः स पुनरुद्वृह्य वृक्षान्बहुविधान्बली ।
प्राहिणोद्भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥
तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
घोररूपं महाराज नरराक्षसराजयोः ॥ २० ॥
नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम् ।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥ २१ ॥
भीमसेनोऽपि तद्रक्षः परिरभ्य महाभुजः ।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद्बली ॥ २२ ॥
स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम् ।
समयुज्यत तीव्रेण श्रमेण पुरुषादकः ॥ २३ ॥

चोटसे बहुत घायल होने परभी उसपर आंखे नहीं फेरी, एकमनसे भोजनमे प्रवृत्त रहे। (११—१५)

आगे महाबली राक्षस अति क्रोधसे अन्धेके समान होकर मारनेके लिये वृक्ष उखाड़कर फिर उनपर दौड़ा। उसके अनन्तर महाबली पुरुषेन्द्र भीमसेन धीरे धीरे वह अन्न खा लेकर हाथ धो करके प्रसन्न चित्तसे युद्धके लिये खड़े हुए। क्रोधके वशमें होकर राक्षसके भीमसेन पर उस वृक्षको फेंकनेसे बलिवन्त भीमसेनने हंस करके बायें हाथसे उसको थाम लिया।

यह देखकर बलवन्त राक्षस भांति भांतिके वृक्ष उखाड़ कर भीम पर फेंकने लगा और भीम भी वैसेही वृक्ष उठा कर उस पर फेंकने लगे। महाराज! नर मनुष्यके साथ उस राक्षसराजका ऐसा भयानक वृक्षयुद्ध होने लगा कि उससे बहुतेरे वृक्ष नष्ट होने लगे। (१६—२०)

आगे राक्षसोंमें बकने अपना नाम कह कर दौड़ता हुआ महाबली भीमसेनको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया। तब महाभुज बलवन्त भीमसेन उस महाबा-हुको छुड़ानेके निमित्त बल कर प्रकट करके उसे खींचने लगे।

तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत ।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥
हीयमानं तु तद्रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम् ।
निष्पिष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः॥ २५ ॥
ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव ।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥ २६ ॥
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः ।
तद्रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ॥ २७ ॥
ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात्प्रादुरासीद्विशाम्पते ।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥ २८ ॥ [६४३७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि बकभीमयुद्धे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नादित्वा भैरवं रवम् ।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद्बकः ॥ १ ॥
तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याऽथ रक्षसः ।
निष्पपात गृहाद्राजन्सहैव परिचारिभिः ॥ २ ॥
तान्भीतान्विगतज्ञानान्भीमः प्रहरतां वरः ।

राक्षस भीमसे खींचे जाने परभी उनको बलसे खींचने लगा; इससे मनुष्यभोजीही बहुत थकने लगा । उन दोनोंके वेगसे धरती डोली और निकटके बडे बडे वृक्ष टूटे । (२१—२४)

अनन्तर वृकोदर राक्षसको बल खोते देखकर घुटनोंमे धरती पर पीस पीस कर मारने लगे । आगे उसकी पीठपर घुटनोंको लगा कर पीस करके दहिने हाथसे गलेको और बांये हाथसे कमरको पकडा तथा उसको द्विगुणित अर्थात् दो भागोमें तोड डाला; तब राक्षस घोर शब्द करने लगा । हे पृथ्वीनाथ ! जब भीमसेनसे विकट राक्षस तोडा गया, तब उसके मुखसे रक्त वमन होने लगा । (२५—२८) [६४३७]

आदिपर्वमें एकसौ पैंसठ अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ छासठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महाराज ! बडे भारी पहाड समान राक्षस बक ने देह टूटने पर बडा कोलाहल मचाता हुआ प्राण छोडा । उसके परिवारवर्ग उस शब्दसे भय खाकर नौकर चाकरोंके साथ घरसे निकलकर भीमके पास आ-

सान्त्वयामास बलवान्समये च न्यवेशयत्॥ ३॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ४॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ५॥
ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥ ६॥
ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम् ।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामाऽनुपलक्षितः ॥ ७॥
दृष्ट्वा भीमबलोद्धूतं बकं विनिहतं तदा ।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुस्ततस्ततः॥ ८॥
ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत्।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ ९॥
ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात्कल्य एव तु।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ।
तमद्रिकूटसदृशं विनिकीर्णं भयानकम् ॥ १०॥
दृष्ट्वा संहृष्टरोमाणो बभूवुस्तत्र नागराः ।
एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ॥ ११॥

गये। मारनेमें तेज महाबली भीमसेनने उनको भयभीत और ज्ञान रहित देखकर समझाया और यह कहकर, उनसे प्रतिज्ञा करा ली, कि तुम फिर कभी मनुष्य न मारना यदि मारोगे तो तुमलोगभी तुरन्त इसी प्रकार नष्ट होना पड़ेगा। राक्षसोंने वृकोदरकी यह बात सुनकर उस पर स्वीकृति प्रकाश करके उस नियम को मान लिया। १-६

अनन्तर भीमसेन उस मरे हुए राक्षसको लेकर नगरके द्वारपर डाल कर लोगोंकी न देखनेमें चले गये। राक्षस बकके ज्ञातियोंने भीमसे उस पूर्व बकको मरे हुए देखकर डरसे चिल्लाते हुए इधर उधर भागे। भीमसेनने उस ब्राह्मण गृहमें जाकर राजा युधिष्ठिरसे सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। ७-९

ततः सहस्रशो राजन्नरा नगरवासिनः ।
तत्राऽऽजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ॥ १२ ॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वाऽतिमानुषम् ।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशांपते ॥ १३ ॥
ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चाऽऽगस्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव ते॥ १४ ॥
एवं पृष्टः स बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।
उवाच नागरान्सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ॥ १५ ॥
आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महामनाः॥ १६ ॥
परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशं पुरस्य च ।
अब्रवीद्ब्राह्मणश्रेष्ठो विश्वास्य प्रहसन्निव ॥ १७ ॥
प्रापयिष्याम्यहं तस्मा अन्नमेतद्दुरात्मने ।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति चाऽब्रवीत्॥१८ ॥
स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति ।
तेन नूनं भवेदेतत्कर्म लोकहितं कृतम् ॥ १९ ॥

न्होंये मारे गये और गिरे हुए देखकर रोमाञ्चित हुए; और एकचक्रानगरीके पुरमें जाकर वह समाचार दिया। हे राजन ! तब सहस्रो नगरवाले बक राक्षस को देखनेके लिये एकत्रित हुए। हे पृथ्वीनाथ ? उन सबोंने अलौकिक कार्य देखकर अचरज माना और सब लोग देवतों की उपासना करने लगे। आगे यह पूछने लगे; कि "आज राक्षसको भोजन देनेकी किसकी बारी थी' अन्तमें सब ठीक जान कर सबोंने उस ब्राह्मण के पास जाकर विशेष समाचार पूछा। (१२–१४)

सम्पूर्ण नगरवालोंके ब्राह्मणसे बार बार पूछने पर विप्रेन्द्र पाण्डवोंको गोपन करनेके लिये बोले, कि मैं राक्षसका भोजन देनेकी आज्ञा पाकर बन्धुओंके साथ रो रहा था, कि ऐसे समयमें एक मन्त्रज्ञ सिद्ध महात्मा ब्राह्मण मुझको उस दशामें देखकर प्रश्न करके इस नगरके घोर क्लेशके वृत्तान्तसे ज्ञात होकर ढाढस देकर हंसते हुए बोले, कि मैं उस दुरात्मा के निकट यह अन्न ले जाऊंगा, मेरे लिये कुछ भय मत करना। यह कहकर वह अन्न लेकर राक्षस बकके वनमें गये थे। इसमें सन्देह नहीं है, कि उन्होंनेही लोकोंके हित के निमित्त यह काम किया होगा। १५-१९

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥ २० ॥
ततो जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति ।
तदद्भुततमं दृष्ट्वा पार्थास्तत्रैव चाऽवसन् ॥ २१ ॥ [६४७६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि बकवधपर्वणि बकवधे षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

समाप्तं चेदं बकवधपर्व ।

अथ चैत्ररथपर्व ।

जनमेजय उवाच—ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम् ।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन्किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—तत्रैव न्यवसन्राजन्निहत्य बकराक्षसम् ।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २ ॥
ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
प्रतिश्रयार्थी तद्वेश्म ब्राह्मणस्याऽजगाम ह ॥ ३ ॥
स सम्यक्पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा ।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै तदा सर्वातिथिव्रतः ॥ ४ ॥
ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः ।

उपासाश्च रामं शुश्राव दित्सन्तं वसु सर्वशः॥ ८ ॥
कथयामास्थितं रामं भरद्वाजसुतोऽब्रवीत् ।
राज्ञश्च वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तम॥ ९ ॥
स तत्राऽमेवाऽस्य मया समवगोपिनम् ।
पाश्वालेष्वा शरीरं वा ब्रह्मन्नेकतमं वृणु ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नस्चैव सर्वाणि तेषां संहारमेव च ।
अयोनिज्य सर्वेषां दातुमर्हति मे भवान् ॥ ११ ॥
तद्भुततथा ततस्तस्मै प्रददौ भृगुनन्दनः ।
विस्तरेणं तदा द्रोणः कृतकृत्योऽभवत्तदा ॥ १२ ॥

पाण्डवा ऊचुः— कथं द्रुपना द्रोणो रामात्परमसंमतम् ।
वेदीमध्यममनुज्ञाप्य नरेष्वभ्यधिकोऽभवत्॥ १३ ॥
कथं द्रोणामासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
कथं विप्र नृपव्याघ्रः सखायं विद्धि मामिति ॥ १४ ॥

वैशंपायन उवाच—एवं नैश्चोयः श्रोत्रियस्य नाऽरथी रथिनः सखा ।
कथयामापार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते
द्रौपदीर कुछ देकर
व भरद्वाज-
मब कथा सुननेके अभिलाषी द्विजोत्तम! का आदर किया। (२—५) प्रार्थनासे
वह भांति भांतिके आश्चर्य है—९)
तीर्थ, सरोवर, अनेक आश्रमोंमें सब वृत्तान्त और नाना नगरोंकी सैर शरीर ने लगे। हे जनमेजय! उस तएव चाहे कथा पूरी होनेके कालमें पाञ्च शरीर इन याज्ञसेनीके अलौकिक स्वयंवरगे। द्रोण तथा शिखण्डिका जन्म और र उपसंहारके के महायज्ञमें कृष्णा की उत्पत्ति; ब्राह्मण सब बातोंका समाचार दिया। ("तथास्तु"
पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डवगण ब्रह्मपूर्ण अस्त्र दे दिये। द्रोणने उनको लेकर अपनेको कृतार्थ समझा। वह रामसे परम संमत ब्रह्मास्त्र पाकर और सब अस्त्रोंके पानेसे अधिक प्रसन्न हुए। (१०—१२)

अनन्तर प्रतापी पुरुषेन्द्र भरद्वाजनन्दनने द्रुपदके निकट जाकर कहा, कि मैं तुम्हारा मित्र हूं, द्रुपदने उत्तर दिया कि जो श्रोत्रिय नहीं है, वह कभी श्रोत्रियका मित्र नहीं हो सकता ; जो रथी नहीं है, वह कभी रथीका मित्र नहीं हो सकता ; और जो स्वयं राजा नहीं है, वह कभी राजाका मित्र नहीं हो सकता अतएव तुम क्यों मित्र कहकर पुकार रहे हो ? (१३-१५)

अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन त्वया सह ।
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याऽहमुत्तरे ॥ २५ ॥

ब्राह्मण उवाच— एवमुक्तो हि पाञ्चाल्यो भारद्वाजेन धीमता ।
उवाचाऽस्त्रविदां श्रेष्ठो द्रोणं ब्राह्मणसत्तमम् ॥ २६ ॥
एवं भवतु भद्रं ते भारद्वाज महामते ।
सख्यं तदेव भवतु शश्वद्यदभिमन्यसे ॥ २७ ॥
एवमन्योन्यमुक्त्वा तौ कृत्वा सख्यमनुत्तमम् ।
जग्मतुर्द्रोणपाञ्चाल्यौ यथागतमरिन्दमौ ॥ २८ ॥
असत्कारः स तु महान्मुहूर्तमपि तस्य तु ।
नापैति हृदयाद्राज्ञो दुर्मनाः स कृशोऽभवत् ॥ २९ ॥[६५१७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवेऽष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

ब्राह्मण उवाच— अमर्षी द्रुपदो राजा कर्मसिद्धान्द्विजर्षभान् ।
अन्विच्छन्परिचक्राम ब्राह्मणावसथान्बहून् ॥ १ ॥
पुत्रजन्म परीप्सन्वै शोकोपहतचेतनः ।

कि हे नरनाथ ! मै फिर तुमसे मित्रता चाहता हूं, पर इस समय मै राजा हूं, तुम राजा नहीं हो, राजा न होनेसे राजासे मित्रता नहीं हो सकती, इस लिये तुम्हारे साथ एकत्र राज्य करनेके विषयमें यह निश्चय किया है, कि तुम भी भागीरथीके दक्षिण किनारेका राजा होओ और मै उत्तर किनारेका होऊं। (२१—२५)

ब्राह्मण बोले, कि तब पाञ्चालराज, अस्त्रविद्यामें पण्डित, द्विजवर धीमान् द्रोण की वह बात सुनकर बोले, कि हे महामति भारद्वाज ! तुम्हारा मंगल होवे, तुमने जैसा समझ लिया है वही हो, कि मेरे साथ तुम्हारी मित्रता सदा बनी रह। शत्रुनाशी द्रोण और राजा पाञ्चाल एक दूसरे से ऐसा कहकर अनुत्तम मिलना निश्चय कर निज निज स्थानको चले गये पर राजा द्रुपदके हृदयसे वह बडा अपमान क्षणभरके लियेभी दूर नहीं हुआ, वह उसके सोचसे अति दुःखी और दुबले होने लगे। (२६–२९) [६५१७]

आदिपर्वमें एकसौ अडसठ अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ उनहत्तर अध्याय।

ब्राह्मण बोले, कि राजा द्रुपद दुःख और शोकसे विकल होकर योग्य पुत्र पानेकी अभिलाषासे, कर्ममें सिद्ध अच्छे ब्राह्मणोंको ढूंढते हुए एक आश्रमसे दूसरेमें जाने लगे। यह चिन्ता, कि मेरी अच्छी

नास्ति श्रेष्ठमपत्यं मे इति नित्यमचिन्तयत् ॥ २ ॥
जातान्पुत्रान्स निर्वेदाद्धिग्बन्धूनिति चाऽब्रवीत् ।
निःश्वासपरमश्चाऽऽसीद् द्रोणं प्रतिचिकीर्षया ॥ ३ ॥
प्रभाव विनयं शिक्षां द्रोणस्य चरितानि च ।
क्षात्रेण च बलेनाऽस्य चिन्तयन्नाऽध्यगच्छत ।
प्रतिकर्तुं नृपश्रेष्ठो यतमानोऽपि भारत ॥ ४ ॥
अभितः सोऽथ कल्माषीं गङ्गाकूले परिभ्रमन् ।
ब्राह्मणावसथं पुण्यमाससाद महीपतिः ॥ ५ ॥
तत्र नाऽस्नातकः कश्चिन्न चाऽऽसीदव्रती द्विजः ।
तथैव च महाभागः सोऽपश्यत्संशितव्रतौ ॥ ६ ॥
याजोपयाजौ ब्रह्मर्षी शाम्यन्तौ परमेष्ठिनौ ।
संहिताध्ययने युक्तौ गोत्रतश्चापि काश्यपौ ॥ ७ ॥
तारणेयौ युक्तरूपौ ब्राह्मणावृषिसत्तमौ ।
स तावामन्त्रयामास सर्वकामैरतन्द्रितः ॥ ८ ॥
बुद्ध्वा बलं तयोस्तत्र कनीयांसमुपह्वरे ।
प्रपेदे छन्दयन्कामैरुपयाजं धृतव्रतम् ॥ ९ ॥

सन्तान नहीं है उनके हृदयमें सदा जलती थी। वह अपने अनादरके कारण अपने पुत्रों और मित्रोंको धिक्कारते हुए द्रोणका बदला लेनेके लिये सदा लम्बी साँस छोड़ा करते थे। वह बदला लेनेको चाहने पर भी सोचकर निश्चय नहीं कर सके कि क्षत्रिय बलसे क्योंकर द्रोणके प्रभाव, नम्रता, शिक्षा और चरित्रमें बढ़ सकते हैं। १—४।

उनमें याज और उपयाज नामक व्रतशील, समगुणी, ब्रह्मर्षि, संहिता पाठमें निपुण, काश्यप गोत्रवाले सूर्य के उपासक सुन्दर रूपवाले ऋषियों में श्रेष्ठ दो ब्रह्मर्षियोंको देखकर उनकी इच्छानुरूप कार्य पूरा करनेके योग्य समझा। ७—८

पादशुश्रूषणे युक्तः प्रियवाक्सर्वकामदः ।
अर्चयित्वा यथान्यायमुपयाजमुवाच सः ॥ १० ॥
येन मे कर्मणा ब्रह्मन्पुत्रः स्याद् द्रोणमृत्युकः ।
उपयाज कृते तस्मिन्गवां दाताऽस्मि तेऽर्बुदम् ॥ ११ ॥
यद्वा तेऽन्यद् द्विजश्रेष्ठ मनसः सुप्रियं भवेत् ।
सर्वं तत्ते प्रदाताऽहं न हि मेऽत्राऽस्ति संशयः ॥ १२ ॥
इत्युक्तो नाऽहमित्येवं तमृषिः प्रत्यभाषत ।
आराधयिष्यन्द्रुपदः स तं पर्यचरत्पुनः ॥ १३ ॥
ततः संवत्सरस्यान्ते द्रुपदं स द्विजोत्तमः ।
उपयाजोऽब्रवीत्काले राजन्मधुरया गिरा ॥ १४ ॥
ज्येष्ठो भ्राता ममाऽगृह्णाद्विचरन्गहने वने ।
अपरिज्ञातशौचायां भूमौ निपतितं फलम् ॥ १५ ॥
तदपश्यमहं भ्रातुरसांप्रतमनुव्रजन् ।
विमर्शं संकरादाने नाऽयं कुर्यात्कदाचन ॥ १६ ॥
दृष्ट्वा फलस्य नाऽपश्यद्दोषान्पापानुबन्धकान् ।
विविनक्ति न शौचं यः सोऽन्यत्रापि कथं भवेत् ॥ १७ ॥

दिखा, पांव दाब, मीठी बात कह, अभिलाषा पूरी कर इत्यादि उपायोंसे उन व्रतशील उपयाजको प्रसन्न करने लगे; एक समय द्रुपद विधिपूर्वक उपयाजको पूजा कर बोले, कि हे ब्रह्मन् उपयाज! यदि आप यह कर्म करें, कि जिसके करने से मेरे द्रोणनाशी पुत्रका जन्म हो, तो मैं आपको एक अर्बुद गौ दूंगा। हे द्विजश्रेष्ठ! यदि आपकी और किसी वस्तुकी अभिलाषा हो, तो इसमें संदेह नहीं है, कि उसेभी पूराकर दूंगा। (९—१२)

ऋषि बोले, कि मैं यह काम नहीं कर सकूंगा। द्रुपद तिस परभी उन ऋषिकी उपासनाके लिये फिर सेवा करने लगे। अनन्तर एक वर्ष बीतने पर एकदिन द्विजोत्तम उपयाजने राजा द्रुपदको मीठी बातोंसे कहा, कि एक समय मेरे ज्येष्ठ भाईने घने वनमें चलते समय ऐसे स्थानसे गिरा हुआ फल उठा लिया, कि वह नहीं जानते थे, कि वह स्थान पवित्र है वा नहीं। मैं उनके पीछे चलता था, सो उन्हें उस अयोग्य कामको करते देखा था। (१३–१६)

हे राजन्! उन्होंने उस दोषयुक्त वस्तुके लेनेमें कोई विचार नहीं किया। उस फलको देखतेही उसके पापयुक्त

संहिताध्ययनं कुर्वन्वसन्गुरुकुले च यः ।
भैक्ष्यमुत्सृष्टमन्येषां भुङ्क्ते स्म च यदा तदा १८ ॥
कीर्तयन्गुणमन्नानामघृणी च पुनः पुनः ।
तं वै फलार्थिनं मन्ये भ्रातरं तर्कचक्षुषा ॥ १९ ॥
तं वै गच्छस्व नृपते स त्वां संयाजयिष्यति ।
जुगुप्समानो नृपतिर्मनसेदं विचिन्तयन् ॥ २० ॥
उपयाजवचः श्रुत्वा याजस्याऽऽश्रममभ्यगात् ।
अभिसंपूज्य पूजार्हमथ याजमुवाच ह ॥ २१ ॥
अयुतानि ददान्यष्टौ गवां याजय मां विभो ।
द्रोणवैराभिसंतप्तं प्रह्लादयितुमर्हसि ॥ २२ ॥
स हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ब्रह्मास्त्रे चाऽप्यनुत्तमः ।
तस्माद् द्रोणः पराजैष्ट मां वै स सखिविग्रहे २३ ॥
क्षत्रियो नास्ति तुल्योऽस्य पृथिव्यां कश्चिदग्रणीः ।
कौरवाचार्यमुख्यस्य भारद्वाजस्य धीमतः ॥ २४ ॥

दोषको समझ उनकी बुद्धिमें एकबार भी नहीं आयी; अतएव जिन्होंने एक स्थानमें सोचकर विचार नहीं किया, वह अन्य स्थानमें क्योंकर दोष-दर्शी होयंगे. अर्थात् वह तुम्हारे अभीष्ट विषयमें दोष नहीं देख पावेंगे। और भी जब वह गुरु

राजा द्रुपद याजके चरित्रको सुन निन्दा करनेकी इच्छा होने पर भी मनही मनमें अपने कार्यके सोचसे उपयाजकी बातसे उनके आश्रमको गये। वहां पहुंचकर पूज-नीय याजको सब प्रकारसे पूज कर बोले, कि हे विभो ! मैं आपको अस्सी सहस्र

द्रोणस्य शरजालानि प्राणिदेहहराणि च ।
पडरत्नि धनुश्चास्य दृश्यते परमं महत् ॥ २५ ॥
स हि ब्राह्मणवेषेण क्षात्रं वेगमसंशयम् ।
प्रतिहन्ति महेष्वासो भारद्वाजो महामनाः ॥ २६ ॥
क्षत्रोच्छेदाय विहितो जामदग्न्य इवाऽऽस्थितः ।
तस्य ह्यस्त्रबलं घोरमप्रधृष्यं नरैर्भुवि ॥ २७ ॥
ब्राह्मं संधारयंस्तेजो हुताहुतिरिवाऽनलः ।
समेत्य स दहत्याजौ क्षात्रधर्मपुरःसरः ॥ २८ ॥
ब्रह्मक्षत्रे च विहिते ब्राह्मं तेजो विशिष्यते ।
सोऽहं क्षात्रबलाद्धीनो ब्राह्मं तेजः प्रपेदिवान् ॥२९ ॥
द्रोणाद्विशिष्टमासाद्य भवन्तं ब्रह्मवित्तमम् ।
द्रोणान्तकमहं पुत्रं लभेयं युधि दुर्जयम् ॥ ३० ॥
तत्कर्म कुरु मे याज वितराम्यर्बुदं गवाम् ।
तथेत्युक्त्वा तु तं याजो याज्यार्थमुपकल्पयत् ॥ ३१॥
गुर्वर्थ इति चाऽकाममुपयाजमचोदयत् ।
याजो द्रोणविनाशाय प्रतिजज्ञे तथा च सः ॥ ३२ ॥

उसका धनुष छः अरत्निके समान बडा है; उनका बाण जाल सब जीवोंकेही शरीर का नाश कर सकता है। इसमें संदेह नहीं है, कि वह महानुभव भारद्वाज ब्राह्मण के वेशसे बडे चापधारी होकर क्षत्रिय-तेजका सत्यानाश कर रहे है। वह क्षत्रिय नाशके लिये मानो दूसरे परशुराम बने है। इस पृथ्वीभरमें कोईभी उनके कठोर अस्त्रबलको घटा नहीं सकता है। वह आहुतियुक्त प्रज्वलित अग्निकी भांति ब्राह्मतेजके साथ साथ क्षत्रियतेजको मिलाकर शत्रुको जला मारते है। (२५-२८)

उनका ब्राह्मतेज क्षत्रियतेजमें मिलकर श्रेष्ठ होने परभी आपका ब्राह्मतेज उनसे श्रेष्ठ है, और केवल क्षत्रियबलधारी मै उनसे हीन बना हूं; अतएव मै आपको जो द्रोणसे श्रेष्ठ और वेदके अच्छे जानकार है, प्राप्त होकर आपके ब्राह्मतेजकी शरण लेता हू। हे याज ! यह काम करें, कि जिससे मै लडाईमें जयके अयोग्य और द्रोणनाशी पुत्र लाभ कर सकूं; आपको दश कोटि गोदान करनेको प्रस्तुत हूं। (२९—३१)

याज तथास्तु कहकर यागके प्रयोगके विषयमें मनही मनमें ध्यान करने लगे; और उस कार्यको कठिन जानके। निष्काम

ज्वालावर्णो घोररूपः किरीटी वर्म चोत्तमम् ।
बिभ्रत्सखड्गः सशरो धनुष्मान्विनदन्मुहुः ॥ ४० ॥
सोऽध्यारोहद्रथवरं तेन च प्रययौ तदा ।
ततः प्रणेदुः पाञ्चालाः प्रहृष्टाः साधुसाध्विति ॥ ४१॥
हर्षाविष्टांस्ततश्चैतान्नेयं सेहे वसुंधरा ।
भयापहो राजपुत्रः पाञ्चालानां यशस्करः ॥ ४२ ॥
राज्ञः शोकापहो जात एष द्रोणवधाय वै ।
इत्युवाच महद्भूतमदृश्यं खेचरं तदा ॥ ४३ ॥
कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात्समुत्थिता।
सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायतलोचना ॥ ४४ ॥
श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूश्चारुपीनपयोधरा ॥ ४५ ॥
मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षादमरवर्णिनी ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात्प्रधावति४६ ॥
या बिभर्ति परं रूपं यस्या नाऽस्त्युपमा भुवि ;

कवचयुक्त धनुषबाणधारी और देवसदृश एक कुमार उत्पन्न हुआ। वह कुमार जन्म लेतेही बार बार सिंह-गर्जन करता हुआ प्रधान रथ पर चढ गया और उस रथ पर इधर उधर जाने लगा। यह देखकर पाञ्चाललोग आनन्दित होके इतना चिल्ला कर " साधु साधु "कहके ऐसा भारी शब्द करने लगे,कि मानो धरती उन हर्षयुक्त पाञ्चालोंका भार संभालनेको असमर्थ होगयी। (३९-४२)

तब आकाशवाणी हुई, कि " इस राज-कुमारने द्रोणवधके लिये जन्म लिया है। यह पुत्र पाञ्चालोंका यश बढानेवाला, भयनाशी और राजाका शोक दूर करने-वाला होगा।" आगे वेदीके मध्यसे पाञ्चालराजकुमारी सौभाग्यवती श्यामा-ङ्गी एक कुमारी उठी। उस कन्याके अङ्गोंकी शोभा बहुत सुन्दर, दोनो आंखे नीली, चौडी और पद्मपलाशके समान, केश काले और घुंघराले,नख ऊंचे और तामेके रङ्गके,दोनो भौंहे बडी शोभा देनेवाली, और स्तन बडे तथा शोभायुक्त थे; उसकी शोभा देखकर समझ पडती थी, कि मानो साक्षात् देवकन्या मानवीके स्वरूपमें प्रगट हुई थी। उसकी नीलपद्म समान देहकी गन्ध कोस भरकी दूरीतक पहुंचने लगी। यह देवरूपिणी कन्या ऐसी अनुपम रूप-

धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यमानीय स्वं निवेशनम् ।
उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५७ ॥
अमोक्षणीयं दैवं हि भावि मन्वा महामतिः ।
तथा तत्कृतवान्द्रोण आत्मकीर्त्यनुरक्षणात् ॥५६॥ [६५७३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
चैत्ररथपर्वण्यूनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयाः शल्यविद्धा इवाऽभवन् ।
सर्वे चाऽस्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः ॥ १ ॥
ततः कुन्ती सुतान्दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी ॥ २ ॥

कुन्त्युवाच— चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने ।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्ष्या महात्मनः ॥ ३ ॥
यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिंदम ॥ ४ ॥
पुनर्द्रष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा ।
भैक्ष्यं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

ऐसे पुत्र और कन्याकी उत्पत्ति हुई थी। (५१—५४)

अनन्तर प्रतापी भारद्वाज द्रोणने पाञ्चालराजके पुत्र धृष्टद्युम्नको अपने घरमें लाकर अस्त्रोंकी शिक्षा देकर पहिले लिये हुए आधे राज्यको लेनेके पलटेमें उपकार किया। महामति द्रोणने यह समझ कर, कि दैवीभाव लङ्घनयोग्य नहीं है, अपनी कीर्तिकी रक्षाके लिये ऐसा कार्य किया। (५७–५६) [६५७३]

आदिपर्वमें एकसौ उनहत्तर अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ सत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर महाबली पाण्डवगण वह वृत्तान्त सुनकर शूलीसे विधे जानेकी भांति दुःखी भये। सत्य कहनेवाली कुन्ती पुत्रोंको अनमन देख कर युधिष्ठिरसे बोली, कि हमको इस ब्राह्मणके घर रहे बहुत दिन बीते। इस सुन्दरनगरमें महात्माओंसे भिक्षा ले ले कर खेल कूदकर काल गंवाया है, यहां जितने सुन्दर सुन्दर वन और उपवन है, वह सभी बार बार देख चुके है। हे वीर कुरुनन्दन! उन स्थानोंको फिर देखनेकी अब वैसी प्रीति नहीं होती, और एक स्थानमें रहनेसे वैसी भिक्षा मिलनेकी भी संभावना

तमागतमभिप्रेक्ष्य प्रत्युद्गम्य परंतपाः ।
प्रणिपत्याऽभिवाद्यैनं तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २ ॥
समनुज्ञाप्य तान्सर्वानासीनान्मुनिरब्रवीत् ।
प्रच्छन्नं पूजितः पार्थैः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३ ॥
अपि धर्मेण वर्तध्वं शास्त्रेण च परंतपाः ।
अपि विप्रेषु पूजा वः पूजार्हेषु न हीयते ॥ ४ ॥
अथ धर्मार्थवद्वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
व्यास उवाच— आसीत्तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः।
विलग्नमध्या सुश्रोणी सुभ्रूः सर्वगुणान्विता॥ ६ ॥
कर्मभिः स्वकृतैः सा तु दुर्भगा समपद्यत ।
नाऽध्यगच्छत्पतिं सा तु कन्या रूपवती सती॥ ७ ॥
तपस्तप्तुमथाऽऽरेभे पत्यर्थमसुखा ततः ।
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ॥ ८ ॥
तस्याः स भगवांस्तुष्टस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मीति शंकरः ॥ ९ ॥

कर बस रहे थे, तब एक दिन सत्यवती के पुत्र व्यासजी उनकी भेटके लिये आये। शत्रुनाशी पाण्डव गण उनको आते देखकर उठकरके प्रणाम दण्डवत पूर्वक दोनो हाथ जोड करके खडे रहे। आगे उनकी आज्ञामे वे सब बैठ गये। वह उनसे पूजे जाकर प्रीतिपूर्वक यह बोले, कि हे शत्रुनाशियो ! तुम धर्ममार्ग में रहकर शास्त्रके अनुसार अपनी जीविका कर लेते हो न? पूजनीय ब्राह्मण लोग तुमसे पूजे तो जाते है ? (१-४)

अनन्तर भगवान कृष्णद्वैपायन धर्मार्थयुक्त भांति भांतिकी विचित्र कथा कह कर फिर यह कहने लगे, कि एक तपोवनमे किसी महात्मा ऋषिकी एक कन्या थी; उनकी कमर पतली और भोंह अच्छी थी और वह बडी सुंदरी और सर्व गुणोसे सुहावनी थी ! ऋषि-कन्या अपने कर्मवश अभागी भई थी, सती और रूपवती होने पर भी पति नही मिला, अनन्तर वह चित्तमें दुःख मान कर पति पानेके लिये तप करने लगी। आगे कडी तपस्यासे भगवान् शंकरको संतुष्ट करने पर शङ्कर प्रसन्न होकर बोले, कि हे भद्रे ! मै, शंकर तुमको वर देनेको उद्यत हुआ हूं, वर

अथेश्वरमुवाचेदमात्मनः सा वचो हितम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ १० ॥
तामथ प्रत्युवाचेदमीशानो वदतां वरः ।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति भारत ॥ ११ ॥
एवमुक्ता ततः कन्या देवं वरदमब्रवीत् ।
एकमिच्छाम्यहं देव त्वत्प्रसादात्पतिं प्रभो ॥ १२ ॥
पुनरेवाऽब्रवीद्देव इदं वचनमुत्तमम् ॥ १३ ॥
पञ्चकृत्वस्त्वया ह्युक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः ।
देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद्भविष्यति ॥ १४ ॥
द्रुपदस्य कुले जज्ञे सा कन्या देवरूपिणी ।
निर्दिष्टा भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ॥ १५ ॥
पाञ्चालनगरं तस्मान्निवसध्वं महाबलाः ।
सुखिनस्तामनुप्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥ १६ ॥
एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवानां पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥ १७ ॥ [६६०१]

वैशम्पायन उवाच– गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः ।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ॥ १ ॥
आमन्त्र्य ब्राह्मणं पूर्वमभिवाद्याऽनुमान्य च ।
समैरुदङ्मुखैर्मार्गैर्यथोद्दिष्टं परंतपाः ॥ २ ॥
ते त्वगच्छन्नहोरात्रात्तीर्थं सोमाश्रयायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥ ३ ॥
उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनञ्जयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ॥ ४ ॥
तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन्स्त्रियः ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ॥ ५ ॥
शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम् ।
तेन शब्देन चाऽविष्टश्चुक्रोध बलवद्बली ॥ ६ ॥
स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परन्तपान् ।
विस्फारयन्धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥
सन्ध्या संरज्यते घोरा पूर्वरात्रागमेषु या ।
अशीतिभिर्लवैर्हीनं तन्मुहूर्तं प्रचक्षते ॥ ८ ॥
विहितं कामचाराणां यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ।

आदिपर्वमें एकसौ बहत्तर अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि भगवान् व्यासके चले जाने पर पुरुषश्रेष्ठ शत्रुनाशी पाण्डवगण ब्राह्मणको नमस्कार पूर्वक सत्कार करके प्रसन्न चित्तसे माताको आगे करके पांचाल नगरकी ओर चले। वे अपने उद्देशके अनुसार सीधे उत्तर ओर को चलकर उस सोमाश्रयायण नामक तीर्थमें जा पहुंचे कि जहां भगवान चन्द्र शेखर विराजते हैं। वहां दिन बीतने पर महारथी धनञ्जय पथ दिखाने और रक्षा के लिये एक जलती हुई लकडी उठाकर आगे आगे चले, आगे पुरुषव्याघ्र पाण्डव लोग गङ्गा तट पर जा पहुचे। वहां ईर्षासे भरा हुआ एक गंधर्वराज जलक्रीडाके लिये आकर सुंदर भागीरथी जलमें स्त्रियों के संग निरालेमें खेल रहा था। (१-५)

पाण्डवगण उस नदीमें उतर रहे थे, कि उस महाबली गन्धर्वराजको उनका शब्द मिला और वह क्रोधसे जल उठे। अनन्तर शत्रुनाशी पाण्डवोंको माताके साथ आते देखकर कठोर शरासनको फैलाकर बोले, कि रात्रि आनेके पहिले जो घोर लाल सन्ध्याकाल होता है

शेषमन्यन्मनुष्याणां कर्मचारेषु वै स्मृतम् ॥ ९ ॥
लोभात्प्रचारं चरतस्तासु वेलासु वै नरान् ।
उपक्रान्ता निगृह्णीमो राक्षसैः सह बालिशान् ॥ १० ॥
अतो रात्रौ प्राप्नुवतो जल ब्रह्मविदो जनाः ।
गर्हयन्ति नरान्सर्वान्बलस्थान्नृपतीनपि ॥ ११ ॥
आरात्तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत ।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथीजलम् ॥ १२ ॥
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम् ।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा ॥ १३ ॥
अङ्गारपर्णमित्येवं ख्यातं चेदं वनं मम ।
अनुगंगां चरन्कामांश्चित्रं यत्र रमाम्यहम् ॥ १४ ॥
न कौणपाः शृङ्गिणो वा न देवा न च मानुषाः ।
इदं समुपसर्पन्ति तत्किं समुपसर्पथ ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच — समुद्रो हिमवत्पार्श्वे नदीयमिति दुर्मते ।
रात्रावहनि संध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः ॥ १६ ॥

भुक्तो वाप्यथ वाऽभुक्तो रात्रावहनि खेचर ।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम् ॥१७॥
वयं च शक्तिसंपन्ना अकाले त्वामधृष्णुम ।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः ॥१८॥
पुरा हिमवतश्चैषा हेमशृङ्गाद्विनिःसृता ।
गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा समपद्यत ॥ १९ ॥
गङ्गां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम् ।
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा ॥ २० ॥
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये ।
इयं भूत्वा चैकवप्रा शुचिराकाशगा पुनः ।
देवेषु गङ्गा गन्धर्व प्राप्नोत्यलकनन्दताम् ॥ २१ ॥
तथा पितॄन्वैतरणी दुस्तरा पापकर्मभिः ।
गङ्गा भवति वै प्राप्य कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत ॥ २२ ॥
असंबाधा देवनदी स्वर्गसंपादनी शुभा ।
कथमिच्छसि तां रोद्धुं नैष धर्मः सनातनः ॥ २३ ॥
अनिवार्यमसंबाधं तव वाचा कथं वयम् ।

हिमाचलका पार्श्व और गंगाजी यह सब स्थान, चाहे दिन रात वा सन्ध्या समय हो, किसके लिये रुके रह सकते हैं ? ए व्योमचर ! चाहे पेटभरा वा पेट खाली हो, किसीके लिये दिन वा रात्रि किसी समय जलभरी गंगाजी पर आनेका प्रतिबंध नहीं है। विशेष कुसमयमें तुमको चिढानेसे हमको क्या हो सकता है? क्योंकि हममें शक्ति है। रे कुटिल ! जो लोग लडने में असमर्थ हैं, वे ही तुम्हारी पूजा करते हैं। पूर्वकालमें यह गङ्गा हिमाचलकी सुवर्ण चोटीसे निकल कर सात भागोंमें बटके समुद्र-जलमें मिल गयी है। जो लोग गङ्गा, यमुना, प्लक्षजाता, सरस्वती, रथस्था, शरयू, गोमती और गण्डकी इन सात नदियोंका जल पीते हैं, उसके सब पाप कट जाते है। (१६—२१)

ए गन्धर्व ! आकाशमें बहने वाली पवित्र यह गङ्गा आकाशमें जाकर देवलोक में अलकनन्दा नामसे और पितृलोकमें पापात्माओं को तारने वाली वैतरणी नाम से प्रसिद्ध हुई है। कृष्णद्वैपायनने कहा है, कि स्वर्ग तथा शुभदेनेवाले इस सुर-सोतेमें जानेकी किसीको मनाही नहीं है; तुम उस विनबाधाकी गङ्गाजीको क्या रोकना चाहते हो? यह सनातन धर्म नहीं है,

अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥ ३२ ॥
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनञ्जयः ।
भ्रातॄन्प्रति चकर्षाऽथ सोऽस्त्रपाताद‍चेतसम् ॥ ३३ ॥
युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी ।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥ ३४ ॥
गन्धर्व्युवाच— त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे ।
गन्धर्वी शरणं प्राप्ता नाम्ना कुम्भीनसी प्रभो ॥ ३५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम् ।
को निहन्याद्रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥ ३६ ॥
अर्जुन उवाच— जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः ।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥
गन्धर्व उवाच— जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यंगारपर्णताम् ।
न च श्लाघे बलेनांग न नाम्ना जनसंसदि ॥ ३८ ॥
साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम् ।

प्रसिद्ध रथको भस्म किया। वह महाबली गन्धर्व अग्न्यस्त्रके प्रभावसे रथसे च्युत होकर नीचे मुहकर धरती पर गिर रहे थे, कि अर्जुनने उनके मालाओंसे सजे सजाये केश पकड लिये; और अस्त्रकी चोटसे अचेत उस गन्धर्वको खींच कर भाइयोंके पास ले आये। अनन्तर उस गन्धर्वकी कुंभीनसी नाम्नी स्त्री पतिकी रक्षाके लिये युधिष्ठिरकी शरण लेकर बोली, हे महाभाग! मेरी रक्षा करें, मेरे पतिको छोड दें। हे प्रभो! मेरा नाम कुम्भीनसी है, मैं गन्धर्वी हू; आपकी शरण लेती हूं। (३०-३५)

तब युधिष्ठिर अर्जुनसे बोले, कि हे शत्रुमथनेहारे! जो शत्रु युद्धमें हार कर पराक्रम और यशसे रहित होकर स्त्रीसे बचाया जाता है उसको कौन मार सकता है? भैया! तुम इसको छोड दो। अनन्तर अर्जुन गन्धर्वसे बोले, कि गन्धर्व! तुमको जीवन मिल गया, चले जाओ, शोक मत करना। आज कुरुराज युधिष्ठिरने तुमको बचानेकी आज्ञा दी है। गन्धर्व बोले, कि मेरा पर्ण अर्थात् वाहन प्रज्वलित अङ्गारकी भांति दूसरोंके छूनेके अयोग्य था, इस लिये मै अङ्गारपर्ण नामसे प्रख्यात था; अब तुमसे हार कर यह अङ्गारपर्ण नाम छोड देता हू, क्योंकि जब जनसमाजमे बल और वीर्यका मानही नहीं रहा, तब केवल नामके माननीय बने रहनेसे प्रयोजन ही क्या है? (३६-३८)

आज मुझे यह एक परम लाभ हुआ,

गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ॥ ३९॥
अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः ।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ४० ॥
संभृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा ।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥ ४१ ॥
संस्तम्भयित्वा तरसा जितं शरणमागतम् ।
यो रिपुं योजयेत्प्राणैः कल्याणं किं न सोऽर्हति॥४२॥
चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः ।
ददौ स विश्वावसवे मम विश्वावसुर्ददौ ॥ ४३ ॥
सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति ।
आगमोऽस्या मया प्रोक्तो वीर्यं प्रति निबोध मे॥४४॥
यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन ।
तत्पश्येद्यादृशं चेच्छेत्तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥ ४५ ॥
एकपादेन षण्मासान्स्थितो विद्यां लभेदिमाम् ।
अनुनेष्याम्यहं विद्यां स्वयं तुभ्यं व्रते कृते॥ ४६ ॥

मुझको दिव्यास्त्र धरनेवाला मित्र मिल गया, आज मुझे मित्र अर्जुनको गान्धर्वी मायाकी विद्या देनेकी इच्छा हो रही है। मेरा उत्तम विचित्र रथ था,सो मैं चित्र-रथ करके प्रसिद्ध था, अब वह रथ अ-स्त्राग्निसे जल गया,अतएव चित्ररथ होने पर भी,अब मुझको दग्धरथ नाम मिला। हे मित्र ! मैंने पहिले तपस्यामें जो गां-धर्वी विद्या लाभ की थी, आज वह विद्या तुमको देता हूं, क्यो कि तुम मेरे प्राणदाता और महात्मा हो । जो बलसे शत्रुको हराते मोहित करते और उस हारे हुए मोहित शत्रुके शरण लेने पर उसका प्राण दे देते है, वह अ-वश्यही कल्याण पानेके योग्य हैं। (३९—४२)

उस विद्याका नाम चाक्षुषी है;भगवान मनुने वह विद्या सोमको दी थी, सोमने विश्वावसुको दी और मुझको विश्वावसुसे मिली । पर वह गुरुकी दी हुई विद्या बुरे मनुष्य के हाथसे नष्ट हो जाती है। इस चाक्षुषी विद्याके गुरुओंका सिलसिलेवार आगम-वृत्तान्त कहा, अब उसके वीर्यकी बात कहता हूं, सुनो । त्रिलोकभरमें चाहे जिस किसी पदार्थको आंखोंसे देखना चाहोगे, वही दीख पडेगा और उस पदार्थका स्वभाव और दशा जैसी है, वह भी देखना चाहो तो देख लोगे।

विद्यया त्वनया राजन्वयं नृभ्यो विशेषिताः ।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रदर्शिनः ॥ ४७ ॥
गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम ।
भ्रातृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम्॥४८॥
देवगन्धर्ववाहास्ते दिव्यवर्णा मनोजवाः ।
क्षीणाःक्षीणा भवन्त्येते न हीयन्ते च रंहसः॥४९॥
पुराकृतं महेन्द्रस्य वज्रं वृत्रनिबर्हणम् ।
दशधा शतधा चैव तच्छीर्णं वृत्रमूर्धनि ॥ ५० ॥
ततो भागीकृतो देवैर्वज्रभाग उपास्यते ।
लोके यशोधनं किंचित्सा वै वज्रतनुः स्मृता॥५१॥
वज्रपाणिर्ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रं वज्ररथं स्मृतम् ।
वैश्या वै दानवज्राश्च कर्मवज्रा यवीयसः ॥ ५२ ॥
क्षत्रवज्रस्य भागेन अवध्या वाजिनः स्मृताः ।

छःमास एक पांवके बल खडे रह कर तप करनेसे वह विद्या मिलती है, पर तुम्हारे उस व्रतको न किये रहने परभी मै उसे तुमको दूंगा । (४३–४६)

हे महाराज! हमलोग उस विद्याहीके बलसे अनुभवदर्शी हो कर मनुष्योंसे विशिष्ट और देवोंके सदृश हुए है । हे पुरुषश्रेष्ठ! फिर मै तुम और तुम्हारे भाइयोंमे हरेकको सौ सौ गन्धर्वज घोडे देता हूं; सुन्दर वर्ण और मन समान वेगवान वे घोडे देवता और गन्धर्वोंके वाहन है ; उनको युवावस्था वा बुढापा नही है ; वे कभी वेग रहित नही होते । पूर्वकालमें वृत्रासुरके मारनेके लिये देवराज महेन्द्रका वज्र बना था । वह वज्र वृत्रासुर के सिर पर गिर कर सहस्र भागोंमे बंट गया । (४७–५०)

देवगण वज्रके उन अनेक भागोंकी उपासना किया करते है । इन तीनो लोकोंमे यशरूपी धन उस वज्रका एक भाग है; ब्राह्मण गण जिस हाथसे अग्निमें आहुति चढाते है, उनका वह हाथ उस वज्रका एक भाग है; क्षत्रियगण जिस रथ पर चढकर लडाईमे देवता और ब्राह्मणोंके शत्रु नष्ट करते हैं, उनका रथ उस वज्रका एक भाग है; वैश्यगण देवता और ब्राह्मणोंको जो दान देकर सुखी होते है, उनका वह दानभी उस वज्रका एक भाग है; और शूद्रगण ब्राह्मणोंकी जो सेवा कर निज धर्मकी रक्षा करते है, उनकी वह सेवाभी उस वज्रका एक भाग है;अतएव घोडे क्षत्रियों

रथाङ्गं वडवा सूते शूराश्चाऽश्वेषु ये मताः ॥ ५३ ॥
कामवर्णाः कामजवाः कामतः समुपस्थिताः ।
इति गन्धर्वजाः कामं पूरयिष्यन्ति मे हयाः ५४॥

अर्जुन उवाच — यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा ।
विद्याधनं श्रुतं वापि न तद्गन्धर्व रोचये ॥ ५५ ॥

गन्धर्व उवाच— संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते ।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥ ५६ ॥
त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ।
तथैव योग्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

अर्जुन उवाच— त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान्संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ ।
सखे तद् ब्रूहि गन्धर्व युष्मभ्यो यद्भयं भवेत् ॥ ५८ ॥
कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद्येन स्म धर्षिताः ।
यान्तो वेदविदः सर्वे सन्तो रात्रावरिन्दमाः ॥५९ ॥

गन्धर्व उवाच— अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः ।

के वज्ररूपी रथके अङ्ग होनेके हेतु मारनेके अयोग्य करके कहे गये है। पर रथके अङ्ग घोडे, घोडियोंसे उपजते है, उनमें जो घोडे गन्धर्व लोकमे जन्म लेते है, वे सब शूर है और उन का वर्ण इच्छाधीन है, तथा वे मनमाने वेगवान और वशीभृत होते है, इस लिये मेरे उन घोडोंसे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। (५०-५४)

अर्जुन बोले, कि हे गन्धर्व ! तुम जीवन नष्ट होनेके भयसे बच जाने पर प्रसन्न होकर मुझको विद्या वा घोडे देनेको उद्यत हुए हो, तो मैं उन्हें नहीं लेना चाहता। गन्धर्व बोले, महानुभाव जनोंसे मिलनाही प्रीतियुक्त होता है, विशेष मैं जीवन पानेसे प्रसन्नभी हुआ हूं, इस लिये तुमको वह विद्या देता हूं! हे भरतश्रेष्ठ विभत्सो ! मैं जिस प्रकार तुमको वह विद्या दूंगा, वैसेही पलटेमें तुमसे सनातन उत्तम अग्न्यस्त्र लूंगा। अर्जुन बोले, कि हे गन्धर्व ! मैं अस्त्र देकर तुमसे घोडे मांगता हूं, हमारी मित्रता बनी रहे। हे मित्र गन्धर्व ! बोलो, कि गन्धर्वकी जातिसे मनुष्य की जातिको क्यों भय आ पहुंचता है; और यहभी कहो, कि हम सब शत्रुनाशी साधु और वेदज्ञ होने परभी रात्रिको चलते हुए क्यों तुमसे लाञ्छित हुए। (५५—५९)

गन्धर्व बोले, कि हे पाण्डवो ! तुम गुरुकुलसे लौट आये, पर तोभी विवाह

यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ॥६०॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पिशाचोरगदानवाः ।
विस्तरं कुरुवंशस्य धीमन्तः कथयन्ति ते ॥ ६१ ॥
नारदप्रभृतीनां तु देवर्षीणां मया श्रुतम् ।
गुणान्कथयतां वीर पूर्वेषां तव धीमताम् ॥ ६२ ॥
स्वयं चापि मया दृष्टश्चरता सागराम्बराम् ।
इमां वसुमतीं कृत्स्नां प्रभावः सुकुलस्य ते ॥ ६३ ॥
वेदे धनुषि चाऽऽचार्यमभिजानामि तेऽर्जुन ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु भारद्वाजं यशस्विनम्॥ ६४ ॥
धर्मं वायुं च शक्रं च विजानाम्यश्विनौ तथा ।
पाण्डुं च कुरुशार्दूल षडेतान्कुरुवर्धनान् ॥ ६५ ॥
पितॄनेतानहं पार्थ देवमानुषसत्तमान् ॥ ६६ ॥
दिव्यात्मानो महात्मानः सर्वशस्त्रभृतां वराः ।
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ६७ ॥
उत्तमां च मनोबुद्धिं भवतां भावितात्मनाम् ।
जानन्नपि च वः पार्थ कृतवानिह धर्षणाम्॥ ६८ ॥

नही किया है, सो विन आश्रम हो; और तुम्हारे सङ्ग ब्राह्मणभी नही है, इसी लिये, मैने तुम पर चढाई की थी। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, उरग और दानव यह सब धीमान है, और कुरुवंशकी कथा कहते है । हे वीर ! मैनेभी नारदादि देवर्षियोंसे तुम्हारे ज्ञानशील अगले पुरुषोंके गुणकी कहानी सुनी है, और स्वयं इस सागर वेष्टित संपूर्ण धरतीमे घूमता हुआ तुम्हारे सुवंशका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है। हे अर्जुन ! वेद और धनुर्विद्यामें त्रिलोक भरमें प्रशंसित यशोवन्त तुम्हारे आचार्य को भली प्रकार जानता हूं। (६०--६४)

हे कुरुव्याघ्र ! तुम्हारे ज्ञानशील पितृपुरुष कुरुवंश बढानेहारे देवोमे श्रेष्ठ धर्म, पवन, इन्द्र और दोनो अश्विनीकुमार और मानवोमे श्रेष्ठ पाण्डु इन छओंसे विशेष रूपसे ज्ञात हूं । तुम पांचो भाई सम्पूर्ण शस्त्र विद्याओमे दक्ष, अच्छे स्वभावी, महात्मा, सुचरित्रवान, व्रतशील और शूर हो, तुम्हारे मन और बुद्धि बडी अच्छी और स्वभाव अति शुद्ध हैं। हे पार्थ ! मै यह सब जानने परभी तुमको लाञ्छन किया था; क्योंकि भुजबल युक्त कोई पुरुष स्त्रीके सामने अपने

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान्क्षन्तुमर्हति।
धर्षणामात्मनः पश्यन्बाहुद्रविणमाश्रितः ॥ ६९ ॥
नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाऽभिवर्धते।
यतस्ततो मां कौन्तेय सदारं मन्युराविशत्॥ ७० ॥
सोऽहं त्वयेह विजितः संख्ये तापत्यवर्धन।
येन तेनेह विधिना कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ७१ ॥
ब्रह्मचर्यपरो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मिन्विजितस्त्वया॥७२॥
यस्तु स्यात्क्षत्रियः कश्चित्कामवृत्तः परन्तप।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत्कथंचन ॥ ७३ ॥
यस्तु स्यात्कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुरस्कृतः।
जयेन्नक्तंचरान्सर्वान्स पुरोहितधूर्गतः ॥ ७४ ॥
तस्मात्तापत्य यत्किंचिन्नृणां श्रेय इहेप्सितम्।
तस्मिन्कर्मणि योक्तव्या दान्तात्मानः पुरोहिताः ७५
वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः॥७६॥

अपमानको सहन नहीं कर सकता है; विशेष रात्रिकालमें हमारा बल बहुत बढ जाता है, इस लिये मैं स्त्रीके सहित क्रोधके वशमें होगया था। ६५-७०

हे तापत्यवंशवर्द्धन ! मैं जिस विधिके अनुसार तुमसे युद्धमें परास्त होगया हूं, वह कहता हूं, सुनोः हे पार्थ ! ब्रह्मचर्य परम धर्म हैः तुम इस धर्मको अवलम्बन किये हुए हो, इस लिये तुमसे हार गया। हे शत्रुनाशि ! कोई विवाह किया हुआ क्षत्रिय रात्रिकालमें हम लोगोंसे लडे, तो वह किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकता है। हे पार्थ ! विवाह कर लेने परभी जो क्षत्रिय वेदमे अलंकृत होकर पुरोहित पर सब कार्योंका भार सौंप देता है, वह युद्धमें निशाचरोंको परास्त कर सकता हैः हे तापत्य ! इस लिये मनुष्योंको मनमाना हरेक शुभ कर्ममें दमगुणयुक्त पुरोहित नियुक्त करना चाहिये। हे मित्र जो वेद और शिक्षादि षडङ्गोंमें पण्डित पवित्र-वंशी, सत्यवादी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय है, वही राजपुरोहित होनेके योग्य है। ७१-७५

जिस राजाके धर्मज्ञ वाक्यनिपुण सुशील सुवंशी पुरोहित रहते है, उनको इस लोकमें सदा जय और परलोकमें स्वर्ग-

जयश्च नियतो राज्ञः स्वर्गश्च तदनन्तरम् ।
यस्य स्याद्धर्मविद्वाग्मी पुरोधा शीलवाञ्शुचिः॥७७॥
लाभं लब्धुमलब्धं वा लब्धं वा परिरक्षितुम् ।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ॥ ७८ ॥
पुरोहितमते तिष्ठेद्य इच्छेद्भूतिमात्मनः ।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम्॥ ७९ ॥
न हि केवलशौर्येण तापत्याभिजनेन च ।
जयेदब्राह्मणः कश्चिद्भूमिं भूमिपतिः क्वचित्॥ ८० ॥
तस्मादेवं विजानीहि कुरूणां वंशवर्धन ।
ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम्॥ ८१ ॥ [६६८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि गन्धर्वपराभवे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १७२ ॥

अर्जुन उवाच— तापत्य इति यद्वाक्यमुक्तवानसि मामिह ।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि तापत्यार्थं विनिश्चितम् ॥ १ ॥
तपती नाम का चैषा तापत्या यत्कृते वयम्।
कौन्तेया हि वयं साधो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्॥२॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स गन्धर्वः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ।

प्राप्ति होती है। राजाको अनमिले पदार्थके मिलने और मिले हुए पदार्थकी रक्षाके लिये गुणवान पुरोहित नियुक्त करना चाहिये। जो राजा अपने लिये ऐश्वर्यकी इच्छा करते है, उनको सागर-सहित संपूर्ण धरतीको प्राप्त करनेके निमित्त सब प्रकारसे पुरोहितके मतानुसार रहना चाहिये! हे तापत्य! कोई राजा ब्राह्मण वर्जित होकर केवल शूरता वा अभिजात्यसे धरतीको जीत नहीं सकता? अतएव निश्चय जानना, कि जिस राज्यकी कार्य-चिन्तामें ब्राह्मणकी प्रधानता रहती है, उस राज्यकी सदा रक्षा होती है। (७६—८१) [६६८२]

आदिपर्वमें एकसौ बहत्तर अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ तिहत्तर अध्याय।

अर्जुन बोले, कि हे मित्र! तुमने मुझको तापत्य करके पुकारा, मैं जानना चाहता हूं, कि तापत्य शब्दका अर्थ क्या है। हे साधो! हम कुन्तीकी सन्तान है, इस हेतु कौन्तेय करके प्रख्यात हैं, पर तापत्य किसका नाम है, कि तापत्य कहके पुकारे जा सकें। इसका सच्चा तत्त्व जाननेकी इच्छा हो रही है। (१-२)

विश्रुतां त्रिषु लोकेषु श्रावयामास वै कथाम् ॥ ३॥

गन्धर्व उवाच— हन्त ते कथयिष्यामि कथामेतां मनोरमाम् ।
यथावदखिलां पार्थ सर्वबुद्धिमतां वर ॥ ४ ॥
उक्तवानस्मि येन त्वां तापत्य इति तद्वचः ।
तत्तेऽहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना भव ॥ ५ ॥
य एष दिवि धिष्ण्येन नाकं व्याप्नोति तेजसा ।
एतस्य तपती नाम बभूव सदृशी सुता ॥ ६ ॥
विवस्वतो वै देवस्य सावित्र्यवरजा विभो ।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु तपती तपसा युता ॥ ७ ॥
न देवी नासुरी चैव न यक्षी न च राक्षसी ।
नाऽप्सरा न च गन्धर्वी तथा रूपेण काचन ॥ ८ ॥
सुविभक्ताऽनवद्याङ्गी स्वसितायतलोचना ।
स्वाचारा चैव साध्वी च सुवेषा चैव भामिनी ॥ ९ ॥
न तस्याः सदृशं कंचित्त्रिषु लोकेषु भारत ।
भर्तारं सविता मेने रूपशीलगुणश्रुतैः ॥ १० ॥
संप्राप्तयौवनां पश्यन्देयां दुहितरं तु ताम् ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि गन्धर्वराज कुन्तीपुत्र धनञ्जयकी वह बात सुनकर उनके निकट तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध कथाको कहने लगे। गन्धर्व बोले, कि हे सुधीवर! मैं यह मनोहर कथा तुमसे आद्योपान्त सब कहता हूं, जिस कारण तुमको तापत्य कहके पुकारा, उसकी कथा विस्तृत रूपसे कहता हूं, ध्यान लगाकर सुनो। इन देवताको, जिन्होंने अपने तेजसे आकाशमण्डल को भर लिया है, उनकी तीनों लोकोंमे प्रशंसित तपस्विनी तपतीनाम्नी एक कन्या थी, वह सावित्री की छोटी बहिन थी। तपनदेव जिस प्रकार रूपवान है, वह तपती वैसी हो रूपवती थी। (३-७)

कोई उसके रूपकी शोभासे जान नहीं सकता था, कि वह देवकन्या, असुरकन्या, यक्ष कन्या, गन्धर्व कन्या, राक्षस-कन्या, अथवा अप्सरा थी; उस बालाकी दोनों आंखे अच्छी काली और बडी थी और सब अंग यथायोग्य बटे बटाये और निन्दाके अयोग्य थे! हे भारत! उसके पिता सविताने उस भाविनी अति रूपवती, और सुचारिणी देखकर जाना, कि उससे सदृश रूपगुणशील और विद्या युक्त योग्य वर तीनों लोकमें नहीं है, अनन्तर यथा कालमें कन्याको यौवन पर

नोपलेभे ततः शान्तिं संप्रदानं विचिन्तयन ॥ ११ ॥
अथर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो बली ।
सूर्यमाराधयामास नृपः संवरणस्तदा ॥ १२ ॥
अर्घ्यमाल्योपहाराद्यैर्गन्धैश्च नियतः शुचिः ।
नियमैरुपवासैश्च तपोभिर्विविधैरपि ॥ १३ ॥
शुश्रूषुरनहंवादी शुचिः पौरवनन्दनः ।
अंशुमन्तं समुद्यन्तं पूजयामास भक्तिमान्॥ १४ ॥
ततः कृतज्ञं धर्मज्ञं रूपेणाऽसदृशं भुवि ।
तपत्याः सदृशं मेने सूर्यः संवरणं पतिम् ॥ १५ ॥
दातुमैच्छत्ततः कन्यां तस्मै संवरणाय ताम् ।
नृपोत्तमाय कौरव्य विश्रुताभिजनाय च ॥ १६ ॥
यथा हि दिवि दीप्तांशुः प्रभासयति तेजसा ।
तथा भुवि महीपालो दिप्त्या संवरणोऽभवत्॥ १७ ॥
यथाऽर्चयन्ति चाऽऽदित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः।
तथा संवरणं पार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः ॥ १८ ॥
स सोममतिकान्तत्वादादित्यमतितेजसा ।

चढते देखकर सन्धान करनेके लिये योग्य वरकी चिन्ता करने लगे, किसी प्रकार स्थिर नहीं रह सके। (८—११)

हे कौन्तेय! उन दिनों ऋक्षपुत्र कुरुश्रेष्ठ बलवान राजा संवरण सूर्यकी उपासना किया करते थे। विना अहंकार पौरवनन्दन संवरण सेवाशील, नियमयुक्त और शुचि होकर शुद्ध चित्तसे भक्तिपूर्वक नाना तपस्या, उपवास और नियम, तथा अर्घ्य, माला, गन्ध और दूसरे उपहार देकर दीप्यमान सूर्यकी नित्य उपासना करते थे। सूर्यदेवने उनको कृतज्ञ, धर्मज्ञ, और अप्रतिम रूपवान जानकर तपतीके योग्य पति समझा। हे कौरव्य! उसके अनन्तर उन्होने उस प्रख्यात कुलीन नृपोत्तम संवरणहीको, कन्या सम्प्रदान करनेकी इच्छा की। (१२—१६)

हे पार्थ! जिस प्रकार प्रकाशित किरणयुक्त दिवाकर अपने प्रकाशसे आकाशमण्डलको प्रकाशित करते हैं, वैसेही भूपाल संवरणने अपने तेजसे महीमण्डलको उज्वल किया था। और जिस प्रकार सूर्यके उगने पर ब्राह्मणगण उनकी उपासना करते है, वैसेही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि प्रजा भूपाल संवरणकी

बभूव नृपतिः श्रीमान्सुहृदां दुर्हृदामपि ॥ १९ ॥
एवंगुणस्य नृपतेस्तथावृत्तस्य कौरव ।
तस्मै दातुं मनश्चक्रे तपतीं तपनः स्वयम् ॥ २० ॥
स कदाचिदथो राजा श्रीमानमितविक्रमः ।
चचार मृगयां पार्थ पर्वतोपवने किल ॥ २१ ॥
चरतो मृगयां तस्य क्षुत्पिपासासमन्वितः ।
ममार राज्ञः कौन्तेय गिरावप्रतिमो हयः ॥ २२ ॥
स मृताश्वश्चरन्पार्थ पद्भ्यामेव गिरौ नृपः ।
ददर्शाऽसदृशीं लोके कन्यामायतलोचनाम्॥ २३ ॥
स एक एकामासाद्य कन्यां परबलार्दनः ।
तस्थौ नृपतिशार्दूलः पश्यन्नविचलेक्षणः ॥ २४ ॥
स हि तां तर्कयामास रूपतो नृपतिः श्रियम् ।
पुनः संतर्कयामास रवेर्भ्रष्टामिव प्रभाम् ॥ २५ ॥
वपुषा वर्चसा चैव शिखामिव विभावसोः ।
प्रसन्नत्वेन कान्त्या च चन्द्ररेखामिवाऽमलाम्॥२६ ॥
गिरिपृष्ठे तु सा यस्मिन्स्थिता स्वसितलोचना।

उपासना करती थी । वही श्रीमान भूप मित्र पर कोमल होकर सोमसे और शत्रु पर तेजवन्त होकर आदित्यसे बढ चढ निकले थे । हे कौरव ! ऐसे गुणशील और चरित्रवान उस भूपालको सूर्यदेव ने तपती नाम्नी कन्याको दान करना चाहा था । (१७—२०)

हे पार्थ ! एक समय अति विक्रमी श्रीमान भूपाल संवरण मृगयाके लिये पर्वतके निकटके वनमें टहल रहे थे, कि ऐसे समय उनके अनुपम अश्वने भूख प्यासके मारे कातर होकर प्राण छोडा । तब वह वाहनके बिना पैदलही पर्वत पर चलने लगे । आगे प्रशस्तनेत्रा अनुपम रूपवती एक कन्या उनकी आंखोंके सामने दीख पडी । शत्रुबल मथनेहारे भूपश्रेष्ठ उस कन्याको देखकर उस पर एकटक लगाये खडे रहे । और उसकी सुन्दरता देखकर समझा, कि वह हरिकी प्यारी लक्ष्मी होगी अथवा प्रभाकरकी प्रभा प्रभाकरसे पृथ्वी पर गिरकर उस कन्याके स्वरूपमें प्रकाश हुई होगी । (२१—२५)

उस बालाकी तेज-भरी देहसे मानो अग्निकी शिखा और प्रसन्नता तथा कान्तिसे मानो अमल चन्द्रकी रेखा प्रकाश हो रही थी । वास्तवमें वह सुलोचना

विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी ॥ २७ ॥
तस्या रूपेण स गिरिर्वेषेण च विशेषतः ।
स सवृक्षक्षुपलतो हिरण्मय इवाऽभवत् ॥ २८ ॥
अवमेने च तां दृष्ट्वा सर्वलोकेषु योषितः ।
अवाप्तं चाऽऽत्मनो मेने स राजा चक्षुषः फलम् ॥ २९ ॥
जन्मप्रभृति यत्किंचिद् दृष्टवान्स महीपतिः ।
रूपं न सदृशं तस्यास्तर्कयामास किंचन ॥ ३० ॥
तया बद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा ।
न चचाल ततो देशाद् बुबुधे न च किंचन ॥ ३१ ॥
अस्या नूनं विशालाक्ष्याः सदेवासुरमानुषम्।
लोकं निर्मथ्य धात्रेदं रूपमाविष्कृतं कृतम् ॥ ३२ ॥
एवं संतर्कयामास रूपद्रविणसंपदा ।
कन्यामसदृशीं लोके नृपः संवरणस्तदा ॥ ३३ ॥
तां च दृष्ट्वैव कल्याणीं कल्याणाभिजनो नृपः ।
जगाम मनसा चिन्तां कामबाणेन पीडितः ॥ ३४ ॥
दह्यमानः स तीव्रेण नृपतिर्मन्मथाग्निना ।
अप्रगल्भां प्रगल्भस्तां तदोवाच मनोहराम् ॥ ३५ ॥

जिस पर्वत पर खडी रहकर प्रकाशमयी सुवर्णप्रतिमासी शोभा दे रही थी, तरु लता और गुल्मादि सहित वह पर्वत उस कन्याकी अनुपम शोभा और वेशकी बनावटसे सुवर्णका प्रतीत होने लगा। राजा उसको देखकर मनही मनमें तीनो लोकोंकी स्त्रियोंका अनादर करने लगे, और दर्शनेन्द्रियको कृतार्थ समझा। विचार कर देखा, कि जन्मसे पश्चात् जो सब सुन्दर पदार्थ देखे थे उनमेंसे एकभी इस कन्याके समान रूपयुक्त नहीं है। २६-३०

उस सुन्दरीको देखतेही उसके गुण जालमें महीपालका चित्त और नेत्र फंस गये, सो उनको वहांसे टलनेकी सामर्थ नहीं रही और वह कुछभी समझ नहीं सके। फिर यह समझा, कि विधाताने सुर, असुर और मनुष्य, सबोंको मंथन करके इस विशालाक्षी का रूप आविष्कार किया है; क्योंकि तिलोक भरमें इसके रूपकी शोभा की उपमा नहीं है। उस कल्याणीको देखतेही सुकुलीन राजा काटनेवाले मदन बाणसे घायल होकर सोचने लगे। (३१—३४)

वह कठोर कामाग्निसे जल कर दम्भ-

कासि कस्यासि रम्भोरु किमर्थं चेह तिष्ठसि ।
कथं च निर्जनेऽरण्ये चरस्येका शुचिस्मिते ॥ ३६ ॥
त्वं हि सर्वानवद्याङ्गी सर्वाभरणभूषिता ।
विभूषणमिवैतेषां भूषणानामभीप्सितम् ॥ ३७ ॥
न देवीं नाऽसुरीं चैव न यक्षीं न च राक्षसीम् ।
न च भोगवतीं मन्ये न गन्धर्वीं न मानुषीम् ॥ ३८ ॥
या हि दृष्टा मया काश्चिच्छ्रुता वापि वराङ्गनाः ।
न तासां सदृशीं मन्ये त्वामहं मत्तकाशिनि ॥ ३९ ॥
दृष्ट्वैव चारुवदने चन्द्रात्कान्ततरं तव ।
वदनं पद्मपत्राक्षं मां मथ्नातीव मन्मथः ॥ ४० ॥
एवं तां स महीपालो बभाषे न तु सा तदा ।
कामार्तं निर्जनेऽरण्ये प्रत्यभाषत किंचन ॥ ४१ ॥
ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्याऽऽयतेक्षणा ।
सौदामिनीव चाऽभ्रेषु तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ ४२ ॥
तामन्वेष्टुं स नृपतिः परिचक्राम सर्वतः ।
वनं वनजपत्राक्षीं भ्रमन्नुन्मत्तवत्सदा ॥ ४३ ॥

भावयुक्त उस मनोहरकन्यासे समझानेकी बातोंसे बोले, कि ए रम्भोरु ! तुम कौन ? किसकी बेटी हो ? यहां क्यों खडी हो ? ए सुन्दरि ! तुम इस निर्जन वनमें क्योंकर अकेली रहा करती हो ? तुमको सर्वाङ्ग सुन्दरी और सर्व आभूषणोंसे बनीठनी देखता हूं । ए सुन्दरि ! तुम्हीं इन सब आभूषणोंकी प्रार्थना योग्य आभूषणकी भांति हुई हो । तुम देवकन्या, यक्षकन्या, राक्षसकन्या, नागकन्या गन्धर्वकन्या, वा मानवकन्या जान नहीं पडती हो । ए मदगर्विते ! मैंने जितनी स्त्रियां देखीं वा जिनकी कथा सुनी है, उनमें कोईभी तुम्हारे सदृश जान नहीं पडती । ए सुमुखी ! पद्म पलाश समान दो आंखोंसे सुशोभित और चन्द्रमासे भी कोमल तुम्हारे मुखको देखकर मैं मदनसे मथा जाता हूं । (३५—४०)

महीपाल काम पीडित होकर निर्जन वनमें उस बालासे इस प्रकार बोले, पर उस कन्याने कुछभी उत्तर नहीं दिया । पृथ्वीनाथके बार बार उस प्रकार कहने पर वह प्रशस्तनयना इस प्रकार अन्तर्हित हुई, कि जिस प्रकार बिजली मेघके भीतर छिप जाती है । भूपाल उस पद्म-

अपश्यमानः स तु तां बहु तत्र विलप्य च ।
निश्चेष्टः पार्थिवश्रेष्ठो मुहूर्तं स व्यतिष्ठत ॥ ४४ ॥ [६७२६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि
तपत्युपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

गन्धर्व उवाच— अथ तस्यामदृश्यायां नृपतिः काममोहितः ।
पातनः शत्रुसङ्घानां पपात धरणीतले ॥ १ ॥
तस्मिन्निपतिते भूमावथ सा चारुहासिनी ।
पुनः पीनायतश्रोणी दर्शयामास तं नृपम् ॥ २ ॥
अथाऽऽबभाषे कल्याणी वाचा मधुरया नृपम् ।
तं कुरूणां कुलकरं कामाभिहतचेतसम् ॥
उवाच मधुरं वाक्यं तपती प्रहसन्निव ॥ ३ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते न त्वमर्हस्यरिन्दम ।
मोहं नृपतिशार्दूल गन्तुमाविष्कृतः क्षितौ ॥ ४ ॥
एवमुक्तोऽथ नृपतिर्वाचा मधुरया तदा ।
ददर्श विपुलश्रोणीं तामेवाऽभिमुखे स्थिताम् ॥ ५ ॥
अथ तामसितापाङ्गीमाबभाषे स पार्थिवः ।
मन्मथाग्निपरीतात्मा संदिग्धाक्षरया गिरा ॥ ६ ॥

पलाश लोचना बालाको ढूंढनेके लिये बावलेकी भांति उस वनके चारो ओर घूमने लगे। इसके अनन्तर वह उसको न देखकर अनेक प्रकारसे विलपनेके पीछे क्षण भर चुप हो रहे। (४१-४४) [६७२६]

आदिपर्वमें एकसौ तिहत्तर अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ चौहत्तर अध्याय ।

गंधर्व बोले, कि अनंतर उस नारीके अदृश्य होने पर शत्रुकुलनाशी भूपाल काम मोहित होकर धरती पर गिर पडे। तब सुंदर हासिनी प्रशस्त पृथुल-नितम्बिनी तपती नाम्नी वह कन्या फिर उनको दिखाई दी और कामवश कुरुवंशी श्रेष्ठ भूपालसे मुसकिराती हुई मीठी बातोंमे बोली, कि हे शत्रुनाशि ! उठो, उठो, तुम्हारा मङ्गल होवे, तुम भूमण्डल भरमे प्रसिद्ध प्रधान भूप हो, तुमको मोह वश होना नहीं चाहिये। (१-४)

तब राजाने यह मीठी बात सुनकर उस नितम्बिनी को ही सामने देखा। अनंतर मदनकी जलनसे जला चित्त यह भूपाल श्यामल अपाङ्गयुक्त उस कामिनी से तुतली बोलीमे बोले, कि ए नील-नेत्रे ! मै कामवश होकर तुम्हारी भजना

साधु त्वमसितापाङ्गि कामार्तं मत्तकाशिनि ।
भजस्व भजमानं मां प्राणा हि प्रजहन्ति माम्॥७॥
त्वदर्थं हि विशालाक्षि मामयं निशितैः शरैः ।
कामः कमलगर्भाभे प्रतिविध्यन्न शाम्यति ॥ ८ ॥
दष्टस्यैवमनाक्रन्दे भद्रे काममहाहिना ।
सा त्वं पीनायतश्रोणि मामाप्नुहि वरानने ॥ ९ ॥
त्वदधीना हि मे प्राणाः किंनरोद्गीतभाषिणि ।
चारुसर्वानवद्याङ्गि पद्मेन्दुप्रतिमानने ॥ १० ॥
न ह्यहं त्वदृते भीरु शक्ष्यामि खलु जीवितुम्।
कामः कमलपत्राक्षि प्रतिविध्यति मामयम् ॥११॥
तस्मात्कुरु विशालाक्षि मय्यनुक्रोशमङ्गने ।
भक्तं मामसितापाङ्गि न परित्यक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥
त्वं हि मां प्रीतियोगेन त्रातुमर्हसि भाविनि।
त्वद्दर्शनकृतस्नेहं मनश्चलति मे भृशम ॥ १३ ॥
न त्वां दृष्ट्वा पुनरन्यां द्रष्टुं कल्याणि रोचये।
प्रसीद वशगोऽहं ते भक्तं मां भज भाविनि॥ १४ ॥
दृष्ट्वैव त्वां वरारोहे मन्मथो भृशमंगने ।

कर रहा हूं. तुम मुझ पर साधु भावसे प्रसन्न होओ. मेरा प्राण निकल रहा है। हे कमल गर्भभृते विशालाक्षि ! मदन मुझको तुम्हारे लिये ही तेज पांच बाणो से विद्ध कर रहा है. किसी प्रकार शान्त नहीं होता है। हे भद्रे ! प्रफुल्लचित्त अनङ्गरूपी घोर भुजङ्ग मुझको काट रहा है। हे वरानने पीनायतश्रोणि ! तुम उस कठोर सर्प विषसे मेरी रक्षा करो । हे किन्नर गीतानुरूप भाषिणी ! मनोहर सर्वाङ्ग सुन्दरी पङ्कजानने चन्द्रवदने! अब मेरा जीवन तुम्हारे हाथमें है। (७—१०)

ऐ भीरु ! तुम्हारे विना मै जी नहीं सकूंगा। ऐ पद्मपत्राक्षि ! रतिपति मुझको बहुत विद्ध कर रहा है। ऐ विशालाक्षि ! मुझ पर कृपा प्रगट करो । हे असित अपाङ्गि ! मै तुम्हारा भक्त हूं.हे अङ्गने ! मुझको त्याग देना तुमको नहीं चाहिये . हे भाविनि प्रीति योगसे मेरी रक्षा करना तुमको अत्यन्त उचित है क्योंकि तुम्हें देखकर स्नेह आजानेसे मेरा चित्त डोल रहा है। (११–१४)

ऐ कल्याणि ! तुम्हारी सुन्दरता देख करके दूसरी स्त्री देखनेको मेरी अभिलाषा

अन्तर्गतं विशालाक्षि विध्यन्ति स्म पतत्रिभिः॥१५॥
मन्मथाग्निसमुद्भूतं दाहं कमललोचने ।
प्रीतिसंयोगयुक्ताभिरद्भिः प्रह्लादयस्व मे ॥ १६ ॥
पुष्पायुधं दुराधर्षं प्रचण्डशरकार्मुकम् ।
त्वद्दर्शनसमुद्भूतं विध्यन्तं दुःसहैः शरैः ॥ १७ ॥
उपशामय कल्याणि आत्मदानेन भाविनि॥१८॥
गान्धर्वेण विवाहेन मामुपैहि वरांगने ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते॥१९॥

तपत्युवाच — नाऽहमीशा ऽत्मनो राजन्कन्या पितृमती ह्यहम् ।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्याचस्व पितरं मम ॥ २० ॥
यथा हि ते मया प्राणाः संगृहीता नरेश्वर ।
दर्शनादेव भूयस्त्वं तथा प्राणान्ममाऽहरः ॥ २१ ॥
न चाऽहमीशा देहस्य तस्मान्नृपतिसत्तम ।
समीपं नोपगच्छामि न स्वतन्त्रा हि योषितः॥२२॥
का हि सर्वेषु लोकेषु विश्रुताभिजनं नृपम् ।
कन्या नाऽभिलषेन्नाथं भर्तारं भक्तवत्सलम् ॥ २३ ॥

नहीं होती । हे भाविनि ! मै तुम्हारे वशमें हो जाता हूं, तुम प्रसन्न होओ, इस अधीन भक्त जनकी भजना करो । ए वरारोहे विशालाक्षि अङ्गने ! मदनने कठोरबाणोसे मेरा मर्मभेद किया है । ऐ कमललोचने ! मेरा शरीर कामाग्निसे जल रहा है, तुम प्रेमसंयोगके जलसे उसको ठण्डाकर दो। ऐ भाविनि ! तुम्हारे दर्शनसे उपजा हुआ कठिन कामदेव कठोर पञ्चबाणोंसे मुझको विद्ध कर रहा है, तुम आत्मदान कर उसको आरोग्य करो। ऐ वराङ्गने ! गन्धर्व विधिके अनुसार मुझसे विवाह कर लो। ऐ रंभोरु ! कहा है, कि सब विवाहोंसे गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ है। (१५-१९)

तपती बोली, कि हे महाराज ! आत्मदानमें मेरी प्रभुताई नहीं है। क्योंकि मेरे पिता विद्यमान है। यदि मुझपर तुम्हारे चित्तकी प्रीति हो, तो पितासे प्रार्थना करो। हे नरनाथ ! मैं ने जिस प्रकार तुम्हारा चित्त चुरा लिया है, तुमनेभी देखतेही वैसेही मेरे हृदय पर कोमल वर्त्ताव किया है। हे नृपश्रेष्ठ ! स्त्री मात्रही स्वाधीन नहीं है, सो अपनी देह पर अधिकार न रहनेसे मैं तुम्हारे पास नहीं गयी; नहीं तो जिनकी कुलीनता सर्वलोकोंमे

तस्माद्वेवंगते काले याचस्व पितरं मम ।
आदित्यं प्रणिपातेन तपसा नियमेन च ॥ २४ ॥
स चेत्कामयते दातुं तव मामरिसूदन ।
भविष्याम्यहं ते राजन्सततं वशवर्तिनी ॥ २५ ॥
अहं हि तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
अस्य लोकप्रदीपस्य सवितुः क्षत्रियर्षभ ॥ २६ ॥ [६७०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि
तपत्युपाख्याने चतु सप्तत्याधिकशततमोऽध्याय ॥ १७४ ॥

गन्धर्व उवाच — एवमुक्त्वा ततस्तूर्णं जगामोर्ध्वमनिन्दिता ।
स तु राजा पुनर्भूमौ तत्रैव निपपात ह ॥ १ ॥
अन्वेषमाणः सबलस्तं राजानं नृपोत्तमम् ।
अमात्यः सानुयात्रश्च तं ददर्श महावने ॥ २ ॥
क्षितौ निपतितं काले शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
तं हि दृष्ट्वा महेष्वासं निरस्तं पतितं भुवि ॥ ३ ॥
बभूव सोऽस्य सचिवः संप्रदीप्त इवाऽग्निना ।
त्वरया चोपसंगम्य स्नेहादागतसंभ्रमः ॥ ४ ॥
तं समुत्थापयामास नृपतिं काममोहितम् ।

प्रशंसित है. उन भक्तप्यारे लोकनाथ भूपालकी कौन कन्या पति प्राप्त करना न चाहती होगी ? अतएव तुम योग्य समय आने पर मेरे पिता आदित्यको प्रणाम और नियम पूर्वक उपासना कर उनसे मुझे मांगना । हे शत्रुनाशी महाराज ! यदि पिता मुझको तुम्हें दान करनेको सम्मत होवे, तो मैं सदा तुम्हारी वशीभूत बनी रहूंगी । हे क्षत्रियवर ! मेरा नाम तपती है । मैं इस लोक प्रकाशक आदित्यकी कन्या और सावित्रीकी छोटी बहिन हूं । (२०—२६ [६६५७]

आदिपर्वमें एकसौ चौहत्तर अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में एकसौ पचहत्तर अध्याय ।

गन्धर्व बोले, कि अनिन्दितरूपवती तपती यह कहकर उसी क्षण ऊंचेको चढ गयी । राजा फिर उस भूमि पर गिर पडे । इधर मंत्री उनके सहगामी और सपूर्ण सेना योधाके साथ राजाको ढूंढते हुए उस बडे बनके भीतर उनको इन्द्रध्वजकी भांति धरती पर पडे पाया । उस बडे चापधारी भूपालको गिरे और भूतलपर लोटते देखकर मानो आगसे झुलस गये । और शीघ्रतासे स्नेहसे पूर्वक वेगसे

भूतलाद्भूमिपालेशं पितेव पतितं सुतम् ॥ ५ ॥
प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्त्या नयेन च ॥
अमात्यस्तं समुत्थाप्य बभूव विगतज्वरः ॥ ६ ॥
उवाच चैनं कल्याण्या वाचा मधुरयोत्थितम्।
मा भैर्मनुजशार्दूल भद्रमस्तु तवाऽनघ ॥ ७ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तं तर्कयामास वै नृपम्।
पतितं पातनं संख्ये शात्रवाणां महीतले ॥ ८ ॥
वारिणा च सुशीतेन शिरस्तस्याऽभ्यषेचयत्।
अस्पृशन्मुकुटं राज्ञः पुण्डरीकसुगन्धिना ॥ ९ ॥
ततः प्रत्यागतप्राणस्तद्बलं बलवान्नृपः।
सर्वं विसर्जयामास तमेकं सचिवं विना ॥ १० ॥
ततस्तस्याऽऽज्ञया राज्ञो विप्रतस्थे महद्बलम्।
स तु राजा गिरिप्रस्थे तस्मिन्पुनरुपाविशत् ॥ ११ ॥
ततस्तस्मिन्गिरिवरे शुचिर्भूत्वा कृताञ्जलिः।
आरिराधयिषुः सूर्यं तस्थावूर्ध्वमुखः क्षितौ॥ १२ ॥
जगाम मनसा चैव वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
पुरोहितममित्रघ्नस्तदा संवरणो नृपः ॥ १३ ॥

निकट जाकर काममोहित भूपाल श्रेष्ठको इस प्रकार भूमि परसे उठा लिया, कि जैसे पिता पुत्रको उठावे। (१–५)

प्रज्ञा, अवस्था, कीर्ति और नीतिमें वृद्ध उन मंत्रीने उनको उठाकर अपनी पीडा दूर की। अनन्तर वह उठे हुए पृथ्वीनाथसे कल्याणयुक्त मीठी बातोंमें बोले, कि हे अनघ मनुजशार्दूल ! आपका मङ्गल होवे, आप भय न माने। आगे उन भूपालको जो रणभूमिमें शत्रुओंको गिराते है, थके मादे और भूखे प्यासे समझा; वह पद्मगन्धयुक्त ठण्डे जलसे उनकी धूलसे रंगी हुई और मुकुटसे खाली देहको धोने लगे। अनन्तर बलिष्ठ भूपने एक उस मंत्रीके विना सब दूसरो को विदा कर दिया। सब सेनाओंके राजाकी आज्ञासे चले जाने पर राजा फिर उस पर्वत पर बैठे। (६—११)

अनन्तर वह शत्रुदमन महाराज पर्वतवर शुद्धआचारके साथ सूर्यकी उपासना करनेके लिये दोनों हाथ जोडके सिर ऊंचा कर खडे रहे और मनही मनमें ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठको स्मरण करने लगे। हे नराधिप ! अनन्तर दिनो रात

नक्तंदिनमथैकत्र स्थिते तस्मिञ्जनाधिपे ।
अथाऽजगाम विप्रर्षिस्तदा द्वादशमेऽहनि ॥ १४ ॥
स विदित्वैव नृपतिं तपत्या हृतमानसम् ।
दिव्येन विधिना ज्ञात्वा भावितात्मा महानृषिः१५॥
तथा तु नियतात्मानं तं नृपं मुनिसत्तमः ।
आबभाषे स धर्मात्मा तस्यैवाऽर्थचिकीर्षया ॥ १६ ॥
स तस्य मनुजेन्द्रस्य पश्यतो भगवानृषिः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे द्रष्टुं भास्करं भास्करद्युतिः ॥ १७ ॥
सहस्रांशुं ततो विप्रः कृताञ्जलिरुपस्थितः ।
वासिष्ठोऽहमिति प्रीत्या स चाऽऽत्मानं न्यवेदयत्१८॥
तमुवाच महातेजा विवस्वान्मुनिसत्तमम् ।
महर्षे स्वागतं तेऽस्तु कथयस्व यथेप्सितम् ॥ १९ ॥
यदिच्छसि महाभाग मत्तः प्रवदतां वर ।
तत्ते दद्यामभिप्रेतं यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ २० ॥
एवमुक्तः स तेनर्षिर्वसिष्ठः प्रत्यभाषत ।
प्रणिपत्य विवस्वन्तं भानुमन्तं महातपाः ॥ २१ ॥
वसिष्ठ उवाच— येषा ते तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।

इस प्रकार खडे रहने पर बारहवें दिनको वासिष्ठजी वहां आये। विशुद्धात्मा धर्मशील महर्षि योगबलसे उन संयतचित्त भूपाल का चित्त तपतीसे हरा गया जान कर उनका कार्य पूरा करनेके लिये संभाषण पूर्वक समझाया। (१२—१६)

अनन्तर सूर्यप्रकाशधारी भगवान ऋषि सूर्यसे मिलनेके लिये भूपाल के सामनेही ऊपरको चढ गये· दोनों हाथ जोडके सहस्रांशु के निकट पहुंच कर यह कहके प्रेमसे अपना परिचय दिया, कि मैं वसिष्ठ हूं। अति तेजस्वी विवस्वान्, मुनिवरसे बोले, कि हे महर्षे! तुम्हारा आना शुभ होवे, कहो, क्या चाहते हो। हे महाभाग वाग्मीवर! तुम मुझसे जो कुछ प्रार्थना करोगे, वह बडी दुर्लभ भी होवे, तो मै तुम्हारी उस वाञ्छित वस्तु को दे दूंगा। (१७-२०)

महातपस्वी ऋषि वसिष्ठ सहस्रांशु विवस्वान की वह बात सुनकर उनको प्रणाम करके बोले, कि हे विभावसो! सावित्रीसे छोटी आपकी जो तपती नाम्नी कन्या है, मै उसको राजा संवरणके निमित्त प्रार्थना करता हूं। हे

तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो॥ २२ ॥
स हि राजा बृहत्कीर्तिर्धर्मार्थविदुदारधीः ।
युक्तः संवरणो भर्ता दुहितुस्ते विहङ्गम ॥ २३ ॥
इत्युक्तः स तदा तेन ददामीत्येव निश्चितः ।
प्रत्यभाषत तं विप्रं प्रतिनन्द्य दिवाकरः ॥ २४ ॥
वरः संवरणो राज्ञां त्वमृषीणां वरो मुने ।
तपती योषितां श्रेष्ठा किमन्यदपवर्जनात् ॥ २५ ॥
ततः सर्वानवद्याङ्गीं तपतीं तपनः स्वयम् ।
ददौ संवरणस्यार्थे वसिष्ठाय महात्मने ॥ २६ ॥
प्रतिजग्राह तां कन्यां महर्षिस्तपतीं तदा ।
वसिष्ठोऽथ विसृष्टस्तु पुनरेवाऽऽजगाम ह ॥ २७ ॥
यत्र विख्यातकीर्तिः स कुरूणामृषभोऽभवत्।
स राजा मन्मथाविष्टस्तद्गतेनाऽन्तरात्मना । २८ ॥
दृष्ट्वा च देवकन्यां तां तपतीं चारुहासिनीम् ।
वसिष्ठेन सहाऽऽयान्तीं संहृष्टोऽभ्यधिकं बभौ ॥२९ ॥
रुरुचे साऽधिकं सुभ्रूरापतन्ती नभस्तलात् ।
सौदामिनीव विभ्रष्टा द्योतयन्ती दिशस्त्विषा॥३०॥

आकाशपते वह राजा अति कीर्तिशाली धर्मार्थ तत्त्वोंके जानकार और उदारबुद्धि है, सो वह आपकी पुत्रीके पति होनेके योग्य वर है। सूर्य ऋषिकी यह बात सुनकर सम्प्रदान करना ठान कर आदरपूर्वक उस विप्रसे बोले, कि हे मुने! राजा संवरण भूपों में श्रेष्ठ है, तुम मुनियोंमें श्रेष्ठ हो, और तपती भी नारियोंमें श्रेष्ठा है, अतएव सम्प्रदानके विना और क्या विचार हो सकता है? अनन्तर सूर्यदेवने स्वयं ही संवरणके निमित्त महात्मा वसिष्ठके निकट सर्वाङ्गसुन्दरी तपतीको दे दिया। २१-२६)

महर्षि वसिष्ठ तपतीको लेकरके सूर्यसे विदा होकर उस स्थानको लौट गये, जहां प्रख्यात कीर्तिशाली कुरुश्रेष्ठ संवरण थे। वह कामसे जले हुये और तपती के कारण हृदय जलाये राजा देवबाला के समान सुन्दरहासिनी तपतीको वसिष्ठके संग आते देखकर अति प्रसन्न होकर शोभा पाने लगे। बादलसे गिरी हुई बिजली जिस प्रकार दशो दिशाको उजालेसे छा देती है, वैसेही सुन्दरी तपतीने आकाशसे उतरकर अपनी शोभासे दिशाओंको सुशोभित किया। (२७-३०)

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रे तु तस्य राज्ञः समाहिते
आजगाम विशुद्धात्मा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ३१ ॥
तपसाऽऽराध्य वरदं देवं गोपतिमीश्वरम् ।
लेभे संवरणो भार्यां वसिष्ठस्यैव तेजसा ॥ ३२ ॥
ततस्तस्मिन्गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते ।
जग्राह विधिवत्पाणिं तपत्याः स नरर्षभः ॥ ३३ ॥
वसिष्ठेनाऽभ्यनुज्ञातस्तस्मिन्नेव धराधरे ।
सोऽकामयत राजर्षिर्विहर्तुं सह भार्यया ॥ ३४ ॥
ततः पुरे च राष्ट्रे च वनेषूपवनेषु च ।
आदिदेश महीपालस्तमेव सचिवं तदा ॥ ३५ ॥
नृपतिं त्वभ्यनुज्ञाप्य वसिष्ठोऽथाऽपचक्रमे ।
सोऽथ राजा गिरौ तस्मिन्विजहाराऽमरो यथा॥३६॥
ततो द्वादश वर्षाणि काननेषु वनेषु च ।
रेमे तस्मिन्गिरौ राजा तथैव सह भार्यया ॥ ३७॥
तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन्समा द्वादश सत्तम ।
न ववर्ष सहस्राक्षो राष्ट्रे चैवाऽस्य भारत ॥ ३८ ॥
ततस्तस्यामनावृष्ट्यां प्रवृत्तायामरिन्दम ।

राजाका बारह रात्रियोंका कठोर नियम अन्त होने पर विशुद्धात्मा भगवान ऋषि वसिष्ठ वहां आये। भूपाल संवरणने इस प्रकार तपस्यासे वरदाता ईश्वर सूर्यदेवकी उपासना कर महर्षि वसिष्ठके तेजोबलसे तपनपुत्री तपतीको स्त्री प्राप्त किया; अनन्तर उन नरसिंहने वसिष्ठकी आज्ञासे देव गन्धर्वोंसे सेवा किये जाते हुए उस श्रेष्ठ पर्वतही पर तपतीसे विधिपूर्वक विवाह किया। आगे उस पहाडही पर विहार करनेके अभिलाषी होकर मन्त्री पर नगर राज्य वाहन और सेना आदिके रक्षाकी आज्ञा की। अनन्तर वसिष्ठ उनको जता करके निज स्थानको पधारे। (३१-३६)

नरदेव संवरण देवोंकी भांति उस पर्वत पर विहार करने लगे। उन्होंने बारह वर्षतक उस पर्वतके वन और उपवनोंमें भार्याके साथ विहार किया था। हे भारतश्रेष्ठ! सहस्रनेत्र इन्द्रने उनकी राजधानी और राज्यमें बारह वर्षतक वर्षा नहीं की। हे शत्रुनाशि! तब वृष्टि न होनेसे स्थावर जङ्गम और सब प्रजा क्षय पाने लगी। बिना वृष्टि ऐसा कठोर

प्रजाः क्षयमुपाजग्मुः सर्वाः सस्थाणुजङ्गमाः ३९.
तस्मिंस्तथाविधे काले वर्तमाने सुदारुणे ।
नाऽवश्यायः पपातोर्व्यां ततः सस्यानि नारुहन् ४०॥
ततो विभ्रान्तमनसो जनाः क्षुद्भयपीडिताः ।
गृहाणि संपरित्यज्य बभ्रमुः प्रदिशो दिशः ॥ ४१ ॥
ततस्तस्मिन्पुरे राष्ट्रे त्यक्तदारपरिग्रहाः ।
परस्परममर्यादाः क्षुधार्ता जघ्निरे जनाः ॥ ४२ ॥
तत्क्षुधार्तैर्निराहारैः शवभूतैस्तथा नरैः ।
अभवत्प्रेतराजस्य पुरं प्रेतैरिवाऽऽवृतम् ॥ ४३ ॥
ततस्तु तादृशं दृष्ट्वा स एव भगवानृषिः ।
अभ्यवर्षत धर्मात्मा वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ४४ ॥
तं च पार्थिवशार्दूलमानयामास तत्पुरम् ।
तपत्या सहितं राजन्व्युषितं शाश्वतीः समाः।
ततः प्रवृष्टस्तत्राऽऽसीद्यथापूर्वं सुरारिहा ॥ ४५ ॥
तस्मिन्नृपतिशार्दूले प्रविष्टे नगरं पुनः ।
प्रववर्ष सहस्राक्षः सस्यानि जनयन्प्रभुः ॥ ४६ ॥
ततः सराष्ट्रं मुमुदे तत्पुरं परया मुदा ।

काल आन पडा, कि उन दिनों पृथ्वी पर हिम तक नहीं गिरा, सो भला अनाज उपजनेकी कौनसी संभावना रहेगी ? प्रजा भूखसे विकल और भूली भटकीसी बनकर गृहोंको त्यागकर इधर उधर घूमने फिरने लगी। (३८–४१)

राज्य और राजधानीके लोग सदा भूखे रहनेके कारण आपसकी मर्यादा खोकर स्त्री पुत्र आदि परिवारोंको छोडने लगे। वह देश भूखे तथा मुर्झाए हुए जनोंसे पूरित होकर प्रेत-राजके नगरके समान प्रेत-पूरित प्रतीत होने लगा। हे राजन् ! मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठने उनके राज्यको उस दशामें देखकर उस राज्य मे पर्जन्य की वृष्टि कराई। बहुत वर्षोतक तपतीके साथ अन्यत्र रहते हुए उस पृथ्वीनाथको लिवाय लाये। अनन्तर नृपशार्दूलके पुरमे प्रविष्ट होने पर असुरनाशी प्रभु इन्द्रने उस राज्यपर कृपादृष्टि करी। यथानियम जल वृष्टि कर अनाज उपजाने लगे। (४२—४६)

जितेन्द्रिय भूपश्रेष्ठके राज्यकी मङ्गल-चिन्तामे नियुक्त रहने पर सम्पूर्ण प्रजा अति प्रसन्न हुई। अनन्तर नरपति संवरण

तेन पार्थिवमुख्येन भावितं भावितात्मना ॥ ४७ ॥
ततो द्वादश वर्षाणि पुनरीजे नराधिपः ।
तपत्या सहितः पत्न्या यथा शच्या मरुत्पतिः ४८ ॥

गन्धर्व उवाच— एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी ।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यया मतः ॥ ४९ ॥
तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपः ।
तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥ ५० ॥ [६८०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्यानसमाप्तौ पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

वैशम्पायन उवाच—स गन्धर्ववचः श्रुत्वा तत्तदा भरतर्षभ ।
अर्जुनः परया भक्त्या पूर्णचन्द्र इवाऽऽबभौ ॥ १ ॥
उवाच च महेष्वासो गन्धर्वं कुरुसत्तमः ।
जातकौतूहलोऽतीव वसिष्ठस्य तपोबलात् ॥ २ ॥
वसिष्ठ इति यस्यैतदृषेर्नाम त्वयेरितम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं यथावत्तद्वदस्व मे ॥ ३ ॥
य एष गन्धर्वपते पूर्वेषां नः पुरोहितः ।
आसीदेतन्ममाऽऽचक्ष्व क एष भगवानृषिः ॥ ४ ॥

ने स्त्री तपतीके साथ बारह वर्ष तक ऐसा यज्ञ किया, कि जैसा शचीपतिने शचीके साथ किया था। हे पार्थ! उस तपती नाम्नी तपनकन्याके वंशमे तुमने जन्म लिया है, इसी लिये तुमको तापत्य करके पुकारा है। हे शत्रुसन्तापन! राजा संवरणने उस तपतीसे कुरु नामक पुत्रका जन्म दिया था। उस कुरुवंशमें तुम्हारे जन्म लेनेके कारण तुम तापत्य कहे जा सकते हो। (४७-५०) [६८०२]

आदिपर्वमें एकसौ पचहत्तर अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ छिहत्तर अध्याय।

वैशम्पायनजी बोले, कि हे भरतवंशश्रेष्ठ! अर्जुन गन्धर्वसे वह कथा सुनकर परम भक्ति पूर्वक पूर्ण चन्द्रमाकी भांति शोभा पाने लगे। महा चापधारी कुरुश्रेष्ठ, अर्जुन वसिष्ठके तपोबलसे अचरज मानकर गन्धर्वसे बोले, कि मित्र! तुमने जिन ऋषिका नाम वसिष्ठ करके कहा है, मैं उनका वृत्तान्त सुनना चाहता हूं, तुम आद्योपान्त करके सुनाओ। हे गन्धर्वनाथ! तुमसे बोलो कि वह भगवान् ऋषि, जो हमारे अगले पुरुषोंके पुरोहित थे, कौन थे। (१-४)

गन्धर्वउवाच— ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वसिष्ठोऽरुन्धतीपतिः।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि ॥ ५ ॥
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः ।
इन्द्रियाणां वशकरो वसिष्ठ इति चोच्यते ॥ ६ ।
यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानामुदारधीः ।
विश्वामित्रापराधेन धारयन्मन्युमुत्तमम् ॥ ७ ॥
पुत्रव्यसनसंतप्तः शक्तिमानप्यशक्तवत् ।
विश्वामित्रविनाशाय न चक्रे कर्म दारुणम् ॥ ८ ॥
मृतांश्च पुनराहर्तुं शक्तः पुत्रान्यमक्षयात् ।
कृतान्तं नाऽतिचक्राम वेलामिव महोदधिः ॥ ९ ॥
यं प्राप्य विजितात्मानं महात्मानं नराधिपाः ।
इक्ष्वाकवो महीपाला लेभिरे पृथिवीमिमाम् ॥१०॥
पुरोहितमिमं प्राप्य वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
ईजिरे क्रतुभिश्चैव नृपास्ते कुरुनन्दन ॥ ११ ॥
स हि तान्याजयामास सर्वान्नृपतिसत्तमान्।
ब्रह्मर्षिः पाण्डवश्रेष्ठ बृहस्पतिरिवाऽमरान् ॥ १२ ॥
तस्माद्धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः ।

गन्धर्व बोले, कि ऋषि वसिष्ठ ब्रह्माके मानस पुत्र हैं ; उनकी पत्नीका नाम अरुन्धती है, जिस काम और क्रोध पर देवों ने भी जय नहीं पायी है, वे दोनों उनकी तपस्यासे परास्त हो सदा पांव दाबकर फिरते थे। इन्द्रियों को वश करने के कारण उनका नाम वसिष्ठ हुआ । अति क्रोधित होने परभी उन उदार चित्त महर्षिने कुशिक वंशको उखाड नहीं डाला था। वह महात्मा विश्वामित्रसे पुत्र नाश रूपी खेद पाकर शक्ति होने पर भी शक्ति न रहनेके समान कठोर कार्यमें प्रवृत्त नहीं हुए थे; उन्होंने यमालयसे मृतपुत्रोंको न लौटा लाकर यमराज की मर्यादाको इस प्रकार रक्षा की थी, कि जैसे समुद्र अपने तटको नष्ट नहीं करता हे। इक्ष्वाकुवंशके भूपालोंने उन जितेन्द्रिय महात्मा को प्राप्त कर इस धरती भरका पूरा अधिकार लाभ किया था। (५—१०)

हे कुरुनन्दन ! उन सब राजाओंने ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठको पुरोहित पाकरकेही नाना यज्ञ किये थे। हे पाण्डव श्रेष्ठ ! उन्होंने उन महाराजोंकी यज्ञक्रिया इस

ब्राह्मणो गुणवान्कश्चित्पुरोधाः प्रतिदृश्यताम्॥१३॥
क्षत्रियेणाऽभिजातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता।
पूर्वं पुरोहितः कार्यः पार्थ राज्याभिवृद्धये ॥ १४ ॥
महीं जिगीषता राज्ञा ब्रह्म कार्यं पुरःसरम् ॥१५॥
तस्मात्पुरोहितः कश्चिद्गुणवान्विजितेन्द्रियः।
विद्वान्भवतु वो विप्रो धर्मकामार्थतत्त्ववित्॥१६॥ [६८१८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पुरोहितकरणकथने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

अर्जुन उवाच— किंनिमित्तमभूद्वैरं विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वसतोराश्रमे दिव्ये शंस नः सर्वमेव तत् ॥ १ ॥
गन्धर्व उवाच— इदं वासिष्ठमाख्यानं पुराणं परिचक्षते ।
पार्थ सर्वेषु लोकेषु यथावत्तन्निबोध मे ॥ २ ॥
कान्यकुब्जे महानासीत्पार्थिवो भरतर्षभ ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्याऽऽत्मसंभवः॥३॥
तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः ।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ॥ ४ ॥

प्रकार निर्वाह करायी थी, कि जिस प्रकार बृहस्पति देवोंका यज्ञ कराते है ! अतएव तुम भी धार्मिकवर वैदिक धर्मके जानकार कोई पुरोहित ढूंढो। हे पार्थ' पृथ्वी जय करनेकी इच्छा रखने वाले क्षत्रियको राज्य वृद्धिके लिये पहिले पुरोहित नियुक्त करना चाहिये.क्योंकि पृथ्वी-जयेच्छुक राजा का ब्राह्मणको मानने रखना उचित है। अत एव धर्म. ज्ञान और अर्थके तत्त्वज्ञ जितेन्द्रिय विद्वान और गुणवान कोई ब्राह्मण तुम्हारे पुरोहित होवे। (११—१६) [६८१८]

आदिपर्वमें छिहत्तर [illegible]

आदिपर्वमें एकसौ सतहत्तर अध्याय।

अर्जुन बोले.कि,निज निज दिव्याश्रमों में रहनेवाले विश्वामित्र और वसिष्ठमें क्योंकर आपसमें शत्रुता उभडी. वह सब हमसे कहा। गन्धर्व बोले, कि हे पार्थ यह वसिष्ठकी कथा सबलोकोंमें पुराण करके कही जाती है, मै यथार्थ रीतिसे कहता जाता हूं. सुनो। हे भरतश्रेष्ठ ! कान्यकुब्ज देशमें कुशिक पुत्र गाधिके नामसे प्रख्यात एक राजा थे: उन धर्मात्माके विश्वा मित्र नामक एक पुत्र थे : उन विश्वामित्रकी अनगनित सेना तथा वाहन थे और वह शत्रुओंके मथनेहारे

स चचार सहामात्यो मृगयां गहने वने ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च रम्येषु मरुधन्वसु ॥ ५ ॥
व्यायामकर्शितः सोऽथ मृगालिप्सुः पिपासितः।
आजगाम नरश्रेष्ठ वसिष्ठस्याऽऽश्रमं प्रति ॥ ६ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया ॥ ७ ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तं स्वागतेन च भारत ।
तथैव परिजग्राह वन्येन हविषा तथा ॥ ८ ॥
तस्याऽथ कामधुग्धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
उक्ता कामान्प्रयच्छेति सा कामान्दुह्यते सदा॥ ९ ॥
ग्राम्यारण्याश्चौषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चाऽमृतनिभं रसायनमनुत्तमम् ॥ १० ॥
भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि च तथाऽर्जुन ॥
रत्नानि च महार्हाणि वासांसि विविधानि च ११॥

थे। वह एक समय मन्त्रीके साथ घने वनमें और सुंदर निराली तथा वृक्षोंसे खाली भूमि पर मृग और वराह विद्ध करते हुए मृगया करते फिरने लगे।(१-५)

हे नृपश्रेष्ठ! वह मृग पानेकी चेष्टामें थककर और प्यासे बनकर वसिष्ठके आश्रममें जा पहुंचे। ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठने नरश्रेष्ठ विश्वामित्रको आते देखकर, अतिथिकी सेवाके लिये स्वागत किया। हे भारत! उन ऋषिने कुशलक्षेम पूछ करके पाद्य, अर्घ, आचमनीय; वनके फल फूल आदि पवित्र भोजनकी सामग्री देकर उनका आतिथ्य सत्कार किया। (६-८)

हे अर्जुन! महात्मा वसिष्ठकी कामदुघा एक गौ थी; ऋषि जब उस गौको कुछ कामनाकी वस्तु देनेको कहकर दूहते थे, उसीक्षण उसे पाते थे। उस दिन वसिष्ठको कामनाके अनुसार कामधेनुको दोहनेपर ग्राम तथा वनकी औषधि, दुग्ध, अमृत समान छओं रस, उन रसयुक्त विशेष वस्तुओंमेंसे अमृत समान सुमिष्ट बहुविध भोजनकी, पीनेकी, चबानेकी, चाटनेकी, चूसनेकी सामग्री और बडे बडे मूल्यवान् वस्त्र और रत्नादि प्राप्त हुए। मन्त्री और सेनाके साथ भूपालने उन सब सम्पूर्ण काम्य वस्तुओंसे सत्कृत होकर अति सन्तोष

तैः कामैः सर्वसंपूर्णैः पूजितश्च महीपतिः ।
सामात्यः सबलश्चैव तुतोष स भृशं तदा ॥ १२ ॥
षडुन्नतां सुपार्श्वोरुं पृथुपञ्चसमावृताम् ।
मण्डूकनेत्रां स्वाकारां पीनोधसमनिन्दिताम् ॥ १३ ॥
सुवालधिं शङ्कुकर्णां चारुशृङ्गां मनोरमाम् ।
पुष्टायतशिरोग्रीवां विस्मितः सोऽभिवीक्ष्य ताम् ॥ १४
अभिनन्द्य स तां राजन्नन्दिनीं गाधिनन्दनः ।
अब्रवीच्च भृशं तुष्टः स राजा तमृषिं तदा ॥ १५ ॥
अर्बुदेन गवां ब्रह्मन्मम राज्येन वा पुनः ।
नन्दिनीं संप्रयच्छस्व भुङ्क्ष्व राज्यं महामुने ॥ १६ ॥
वसिष्ठ उवाच — देवतातिथिपित्रर्थ याज्यार्थं च पयस्विनी ।
अदेया नन्दिनीयं वै राज्येनापि तवाऽनघ ॥ १७ ॥
विश्वामित्र उवाच — क्षत्रियोऽहं भवान्विप्रस्तपःस्वाध्यायसाधनः ।
ब्राह्मणेषु कुतो वीर्यं प्रशान्तेषु धृतात्मसु ॥ १८ ॥
अर्बुदेन गवां यस्त्वं न ददासि ममेप्सितम् ।
स्वधर्मं न प्रहास्यामि नेष्यामि च बलेन गाम् १९ ॥

प्राप्त किया। और उस मनोरमा कामधेनुको देखकर बड़ा अचरज माना। (९—१२)

कामधेनुके शरीरकी बनावट बहुत सुन्दर थी. उसका मेरुदण्ड, पूंछ और चारो स्तन ऊंचे. पार्श्व और उरुदेश सुन्दर. कान और लिलार स्थूल. आंखें स्थूल और मेढककी नाई ऊंची. थन चौड़ा. पूछ मनोहर. दोनों कान कीलोंकी समान. सींग देखनेमें बहुतही सुन्दर और सिर तथा गला मोटा और चौड़ा था । हे राजन! ऐसी सुंदर नन्दिनी नामी उस कामधेनुको देखकर भूपाल गाधिकुमार अति सन्तुष्ट चित्तसे उसकी प्रशंसा कर ऋषिसे बोले कि हे ब्रह्मन ! तुम मुझसे दश करोड़ गौ लेकर मुझको यह नन्दिनी दो: अथवा हे महामुने ! तुम नन्दिनीको देकरके मेरे राज्यको लेकर भोगो। (१३–१६)

वसिष्ठ बोले. कि हे अनघ ! यह दुधारी नन्दिनी देवता अतिथि, पितर और यज्ञके लिये रखी गयी है. सो तुम्हारे राज्यको ले करके भी मैं इसको नहीं दे सकता। विश्वामित्र बोले. कि मैं क्षत्रिय तुम तपस्वी और वेद पढनेवाले ब्राह्मण हो. प्रशान्तचित्त सयत ब्राह्मणका सामर्थ्य क्या ? अतएव यदि तुम दस करोड़ गौ

वसिष्ठ उवाच— बलस्थश्चाऽसि राजा च बाहुवीर्यश्च क्षत्रियः ।
यथेच्छसि तथा क्षिप्रं कुरु मा त्वं विचारय ॥२०॥
गन्धर्व उवाच — एवमुक्तस्तथा पार्थ विश्वामित्रो बलादिव ।
हंसचन्द्रप्रतीकाशां नन्दिनीं तां जहार गाम् ॥२१॥
कशादण्डप्रणुदितां काल्यमानामितस्ततः ।
हंभायमाना कल्याणी वसिष्ठस्याऽथ नन्दिनी ॥२२॥
आगम्याऽभिमुखी पार्थ तस्थौ भगवदुन्मुखी ।
भृशं च ताड्यमाना वै न जगामाऽऽश्रमात्ततः ॥२३॥
वसिष्ठ उवाच— शृणोमि ते रवं भद्रे विनदन्त्याः पुनः पुनः ।
ह्रियसे त्वं बलाद्भद्रे विश्वामित्रेण नन्दिनि ॥२४॥
किं कर्तव्यं मया तत्र क्षमावान्ब्राह्मणो ह्यहम् ॥२५॥
गन्धर्व उवाच — सा भयान्नन्दिनी तेषां बलानां भरतर्षभ ।
विश्वामित्रभयोद्विग्ना वसिष्ठं समुपागमत् ॥२६॥
गौरुवाच — कशाग्रदण्डाभिहतां क्रोशन्तीं मामनाथवत् ।
विश्वामित्रबलैर्घोरैर्भगवन्किमुपेक्षसे ॥२७॥

लेकर मुझे इच्छा की हुई गौ नहीं दोगे, तो मैं अपना धर्म नहीं छोडूंगा, बलसे छीन ले जाऊंगा। वसिष्ठ बोले, कि तुम बलिष्ठ क्षत्रिय राजा और भुजवीर्ययुक्त हो, अत एव तुम जैसा चाहो वैसाही करो, अधिकविचारका प्रयोजन नहीं है। १७-२०

गन्धर्वराज बोले, कि हे पार्थ! विश्वामित्र उनकी उस बातको सुनकर सूर्य चन्द्रमा सी प्रकाशमती उस नन्दिनी को कोडोंकी मारसे कातर कर और इधर उधर बांध बांध कर बलसे हर ले जानेको उद्यत हुए। हे पार्थ! कल्याणी नन्दिनी हम्बा शब्द करती हुई भगवान् ऋषि वसिष्ठके सामने आकर ऊंचे मुंह करके खडी रही और बहुत खदेडी जाकरके भी उस आश्रमसे नहीं गयी! तब वसिष्ठ बोले, कि ऐ भद्रे नन्दिनि! तुम बार बार जो चिल्लाती हो, वह मैं सुनता हूं, पर ऐ भद्रे! जब राजा विश्वामित्र तुम को बलसे हर रहे हैं, तब मैं क्या करूंगा! क्योंकि मैं क्षमाशील ब्राह्मण हूं। २१-२५

गन्धर्वराज बोले, कि हे भरतश्रेष्ठ! नन्दिनी विश्वामित्र और उनकी सेनाओं के भयसे घबराकर वसिष्ठके बहुत निकट आगयी और बोली, कि हे भगवन्! मैं विश्वामित्र की भयानक सेनाओंके कोडों की मारसे घायल होकर अनाथके समान रो रही हूं, आप मेरी क्यों उपेक्षा कर

गन्धर्व उवाच— नन्दिन्यामेवं क्रन्दन्त्यां धर्षितायां महामुनिः।
न चुक्षुभे तदा धैर्यान्न चचाल धृतव्रतः ॥ २८ ॥
वसिष्ठ उवाच— क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम्।
क्षमा मां भजते यस्माद् गम्यतां यदि रोचते॥२९॥
नन्दिन्युवाच— किं नु त्यक्ताऽस्मि भगवन्यदेवं त्वं प्रभाषसे।
अत्यक्ताऽहं त्वया ब्रह्मन्नेतुं शक्या न वै बलात्॥३०॥
वसिष्ठ उवाच— न त्वां त्यजामि कल्याणि स्थीयतां यदि शक्यते।
दृढेन दाम्ना बद्ध्वैष वत्सस्ते ह्रियते बलात्॥ ३१ ॥
गन्धर्व उवाच— स्थीयतामिति तच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य पयस्विनी।
ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ रौद्रदर्शना ॥ ३२ ॥
क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हम्भारवघनस्वना ।
विश्वामित्रस्य तत्सैन्यं व्यद्रावयत सर्वशः॥ ३३ ॥
कशाग्रदण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः।
क्रोधरक्तेक्षणा क्रोधं भूय एव समादधे ॥ ३४ ॥
आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ ।
अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् ॥ ३५ ॥

रहे है ? गन्धर्वराज बोले, कि नन्दिनी कातर होकर इस प्रकार रोने लगी, पर नियमशील महामुनि तिस परभी क्षुब्ध वा अधीर नहीं हुए। वह नन्दिनी से बोले, कि क्षत्रियका बल तेज और ब्राह्मणका बल क्षमा है; सो मैं क्षमा गुण से आकृष्ट हो रहा हूं, सो यदि तुम चाहो, तो जाओ। नन्दिनी बोली, कि हे भगवन् ! क्या आपने मुझको त्याग दिया, कि ऐसा कहते हैं ? हे ब्रह्मन् ! आपके न त्यागनेसे मुझ को कोई बलपूर्वक नहीं लेजा सकेगा। वसिष्ठ बोले, कि हे कल्याणि ! मैं तुमको नहीं त्यागता हूं, यदि तुम रह सको तो रह जाओ, वह तुम्हारे बछडेको कठिन रस्सीसे बांध कर ले जा रहा है। (२८ ३१)

गन्धर्वराज बोले, कि दुधारी नन्दिनी तब वसिष्ठकी "रह जाओ" यह बात सुनतेही सिर और गला ऊपर उठा कर भयानक मूर्ति धरकर क्रोधके मारे नेत्र लालकर बार बार हम्बारव करती हुई विश्वामित्रकी सेनाओंको चारो ओर से खेदने लगी। तब फिर सेनाओंके कोडोंकी मारसे घायल होकर और चारो ओरसे खदेडी जाकर अति क्रोधित होकर जलती हुई देहसे दुपहरके सूर्यकी भांति देखनेके

असृजत्पह्लवान्पुच्छात्प्रस्रवाद् द्राविडाञ्छकान्।
योनिदेशाच्च यवनाञ्शकृतः शबरान्बहून् ॥ ३६ ॥
मूत्रतश्चाऽसृजत्कांश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः।
पौण्ड्रान्किरातान्यवनान्सिंहलान्बर्बरान्खसान ३७ ॥
चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान्हूणान्सकेरलान्।
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान्बहुविधानपि॥ ३८ ॥
तैर्विसृष्टैर्महासैन्यैर्नानाम्लेच्छगणैस्तदा ।
नानावरणसंछन्नैर्नानायुधधरैस्तथा ॥ ३९ ॥
अवाकीर्यत संरब्धैर्विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
एकैकश्च तदा योधः पञ्चभिः सप्तभिर्वृतः ॥ ४० ॥
अस्त्रवर्षेण महता वध्यमानं बलं तदा ।
प्रभग्नं सर्वतस्त्रस्तं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ ४१ ॥
न च प्राणैर्वियुज्यन्ते केचित्तत्रास्य सैनिकाः ।
विश्वामित्रस्य संक्रुद्धैर्वासिष्ठैर्भरतर्षभ ॥ ४२ ॥
सा गौस्तत्सकलं सैन्यं कालयामास दूरतः।
विश्वामित्रस्य तत्सैन्यं काल्यमानं त्रियोजनम ४३
क्रोशमानं भयोद्विग्नं त्रातारं नाऽध्यगच्छत।
दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं ब्रह्मतेजोभवं तदा ॥ ४४ ॥

अयोग्य बनाया और पूंछसे बार बार बडे बडे अङ्गारोंकी वृष्टि करने लगी; आगे पूंछसे पह्लवगण, थनसे द्राविड और शक-गण, योनिसे यवन, गोवरसे शबरगण, मूत्र और पार्श्वभागसे भी कई शबर गण और फेनसे पौण्ड्र, किरात, यवन, सिंहल, बर्बर, खस, चिबुक, पुलिन्द, चीन, हुन, केरल आदि नाना म्लेच्छोंको बनाया। (३२-३८)

नाना वेष पहिनने वाले, नाना अस्त्र धरे हुए, वह सब उपजे हुए म्लेच्छोंकी सेना उस क्षण उत्साहित होकर विश्वामित्र के सामनेही इधर उधर फैल गयी; और उनमे से पांच पांच वा सात सातने विश्वामित्रके एक एक योद्धेको घेर लिया। आगे विश्वा-मित्रके देखतेही देखते उनकी सेना उन लोगोकी गहरी अस्त्रवृष्टिसे घायल होकर और भय खाकर इधर उधर भागने लगी। हे भरतश्रेष्ठ! वसिष्ठकी सेनाने युद्धमें पूर्ण क्रोधित होने परभी विश्वामित्र की सेनामें किसीके प्राण नष्ट नही किये; नन्दिनी ने केवल उनको दूरको खदेडा। वे तीन योजन दूर भगायी जाकर घबराहटके मारे रोने

अकामयत्तं याज्यार्थे विश्वामित्रः प्रतापवान् ।
स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ४ ॥
तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि ।
अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम् ॥ ५ ॥
शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्धनम् ।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद्वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत्।
तथा ऋषिरुवाचैवं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ ७ ॥
मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः ।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये ॥ ८ ॥
एवं परस्परं तौ तु पथोऽर्थं वाक्यमूचतुः ।
अपसर्पाऽपसर्पेति वागुत्तरमकुर्वताम् ॥ ९ ॥
ऋषिस्तु नाऽपचक्राम तस्मिन्धर्मपथे स्थितः।
नापि राजा मुनेर्मानात्क्रोधाच्चाऽथ जगाम ह॥१० ॥
अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः ।
जघान कशया मोहात्तदा राक्षसवन्मुनिम् ॥ ११ ॥
कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः ।

मित्रने उनको यजमान बनाना चाहा था। युद्धमें अजेय राजा कल्माषपाद भूख प्यासके मारे विकल होकर एकही मनुष्य-के चलने योग्य सङ्कीर्ण पथसे चल रहे थे, कि सामने आते हुए ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ पुत्र महात्मा मुनि शक्तिको देखा। १-६

वसिष्ठकुलके बढाने वाले महाभाग शक्ति महात्मा वसिष्ठके सौ पुत्रोंमेंसे बडे थे। राजा उनसे बोले, कि तुम मेरे पथ से हट जाओ। ऋषि मीठी बातोंमें उन-को समझा कर बोले, कि महाराज! यह मेरा पथ है। सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंमें यह सनातन धर्म करके कहा है, कि ब्राह्मणों को पथ देना राजाका कर्त्तव्य है। वे पथके लिये आपसमें इस प्रकार बकवाद करने लगे और एक दूसरे को "हटो" यह कहने लगे। ऋषि धर्मके पथिक होकर पथसे नहीं हटे, राजाने भी मान और क्रोध के वश मुनिको पथ नहीं दिया। (७-१०)

अनन्तर ऋषिके पथ न छोडने पर राजा ने मोह से राक्षसकी भांति मुनिको कोडे मारे। तब मुनिश्रेष्ठ वासिष्ठपुत्रने कोडोंकी चोटसे घायल और क्रोधसे अचेत होकर यह कहके उन भूपालको शाप दिया, कि

तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः॥ १२ ॥
हंसि राक्षसवद्यस्माद्राजापसद तापसम् ।
तस्मात्त्वमद्यप्रभृति पुरुषादो भविष्यसि ॥ १३ ॥
मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम्।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिना॥ १४॥
ततो याज्यनिमित्तं तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वैरमासीत्तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत ॥ १५ ॥
तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे ।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान्॥ १६ ॥
ततः स बुबुधे पश्चात्तमृषिं नृपसत्तमः ।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा ॥ १७ ॥
अन्तर्धाय ततोत्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत ।
तावुभावतिचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम्॥ १८ ॥
स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः ।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन ॥ १९ ॥
तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुसत्तम ।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति ॥ २० ॥

रे नराधम! जोकि मुझ तपस्वीको तूने राक्षस समान मारा, तू आजसे राक्षस होगा, तू नरमांस पर आसक्त होकर पृथ्वी पर टहला करेगा; रे क्षत्रियाधम ! अब जा। तपोबलयुक्त शक्तिने यह कह कर पथ छोड दिया ! इससे पहिले उस कल्मापपाद राजाकी याजन क्रियाके विषयमें विश्वामित्र और वसिष्ठमें आपसकी शत्रुता हो गयी थी; इसलिये विश्वामित्र वसिष्ठको लक्ष्य कर राजाके निकट गये। हे पार्थ! राजा और शक्ति उस प्रकार झगड रहे थे, कि ऐसे समय कठोर तपस्वी प्रतापी विश्वामित्र उनके समीप जा पहुंचे। (११—१६)

अनन्तर नृपश्रेष्ठ कल्मापपादने वसिष्ठ के समान तेजस्वी ऋषि शक्तिको वसिष्ठपुत्र करके जाना। हे भारत! आगे विश्वामित्र अपनी प्रिय इच्छा को सिद्ध करनेके लिये अपनेको अन्तर्हित करके उन दोनोंको नांघ गये। नृपोत्तम कल्मापपादने शक्तिसे शापग्रसित होकर उनको प्रसन्न करनेके लिये उनकी उपासना कर शरण ली। हे कुरुश्रेष्ठ! विश्वामित्रने उन राजाके भावको समझकर राक्षसको उन

शापात्तस्य तु विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाऽऽज्ञया।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा ॥ २१ ॥
रक्षसा तं गृहीतं तु विदित्वा मुनिसत्तमः।
विश्वामित्रोऽप्यपाक्रामत्तस्माद्देशादरिन्दम ॥ २२ ॥
ततः स नृपतिस्तेन रक्षसाऽन्तर्गतेन च।
बलवत्पीडितः पार्थ नाऽन्वबुध्यत किंचन ॥ २३ ॥
ददर्शाऽथ द्विजः कश्चिद्राजानं प्रस्थितं वनम्।
अयाचत क्षुधापन्नः समांसं भोजनं तदा ॥ २४ ॥
तमुवाचाऽथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहं तदा।
आस्स्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तं प्रतिपालयन् ॥ २५ ॥
निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम्।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ स द्विजसत्तमः॥२६॥
ततो राजा परिक्रम्य यथाकामं यथासुखम्।
निवृत्तोऽन्तःपुरं पार्थ प्रविवेश महामनाः ॥ २७ ॥
ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम्।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ॥ २८ ॥
गच्छामुष्मिन्वनोद्देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते।

के शरीरमें घुसनेकी आज्ञा दी। किङ्कर नामक राक्षस उन विप्रर्षिके शाप और विश्वामित्रकी आज्ञासे राजाके शरीर मे जा घुसा। हे शत्रुदमन! मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र राजाको राक्षस गृहीत जानकर वहां से चले गये। हे पार्थ! राजा शरीर स्थित राक्षससे अत्यन्त पीडित होकरके कुछ समझ नही सके (१७—२३)

अनन्तर वह वनको लौट जा रहे थे, कि ऐसे समयमे भूखे एक ब्राह्मणने उनको देखकर उनसे मांसयुक्त भोजन की सामग्री मांगी। मित्र पालनेवाले राजा उनसे बोले, कि हे ब्रह्मन। मुहूर्त भर यहां ठहर कर मेरे लौटनेकी बाट देखते रहे, मै लौट कर आपकी इच्छानुरूप भोजन दे दूंगा। राजा यह कह कर चले गये। ब्राह्मण वहां राजाकी प्रतीक्षामें ठहर रहे। हे पार्थ! महानुभव महाराज ने सुखसे मनमाना घूमघाम कर लौट करके अन्तःपुरमे प्रवेश किया। आगे वह आधी रातको उठकर ब्राह्मणसे स्वीकार किये हुए विषयको स्मरण कर उसी क्षण रसोइयेको बुलवाकर बोले, कि उस वनमें एक ब्राह्मण भोजनकी इच्छासे मेरी बाट

अन्नार्थी तं त्वमन्नेन समांसेनोपपादय ॥ २९ ॥

गन्धर्व उवाच — एवमुक्तस्ततः सूदः सोऽनासाद्याऽऽमिषं क्वचित्।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः॥३०॥
राजा तु रक्षसाऽऽविष्टः सूदमाह गतव्यथः।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ॥ ३१ ॥
तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं वध्यघातिनाम्।
गत्वाऽऽजहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ॥ ३२ ॥
स तत्संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै ।
तस्मै प्रादाद्ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने ॥ ३३ ॥
स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः ।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण उवाच — यस्माद्भोज्यमन्नं मे ददाति स नृपाधमः ।
तस्मात्तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा॥ ३५ ॥
सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना पुरा ।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम् ॥३६॥
द्विरनुव्याहृतो राज्ञः स शापो बलवानभूत् ।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाऽभवन्नृपः ॥ ३७ ॥

ताकते हैं. तुम अब वहां जाकर उनको मांस सहित अन्न दे आओ। (२४-२९)

गन्धर्व बोले. कि रसोइयेने राजाकी आज्ञाको सुनकर कहीं मांस न पाकरके पीडितचित्त होके उनसे वह बात कह सुनायी। राजा राक्षसयुक्त थे. सो विना सोच समझके बार बार कहा कि तुम नरमांस लाकर उस ब्राह्मणको खिलाओ। रसोइया "तथास्तु" कहकर वेगसे विना भय वध्यघातियोंके घरमें जाकर नरमांस लाया। आगे अन्नके साथ उस नरमांसको विधिपूर्वक पका कर विना विलंब उस भूखे तपस्वी ब्राह्मणके निकट जाकर उनको दे दिया। (३०—३३)

ब्राह्मणने सिद्ध नेत्रोंसे उस अन्नको देखकर क्रोधयुक्त नेत्रोंसे कहा, कि यह अन्न भोजना योग्य नहीं है;जिस नृपाधमने मुझको भोजनके अयोग्य अन्न दिया है. उस मूर्खको नरमांस पर लालसा होगी; पहिले ऋषि शक्तिने जसा कहा था. वैसाही होगा। यह राजा नरमांस पर आसक्त होकर जीवोंमें घबराहट लाकर इस पृथ्वीपर घूमा करेगा। इस प्रकार राजापर दूसरी बार शाप लगनेसे

ततः स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसाऽपहृतेन्द्रियः ।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा न चिरादिव भारत ॥ ३८ ॥
यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं मयि त्वया ।
तस्मात्त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं पुरुषानहम् ॥ ३९ ॥
एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य च ।
शक्तिं तं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम् ॥४०॥
शक्तिं तं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः ।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद्रक्षः संदिदेश ह ॥ ४१ ॥
स ताञ्शक्त्यवरान्पुत्रान्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ४२ ॥
वसिष्ठो घातिताञ्श्रुत्वा विश्वामित्रेण तान्सुतान्।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥४३॥
चक्रे चाऽऽत्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः।
नत्वेव कौशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ॥ ४४ ॥
स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः ।

वह शाप अति बलयुक्त हुआ; उससे राजाने शरीरमें घुसे हुए राक्षसके बलसे चेत खो दिया। (३४—३७)

हे भारत! अनन्तर राक्षससे इन्द्रियोंके चुराये जाने पर नृपश्रेष्ठ कुछ काल पीछे शक्तिको देखकर बोले, कि तुमने मुझको अनुचित शाप दिया है, सो मैं पहिले तुम्हींसे आरम्भ कर मनुष्य खानेको प्रवृत होता हूं। राजा यह कह कर उसी क्षण उनके प्राण नष्ट कर उनको इस प्रकार खागये, कि जैसे व्याघ्र मन माने पशुको खा लेता है। विश्वामित्र वासिष्ठ-पुत्र शक्तिको मरते देख कर बार बार राक्षसको वासिष्ठ ही के पुत्रोंको खानेकी आज्ञा देने लगे। वह राक्षसयुक्त राजा क्रोधित होकर महात्मा वसिष्ठके दूसरे पुत्रोंको क्रमसे इस प्रकार खा गये, कि जैसे सिंह छोटे मृगको खाले। (३८-४२

वासिष्ठने विश्वामित्रके द्वारा उन पुत्रों के नष्ट होनेकी बात सुनकर पुत्र–वियोगके कठोर शोकको इस प्रकारसे सहन किया, कि जैसे महाद्रिका भार धरती सम्भाले। उन महामति मुनिश्रेष्ठने आत्मघात करना निश्चय किया, पर तौ भी कौशिक वंशके उखाडनेकी चेष्टा नहीं की। उन्होंने सुमेरुकी चोटी परसे अपने को गिराया पर उससे उनको कोई क्लेश नहीं पहुंचा; उनका पर्वतपरके

गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवाऽपतत् ॥ ४५ ॥
न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव ।
तदाऽग्निमिद्ध्वा भगवान्संविवेश महावने ॥ ४६ ॥
तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः ।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत्ततः ॥ ४७ ॥
स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः ।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाऽम्भसि।
स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः ॥ ४८ ॥
न ममार यदा विप्रः कथंचित्संशितव्रतः ।
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाऽऽश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥[६९१५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे वसिष्ठशोकेऽष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

गन्धर्व उवाच— ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः ।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात्ततः ॥ १ ॥
सोऽपश्यत्सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा।
वृक्षान्बहुविधान्पार्थ हरन्तीं तीरजान्बहून् ॥ २ ॥
अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन ।

पत्थर की ढेर पर गिरना मानों रूईके फाहे पर गिरनेके सदृश हुआ। (४३–४५)

हे पाण्डव! वह भगवान् महर्षि पहाड की चोटी परसे गिरकर न मरनेके हेतु महावनमें आग बाल कर उसमें जा घुसे। परन्तु तब जलती हुई आगने तेजसे जलने परभी उनको नहीं जलाया। हे शत्रु-नाशि! उनको वह आग ठण्ढी जान पड़ी। अनन्तर पुत्रशोकसे विकल महामुनि समुद्र देखकर अपने गलेमें भारी पत्थर बांध करके उसके जलमें जा गिरे, उस-परभी न डूब कर समुद्रकी लहरके बलसे तट पर उठाये गये। तब किसी प्रकार उन की मृत्यु न होने पर वह दुःखी चित्तसे आश्रमको लौट गये। (४६-४९) [६९१५]

आदिपर्वमें एकसौ अठहत्तर अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ उन्यासी अध्याय।

गन्धर्व बोले, कि अनन्तर भगवान् मुनि अपने आश्रमको पुत्रोंसे खाली देख कर अति दुःखी चित्तसे फिर आश्रमसे निकले। हे कौरवनन्दन पार्थ! वह शोकयुक्त ऋषि वर्षामें नये जलसे भरी हुई एक बहती हुई नदीको तट परके नाना वृक्षोंको हरते देखकर फिर सोचने

अम्भस्यस्यां निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः॥ ३ ॥
ततः पाशैस्तदाऽऽत्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ॥ ४ ॥
अथ छित्वा नदी पाशांस्तस्याऽरिबलसूदन।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ॥ ५ ॥
उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः ।
विपाशेति च नामाऽस्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥६ ॥
शोके बुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत ।
सोऽगच्छत्पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा ।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत्॥ ८ ॥
सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा ।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥९ ॥
ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राऽप्यात्मानमात्मना।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाऽऽश्रमं ययौ॥१०॥
स गत्वा विविधाञ्शैलान्देशान्बहुविधांस्तथा।
अदृश्यन्त्याख्यया वध्वाऽथाऽऽश्रमेऽनुसृतोऽभवत् ११॥

लगे; कि मैं इस जल में डूबकर प्राण छोड़ूं। आगे उन्होंने रस्सीसे अपनेको दृढरूपसे बांधकर उस बडी नदीके जल में डुबाया। हे शत्रुबल-मथनेहारे! तब उस नदीने उनकी रस्सीको काटकर बंधनको तोडके स्थल पर छोड दिया; इस से उन्होंने बन्धनसे मुक्तहो और उठ कर उस नदीका "विपाशा" नाम रखा। १-६

अनन्तर वह शोकसे विकल एक स्थान पर रह नही सके; पर्वत, नदी और तालामे घूमने फिरने लगे। एक समय हैमवती नाम्नी नदीको अति क्रोधी हिंसक जलजन्तुओंसे भरी हुई और भीषणाकार देखकर उसके सोतेमें जा गिरे। वह बडी नदी विप्रवरको अग्निवत् अनुभव कर सैकडो भागोमे द्रुतवेगसे बह चली, इस लिये तभीसे उस नदीका नाम "शतद्रू" प्रसिद्ध हुआ है। महर्षि उस भयानक नदीमे गिरकेभी अपनेको स्थल पर उठाये जाते देखकर यह समझ कर के कि "इच्छानुसार प्राणत्याग नहीं कर सका" आश्रम की ओर चले। (७-१०

वह भांति भांतिके पर्वत और देशोंसे होकर अन्तमे आश्रमको जा रहे थे, कि

अथ शुश्राव संगत्या वेदाध्ययननिस्वनम् ।
पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलंकृतम् ॥ १२ ॥
अनुव्रजति को न्वेष मामित्येवाऽथ सोऽब्रवीत् १३॥
अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत ।
शक्तेर्भार्या महाभाग तपोयुक्ता तपस्विनी ॥ १४ ॥
वसिष्ठ उवाच — पुत्रि कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याऽध्ययनस्वनः ।
पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ॥ १५ ॥
अदृश्यन्त्युवाच – अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते ।
समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ॥ १६ ॥
गन्धर्व उवाच — एवमुक्तस्तया हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
अस्ति संतानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ न्यवर्तत ॥ १७ ॥
ततः प्रतिनिवृत्तः स तया वध्वा सहाऽनघ ।
कल्माषपादमासीनं ददर्श विजने वने ॥ १८ ॥
स तु दृष्ट्वैव तं राजा क्रुद्ध उत्थाय भारत ।
आविष्टो रक्षसोग्रेण इयेषात्तुं तदा मुनिम् ॥ १९ ॥
अदृश्यन्ती तु तं दृष्ट्वा क्रूरकर्माणमग्रतः ।

ऐसे समयमें अदृश्यन्ती नाम्नी उनकी पुत्रवधु उनके पीछे जा रही थी । तब उन ऋषिने निकट होनेके कारण पीछेसे षडङ्गोंसे अलंकृत पूर्णार्थयुक्त वेदपठनकी ध्वनि सुनकर पूछा कि कौन मेरे पीछे आ रहा है । पुत्रवधू बोली, कि हे महाभाग ! मैं शक्तिकी तपोयुक्ता तपस्विनी स्त्री अदृश्यन्ती, आपकी पुत्रवधू हूं । वसिष्ठ बोले, कि पुत्रि ! मैंने पहिले शक्तिके मुखसे जिस प्रकार साङ्गवेदकी ध्वनि सुनी थी । अब किसके मुखसे वेद पठनकी वैसी ध्वनि सुन पडी ? (१२-१५)

अदृश्यन्ती बोली, कि हे मुने ! तुम्हारे पुत्र शक्तिके वीर्यसे मेरे गर्भमें एक सन्तान है; वह पुत्र बारह वर्षसे ऐसा वेदाभ्यास कर रहा है; आपने उसीसे वेदकी ध्वनि सुनी है । गन्धर्व बोले, कि हे पार्थ ! श्रेष्ठ भाग्यवान ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ अदृश्यन्ती की उस बातको सुनकर प्रसन्न होकर यह समझ कर, कि "मेरा वंश है," मृत्युकी इच्छासे निवृत्त हुए । हे अनघ! वह लौटकर पुत्रवधूके सग जा रहे थे, कि ऐसे समय निर्जनमें बैठे हुए कल्माषपादको देखा । १६-१८

हे भारत ! उस कठोर राक्षसयुक्त राजा कल्माषपादने मुनिको देखकर उसी

भयसंविग्नया वाचा वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥
असौ मृत्युरिवोग्रेण दण्डेन भगवन्नितः ।
प्रगृहीतेन काष्ठेन राक्षसोऽभ्येति दारुणः ॥ २१ ॥
तं निवारयितुं शक्तो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन।
त्वद्दतेऽद्य महाभाग सर्ववेदविदां वर ॥ २२ ॥
पाहि मां भगवन्पापादस्माद्दारुणदर्शनात् ।
राक्षसोऽयमिहाऽत्तुं वै नूनमावां समीहते ॥ २३ ॥
वसिष्ठ उवाच— मा भैः पुत्रि न भेतव्यं राक्षसात्तु कथंचन ।
नैतद्रक्षो भयं यस्मात्पश्यसि त्वमुपस्थितम् ॥ २४ ॥
राजा कल्माषपादोऽयं वीर्यवान्प्रथितो भुवि।
स एषोऽस्मिन्वनोद्देशे निवसत्यतिभीषणः ॥ २५ ॥
गन्धर्व उवाच —तमापतन्तं संप्रेक्ष्य वसिष्ठो भगवानृषिः ।
वारयामास तेजस्वी हुंकारेणैव भारत ॥ २६ ॥
मन्त्रपूतेन च पुनः स तमभ्युक्ष्य वारिणा ।
मोक्षयामास वै शापात्तस्माद्योगान्नराधिपम् ॥ २७
स हि द्वादश वर्षाणि वसिष्ठस्यैव तेजसा ।

क्षण क्रोधसे उठ करके खा जाना चाहा; अदृश्यन्ती सामने उस कुटिल कर्म वालेको देखकर भयसे घबराकर वसिष्ठसे बोली, कि हे भगवन्! वह कठोर दण्डधारी साक्षात् यमराजके समान लकडी उठाकर इधर आ रहा है। हे सर्ववेद-निपुण महाभाग! धरती भरमें आपके विना कोई भी इसके रोकनेको समर्थ नहीं है। हे भगवन्! इस कठोर भयावने आकारके पापात्मासे मेरी रक्षा करें! मुझको निश्चय जान पडता है, कि वह राक्षस हम दोनोको खाजानेको उद्यत हुआ है। वसिष्ठ बोले, कि बेटि! भय मत खाओ, राक्षससे कोई भय नही है। तुम जिनसे वर्त्तमान भय देखती हो, वह राक्षस नही है, जो कल्मापपाद नामक भूमण्डलमें प्रसिद्ध राजा है, वही इस वनमें अति भयङ्कर आकार धारणकर राक्षसके स्वरूपमें वास कर रहे हैं। (१९-२५)

गन्धर्व बोले, कि हे भारत! तेजस्वी भगवान ऋषि वसिष्ठने उनको आ गिरते देखकर "हुं" कारसे रोका। आगे मन्त्रसे पवित्र किये हुए जलसे उनको नहला कर उस घोर शापसे मुक्त किया! वह राजा बारह वर्षतक वसिष्ठपुत्र शक्तिके तेजसे इस प्रकार ग्रसित थे, कि जिस

ग्रस्त आसीद् ग्रहेणेव पर्वकाले दिवाकरः ॥ २८ ॥
रक्षसा विप्रमुक्तोऽथ स नृपस्तद्वनं महत् ।
तेजसा रञ्जयामास सन्ध्याभ्रमिव भास्करः॥ २९॥
प्रतिलभ्य ततः संज्ञामभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उवाच नृपतिः काले वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ३० ॥
सौदासोऽहं महाभाग याज्यस्ते मुनिसत्तम ।
अस्मिन्काले यदिष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥३१॥

वसिष्ठ उवाच— वृत्तमेतद्यथाकालं गच्छ राज्यं प्रशाधि वै ।
ब्राह्मणं तु मनुष्येन्द्र माऽवमंस्थाः कदाचन ॥ ३२ ॥

राजोवाच— नाऽवमंस्ये महाभाग कदाचिद्ब्राह्मणर्षभान् ।
त्वन्निदेशे स्थितः सम्यक्पूजयिष्याम्यहं द्विजान् ३३
इक्ष्वाकूणां च येनाऽहमनृणः स्यां द्विजोत्तम ।
तत्त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि सर्ववेदविदांवर ॥ ३४ ॥
अपत्यमीप्सितं मह्यं दातुमर्हसि सत्तम ।
शीलरूपगुणोपेतमिक्ष्वाकुकुलवृद्धये ॥ ३५ ॥

गन्धर्व उवाच— ददानीत्येव तं तत्र राजानं प्रत्युवाच ह ।

प्रकार सूर्य राहुसे होता है, अब शापसे मुक्त होकर ऐसे तेजसे उस बडे वनको सुशोभित किया, कि जैसे सूर्यदेव सन्ध्या कालके बादलको रंग देते है। (२६-२९)

तब राजा ज्ञान प्राप्तकर प्रणाम-पूर्वक दोनो हाथ जोडकर ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठसे बोले, कि हे महाभाग ! मै सुदासराजा का पुत्र आपका यजमान हूं ! हे मुनि-श्रेष्ठ ! कहें अब आपकी क्या इच्छा है, मैं उसको पूरी कर देता हूं। वसिष्ठ बोले, कि हे मानवेन्द्र ! मेरी जो इच्छा थी, वह कालके क्रमसे पूरी हो गयी है, अब तुम राजधानीमे जाकर राज्य शासन करो, फिर कभी ब्राह्मणका अनादर मत करना ! राजा बोले, कि हे महाभाग ! मैं कभी ब्राह्मणका अनादर नहीं करूंगा, आपके आज्ञाधीन रहकर ब्राह्मणोंकी भली भांति पूजा करूंगा। हे सर्ववेद निपुण द्विजोत्तम ! मै आपसे वह वस्तु पानेकी इच्छा करता हूं, जिस से इक्ष्वाकुवंशके ऋणसे छुटकारा पाजाऊं! हे श्रेष्ठ ! आप इक्ष्वाकुवंशके बढाने वाला रूपगुणशील अच्छा पुत्र मुझको देदें। (३०-३५)

गन्धर्वराज बोले, कि सत्यशील द्विजोत्तम वसिष्ठने यह कहकर कि "पुत्र

वसिष्ठः परमेष्वासं सत्यसंधो द्विजोत्तमः ॥ ३६ ॥
ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सह तेन वै ।
ख्यातां पुरीमिमां लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वर ॥ ३७ ॥
तं प्रजाः प्रतिमोदन्त्यः सर्वाः प्रत्युद्गतास्तदा ।
विपाप्मानं महात्मानं दिवौकस इवेश्वरम् ॥ ३८ ॥
सुचिराय मनुष्येन्द्रो नगरीं पुण्यलक्षणाम् ।
विवेश सहितस्तेन वसिष्ठेन महर्षिणा ॥ ३९ ॥
ददृशुस्तं महीपालमयोध्यावासिनो जनाः ।
पुरोहितेन सहितं दिवाकरमिवोदितम् ॥ ४० ॥
स च तां पूरयामास लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां वरः।
अयोध्यां व्योम शीतांशुः शरत्काल इवोदितः ४१
संसिक्तमृष्टपन्थानं पताकाध्वजशोभितम् ।
मनः प्रह्लादयामास तस्य तत्पुरमुत्तमम् ॥ ४२ ॥
तुष्टपुष्टजनाकीर्णा सा पुरी कुरुनन्दन ।
अशोभत तदा तेन शक्रेणेवाऽमरावती ॥ ४३ ॥

दूंगा" उन बडे चापधारी राजासे अङ्गीकार किया। हे मनुजेन्द्र ! अनन्तर वसिष्ठ कालानुसार उन राजाके साथ अयोध्या नाम्नी प्रसिद्ध नगरीको गये। प्रजाओंने पापमुक्त महात्मा राजाको आते देखकर इस प्रकार प्रसन्न चित्तसे स्वागत किया, कि जैसे देवगण देवराजको आते देखकर प्रमुदित होते है। नरेन्द्रने बहुत दिनोंके पीछे महात्मा वसिष्ठके साथ पुण्य लक्षणोंसे भरी हुई नगरीमें प्रवेश किया। तब अयोध्यावासी जन पुरोहितके साथ उन महीपालको उगे हुए सूर्यकी भांति देखने लगे। ३६-४०

उन भूपतिने अपनी शोभासे अयोध्या नगरीको इस प्रकार छा लिया, कि जैसे शरत्कालमे उगा हुआ चन्द्रमा आकाशमण्डलको सुशोभित करता है, उस कालमे राजमार्ग जलसे भिङ्गोया गया और भले प्रकार साफ किया गया था और नगरके स्थान स्थानमे फहराती हुई ध्वजा और पताका सोह रही थी, सो नगर देखकर राजाका चित्त आनन्दके समुद्रमे डूब गया। हे कुरुनन्दन ! तब तुष्ट और पुष्ट जनोंसे छायी हूई वह नगरी भूपाल कल्माषपादसे इस प्रकार शोभा पाने लगी, कि जिस प्रकार अमरावती अमरनाथसे सुशोभित होती है। (४१–४३)

ततः प्रविष्टे राजर्षौ तस्मिंस्तत्पुरमुत्तमम् ।
राज्ञस्तस्याऽऽज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ॥ ४४ ॥
महर्षिः संविदं कृत्वा संबभूव तया सह ।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः॥ ४५ ॥
ततस्तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिसत्तमः ।
राज्ञाऽभिवादितस्तेन जगाम मुनिराश्रमम् ॥ ४६ ॥
दीर्घकालेन सा गर्भं सुषुवे न तु तं यदा ।
तदा देव्यश्मना कुक्षिं निर्बिभेद यशस्विनी॥ ४७॥
ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभः ।
अश्मको नाम राजर्षिः पौदन्य यां न्यवेशयत् ॥४८॥ [६९६३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि
वासिष्ठे सौदाससुतोत्पत्तावूनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

गन्धर्व उवाच— आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत ।
शक्तेः कुलकरं राजन्द्वितीयमिव शक्तिनम्॥ १ ॥
जातकर्मादिकांस्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः ।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान्स्वयम् ॥ २ ॥
पराशुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः ।

अनन्तर राजर्षिके अपूर्व पुरीमें प्रवेश करने पर उनकी आज्ञासे देवी राजराणी वसिष्ठकी उपासना करने लगी। महर्षिश्रेष्ठ वसिष्ठ दिव्यविधिके अनुसार नियम करके उससे मिले। अनन्तर राजराणीके गर्भ होने पर महर्षि राजाके प्रणामसे पूजे जाकर आश्रममें लौट आये। आगे बहुत दिन बीत गये, तिसपर भी राणीको सन्तान नहीं हुई तब यशस्विनी राजराणीने अश्म अर्थात् पत्थरकी चोटसे कोखको फाड डाला। इस लिये बारह वर्षतक गर्भमें स्थित उन पुरुषश्रेष्ठने अश्मक नामक राजर्षि होकर जन्म लिया, कि जिन्होंने पौदन्य नामक नगर को बसाया था। (४४-४८) [६९६३]

आदिपर्वमें एकसौ उनासी अध्याय समाप्त।

—

आदिपर्वमें एकसौ अस्सी अध्याय।

गन्धर्वराज बोले, कि हे राजन्! अनन्तर आश्रममें स्थित अदृश्यन्ती दूसरे शक्तिके समान शक्तिका वंश बढाने वाला पुत्र प्रसव किया। हे भरतश्रेष्ठ! मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठने स्वयं उस पोतेकी जात कर्मादि क्रिया की। जब

गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः ॥ ३ ॥
अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनिम् ।
जन्मप्रभृति तस्मिंस्तु पितरीवाऽन्ववर्तत ॥ ४ ॥
स तात इति विप्रर्षि वसिष्ठं प्रत्यभाषत ।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप ॥ ५ ॥
तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः ।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वती तमुवाच ह ॥ ६ ॥
मा तात तात तातेति ब्रूह्येनं पितरं पितुः ।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे ॥ ७ ॥
मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवाऽनघ ।
आर्य एष पिता तस्य पितुस्तव यशस्विनः ॥ ८ ॥
स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः ।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः ॥ ९ ॥
तं तथा निश्चितात्मानं स महात्मा महातपाः ।
ऋषिर्ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मैत्रावरुणिरन्त्यधीः ।
वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु ॥ १० ॥

पुत्र जब गर्भमें था, तब वसिष्ठने परासु होना अर्थात् जीवन त्याग देना निश्चय किया था, सो वह पराशर नामसे भूमण्डलमें प्रसिद्ध हुए । धर्मात्मा पराशर जन्मसे मुनि वसिष्ठको पिता जानकर उनपर पिताके सदृश व्यवहार किया करते थे । (१-४)

हे शत्रु-मंथन कुन्तीनन्दन! एकदिन उन्होंने माता अदृश्यन्तीके सामने विप्रर्षि वसिष्ठको पिता कहके पुकारा; अदृश्यन्ती उनकी मीठी बोली से स्पष्टरूपसे पिता कहते सुन करके आंखोंमे आंसू भरकर बोली, कि बेटा ! तुम अपने दादाको पिता कहके मत पुकारना । हे पुत्र ! राक्षसने वनमे तुम्हारे पिताको खा लिया है । हे अनघ ! तुम जिनको पिता समझ रहे हो, वह तुम्हारे पिता नहीं हैं, पिताके पिता हैं । सत्यवादी ऋषिश्रेष्ठ पराशरने यह बात सुन करके दुःखी होकर सर्व लोकोंको नष्ट करना निश्चय किया ! महा तपस्वी, वेदमें पण्डितोंसे श्रेष्ठ, परिणामदर्शी मैत्रावरुणि ऋषि वसिष्ठने उनको सर्वलोक नष्ट करनेका प्रण ठानते देख कर रोका; उन्होंने जिस रीतिसे रोका वह कहता हूं, सुनो । (५-१०)

वासिष्ठ उवाच– कृतवीर्य इति ख्यातो बभूव पृथिवीपतिः ।
याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः॥ ११॥
स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च ।
सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पते ॥ १२॥
तस्मिन्नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कथंचन ।
बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम् ॥ १३ ॥
भृगूणां तु धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व एव ते ।
याचिष्णवोऽभिजग्मुस्तांस्ततो भार्गवसत्तमान्॥१४॥
भूमौ तु निदधुः केचिद्भृगवो धनमक्षयम् ।
ददुः केचिद् द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम्॥१५
भृगवस्तु ददु केचित्तेषां वित्तं यथेप्सितम् ।
क्षत्रियाणां तदा तात कारणान्तरदर्शनात् ॥ १६ ॥
ततो महीतलं तात क्षत्रियेण यदृच्छया ।
खनताऽधिगतं वित्तं केनचिद्भृगुवेश्मनि ॥ १७ ॥
तद्वित्तं ददृशुः सर्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः ।
अवमन्य तत क्रोधाद्भृगूंस्ताञ्शरणागतान् ॥१८ ॥
निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वांस्तान्निशितैः शरैः ।
आगर्भादवकृन्तन्तश्चेरुः सर्वां वसुंधराम् ॥ १९ ॥

वासिष्ठ बोले, कि पहिले कृतवीर्य नामक प्रख्यात भूपालश्रेष्ठ पृथ्वीनाथ वेदज्ञ भृगुवंशके यजमान थे। हे पृथ्वीनाथ उन्होंने सोमयज्ञके अन्त होने पर अग्रभुक्त भृगुओं को बहुत धनधान्यसे सन्तुष्ट किया था। अनन्तर उस नृप शार्दूलके स्वर्गको सिधारने पर उनके वंशके राजाओंको धनका प्रयोजन हुआ। तब वे राजा भार्गवोंके बहुत धन है, जानकर याचककी भांति उनके पास जा पहुंचे। भार्गवोंमेंसे किसी किसीने यह सोचकर कि "हमारा धन क्षय न होने पावे" धनको धरतीमें गाड रखा, किसी किसीने क्षत्रियोंसे भय खाकर अपना अपना धन ब्राह्मणोंको दान दे दिया; किसी किसीने और कुछ समझ कर उन क्षत्रियोंको मनमाना धन दे दिया। (११-१६)

ऐ बेटा! अनन्तर किसी क्षत्रियने भार्गवोंके घर खोद कर बहुत धन पाया। तब बडे चापधारी क्षत्रियलोग सब मिलकर उस अतुल धनको देखकरके शरण लिये हुए भार्गवोंको अनादरपूर्वक

ततं उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात्तदा ।
भृगुपत्न्यो गिरिं दुर्गं हिमवन्तं प्रपेदिरे ॥ २० ॥
तासामन्यतमा गर्भं भयाद्दध्रे महौजसम् ।
ऊरुणैकेन वामोरूर्भर्तुः कुलविवृद्धये ॥ २१ ॥
तद्गर्भमुपलभ्याऽऽशु ब्राह्मणी या भयार्दिता।
गत्वैका कथयामास क्षत्रियाणामुपह्वरे ॥ २२ ॥
ततस्ते क्षत्रिया जग्मुस्तं गर्भं हन्तुमुद्यताः ।
ददृशुर्ब्राह्मणीं तेऽथ दीप्यमानां स्वतेजसा ॥ २३ ॥
अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह ।
मुष्णन्दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः॥२४॥
ततश्चक्षुर्विहीनास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः ॥ २५ ॥
ततस्ते मोहमापन्ना राजानो नष्टदृष्टयः ।
ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम् ॥२६॥
ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः ।
ज्योतिष्प्रहीणा दुःखार्ताः शान्तार्चिष इवाऽग्नयः२७

तेज बाणोंसे मारने लगे; यहां तक कि वे भार्गवोंके गर्भमें स्थित बालकों को भी नष्ट कर पृथ्वी भरमें घूमने लगे। इस प्रकार भृगुवंशके उखड जाने पर भार्गवोंकी स्त्रियां भय खाकर जानेके अ योग्य हिमाचल पर भाग गयीं। उनमें से किसी एक सुन्दरी नारीने पतिकुलकी रक्षाके लिये क्षत्रियके भयसे एक जांघ में अति वीर्यवन्त एक गर्भको धारण किया। (१९—२१)

अनन्तर एक ब्राह्मणीने उस गर्भका हाल जान कर भयके मारे क्षत्रियोंके यहां चल कर कह दिया। क्षत्रिय लोग यह सुनतेही उस गर्भको नष्ट करनेको उद्यत होकर चले और गर्भवती ब्राह्मणी को उसके तेजसे जलती हुई देखा। उस समय गर्भमें स्थित बालक ब्राह्मणी की जांघको भेद कर दुपहरके तेज सूर्य की भांति क्षत्रियोंकी आंखे झुलस कर निकला। राजा लोग नेत्रके विना दृष्टि चली जानेसे मोहके वशमें होकर चलने के अयोग्य पहाडकी चारों ओर घूमने लगे। (२२—२५)

आगे दृष्टि प्राप्त करनेकी आशासे उस ब्राह्मणीकी शरण ली। उन्होंने बुझी हुई शिखायुक्त अग्निकी भांति ज्योतिसे हाथ धो और अचेत होकर दुःखी चित्तसे महा भाग्यवती ब्राह्मणीसे

भगवत्याः प्रसादेन गच्छेतक्षत्रं सचक्षुषम् ।
उपरम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मिणः ॥ २८ ॥
सपुत्रा त्वं प्रसादं नः कर्तुमर्हसि शोभने ।
पुनर्दृष्टिप्रसादेन राज्ञः संत्रातुमर्हसि ॥ २९ ॥ [६९९२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि और्वोपाख्यानेऽशीत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १८० ॥

ब्राह्मण्युवाच— नाऽहं गृह्णामि वस्ताता दृष्टीर्नास्मि रुषान्विता।
अयं तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः॥ १ ॥
तेन चक्षूंषि वस्ताता व्यक्तं कोपान्महात्मना ।
स्मरता निहतान्बन्धूनादत्तानि न संशयः ॥ २ ॥
गर्भानपि यदा नूनं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः ।
तदाऽयमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः ॥ ३ ॥
षडङ्गश्चाऽखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव ह ।
विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥
सोऽयं पितृवधाद्व्यक्तं क्रोधाद्वो हन्तुमिच्छति।
तेजसा तस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः॥ ५ ॥

कहा, कि हम आपकी कृपासे नेत्र पावें, तो इस पापकर्मसे निवृत्त होकर सब घरको जायें । ऐ शोभने ! आप पुत्रसहित हम लोगों पर प्रसन्न होवें । आंख देकर इन राजाओं की रक्षा करें। (२८-२९) [६९९२]

आदिपर्वमें एकसौ अस्सी अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ इक्यासी अध्याय ।

ब्राह्मणी बोली, कि हे पुत्रो ! मै क्रोधित नहीं हुई हूं और न मैंने तुम्हारी दृष्टि हर ली है पर सन्देह नहीं है कि मेरी जांघसे पैदा हुआ यह भृगुवंशी इसबार तुम पर क्रोधित हुआ है । हे पुत्रो ! इस महात्मा बालकहीने बन्धुओंका नाश स्मरण कर क्रोधयुक्त चित्तसे तुम्हारी आंखें हरली है ! हे पुत्रो ! जब तुमलोग भार्गवोंके गर्भस्थित बालकोंकोभी नष्ट करने लगे, तबसे मैंने सौवर्ष तक यह गर्भ धारण किया है। भृगुवंशके फिर हितानुष्ठान के निमित्त छओं अङ्गोंके साथ सम्पूर्ण वेद इस बालक के हृदय-मन्दिरमें प्रविष्ट हुए है। इस बालकने पितरोंके वधके कारण निश्चयही तुम लोगोंको नष्ट करनेकी इच्छा की है; इसीके दिव्य तेजके बलसे तुम्हारी आंखें नष्ट हुई है। हे पुत्रो ! तुम लोग इस

तमिमं तात याचध्वमौर्वं मम सुतोत्तमम् ।
अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीः प्रमोक्ष्यति॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच — एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम् ।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः ॥ ७ ॥
अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः।
स और्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्त्वा व्यजायत॥ ८ ॥
चक्षूंषि प्रतिलब्ध्वा च प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः।
भार्गवस्तु मुनिर्मेने सर्वलोकपराभवम् ॥ ९ ॥
स चक्रे तात लोकानां विनाशाय महामनाः।
सर्वेषामेव कार्त्स्न्येन मनः प्रवणमात्मनः ॥ १० ॥
इच्छन्नपचितिं कर्तुं भृगूणां भृगुनन्दनः ।
सर्वलोकविनाशाय तपसा महतैधितः ॥ ११ ॥
तापयामास ताँल्लोकान्सदेवासुरमानुषान् ।
तपसोग्रेण महता नन्दयिष्यन्पितामहान् ॥ १२ ॥
ततस्तं पितरस्तात विज्ञाय कुलनन्दनम् ।
पितृलोकादुपागम्य सर्व ऊचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

मेरी जांघसे पैदा हुए बालकसे प्रार्थना करो; वह तुम्हारे प्रणामसे प्रसन्न होकर आंखें दे सकता है। (१-६)

वसिष्ठ बोले, कि अनन्तर सब राजा-लोग यह बात सुनकर उस जांघसे पैदा हुए बालकसे कहने लगे, कि "प्रसन्न होवें, प्रसन्न होवें", तब और्वने प्रसन्न होकर उनको आंखें दीं। इन साधुश्रेष्ठ विप्रर्षिने उरुको भेदकर जन्म लिया था, इसलिये वह और्व नामसे लोकोंमें प्रख्यात हुए। राजोंके आंखे पाकर अपने स्थान को चले जाने पर भार्गव और्वने सर्व-लोकोंका परास्त करना निश्चय किया। (७-१०)

हे बेटा! भृगुवंशके शत्रुओंको नष्ट करनेको चाहनेवाले महानुभाव भृगुनन्दन और्वने सर्वलोक नष्ट करनेके लिये कठोर तपस्यामें नियुक्त होकर अपने मनको संपूर्ण रूपसे निविष्ट किया। यह सोच-कर कि "पितामहोंको आनन्द पहुंचावेंगे" कठोर तपसे सुर, असुर और नर इन सब लोगोंको तापित करने लगे। हे बेटा। अनन्तर उनके सब पितर लोग यह जानकर पितृलोकोंसे आन करके कुलके आनन्द देनेवाले, और्वसे बोले, कि हे पुत्र और्व! तुम तपोबलसे कठोर

पितर ऊचुः— और्व दृष्टः प्रभावस्ते तपसोग्रस्य पुत्रक ।
प्रसादं कुरु लोकानां नियच्छ क्रोधमात्मनः ॥ १४ ॥
नाऽनीशैर्हि तदा तात भृगुभिर्भावितात्मभिः ।
वधो ह्युपेक्षितः सर्वैः क्षत्रियाणां विहिंसताम् ॥ १५ ॥
आयुषा विप्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत् ।
तदाऽस्माभिर्वधस्तात क्षत्रियैरीप्सितः स्वयम् १६ ॥
निखातं यच्च वै वित्तं केनचिद्भृगुवेश्मनि ।
वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान्कोपयिष्णुभिः ॥ १७ ॥
किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजोत्तम ।
यदस्माकं धनाध्यक्षः प्रभूतं धनमाहरत् ॥ १८ ॥
यदा तु मृत्युरादातुं न नः शक्नोति सर्वशः ।
तदास्माभिरयं दृष्ट उपायस्तात संमतः ॥ १९ ॥
आत्महा च पुमांस्तात न लोकाँल्लभते शुभान् ।
ततोऽस्माभिः समीक्ष्यैवं नात्मनात्मा निपातितः २०
न चैतन्नः प्रियं तात यदिदं कर्तुमिच्छसि ।
नियच्छेदं मनः पापात्सर्वलोकपराभवात ॥ २१ ॥

हुए हो, तुम्हारा प्रभाव हमने प्रत्यक्ष किया है; अब तुम सम्पूर्ण लोकों पर प्रसन्न होओ। अपने क्रोधको त्याग दो। (११–१४)

पहिले जब क्षत्रियोंने भार्गवोंकी हिंसा की थी, तब जितेन्द्रिय भार्गवोंने अपने वधको तुच्छ समझा था, वे उनके प्रति-विधान करनेमें असमर्थ नहीं थे। आयु बहुत बढ जानेसे जब हमको क्लेश होने लगा, तब हमने स्वयं ही क्षत्रियो से मारे जानेकी अभिलाषा की थी। इस लिये भार्गवोंने घरमें धन गाडकर उनको क्रोधित किया था। हे द्विजोत्तम! हम स्वर्ग चाहनेवाले हैं, हमको धनसे क्या प्रयोजन है, कुबेरने हमारे लिये बहुत धन बटोर रखा है। जब हमने देखा, कि मृत्यु किसी प्रकार हमको ले नहीं सकी, तब हमने इस उपायको अच्छा समझा; हे बेटा! आत्मघाती पुरुष शुभलोक नहीं पाता है, इसकी आलोचना कर हमने आत्मघात नहीं किया था। (१५—२०)

हे बेटा! तुमने जो कर्म करनेकी इच्छा की है, वह हमारा प्रिय नहीं है। अतएव तुम सर्वलोकोंके पराभव करनेकी इच्छा रूपी पाप कर्मसे मनको निवृत्त

मा वधीः क्षत्रियांस्तात न लोकान्सप्त पुत्रक।
दूषयन्तं तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि ॥ २२ ॥ [७०१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्व—
ण्यौर्वंवारण एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

और्व उवाच — उक्तवानस्मि यां क्रोधात्प्रतिज्ञां पितरस्तदा।
सर्वलोकविनाशाय न सा मे वितथा भवेत् ॥ १ ॥
वृथारोषप्रतिज्ञो वै नाऽहं भवितुमुत्सहे।
अनिस्तीर्णो हि मां रोषो दहेदग्निरिवाऽरणिम् ॥ २ ॥
यो हि कारणतः क्रोधं संजातं क्षन्तुमर्हति।
नाऽलं स मनुजः सम्यक्त्रिवर्गं परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥
अशिष्टानां नियन्ता हि शिष्टानां परिरक्षिता।
स्थाने रोषः प्रयुक्तः स्यान्नृपैः सर्वजिगीषुभिः ॥ ४ ॥
अश्रौषमहमूरुस्थो गर्भशय्यागतस्तदा।
आरावं मातृवर्गस्य भृगूणां क्षत्रियैर्वधे ॥ ५ ॥
संहारो हि यदा लोके भृगूणां क्षत्रियाधमैः।
आगर्भोच्छेदनात्क्रान्तस्तदा मां मन्युराविशत् ॥ ६ ॥

करो। हे पुत्र! तुम तपके तेजसे दूषित इस जन्मे क्रोधको त्याग दो, सातों लोक तो दूरकी बात है, क्षत्रियोंकोभी नष्ट मत करना। (२१-२२) [७०२४]

आदिपर्व मे एकसौ एकासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ बयासी अध्याय।

और्व बोले, कि हे पितरो! मैने क्रोधित होकर सर्व लोकोंके विनाशके लिये जो प्रतिज्ञा की है, वह कभी व्यर्थ नही होगी; मै व्यर्थ क्रोध और व्यर्थ प्रतिज्ञा करना नही चाहता। यदि मै इस प्रतिज्ञा को पूरी न करूं, तो क्रोधकी आग मुझको इस प्रकार जलावेगी, कि जैसे अग्नि वनको जलाता है। क्रोध किसी कारणसे आजाय, तो जो उसको रोक लेता है वह कभी पूरी रीतिसे धर्म अर्थ काम इन तीन वर्गोंको पालन नही कर सकता है और सर्वजय चाहनेवाले भूप भी विशेष विशेष स्थानमे क्रोध दिखावें, तो उस क्रोधसे दुष्टका शासन और सुजनका पालन होता है। (१—४)

पहिले क्षत्रियोंने जब भार्गवोंको नष्ट किया था, तब मैने उरुके भीतर गर्भशय्या पर लेटे रहकर भार्गवोंकी चिल्लाहट सुनी थी। जब क्षत्रिय-कुलपांशु लोग गर्भ मे स्थित बालक तक सब भार्गवों

संपूर्णकोशाः किल मे मातरः पितरस्तथा ।
भयात्सर्वेषु लोकेषु नाऽधिजग्मुः परायणम् ॥ ७ ॥
तान्भृगूणां यदा दारान्काश्चिन्नाऽभ्युपपद्यत ।
माता तदा दधारेयमूरुणैकेन मां शुभा ॥ ८ ॥
प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते ।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥
यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोके तदा पापेषु कर्मसु ॥ १० ॥
जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान्न नियच्छति ।
ईशः सन्सोऽपि तेनैव कर्मणा संप्रयुज्यते ॥ ११ ॥
राजभिश्चेश्वरैश्चैव यदि वै पितरो मम ।
शक्तैर्न शकितास्त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम् ॥ १२ ॥
अत एषामहं क्रुद्धो लोकानामीश्वरो ह्यहम् ।
भवतां च वचो नाऽलमहं समभिवर्तितुम् ॥ १३ ॥
ममाऽपि चेद्भवेदेवमीश्वरस्य सतो महत् ।
उपेक्षमाणस्य पुनर्लोकानां किल्बिषाद्भयम् ॥ १४ ॥

को नष्ट करने लगे, तभीसे मै क्रोधित हो गया। मेरे पितृगण और पूर्णगर्भवती माता जब शोकसे विकल और भय से कातर हुई थी तब तीनों लोकमें किसीने उनकी रक्षा नही की थी। जब किसीने भृगुपत्नियोंकी रक्षा नही की, तब मेरी शुभ लक्षणयुक्ता इस माताने एक ऊरुमे मुझको धारणकर रखा था। (५ – ८)

देखो, इस भूमण्डलमें एक मनुष्य पाप कर्म का नष्ट करनेवाला रहे तो कोई भी पाप कर नही सकता, जो लोकोंमे कोई पापकर्मका दण्ड करनेवाला नहीं रहे, तो बहुतेरे पापकर्ममें प्रवृत्त होते है। जो जन शक्तिमान और पाप रोकने योग्य होने परभी जान बूझकर पापकर्म नहीं रोकता है, वह उस पापमे लिप्त होता है। पर राजालोग और समर्थजनगण उस पापकर्मके रोकनेकी सामर्थ रखने परभी इस लोकमे अपने जीवनको अभीष्ट जानकर मेरे पितरोंकी रक्षा नहीं कर सके मैने इसी हेतु क्रोधित होकर उन सब लोगोंके उस पापकर्मका प्रतिविधान करनेका उद्योग किया है सो आप की आज्ञा मान नहीं सकता। (९-१३)

मै प्रतिविधानके योग्य होकरभी यदि प्रतिविधानका प्रयत्न न करूं तो

यश्चाऽयं मन्युजो मेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
दहेदेष च मामेव निगृहीतः स्वतेजसा ॥ १५ ॥
भवतां च विजानामि सर्वलोकहितेप्सुताम् ।
तस्माद्विधध्वं यच्छ्रेयो लोकानां मम चेश्वराः ॥ १६ ॥

पितर ऊचुः— य एष मन्युजस्तेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः॥ १७ ॥
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ॥ १८ ॥
अयं तिष्ठतु ते विप्र यदीच्छसि महोदधौ ।
मन्युजोऽग्निर्दहन्नापो लोका ह्यापोमयाः स्मृताः ॥१९॥
एवं प्रतिज्ञा सत्येयं तवाऽनघ भविष्यति ।
न चैवं सामरा लोका गमिष्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच— ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये ।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुङ्क्ते महोदधौ ॥ २१ ॥
महद्धयशिरो भूत्वा यत्तद्वेदविदो विदुः ।

लोकोंपर फिर अत्याचारके कारण बडा भय आन पडेगा। मैंने जिस क्रोधाग्निसे लोकोंको जलानेकी इच्छा की है, यदि उसे अपने तेजसे रोक लूं, तो वह अग्नि मुझकोही जला मारेगा। हे प्रभुगण! मै जानता हूं, कि आप सर्व लोकोंके हित चाहनेवाले है, सो ऐसी आज्ञा करे, कि मेरा और सर्व लोकों का मङ्गल होवे। (१४—१६)

पितृगण बोले, कि सबही लोक जलपर प्रतिष्ठित है, अतएव तुम्हारा जो क्रोधाग्नि सर्वलोकोंको खालेना चाहता है तुम उसको जलमें डाल दो, तबही तुम्हारा मङ्गल होगा। हे द्विजश्रेष्ठ! सब रस जलपूर्ण हैं,और सम्पूर्ण जगभी जल पूर्ण है, सो तुम इस क्रोधाग्नि को जलमें छोड दो,तुम्हारा क्रोधाग्नि महा समुद्रमें रहकर जलको जलाने लगेगा। हे विप्र! जब सम्पूर्ण लोक जलपूर्ण हैं, तब तुमने जैसा संकल्प किया है, वह पूरा नही होगा। हे अनघ! ऐसा होनेमे तुम्हारी प्रतिज्ञा भी सच्ची ठहरेगी और देव तथा मानवोंको परास्त भी नही होना पडेगा। (१७—२०)

वसिष्ठ बोले,कि अनन्तर और्वने अपने क्रोधसे उपजे हुए अग्निको समुद्रमें छोड दिया। वह अग्नि समुद्रमें रहकर जल पीया करता है। वेदके जानकार

तमाग्निमुद्गिरन्वक्त्रात्पिबत्यापो महोदधौ ॥ २२ ॥
तस्मात्त्वमपि भद्रं ते न लोकान्हन्तुमर्हसि ।
पराशर परॉंल्लोकाञ्जानञ्ज्ञानवतां वर॥ २३ ॥[७०३७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

गंधर्व उवाच -- एवमुक्तः स विप्रर्षिर्वसिष्ठेन महात्मना ।
न्ययच्छदात्मनः क्रोधं सर्वलोकपराभवात्॥ १ ॥
इजे च स महातेजाः सर्ववेदविदां वरः ।
ऋषी राक्षससत्रेण शाक्तेयोऽथ पराशरः ॥ २ ॥
ततो वृद्धांश्च बालांश्च राक्षसान्स महामुनिः ।
ददाह वितते यज्ञे शक्तेर्वधमनुस्मरन् ॥ ३ ॥
न हि तं वारयामास वसिष्ठो रक्षसां वधात् ।
द्वितीयामस्य मा भाङ्क्षं प्रतिज्ञामिति निश्चयात्॥४॥
त्रयाणां पावकानां च सत्रे तस्मिन्महामुनिः ।
आसीत्पुरस्ताद्दीप्तानां चतुर्थ इव पावकः ॥ ५ ॥
तेन यज्ञेन शुभ्रेण हूयमानेन शक्तिजः ।

ब्राह्मण लोग जिस महत् वडवामुखसे ज्ञात है, वह अग्नि वह वडवामुख बनकर उस मुखसे लोकोंमें प्रसिद्ध वाडवाग्नि वमन करता हुआ जल पीने लगा। हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पराशर! तुम भी सब परलोकोंसे ज्ञात हो, तुम्हारा मङ्गल होवे, सर्व लोकोंका विनाश करना तुमको नहीं सोहता है! (२१-२३)[७०३७]

आदिपर्वमें एकसौ बयासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ तिरासी अध्याय।

गन्धर्व बोले, कि विप्रर्षि पराशरने महात्मा वसिष्ठकी यह सब बातें सुनकर अपना सब लोकोंको पराभव करनेका क्रोध त्याग दिया। पर वह सब वेदोंके जानकारोंमें श्रेष्ठ बडे तेजस्वी शक्ति-पुत्र महर्षि पराशर राक्षस-यज्ञ करनेको प्रवृत्त हुए। अनन्तर उस महायज्ञके फैल पडने पर वह शक्तिका नष्ट होना स्मरण कर उस यज्ञसे बालकसे लेकर बूढे तक सम्पूर्ण राक्षसोंको जलाने लगे। वसिष्ठने यह समझ कर कि उनकी दूसरी प्रतिज्ञा भङ्ग करना उचित नहीं है, उनको राक्षस वध करनेसे नहीं रोका। महामुनि पराशर राक्षस-यज्ञमें प्रदीप्त तीनों पावकोंके सामने मानो चौथे पावकके समान सोहने लगे। (१—५)

तद्विदीपितमाकाशं सूर्येणेव घनात्यये ॥ ६ ॥
तं वसिष्ठादयः सर्वे मुनयस्तत्र मेनिरे ।
तेजसा दीप्यमानं वै द्वितीयमिव भास्करम्॥ ७ ॥
ततः परमदुष्प्रापमन्यैरत्रिरुदारधीः ।
समापिपयिषुः सत्रं तमत्रिः समुपागमत् ॥ ८ ॥
तथा पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्चैव महाक्रतुः ।
तत्राऽऽजग्मुरमित्रघ्न रक्षसां जीवितेप्सया ॥ ९ ॥
पुलस्त्यस्तु वधात्तेषां रक्षसां भरतर्षभ ।
उवाचेदं वचः पार्थ पराशरमरिन्दमम् ॥ १० ॥
कच्चित्ताताऽपविघ्नं ते कच्चिन्नन्दसि पुत्रक ।
अजानतामदोषाणां सर्वेषां रक्षसां वधात् ॥ ११ ॥
प्रजोच्छेदमिमं मह्यं न हि कर्तुं त्वमर्हसि ।
नैष तात द्विजातीनां धर्मो दृष्टस्तपस्विनाम्॥१२॥
शम एव परो धर्मस्तमाचर पराशर ।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन्कुरुषे त्वं पराशर ॥ १३ ॥
शक्तिं चापि हि धर्मज्ञं नाऽतिक्रान्तुमिहाऽर्हसि ।

शक्तिनन्दनने हवनयुक्त शुभ यज्ञसे इस प्रकार आकाश मण्डलको प्रदीप्त किया, कि जिस प्रकार दिवाकर बादल दूर होनेसे आकाश मण्डलको प्रकाशयुक्त करते हैं। तब वसिष्ठ आदि सम्पूर्ण महर्षि लोग अपने तेजसे जलते हुए पराशर मुनिको दूसरे प्रभाकर समझने लगे। अनन्तर उदार बुद्धियुक्त अत्रि औरोंके करनेके अयोग्य उस यज्ञको पूरा करनेकी इच्छासे उनके निकट आये। हे शत्रुनाशि! इसके पश्चात् पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और महाक्रतु यह सब राक्षसोंके प्राण बचानेके लिये वहां आये। (६–९)

हे भरतश्रेष्ठ! बहुत राक्षसोंके मारे जाने पर पुलस्त्य शत्रुमथन पराशरसे बोले, कि हे बेटा! तुम्हारे अग्निहोत्र कार्यमें विघ्न तो नहीं है? हे पुत्र! क्या तुम उन निर्दोष राक्षसोंको जो तुम्हारे पिताके वधके विषयमें कुछ नहीं जानते, मार कर आनन्द प्राप्त कर रहे हो? ए बेटा! मेरी प्रजाओंको इस प्रकार उखाडना तुमको नहीं चाहिये! तपस्वी ब्राह्मणोंका धर्म ऐसा नहीं है। हे पराशर! शान्ति ही उनका परम धर्म है, तुम वह धर्म करो। तुमने निष्पाप होकरके अधर्म युक्त कर्ममें हाथ डाला है! यह कर्म

प्रजायाश्च ममोच्छेदं न चैवं कर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥
शापाद्धि शक्तेर्वासिष्ठ तदा तदुपपादितम् ।
आत्मजेन स दोषेण शक्तिर्नीत इतो दिवम् ॥ १५ ॥
न हि तं राक्षसः कश्चिच्छक्तो भक्षयितुं मुने ।
आत्मनैवात्मनस्तेन सृष्टो मृत्युस्तदाऽभवत् ॥ १६ ॥
निमित्तमात्रस्तत्राऽऽसीद्विश्वामित्रः पराशर ।
राजा कल्माषपादश्च दिवमारुह्य मोदते ॥ १७ ॥
ये च शक्त्यवराः पुत्रा वसिष्ठस्य महामुने ।
ते च सर्वे मुदा युक्ता मोदन्ते सहिताः सुरैः ॥ १८ ॥
सर्वमेतद्वसिष्ठस्य विदितं वै महामुने ।
रक्षसां च समुच्छेद एष तात तपस्विनाम् ॥ १९ ॥
निमित्तभूतस्त्वं चाऽत्र क्रतौ वासिष्ठनन्दन ।
तत्सत्रं मुञ्च भद्रं ते समाप्तमिदमस्तु ते ॥ २० ॥
गन्धर्व उवाच— एवमुक्तः पुलस्त्येन वसिष्ठेन च धीमता ।
तदा समापयामास सत्रं शाक्तो महामुनिः ॥ २१ ॥
सर्वराक्षससत्राय संभृतं पावकं तदा ।

करके अपने पिता शक्तिका लङ्घन करना तुमको नही सोहता। (१०—१४)

हे वासिष्ठ! विना कारण मेरी प्रजाओं को सम्पूर्ण उखाडना तुमको नही चाहिये; क्योकि उस कालमें तुम्हारे पिताका जो अनिष्ट हुआ था वह केवल उनके अपनेही शापसे हुआ था वह अपनेही दोषसे इस लोकसे स्वर्गको सिधारे है। हे मुने! तुम्हारे पिताको खा-लेना किसी राक्षसकी सामर्थसे नहीं था, पर उन्होने आपही अपनी मृत्यु रची थी, विश्वामित्र इस विषयमें केवल निमित्तही बने थे। हे पराशर! अब शक्ति और राजा कल्माषपाद स्वर्गको सिधार कर सुख लूट रहे है और महामुनि वसिष्ठके शक्तिसे छोटे जो सब पुत्र थे वे भी देवोंके साथ परम आनन्द भोग रहे है; हे महामुने! वसिष्ठ सब जानते है। (१४—१९)

हे वासिष्ठनन्दन! इस यज्ञमें निर्दोष राक्षसोंका जो नाश होरहा है, तुम केवल उस के निमित्तही बन रहे हो; अतएव तुम यह यज्ञ त्याग दो, तुम्हारा मंगल होगा अब यह यज्ञ पूरा करो। गन्धर्व बोले कि बुद्धिमान पुलस्त्य और वसिष्ठ के महामुनि शक्तिनन्दन को ऐसा कहने पर उन्होंने तब उस यज्ञको पूरा किया

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे उत्ससर्ज महावने ॥ २२ ॥
स तत्राऽद्याऽपि रक्षांसि वृक्षानश्मन एव च।
भक्षयन्दृश्यते वह्निः सदा पर्वणि पर्वणि ॥ २३ ॥ [७०६०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

अर्जुन उवाच— राजा कल्माषपादेन गुरौ ब्रह्मविदां वरे ।
कारणं किं पुरस्कृत्य भार्या वै संनियोजिता ॥ १ ॥
जानता वै परं धर्मं वसिष्ठेन महात्मना ।
अगम्यागमनं कस्मात्कृतं तेन महर्षिणा ॥ २ ॥
अधर्मिष्ठं वसिष्ठेन कृतं चापि पुरा सखे ।
एतन्मे संशयं सर्वं छेत्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ३ ॥
गन्धर्व उवाच — धनञ्जय निबोधेदं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वसिष्ठं प्रति दुर्धर्ष तथा मित्रसहं नृपम् ॥ ४ ॥
कथितं ते मया सर्वं यथा शप्तः स पार्थिवः ।
शक्तिना भरतश्रेष्ठ वासिष्ठेन महात्मना ॥ ५ ॥
स तु शापवशं प्राप्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
निर्जगाम पुराद्राजा सहदारः परन्तपः ॥ ६ ॥

और सम्पूर्ण राक्षसोंने यज्ञके लिये जो अग्नि प्रज्वलित हुआ था उसको हिमाचल की उत्तर ओर बडे वनमें छोड दिया। वहां अभीतक यह दीख पडता है, कि वह अग्नि हर त्योहारमें राक्षस, वृक्ष और पत्थरोंको खालेता है। (२०-२३)[७०६०]

आदि पर्वमें एकसौ तिरासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ चौरासी अध्याय।

अर्जुन बोले, कि हे मित्र! राजा कल्माषपादने क्यों वेदज्ञश्रेष्ठ गुरु वसिष्ठ के प्रति स्त्रीको नियोग किया था? महात्मा महर्षि वसिष्ठभी क्यों धर्मके जानकार होकर मिलनेके अयोग्य स्त्रीसे जा मिले? क्या वह अधर्मयुक्त प्रवृत्त हुए थे? इस विषयमें मुझे शङ्का हो रही है, तुम उसे दूर करो। (१—३)

गन्धर्व बोले, कि हे दुर्द्धर्ष धनञ्जय! तुमने उस प्रजापालक राजा और वसिष्ठ के विषयमें जो कुछ पूछा, वह कहता हूं सुनो। हे भारतश्रेष्ठ! वसिष्ठपुत्र महात्मा शक्तिने जिसप्रकार शाप दिया था, वह मैंने सब सुनाया है। वह शत्रुमथन भूपाल शापग्रस्त होकर क्रोधयुक्तनेत्रसे स्त्रीके साथ नगरसे निकले; आगे निर्जन

अरण्यं निर्जनं गत्वा सदारः परिचक्रमे ।
नानामृगगणाकीर्णं नानासत्त्वसमाकुलम् ॥ ७ ॥
नानागुल्मलताच्छन्नं नानाद्रुमसमावृतम् ।
अरण्यं घोरसंनादं शापग्रस्तः परिभ्रमन् ॥ ८ ॥
स कदाचित्क्षुधाविष्टो मृगयन्भक्ष्यमात्मनः ।
ददर्श सुपरिक्लिष्टः कस्मिंश्चिन्निर्जने वने ॥ ९ ॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणीं चैव मिथुनायोपसंगतौ ।
तौ तं वीक्ष्य सुवित्रस्तावकृतार्थौ प्रधावितौ ॥ १० ॥
तयोः प्रद्रवतोर्विप्रं जग्राह नृपतिर्बलात् ।
दृष्ट्वा गृहीतं भर्तारमथ ब्राह्मण्यभाषत ॥ ११ ॥
शृणु राजन्मम वचो यत्त्वां वक्ष्यामि सुव्रत ।
आदित्यवंशप्रभवस्त्वं हि लोके परिश्रुतः ॥ १२ ॥
अप्रमत्तः स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतः ।
शापोपहत दुर्धर्ष न पापं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥
ऋतुकाले तु संप्राप्ते भर्तृव्यसनकर्शिना ।
अकृतार्था ह्यहं भर्त्रा प्रसवार्थं समागता ॥ १४ ॥
प्रसीद नृपतिश्रेष्ठ भर्ताऽयं मे विसृज्यताम् ।

वनमें जाकर स्त्रीके साथ घूमने लगे। शापग्रस्त भूपाल अनेक प्रकारके मृगोंसे भरे, भांति भांतिके वनके जीवोंसे पूरे, नाना वृक्ष और गुल्म लताओंसे ढपे और घोर शब्दसे गूंजते हुए उस बड़े वनमें घूमते हुए बहुत क्षुधित हुए; वह भोजनकी सामग्री ढूंढते हुए थक गये थे, कि ऐसे समयमें देखा, कि उस वनके एक निराले स्थानमें एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी मैथुनकर्ममें प्रवृत्त हैं। वे राजाको देखकरके ही काम पूरा न होने परभी अति भयभीत चित्तसे वहांसे उठ भागे। (४—१०)

राजाने उनके पीछे दौड़ कर उस दम्पतिमेंसे ब्राह्मणको पकड़ा। अनन्तर ब्राह्मणी पतिको पकड़े जाते देखकर बोली, कि हे सुव्रत महाराज! मैं जो कहती हूं सुनो। यह सर्वलोकोंमें प्रसिद्ध है, कि तुमने सूर्यवंशमें जन्म लिया है और प्रमत्त न होकर गुरुकी सेवा भी किया करते हो। हे दुर्द्धर्ष! अब तुम शापग्रस्त हुए हो, इससे तुमको ऐसा पाप करना नहीं चाहिये; इस समय मेरा ऋतुकाल आजाने पर मैं पतिसे मिल

एवं विक्रोशमानायास्तस्यास्तु स नृशंसवत् ॥ १५ ॥
भर्तारं भक्षयामास व्याघ्रो मृगमिवेप्सितम् ।
तस्याः क्रोधाभिभूताया यान्यश्रूण्यपतन्भुवि ॥ १६ ॥
सोऽग्निः समभवद्दीप्तस्तं च देशं व्यदीपयत् ।
ततः सा शोकसंतप्ता भर्तृव्यसनकर्शिता ॥ १७ ॥
कल्माषपादं राजर्षिमशपद्ब्राह्मणी रुषा ।
यस्मान्ममाऽकृतार्थायास्त्वया क्षुद्र नृशंसवत् ॥ १८ ॥
प्रेक्षन्त्या भक्षितो मेऽद्य प्रियो भर्ता महायशाः ।
तस्मात्त्वमपि दुर्बुद्धे मच्छापपरिविक्षतः ॥ १९ ॥
पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्षसि जीवितम् ।
यस्य चर्षेर्वसिष्ठस्य त्वया पुत्रा विनाशिताः ॥ २० ॥
तेन सगम्य ते भार्या तनयं जनयिष्यति ।
स ते वंशकरः पुत्रो भविष्यति नृपाधम ॥ २१ ॥
एवं शप्त्वा तु राजानं सा तमाङ्गिरसी शुभा ।
तस्यैव संनिधौ दीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ॥ २२ ॥
वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतद्वैक्षत ।

रही थी, पर मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ है; अतएव हे भूपश्रेष्ठ ! प्रसन्न होओ, मेरे पतिको छोड दो। (११—१५)

ब्राह्मणी यह सब कहती हुई रोने लगी, पर राजाने निर्दयी-पनसे उसके पतिको इस प्रकार खा लिया, कि जैसे व्याघ्र मृगको खाता है। तब ब्राह्मणीने क्रोधके मारे भूमि पर जो आंसू गिराये उनसे जलती हुई आग बनकर उस स्थानमें उजाला होगया; आगे पतिके बिछोहसे कातर, शोकसे विकल उस ब्राह्मणीने क्रोधके मारे राजर्षि कल्माषपादको यह कह शाप दिया, कि रे नीच ! मिलनके सुखसे मेरा मनोरथ सफल होते न होतेही तुमने कुबुद्धिसे निष्ठुरके समान मेरे सामने ही मेरे प्यारे अति यशोवन्त पतिको मार डाला, सो मेरे शापसे तुम घायल होकर ऋतुकालमें स्त्रीसे मिल करकेही उसीक्षण प्राण छोडोगे। तुमने जिन महर्षिके पुत्रोंको नष्ट किया है, तुम्हारी स्त्री उन्हींसे मिल कर पुत्र प्रसव करेगी। रे नृपाधम ! उसी पुत्रसे तेरे वंशकी रक्षा होगी। अङ्गिरा कुलसे उत्पन्न शुभ लक्षणयुक्त वह ब्राह्मणी राजाको यह शाप देकर

ज्ञानयोगेन महता तपसा च परन्तप ॥ २३ ॥
मुक्तशापश्च राजर्षि कालेन महता ततः ।
ऋतुकालेऽभिपतितो मदयन्त्या निवारितः ।
न हि सस्मार स नृपस्तं शाप काममोहितः ॥ २४ ॥
देव्याः सोऽथ वचः श्रुत्वा संभ्रान्तो नृपसत्तमः ।
तं शापमनुसंस्मृत्य पर्यतप्यद्भृशं तदा ॥ २५ ॥
एतस्मात्कारणाद्राजा वसिष्ठं संन्ययोजयत् ।
स्वदारेषु नरश्रेष्ठ शापदोपसमान्वितः ॥ २६ ॥ [७०८६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठोपाख्याने चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १८४ ॥

अर्जुन उवाच — अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद्गन्धर्व वेदवित् ।
पुरोहितस्तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥ १ ॥
गन्धर्व उवाच — यवीयान्देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति ।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणीध्वं यदीच्छथ ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच- ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद्यथाविधि ।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उनके सामनेही जली हुई आगमें जा घुसी । हे शत्रुमथन ! महाभाग वसिष्ठ तपोबलके कारण ज्ञानचक्षुसे वह सब जान गये । (१९—२३)

अनन्तर बहुत दिन पीछे राजर्षि शापसे मुक्त हुए । आगे एक समय मदयन्ती नाम्नी उनकी राणीका ऋतु काल आन पहुंचा । राजाके उनकी ऋतु रक्षाके लिये उद्यत होने पर मदयन्तीने उनको रोका । राजा कामसे मोहित होने परभी शापकी बातको सुनकर बहुत घबराये. और उस शापको स्मरण करतेही बहुत दुःखी हुए । हे नरवर ! शापग्रस्त राजाने इसी हेतु अपनी राणीकी ऋतुरक्षाके लिये वसिष्ठको नियुक्त किया था । (२४-२६) [७०८६]

आदिपर्वमें एकसौ चौरासी अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ पचासी अध्याय ।

अर्जुन बोले कि हे गन्धर्व ! तुम सब जानते हो , सो कहो , कि वेद जाननेवाले कौन ब्राह्मण हमारे पुरोहित होनेके योग्य है । गन्धर्व बोले , कि वनके भीतर उत्कोचक नाम तीर्थमें देवलके छोटे भाई धौम्य नामक ऋषि तप कर रहे हैं , तुम चाहो तो उनको पुरोहित बनाओ । वैशम्पायन बोले कि अनन्तर अर्जुन

त्वय्येव तावत्तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम ।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाऽब्रवीत् ४
तेऽन्योन्यमभिसंपूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह।
रम्याद्भागीरथीतीराद्यथाकामं प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥
तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते ।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत॥ ६ ॥
तान्धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः ।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥ ७ ॥
ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः।
मातृषष्ठास्तु ते तेन गुरुणा संगतास्तदा ॥ ८ ॥
ब्राह्मणं तं पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ॥ ९ ॥
पुरोहितेन तेनाऽथ गुरुणा संगतास्तदा ।
नाथवन्तमिवाऽऽत्मानं मेनिरे भरतर्षभाः॥ १० ॥
स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः ।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ११ ॥
वीरांस्तु स हि तान्मेने प्राप्तराज्यान्स्वधर्मतः ।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान्देवानिव द्विजः ॥ १२ ॥

प्रसन्न होकर उन गन्धर्वको विधिपूर्वक अग्न्यस्त्र देकर बोले, कि तुम्हारा मङ्गल होवे, तुम्हारे दिये हुए घोडे अभी तुम्हारेही पास रहें, जब काम पडेगा, तब लूंगा। अनन्तर पाण्डवगण और गन्धर्व एक दूसरेकी अभ्यर्थना करके रमणीय भागीरथी तटसे अपने अपने मनमाने स्थानोको पधारे। (१–५)

हे भारत। अनन्तर पाण्डवोने उत्कोचक तीर्थमें धौम्यके आश्रममें जाकर उनको पुरोहित बनाया। वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ धौम्यने वनके फलमूलोंसे उनको पूजित कर पुरोहित होना स्वीकार किया। माता के साथ पाण्डवोने उन ब्राह्मणको गुरुकी भांति पुरस्कृत कर ऐसा समझ लिया, कि राजलक्ष्मी और स्वयंवर स्थानमें पाञ्चाली मिल गयी। वे उन गुरु रूपी पुरोहितसे मिल कर अपनेको नाथयुक्त समझने लगे; क्योंकि वेदार्थतत्त्व जाननेवाले उदार बुद्धियुक्त वह ऋषि उनके गुरु हुए। (६—११)

धर्म जाननेवाले, सर्व विषयोंके जानकार उन द्विजने भी उनके गुरु स्वरूप नियुक्त होकर उनको यजमान बनाया।

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः ।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥१३॥ [७०९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि धौम्यपुरोहितकरणे पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८५॥

समाप्तं च चैत्ररथपर्व।

अथ स्वयंवरपर्व ।

वैशम्पायन उवाच—ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥ १ ॥
ते प्रयाता नरव्याघ्राः सह मात्रा परन्तपाः ।
ब्राह्मणान्ददृशुर्मार्गे गच्छतः सङ्गतान्बहून् ॥ २ ॥
त ऊचुर्ब्राह्मणा राजन्पाण्डवान्ब्रह्मचारिणः ।
क्व भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वाऽभ्यागता इह ॥३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—आगतानेकचक्रायाः सोदर्यानेकचारिणः ।
भवन्तो वै विजानन्तु सहमात्रा द्विजर्षभाः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः— गच्छताऽद्यैव पञ्चालान्द्रुपदस्य निवेशने ।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ॥ ५ ॥

उन्होंने बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साह युक्त देवोंके सदृश उन वीरोंको अपने धर्मके अनुसार राज्य पाये हुए समझा। उन ब्राह्मणके स्वस्त्ययन करने पर मानव श्रेष्ठ पाण्डवोंने एकत्र पाञ्चाल देशको स्वयंवर स्थानमें जाना निश्चय किया। (११—१३) [७०९९]

आदिपर्वमें एकसौ पचासी अध्याय और चैत्ररथ पर्व समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ छियासी अध्याय और स्वयंवर पर्व।

श्री वैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर पुरुषश्रेष्ठ पांचों पाण्डव महोत्सव युक्त पाञ्चाल देश और पाञ्चालीको देखनेको चले। शत्रुमथन, नरव्याघ्र भाइयोंने माताके साथ जाते समय पथमें एक साथ मिल कर अनेक ब्राह्मणोंको चलते देखा। हे राजन्! उन ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने पाण्डवोंसे कहा, कि आप कहां जायेंगे? कहांसे आते हैं? युधिष्ठिरने उत्तर दिया हम पांचो भाई माताके साथ मिलकर घूमा करते हैं; अब एकचक्रा नगरीसे आरहे हैं। (१–४)

ब्राह्मणोंने कहा, कि आप लोग आजही पाञ्चाल नगरमें राजा द्रुपदके घरको जाइए; वहां बहुत धन व्यय कर भारी

एकसार्थंप्रयाताः स्म वयं तत्रैव गामिनः ।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ॥ ६ ॥
यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः ।
वेदीमध्यात्समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा ॥ ७ ॥
दर्शनीयाऽनवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी द्रोणशत्रोः प्रतापिनः ॥ ८ ॥
यो जातः कवची खड्गी सशरः सशरासनः।
सुसमिद्धे महाबाहुः पावके पावकोपमः ॥ ९ ॥
स्वसा तस्याऽनवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात्प्रवाति वै१०॥
यज्ञसेनस्य च सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम् ।
गच्छामो वै वयं द्रष्टुं तं च दिव्यं महोत्सवम्११॥
राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः॥१२॥
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः ।
महारथाः कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः ॥१३॥

भीड भडाके से स्वयंवर होगा । हमभी वहां जा रहे हैं, चलें एकही साथ जायं, वह आश्चर्य महोत्सव होगा, पांचालनाथ महात्मा यज्ञसेन राजा द्रुपदकी सुकुमारी मनस्विनी देखनेके योग्य उस पुत्रीने वेदीमेंसे जन्म लिया है, जिसकी आंखे पद्मकी भांति है, जिसका कोई अङ्ग निन्दनीय नही है और जिसके नील पद्मसी गन्ध कोस भरकी दूरीसे भी अनुभव होती है, स्वयंवरा होना निश्चय किया है। वह सुन्दरी अनिंदितांगी उस महाभुज अग्नि समान प्रतापी धृष्टद्युम्नकी बहिन है जिसने द्रोणको मारनेके लिये जलती हुई आगसे खड्ग, कवच, शर, शरासन आदिके साथ जन्म लिया है। (५-११)

हम उस द्रौपदी और महोत्सवको देखनेको जाते है। उस महोत्सवमे बहुत दक्षिणा देनेवाले, यज्ञशील, स्वाध्यायमें नियुक्त, पवित्र, स्वधर्मनिष्ट, महात्मा तरुण अवस्थायुक्त सुन्दर अस्त्र विद्यामें पण्डित महारथी भूमिपालक राजालोग और राज कुमारगण अनेक देशोसे आवेगे! वे उस स्वयंवरके स्थान पर विजयकी आशासे गौ, धन, भक्ष्य, भोज्य आदि दान करने योग्य अनेक

ते तत्र विविधान्दायान्विजयार्थं नरेश्वराः ।
प्रदास्यन्ति धनं गाश्च भक्ष्यं भोज्यं च सर्वशः १४ ॥
प्रतिगृह्य च तत्सर्वं दृष्ट्वा चैव स्वयंवरम् ।
अनुभूयोत्सवं चैव गमिष्यामो यथेप्सितम् ॥१५॥
नटा वैतालिकास्तत्र नर्तकाः सूतमागधाः ।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ॥१६॥
एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च ।
सहाऽस्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ ॥१७॥
दर्शनीयांश्च वः सर्वान्देवरूपानवस्थितान् ।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत्संगत्यैकतमं वरम् ॥ १८ ॥
अयं भ्राता तव श्रीमान्दर्शनीयो महाभुजः ।
नियुज्यमानो विजये संगत्या द्रविणं बहु ॥
आहरिष्यन्नयं नूनं प्रीतिं वो वर्धयिष्यति ॥ १९ ॥
युधिष्ठिर उवाच— परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं चैव महोत्सवम् ।
भवद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम् ॥२०॥[७११०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवागमने षडशीत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १८६ ॥

सामग्री सर्वप्रकारसे दान देंगे ! हम वह सब लेकर और स्वयंवर तथा महोत्सव देखनेके पीछे अपनी इच्छासे घरको लौटेंगे । स्वयंवर स्थलमें नाना देशोंसे नट-भांति भांतिके वेश धरने वाले वैतालिक-मङ्गल गान वाले. सूत—पुराणकी कथा कहनेवाले. मागध—वलकी सूचना देने-वाले. महाबली पहलवान और नाचने-वाले आवेंगे । (१२ —१६

हे महात्माओ' आपभी दान लेकर. इस आनन्दको भोगकर फिर हमलोगोंके सग लौटना । आप सबोंको देवोंकी भांति सुन्दर देखते हैं: स्वयंवर स्थानमें आपके रहने से द्रौपदी आपको देख करके देववश आपलोगोंमेंसे श्रेष्ठ किसीको वरणभी कर सकती है । आपके इस भाईको महाभुज श्रीमान और दर्शनयोग्य कार्य कुशल देखते हैं । इनके वर किये जानेसे दैववश बहुत धनभी पासकते हैं: युधि-ष्ठिर बोले. कि हम सब आप लोगोंके साथ द्रौपदीके उस परम महोत्सव युक्त स्वयंवरको देखने जायगे । (१७-२०)

[illegible]

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय ।
राजा दक्षिणपञ्चालान्द्रुपदेनाऽभिरक्षितान्॥ १ ॥
ततस्तेषु महात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम् ।
ददृशुः पाण्डवा वीरा मुनिं द्वैपायनं तदा ॥ २ ॥
तस्मै यथावत्सत्कारं कृत्वा तेन च सत्कृताः ।
कथान्ते चाऽभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम् ॥ ३ ॥
पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च ।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः ॥ ४ ॥
स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः ।
आनुपूर्व्येण संप्राप्ताः पञ्चालान्पाण्डुनन्दनाः॥५॥
ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः ।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा ॥ ६ ॥
तत्र भैक्ष्यं समाजन्हुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः ।
तान्संप्राप्तांस्तथा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित्॥ ७ ॥
यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने ।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद्विवृणोति सः॥ ८ ॥

आदिपर्वमें एकसौ सतासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय! पाण्डव लोग ब्राह्मणोंसे वह सब बातें सुनकर द्रुपदके शासन किये जाते हुए दक्षिणीय पाञ्चालमें जाने लगे। पथमें पापके स्पर्शसे खाली विशुद्ध स्वभावी महात्मा मुनि द्वैपायनको देखकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की और वे भी उनसे सत्कार किये जाकर नाना वार्त्तालापके पीछे उनकी आज्ञासे द्रुपदके भवनकी ओर चले। स्वाध्यायमें नियुक्त, अचले, पवित्र, सुन्दर-दर्शन, मीठी वाणी बोलनेवाले, महारथी पाण्डवगण पथमें सुन्दर सुन्दर वन और ताल देखकर उन स्थानोंमें ठहर ठहर कर धीरे धीरे चलते पाञ्चाल देशमें पहुंच गये। (१–५)

वे पाञ्चाल नगर और वहांके सेनालयको देखकर एक कुंभार के घरमें टिके रहे वहां ब्राह्मणकी चाल लेकर भीख मांग मांग पेट पालते हुए वसे रहे; तिससे यज्ञमें आये हुए उन वीरोंको किसीने नहीं जाना। (६–७)

राजा यज्ञसेनकी सदा यह कामना थी, कि पाण्डपुत्र किरीटी अर्जुनकोही कन्या दान करें; पर उन्होंने यह बात

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय।
दृढं धनुरनायम्यं कारयामास भारत ॥ ९ ॥
यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम् ।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः ॥१०॥
द्रुपद उवाच— इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः ।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति॥११॥
वैशम्पायन उवाच—इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत् ॥ १२ ॥
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ।
ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः ॥ १३ ॥
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ।
ब्राह्मणाश्च महाभागा देशेभ्यः समुपागमन्॥१४॥
ततोऽर्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना ।
उपोपविष्टा मञ्चेषु द्रष्टुकामाः स्वयंवरम् ॥ १५ ॥
ततः पौरजनाः सर्वे सागरोद्धूतनिःस्वनाः ।
शिशुमारशिरः प्राप्य न्यविशंस्ते स्म पार्थिवाः १६
प्रागुत्तरेण नगराद्भूमिभागे समे शुभे ।

किसीसे प्रगट नहीं की। हे जनमेजय! उन्होंने कुन्तीपुत्र अर्जुनको स्मरण कर ऐसा एक दृढ चाप बनवाया, कि जिसे अर्जुनके बिना, कोई दूसरा नवा न सके, और आकाशमे स्थित एक कृत्रिम यन्त्र बनाकर उस यन्त्रमें एक लक्ष्य जोडवाया। आगे बोले, कि जो राजा इस शरासनमें गुण चढाकर उस सजे हुए सायकसे उस यन्त्रको पार कर लक्ष्यको विद्ध कर सकेंगे, वही मेरी कन्याको लाभ करेंगे। ८-११

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! राजा द्रुपदके ऐसे स्वयंवर की सूचना देने पर राजालोग उसे सुनकर वहां आने लगे, और नाना देशोंसे महात्मा महर्षिलोग, महाभाग ब्राह्मणगण और कर्ण तथा दुर्योधनादि कौरव स्वयंवरके देखने के लिये आ पहुंचे। महात्मा राजा द्रुपदने उन सब भूपालोंका सत्कार किया। अनन्तर पुरवासी लोग महासमुद्रसे उठती हुई लहरकी भांति बडा कोलाहल मचाते हुए द्रौपदीके स्वयंवरको देखनेकी इच्छा से निकटकी एक एक वेदी पर बैठने लगे। राजालोग शिशुमारशिर नामके स्थानसे होकर सभामें प्रविष्ट होने लगे। (१२-१६)

नगरके ईशान कोनमें अच्छी समभूमि पर चारों ओर [illegible] घिरी हुई

समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥ १७ ॥
प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः ।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलंकृत ॥ १८ ॥
तूर्यौघशतसंकीर्णः पराध्यागुरुधूपितः ।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः ॥ १९ ॥
कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः ।
सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ॥ २० ॥
सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषितैः ।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ॥ २१ ॥
स्रग्दामसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः ।
हंसांशुवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ॥ २२ ॥
असंबाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः ।
बहुधातुपिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ॥ २३ ॥
तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः ।
स्पर्धमानास्तदाऽन्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः॥२४॥
तत्रोपविष्टान्ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान् ।

स्वयंवरकी सभा शोभा पारही थी। वह सभा खन्दक और प्राचीरोंसे घेरी, द्वार तोरणसे जडी, सर्वत्र चंदवेसे साजी, सैकडों तूर्योंसे बजती, अच्छे अगुरुकी गन्धसे सुगन्धित, चन्दनके जलसे अभिषिक्त और फूलके हारोंसे भले प्रकार सुशोभित थी। उसके चारों ओर सोनेके जालसे सजेधजे, मणिमय कुट्टिमोंसे सुहावने,अच्छे अच्छे आसन और साजोंसे बनेठने चढनेमें सुखदायी सीढीयुक्त, कैलासकी चोटीकी नाई आकाशको चूमने वाले ऊंचे बडे बडे शुभ्र भवन शोभा पा रहे थे! हंसकी गर्दनके रंगकी भांति धौले, जनोंसे भरे, शय्या और आसनोंसे सुशोभित, हिमाचलकी चोटिकी नाई धातुओंसे रंगे और अच्छे अगुरुकी गन्धसे सुगन्धित उन सब भवनोकी सुगन्ध योजन भरकी दूरीसे भी अनुभव होती रही; उन सब भवनोके सैकडों द्वार इतने लम्बे चौडे थे, कि एक बारही बहुत लोगोंके जानेसेभी एक दूसरे की बाधा नही होती थी। (१७-२३)

सब भूप अच्छे प्रकार अलंकृत और एक दूसरे पर अहङ्कारयुक्त होकर उन सब भांति भांतिके साततल्ले भवनोंमें जा बैठे। महासत्त्ववान् अति पराक्रमी,

राजसिंहान्महाभागान्कृष्णागुरुविभूषितान् ॥ २५ ॥
महाप्रसादान्ब्रह्मण्यान्स्वराष्ट्रपरिरक्षिणः ।
प्रियान्सर्वस्य लोकस्य सुकृतैः कर्मभिः शुभैः ॥ २६ ॥
मञ्चेषु च परार्ध्येषु पौरजानपदा जनाः ।
कृष्णादर्शनसिध्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥ २७ ॥
ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन् ।
ऋद्धिं पञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥ २८ ॥
ततः समाजो ववृधे स राजन्दिवसान्बहून् ।
रत्नप्रदानबहुलः शोभितो नटनर्तकैः ॥ २९ ॥
वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे ।
आप्लुतांगी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ॥ ३० ॥
मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम् ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ॥ ३१ ॥
पुरोहितः सोमकानां मन्त्रविद्ब्राह्मणः शुचिः ।
परिस्तीर्य जुहावाऽग्निमाज्येन विधिवत्तदा ॥ ३२ ॥
सतर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ॥ ३३ ॥

महाभाग महाप्रसाद तथा गुणयुक्त निज राज्योंके पालन करनेवाले, शुभकर्मों से सब लोगोंके प्यारे और कृष्णागुरु से सजे उन सब राजसिंहोंके उन स्थानों में बैठ जाने पर, द्रौपदीके देखनेके अभिप्रायसे चारों ओर अच्छी वेदियों पर बैठे हुए नगर और जनपदवासी उन लोगोंको देखने लगे। ॥ २५—२७

पाण्डवलोग ब्राह्मणसमाजके साथ एकत्र बैठकर राजा पाञ्चालका महत् ऐश्वर्य देखने लगे। नट और नाचनेवालों के नाच आदि और दानादिक अनेक धन रत्नोंके दानसे सुशोभित वह सभा बहुत दिनों तक इस प्रकारसे बढ़ने लगी। हे भरतश्रेष्ठ! सोलहें दिन द्रौपदी नहा धोकर और सब आभूषणोंसे बन ठनके विचित्र वस्त्र पहिने सुशोभित सुवर्ण माला लेकर उस सुन्दर समाजकी रंगभूमिपर आ पहुंची। सोमकनके पुरोहित मन्त्रज्ञ ब्राह्मण ने शुचि होकर कुश फैलाकर यथाविधि अग्निमें आहुति देके उसके हविसे हविर्भोजी अग्निको तृप्त कर और ब्राह्मणोंसे स्वस्ति कहलाकर चारों ओरके बाजोंकी ध्वनिको रोका। ॥ २८—३३ ॥

निःशब्दे तु कृते तस्मिन्धृष्टद्युम्नो विशांपते ।
कृष्णामादाय विधिवन्मेघदुन्दुभिनिस्वनः ॥ ३४॥
रंगमध्ये गतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा ।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥ ३५ ॥
इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः ।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ३६ ॥
एतन्महत्कर्म करोति यो वै कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।
तस्याऽद्य भार्या भगिनी ममेयं कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ३७
तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः पश्चादिदं तां भगिनीमुवाच ।
नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च संकीर्तयन्भूमिपतीन्समेतान् ३८ [७१८७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नवाक्ये सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच— दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः ।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनस्तथा ॥ १ ॥
युयुत्सुर्वायुवेगश्च भीमवेगरवस्तथा ।
उग्रायुधो बलाकी च करकायुर्विरोचनः ॥ २ ॥
कुण्डकश्चित्रसेनश्च सुवर्चाः कनकध्वजः ।

हे पृथ्वीनाथ ! अनन्तर सभाके चुप होने पर बादल और नगाडेकी भांति स्वरयुक्त धृष्टद्युम्नने यथाविधि द्रौपदीको लेकर रंगमें खडे होकरके मेघके समान गंभीर बडे शब्दसे यह अर्थयुक्त मनोहर अच्छी बात कही, कि हे उपस्थित भूपालो ! सुनो, यह शरासन, यह तेज पांच बाण और आकाशमें स्थित लक्ष्य दीख पडता है, इन पांच बाणोंसे उस यन्त्रके छिद्रको विद्ध करना होगा; मैं सत्य करके कहता हूं, कि रूपवान् बली, कुलीन जो राजा इस महत् कार्यको पूरा कर सकेंगे, मेरी बहिन यह कृष्णा आज उनकी भार्या होगी। द्रुपदकुमार आये हुए भूपालोंसे यह कहकर आगे उनके नाम, गोत्र और कर्मको सुना कर बहिनसे कहने लगे। (३४—३८) [७१८७]

आदिपर्वमें एकसौ सतासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ अठासी अध्याय

धृष्टद्युम्न बोले, कि दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन, युयुत्सु, वायुवेग, भीमवेगरव, उग्रायुध, बलाकी, करकायु, विरोचन, कुण्डल, चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज,

नन्दको बाहुशाली च तुहुण्डो विकटस्तथा ॥ ३ ॥
एते चान्ये च बहवो धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः ॥ ४ ॥
असंख्याता महात्मानः पार्थिवाः क्षत्रियर्षभाः ।
शकुनिः सौबलश्चैव वृषकोऽथ बृहद्बलः ॥ ५ ॥
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः ।
अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतां वरौ ॥ ६ ॥
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ ।
बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च पार्थिवः ॥ ७ ॥
सहदेवजयत्सेनौ मेघसन्धिश्च पार्थिवः ।
विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च ॥ ८ ॥
वार्धक्षेमिः सुशर्मा च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।
सुकेतुः सह पुत्रेण सुनाम्ना च सुवर्चसा ॥ ९ ॥
सुचित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा ।
सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा ॥ १० ॥
अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः ।
समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान् ॥ ११ ॥
जलसन्धः पितापुत्रौ विदण्डो दण्ड एव च ।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान ॥ १२ ॥

नन्दक बाहुशाली, तुहुण्ड, विकट, यह सब और दूसरे महाबली धृतराष्ट्र-कुमार बहुतेरे कर्णके साथ तुम्हारे लिये आये हैं और अगणित क्षत्रियश्रेष्ठ महात्मा राजालोग उपस्थित हुए हैं। शकुनि, सौबल वृषक, बृहद्बल, यह सब गान्धार राजकुमार आये हैं। सर्वास्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महात्मा अश्वत्थामा और भोज अलङ्कृत होकर तुम्हारे लिये आये हैं। १—७

बृहन्त मणिमान, दण्डधर, सहदेव, जयत्सेन, मेघसन्धि, शंख और उत्तर नामक दो पुत्रोंके साथ विराट, वार्धक्षेमि, सुशर्मा, सेनाबिन्दु सुवर्च और सुनामा नामक दो पुत्रोंके साथ सुकेतु, सुचित्र, सुकुमार, वृक, सत्यधृति, सूर्यध्वज, रोचमान नील, चित्रायुध अंशुमान, चेकितान, महाबली श्रेणिमान, समुद्रसेनके पुत्र प्रतापी चन्द्रसेन, जलसन्ध, विदण्ड और दण्ड यह दो

कालिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा ।
मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः ॥ १३ ॥
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च ।
कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्रश्चाऽस्य महारथः ॥ १४ ॥
समवेतास्त्रयः शूरा भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढधन्वा च पौरवः ॥ १५ ॥
बृहद्बलः सुषेणश्च शिबिरौशीनरस्तथा ।
पटच्चरनिहन्ता च कारूषाधिपतिस्तथा ॥ १६ ॥
संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान् ।
साम्बश्च चारुदेष्णश्च प्राद्युम्निः सगदस्तथा॥ १७ ॥
अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महामतिः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १८ ॥
विदूरथश्च कङ्कश्च शंकुश्च सगवेषणः ।
आशावहोऽनिरुद्धश्च समीकः सारिमेजयः ॥ १९ ॥
वीरो वातपतिश्चैव झिल्ली पिण्डारकस्तथा ।
उशीनरश्च विक्रांतो वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः ॥ २० ॥
भगीरथो बृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
बृहद्रथो बाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः ॥ २१ ॥
उलूकः कैतवो राजा चित्राङ्गदशुभांगदौ ।
वत्सराजश्च मतिमान्कोसलाधिपतिस्तथा ।

पिता पुत्र, पौण्ड्रक वासुदेव, वीर्य्यवान् भगदत्त, कलिंग, ताम्रलिप्त, पत्तनाधिपति, पुत्रके साथ महारथी मद्रराज शल्य, वीर रुक्माङ्गद, रुक्मरथ, कौरव्य सोमदत्त, सोमदत्तके पुत्र महारथी भूरि, भूरिश्रवा, और शल एकत्र यह तीन वीर; सुदक्षिण, काम्बोज, पौरव दृढधन्वा, बृहद्बल, सुषेण, औशीनर शिबि, पटच्चरनिहन्ता, कारुषाधिप, बलदेव, कृष्ण, वीर्यवन्त रौक्मिणेय, साम्ब, चारुदेष्ण, प्राद्युम्नि, गद, अक्रूर, सात्यकि, महामति उद्धव, कृतवर्मा, हार्दिक्य, पृथु, विपृथु, विदूरथ, कंक, शंकु, गवेषण, आशावह, अनिरुद्ध, समीक, सारिमेजय, वीर वातपति, झिल्लि, पिण्डारक, विक्रमी उशीनर, यह सब वृष्णिगण, भगीरथ, बृहत्क्षत्र, सैन्धव, जयद्रथ, बृहद्रथ, बाह्लिक, महारथी श्रुतायु, उलूक, कैतव,

शिशुपालश्च विक्रान्तो जरासन्धस्तथैव च ॥ २२ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ॥ २३ ॥
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थे लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥२४॥ [७१९१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजकीर्तनेऽष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

वैशम्पायन उवाच–तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः परस्परं स्पर्धमाना नरेन्द्राः ।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ॥ १ ॥
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव शीलेन वित्तेन च यौवनेन ।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥
परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः संकल्पजेनाऽभिपरिप्लुताङ्गाः ।
कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ३ ॥
ते क्षत्रिया रंगगताः समेता जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम् ।
चकाशिरे पर्वतराजकन्यामुमां यथा देवगणाः समेताः ॥ ४ ॥
कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः ।

चित्राङ्गद, शुभाङ्गद, मतिमान वत्सराज, कोशलाधिप, शिशुपाल और विक्रमी जरासन्ध। हे भद्रे! भूमण्डलमें प्रसिद्ध विक्रमी यह सब राजा और क्षत्रियवंशी नाना जनपदनाथ तुम्हारे लिये इस अच्छे लक्ष्यको भेद करनेकी इच्छासे आये हैं; हे शुभे! जो इस लक्षको विद्ध करेंगे उनको तुम वरण करना। (७—२४) [७१०१]

आदिपर्वमें एकसौ अठासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ नवासी अध्याय।

श्री वैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर कुण्डलादि अलंकारोंसे सजे हुए युवा नरेन्द्रगण सबो कोई अपनेको अस्त्रविद्यामें पण्डित और बली समझकर एक दूसरे पर अहंकारयुक्त होकरके अस्त्र लेकर उठके खडे हुए। वे धन, यौवन, कुल, शील, रूप और वीर्यसे हिमाचलमें जन्मे मदमत्त हस्तीकी भांति अति दर्पयुक्त होकर एक दूसरेको निहारने लगे और कामके वशमें होकर यह कहते हुए, कि "द्रौपदी मेरीही होगी" एकायक राजासनसे उतरे। रङ्गभूमिमें उतरे हुए क्षत्रिय लोगोंने द्रुपदकन्याको जय करनेकी इच्छासे उसके चारों ओर खडे होकर ऐसी अपूर्व शोभा धारण की, कि जैसी देवोंने गिरिराज पुत्री उमा

रङ्गावतीर्णां द्रुपदात्मजार्थं द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ५ ॥
अथाऽऽययुर्देवगणा विमानै रुद्रादित्या वसवोऽथाऽश्विनौ च ।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ॥ ६ ॥
दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च गन्धर्वमुख्याः सह चाऽप्सरोभिः ॥ ७ ॥
हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथाप्रधानम् ।
प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा तु तान्मत्तगजेन्द्ररूपान्पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान् ।
भस्मावृतांगानिव हव्यवाहनान्कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ॥ ९ ॥
शशंस रामाय युधिष्ठिरं स भीमं सजिष्णुं च यमौ च वीरौ ।
शनैः शनैस्तान्प्रसमीक्ष्य रामो जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ॥ १० ॥
अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः कृष्णागतैर्नेत्रमनःस्वभावैः ।
व्यायच्छमाना ददृशुर्न तान्वै संदष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः ॥ ११ ॥
तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते वीरौ यमौ चैव महानुभावौ ।

को घेरकर धरी थी । (१--४)

वे कामदेवके बाणोंसे जल कर द्रौपदी लाभकी आशामे हृदयमें उसीको भरकर प्यारे मित्रोंकाभी द्वेष करने लगे। अनन्तर रुद्रगण, आदित्यगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, मरुद्गण, यमराज,कुवेर और सपूर्ण देवगण, रथों पर चढके वहां आगये । दैत्यगण, सुपर्णगण, देवर्षिगण, गुह्यकगण, चारण गण, विश्वावसु, नारद, ऋषि पर्वत और अप्सराओंके साथ प्रधान प्रधान गन्धर्व वहां आ पहुंचे। हलायुध, कृष्ण और कृष्णके मतको माननेवाले प्रधान प्रधान वृष्णिगण, अन्धकगण और यादवगण, इधर उधर देखने लगे। (५—८)

यदुवीरोंमे प्रधान कृष्ण पद्मकी ओर दौडते हुए गजराजकी भांति द्रौपदीकी ओर मुख किये और भस्मसे ढंपे हुए अग्निसदृश उन उन्मत्त हस्तीके समान पांच पाण्डवोंको देख कर सोचने लगे और बलदेवजीसे बोले, कि मुझको जान पडता है, कि यह युधिष्ठिर, यह भीम, यह अर्जुन, यह नकुल और यह सहदेव है। बलदेवजीने भी धीरे धीरे उनको निहार कर प्रसन्न हृदयसे जनार्दनकी ओर देखा। दूसरे वीर राजपौत्र और राजपुत्र लोग नेत्रोंको लाल कर होठोंको काटते हुए द्रौपदीकी ओर स्वभाव मन और नेत्र अर्पण कर द्रौपदीकोही देखने लगे; पाण्डवोंकी ओर उनकी

तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ॥ १२ ॥
देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम् ।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणम् ॥ १३ ॥
महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च बभूव तत्संकुलमन्तरिक्षम् ।
विमानसंबाधमभूत्समन्तात्सवेणुवीणापणवानुनादम् ॥ १४ ॥
ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च ।
सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्यद्रौणायनिक्राथसुनीथवक्राः ॥ १५ ॥
कलिंगवंगाधिपपाण्ड्यपौण्ड्रा विदेहराजो यवनाधिपश्च ।
अन्ये च नानानृपपुत्रपौत्रा राष्ट्राधिपाः पङ्कजपत्रनेत्राः ॥ १६ ॥
किरीटहाराङ्गदचक्रवालैर्विभूषिताङ्गाः पृथुबाहवस्ते ।
अनुक्रमं विक्रमसत्त्वयुक्ता बलेन वीर्येण च नर्दमानाः ॥ १७ ॥
तत्कार्मुकं संहननोपपन्नं सज्यं न शेकुर्मनसाऽपि कर्तुम् ।
ते विक्रमन्तः स्फुरिताधरोष्ठा विक्षिप्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः ॥ १८ ॥
विचेष्टमाना धरणीतलस्था यथाबलं शैक्ष्यगुणक्रमाश्च ।

दृष्टि भी नहीं पडी । पृथुबाहु--पृथापुत्र युधिष्ठिर भीम और अर्जुन तथा महानुभाव वीर नकुल और सहदेव यह सब भी उस समय द्रौपदीको देखकर मदनबाणसे घायल हुए थे। (९—१२)

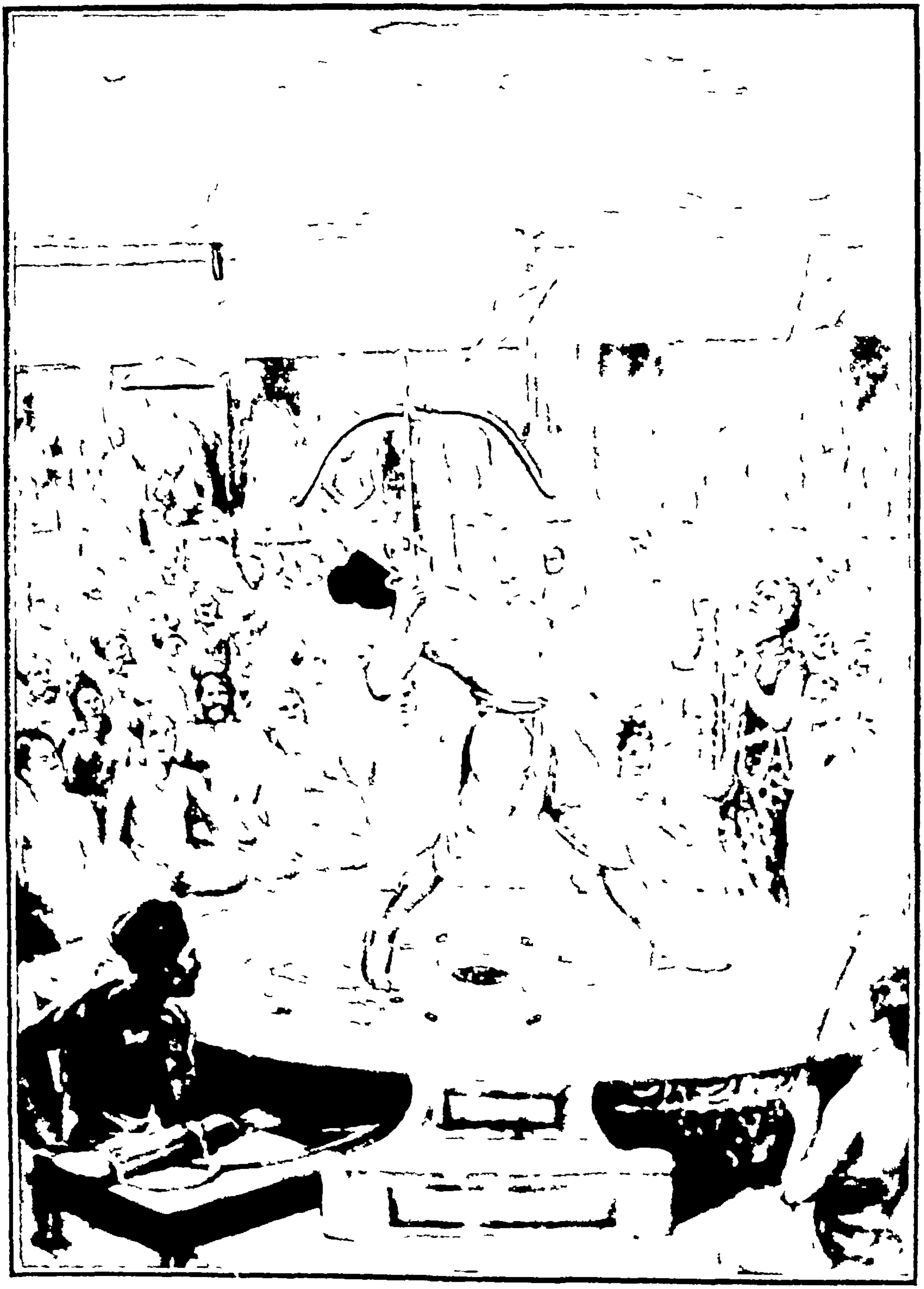
तब दिव्य गन्धकी उमङ्गसे भरे दिव्य फूलोंसे पूरे वेणु वीणा पणव आदिकी ध्वनिसंयुक्त और बडे बडे नगाडोंके शब्दसे गूंजते हुए उस स्थानका आकाश सर्वत्र देव, ऋषि, गन्धर्व, सुपर्ण, नाग, असुर और सिद्धोंसे भर जानेके कारण वहांसे आपसकी रुकावट होने लगी। कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, द्रौणायनि, क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिंगाधिप वंगाधिप पाण्ड्य, पौण्ड्र राजा विदेह, यवनराज यह सब राजा और दूसरे राजाधिप पद्मपलाशनेत्र राजपुत्र तथा राजपौत्र लोग द्रौपदीके लिये क्रमशः विक्रम प्रगट करने लगे। १३-१६

किरीट, हार, केयूर, चक्रवाल आदि नाना आभूषणोंसे सजे विक्रमी सत्त्ववान और बलवीर्यसे गरजते और गर्जते हुए वे सब सुबाहु भूपाल गर्व भारी उस चापमें गुण चढानेकी कल्पना मनमें भी नहीं ला सके। उन्होंने होंठोंको फुलाकर अपने बल, शिक्षा, गुण और क्रमके अनुसार ज्यों धनुषको नवाने और उस पर गुण चढानेको विक्रम प्रगट किया त्यों ही उस धनुषकी कोटिने भगाये और फेंके जाकर धरती पर लोट

गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा विनिःश्वसन्तः शमयांबभूवुः॥१९॥
हाहाकृतं तद्धनुषा दृढेन विस्रस्तहारांगदचक्रवालम् ।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकामं राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत्२०
सर्वान्नृपांस्तान्प्रसमीक्ष्य कर्णो धनुर्धराणां प्रवरो जगाम ।
उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्सज्यं चकाराऽऽशु युयोज बाणान्२१॥
दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा भित्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम् ।
धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञमत्यग्निसोमार्कमथाऽर्कपुत्रम् ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चैर्जगाद नाऽहं वरयामि सूतम् ।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् २३
एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥ २४ ॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादाय्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २५ ॥
ततो राजा महावीर्यो जरासन्धो महाबलः ।

गये और चेष्टासे मनको हटाया; इससे उनके पहिने हुए किरीट आदि आभूषण अङ्गसे च्युत हो गये और वे बल खोकर बार बार हांफते हुए चुप हो बैठे। तब कठिन शरासनसे भयभीत और अलंकारोंसे च्युत वे भूपगण द्रौपदीकी आशा छोड कर हाय हाय करने लगे। (१७-२०)

इस प्रकार उन सब राजाओंको दुःखित अवलोकन करके, धनुर्धारियों में श्रेष्ठ कर्ण धनुष्यके समीप गया। उस धनुष्यको उठा और प्रत्यंचा चढा कर, उस पर बाणभी लगाने लगा। तब रागसे लक्ष्यभेद की प्रतिज्ञा करनेवाले और स्वयं अग्नि, इन्द्र, चन्द्र तथा यम से भी अति तेजस्वी, कर्णको देख कर सब राजालोग समझने लगे, कि इसने लक्ष्य भेद करके उसको पृथ्वीपर गिराया ही है! परंतु इतनेमें उसको अवलोकन करके द्रौपदीने उच्च स्वर से कहा, कि "मैं सूत जातीय वीरके साथ विवाह नहीं करूंगी।" तब क्रोध पूर्वक हास्य करके सूर्यको देख कर कर्णने उस धनुष्य को फेंक दिया। इस रीतिसे सब भूपाल चारों ओर से निवृत्त होनेके पश्चात् दमघोष पुत्र, महाबली, अंतक सम महामति शिशुपाल उठा और धनुष्य उठाने लगा, तो उस कार्यके लिये उसको घुटने भूमिपर लगाने पडे! उसके पश्चात् महावीर्यवान् और महाबलाढ्य जरासंध राजा धनुष्यके पास



स्वयंवरके समय अर्जुन लक्ष्यभेद करता है।

गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा विनिःश्वसन्तः शमयांबभूवुः ॥१९॥
हाहाकृतं तद्धनुषा दृढेन विस्रस्तहारांगदचक्रवालम् ।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकामं राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत् २०
सर्वान्नृपांस्तान्प्रसमीक्ष्य कर्णो धनुर्धराणां प्रवरो जगाम ।
उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्सज्यं चकाराऽऽशु युयोज बाणान् २१॥
दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा भित्त्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम् ।
धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञमत्यग्निसोमार्कमथाऽर्कपुत्रम् ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चैर्जगाद नाऽहं वरयामि सूतम् ।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् २३
एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥ २४ ॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २५ ॥
ततो राजा महावीर्यो जरासन्धो महाबलः ।

गये और चेष्टासे मनको हटाया; इससे उनके पहिने हुए किरीट आदि आभूषण अङ्गसे च्युत हो गये और वे बल खोकर बार बार हांफते हुए चुप हो बैठे। तब कठिन शरासनसे भयभीत और अलंकारोंसे च्युत वे भूपगण द्रौपदीकी आशा छोड कर हाय हाय करने लगे। (१७-२०)

इस प्रकार उन सब राजाओंको दुःखित अवलोकन करके, धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण धनुष्यके समीप गया। उस धनुष्यको उठा और प्रत्यंचा चढा कर, उस पर बाणभी लगाने लगा। तब रागमें लक्ष्यभेद की प्रतिज्ञा करनेवाले और स्वयं अग्नि, इन्द्र, चन्द्र तथा यम से भी अति तेजस्वी, कर्णको देख कर सब राजालोग समझने लगे, कि इसने लक्ष्य भेद करके उसको पृथ्वीपर गिराया ही है! परंतु इतनेमें उसको अवलोकन करके द्रौपदीने उच्च स्वर से कहा, कि "मैं सूत जातीय वीरके साथ विवाह नहीं करूंगी।" तब क्रोध पूर्वक हास्य करके सूर्यको देख कर कर्णने उस धनुष्य को फेंक दिया। इस रीतिसे सब भूपाल चारों ओर से निवृत्त होनेके पश्चात् दमघोष पुत्र, महाबली, अंतक सम महामति शिशुपाल उठा और धनुष्य उठाने लगा, तो उस कार्यके लिये उसको घुटने भूमिपर लगाने पडे! उसके पश्चात् महावीर्यवान् और महाबलाढ्य जरासंध राजा धनुष्यके पास

महाभारत चित्रसंख्या ९



स्वयंवरके समय अर्जुन लक्ष्यभेद करता है।

(म० भा० आ० अ० १९०।[illegible])

धनुषोऽभ्याशमागत्य तस्थौ गिरिरिवाऽचलः २६ ॥
धनुषा पीड्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तत उत्थाय राजा स स्वराष्ट्राण्यभिजग्मिवान् २७
ततः शल्यो महावीर्यो मद्रराजो महाबलः ।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥२८॥
तस्मिंस्तु सम्भ्रान्तजने समाजे निक्षिप्तवादेषु जनाधिपेषु ।
कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं सज्यं धनुस्तत्सशरं प्रवीरः॥ २९ ॥[७२२०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजपराङ्मुखे ऊननवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १८९ ॥

वैशम्पायन उवाच– यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः ।
अथोदतिष्ठद्विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः ॥ १ ॥
उदक्रोशन्विप्रमुख्या विधुन्वंतोऽजिनानि च ।
दृष्ट्वा संप्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम् ॥ २ ॥
केचिदासन्विमनसः केचिदासन्मुदान्विताः ।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः ॥ ३ ॥
यत्कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः ।

आकर पर्वत के समान ही निश्चल हो कर खडा रहा। पश्चात् धनुष्य उठानेकी पीडासे पीडित होकर वह भी घुटनोंपर ही गिर गया, इस लिये वहांसे उठकर वह अपने राष्ट्रके पास चला गया। अनंतर महाशक्तिमान् अतिवीर्यशाली मद्रराज शल्य भी धनुष्यकी प्रत्यंचा चढानेके समय घुटनोंके बल भूमिपर गिर पडा। इसके पीछे सब राजालोग भ्रांतचित्त होनेपर और सब राजाओं की घमंड की बातें कम होनेपर, कुन्तीपुत्र अर्जुनने उस धनुष्यपर गुण चढाने और बाण लगाने की इच्छा की। (२१–२९) [७२२०]

आदिपर्वमें एकसौ नवासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ नब्बे अध्याय।

वैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर राजाओंके उस शरासन पर गोदा चढानेमें मुख फेर लेने पर उदारचित्त जिष्णु ब्राह्मण-समाजमें उठ खडे हुए। प्रधान प्रधान ब्राह्मण लोग बादल समान प्रकाशयुक्त अर्जुनको जाते देखकर मृगचर्म कंपाते हुए कोलाहल मचाने लगे। कोई कोई दुःखी और दूसरे हर्षयुक्त हुए। कोई कोई बुद्धिमान निपुणतायुक्त विप्र आपस में इस प्रकार कहने लगे, कि हे द्विजगण! धनुर्वेदमें पण्डित, शल्य, कर्ण

नाऽऽनन्तं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः ॥ ४ ॥
तत्कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा ।
बटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः॥ ५ ॥
अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु ।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते ॥ ६ ॥
यद्येष दर्पाद्धर्षाद्वाऽप्यथ ब्राह्मणचापलात ।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मा गमत् ॥७॥

ब्राह्मणा ऊचुः— नाऽवहास्या भविष्यामो न च लाघवमास्थिताः।
न च विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम् ८
केचिदाहुर्युवा श्रीमान्नागराजकरोपमः ।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव ॥ ९ ॥
सिंहखेलगतिः श्रीमान्मत्तनागेन्द्रविक्रमः ।
संभाव्यमस्मिन्कर्मेदमुत्साहाचाऽनुमीयते ॥ १० ॥
शक्तिरस्य महोत्साहा न ह्यशक्तः स्वयं व्रजेत्।
न च तद्विद्यते किंचित्कर्म लोकेषु यद्भवेत् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु ।

और शल्य आदि लोकोंमें प्रशंसित क्षत्रिय लोग जिस धनुषको नवा नहीं सके अस्त्रविद्याके न जानकार शक्तिमें दुर्बल एक बटु क्योंकर उस पर रोदा चढा सकेगा। (१—५)

इस बटुने, चपलतामें जिस अनजाने काममें हाथ डाला है, वह पूरा न हो, तो हम सब राजाओंमें हंस जायंगे। हे ब्राह्मणो! यह ब्राह्मणकुमार अहंकार वा कौतूहल अथवा चपलतासे शरासन नवानेको जा रहा है, इसको रोको, कि ऐसे काममें न जाय। किसी किसी ब्राह्मणने कहा, कि इससे हमारी लघुता नहीं होगी, हम राजाओंके द्वेषके पात्र वा हंसे जानेके योग्य नहीं होंगे। कोई कोई बोले, कि इस नये विप्रको श्रीमान गजराजके सूंडकी भांति विशाल गर्दन, उरु और भुजधारी, हिमाचल सदृश धीरज युक्त, सिंहके खेलकी नाई चाल-वाले और उन्मत्त गजसा विक्रमी देखता हूं; और इनका उत्साह जैसा है, तिसमें जान पडता है; कि यह कार्य इन्हींसे पूरा हो सकता है; यह ब्राह्मण बडे उत्साही और शक्तिवान हैं; इनको शक्ति न रहती, तो यह कभी नहीं जाते। (६—११)

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ॥ १२ ॥
दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा ।
ब्राह्मणो नाऽवमन्तव्यः सदसद्वा समाचरन्॥ १३ ॥
सुखं दुःखं महद्ध्रस्वं कर्म यत्समुपागतम् ।
जामदग्न्येन रामेण निर्जिता क्षत्रिया युधि ॥ १४ ॥
पीतः समुद्रोऽगस्त्येन अगाधो ब्रह्मतेजसा ।
तस्माद् ब्रुवन्तु सर्वेऽत्र बटुरेष धनुर्महान् ॥ १५ ॥
आरोपयतु शीघ्रं वै तथेत्यूचुर्द्विजर्षभाः ।
एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः ॥ १६ ॥
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ।
स तद्धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाऽकरोत् ॥ १७ ॥
प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम् ।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चाऽर्जुनो धनुः॥१८॥
यत्पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः ।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात्॥ १९ ॥

फिरभी तीनों लोकोंमें ऐसा कोईभी कार्य तो नही है, कि जो इन मरनेवाले मनुष्योंमें ब्राह्मणका असाध्य हो। कठोर व्रतयुक्त द्विजातिगण फलाहार, वायु-भक्षण अथवा निराहारके हेतु देखनेमें दुर्बल होवें भी, तो अपने तेजसे बली रहते हैं। ब्राह्मण सुकर्म किया करे वा बुरा कर्म किया करें तोभी सुख वा दुःख-दायी और महत् वा क्षुद्र किसी उपस्थित कार्यमें उनका अनादर करना नहीं चाहिये। देखो, जमदग्नि पुत्र रामने क्षत्रियों को युद्धमें परास्त किया था; अपि अगस्त्यने ब्रह्मतेजसे गहरे समुद्रको पी लिया था, अतएव तुम सब आज्ञादो, कि यह महात्मा शीघ्र शरासन पर गुण चढावे। (११—१५)

आगे द्विजवरोंने "तथास्तु" कहा। ब्राह्मणलोग इस प्रकारकी नाना बातें कहने सुनने लगे; तब अर्जुन शरासनके निकट जाकर पर्वतकी भांति खडे हुए। आगे उसके चारों ओर घूमकर वरदाता देव प्रभु ईशानको सिर नाय कर प्रणाम किया और मनही मनमें श्रीकृष्णकी चिन्ता कर शरासनको उठा लिया। रुक्म, सुनीथ, वक्र, राधापुत्र, दुर्योधन, शल्य और शाल्व, यह सब धनुर्वेदमें पण्डित नरसिंह भूपाल अति यत्नसेभी जिस धनुषपर रोदा नहीं चढा सके थे,

तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्पस्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः ।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण शरांश्च जग्राह शरार्थसंख्यान् ॥ २० ॥
विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च छिद्रेण भूमौ सहसाऽतिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः समाजमध्ये च महान्निनादः ॥ २१ ॥
पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवःपार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ॥ २२ ॥

चैलानि विव्यधुस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रशः ।
विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः ॥ २३ ॥
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात्पुष्पवृष्टयः ।
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन् ॥२४॥
सूतमागधसंघाश्चाऽप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ।
तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः ।
सह सैन्यैश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥ २५॥

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् २६ ॥
विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लाम्बरमाल्यदाम जगाम कुंतीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ २७॥

वीर्यवन्तोंमे दर्पयुक्त, इन्द्रानुज सदृश प्रभावी अर्जुनने देखतेही देखते उस पर गुण चढाया और पांच शर लेकर लक्ष्य को भेद दिया। (१९-२१)

लक्ष्य बहुत विद्ध होकर उसी क्षण यन्त्रकी छेदमे धरती पर गिर गया। तब आकाश मण्डल और समाजमे अति कोलाहलकी ध्वनि उठने लगी।देवताओं ने शत्रुकुलनाशी अर्जुनके सिर पर दिव्य फूल वर्षाये। सहस्रों ब्राह्मण उनकी विजयध्वजाकी भांति अपने अपने दुपट्टोंके छोर उडाते हुए उठ खडे हुए। जो लोग लक्ष्य नहीं भेद कर सके थे; वे लज्जित होकर चारो ओर हाय हाय करने लगे। समाजमे आकाशमण्डलसे चारों ओर फूल वर्षने लगे। बाजेवाले तूर्य-यन्त्रको सैाओं अङ्ग मिलाकर बजाने लगे; और सूत मागध लोग मीठे स्वरसे स्तुति गाने लगे। शत्रुमथन राजा द्रुपद अर्जुनको देखकर प्रसन्न हुए; और सेनाओंके साथ उनकी सहायता करनेकी इच्छा की। (२१-२५)

जब वह भारी कोलाहल आरम्भ होगया तब धार्मिकवर युधिष्ठिर वेगसे पुरुष-श्रेष्ठ दोनो यमज भाइयोंको लेकर डेरे पर चले गये। द्रौपदी पार्थसे लक्ष्य का विद्ध होना देखकर और उनको इन्द्र

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः ।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा पत्न्या तथा चाऽप्यनुगम्यमानः॥२८॥[७२४८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि लक्ष्यच्छेदने नवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १९० ॥

वैशम्पायन उवाच– तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे ।
कोप आसीन्महीपानामालोक्याऽन्योन्यमन्तिकात् १
अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान् ।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥ २ ॥
अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते ।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान्न मन्यते ॥ ३ ॥
न ह्यर्हत्येष संमानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ॥ ४ ॥
अयं हि सर्वानाहूय उत्कृत्य च नराधिपान् ।
गुणवद्भोजयित्वाऽन्नं ततः पश्चान्न मन्यते ॥ ५ ॥
अस्मिन्राजसमावाये देवानामिव सन्नये ।

सदृश निहार कर प्रसन्न चित्तसे शुभ्र वस्त्र और माला लेकर उनके पास जा पहुंची। चिन्तातीत कर्म करनेवाले अर्जुन रंगभूमिमें द्रौपदीको जय कर द्विजातियोंसे सत्कृत होकर उस रंगभूमि से निकले; द्रौपदी भी उनके पीछे जाने लगी। (२६–२८) [७२४८]

आदिपर्वमें एकसौ नब्बे अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ एकानब्बे अध्याय।

वैशम्पायन बोले, कि अनन्तर राजाके लक्ष्य भेद करनेवाले उस ब्राह्मणको कन्या दान करनेकी इच्छा प्रगट करने पर निकटस्थित भूपाललोग एक दूसरेको देखकर क्रोधित हो गये और कहने लगे, कि इस राजाने इन सब उपस्थित नरेशोंको तिनके के समान समझ कर इनको लङ्घनकर ब्राह्मणको योषिद्वरा कन्या देनेकी इच्छा की है, यह दुरात्मा वृक्ष रोपण करके फलनेके कालमें काट रहा है, हम लोगोंको अपमानित कर रहा है; इसको मार डालेंगे। यह दुराचारी वृद्ध क्रमके अनुसार गुणयुक्त और सम्मान के योग्य नहीं है, सो राजाओंके द्वेष करनेवाले इस दुरात्माको पुत्रके साथ मारनाही उचित है, यह दुरात्मा सम्पूर्ण भूपालोंको बुलवाकर सम्मानके साथ अपूर्व भोजन आदिसे पूजकर अब अपमान कर रहा है। (१–५)

तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्पस्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः ।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण शरांश्च जग्राह शरार्धसंख्यान् ॥ २० ॥
विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च च्छिद्रेण भूमौ सहसाऽतिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः समाजमध्ये च महान्निनादः ॥ २१ ॥
पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवःपार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ॥ २२ ॥
चैलानि विव्यधुस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रशः ।
विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः ॥ २३ ॥
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात्पुष्पवृष्टयः ।
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन् ॥२४॥
सूतमागधसंघाश्चाऽप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ।
तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः ।
सह सैन्यैश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥ २५॥
तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् २६ ॥
विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लाम्बरमाल्यदाम जगाम कुंतीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ २७॥

वीर्यवन्तोंमें दर्पयुक्त, इन्द्रानुज सदृश प्रभावी अर्जुनने देखतेही देखते उस पर गुण चढाया और पांच शर लेकर लक्ष्य को भेद दिया। (१९-२१)

लक्ष्य बहुत विद्ध होकर उसी क्षण यन्त्रकी छेदमे धरती पर गिर गया। तब आकाश मण्डल और समाजमें अति कोलाहलकी ध्वनि उठने लगी।देवताओं ने शत्रुकुलनाशी अर्जुनके सिर पर दिव्य फूल वर्षाये। सहस्रों ब्राह्मण उनकी विजयध्वजाकी भांति अपने अपने दुपट्टोंके छोर उडाते हुए उठ खडे हुए। जो लोग लक्ष्य नहीं भेद कर सके थे; वे लज्जित होकर चारो ओर हाय हाय करने लगे। समाजमें आकाशमण्डलसे चारो ओर फूल वर्षने लगे। बाजेवाले तूर्य-यन्त्रको सैाओं अङ्ग मिलाकर बजाने लगे; और सूत मागध लोग मीठे स्वरसे स्तुति गाने लगे। शत्रुमथन राजा द्रुपद अर्जुनको देखकर प्रसन्न हुए; और सेनाओंके साथ उनकी सहायता करनेकी इच्छा की। (२१-२५)

जब वह भारी कोलाहल आरम्भ होगया तब धार्मिकवर युधिष्ठिर वेगसे पुरुष-श्रेष्ठ दोनो यमज भाइयोको लेकर डेरे पर चले गये। द्रौपदी पार्थसे लक्ष्य का विद्ध होना देखकर और उनको इन्द्र

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः ।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा पत्न्या तथा चाऽप्यनुगम्यमानः॥२८॥[७२४८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि लक्ष्यच्छेदने नवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १९० ॥

वैशम्पायन उवाच– तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे।
कोप आसीन्महीपानामालोक्याऽन्योन्यमन्तिकात्१
अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान् ।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥ २॥
अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते ।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान्न मन्यते ॥ ३ ॥
न ह्यर्हत्येष संमानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ॥ ४ ॥
अयं हि सर्वानाहूय उत्कृत्य च नराधिपान्।
गुणवद्भोजयित्वाऽन्नं ततः पश्चान्न मन्यते ॥ ५ ॥
अस्मिन्राजसमावाये देवानामिव सन्नये ।

सदृश निहार कर प्रसन्न चित्तसे शुभ्र वस्त्र और माला लेकर उनके पास जा पहुंची। चिन्तातीत कर्म करनेवाले अर्जुन रंगभूमिमें द्रौपदीको जय कर द्विजातियोंसे सत्कृत होकर उस रंगभूमिसे निकले; द्रौपदी भी उनके पीछे जाने लगी। (२६-२८) [७२४८]

आदिपर्वमें एकसौ नब्बे अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ एकानब्बे अध्याय।

वैशम्पायन बोले, कि अनन्तर राजाके लक्ष्य भेद करनेवाले उस ब्राह्मणको कन्या दान करनेकी इच्छा प्रगट करने पर निकटस्थित भूपाललोग एक दूसरेको देखकर क्रोधित हो गये और कहने लगे, कि इस राजाने इन सब उपस्थित नरेशोंको तिनके के समान समझ कर इनको लङ्घनकर ब्राह्मणको योषिद्वरा कन्या देनेकी इच्छा की है, यह दुरात्मा वृक्ष रोपण करके फलनेके कालमें काट रहा है, हम लोगोंको अपमानित कर रहा है; इसको मार डालेंगे। यह दुराचारी वृद्ध क्रमके अनुसार गुणयुक्त और सम्मानके योग्य नहीं है, सो राजाओंके द्वेष करनेवाले इस दुरात्माको पुत्रके साथ मारनाही उचित है, यह दुरात्मा सम्पूर्ण भूपालोंको बुलवाकर सम्मानके साथ अपूर्व भोजन आदिसे पूजकर अब अपमान कर रहा है। (१-५)

किमयं सदृशं कंचिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ॥ ६ ॥
न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति ।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः ॥ ७ ॥
अथवा यदि कन्येयं न च कञ्चिद् बुभूषति ।
अग्नावेनां परिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः॥ ८ ॥
ब्राह्मणो यदि चापल्याल्लोभाद्वा कृतवानिदम्।
विप्रियं पार्थिवेन्द्राणां नैष वध्यः कथंचन ॥ ९ ॥
ब्राह्मणार्थं हि नो राज्यं जीवितं हि वसूनि च।
पुत्रपौत्रं च यच्चाऽन्यदस्माकं विद्यते धनम्॥ १० ॥
अवमानभयाच्चैव स्वधर्मस्य च रक्षणात् ।
स्वयंवराणामन्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन्॥ १२ ॥
तान्गृहीतशरावापान्क्रुद्धानापततो बहून् ।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद्ब्राह्मणाञ्छरणं गतः॥१३॥
वेगेनाऽऽपततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान्।

इन महीपालोंका समागम वैसाही हुआ है; कि जैसा देवोंका समवाय होता है; क्या इनमेंसे एकभी इसको योग्य न समझ पडा ? यह प्रसिद्ध कहावत है, कि स्वयंवर क्षत्रियोंहीके लिये विधिबद्ध हुआ है, इसमें ब्राह्मणका अधिकार नहीं है, फिरभी यदि यह कन्या किसी राजाको पति न बनाया चाहे, तो इसको जलती हुई आगमें छोडकर हम अपने अपने राज्योंमें चले जायंगे। इस ब्राह्मण ने यद्यपि चपलतासे राजाओंका अप्रिय कार्य किया है, तौभी इसको मार डालना किसी प्रकार उचित नहीं है, क्योंकि हमारा राज्य, अर्थ, जीवन, पुत्र, पौत्र और दूसरे जो कुछ धन है, वह सबही ब्राह्मणोंके लिये है । हम यहां शासन करेंगे, तो दूसरे स्वयंवरके स्थानोंमें फिर कभी ऐसा नहीं होगा, सब लोग अपमानके भयसे अपने अपने धर्मको रक्षा करेंगे। (६—११)

परिघ समान भुजवाले, सब राजसिंह ऐसी बात कहकर प्रसन्न चित्तसे अस्त्र लेकरके राजा द्रुपदको मारनेके लिये दौडे । द्रुपदने राजाओंको क्रोधित होकर शरासन लिये आते देखकर इस भयसे कि ब्राह्मणोंके क्रोधसे कहीं क्षत्रिय-

पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिन्दमौ ॥ १४ ॥
ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते महीक्षितो बद्धतलांगुलित्राः
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रावमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥ १५ ॥
ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा महाबलो वज्रसमानसारः ।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥ १६ ॥
तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम् ।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥ १७ ॥
तत्प्रेक्ष्य कर्माऽतिमनुष्यबुद्धिर्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
विसिष्मिये चापि भयं विहाय तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥ १८ ॥
तत्प्रेक्ष्य कर्माऽतिमनुष्यबुद्धिर्जिष्णोः सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥ १९ ॥
य एष सिंहर्षभखेलगामी महद्धनुः कर्षति तालमात्रम् ।
एषोऽर्जुनो नाऽत्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ॥ २० ॥
यस्त्वेष वृक्षं तरसाऽवभज्य राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः ।

कुल नष्ट न होजाय ब्राह्मणोंकी शरण ली। बडे चापधारी शत्रुदमन पाण्डुनन्दन भीम और अर्जुन भूपालोंको मदोन्मत्त गजोंकी भांति वेगसे दौड कर आते देखकर उनकी ओर चले। अंगलीरक्षक पहिने हुए वह सब राजा क्रोधके मारे अस्त्रशस्त्र उठाकर कुरुराजपुत्र अर्जुन और भीमसेनको मारडालनेके लिये जा गिरे। (१४-१५)

अनन्तर वज्र समान कठोर, महाबली, आश्चर्य दिखाने कार्य करने वाले, अद्वितीय वीर भीमसेनने उन्मत्त गजराजकी भांति हाथोंसे एक वृक्ष उखाड कर पत्तोंसे खाली किया। फिर शत्रुमथन पृथुभुज पृथानन्दनने उसके पत्तोंसे खाली पेडको लेकर पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनके सम्मुख इस प्रकार खडे होगये, कि जैसे यमराज कठोर दण्ड लेकर खडे होते हैं। चिन्तातीत कर्म करने वाले असामान्य बुद्धिमान महेन्द्र सदृश जिष्णुने भाईका अलौकिक कार्य देखकर अचरज माना। अनन्तर निर्भय चित्तसे चाप लेकर खडे हुए। (१६-१८)

चिन्तातीत कर्म करने वाले असाधारण बुद्धिशाली दामोदर भीमार्जुनका यह आश्चर्य कार्य देखकर महावीर्यवन्त बडे भाई हलायुधसे बोले, कि हे संकर्षण! सिंहकी भांति डोलते हुए चलने वाले जो पुरुष पांच हाथसे कुछ कम मापके चापको खींच रहे हैं उनका अर्जुन होना इसमें निश्चय है, कि जितना

घृकोदरान्नाऽन्य इहैतदद्य कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥ २१ ॥
योऽसौ पुरस्तात्कमलायताक्षस्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः॥ २२ ॥
यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ द्वावश्विनेयाविति मे वितर्कः।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहान्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च २३॥
तमब्रवीन्निर्जलतोयदाभो हलायुधोऽनन्तरजं प्रतीतः ।
प्रीतोऽस्मि दृष्ट्वा हि पितृष्वसारं पृथां विमुक्तां सह कौरवाग्र्यैः॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि कृष्णवाक्ये एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९१॥ [७२७२]

वैशम्पायन उवाच--अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः ।
ऊचुस्तें भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥१॥
तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव ।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठत पार्श्वतः ॥ २ ॥
अहमेनानाजिह्माग्रैः शतशो विकरञ्छरैः ।

मेरा कृष्ण होना निश्चय है। जो वेगसे वृक्ष उखाड कर एकायक भूपालोंकी अन्त करनेको प्रवृत्त हुए हैं, वह वृकोदर होंगे। वृकोदरके विना इस भूमण्डल भरमें कोई मनुष्य आज ऐसा कार्य करनेको समर्थ नहीं होगा। (१९-२१)

हे अच्युत! मुझको जान पडता है, कि इसके पहिले पद्मकी भांति प्रशस्त नेत्रयुक्त भारी सिंह समान चलनेवाले नम्र, गोरे, दीर्घ और उज्वल सुन्दर नाकवाले, चार हाथ इतने लम्बे और उसके योग्य स्थूलदेह युक्त, जो पुरुष पधारे है, वही धर्म-पुत्र हैं; उनके साथ कार्तिकेयके सदृश जो दो कुमार गये हैं, वे अश्विनीकुमारोंके पुत्र होंगे। मैंने सुना है, कि पाण्डव लोग पृथाके साथ जतुगृहसे जलनेसे बचे थे। बिना जलके बादलके रङ्गयुक्त हलायुध अनिन्दित होकर कनिष्ठ कृष्णसे बोले, कि यह सुनकर कृतार्थ हुआ, कि बडे भाग्यसे पुत्रोंके साथ फूफीजी बच गयी है। (२२-२४) [७२७२]

आदि पर्वमें एकसौ एकानब्बे अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ बानब्बे अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर ब्राह्मणलोग मृगचर्म और कमण्डलू कंपाते हुए बोले, कि मत डरो, हम शत्रुओंसे लडेंगे, अर्जुन ब्राह्मणोंकी यह बात सुन कर हंसके बोले, कि आप एक ओर दर्शक बन कर खडे रहें। मै सैकडों तेज

वारयिष्यामि संक्रुद्धान्मन्त्रैराशीविषानिव ॥ ३ ॥
इति तद्धनुरानम्य शुल्कावाप्तं महाबलः ।
भ्रात्रा भीमेन सहितस्तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ ४ ॥
ततः कर्णमुखान्दृष्ट्वा क्षत्रियान्युद्धदुर्मदान् ।
संपेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ॥ ५ ॥
ऊचुश्च वाचः परुषास्ते राजानो युयुत्सवः ।
आहवे हि द्विजस्याऽपि वधो दृष्टो युयुत्सतः ॥ ६ ॥
इत्येवमुक्त्वा राजानः सहसा दुद्रुवुर्द्विजान् ।
ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे ॥ ७ ॥
युद्धार्थी वासिताहेतोर्गजः प्रतिगजं यथा ।
भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली ॥ ८ ॥
दुर्योधनादयः सर्वे ब्राह्मणैः सह संगताः ।
मृदुपूर्वमयत्नेन प्रत्ययुध्यंस्तदाऽऽहवे ॥ ९ ॥
ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः ।
कर्णं वैकर्तनं श्रीमान्विकृष्य बलवद्धनुः ॥ १० ॥

बाणोंसे इन सब क्रोधित राजाओंको इधर उधर इस प्रकार तीन तेरह करके रोक दूंगा, कि जिस प्रकार मन्त्रके जानकार मन्त्रसे अति विषैले सर्पको तेजसे खाली कर देते है । महाबली अर्जुन यह कहकर रणमें जीत लिये हुए धन्वाको ला करके भाई भीमसेनके साथ पर्वतकी भांति अचल बने रहे । (१—४)

आगे भीम और अर्जुन दोनोंने इस प्रकार, कि जैसे हस्ती विपक्षी हस्तीपर चढ जाता है, रणोन्मत्त कर्णादि राजाओं-को देखकर विना भय उनकी ओर दौडे । लडाई चाहने वाले, राजालोग अहङ्कारसे बोले, कि युद्धस्थलमें लडने वाले ब्राह्मण भी वध किये जा सकते है । भूपाललोग यह कहकर उसीक्षण ब्राह्मणो पर दौडे । अनन्तर बडे तेजस्वी कर्ण लडनेके लिये अर्जुनसे इस प्रकार जा भिडे, कि जैसे हस्ती हथनीके लिये दूसरे हस्ती पर चढ जाता है । महाबली मद्राधिप शल्य भीमसेनकी ओर दौडे । दुर्योधन आदि सबोंने ब्राह्मणो पर चढाई की । वे द्विजोंके साथ विना यत्न धीमी लडाई लडने लगे । (५—९)

अनन्तर श्रीमान अर्जुन आदित्य पुत्र कर्णको विरुद्धमें आते देखकर बडे भारी चापको खींचके तेज बाणोंको मारकर विद्ध करने लगे । गधाकुमारने अर्जुनके

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम् ।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात्तमनुधावति ॥ ११ ॥
तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजिगीषिणौ ॥ १२ ॥
कृते प्रतिकृतं पश्य पश्य बाहुबलं च मे ।
इति शूरार्थवचनैरभाषेतां परस्परम् ॥ १३ ॥
ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि ।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णः संरब्धः समयोधयत ॥ १४ ॥
अर्जुनेन प्रयुक्तांस्तान्बाणान्वेगवतस्तदा ।
प्रतिहत्य ननादोच्चैः सैन्यानि तदपूजयन् ॥ १५ ॥
कर्ण उवाच— तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे ।
अविषादस्य चैवाऽस्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च ॥ १६ ॥
किं त्वं साक्षाद्धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम ।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद्वा विष्णुरच्युतः ॥ १७ ॥
आत्मप्रच्छादनार्थं वै बाहुवीर्यमुपाश्रितः ।
विप्ररूपं विधायेदं मन्ये मां प्रतियुध्यसे ॥ १८ ॥

तेज बाणोंके वेगसे मुर्झाकर अति यत्नसे। उन पर आक्रमण किया। जय करने वालोंमें श्रेष्ठ अर्जुन और कर्ण एक दूसरे पर क्रोधित होकर जयकी आशासे ऐसी फुर्तीसे लडने लगे, कि किसीने समझ न पाया, कि उनमें कौन कब आदान संधानादि करते थे। वे एक दूसरे पर शूरता प्रगट कर यह कहके वार्तालाप करने लगे, कि तुमने जो किया, देखो उसको रोक लेता हूं, मेरा भुजबल देख लो। (१०—१३)

अनन्तर सूर्यकुमार कर्ण अर्जुनका ऐसा भुजवीर्य देखकर, कि जिसकी उपमा संसारभरमें नहीं मिलती एकचित्तसे लडने लगे। वह अर्जुनके चलाये हुए बाणोंको रोककर सिंहकी भांति गरजने लगे; सेना उनके उस कार्यकी प्रशंसा करने लगी। आगे कर्णने अर्जुनसे कहा, कि हे द्विजातिश्रेष्ठ ! इस युद्ध स्थलमें तुम्हारा न थकने वाला भुजवीर्य और विजयी शस्त्र देखकर मैं प्रसन्न हुआ। (१४—१६)

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! मुझको जान पडता है, कि तुम साक्षात् धनुर्वेद वा राम अथवा देवराज इन्द्र वा अच्युत विष्णु होगे। तुम अपनेको गोपन रखनेको

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः।
पुमान्योधयितुं शक्तः पाण्डवाद्वा किरीटिनः॥ १९॥
तमेवंवादिनं तत्र फाल्गुनः प्रत्यभाषत।
नाऽस्मि कर्ण धनुर्वेदो नाऽस्मि रामः प्रतापवान् २०॥
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
ब्राह्मे पौरंदरे चाऽस्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात्॥ २१॥
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वां वै वीर स्थिरो भव॥ २२॥
वैशम्पायन उवाच एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात्कर्णो न्यवर्तत।
ब्राह्मं तेजस्तदाऽजय्यं मन्यमानो महारथः॥ २३॥
अपरस्मिन्वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ।
बलिनौ युद्धसंपन्नौ विद्यया च बलेन च॥ २४॥
अन्योन्यमाह्वयंतौ तु मत्ताविव महागजौ।
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्ताविनरेतरम्॥ २५॥
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः।
आचकर्षतुरन्योन्यं मुष्टिभिश्चापि जघ्नतुः॥ २६॥
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत्तयोः।

लिये ब्राह्मणका स्वरूप लेकर भुजवीर्य-को आश्रय करके लड रहे हो? मेरे रण-भूमिमें क्रोधित होनेसे साक्षात् इन्द्र अथवा पाण्डुनन्दन किरीटीके विना कोई भी मुझसे लड नहीं सकता है। अर्जुन कर्णकी यह बातें सुन कर बोले, कि हे कर्ण! मैं धनुर्वेद वा राम नहीं हूं, मैं सर्व शस्त्रधारी और योधोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हूं। मैं गुरुकी कृपासे ब्राह्म और इन्द्र अस्त्रोंमें दक्ष भया हूं। हे वीर! तुम रह जाओ, मैं आज लडाईमें तुम पर जय पानेके लिये ठहरा हूं। १९-२२

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तब राधा-कुमार महारथी कर्ण यह बात सुनकर ब्रह्म तेजको जीतनेके अयोग्य समझ कर युद्धसे निवृत्त हुए; दूसरी ओर विद्या और बलसे युद्धमें पण्डित उन्मत्त गजके समान बली वीर वृकोदर और राजा शल्य युद्ध करने लगे। वे दोनों एक दूसरे को पुकारके मुट्ठी और घुटनोंसे मारते हुए कभी इधर फेंकते कभी आगे खींचते, कभी सामने ललकारते, कभी झपटके एक दूसरेको पकडते और कभी घूंसा मारने लगे। इसके पश्चात उन दोनोंकी मारके चट चट शब्द कानोंमें घूमने लगे। वे एक दूसरे को

पाषाणसंपातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥
मुहूर्तं तौ तदाऽन्योन्यं समरे पर्यकर्षताम् ॥ २७ ॥
ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे ।
अपातयत्कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ॥ २८ ॥
तत्राऽऽश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः ।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नाऽवधीद्बलिनं बली॥ २९ ॥
पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते ।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥ ३० ॥
ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ॥ ३१ ॥
को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे ।
अन्यत्र रामाद्द्रोणाद्वा पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥ ३२ ॥
कृष्णाद्वा देवकीपुत्रात्कृपाद्वापि शरद्वतः ।
को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे ॥ ३३ ॥
तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम् ।
बलदेवादृते वीरात्पाण्डवाद्वा वृकोदरात ॥ ३४ ॥

पत्थर पर गिरानेकी भांति मारमारने लगे। परस्पर दोनों को पकडने लगे। (२३-२७)

क्षण भर पीछे कुरुवंश श्रेष्ठ भीमने शल्य को भुजोंसे ऊपर उठाकर रणभूमि पर पटक दिया। यह देखकर ब्राह्मणलोग सब हंस उठे, पर पुरुष श्रेष्ठ भीमसेनने बलशाली शल्यको ऐसे आश्चर्यरूपसे भूमि पर पटक दिया, कि शल्यके कुछ भी चोट नहीं लगी। अनन्तर राजा लोग शल्यको भीमसेनसे गिराये जाते हुए और कर्णको शंकायुक्त देखकर भयभीत चित्तसे शल्यको घेर कर खडे होगये और सब इकट्ठे होकर साधु साधु कहके यह कहने लगे, कि यह दो ब्राह्मण सबोंमे श्रेष्ठ है। विशेषरूपसे जान लेना चाहिये, कि वह कहां रहते है, और उन्होने कहां जन्म लिया है। इस धरती भरमे राम, द्रोण, पाण्डुनन्दन अर्जुन, देवकीजीके पुत्र कृष्ण अथवा शारद्वत कृपके विना कौन राधाकुमार कर्णसे लड सकता है? और कौन दुर्योधनसे युद्ध करनेको समर्थ होता है? (२८-३३)

वीर बलदेवजी, पाण्डुपुत्र वृकोदर वा दुर्योधनके विना कौन महाबली मद्रनाथ शल्यको रणभूमि पर गिरा सकता है? अब सब कोई ब्राह्मणसे यह लडाई

वीराद् दुर्योधनाद्धान्यः शक्तः पातयितुं रणे ।
क्रियतामवहारोऽस्माद्युद्धाद्ब्राह्मणसंवृतात् ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणा हि सदा रक्ष्याः सापराधापि नित्यदा ।
अथैतानुपलभ्येह पुनर्योत्स्याम हृष्टवत् ॥ ३६ ॥
तांस्तथावादिनः सर्वान्प्रसमीक्ष्य क्षितीश्वरान् ।
अथान्यान्पुरुषांश्चापि कृत्वा तत्कर्म संयुगे ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच- तत्कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः
निवारयामास महीपतींस्तान्धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥ ३८
एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद्युद्धविशारदाः ।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ३९ ॥
वृतो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता ।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्राऽऽसन्समागताः ॥ ४० ॥
ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः ।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनञ्जयौ ॥ ४१ ॥
विमुक्तौ जनसंबाधाच्छत्रुभिः परिविक्षतौ ।

बन्द कर दो, ब्राह्मण अपराध भी करें तो भी सदा उनकी रक्षा करनी चाहिये ; पहिले इनका परिचय लेकर पीछे प्रसन्न चित्तसे हम इनके साथ लडनेको प्रवृत्त होंगे । इस प्रकार बोलनेवाले उन राजाओं और जनोंको देखकर युद्धमें पराक्रम करनेवाले भीम और अर्जुन वहाही स्थिर रहे । (३४–३७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि श्रीकृष्णने भीमसेनका वह अलौकिक कार्य देख कर उन को कुन्ती पुत्र करके जाना । आगे सम्पूर्ण राजाओंको विनय कर यह कहके युद्धसे निवृत्त किया, कि इन ब्राह्मणने धर्मके अनुसारही द्रौपदी लाभ की है, सो इन पर द्वेष करना उचित नहीं है । अनन्तर वे सब युद्धमें पण्डित राजा लोग युद्ध बन्द कर आश्चर्य चित्तसे अपने अपने भवनोंको सिधारे । जो सब लोग दर्शनके लिये एकचित्त हुए थे, वे यह कहते हुए चले गये, कि आज रङ्गस्थलमें ब्राह्मण लोगही प्रधान बने, पाञ्चाली ब्राह्मणोंसे वृता हुई । (३८—४०)

अनन्तर भीम और अर्जुन मृगचर्म पहिने ब्राह्मणोंसे घेरे जाकर अति क्लेशसे पथ पाकर चलने लगे । शत्रुओंसे कटे कटे नरवीर भीम और अर्जुन पीछे चलती हुई द्रौपदीके साथ जनोंकी भाड

कृष्णयाऽनुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ॥ ४२ ॥
पौर्णमास्यां घनैर्मुक्तौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥
अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्ष्यकालेऽभिगच्छति ।
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ॥ ४४ ॥
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ।
विपरीतं मतं जातं व्यासस्याऽपि महात्मनः ॥ ४५ ॥
इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा ।
ततः सुप्तजनप्राये दुर्दिने मेघसंप्लुते ॥ ४६ ॥
महत्यथाऽपराह्णे तु घनैः सूर्य इवाऽऽवृतः ।
ब्राह्मणैः प्राविशत्तत्र जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥ ४७ ॥ [७३१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवप्रत्यागमने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

वैशम्पायन उवाच–गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥
कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुंक्तेति समेत्य सर्वे ।

से मुक्त होकर इस प्रकार सोहने लगे, कि जैसे पूर्णिमा तिथिमें उगे हुए चन्द्र सूर्य शोभा प्राप्त करते हैं । इधर उनकी माता कुन्ती उनके भिक्षाकर लौटनेके काल बीतने पर उनको न आते देखकर भांति भांतिके अनिष्टकी आशंकासे यह चिन्ता करने लगी, कि कदाचित् धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मेरे बच्चोंको पहिचान कर मार डाला है अथवा शत्रु मायाधारी अति भयानक राक्षसोंने नष्ट किया होगा ! महात्मा व्यासजीकोभी कैसी उलटी बुद्धि हुई थी, उन्होंने क्यों हमको इस देशमें आनेको कहा ? (४२–४५)

कुन्ती पुत्रस्नेहसे इस प्रकार सोच रही थी, कि ऐसे समयमें अर्जुन ब्राह्मणोंमें घेरे जाकर लोगोंके प्रायः चुप होनेके कालमें बडे अपराह्णमें बादलसे घिरे कुदिनके मेघसे ढंपे सूर्यकी भांति उस कुम्भारके घरमें जा घुसे । (४६—४७) [७३१९]

आदिपर्वमें एकसौ बानवे अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें एकसौ तिरानब्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महानुभव नरश्रेष्ठ भीम और अर्जुन परम प्रसन्न चित्तसे याज्ञसेनीको साथ लेकर कुंभारके घरमें जाकर कुन्तीसे बोले, कि मा !

पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ २ ॥
साऽधर्मभीता परिचिन्तयन्ती तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम् ।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम्॥ ३ ॥
कुन्त्युवाच-इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञस्तवाऽनुजाभ्यां मयि सन्निविष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात्॥ ४ ॥
मया कथं नाऽनृतमुक्तमद्य भवेत्कुरूणामृषभ ब्रवीहि ।
पञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच-स एवमुक्तो मतिमान्नृवीरो मात्रा मुहूर्तं तु विचिन्त्य राजा।
कुन्तीं समाश्वास्य कुरुप्रवीरो धनञ्जयं वाक्यमिमं बभाषे ॥ ६ ॥
त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत्त्वमस्याः ॥ ७ ॥
अर्जुन उवाच- मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः।
भवान्निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥ ८ ॥

आज यह भिक्षा मिली है! कुन्ती तब कुटी के भीतर थीः कुछ न देख करके ही बोली, कि तुम सब मिलकर भोगो। पीछे कृष्णाको देखकर बोली, कि हाय मैने कैसी अनुचित बात कही है। अनन्तर वह अधर्मका भय खाकर सोचती हुई अनिन्दिता उस याज्ञसेनीका हाथ पकड कर युधिष्ठिरके पास जाकर उनसे बोली, कि बेटा! तुम्हारे दो भाइयोंने जब राजा द्रुपदसे इस पुत्रीको लाकर मेरे पास भिक्षा कहके दिया, तब मैने असावधानतासे उस कालके योग्य यह बात कह डाली है, कि तुम सब मिल करके भोगोः हे कुरुवंशश्रेष्ठ! अब यह कहो, कि क्यों कर मेरी वह बात झूठी न ठहरे, क्योंकर अधर्म इस राजा पाञ्चालकी पुत्रीको छू न सके और क्योंकर यह अप्रसन्न न होवे। (१—५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि नरवीर मतिमान् कुरुप्रवीर राजा युधिष्ठिर माताकी यह बात सुनकर क्षणभर सोचके उनको समझा कर धनञ्जयसे बोले, फाल्गुन! तुमने इस राजपुत्री याज्ञसेनीको जय कर लिया है, तुम्हीसे इसका विवाह हो, तो ठीक होवे; हे शत्रु वेगसहनेवाले तुम आग बालकर विधिपूर्वक इससे ब्याह कर लो। अर्जुन बोले, कि हे नरेन्द्र! आप मुझको अधर्ममें न डालें, जैसी आज्ञा करते हैं वह धर्मयुक्त नहीं है, वह अनग्राह्य पथ है। पहिले आपका, आगे चिन्तातीत कर्म करनेवाले महाभुज भीमसेनका, उनके पीछे मेरा, तब मेरे

अहं ततो नकुलोऽनन्तरो मे पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी ।
वृकोदरोऽहं च यमौ च राजन्नियं च कन्या भवतो नियोज्या॥ ९ ॥
एवं गते यत्करणीयमत्र धर्म्यं यशस्यं कुरु तद्विचिन्त्य ।
पाञ्चालराजस्य हितं च यत्स्यात्प्रशाधि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते ॥१०॥

वैशम्पायन उवाच— जिष्णोर्वचनमाज्ञाय भक्तिस्नेहसमन्वितम् ।
दृष्टिं निवेशयामासुः पाञ्चाल्यां पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा ते तत्र पश्यन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम् ।
संप्रेक्ष्याऽन्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ॥१२॥
तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम् ।
संप्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥ १३ ॥
काम्यं हि रूपं पाञ्चाल्या विधात्रा विहितं स्वयम् ।
बभूवाऽधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ॥ १४ ॥
तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनवचः कृत्स्नं सस्मार मनुजर्षभः ॥ १५ ॥
अब्रवीत्स हि तान्भ्रातॄन्मिथो भेदभयान्नृपः ।

पीछे जन्मे हुए नकुलका और अन्तमें कनिष्ठ सहदेवका विवाह होनाही विधिपूर्वक है। भीमसेन, नकुल, सहदेव, यह कन्या और मैं आपकी आज्ञाके अनुसारी होते हैं, इससे जो कुछ धर्म और जिससे राजा पाञ्चालका मङ्गल होवे, उस पर ध्यान करके आज्ञा करे, हम लोगोंमेंसे कोईभी आपकी आज्ञा माननेसे मुह नहीं मोडेगा। (९–१०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अर्जुनकी भक्तिपूर्ण स्नेहमभरी बातें सुनकर पाण्डवोंने राजा पाञ्चालकी पुत्री की ओर देखा और पाञ्चाली भी उनकी ओर देखने लगी। पाण्डुपुत्र लोग उस यशस्विनी बालाको देख करके एक दूसरेके मुखकी ओर ताकके बैठ गये और सबोंका चित्त उसकी ओर झुका! विधाताने उस पाञ्चालीका सुन्दर रूप दूसरी नारियोंसे श्रेष्ठ और प्राणियोंका ऐसा मनोहर बनाया, कि बडे तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंके देखतेही मदन उनके इन्द्रियोंको मथन करके प्रगट हुआ। मनुष्य श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर छोटे भाइयोंके आकारोंको देख करके उनके हृदयके भावको समझ गये और उस समय वेदव्यासजीकी सम्पूर्ण बातें उनके स्मरणपथमें आ पहुंची। वह भाइयोंमें आपसके बिगाडका भय कर बोले, कि

सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥१६॥
वैशम्पायन उवाच-- भ्रातुर्वचस्तत्प्रसमीक्ष्य सर्वे ज्येष्ठस्य पाण्डोस्तनयास्तदानीम्।
तमेवार्थं ध्यायमाना मनोभिः सर्वे च ते तस्थुरदीनसत्त्वाः ॥ १७ ॥
वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरानाशंसमानः सहरौहिणेयः ।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां यत्राऽऽसते ते पुरुषप्रवीराः ॥ १८ ॥
तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं ददर्श कृष्णः सहरौहिणेयः ।
अजातशत्रुं परिवार्य तांश्चाऽप्युपोपविष्टाञ्ज्वलनप्रकाशान् ॥ १९ ॥
ततोऽब्रवीद्वासुदेवोऽभिगम्य कुंतीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ युधिष्ठिरस्याऽजमीढस्य राज्ञः २० ॥
तथैव तस्याऽप्यनुरौहिणेयस्तौ चापि हृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन्।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरावगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥ २१ ॥
अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः पप्रच्छ कृष्णं कुशलं विलोक्य ।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥ २२ ॥
तमब्रवीद्वासुदेवः प्रहस्य गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन् ।

शुभ लक्षणोंसे मढी हुई यह द्रौपदी हम सबोंकी भार्या होगी । (११-१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि पाण्डु पुत्रगण बडे भाईकी यह बात सुनकर बिना कष्ट मनहीमनमें उस बातकी चर्चा करने लगे। (१७)

अनन्तर वृष्णिवंशके प्रधान वीर श्री-कृष्णजी उनको कुरुवीर समझ कर भार्गवकी जिस शालामें वे वीर पुरुष लोग टिके थे वहां बलदेवजीके सङ्ग आपहुंचे। आगे रोहिणीपुत्र और उन्होंने वहां बैठे हुए दीर्घभुज अजात-शत्रु युधिष्ठिरको और उनकी चारो ओर पासही बैठे अग्नि समान जलते हुए छोटे भाइयोंको देखा। इसके अनन्तर वासुदेव श्रीकृष्ण अज-मीढवंशी धार्मिकवर कुन्तीकुमार युधिष्ठिर के सामने जाकर उनके पांव छूकर बोले, मैं कृष्ण हूं, आगे बलदेवजीने भी वैसा किया। पाण्डवगण राम और कृष्णको देख कर प्रसन्न चित्तसे आनन्द प्रकाश करने लगे। हे भारतश्रेष्ठ! अनन्तर यदु वीर राम और कृष्ण फफी पृथाके पांव लगे। (१८-२१)

अजातशत्रु कुरुवीर युधिष्ठिर कृष्ण-को देख करके कुशल क्षेम पूछ कर बोले, कि हे वासुदेव! तुमने क्यों कर यह जाना, कि हम छिप कर यहां बसे है? कृष्णने हसकर कहा, कि हे महाराज! अग्नि छिप रहनेमें भी कभी अज्ञात नहीं रहता और इस भूमण्डलके मानवोंमें

तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥ २३ ॥
दिष्ट्या सर्वे पावकाद्विप्रमुक्ता यूयं घोरात्पाण्डवाः शत्रुसाहाः ।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् ॥ २४ ॥
भद्रं वोऽस्तु निहितं यद्गुहायां विवर्धध्वं ज्वलना इवैधमानाः ।
मा वो विद्युः पार्थिवाः केचिदेव यास्यावहे शिबिरायैव तावत् ॥ २५ ॥
सोऽनुज्ञातः पाण्डवेनाऽव्ययश्रीः प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्धम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि रामकृष्णागमने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३॥ [७३४५]

वैशम्पायन उवाच–धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ ।
अन्वगच्छत्तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥ १ ॥
सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः ।
स्वयमारान्निलीनोऽभूद्भार्गवस्य निवेशने ॥ २ ॥
सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ ।
भैक्ष्यं चरित्वा तु युधिष्ठिराय निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ३ ॥
ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां तामुवाच काले वचनं वदान्या ।

पाण्डवोंके विना कौन ऐसा विक्रम दिखा सकता है ? आप लोग बडे भाग्यसे शत्रु का वेग सह कर कठोर जलनसे बचे है और भाग्यहीके कारण पापात्मा धृतराष्ट्र-पुत्र और उसके मन्त्रियोंका मनोरथ सफल नहीं हुआ। अब आपका मङ्गल होवे; वह मङ्गल इन दिनों आगके बिन ढके स्थानमें छिपा हुआ है, आप बढने वाले अग्निकी भांति बढते रहे। अब आज्ञा करें, कि हम अपनी रनिवाससे चले जाय, कि जिससे कोई राजा आप को न जानने पावे, अक्षय श्रीयुक्त श्री-कृष्णजी यह कहकर युधिष्ठिरकी आज्ञा लेके बलदेवजीके साथ शीघ्र वहांसे पधारे। (२०--२६) [७३४५]

आदिपर्वमें एकसौ तिरानब्वे अध्याय समाप्त ।

आदि पर्व में एकसो चौरानब्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कुरुनन्दन भीम और अर्जुन जब भार्गवके घरको जा रहे थे; उस समय पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न उनके पीछे पीछे छिप कर गये थे। वह साथियोंको सावधान कर पाण्ड-वों और दूसरोंके न जानते उसके निकट किसी एक स्थानमे छिपे थे। सन्ध्याकाल में शत्रुमथनेहारे असामान्य सत्त्वयुक्त महाबली भीम, अर्जुन, नकुल और सह-देवने भिक्षासे लौट कर भिक्षाकी साम-ग्री युधिष्ठिरको देदी। तब दानशीला

त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम्॥ ४ ॥
ये चाऽन्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्रमर्धं चतुर्धा मम चाऽऽत्मनश्च॥ ५ ॥
अर्धं तु भीमाय च देहि भद्रे य एष नागर्षभतुल्यरूपः ।
गौरो युवा संहननोपपन्न एषो हि वीरो बहुभुक्सदैव ॥ ६ ॥
सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री तस्या वचः साधु विशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥ ७ ॥
कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार माद्रीपुत्रः सहदेवस्तरस्वी ।
यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ८ ॥
अगस्त्यशास्तामभितो दिशं तु शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम् ।
कुन्ती पुरस्तात्तु बभूव तेषां पादान्तरे चाऽथ बभूव कृष्णा ॥ ९ ॥
अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः पादोपधानीव कृता कुशेषु ।
न तत्र दुःखं मनसापि तस्या न चाऽवमेने कुरुपुङ्गवांस्तान्॥ १० ॥
ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्खड्गान्गदाश्चापि परश्वधांश्च ११॥

कुन्तीने कहा, कि भद्रे ! तुम इस भिक्षाकी सामग्रीसे अगला भाग लेकर देवोंको उपहार और ब्राह्मणोंको भिक्षा दे दो और जो सब लोग अतिथि बने हैं और जो भोजन करना चाहेंगे, उनको भी दो । आगे जो बची रहेगी, वह दो भागोंमें बांटकर एक भाग भीमको दो; क्योंकि यह पर्वतकी भांति बडे भारी गोरे तरुण वीर वृकोदर नित्य बहुत भोजन करता है; दूसरे भागको छः भागोंमें बांटो, उनको युधिष्ठिर आदि चार भाई, तुम और हम खायेंगे। (१-६)

राजपुत्री सती द्रौपदीने उनकी उस श्रेष्ठ बातका कोई विचार न करकेही आनन्दित चित्तसे उसको जो कहा गया था, वह पूरा किया । इसके पीछे सबोंने भोजन किया। अनन्तर तरस्वी माद्रीपुत्र सहदेवने भूमिपर कुश बिछाकर सेज बनायी । आगे उस पर सब यथोपयुक्त अपना अपना मृगचर्म बिछाकर सोगये। कुरुश्रेष्ठोंने दक्षिण ओर सिर करके शयन किया था। उनके सिरकी ओर कुन्ती और पांवकी ओर द्रौपदी सो रही। द्रौपदीने भूमि पर लेटके और सबके पांवके नीचे तकिये की भांति बनने पर न तो मनमें दुःख माना और न उनकी ओर अनादर प्रगट किया। शूरतायुक्त पाण्डवगण लेट कर रथ, नाग, खड्ग,

तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः पञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम्।
शुश्राव कृष्णां च तदा निषण्णां ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः॥१२॥
धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाऽखिलेन निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम॥१३॥
पञ्चालराजस्तु विषण्णरूपस्तान्पाण्डवानप्रतिविन्दमानः।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा क सा गता केन नीता च कृष्णा॥१४॥
कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन वैश्येन वा करदेनोपपन्ना।
कच्चित्पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने॥१५॥
कच्चित्सवर्णप्रवरो मनुष्य उद्रिक्तवर्णोऽप्युत एव कच्चित्।
कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र॥१६॥
कच्चिन्न तप्स्ये परमप्रतीतः संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण।
वदस्व तत्त्वेन महानुभाव कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाऽद्य॥१७॥
विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित्कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्राः।
कच्चित्तु पार्थेन यवीयसाऽद्य धनुर्गृहीतं निहितं च लक्ष्यम्॥१८॥[७३६३]

इति श्रीमहा० स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नप्रत्यागमने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९४॥ समाप्तं च स्वयंवर पर्व।

गदा, परश्वध, दिव्यास्त्र और सेना सम्बधी नाना विचित्र कथाओंको कहने लगे। पांचालराजपुत्र धृष्टद्युम्न पाण्डवोंकी उन सब कथाओंको सुनने लगे और वहांके लोगोंनेभी राजकन्या कृष्णाको उस दशामें देखा। (७—१२)

अनन्तर रात्रिको पाण्डवोंने जैसी कही थी, और वहां जो कुछ हुआ था सब राजा द्रुपदके पास आद्योपान्त कहनेके लिये राजकुमार धृष्टद्युम्न तुरन्त चले गये। महात्मा राजा पांचाल पाण्डवोंको न प्राप्त करके दुःखी होकर पडे थे। धृष्टद्युम्नके वहां जा पहुंचने पर उससे उन्होंने पूछा, कि बेटा! कृष्णाको कौन ले गया है? कृष्णा कहां गयी है? किसी नीच जाति वा शूद्र अथवा कर देने वाले वैश्यने मेरी कन्याको ले जाकर मेरे सिर पर लात तो नहीं मारी है? सुन्दर माला तो श्मशानमें नहीं गिरी है? किसी क्षत्रियश्रेष्ठ अथवा ब्राह्मणने मेरी कन्याको तो नहीं जीत लिया है? किसी नीच जनने कृष्णाको जीत कर मेरे सिर पर बांया पांव तो नहीं डाला है, यदि मेरी कन्या कृष्णा नरसिंह जनके साथ मिलकर चली गयी हो, तो मुझको दुःख नहीं है। हे महानुभव! किसने मेरी पुत्रीको जीत लिया है। क्या कुरुवीर विचित्रवीर्यके पुत्र राजा

अथ वैवाहिक पर्व ।

वैशम्पायन उवाच– ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः पित्रे शशंसाऽथ स राजपुत्रः।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥ १ ॥
धृष्टद्युम्न उवाच– योऽसौ युवा व्यायतलोहिताक्षः कृष्णाजिनी देवसमानरूपः।
यः कार्मुकाग्र्यं कृतवानधिज्यं लक्ष्यं च यः पातितवान्पृथिव्याम्॥ २ ॥
असज्जमानश्च ततस्तरस्वी वृतो द्विजाग्र्यैरभिपूज्यमानः ।
चक्राम वज्रीव दितेः सुतेषु सर्वैश्च देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टः ॥ ३ ॥
कृष्णा प्रगृह्याऽजिनमन्वयात्तं नागं यथा नागवधूः प्रहृष्टा ।
अमृष्यमाणेषु नराधिपेषु क्रुद्धेषु वै तत्र समापतत्सु ॥ ४ ॥
ततोऽपरः पार्थिवसङ्घमध्ये प्रवृद्धमारुज्य महीप्ररोहम् ।
प्रकालयन्नेव स पार्थिवौघान्क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव ॥ ५ ॥
तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र कृष्णामुपादाय गतौ नराग्र्यौ।
विभ्राजमानाविव चन्द्रसूर्यौ बाह्यां पुराद्भार्गवकर्मशालाम् ॥ ६ ॥

पाण्डुके लडके जीते है ? क्या अर्जुनने धन्वा लेकर लक्ष्यभेद किया है?

एकसौ चौरानव्वे अध्याय और स्वयंवरपर्व समाप्त ।

एकसौ पचानव्वे अध्याय । और वैवाहिक पर्व ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि सोमवंश श्रेष्ठ राजपुत्र धृष्टद्युम्न पिताकी यह सब बातें सुनकर प्रसन्न चित्तसे जिसने द्रौपदीको जय कर लिया था और उस विषयमे जो कुछ हुआ था, सब आद्योपान्त पितासे कहने लगे; विशेषरूपसे चौडी और लाल आखोंसे सुहावने काला मृगचर्म पहिने देव सदृश रूपवान जिस युवापुरुषने बडे भारी चापमें गुण चढा कर लक्ष्यभेद करके भूतलमें गिराया था वह तपस्वी किसीसे नहीं मिले । वह ब्राह्मणोंसे घेरे और पूजे जाकर राजोंमें इस प्रकार पराक्रम प्रगट करने लगे, कि जैसे संपूर्ण महर्षि और देवोंसे घिरे हुए देवराज दैत्योंमे जा घुसते है । (१-३)

कृष्णा उस पुरुषके काले मृगचर्मको पकडे प्रसन्न मनसे इस प्रकार पीछे पीछे चली, कि जैसे सर्पकी स्त्री सर्पराजके पीछे जाती है । तब सब राजाओंके असह्य और क्रोधयुक्त होकर युद्धके लिये दौडने पर दूसरे एक वीर उस पार्थिव सेनामें घुस कर इस प्रकार, कि जैसे क्रोधित यमराज दण्ड लेकर प्राणियोंको नष्ट करते है, एक बडे भारी प्राचीन वृक्षको उखाड कर उससे भूपालोंको भगाने लगे । हे नरनाथ । तब राजालोग उन नरसिंह दो वीरोंकी ओर ताकने लगे । वे दोनों वीर चन्द्रमा और सूर्यकी भांति सोहते

तत्रोपविष्टार्चिरिवाऽनलस्य तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः ।
तथाविधैरेव नरप्रवीरैरुपोपविष्टैस्त्रिभिरग्निकल्पैः ॥ ७ ॥
तस्यास्ततस्तावभिवाद्य पादावुक्ता च कृष्णा त्वभिवादयेति।
स्थितां च तत्रैव निवेद्य कृष्णां भिक्षाप्रचाराय गता नराग्र्याः॥८॥
तेषां तु भैक्ष्यं प्रतिगृह्य कृष्णा दत्त्वा बलिं ब्राह्मणसाच्च कृत्वा।
तां चैव वृद्धां परिवेष्य तांश्च नरप्रवीरान्स्वयमप्यभुंक्त ॥ ९ ॥
सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव कृष्णा च तेषां चरणोपधाने ॥
आसीत्पृथिव्यां शयनं च तेषां दर्भाजिनाग्र्यास्तरणोपपन्नम् ॥ १० ॥
ते नर्दमाना इव कालमेघाः कथा विचित्राः कथयांबभूवुः ।
न वैश्यशूद्रौपयिकीः कथास्ता न च द्विजानां कथयन्ति वीराः ११
निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन् ।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा मुक्तान्हि पार्थाञ्शृणुमोऽग्निदाहात् १२
यथा हि लक्ष्यं निहितं धनुश्च सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य ।

हुए कृष्णाको लेकरके नगरके बाहर एक कुंभारके घरमें जा घुसे। (४—६)

वहां अग्निकी चिनगारीकी भांति एक बुढिया नारी अग्नि सदृश तीन वीरोंके साथ बैठी थी; मुझको जान पडा, कि वह उनकी माता होंगी। अनन्तर वह दोनों उनके निकट जाकर और उनके पांव छूकर कृष्णाको उन्हें प्रणाम करनेको बोले। आगे कृष्णाको भिक्षा कहके जताकर उनके पास सौंपके वे सब भिक्षाके लिये निकले। आगे उनके भीख लेकर लौट आनेपर कृष्णाने उनके भोजन की सामग्री लेकर उसका कुछ अंश देवोंको अर्पण किया और कुछ ब्राह्मणोंको दिया। अनन्तर शेष भाग बुढिया और पांचों वीरोंको परोस कर अन्तमें उसने भोजन किया। हे नरनाथ! इसके पश्चात् धरती पर मृगचर्म बिछाये जानेके पश्चात् वे उस पर सोये! कृष्णा उनके पांवके नीचे तकियेकी भांति सो रही। (७—१०)

तब वे वीर काले बादलके समान गंभीर स्वरसे आपसमें भांति भांतिकी विचित्र कथा कहने लगे। वे जो सब कथा कह रहे थे, वे कभी ब्राह्मण, वैश्य वा शूद्र जातिकी नहीं हो सकती; हे महाराज! वे जैसी युद्ध-सम्बन्धी कथा कहने लगे, उससे वे निःसन्देह क्षत्रिय श्रेष्ठ होंगे! हे पिता! इसमें सन्देह नहीं है; कि हमारी आशा पूरी हुई है, क्योंकि सुन चुका हूं, कि पाण्डव अग्निसे जलनेमें बचे है, और उस महावीरने जिस

यथा च भाषन्ति परस्परं ते छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥ १३ ॥
ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः पुरोहितं प्रेषयाम् स तेषाम् ।
विद्याम युष्मानिति भाषमाणो महात्मनः पाण्डुसुताः स्थ कच्चित् १४॥
गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम् ।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथावदुवाच चाऽनुक्रमविक्रमेण ॥ १५ ॥
विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः पञ्चालराजो वरदो वरार्हाः ।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा हर्षस्य नाऽन्तं प्रतिपद्यते सः । १६ ॥
आख्यात च ज्ञातिकुलानुपूर्वीं पदं शिरःसु द्विषतां कुरुध्वम् ।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं पंचालराजस्य च सानुगस्य ॥ १७ ॥
पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः प्रियः सखा चाऽऽत्मसमो बभूव।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं स्नुषा प्रदास्यामि हि कौरवाय ॥ १८ ॥
अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहुर्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम् ॥ १९ ॥
कृतं हि तत्स्यात्सुकृतं ममेदं यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत् ।

प्रकारसे शरासनमें विनाविलंब गुण चढा· या,जिस प्रकार सहजहीमें लक्ष्य भेद किया और उनमें आपसकी जेगी कथा सुनी.उससे निश्चय जान पडता है, कि येही पञ्च पाण्डव होंगे; इसमें सन्देह नहीं कि,वे माताके साथ छिपकर घूम रहे है । (११—१३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर राजा द्रुपदके आनन्द पूर्वक पुरोहितसे यह कहके पाण्डवोंके पास भेजा, कि आप उनके निकट जाके तुम यह कहना,कि तुम महात्मा पांडुकी सन्तान हो। कि नहीं, मैं तुम्हारी सुध लिया चाहता हूं।राजपुरोहित राजाज्ञा को सुनकर पाण्डवोंके पास जा, क्रमसे उनमेंसे हरेकका यश गाकर राजाकी कही सब बात कहने लगे; हे श्रेष्ठ! वरदाता भूनाथ राजा पाञ्चाल आपका परिचय जानना चाहते है; वह इस वीरको लक्ष्य भेद करते देखकर अपार आनन्द पारावारमें गोता मार रहे हैं। आप अपनी, ज्ञातिकी और कुलकी कथा आद्योपान्त सुनाकर राजापाञ्चालके उनके साथियोंके और मेरे हृदयमे आनन्द दे; शत्रुओंके सिर पर पांव रखे। महाराज पाण्डु राजा द्रुपदके आत्मवत प्यारे सखा थे, सो भूपालके द्रुपदकी यह चाह थी, कि उनकी कन्या कृष्णा सखा पाण्डुकी पुत्रवधू बने; हे अनिन्दित रूपवान वीरो! राजा द्रुपदके हृदयमन्दिरमें सदा यह कामना जगती थी, कि

अथोक्तवाक्ये हि पुरोहिते स्थिते ततो विनीतं समुदीक्ष्य राजा ॥ २० ॥
सन्दिष्टवान् भीममिदं शशास प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथाऽस्मै ।
मान्यः पुरोधा द्रुपदस्य राज्ञस्तस्मै प्रयोज्याऽभ्यधिका हि पूजा ॥ २१ ॥
भीमस्ततस्तत्कृतवान्नरेन्द्र तां चैव पूजां प्रतिगृह्य हर्षात् ।
सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तदा युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच ॥ २२ ॥
पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात् ।
प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा सा तेन वीरेण तथाऽनुवृत्ता ॥ २३ ॥
न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा न चापि शीले न कुले न गोत्रे ।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥ २४ ॥
सेयं तथा तेन महात्मनेह कृष्णा जिता पार्थिवसङ्घमध्ये ।
नैवं गते सौमकिरद्य राजा संतापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ॥ २५ ॥
कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः स चापि संपत्स्यति पार्थिवस्य ।
संप्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्यामिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ॥ २६ ॥
न तद्धनुर्मन्दबलेन शक्यं मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि ।

महाभुज अर्जुन धर्मानुसार उनकी कन्या को व्याहें; यदि वही हुआ हो, तो उनके लिये बडा हित, पुण्य प्रीति, यशयुक्त और सुकृत हुआ है। (१४-२०)

पुरोहितके नम्रभावसे यह सब कहके चुप होनेपर पाण्डवराजने उनकी ओर देख निकट स्थित भीमसेनको आज्ञा दी कि इनको पाद्य अर्घ दो। यह राजा द्रुपदके पुरोहित, बडे माननीय हैं, भले प्रकार इनको पूजना चाहिये ! हे नरनाथ ! भीमसेनने भाईकी आज्ञानुसार भली भांति उनकी पूजा की; पुरोहित ब्राह्मण पूजा लेकर प्रसन्न चित्तसे सुखपूर्वक बठने पर युधिष्ठिर उनसे बोले, कि हे ब्राह्मण ! राजा पांचालने मनमाना कन्यादान नहीं किया है। उन्होंने निज धर्मके अनुसार लक्ष्यभेदका प्रण करके कन्यादान करना निश्चय किया था, तिससेही इस वीरने उनकी कन्या लाभ की है; अब जाति, कुल, शील, गोतके विषयमें पूछनेका उनको कुछभी अधिकार नहीं है। (२०—२४)

धनुषमें रोदा चढाकर लक्ष्य भेदनेही पर वह सब पूछनेके अधिकार खो चुके हैं। उन्हींके संकल्पसे यह महात्मा सब राजाओंमेंसे द्रौपदी का जय कर लाया है, ऐसी दशामें सोमवंशी राजा द्रुपदका इस समय दुःख मानना केवल सुखसे हाथ धोनाही है। पर उनकी जो चाह है, वह पूरी होगी, क्योंकि इस अतिरूप

न चाऽकुलास्त्रेण न हीनजेन लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम्॥२७॥
तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं पञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य ।
न चापि तत्पातनमन्यथेह कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ॥ २८ ॥
एवं ब्रवीत्येव युधिष्ठिरे तु पञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः ।
तत्राऽऽजगामाऽऽशु नरो द्वितीयो निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम्॥२९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पुरोहितागमने पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥ [७३९२]

दूत उवाच— जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा विवाहहेतोरुपसंस्कृतं च ।
तदाऽऽप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः कृष्णा च तत्रैव चिरं न कार्यम् ॥१॥
इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः।
एतान्समारुह्य परैत सर्वे पञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे ।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि कुंती च कृष्णा च सहैकयाने ॥ ३ ॥
श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य यान्युक्तवान्भारत धर्मराजः ।

वती राजकुमारीके लक्षण भले दीख पडते है । जिसकी सामर्थ थोडी है, वह कभी उस शरासनमें रोदा नही चढा सकता है, और जो नीच जाति अथवा व्यवहारसे ज्ञात नहीं है, वह भी कभी लक्ष्यको भेद कर धरती पर गिरा नहीं सकता है, फिरभी इस भूमण्डल भरमें किसीकी ऐसी सामर्थ नहीं है, कि उस लक्ष्यका गिरना व्यर्थ कहे. सो अब कन्याके लिये उनका दुःख मानना ठीक नहीं । युधिष्ठिर ऐसा कह रहे थे, कि राजा पांचालसे एक दूत यह कहनेको वहां आया, कि अन्न बना है । (२५-२९)

आदि पर्वमें एकसौ पचानवे अध्याय समाप्त । (७३९२)

आदिपर्वमें एकसौ छानवे अध्याय ।

दूत बोला, कि महाराज द्रुपदने व्याहनकी इच्छासे बराती लोगोके लिये अच्छा अन्न बनवाया है । आप नित्यकृत्य पूरा कर शीघ्र वहां आवे; वहीं कृष्णाका विवाह होगा, विलम्ब न करे । सुवर्ण पद्मसे सहावने अच्छे घोडेवाले यह सब रथ खडे है, आप सब कोई इन पर चढके पांचालराजभवनमें शुभागमन करे । १-२

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितको बिदा कर उन बडे बडे यानोंमेंसे एक पर कुन्ती और कृष्णाको चढाय आप एक ओर पर चले । इधर राजा पांचालने पुरोहितसे धर्मराज युधिष्ठिरका वचन सुन उनकी

जिज्ञासयैवाऽथ कुरूत्तमानां द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥ ४ ॥
फलानि माल्यानि च संस्कृतानि वर्माणि चर्माणि तथाऽऽसनानि ।
गावश्च राजन्नथ चैव रज्जुर्बीजानि चाऽन्यानि कृषीनिमित्तम् ॥ ५ ॥
अन्येषु शिल्पेषु च यान्यपि स्युः सर्वाणि कृत्यान्यखिलेन तत्र ।
क्रीडानिमित्तान्यपि यानि तत्र सर्वाणि तत्रोपजहार राजा ॥६ ॥
वर्माणि चर्माणि च भानुमंति खड्गा महान्तोऽश्वरथाश्च चित्राः ।
धनूंषि चाऽग्र्याणि शराश्च चित्राः शक्त्यृष्टयः काञ्चनभूषणाश्च॥७॥
प्रासा भृशुण्डयश्च परश्वधाश्च सांग्रामिकं चैव तथेह सर्वम् ।
शय्यासनान्युत्तमवस्तुवंति तथैव वासो विविधं च तत्र ॥ ८ ॥
कुंती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वीमन्तःपुरं द्रूपदस्याऽऽविवेश।
स्त्रियश्च तां कौरवराजपत्नीं प्रत्यर्चयामासुरदीनसत्त्वाः ॥ ९ ॥
तान्सिंहविक्रान्तगतीन्निरीक्ष्य महर्षभाक्षानजिनोत्तरीयान् ।
गूढोत्तरांसान्भुजगेन्द्रभोगप्रलम्बबाहून्पुरुषप्रवीरान् ॥ १० ॥
राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे पुत्राश्च राज्ञः सुहृदस्तथैव ।
प्रेष्याश्च सर्वे निखिलेन राजन्हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥ ११ ॥
ते तत्र वीराः परमासनेषु सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः।

जातिका पहिचान और उपहारके किये चारों वर्णयोग्य फल, सुन्दर सुन्दर माला, चर्म, वस्त्र, आसन, गौ, रस्सी, बीज, कृषिके दूसरे सब पदार्थ, शिल्पयोग्य काटने कूटनेके यन्त्र और क्रीडाकी वस्तु आदि भांति भांतिके पदार्थ बटोरे। आगे चमकीला चर्म, वर्म, और ऋष्टि, सुन्दर खड्ग, घोडे, रथ, अच्छे चाप, भांति भांतिके बाण सुवर्णसे सजी शक्ति, प्रास, भुशुण्डी और कुठार, युद्धयोग्य भांति भांतिकी दूसरी वस्तु और अच्छी सेज, नटाटोप बहुविध चीर आदि अनेक प्रकारकी सामग्री अलग अलग रख दी। (३-८)

अनन्तर कौरवराजपत्नी कुन्ती सती द्रौपदीको लेकर राजा द्रूपदके अन्तःपुर में गयी। राजमहरियोंने प्रसन्न चित्तसे उनका स्वागत कर सम्मानित किया। हे राजन्! अनन्तर राजा पांचाल, तथा उनके मन्त्री, पुत्र, मित्र, टहलुये और राजपरिवारके दूसरे लोग, मृगचर्मका दुपटा लिये आगये हुए पाण्डवोंकी सिंहसमान विक्रमी चाल, बडे बैलसदृश आंख, सर्पराजकी देहकी भांति लटके भुज और बडे स्कन्ध देख आनन्दके समुद्रमें डूबे। वे नरश्रेष्ठ वीरगण विना आश्चर्य और निडर चित्तसे अलग अलग

यथानुपूर्वं विविशुर्नराग्र्यास्तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥ १२ ॥
उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु ।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः संभोजकाश्चाऽप्युपजह्रुरन्नम् ॥ १३ ॥
ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्साङ्ग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥ १४ ॥
तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः ।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः कुन्तीसुतान्पार्थिव राजपुत्रान् ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि साङ्ग्रामिकद्रव्यग्रहणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥ [७४०७]

वैशम्पायन उवाच—तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः ॥ १ ॥
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान्ब्राह्मणानुत ॥ २ ॥
वैश्यान्वा गुणसंपन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ।
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतो दिशम् ॥ ३ ॥
कृष्णाहेतोरनुप्राप्तान्देवान्सन्दर्शनार्थिनः ।

पादपीठयुक्त अति सुन्दर मूल्यवान आसनों पर बडे छोटेके क्रमसे बैठ गये। ९-१२

अनन्तर अच्छे लिबास गहनोंसे बने ठने टहलुये, महरिन और खिलाने पिलानेवालोंने यथायोग्य सुवर्ण और चांदीके वर्तनोंमें परम स्वादिष्ट राजाके भोजनयोग्य अन्नपानादि भांति भांतिकी सामग्री लाकर दे दी। हे महाराज! पुरुषोंमें वीर पाण्डव मनमाने भोजन कर तृप्त हुए और उपहारकी वस्तुओंमेंसे दूसरी सब तजकर केवल लडाई योग्य पदार्थोंको देखने लगे। तब राजा द्रुपद और उनके पुत्र और प्रधान मन्त्री यह देख कुन्तीकुमारोंको राजकुमार निश्चय कर आनन्द मानने लगे। (१३-१५) [७४०७]

आदिपर्वमें एकसौ छानवे अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ सतानवे अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर अति द्युतिमान पाञ्चाल्य द्रुपद, बडे तेजस्वी राजपुत्र युधिष्ठिरको सभापण करके विना दुःख ब्राह्मणयोग्य आदरके साथ बोले, कि तुमको ब्राह्मण, क्षत्रिय, गुणवान वैश्य वा शूद्र इनमेंसे कौनसी जाती समझें! अथवा तुम देवता तो नहीं हो, कि देखनेके लिये माया लेकर ब्राह्मणोंके स्वरूपमें टहलते हुए कृष्णाके

वैशम्पायन उवाच—तमब्रवीत्ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः ।
ममाऽपि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद्विशांपते ॥ २१ ॥
द्रुपद उवाच — भवान्वा विधिवत्पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम ।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥ २२ ॥
युधिष्ठिर उवाच— सर्वेषां महिषी राजन्द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशांपते ॥ २३ ॥
अहं चाऽप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता सुता तव ॥ २४ ॥
एष नः समयो राजन्रत्नस्य सह भोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ २५ ॥
सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान् ॥ २६ ॥
द्रुपद उवाच — एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥ २७ ॥
लोकवेदविरुद्धं त्वं नाऽधर्मं धर्मविच्छुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी ॥ २८ ॥

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज ! धर्मात्मा युधिष्ठिर उनसे बोले, कि हे नरनाथ ! मुझकोभी विवाह करना है। द्रुपदने कहा, कि हे वीर ! तुमही विधि पूर्वक मेरी बेटीका पाणिग्रहण करो, अथवा तुम जिससे कृष्णाको ब्याहा चाहो उसीसे ब्याहो । युधिष्ठिर बोले, हे महात्मा ! द्रौपदी हम सबोंकी रानी बनेगी, क्योंकि पहिले मेरी माताने ऐसी आज्ञा की है, विशेष मेरा और भीमसेनका विवाह नहीं हुआ है; यद्यपि अर्जुनने तुम्हारी रत्नसदृश कन्याको बाजीसे जीत लिया है, पर हे राजेन्द्र ! हम भाइयोंमे एक नियम है, कि रत्न पानेसे हम सब एकत्र होकर भोग करेंगे । हम उस नियमके विरुद्ध चलने का साहस नहीं रखते; सो द्रौपदी हम सबोंकी धर्मपत्नी होगी; वह अग्निके सामने बडे छोटेके क्रमसे हम सबोंसे विवाह करे । (२१—२६)

द्रुपद बोले, हे कुरुनन्दन ! शास्त्रकी विधिसे एक पुरुषकी बहुत स्त्री होती है, पर एक नारिका बहुत पति होना कभी नहीं सुना । हे कुन्तीपुत्र ! तुम पवित्र और धर्मके जानकार होकरके भी क्योंकर लोक और वेदके विरोधी कर्ममें हाथ

युधिष्ठिर उवाच— सूक्ष्मो धर्मो महाराज नाऽस्य विद्मो वयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्माऽनुयामहे ॥ २९ ॥
न मे वागनृतं प्राह नाऽधर्मे धीयते मनः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ ३० ॥
एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शङ्का तत्र ते स्यात्कथंचिदपि पार्थिव ॥३१॥

द्रुपद उवाच— त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्विवतिकर्तव्यं श्वः काले करवामहे ॥३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत ।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद्यदृच्छया ॥ ३३ ॥ [७४४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि
द्वैपायनागमने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः ।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं सर्वेऽभ्यवादयन् ॥ १ ॥

डाला चाहते हो ! क्यों तुम्हारी ऐसी बुद्धि हुई ? युधिष्ठिर बोले, महाराज ! धर्ममार्ग सूक्ष्म है, उसकी गति हम जान नहीं सकते । पर प्रचेता आदि पहिलेके महात्मा जिस पथसे चले हैं, हम उसी पथसे चलेंगे । हे राजन् ! मेरी माताने वह आज्ञा दी है और वह मेरा भी मनमाना हुआ है ; सो वह अवश्यही सनातन धर्म है, क्यों कि मेरे वागिन्द्रियसे कभी झूठी बात नहीं निकलती, मेरा मन भी अधर्मकी ओर नहीं चलता । आप इस मनसे काम करें, अधिक विचारनेका प्रयोजन नहीं है: हे पृथ्वीनाथ ! इस विषयमें आप कोई शङ्का न करें (२७—३१)

द्रुपद बोले, कि हे कुन्तीपुत्र ! तुम, कुन्ती और मेरा पुत्र धृष्टद्युम्न यह तीन मिलके विचार कर क्या करना है, निश्चय करो, मैं कल जो करना हो, करूंगा । श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत ! अनन्तर कुन्ती, युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न यह तीन एकत्र होकर उस विषयमें विचारने लगे। ऐसे समयमें भगवान् द्वैपायन आपही वहां आ पहुचे । (३२–३३)

आदिपर्वमें एकसौ सतानव्वे अध्याय समाप्त ७४४०

आदिपर्वमें एकसौ अठानव्वे अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर सब पाण्डव बडे यशोवन्त राजा पाञ्चाल और वहांके दूसरे लोगोंने उठ कर महात्मा कृष्णद्वैपायनका स्वागत किया । महानुभव

तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

कुन्त्युवाच — एवमेतद्यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः ।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात्कथम् ॥ १८ ॥

व्यास उवाच — अनृतान्मोक्षसे भद्रे धर्मश्चैष सनातनः ।
न तु वक्ष्यामि सर्वेषां पाञ्चालि शृणु मे स्वयम् ॥ १९ ॥
यथाऽयं विहितो धर्मो यतश्चायं सनातनः ।
यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—तत उत्थाय भगवान्व्यासो द्वैपायनः प्रभुः ।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत् ॥ २१ ॥
पाण्डवाश्चाऽपि कुन्ती च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
विविशुर्यत्र तत्रैव प्रतीक्षन्ते स्म तावुभौ ॥ २२ ॥
ततो द्वैपायनस्तस्मै नरेन्द्राय महात्मने ।
आचख्यौ तद्यथा धर्मो बहूनामेकपत्निता ॥२३॥[७४६३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि
व्यासवाक्येऽष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

व्यास उवाच — पुरा वै नैमिषारण्ये देवाः सत्रमुपासते ।

द्विजोत्तम ! मैंने इस लिये इस कर्मको परम धर्म विचारा है । (१३—१७)

कुन्ती बोली, धर्म आचरनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा, वह ठीकही है; मेरी वह बात झूठी न ठहर जाये, इसलिये मैं बहुत भय पागयी हूं, हे ब्रह्मन ! क्योंकर उस बातकी सचाई बनी रहेगी । (१८)

श्रीव्यासजी बोले, कि भद्रे ! तुम्हारे बातकी सचाई बनी रहेगी; तुमने जो कहा है, वह सनातन धर्म है । हे पांचाल! युधिष्ठिरने जो कहा है वही धर्मयुक्त है; इसमें कोई शङ्का नहीं है। यह जिस प्रकार जिनसे सनातनधर्म करके निश्चय किया गया, वह सबोंसे नहीं कहूंगा, केवल तुमही सुनो । (१९—२०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर प्रभु द्वैपायन भगवान व्यासजी उठकर राजाका हाथ थामकर राजमन्दिरमें गये । कुन्ती, पाण्डव और धृष्टद्युम्न उन दोनोंकी बाट ताकते हुए वहीं बैठे रहे; अनन्तर महर्षि द्वैपायन महात्मा द्रुपदसे यह कथा कहने लगे, कि अनेक पुरुषोंको एक स्त्री होना धर्मके विरुद्ध नहीं है । (२१—२३) [७४६३]

आदिपर्वमें एकसौ अठानवे अध्याय समाप्त ।

तत्र वैवस्वतो राजञ्छामित्रमकरोत्तदा ॥ १ ॥
यमो दीक्षितस्तत्र राजन्नाऽमारयत्किंचिदपि प्रजानाम्।
रजास्ता बहुला बभूवुः कालातिपातान्मरणप्रहीणाः॥ २ ॥
प्र शक्रो वरुणः कुवेरः साध्या रुद्रा वसवोऽथाश्विनौ च।
रं भुवनस्य प्रजापतिं समाजग्मुस्तत्र देवास्तथाऽन्ये॥ ३ ॥
ब्रुवन्लोकगुरुं समेता भयात्तीव्रान्मानुषाणां विवृद्ध्या।
द्वेगादुद्विजन्तः सुखेप्सवः प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम्॥ ४ ॥
वाच – किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदाऽमराः।
मा वो मर्त्यसकाशाद्वै भयं भवितुमर्हति ॥ ५ ॥
– मर्त्या अमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहाऽऽगताः॥ ६ ॥
च – वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतोस्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः।
न्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये तत एषां भवितैवाऽन्तकालः॥ ७ ॥
वतस्यैव तनुर्विभूषिता वीर्येण युष्माकमुत प्रवृद्धा ।

दिपर्वमें एकसौ निनानब्वे अध्याय।

शम्पजी बोले, कि महाराज! मिषारण्यमें देवोंने महायज्ञ आरम्भ किया था। उस महायज्ञमें वैवस्वत [यम] मारनेको नियुक्त हुए थे। वह [यज्ञक]र्ममें प्रवृत्त रहके किसी प्रजाको [नहीं मार]ते, इससे मनुष्योंके मृत्युसे [रहित होने]पर उनका भय दिनोदिन बढने [लगा। उसके] अनन्तर चन्द्र, इन्द्र, वरुण, [कुबेर, दो]नों अश्विनीकुमार, साध्यगण, [रुद्रगण], वसुगण और दूसरे देवगण [भुवनोंके र]चनेहारे प्रजापतिके निकट जा[कर उन लोग]ोंने सब मिलकर मनुष्योंकी संख्या [बढ]नेके कारण भीतचित्तसे उन [लोक]गुरु ब्रह्माजीसे बोले, मनुष्योंकी संख्या बढनेसे हम बडे भयसे उदास हैं, और सुखकी आशासे आपकी शरण लेते है। (१–४)

पितामह बोले, कि मनुष्योंसे तुम्हे क्या भय है? तुम सब अमर हो, सो मर्त्योंसे तुमको भय खाना नहीं चाहिये। देवगण बोले, कि अब मर्त्यगण अमर्त्य हुए है, सो हम लोगोंसे कोई विशेषता नहीं रही, इसलिये हम उदास हो मर्त्योंसे अपना प्रभेद बनाये रखनेको चाहसे यहां आये है। भगवान बोले, कि तपनपुत्र इस कालमे यज्ञमें बसे है, सो नरोंको मृत्यु नहीं हो रही है, पर उनके यज्ञमे सम्पूर्ण कार्य हो जाने पर मानवोंका अन्तकाल आ पहुंचेगा। तब यमराजका

यथानुपूर्वं विविशुर्नराग्र्यास्तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥ १२ ॥
उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु ।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः संभोजकाश्चाऽप्युपजह्रुरन्नम् ॥ १३ ॥
ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्साङ्ग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥ १४ ॥
तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः ।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः कुन्तीसुतान्पार्थिव राजपुत्रान् ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि साङ्ग्रामिकद्रव्यग्रहणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥ [७४०७]

वैशम्पायन उवाच—तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः ॥ १ ॥
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान्ब्राह्मणानुत ॥ २ ॥
वैश्यान्वा गुणसंपन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ।
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतो दिशम् ॥ ३ ॥
कृष्णाहेतोरनुप्राप्तान्देवान्सन्दर्शनार्थिनः ।

पादपीठयुक्त अति सुन्दर मूल्यवान आसनों पर बडे छोटेके क्रमसे बैठ गये।९-१२

अनन्तर अच्छे लिबास गहनोंमे बने ठने टहलुये.महरिन और खिलाने पिलानेवालोंने यथायोग्य सुवर्ण और चांदीके बर्तनोंमें परम स्वादिष्ट राजाके भोजनयोग्य अन्नपानादि भांति भांतिकी सामग्री लाकर दे दी। हे महाराज ! पुरुषोंमे वीर पाण्डव मनमाने भोजन कर तृप्त हुए और उपहारकी वस्तुओंमेंसे दूसरी सब तजकर केवल लडाई योग्य पदार्थोंको देखने लगे। तब राजा द्रुपद और उनके पुत्र और प्रधान मन्त्री यह देख कुन्तीकुमारोंको राजकुमार निश्चय कर आनन्द मानने लगे। (१३-१५) [७४०७]

आदिपर्वमें एकसौ छानवे अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें एकसौ सतानव्वे अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर अति द्युतिमान पाञ्चाल्य द्रुपद, बडे तेजस्वी राजपुत्र युधिष्ठिरको सभाषण करके बिना दुःख ब्राह्मणयोग्य आदरके साथ बोले, कि तुमको ब्राह्मण, क्षत्रिय, गुणवान वैश्य वा शूद्र इनमेंसे कौनसी जाती समझें ! अथवा तुम देवता तो नहीं हो, कि देखनेके लिये माया लेकर ब्राह्मणोंके स्वरूपमें टहलते हुए कृष्णाके

भवान्हि गुरुरस्माकं परमं च परायणम् ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः ।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत्तं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥
यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परंतपः ।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥
पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात ।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम् ।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ॥ १६ ॥
आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वर ॥ १७ ॥
ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि ।
यमौ च राजा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥ १८ ॥
तत्र ते न्यवसन्राजन्यज्ञसेनेन पूजिताः ।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥ १९ ॥
गृह्णातु विधिवत्पाणिमद्याऽयं कुरुनन्दनः ।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥ २० ॥

लायी गयी है। हे महाराज ! आप हमारे गुरु और परम गति हैं; सो आपसे यह सब ब्योरा सच कह दिया। (८-१२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज शत्रु डरावने धर्मधर राजा द्रुपद पाण्डवोंका परिचय पाकर परम हर्षसे घबराकर युधिष्ठिरको योग्य उत्तर न दे सके। वह उस हर्षको यत्नसे दबाकर धर्मराजको यथायोग्य वचन बोले। पूछा, कि वे क्योंकर वारणावत नगरसे भागे थे। पाण्डुपुत्रने आद्योपान्त वह सब कथा कह सुनायी। वचनशील राजा द्रुपद उनकी बात सुनकर नरनाथ धृतराष्ट्रकी निन्दा करने लगे और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको ढाढस दे उनको राज्यमें बैठानेकी प्रतिज्ञा की। अनन्तर कुन्ती, द्रौपदी भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजाकी आज्ञासे एक बडे भवन में गये। हे महाराज ! वे राजा यज्ञसेनसे सन्मान पाकर उस भवनमें बसने लगे। अनन्तर राजा पुत्रोंके साथ सोच युधिष्ठिरसे बोले, कि आज शुभ दिन है, आज कुरुनन्दन अर्जुन विवाहके लौकिक कर्मोंको करके कृष्णासे विवाह करें। (१३-२०)

युधिष्ठिर उवाच— सूक्ष्मो धर्मो महाराज नाऽस्य विद्मो वयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्माऽनुयामहे ॥ २९ ॥
न मे वागनृतं प्राह नाऽधर्मे धीयते मनः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ ३० ॥
एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शङ्का तत्र ते स्यात्कथंचिदपि पार्थिव ॥३१॥

द्रुपद उवाच— त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्वितिकर्तव्यं श्वः काले करवामहे ॥३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत ।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद्यदृच्छया ॥ ३३ ॥ [७४४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि
द्वैपायनागमने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः ।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं सर्वेऽभ्यवादयन् ॥ १ ॥

डाला चाहते हो! क्यों तुम्हारी ऐसी बुद्धि हुई? युधिष्ठिर बोले, महाराज! धर्ममार्ग सूक्ष्म है, उसकी गति हम जान नहीं सकते। पर प्रचेता आदि पहिलेके महात्मा जिस पथसे चले है, हम उसी पथसे चलेंगे। हे राजन्! मेरी माताने वह आज्ञा दी है और वह मेरा भी मनमाना हुआ है; सो वह अवश्यही सनातन धर्म है, क्यो कि मेरे वागिन्द्रियसे कभी झूठी बात नहीं निकलती, मेरा मन भी अधर्मकी ओर नहीं चलता। आप इस मनसे काम करें, अधिक विचारनेका प्रयोजन नहीं है; हे पृथ्वीनाथ! इस विषयमें आप कोई शङ्का न करें। (२९—३१)

द्रुपद बोले, कि हे कुन्तीपुत्र! तुम, कुन्ती और मेरा पुत्र धृष्टद्युम्न यह तीन मिलके विचार कर क्या करना है, निश्चय करो, मै कल जो करना हो, करूंगा। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! अनन्तर कुन्ती युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न यह तीन एकत्र होकर उस विषयमें विचारने लगे। ऐसे समयमे भगवान् द्वैपायन आपही वहा आ पहुंचे। (३२—३३)

आदिपर्वमें एकसौ सत्तानवे अध्याय समाप्त ७४४०

आदिपर्वमें एकसौ अट्टानवे अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर सब पाण्डव बडे यशोवन्त राजा पाञ्चाल और वहाके दूसरे लोगोंने उठ कर महात्मा कृष्णद्वैपायनका स्वागत किया। महानुभव

धृष्टद्युम्न उवाच —यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ।
ब्रह्मन्समभिवर्तेत सद्वृत्तः संस्तपोधन ॥ १० ॥
न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद्गतिं विद्मः कथंचन।
अधर्मो धर्म इति वा व्यवसायो न शक्यते ॥ ११ ॥
कर्तुमस्मद्विधैर्ब्रह्मंस्ततोऽत्र न व्यवस्यते।
पञ्चानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन ॥ १२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—न मे वागनृतं प्राह नाऽधर्मे धीयते मतिः।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन ॥ १३ ॥
श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा ॥ १४ ॥
तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः।
संगताऽभूद्दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥ १५ ॥
गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥ १६ ॥
सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्ष्यवद्भुज्यतामिति।

तत्र वैवस्वतो राजञ्छामित्रमकरोत्तदा ॥ १ ॥
ततो यमो दीक्षितस्तत्र राजन्नाऽमारयत्किंचिदपि प्रजानाम्।
ततः प्रजास्ता बहुला बभूवुः कालातिपातान्मरणप्रहीणाः॥ २ ॥
सोमश्च शक्रो वरुणः कुबेरः साध्या रुद्रा वसवोऽथाश्विनौ च।
प्रणेतारं भुवनस्य प्रजापतिं समाजग्मुस्तत्र देवास्तथाऽन्ये॥ ३ ॥
ततोऽब्रुवँल्लोकगुरुं समेता भयात्तीव्रान्मानुषाणां विवृद्ध्या।
तस्माद्भयादुद्विजन्तः सुखेप्सवः प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम्॥ ४ ॥
पितामह उवाच – किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदाऽमराः।
मा वो मर्त्यसकाशाद्वै भयं भवितुमर्हति ॥ ५ ॥
देवा ऊचुः – मर्त्या अमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहाऽऽगताः॥ ६ ॥
भगवानुवाच– वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतोस्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः।
तस्मिन्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये तत एषां भवितैवाऽन्तकालः॥ ७ ॥
वैवस्वतस्यैव तनुर्विभाविता वीर्येण युष्माकमुत प्रवृद्धा ।

आदिपर्वमें एकसौ निन्नानवे अध्याय।

श्रीव्यासजी बोले, कि महाराज! पहिले नैमिषारण्यमें देवोंने महायज्ञ आरम्भ किया था। उस महायज्ञमें वैवस्वत यम पशु मारनेको नियुक्त हुए थे। वह उस काममें प्रवृत्त रहके किसी प्रजाको नहीं मारते थे; इससे मनुष्योंके मृत्युसे बचने पर उनका भय दिनोदिन बढने लगा। अनन्तर चन्द्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, रुद्रगण, वसुगण और दूसरे देवगण भुवन रचनेवाले प्रजापतिके निकट जा पहुंचे और सब निरन्तर मनुष्योंकी संख्या वृद्धि होनेके कारण भीतचित्तसे उन लोगोंके गुरु ब्रह्माजीसे बोले, मनुष्योंकी संख्या बढनेसे हम बडे भयसे उदास हैं, और सुखकी आशासे आपकी शरण लेते हैं। (१-४)

पितामह बोले, कि मनुष्योंसे तुम्हें क्या भय है? तुम सब अमर हो, सो मर्त्योंसे तुमको भय खाना नहीं चाहिये। देवगण बोले, कि अब मर्त्यगण अमर्त्य हुए हैं सो हम लोगोंमें कोई विशेषता नहीं रही इसलिये हम उदास हैं। मर्त्योंसे अपना प्रभेद बनाये रखनेको यहां आये हैं। भगवान बोले, कि तपनपुत्र इस कालमें यज्ञमें बसे हैं, सो नरोंको मृत्यु नहीं हो रही है, पर उनके यज्ञमें सम्पूर्ण कार्य हो जाने पर मानवोंका अन्तकाल आ पहुंचेगा। तब यमराज

ईशोऽहमस्मीति समन्युरब्रवीद् दृष्ट्वा तमक्षैः सुभृशं प्रमत्तम्॥१५॥
क्रुद्धं च शक्रं प्रसमीक्ष्य देवो जहास शक्रं च शनैरुदैक्षत।
संस्तम्भितोऽभूदथ देवराजस्तेनेक्षितः स्थाणुरिवाऽवतस्थे॥ १६॥
यदा तु पर्याप्तमिहाऽस्य क्रीडया तदा देवीं रुदतीं तामुवाच।
आनीयतामेष यतोऽहमारान्नैनं दर्पः पुनरप्याविशेत ॥ १७॥
ततः शक्रः स्पृष्टमात्रस्तया तु स्रस्तैरङ्गैः पतितोऽभूद्धरण्याम्।
तमब्रवीद्भगवानुग्रतेजा मैव पुनः शक्र कृथा कथंचित् ॥ १८॥
निवर्तयैनं च महाद्रिराजं बलं च वीर्यं च तवाऽप्रमेयम्।
छिद्रस्य चैवाऽऽविश मध्यमस्य यत्राऽऽसते त्वद्विधाः सूर्यभासः१९
स तद्विवृत्य विवरं महागिरेस्तुल्यद्युतींश्चतुरोऽन्यान्ददर्श।
स तानभिप्रेक्ष्य बभूव दुःखितः कच्चिन्नाऽहं भाविता वै यथेमे २०॥
ततो देवो गिरिशो वज्रपाणिं विवृत्य नेत्रे कुपितोऽभ्युवाच।

पासही हिमाचलकी चोटी पर देखा, कि एक परम सुन्दर युवा पुरुष युवतीके साथ सिंहासन पर बैठ चौसड़ खेल रहे हैं। सुरनाथ उनको चौसड़में बड़े मगन देखके बोले, कि हे पण्डितवर! जानना, कि यह तीनों भुवन मेरेही वशमें है। इसपर पुरुषके कोई उत्तर न देने पर इन्द्रने क्रोधके मारे फिर कहा कि मैं भूमण्डल भरका अधीश हूं। तब उन खेलते हुए पुरुषने देवराजको क्रोधित देख एकबार उनकी ओर आंख फेरी। देवराज उनकी आंखोंके सामने पड़तेही जड़वत बन गये। अनन्तर वह पुरुष चौसड़ खेल लेनेके पीछे उस नारी हुई बालासे बोले, कि तुम इस इन्द्रको लाओ, उसको मालूम कर दूंगा, कि वह मेरे सामने फिर अहंकार न प्रगट करे। (१५-१७)

अनन्तर उस नारीके देवराजको लानेके लिये छूतेही देवराजके अंग अवश हुए और वह धरती पर गिर पड़े। तब उन पुरुषरूपी कठोर तेजस्वी भगवान् महादेवजीने उनसे कहा, कि इन्द्र! फिर कभी ऐसा काम न करना! तुम्हारा बलवीर्य बहुत अधिक है, सो तुम इस गड्ढेके द्वार रोके हुए बड़े पर्वतको खोल कर बिलके भीतर जाओ; तुम वहां देखोगे कि तुम्हारे समान सूर्यवत प्रकाशमान बहुत इन्द्र हैं। (१८—२०)

तब देवराजने पर्वतराजके उस बिलके द्वारको खोलके उसमें अपने ऐसे दूसरे चार इन्द्रोंको देखा। वह उनको देखतेही दुःखसे हाय हाय करने लगे, कि "मुझको भी ऐसी दशामें रहना न पड़े!" तब देवदेव महेश्वर क्रोधसे

देवास्त्वस्मानादधीरन्ननन्या धर्मो वायुर्मघवानाश्विनौ च ।
अस्माद्दिव्यमानुषान्योनिमाधित्वा आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकम् ॥ २७ ॥
व्यास उवाच-एतच्छ्रुत्वा वज्रपाणिर्वचस्तु देवश्रेष्ठं पुनरेवेदमाह ।
वीर्येणाहं पुरुषं कार्यहेतोर्दद्यामेषां पञ्चमं मत्प्रसूतम् ॥ २८ ॥
विश्वभुग्भूतधामा च शिबिरिन्द्रः प्रतापवान् ।
शान्तिश्चतुर्थस्तेषां वै तेजस्वी पञ्चमः स्मृतः ॥ २९ ॥
तेषां कामं भगवानुग्रधन्वा प्रादादिष्टं सन्निसर्गाद्यथोक्तम् ।
तां चाप्येषां योषितं लोककान्तां श्रियं भार्यां व्यदधान्मानुषेषु ॥ ३० ॥
तैरेव सार्धं तु ततः स देवो जगाम नारायणमप्रमेयम् ।
अनन्तमव्यक्तमजं पुराणं सनातनं विश्वमनन्तरूपम् ॥ ३१ ॥
स चापि तद्व्यदधात्सर्वमेव ततः सर्वे संबभूवुर्धरण्याम् ।
स चापि केशौ हरिरुद्बबर्ह शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् ॥ ३२ ॥
तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणीं च ॥ ३३ ॥
तयोरेको बलदेवो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः ।
कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥ ३४ ॥
ये ते पूर्वं शक्ररूपा निबद्धास्तस्यां दर्यां पर्वतस्योत्तरस्य ।

तान्पूर्वेन्द्रानभिवीक्ष्याऽभिरूपाञ्श ॥
प्रीतो राजा द्रुपदो विस्मितश्च दिव्यां
तां चैवाग्र्यां श्रियमतिरूपयुक्तां दिव्या
योग्यां तेषां रूपतेजोयशोभिः पत्नीं मत्वा
स तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यरूपं जग्राह पादौ सत्यवत्य
नैतच्चित्रं परमर्षे त्वयीति प्रसन्नचेताः स उ

व्यास उवाच— आसीत्तपोवने काचिदृषेः कन्या म
नाऽध्यगच्छत्पतिं सा तु कन्या रूप
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण
तामुवाचेश्वरः प्रीतो वृणु काममिति
मेवमुक्ताऽब्रवीत्कन्या देवं वरदमी
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुन
ददौ तस्मै स देवेशस्तं वरं प्रीतम
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति
सा प्रसादयती देवमिदं भूयोऽभ्य

कर और इन्द्रपुत्र अर्जुनको साक्षात् इन्द्ररूपी निहारकर प्रसन्न हुए । आगे उस अप्रमेय दिव्य मायाको देखके अचरज मान कर चन्द्र और अग्नि समान प्रकाशवती लक्ष्मीजी सदृश परम रूपवती, श्रेष्ठतमा उस स्वर्ग कन्याको उसके रूप, तेज और यशके द्वारा उनकी भार्या बनने योग्य समझा । (३९-४३)

राजा द्रुपद उस अति आश्चर्यलीला-को देखकर सत्यवती पुत्रके पांव छूकर बोले, कि हे परमर्षे! मुझको दिव्य नेत्र देकर इन सब आश्चर्य रूपोंका दिखाना आपके लिये कोई बड़ी बात नहीं

है । अनन्त
बोले कि ऋ
ऋषिकी ए
वती युवती
पा नहीं सके
शङ्करको प्रसन्
देवोंके ईश
अपना मन है
सुनके इष्ट
बार बोली, हे
मांगती हूं यह
देवनाथ
करके वर दान
पति होंगे

कथं विजेतुं शक्यौ तौ रणे जीवितमिच्छता॥१८॥
यस्मिन्धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः ।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे स जीयेत रणे कथम्॥१९॥
येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः ।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥ २० ॥
द्रुपदः श्वशुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः ।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ॥ २१ ॥
सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रे च भारत ।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक्तेषु समाचर ॥ २२ ॥
इदं निर्दिष्टमयशः पुरोचनकृतं महत् ।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन्प्रक्षालयाऽऽत्मनः ॥ २३ ॥
तेषामनुग्रहश्चाऽयं सर्वेषां चैव नः कुले ।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ॥ २४ ॥
द्रुपदोऽपि महान्राजा कृतवैरश्च नः पुरा ।
तस्य संग्रहणं राजन्स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥ २५ ॥
बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशांपते ।

सहदेवका पराक्रम सह सकता है? जिस पुरुषमें धीरज, दया, क्षमा, सत्य और पराक्रम यह सब गुण सदा विराजमान है, क्या वह पाण्डवोंके ज्येष्ठ युधिष्ठिर जीते जानेके योग्य है? विशेष राजा द्रुपद जिनके ससुर, द्रुपदके पुत्र वीर धृष्टद्युम्न आदि भाई जिनके साले, बलराम कृष्ण और सात्यकि जिनके मन्त्री हैं, रणस्थलमें क्या दुर्लभ उनसे जीते जानेके योग्य है? (१८-२१)

ही उनसे योग्य व्यवहार करें। हे पृथ्वीपाल! पुरोचनका किया जो बडे कुयश का धब्बा आप पर लग गया है, आप आज पाण्डवों पर कृपा दर्शाकर उसको धो डालिए; आगे उन पर इस कृपाके दर्शानेसे हमारे वंशमें सबके जीवनकी रक्षा, परम मङ्गल और क्षत्रियकुलकी वृद्धि होगी। हे भरतर्षभ! पाञ्चाल देशीय द्रुपद बहुत बडे राजा हैं, पहिले उनसे हमारी शत्रुता उभडी थी, पर उनको मिला

तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ॥ ३ ॥
क्षत्तरानय गच्छैतान्सह मात्रा सुसत्कृतान् ।
तथा च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥ ४ ॥
दिष्ट्या जीवन्ति ते पार्था दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः ॥ ५ ॥
दिष्ट्या वर्धामहे सर्वे दिष्ट्या शान्तः पुरोचनः ।
दिष्ट्या मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ॥ ७ ॥
समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च ।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव ह ॥ ८ ॥
तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
द्रुपदं न्यायतो राजन्संयुक्तमुपतस्थिवान् ॥ ९ ॥
स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः ।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥ १० ॥
ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत ।
स्नेहात्परिष्वज्य स तान्पप्रच्छानामयं ततः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना ।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ॥ १० ॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम् ।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ॥ ११ ॥
श्रुत्वा चाऽप्यागतान्वीरान्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ॥ १२ ॥
विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत ।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ॥ १३ ॥
तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः ।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥ १४ ॥
कौतूहलेन नगरं दीप्यमानमिवाऽभवत् ।
तत्र ते पुरुषव्याघ्राः शोकदुःखविनाशनाः ॥ १५ ॥
तत उच्चावचा वाचः पौरैः प्रियचिकीर्षुभिः ।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पाण्डवा हृदयंगमाः ॥ १६ ॥
अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित् ।
यो नः स्वानिव दायादान्धर्मेण परिरक्षति ॥ १७ ॥

भाग पाण्डव जैसे मेरे स्नेहके पात्र हैं, वैसे ही इसमें सन्देह नहीं है, कि पुरुषश्रेष्ठ वासुदेवके भी स्नेहके पात्र हैं। वह जैसे इनकी मङ्गलचिन्ता करते हैं, कुन्ती नन्दन युधिष्ठिरसे भी वैसी बन नहीं पडती। (६-९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे पृथ्वीनाथ! अनन्तर पाण्डव, कृष्ण और विदुर महात्मा द्रुपदकी आज्ञा पाके परम सुखसे विहार करते हुए यशस्विनी कुन्ती और द्रौपदीके साथ हस्तिनापुरमें जाने लगे। हे भारत! जननाथ धृतराष्ट्रने वीर पाण्डवोंके शुभागमनका समाचार सुनके, उनको लिवा लानेके लिये बडे चापधारी विकर्ण, चित्रसेन, धनुष धरनेवालोंमें श्रेष्ठ द्रोण और गौतमकृप इन सब कौरव पक्षके लोगोंको भेजा। महाबली वीर पाण्डव उनसे घेरे जाके शोभते हुए धीरे धीरे हस्तिनापुरमें गये। तब वह नगर नगरवालोंके देखनेकी बडी चाहकी हडबडीसे मानो फटने लगा। (१०-१४)

पुरुषव्याघ्र पाण्डवोंको देखके पुरवासियोंके शोक दुःख दूर होगये। प्रिय चाहनेवाले पुरवासियोंके हृदयग्राही पाण्डव उनसे कहे जाते हुए इस प्रकारके भांति भांतिके वचन सुनने लगे, कि यह वही धर्मज्ञ पुरुषव्याघ्र फिर आ

अर्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश।
वैशम्पायन उवाच–प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च ॥ २६ ॥
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः ।
अर्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन्॥ २७॥
ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
मण्डयांचक्रिरे तद्वै पुरं स्वर्गवदच्युताः ॥ २८ ॥
ततः पुण्ये शिवे देशे शांतिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः ॥ २९ ॥
सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम् ।
प्राकारेण च संपन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता ॥ ३० ॥
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च ।
शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ३१ ॥
द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम् ।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ॥ ३२ ॥
विविधैरतिनिर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः ।
शक्तिभिश्चाऽऽवृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः॥ ३३ ॥

नहीं कर सकेगा; सो तुम राज्यका आधा भाग लेकर खाण्डवप्रस्थमें रहो। २१-२६

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि मनुष्यश्रेष्ठ पाण्डवोंने राजा धृतराष्ट्रकी बात मानकर राज्यका आधा भाग पाके उनके पांव छूकर घने वनमें जाय खाण्डवप्रस्थमें प्रवेश किया। उन अच्युत पुरुषोंने कृष्णके साथ वहां पहुंच कर उस ठांवको देवलोककी भांति बनाया। महारथी पाण्डवोंने कृष्णद्वैपायनके साथ शुभ पुण्यस्थानमें शान्ति कार्य करवाकर भले प्रकारसे नगर बनाया। वह नगर सागर समान बडी खाईं और चन्द्रमा तथा धुंधले बादल समान आकाश चूमनेवाले भवनोंकी कतारसे ऐसी शोभा पाने लगा, कि जैसी भोगवती नगरी सर्पोंसे सुशोभित होती है। उसके घरोंकी केवाडयुक्त प्रशस्त द्वारोंसे उडने को चाहने वाले पंख फैलाये गरुडकी शोभा हुई। वह श्रेष्ठ पुरी बादल दल और मन्दरपर्वत सदृश भले प्रकार संवृत, अस्त्रयुक्त भेदनेके अयोग्य और भांति भांतिके गोपुरोंसे अच्छे प्रकार रक्षित हुई। ठौर ठौरमें दो जीभवाले सर्पतुल्य शक्ति नामक अस्त्रोंसे घिरी, अच्छे शिक्षित किये हुए बडे

शालतालतमालैश्च वकुलैश्च सकेतकैः ।
मनोहरैः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः ॥ ४२ ॥
प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः ।
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः ॥ ४३ ॥
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः ।
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतैः ॥ ४४ ॥
मत्तबर्हिणसंघुष्टैः कोकिलैश्च सदामदैः ।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ॥ ४५ ॥
मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथा जगतिपर्वतैः ।
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ॥ ४६ ॥
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥ ४७ ॥
रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥ ४८ ॥
तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत्प्रीतिरवर्धत ॥ ४९ ॥
तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥ ५० ॥

मनोहर फूलसहित केतक, फलके भारसे नम्र प्राचीन आमलक, लोध्र, सुन्दर फूलयुक्त अङ्कोल, जम्बु, पाटल, माधवी-लता-कुञ्ज, करवीर और पारिजात यह सब और दूसरे नित्य फूल फलवाले भांति भांतिके वृक्षोंसे सुहावी। वे फुलवाडी अनेक प्रकारके पक्षी उन्मत्त मयूरदल और उमङ्गसे कुहुकहाती हुई कोयलकुलसे भरकर परिपूर्ण अलबेली सुन्दरता देने लगी। और अनेक प्रकारके आदर्शसदृश निर्मल गृह, भांति भांतिके लतागृह, सुहावने चित्रगृह, क्रीडार्थ मिट्टीके कृत्रिम पहाड, श्वेत लाल आदि नाना प्रकारके पखरी गन्धसे अति मनोहर सरोवर, हंस कारण्डव और चकवोंसे सुहावन वनसे घिरे, भांति भांतिके ताल और बडे बडे सुन्दर तडागोंसे सुहावी। ३८—४८।

महाराज! उस पुण्यशील जनोंसे पूरित महान प्रदेशमें जाके पाण्डवोंका आनन्द दिन दिन बढने लगा। राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके पाण्डवोंके लिये

तल्पैश्चाऽभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम् ॥ ३४ ॥
आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत्पुरोत्तमम् ।
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम् ॥ ३५ ॥
विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः ।
तत्त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ॥ ३६ ॥
मेघवृन्दमिवाऽऽकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम्।
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरवस्य निवेशनम् ॥ ३७ ॥
शुशुभे धनसंपूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम् ।
तत्राऽगच्छन्द्विजा राजन्सर्ववेदविदां वराः ॥ ३८ ॥
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा ।
वणिजश्चाऽभ्ययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः॥३९॥
सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाऽभ्यागमंस्तदा ।
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः ॥ ४० ॥
आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा ।
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा ॥ ४१ ॥

भवनोंमे सुशोभित, योधोंसे रक्षित, तेज अङ्कुश तथा एकवारही सैकडों मनुष्योंके प्राणनाशी शतघ्नी नामक अस्त्रयुक्त यन्त्र जाल और लोहेके बडे बडे चक्रोंसे सुशोभित हुई; उसके पथ चौडे और बडे हिसाबसे बनाये गये। उन नगरोंमें कभी दैवी छेड छाडकी सम्भावना नहीं रही। वह नगर धवले रंगके भांति भांतिके अच्छे अच्छे भवनोंकी कतारोंमे अमरोंकी पुरीके समान शोभायमान होनेके कारण इन्द्रप्रस्थ कहलाया। ऐसे नगरके सुन्दर शुभ स्थानमें पाण्डवोंकी धनभरी धननाथसदृश भवन मण्डली आकाश मण्डलमें चमकती हुई बिजलीसे जटित बादलसमान मोहने लगी।२६-३८

हे महाराज! अनन्तर संस्कृत प्राकृत आदि देश देशकी भाषा जानने वाले और सब वेदोंके जानकार ब्राह्मणोंने आकर उस ठौरमे बसना निश्चय किया। वणिक लोग धनार्जनके अभिलाषी बनके अनेक दिशाओंसे वहां आने लगे। अनेक प्रकार शिल्प विज्ञान जानने वाले वहां आ बसे। नगरके चारों ओर सुन्दर सुन्दर फुलवाडी आम, आम्रातक कदम्ब, अशोक, चम्पा, पुन्नाग, नागकेशर, लकुच, पनस, शाल, ताल, तमाल, बकुल,

शालतालतमालैश्च बकुलैश्च सकेतकैः ।
मनोहरैः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः ॥ ४२ ॥
प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः ।
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः ॥ ४३ ॥
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः ।
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतैः ॥ ४४ ॥
मत्तबर्हिणसंघुष्टैः कोकिलैश्च सदामदैः ।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ॥ ४५ ॥
मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथा जगतिपर्वतैः ।
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ॥ ४६ ॥
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥ ४७ ॥
रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥ ४८ ॥
तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत्प्रीतिरवर्धत ॥ ४९ ॥
तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥ ५० ॥

मनोहर फूलसहित केतक, फलके भारसे नम्र प्राचीन आमलक, लोध्र, सुन्दर फूल-युत अङ्कोल, जम्बू, पाटल, माधवी-लता-कुञ्ज, करवीर और पारिजात यह सब और दूसरे नित्य फूल फलवाले भांति भांतिके वृक्षोंसे सुहावी। हे फलोंही अनेक प्रकारके पक्षी, उन्मत्त मयूरदल और उसमें सुहावनी हुई बारम्बारसे मतवाले कोकिलकी कलध्वनी सुहावना फै-लाने लगी। और अनेक प्रकारके आदर्श-सदृश निर्मल गृह, भांति भांतिके लता-गृह, सुहावने चित्रगृह, क्रीडार्थ मिट्टीके कृत्रिम पहाड, श्वेत लाल आदि नाना प्रकारके पद्मकी गन्धसे अति मनोहर स-रोवर, हंस कारण्डव और चकवोंसे सुहा-वन वनसे घिरे, भांति भांतिके ताल और बडे बडे सुन्दर तडागोंसे सुहावी। ३८—४८

महाराज ! इस पुण्यशील जनोंसे पूरित महान प्रदेशमें जाके पाण्डवोंका आनन्द दिन दिन बढने लगा। राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके पाण्डवोंके लिये

पञ्चभिस्तैर्महेष्वासैरिन्द्रकल्पैः समन्वितम् ।
शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ५१ ॥
तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः ।
ययौ द्वारवतीं राजन्पाण्डवानुमते तदा ॥ ५२ ॥ [७७८८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि पुरनिर्माणे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९॥

जनमेजय उवाच–एवं संप्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थं तपोधन ।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १ ॥
सर्व एव महासत्त्वा मम पूर्वपितामहाः ।
द्रौपदी धर्मपत्नी च कथं तानन्ववर्तत ॥ २ ॥
कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः ।
वर्तमाना महाभागा नाऽभिद्यन्त परस्परम्॥ ३ ॥
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन ।
तेषां चेष्टितमन्योन्यं युक्तानां कृष्णया सह ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच–धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः ।
रेमिरे खाण्डवप्रस्थे प्राप्तराज्याः परंतपाः ॥ ५ ॥

उस प्रकार धर्मकी व्यवस्था कर देने पर पाण्डव खाण्डवप्रस्थमें वासकर आनन्दित हुए । भोगवती नगरी जिस प्रकार नागोंसे सोहती है; वैसेही वह नगर पञ्च पाण्डवोंसे अच्छी शोभा पाने लगा। हे महाराज ! बलदेवजीके साथ वीर श्रीकृष्ण इस प्रकारसे पाण्डवोंको राज्यमें बैठाकर उनकी सम्मतिसे द्वारका को गये। (४१—५२) [७७८८]

आदिपर्वमें दो सौ नौ अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें दो सौ दस अध्याय ।

जनमेजय बोले, कि हे तपोधन! महासत्व महात्मा मेरे पहिलेके दादे पाण्डवोंने इन्द्रप्रस्थमें इसके पीछे क्या किया था? उनकी भार्या द्रौपदी क्योंकर उन सबोंके संग मिलती थी और ये महाभाग भूपति पांचों एक द्रौपदीसे रत होते थे; फिर तिस परभी उन पांचोंमें आपसका झगडा नहीं उभडा था, इसका क्या कारण है? हे तपोधन! कृष्णासे मिलते हुए उन महात्माओंने आपसमें कैसा व्यवहार किया था ? यह सब विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं। (१—४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शत्रु मंथने हारे पाण्डव धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राज्य-

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसन्धो युधिष्ठिरः।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ ६ ॥
जितारयो महाप्राज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ७ ॥
कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः ।
आसांचक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च ॥ ८ ॥
अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु ।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया ॥ ९ ॥
आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ।
देवर्षेरुपविष्टस्य स्वयमर्घ्यं यथाविधि ॥ १० ॥
प्रादाद्युधिष्ठिरो धीमान्राज्यं तस्मै न्यवेदयत् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनास्तदा ॥ ११ ॥
आशीर्भिर्वर्धयित्वा च तमुवाचाऽऽस्यतामिति ।
निषसादाऽभ्यनुज्ञातस्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
कथयामास कृष्णायै भगवन्तमुपस्थितम् ।
श्रुत्वैतद् द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता ॥ १३ ॥
जगाम तत्र यत्राऽऽस्ते नारदः पाण्डवैः सह ।
तस्याऽभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी ॥ १४ ॥

लाभ कर खाण्डवप्रस्थमें कृष्णाके साथ गृहस्थी करने लगे। बड़े तेजस्वी सत्यशील युधिष्ठिर राज्य पाकर भाइयोंके साथ धर्मके अनुसार प्रजा पालने लगे। शत्रु विनाशी, महाप्राज्ञ, सत्यधर्मशील पुरुष-श्रेष्ठ दूसरे पाण्डवगण बड़े आनन्दसे उस स्थानमें बसे रहे। वे बड़े कीमती राजासनों पर बैठके सम्पूर्ण पौरकार्योंका निवटारा करते थे। ६—८

अनन्तर एक दिन वे सब महात्मा बैठे थे, कि ऐसे समयमें देवर्षि नारद मनमाने वहां आ पहुंचे। बुद्धिमान् युधिष्ठिरने ऋषिको आते देखकर अपना सुन्दर आसन छोड़ दिया। अनन्तर देवर्षिके बैठने पर उन्होंने उनको विधिपूर्वक अर्घ देकर सम्पूर्ण राजकार्यकी बातें कह सुनायीं। ऋषिने पूजा लेकर प्रसन्न चित्तसे उनको असीस देकर बैठने कहा। राजा युधिष्ठिर मुनिकी आज्ञासे बैठ गये और कृष्णाके पास देवर्षिके आनेका समाचार भिजवाया। द्रौपदी यह बात सुनते ही शुचि और समाहित

कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताऽथ द्रुपदात्मजा।
तस्याश्चापि स धर्मात्मा सत्यवागृषिसत्तमः॥ १५॥
आशिषो विविधाः प्रोच्य राजपुत्र्यास्तु नारदः।
गम्यतामिति होवाच भगवांस्तामनिन्दिताम्॥१६॥
गतायामथ कृष्णायां युधिष्ठिरपुरोगमान्।
विविक्ते पाण्डवान्सर्वानुवाच भगवानृषिः॥ १७॥

नारद उवाच— पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी।
यथा वो नाऽत्र भेदः स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् १८
सुन्दोपसुन्दौ हि पुरा भ्रातरौ सहितावुभौ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ॥ १९॥
एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ २०॥
रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रीतिभावकम्।
यथा वो नाऽत्र भेदः स्यात्तत्कुरुष्व युधिष्ठिर॥ २१॥

युधिष्ठिर उवाच—सुन्दोपसुन्दावसुरौ कस्य पुत्रौ महामुने।
उत्पन्नश्च कथं भेदः कथं चाऽन्योन्यमघ्नताम्॥ २२॥

होकर उस ठौरमें आगयी जहां देवर्षि पाण्डवोंके साथ बैठे थे। धर्मचारिणी कृष्णा देवर्षिके पांवोंको प्रणाम कर हाथ जोड अवगुण्ठितभावसे खडी हुई। ९-१५

धर्मात्मा सत्यवादी ऋषिश्रेष्ठ नारदने अनिन्दिता राजकन्याको अनेक अशीस देकर जानेकी आज्ञा दी। अनन्तर द्रौपदी के चले जाने पर भगवान देवर्षि युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे निरालेमें बोले कि यशस्विनी द्रौपदी अकेली तुम सबोंकी धर्मपत्नी बनी है; ऐसी दशामें तुम भाइयोंमे बिगाड हो सकता है, सो ऐसा कोई नियम करो, कि वह न होने पावे! पूर्वकालमें सुन्द और उप सुन्द नामक दो भाई एकत्र बसते थे। वे दूसरोंसे वधे जानेके अयोग्य और उनका एक राज्य, एक गृह, एक सेज, एक भोजन-स्थान था। उनमें सदा ऐसी मित्रता बनी रहने परभी तिलोत्तमाके लिये उन्होंने एक दूसरेको मार डाला। सो हे युधिष्ठिर! तुम आपसकी प्रीति बढानेवाले भ्रातृप्रेम बनाये रखो। यह प्रयत्न करो, कि तुममे भ्रातृभेद न होने पावे। (१६-२१)

युधिष्ठिर बोले, कि हे महामुने! सुन्द और उपसुन्द किसके पुत्र थे ! क्योंकर उनमे आपसका भेद होगया ? और

अप्सरा देवकन्या वै कस्य चैषा तिलोत्तमा ।
यस्याः कामेन संमत्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ॥ २३ ॥
एतत्सर्वं यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन ।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्परं कौतूहलं हि नः ॥ २४ ॥ [७८१२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि
युधिष्ठिरनारदसंवादे दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

नारद उवाच— शृणु मे विस्तरेणेममितिहासं पुरातनम् ।
भ्रातृभिः सहितः पार्थ यथावृत्तं युधिष्ठिर ॥ १ ॥
महासुरस्याऽन्ववाये हिरण्यकशिपोः पुरा ।
निकुम्भो नाम दैत्येन्द्रस्तेजस्वी बलवानभूत् ॥ २ ॥
तस्य पुत्रौ महावीर्यौ जातौ भीमपराक्रमौ ।
सुन्दोपसुन्दौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ॥ ३ ॥
तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसंमतौ ।
निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥ ४ ॥
विनाऽन्योन्यं न भुञ्जाते विनाऽन्योन्यं न जग्मतुः ।
अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥ ५ ॥

क्योंकर उन्होंने एक दूसरे को मारडाला था ? और जिस नारीके लिये उन्होंने एक दूसरेको मारडाला था, वह तिलोत्तमा किसकी कन्या थी ? वह बाला अप्सरा वा देवकन्या थी ? हे ब्रह्मन् ! यह सब विस्तारपूर्वक आद्योपान्त सुनना चाहता हूं । हे तपोधन ! यह सुननेकी हममें बडी इच्छा उपजी है । २२–२४

आदिपर्वमें २१० अध्याय समाप्त । ७८१२

हिरण्यकशिपुके वंशमें निकुम्भ नामक बली तेजस्वी एक दैत्यवरने जन्म लिया था । उसके घोर पराक्रमी, बडे वीर्यवन्त कुटिलचित्त दो कठोर पुत्र उपजे । उन दो दैत्यराज पुत्रोंमें एकका नाम सुन्द और दूसरेका उपसुन्द था । वे दोनों सदा एकही विषयमें सम्मत एकही विषयमें दत्तचित्त और एकही कार्यके करनेवाले होकर समान सुख दुःखसे काल बिताते थे ।

एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकं यथा कृतौ ।
तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ॥ ६ ॥
त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम् ।
दीक्षां कृत्वा गतौ विन्ध्यं तावुग्रं तेपतुस्तपः॥ ७ ॥
तौ तु दीर्घेण कालेन तपोयुक्तौ बभूवतुः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ जटावल्कलधारिणौ ॥ ८ ॥
मलोपचितसर्वाङ्गौ वायुभक्षौ बभूवतुः ॥ ९ ॥
आत्ममांसानि जुह्वन्तौ पादाङ्गुष्ठाग्राधिष्ठितौ।
ऊर्ध्वबाहू चाऽनिमिषौ दीर्घकालं धृतव्रतौ ॥ १० ॥
तयोस्तपःप्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः ।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ ११ ॥
ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः ।
तपोविघातार्थमथो देवा विघ्नानि चक्रिरे ॥ १२ ॥
रत्नैः प्रलोभयामासुः स्त्रीभिश्चोभौ पुनः पुनः।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १३ ॥
अथ मायां पुनर्देवास्तयोश्चक्रुर्महात्मनोः ।

उन दो भाइयोंके स्वभाव और व्यवहारमें भेद न रहनेके हेतु जान पडता था, कि मानों एक मनुष्य दो भागोंमे बट गया है। हर काममे एक बुद्धि रखनेवाले वे दो बडे वीर्यवन्त भाई क्रमसे बढ गये। (१—६)

वे तीनों लोक जीतना निश्चय कर विन्ध्य पर्वत पर जाकर दीक्षित और समाहित होके कठोर तप करने लगे। पहिले वल्कल पहिनके और भूखप्यास छोडके तपमे चित्त लगाया और सर्व शरीरमें भस्म लगाकर वायु पीकर, पांवके अंगूठोंके बल खडे होकर, हाथ ऊंचे उठाकर, निमेष तजकर और व्रत धारणकर बहुत काल तक अपने मांसकी आहुति चढायी। उस कालमें यह एक आश्चर्य लीला हुई, कि विंध्य पर्वतने उनकी तपस्याके प्रभावसे तप कर धुआं वमन किया था। अनन्तर देवगण उनकी कठोर तपस्या देखकर भय खाके तप नष्ट करनेके लिये विघ्न डालने लगे। उन्होंने लुभानेवाले रत्न और नारीसे उन दोनोंको बार बार लुभाया; पर उन दोनों बडे अच्छे व्रत करने वाले भाइयोंने किसी प्रकार व्रत नहीं छोडा। (७—१३)

भगिन्यो मातरो भार्यास्तयोश्चाऽऽत्मजनस्तथा ॥ १४ ॥
प्रपात्यमाना वित्रस्ताः शूलहस्तेन रक्षसा ।
भ्रष्टाभरणकेशान्ता भ्रष्टाभरणवाससः ॥ १५ ॥
अभिभाष्य ततः सर्वास्तौ त्राहीति विचुक्रुशुः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १६ ॥
यदा क्षोभं नोपयाति नाऽऽर्तिमन्यतरस्तयोः ।
ततः स्त्रियस्ता भूतं च सर्वमन्तरधीयत ॥ १७ ॥
ततः पितामहः साक्षादभिगम्य महासुरौ ।
वरेण च्छन्दयामास सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ १८ ॥
ततः सुन्दोपसुन्दौ तौ भ्रातरौ दृढविक्रमौ ।
दृष्ट्वा पितामहं देवं तस्थतुः प्राञ्जली तदा ॥ १९ ॥
ऊचतुश्च प्रभुं देवं ततस्तौ सहितौ तदा ।
आवयोस्तपसाऽनेन यदि प्रीतः पितामहः ॥ २० ॥
मायाविदावस्त्रविदौ बलिनौ कामरूपिणौ ।
उभावप्यमरौ स्यावः प्रसन्नो यदि नौ प्रभुः ॥ २१ ॥
ब्रह्मोवाच— ऋतेऽमरत्वं युवयोः सर्वमुक्तं भविष्यति ।

आगे उन्होंने फिर उन दो महात्माओंके सामने माया फैलाकर यह एक बडी भारी लीला दिखायी, कि उन दोनों असुरोंकी माता, बहिन स्त्री और दूसरे स्वजन अलङ्कारोंसे च्युत होके, केशसे रहित होके और वस्त्र खोके, हाथोंमें शूल लिये हुए एक राक्षससे गिराये जाके अति भय खाकर उन दोनों असुरोंसे पुकार पुकार कर त्राहि त्राहि चिल्लाने लगे। यह देखनेपर भी अति बडे तपस्वी सुन्द और उपसुन्दने व्रत नहीं छोडा, अनन्तर जब दोनोंमेंसे कोई भी उनसे असन्तुष्ट वा कातर नहीं हुआ तब वे स्त्रियां और राक्षस अन्तर्हित हुए। (१४-१७)

तिसके पश्चात् सर्वलोकोंके मङ्गलकारी प्रभु पितामहने उन दोनों महावीरोंके सामने आकर उनको वर मांगनेको कहा। दृढविक्रमी सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई प्रभु पितामहदेवको देखकर दोनों हाथ जोडके खडे हुए और दोनों एकत्र होकर बोले, कि हमो पितामह! हमारी तपस्यासे यदि आप प्रीत और प्रसन्न हुए हो तो हमको यह वर दें, कि हम दोनों मायाके जाननेवाले अस्त्रके जाननेवाले, बली, कामरूपी और अमर होवें। (१८-२१)

ब्रह्माजी बोले कि तुमने जो जो

अन्यद्वृणीतं मृत्योश्च विधानममरैः समम् ॥ २२ ॥
प्रभविष्याव इति यन्महदभ्युद्यतं तपः ।
युवयोर्हेतुनाऽनेन नाऽमरत्वं विधीयते ॥ २३ ॥
त्रैलोक्यविजयार्थाय भवद्भ्यामास्थितं तपः ।
हेतुनाऽनेन दैत्येन्द्रौ न वां कामं करोम्यहम् ॥ २४ ॥
सुन्दोपसुन्दावूचतुः-त्रिषु लोकेषु यद्भूतं किंचित्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वस्मान्नौ भयं न स्यादृतेऽन्योन्यं पितामह ॥ २५ ॥
पितामह उवाच—यत्प्रार्थितं यथोक्तं च काममेतद्ददानि वाम् ।
मृत्योर्विधानमेतच्च यथावद्‌ भविष्यति ॥ २६ ॥
नारद उवाच-- ततः पितामहो दत्वा वरमेतत्तदा तयोः ।
निवर्त्य तपसस्तौ च ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २७ ॥
लब्ध्वा वराणि दैत्येन्द्रावथ तौ भ्रातरावुभौ ।
अवध्यौ सर्वलोकस्य स्वमेव भवनं गतौ ॥ २८ ॥
तौ तु लब्धवरौ दृष्ट्वा कृतकामौ मनस्विनौ ।
सर्वः सुहृज्जनस्ताभ्यां प्रहर्षमुपजग्मिवान् ॥ २९ ॥
ततस्तौ तु जटां भित्त्वा मौलिनौ संबभूवतुः ।

प्रार्थना की उनमेंसे अमर होनेके अतिरिक्त तुम्हारी सब अभिलाषा पूरी होगी। अमरताके विना और कुछ प्रार्थना ऐसी करो, कि अमर होनेके तुल्य है। तीनों लोकोंके प्रभु बननेहीकी इच्छासे तुमने यह बडी तपस्या प्रारम्भ की थी, इस लिये तुमको अमरता लाभ होना ठीक नहीं है। हे दोनों दैत्यवर! तीनों लोक जय करनाही तुम्हारी तपस्याका अभिप्राय है; इस कारण मैंने तुम्हारे अमर होनेकी अभिलाषा पूरी नहीं की। सुन्द और उपसुन्दने कहा कि, हे पितामह! हम दोनोंको एक दूसरेके विना इस त्रिलोक भरमें स्थावर जङ्गम आदि किसीसे मृत्यु का भय न रहे। (२२–२५)

पितामह बोले, कि तुमने जो प्रार्थना की और जो कहा, वही होगा। मैंने तुम्हारी इस प्रार्थनाके अनुसार तुम्हारी मृत्युका नियम निश्चय किया। श्रीनारदजी बोले, कि अनन्तर पितामह सुन्द और उपसुन्दको यह वर देके तपसे निवृत्त कर ब्रह्मलोकमें गये। दोनों भाई दैत्यवर वर पाकर सब लोकोंके वधके अयोग्य होके अपने घरको पधारे। उनके स्वजन उन दोनों मनस्वियोंको वर पाते और उनका मनोरथ सफल होते देख

महार्हाभरणोपेतौ विरजोऽम्बरधारिणौ ॥ ३० ॥
अकालकौमुदीं चैव चक्रतुः सार्वकालिकीम् ।
नित्यप्रमुदितः सर्वस्तयोश्चैव सुहृज्जनः ॥ ३१ ॥
भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं दीयतां रम्यतामिति ।
गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चासीद् गृहे गृहे ॥ ३२ ॥
तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः ।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं दैत्यानामभवत्पुरम् ॥ ३३ ॥
तैस्तैर्विहारैर्बहुभिर्दैत्यानां कामरूपिणाम् ।
समाः संक्रीडतां तेषामहरेकमिवाभवत् ॥ ३४ ॥ [७८४६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि
सुन्दोपसुन्दोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

नारद उवाच– उत्सवे वृत्तमात्रे तु त्रैलोक्याकाङ्क्षिणावुभौ ।
मन्त्रयित्वा ततः सेनां तावाज्ञापयतां तदा ॥ १ ॥
सुहृद्भिरभ्यनुज्ञातौ दैत्यैर्वृद्धैश्च मन्त्रिभिः ।
कृत्वा प्रास्थानिकं रात्रौ मघासु ययतुस्तदा ॥ २ ॥
गदापट्टिशधारिण्या शूलमुद्गरहस्तया ।

कर बडे प्रसन्न हुए। उन दो भाइयोंने तब जटा छोडके किरीट आदि अतिमूल्यवान आभूषण और साफ वस्त्र पहिने। (२६-३०)

अनन्तर सार्वकालिक अकाल कौमुदीका महोत्सव करना प्रारम्भ किया। उनके स्वजन सदा आमोद प्रमोद से काल काटने लगे। उनके घर घर भक्षण करो, भोजन करो, दान करो, खेलो, गीत गाओ, पीओ, ऐसे शब्द सदा उठने लगे। ठौर ठौरमें दैत्योंके सिंह समान गर्जनेके साथ करतालीकी ध्वनि होनेसे सम्पूर्ण नगरमें आनन्दकी बाढ आ गई। कामरूपी दैत्योंके बडे आनन्दसे उस प्रकारोंके भांति भांतिके विहारमें लग रहनेसे उनको एक एक वर्ष एक एक दिन जान पडने लगा। (३१-३४)

आदिपर्वमें दो सौ ग्यारह अध्याय समाप्त। [७८४६]

आदिपर्वमें दो सौ बारह अध्याय।

श्रीनारदजी बोले कि अकालकौमुदीके महोत्सवके अन्त होने पर तीनों लोकोंके अधिकार लाभ करनेके अभिलाषी होके दोनों भाइयोंने चतुरङ्ग सेनाओंको सजने की आज्ञा दी। उन्होंने स्वजन, और बूढे दैत्य मन्त्रियोंकी आज्ञासे यात्राकी क्रिया पूरी कर रात्रिके समय मघा नक्षत्रमें यात्रा की। गदापट्टिशधारी, शूल

प्रस्थितौ सह वर्मिण्या महत्या दैत्यसेनया ॥ ३ ॥
मङ्गलैः स्तुतिभिश्चापि विजयप्रतिसंहितैः ।
चारणैः स्तूयमानौ तौ जग्मतुः परया मुदा॥ ४ ॥
तावन्तरिक्षमुत्प्लुत्य दैत्यौ कामगमावुभौ ।
देवानामेव भवनं जग्मतुर्युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥
तयोरागमनं ज्ञात्वा वरदानं च तत्प्रभोः ।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्ब्रह्मलोकं ततः सुराः॥ ६ ॥
ताविन्द्रलोकं निर्जित्य यक्षरक्षोगणांस्तदा ।
खेचराण्यपि भूतानि जघ्नतुस्तीव्रविक्रमौ ॥ ७ ॥
अन्तर्भूमिगतान्नागाञ्जित्वा तौ च महारथौ ।
समुद्रवासिनौ सर्वा म्लेच्छजातीर्विजिग्यतुः॥ ८ ॥
ततः सर्वां महीं जेतुमारब्धावुग्रशासनौ ।
सैनिकांश्च समाहूय सुतीक्ष्णं वाक्यमूचतुः॥ ९ ॥
राजर्षयो महायज्ञैर्हव्यकव्यैर्द्विजातयः ।
तेजो बलं च देवानां वर्धयन्ति श्रियं तथा ॥ १० ॥
तेषामेवं प्रवृत्तानां सर्वेषामसुरद्विषाम् ।
संभूय सर्वैरस्माभिः कार्यः सर्वात्मना वधः॥ ११ ॥

दैत्यसेना गदा, पट्टिश,शूल, मुद्गर आदि शस्त्र लेकर उनके साथ चली। दोनों दैत्यराज चारणोंकी विजयसूचक माङ्गलिक स्तुति पाठसे प्रशंसित होके परम हर्षपूर्वक जाने लगे। युद्धमें कठोर कामगामी वे दोनों दैत्यवर आकाश पर चढके देवलोकको गये। (१—५)

देवगण उनके आनेकी सुध पाय पितामहका वर देना स्मरण कर अपनी अपनी ठौर छोडके ब्रह्मलोकमें गये। तेजस्वी विक्रमी दोनों दैत्योंने इन्द्रलोक, यक्षगण, राक्षसगण और दूसरे खेचरी प्राणियोंको जीतकर वहांसे चले चले पातालमें बसे हुए सर्पोंको परास्त कर, समुद्र द्वीपमें म्लेच्छोंको हराया। अनन्तर कठोर शासनेवाले दोनों महाबली भाइयोंने भूमण्डलको परास्त करनेको उद्यत होके सेनाओंको पुकार पुकार यह कटीली बात कही, कि राजर्षि वृन्द महायज्ञोंसे और ब्राह्मणगण हव्यकव्यसे देवोंको तेज बल और श्रीवृद्धि पहुचाते है; वह सब लोग इन कार्योंसे हमारी शत्रुता करते हैं; सो हम सब एकत्र होकर सर्वप्रकारसे उनको नष्ट करेंगे। (६—११)

एवं सर्वान्समादिश्य पूर्वतीरे महोदधेः ।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्वतोमुखौ ॥ १२ ॥
यज्ञैर्यजन्ति ये केचिद्याजयन्ति च ये द्विजाः ।
तान्सर्वान्प्रसभं हत्वा बलिनौ जग्मतुस्ततः ॥ १३ ॥
आश्रमेष्वग्निहोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
गृहीत्वा प्रक्षिपन्त्यप्सु विश्रब्धं सैनिकास्तयोः ॥ १४ ॥
तपोधनैश्च ये क्रुद्धैः शापा उक्ता महात्मभिः ।
नाऽऽक्रामन्त तयोस्तेऽपि वरदाननिराकृताः ॥ १५ ॥
नाऽऽक्रामन्त यदा शापा बाणा मुक्ताः शिलास्विव ।
नियमान्संपरित्यज्य व्यद्रवन्त द्विजातयः ॥ १६ ॥
पृथिव्यां ये तपःसिद्धा दान्ताः शमपरायणाः ।
तयोर्भयाद्दुद्रुवुस्ते वैनतेयादिवोरगाः ॥ १७ ॥
मथितैराश्रमैर्भग्नैर्विकीर्णकलशस्रुवैः ।
शून्यमासीज्जगत्सर्वं कालेनेव हतं तदा ॥ १८ ॥
ततो राजन्नदृश्यद्भिर्ऋषिभिश्च महासुरौ ।
उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ ॥ १९ ॥

वे महासमुद्रके पूर्व तट पर ऐसी निठुर कल्पना कर सब सेनाओंको आज्ञा देके चारों ओर दौडे । उन दोनों बली भाइयोंने जिन जिन ब्राह्मणोंको यजन वा याजन करते देखा, उसी क्षण उनको मारके आगे बढने लगे । उनकी सेना निःशङ्कचित्तसे मुनियोंके आश्रममें जाके उनके अग्निहोत्र ले लेके जलमें छोडने लगी । महात्मा तपोधनवृन्द क्रोधित हो शाप देने लगे, पर वह वरदानोंके कारण व्यर्थ होने लगा, उन पर कुछ वश नहीं चल सका । जब छोडेहुए शाप शिला पर छोडे तीरकी भांति व्यर्थ होने लगा, तब वे नियम छोडकर भागने लगे । भूमण्डलमें जितने शमशील, तप सिद्ध दान्त ऋषि थे, वे इस प्रकार भागे, कि जैसे गरुडके भयसे सर्प भागें। इस प्रकार आश्रम मथने और कलश स्रुव आदि इधर उधर छितराये तथा टूट फूट जाने पर सम्पूर्ण जग प्रलयकालमें नष्ट होनेकी भांति खाली होगया ।१२-१८

हे महाराज ! अनन्तर मुनियोंके इधर उधर छिपकर दृष्टिके बाहर हो जाने पर दोनों महासुर उनका वध निश्चय कर नाना रूप धरने लगे । वे कभी मदोन्मत्त गजका रूप लेकर दुर्गमें गये हुए

प्रभिन्नकरटौ मत्तौ भूत्वा कुञ्जररूपिणौ ।
संलीनमपि दुर्गेषु निन्यतुर्यमसादनम् ॥ २० ॥
सिंहौ भूत्वा पुनर्व्याघ्रौ पुनश्चान्तर्हितावुभौ ।
तैस्तैरुपायैस्तौ क्रूरावृषीन्दृष्ट्वा निजघ्नतुः ॥ २१ ॥
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया प्रणष्टनृपतिद्विजा ।
उत्सन्नोत्सवयज्ञा च बभूव वसुधा तदा ॥ २२ ॥
हाहाभूता भयार्ता च निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तदेवकार्या च पुण्योद्वाहविवर्जिता ॥ २३ ॥
निवृत्तकृषिगोरक्षा विध्वस्तनगराश्रमा ।
अस्थिकङ्कालसंकीर्णा भूर्बभूवोग्रदर्शना ॥ २४ ॥
निवृत्तपितृकार्यं च निर्वषट्कारमङ्गलम् ।
जगत्प्रतिभयाकारं दुष्प्रेक्ष्यमभवत्तदा ॥ २५ ॥
चन्द्रादित्यौ ग्रहास्तारा नक्षत्राणि दिवौकसः ।
जग्मुर्विषादं तत्कर्म दृष्ट्वा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २६ ॥
एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा ।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः ॥ २७ ॥ [७८७३]

इति श्रीमहाभारते श० स० व० राज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥२१२॥

तपस्वियोंको भी नष्ट करने लगे । वे दोनों कुटिल कभी सिंहका स्वरूप कभी व्याघ्रका रूप धारण करते थे और कभी दृष्टिके बाहर हो जाते थे । इस प्रकार उन्होंने नाना उपायोंसे ऋषियोंको नष्ट किया । तब धरती पर यज्ञ और स्वाध्याय रुकजाकर और ब्राह्मण तथा राजा नष्ट होके एकबारही यज्ञोत्सव का नाश होगया । सब लोक भयभीत होकर हाय हाय करने लगे । मोल बिक्री, हाटका कार्य, देवी कार्य, पुण्यकार्य, विवाहकार्य, कृषिकार्य और गोरक्षा आदि सम्पूर्ण कार्यही रुक गये । (१९—२४)

नगर और आश्रमोका सत्यानाश होके केवल हड्डी कङ्कालोसे पृथ्वी बहुत भयावनी दीख पडने लगी।सम्पूर्ण देशोंमे पितृकार्य और वषट्कार आदि माङ्गलिक क्रिया के लोपहो जानेपर जग बडा भयानक हो देखनेके अयोग्य हुआ। चन्द्र,सूर्य, ग्रह,तारे और आकाशमे रहनेवाले अश्विनी आदि नक्षत्र सुन्द उपसुन्दका यह कार्य देखकर उदास हुए। वे इस प्रकार कुटिल कार्यसे सब ओर पराजय कर अन्तको शत्रुवर्जित हो कर कुरुक्षेत्र मे निवास करने लगे । २४-२७

आदिपर्वमे दोसौ बारह अध्याय समाप्त । [७८७३]

नारद उवाच—　ततो देवर्षयः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ।
जग्मुस्तदा परामार्ति दृष्ट्वा तत्कदनं महत् ॥ १ ॥
तेऽभिजग्मुर्जितक्रोधा जितात्मानो जितेन्द्रियाः ।
पितामहस्य भवनं जगतः कृपया तदा ॥ २ ॥
ततो ददृशुरासीनं सह देवैः पितामहम् ।
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव समन्तात्परिवारितम् ॥ ३ ॥
तत्र देवो महादेवस्तत्राऽग्निर्वायुना सह ।
चन्द्रादित्यौ च शक्रश्च पारमेष्ठ्यास्तथर्षयः ॥ ४ ॥
वैखानसा वालखिल्या वानप्रस्था मरीचिपाः ।
अजाश्चैवाऽविमूढाश्च तेजोगर्भास्तपस्विनः ॥ ५ ॥
ऋषयः सर्व एवैते पितामहमुपागमन् ।
ततोऽभिगम्य ते दीनाः सर्व एव महर्षयः ॥ ६ ॥
सुन्दोपसुन्दयोः कर्म सर्वमेव शशंसिरे ।
यथा हृतं यथा चैव कृतं येन क्रमेण च ॥ ७ ॥
न्यवेदयंस्ततः सर्वमखिलेन पितामहे ।
ततो देवगणाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ॥ ८ ॥
तमेवार्थं पुरस्कृत्य पितामहमचोदयन् ।
ततः पितामहः श्रुत्वा सर्वेषां तद्वचस्तदा ॥ ९ ॥

आदिपर्वमें दोसौ तेरह अध्याय ।

श्रीनारदजी बोले, कि अनन्तर शम-दमशील देवर्षि, परमर्षि और सिद्धगण उस भारी प्राणीहत्याको देखकर बडे दुःखी हुए। वे तब जगत पर कृपायुक्त हो पितामहके भवनमें गये। अनन्तर वहां पितामहको सिद्ध और ब्रह्मर्षियोंसे चारों ओरसे घिरे और देवोंके साथ बैठे पाया। वहां देवोंके देव महादेव, अग्नि वायु चन्द्र, आदित्य इन्द्र ब्रह्मनिष्ठ ऋषिगण, वैखानस वालखिल्य वानप्रस्थ, मरीचि, अज अविमुग्ध, और तेजोगर्भ आदि भिन्न भिन्न तपस्वी ऋषिगण सभी उपस्थित हुए। १—६।

सम्पूर्ण महर्षिगण दुःखीचित्तसे सुन्द और उपसुन्द के कार्योंका वृत्तान्त कह सुनाया उन दोनों दैत्योंने जैसे इसके साथ जो काम किया और जैसे मारा वह सब क्रमसे आद्योपान्त कह सुनाया। सम्पूर्ण देवगण और परमर्षियोंने उस विषयके लिये पितामहका अनुरोध किया। अनन्तर पितामह उन सभोंका वचन सुन

मुहूर्तमिव संचिन्त्य कर्तव्यस्य च निश्चयम्।
तयोर्वधं समुद्दिश्य विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ १० ॥
दृष्ट्वा च विश्वकर्माणं व्यादिदेश पितामहः ।
सृज्यतां प्रार्थनीयैका प्रमदेति महातपाः ॥ ११ ॥
पितामहं नमस्कृत्य तद्वाक्यमभिनन्द्य च ।
निर्ममे योषितं दिव्यां चिन्तयित्वा पुनः पुनः॥१२ ॥
त्रिषु लोकेषु यत्किंचिद्भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
समानयद्दर्शनीयं तत्तद्यत्नात्ततस्ततः ॥ १३ ॥
कोटिशश्चैव रत्नानि तस्या गात्रे न्यवेशयत् ।
तां रत्नसंघातमयीमसृजद्देवरूपिणीम् ॥ १४ ॥
सा प्रयत्नेन महता निर्मिता विश्वकर्मणा ।
त्रिषु लोकेषु नारीणां रूपेणाऽप्रतिमाऽभवत्॥ १५ ॥
न तस्याः सूक्ष्ममप्यास्ति यद्गात्रे रूपसंपदा ।
न युक्तं यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम्॥ १६ ॥
सा विग्रहवतीव श्रीः कामरूपा वपुष्मती ।
जहार सर्वभूतानां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ १७ ॥
तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद्विनिर्मिता ।

के क्षणभर सोचकर क्या करना ठीक है। उसका निश्चय कर दुराचारी दोनों दैत्यों के वधके लिये विश्वकर्माको बुलवाया । ९-१०

विश्वकर्माके आने पर महानुभव पितामह ने उसकी ओर देख आज्ञा दी, कि "सबोंकी प्रार्थनीया मनभावनी एकप्रमदा बनाओं" विश्वकर्मा उनको प्रणाम कर आदरपूर्वक उनकी आज्ञा मानके यत्नसे बार बार सोच विचारकर एकसुन्दरी बाला बनाने लगा। त्रिलोकभरमें दर्शनयोग्य परम सुन्दर जितने स्थावर जङ्गम पदार्थ है, विश्वकर्मा उन सबोंसे चुन चुन कर देव-रूपी एक कामिनी बनाके अङ्गादि संपूर्ण शरीरको सजा कर उनको रत्नकी प्रतिमा बनाया । विश्वकर्माके बडे प्रयत्नसे बनायी हुई वह कन्या ऐसी रूपवती बनी, कि तीनो भुवनमें कोई भी नारी उसकी उपमाके योग्य न रही; उसके शरीर भरमे ऐसा कोई सूक्ष्म स्थानभी न था, कि जिस पर देखनेवालेकी आंख पडनेसे उसको अपूर्व रूपकी शोभामें फस नहीं जाता था । साक्षात् लक्ष्मीकी भांति वह कामिनी हरेक प्राणीके नयन मन चुराने लगी। विश्वकर्माने सम्पूर्ण रत्न

तिलोत्तमेति तत्तस्या नाम चक्रे पितामहः ॥ १८ ॥
ब्रह्माणं सा नमस्कृत्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं मयि भूतेश येनाऽस्म्यद्येह निर्मिता॥१९॥

पितामह उवाच- गच्छ सुन्दोपसुन्दाभ्यामसुराभ्यां तिलोत्तमे।
प्रार्थनीयेन रूपेण कुरु भद्रे प्रलोभनम् ॥ २० ॥
त्वत्कृते दर्शनादेव रूपसंपत्कृतेन वै ।
विरोधः स्यात्तथा ताभ्यामन्योन्येन तथा कुरु॥२१॥

नारद उवाच- सा तथेति प्रतिज्ञाय नमस्कृत्य पितामहम् ।
चकार मण्डलं तत्र विबुधानां प्रदक्षिणम् ॥ २२॥
प्राङ्मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः ।
देवाश्चैवोत्तरेणाऽऽसन्सर्वतस्त्वृषयोऽभवन् ॥ २३ ॥
कुर्वन्त्यां तु तदा तत्र मण्डलं तत्प्रदक्षिणम्।
इन्द्रः स्थाणुश्च भगवान्धैर्येण प्रत्यवस्थितौ॥ २४ ॥
द्रष्टुकामस्य चाऽत्यर्थं गतायां पार्श्वतस्तथा ।
अन्यदञ्चितपद्माक्षं दक्षिणं निःसृतं मुखम् ॥ २५॥

बटोरके तिल तिल चुनकर उस कन्याको बनाया था; इसलिये पितामहने उसका नाम तिलोत्तमा रखा। (११—१८)

अनन्तर तिलोत्तमा दोनो हाथ जोडके ब्रह्माजीसे बोली, कि हे भूतनाथ! मुझको क्या करना होगा? कहो, कि मैं क्यों सांप्रत बनाई गयी। पितामह बोले, कि तुम सुन्द और उपसुन्द दोनो असुरोंके यहां चली जाओ, वहां जाय सुन्दर रूप दिखाय उनको लुभानेकी चेष्टा करो। ऐसी चेष्टा करो कि वे तुम्हारे रूपकी सम्पद देखके आपसमें झगडा करें। (१९—२१)

श्रीनारदजी बोले, कि अनन्तर तिलोत्तमा उनका कहना मानके प्रतिज्ञा ठानकर पितामहके पांव पर सिर नाय देवोंकी चारों ओर परिक्रमा देने लगी। उस समय भगवान पितामह पूर्व ओर, महेश्वर दक्षिण ओर, दूसरे देवगण उत्तर ओर और ऋषिवृन्द नाना ओरको मुंह फेरे थे। तिलोत्तमा जब परिक्रमा देती रही, तब इन्द्र और भगवान महेश्वर अति धीरज धर अपने अपने स्थानोंमें बैठे थे। महेश्वरमें बडे वेगसे देखनेकी चाह उमडने पर तिलोत्तमा जब उनकी दक्षिण ओरको गयी तब खिले पद्म पत्रके समान नेत्रोंसे सुशोभित एक दक्षिण मुख निकल आया। तिलोत्त-

पृष्ठतः परिवर्तन्त्या पश्चिमं निःसृतं मुखम् ।
गतया चोत्तर पार्श्वमुत्तरं निःसृतं मुखम् ॥ २६ ॥
महेन्द्रस्यापि नेत्राणां पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः ।
रक्तान्तानां विशालानां सहस्रं सर्वतोऽभवत् ॥२७॥
एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत्पुरा ।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदनः ॥ २८॥
तथा देवनिकायानां महर्षीणां च सर्वशः ।
मुखानि चाऽभ्यवर्तन्त येन याता तिलोत्तमा॥२९ ॥
तस्या गात्रे निपतिता दृष्टिस्तेषां महात्मनाम् ।
सर्वेषामेव भूयिष्ठमृते देवं पितामहम् ॥ ३० ॥
गच्छन्त्या तु तया सर्वे देवाश्च परमर्षयः ।
कृतमित्येव तत्कार्यं मेनिरे रूपसंपदा ॥ ३१ ॥
तिलोत्तमायां तस्यां तु गतायां लोकभावनः ।
सर्वान्विसर्जयामास देवानृषिगणांश्च तान् ॥ ३२ ॥ [७९०५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि तिलोत्तमाप्रस्थापने त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१३॥

जब उनके पीछे गयी, तब उनका एक पश्चिम मुख निकला; और वह वाला जब उत्तर ओर गयी, तब उनको बांई ओरमें एक मुख निकला । महेन्द्र केभी देखनेकी चाह रहनेके कारण जब तिलोत्तमा उनकी परिक्रमा देती रही, तब उनके सामने पार्श्वमें और पीठ पर सम्पूर्ण शरीरहीमें बडी बडी सहस्र लाल आंखें निकलीं । (२२—२७)

हे पार्थ ! पूर्वकालमें इस प्रकार महादेवजी चतुर्मुख और इंद्रजी सहस्रनेत्रयुक्त हुए, और परिक्रमाके काल तिलोत्तमा जिस जिस ओरको गयी थी, देव और महर्षियोंके मुख उस उस ओरको घूम गये थे । उस कालमें उस ब्रह्मसभामें जो जो उपस्थित थे उनमें केवल पितामहके विना सब महात्माओंकी दृष्टि उस नारीकी देह पर पडी थी । जब तिलोत्तमा जाने लगी, तब सम्पूर्ण देव और परमर्षियोंने उसके रूपका उजाला देख अभीष्टकामनाको सिद्ध जाना । तिलोत्तमाके देवकार्य साधनेको चले जाने पर लोकभावन हिरण्यगर्भने सम्पूर्ण देव और ऋषियोंको विदा किया । (२८-३२)

आदिपर्वमें दो सौ तेरह अध्याय समाप्त । ७९०५

नारद उवाच— जित्वा तु पृथिवीं दैत्यौ निःसपत्नौ गतव्यथौ ।
कृत्वा त्रैलोक्यमव्यग्रं कृतकृत्यौ बभूवतुः ॥ १ ॥
देवगन्धर्वयक्षाणां नागपार्थिवरक्षसाम् ।
आदाय सर्वरत्नानि परां तुष्टिमुपागतौ ॥ २ ॥
यदा न प्रतिषेद्धारस्तयोः सन्तीह केचन ।
निरुद्योगौ तदा भूत्वा विजह्रातेऽमराविव ॥ ३ ॥
स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुपुष्कलैः ।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः ॥ ४ ॥
अन्तःपुरवनोद्याने पर्वतेषु वनेषु च ।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव ॥ ५ ॥
ततः कदाचिद्विन्ध्यस्य प्रस्थे समशिलातले ।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः ॥ ६ ॥
दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तावुभौ ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषीदतुः ॥ ७ ॥
ततो वादित्रनृत्याभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः ।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्या समुपजग्मिरे ॥ ८ ॥

आदिपर्वमें दो सौ चौदह अध्याय ।

श्री नारदजी बोले, कि इधर दैत्य, सुन्द और उपसुन्द दो भाई भूमण्डलको एकान्त कर तीनों भुवनोंको तुल्यरूपसे हथेली तले लाय दुःख खोय बिना एक भी विरोधी अपनोंका मनोरथ सफल जाना और देव गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प भूपाल आदिके सम्पूर्ण रत्न लेके परम सन्तुष्ट होय काल गवांने लगे। जब देखा कि इस त्रिलोक भरमें कोई भी इनका रोकनेवाला नहीं है, तब उद्योग छोड़के देवोंकी भांति परम सुखसे विहार करने लगे। माला, चन्दन, स्त्री, सुन्दर खाने, चबाने और चूसनेकी सामग्री इन सब भांति भांतिकी वस्तुओंसे अति आनन्द भोगने लगे। देवोंकी भांति कभी अन्तःपुरमें, कभी वनमें, कभी फूल बाडीमें, कभी पर्वतपर, जब जहां मन चले विहार करने लगे। (१-५)

एक दिन फलयुक्त वृक्षोंसे सुशोभित अनम्नी शिलातलवाली विन्ध्याचलकी चोटी पर विहार करनेको गये। वहां मनमाने सम्पूर्ण दिव्य काम्य वस्तुओंको ले जाने पर स्त्रियोंके साथ प्रमुदित मनसे सुन्दर आसनों पर जा बैठे। नारियां उनके सन्तोषके लिये सुन्दर नाच, गीत

ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती ।
वेषमाक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा ॥ ९ ॥
नदीतीरेषु जातान्सा कर्णिकारान्प्रचिन्वती ।
शनैर्जगाम तं देशं यत्राऽऽस्तां तौ महासुरौ ॥ १० ॥
तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ सम्बभूवतुः ॥ ११ ॥
तावुत्थायाऽऽसनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता ।
उभौ च कामसम्मत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥ १२ ॥
दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना ।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥
वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च ।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥
सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ ।
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥
मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत ।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥

और स्तुतिभरे सगीतोंसे उनकी उपासना करने लगीं। ऐसे समय तिलोत्तमा एकही लाल वस्त्र पहिन मनमाने बने ठने उस वनमें आय फूल तोडने लगी; और नदी तीरमें उपजे हुए कर्णिकार फूल तोडती हुई उस ठौरमें दोनों दैत्य-के सामने धीरे धीरे गये। (९—१०)

वे दोनों बहुत मद पीकर आंखें लालकर नशेसे चूर थे, सो उस सुन्दरी-को देखतेही कामदेवके बाणसे बहुत घायल हुए। वे दोनों कामवश हो करके आसन छोडके उठ कर उस नारिके पास गये और दोनोंने उस पर मन चलाया। सुन्दने अपने हाथसे उस सुन्दरीका दहि-ना हाथ थाम लिया और उपसुन्दने उसका बायां हाथ पकडा। वे एक तो वर पानेके अहङ्कार, अपने भुजवीर्यके अहंकार और धनरत्नोंके अहङ्कारसे उन्मत्त थेही, फिर तिस पर दोनों मद्य और कामके नशेसे बावलोंके समान बने थे; सो एक दूसरेकी ओर भौंह चढायके झगडने लगे। (११–१५)

सुन्द बोला, कि यह बाला मेरी स्त्री है, तुम्हारी गुरुयानी है, तुम छोड दो। उपसुन्द बोला, कि यह नारी मेरी महरी है, तुम्हारे छोटे भाईकी वधु है, तुम

नैषा तव ममेषाति ततस्तौ मन्युराविशत् ।
तस्या रूपेण संसक्तौ विगतस्नेहसौहृदौ ॥ १७ ॥
तस्या हेतोर्गदे भीमे संगृह्णीतामुभौ तदा ।
प्रगृह्य च गदे भीमे तस्यां तौ काममोहितौ ॥ १८ ॥
अहं पूर्वमहंपूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः ।
तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले ॥ १९ ॥
रुधिरेणावसिक्ताङ्गौ द्वाविवार्कौ नभश्च्युतौ ।
ततस्ता विद्रुता नार्यः स च दैत्यगणस्तथा ॥ २० ॥
पातालमगमत्सर्वो विषादभयकम्पितः ।
ततः पितामहस्तत्र सह देवैर्महर्षिभिः ॥ २१ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा पूजयंश्च तिलोत्तमाम् ।
वरेण च्छन्दयामास भगवान्प्रपितामहः ॥ २२ ॥
वरं दित्सुः स तत्रैनां प्रीतः प्राह पितामहः ।
आदित्यचरिताँल्लोकान्विचरिष्यसि भाविनि ॥ २३ ॥
तेजसा च सुदृष्टां त्वां न करिष्यति कश्चन ।
एवं तस्मै वरं दत्वा सर्वलोकपितामहः ॥ २४ ॥

त्यारा दो । अनन्तर आपसमें ऐसा कहते हुए कि " यह मेरी स्त्री है, तुम्हारी नहीं" दोनोंहीका क्रोध उभडा. दोनोंने उसके रूपकी शोभासे मोहित हो और उसके लिये क्रोधके मारे स्नेह खोय स्नेह को भूलके भारी भारी गदा उठायी । इस एक नारी के लिये काममोहित दोनों भाइयोंने बडी बडी गदा उठाके यह कहते हुए, कि " मैंने पहिले वर पाया है, मैंने पहिले वर पाया है " एक दूसरेको बडी मार मारी । उस गदाकी चोटसे वे भयानक दोनों दैत्य लोहू लुहान और रुधिरसे सने महाय आकाशसे गिरे दो सूर्योंकी भांति धरती पर लोट गये । तब उनके मित्र, दैत्य और दैत्योंकी स्त्रियां भाग कर पातालमें जाय घुसीं । अनन्तर विशुद्धात्मा भगवान पितामह तिलोत्तमाके सत्कारके लिये देव और महर्षियोंके साथ वहां आ पहुंचे । भगवान पितामहने वहां पहुंच कर तिलोत्तमाको वर देना चाहा । वह वर देना स्वीकार करके बोले, कि भामिनि! तुम सूर्यलोकमें विचरा करोगी । तुम्हारा इतना तेज होगा, कि कोई पुरुष तुमको देख तक नहीं सकेगा । सर्वलोकोंके पितामह प्रभु तिलोत्तमाको ऐसा वर देके

इन्द्रे त्रैलोक्यमाधाय ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ।

नारद उवाच— एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ ॥ २५ ॥

तिलोत्तमार्थं संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

तस्माद्ब्रवीमि वः स्नेहात्सर्वान्भरतसत्तमाः ॥ २६ ॥

यथा वो नात्र भेदः स्यात्सर्वेषां द्रौपदीकृते ।

तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत्प्रियमिच्छथ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ।

समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योन्यं वशमागताः ॥

समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्याऽमितौजसः ॥ २८ ॥

द्रौपद्या नः सहासीनानन्योन्यं योऽभिदर्शयेत् ।

स नो द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥ २९ ॥

कृते तु समये तस्मिन्पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।

नारदोऽप्यगमत्प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ॥ ३० ॥

एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः ।

न चाऽभिद्यन्त ते सर्वे तदाऽन्योन्येन भारत ॥ ३१ ॥ [७२३६]

इति श्री०राज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१४॥ समाप्तं च राज्यलम्भपर्व।

और इन्द्रके हाथ तीनों लोकोंका अधिकार सौंप कर ब्रह्मलोकको सिधारे। (१६-२५)

श्रीनारदजी बोले, कि हे भरतवंश-श्रेष्ठो! सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई मित्र-भावयुक्त और हरबातमें एकमत होने परभी तिलोत्तमाके लिये क्रोधित होकर आपही एक दूसरेको मारकर नष्ट हुए। सो स्नेहके हेतु मैं तुमको कहता हूं, कि तुम मेरा प्रिय कर्म करना चाहो, तो ऐसा कोई नियम ठहरा लो, कि द्रौपदी के लिये तुम भाइयोंमें विगाड न हो। (२५—२७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज! महात्मा पाण्डवोंने अमित तेजस्वी महर्षि नारदकी यह बात सुन कर एक दूसरेके मतके अनुसार उस देवर्षिके सामनेही यह नियम ठहराया, कि हममें से एक भाई जब द्रौपदीसे मिलेगा, तब जो दूसरा भाई उसको देख लेगा, उसे बारह वर्ष ब्रह्मचारी बनके वनमें बसना होगा। धर्मचारी पाण्डवोंके ऐसा नियम निश्चय करने पर महामुनि नारद प्रसन्न होय मनमानी ठौरको चले गये। हे भारत! पहिले पाण्डवोंके नारदकी बातसे ऐसा नियम करलेने पर उन भाइयोंमें आपसका विगाड नहीं हुआ था। (२८—३१)

दोसौ चौदह अध्याय और राज्यलभपर्व समाप्त।

अथार्जुनवनवासपर्व ।

वैशम्पायन उवाच–एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः ।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीक्षितः॥ १ ॥
तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम् ।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्तिनी ॥ २ ॥
ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः ।
बभूव परमप्रीता नागैरिव सरस्वती ॥ ३ ॥
वर्तमानेषु धर्मेण पाण्डवेषु महात्मसु ।
न्यवर्धन्कुरवः सर्वे हीनदोषाः सुखान्विताः॥ ४ ॥
अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशांपते ।
कस्यचित्तस्करा जह्रु केचिद्गा नृपसत्तम ॥ ५ ॥
ह्रियमाणे धने तस्मिन्ब्राह्मणः क्रोधमूर्छितः ।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत्स पाण्डवान्॥ ६ ॥
ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
प्रसह्य चाऽस्मद्विषयादभ्यधावत पाण्डवाः ॥ ७ ॥
ब्राह्मणस्य प्रशान्तस्य हविर्ध्वाङ्क्षैः प्रलुप्यते ।

आदिपर्वमें दो सौ पन्द्रह अध्याय और

अर्जुनवनवास पर्व ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इसके पीछे पाण्डवोंने द्रौपदीके विषयमें उस प्रकार का नियम ठहराके उस स्थानमें वास कर अस्त्रोंके प्रभावसे दूसरे भूपालोंको वशीभूत किया। कृष्णा उन बड़े तेजस्वी मनुष्यसिंह पांच पाण्डवोंहीके वशमें बनी रही। सरोवरयुक्त वन और हस्तीगण जिस प्रकार एक दूसरेका सौभाग्य बढाते हैं, वैसेही द्रौपदी और उसके पांच पति एक दूसरेकी प्रीति बढाने लगे। महात्मा पाण्डवोंके धर्मपथ पर चलनेसे कौरव मात्रही दोषकी आंचसे बचके सुखपूर्वक वृद्धि पाने लगे। १-४

हे नरनाथ! कितनेएक दिन बीतने पर एक ब्राह्मणके घरसे कुछ चोर आकर गौ चुराने लगे। हे नृपश्रेष्ठ! लुटेरोंसे ब्राह्मण की गौ चुराई जाने पर ब्राह्मण क्रोधसे बेचैन होय खाण्डवप्रस्थमें आय दुःख प्रगट करते हुए चिल्ला चिल्लाकर पाण्डवोंको पुकार पुकार के बोले, कि हे पाण्डवो! तुम्हारे राज्यमें आज दुष्ट नीच निष्ठुर लुटेरे एकायक मेरी गौ चुरा रहे हैं, तुम तुरन्त दौडो। हा! जिनने दुःख [illegible] जान है [illegible] ब्राह्मणके

शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाऽभिमर्दति॥ ८ ॥
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम् ॥ ९ ॥
ब्राह्मणस्वे हृते चौरैर्धर्मार्थे च विलोपिते ।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतां हस्तधारणा ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच– रोरूयमाणस्याऽभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः॥ ११ ॥
श्रुत्वैव च महाबाहुर्माभैरित्याह तं द्विजम् ।
आयुधानि च यत्राऽऽसन्पाण्डवानां महात्मनाम्॥१२
कृष्णया सह तत्राऽऽस्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः।
संप्रवेशाय चाऽशक्तो गमनाय च पाण्डवः॥ १३ ॥
तस्य चाऽऽर्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः॥१४॥
ह्रियमाणे धने तस्मिन्ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥
उपप्रेक्षणजोऽधर्मः सुमहान्स्यान्महीपतेः ।

शान्त यज्ञका घृत हर रहा है, नीच सियार सिंहकी गुफा खाली देखकर, मथ रहा है, जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करते, और छठां भाग करभी लेते है, पण्डित लोग उन्हीको सर्वलोकोमें पापी कहते है, हे पाण्डवो! चोर ब्राह्मणका धन हर रहे है, धर्म कर्म लोप हो रहे है, मै शोकरूपी कीचडमें डूबकर बार बार रो रहा हूं, सो मेरा हाथ थामकर मुझको बचाओ। (५–१०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कुन्तीपुत्र धनञ्जयने निकट आके रोते पीटते हुए उस ब्राह्मणकी रुलाई सुनी। उन महाभुजने वह सुनतेही ब्राह्मणको माभैः कहके समझा कर ढाडस दिया, पर जिस घरमें महात्मा पाण्डवोंके अस्त्र धरे थे, उस घरमें धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ विराज रहे थे, सो वह भय खाये ब्राह्मणकी बातोंसे बार बार जल उठने परभी ठहराये हुए नियमके अनुसार अस्त्रशालामें प्रवेश करने वा चोरी रोकनेको नहीं जा सके। ब्राह्मणकी वैसी रुलाई सुनके दुःखीचित्तसे सोचने लगे, कि इन तपस्वी ब्राह्मणकी गौ चुरायी जाती है, उन्हे बचाकर इनकी आंसू मुझको अवश्य मिटाने चाहिये। ११-१५

यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम् ॥ १६ ॥
अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे ।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्नधर्मश्चैव नो भवेत् ॥ १७ ॥
अनादृत्य तु राजानं गते मयि न संशयः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मम चैवाऽनृतं भवेत् ॥ १८ ॥
अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम ।
सर्वमन्यत्परिहृतं धर्षणात्तु महीपतेः ॥ १९ ॥
अधर्मो वै महानस्तु वने वा मरणं मम ।
शरीरस्य विनाशेन धर्म एव विशिष्यते ॥ २० ॥
एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छ्य च विशाम्पते ॥ २१ ॥
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत ।
ब्राह्मणाऽऽगम्यतां शीघ्रं यावत्परधनैषिणः ॥ २२ ॥
न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद्गच्छावहे सह ।
यावन्निवर्तयाम्यद्य चोरहस्ताद्धनं तव ॥ २३ ॥
सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी ।
शरैर्विध्वस्य तांश्चोरानवजित्य च तद्धनम् ॥ २४ ॥

यह ब्राह्मण द्वारपर आकर रो रहे हैं इनको न बचावे, तो मेरे रक्षा न करनेके हेतु राजाको बडा अधर्म होगा और बचानेहीसे इन सबोंकी इसलोकमें आस्तिकता बन जायगी और अधर्मभी नहीं होगा। पर अब अजातशत्रु राजाके यहां जानेसे उनका अनादर होगा, और मेरा झूटा व्यवहार होगा, इसमें सन्देह नहीं। और उनके सामने जानेसे मुझको बनमें जाना भी पडेगा। चाहे राजाका चाहे अनादर हो, मेरा अनुचित व्यवहारके लिये अधर्म हो, और बनमें चाहे मृत्युही हो, इन सबोंको तो सिर पर चढाभी ले सकता हूं, पर धर्मको छोड नहीं सकता; क्योंकि देह छूटने परभी धर्म बना रहेगा। (१६-२०)

हे नरनाथ! वह ऐसा निश्चय कर अस्त्रशालामें घुस राजा युधिष्ठिरसे मिले, और धनुष लेकर प्रसन्न मनसे निकल ब्राह्मणसे बोले, कि हे द्विज! शीघ्र चलो, पराये धनके लोभी नीच लुटेरोंके कहीं दूर जाते न जाते हम एकत्र चलकर उनके हाथसे तुम्हारे चुराये हुए धनको छीन लें। [illegible]

शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाऽभिमर्दति ॥ ८ ॥
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम् ॥ ९ ॥
ब्राह्मणस्वे हृते चौरैर्धर्मार्थे च विलोपिते ।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतां हस्तधारणा ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच– रोरूयमाणस्याऽभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः ।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ ११ ॥
श्रुत्वैव च महाबाहुर्माभैरित्याह तं द्विजम् ।
आयुधानि च यत्राऽऽसन्पाण्डवानां महात्मनाम् १२
कृष्णया सह तत्राऽऽस्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संप्रवेशाय चाऽशक्तो गमनाय च पाण्डवः ॥ १३ ॥
तस्य चाऽऽर्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः ।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः ॥ १४ ॥
ह्रियमाणे धने तस्मिन्ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥
उपक्षेपणजोऽधर्मः सुमहान्स्यान्महीपतेः ।

शान्त यज्ञका घृत हर रहा है, नीच सियार सिंहकी गुफा खाली देखकर, मथ रहा है, जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करते, और छठां भाग करभी लेते है, पण्डित लोग उन्हीको सर्वलोकोमें पापी कहते है, हे पाण्डवो! चोर ब्राह्मणका धन हर रहे है, धर्म कर्म लोप हो रहे है, मै शोकरूपी कीचडमें रुचकर बार बार रो रहा हूं, सो मेरा हाथ थामकर मुझको बचाओ। (५–१०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कुन्तीपुत्र धनञ्जयने निकट आके रोते पीटते हुए उन ब्राह्मणकी रुलाई सुनी। उन महाभुजने वह सुनतेही ब्राह्मणको मार्भैः कहके समझा कर ढाडस दिया, पर जिस घरमें महात्मा पाण्डवोंके अस्त्र धरे थे, उस घरमें धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ विराज रहे थे, सो वह भय खाये ब्राह्मणकी बातोंसे बार बार जल उठने परभी ठहराये हुए नियमके अनुसार अस्त्रशालामें प्रवेश करने वा चोरी रोकनेको नही जा सके। ब्राह्मणकी वैसी रुलाई सुनके दुःखीचित्तसे सोचने लगे, कि इन तपस्वी ब्राह्मणकी गौ चुरायी जाती है, उन्हे बचाकर इनकी आंसू मुझको अवश्य मिटाने चाहिये। ११-१५

यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम् ॥ १६ ॥
अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे ।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्नधर्मश्चैव नो भवेत् ॥ १७ ॥
अनाहृत्य तु राजानं गते मयि न संशयः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मयि चैवाऽनृतं भवेत् ॥ १८ ॥
अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम ।
सर्वमन्यत्परिहृतं धर्षणात्तु महीपतेः ॥ १९ ॥
अधर्मो वै महानस्तु वने वा मरणं मम ।
शरीरस्य विनाशेन धर्म एव विशिष्यते ॥ २० ॥
एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छ्य च विशाम्पते ॥ २१ ॥
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत ।
ब्राह्मणाऽऽगम्यतां शीघ्रं यावत्परधनैषिणः ॥ २२ ॥
न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद्गच्छावहे सह ।
यावन्निवर्तयाम्यद्य चोरहस्ताद्धनं तव ॥ २३ ॥
सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी ।
शरैर्विध्वस्य तांश्चोरानवजित्य च तद्धनम् ॥ २४ ॥

यह ब्राह्मण द्वारपर आकर रो रहे हैं उनको न बचावें, तो मेरे रक्षा न करनेके हेतु राजाको बड़ा अधर्म होगा और बचानेहीसे इन सबोंकी इसलोकमें आस्तिकता बन जायगी और अधर्मभी नहीं होगा। पर अब अजातशत्रु राजाके यहां जानेसे उनका अनादर होगा, और मेरा झूठा व्यवहार होगा, इसमें सन्देह नहीं। और उनके सामने जानेसे मुझको वनमें जाना भी पड़ेगा। वास्तवमें राजाका चाहे अनादर हो, मेरा अनुचित व्यवहारके लिये अधर्म हो, और वनमें चाहे मृत्युही हो, इन सबोंको तो सिर पर चढाभी ले सकता हूं पर धर्मको छोड नहीं सकता; क्योंकि देह छूटने परभी धर्म बना रहेगा। (१६–२०)

हे नरनाथ! वह ऐसा निश्चय कर अस्त्रशालामें घुस राजा युधिष्ठिरसे मिले, और धनुष लेकर प्रसन्न मनसे निकल ब्राह्मणसे बोले, कि हे द्विज! शीघ्र चलो, पराये धनके लोभी नीच लुटेरोंके यहीं दूर जाते न जाते हम एकत्र चलकर उनके हाथसे तुम्हारे चुराये हुए धनको छीन ले। महाभुज पृथाके पुत्र सव्यसाची

ब्राह्मणं समुपाकृत्य यशः प्राप्य च पाण्डवः।
ततस्तद्गोधनं पार्थो दत्वा तस्मै द्विजातये ॥ २५ ॥
आजगाम पुरं वीरः सव्यसाची धनञ्जयः।
सोऽभिवाद्य गुरून्सर्वान्सर्वैश्चाप्यभिनन्दितः २६ ॥
धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश मे प्रभो।
समयः समतिक्रान्तो भवत्संदर्शने मया ॥ २७ ॥
वनवासं गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः।
इत्युक्तो धर्मराजस्तु सहसा वाक्यमप्रियम् ॥ २८ ॥
कथमित्यब्रवीद्वाचा शोकार्तः सज्जमानया।
युधिष्ठिरो गुडाकेशं भ्राता भ्रातरमित्युत ॥ २९ ॥
उवाच दीनो राजा च धनञ्जयमिदं वचः।
प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ॥ ३० ॥
अनुप्रवेशे यद्वीर कृतवांस्त्वं ममाऽप्रियम्।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ॥ ३१ ॥
गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः।

धनञ्जय यह कहके देहरक्षक कससे धनुष लेकर ध्वजा फहराते हुए रथ पर चढे और वेगसे लुटेरोंकी पछियाते जाकर बाणोसे काटकूट कर परास्त किया! आगे उन ब्राह्मणको उनकी गौ देके प्रसन्नकर यश लिया। (२१—२५)

अनन्तर वह अपने पुरमे लौटकर सब गुरुओके पांव लगके उनसे स्वागत किये गये। कुछकाल बीतने पर उन्होंने धर्मराजसे कहा, कि प्रभो! मैंने द्रौपदीके संग आपको देखकर तुम्हारे ठहराये हुए नियमको तोड दिया है, तो मुझको व्रत पालनेकी आज्ञा दे, मैं वनवास को जाऊं। (२६—२८)

धर्मराज युधिष्ठिर एकायक भाई अर्जुनकी यह बात सुन करकेही, शोकसे विकल हुए; और कुछ टूटी फूटी बातोंमें कहा, कि "क्यों? आगे यह मलिनाचित्तसे भाई धनञ्जयसे बोले, कि हे अनघ! यदि मैं तुम्हारे लिये प्रमाण स्वरूप हूं, तो मेरी बात सुनो मैं जब द्रौपदीसे विराज रहा था, तब मेरे यहा जाके मेरी जो अप्रिय किया है, उससे मेरे चित्तमे असन्तोष नही पहुंचा। उन विषयमें मैं तुम को आज्ञा देता हूं सुनो। जब बडे भाई स्त्रीके साथ विराजते है; तब छोटेके उस घरमे जानेसे हानि नहीं होती, पर ज्येष्ठ भाईहीका कनिष्ठके घरमें जाना नियमके

यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ॥ ३२ ॥
निवर्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम ।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च मे धर्षणा कृता॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच— न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम् ।
न सत्याद्विचलिष्यामि सत्येनाऽऽयुधमालभे॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच–सोऽभ्यनुज्ञाप्य राजानं वनचर्याय दीक्षितः ।
वने द्वादश वर्षाणि वासायाऽनुजगाम ह ॥ ३५ ॥ [७९७१]

इति श्रीमहाभारते शत० स० व० अर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनतीर्थयात्रायां पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१५॥

वैशम्पायन उवाच—तं प्रयातं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम् ।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १ ॥
वेदवेदांगविद्वांसस्तथैवाऽध्यात्मचिन्तकाः ।
भैक्षाश्च भगवद्भक्ताः सूताः पौराणिकाश्च ये॥ २ ॥
कथकाश्चापरे राजञ्श्रमणाश्च वनौकसः ।
दिव्याख्यानानि ये चापि पठन्ति मधुरं द्विजाः॥३ ॥
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिः सहायैः पाण्डुनन्दनः ।
वृतः श्लक्ष्णकथैः प्रायान्मरुद्भिरिव वासवः ॥ ४ ॥

विरुद्ध है । अतएव इससे तुम्हारा धर्मलोप नहीं हुआ और मेरा मान भी नहीं टूटा । हे महाभुज! रह जाओ, मेरी बात मानो । (२९—३३)

अर्जुन बोले, मैने आपसे सुना है कि छलपूर्वक धर्म करना उचित नहीं है, सो मै सत्यसे टल नहीं सकूंगा । सत्यको लेकरके ही अस्त्र धर रहा हूं । श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर अर्जुन राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर वनचर्यामे दीक्षित हो बारह वर्ष वनवासके लिये गये । ३४-३५

[illegible]

आदिपर्व मे दो सो सोलह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर कुरुकुल कीर्तिरूपी महाभुज अर्जुन पधारे । महात्मा वेदज्ञ ब्राह्मण आदि बहुतेरे उनके साथ चले । हे महाराज! वेदपारग और वेदवेदाङ्गोंमे पण्डित, अध्यात्मकी चिन्ता करनेवाले ब्राह्मण, गानके पण्डित, पुराणकी कथा कहनेवाले सूत, भगवद्भक्त, कथक, उदासीन वनवासी और जो मधुर भावसे सुन्दर उपाख्यान पाठ करते है, यह सब जन और दूसरे साथियोंके संग मरुद्गणके साथ चलते हुए देवराजकी भांति अर्जुन चलने लगे । (१—४)

रमणीयानि चित्राणि वनानि च सरांसि च।
सरितः सागरांश्चैव देशानपि च भारत ॥ ५ ॥
पुण्यान्यपि च तीर्थानि ददर्श भरतर्षभ ।
स गङ्गाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत्प्रभुः ॥ ६ ॥
तत्र तस्याऽद्भुतं कर्म शृणु त्वं जनमेजय ।
कृतवान्यद्विशुद्धात्मा पाण्डूनां प्रवरो हि सः॥ ७ ॥
निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत ।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ॥ ८ ॥
तेषु प्रबोध्यमानेषु ज्वलितेषु हुतेषु च ।
कृतपुष्पोपहारेषु तीरान्तरगतेषु च ॥ ९ ॥
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथे स्थितैः ।
शुशुभेऽतीव तद्राजन्गङ्गाद्वारं महात्मभिः ॥ १० ॥
तथा पर्याकुले तस्मिन्निवेशे पाण्डवर्षभः ।
अभिषेकाय कौन्तेयो गङ्गामवततार ह ॥ ११ ॥
तत्राऽभिषेकं कृत्वा स तर्पयित्वा पितामहान्।
उत्तितीर्षुर्जलाद्राजन्नग्निकार्यचिकीर्षया ॥ १२ ॥
अपकृष्टो महाबाहुर्नागराजस्य कन्यया ।

भरतवंश चूडामणी अर्जुनने जानेके कालमें अनेक प्रकार सुन्दर सुन्दर वन, सरोवर, नदी, समुद्र, भांति भांतिके देश और पुण्यतीर्थोंको देखा। गङ्गाद्वारमें पहुंचकर वहां वसने लगे। हे जनमेजय! पाण्डववर विशुद्धात्मा अर्जुनने उस स्थानमें जो अद्भुत कर्म किया था, वह कहता हूं सुनो। कुन्तीपुत्रके साथ ब्राह्मणोंके वहां विराजनेके काल वे सब ब्राह्मण नाना प्रकारके अग्निहोत्र प्रगट करने लगे। हे महाराज! गंगातीरमें अभिषेक किये हुए पण्डित, नियमयुक्त सुमार्गी महात्मा ब्राह्मणोंसे उन सब अग्निहोत्रोंके प्रबोधित, और फूलोंसे सुशोभित होने तथा ज्वलित और आहुति दिये जाने पर गङ्गाद्वारकी बडी शोभा हुई। (५-१०)

किसी एक समय पाण्डववर अर्जुन नहानेके लिये द्विजोंसे भरे हुए आश्रमके निकट भागीरथीके जलमें जा उतरे। महाराज! वह नहाय धोय पितरोंको तर्पण कर अग्निकार्यके लिये जलसे उठना चाहते थे, कि ऐसे समयमें पातालके नीचे रहनेवाली उलूपी नाम्नी नागराजपुत्री मदनकी आज्ञा मानके उनको

अन्तर्जले महाराज उलूप्या कामयानया ॥ १३ ॥
ददर्श पाण्डवस्तत्र पावकं सुसमाहितः ।
कौरव्यस्याऽथ नागस्य भवने परमार्चितम् ॥ १४ ॥
तत्राऽग्निकार्यं कृतवान्कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
अशङ्कमानेन हुतस्तेनाऽतुष्यद्धुताशनः ॥ १५ ॥
अग्निकार्यं स कृत्वा तु नागराजसुतां तदा ।
प्रहसन्निव कौन्तेय इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
किमिदं साहसं भीरु कृतवत्यसि भाविनि ।
कश्चाऽयं सुभगे देशः का च त्वं कस्य चात्मजा ॥ १७ ॥

उलूप्युवाच— ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः ।
तस्याऽस्मि दुहिता राजन्नुलूपी नाम पन्नगी ॥ १८ ॥
साऽहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाऽभिमूर्च्छिता ॥ १९ ॥
तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन ।
अनन्यां नन्दयस्वाऽद्य प्रदानेनाऽऽत्मनोऽनघ ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच— ब्रह्मचर्यमिदं भद्रे मम द्वादशवार्षिकम् ।
धर्मराजेन चादिष्टं नाऽहमस्मि स्वयं वशः ॥ २१ ॥

जलमें घसीट ले गयी। तब उन्होंने कौरव्य नामक सर्पराजके भवनमें जाके अग्नि देखा। आगे भले प्रकार समाहित होकर उसमें अग्निकार्य कर लिया। उनके आशङ्कित चित्तसे आहुति देनेसे अग्निको बड़ा सन्तोष हुआ। कुन्तीपुत्र धनञ्जय अग्निकार्य होजाने पर मुसकिराते हुए नागराजकन्यासे बोले कि भाविनि! तुमने यह क्या साहस किया? हे भीरु सुभगे! यह कौन देश है? और तुम कौन! किसकी कन्या हो? (१३-१७)

उलूपी बोली, कि हे महाराज! ऐरावतवंशमें उपजे कौरव्य नामक एक नागराज हैं, मैं उनकी कन्या उलूपी नाम्नी पन्नगी हूं। हे पुरुषव्याघ्र! तुम स्नानके लिये जब गङ्गाजीमें उतरे, तब मैं तुमको देख करके मदनबाणसे घायल हुई। हे कुरुनन्दन! मेरा विवाह नहीं हुआ, मैं किसीसे पहिले मिली नहीं अब तुम्हारे लिये कामसे मोहित हुई हूं। हे अनघ! अब तुम आत्मदान कर मुझे आनन्द दो। (१८—२०)

अर्जुन बोले, कि हे भद्रे, जलमें विचरनेवाली! मैंने धर्मराजकी आज्ञासे

तव चापि प्रियं कर्तुमिच्छामि जलचारिणि।
अनृतं नोक्तपूर्वं च मया किंचन कर्हिचित् ॥ २२ ॥
कथं च नाऽनृतं मे स्यात्तव चापि प्रियं भवेत्।
न च पीड्येत मे धर्मस्तथा कुर्या भुजङ्गमे ॥ २३ ॥

उलूप्युवाच— जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम्।
यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान्गुरुः ॥ २४ ॥
परस्परं वर्तमानान्द्रुपदस्याऽऽत्मजां प्रति।
यो नोऽनुप्रविशेन्मोहात्स वै द्वादशवार्षिकम् ॥ २५ ॥
वने चरेद्ब्रह्मचर्यमिति वः समयः कृतः।
तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम् ॥ २६ ॥
कृतं वस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति।
परित्राणं च कर्तव्यमार्तानां पृथुलोचन ॥ २७ ॥
कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते।
यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद्व्यतिक्रमः ॥ २८ ॥
स च ते धर्म एव स्याद्दत्त्वा प्राणान्ममाऽर्जुन।
भक्तां च भज मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो ॥ २९ ॥

बारहवर्षके लिये ब्रह्मचर्यव्रत लिया है, सो अपने अधीन नहीं हूं: तुम्हारा प्रियभी किया चाहता हू; पर मैने पहिले कभी झूठी बात नहीं कही, सो हे भुजङ्गमे ! तुम ऐसा विधान करो, कि अब मेरी बातकी सचाई बनी रहे और तुम्हारा प्रियभी कर सकू और मुझको अधर्ममें पडना न हो। (२१—२३)

उलूपी बोली, कि हे पाण्डव ! तुम जिस निमित्त पृथ्वीका भ्रमण कर रहे हो और गुरुने जिस प्रकार तुमको ब्रह्मचर्य व्रत करनेकी आज्ञा दी है, वह सब कुछ मै जानती हूं। तुमने नियम किया था, कि तुम पांच भाइयोंमे कोई जब द्रौपदीसे मिलता रहे, तब जो मोहसे वहां जा पहुंचेगा, उसको बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य ले वनमें जाना पडेगा। तुममे आपसका वनमें जानेका यह नियम केवल द्रौपदीहीसे बना है, सो तुम केवल उस धर्मकी रक्षाहीके लिये भेजे गये हो; ऐसी दशामे तुम्हारा धर्म बिगडनेकी कौनसी सम्भावना है? (२४—२७)

हे सुन्दर नेत्रवाले पुरुष ! विह्वल जनको तुम्हे बचाना उचित है, सो मुझको विह्वल जान बचानेसे तुम्हारा धर्म नही बिगडेगा। हे अर्जुन ! यद्यपि

न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय ।
प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम् ॥ ३० ॥
शरणं च प्रपन्नाऽस्मि त्वामद्य पुरुषोत्तम ।
दीनाननाथान्कौन्तेय परिरक्षसि नित्यशः ॥ ३१ ॥
साऽहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता।
याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात्कुरु मम प्रियम् ॥ ३२ ॥
स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया ।
कृतवांस्तत्तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ३४ ॥
स नागभवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान्।
उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरवस्य निवेशनात्॥ ३५ ॥
आगतस्तु पुनस्तत्र गंगाद्वारं तया सह ।
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ॥ ३६ ॥
दत्त्वा वरमजेयत्वं जले सर्वत्र भारत ।
साध्या जलचराः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३७ ॥ [८००८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्युलूपीसङ्गे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इसमें धर्मकी कुछ हानि होती है, सो मुझको प्राण देनेसे तुम्हारा वह पूराही बना रहेगा। साधुलोग मिलन चाहती हुई नारीकी कामना पूरी करनेका उपदेश करते हैं, सो मुझको भक्ता जान भजो। हे प्रभो! यदि तुम इसमें सम्मत न हो, तो मुझको मरी जान लो! हे पुरुषोत्तम महाभुज! आज मैंने तुम्हारी शरण ली है, मुझको प्राण देकर परम धर्म उपार्जन करो। हे कुन्तीपुत्र! मैं अनाथ और दीन होके बार बार रोती हुई तुम्हारी शरण लेती हूं और कामवश होके तुम्हारे मिलनकी प्रार्थना कर रही हूं और तुमभी दीनों और अनाथोंकी सदा रक्षा करते हो, सो तुमको मेरा प्रिय करना चाहिये। अतएव तुम अपनेको सौंप कर मेरी अभिलाषा पूरी करो। (२७—३३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि नागराज पुत्रीके प्रतापी अर्जुनसे ऐसी बात कहने पर अर्जुनने धर्मके उपदेशसे उसका मनमाना सम्पूर्ण कार्य पूरा किया। उसकी उस कौरव्य नामक सर्पराजके भवनमें वह रात बिता कर सूर्योदयके समय उठे और उस नागराजपुत्रीके संग फिर गङ्गा-

वैशम्पायन उवाच—कथयित्वा च तत्सर्वं ब्राह्मणेभ्यः स भारत।
प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ॥ १ ॥
अगस्त्यवटमासाद्य वसिष्ठस्य च पर्वतम् ।
भृगुतुंगे च कौन्तेयः कृतवाञ्शौचमात्मनः॥ २ ॥
प्रददौ गोसहस्राणि सुबहूनि च भारत ।
निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत्कुरुसत्तमः॥ ३ ॥
हिरण्यबिन्दोस्तीर्थे च स्नात्वा पुरुषसत्तमः।
दृष्टवान्पाण्डवश्रेष्ठः पुण्यान्यायतनानि च ॥ ४ ॥
अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत ।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः ॥ ५ ॥
आनुपूर्व्येण तीर्थानि दृष्टवान्कुरुसत्तमः ।
नदीं चोत्पलिनीं रम्यामरण्यं नैमिषं प्रति ॥ ६ ॥
नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम्।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत ॥ ७ ॥
एवं तीर्थानि सर्वाणि पश्यमानस्तथाऽऽश्रमान्।
आत्मनःपावनं कुर्वन्ब्राह्मणेभ्यो ददौ च गाः॥ ८ ॥

द्वारको लौट आये। आगे सती उलूपी उनको यह वर देकर लौटी, कि तुम जलमें सर्वत्र अजेय बनोगे। सन्देह नहीं है, कि सबही जलकर तुमसे जीते जानेके योग्य होंगे। (३४-३७) [८००८]

आदिपर्वमें दो सौ सोलह अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें दो सौ सतरह अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर इन्द्र पुत्र ब्राह्मणोंसे पहिले दिन का सब ब्योरा कहके हिमालयके पास गये। आगे अगस्त्य वटको देखकर वसिष्ठ पर्वतमें जा पहुंचे और भृगुतुङ्ग नामक पर्वत पर अपनी शौचक्रिया करके शुचि होके ब्राह्मणोंको अनेक सहस्र गौ और गृह दान किये। अनन्तर पुरुषोत्तम पाण्डवश्रेष्ठ हिरण्यबिन्दु नामक तीर्थमें नहाय धोय वहांके पुण्यस्थानोंको देखने लगे। अनन्तर ब्राह्मणोंके साथ उस स्थानमें उतर कर पूर्वदिशाको देखनेकी इच्छासे चले। (१—५)

हे भारत! वह क्रमसे तीर्थोंको देखने लगे; नैमिषारण्यसे बहती हुई सुन्दर उत्पलिनी नदी, गया और यशस्विनी महानदी गङ्गा, कौशिकी, नन्दा और अपरनन्दा और अन्यान्य तीर्थ तथा आश्रमोंकी दर्शन करते हुए आत्माको पवित्र कर

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित् ।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा च विधिवत्तानि धनं चापि ददौ ततः ।
कलिङ्गराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः ॥
अभ्यनुज्ञाय कौन्तेयमुपावर्तन्त भारत ॥ १० ॥
स तु तैरभ्यनुज्ञातः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ यत्र सागरः ॥ ११ ॥
स कलिङ्गानतिक्रम्य देशानायतनानि च ।
वनानि रमणीयानि प्रेक्षमाणो ययौ प्रभुः ॥ १२ ॥
महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम् ।
समुद्रतीरेण शनैर्मणिपूरं जगाम ह ॥ १३ ॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ॥ १४ ॥
मणिपूरेश्वरं राजन्धर्मज्ञं चित्रवाहनम् ।
तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ॥ १५ ॥
तां ददर्श पुरे तस्मिन्विचरन्तीं यदृच्छया ।
दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहनीम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मणोंको अनेक गौ दान दी। अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग देशोंमें जितने तीर्थ और पवित्र स्थान हैं, उन्होंने उन स्थानोंमें जाय उनका दर्शन कर उन स्थानोंमें ब्राह्मणोंको धन दान दिया। (६—१०)

हे भरतनन्दन! जो सब ब्राह्मण कुन्ती-नन्दनके साथ जा रहे थे, वे कालिङ्ग राज्यके द्वार अर्थात् वहांकी पर्वत-सन्धि-तक जाके उनकी आज्ञासे लौट गये। कुन्तीपुत्र वीर धनञ्जय विजोंकी आज्ञासे थोडे सहायकोंको संग लेकर समुद्रकी ओर चले। वह शूर कलिङ्ग देशको पीछे छोड़के नाना देश, आश्रम और बड़े बड़े भवनोंको देखते हुए चले। क्रमसे तपस्वियोंसे सुशोभित महेन्द्र पर्वतको देखकर समुद्र तीरसे मणिपुरमें जा पहुंचे। हे महाराज! वह महाभुज उस देशमें पुण्यतीर्थ और यज्ञ स्थानोंको देखकर अन्तमें मणिपुरनाथ चित्रवाहन नामक धर्मज्ञ महीपालके निकट गये। उस भूपकी चित्राङ्गदा नाम्नी एक सुन्दरी कन्या थी। (१०—१५)

एक दिन वह सुन्दरी मनमाने उस नगरमें टहलती थी, किसी समय उन

अभिगम्य च राजानमवदत्स्वं प्रयोजनम् ।
देहि मे खल्विमां राजन्क्षत्रियाय महात्मने ॥ १७ ॥
तच्छ्रुत्वा त्वब्रवीद्राजा कस्य पुत्रोऽसि नाम किम्।
उवाच तं पाण्डवोऽहं कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः॥ १८ ॥
तमुवाचाऽथ राजा स सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
राजा प्रभञ्जनो नाम कुलेऽस्मिन्संबभूव ह ॥ १९ ॥
अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम् ।
उग्रेण तपसा तेन देवदेवः पिनाकधृक् ॥ २० ॥
ईश्वरस्तोषितः पार्थ महादेव उमापतिः ।
स तस्मै भगवान्प्रादादेकैकं प्रसवं कुले ॥ २१ ॥
एकैकः प्रसवस्तस्माद्भवत्यस्मिन्कुले सदा ।
तेषां कुमाराः सर्वेषां पूर्वेषां मम जज्ञिरे ॥ २२ ॥
एका तु मम कन्येयं कुलस्योत्पादनी भृशम्।
पुत्रो ममाऽयमिति मे भावना पुरुषर्षभ ॥ २३ ॥
पुत्रिकाहेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ ।
तस्मादेकः सुतो योऽस्यां जायेत भारत त्वया॥२४ ॥

उसको देखकर कामके वशमें हो-गये और अभिलाषा पूरी करनेके लिये राजाके पास पहुंचकर बोले, कि हे महा-राज ! मै महात्मा क्षत्रियका पुत्र हू, मुझको कन्या दान दें, राजा वह बात सुनकर बोले, कि तुम किसके पुत्र हो? तुम्हारा नाम क्या है ? अर्जुन बोले, कि मैं पाण्डव कुन्तीपुत्र हूं; मेरा नाम धन-ञ्जय है। (१६---१८)

अनन्तर राजा मीठी बातोंमे उनसे बोले, कि हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस देशमें प्रभ-ञ्जन नामक एक भूपने जन्म लिया था। उनकी सन्तान न होनेमें वह सन्तानकी कामनासे भले प्रकार तप करने लगे। पिनाकधारी ईश्वर उमापति भगवान् देव-देव महादेवने उनकी कठोर तपस्यासे प्रसन्न होकर उनको वर दिया, कि पुरु-षोंकी परम्परासे उनके इस वंशमें एक एक सन्तान जन्म ले । इस लिये हमारे कुलमें सदा एकही सन्तान उपजती है। मेरे-सब पूर्वजोंके पुत्र उपजे थे । हे पुरुषे-न्द्र ! मेरे वंश बढानेवाली यह एकही कन्या हुई है। मै इसको पुत्र करके समझता हूं। (१९—२३)

हे भारतवर ! मैंने इस कन्याको विधि-पूर्वक पुत्रिका बनायी है; इस लिये

एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह ।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव ॥ २५ ॥
स तथेति प्रतिज्ञाय तां कन्यां प्रतिगृह्य च ।
उवास नगरे तस्मिंस्त्रिस्त्रः कुन्तीसुतः समाः ॥ २६ ॥
तस्यां सुते समुत्पन्ने परिष्वज्य वराङ्गनाम् ।
आमन्त्र्य नृपतिं तं तु जगाम परिवर्तितुम् ॥ २७ ॥ [८०३५]

इति श्रीमहाभारते शत० अर्जुनवनवासपर्वणि चित्राङ्गदासमागमे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २१७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभः ।
अभ्यगच्छत्सुपुण्यानि शोभनानि तपस्विभिः ॥ १ ॥
वर्जयन्ति स्म तीर्थानि पञ्च तत्र तु तापसाः ।
अवकीर्णानि यान्यासन्पुरस्तात्तु तपस्विभिः ॥ २ ॥
अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमं च सुपावनम् ।
कारन्धमं प्रसन्नं च हयमेधफलं च तत् ॥ ३ ॥
भारद्वाजस्य तीर्थं तु पापप्रशमनं महत् ।
एतानि पञ्च तीर्थानि ददर्श पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥
विविक्तान्युपलक्ष्याऽथ तानि तीर्थानि पाण्डवः ।

इस कन्याके गर्भ और तुम्हारे वीर्यसे जो एक पुत्र उत्पन्न होगा वह मेरी पुत्रिका का पुत्र होगा । वह पुत्र ही इस कन्याके शुल्कवत होकर मेरे वंशकी रक्षा करेगा, इस नियममें तुम मेरी यह कन्या लो । कुन्ती-पुत्र अर्जुनने "तथास्तु" कहके मान लिया । और उस कन्यासे विवाह कर उस नगरमे तीन वर्ष बताया । सुन्दरी चित्राङ्गदाके गर्भसे पुत्र उपजने पर वह उसको गले लगाके और प्रेमसे सम्भाषण करके राजासे विदा होकर देश-भ्रमणको निकला । २४-२७ [८०३५]

आदिपर्वमे दो सौ सत्रह अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमे दो सौ अठारह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर भरतवंश श्रेष्ठ अर्जुन दक्षिण समुद्रके तपस्वियोंसे शोभायमान सब पुण्य तीर्थो में गये । उस स्थानमें अश्वमेधका फलदायी पापनाशी प्रसन्न सुपवित्र अगस्त्य, सौभद्र, पौलोम, कारन्धम, और भरद्वाज यह पांच महातीर्थ थे । उन पांच तीर्थोके सामने बहुतेरे तपस्वी बसते थे, पर इनके भीतर किसी तपस्वीका वास नहीं था । १—४

पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने उन पञ्चतीर्थोंको देखा । उन्होंने उन पञ्चतीर्थोंको पूर्वोक्त

दृष्ट्वा च वर्ज्यमानानि मुनिभिर्धर्मबुद्धिभिः ॥ ५ ॥
तपस्विनस्ततोऽपृच्छत्प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः ।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः॥ ६ ॥
तापसा ऊचु.— ग्राहाः पञ्च वसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान् ।
तत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच–तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः ।
जगाम तानि तीर्थानि द्रष्टुं पुरुषसत्तमः ॥ ८ ॥
ततः सौभद्रमासाद्य महर्षेस्तीर्थमुत्तमम् ।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ॥ ९ ॥
अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान् ।
जग्राह चरणे ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ॥ १० ॥
स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनां वरः ॥ ११ ॥
उत्कृष्ट एव ग्राहस्तु सोऽर्जुनेन यशस्विना ।
बभूव नारी कल्याणी सर्वाभरणभूषिता ॥ १२ ॥
दीप्यमाना श्रिया राजन्दिव्यरूपा मनोरमा ।
तदद्भुतं महद् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १३ ॥

और धर्मज्ञ मुनियोंसे त्यागे हुए देखके उसके सामने दसे हुए तपस्वियोंसे पूछा, कि ब्रह्मवादी ब्राह्मण लोग क्यों यह पञ्चतीर्थ छोड देते है? तपस्वीगण बोले, कि हे कुरुनन्दन! इन पञ्चतीर्थोंके जलमें पांच ग्राह है, वे तपस्वियोंको मार डालते है, सो मुनिलोग इन तीर्थोंमे नहीं बसते। (५—७)

वैशम्पायनजी बोले, कि पुरुषोत्तम महाभुज अर्जुन तपोधनोंका वह वचन सुनके उनसे रोके जाने परभी उन सब तीर्थोंको देखने गये। वह पहिले महर्षि सम्बन्धी सौभद्र नामक अच्छे तीर्थमें पहुंच कर उसमें एकायक देहको डुबाकर नहाने लगे। ऐसे समयमें जलके भीतर चलनेवाले एक बडे ग्राहने उन शत्रु-दमन वीरपुरुषोंमें व्याघ्ररूपी कुन्तीपुत्र धनञ्जयका पांव पकडा। महाबली महाभुज पाण्डुपुत्र उस फुर्तीले जलचरजन्तु को लेकर बलपूर्वक तट पर उठ आये। हे महाराज! जलचर ग्राह यशोवन्त अर्जुनसे ऊपर उठाये जातेही एक नारी के स्वरूपमें दिखाई दिया। वह बाला दिव्यस्वरूप सुन्दरतासे चमकती हुई,

तां स्त्रियं परमप्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
का वै त्वमसि कल्याणि कुतो वासि जलेचरी ॥ १४ ॥
किमर्थं च महत्पापमिदं कृतवती पुरा ।
नर्युवाच — अप्सराऽस्मि महाबाहो देवारण्यविहारिणी ॥ १५ ॥
इष्टा धनपतेर्नित्यं वर्गा नाम महाबल ।
मम सख्यश्चतस्रोऽन्याः सर्वाः कामगमाः शुभाः १६
ताभिः सार्धं प्रयाताऽस्मि लोकपालनिवेशनम् ।
ततः पश्यामहे सर्वा ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १७ ॥
रूपवन्तमधीयानमेकमेकान्तचारिणम् ।
तस्यैव तपसा राजंस्तद्वनं तेजसा वृतम् ॥ १८ ॥
आदित्य इव तं देशं कृत्स्नं सर्वं व्यकाशयत् ।
तस्य दृष्ट्वा तपस्तादृग्रूपं चाद्भुतमुत्तमम् ॥ १९ ॥
अवतीर्णाः स्म तं देशं तपोविघ्नचिकीर्षया ।
अहं च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ २० ॥
यौगपद्येन तं विप्रमभ्यगच्छाम भारत ।

कल्याणी, मनोरमा और सर्व आभूषणोंसे सजी थीं। (८—१३)

कुन्तीपुत्र धनञ्जय उस बड़ी आश्चर्य लीलाको देखके अति प्रसन्नचित्तसे उस नारीसे बोले कि ऐ कल्याणि जलचरि! तुम कौन? क्यों ऐसी बनी हो? और क्यों पहिले ऐसा महापाप किया था? वर्गानाम्नी वह नारी बोली, कि हे महाबली महाभाग! मैं देववनमें विहार करनेवाली अप्सरा हूं, मेरा नाम वर्गा है, मैं सदासे कुबेरकी प्यारी हूं, मेरी कामगामी शुभ-लक्षणा और चार सखी हैं, किसी समय मैं उन चार सखियोंके साथ लोकपालके यहां जा रही थी, उस समय देखा, कि प्रशंसित व्रतधारी एकान्तमें रहनेवाले परम रूपवान एक ब्राह्मण वेद पढ़ रहे हैं। (१३—१७)

हे महाराज! उनके तपके तेजसे वह वन तप गया है; उन्होंने आदित्यकी भांति उस सब स्थानमें उजाला कर दिया है। हम उनकी वैसी अति तपस्या और आश्चर्य रूप देखकर तपमें विघ्न डालनेकी इच्छासे वहां उतर गयीं। हे भारत! सौरभेयी, समीचि, बुद्बुदा लता और मैं यह पांच एकत्र हो कर उस ब्राह्मणके यहां एक साथही जा पहुंची। हे वीर! हम उनके लुभानेके लिये हंसने और गीत गाने लगीं; पर उस विप्रने

गायन्त्योऽथ हसन्त्यश्च लोभयित्वा च तं द्विजम् २१
स च नाऽस्मासु कृतवान्मनो वीर कथंचन।
नाऽकम्पत महातेजाः स्थितस्तपसि निर्मले ॥२२॥
सोऽशपत्कुपितोऽस्मासु ब्राह्मणः क्षत्रियर्षभ।
ग्राहभूता जले यूयं चरिष्यथ शतं समाः ॥ २३ ॥ [८०५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वणि तीर्थग्राहविमोचनेऽष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २१८ ॥

वर्गोवाच— ततो वयं प्रव्यथिताः सर्वा भरतसत्तम ।
प्रयाम शरणं विप्रं तं तपोधनमच्युतम् ॥ १ ॥
रूपेण वयसा चैव कन्दर्पेण च दर्पिताः ।
अयुक्तं कृतवत्यः स्म क्षन्तुमर्हसि नो द्विज ॥ २ ॥
एष एव वधोऽस्माकं सुपर्याप्तस्तपोधन ।
यद्वयं संशितात्मानं प्रलोब्धुं त्वामिहाऽऽगताः॥ ३ ॥
अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचिन्तकाः।
तस्माद्धर्मेण वर्ध त्वं नाऽस्मान्हिंसितुमर्हसि॥ ४ ॥
सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
सत्यो भवतु कल्याण एष वादो मनीषिणाम्॥ ५ ॥

किसी प्रकारसे हमारी ओर ध्यान नहीं दिया। उनका मन निर्मल तपस्यामें निश्चल बना रहा, किसी प्रकार नहीं टला। हे क्षत्रिय वर! अनन्तर उन्होंने क्रोधित होके हमको यह शाप दिया, कि तुम ग्राह बनके जलमें सौ वर्ष चरा करोगी। (१८—२३) [८०५८]

आदिपर्वमें दोसौ अठारह अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें दोसौ उन्नीस अध्याय।

वर्गा बोली, कि हे भरतवंशश्रेष्ठ! अनन्तर हमने कातर होकर उन अच्युत तपोधनकी शरण लेकर कहा, कि हे तपोधन! हमने रूप, यौवन और कामके अहङ्कारसे यह अनुचित कार्य किया है। हे द्विज! हमारी क्षमा करनी योग्य है। यही हमारे लिये मृत्युवत हुआ है, कि हम ऐसे जितेन्द्रिय मुनिको लुभानेकी इच्छासे यहां आई है, धर्मचारी लोग विचारते है, कि नारी वधके अयोग्य बनायी गयी है; सो आप हमारी हिंसा न करें। हे धर्मज्ञ! पण्डित लोग कहते है, कि ब्राह्मण सर्वप्राणियोंके मित्र है; हे कल्याणास्पदयुक्त! पण्डितोंके उस वचनको सत्य होने दें। शिष्टलोग शरण

शरणं च प्रपन्नानां शिष्टाः कुर्वन्ति पालनम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मस्तस्मात्त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः स धर्मात्मा ब्राह्मणः शुभकर्मकृत् ।
प्रसादं कृतवान्वीर रविसोमसमप्रभः ॥ ७ ॥

ब्राह्मण उवाच— शतं शतसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम् ।
परिमाणं शतं त्वेतन्नेदमक्षय्यवाचकम् ॥ ८ ॥
यदा च वो ग्राहभूता गृह्णन्तीः पुरुषाञ्जले ।
उत्कर्षति जलात्तस्मात्स्थलं पुरुषसत्तमः ॥ ९ ॥
तदा यूयं पुनः सर्वाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यथ ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे हसताऽपि कदाचन ॥ १० ॥
तानि सर्वाणि तीर्थानि ततः प्रभृति चैव ह ।
नारीतीर्थानि नाम्नेह ख्यातिं यास्यन्ति सर्वशः ॥
पुण्यानि च भविष्यन्ति पावनानि मनीषिणाम् ॥ ११ ॥

वर्गोवाच— ततोऽभिवाद्य तं विप्रं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
अचिन्तयामोपसृत्य तस्माद्देशात्सुदुःखिताः ॥ १२ ॥
क्व नु नाम वयं सर्वाः कालेनाऽल्पेन तं नरम् ।

लिये हुए लोगोंकी रक्षा करते हैः हमने आपकी शरण ली हैः सो आपको हमारी क्षमा करनी चाहिये । (१—६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे वीर ! अनन्तर सूर्यचन्द्रमाकी उजला रखनेवाले शुभकर्म किये धर्मात्मा वह ब्राह्मण अप्सराओंकी यह बात सुनके प्रसन्न हुए, और बोले, कि शत और शत सहस्रका अर्थ अनन्त कालभी होता है पर मैंने "शत वर्ष" यह शब्द कहा है, इसका अर्थ सौही होगा, अनन्तकाल नहीं होगा। इस जलमें ग्राह बनके पुरुषोंको पकडा करोगी पर सौ वर्ष होने पर एक पुरुष श्रेष्ठ तुमको पकड कर स्थल पर उठा लेगे तब तुम फिर अपना रूप प्राप्त करोगी, मेरी बात कभी झूठी नहीं होवेगी । मैंने पहिले कभी हंसीमेभी झूठी बात नहीं कही है । तुम्हारे छुटकारा पाने पर वे सब तीर्थ, नारीतीर्थ नामसे प्रख्यात होकर साधुओंके तारनेवाले और पुण्य दायी बनेंगे । (७—११)

वर्गा बोली कि अनन्तर हम उन ब्राह्मणको प्रणाम कर परिक्रमा दे दुःखी चित्तसे वहांसे भागकर सोचने लगी, कि जो महापुरुष हमको स्वरूप दिलावेंगे उनसे हम थोडे कालके बीच हमारी

समागच्छेम यो नरस्तद्रूपमापादयेत्पुनः ॥ १३ ॥
ता वयं चिन्तयित्वैव मुहूर्तादिव भारत ।
दृष्टवत्यो महाभागं देवर्षिमुत नारदम् ॥ १४ ॥
संप्रहृष्टाः स्म तं दृष्ट्वा देवर्षिममितद्युतिम् ।
अभिवाद्य च तं पार्थ स्थिताः स्म व्रीडिताननाः॥१५॥
स नोऽपृच्छद्दुःखमूलमुक्तवत्यो वयं च तम् ।
श्रुत्वा तत्र यथावृत्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
दक्षिणे सागरानूपे पञ्चतीर्थानि सन्ति वै ।
पुण्यानि रमणीयानि तानि गच्छत मा चिरम्॥ १७॥
तत्राऽऽशु पुरुषव्याघ्रः पाण्डवेयो धनञ्जयः ।
मोक्षयिष्यति शुद्धात्मा दुःखादस्मान्न संशयः॥१८॥
तस्य सर्वा वयं वीर श्रुत्वा वाक्यमितो गताः ।
तदिदं सत्यमेवाऽद्य मोक्षिताऽहं त्वयाऽनघ ॥ १९ ॥
एतास्तु मम ताः सख्यश्चतस्रोऽन्या जले श्रिताः।
कुरु कर्म शुभं वीर एताः सर्वा विमोक्षय ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच-ततस्ताः पाण्डवश्रेष्ठः सर्वा एव विशाम्पते ।
तस्माच्छापाददीनात्मा मोक्षयामास वीर्यवान् २१
उत्थाय च जलात्तस्मात्प्रतिलभ्य वपुः स्वकम् ।

भेंट हो सकती है? हे भारत! हम सब ऐसी चिन्ता करती हुई, पल भरमें महाभाग देवर्षिको देखकर प्रसन्न चित्तसे उनके पांव पर सिर नायके लज्जासे मुह नीचे कर खडी रही। उनके हमारे दुःख का कारण पूछने पर हमने आद्योपान्त सब व्योरा कह सुनाया। वह हमारी बात सुनके बोले, कि दक्षिण-समुद्रमें प्रायः जलभरी ठोरमें पांच तीर्थ है, तुम वहां जाओ, देर मत करो, उस स्थानमें शुद्धात्मा पुरुषश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र धनञ्जय तुमको इस दुःखसे निःसन्देह बचावेंगे। हे वीर! हम सब उन महर्षिका वचन सुनके यहां आयी थीं। हे अनघ! अब सचमुच तुमसे मुक्त होगई। मेरी वे चार सखी इसी प्रकार दूसरे जलमें है, हे वीर! तुम इस प्रकार उन चारोंको भी मुक्तकर शुभ कर्मका फल लो। (१२—२०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भूपाल! अनन्तर वीर्यवन्त पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने प्रसन्न मनसे उन सबोंहीको उस शापसे बचाया। हे महाराज! अप्सरायें उस

तास्तदाऽप्सरसो राजन्नदृश्यन्त यथा पुरा ॥ २२ ॥
तीर्थानि शोधयित्वा तु तथाऽनुज्ञाय ताः प्रभुः।
चित्राङ्गदां पुनर्द्रष्टुं मणिपूरं पुनर्ययौ ॥ २३ ॥
तस्यामजनयत्पुत्रं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवो राजंश्चित्रवाहनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
चित्राङ्गदायाः शुल्कं त्वं गृहाण बभ्रुवाहनम् ।
अनेन च भविष्यामि ऋणान्मुक्तो नराधिप ॥२५॥
चित्राङ्गदां पुनर्वाक्यमब्रवीत्पाण्डुनन्दनः ।
इहैव भव भद्रं ते वर्धेथा बभ्रुवाहनम् ॥ २६ ॥
इन्द्रप्रस्थनिवासं मे त्वं तत्राऽऽगत्य रंस्यसि।
कुन्तीं युधिष्ठिरं भीमं भ्रातरौ मे कनीयसौ॥ २७ ॥
आगत्य तत्र पश्येथा अन्यानपि च बान्धवान्।
बान्धवैः सहिता सर्वैर्नन्दसे त्वमनिन्दिते॥ २८ ॥
धर्मे स्थितः सत्यधृतिः कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः।
जित्वा तु पृथिवीं सर्वां राजसूयं करिष्यति ॥ २९ ॥

जलसे उठके अपने पहिलेके रूपमें दीखपडीं। इस प्रकार अर्जुन उस पञ्चतीर्थोको सुधारकर उनको बिदाकर देके चित्राङ्गदाको देखनेके लिये फिर मणिपुरको पधारे। हे राजन्! तब उनके वीर्य और चित्रांगदाके गर्भसे उपजे राजा बभ्रुवाहन नामक पुत्र पैदा हुए थे। उस बभ्रुवाहनको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुन चित्रवाहनसे बोले, कि "तू चित्रांगदाका शुल्क समझ कर इस बभ्रुवाहन ही को ले। हे नराधिप! इससे मैं ऋणसे मुक्त हो जाऊंगा। (२२—२५)

अर्जुन चित्रांगदासे फिर बोले कि तू यहां ही रह और इस बभ्रुवाहनका उत्तम पालन पोषण कर। मेरे निवास स्थान इंद्रप्रस्थ में जब तू आजायगी, तब मेरे साथ रममाण होकर कुंती, युधिष्ठिर, भीम और दो छोटे भाई तथा मेरे अन्य बंधुगणोंको देखकर तुमको बहुत ही आनंद हो जायगा। हे अनिंदिते! धर्म और सत्यका अवलंबन करके कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर संपूर्ण पृथ्वीको जीत कर राजसूय यज्ञ करेगा, उस यज्ञमें पृथ्वीभरके सब नृपगण अनेक रत्नोंके साथ आजायेंगे, उनमें तेरा पिताभी आजायगा। उस समय तूभी अपने पिता चित्रवाहनके साथ आजाना, तो राजसूय यज्ञके समय मैं तेरा दर्शन करूंगा। (२६—२९)

तत्राऽऽगच्छन्ति राजानः पृथिव्यां नृपसंज्ञिताः।
बहूनि रत्नान्यादाय आगमिष्यति ते पिता॥ ३० ॥
एकसार्थं प्रयातोऽसि चित्रवाहनसेवया ।
द्रक्ष्यामि राजसूये त्वां पुत्रं पालय मा शुचः ॥ ३१ ॥
बभ्रुवाहननाम्ना तु मम प्राणो महीचरः ।
तस्माद्भरस्व पुत्रं वै पुरुषं वंशवर्धनम् ॥ ३२ ॥
चित्रवाहनदायादं धर्मात्पौरवनन्दनम् ।
पाण्डवानां प्रियं पुत्रं तस्मात्पालय सर्वदा ॥ ३३ ॥
विप्रयोगेन संतापं मा कृथास्त्वमनिन्दिते ।
चित्राङ्गदामेवमुक्त्वा गोकर्णमभितोऽगमत्॥ ३४ ॥
आद्यं पशुपतेः स्थानं दर्शनादेव मुक्तिदम् ।
यत्र पापोऽपि मनुजः प्राप्नोत्यभयदं पदम् ॥ ३५ ॥ [८०९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुन-
तीर्थयात्रायामूनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

वैशम्पायन उवाच–सोऽपरान्तेषु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सर्वाण्येवाऽनुपूर्व्येण जगामाऽमितविक्रमः ॥ १ ॥
समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च ।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान् ॥२॥

इस पुत्रका उत्तम पालन कर और शोक न कर। यह सत्य है, कि यह बभ्रुवाहन पृथ्वीपर सचार करनेवाला मेरा प्राणही है, इस लिये वंशवृद्धि करनेवाले इस पुरुष संतानकी उत्तम रक्षा कर। यह पौरवनंदन धर्मसे चित्रवाहनका दायाद है, और पाण्डवोंका प्रियपुत्र है, इस कारण इसका उत्तम पालन कर। हे अनिंदिते ! तू अब मेरे वियोगके कारण शोक न कर।" चित्रांगदासे इतना कहकर पार्थ गोकर्ण की ओर चले। यह पशुपतिका आद्य स्थान दर्शनसे ही मुक्ति देनेवाला है और यहां पापी मनुष्य भी अभय पद को प्राप्त कर सकता है। (२६–३५)

आदिपर्वमें दोसौ उन्नीस अध्याय समाप्त। [८०९३]

आदिपर्वमें दोसौ वीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर अति विक्रमी अर्जुन पश्चिम प्रदेशमें जितने तीर्थ और पुण्य स्थान हैं, एक एक कर उन सबोंमें गये और पश्चिम समुद्रमें जितने तीर्थ और स्थान हैं, वहां घूम घाम अन्तमें प्रभास तीर्थमें जा पहुंचे। मधु-

प्रभासदेशं संप्राप्तं बीभत्सुमपराजितम् ।
सुपुण्यं रमणीयं च शुश्राव मधुसूदनः ॥ ३ ॥
ततोऽभ्यगच्छत्कौन्तेयं सखायं तत्र माधवः।
ददृशाते तदाऽन्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ॥ ४ ॥
तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥
ततोऽर्जुनं वासुदेवस्तां चर्यां पर्यपृच्छत ।
किमर्थं पाण्डवैतानि तीर्थान्यनुचरस्युत ॥ ६ ॥
ततोऽर्जुनो यथावृत्तं सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
श्रुत्वोवाच च वार्ष्णेय एवमेतदिति प्रभुः ॥ ७ ॥
तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाऽभिजग्मतुः ॥ ८ ॥
पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात्तं महीधरम् ।
पुरुषा मण्डयाञ्चक्रुरुपजह्रुश्च भोजनम् ॥ ९ ॥
प्रतिगृह्याऽर्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः ।
सहैव वासुदेवेन दृष्टवान्नटनर्तकान् ॥ १० ॥
अभ्यनुज्ञाय तान्सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः ।

सूदन माधवने सुना कि अति पुण्ययुक्त सुन्दर प्रभास तीर्थमें अजेय सखा अर्जुन जा पहुंचे है। अनन्तर वह उनको भेटके लिये वहां गये। उन प्रभासमें कृष्ण और पाण्डवने परस्परकी भेंट होने पर दोनो प्यारे सखा ऋषि नर और नारायणरूपी कृष्ण तथा अर्जुन एक दूसरेका गले लगाके कुशलक्षेम पूछ कर उस ठौरमे बैठे। वासुदेव अर्जुनका भ्रमण वृत्तान्त सुननेकी इच्छासे बोले, कि हे पाण्डव! तुम क्यों इन तीर्थोमें फिरा करते हो? (३–६)

अर्जुनने आद्योपान्त सब कह सुनाया। प्रभु वार्ष्णेयने सुनकर कहा कि यह उचितही हुआ है। अनन्तर वे दोनो प्रभासमे मनमाने विहारकर रहनेके लिये रैवतक पर्वत पर गये। इसके पहिलेही कृष्णकी आज्ञासे नौकरोंने पर्वत पर भांति भांतिकी सामग्री बनया रखी थी, इतनी कि जिनसे पहाड छिप गया था। अर्जुन वासुदेवके साथ वहां भोजनादि कर और नट नाचनेवालोंके नाच आदि देखने लगे। आगे महामति पाण्डव उनको यथोचित पारितोषिक देके विदा

सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महामतिः॥ ११ ॥
ततस्तत्र महाबाहुः शयानः शयने शुभे ।
नदीनां पल्वलानां च पर्वतानां तथैव च ॥ १२ ॥
आपगानां वनानां च कथयामास सात्वते॥ १३ ॥
एव स कथयन्नेव निद्रया जनमेजय ।
कौन्तेयोऽपि हृतस्तस्मिञ्शयने स्वर्गसंनिभे ॥ १४॥
मधुरेणैव गीतेन वीणाशब्देन चैव ह ।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ॥ १५ ॥
स कृत्वाऽवश्यकार्याणि वार्ष्णेयेनाऽभिनन्दितः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥ १६ ॥
अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ॥ १७ ॥
दिदृक्षन्तश्च कौन्तेय द्वारकावासिनो जनाः ।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥ १८ ॥
अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकानां च समवायो महानभूत्॥१९ ॥
स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः ।
अभिवाद्याऽभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः॥ २० ॥

कर भलेप्रकार सजी सेज पर जाकर सोये। (७—११)

अनन्तर महाभुज अर्जुन उस शुभ बिछाने पर लेटकर कृष्णसे भांति भांतिकी नदी, सोते, पर्वत, वन आदि की कथा कहने लगे। जनमेजय ! वह इस प्रकार की नाना कथा कहते हुए सो गये। आगे रात बीतने पर मीठे गीत स्तुतिपाठ बीणे की ध्वनिसे जग उठे; और नित्यकृत्योका अन्त कर, यादवोंसे नमस्कार किये जाय सुवर्णके रथ पर द्वारकाको गये। (१२—१६)

हे जनमेजय ! कुन्तीनन्दनके गौरवके लिये द्वारकापुरीके राजपथ, फुलवाडी और भवन आदि सब ठौर सजाये गये थे। सैकडो सहस्रों द्वारकावासी अर्जुन को देखनेके लिये राजपथ पर वेगसे पहुंचने लगे;पाण्डवदर्शनके लिये सैकडो सहस्रों भोज वृष्णि और अंधकवंशी नरनारियो की बडी भीड लगी; अर्जुन भोज वृष्णि और अन्धकवंशियोसे यथायोग्य सत्कृत हुए, नमस्कारयोग्य जनोको नमस्कार

कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाऽभिचोदितः ।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ॥ २१ ॥
कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते ।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ २२ ॥ [८११९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनद्वारकागमने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥ समाप्तं चार्जुनवनवासपर्व ।

अथ सुभद्राहरणपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कतिपयाहस्य तस्मिन्रैवतके गिरौ ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥ १ ॥
तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महेन्द्रस्य गिरेस्तदा ॥ २ ॥
प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ।
स देशः शोभितो राजन्कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ३ ॥
वादित्राणि च तत्राऽन्ये वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायकाः ॥ ४ ॥
अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम् ।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ५ ॥

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा ।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः॥ ६ ॥
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः ।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत्तत्र भारत ॥ ७ ॥
तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ।
अनुगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान्॥ ८ ॥
रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबौ समरदुर्मदौ ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ॥ ९ ॥
अक्रूरः सारणश्चैव गदो बभ्रुर्विदूरथः ।
विशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १० ॥
सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारमहारवौ ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चाऽन्ये नाऽनुकीर्तिताः॥ ११ ॥
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक्पृथक् ।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाञ्चक्रिरे तदा ॥ १२ ॥
चित्रकौतूहले तस्मिन्वर्तमाने महाद्भुते ।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥ १३ ॥
तत्र चंक्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
अलंकृतां सखीमध्ये सुभद्रां ददृशुस्तदा ॥ १४ ॥

समेत अनेकप्रकारके यान पर टहलने लगे। कोई कोई पैदलही घूमने लगा। (१-६)

हे भारत ! रेवतीके साथ प्रभु हलधर मधुमे मतवाले सहचर गन्धर्वोंसे घिरे जाय घूमने लगे। वैसेही सहस्र नारियोंके साथ वृष्णियोंके राजा प्रतापी उग्रसेन सहचर गन्धर्वोंसे घेरे जाय घूमने घामनेमें प्रवृत्त हुए। युद्धमें कठोर साम्ब और रुक्मिणीकुमार मधुमे मतवाले हो सुन्दर माला और वस्त्र पहिने देवोंकी भांति विहार करने लगे। अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्ण, पृथु, विपृथु, सत्यक, सात्यकि, भङ्गकार, महारव, हार्दिक्य, उद्धव, और दूसरे बहुतेरोंने अलग अलग स्त्री और गन्धर्वों के साथ वहां टहलते हुए उस महोत्सवकी शोभा बढायी। (७-१२)

इस प्रकार उस मनोहर अति आश्चर्य कौतूहलके वर्त्ताव होने पर वासुदेव और पार्थ एकत्र हो टहलने लगे। उन्होंने इधर उधर घूमते समय सखियोंसे घिरी नाना आभूषणोंसे बनीठनी, शुभलक्षणी

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत ।
तं तदैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥ १५ ॥
अब्रवीत्पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत ।
वनेचरस्य किमिदं कामेनाऽऽलोड्यते मनः ॥ १६ ॥
ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा ।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता ।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥ १७ ॥
अर्जुन उवाच— दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।
रूपेण चैषा संपन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥ १८ ॥
कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम् ।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥ १९ ॥
प्राप्तौ तु क उपायः स्यात्तं ब्रवीहि जनार्दन ।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् २० ॥
वासुदेव उवाच— स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्याऽनिमित्ततः २१ ॥

ने जड़ो वसुदेवकन्या सुभद्राको देखा। अर्जुन उस कोमलाङ्गी बालाको देखकरके ही मदन बाणसे मोहित हुए। हे भारत ! पुण्डरीकाक्ष कृष्ण उनके मनको सुभद्रा पर बहुत चलते देखके हंसकर बोले, कि यह क्या है ? वनवासीके मनमेंभी काम डामाडोल मचाता है ? हे पार्थ ! यह कन्या सारणकी सगी बहिन मेरीभी बहिन है, इसका नाम सुभद्रा है। यह बालाही मेरे पिताकी प्यारी कन्या है। तुम्हारा चित्त इस पर झुका हो, तो कहो, मैं स्वयंही पितासे कह दूं, जिससे तुम्हारा मङ्गल हो सकता है। (१५-१७)

अर्जुन बोले कि वसुदेवकी कन्या वासुदेवकी बहिन अनुपम रूपवती यह कन्या किसके मनको मोहित न करेगी ? तुम्हारी बहिन यह सुभद्रा यदि मेरी रानी बने, तो इसमें सन्देह नहीं, कि तुमसे मेरा सर्व प्रकार कल्याण होगा। हे जनार्दन ! कहो, अब किस उपायसे सुभद्रा मिल सकती है। यदि मनुष्यकी सामर्थ्य में हो तो सब प्रकारसे यह करूं। वासुदेव बोले, कि हे पुरुषश्रेष्ठ पार्थ ! क्षत्रियोंका स्वयंवर विवाहका नियम तो है, पर उसकी शङ्का होरही है, क्योंकि नारियोंका स्वभाव और हृदय शूरता पाण्डित्य आदि पर नहीं चलता। वे पतिके देखनेसे सुन्दर जन पर मोहित

प्रमह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥
स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम्॥२३ ॥
ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम्।
शीघ्रगान्पुरुषानन्यान्प्रेषयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥
धर्मराजाय तत्सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै ।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः॥ २५ ॥ [८१४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि युधिष्ठिरानुज्ञायामेकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनंजयः ।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ॥ १ ॥
वासुदेवाभ्यनुज्ञातः कथयित्वेतिकृत्यताम् ।
कृष्णस्य मतमादाय प्रययौ भरतर्षभः ॥ २ ॥
रथेन काञ्चनांगेन कल्पितेन यथाविधि ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ॥ ३ ॥
सर्वशस्त्रोपपन्नेन जीमूतरवनादिना ।

होती है। अतएव शूर, क्षत्रियोंके लिये बलसे कन्या हर कर विवाह करनेके जिस नियमकी धर्मज्ञगण प्रशंसा करते है, हे अर्जुन! तुम उस विधानके अनुसार बलपूर्वक इस शुभलक्षणा मेरी बहिनको हरलो, स्वयंवरका प्रयोजन नहीं है, क्योंकि कौन जानता है, कि सुभद्राका कैसा अभिप्राय है? अनन्तर अर्जुन और कृष्णने क्या करना उचित है, उसका निश्चय कर इन्द्रप्रस्थमें धर्मराजके यहां शीघ्र जानेवाला दूत भेज दिया। महाबाहु पाण्डवनन्दन युधिष्ठिरने वह सब वृत्तान्त सुनतेही उसकी आज्ञा भिजवायी। (१८-२५) [८१४०]

आदि पर्वमें दोसौ इक्कीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें दो सौ बाईस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय! अनन्तर युधिष्ठिरकी आज्ञा पाने पर पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयने वासुदेवके उपदेशसे क्या करना है, ठीक कर उनकी आज्ञा लेकर यात्रा की। वह खड्ग, कवच गोधा, उङ्गली रक्षक आदि पहिने बद्ध सन्नाह हो शैब्य और सुग्रीव नामक घोडे जोते, जालमालासे सजे, विधिपूर्वक

अतोऽन्यथा चेद्धि हितं यतमानो न लप्स्यसे॥ २४ ॥
एवं विद्वन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम्।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम्॥ २५ ॥

द्रोण उवाच— विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते ।
दुष्टः पाण्डवहेतोस्त्वं दोषमाख्यापयस्युत ॥ २६ ॥
हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्धनम् ।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत्परमं हितम् ॥ २७ ॥
अतोऽन्यथा चेत्क्रियते यद्ब्रवीमि परं हितम् ।
कुरवो वै विनङ्क्ष्यन्ति न चिरेणैव मे मतिः ॥ २८ ॥ [७६७२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि
द्रोणवाक्ये पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

विदुर उवाच— राजन्निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः।
न त्वशुश्रूषमाणे वै वाक्यं संप्रतितिष्ठति ॥ १ ॥
प्रियं हितं च तद्वाक्यमुक्तवान्कुरुनन्दनः ।
भीष्मः शान्तनवो राजन्प्रतिगृह्णासि तन्न च॥ २ ॥
तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम् ।

मे न करें, तो आप चेष्टा भी करें, तो सच्चा नहीं सकेंगे। हे महाराज! आप पण्डित हैं, मन्त्रियोंमें कौन साधु है और कौन असाधु हैं आपही विचार लेवें। और दुष्ट अदुष्ट जनोंके वचनका कार्य करें। (२३—२५)

जिससे परम हित होता है वही कहो। वास्तवमें मुझको निश्चय जान पडता है, कि यदि मेरे कहे परम हित वचनकी विरुद्धता की जावे तो, बिना विलम्ब कौरवगण लय पा जावेंगे। (२६—२८)

आदिपर्वमें दोसौ पांच अध्याय समाप्त। [illegible]

श्रूयते हि पूरा कश्चिदम्बुवीच इतीश्वरः ।
आसीद्राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ॥१७॥
स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमो नृपः ।
अमात्यसंस्थः सर्वेषु कार्येष्वेवाऽभवत्तदा ॥ १८ ॥
तस्याऽमात्यो महाकर्णिर्बभूवैकेश्वरस्तदा ।
स लब्धबलमात्मानं मन्यमानोऽवमन्यते ॥ १९ ॥
स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च ।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ॥ २० ॥
तदादाय च लुब्धस्य लोभाल्लोभोऽप्यवर्धत ।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ॥ २१ ॥
हीनस्य करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमस्य च ।
यतमानोऽपि तद्राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ॥२२॥
किमन्यद्विहिता नूनं तस्य सा पुरुषेन्द्रता ।
यदि ते विहितं राज्यं भविष्यति विशांपते ॥२३॥
मिषतः सर्वलोकस्य स्थास्यते त्वयि तद् ध्रुवम् ।

अविज्ञ बाल वृद्ध, सहाय वा विना सहाय, सब प्रकारके लोग सब ठोर में सब वस्तु पाजाते है। (१३—१६)

सुना है, कि पहिले राजगृह नामक राजधानीमे मगधदेशी राजाओंके अधीश अम्बुवीच नामक एक पृथ्वीनाथ थे। राजकार्यमें उनकी कुछभी दृष्टि नही थी, वह इतनाही काम करते थे, कि श्वास खैंचते और छोडते थे; इससे उनका सम्पूर्ण राजकार्य मन्त्रियोंके हाथमे गया। महाकर्णिक नामक उनका मन्त्री पूरा अधिकार पाकर वा अपनेको बलयुक्त जानकर राजाका अनादर करने लगा। उस मूर्ख मन्त्रीने राजाके भोगनेकी स्त्री, रत्न और धन सब ऐश्वर्य आप ले लिया। आगे यह सब लेकर उस लोभीका लोभ बढा; वह राजाका सब कुछ लेकरके भी चुप नही हुआ, राज्य तक हरना चाहा, पर हमने सुना है, कि वह मन्त्री अपनी पूरी सामर्थसे चेष्टा करने परभी उस कार्यरहित श्वास मात्र लेते हुए राजा का राज्य नही हर सका। (१७-२२)

भाग्यके विना कौनसा पुरुषार्थ था, कि जिससे राज्यकी रक्षा हुई ? हे महा-राज ! यदि विधिने यह राज्य आपके लिये निश्चय कर दिया हो, तो आपके सब लोगोंके परास्त होने पर भी यह आपहीके हाथमे बना रहेगा। यदि भाग्य

मम पैत्रिकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः॥ ५ ॥
यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेया यशस्विनः।
कुत एव तवापीदं भारतस्यापि कस्यचित्॥ ६ ॥
अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान्भरतर्षभ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः॥ ७ ॥
मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम्।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च॥ ८ ॥
अतोऽन्यथा चेत्क्रियते न हितं नो भविष्यति।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः॥ ९ ॥
कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम्।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम्॥ १० ॥
यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति॥ ११ ॥
तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम्।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु॥ १२ ॥

पाण्डव भी अपना पैतृक राज्य जानते हैं। यदि वे यशोवन्त पाण्डव राज्यके अधिकारी न हों, तो तुम अथवा कोई दूसरा भरतवंशी क्योंकर राज्यका अधिकारी हो सकता है? हे भरतश्रेष्ठ! यदि तुमने ऐसा समझा है, कि "मैं धर्मानुसार राज्यका अधिकारी बना हूं" तो पहिले धर्मानुसार उन्हींका अधिकार हुआ है, सो मेरा मत यह है, कि प्रसन्नतासे उनको आधा राज्य दो। हे पुरुषव्याघ्र! ऐसा करनेसे सबोंका मङ्गल होगा! यदि इसकी विरुद्धता करो, तो इससे किसीका मङ्गल नहीं होगा, और इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारी बड़ी निन्दा फैलेगी। (५—९)

हे गान्धारी नन्दन! तुम कीर्तिकी रक्षा करनेका प्रयत्न करो। इस भूमण्डलमें कीर्तिही परम बल है, और कीर्ति न रखने वालेका जीवनही व्यर्थ है। हे कौरव! जबतक किसीकी कीर्ति नहीं बिगड़ती, उसके परलोकमें सिधारने परभी तबतक वह जीवित रहता है; और कीर्ति नष्ट होने पर जीवन रहनेसे भी वह मरा कहा जाता है। हे महाकुल! तुम कुलके योग्य धर्ममें चित्त लगाओ, और अपने पूर्व पुरुषोंकी भांति काम करो। हमारे सौभाग्यसेही पाण्डव और कुन्ती जीवित हैं। यह हमारेही

दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्था हि दिष्ट्या जीवति सा पृथा।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः॥ १३॥
यदा प्रभृति दग्धास्ते कुन्तिभोजसुतासुता।
तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम्॥ १४।
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम् १५॥
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत्पुरोचनम्।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति॥ १६॥
तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम्।
समन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम्॥ १७॥
न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् १८॥
ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः॥ १९॥
यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम्॥ २०॥ [७६५१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां० विदुरागमनपर्वणि भीष्मवाक्ये पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०५॥

सौभाग्य है, कि पापात्मा पुरोचनका मनोरथ सफल नहीं हुआ और वह यमराजके घरको जा पहुंचा है। हे गान्धारी-कुमार! मैंने जब सुना, कि कुन्तीभोज की पुत्रीके पुत्र जल मरे हैं, तबसे मैं इस धरती पर किसीसे भले प्रकार भेंट नहीं कर सकता हूं। (९—१५)

हे पुरुषव्याघ्र! लोग कुन्तीको उस दशामें गिरी सुनके जिस प्रकार तुमको दोषी जानते हैं पुरोचनको वैसा दोषी नहीं समझते। हे महाराज! पाण्डवोंका जीना और उनको फिर देखना तुमको केवल अपना कलंक नष्ट होनेका हेतु करके जानना चाहिये। हे कुरुनन्दन! उन सब वीरोंके जीवित रहनेसे स्वयं महेन्द्रभी उनके पैतृक राज्यको लेनेकी सामर्थ नहीं रखते; विशेष पाण्डव सब एकमत और धर्म पथके चलने-वाले होने परभी तुल्य अधिकारके राज्यसे अधर्म पूर्वक हटाये जाते हैं, अतएव यदि तुमको धर्मरक्षा करनी उचित हो यदि तुमको मेरा प्रिय-कार्य करना हो और यदि तुम अपनी भलाई चाहो, तो पाण्डवोंको आधा राज्य दो। (१६-२०)

आदिपर्व मे दो सौ पांच अध्याय समाप्त। (७६५१)

द्रोण उवाच— मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्र हितैर्नृप ।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ॥ १ ॥
ममाऽप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः॥ २ ॥
प्रेष्यतां द्रुपदायाऽऽशु नरः कश्चित्प्रियंवदः।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥ ३ ॥
मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात्त्वत्संयोगोद्भवां तथा ॥ ४ ॥
संप्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद्राजन्दुर्योधनं तथा ।
असकृद् द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत ॥ ५ ॥
उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत्।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान्माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन्॥ ६ ॥
हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च ।
वचनात्तव राजेन्द्र द्रौपद्याः संप्रगच्छतु ॥ ७ ॥
तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च॥ ८ ॥

आदिपर्वमें दोसौ छठा अध्याय ।

द्रोण बोले, कि हे महाराज धृतराष्ट्र! हमने सुना है, मंत्रियोंके युक्तिके लिये आ पहुंचने पर धर्म अर्थ और यश देनेवाला वचन कहनाही उनका कर्त्तव्य है। हे तात! महात्मा भीष्मसे मैं सहमत हूं। पाण्डवोंको अंश देना उचित है, ऐसा करनेहीसे सनातन धर्मकी रक्षा होगी। हे भारत! अब प्यारी बोली बोलनेवाले किसी पुरुषको आज्ञा करें, कि पाण्डवोंके लिये बहुत धन लेकर द्रुपदके यहां जाय। वह भेजा हुआ पुरुष वर और वधूके योग्य रत्न और अलङ्कार भी लेकर द्रुपद के सन्मुख जाकर कहे, कि हे महाराज! आपके साथ राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी पाहुनाई होनेसे वे बहुत कृतार्थ हुए और अपनेको श्रीमन्त समझते हैं। (१—५)

हे भारत! वह दूत राजा द्रुपद और धृष्टद्युम्नसे बार बार ऐसा कहे, कि आपके साथ विवाहसे जो पाहुनाई बना वह बहुत योग्य और दोनोंके मनभावन हुई है। हे महाराज! अनन्तर वह दूत पाण्डवोंको बार बार समझाने की बात करके द्रौपदीको शुद्ध सुवर्णके अनेक अलङ्कार देके राजा पाञ्चालके गृह पहुंचे.

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह ।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात्तेषामागमनं प्रति ॥ ९ ॥
अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम् ।
दुःशासनो विकर्णश्चाऽप्यानेतुं पाण्डवानिह ॥ १० ॥
ततस्ते पाण्डवाः श्रेष्ठाः पूज्यमानाः सदा त्वया ।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके ॥ ११ ॥
एतत्तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि ।
वृत्तमौपायिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥ १२ ॥
कर्ण उवाच— योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ॥ १३ ॥
दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनाऽन्तरात्मना ।
ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात्सतां मतम् ॥ १४ ॥
न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे चेतराय वा ।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥ १५ ॥
कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः ।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ॥ १६ ॥

पाण्डवों और कुन्तीके योग्य चीर गहने देवे। हे भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार द्रुपद और पाण्डवोंको समझा कर अन्तमें उनको लानेकी बात कहे। पाण्डवोंके दरुपदसे आनेकी आज्ञा पाने पर दुःशासन और विकर्ण अच्छी सेनादिके साथ उनको लिवा लानेको जावे। आगे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंके राजधानीमें आजाने पर आप उनकी सादर पूर्वक स्वागत करना। अनन्तर वे प्रजाओंके मनमें पैत्रिक पदपर आरुढ होवें। महाराज! मेरा और भीष्मका मत यह है, कि आपके पुत्ररूपी उन पाण्डवोंमें ऐसा व्यवहारही आपको करना चाहिये। (६—१२)

कर्ण बोले, कि भीष्म और द्रोण यह दोनो सब कार्योंके बिगाडनेवाले है, और आपहीके दिये धन और मानसे बढे है, इसमें और क्या आश्चर्य होगा, कि यह आपको आपके मङ्गलका परामर्श नहीं देते? महाराज! जो जीमें मित्रका द्रोह रखके शत्रुके हितकी बुद्धिसे युक्ति कहते है, वे क्योंकर मङ्गलका निश्चय कर सकते है? पर ऐसा नहीं है, कि विपद आ पडनेसे साधु वा असाधु मितही मङ्गल वा अमङ्गलके कारण बनते हैं, क्योंकि सुख और दुःखकी जड भाग्यही है, देखें, विज्ञ,

त्यक्षति विविधान्भोगान्राज्यमेव च केवलम्।
नात्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन॥१६॥
विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान्पाकशासनः॥ १७॥
विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशांपते।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ॥१८॥
ते बलेन वयं राजन्महता चतुरङ्गिणा।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामेह पाण्डवान्॥ १९॥
न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद्विक्रमेणैव ताञ्जहि॥२०॥
तान्विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुङ्क्ष्व मेदिनीम्।
अतो नाऽन्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप॥२१॥
वैशम्पायन उवाच– श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत्॥ २२॥
उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने।

अति वीर्यवन्त पुत्रोंके साथ लडाईका उद्योग न कर सके, उस कालमें पहिलेही विक्रम दिखाओ! और जबतक श्रीकृष्ण पाण्डवोंके राज्यके लिये यादवी सेना लेकर राजा पाञ्चालके भवनमें न आवे, तिससे पहिलेही विक्रम प्रगट करो॥ ११-१५

कृष्ण पाण्डवोंके उपकारके लिये भांति भांतिके भोग धन और राज्यको छोड सकते हैं। हे भूनाथ! महात्मा भरत विक्रमसे भूपोंके अधीश्वर बने थे और इन्द्रने पहले विक्रमहीके द्वारा तीनों लोक जीत लिये थे। हे राजेन्द्र! क्षत्रियोंको विक्रम दिखानाही प्रशंसनीय है। विक्रमही [illegible] चतुरङ्गिणी सेनासे विना विलम्ब राजा द्रुपदको मथन करके पाण्डवोंको यहां ले आवें। साम, दान वा भेद द्वारा पाण्डव नष्ट नहीं किये जा सकेंगे; सो विक्रमहीसे उनका भले प्रकार नाश करो; विक्रम दिखाके उनको हराकर इस सम्पूर्ण धरती पर राज्य करते रहो। हे जनाधिप! मैं इसके बिना कार्य पूरा करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं देखता। (१६—२१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि प्रतापी धृतराष्ट्र राधानन्दनकी बात सुनके उनकी प्रशंसा कर बोले, कि हे सूतपुत्र! तुम बडे बुद्धिमान और अस्त्रविद्यामें पण्डित

त्वयि विक्रमसंपन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥ २३ ॥
भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च ।
युवां न कुरुतं बुद्धिं भवेद्या नः सुखोदया ॥ २४ ॥
तत आनाय्य तान्सर्वान्मन्त्रिणः सुमहायशाः ।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥ २५ ॥ [७६३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि धृतराष्ट्रमन्त्रणे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४॥

भीष्म उवाच— न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथंचन ।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥ १ ॥
गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम ।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥ २ ॥
यथा च मम राज्ञश्च तथा दुर्योधनस्य ते ।
तथा कुरूणां सर्वेषामन्येषामपि पार्थिव ॥ ३ ॥
एवं गते विग्रहं तैर्न रोचे संधाय वीरैर्दीयतामर्धभूमिः ।
तेषामपीदं प्रपितामहानां राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ॥ ४ ॥
दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि ।

हो; सो ऐसा विक्रमयुक्त वचन बोलना तुम्हारे योग्यही हुआ है! पर भीष्म, द्रोण, विदुर और तुम दोनो फिर युक्ति करके यह निश्चय करो, कि जिससे हमारा मंगल होवे। महाराज! अतियशोवन्त धृतराष्ट्र भीष्मादि संपूर्ण मंत्रियोंको बुलवाकर युक्ति करने लगे।२२-२५

आदिपर्वमें दोसौ चौथा अध्याय समाप्त । [७६३१]

आदिपर्वमें दोसौ पांच अध्याय ।

भीष्मजी बोले, कि हे धृतराष्ट्र! पाण्डवोंके साथ युद्ध करना किसी प्रकार मेरा अभीष्ट नहीं है; क्योंकि मेरे लिये जैसे तुम, पाण्डुभी तैसेही थे; और गान्धारी के पुत्र जिस प्रकार स्नेहके पात्र है; कुंती के पुत्रभी तैसेही है। मुझको जिसप्रकार उनकी रक्षा करनी है, तुम्हारीभी वैसेही करनी है। हे पृथ्वीपाल! वे मेरे जैसे आत्मजन है, राजा दुर्योधन आदि सब कौरव भी वैसेही आत्मजन है, इसमें कोई शंका नहीं है। ऐसी दशामे क्योकर उनमे लडनेकी मेरी संमति हो सकती है? हे महाराज! उन वीरोंसे संधि करके उनको आधा राज्य दे दो; क्योंकि यह उन कुरुसत्तमोंकाभी राज्य है।(१-४)

बेटा दुर्योधन! तुम जिस प्रकार इसे अपना पैतृक राज्य समझ रहे हो, तैसेही

भरतस्याऽन्वये जाता ये वीटां नाऽधिगच्छत ॥१०॥
वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम् ।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा कुमारांस्तान्द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम् ।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिन्दमः ।
ततोऽब्रवीत्तदा द्रोणं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
युधिष्ठिर उवाच— कृपस्याऽनुमते ब्रह्मन्भिक्षामाप्नुहि शाश्वतीम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच प्रहस्य भरतानिदम् ॥१३॥
द्रोण उवाच— एषा मुष्टिरिषीकाणां मयाऽस्त्रेणाऽभिमन्त्रिताः ।
अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ॥ १४॥
भेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकां तथाऽन्यया।
तामन्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम ॥१५॥
वैशम्पायन उवाच- ततो यथोक्तं द्रोणेन तत्सर्वं कृतमञ्जसा ।
तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ १६ ॥
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ॥ १७॥
कुमारा ऊचुः— मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर ।

बलपर धिक्कार है, तुम्हारे अस्त्र शिक्षा परभी धिक्कार है! क्योंकि तुम भरतकुल में जन्म लेकरके भी इस गेंदको उठा नहीं सके; अब यदि तुम मुझे खानेको दो, तो मैं गेंद और मुंदरी दोनों तिनके से उठा सकता हूं. (७-११)

शत्रुनाशी द्रोणने कुमारोंसे यह कहकर उस जलसे खाली कूपमें अपनी मुंदरी डाल दी। तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उनसे बोले, कि ब्रह्मन्! कृपाचार्यकी आज्ञासे आप हमारे पास सदा रहनेकी भिक्षा लीजिये। ऐसा कहे जानेपर द्रोण हंसकर भरत कुमारोंसे बोले कि यह इसी भां इषीका अर्थात् सरकण्डेपर मैं अस्त्रका मन्त्र फूंक देता हूं, दूसरे अस्त्रमें जो वीर्य नहीं है, इसमें वही देखोगे। इस इषीकासे यह गेंद भेद कर दूसरी इषीकासे इस इषीकाको भेद करूंगा फिर और इषीकासे उस दूसरेको भी विद्ध करूंगा, इस प्रकार क्रमसे इषीकाके योग से उस गेंदको थाम लूंगा। (१२-१५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर द्रोणने जैसा कहा ठीक वैसाही कर दिखाया। लडकोंने अचरजके मारे आंखे फटाकर यह लीला देखी और यह मानकर, कि यह बडा आश्चर्य है, कहा कि

एवं स तत्र गूढात्मा कंचित्कालमुवास ह ।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ॥ ३ ॥
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन्मुदा ।
पपात कूपे सा वीटी तेषां वै क्रीडतां तदा ॥ ४ ॥
ततस्ते यत्नमातिष्ठन्वीटामुद्धर्तुमादृताः ।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥ ५ ॥
ततोऽन्योन्यमवैक्षन्त व्रीडयाऽवनताननाः ।
तस्या योगमविन्दन्तो भृशं चोत्कण्ठिताऽभवन् ६ ॥
तेऽपश्यन्ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम् ।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥ ७ ॥
ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः ।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥ ८ ॥
अथ द्रोणः कुमारांस्तान्दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा ।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ ९ ॥
अहो वो धिग्बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम् ।

द्रोणाचार्य कृपाचार्यके शिक्षा दे लेनेके पीछे, कुन्तीके पुत्रोंको अस्त्रकी शिक्षा देते थे, पर उनको कोई जान नहीं सका था । इस प्रकार भारद्वाज द्रोण कृपाचार्यके घरमें कुछ काल छिपकर बसे । (१—३)

अनन्तर एक समय युधिष्ठिर आदि वीर लड़के मिलकर हस्तिनापुरसे निकल कर " वीटा " अर्थात गेंदका खेल खेलते हुए प्रसन्न चित्तसे घूमने लगे । खेलने के बाद उनकी वह गेंद कूपमें गिर गयी। अनन्तर लड़कोंने ध्यान लगाकर उस गेंदके उठानेके लिये बड़ा प्रयत्न किया, पर किसी प्रकार मनोरथ सफल नहीं हो सका । इससे वे लज्जासे मुह नीचा कर एक दूसरेके मुखकी ओर ताकने लगे और उसके उठानेका उपाय न देखकर बड़े सोचमें पड़े । (३–६)

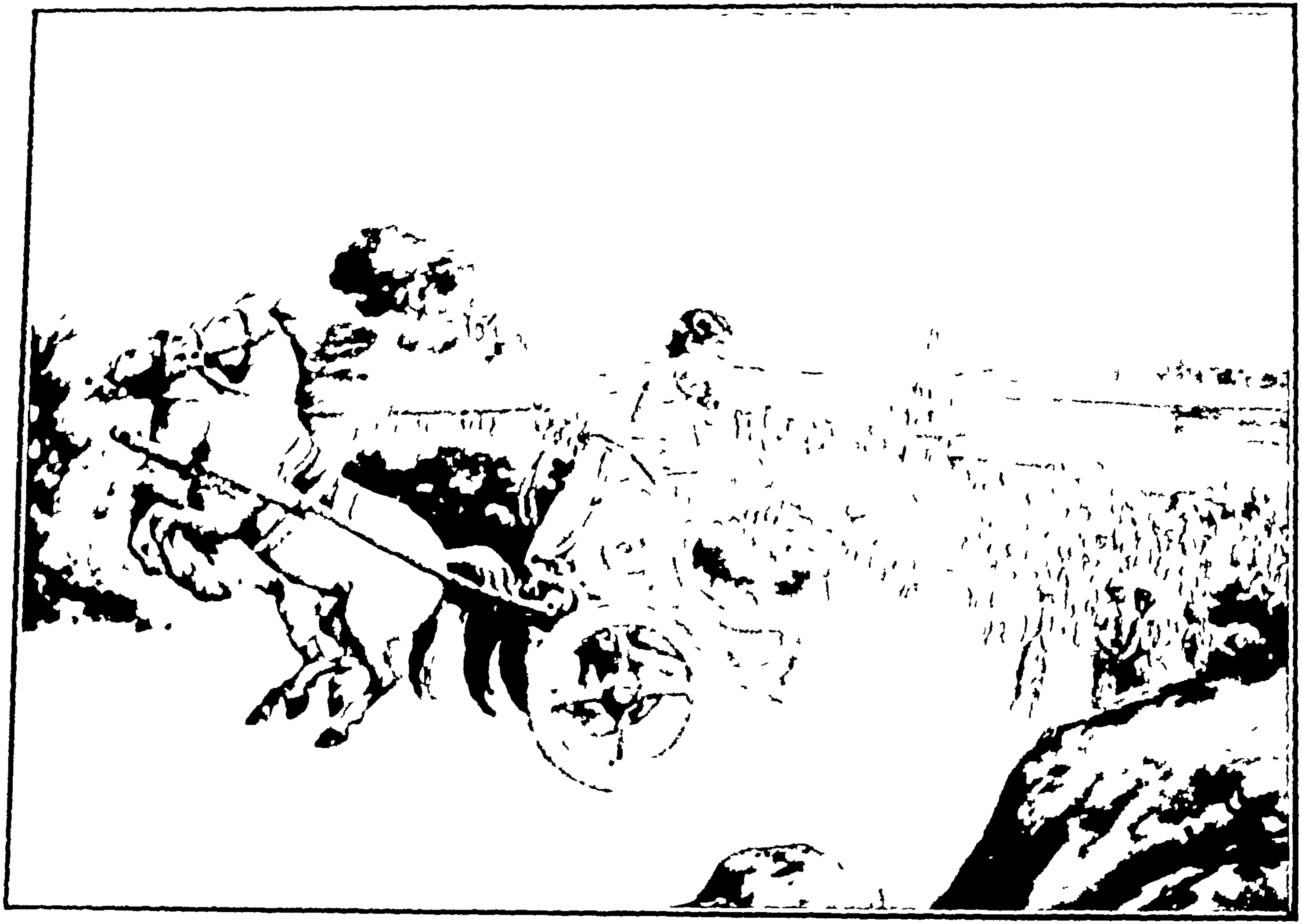
ऐसे समयमें उन्होंने देखा, कि श्याम वर्ण, दुबले, अग्निहोत्र से पुरस्कृत, आह्निक किये हुए, एक ब्राह्मण पासही खड़े है । तब उपस्थित कार्यमें विफल मनोरथ, कुतरां उत्साह खोये हुए, वे लड़के उन महात्मा ब्राह्मणको देखकरके ही उनके पास जाकर चारों ओर घेर कर खड़े हो गये । वीर्यवन्त द्रोण लड़कोंको विफल मनोरथ देखकर दयाके कारण कुछ हसकर बोले, कि हे! तुम्हारे क्षत्रिय

भरतस्याऽन्वये जाता ये वीटां नाऽधिगच्छत ॥१०॥
वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम् ।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा कुमारांस्तान्द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम् ।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिन्दमः ।
ततोऽब्रवीत्तदा द्रोणं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
युधिष्ठिर उवाच– कृपस्याऽनुमते ब्रह्मन्भिक्षामाप्नुहि शाश्वतीम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच प्रहस्य भरतानिदम् ॥ १३ ॥
द्रोण उवाच— एषा मुष्टिरिषीकाणां मयाऽस्त्रेणाऽभिमन्त्रिता: ।
अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ॥ १४॥
भेत्स्यामीषिकया वीटां तामिषीकां तथाऽन्यया।
तामन्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो यथोक्तं द्रोणेन तत्सर्वं कृतमञ्जसा ।
तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ १६ ॥
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ॥ १७ ॥
कुमारा ऊचुः— मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर ।

बलपर धिक्कार है, तुम्हारे अस्त्र शिक्षा परभी धिक्कार है! क्योंकि तुम भरतकुल में जन्म लेकरके भी इस गेंदको उठा नहीं सके; अब यदि तुम मुझे खानेको दो, तो मैं गेंद और मुंदरी दोनो तिनके से उठा सकता हूं, (७–११)

शत्रुनाशी द्रोणने कुमारोंसे यह कहकर उस जलसे खाली कूपमे अपनी मुंदरी डाल दी। तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उनसे बोले, कि ब्रह्मन्! कृपाचार्यकी आज्ञासे आप हमारे पास सदा रहनेकी भिक्षा लीजिये। ऐसा कहे जाकर द्रोण हंसकर भरत-कुमारोंसे बोले, कि यह मुट्ठी भर इषीका अर्थात् सरकण्डेपर मैं अस्त्रका मन्त्र फूंक देता हूं, दूसरे अस्त्रमें जो वीर्य नहीं है, इसमे वही देखोगे। इस इषीकासे वह गेंद भेद कर दूसरी इषीका से इस इषीकाको भेद करूंगा फिर और इषीकासे उस दूसरेको भी विद्ध करूंगा, इस प्रकार क्रमसे इषीकाके योग से उस गेंदको थाम लूंगा। (१२–१५)

श्रीवैशंपायनजी बोले, कि अनन्तर द्रोणने जैसा कहा, ठीक वैसाही कर दिखाया। लडकोंने अचरजके मारे आंखे चढाकर वह लीला देखी और यह मानकर, कि यह बहुत आश्चर्य है, कहा कि



सुभद्राहरण। महाभारत आदि. अ. २२२।९

ज्वलिताग्निप्रकाशेन द्विषतां हर्षघातिना ॥ ४ ॥
सन्नद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥
सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्यैव हि रैवतम् ।
दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च॥६ ॥
प्रदक्षिणं गिरेः कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति ।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्याऽऽरोपयद्रथम्॥ ७ ॥
सुभद्रां चारुसर्वाङ्गीं कामबाणप्रपीडितः ॥ ८ ॥
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम्।
रथेन काञ्चनाङ्गेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥ ९ ॥
ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः ।
विक्रोशन्तोऽद्रवन्सर्वे द्वारकामभितः पुरीम्॥१०॥
ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।
सभापालस्य तत्सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥ ११ ॥
तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सांनाहिकीं ततः।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ १२ ॥
क्षुब्धास्तेनाऽथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा।

कल्पित, सर्वशास्त्रोंके अनुसार बने, प्रज्व-लित अग्नि समान चमकीले सुनाले, बादल सदृश गम्भीर शब्द करने वाले और विपक्षीके हर्षनाशी रथ पर चढ आखेटके मिषसे चलने लगे । सुभद्रा शैलराज रैवतकको पूजकर परिक्रमा दे

पुरुषव्याघ्र अर्जुन इस प्रकारसे सुन्द-री सुभद्राको लेके सुवर्णरथ पर अपने नगरकी ओर जाने लगे । सैनिक लोग सुभद्राको अर्जुनसे पकडे जाते देखकर चिल्लाते हुए द्वारका नगरकी ओर दौडे। उन सबोंने सब प्रकारसे देवसभासमान

अन्नपानमपास्याऽथ समापेतुः समन्ततः ॥ १३ ॥
तत्र जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च।
मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ॥ १४ ॥
भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः॥१५॥
तेषां समुपविष्टानां देवानामिव संनये ।
आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः१६॥
तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥ १७ ॥
योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च ।
धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥ १८ ॥
सूतानुचुक्रुशुः केचिद्रथान्योजयतेति च ।
स्वयं च तुरगान्केचिद्युञ्जन्हेमभूषितान् ॥ १९ ॥
रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च ।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत्तुमुलं महत् ॥ २० ॥
वनमाली ततः क्षीवः कैलासशिखरोपमः ।

भोज वृष्णि और अन्धक लोग उस भेरीके शब्दसे उदास हो, अन्नपान तज करके चारों ओरसे बटुरने लगे। तेज अग्नि जिसप्रकार अपना आधार इन्धन पकड लेता है, वैसेही महारथी पुरुषव्याघ्र वृष्णि आर अन्धक लोग परम सुन्दर चादरोंसे आच्छादित मणियोंसे खचित अग्निके उजाले समान चमकीले सैकडों सुनीले सिंहासनों पर जा बैठे। देवोंके समागमकी भांति उनके बटुरने पर सभापाल ने उनसे अर्जुनका किया कार्य कह सुनाया। अहङ्कारसे नेत्र लाल किये गर्वित वे वीरगण उस वृत्तान्तको सुनतेही सिंहासनोंसे उठ खडे हुए।(१३--१७)

उनमेंसे किसी किसीने कहा, कि तुरन्त रणकी तय्यारी करो; किसी किसीने कहा, कि प्रास लाओ; किसी किसीने कहा मूल्यवान् शरासन और बडे बडे कवच लाओ; किसी किसीने चिल्लाकर सारथीको पुकारके कहा, कि तुरन्त रथ जोतो; कोई कोई शीघ्रताके लिये सुवर्ण जडे घोडे लेकर रथ जोतने लगे। तब रथ कवच ध्वजा आदि लानेके लिये वीरोंका कोलाहल उठने लगा। (१८-२०)

अनन्तर गलेसे वनमाला डाले कैलासपर्वत समान नीलाम्बर पहिरे मदसे



नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥
किमिदं कुरुथाऽप्रज्ञास्तूष्णींभूते जनार्दने ।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥ २२ ॥
एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः ।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत्कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २३ ॥
ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा ह्याढ्यरूपं हलायुधात् ।
तूष्णींभूतास्ततः सर्वे साधु साध्विति चाऽब्रुवन् ॥ २४
समं वचो निशम्यैव बलदेवस्य धीमतः ।
पुनरेव सभामध्ये सर्वे ते समुपाविशन् ॥ २५ ॥
ततोऽब्रवीद्वासुदेवं वचो रामः परंतपः ।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ॥ २६ ॥
सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत ।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥ २७ ॥
को हि तत्रैव भुक्त्वाऽन्नं भाजनं भेत्तुमर्हति ।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥ २८ ॥
इच्छन्नेव हि सम्बन्धं कृतं पूर्वं च मानयन् ।
को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ॥ २९ ॥

उसके मदोन्मत्त बलदेवजी बोले, कि जनार्दनके कुछ न करतेही तुम यह क्या कर रहे हो ? इनका अभिप्राय न जान करकेही तुम क्रोधके मारे गर्जन कर रहे हो । यह महामति कृष्ण पहिले अपना मत प्रगट करें, आगे वह जानके तुम वेगसे वही पूरा करना । (२१—२३)

अनन्तर सब उन धीमान हलधरकी सुनने योग्य यह बात सुनके उनको साधु साधु कहकर चुप हो, फिर सभामें बैठ गये तब शत्रुमर्दन रामने वासुदेवसे कहा, कि जनार्दन! तुम क्यों कुछ नहीं कहते ? क्यों उदासीन समान बैठ ताक रहे हो ? अच्युत! हम सबने पृथापुत्रका भले प्रकार सत्कार किया था । वह दुर्बुद्धि कुलाङ्गार तैसे सत्कारके योग्य नहीं है; जो सुदर्शी करके अपना परिचय देता है वह कभी अन्न खाकर उसके बासनको तोड नहीं सकता है । २४-२८

यद्यपि ऐसा वैवाहिक सम्बन्ध बनानेको मन चाहता है, तोभी कोई ऐश्वर्य चाहनेवाला पहिलेका उपकार स्मरण

सोऽवमन्य तथाऽस्माकमनादृत्य च केशवम्।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥ ३० ॥
कथं हि शिरसो मध्ये कृतं तेन पदं मम ।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः॥ ३१ ॥
अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुन्धराम्।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः॥ ३२ ॥
तं तथा गर्जमानं तु मेघदुन्दुभिनिःस्वनम्।
अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि बलदेवक्रोधे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥ समाप्तं च सुभद्राहरणपर्व।

अथ हरणाहरणपर्व।

वैशम्पायन उवाच–उक्तवन्तो यथावीर्यमसकृत्सर्ववृष्णयः ।
ततोऽब्रवीद्वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंयुतम् ॥ १ ॥
नाऽवमानं कुलस्याऽस्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान्।
संमानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः॥ २ ॥
अर्थलुब्धान्न वः पार्थो मन्यते सात्वतान्सदा।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चाऽपि पाण्डवः ॥ ३ ॥

कर ऐसे साहसके काममें हाथ नहीं डालते है! उस पाण्डवने हमारा अनादर कर और तुमको तुच्छ समझके अपनी मृत्युस्वरूप सुभद्राको हर लिया है। गोविंद! उसने मेरे शिर पर लात मारी है; सो सर्प जिस प्रकार दूसरेके पांवको सह नहीं सकता, तैसेही मै भी कभी यह न सह सकूंगा! भोज, वृष्णि और अन्धक सबोंने बादल और नगाडेकी भांति उन गरजते हुए बलदेवकी बातको मान लिया। (२९–३३) [८१७२]

दोसौ बाईस अध्याय और सुभद्राहरणपर्व समाप्त।

दोसौ तेईस अध्याय और हरणाहरणपर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर वृष्णियोंके निज निज वीर्यके अनुसार बार बार इस प्रकार कहने पर, वासुदेव धर्मार्थयुक्त यह वचन कहने लगे, कि अर्जुन ने जो कार्य किया है, उससे हमारे कुलका अपमान नहीं हुआ; वास्तवमें इसका सन्देह नहीं कि उन्होंने हमारा सम्मान बहुत बढाया है। वह जानते है, कि हम धनके लोभी नहीं है, इस लिये उन्होंने धन देकर विवाहकी चेष्टा नहीं की है। और स्वयंवरमें शङ्का है, सो उन्होंने उस

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्को नु मन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात्पुरुषो भुवि ॥ ४ ॥
एतान्दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान्कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥ ५ ॥
उचितश्चैव संबन्धः सुभद्रा च यशस्विनी ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ॥ ६ ॥
भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः ।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम् ॥ ७ ॥
न तं पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात् ।
वर्जयित्वा विरूपाक्षं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ८ ॥
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष ।
न च नाम रथस्तादृङ् मदीयास्ते च वाजिनः ॥ ९ ॥
योद्धा पार्थश्च शीघ्रास्त्रः को नु तेन समो भवेत् ।
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनंजयम् ॥ १० ॥
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः ।
यदि निर्जित्य वः पार्थो बलाद्गच्छेत्स्वकं पुरम् ॥ ११ ॥

का भी प्रयत्न नहीं किया। पशुकी भांति कन्यादान किसी क्षत्रियका प्यारा नहीं है, और कन्या बेचनाभी किसी मनुष्य की सम्मतियुक्त नहीं। मुझको जान पड़ता है, कि इन सब दोषोंको

है, जो मित्र बनाना न चाहता होगा? विशेष इस त्रिलोकी भरमें भगनेत्रहर विरूपाक्ष महादेवके बिना कोईभी ऐसा नहीं दीखता जो बलपूर्वक अर्जुनको पराजित कर सके।

प्रणष्टश्चेद्धि यशः सद्यो न तु सान्त्वे पराजयः ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ॥ १२ ॥
निवृत्तश्चाऽर्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान्प्रभुः ।
उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ॥ १३ ॥
विहृत्य च यथाकामं पूजितो वृष्णिनन्दनैः ।
पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान्प्रभुः ॥ १४ ॥
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः ।
अभिगम्य च राजानं नियमेन समाहितः ॥ १५ ॥
अभ्यर्च्य ब्राह्मणान्पार्थो द्रौपदीमभिजग्मिवान् ।
तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात्कुरुनन्दनम् ॥ १६ ॥
तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा ।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ॥ १७ ॥
तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं धनंजयः ।
सान्त्वयामास भूयश्च क्षमयामास चाऽसकृत् ॥ १८ ॥
सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम् ।

सबोंको परास्त कर अपनी राजधानीमे जाय, तो आज ही तुम्हारा यश लोप हो जायगा, तो दाडम देनेमे तुम्हारी पराजय नहीं होगी। (६—१२)

हे जनाधिप ! यादवोंने वासुदेवकी वह बात सुन कर उसके अनुसार कार्य किया। प्रभावी अर्जुनने वृष्णियोंसे आदर पाय द्वारकापुरीमें लौटकर सुभद्रासे विवाह कर नाना प्रकार मनमाने विहार कर वर्ष भर काल गंवाया। अनन्तर पुष्करतीर्थमें जाय शेष काल काटने लगे। बारह वर्ष होजाने पर खाण्डवप्रस्थमे लौट राजा युधिष्ठिरके निकट जा पहुंचे। आगे वह विनयपूर्वक राजा युधिष्ठिर और ब्राह्मणोको पूजकर द्रौपदीके निकट गये। द्रौपदी प्रेमकी दृष्टिके साथ उनसे बोली, कि हे कुन्तीपुत्र ! फिर यहां क्यो ? जहां सात्वतपुत्री है, वहीं जाओ; रस्सीसे बंधी वस्तुके ढेर पर एक और भी कठिन बंधन डालनेसे पहिलेका बन्धन अवश्यही ढीला हो जाता है, अब तुम नये प्रेमके जालमे बहुत फंसे हो, सो पहिलेका बंधा मेरे प्रेमजालका बन्धन ढीला होगया है। धनंजय द्रौपदीको इस प्रकार नाना रीतिसे विलपते देखकर बार बार समझाने लगे और बार बार क्षमा मांगी। १२-१८

अनन्तर उन्होंने लाल पीताम्बर पहिरे हुए सुभद्राके यहां जाय वेगसे उसका

पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः॥१९॥
साऽधिकं तेन रूपेण शोभमाना यशस्विनी।
भवनश्रेष्ठमासाद्य वीरपत्नी वराङ्गना ॥२०॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षी पृथां भद्रा यशस्विनी।
तां कुन्ती चारुसर्वाङ्गीमुपाजिघ्रत मूर्धनि ॥२१॥
प्रीत्या परमया युक्ता आशीर्भिर्युञ्जताऽतुलम्।
ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ॥२२॥
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याऽहमिति चाऽब्रवीत्।
प्रत्युत्थाय तदा कृष्णा स्वसारं माधवस्य च॥२३॥
परिष्वज्याऽवदत्प्रीत्या निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः।
तथैव मुदिता भद्रा तामुवाचैवमस्त्विति ॥२४॥
ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः।
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय ॥२५॥
श्रुत्वा तु पुण्डरीकाक्षः संप्राप्तं स्वं पुरोत्तमम्।
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा ॥२६॥
आजगाम विशुद्धात्मा सह रामेण केशवः।
वृष्ण्यन्धकमहामात्रैः सह वीरैर्महारथैः ॥२७॥

गोपीवेष बनाके उसको अन्तःपुरमें भेजवाया। वीरपत्नी यशस्विनी ताम्र रङ्गकी बड़ी बड़ी आंखवाली उस बालाने उस वेषमें औरभी सुहाकर परम सुन्दर भवनमें पहुंचके पहिले कल्याणी कुन्तीके निकट जाय उनके पांवको प्रणाम किया। कुन्तीने

उठकर माधवकी बहिनको लगे लगा प्रीति पूर्वक बोली कि तुम्हारे पतिका कोई सपत्न न रहे। सुभद्राने तब प्रमुदित चित्तसे 'तथास्तु' यह बात कही। (१९–२४)

हे जनमेजय! अनन्तर महारथी पाण्डवगण और कुन्ती परम प्रीति पूर्वक

भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च बहुभिर्वृतः ।
सैन्येन महता शौरिरभिगुप्तः परंतपः ॥ २८ ॥
तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महायशाः ।
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिन्दमः ॥ २९ ॥
अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः ।
साक्षाद् बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महामनाः॥३०॥
सत्यकः सात्यकिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
प्रद्युम्नश्चैव साम्बश्च निशठः शङ्कुरेव च ॥ ३१ ॥
चारुदेष्णश्च विक्रान्तो झिल्ली विपृथुरेव च ।
सारणश्च महाबाहुर्गदश्च विदुषां वरः ॥ ३२ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो वृष्णिभोजान्धकास्तथा ।
आजग्मुः खाण्डवप्रस्थमादाय हरणं बहु ॥ ३३ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा श्रुत्वा माधवमागतम् ।
प्रतिग्रहार्थं कृष्णस्य यमौ प्रास्थापयत्तदा ॥ ३४ ॥
ताभ्यां प्रतिगृहीतं तु वृष्णिचक्रं महार्द्धिमत् ।
विवेश खाण्डवप्रस्थं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ३५ ॥

पुत्रोंसे घेरे जाय और श्रेष्ठ वृष्णि तथा अन्धकोंसे मिलकर बलभद्रके साथ खाण्डवप्रस्थमें आ पहुंचे। (२५–२८)

और धीमान अति कीर्तिवन्त दाता अक्रूर वृष्णि सेनापति अतितेजस्वी शत्रुनाशी अनाधृष्टि, बडे यशोवन्त उद्धव, साक्षात् बृहस्पतिके चेले अति बुद्धिमान महानुभव सत्यक, सात्यकि, सात्वत, कृतवर्मा, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, शङ्कु, चारुदेष्ण, विक्रमी झिल्ली, विपृथु, सारण और महाभुज पण्डित गद, यह सब और बहुतेरे दूसरे वृष्णि, भोज और अन्धक अनेक यौतुक लेकर उस स्थानमें आये। (२९–३३)

राजा युधिष्ठिरने यह सुनकर, कि माधवका शुभागमन हुआ, उनको आदर पूर्वक लिवालानेके लिये नकुल और सहदेवको भेजा। बडे भारी वृष्णिदलने उन दो पुरुषोंसे आदर पूर्वक लिवाये जाय खाण्डवप्रस्थ पुरीमें प्रवेश किया। तब हृष्ट पुष्ट जनोंसे भरे, वणिकोंसे सुहावने उस नगरकी ठौर ठौरमें फूलोंकी माला लटकती, जलती हुई सुगन्धी अगुरुकी गन्ध उडती तथा पवित्र गन्धवाले चन्दनका रस छिडका था और वहांके सब राजपथ साफ थे और ध्वजा पताका-

संमृष्टसिक्तपन्थानं पुष्पप्रकरशोभितम् ।
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ॥ ३६ ॥
दह्यताऽगुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम् ॥ ३७ ॥
प्रतिपेदे महाबाहुः सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकैस्तथा भोजैः समेतः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥
संपूज्यमानः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
विवेश भवनं राज्ञः पुरन्दरगृहोपमम् ॥ ३९ ॥
युधिष्ठिरस्तु रामेण समागच्छद्यथाविधि ।
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ ४० ॥
तं प्रीयमाणो गोविन्दो विनयेनाभिपूजयन् ।
भीमं च पुरुषव्याघ्रं विधिवत्प्रत्यपूजयत् ॥ ४१ ॥
तांश्च वृष्ण्यन्धकश्रेष्ठान्कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रतिजग्राह सत्कारैर्यथाविधि यथागतम् ॥ ४२ ॥
गुरुवत्पूजयामास कांश्चित्कांश्चिद्वयस्यवत् ।
कांश्चिदभ्यवदत्प्रेम्णा कैश्चिदप्यभिवादितः ॥ ४३ ॥
तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम् ।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥ ४४ ॥

और सुहाते थे। वृष्णि, अन्धक और भोजोंसे घेरे पुरुषोत्तम महाभुज केशव रामके साथ उस नगरमें आकर सहस्रों ब्राह्मण और पुरवासियोंसे आदर पूर्वक ग्रहण किये गये, अनन्तर इन्द्रपुरके समान राजभवनमें प्रवेश किया ३६-३९

तब युधिष्ठिरने विधि पूर्वक बल-देवजीको स्वागत कर श्रीकृष्णजीका शिर सूंघके हाथोंसे गले लगाया। कृष्णने प्रसन्न मनसे विनयपूर्वक उनकी पूजा कर, पुरुषश्रेष्ठ भीमको विधिपूर्वक नमस्कार किया। युधिष्ठिरने उन सब वृष्णि और अन्धकोंको यथा नियम आदरसे ग्रहण किया। उन्होंने किसी किसीको गुरुकी भांति प्रणाम किया, किसी किसीसे समवयस्कवालोंके सदृश व्यवहार किया और किसी किसीको प्रेमालापसे सम्मानित किया, और किसीने उनको प्रणाम किया। ४०-४३

अति यशस्वी श्रीमान् जनार्दन कृष्णने विवाहकी रीतिके अनुसार [illegible] [illegible] लोगोंको [illegible] धन

रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥ ६२ ॥
वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत ।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महात्मना ॥ ६३ ॥
व्यचरद्यमुनातीरे मृगयां स महायशाः ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना ॥ ६४ ॥
ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ॥ ६५ ॥
दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥ ६६ ॥
अभिश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् ।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥ ६७ ॥
स सात्वत्यामतिरथः संबभूव धनंजयात् ।
मखे निर्मथनेनेव शमीगर्भाद्धुताशनः ॥ ६८ ॥
यस्मिञ्जाते महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत ॥ ६९ ॥

उस नगरमें बहुत दिनोंतक आनन्द उडाते रहे। अन्तमें कौरवोंसे पूजे जाय उनके दिये अमल रत्नोंको ले रामको आगे करके द्वारका पुरीमें गये। हे भारत! बडे यशोवन्त महानुभव वासुदेव अर्जुनके साथ उस सुन्दर इन्द्रप्रस्थ नगरहीमें रहे और उनके साथ यमुना तटपर मृग शूकर विद्ध करते हुए आखेटका आनन्द लेने लगे। (५८—६४)

अनन्तर शचीने जिस प्रकार प्रख्यात जयन्तको प्रसव किया था, तैसेही कृष्णकी प्यारी बहिन कल्याणी सुभद्राने दीर्घ बाहु चौडी छातीवाले बैल समान नेत्रवान, नरोंमे श्रेष्ठ, शत्रुमर्दन वीर अभिमन्युको प्रसव किया। वह शत्रुनाशी पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन कुमार अभी अर्थात् निर्भयचित्त मन्युयुक्त हुए थे, सो सब लोग उनको अभिमन्यु कहते थे। यज्ञस्थल में मथनद्वारा जिस प्रकार शमीगर्भमे अग्नि उपजता है, वैसेही सात्वतीके गर्भसे धनञ्जयसे उस महारथी अभिमन्युने जन्म लिया था। हे भारत! उस कुमारके जन्म होतेही बडे तेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको दश सहस्र गौ और दश सहस्र निष्क दान दिया। चन्द्रमा जिस प्रकार सब प्रजाओंका प्यारा

दयितो वासुदेवस्य बाल्यात्प्रभृति चाऽभवत्।
पितॄणां चैव सर्वेषां प्रजानामिव चन्द्रमाः ॥ ७० ॥
जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः।
स चाऽपि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी॥ ७१ ॥
चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिंदमः ।
अर्जुनाद्वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥ ७२ ॥
विज्ञानेष्वपि चाऽस्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत्॥ ७३ ॥
आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवाऽऽत्मना।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनंजयः ॥ ७४ ॥
सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ॥ ७५ ॥
सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ७६ ॥
कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ॥ ७७ ॥

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा।
लेभे पञ्च सुतान्वीराञ्श्रेष्ठान्पञ्चाचलानिव ॥ ७८ ॥
युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम्॥ ७९ ॥
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान्पञ्च महारथान् ।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ॥ ८० ॥
शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम् ।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ॥ ८१ ॥
सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम् ।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ॥ ८२ ॥
श्रुतं कर्म महत्कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना ।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ॥ ८३ ॥
शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः ।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ॥ ८४ ॥
ततस्त्वजीजनत्कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते ।
सहदेवात्सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति तं विदुः ॥ ८५ ॥

शुभलक्षणा पाञ्चालीनेभी पांच पतियोंसे पांच पर्वत समान बडे वीर पांच पुत्र प्राप्त किये । अदितिने जिस प्रकार देवोंको प्रसव किया था, वैसेही पाञ्चालीने युधिष्ठिरसे प्रतिविंध्य, वृकोदरसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकर्मा, नकुलसे शतानीक, सहदेवसे श्रुतसेन ये पांच महारथी वीरपुत्र प्रसव किये । ब्राह्मणोंने शास्त्रोंके अनुसार यह जानकर, कि युधिष्ठिरका पुत्र प्रतिविन्ध्य पर्वतकी भांति शत्रुको मारने योग्य होगा, उसका नाम प्रतिविन्ध्य रखा । सहस्र सोमयज्ञ करनेके पीछे भीमसेनसे सोमके उजाले समान तेजस्वी बडे चापधारी सुतके उपजनेसे उसका नाम सुतसोम हुआ । किरीटीके अनेक श्रुतकर्म कर लौटने पर उनका वह पुत्र उपजा था, सो उसका नाम श्रुतकर्मा हुआ ! कुरुवंशकी कीर्ति बढानेवाले शतानीक नाम एक राजर्षि थे, नकुलने उस राजाके नामके अनुसार अपने पुत्रका नाम शतानीक रखा था और सहदेवसे द्रौपदीके जिस पुत्रने जन्म लिया था, वह कृत्तिका नक्षत्रमें हुआ था, सेनापति कार्तिकेय कृत्तिकाकी सन्तान थे, सो सहदेवके पुत्रका नाम श्रुतसेन हुआ । (७८—८५)

एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः ।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ॥ ८६ ॥
जातकर्माण्यानुपूर्व्याच्चूडोपनयनानि च ।
चकार विधिवद्धौम्यस्तेषां भरतसत्तम ॥ ८७ ॥
कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः ।
जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद्दिव्यमानुषम् ॥ ८८ ॥
दिव्यगर्भोपमैः पुत्रैर्व्यूढोरस्कैर्महारथैः ।
अन्विता राजशार्दूल पाण्डवा मुदमाप्नुवन् ॥ ८९ ॥ [८२९२]

इति श्रीमहाभारते श० स० हरणाहरणपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

समाप्तं च हरणाहरणपर्व ॥ अथ खाण्डवदाहपर्व ।

वैशम्पायन उवाच—इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान्नराधिपान् ।
शासनाद्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥ १ ॥
आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत्सुखम् ।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ॥ २ ॥
स समं धर्मकामार्थान्सिषेवे भरतर्षभ ।
त्रीनिवात्मसमान्बन्धून्नीतिमानिव मानयन् ॥ ३ ॥

तेषां समविभक्तानां क्षितो देहवतामिव ।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः ॥ ४ ॥
अध्येतारं परं वेदान्प्रयोक्तारं महाध्वरे ।
रक्षितारं शुभाँल्लोकाल्लेभिरे तं जनाधिपम् ॥ ५ ॥
अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः ।
वर्धमानोऽखिलो धर्मस्तेनाऽऽसीत्पृथिवीक्षिताम् ॥ ६ ॥
भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः ॥ ७ ॥
तं तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे ।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवाऽमराः ॥ ८ ॥
धर्मराजे ह्यतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवाऽमले ।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च ॥ ९ ॥
न तु केवलदैवेन प्रजाभावेन रेमिरे ।
यद्बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत् ॥ १० ॥
न ह्ययुक्तं न चाऽसत्यं नाऽसह्यं न च वाऽप्रियम् ।

दूसरेका बिगाड न उभडने पावे। धर्म अर्थ, काम, मानो यह देह धरके धरती पर उतर आये थे; राजा युधिष्ठिर मानो उनमें एक चौथे बन कर शोभा पाने लगे। प्रजाओंने उन राजाको अच्छे वेद-पाठी, बडे यज्ञकारी और सम्पूर्ण पुण्यवन्त प्राप्त किया था। (४—५)

उनके साम्राज्यके दिनोंमें राजाओंकी लक्ष्मी न टलती, चित्त परब्रह्मकी ओर झुका और धर्म बहुतही वृद्धि पर था। जिस प्रकार प्रयुज्यमान चतुर्वेदसे फैला हुआ बडा यज्ञ सुशोभित होता है, वैसेही धर्मराज युधिष्ठिर चार भाइयोंसे और भी अधिक सुहाने लगे। जिस प्रकार देवगण प्रजापतिजीको घेरकर उपासना किया करते है, वैसेही धौम्य आदि बृहस्पति सदृश प्रधान प्रधान ब्राह्मणगण उनको चारों ओर घेरकर उपासना करते थे। पूर्णचन्द्रमाके समान निर्मल धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर प्रजाओं-के नयन और मन दोनों एक ही रूप झुक पडे थे। यही नहीं, कि प्रजा उनको राजाही जान कर प्रेमी बनी थी, वरण वह ऐसेही कार्य मे दत्तचित्त होते थे, कि जिनमें प्रजाका सन्तोष मिले। (६—१०)

वह बुद्धिमान बडे पाण्डव मीठी बोली बोलते थे, उनका वचन कभी

भाषितं चाप्यभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ॥ ११ ॥
स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च ।
चिकीर्षन्सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम ॥ १२ ॥
तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः ।
अवसन्पृथिवीपालांस्तापयन्तः स्वतेजसा ॥ १३ ॥
ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत् ।
उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ॥ १४ ॥
सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन ।
सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन ॥ १५ ॥
वासुदेव उवाच- कुन्तीमातर्ममाऽप्येतद्रोचते यद्वयं जले ।
सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम् ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच- आमन्त्र्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत ।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ॥ १७ ॥
विहारदेशं सम्प्राप्य नानाद्रुममनुत्तमम् ।
गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरंदरपुरोपमम् ॥ १८ ॥
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः ।
माल्यैश्च विविधैर्गन्धैर्युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ॥ १९ ॥

कहा. युक्तिके विरुद्ध असत्य वा अप्रिय नहीं होता था । हे भरत श्रेष्ठ ! वह बडे तेजस्वी पुरुष अपने और दूसरे सब जनोंके हित साधनेमें सदा तुल्य भावसे रह कर परम सुखसे काल बिताने लगे । इधर भाइलोग भी अपने अपने तेज बलसे भूपालोंको तपा कर निश्चिन्त प्रमुदित चित्तसे बसने लगे । ११-१३

जट बांधके खूब विहार कर सन्ध्याको फिर लौटेंगे । श्रीकृष्णजी महाराज बोले, कि कुन्तीपुत्र ! मेरी भी इच्छा हो रही है, कि हम मित्रोंके संग सुख चैनसे यमुना किनारे विहार करें । १४-१६

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! अनन्तर अर्जुन और कृष्ण आपसमें ऐसी बातें कर धर्मराजकी आज्ञा ले

विवेशाऽन्तःपुरं तूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः ।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ॥ २० ॥
स्त्रियश्च विपुलश्रोण्यश्चारुपीनपयोधराः ।
मदस्खलितगामिन्यश्चिक्रीडुर्वामलोचनाः ॥ २१ ॥
वने काश्चिज्जले काश्चित्काश्चिद्वेश्मसु चाङ्गनाः ।
यथादेशं यथाप्रीति चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः ॥ २२ ॥
द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च ।
प्रायच्छतां महाराज स्त्रीणां ते स्म मदोत्कटे ॥ २३ ॥
काश्चित्प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथा पराः ।
जहसुश्च परा नार्यः पपुश्चान्या वरासवम् ॥ २४ ॥
रुरुधुश्चाऽपरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम् ।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ॥ २५ ॥
वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः ।
शब्देन पूर्यते ह स्म तद्वनं सुमहर्द्धिमत ॥ २६ ॥
तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ ।
समीपं जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोरमम ॥ २७ ॥

सुगन्धी मालाओंसे सुहावनी, अच्छी विहारकी ठौरमें जा पहुंचे और नाना प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित पुरमें बिना विलम्ब जा घुसे। साथी लोग सुखसे खेलने कूदने लगे! स्थूलकुचवाली सुन्दर नितम्बिनी, मतवाली चाल चलती युवती श्रीकृष्ण और अर्जुनकी आज्ञासे खेलमें प्रवृत्त हुई, कोई बनमें, कोई जलमें, कोई घरमें प्रीतिके साथ विहार करने लगी। (१९-२२)

महाराज! तब द्रौपदी और सुभद्रा मदसे मतवाली बन उन सब स्त्रियोंको वस्त्र और गहने देने लगी। कोई कोई नारी आनन्दित चित्तसे नाचने लगी। कोई कोई गाने लगी, कोई कोई रमणी हंसी ठट्ठेमें मग्न हुई, कोई कोई अच्छा आसव पीने लगी, कोई कोई एक दूसरेको मारने, पीटने तथा रोने लगी; और कोई कोई रहस्य युक्ति करने लगी, वास्तवमें जिस की जैसी इच्छा थी, वह उसीको करनेमें प्रवृत्त हुई। तब वह वन वंशी, वीणा, मृदङ्ग, आदिके मनभावन बाजेसे भर कर बहुत सुहावना बन गया। (२३-२६)

हे महाराज! इस प्रकारसे बडा भारी उत्सव उपस्थित हो जाने पर महात्मा शत्रुपुरक जयकारी धनञ्जय और श्रीकृष्ण

तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ सन्निषीदतुः ॥ २८ ॥
तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च ।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥ २९ ॥
तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव ।
अभ्यागच्छत्तदा विप्रो वासुदेवधनञ्जयौ ॥ ३० ॥
बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ।
हरिपिंगोज्ज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ॥ ३१ ॥
तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिंगस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३२ ॥
उपसृष्टं तु तं कृष्णौ भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥ ३३ ॥ [८२९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि ब्राह्मणरूपानलागमे चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

वैशम्पायन उवाच— सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥ १ ॥
ब्राह्मणो बहुभोक्ताऽस्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।

निकटकी एक सुन्दर ठौरमें जाय बडे नामी आसनों पर बैठे। वे उस स्थानमें अतीत विक्रमके सम्बन्धमें और दूसरी भांति भांतिकी कथा कहते सुनते हुए खेलने लगे। जिस प्रकार देवलोकमें दोनों अश्विनीकुमार एकत्र विराजते हैं; तैसेही वासुदेव और धनञ्जय प्रमुदित मनसे उस स्थानमें बैठे थे, कि ऐसे समयमें बडे सालके वृक्ष समान लम्बे, तपे सुवर्ण सदृश उजालावाले, हरे और पिङ्गल रङ्गकी चमकीली दाढीसे शोभित, लम्बाई और चौडाईमें उपयुक्त प्रमाण, सम्पन्न बालसूर्यकी भांति, पद्मपत्र मुख-युक्त, तेजसे प्रदीप्त पिङ्गल वर्ण, जटा-धारी, चीर पहिने हुए एक ब्राह्मण उनके पास आया। वे लोकोंमें न मिलने योग्य, तेजसे प्रकाशमान द्विजोत्तमको निकट देखतेही आसन छोड के खडे हुए। (२७—३३) [८२०५]

आदिपर्वमें दोसौ चौबीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें दोसौ पचीस अध्याय।

श्री वैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर ब्राह्मणने श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज और अर्जुनसे कहा, कि तुम दोनों सब लोकों

भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छताम्॥ २ ॥
एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनाऽन्नेन भवांस्तृप्येत्तस्याऽन्नस्य यतावहे ॥ ३ ॥
एवमुक्तः स भगवानब्रवीत्तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति॥ ४ ॥
ब्राह्मण उवाच— नाऽहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम् ।
यदन्नमनुरूपं मे तद्युवां संप्रयच्छतम् ॥ ५ ॥
इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति ।
न च शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना॥ ६ ॥
वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा ।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ॥ ७ ॥
तत्र भूतान्यनेकानि रक्ष्यन्तेऽस्य प्रसङ्गतः ।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा॥ ८ ॥
स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति ।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम्॥ ९ ॥

से बडे वीर हो, इस खाण्डवप्रस्थके निकट विराजते हो; मै बहुत खानेवाला ब्राह्मण हूं, सदा अपरिमित भोजन खा जाता हूं। अब तुमसे भिक्षा करता हूं, कि तुम भोजन देकर मुझको प्रसन्न करो। वीर अर्जुन और कृष्ण यह बात सुन के उनसे बोले, कि कहिये, कैसा अन्न भोजन करनेसे आपकी तृप्ति होगी, हम उसका प्रयत्न करेंगे। वे कैसा अन्न बनवावेंगे, इस विषयमें आपसमें बात चीत कर रहे थे, कि ऐसे अवसरमें उस ब्राह्मणरूपी भगवानने उत्तर दिया, कि मै वैसा अन्न खाया नहीं चाहता हूं। मै अग्नि हूं, जो अन्न मेरे योग्य हो वही मुझको दो। (१-५)

देवराज इन्द्र सदा खाण्डव नामक बडे वनकी रखवारी करते है, सो मै उनको जला नहीं सकता हूं। इन्द्रका सखा तक्षक नाम सर्प साथियों समेत सदा इस वनमें वसता है, इसी लिये वह वज्रधारी सब प्रयत्नोंसे इसकी रक्षा करते है, साथ साथ अनेक जीव इस वनमे रहते है, उनको जलाने चाहने परभी मै देवराजके तेजसे मनोरथको सफल कर नहीं सकता हूं। वह मुझको जलते देखनेसे जलधरकी जलधारासे बुझा देते है, तो मनमे खाण्डवको जलानेकी बडी चाह रखने पर जला नहीं सकता

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः ।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥ १० ॥
युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः ।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक्सर्वतो वारयिष्यथः ॥ ११ ॥
जनमेजय उवाच– किमर्थं भगवानग्निः खाण्डवं दग्धुमिच्छति ।
रक्ष्यमाणं महेन्द्रेण नानासत्त्वसमाकुलम् ॥ १२ ॥
न ह्येतत्कारणं ब्रह्मन्नल्पं संप्रतिभाति मे ।
यद्ददाह सुसंक्रुद्धः खाण्डवं हव्यवाहनः ॥ १३ ॥
एतद्विस्तरशो ब्रह्मञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
खाण्डवस्य पुरा दाहो यथा समभवन्मुने ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच शृणु मे ब्रुवतो राजन्सर्वमेतद्यथातथम् ।
यन्निमित्तं ददाहाऽग्निः खाण्डवं पृथिवीपते ॥ १५ ॥
हन्त ते कथयिष्यामि पौराणीमृषिसंस्तुताम् ।
कथामिमां नरश्रेष्ठ खाण्डवस्य विनाशिनीम् ॥ १६ ॥
पौराणः श्रूयते राजन्राजा हरिहयोपमः ।
श्वेतकिर्नाम विख्यातो बलविक्रमसंयुतः ॥ १७ ॥

हूं । तुम दोनों अस्त्र-विद्यामें पण्डित हो, तुम मेरी सहायता करो, तो मैं इस खाण्डववनको जला सकता हूं; तभी मेरा अच्छा भोजन होगा, तुमसे मैं यही अन्न मांगता हूं । खाण्डवदाहके कालमें जो सब जीव इधर उधर भागने पर होंगे, उनको और जलधरकी जलधाराओंको तुम अस्त्रविद्याके बलसे सब प्रकार रोकना । (१०-११)

श्रीजनमेजयजी बोले, कि हे ब्रह्मन् ! भगवान अग्नि क्यों देवराजसे रक्षित अनेक जीवोंसे पूरित खाण्डव वनको जलाना चाहता था ? इसको जब पढ़ता हूं, कि उनके इसमें खाण्डवके जलानेको चाहनेका कोई विशेष कारण होगा । हे ब्रह्मन् ! मैं इसका सत्यतत्त्व जानना चाहता हूं; सो यह कहो, कि क्यों वह खाण्डवदाह हुआ था । (१२-१४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे नरनाथ ! खाण्डवदाहके विषयमें ऋषिकी स्वीकृत पौराणिक कथा आपसे कहता हूं सुनिये । महाराज ! पुराणोंमें सुना है, कि पूर्वकालमें बल विक्रमयुक्त महेन्द्र समान श्वेतकि नामक प्रख्यात एक भूप थे । उनके समान धीमान, दाता और बुद्धिमान् कोई दूसरा नहीं था । उन्होंने बहुत

यज्वा दानपतिर्धीमान्यथा नान्योऽस्ति कश्चन।
ईजे च स महायज्ञैः क्रतुभिश्चाऽऽप्तदक्षिणैः॥ १८॥
तस्य नान्याऽभवद्बुद्धिर्दिवसे दिवसे नृप।
सत्रे क्रियासमारम्भे दानेषु विविधेषु च॥ १९॥
ऋत्विग्भिः सहितो धीमानेवमीजे स भूमिपः।
ततस्तु ऋत्विजश्चास्य धूमव्याकुललोचनाः॥ २०॥
कालेन महता खिन्नास्तत्यजुस्तं नराधिपम्।
ततः प्रचोदयामास ऋत्विजस्तान्महीपतिः॥ २१॥
चक्षुर्विकलतां प्राप्ता न प्रपेदुश्च ते क्रतुम्।
ततस्तेषामनुमते तद्विप्रैस्तु नराधिपः॥ २२॥
सत्रं समापयामास ऋत्विग्भिरपरैः सह।
तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित्कालपर्यये॥ २३॥
सत्रमाहर्तुकामस्य संवत्सरशतं किल।
ऋत्विजो नाऽभ्यपद्यन्त समाहर्तुं महात्मनः॥ २४॥
स च राजाऽकरोद्यत्नं महान्तं ससुहृज्जनः।
प्रणिपातेन सान्त्वेन दानेन च महायशाः॥ २५॥

दक्षिणा दे दे कर ज्योतिष्टोम आदि क्रतु और देवयज्ञ आदि पांच महायज्ञ किये थे। (१५—१८)

हे महाराज! उनकी बुद्धि सदा केवल क्रियारम्भ, यज्ञ और नाना दान बिना किसी अन्य कार्यमें बुझी नहीं रहती थी। बुद्धिमान पृथ्वीपतिके ऋत्विजोंके साथ बहुत दिनों तक यज्ञ करने पर ऋत्विजो ने धुएंसे घबराकर और उदास होके उन नरेशको छोड दिया। भूपालने बार बार समझाय बुझाय उनको बुलाया, पर उनकी आंखें दुखनी हो जानेसे उन्होंने फिर उस यज्ञमें आना नहीं चाहा।

अनन्तर भूपालने उन सब पुरोहितोंकी आज्ञासे दूसरे पुरोहित लाकर उस आरंभ किये हुए यज्ञको पूरा किया। (१९—२३)

कुछकाल बीते महीपालने एक समय सौ वर्षोंमें पूरा होनेवाला यज्ञ करना चाहा, पर उनके पुरोहितोंने उसको पूरा करना स्वीकार नहीं किया। बडे यशोवन्त भूप आलस्य तज मित्रोंके साथ अतियत्नसे शिरनाय गिडगिडाय समझाय बुझाय दान दे पुरोहितोंको हाथ जोडने लगे। पर अति तेजस्वी पुरोहितोंने किसी प्रकार उनका मनोरथ सिद्ध नहीं किया। तब राजर्षि रिसा कर उन आश्रमोंमें टिके

ऋत्विजोऽनुनयामास भूयो भूयस्त्वतन्द्रितः ।
न चास्य तमभिप्रायं न चक्रुरमितौजसः ॥ २६ ॥
स चाऽऽश्रमस्थान्राजर्षिस्तानुवाच रुषान्वितः ।
यद्यहं पतितो विप्राः शुश्रूषायां न च स्थितः ॥ २७ ॥
आशु त्याज्योऽस्मि युष्माभिर्ब्राह्मणैश्च जुगुप्सितः ।
तन्नाऽर्हथ क्रतुश्रद्धां व्याघातयितुमद्य ताम् ॥ २८ ॥
अस्थाने वा परित्यागं कर्तुं मे द्विजसत्तमाः ।
प्रपन्न एव वो विप्राः प्रसादं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥
अथवाऽहं परित्यक्तो भवद्भिर्द्वेषकारणात् ।
ऋत्विजोऽन्यान्गमिष्यामि याजनार्थं द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥
सान्त्ववादादिभिर्वाक्यैस्तत्त्वतः कार्यवत्तया ।
प्रसादयित्वा वक्ष्यामि यन्नः कार्यं द्विजोत्तमाः ॥ ३१ ॥
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः ।
यदा न शेकू राजानं याजनार्थं परंतप ॥ ३२ ॥
ततस्ते याजकाः क्रुद्धास्तमूचुर्नृपसत्तमम् ।
तव कर्माण्यजस्रं वै वर्तन्ते पार्थिवोत्तम ॥ ३३ ॥

विप्रोंसे कहने लगे, कि ब्राह्मणो ! यदि मैं पतित हूं और सदा आपकी सेवामें दत्तचित्त न हूं तो मैं ब्राह्मणोंसे निन्दित हूंगा और आप इसी क्षण मुझको त्याग दे सकते हैं, पर जब मैं न तो पतित और आप पर अप्रसन्न चित्त हूं, तब अनुचित रीतिसे मुझको त्यागना वा जिस क्रतुश्रद्धाको करनेमें मैं उद्यत हूं उसमें बाधा देना आपके योग्य नहीं है। मैं आपकी शरण लेता हूं, सो आप प्रसन्न होवें ॥ (२६—२९)

हे द्विजवरगण ! यदि विद्वेषवश हमको त्याग देवें, तो हमको याजन कार्यके लिये अन्य पुरोहितोंके निकट जाना पड़ेगा और अपना कार्य पूरा करनेके लिये समझाय बुझाय दान दे उनको प्रसन्नकर अपना काम उनको सच सच जताके अभिलाषा सिद्ध कर लूंगा। राजा यह वचन कह कर चुप हो रहे। (३०—३२)

अनन्तर पुरोहित लोग यह तो जानते नहीं थे, कि हम उन नृपवरका याजन कार्य नहीं कर सकेंगे, सो क्रोध कर बोले कि हे महाराज ! सदा आपके महान् कर्म होते हैं, हम सदा उन कार्यों को कर कर थक गये हैं, तुम्हारी बुद्धिमें

ततो वयं परिश्रान्ताः सततं कर्मवाहिनः ।
श्रमादस्मात्परिश्रान्तान्स त्वं नरत्यक्तुमर्हसि॥ ३४ ॥
बुद्धिमोहं समास्थाय त्वरासंभावितोऽनघ ।
गच्छ रुद्रसकाशं त्वं स हि त्वा याजयिष्यति ३५॥
साधिक्षेपं वचः श्रुत्वा संक्रुद्धः श्वेतकिर्नृपः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तप उग्रं समास्थितः ॥ ३६ ॥
आराधयन्महादेवं नियतः संशितव्रतः ।
उपवासपरो राजन्दीर्घकालमतिष्ठत ॥ ३७ ॥
कदाचिद् द्वादशे काले कदाचिदपि षोडशे।
आहारमकरोद्राजा मूलानि च फलानि च ॥ ३८ ॥
ऊर्ध्वबाहुस्त्वनिमिषस्तिष्ठन्स्थाणुरिवाऽचलः ।
षण्मासानभवद्राजा श्वेतकिः सुसमाहितः॥ ३९ ॥
तं तथा नृपशार्दूलं तप्यमानं महत्तपः ।
शंकरः परमप्रीत्या दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥
उवाच चैनं भगवान्स्निग्धगम्भीरया गिरा।
प्रीतोऽस्मि नरशार्दूल तपसा ते परंतप ॥ ४१ ॥
वरं वृणीष्व भद्रं ते यं त्वमिच्छसि पार्थिव।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रस्याऽमिततेजसः ॥ ४२ ॥

गडबडीसे शीघ्रता चाहते हो, सो इन श्रमके मारे पुरोहितोंको त्याग कर तुमको अन्य पुरोहितोंका आसरा ढूंढना चाहिये; तुम रुद्रके यहां जाओ, वही तुम्हारे याजन कार्य करनेके समर्थ होंगे। भूप श्वेतकि उनका यह लाञ्छन वचन सुनकर क्रोधके वशमें होगये,अनन्तर कैलासपर्वत पर जा के कठोर तपस्या करने लगे। (३२ ३६)

हे महाराज! उन्होंने वहां नियमयुक्त व्रतशील और उपासना में नियुक्त होके बहुत दिनोंतक महादेवजीकी आराधना की और कुछकाल कभी बारहवे मुहूर्त, कभी सोलहवे मुहूर्त पर फलमात्र खाते थे। उन्होंने छःमास भले प्रकार समाहित, ऊर्ध्वबाहु और निमेष वर्जित होके अचल जडवत काटे। हे भारत! भगवान शङ्कर उस प्रकार कठोर तपस्या करते हुए उन नृपशार्दूलकी तपस्यासे बडे प्रसन्न हो उनको दर्शन देकर बोले, कि हे नरवर ! मैं तुम्हारी तपस्या देखकर बडा प्रसन्न हूं, तुम्हारा मंगल होगा, तुम मनमाना वर मांगो। ३७-४२

प्रणिपत्य महात्मानं राजर्षिः प्रत्यभाषत ।
यदि मे भगवान्प्रीतः सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ४३ ॥
स्वयं मां देवदेवेश याजयस्व सुरेश्वर ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञा तेन प्रभाषितम् ॥ ४४ ॥
उवाच भगवान्प्रीतः स्मितपूर्वमिदं वचः ।
नाऽस्माकमेतद्विषये वर्तते याजनं प्रति ॥ ४५ ॥
त्वया च सुमहत्तप्तं तपो राजन्वरार्थिना ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां समयेन परंतप ॥ ४६ ॥
रुद्र उवाच— समा द्वादश राजेन्द्र ब्रह्मचारी समाहितः ।
सततं त्वाज्यधाराभिर्यदि तर्पयसेऽनलम् ॥ ४७ ॥
कामं प्रार्थयसे यं त्वं मत्तः प्राप्स्यसि तं नृप ।
एवमुक्तस्तु रुद्रेण श्वेतकिर्मनुजाधिपः ॥ ४८ ॥
तथा चकार तत्सर्वं यथोक्तं शूलपाणिना ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे पुनरायान्महेश्वरः ॥ ४९ ॥
दृष्ट्वैव स राजानं शंकरो लोकभावनः ।
उवाच परमप्रीतः श्वेतकिं नृपसत्तमम् ॥ ५० ॥
तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वयेह स्वेन कर्मणा ।

राजर्षि श्वेतकि अति तेजस्वी महात्मा महादेवजीकी यह बात सुन सिर नाय बोले, कि हे सुरेश्वर ! हे देवनाथ ! सब लोकोंके प्रणाम योग्य भगवान् ! आप यदि मुझपर प्रसन्न हुए हो तो आप स्वयं मेरा याजन कार्य करो । भगवान् रुद्र राजाका यह वचन सुन प्रसन्न हो हंसकर मुझसे बोले, कि महाराज ! हम याजन कार्य करनेका हम लोगोंको अधिकार नहीं है, पर तुमने याजनरूपी वर मांगनेके लिये कठोर तपस्या की है [illegible] इस नियमसे तुम्हारा याजन कार्य कर सकता हूं, कि यदि तुम बारह वर्ष ब्रह्मचारी और भले प्रकार समाहित सदा विना रोक टोक आज्यकी धारासे अग्निको तपा सको, तो जो प्रार्थना करते हो वह मुझसे प्राप्त करोगे । ४३–४८

पृथ्वीनाथ श्वेतकि शूलधर रुद्रकी ऐसी आज्ञा सुनकर उनका कहा सब काम करने लगे । जब बारह वर्ष बीते तब फिर लोकभावन भगवान् भूतनाथ के निकट जा पहुंचे । शङ्कर उनको देख तत्क्षणही बडे प्रसन्न हो बोले, नरनाथ !

याजनं ब्राह्मणानां तु विधिदृष्टं परंतप ॥ ५१ ॥
अतोऽहं त्वां स्वयं नाद्य याजयामि परंतप।
ममांऽशस्तु क्षितितले महाभागो द्विजोत्तमः॥ ५२ ॥
दुर्वासा इति विख्यातः स हि त्वां याजयिष्यति।
मन्नियोगान्महातेजाः संभाराः संभ्रियन्तु ते॥ ५३ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रेण समुदाहृतम्।
स्वपुरं पुनरागम्य संभारान्पुनरार्जयत्॥ ५४ ॥
ततः सम्भृतसंभारो भूयो रुद्रमुपागमत्।
संभृता मम संभाराः सर्वोपकरणानि च॥ ५५ ॥
त्वत्प्रसादान्महादेव श्वो मे दीक्षा भवेदिति।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो महात्मनः॥ ५६ ॥
दुर्वाससं समाहूय रुद्रो वचनमब्रवीत्।
एष राजा महाभागः श्वेतकिर्द्विजसत्तम॥ ५७ ॥
एनं याजय विप्रेन्द्र मन्नियोगेन भूमिपम्।
बाढमित्येव वचनं रुद्रं त्वृषिरुवाच ह॥ ५८ ॥
ततः सत्रं समभवत्तस्य राज्ञो महात्मनः।
यथाविधि यथाकालं यथोक्तं बहुदक्षिणम्॥ ५९ ॥

मैं तुम्हारे कार्यसे बहुत सन्तुष्ट हुआ हूं, पर हे शत्रुदमन! याजन कार्य करना ब्राह्मणों ही के लिये विधिबद्ध है, सो मैं स्वयं इस समय तुम्हारा याजन करनेमें प्रवृत्त नहीं हूंगा। धरती पर दुर्वासा नामसे प्रख्यात महाभाग एक द्विजोत्तम है, वह मेरा ही अंश है। वह तेजस्वी महर्षि मेरे नियोगसे तुम्हारा याज्य कार्य करेंगे। तुम यज्ञकी सामग्री बटोरो। (४८—५३)

राजा श्वेतकिने रुद्रकी आज्ञासे राजधानीमें लौटकर यज्ञकी सामग्री फिर इकट्ठी की और पुनः रुद्रके यहां पहुंच कर बोले, कि हे प्रभो महादेव! मैंने सब वस्तु तथा उपकरण संग्रह किये हैं। मेरी प्रार्थना यह है, कि आपकी कृपासे कल मेरी दीक्षा होवे। भगवान रुद्र उन महात्मा महीपालकी यह बात सुनके दुर्वासाको बुलाकर बोले, कि विप्रवर! इन महीपाल का नाम श्वेतकि है, तुम मेरे नियोग से इसका याज्य कार्य करो। ऋषिने स्वीकार किया। (५४—५८)

अनन्तर महात्मा महीपतिकी अभिलाषानुसार जैसे कहा गया था, वैसेही

तस्मिन्परिसमाप्ते तु राज्ञः सत्रे महात्मनः ।
दुर्वाससाऽभ्यनुज्ञाता विप्रतस्थुः स्म याजकाः ॥ ६० ॥
ये तत्र दीक्षिताः सर्वे सदस्याश्च महौजसः ।
सोऽपि राजन्महाभाग स्वपुरं प्राविशत्तदा ॥ ६१ ॥
पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
बन्दिभिस्तूयमानश्च नागरैश्चाऽभिनन्दितः ॥ ६२ ॥
एवंवृत्तः स राजर्षिः श्वेतकिर्नृपसत्तमः ।
कालेन महता चाऽपि ययौ स्वर्गमभिष्टुतः ॥ ६३ ॥
ऋत्विग्भिः सहितः सर्वैः सदस्यैश्च समन्वितः ।
तस्य सत्रे पपौ वह्निर्हविर्द्वादश वत्सरान् ॥ ६४ ॥
सततं चाऽऽज्यधाराभिरैकात्म्ये तत्र कर्मणि ।
हविषा च ततो वह्निः परां तृप्तिमगच्छत ॥ ६५ ॥
न चैच्छत्पुनरादातुं हविरन्यस्य कस्यचित् ।
पाण्डुवर्णो विवर्णश्च न यथावत्प्रकाशते ॥ ६६ ॥
ततो भगवतो वह्नेर्विकारः समजायत ।
तेजसा विप्रहीणं च ग्लानिश्चैनं समाविशत् ॥ ६७ ॥
स लक्षयित्वा चाऽऽत्मानं तेजोहीनं हुताशनः ।
जगाम सदनं पुण्यं ब्रह्मणो लोकपूजितम् ॥ ६८ ॥

भूरिदक्षिण यज्ञ प्रारम्भ हुआ। हे महाराज! अनन्तर महायज्ञ हो जाने पर जो सब बड़े तेजस्वी याजक और सदस्य लोग उसमें दीक्षित हुए थे, वे दुर्वासा की आज्ञासे अपने अपने घरको चले गये। अनन्तर महाभाग दुर्वासाभी अपने आश्रमको पधारे। ५९—६०

तत्पश्चात महाभाग्य शाली श्वेतकि राजा भी अपने नगरमें प्रविष्ट हुआ। महाभाग्यवान वेदवेदांगपारगत ब्राह्मण उसका सम्मान करते थे, बंदीजन उसकी प्रशंसा गाते थे, और नागरिक जन उसका अभिनंदन करते थे। इस प्रकारका प्रशंसनीय राजर्षि भूपति श्रेष्ठ श्वेतकि राजा बड़ा समय व्यतीत होनेके पश्चात सब ऋत्विज और सदस्योंके समेत स्वर्गको पधारे। महाराज! उस भारी यज्ञमें अपरिमित हव्य पीकर भगवान हुताशनको विकार हो गया। वह दिन पर दिन तेजसे हाथ धोने लगे। उनके अङ्गमें ग्लानि जान पड़ने लगी। वह अपनेको कम तेजस्वी होते देखकर सर्वलोकोंमें

तत्र ब्रह्माणमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ।
भगवन्परमा प्रीतिः कृता मे श्वेतकेतुना ॥ ६९ ॥
अरुचिश्चाऽभवत्तीव्रा तां न शक्नोम्यपोहितुम् ।
तेजसा विप्रहीणोऽस्मि बलेन च जगत्पते ॥ ७० ॥
इच्छेयं त्वत्प्रसादेन स्वात्मनः प्रकृतिं स्थिराम्।
एतच्छ्रुत्वा हुतवहाद्भगवान्सर्वलोककृत् ॥ ७१ ॥
हव्यवाहमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ।
त्वया द्वादश वर्षाणि वसोर्धाराहुतं हविः ॥ ७२ ॥
उपयुक्तं महाभाग तेन त्वां ग्लानिराविशत् ।
तेजसा विप्रहीणत्वात्सहसा हव्यवाहन ॥ ७३ ॥
मा गमस्त्वं व्यथां वह्ने प्रकृतिस्थो भविष्यसि।
अरुचिं नाशयिष्येऽहं समयं प्रतिपद्य ते ॥ ७४ ॥
पुरा देवनियोगेन यत्त्वया भस्मसात्कृतम् ।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम् ॥ ७५ ॥
तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि।।७६॥

पूछे जाते हुए पवित्र ब्रह्मलोकमें गये। आगे वहां बैठे हुए श्रीब्रह्माजीसे बोले, कि हे जगपते! राजा श्वेतकेतुने मेरी बहुत तृप्ति की, उससे मुझे बड़ी अरुचि हुई है, जिसको निराकरण मैं नहीं कर सकता। अब मैं तेजरहित और दुर्बल हुआ हूं, आपकी कृपासे अपनी पूर्व प्रकृतिको पाना चाहता हूं। सर्वलोकोंके धाता भगवान् अग्निका यह वचन सुनकर हंसके बोले, कि हे महाभाग! तुमने बारह वर्ष बिना रोक टोक वसुधारासे आहुति दिये हुए हव्यको पान किया है, सो तुमको ऐसी ग्लानि हुई है। हव्यवाहन! तुम कमतेज हुए हो; इससे एकायक दुःखी मत होना, तुम स्वास्थ्यको प्राप्त करोगे। समय प्राप्त होनेपर मैं तेरी अरुचि नष्ट करूंगा। हे विभावसो! पूर्वकालमें तुमने देवोंके शत्रुओंकी वास-भूमि जिस कठोर खाण्डव वनको भस्म किया था, अब उस स्थानमें अनेक प्रकारके प्राणी बसते हैं, तुम उनकी चर्बीसे तृप्त हो और अपनी प्रकृतिको प्राप्त कर सकोगे; सो उस खाण्डवको जलानेके लिये शीघ्र जाओ। उसको जलानेसे तुम्हारी यह ग्लानि दूर होजायगी। (६९--७६)

गच्छ शीघ्रं प्रदग्धुं त्वं ततो मोक्ष्यसि किल्बिषात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं परमेष्ठिमुखाच्च्युतम् ॥ ७७ ॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रदुद्राव हुताशनः ।
आगम्य खाण्डवं दावमुत्तमं वीर्यमास्थितः ।
सहसा प्राज्वलच्चाऽग्निः क्रुद्धो वायुसमीरितः ॥ ७८ ॥
प्रदीप्तं खाण्डवं दृष्ट्वा ये स्युस्तत्र निवासिनः ।
परमं यत्नमातिष्ठन्पावकस्य प्रशान्तये ॥ ७९ ॥
करैस्तु करिणः शीघ्रं जलमादाय सत्वराः ।
सिषिचुः पावकं क्रुद्धा शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥
बहुशीर्षास्ततो नागाः शिरोभिर्जलसन्ततिम् ।
मुमुचुः पावकाभ्याशे सत्वराः क्रोधमूर्छिताः ॥ ८१ ॥
तथैवाऽन्यानि सत्त्वानि नानाप्रहरणोद्यमैः ।
विलयं पावकं शीघ्रमनयन्भरतर्षभ ॥ ८२ ॥
अनेन तु प्रकारेण भूयोभूयश्च प्रज्वलन् ।
सप्तकृत्वः प्रशमितः खाण्डवे हव्यवाहनः ॥ ८३ ॥ [८३७८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्व-
ण्यग्निपराभवे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

वैशम्पायन उवाच—स तु नैराश्यमापन्नः सदा ग्लानिसमन्वितः ।

और पितामहके मुखसे यह वचन सुन उसी क्षण बडे वेगसे दौडे और घोर खाण्डव वनमें शीघ्र पहुंच क्रोधसे भडकाये पवनके सहारे जल उठे। खाण्डव वनवासी सब प्राणी उस वनको जलते देखकर आग बुझानेके लिये निज निज शक्तिके अनुसार प्रयत्न करने लगे। सैकडों सहस्रों हस्ती क्रोधकर शीघ्रताके साथ सूंडसे लाकर जल छोडके सींचने लगे और अनेक सिरवाले सर्प क्रोधसे मूर्छित हो अनेक फणोंसे आग पर जल छोडने लगे। हे भरतकुल प्रदीप! तैसेही दूसरे प्राणियोंने भी धूल छिडककर, शाखा पीटना आदि अनेक उपायोंसे शीघ्र आग बुझायी। हव्यवाहन खाण्डव वनमें बारम्बार, यहां तक कि सातबार जल उठे थे, पर इस प्रकार रोके जानेके कारण उनका मनोरथ सफल नहीं हो सका। ७७-८३

आदिपर्वमें दोसौ छब्बीस अध्याय समाप्त। [८३७८]

आदिपर्वमें दोसौ सत्ताईस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर ग्लानियुक्त हव्यवाहन खाण्डव दाहकी

पितामहमुपागच्छत्संक्रुद्धो हव्यवाहनः ॥ १ ॥
तच्च सर्वं यथान्यायं ब्रह्मणे स न्यवेदयत् ।
उवाच चैनं भगवान्मुहूर्तं स विचिन्त्य तु ॥ २ ॥
उपायः परिदृष्टो मे यथा त्वं धक्ष्यसेऽनघ ।
कालं च कंचित्क्षमतां ततस्त्वां धक्ष्यतेऽनल॥ ३ ॥
भविष्यतः सहायौ तौ नरनारायणौ तदा ।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन॥ ४ ॥
एवमस्त्विति तं वह्निर्ब्रह्माणं प्रत्यभाषत ।
संभूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥
कालस्य महतो राजंस्तस्य वाक्यं स्वयंभुवः ।
अनुस्मृत्य जगामाऽथ पुनरेव पितामहम् ॥ ६ ॥
अब्रवीच तदा ब्रह्मा यथा त्वं धक्ष्यसेऽनल ।
खाण्डवं दावमद्यैव मिषतोऽस्य शचीपतेः ॥ ७ ॥
नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो ।
संप्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम् ॥ ८ ॥
अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते ।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः ॥ ९ ॥

आशा छोडकर क्रोधित-चित्तसे पितामह श्रीब्रह्माजीके निकट गये और ब्योरेवार उनसे सब अहवाल कह सुनाया। उन भगवानने पल भर सोच कर कहा, कि "हे अनघ! मैंने इसका एक अच्छा उपाय निश्चय किया है, परंतु कुछ समय ठहर जाओ, योग्य समयमें वह उपाय तुम्हें बताया जायगा। हे हव्यवाहन ! जब नरनारायण तेरी सहायता करेंगे, तब उनके सहाय्यसे तू उस वनको दग्ध कर सकेगा।" यह बात सुन कर "ठीक है" ऐसा अग्निने कहा, तत्पश्चात नर नारायण ऋषि उत्पन्न हुए हैं यह जान कर, बहुत समय व्यतीत होने पर, हे राजन्! अग्निने ब्रह्माजीका भाषण स्मरण करके फिर एक वार अग्निदेव ब्रह्माजीके पास पहुंचे। तब ब्रह्माजी उनसे बोले, कि "हे अग्ने ! जिससे आजही तुम देवराजके सामने खाण्डववन जला सकोगे, वह उपाय कहता हूं। हे विभावसो ! नर नारायण नामक उन सनातन दो देवताओंने देवकार्यके लिये मर्त्यलोकमें अवतार लिया है। लोग उनको अर्जुन और वासुदेव करके जानते हैं। अब वे

तौ त्वं याचस्व साहाय्ये दाहार्थं खाण्डवस्य च ।
ततो धक्ष्यसि तं दावं रक्षितं त्रिदशैरपि ॥ १० ॥
तौ तु सत्त्वानि सर्वाणि यत्नतो वारयिष्यतः ।
देवराजं च सहितौ तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ११ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं त्वरितो हव्यवाहनः ।
कृष्णपार्थावुपागम्य यमर्थं त्वभ्यभाषत ॥ १२ ॥
तं ते कथितवानस्मि पूर्वमेव नृपोत्तम ।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्वग्नेर्बीभत्सुर्जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूल तत्कालसदृशं वचः ।
दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ॥ १४ ॥
अर्जुन उवाच— उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च ।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान्बहून् ॥ १५ ॥
धनुर्मे नास्ति भगवन्बाहुवीर्येण संमितम् ।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद्विषहेन्मम ॥ १६ ॥
शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षय्यैः क्षिप्रमस्यतः ।
न हि वोढुं रथः शक्तः शरान्मम यथेप्सितान् ॥ १७ ॥
अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान्वातरंहसः ।

दोनों खाण्डवके निकट विराजते हैं । खाण्डवदाहके लिये उनसे सहारा मांगो; तब वन सब देवोंसे रक्षित होने परभी जला सकोगे । वासुदेव और अर्जुन वहांके प्राणियोंको विना सन्देह रोक सकेंगे! हव्यवाहन यह सुन करकेही तुरन्त कृष्णार्जुनके पास गये । (९– १२)

हे नृपोत्तम ! अग्निने उनके सामने प्रगट कर जो कहा था, वह मैंने पहिले ही आपसे कहा है । हे नृपशार्दूल ! अग्निके पीछे अर्जुन इन्द्रके निवासस्थानमें खाण्डववनको जलानेकी इच्छा करनेवाले अग्निसे बोले, कि हे भगवन्! मेरे अनेक दिव्य अस्त्र हैं उनसे मैं वज्रधारी सैकडों इन्द्रसे युद्ध कर सकता हूं, पर युद्धकालमें मेरा वेग सर्वप्रकारसे सह ले, ऐसा मेरे भुज वीर्यके योग्य चाप नहीं है; विशेष मुझको शीघ्रतासे बाण छोडने पडेंगे सो अनेक अक्षय बाणोंका प्रयोजन है । और मेरा जो रथ है, वह प्रयोजनके अनुसार उन बाणोंको ले नहीं सकेगा सो श्वेत वर्ण वायु समान वेगवान दिव्य घोडे और बादल सदृश गर्जनेवाले सूर्यकी भांति तेजस्वी ध्वजा

रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ॥ १८ ॥
तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम्।
येन नागान्पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥ १९ ॥
उपायं कर्मसिद्धौ च भगवन्वक्तुमर्हसि ।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ॥ २० ॥
पौरुषेण तु यत्कार्यं तत्कर्तारौ स्व पावक ।
करणानि समर्थानि भगवन्दातुमर्हसि ॥ २१ ॥ [८३०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वण्यर्जुनाग्निसंवादे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तः स भगवान्धूमकेतुर्हुताशनः ।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ॥ १ ॥
आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जलेश्वरम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम् ॥ २ ॥
तमब्रवीद्धूमकेतुः प्रतिगृह्य जलेश्वरम् ।
चतुर्थं लोकपालानां देवदेवं सनातनम् ॥ ३ ॥
सोमेन राज्ञा यद्दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते ।
तत्प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम् ॥ ४ ॥

प्रयोजन होगा। और इन माधवके भुजवीर्यके योग्य कोई अस्त्र नहीं है, कि जिससे यह रणभूमिमें पिशाच और सर्पोको गिरावे। अतएव हे भगवन्! ऐसा कोई उपाय कहो, कि जिससे देवराज इस बडे वनमें वर्षा करनेसे हम उनको रोक सके और यह बडा कार्य भली भांति पूरा हो। हे पावक! पौरुषसे जिसकी साधना होगी वह हम करनेको प्रस्तुत है, पर युद्ध करनेके लिये जिन उपकरणोंकी आवश्यकता हो, वह आप हमको देवें। ॥२१॥

आदिपर्वमें दोसौ छब्बीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें दो सौ सताईस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर भगवान धूमकेतु हुताशनने अर्जुनका यह वचन सुन जलके घर जलनाथ अदिति नन्दन लोकपाल वरुणजीकी भेट के लिये उनको स्मरण किया। जलनाथ वरुण उनका स्मरण करना जानके सम्मुख आ पहुंचे। हुताशन चौथे लोकपाल उन सनातन देवदेव जलाधिपका आदरपूर्वक स्वागत कर बोले, कि राजा सोमने तुमको जो तूणीर और शरासन तथा कपिध्वज रथ दिया था, वह सब तुरन्त

कार्यं च सुमहत्पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति।
चक्रेण वासुदेवस्य तन्ममाद्य प्रदीयताम् ॥ ५ ॥
ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत ।
तदद्भुतं महावीर्यं यशःकीर्तिविवर्धनम ॥ ६ ॥
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च ।
सर्वायुधमहामात्रं परसैन्यप्रधर्षणम ॥ ७ ॥
एकं शतसहस्रेण संमितं राष्ट्रवर्धनम् ।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम् ॥ ८ ॥
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ।
प्रादाच्चैव धनूरत्नमक्षय्यौ च महेषुधी ॥ ९ ॥
रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम् ।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः ॥ १० ॥
पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे ।
सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः ॥ ११ ॥
भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम् ।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः ॥ १२ ॥

दे दो। पार्थ इस गाण्डीव शरासनसे और वासुदेव चक्रसे बडा भारी कार्य पूरा करेंगे। सो वह आजही मुझको दो। वरुणजी ने देता हूं कहके मान लिया। (१—६)

अनन्तर जो धनुष बडा वीर्यवन्त, सर्वशस्त्र मथनयोग्य, यश और कीर्ति बढानेवाला, शस्त्रोंसे काटे जानेके अयोग्य, सम्पूर्ण अस्त्रोंसे बडा, शत्रुसेनाको नष्ट करनेवाला, राज्य बढानेवाला, सैकडो मारको अथवा मारना करने परभी न टूटने घटनेवाला, रंग बिरंगके सुन्दर सुन्दर वर्णोंसे रंगा, मनोहर और जिस-की पूजा देव दानव गन्धर्व सदा किया करते हैं. वरुणजी ने ऐसाही अद्भुत धनुष और दो ऐसे तूणीर, कि जिनमें बाण रखनेसे खर्च किये नहीं चुकते, दे दिये। (६—९)

जो रथ मन और पवनकी भांति वेगवान पाण्डुवर्ण बादल सदृश चांदीकी नाईं उजालावाले सुवर्णसे सुशोभित, गन्धर्वोके नगरके घोडोंसे खींचा जाता है, जो दिव्यास्त्र और सब उपकरणोंसे भरा और देव दानवोंसे अजय, जिसकी घरघराहट बडी डरावनी सुनाई देती है, जिसको भुवनके प्रभु प्रजापति विश्वकर्मा ने बडी तपस्यासे बनाया था जिस-

प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव ।
य स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत्प्रभुः ॥ १३ ॥
नवमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया ।
आश्रितौ तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमावुभौ ॥ १४ ॥
तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा ।
तस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः ॥ १५ ॥
दिधक्षन्निव तत्र स्म संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत ।
ध्वजे भूतानि तत्राऽऽसन्विविधानि महान्ति च १६ ।
नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति ।
स तं नानापताकाभिः शोभितं रथसत्तमम् ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रकः ॥ १८ ॥
आरुरोह तदा पार्थो विमानं सुकृती यथा ।
तच्च दिव्यं धनुः श्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥ १९ ॥
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ।
हुताशनं पुरस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान् ॥ २० ॥
जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः ।

रूप सूर्यसदृश दृष्टिसे देखनेके अयोग्य, जिस पर चढ प्रभु सोमने दानवोंको परास्त किया था, जिसका उजाला बहुत जलता है, जिसके किरण दूर से अनुभव होते है, जो आकाशतलके नये बादलसमान दीख पडता है, जिसके ऊपर इन्द्रधनुषसदृश शोभायमान मनोहर परम सुन्दर सुनीले झाडेकी लकडीके ऊपर सिंहशार्दूल समान पराक्रमी सुन्दर दिव्य बन्दर मानो सर्वलोकों को जलानेकी इच्छासे विराज रहा है, और ध्वजापताकोंमे प्रकटित भांति भांतिके गम्भीर कोलाहल को सुनकर शत्रुसेनाकी चेतना जाती रहती है, वरुणजीने ऐसा कपिवर सहित, ध्वजयुक्त रथ दिया। (१०—१७)

अर्जुन खड्ग कवच गोधा और अङ्गरक्षक पहिनके स्नान कर अनेक उस पताकाओंसे सुशोभित अनुपम सुन्दर रथकी परिक्रमा देकर देवोंको प्रणामकर पुण्यात्मा जनके विमान पर चढनेकी भांति उस पर चढ और ब्रह्माके बनाये उस गाण्डीव श्रेष्ठ शरासनको आनन्दसे ले लिया। अनन्तर वीर्यवन्त अर्जुनने हुताशनके आगे सिर नाय बल प्रकट कर उस

मौर्व्यां तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह ॥ २१ ॥
येऽशृण्वन्कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः ।
लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाऽक्षय्ये महेषुधी ॥ २२ ॥
बभूव कल्यः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ।
वज्रतुल्यं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ॥ २३ ॥
आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्पोऽभवत्तदा ।
अब्रवीत्पावकश्चैनमेतेन मधुसूदन ॥ २४ ॥
अमानुषानपि रणे जेष्यसि त्वमसंशयम् ।
अनेन तु मनुष्याणां देवानामपि चाऽऽहवे ॥ २५ ॥
रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानां चाऽधिकस्तथा ।
भविष्यसि न संदेहः प्रवरोऽपि निबर्हणे ॥ २६ ॥
क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत्त्वया माधव शत्रुषु ।
हत्वाऽप्रतिहतं संख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ॥ २७ ॥
वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम् ।
दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं प्रभुः ॥ २८ ॥
ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टावर्जुनाच्युतौ ।
कृतास्त्रौ शस्त्रसम्पन्नौ रथिनौ ध्वजिनावपि ॥ २९ ॥

गाण्डीवमें गुण चढाया। बली पाण्डुनन्दनके गुण चढानेके कालमें उसका शब्द जिन जिनके कानोंमें पडा उन सबका हृदय थरथराने लगा। अर्जुन इस

सूदन! तुम युद्धस्थलमें इस अस्त्रसे बिना सन्देह मनुष्यके अतिरिक्त अन्य प्राणियोंको भी परास्त कर सकोगे। तुम रणस्थलमें इस अस्त्रसे देव दानव,

कल्यौ स्वो भगवन्योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सुना ॥ ३० ॥
अर्जुन उवाच — चक्रपाणिर्हृषीकेशो विचरन्युधि वीर्यवान् ।
त्रिषु लोकेषु तन्नाऽस्ति यन्न कुर्याज्जनार्दनः ॥ ३१ ॥
गाण्डीवं धनुरादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
अहमप्युत्सहे लोकान्विजेतुं युधि पावक ॥ ३२ ॥
सर्वतः परिवार्यैव दावमेतं महाप्रभो ।
कामं संप्रज्वलाऽद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच— एवमुक्तः स भगवान्दाशार्हेणाऽर्जुनेन च ।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥ ३४ ॥
सर्वतः परिवार्याऽथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तथा ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ॥ ३५ ॥
प्रतिगृह्य समाविश्य तद्वनं भरतर्षभ ।
मेघस्तनितनिर्घोषः सर्वभूतान्यकल्पयत् ॥ ३६ ॥
दह्यतस्तस्य च बभौ रूपं दावस्य भारत ।

कौमोदकी गदा दी, तब अस्त्रमें पण्डित अर्जुन और श्रीकृष्ण ध्वजा, रथ और शस्त्रादि प्राप्त कर प्रसन्नचित्तसे बोले, कि हे भगवन्! अब हम लोग सम्पूर्ण सुरासुरसे लडनेको समर्थ हुए; सर्परक्षाके लिये युद्ध चाहनेवाले अकेले वज्रधारी इन्द्रसे लडना हमारे लिये कोई बडी बात न रही। अर्जुन बोले, कि हे पावक! तीनों लोकोंमें ऐसा पदार्थही नहीं है, कि जिसे वीर्यवन्त चक्रपाणि जनार्दन रणस्थलमें टहलते हुए इस चक्रसे मार नहीं सकेंगे। मैं भी यह अक्षय तूण और गाण्डीव धनुष लेकर सम्पूर्ण लोक परास्त करनेका उत्साह कर सकता हूं। सो आप आजही इच्छानुसार इस बडे वनको सम्पूर्ण रूपसे घेर कर जलावें; हम आपको सहारा देनेको समर्थ हुए हैं। (२८-३३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि भगवान् हुताशन अर्जुन और श्रीकृष्णचन्द्रके यह वचन सुनके पावक तैजसका रूप धारण कर उस वनको जलाने लगे। तब वह सातशिखा फैला कर सब ओर फैलकर खाण्डववन जलाने लगे। उस कालमें ज्ञान पडने लगा, कि मानो युगके अन्त होनेवाला काल प्रकटित हो रहा है। हे भरतवंशश्रेष्ठ! प्रज्वलित अग्निदेव उस भारी वनको पकड कर उसमें घुसके बादल की गडगडाहटकी भांति भयानकी

मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्यांशुमतोऽशुभिः ॥३७॥ [८४३६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि खाण्डवदाहे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

वैशम्पायन उवाच—तौ रथाभ्यां रथिश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥
यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राभ्यधावताम् ॥२॥
छिद्रं न स्म प्रपश्यन्ति रथयोराशुचारिणोः।
आविद्धाविव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ॥ ३ ॥
खाण्डवे दह्यमाने तु भूतानि शतसहस्रशः।
उत्पेतुर्भैरवान्नादान्विनदन्तः समन्ततः ॥ ४ ॥
दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथाऽपरे।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथा परे ॥ ५ ॥
समालिङ्ग्य सुतानन्ये पितॄन्भ्रातॄनथाऽपरे।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ॥ ६ ॥

[illegible] उनसे सब प्राणियोंको थरथराने लगे। हे भारत ! तब जलते हुए उस वनने सूर्यकिरणोंसे रंगे सुमेरु पर्वतका स्वरूप धारण किया। ३४-३७ [८४३६]

आदिपर्वमें दो सौ सत्ताईसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व दो सौ अट्ठाईसवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन रथ पर चढ़कर उस वनकी दोनों ओर रहके चारों ओरके प्राणियोंको नष्ट करने लगे। खाण्डववासी प्राणी जहां जहां भागते दीख पड़े वे दोनों वीर वहां वहां दौड़ने लगे। वे दोनों महावीर रथ पर चढ़के चारों ओर इतना शीघ्र फिरने लगे कि दोनों रथ आपसमें जुड़े हुए जान पड़ने लगे; तिनमें छिद्र दीख नहीं पड़ा। खाण्डव वनके जलनेमें सैकड़ों सहस्रों प्राणी बड़ा कोलाहल मचाते हुए चारों ओर गिरने लगे। किसी किसीका एक एक अङ्ग जल गया; कोई कोई अति तापसे जल भुनके गिर गया; किसी किसी जन्तुकी आंखें फूट गयीं, कोई कोई [illegible] गये, कोई कोई [illegible] दौड़ने लगे, किसी किसी प्राणीने पुत्रसे किसी किसीने पितासे, किसी किसीने भाईसे लिपट कर [illegible] —६

संदष्टदशनाश्चाऽन्ये समुत्पेतुरनेकशः ।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ॥ ७ ॥
दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनशन्तः शरीरिणः॥ ८ ॥
जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना ।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः समन्ततः॥९॥
शरीरैरपरैर्दीप्तैर्देहवन्त इवाऽग्नयः ।
अदृश्यन्त वने तत्र प्राणिनः प्राणसंक्षये ॥ १० ॥
कांश्चिदुत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः ।
पातयामास विहगान्प्रदीप्ते कृष्णवर्त्मनि ॥ ११ ॥
ते शराचितसर्वाङ्गा निनदन्तो महारवान् ।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ॥ १२ ॥
शरैरभ्याहतानां च सङ्घशः स्म वनौकसाम् ।
विरावः शुश्रुवे घोरः समुद्रस्येव मथ्यतः ॥ १३ ॥
वह्नेश्चापि प्रदीप्तस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः ।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥
तेनाऽर्चिषा सुसंतप्ता देवाः सर्षिपुरोगमाः ।

कोई कोई देहधारी दांतसे दांत पीसता अनेकवार गिरता पीटता और वहुत चक्कर खाता आगमें गिरने लगा। कोई पंख जलने,कोई नेत्र जलने अथवा कोई पांव जलने पर मृत दीख पडने लगा। वहांके जलाशय अग्निमे तपने और उबल उठनेसे मछली कछुए आदि प्राणी इधर उधर मरे दिखाई देने लगे। उस वनमें देहियोंकी जो सब देह जली, वह सब जली देह मानो भांति भांतिकी अग्निदेहके समान प्रतीत होती रही। उस वनमें जो सब पक्षी उछल रहे थे, अर्जुन उनको बाणोंसे टुकडे टुकडे कर कर जलते हुए अग्निमें गिराने लगे। वे प्राणी सब देह काटे जानेसे बडा कोलाहल मचाते हुए वेगसे कुछ ऊपर चढकर फिर उस खाण्डव वनही में गिरने गिरने लगे, समुद्रमथनेके कालमें जैसा घोर शब्द उठा था वैसेभी बाणोंसे घायल वनैले जानवरोंका बडा कोलाहल सुन पडने लगा और जलते हुए अग्निकी बडी बडी शिखा देवोंको घबराहटमे डालनेवाली वनके आकाश मण्डलमें छागई। (७-१४)

अनन्तर महात्मा देवगण उस अग्नि

ततो जग्मुर्महात्मानः सर्व एव दिवौकसः ॥ १५ ॥
शतक्रतुं सहस्राक्षं देवेशमसुरार्दनम् ॥ १६ ॥

देवा ऊचुः — किं न्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना ।
कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच — तच्छ्रुत्वा वृत्रहा तेभ्यः स्वयमेवान्ववेक्ष्य च ।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ॥ १८ ॥
महता रथवृन्देन नानारूपेण वासवः ।
आकाशं समवाकीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ॥ १९ ॥
ततोऽक्षमात्रा व्यसृजन्धाराः शतसहस्रशः ।
चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति ॥ २० ॥
असंप्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः ।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित्पावकं गताः ॥ २१ ॥
ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा ।
पुनरेव महामेघैरम्भांसि व्यसृजद्बहु ॥ २२ ॥
अर्चिर्धाराभिसंबद्धं धूमविद्युत्समाकुलम् ।
बभूव तद्वनं घोरं स्तनयित्नुसमाकुलम् ॥ २३ ॥ [८४५२]

इति श्रीमहाभा० आदि० खाण्डवदाहपर्वणि इन्द्रक्रोधे अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्याऽथ वर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत्।

शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ १ ॥

खाण्डवं च वनं सर्वं पाण्डवो बहुभिः शरैः।

प्रच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव चन्द्रमाः ॥ २ ॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः।

संछाद्यमाने खे बाणैरस्यता सव्यसाचिना ॥ ३ ॥

तक्षकस्तु न तत्राऽऽसीन्नागराजो महाबलः।

दह्यमाने वने तस्मिन्कुरुक्षेत्रं गतो हि सः ॥ ४ ॥

अश्वसेनोऽभवत्तस्य तक्षकस्य सुतो बली।

स यत्नमकरोत्तीव्रं मोक्षार्थं जातवेदसः ॥ ५ ॥

न शशाक स निर्गन्तुं निरुद्धोऽर्जुनपत्रिभिः।

मोक्षयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्यते।

निगीर्यमाणा साऽक्रामत्सुतं नागी मुमुक्षया ॥ ७ ॥

तस्याः शरेण तीक्ष्णेन पृथुधारेण पाण्डवः।

शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यच्छचीपतिः ॥ ८ ॥

आदिपर्वमें दोसौ उनतीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर पाण्डुनन्दन अर्जुनने देवराजको उस प्रकार जल वर्षाते देखकर अपना उत्तम अस्त्र प्रकट करके बाण वर्षा कर उसको रोका। चन्द्रमा जिस प्रकार ओससे जगको छाय देता है वैसही अमेयात्मा पाण्डुनन्दनने सैकडों बाणोंसे सम्पूर्ण खाण्डव वनको छुपाया। वहांका आकाश मण्डल सव्यसाची धनञ्जयके फेंके बाणोंसे ऐसा ढंपा, कि कोई प्राणी वहांसे निकल नहीं सका। पर महाबली सर्पराज तक्षक उस समय वहां नहीं था। जब खाण्डवदाह आरम्भ हुआ था, तब कुरुक्षेत्रमें गया था। उसका पुत्र बली अश्वसेन वहां था। तक्षकके उस पुत्रने अग्निसे निकलनेकी बडी चेष्टा की, अर्जुनके बाणोंसे बद्ध हो कर निकल नहीं सका। (१—६) फिर उस

आगे उसकी माता सर्पकन्याने उसको निगल कर बचाया। नागकन्या उसे बचानेकी चाहसे उसका सिर निगल कर उसकी पूंछको निगलती हुई आकाशमार्गमें निकल रही थी, ऐसे समयमें अर्जुनने उसका देख चौडी नोकवाले तेजबाणसे उस सर्पिनका सिर काट

तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम्।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत॥९॥
तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः।
द्विधा त्रिधा च खगतान्प्राणिनः पाण्डवोऽच्छिनत्॥१०॥
शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम्।
पावको वासुदेवश्चाप्यप्रतिष्ठो भविष्यसि॥११॥
ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्याशुगैः शरैः।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन्॥१२॥
देवराजोऽपि तं दृष्ट्वा संरब्धं समरेऽर्जुनम्।
स्वमस्त्रमसृजत्तीव्रं छादयित्वाऽखिलं नभः॥१३॥
ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन्सर्वसागरान्।
वियत्स्थो जनयन्मेघाञ्जलधारासमाकुलान्॥१४॥
ततोऽशनिमुचो घोरांस्तडित्स्तनितनिःस्वनान्।
तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम्॥१५॥
वायव्यमभिमन्त्र्याथ प्रतिपत्तिविशारदः।
तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद्विनाशितम्॥१६॥

डाला। शचीनाथने यह देखकर अश्वसेन-को बचानेके लिये उसीक्षण पवन चाल कर अर्जुनको मोहमें डाला। उस अव-सरमें अश्वसेन बचकर भागा। अर्जुनने तब उस सर्पसे ठगे जाकर और वह माया देखकर आकाश तक पहुंचे हुए भयानक प्राणियोंको दो तीन भागोंमें काट कूट डाला। ९—१०

आकाश मण्डलको छाय सहस्रनेत्रसे लड़ाई मचायी। देवराजनेभी उनको युद्धमें कटिबद्ध देखकर अपना तीक्ष्ण अस्त्र छोड़कर आकाश मण्डलको छा लिया। अनन्तर पवनने बड़े शब्दके साथ फैलकर सम्पूर्ण समुद्रमें हलचल मचाके अति घोर बादल वृन्द उपजाय। उन सब बादलोंसे उस ठौरमें बिजली

जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः ।
क्षणेन चाभवद्व्योम सम्प्रशान्तरजस्तमः ॥ १७ ॥
सुखशीतानिलवहं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम् ।
निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग्विविधाकृतिः ॥ १८ ॥
सिच्यमानो वसौघैस्तैः प्राणिनां देहनिःसृतैः ।
प्रजज्वालाऽथ सोऽर्चिष्मान्स्वनादैः पूरयञ्जगत् ॥ १९ ॥
कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दावमहङ्कृताः ।
खमुत्पेतुर्महाराज सुपर्णाद्याः पतत्रिणः ॥ २० ॥
गरुत्मान्वज्रसदृशैः पक्षतुण्डनखैस्तथा ।
प्रहर्तुकामो न्यपतदाकाशात्कृष्णपाण्डवौ ॥ २१ ॥
तथैवोरगसङ्घाताः पाण्डवस्य समीपतः ।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः ॥ २२ ॥
तांश्चकर्त शरैः पार्थः सरोषाग्निसमुक्षितैः ।
विविशुश्चाऽपि तं दीप्तं देहाभावाय पावकम् ॥ २३ ॥
ततोऽसुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः ॥ २४ ॥

तिससे इन्द्रके उस वज्र और बादलोंका वीर्य तथा तेज नष्ट हुआ, और जलधारा सूखी तथा बिजली नष्ट हुई, पल भरमें आकाश मण्डल गर्द और अन्धेरेसे साफ होगया। सुखदायी ठण्डी हवा चलने लगी और सूर्यमण्डलने पहिलेकी प्रकृति प्राप्त की; तब अग्नि बिना रोक टोक देहियोंकी देहसे निकली हुई चर्बीसे और भी प्रबल होकर आनन्दकी उमङ्गमें नाना आकार धरके और बडे शब्दसे जग भरमें शिखायें फैलाकर जल उठा। (१५—१९)

हे महाराज ! सुपर्ण आदि पतत्रीगण श्रीकृष्ण और अर्जुनसे उस खाण्डव दावानलको रक्षित होते देखकर अहङ्कारसे आकाशको उडे और वज्रसमान पंख चोंच और नखोंसे वासुदेव और धनञ्जयको मारनेकी इच्छासे आकाशसे नीचे उतर आये तथा जलतेहुए मुखवाले विषैले सर्पगण कठोर विष गिराते हुए पाण्डवके सामने आ गिरे। आगे पाण्डुनन्दनने क्रोधकी आगसे सुलगे हुए बाणोंसे उन सर्पोंको काट कूट डाला, सो वे देहको नष्ट करनेके लिये भले प्रकार जलते हुए अग्निमें जा गिरे। (२०—२३)

अनन्तर असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, और पन्नगगण लडनेके लिये बडा कोला-

अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसंमूर्च्छितौजसः ॥ २५ ॥
तेषामतिव्याहरतां शस्त्रवर्षं च मुञ्चताम् ।
प्रममाथोत्तमाङ्गानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणारिविनाशनः ।
दैत्यदानवसङ्घानां चकार कदनं महत् ॥ २७ ॥
अथाऽपरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तथा ।
वेलामिव समासाद्य व्यतिष्ठन्नमितौजसः ॥ २८ ॥
ततः शक्रोऽतिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः ।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समुपाद्रवत् ॥ २९ ॥
वेगेनाऽशनिमादाय वज्रमस्त्रं च सोऽसृजत् ।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः ॥ ३० ॥
ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम् ।
जगृहु सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तथा ॥ ३१ ॥
कालदण्डं यमो राजन्गदां चैव धनेश्वरः ।

हल्ला मचाते हुए दौडे । क्रोधके मारे तब उनका तेज बढने लगा । वे अय कण अर्थात् लोहेकी गेंद गिरानेके यन्त्र और चक्राश्म अर्थात् पत्थरके टुकडोंके बडी दूर फेंकनेका लकडीका बना यन्त्र, भुशुण्डी अर्थात् पत्थर फेंकनेका चमडेकी रस्सीसे बना हुआ यन्त्र यह सब अस्त्र लेके हाथ उठाकर श्रीकृष्ण और अर्जुनको नष्ट करनेके लिये उद्यत हुए । बिभत्सु उनको अयोग्य वचन कह कहके बाण बरसाते देखकर पैने बाणोंसे उनके सिर मथने लगे । शत्रुनाशी बडे तेजस्वी श्रीकृष्ण चक्रसे उन सब दैत्य दानवोंको नष्ट करने लगे । कोई कोई अति बली दैत्य दानव शरोंसे बिद्ध और चक्रसे घायल हो उत्साह छोड ऐसे चुप हुए, कि जैसे जलके सोतेमें लहरकी चोटसे घूमते हुए तिनके तीर पाके स्थिर होते हैं । (२५-२८)

अनन्तर देवोंके अधीश असुरसूदन इन्द्र अति क्रोधकर पाण्डुरवर्ण गज पर चढके धनञ्जय और श्रीकृष्ण पर चढ आये और वेगसे अमोघ अस्त्र वज्र लेकर उन पर छोडनेको उद्यत होके देवोंसे बोले, कि इस बार यह दोनों मरेंगे । देवोंने देवराजको महावज्र उठाते देखकर सबने अपना अपना अस्त्र ले लिया । हे महाराज ! यमराज कालदण्ड लेकर रहे

ततउत्पाट्य पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥ ४९ ॥
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः ।
शरैर्विध्वंसयामास गिरेः शृंगं सहस्रधा ॥ ५० ॥
गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः परिशीर्यतः ॥ ५१ ॥
तेनाऽभिपतता दावं शैलेन महता भृशम् ।
शृङ्गेण निहतास्तत्र प्राणिनःखाण्डवालयाः॥ ५२ ॥ [८५११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि देवकृष्णार्जुनयुद्धे ऊनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

वैशम्पायन उवाच–तथा शैलनिपातेन भीषिताः खाण्डवालयाः ।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ॥ १ ॥
द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा ।
मृगाः समहिषाश्चैव शरभाः पक्षिणस्तथा ॥
समुद्विग्ना विसस्रुपुस्तथाऽन्या भूतजातयः ॥ २ ॥
तं दावं समुदैक्षन्त कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ।
उत्पातनादशब्देन संत्रासितमिव स्थितम् ॥ ३ ॥
ते वनं प्रसमीक्ष्याऽथ दह्यमानमनेकधा ।
कृष्णमभ्युद्यतास्त्रं च नादं मुमुचुरुल्बणम् ॥ ४ ॥

फेंका। अर्जुनने अजिह्मग, जलती हुई नोख वाले बडे तेजबाणोंसे उसपहाडकी चोटीको सहस्र खण्डोंमें तोड डाला। आकाश मण्डल मे चन्द्र सूर्यादि ग्रह टुकडेही गिरनेके काल मे जैसे पडते है, वह टूटी फूटी पहाडकी चोटी गिरनेके कालमें तसीही दीख पडी। उस बडी भारी चोटीके खाण्डववन पर गिर जानेके हेतु उस काल उसकी चोटसे बहुतेरे प्राणियोंने प्राण छोडे। (४९-५२)

दोसौ उनतीस अध्याय समाप्त। [८५११]

आदिपर्वमें दो सौ तीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर खाण्डव वनके रहने वाले, दानव राक्षस सर्प ऋक्ष भेडिये उन्मत्त हस्ती केशरवाले सिंह, बाघ और दूसरे वनैले भूत उस पहाडके गिरनेसे भय खाय भीतिसे भागने लगे; और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन को अस्त्र उठाये और उस वनकी सब ओरको बडे शब्दसे डोलता हुआ देखा। तब वे वनकी चारों ओरसे जलते और



तेन नादेन रौद्रेण नादेन च विभावसोः ।
ररास गगनं कृत्स्नमुत्पातजलदैरिव ॥ ५ ॥
ततः कृष्णो महाबाहुः स्वतेजोभास्वरं महत् ।
चक्रं व्यसृजदत्युग्रं तेषां नाशाय केशवः ॥ ६ ॥
तेनाऽऽर्ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः।
निकृत्ताः शतशः सर्वा निष्पेतुरनलं क्षणात् ॥ ७ ॥
तत्राऽदृश्यन्त ते दैत्याः कृष्णचक्रविदारिताः।
वसारुधिरसंपृक्ताः सन्ध्यायामिव तोयदाः ॥ ८ ॥
पिशाचान्पक्षिणो नागान्पशूंश्चैव सहस्रशः।
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत्तत्र भारत ॥ ९ ॥
क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्याऽमित्रघातिनः।
छित्त्वाऽनेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः ॥ १० ॥
तथा तु निघ्नतस्तस्य पिशाचोरगराक्षसान् ।
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ॥ ११ ॥
समेतानां तु सर्वेषां दैवतानां च सर्वशः ।
विजेता नाऽभवत्कश्चित्कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णको अस्त्र मारते देखकर बडा भयानक शब्द करने लगे। उन सब वनैले जीवोंके भयानक शब्द और अग्निकी चटचटाहट से आकाश मण्डल ऐसे गूंजने लगा, कि जैसे मेघ गर्जनसे गूंजे। (१५)

अनन्तर महाभुज श्रीकृष्णने उनको मारनेके लिये अपने तेजसे जलता हुआ अति उग्र तेजवाला बडा भारी चक्र उठाया।

से नहाकर सन्ध्याकालके घने बादलकी भांति दीखने लगे। हे भारत! वृष्णि नन्दन श्रीकृष्ण यमराजकी भांति सहस्रों पिशाच पक्षी, सर्प और पशु मारते हुए फिरने लगे। सर्व भूतोंकी आत्मा श्रीकृष्ण के इस प्रकार पिशाच उरग राक्षस आदिको नष्ट करने पर उस कालमे उन का आकार बडा उग्र जान पडने

तयोर्बलात्परित्रातु त च शक्तं यदा सुराः ।
नाऽशक्नुवन्समाधितुं तदाऽभूवन्पराङ्मुखाः॥१३॥
शतक्रतुस्तु संप्रेक्ष्य विमुखानमरांस्तथा ।
बभूव मुदितो राजन्प्रशंसन्केशवार्जुनौ ॥ १४ ॥
निवृत्तेष्वथ देवेषु वागुवाचाऽशरीरिणी ।
शतक्रतुं समाभाष्य महागम्भीरनिःस्वना॥ १५ ॥
न ते सखा संनिहितस्तक्षको भुजगोत्तमः ।
दाहकाले खाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ॥ १६ ॥
न च शक्यो युधा जेतुं कथंचिदपि वासव ।
वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम ॥१७ ॥
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिवि श्रुतौ ।
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ॥ १८ ॥
नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमाजितौ युधि ।
अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ॥ १९ ॥
पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिंनरपन्नगैः ॥ २० ॥
तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव ।
दिष्टं चाऽप्यनुपश्यैतत्खाण्डवस्य विनाशनम्॥ २१॥

दिखाकर चल गये । (६–१३)

हे महाराज ! अमरनाथ अमरोंको मुख मोडते देख प्रसन्न होकर केशव और अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे।अनन्तर सब स्वर्गवासियोंके निवृत्त होनेपर महेन्द्र को इस प्रकार आकाशवाणी हुई,कि तुम्हारा सखा सर्पराज तक्षक मारा नहीं गया,खाण्डवदाहके कालमें वह कुरुक्षेत्र में गया था।हे इन्द्र! तुम मेरे वचनसे निश्चय जानना,कि कोई भी किसी प्रकारसे वासुदेव अर्जुनका युद्धमें सामना नहीं कर सकेगा । यह लोग देवलोकमें प्रशंसित पुरातन देव नर नारायण हैं; इनका जैसा वीर्य और जितना पराक्रम है,वह तुमभी जानते हो । यह युद्धमें अजेय और दुर्द्धर्ष हैं,इनको पराजय करना सर्व लोकोंमें किसीकी सामर्थ नहीं है । यह दो पुराण ऋषिसत्तम; अमर, असुर, यक्ष राक्षस, गन्धर्व, नर, किन्नर,पन्नग आदि सबोंके बडे पूजनीय हैं, सो हे इन्द्र ! तुम देवोंके साथ यहांसे लौट जाओ । यह खाण्डवदाह विधिपूर्वकही हुआ । (१४-२१)

इति वाक्यमुपश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः ।
क्रोधामर्षौ समुत्सृज्य संप्रतस्थे दिवं तदा ॥ २२ ॥
तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः ।
सहिताः सेनया राजन्ननुजग्मुः पुरंदरम् ॥ २३ ॥
देवराजं तदा यान्तं सह देवैरवेक्ष्य तु ।
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ॥ २४ ॥
देवराजे गते राजन्प्रहृष्टौ केशवार्जुनौ ।
निर्विशङ्कं वनं वीरौ दाहयामासतुस्तदा ॥ २५ ॥
स मारुत इवाऽभ्राणि नाशयित्वाऽर्जुनः सुरान् ।
व्यधमच्छरसंघातैर्देहिनः खाण्डवालयान् ॥ २६ ॥
न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ॥ २७ ॥
नाऽशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ।
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे ॥ २८ ॥
शतं चैकेन विव्याध शतमेकं पतत्रिणाम् ।
व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात्कालहता इव ॥ २९ ॥
न चाऽलभन्त ते शर्म रोधःसु विषमेषु च ।
पितृदेवनिवासेषु संतापश्चाऽप्यजायत ॥ ३० ॥

भूतसंघाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ।
रुरुर्दुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः ॥ ३१ ॥
तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ।
विद्याधरगणाश्चैव ये च तत्र वनौकसः ॥ ३२ ॥
न त्वर्जुनं महाबाहो नापि कृष्णं जनार्दनम् ।
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद्योद्धुं कुतः पुनः ॥ ३३ ॥
एकायनगता येऽपि निष्पेतुस्तत्र केचन ।
राक्षसा दानवा नागा जघ्ने चक्रेण तान्हरिः ॥ ३४ ॥
ते तु भिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद्गतासवः ।
पेतुरन्ये महाकायाः प्रदीप्ते वसुरेतसि ॥ ३५ ॥
स मांसरुधिरौघैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ।
उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ ३६ ॥
दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च संप्रदीप्तमहाननः ।
दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन्प्राणभृतां वसाः ॥ ३७ ॥
तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः ।
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः ॥ ३८ ॥

सभी ठौर कडे तापसे तपने लगे। अगणित प्राणी दीन मनसे बडी चिल्लाहटके साथ रोने पीटने लगे, हस्ती हरिन और भेडिये चिल्लाकर रोने लगे, उस शब्दसे अति दूरकी गङ्गाचर और समुद्रचर मछलियां और विद्याधर तथा उन स्थानोंके निकट जितने वनवासी थे,सब बहुत भय खागये। हे महाभुज! किसीका कृष्णार्जुनसे लडना तो दूर रहा,अर्जुन और जनार्दन पर दृष्टि चलाना भी वन नहीं पडा जिन सब राक्षस, दानव और नागोंने एकत्र मिल कर दौडके भागना चाहा। श्रीकृष्णने उनको चक्रसे नष्ट किया, वे चक्रके वेगसे सिरकटे,धडकटे वनके प्राण छोड जलती हुई आगमे जा गिरे और दूसरे बडे भारी भारी जीवभी आगके मुहमें गिरने लगे। तब अग्नि मांस रक्त और चर्बीसे भले प्रकार तृप्त होय धुआं तज आकाशको चढ गये और पिङ्गल आंखें, जीभ, मुख और ऊंचे ऊंचे बालो को प्रज्वलित कर जीवोंकी चर्बी पीने लगे। उन कृष्णार्जुनसे अमृत पी कर प्रमुदित और तृप्त होय परम सन्तोष प्राप्त किया। (२९—३८)

अनन्तर मधुसूदनने एकायक देखा, कि मय नामक असुर तक्षकके वासस्थान से भागा जाता है। और पवनके सारथि

तथाऽसुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ।
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ॥ ३९ ॥
तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ।
शरीरवाञ्जटी भूत्वा नदन्निव बलाहकः ॥ ४० ॥
विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम् ।
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः ॥ ४१ ॥
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ।
अभिधावाऽर्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाऽब्रवीत् ॥४२॥
तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनंजयः ।
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ॥ ४३ ॥
तं न भेतव्यमित्याह मयं पार्थो दयापरः ॥ ४४ ॥
तं पार्थेनाऽभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद्दाशार्हः पावको न ददाह च ॥४५॥
वैशम्पायन उवाच- तद्वनं पावको धीमान्दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ॥ ४६ ॥
तस्मिन्वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा ॥ ४७ ॥ [८५५८]

इति श्रीमहाभारते० खाण्डवदाहपर्वणि मयदानवत्राणे त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

अग्नि शरीर लेके और जटा धरके बादल के समान शब्द करते हुए उसको पकड लेनेकी इच्छा कर रहे हैं; तब वासुदेवजी उसको मारनेके लिए चक्र उठाके खडे हुए। मयदानवने उनको चक्र उठाते और अग्निको निगलनेकी इच्छा पर आते देखकर कहा, कि हे अर्जुन दौडो मुझे बचाओ। अर्जुन उसका वह करुणस्वर सुनकर मानो जीवन दे कहके बोले कि मत डरो। वह दयाशील थे, सो उसको अभय दिया। अनन्तर अर्जुनने नमुचिके भाई उस दैत्यको अभय देने पर दाशार्ह श्रीकृष्णने फिर उसे मारना नहीं चाहा। और अग्नि भी जलानेको प्रवृत्त नहीं हुए। (३९—४५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धीमान हुताशनने अर्जुन और श्रीकृष्ण द्वारा इन्द्र-से रक्षित होकर पन्द्रह दिनमें उस वन-को जलाया। उस वनके जलानेके समयमें अग्निने केवल अश्वसेन,मय और शार्ङ्ग नामक चार पक्षी इन छओंको नहीं जलाया। (४६—४७)

जनमेजय उवाच– किमर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन्वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतत्प्रचक्ष्व मे ॥ १ ॥
अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्शार्ङ्गकाणां न कीर्तितम् ॥ २ ॥
तदेतदद्भुतं ब्रह्मञ्शार्ङ्गकाणामनामयम् ।
कीर्तयस्वाऽग्निसम्मर्दे कथं ते न विनाशिताः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच–यदर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि तथाभूतमरिंदम ॥ ४ ॥
धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान्मन्दपाल इति श्रुतः ॥ ५ ॥
स मार्गमाश्रितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्वाध्यायवान्धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत ।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम् ॥ ७ ॥
स लोकानफलान्दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि ।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान्दिवौकसः ॥ ८ ॥

आदिपर्वमें दोसौ इकतीस अध्याय।

जनमेजय बोले, कि हे ब्रह्मन् ! यह प्रगट करो, कि उस वनके जलानेके समय उस दशामें अग्निने क्यों शार्ङ्गक पक्षियोंको नहीं जलाया। अश्वसेन और मयदानव जिन उपायोंसे नहीं जले वह आपने कह सुनाया है, पर चार शार्ङ्गके न जलनेका कारण नहीं कहा; हे ब्रह्मन् ! शार्ङ्गकोंका बचना मुझको अचरजसा जान पडता है; कहो, कि वे उस अग्निदाहमें क्यों नहीं मरे। (१—३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शत्रुदमन! उस दशामें हुताशनने जिस कारण शार्ङ्गकोंको नहीं जलाया, वह आपसे कहता हूं, सुनो। हे महाराज ! मन्दपाल नामक विख्यात तपस्वी विद्वान् व्रतशील धर्मके जानकार अति श्रेष्ठ एक महर्षि थे। वह स्वाध्यायमें नियुक्त और जितेन्द्रिय होके सदा तपस्या और धर्म करते थे। वह ऊर्ध्वरेता ऋषियोंकी बाटसे चलकर तपस्याके दूसरे पारको उतर गये थे। हे भारत ! जब वह देह छोडके पितृलोकको गये, तब बटोरी हुई तपस्याका कोई फल प्राप्त नहीं हुआ। (४–७)

उन महर्षिने अपनी कठोर तपस्यासे उपार्जन किये हुए लोकमें न जाने पाकर

मन्दपाल उवाच—किमर्थमावृता लोका ममैते तपसाऽर्जिताः ।
किं मया न कृतं तत्र यस्यैतत्कर्मणः फलम् ॥ ९ ॥
तत्राऽहं तत्करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम् ।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः ॥ १० ॥
देवा ऊचुः— ऋणिनो मानवा ब्रह्मञ्जायन्ते येन तच्छृणु ।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः ॥ ११ ॥
तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा सुतैः ।
तपस्वी यज्ञकृच्चापि न च ते विद्यते प्रजा ॥ १२ ॥
त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः ।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्ष्यसि पुष्कलान् ॥ १३ ॥
पुंनाम्नो नरकात्पुत्रस्त्रायते पितरं श्रुतिः ।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व ब्रह्मसत्तम ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम् ।
क्व नु शीघ्रमपत्यं स्याद्बहुलं चेत्यचिन्तयत ॥ १५ ॥
स चिन्तयन्नभ्यगच्छत्सुबहुप्रसवान्खगान् ।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गको भूत्वा जरितां समुपेयिवान् ।

धर्मराजके निकट देवोंसे पूछा, कि मेरी तपस्यासे उपार्जन किया हुआ पुण्यलोक क्यों रुका है? जिन कर्मोंके करनेसे इन सब पुण्यलोकोंमें जाया जाता है, क्या मैंने उन कर्मोंको नहीं किया है? हे देवगण! आप कहें, कि क्यों मेरी तपस्याका फल रुका हुआ है, मैं उसको करनेको प्रस्तुत हूं। (८—१०)

कर्मोंसे यह ऋण छूटता है। तुमने बहुत तपस्या और यज्ञ किया है, पर तुम्हारे सन्तान नहीं है सो यह सब पुण्यलोक तुम्हारे लिये रुके हैं। तुम पुत्र उपजाओ, तो इन श्रेष्ठ लोकोंको भोगने पाओगे। हे ब्रह्मश्रेष्ठ! श्रुति है, कि पुत्र पिताको पुन्नामक नरकसे बचाता है सो तुम पुत्र उपजानेका प्रयत्न करो। (११—१४)

तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः ॥ १६ ॥
तानपास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति ।
बालान्सुतानण्डगतान्सह मात्रा मुनिर्वने ॥ १७ ॥
तस्मिन्गते महाभागे लपितां प्रति भारत ।
अपत्यस्नेहसंयुक्ता जरिता बह्वचिन्तयत् ॥ १८ ॥
तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान्वने ।
न जहौ पुत्रशोकार्ता जरिता खाण्डवे सुतान् ॥ १९ ॥
बभार चैतान्संजातान्स्ववृत्त्या स्नेहविक्लवा ।
ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्ट्वानृषिः ॥ २० ॥
मन्दपालश्चरंस्तस्मिन्वने लपितया सह ।
तं संकल्पं विदित्वाऽग्नेर्ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान् २१ ॥
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ।
पुत्रान्प्रति वदन्भीतो लोकपालं महौजसम् ॥ २२ ॥
मन्दपाल उवाच—त्वमग्ने सर्वलोकानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक ॥ २३ ॥

की जातिको स्वल्पकाल में बहुत सन्तान होती है, शार्ङ्गिक पक्षी बनके जरिता नाम शार्ङ्गितकासे मिलकर उसके गर्भसे चार ब्रह्मवादी पुत्र उपजाये। अनन्तर वह अण्डेसे उपजे हुए बच्चोंको उनकी माताके साथ उस वनहीमें छोडके लपिताके पास गये। (१६—१७)

हे भारत ! उन महाभागके लपिताके पास चले जानेपर जरिता पुत्रस्नेहसे कातर हो अनेक प्रकारकी चिंता करने लगी। ऋषिके उस खांडव वनमें उन अण्डोंमे स्थित बच्चोंको छोडने परभी जरिता पुत्र शोकसे कातर हो कर त्यागनेके अयोग्य उन बच्चोंको छोड नहीं सकी, उनको स्नेहके मारे अपनी वृत्ति अवलम्बन कर पालने लगी। (१८--२०)

अनन्तर ऋषि मन्दपालने लपिताके साथ उस वनमें चरते हुए देखा, कि अग्नि खाण्डव वन जलानेको आरहा है; ब्रह्मके जानकार विप्रर्षि वह महातेजस्वी मन्दपाल जातवेदाका वह अभिप्राय समझकर, अपनी सन्तानोंको बालक जानके उनके लिये उनसे विनय करनेकी इच्छासे भयखाय स्तव करने लगे, कि हे अग्ने ! तुम सर्वलोकोंके मुखस्वरूप हुए हो; तुम हवन के पदार्थ ग्रहण किया करते हो। हे पावक ! तुम सर्व लोकोंके हृदयमें छिप कर चरा करते हो।

त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन् ॥ २४॥
त्वया विश्वमिदं सृष्टं वदन्ति परमर्षयः ।
त्वदृते हि जगत्कृत्स्नं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २५ ॥
तुभ्यं कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् २६॥
त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान्सविद्युतः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ २७॥
जातवेदस्त्वयैवेदं विश्वं सृष्टं महाद्युते ।
तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम् ॥ २८ ॥
त्वयाऽऽपो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत्सम्प्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
त्वमेव दहनो देव त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः ।
त्वमश्विनौ यमौ मित्रः सोमस्त्वमसि चाऽनिलः ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच- एवं स्तुतस्तदा तेन मन्दपालेन पावकः ।
तुतोष तस्य नृपते मुनेरमिततेजसः ॥ ३१ ॥

उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ॥ ३२ ॥
तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम् ।
प्रदहन्खाण्डवं दावं मम पुत्रान्विसर्जय ॥ ३३ ॥
तथेति तत्प्रतिश्रुत्य भगवान्हव्यवाहनः ।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ३४ ॥ [८५०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

ततः प्रज्वलिते वह्नौ शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः ।
व्यथिताः परमोद्विग्ना नाऽधिजग्मुः परायणम् ॥ १ ॥
निशाम्य पुत्रकान्बालान्माता तेषां तपस्विनी ।
जरिता दुःखशोकार्ता विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥
जरितोवाच — अयमग्निर्दहन्कक्षमित आयाति भीषणः ।
जगत्संदीपयन्भीमो मम दुःखविवर्धनः ॥ ३ ॥
इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः ।
अबर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणाः ॥ ४ ॥
त्रासयंश्चाऽयमायाति लेलिहानो महीरुहान् ।

प्रसन्न हुए और प्रीतिपूर्वक उनसे कहा, कि बोलो तुम्हारा अभीष्ट क्या है मैं पूरा कर देता हूं । मन्दपाल दोनों हाथ जोडके बोले, कि हव्यवाहन ! तुम जब खाण्डववनको जलाओगे, तब मेरे बच्चोंको मत जलाना । भगवान हव्यवाहनने तथास्तु कहके मान लिया, और उस कालमें खाण्डवदाव जलानेके वास्ते जल उठे । (३२-३४) [८५०२]

आदिपर्वमें दोसो इकतीस अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें दोसो बत्तीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर अग्निके जलने पर वे शार्ङ्गकपक्षीके बच्चे बहुत भय खाय घबरा उठे; उनको ढूंढने परभी बचनेका कोई उपाय नहीं मिला । उनकी माता तपस्विनी जरिता बच्चोंको बहुत छोटे देखकर दुःख शोकसे विलपती हुई कहने लगी, कि मेरा दुःख बढानेवाला यह भयानक अग्नि वनको जलाता हुआ सब ठौरमें उजाला करके डरावने स्वरूपमें आय रहा है । पर मेरे छोटे छोटे इन बच्चोंके पंख नहीं जमे है, तथा ये उड भी नहीं सकते और अज्ञान है ; और यह पुरुषोंकी एकही गति है, यह मेरे हृदय दुःखी हो रहे है । यह आग्न इन बडी वृक्षोंको चाटता

अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम ॥ ५ ॥
आदाय च न शक्नोमि पुत्रांस्तरितुमात्मना ।
न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे ॥ ६ ॥
कं तु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम् ।
किं नु मे स्यात्कृतं कृत्यं किं वा मन्यत पुत्रकाः ॥ ७ ॥
चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन ।
छादयिष्यामि वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह ॥ ८ ॥
जारितारौ कुलं ह्येतज्ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम् ।
सारिसृक्वः प्रजायेत पितॄणां कुलवर्धनः ॥ ९ ॥
स्तम्बमित्रस्तपःकुर्याद् द्रोणो ब्रह्मविदां वरः ।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा ॥ १० ॥
कमुपादाय शक्येयं गन्तुं कष्टाऽऽपदुत्तमा ।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला ।
नाऽपश्यत्स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदाऽनलात् ११
वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवाणं शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम् ।

और भय उभाड़ता हुआ इधर आ रहा है। पर मेरे इन बिना पंखके बच्चोंको भागनेकी शक्ति नहीं है. और मुझ अकेलीको भी इतनी सामर्थ नहीं है कि इन सबोंको लेकर इस विपत समुद्रसे भाग सकूं. इनको छोड़कर भागभी नहीं सकती हूं। हा! मेरा हृदय मानो डोल रहा है। मैं किस बच्चेको लेकर जाऊं. किसको छोड़. क्या करूं जो मनोरथ सिद्ध हो? ए बेटो! तुम क्या विचारते हो? मैं तो सोच समझ कर तुम्हारे बचनेका कोई उपाय नहीं देखती। मैं अपनी देहसे तुमको छिपाके तुम्हारे साथ जल मरूंगी। तुम्हारे निर्दयी पिता यहांसे चल जानेके कालमें बोला था. कि "मेरे चार बेटोंमें ज्येष्ठ जरितारि नामक पुत्रसे वंश प्रतिष्ठित होगा. सारिसृक्व नामक पुत्र सन्तान उपजायके कुल बढ़ावेगा; स्तम्बमित्र नामक पुत्र तपस्या करेगा और द्रोण नामक ब्रह्मवित पुत्र वेदमें पण्डित होगा।" पर अब यह दुःखदायी विपद आ पड़ी. मैं किसे ले जा सकूंगी? क्या करनेसे कार्य सिद्ध होगा? जरिता इससे बहुविधि सोच कर व्याकुल हुई उसको अपनी बुद्धिसे अपने पुत्रोंके बचानेका कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा। ५—११ ।

वैशम्पायनजी बोले, कि शार्ङ्गक पक्षी माताको इस प्रकार विलपते सुनकर

स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट् ॥१२॥
अस्मास्विह विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव ।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात्कुलसन्ततिः १३॥
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद्यत्कुलस्य नः ।
तद्वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत्तव ॥ १४ ॥
मा त्वं सर्वविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः ।
न ह्रीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितु ॥१५॥
जरितोवाच — इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्याऽस्य समीपतः ।
तदाविशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम् ॥१६॥
ततोऽहं पांसुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः ।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः ॥ १७ ॥
तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहन्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वो वादो मोक्षार्थं च हुताशनात्॥१८॥
शार्ङ्गा ऊचुः— अबर्हान्मांसभूतान्नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत ।
पश्यमाना भयमिदं प्रवेष्टुं नाऽत्र शक्नुमः॥ १९ ॥

कहा, कि माता ! तू स्नेह छोडकर वहां जा, कि जहां आग नहीं हो ! हे माता! हम मर जायंगे तो तेरी और सन्तान उपज सकेगी;पर तेरी मरनेमे वंशरक्षाका उपाय न रहेगा। हे माता ! अब तेरे लिये वह काल आ पहुचा है, जब कि हमारे साथ प्राण छोडना अथवा हमें छोडके अपनेको बचाना, इन दो विषयोंकी भले प्रकार आलोचना वही करना चाहिये, जिसके करनेमे हमारे कुलका मंगल हो, तू फिर सर्वनाशी पुत्रस्नेह मत कर, ऐसा करनेमे स्वर्गलोकदायी पुत्र चाहनेवाले पिताका सब कर्म व्यर्थ हो जायगा। (१२—१५)

जरिता बोली, कि हे पुत्रो! इस वृक्षके निकट धरतीके भीतर मूषका बिल दीख पडता है, तुम तुरन्त इसमें जा घुसो; यहां अग्निका भय जाता रहेगा। तुम्हारे इसमे बैठनेसे मै धूलमे इस बिलका मुह तोप दूंगी, अब प्रज्वालित अग्निसे बचन का यही एक उपाय देखती हूं। जब आग बुझेगी, तब मै आकर बिलके मुख मे राखका ढेर हटा दूंगी। तुम अग्निमे बचनेके लिये मेरा यह वचन मानो। (१६—१८)

शार्ङ्गोंने कहा, कि हमारे पंख नहीं जमे है,हम मांसपिण्डही है,सो मांस खानेवाले मूस अवश्य हमको नष्ट करेंगे; इस

कथमग्निर्न नो धक्ष्येत्कथमाखुर्न नाशयेत् ।
कथं न स्यात्पिता मोघः कथं माता ध्रियेत नः॥२०॥
बिल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम्।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान्दाहो न भक्षणम् ॥ २१ ॥
गर्हितं मरणं नः स्यादाखुना भक्षिते बिले ।
शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ॥ २२ ॥[८६१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि जरिताविलापे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

जरितोवाच -- अस्माद्बिलान्निष्पतितमाखुं श्येनो जहार तम्।
क्षुद्रं पद्भ्यां गृहीत्वा च यातो नाऽत्र भयं हि वः॥१॥

शार्ङ्गका ऊचुः— न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाऽऽखुं कथंचन ।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः॥२॥
संशयो वह्निरागच्छेद् दृष्टं वायोर्निवर्तनम् ।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो बिले स्यान्नाऽत्र संशयः॥३॥

भयकी बातको जान बूझ कर हम इसके भीतर घुस नहीं सकते । अब क्योंकर अग्नि हमें न जलावे क्योंकर मूष हमें न खावे, क्योंकर पिताका पुत्र उपजाना व्यर्थ न होवे, क्योंकर हमारी माताका प्राण बचे, इनमेंसे किसीका एकभी उपाय नहीं देखते सो निश्चयही हमारी मृत्यु आ पहुंची है । पर बिलमे घुसे, तो मूषसे और बाहर रहे तो अग्निसे मरेंगे; इन दो मृत्युओंके विषयमें समय बूझके देखनेसे यही युक्ति होती है, कि अग्निसे जल मरना अच्छा है, मूषसे खाये जाना उचित नहीं है क्योंकि शिष्ट जनोंने अग्निमें शरीर छोडनेसे सुगति होगी। बिलमें मूषसे खाये जानेसे अनुचित मृत्यु होगी ।(१९-२२)[८६१४]

आदिपर्वमें दोसौ बत्तीस अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें दो सौ तैतीस अध्याय।

जरिता बोली, कि इस गड्ढेमे एक छोटा मूष निकला था एक बाज आके पावोंसे उसे पकड ले गया है; इस बिलमें तुमको भय नहीं है। शार्ङ्गोने कहा, कि हम बाजका मूष ले जानेका व्योरा नहीं जानते, और लेभी गया हो, तो उस बिलमें और अधिक मूष रहभी सकते है, उनसे हमको विना संदेह भय होसक्ता है; और यह अग्नि आवे कि नहीं इसमें संदेह है, क्योंकि उलटे वायुसे अग्निका बुझना भी देखा गया है सो बिलमें रहनेसे निश्चयही हमारी मृत्यु होगी और बाहर

निःसंशयात्संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर ख्वे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ४

जरितोवाच— अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततांवरम् ।
बिलादाखुं समादाय श्येनं पुत्रा महाबलम् ॥ ५॥
तं पतन्तं महावेगा वारिता पृष्ठतोऽन्वगाम् ।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात्॥६॥
यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि ।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥
स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाऽऽखुः पतत्रिणा ।
तदाऽहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ॥ ८ ॥
प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम् ।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ॥ ९॥

शार्ङ्गका ऊचुः— न विद्महे हृत मातः श्येनेनाऽऽखुं कथंचन ।
अविज्ञाय न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः॥ १० ॥

जरितोवाच— अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम् ।
नाऽस्ति वोऽत्र भयं पुत्राः क्रियतां वचनं मम॥११॥

रहनेसे मृत्यु होनेमें सदेह है । हे माता! जिस स्थानमें मृत्युका होना निश्चय है, उससे वह किसी प्रकार अच्छा है, कि जहां मृत्युमें संदेह है; सो न्यायके अनुसार तुमको आकाशहीको उड जाना उचित है; तुम्हारा जीवन बचे तो तुम दूसरे अच्छे पुत्र पासकोगी । (१—४)

जरिता बोली,कि "हे बेटो! जब पक्षीवर बाज बिलमे मूषको लेकर वेगसे भागा था, तब मैने उसके पीछे दौडकर असीस दिया था, कि"हे बाजराज !तुम हमारे शत्रुको लेके भागते हो, सो तुम विना शत्रु देवलोकमें सुनैाली देह पाकर बसो।"अनन्तरउस बाजके मूषको खाजाने पर मै उसे जता कर घरको लौट आयी। हे बेटो ! अब तुम चित्तमें कोइ शङ्का न उठाकर बिलमे जाओ,तुमको कोई शङ्का न होगी; महात्मा बाजने मेरे सामनेही मूष को खाडाला है। शार्ङ्गोने कहा कि हे मायी! हमने नहीं देखा, कि बाज मूषको हरले गया है, सो हम विशेष न जानके बिल में घुस नहीं सकते । जरिता बोली, बेटो। तुम मेरी बात मानो, इसमें तुम्हे कोई भय नहीं है, क्योंकि मै जानती हूं, कि बाज मूषको हर लेगया है । (५-११)

शार्ङ्गिका ऊचु — न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः ।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२ ॥
न चोपकृतमस्माभिर्न चाऽस्मान्वेत्थ ये वयम्।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान्का सती के वयं तव१३॥
तरुणी दर्शनीयाऽसि समर्था भर्तुरेषणे ।
अनुगच्छ पतिं मातः पुत्रानाप्स्यसि शोभनान्१४॥
वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान् ।
अथाऽस्मान्न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे ।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनामयम् ॥ १६ ॥
ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागात्त्वरितो हव्यवाहनः ।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः॥१७॥
ततस्तं ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहङ्गमाः ।
जरितारिस्ततो वाक्यं श्रावयामास पावकम्॥ १८ ॥ [८३३२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि
शार्ङ्गोपाख्याने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

शार्ङ्गोंने कहा, कि हम नहीं समझते, कि तुम झूठ उपचारसे हमारा भय भगाती हो, क्यों कि बुद्धि भयद्वारा विगडनेसे जो कर्म किया जाता है, वह ज्ञानसे नहीं होता है । हमने कभी तेरा उपकार नहीं किया, तुम हमें नहीं जानती कि हम कौन हैं, तुम दुःख उठाकर भी हमको क्यों पालती हो? तुम युवती और सुन्दरी हो, पतिको ढूंढने में समर्थ हो, इसलिये पतिके पास जाओ, तुम उनसे अच्छा पुत्र पा सकोगी। हम अग्निमें घुसकर अच्छे लोकमें जायेंगे। यदि अग्नि हमको न जलावें; तो फिर तुम हमारे पास आना। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शार्ङ्गी

निःसंशयान्संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ४

जरितोवाच— अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततांवरम् ।
बिलादाखुं समादाय श्येनं पुत्रा महाबलम् ॥ ५॥
तं पतन्तं महावेगा त्वरिता पृष्ठतोऽन्वगाम् ।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात्॥६॥
यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि ।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥
स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाऽऽखुः पतत्रिणा ।
तदाऽहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ॥ ८ ॥
प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम् ।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ॥ ९॥

शार्ङ्गका ऊचुः— न विद्महे हृतं मातः श्येनेनाऽऽखुं कथंचन ।
अविज्ञाय न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः॥ १० ॥

जरितोवाच— अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम् ।
नाऽस्ति वोऽत्र भयं पुत्राः क्रियतां वचनं मम॥११॥

रहनेमे मृत्यु होनेमें संदेह है। हे माता! जिस स्थानमें मृत्युका होना निश्चय है, उसमें वह किसी प्रकार अच्छा है, कि जहां मृत्युमें संदेह है; सो न्यायके अनुसार तुमको आकाशहीको उड़ जाना उचित है; तुम्हारा जीवन बचे तो तुम दूसरे अच्छे पुत्र पासकोगी । (१—४)

जरिता बोली,कि "हे बेटा! जब पक्षीवर बाज बिलसे मूसको लेकर वेगसे भागा था, तब मैंने उसके पीछे दौडकर असीस दिया था कि "हे बाजराज ! तुम हमारे शत्रुको लेके भागते हो, सो तुम बिना शत्रु देवलोकमें सुनौली देह पाकर बसो।" अनन्तर उस बाजके मूसको खाजाने पर मै उसे जता कर घरको लौट आयी। हे बेटो ! अब तुम चित्तमे कोइ शङ्का न उठाकर बिलमे जाओ तुमको कोई शङ्का न होगी, महात्मा बाजने मेरे सामनेही मूसको खाडाला है। शार्ङ्गोने कहा कि हे माता! हमने नहीं देखा, कि बाज मूसको हरले गया है, सो हम विशेष न जानके बिल में घुस नहीं सकते । जरिता बोली, बेटा! तुम मेरी बात मानो, इसमे तुम्हें कोइ भय नहीं है, क्योंकि मै जानती हूं, कि बाज मूसको हर लेगया है। (५-११)

शार्ङ्गका ऊचुः — न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः ।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२ ॥
न चोपकृतमस्माभिर्न चास्मान्वेत्थ ये वयम् ।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान्का सती के वयं तव ॥ १३ ॥
तरुणी दर्शनीयाऽसि समर्था भर्तुरेषणे ।
अनुगच्छ पतिं मातः पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ १४ ॥
वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान् ।
अथास्मान्न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच — एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे ।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनाश्रयम् ॥ १६ ॥
ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागात्त्वरितो हव्यवाहनः ।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ॥ १७ ॥
ततस्ते ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहङ्गमाः ।
जरितारिस्ततो वाचं श्रावयामास पावकम् ॥ १८ ॥ [८८३०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि [illegible]
शार्ङ्गकोपाख्याने [illegible] ॥ २३२ ॥

जरितारिरुवाच— पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः ।
स कृच्छ्रकालं संप्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित्॥१॥
यस्तु कृच्छ्रमनुप्राप्तं विचेता नाऽवबुध्यते ।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न श्रेयो विन्दते महत् ॥२॥
सारिसृक्व उवाच—धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः ।
प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ॥ ३ ॥
स्तम्बमित्र उवाच—ज्येष्ठस्त्राता भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः ।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान्किं करिष्यति ॥ ४ ॥
द्रोण उवाच— हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम्।
सप्तजिह्वाननः क्रूरो लेलिहानो विसर्पति ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं संभाष्य तेऽन्योन्यं मन्दपालस्य पुत्रकाः ।
तुष्टुवुः प्रयता भूत्वा यथाग्निं शृणु पार्थिव ॥ ६ ॥
जरितारिरुवाच — आत्माऽसि वायोर्ज्वलन शरीरमसि वीरुधाम् ।
योनिरापश्च ते शुक्र योनिस्त्वमसि चाऽम्भसः॥७॥

आदिपर्वमें दोसौ चौतीस अध्याय।

जरितारि बोला, कि ज्ञानी जन मृत्यु कालके पहिलेसे जागते रहते है, उनको कभी मृत्यु की पीडा सहनी नहीं पडती। चित्त चेतन जन मृत्यु काल आजाने पर सोते हुएके समान रहता है, उसको मृत्यु की पीडा भोगनी पडती है, और वह मोक्षको नहीं पा सकता। (१-२)

सारिसृक्व बोला हमारा यह प्राणका दुःख आ गया है तुम धीर और बुद्धिमान हो, तुम्ही हमारी रक्षा करो; क्योंकि बहुतेरोंमेंसे एकही पुरुष बुद्धिमान और शूर होता है। (३)

स्तम्बमित्र बोला ज्येष्ठ भ्राता कनिष्ठोंके त्राता होते है, सो ज्येष्ठ भ्राताही विपतमें बचाते है। जो ज्येष्ठ भाई न बचावे, तो कनिष्ठ क्या कर सकता है? (४)

द्रोण बोला, कि वह कुटिल कर्मवाला सुवर्णरेता सात जीभ सात मुह सहित वेगसे जलाता लहलहाता हमारे खोते पर आरहा है। (५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे पृथ्वीनाथ! मन्दपालके पुत्रोंने ऐसा कह सुनकर जिस प्रकार अग्निका स्तव किया था, वह कहता हूं सुनो। जरितारि बोला, कि हे जलानेवाले! तुम वायुकी आत्मा हो, तुम लताओं की देह हो। हे शुक्र! तुम्हारे उपजनेका स्थान जल है और तुम जलके उपजानेका स्थान

ऊर्ध्वं चाऽधश्च सर्पन्ति पृष्ठतः पार्श्वतस्तथा ।
अर्चिषस्ते महावीर्य रश्मयः सवितुर्यथा ॥ ८ ॥

सारिसृक्क उवाच—माता प्रणष्टा पितरं न विद्मः पक्षा जाता नैव नो धूमकेतो ।
न नस्त्राता विद्यते वै त्वदन्यस्तस्मादस्मान्पाहि बालांस्त्वमग्ने ॥ ९ ॥

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः ।
तेन नः परिपाहि त्वमार्तान्नः शरणैषिणः ॥ १० ॥

त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो नाऽन्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव ।
ऋषीनस्मान्बालकान्पालयस्व परेणाऽस्मान्प्रैहि वै हव्यवाह ॥ ११ ॥

स्तम्बमित्र उवाच—सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १२ ॥

त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः ।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधापि च ॥ १३ ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान्हव्यवाह काले प्राप्ते पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूतिस्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ १४ ॥

द्रोण उवाच— त्वमन्नं प्राणिभिर्भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते ।
नित्यप्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो भूमेरम्भो भूमिजातान्रसांश्च ।
विश्वानादाय पुनरुत्सृज्य काले वृष्ट्या सृष्ट्या भावयसीह शुक्र ॥ १६ ॥
त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधो हरितच्छदाः ।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ॥ १७ ॥
इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम् ।
शिवस्त्राता भवाऽस्माकं माऽस्मानद्य विनाशय ॥ १८ ॥
पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन्हुताशन ।
परेण प्रेहि मुञ्चाऽस्मान्सागरस्य गृहानिव ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेन ब्रह्मवादिना ।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ॥ २० ॥
अग्निरुवाच— ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्मैतद्व्याहृतं त्वया ।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ॥ २१ ॥
मन्दपालेन वै यूयं मम पूर्वं निवेदिताः ।
वर्जयेः पुत्रकान्मह्यं दहन्दावमिति स्म ह ॥ २२ ॥

उत्पत्ति-स्थान हो और प्रलय स्थानभी तुम्हीं हो। (१२–१४)

द्रोण बोला, कि हे जगत्पते ! तुम जीवोंके भीतर रहके खाकर उन का खाया हुआ अन्न नित्य नित्य पचाते हो; सो सब भूत तुम्हारी ही शरणमें रहते हैं। हे शुक्र ! हे जातवेद ! तुम सूर्य स्वरूप बनके किरणसे भूमिमें उपजा हुआ सब रस और धरतीमें स्थित जल ले, समय समय पर फिर उसे वृष्टि द्वारा छोडकर सब अनाज उपजाते हो। हे शुक्र ! तुम्हींसे यह सब पत्तोंवाली लता, सरोवर और महाजलनिधान समुद्र उपज रहे हैं। हे कडे किरणधारिन् ! हमारी यह देह रसनेन्द्रिय के नाथ जलपति वरुण पर निर्भर है, अतएव तुम जब इस जलके विधाता हो, सो हमारे कल्याणकारी हो; ऐसी दशामें हमको बचानाही तुमको उचित है, तुम हमको नष्ट मत करो। हे पिङ्गलनेत्र ! हे लालग्रीव ! हे कृष्णवर्त्मन ! हे हुताशन ! तुम हमसे दूर रहो, सागरके पास बसे घरके समान हमें छोडो। १५–१९

श्रीवैशम्पायनजी बोले, आगे जातवेदा अग्नि द्रोणकी यह बात सुन प्रसन्न हुए, और मन्दपालसे जो कुछ सुना था, वह स्मरण कर बोले, हे द्रोण ! तुम

तस्य तद्वचनं द्रोण त्वया यच्चेह भाषितम् ।
उभयं मे गरीयस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ २३ ॥
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन्स्तोत्रेण सत्तम ॥ २४ ॥

द्रोण उवाच — इमे मार्जारकाः शुक्र नित्यमुद्वेजयन्ति नः ।
एतान्कुरुष्व दग्धांस्त्वं हुताशन सबान्धवान् ॥ २५ ॥
तथा तत्कृतवान्वह्निरभ्यनुज्ञाय शार्ङ्गकान् ।
ददाह खाण्डवं दावं समिद्धो जनमेजय ॥ २६ ॥ [८६५८]

इति श्रीमहाभारते खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

वैशंपायन उवाच- मन्दपालोऽपि कौरव्य चिन्तयामास पुत्रकान् ।
उक्त्वाऽपि च स तिग्मांशुं नैव शर्माधिगच्छति ॥ १ ॥
स तप्यमानः पुत्रार्थे लपितामिदमब्रवीत् ।
कथं न्वशक्ताः शरणे लपिते मम पुत्रकाः ॥ २ ॥
वर्धमाने हुतवहे वाते शीघ्रं प्रवायति ।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ॥ ३ ॥

कथमन्त्यशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी।
भविष्यति हि शोकार्ता पुत्रत्राणमपश्यती ॥ ४ ॥
कथमुड्डयनेऽशक्तान्पतने च ममात्मजान।
सन्तप्यमाना बहुधा वाशमाना प्रधावती ॥ ५ ॥
जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्कः कथं च मे।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी॥६॥
लालप्यमानं तमृषिं मन्दपाल यथा वने।
लपिता प्रत्युवाचेदं सासूयमिव भारत ॥ ७ ॥
न ते पुत्रेष्ववेक्षाऽस्ति यानृषीनुक्तवानसि।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद्भयम् ॥ ८ ॥
त्वयाऽग्नौ ते परीताश्च स्वयं हि मम संनिधौ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ॥ ९ ॥
लोकपालो न तां वाचमुक्त्वा मिथ्या करिष्यति।
समर्थं बन्धुकृत्ये न तेन ते स्वस्थ मानसम् ॥१० ॥
तामेव तु ममाऽमित्रां चिन्तयन्परितप्यसे।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराऽभवत् ११॥

क्योंकर उन बच्चोंको बचा सकेगी? वह तपस्विनी पुत्रोंको बचानेका उपाय न देखकर शोकमें विकल होगी। क्योंकर ऊपर उडने में असमर्थ मेरे बच्चोंको लेके हृदयमें दुःख पाय बहुत रोती पीटती दौडेगी! हा! बेटा जरितारि क्योंकर जियेगा? सारिसृक्क क्योंकर प्राण बचावेगा? स्तम्बमित्र क्योंकर बचेगा? द्रोण क्योंकर रक्षा पावेगा? मेरी वह तपस्विनी स्त्री क्योंकर जी सकेगी? ४-६

हे भारत! महर्षि मन्दपाल वनमें इस प्रकार विलप रहे थे. वह देखकर लपिता ईर्षासे उनसे कहने लगी. कि तुमने जिन पुत्रोंकी बात कही, उनके लिये मत सोचो, वे तेजस्वी और वीर्यवन्त हैं, अग्निसे उनको भय नहीं है, और तुमने स्वयं उन पुत्रोंकी रक्षाके लिये अग्निसे कहा था। महात्मा हुताशननेभी तथास्तु कहकर उस बातको मान लिया था। वह लोकपाल होकर कभी कही बातकी विरुद्धता नहीं करेंगे, इस लिये इस विषय में तुम्हारा चित्त स्वस्थ है. वास्तवमें तुम्हारा मन बन्धुके कार्यका विरोधी है: तुम मेरी शत्रु जरिताहीको स्मरण कर व्याकुल होरहे हो। पहिले जरिता पर तुम्हारा जैसा स्नेह था, अब मुझ पर वैसा

न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने ।
पीड्यमान उपस्रष्टुं शक्तेनाऽऽत्मा कथंचन ॥ १२ ॥
गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे ।
चरिष्यस्यसहायैका यथा कुपुरुषाश्रिता ॥ १३ ॥
मन्दपाल उवाच— नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे ।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ॥ १४ ॥
भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत मन्दधीः ।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५ ॥
एष हि प्रज्वलन्नग्निर्लेलिहानो महीरुहान् ।
आविग्ने हृदि संतापं जनयत्यशिवं मम ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्माद्देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता पुनः ।
जगाम पुत्रकानेव जरिता पुत्रगृद्धिनी ॥ १७ ॥
सा तान्कुशलिनः सर्वान्निर्मुक्ताञ्जातवेदसः ।
रोरूयमाणान्ददृशे वने पुत्रान्निरामयान् ॥ १८ ॥
अश्रूणि मुमुचे तेषां दर्शनात्सा पुनः पुनः ।

एकैकशश्च तान्सर्वान्क्रोशमानाऽन्वपद्यत ॥ १९ ॥
ततोऽभ्यगच्छत्सहसा मन्दपालोऽपि भारत ।
अथ ते सर्व एवैनं नाभ्यनन्दन्त ते सुताः ॥२० ॥
लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः ।
न चैवोचुस्तदा किंचित्तमृषिं साध्वसाधु वा ॥२१॥

मन्दपाल उवाच— ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तस्य चानुजः ।
मध्यमः कतमश्चैव कनीयान्कतमश्च ते ॥ २२ ॥
एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे ।
कृतवानपि हि त्यागं नैव शान्तिमितो लभे ॥२३॥

जरितोवाच— किं नु ज्येष्ठेन ते कार्यं किमनन्तरजेन ते ।
किं वा मध्यमजातेन किं कनिष्ठेन वा पुनः ॥२४॥
यां त्वं मां सर्वतो हीनामुत्सृज्यासि गतः पुरा ।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ॥२५॥

मन्दपाल उवाच— न स्त्रीणां विद्यते किंचिदमुत्र पुरुषान्तरात् ।
सापत्नकमृते लोके नान्यदर्थविनाशनम् ॥ २६ ॥
वैराग्निदीपनं चैव भृशमुद्वेगकारि च ।

चिल्लाते देखकर धीरे धीरे सबको निकट जाके गले लगाया। (१४-१९)

हे भारत! इस अवसर में महर्षि मन्दपाल एकायक वहां पहुंचे. उनके पुत्रोंने उनको देखकर आनन्द प्रकाश नहीं किया। वह ऋषि हर पुत्र और जरितासे बार बार सम्भाषण करने लगे, पर उन्होंने भला बुरा कुछभी उत्तर नहीं दिया। आगे मन्दपाल जरिताका नाम लेकर बोले, कौन तुम्हारा बडा बेटा कौन मझला, कौन तीसरा और कौन छोटा है। मैं दुःखित होकर बार बार तुमसे यह पूछता हूं, तुम क्यों प्रतिउत्तर वा सम्भाषण नहीं करती हो। मैं तुम्हें छोडके यहांसे चले जा करके शांति पा नहीं सका। (२०-२३)

जरिता बोली, तुमको बडे बेटे, मझले, तीसरे बेटे वा छोटे बेटेसे क्या प्रयोजन है? पहिले तुमने मुझको हर बातमें निकृष्ट देखा था; जिसके पास गये थे, अब उस मधुरहासिनी युवती लपिताही के पास जाओ। मन्दपाल बोले, नारिओंके लिये सौत वा दूसरे पुरुषके बिना इस लोकमें अधिक शोचनीय वैरकी आग जलानेवाला और परलोकमें पुरुषार्थ नष्टकारी और कुछ दीख नहीं पडता।

अग्निना च तथेत्येवं प्रतिज्ञातं महात्मना ॥ १ ॥
अग्नेर्वचनमादाय मातुर्धर्मज्ञतां च वः ।
भवतां च परं वीर्यं पूर्वं नाऽहमिहाऽऽगतः ॥ २ ॥
न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका हृदि मां प्रति ।
ऋषीन्वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद्विदितं च वः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमाश्वासितान्पुत्रान्भार्यामादाय स द्विजः ।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ॥ ४ ॥
भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धः खाण्डवं गतः ।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतो हितम् ॥ ५ ॥
वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः ।
जगाम परमां तृप्तिं दर्शयामास चाऽर्जुनम् ॥ ६ ॥
ततोऽन्तरिक्षाद्भगवानवतीर्य पुरंदरः ।
मरुद्गणैर्वृतः पार्थं केशवं चेदमब्रवीत् ॥ ७ ॥
कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम् ।
वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच—पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः ।
प्रदातुं तच्च शक्रस्तु कालं चक्रे महाद्युतिः ॥ ९ ॥

अग्निको जताया थाः उस पर उन्होंने तथास्तु करके मान लिया था। (१)

मैं उन अग्निकी बात, तुम्हारे माताकी धर्मनिष्ठा और तुम्हारे वीर्यको स्मरण कर पहिले यहां नहीं आया था। हे बेटो! तुम वेदमें प्रसिद्ध ऋषि हो; अग्निभी तुमको जानते हैं। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर ऋषि मन्दपाल पुत्रोंको समझाय बुझाय पत्नीको साथ लेके वहांसे दूसरी ठौर गये। (२-४)

भगवान अग्निने इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे जगतके हितके निमित्त खाण्डव वनको जलाया। उस स्थानमें मेद और वसाकी नदी सोख कर परम परितृप्त होके अर्जुनके सामने प्रगट हुए। अनन्तर भगवान इन्द्र देवोंसे घेरे जाय आकाशमण्डलसे उतरकर अर्जुन और केशवसे बोले, कि जो कर्म देवतालोग भी सहजमें निपटा नहीं सकते, तुमने उसे पूरा किया है, अब मैं तुम पर प्रसन्न हूं, तुम वर मांगो, यद्यपि पुरुषके लिये वह दुर्लभ हो, तौभी तुमको दूंगा। (५-८)

वैशम्पायन बोले, अनन्तर पार्थने इन्द्रजीसे सब अस्त्र मांगे। अति द्युति-

यदा प्रसन्नो भगवान्महादेवो भविष्यति ।
तदा तुभ्यं प्रदास्यामि पाण्डवाऽस्त्राणि सर्वशः॥१०॥
अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन ।
तपसा महता चापि दास्यामि भवतोऽप्यहम्॥११॥
आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि च सर्वशः ।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय॥ १२ ॥
वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम् ।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते ॥ १३ ॥
एवं दत्त्वा वरं ताभ्यां सह देवैर्मरुत्पतिः ।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ १४ ॥
पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम् ।
अहानि पञ्च चैकं च विरराम सुतर्पितः ॥ १५ ॥
जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च ।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाचाच्युतार्जुनौ॥१६॥
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम् ।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम्॥१७॥
एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना ।

मान देवराज उन्हें देनेका काल निश्चय कर बोले, कि हे पाण्डव! जब भगवान महादेव तुम पर प्रसन्न होंगे, तब मैं तुमको सब अस्त्र दे दूंगा। हे कुरुनन्दन! जब इन अस्त्रोंके देनेका काल आ पहुंचेगा तब मैं जान लूंगा; मैं तुम्हारी महातपस्याने तुमको सब अस्त्र, सब वायव्य अस्त्र और अपने दूसरे अस्त्रोंको भी दे दूंगा, तुम लेना। (१०-१२)

[illegible] वासुदेवने प्रार्थना की, कि अर्जुनसे उनका सदा प्रेम बना रहे [illegible] देवराजने [illegible] दिया. प्रभु देवराज इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनको वर देकर हुताशनको सम्भाषण करके देवलोकमें गये। भगवान पावक मृग और पक्षियोंके सहित खाण्डव वनको जलाके अति तृप्त होकर पन्द्रह दिनके पीछे बुझ गये। [illegible] मेद और मांस खाके परम प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण और अर्जुनसे बोले, कि तुम दोनों वीर और पुरुषोंमें श्रेष्ठ हो, मैं तुम्हींसे सदा सुख पाके तृप्त हुआ, अब आज्ञा करता हूं कि तुम्हारी [illegible] [illegible]

अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ॥ १८ ॥
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥ १९ ॥ [८७०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि

वरप्रदाने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

समाप्तमिदं खाण्डवदाहपर्व ॥ समाप्तं चादिपर्व ॥

——ऽऽ——

अतः परं सभापर्व भविष्यति ॥ तस्यायमाद्यः श्लोकः ॥

वैशम्पायन उवाच--ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥ १ ॥

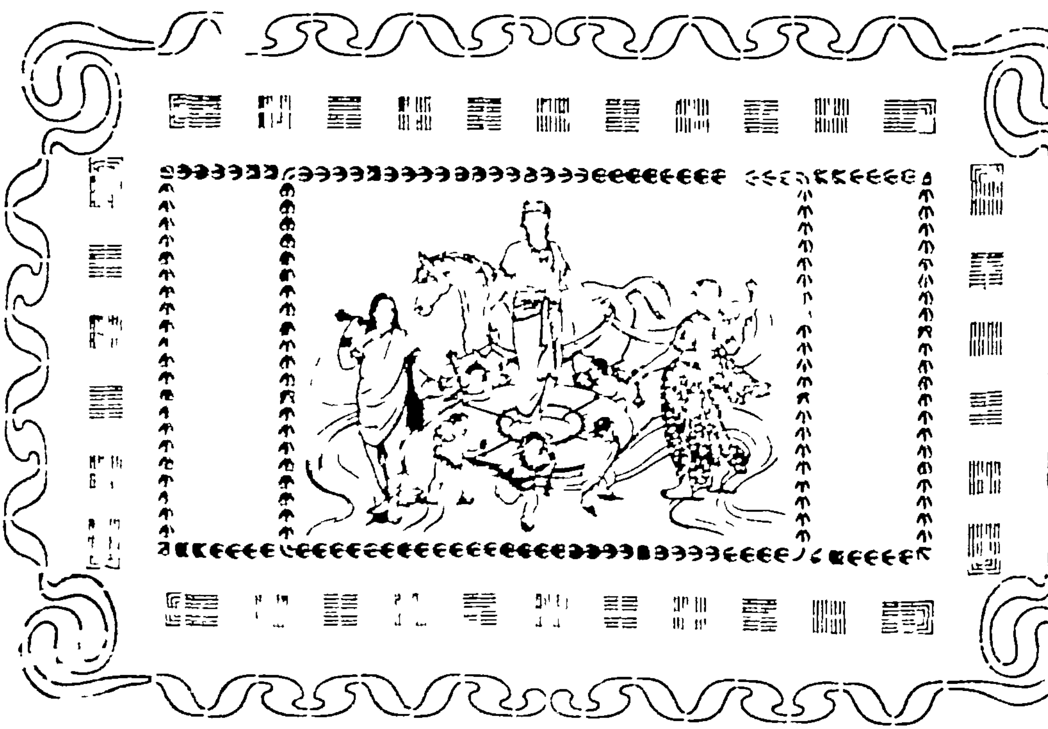
सकोगे। (१३--१७)

हे भरतश्रेष्ठ ! महात्मा पावक उनको ऐसी आज्ञा देने पर अर्जुन वासुदेव और मयदानव यह तीन एकत्र होकर कुछ काल घूम फिरकर सुन्दर नदी तटमे जा बैठे। (१८--१९) [८७०९]

आदिपर्वमें दोसौ छत्तीस अध्याय और खाण्डवदाह पर्व समाप्त।

आदिपर्व समाप्त।

—×—



महाभारत आदिपर्वकी अनुक्रमणिका।

आदिपर्व समाप्त ।

श्री महर्षि व्यास प्रणीत

महाभारत।

सभापर्व।

(भाषा-भाष्य-समेत।)

भाषांतरकर्ता और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमंडल औंध। [illegible]

([illegible])

[illegible]

[illegible]

मंत्री-प्रशंसा।

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः। राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम्॥

म. भा. सभा. अ. ५।३०

"बुद्धिमान, शूर, जितेन्द्रिय, तथा चतुर एकही राजमन्त्रीसे भी राजा अथवा राजकुमार बडे वैभव संपन्न हो सकते हैं।"

एव गते न शक्ष्यामि किंचित्कारयितुं त्वया ॥ ७ ॥
न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित्तथा प्रतिकृतं मयि॥ ८ ॥
चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥ ९ ॥
ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति॥१० ॥
यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥ ११ ॥
यां कृतां नाऽनुकुर्युर्हि मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः ।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम्॥ १२ ॥
यत्र दिव्यानभिप्रायान्पश्येम हि कृतांस्त्वया ।
आसुरान्मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच–प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं संप्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम्॥१४॥
ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।

अर्जुन बोले, कि हे अनघ! तुम मृत्यु के मुखसे अपनेको रक्षित जानकर पलटेमें उपकार करना चाहते हो, सो इस दशामें तुमसे कोई कार्य करा लेना ठीक नहीं है पर यहभी नहीं चाहता, कि तुम्हारी कल्पना व्यर्थ हो, सो तुम श्रीकृष्णचन्द्रका कोई कार्य कर दो, उसीसे मेरा प्रत्युपकार हो जायगा। (७-८)

अर्जुनकी आज्ञासे जब मयदानवने वासुदेवसे प्रार्थना करी। तब उन्होंने सोचा, कि इसको किस काममें लगाऊं? पलभर ऐसी चिन्ताकर प्रजापति लोकनाथ श्रीकृष्णचन्द्रने आज्ञा की, कि हे शिल्पदक्ष दानव! तुम मेरा प्रिय कार्य करना चाहो, तो युधिष्ठिरके लिये अपनी इच्छानुरूप एक सभा बना दो। वह सभा ऐसी बने, कि जिसे देखकर धरती भरका कोईभी मनुष्य वैसी दूसरी सभा न बना सके और जिसमें दिव्य, आसुर वा मानवीय, सर्व प्रकारके अभिप्राय अर्थात् बनावटकी सब चतुरता दीख पडे। (९-१३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि मयदानव ने प्रसन्नचित्तसे यह बात मानके पाण्डवों के लिये विमानके समान एक सभामण्डपकी छवि बनायी। अनन्तर कृष्ण

सर्वमेतत्समावेश्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १५ ॥
तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हामकरोत्तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ॥ १६ ॥
स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशांपते ।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत ॥ १७ ॥
स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १८ ॥
अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः ।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ १९ ॥
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान्पायसेन सहस्रशः ।
धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ॥ २० ॥
सर्वर्तुगुणसंपन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि
सभाक्रियापर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ।
धर्मराजमथाऽऽमन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥
ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः ।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥
ददर्शाऽनन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः ।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥
अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम् ।
उवाच भगवान्भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥
तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः ।
सम्पूजितश्चाऽप्यसकृच्छिरसा चाऽभिवादितः ॥ ६ ॥
तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम् ।
ददर्शाऽनन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥
ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः ।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद्विद्वान्पार्थेन सहितो बली ।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवाऽमरैः ९ ॥
यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः ।

कुछ दिन परम सुखसे गवाया आगे एक दिन पिताके दर्शनको जाना चाहा। जगपूज्य पद्मनेत्र श्रीकृष्णचन्द्र धर्मराज और पृथाको सम्मानित कर अपनी फूफी कुन्तीके दोनों पांवोंमें लगे। पृथाने उन को सिर सूंघके गलेमें लगाया। आगे अति यशोवन्त भगवान हृषीकेश अपनी सुभाषिणी बहिन सुभद्राको देख आनन्द के आंसुओंसे नेत्रोंको भर उसके पास गये और बडे प्रेमसे संक्षेपमें उसको अर्थ पूरित हित, उत्तरके अयोग्य सत्य वचन बोले। १—५।

सुभद्राने भी बार बार उनके पांव लगकर स्वजनोंसे जो कुछ कहना था, कह दिया। वृष्णिवंशी श्रीकृष्णने बहिन का उचित आदर कर द्रौपदी और धौम्यकी भेट की और धौम्यकी यथोचित पूजा कर द्रौपदीको सम्मानित किया और हर प्रकारसे समझाया। आगे पुरुषवर विद्वान जनार्दन अर्जुनके संग युधिष्ठिरादि भाइयोंके निकट गये। इन्द्र जिस प्रकार अमरवृन्दसे घेर जाते हैं, वैसेही यदुकुलश्रेष्ठ महाबली श्रीकृष्णचन्द्र पांच भाइयोंसे घेर गये अनन्तर नहा धोके

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ।
धर्मराजमथाऽऽमन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥
ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः ।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥
ददर्शाऽनन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः ।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥
अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम् ।
उवाच भगवान्भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥
तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः ।
संपूजितश्चाऽप्यसकृच्छिरसा चाऽभिवादितः ॥ ६ ॥
तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम् ।
ददर्शाऽनन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥
ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः ।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद्विद्वान्पार्थेन सहितो बली ।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवाऽमरैः ९ ॥
यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः ।

कुछ दिन परम सुखसे गंवाया, आगे एक दिन पिताके दर्शनको जाना चाहा। जगपूज्य पद्मनेत्र श्रीकृष्णचन्द्र धर्मराज और पृथाको सम्मानित कर अपनी फूफी कुन्तीके दोनों पांवोंमें लगे। पृथाने उन को सिर सूंघके गलेमें लगाया। आगे अति यशोवन्त भगवान हृषीकेश अपनी सुभाषिणी बहिन सुभद्राको देख आनन्द के आंसुओंसे नेत्रोंको भर उसके पास गये और बडे प्रेमसे संक्षेपमें उसको अर्थ पूरित, हित, उत्तरके अयोग्य सत्य वचन बोले। (१—५)

सुभद्राने भी बार बार उनके पांव लगकर स्वजनोंसे जो कुछ कहना था, कह दिया। वृष्णिवंशी श्रीकृष्णने बहिन का उचित आदर कर द्रौपदी और धौम्यकी भेंट की और धौम्यकी यथोचित पूजा कर द्रौपदीको सम्मानित किया और हर प्रकारसे समझाया। आगे पुरुषवर विद्वान जनार्दन अर्जुनके संग युधिष्ठिरादि भाइयोंके निकट गये। इन्द्र जिस प्रकार अमरवृन्दसे घेरे जाते हैं, वैसेही यदुकुलश्रेष्ठ महाबली श्रीकृष्णचन्द्र पांच भाइयोंसे घेरे गये, अनन्तर नहा धोके

कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान्समलंकृतः ॥ १० ॥
अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः ।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ११ ॥
स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः ।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्यकक्षां विनिर्गतः ॥ १२ ॥
स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान्दधिपात्रफलाक्षतैः ।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १३ ॥
काञ्चनं रथमास्थाय तार्क्ष्यकेतनमाशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥
अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् १६ ॥
अभीषून्संप्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ।
उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥

शुचि होकर अलङ्कारादि पहिर यात्राकालके कर्मोंको पूरा करनेकी इच्छासे देव द्विजोंको माला मन्त्र, नमस्कार और नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थोंसे पूजने लगे। ९-११

यदुकुलश्रेष्ठ सनातन भगवान पुण्डरीकाक्षने सब कार्य कर लेनेके पीछे बाहरकी कक्ष्यामें निकलके पूजनीय ब्राह्मणोंसे दधि भरे पात्र फल और अक्षतसे स्वस्ति कहलाकर धन देके परिक्रमा की। आगे गदा, खड्ग शार्ङ्ग आदि अनेक शस्त्रोंसे सजे सजाये शैब्य तथा सुग्रीवादि चार घोड़ोंसे जुते आशुगामी, गरुडध्वज सुवर्ण रथ पर चढके शुभ दिनको, शुभ संयोग शुभमुहूर्त पर पधारे। (१२–१५)

कुरुनाथ युधिष्ठिरभी उनके प्रेमसे पीछे रथ पर चढ और सारथिवर दारुकको अलग बैठाके आपही रथकी रास थाम ली। दीर्घभुज अर्जुनभी रथ पर चढके श्रीकृष्णको परिक्रमा दे सुवर्ण दण्डयुक्त श्वेत चवर डोलने लगे। इसी प्रकार महाबली भीम अपने भाई नकुल और सहदेव के साथ तथा नागरिक लोगों और ऋत्विजों के साथ श्रीकृष्ण के पीछे चलने लगे। चार शिष्योंके

पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह ।
स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ॥ १९ ॥
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः ।
पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा ।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ॥ २१ ॥
योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरंजयः ।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥
ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् ।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥
ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात्पाण्डवान्सपदानुगान् ॥ २५ ॥
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमाद्दृष्टिपथात्तदा ॥ २६ ॥
मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् ।

पीछे पीछे जानेसे गुरु जिस प्रकार सुशोभित होते है, शत्रुनाशी नारायण भाइयोंके पीछे चलनेसे वैसी शोभा पाने लगे । (१९–२०)

अनन्तर गोविन्दने अर्जुनको बडे प्रेमसे गले लगाकर युधिष्ठिर तथा भीमसेनकी पूजा की और नकुल सहदेवकोभी गले लगाके लाड दुलार किया। युधिष्ठिर आदि ने भी कृष्णको गले लगाया; केवल दोनो माद्रीकुमारोंने उनको प्रणाम किया। इस प्रकारसे आधा योजन पथ जानेके पीछे शत्रुपुर जीतनेवाले धर्मके जानकार श्रीकृष्णने युधिष्ठिर को पुकार कर यह कहके कि " आप लौट जांय" उनके दोनो पांव पकड लिये । धर्मराज युधिष्ठिरने शिर सूंघके यादवश्रेष्ठ कमललोचन केशवको उठा कर जानेकी आज्ञा दी । इसके अनन्तर मधुसूदन " फिर आऊंगा " इत्यादि यथायोग्य सम्भाषण पूर्वक अति कष्टसे उनको निवृत्त कर ऐसे प्रसन्नमनसे अपनी पुरीको गये, कि जैसे इन्द्र अमरावतीकी ओर जाय । २०–२६

जितनी दूर आंख चली पाण्डवोंकी दृष्टि श्रीकृष्ण परही जमी रही और

अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः ॥ २७ ॥
अकामा एव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ।
निवृत्योपययुस्तूर्णं स्वपुरं पुरुषर्षभाः ॥ २८ ॥
स्यन्दनेनाऽथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ।
सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा ॥ २९ ॥
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः ।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच- निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युत. ।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥
विसृज्य सुहृदः सर्वान्भ्रातॄन्पुत्रांश्च धर्मराट् ।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच- केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥
आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम् ।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचन' ॥ ३४ ॥
प्रद्युम्नसाम्बनिशठाश्चारुदेष्णं गदं तथा ।

अति प्रेमके कारण उनका मन श्रीकृष्ण के पीछे पीछे चला पर किसी प्रकार उनकी आख और मन नहीं पीछे हटा। प्रियदर्शन श्रीकृष्ण शीघ्रही उनकी दृष्टिके बाहर होगये । श्रीकृष्ण पर मन लगाये हुए पुरुषोंमे श्रेष्ठ पाण्डवगण इच्छा न रहने परभी अपने नगरको शीघ्र लौटे । तब देवकीनन्दन श्रीकृष्णभी गरुड समान दारुकके साथ रथ पर चढके द्वारकामें जा पहुंचे । सात्वत वीर सात्यकि उनके पीछे पीछे गये । २१—३० ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अक्षय शीलयुक्त धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोके साथ लौट करके बन्धुओंसे घेरे जाय पुरी में गये । आगे बन्धुओ, भाइयों और पुत्रोको विदा कर पुरुषवर धर्मराज द्रौपदी के साथ एकान्तमें आनन्द भोगने लगे । इधर कमलनेत्र केशवभी प्रसन्न मनसे अपने सुन्दरपुरमे प्रवेशपूर्वक यदुश्रेष्ठ उग्रसेनादिसे पूजे जाय और वृद्धपिता वसुदेवजी, यशस्विनी माता और ज्येष्ठ भ्राता बलदेवजी को प्रणाम कर विराज- ने लगे । अनन्तर प्रद्युम्न, साम्ब निशठ चारुदेष्ण गद, अनिरुद्ध, भानु आदि

अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ॥ ३६ ॥
मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम्।
विधिवत्कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ॥ ३७ ॥ [५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच--अथाऽब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाऽप्यहम्॥१॥
उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥ २ ॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति।
सभायां सत्यसन्धस्य यदासीद्वृषपर्वणः ॥ ३ ॥
आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत ।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥ ४ ॥
मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥
निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।

पुत्रोंको गले लगाय वृद्धोंकी आज्ञासे रुक्मिणीजीके भवनमें जा विराजे। पश्चात् महाभाग्यवान मयासुरभी धर्म पुत्र युधिष्ठिर के लिये सर्व रत्नोंसे सुभूषित सभा मंदिर यथाशास्त्र बनानेका विचार करने लगे। (३१--३७) [५८]

सभापर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें तीसरा अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर मय दानव विजयियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनसे बोला, कि आपकी आज्ञा हो, तो अब विदा लेकर चला जाऊं, पीछे आऊंगा। पहिले मैंने कैलासके उत्तर मैनाक पर्वतके निकट दानवोंके युद्धकालमें बिन्दुसरोवरके पास एक विचित्र सुन्दर मणियुक्त सामान बनाया था; उस समय उसे सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले वृषपर्वाकी सभामें रखाथा। हे भारत! यदि वह आजतक विद्यमान हो, तो मैं मैनाकसे लौटते समय उसे लेआऊंगा और आप की यश बढानेवाली मनभावनी सर्वरत्न से सुहावनी विचित्र सभा बनाऊंगा। (१ --४)

हे कुरुनन्दन ! जान पडता है, कि उस बिन्दुसरोवरमें एक बडी कठोर

सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥
सा वै शतसहस्रस्य संमिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥
वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत्प्रदास्यामि भवते नाऽत्र संशयः ॥ ८ ॥
इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थ प्रागुदीचीं दिशं गतः ।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥
हिरण्यशृङ्गः सुमहान्महामणिमयो गिरिः ।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।
यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥ ११ ॥
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ १२ ॥
शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः ।
यत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १३ ॥
यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वाँल्लोकान्सनातनः ।

गदाभी पड़ी है । राजा वृषपर्वाने लक्ष गदाओंके समान, बड़ा भार सहने योग्य, सुवर्ण, बिन्दु जटित, शत्रुनाशी उस कठोर गदासे शत्रुओं को हननकर उसे वहां गाड़ रखा है । गाण्डीव जैसे आपके योग्य है, वह गदाभी वैसेही भीमसेनके योग्य है । फिरभी वरुणजीका देवदत्त नामक बहुत बजनेवाला बड़ा भारी शङ्खभी उस सरोवरमें है; इसका सन्देह न कीजिये, कि मैं यह सब लाके आप को दूंगा । (६-८)

वह असुर पार्थसे ऐसा कहके पूर्वोत्तर ओरको पधारा । कैलासके उत्तर मैनाक-पर्वतके निकट हिरण्यशृङ्ग नामक अनेक मणियोंसे भरा बड़ा भारी गिरि है वहां सुन्दर बिन्दुसरोवर विद्यमान है। उस सरोवरके तटपर भगीरथने श्रीगङ्गाजीके दर्शनके लिये बहुत वर्ष गंवाये थे । हे भरतश्रेष्ठ! उस स्थानमें सर्वभूतोंके अधीश इन्द्रजीने सौ महायज्ञ करके शोभाके लिये पहिले कभी न बने मणिके यूप और सोनेके चैत्य बना गये हैं । वहां यज्ञ कर उन शचीनाथने सिद्धि लाभ की थी । (९-१३)

अति तेजोवन्त सनातन भूतनाथ महादेव सर्व लोकोंको रचके, उस स्थानमें

उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥१४॥
नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥
यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान्बहून् ।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसंप्रतिपत्तये ॥ १६ ॥
सुवर्णमालिनो यूपाश्चैत्यांश्चाऽप्यतिभास्वरान् ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७ ॥
तत्र गत्वा स जग्राह गदां शंखं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद्वृषपर्वणः ॥ १८ ॥
किंकराः सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद्धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥ १९ ॥
तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम्॥२०॥
गदां च भीमसेनाय प्रददौ प्रवरां तदा ।
देवदत्तं चाऽर्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ॥
यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ॥ २१ ॥
सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ।

विराजमान होकर सहस्रों भूतोंसे पूजे जाते हैं। उस स्थानमें नर, नारायण, ब्रह्मा यम और रुद्र सहस्र युगोंके अन्त होने पर यज्ञ किया करते हैं। वासुदेव केशव ने धर्म संस्थापन करनेके लिये उस स्थानमें बहुत वर्षों तक सदा श्रद्धा सहित यज्ञ किया था, और उस स्थानमें उन्होंने सुवर्णमालायुक्त यूप चमकीले चैत्य और दूसरी सहस्रों बनी बनायी वस्तु दान दी थीं। (१४–१७)

हे भरतनन्दन! मयदानवने वहां जाके वृषपर्वाकी अधिकार की हुई गदा, शङ्ख और सभा बनानेके योग्य जितनी स्फटिककी सामग्री थी, सब ले ली। यक्ष और राक्षस लोग जो अनेक धनकी रखवारी करते थे, उस मयासुरने वहां जाके वह भी ले लिया। वह सब ले कर असुरने तीनो लोकोंमे प्रशंसित, मणिकी उस अप्रतिम सुन्दर सभाको रचा और भीमको वह अच्छी गदा तथा अर्जुनको देवदत्त नामक वह बडा भारी शङ्ख दिया, जिसके नादसे सब भूत कम्पित होते थे। (१८-२१)

महाराज! सुनोले वृक्षोंसे सुहावनी वह सभा चारों ओर दस सहस्र हाथ

दशकिष्कुसहस्राणि समन्ताद्‌ायताऽभवत्॥ २२ ॥
यथा वह्नेर्यथाऽर्कस्य सोमस्य च यथा सभा ।
भ्राजमाना तथाऽत्यर्थं दधार परमं वपुः ॥ २३ ॥
अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ।
प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा॥ २४ ॥
नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा॥ २५ ॥
उत्तमद्रव्यसंपन्ना रत्नप्राकारतोरणा ।
बहुचित्रा बहुधना निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २६ ॥
न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाऽथ तादृशी ।
सभा रूपेण संपन्ना यां चक्रे मतिमान्मयः ॥ २७ ॥
तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥ २८ ॥
अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ।
रक्ताक्षाः पिंगलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ॥२९॥
तस्यां सभायां नलिनीं चकाराऽप्रतिमां मयः ।
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥ ३० ॥
पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ।

फैली थी। उस सभाने सूर्य चन्द्रमाकी सभाके समान चमकता अति सुन्दर स्वरूप प्राप्त किया। अपनी प्रभाके प्रभाव से सूर्यकी तेज प्रभाको भी लजाया। लोकोंमें न मिलने वाले तेजसे मानो प्रज्वलितकी भांति नवमेघके समान आकाश मण्डलको ढंप लिया। वास्तवमें दक्ष सुमति मयने जैसी लम्बी चौड़ी अति निर्मल, थकावट मिटावनी, मनोहर रूपिणी, अनेक चित्रोंसे सुहावनी रत्नप्राचीर वेष्टित बहुमूल्य सभा बनायी, वैसी न तो श्रीकृष्ण चन्द्रकी, न ब्रह्माजी की और न किसी दूसरे सुरकी थी॥ २२-२७

आकाश में उड़नेवाले, महाबली, भारी देहधारी, लालनेत्र, शुक्तिकर्णवाले, अस्त्र लिये हुए आठ सहस्र किङ्कर नामक भयावने राक्षस मयकी आज्ञासे सभाकी रखवारी करने और वहने ढोनेमें लगे थे। उस सभामें मयने एक बड़ा सरोवर खुदवाया। उस सरोवरमें मणिके मृणाल और नीले कह्लार कदम्ब सुहाते थे और भांति भांतिके पक्षी इधर उधर खेल

पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च काञ्चनैः ॥ ३१ ॥
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ३२॥
मन्दानिलसमुद्धूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम् ।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३३ ॥
मणिरत्नाचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः ।
दृष्ट्वाऽपि नाऽभ्यजानन्त तेऽज्ञानात्प्रपतन्त्युत ॥३४ ॥
तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः ।
आसन्नानाविधा नीलाः शीतच्छाया मनोरमाः ३५॥
काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः ।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३६ ॥
जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः ।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान्स्म निषेवते ॥३७॥
ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः ।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन्न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ [९६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिप ॥ १ ॥

कूद रहे थे, खिले कमल और सुनैाली मछली तथा कछुओंसे सुहावने चित्रित स्फटिककी सीढीवाले मन्दपवनसे आन्दोलित, मोती विन्दुओंसे रचित महामणि, शिलापट्टकी वेदीसे चारों ओर सुमण्डित, मणि रत्नोंसे सुशोभित उस अमल ताल को देखकर कोई कोई राजकर्म चारी भ्रमसे उसमें गिर गये। (३१—३४)

उस सभाके चारों ओर फलवाले नील ठण्डी छायावाले अनेक भांतिके मन हरनेहारे वृक्ष और सुगन्धी वन तथा हंस, कारण्डव तथा चकवोंसे भरे तालाव इधर उधर सुहाते थे। गन्धवहनेवाली पवन सर्वत्र जलमें उपजे कमलोंकी सुगन्ध ले ले पाण्डवोंकी सेवा किया करती थी। महाराज ! मयने चौदह महीनेमें ऐसी अच्छी सभा पूरी बनाकर धर्मराजको समाचार दिया। (३५—३८) [९६]

सभापर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें चौथा अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर नरनाथ युधिष्ठिरने मधुयुक्त, घृतमिश्रित

साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च ।
भक्ष्यैर्मूलैः फलैश्चैव मांसैर्वाराहहारिणैः ॥ २ ॥
कृसरेणाऽथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः ।
मांसप्रकारैर्विविधैः खाद्यैश्चापि तथा नृप ॥ ३ ॥
चोष्यैश्च विविधै राजन्पेयैश्च बहुविस्तरैः ।
अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि ॥ ४ ॥
तर्पयामास विप्रेन्द्रान्नानादिग्भ्यः समागतान् ।
ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः ॥ ५ ॥
पुण्याहघोषस्तत्राऽऽसीद्दिवस्पृगिव भारत ।
वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ६ ॥
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च ।
तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा ।
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि ॥ ८ ॥
सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते ।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः ॥ ९ ॥

पायसान्न, बहुविध फल मूल और हरिण शूकर आदिके मांससे दशसहस्र ब्राह्मणोंको यथायोग्य भोजन कराके सभामें प्रवेश किया । महाराज ! उन्होंने नाना दिशाओंसे आये विप्रवर्गको तिलोदन जीवन्तीशाक, हविष्यान्न, मांसके अनेक पक्वान्न इत्यादि बहुविध खाने, चूसने चाटने, पीनेकी अपरिमित सामग्री और कोरे चीर, गहनोंसे प्रसन्न किया और उनमेंसे हरेकको सहस्र गौ दान दी । (१—५)

हे भरतनन्दन ! उस कालमें पुण्याह-ध्वनि अर्थात् "आज कैसा शुभदिन है" लोगोंका यह आनन्द कोलाहल आकाश-में गूंजने लगा । कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके बाजे और फूल धूपादिकी मनहरनी गन्धसे देवोंकी पूजाकर सभामें घुसने पर वहां मल्ल, झल्ल, नट सूत और स्तुति गाने वाले अपना अपना गुण प्रगट कर उनकी उपासना करने लगे । (६-७)

पञ्च पाण्डव उसी भांति भाइयोंके से उक्त सभाकी प्रतिष्ठा कर आसनोंमें बैठे देवराजकी भांति परम सुखसे वहां विराज-ने लगे । वहां अनेक देशोंसे आये [illegible]

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्मालीमहाशिराः।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः॥ १०॥
वको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम्॥ ११॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥ १२॥
दामोष्णीषस्त्रैवलिश्च पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः॥ १३॥
बलीवाकः सिलीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः॥ १४॥
पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा॥ १५॥
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः॥ १६॥
काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः।
पैङ्गयो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः॥ १७॥
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः॥ १८॥
एते चाऽन्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः।

और ऋषि पाण्डवोंके साथ बैठते थे। असित, देवल, सत्य, सर्पिर्माली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय शुनक, बलि, वक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्णद्वैपायन, शुक, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, और महित व्यासजीके सब शिष्य, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, लोमहर्षण और उनके पुत्र, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैवलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष पाराशर्य, सारिक, बलीवाक, सिलीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जङ्घाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन काक्षीवान, औशिज, नाचिकेत, गौतम, पैङ्ग, वराह, शुनक, महातपा शांडिल्य, कुक्कुर, वेणुजंघ, कालाप और कठ, धर्मके जानकार संयतात्मा और जितेन्द्रिय

उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः ॥ १९ ॥
कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः ।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ॥ २० ॥
श्रीमान्महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः ।
संग्रामजिद्दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चाऽपराजितः ।
काम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः ॥ २२ ॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ॥ २३ ॥
बलपौरुषसम्पन्नान्कृतास्त्रानमितौजसः ।
यथाऽसुरान्कालकेयान्देवो वज्रधरस्तथा ॥ २४ ॥
जटासुरो मद्रकाणां च राजा कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः ।
तथाङ्गवङ्गौ सह पुण्ड्रकेण पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण ॥ २५ ॥
अंगो वगः सुमित्रश्च शैब्यश्चाऽमित्रकर्शनः ।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥ २६ ॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ।
श्रुतायुधश्च कालिंगो जयसेनश्च मागधः ॥ २७ ॥
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चाऽमित्रकर्शनः ।
केतुमान्वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥ २८ ॥
सुधर्मा चाऽनिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।

यज्ञ में और वेद वेदांगों में पाण्डित, धर्मज्ञ और पवित्र इसी अनेक ऋषि सत्तम सब विध विशुद्ध पुण्यकथा कहकर धर्मराजकी उपासना करते थे। (८-२०)

और श्रीमान महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतु, विवर्धन, संग्रामजित, दुर्मुख, पराक्रमी उग्रसेन पृथ्वीनाथ कक्षसेन अपराजित क्षेमक, काम्बोजराज कमठ, बडे पराक्रमी कम्पन जिन्होंने [illegible] आदि असुरकुलनाशी [illegible] देवराज की भांति अकेले बलमें बढे, [illegible] शस्त्रोंमें बढे, तेजमें विकट, यवनोंको कंपाया था। मद्रनाथ जटासुर, कुन्ति, किरातराज पुलिन्द, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्रक, पाण्ड्य, उड्रराज, अन्ध्रक, सुमित्र, अंग, वंग, शत्रुनाशी शैब्य, किरातराज सुमना, यवननाथ चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिंगराज श्रुतायुध, मगधके जयसेन, सुकर्मा, चेकितान, शत्रुनाशी पुरु, केतुमान, वसुदान, [illegible]

अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥ २९ ॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥ ३० ॥
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥ ३१ ॥
भीष्मकोऽथाऽऽकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान्।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ।
केतुमान्वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः ॥ ३२ ॥
एते चाऽन्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसंमताः ।
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ ३३ ॥
अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ।
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ॥ ३४ ॥
तत्रैव शिक्षिता राजन्कुमारा वृष्णिनन्दनाः ।
रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकि ॥३५॥
सुधर्मा चाऽनिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।
एते चाऽन्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ॥ ३६ ॥
धनञ्जयसखा चाऽत्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ।
उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः ॥३७॥
चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।

सुधर्मा, अनिरुद्ध, अति बलवन्त श्रुतायुध, दुर्द्धर्ष अनूपराज, सुदर्शन, क्रमजित, पुत्रसहित शिशुपाल, करूषाधिप, वृष्णिवंशके कठोर देवरूपी कुमारगण, आहुक विपृथु, गद, सारण अक्रूर, कृतवर्मा, शिनिपुत्र सत्यक, भीष्मक, आकृति, वीर्यवान्त द्युमत्सेन, बडे चापधारी केकयगण और सोमकपुत्र यज्ञसेन और अस्त्रविद्यामें बलवान केतुमान तथा वसुमान यह सब और विनाके जाने दूसरे बहुतेरे क्षत्रिय भी धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासनामें लगे रहते थे। (२९-३३)

महाराज ! प्रद्युम्न, साम्ब, युयुधान, सात्यकि, सुधर्मा, अनिरुद्ध, नरश्रेष्ठ शैब्य आदि वृष्णिनन्दनगण और अति पराक्रमी जितने राजकुमार मृगछाल पहिरे अर्जुनसे अस्त्र सीखते थे, वे भी उस सभामें उपस्थित रहते थे। इनके उपरान्त धनञ्जयके सखा तुम्बुरु, अमात्य सहित चित्रसेन, और ताललयमें रटे,

गीतवादित्रकुशलाः शम्यातालविशारदाः ॥ ३८ ॥
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किंनराः कृतनिश्रमाः ।
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ॥ ३९ ॥
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ।
पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते ॥ ४० ॥
तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ४१ ॥ [१३७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ समाप्तं च सभाक्रियापर्व ॥

अथ लोकपालसभाख्यानपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच—अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥
वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥
न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडंगविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ॥ ३ ॥
वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान्नयवित्कविः ।

गाजेबाजेमें छटे गन्धर्व्व किन्नर, और अप्सरा निकट रहती थीं। लयस्थान तथा प्रमाणके सुजान महामन किन्नर और गन्धर्व तुम्बुरुकी आज्ञा पाय दिव्यतानसे नियमपूर्वक गाय बजाय पाण्डव और ऋषियोंको उस सभामें प्रसन्न करते थे। स्वर्गमें देवगण जैसे ब्रह्माकी उपासना करते हैं, वैसे सत्यप्रण हाने, व्रतमाने पुरुषगण उस सभामें बैठे युधिष्ठिरकी उपासना करते थे। ३८—४१। [१३७]

चौथा अध्याय और सभाक्रियापर्व समाप्त।

पांचवां अध्याय और लोकपालसभाख्यान पर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे महाराज! महात्मा पाण्डवगण और प्रधान गन्धर्व उस सभामें बैठे थे, कि ऐसे समयमें सकल वेदोपनिषदोंके जानकार सुरोंके पूजनीय, इतिहास तथा पुराणोंके जानने वाले अतीत कल्पके विशेषज्ञ न्याय और धर्मके तत्त्वज्ञ शिक्षा कल्प व्याकरणादि षडङ्ग शास्त्रोंमें असाधारण ज्ञानी, परस्पर विरुद्ध विधिवाक्योंका एकीकरण करने वाले, वाक्योंको अलग अलग कर देने और एक कर्ममें अनेक धर्म सन्निवेश

परावरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत्कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्याऽस्य महामतिः॥ ६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान्॥७॥
सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राऽप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥ ९ ॥
लोकाननुचरन्सर्वानागमत्तां सभां नृप ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ १० ॥
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥ ११ ॥
सभास्थान्पाण्डवान्द्रष्टुं प्रियमाणो मनोजवः ।

करनेके लिये अधिकारके अनुसार सम्बन्ध निरूपणके विषयमें बडे पण्डित, वाग्मी अति प्रगल्भ स्वभावी, मेधावी, स्मृतिमान, नीति शील, कवि, भले बुरेके अलग करनेमें ज्ञान रखनेवाले; प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणोंसे वस्तुओंके विचारक, प्रतिज्ञा हेतु आदि पांच प्रकारके अङ्गयुक्त वाक्योंके गुण दोष जाननेवाले. बृहस्पतिजीके भी बात उठाने पर उनकी बातोंके क्रमसे उत्तर देनेमें समर्थ, धर्मार्थ काम मोक्ष चारों वर्गोंके सारके जानकार, योगबलसे क्या ऊर्ध्व क्या अध, क्या तिर्यक सम्पूर्ण भूमण्डलके प्रत्यक्षदर्शी, वेदान्त विचार और योगविभाग के जाननेवाले, झगडा उठा कर सम्पूर्ण देव और असुरोंको निर्वेदयुक्त करनेमें उद्यत, सन्धिविग्रहादिके तत्त्वज्ञ, अनुमान से कार्याकार्य विभागमें अभिज्ञ, सन्धि विग्रहादि विधिके उपदेश करनेवाले, सर्वशास्त्रोंमें पण्डित, युद्ध और नृत्यगीतादिको चाहनेवाले, सर्वत्र संचार करने वाले और दूसरे सब गुण रखनेवाले, आत्मतत्त्व ढूंढनेवाले, बडे तेजस्वी महर्षि नारद जीने पारिजात, धीमान पर्वत, सुमुख और सौम्य, इनके साथ लोकमण्डलमें घूमते घामते हुए पाण्डवोंके दर्शनके लिये प्रसन्न

जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥ १२॥
तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् ।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायाऽनुजैः सह ॥ १३ ॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ।
तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय यथाविधि ॥ १४ ॥
गां चैव मधुपर्कं च सम्प्रदायाऽर्घ्यमेव च ।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥ १५ ॥
तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात ।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १७ ॥
नारद उवाच— कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चाऽनुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ १८ ॥
कच्चिदाचरितां पूर्वैर्नरदेव पितामहैः ।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १९ ॥
कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणाऽर्थमथापि वा ।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ २० ॥

होगे मनके समान तेज चालसे उनकी उस सभामें आकर जय आशीषसे धर्मराजकी जयजयकार तथा पूजा की । (१-१२)

ऋषिको आते देखकर सब धर्मके जानकार अति नम्र व्यवहार धर्मकुमार ने एकायक अनुजोंके समेत खडे होय प्रीति दर्शाय, शिर झुकाय, प्रणाम कर, पाद्य, अर्घ्य, योग्य आसन गौ, मधुपर्क, रत्नादि सब कामनाओंसे उनकी पूजा की । वह भी युधिष्ठिरसे योग्य पूजा पाय प्रसन्न हुए । वेदपारग महर्षि श्रीनारदजी, पाण्डवोंसे पूजे जाय युधिष्ठिरसे धर्मार्थ-कामयुक्त यह नीचे लिखे प्रश्न किये । (१३-१७)

श्रीनारदजी बोले, महाराज ! तुम्हारा धन सञ्चित और उचित कार्यमें व्ययित तो हो रहा है ? तुम्हारा मन धर्म पर रमता तो है ? तुम्हें सुख तो अनुभव होता है ? और इससे चित्त ऊबता तो नहीं ? हे नरनाथ ! तुम्हारे पूर्वज अच्छी मङ्गली और बुरी प्रजासे जैसे धर्म अर्थकी रीतिसे अच्छा बर्ताव करते थे, तुमभी वैसेही करते तो हो ? अर्थके लिये धर्मकी और धर्मके लिये अर्थकी हानि तो नहीं पहुंचाते ? अथवा हालमें सुन्दरी कामके वशमें हो जाय धर्मार्थ

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः समं वरद सेवसे ॥ २१ ॥
कच्चिद्राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथाऽनघ ।
बलाबलं तथा सम्यक्चतुर्दश परीक्षसे ॥ २२ ॥
कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥ २३॥
कच्चित्प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढयास्तथाऽव्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः॥२४॥
कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाऽप्यपरिशंकिताः ।
त्वत्तो वा तव चाऽमात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा॥२५॥
मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद्वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित्संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ २६॥
कच्चिद्वृत्तिमुदासीने मध्यमे चाऽनुमन्यसे ।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः संबोधनक्षमाः॥२७ ॥
कुलीनाश्चाऽनुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मंत्रिणः ।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥ २८॥

दोनोंको हनते तो नहीं ? हे परोपकारी जय-निहारी कालविहारी युधिष्ठिर! तुम योग्य कालमें भागकर तुल्य रीतिसे धर्म अर्थ कामकी सेवा तो करते हो ? हे अनघ! वक्तृता, प्रगल्भता आदि छः राज-गुण, साम दानादि सात उपाय और बलाबल द्वारा राजाओंके चौदह भांतिके दोषोंको भले प्रकार जानते हो कि नहीं ? (१८-२२)

हे जयशील! अपनी और परायी दशाको समझ बूझकर कार्य तो करते हो? और शत्रुओंसे हेल मेलकर कृषि वाणिज्यादि आठ प्रकारके कर्म कर लेते तो हो? हे भरतकुलप्रदीप! तुम्हारी दुर्गनाथादि सप्तविध प्रकृति शत्रुओंसे मोहित होकर अथवा आढ्य बनके व्यसनी तो नहीं बनी ? वे सब भली भांति तुम्हारी प्रेमी तो बनी है? छली, निडर दूतोंसे, तुमसे अथवा तुम्हारे मन्त्रियोंसे तुम्हारी परामर्श प्रकाश तो नहीं होती? शत्रु, मित्र और विरागी जो कुछ करना चाहते है, वह जान तो लेते हो? उचित कालमें सन्धि-विग्रह तो करते हो? उदासीन और मध्यस्थों पर मध्यस्थताकी अवलम्ब तो करते हो? हे वीरवर ! निर्दोष, काज अकाजके समझदार, प्यारे, तथा अपने

कच्चित्संवृतमन्त्रैस्ते अमात्यैः शास्त्रकोविदैः ।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ॥ २९ ॥
कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्काले विबुध्यसे ।
कच्चिच्चाऽपररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ ३० ॥
कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित्ते मन्त्रितो मंत्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ ३१ ॥
कच्चिदर्थान्विनिश्चित्य लघुमूलान्महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३२ ॥
कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चाऽत्र कारणम् ॥ ३३ ॥
आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः ।
कच्चिद्राजन्कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ।
विदुस्ते वीर कर्माणि नाऽनवाप्तानि कानिचित् ॥ ३४ ॥
कच्चित्कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ ३५ ॥

समान सुवंशी वृद्धोंको मन्त्रीके पदपर बैठाया तो है? क्योंकि हे भारत! मन्त्र ही राजोंकी जयकी जड है। (२३-२८)

सब शास्त्रोंमें पण्डित मन्त्रीगण मन्त्र छिपाकर भली रीति तुम्हारे राज्यकी रक्षा तो करते हैं? तुम निद्राके अधीन तो नहीं होते? उचित समय पर जागते तो हो? हे अर्थज्ञ! शेष निशामें उचित अनुचितकी चिन्ता तो कर लेते हो? अकेले अथवा अनेकोंके साथ युक्ति तो नहीं करते? तुम्हारी गुप्त युक्ति तो राज्यमें नहीं फैलती? थोडे यत्नसे मिलनेवाले, पर बडे फलदायी ऐसे कार्योंको शीघ्र आरम्भ तो करते हो? किसी हेतुसे इसमें बाधा तो नहीं डालते? सब कार्योंका अन्तभाग तुम्हारी दृष्टिमें पडता और निःशङ्क होता है कि नहीं? आरम्भ कर उन सब कार्योंको त्यागना तो नहीं पडता? अथवा उन सबोंका प्रबन्ध बिगडता तो नहीं? (२९—३३)

विश्वासी अलोभी प्राचीन क्रमसे चलनेवाले कर्मचारियोंसे वह सब किये तो जाते हैं? महाराज! लोग तुम्हारे किये गये वा किये जाते हुए कार्योंको जान तो लेते हैं? हे वीरवर! जो सब कार्य नहीं हुए हैं, उन्हें तो दूसरे नहीं जानते? सब शास्त्रोंमें पण्डित आचार्यगण कुमार और युवक मुख्योंको धर्मकी शिक्षा

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥ ३६ ॥
कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ३७ ॥
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ ३८ ॥
कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥३९॥
कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा ।
नित्ययुक्तो रिपून्सर्वान्वीक्षसे रिपुसूदन ॥ ४० ॥
कच्चिद् विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरसंकीर्णः सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ४१ ॥
कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ ४२ ॥
कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ।
उत्पातेषु हि सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ॥ ४३ ॥

तो देते है ? सहस्रों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको मोल लेते हो कि नहीं? क्योंकि पण्डित लोग बड़ी विपतमेंभी उद्धार करके मङ्गल करते हैं।(३४–३६)

तुम्हारे दुर्ग, धन, धान्य, रत्न, अस्त्र, शस्त्र, जल, यन्त्र, दल, शिल्पीगण और चापधारियोंसे भरे पूरे तो हैं. मेधावी, शूर, जितेन्द्रिय और चतुर एकही राजमन्त्रीसे भी राजा वा राजकुमार बड़े श्रीमान हो सकते हैं ; सो ऐसा कोई मन्त्री आपके यहां है ना ? हे शत्रुमर्दन ! तीन तीन गुप्तचरोंसे विपक्षियोंके पुरोहितादि अठारह तीर्थ और निज पक्षके पन्दरह तीर्थ जान तो लेते हो ? शत्रुओंके न जाननेसे सदा सावधान और यत्नवान होकर उनका सब हाल जान तो लेते हो ? विनयी, सुवंशी, बड़े नामी असूयासे रहित और महानुभाव पुरोहितोंका तुम सदा आदर तो करते हो ? (३७-४१)

कोई सरल चित्त विधिदर्शी जन तुम्हारे अग्निहोत्र कार्यमें नियुक्त होकर यह तो जताते हैं, कि कब हवन हुआ और कब करना चाहिये ? जो तुम्हारे ज्योतिष शास्त्रके प्रतिपादक हैं, वह सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार अङ्ग परीक्षामें पण्डित, दैवी अभिप्रायोंके जानकार

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥४४॥
अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ ४५ ॥
कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ।
राष्ट्रं तवाऽनुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ॥ ४६ ॥
कच्चित्त्वां नाऽवजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ ४७ ॥
कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चाऽनुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तव ॥ ४८ ॥
कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥४९॥
कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ५० ॥
कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुर्वन्ति दौर्गत्यात्सोऽनर्थः सुमहान्स्मृतः ॥५१॥
कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।

और दैवादि विपत्तिके रोकनेमें दक्ष तो है? उत्तम, मध्यम और निकृष्ट नौकर तो रखे गये? कुलकी परम्परासे चले आते हुए, अकपट अमल-चित्त श्रेष्ठ मन्त्रियोंको श्रेष्ठ कार्योंमें नियुक्त तो कर दिया है? तुम्हारे कड़े दण्डसे प्रजा चिढ़ती तो नहीं? मन्त्रीलोग तुम्हारी आज्ञासे राज्य शासन तो करते हैं? याजक लोग पतित जनको और नारियां कड़े स्वभावी स्वेच्छाविहारी पतिका अनादर करती हैं, वैसे मन्त्रीलोग तुम्हारा अनादर तो नहीं करते? (४४—४७)

तुम्हारा सेनापति प्रगल्भ, शूर, मतिमान, धीरजवान, शुचि, सुवंशी, प्यारा और काममें दक्ष तो है! अपने सैनिकोंमें सब युद्धमें दक्ष, प्रगल्भ शुद्धचित्त, पराक्रमी बड़े बड़े जनोंका आदर पूर्वक सम्मान तो करते हो? सदा सेनाओंको पावना अन्न और वेतन ठीक समयपे तो देते हो? काल बिताकर उनको पीड़ा तो नहीं पहुंचाते? क्योंकि उचित समय पर उनको अन्न वेतन न देनेसे वे दुर्गतिसे प्रभुको हानि पहुंचाया करते हैं; इस अनर्थको पण्डितलोग बड़ा अनर्थ

कच्चित्प्राणांस्तवाऽर्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि॥५२॥
कच्चिन्नैको बहूनर्थान्सर्वशः सांपरायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः॥५३॥
कच्चित्पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ५४ ॥
कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाऽभ्युपपद्यसे ॥ ५५ ॥
कच्चिद्दारान्मनुष्याणां तवाऽर्थे मृत्युमीयुषाम्।
व्यसनं चाऽभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ ५६ ॥
कच्चिद्भयादुपगतं क्षीबं वा रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत्परिरक्षसि ॥ ५७ ॥
कच्चित्त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते ।
समश्चाऽनभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता॥५८॥
कच्चिद्व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम्॥ ५९ ॥
यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिंदम ।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम् ॥ ६० ॥

कहते है। सुवंशी और प्यारे बडे बडे जन तुम्हारे हितके निमित्त युद्धमे प्रसन्न मनसे प्राण छोडनेको प्रस्तुत तो है? (४८–५२)

शासनाधीन कोई कामात्मा जन अकेला बहुविध युद्धलीला स्वेच्छासे करने तो नहीं पाता? कोई पुरुषार्थ प्रकटकर अपना कर्म उज्वल बनाके तुमसे बहुत सम्मान अथवा बहुत अन्न और वेतन तो पाते है? विद्या विनयसे छके, ज्ञानसे पके, लोगोको तुम गुणके अनुसार उचित पारितोषिक तो देते हो? हे भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे लिये प्राण छोडे अथवा विपतमे पडे परिवारोको पालते पोषते तो हो? भय पाये, वा शक्ति खोये, अथवा युद्धमे हारे, शरण लिये हुए शत्रुओंको पुत्रके समान पालते तो हो? (५३–५७)

हे पृथ्वीनाथ! धरती भरके सब लोग तुमको पक्षपातसे रहित और पिता माताकी भांति अनडरावने जानते तो है? शत्रु व्यसनी बना है; सुनके तुम मन्त्र, कोप और उत्साह इन तीन प्रकारके बलकी भली भांति आलोचना कर उस पर शीघ्र चढ जाते हो कि नहीं? हे अरिन्दम! पार्ष्णिग्राह आदि बारह प्रकारके मण्डल कृत्य

बलस्य च महाराज दत्वा वेतनमग्रतः ॥ ६१ ॥
कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप ।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ६२ ॥
कच्चिदात्मानमेवाऽग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
पराञ्जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६३ ॥
कच्चित्ते यास्यतः शत्रून्पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद्गुणाः ॥ ६४ ॥
कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान्यासि विशांपते ।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६५ ॥
कच्चिदष्टांगसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ॥ ६६ ॥
कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप ।
अविहाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥ ६७ ॥
कच्चित्स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव ।
अर्थान्समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६८ ॥

निश्चय और पराजय विशेष रूपसे जानके और सैनिकोंका अग्रिम वेतन चुकाकर दैवादि व्यसन सब भली प्रकार आलोचना करके योग्य समयमें युद्धयात्रा तो करते हो ? हे शत्रुतापन ! शत्रु राज्यमें आपसका विगाड़ उभाड़नेके हेतु बड़े बड़े सैनिकोंको योग्यताके अनुसार शत्रुकी बिन देखी हुई बनायी अच्छी वस्तुका पारितोषिक तो देते हो ? (५८—६२)

हे पृथापुत्र ! पहिले अपनेको जयकर जितेन्द्रिय होय पीछे अजितेन्द्रिय प्रमत्त शत्रुको पराजय करना तो चाहते हो ? शत्रुओंपर चढ़ जानेके पहिले भली प्रकार अनुष्ठान किये हुए साम दान भेद और दण्ड यह चार उपाय विधिपूर्वक प्रयोग तो किये जाते हैं ? अपने राज्यकी भली रीतिसे रक्षा करके पीछे शत्रुओंको जय करनेके लिये बल विक्रम प्रगट तो करते हो ? जय करके उनकी रक्षा तो करते हो ? हे शत्रुनाशि ! अष्टाङ्ग युक्त चार प्रकारके बल रखती हुई सेना बड़े बड़े योधोंसे सिखायी जाकर तुम्हारे शत्रुको मारने तो जाती है ? हे महाराज ! पराये राज्यमें अनाज काटने और दुर्भिक्षके कालको न त्याग करके युद्धमें शत्रुओंकी हिंसा तो करते हो ? (६३—६७)

अपने और पराये राज्यमें बहुविध नौकर चाकर इत्यादि कामोंमें नियुक्त

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शजानि च।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६९ ॥
कच्चित्कोशश्च कोष्ठश्च वाहनं द्वारमायुधम्।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ७० ॥
कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशांपते।
रक्षस्यात्मानमेवाऽग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ७१ ॥
कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७२ ॥
कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशोध्यते तव॥ ७३ ॥
कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्वणिजः शिल्पिनः श्रितान्।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७४ ॥
कच्चिच्चाऽऽयव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायव्ययं तव ॥ ७५ ॥
कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान्हितकामाननुप्रियान् ।
नाऽपकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७६ ॥

रहकर उस कामोंको करते और एक दूसरेको बचाते तो है ? हे महाराज ! तुम्हारे विश्वासी जन भोजनकी सामग्री और वस्त्र चन्दनादि तो एकत्र रखते है? कोष, शस्यगृह, वाहन, द्वार, अस्त्र और आय यह सब तुम्हारे मङ्गल चाहनेवाले भक्त नौकरोंमे रखे तो जाते है? हे प्रजानाथ ! रसोइया आदि भीतरी और सेनापति आदि बाहरी जनोंसे पहिले अपनी रक्षा कर पीछे पुत्रादि आत्मजनोंसे उनकी और उनमें परस्परसे परस्परकी रक्षा तो करते हो ? (६९-७१)

दिनके पहिले भागमे तुम्हारा पान, सुन्दरी, चौसड आदिके व्यर्थ व्ययका हाल कोई जान तो नहीं सकता? तुम्हारी आयके आधे, तीसरे वा चौथे भागमे तुम्हारा व्यय पूजता तो है ? सदा धन धान्य देकर गुरु, वृद्ध, वणिक, शिल्पी, शरणागत और कुदशामें पडे जनो पर कृपा दिखाते तो हो? आय व्ययमे लगे लेखक और गणक नित्य दिनके पूर्व भागमे तुम्हारा आय व्ययका हिसाब लगाते तो है ? विषयमें चिन्तन लगाये हितैषी प्यारे कर्मचारी विना दोष कार्यसे निकाले तो नहीं जाते ? । (७२-७६)

कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७७ ॥
कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशांपते ।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७८ ॥
कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित्तुष्टाः कृषीबलाः ॥ ७९ ॥
कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ८० ॥
कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ८१ ॥
कच्चित्स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८२ ॥
कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८३ ॥
कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८४ ॥

हे भरतनन्दन! भले, बुरे और मझले जन भले प्रकार जांचे जाय योग्य कर्ममें नियुक्त तो होते हैं? हे प्रजाधिपते! चोर, लोभी, शत्रु अथवा बालक तो तुम्हारे कार्यमें नहीं नियुक्त होते? चोर, लोभी, कुमार वा नारी अथवा तुम से राज्यमें कोई बखेडा तो नहीं उठता? तुम्हारे राज्यके किसान तो सदा प्रसन्न रहते हैं? बडे बडे ताल जलसे परिपूर्ण होकर विभागके अनुसार ठौर-ठौरमें बने तो हैं? [illegible] वृष्टिका कोई दूसरा प्रयोजन तो नहीं है? ७७-८० ॥ [illegible] सैकडेमें चौथा भाग व्याज लेकर कृपाचित्तसे उनको ऋण तो देते हो? तुम्हारे कृषि वाणिज्य, पशुपालन और ऋणदान यह चार प्रकारकी वार्ता तो सुचरित्र जनोंसे भले प्रकार की जाती है? हे बेटा! वार्ताके प्रबन्ध रहनेहीसे लोग सुखी हो सकते हैं, शूर और [illegible] पांच मनुष्य पुरवासी-पालन, दुर्ग-पालन, वणिक-पालन, कृषिका देखना भालना और दुष्टोंका शासन इन पांच कार्योंमें नियुक्त रहकर [illegible] तुम्हारे जनपदोंका मङ्गल का प्रबन्ध करते तो हैं? राज्यकी रक्षाके लिये गांव नगरके समान और प्रान्त भाग ग्रामके समान बने हैं [illegible] नहीं?

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शजानि च।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६९ ॥
कच्चित्कोशश्च कोष्ठश्च वाहनं द्वारमायुधम्।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ७० ॥
कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशांपते।
रक्षस्यात्मानमेवाऽग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान्॥७१ ॥
कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७२ ॥
कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशोध्यते तव॥ ७३ ॥
कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्वणिजः शिल्पिनः श्रितान्।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७४ ॥
कच्चिच्चाऽऽयव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायव्ययं तव ॥ ७५ ॥
कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान्हितकामाननुप्रियान् ।
नाऽपकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७६ ॥

रहकर उस कामोंको करते और एक दूसरेको बचाते तो है ? हे महाराज ! तुम्हारे विश्वासी जन भोजनकी सामग्री और वस्त्र चन्दनादि तो एकत्र रखते है? कोष, शस्यगृह, वाहन, द्वार, अस्त्र और आय यह सब तुम्हारे मङ्गल चाहनेवाले-भक्त नौकरोंसे रखे तो जाते है? हे प्रजा-नाथ ! रसोइया आदि भीतरी और सेना-पति आदि बाहरी जनोंसे पहिले अपनी रक्षा कर पीछे पुत्रादि आत्मजनोंसे उनकी और उनमें परस्परमे परस्परकी रक्षा तो करते हो ? (६८-७१)

दिनके पहिले भागमें तुम्हारा पान, सुन्दरी, चौसड आदिके व्यर्थ व्ययका हाल कोई जान तो नहीं सकता ? तुम्हारी आयके आधे, तीसरे वा चौथे भागसे तुम्हारा व्यय पूजता तो है ? सदा धन धान्य देकर गुरु, वृद्ध, वणिक, शिल्पी, शरणागत और कुदशामें पडे जनों पर कृपा दिखाते तो हो ? आय व्ययमे लगे लेखक और गणक नित्य दिनके पूर्व भागमे तुम्हारा आय व्ययका हिसाब लगाते तो हैं ? विषयमें चिन्तन लगाये हितैषी प्यारे कर्मचारी विनादोष कर्मसे निकाले तो नहीं जाते ? । (७२-७६)

कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७७ ॥
कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशांपते ।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७८ ॥
कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीडयते राष्ट्रं कच्चित्तुष्टाः कृषीवलाः ७९ ॥
कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ८० ॥
कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्याऽवसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ८१ ॥
कच्चित्स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८२ ॥
कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्चस्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८३ ॥
कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः॥ ८४ ॥

हे भरतनन्दन! भले, बुरे और मझले जन भले प्रकार जांचे जाय योग्य कर्ममें नियुक्त तो होते हैं? हे प्रजाधिपते ! चोर, लोभी, शत्रु अथवा बालक तो तुम्हारे कार्यमें नहीं नियुक्त होते? चोर, लोभी, कुमार वा नारी अथवा तुम से राज्यमें कोई बखेडा तो नहीं उठता ? तुम्हारे राज्यके किसान तो सदा प्रसन्न रहते हैं? बडे बडे ताल जलसे लबालब होकर विभागके अनुसार ठौर-ठौरमें बने तो हैं? कृषिकार्यमें वृष्टिका कोई बडा प्रयोजन तो नहीं है ? ७७-८०

हर सैकडेमें चौथा भाग बढती लेकर कृपाचित्तसे उनको ऋण तो देते हो? तुम्हारी कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और ऋणदान यह चार प्रकारकी वार्ता तो सुचरित्र जनोंसे भले प्रकार की जाती है ? हे बेटा! वार्ताके प्रबन्ध रहनेहीसे लोग सुखी हो सकते है, शूर और ज्ञानी पांच मनुष्य पुरवासी–पालन, दुर्ग–पालन, वणिक-पालन, कृषिका देखना भालना और दुष्टोंका शासन इन पांच कार्योंमें नियुक्त रहकर एकमतसे तुम्हारे जनपदोंके मङ्गल का प्रबन्ध करते तो है ? राज्यरक्षाके लिये ग्राम नगरके समान और प्रान्त भाग ग्रामके समान बने है कि नहीं ?

कच्चिद्बलेनाऽनुगताः समानि विषमाणि च ।
पुराणि चोरा निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८५ ॥
कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ८६ ॥
कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च ।
प्रियाण्यनुभवञ्शेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ॥ ८७ ॥
कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशांपते ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८८ ॥
कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान्समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ८९ ॥
कच्चिद्रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिन्दम ॥ ९० ॥
कच्चिद्दण्ड्येषु यमवत्पूज्येषु च विशांपते ।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ९१ ॥
कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थाऽपकर्षसि ॥ ९२ ॥

नित्य समाचार आदि भेजनेमे उन सब विषयोंका भार तुम पर सन्नद्ध है कि नहीं? चोर तुम्हारे पुरोंको हनकर सम और ऊंची नीची सब ठौरमें लूट मचावे तो सैनिक लोग उनको पछियाते तो है? (८१–८५)

तुम स्त्रियोंको ढाढस दे उनकी रक्षा तो करते हो? उनकी बातोंका विश्वास अथवा उनसे कोई गुप्त बात तो नहीं कह देते? हे महाराज! किसी विपतको आती हुई सुन और उसकी चिन्ता कर अन्तःपुरमे स्रक चन्दनादि प्यारी वस्तु लगाके सो तो नहीं रहते? रात्रिके दूसरे और तीसरे भागमे सुखसे सोकर शेष अंशमें उठकर धर्मार्थकी चिंता तो करते हो? हे पाण्डुपुत्र! उचित समयमें उठके बन ठनकर, समयके जानकार मन्त्रियोंके साथ दर्शन चाहनेवाले जनोंको नित्य भेट तो करने देतेहो? हे शत्रुमथन! लालाम्बर पहिर गहनोसे सजे जन अस्त्र लिये रखवारीके निमित्त तुम्हारी दोनों ओर खडे तो रहते है? (८६—९०)

क्या दण्डयोग्य, क्या पूजा-योग्य, क्या प्रिय, क्या अप्रिय, सबोंको जाच कर यमराजकी भाति ठीक व्यवहार तो करते हो? हे कुंतीपुत्र! नियम और औषधसे शारीरिक पीडा और वृद्धके उपदेशसे मानसिक

कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चाऽनुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ९३ ॥
कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा मानाद्वापि विशांपते।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान्न पश्यसि कथंचन ॥ ९४ ॥
कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा विश्रम्भात्प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ९५ ॥
कच्चित्पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः ।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ॥ ९६ ॥
कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः ।
मन्त्रेण बलवान्कच्चिदुभाभ्यां च कथंचन ॥ ९७ ॥
कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वया हृताः ९८ ॥
कच्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते ।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः॥ ९९ ॥
कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः ।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन्कर्मणि वर्तसे ॥ १०० ॥

पीडामे रखते हो कि नहीं? निदान पूर्व रूपादि अष्टाङ्ग चिकित्सामें ज्ञानी और मित्रता तथा प्रेमयुक्त वैद्य सदा तुम्हारे शरीरकी रक्षामे लगे तो रहते है ? हे प्रजापालक! ऐसा तो कभी नहीं होता.कि वादी.प्रतिवादियोंके आने पर अभिमान वा लोभ मोहसे उनके कार्यमे उचित ध्यान नहीं देते? विश्वास वा प्रेमसे जो तुम्हारी शरण लेते है तुम लोभके मारे उनकी वृत्ति तो नहीं उडाते ? (९१ ९५)

तुम्हारे पुरवासी वा राज्यवासी जन विपक्षियोंसे क्रीत होकर एकमतसे तुमसे कोई विरुद्ध व्यवहार तो नहीं करते ? हे युधिष्ठिर! तुम्हारे बलसे तथा प्रबल तन्त्र व। मन्त्र और बल दोनोसे शत्रु पिसे तो रहते है ? बडे बडे भूपाल तुम्हारे प्रेमी तो बने है ? तुम्हारा आदर पाय वे तुम्हारे मङ्गल के लिये प्राण तक दे देनेको कमर कसते है कि नहीं ? तुम सर्व विद्याओंमे गुणके अनुसार ब्राह्मण और साधुओंको पूजते तो हो ? क्योंकि वैसी पूजा तुम्हारा मङ्गल करनेवाली है। पूर्वजोंके किये वेदमूलक धर्म कर्ममें तुम्हारी भक्ति तो बनी है ? वे जैसा करते थे. तुमभी वैसा करने

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाऽध्यक्षं सदक्षिणम् १०१॥
कच्चित्क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः ।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् १०२॥
कच्चिज्ज्ञातीन्गुरूंन्वृद्धान्दैवतांस्तापसानपि ।
चैत्यांश्च वृक्षान्कल्याणान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि १०३॥
कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वेऽनुतिष्ठति॥ १०४॥
कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी १०५॥
एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति ।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तं सुखमेधते १०६॥
कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्बध्यते शुचिः १०७॥
दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः ।

का प्रयत्न कर उस काममें हाथ तो डालते हो ? (९६--१००)

गुणशाली ब्राह्मण तुम्हारे सामने नित्य स्वादिष्ट और गुणकारी सामग्री भोजन करते और दक्षिणा पाते तो है ? तुम जितेन्द्रिय होकर एक मनसे वाजपेय और पुण्डरीक आदि यज्ञोंको पूरा करनेका प्रयत्न तो करते हो? वृद्ध, ज्ञाति, गुरु, देवता और तपस्वियोंको तथा कल्याणदायी चैत्यवृक्ष और ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो ? हे अनघ ! तुम किसीको शोक वा क्रोध तो नहीं उपजाते हो ? पुरोहित आदि मङ्गल करनेवाले मनुष्य तुम्हारे पास रहकर स्वस्त्ययन तो करते है ? हे आयुष्मन् ! मैने आयु और यश बढानेवाली और धर्मार्थ काम दिखाती हुई जैसी बुद्धि और क्रिया की बात कही, तुम्हारी बुद्धि और क्रिया तो वैसी है ? जो ऐसी बुद्धिसे चलते है, उन का राज्य कदापि नही मुझाता और वह राजा सम्पूर्ण धरतीको जयकर बडे सुखी होता है। (१०१—१०६)

हे नरश्रेष्ठ ! मूर्खोसे हेलमेल करते हुए अनजान मन्त्री लोग लोभके वशमे होय किसी शुद्धचित्त दोषसे रहित, श्रेष्ठ जन पर झठ मूठ चोरीका कलङ्क लगाय सब लूट पूटके उनको हनते तो नहीं ? और समझ बूझ कर किसी सचमुच चोरी

कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ १०८ ॥
उत्पन्नान्कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत ।
अर्थान्न मिथ्या पश्यन्ति तवाऽमात्या हृता धनैः १०९
नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ ११० ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्याऽपरिरक्षणम् ॥ १११ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः॥११२॥
कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलं धनम् ।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ११३॥

युधिष्ठिर उवाच-- कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥ ११४ ॥

नारद उवाच -- अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥ ११५ ॥

किये दुष्ट चोरको चुराये माल सहित पकड करके उसे मालके लोभसे छोड तो नहीं देते ? हे भारत ! तुम्हारे मन्त्रीवर्ग धनके लोभमें पडके धनी दरिद्रोंमें उभडे झगडोंका अनुचित विचार तो नहीं करते? नास्तिकता, क्रोध, अनवधानता, दीर्घ-सूत्रता, ज्ञानियोंसे न मिलना, आलस्य, चित्तकी चञ्चलता, एकके साथ विषयकी चिन्ता, अर्थ न जाननेवाले लोगोंसे युक्ति करना, समझे बूझे कार्यका प्रारम्भ न करना मन्त्रणा न रखना, मङ्गल कार्यमें हाथ न डालना और विन समझे बूझे हर कार्यमें उठ खडे होना, राजाओंके यह चौदह दोष त्याग तो देते हो ? जड दृढ होने परभी राजगण इन दोषोंसे बहुधा बिगड जाते है। हे महाराज! तुम्हारा वेदपठन, धन, स्त्री लाभ और शास्त्र ज्ञान, यह सब सफल तो हुए है ? (१०७— ११३)

युधिष्ठिरने पूछा कि वेद, धन, स्त्री और शास्त्र ज्ञान क्याकर सफल होते है? श्रीनारदजी बोले कि अग्निहोत्रादि कर्म करनेहीसे वेद सफल होते है ; दान और भोग करनेहीसे धन सफल होता है ; कामवृत्तिके भरने और पुत्र उपजानेहीसे स्त्री लाभ सफल होता है और

वैशम्पायन उवाच—एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः ।
पप्रच्छाऽनन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ११६ ॥
नारद उवाच --- कच्चिदभ्यागता दूराद्वणिजो लोककारणात्।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः॥ ११७॥
कच्चित्ते पुरुषा राजन्पुरे राष्ट्रे च मानिताः।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिता : ॥ ११८ ॥
कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः।
नित्यमर्थविदां तात तथा धर्मार्थदर्शिनाम॥ ११९ ॥
कच्चित्ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयेते मधुसर्पिषी ॥ १२० ॥
द्रव्योपकरणं किंचित्सर्वदा सर्वशिल्पिनाम्।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ्नियत संप्रयच्छसि॥ १२१ ॥
कच्चित्कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥ १२२ ॥
कच्चित्सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो॥ १२३ ॥

शीलता तथा सदाचार प्राप्त करनेहीसे शास्त्रज्ञान सफल होता है। (११४-११५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महा-तपस्वी नारद मुनिने फिर धार्मिकवर युधिष्ठिरसे कहा, कि महाराज ! लाभकी आ-शासे दूर देशसे आये हुए वणिकोंसे कर लेनेवाले राज कर्मचारी लोग उचित कर तो लेते है ? यह सब वणिक तुम्हारे नगर और राज्यमे सम्मानित होय और ठगे न जाय विक्रीकी सामग्री ला तो सकते हैं? तुम धर्मार्थ दिखानेवाले अर्थ के जानकार वृद्धोके धर्मार्थ युक्त वचन सदा सुनते तो हो ? कृषिसे उत्पन्न धान्य, गौओसे उत्पन्न दूध घी, तथा पुष्पफलादिकोंसे उत्पन्न मधु आदिकोंसे धर्म के निमित्त द्विजोंको घृत मधु तो दी जाती है ? महाराज! तुम सब समय में सब प्रकारके शिल्पियोंको चार महीनेके अनधिक कालके भले प्रकार ठहराए हुए वेतन और बनानेकी सामग्री तो देते हो ? शिल्पियोका किया कार्य तो जान लेते हो ? उनका सत्कार तो करते हो ? (११६-१२२)

हे प्रभो भरतश्रेष्ठ! तुम सक्षेपमे सि-द्धान्तयुक्त सब प्रकारके वाक्य विशेष करके हाथी,घोडे और रथादिकी परीक्षा

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग्गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥१२४॥
कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥१२५॥
कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात्तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥ १२६ ॥
कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून्व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥ १२७ ॥
षडनर्था महाराज कच्चित्ते पृष्ठतः कृताः ।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधो मार्दवं दीर्घसूत्रता ॥१२८॥

वैशम्पायन उवाच–ततः कुरूणामृषभो महात्मा श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो राजाऽब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥ १२९ ॥
युधिष्ठिर उवाच – एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं प्रज्ञा हि मे भूय एवाऽभिवृद्धा।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा लेभे महीं सागरमेखलां च ॥ १३० ॥
नारद उवाच – एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।

के सब उपाय ग्रहण तो करते हो? हे भरतनन्दन! धनुर्वेद सूत्र और नगर हित कारी यन्त्रोंकी शिक्षाके सब ग्रन्थ तुम्हारे भवनमें पढे तो जाते है? हे अनघ! मन्त्रसहित सब प्रकार अस्त्र, ब्रह्मदण्ड अर्थात् आभिचारिक विद्या और विष देनेके सब उपाय तुम यह सब शत्रुनाशी विषय तो जानते हो? तुम अग्नि सर्पादिक हिंसक जन्तु और रोग राक्षसों से उपजे भयसे अपनी प्रजाको बचाते तो हो? हे धर्मज्ञ! अन्धे मूके लूले.बिन बन्धु और सन्यासियोंको उनके पिता की भांति बनके पालते तो हो? निद्रा, आलस्य. भय, क्रोध.ढिलाई और दीर्घसूत्रता, इन छ दोषोंको दूर तो किया है? (१२६–१२८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर देवरूपी ब्राह्मणसत्तम नारदजीकी यह सब बात सुनकर प्रसन्न मनसे उनको प्रणामकर और दोनो पादोंमें लगकर बोले कि आपने प्रश्नोंके मिससे जो सब उपदेश दिये, मै सब कार्य उनके अनुसार किया करूंगा, क्योंकि आपकी कृपासे मेरी बुद्धि बहुत बढी। राजा युधिष्ठिरने यह कहनेके पीछे इसके अनुसारही कार्य किया था और समुद्रके छोरतक सारी धरतीको जीत सके थे। श्रीनारदजी बोले, कि जो राजा

स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम्॥ १३१ ॥[२६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच– सम्पूज्याऽथाऽभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात्परम् ।
प्रत्युवाचाऽऽनुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
भगवन्न्याय्यमाहैतं यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥
राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः ।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥
वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो ।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥४॥
वैशम्पायन उवाच तं तु विश्रान्तमालक्ष्य देवर्षिममितद्युतिम् ।
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ॥५॥
मुहूर्तात्प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ।
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

इस रीतिसे ब्राह्मणादि चारो वर्णोकी रक्षामें सन्नद्ध रहते हैं, वह परम सुख लूट कर अन्तमें इंद्रलोकको जाते है। १२९-१३१

सभापर्वमें पाच अध्याय समाप्त । [२६८]

सभापर्वमें छठा अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, की ब्रह्मर्षि नारदके कह चुकने पर धार्मिकवर युधिष्ठिर उनको भली भांति पूजके, उनकी आज्ञा पाय आद्योपान्त उनके सब प्रश्नोंके उत्तर दे बोले, कि भगवन् ! आपने जिस योग्य रूपसे निरूपित धर्मसिद्धान्तकी बात कही,वह न्यायके अनुसारही हुआ है,मै शक्तिके अनुसार और उचित रूपसे उस विधिको काममे लाता हू । उसमें सन्देह नहीं, कि पूर्वकालमें राजोंने जो सब कार्य किये थे, वह न्यायकी रीतिसे सग्रहीतार्थ हेतुमत् और अर्थयुक्त है । हे प्रभो ! हम उनके उस सुपथसे चलना तो चाहते है, पर वे जितेन्द्रिय पुरुष जैसे चले थे हमसे वैसा बन नहीं पडता । (१-४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अति तेजस्वी धार्मिकवर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने नारदकी पूछी हुई बातोका आदरपूर्वक वह उत्तर देके कुछकाल पीछे उन बडे तेजोवन्त, सर्वलोकोंमे जानेवाले दमशील देवर्षि नारदकी थकावट मिटते और प्रसन्न मनसे बैठे देखकर और

अपृच्छत्पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— भवान्संचरते लोकान्सदा नानाविधान्बहून् ।
ब्रह्मणा निर्मितान्पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ८ ॥
ईदृशी भविता काचिदृष्टपूर्वा सभा क्वचित् ।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाऽऽचक्ष्व पृच्छतः ॥९॥

वैशम्पायन उवाच -तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम् ।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा ॥ १० ॥

नारद उवाच— मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता ।
सभा मणिमयी राजन्यथेयं तव भारत ॥ ११ ॥
सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः ।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ १२ ॥
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम् ।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १३ ॥
देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः ।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः ॥
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ॥ १४ ॥

आपभी उनके निकट बैठके ठीक अवसर जान सभामें विराजमान राजोंके सामने पूछा, कि हे ब्रह्मन् ! पहिले ब्रह्माजीने अनेक अगणित लोक रचे है, आप मन-की भांति वेगसे उनको निहारकर सदा सब ठौरमें फिरा करते है, सो कहें, कि आपने कहीं ऐसी सभा देखी, कि नहीं जो मेरी इस सभाके समान अथवा इससे भी श्रेष्ठ हो। (७-९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धर्मराज का यह वचन सुनकर नारद मुनि हँस-कर मीठी बातोंमें बोले, कि हे बेटा भारत ! तुम्हारी इस मणिकी बनी सभाके समान दूसरी सभा मनुष्य लोकमे न तो कभी देखी और न सुनी; पर जब तुम सुनना चाहते हो, तब तुमसे यमराजकी, धीमान वरुण की, और कुबेर तथा ब्रह्माजीकी निर्दोष दिव्य सभाओंकी कथा कहूंगा। उन सभाओंने दिव्य और अदिव्य अभिप्रायों अर्थात् सब लोकों-की बनावटोंसे बनायी जाकर अनेक रूप धरे है। देवगण, पितृगण, साध्य, संयतआत्मा याज्ञिकगण और देवरूपी, यज्ञ करनेवाले, दक्षिणायुक्त, शान्तस्व-भावी मुनिगण उन सभाओंकी सेवा करते है। (१०—१४)

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥१५॥
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः ।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम्१६॥
किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन्किंविस्ताराः किमायताः ।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ॥ १७ ॥
वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के ।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते । १८ ॥
एतत्सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव ।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ॥१९॥
एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत ।
क्रमेण राजन्दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नःसभाः॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ [२८८]

नारद उवाच — शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता ।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जिताऽर्कसमप्रभा ॥ १ ॥
विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता ।

श्रीनारदजीके ऐसा कहने पर महामति युधिष्ठिर भाइयों और द्विजवरोंके साथ कर जोडकर बोले, कि हे ब्रह्मन् ! हम सुनना चाहते है, आप उन सभाओंकी कथा कहें। कौन कौन सभामे कौन कौनसी सामग्री है, लम्बाई चौडाईमें कौन सभा कितनी बडी हैं, ब्रह्माजीकी, सभामें कौन कौन उनकी उपासना करते है: देवराज इन्द्र, सूर्यकुमार यमराज, वरुण और कुबेर, इनकी सभामे कौन कौन उनकी उपासना करते है, यह सब सुननेको हमें बडा कौतूहल उमडा है, सो हे ब्रह्मर्षे ! आप यह सब हमसे ठीक ठीक कहे। पाण्डु पुत्रके यह पूछने पर श्रीनारदजी बोले, कि महाराज ! मैं सब सभाओंकी कथा कहता हूं, क्रमसे सुनो। (१५-२०) [२८८]

सभापर्वमें छठा अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें सात अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे कुरुवंशी! इन्द्रजीकी सभा बहुत उजाला भरी है। उन्होंने अपने पुण्य फलसे उसको लाभ किया है और वह अर्कसमान उजाली दिव्य सभा इन्होंने स्वयं बनायी है।

वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥
जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा ।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥
तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने ।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत ४॥
बिभ्रद्वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः ।
विरजोम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिःसह ॥५॥
तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम् ।
मरुतः सर्वशो राजन्सर्वे च गृहमेधिनः ॥ ६ ॥
सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा ।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः ।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ८ ॥
तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते ।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाऽग्नयः॥ ९ ॥
तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वराः ।
पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १० ॥

वह आकाशमें विराजनेवाली कामगामी सभा लम्बाईमें डेढ सौ योजन, चौडाईमें सौ योजन और ऊंचाईमें पांच योजन फैली है ; बुढापा-शोक-थकावट मिटावनी शङ्काभगावनी, शान्तिदायिनी, मङ्गल उपजानी सुगृह आसन-धारिणी दिव्य वृक्षोंसे सुहावनी सो बडी मनहारिणी है, उन सभामें देवनाथ इन्द्र केयूर लिये किरीट धरे, निर्मल अम्बर तथा सुन्दर माला पहिरे, अनजाने स्वरूप धरे, अपनी पत्नी शची, शोभा, सम्पत्ति श्री, द्युति तथा कीर्तिके सहित परमोत्कृष्ट आसन पर विराजते हैं। (१-५)

महाराज ! गृहमेधी सब मरुद्गण उस सभामें महात्मा इन्द्रकी सदा उपासना करते हैं । सिद्धगण, देवर्षिगण, देव गण, और सुवर्ण माला पहिरे, आकाश धरे एकत्रित मरुद्गण दिव्यरूप बने साथियोंके साथ शत्रुदमन महानुभव देवराज की उपासना करते हैं। (६-८)

हे पार्थ ! अमल निष्पाप अग्नि समान उजाले तेजसे युक्त सोमयाजी बुढापा शोक तजे देवर्षिगण और पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित,

शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः॥११॥
पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा १२॥
हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः॥१३॥
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः॥ १४॥
अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥१५॥
सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः।
शमीकः सत्यवाक्चैव प्रचेताः सत्यसंगरः॥१६॥
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चाऽत्र महातपाः॥ १७॥
कक्षीवान्गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः।
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः॥१८॥
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान्।
कण्वः कात्यायनो राजन्गार्ग्यःकौशिक एव च॥१९॥
दिव्या आपस्तथौषध्यःश्रद्धा मेधा सरस्वती॥२०॥

गौरशिरा, दुर्वासा, क्रोधन, श्येन, दीर्घतमा, पवित्रपाणि, सावर्णि, याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि,हविष्मान, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पाराशर्य, कृषीवल, वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, करालदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा, तुम्बुरु, सहदेव,सुनीथ, महातपा वाल्मीकि, सत्यवादी शमीक, सत्यसङ्गर प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपा स्थाणु, कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानर कालकवृक्षीय, आश्राव्य, हिरण्मय, संवर्त्त, देवहव्य, वीर्यवन्त विष्वक्सेन, कण्व, कात्यायन, गार्ग्य और कौशिक, यह सब मुनि ऋषि और बिन योनिसे उपजे, योनिसे उपजे वायुभक्षी, हुतभक्षी आदि सब प्रकारके जीवही इस सभामे सर्वलोकनाथ वज्रधारी इन्द्रकी उपासना करते है। (९---१९)

अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहास्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ॥ २१ ॥
प्राची दिग्यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सविताऽर्यमा ॥२२॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २३ ॥
यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैव ग्रहास्ताराश्च भारत ।
यज्ञवाहाश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २४ ॥
तथैवाऽप्सरसो राजन्गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥ २५ ॥
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।
स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २६ ॥
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।
ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २७ ॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाऽग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे॥२८॥
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र वै ।
एते चाऽन्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥२९॥

हे पाण्डुनन्दन ! स्वर्गके जल तथा सब औषधि और श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, धर्म अर्थ काम, विद्युत, जलधर, बादल-दल, वायुकुल स्तनयित्नुगण, प्राचीदिक्, यज्ञनिवटारनेवाले सताइस अग्नि, अग्नीषोम, इन्द्राग्नी, मित्र, सविता, अर्यमा, भग विश्वदेवगण, सब साध्यगण, बृहस्पति, शुक्राचार्य, विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन, तरुण, सकल यज्ञ, सब दक्षिणा, ग्रहगण, तारा गण और यज्ञवाही मन्त्र सब उस सभामें विराजते हैं। (२० – २४)

हे महाराज ! वहां मनहरणी अप्सरा और गन्धर्व भांति भांतिके नाच, गीत बाजा, हँसी, स्तुतिपाठ, मङ्गल कर्म और विक्रम प्रगट कर बलवृत्रनाशी सर्वगुण-राशी देवनाथ इन्द्रका मन बहलाते हैं। अग्नि समान प्रकाशमान माला पहिने गहने धारण किये ब्रह्मर्षि और बहुतेरे दूसरे पुरुष बहुविध विमानों पर उस सभामें जाया आया करते हैं। बृहस्पति और शुक्र वहां नित्य विराजते हैं। महाराज ! यह और दूसरे अगणित यतव्रत

विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन्भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ ३० ॥
एषा सभा मया राजन्दृष्टा पुष्करमालिनी ।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३१ ॥ [३१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

नारद उवाच— कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम् ।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥
तैजसी सा सभा राजन्बभूव शतयोजना ।
विस्तारायामसंपन्ना भूयसी चाऽपि पाण्डव ॥ २॥
अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी ।
नाऽतिशीता न चाऽत्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी॥३॥
न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाऽप्रियम् ।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥
सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः।
रसवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिन्दम ॥ ५ ॥
लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम् ।

महात्मा और ब्रह्मव्रत भृगु तथा सप्तर्षि-गण चन्द्रमा सदृश विमानों पर साक्षात् सोमकी भांति प्रियदर्शन बनके उक्त सभामें जाते आते है। हे महाभुज! मैंने इन्द्रकी उस पुष्करमालिनी नामक सभा ऐसी देखी है, अब यमराजकी सभाकी कथा सुनो (२६–३१) [३१९]

सभापर्वमें सात अध्याय समाप्त ।

सभापर्वमें आठ अध्याय ।

श्रीनारदजी बोले, कि हे युधिष्ठिर ! यमराजके लिये विश्वकर्माने जो सभा रची है मैं उसकी कथा कहना प्रारम्भ करता हूं, ध्यान करो। हे पाण्डुनन्दन वह उजाली कामरूपी सभा लम्बाई चौडाईमें सौ योजनसे भी अधिक फैली है। वह सूर्य समान प्रकाशयुक्त प्रगट होती है और न तो बहुत ठण्डी और न बहुत गर्म होनेके कारण मनको बडा आनन्द पहुंचाती है। उस सभामें बुढापा. शोक, भूख, प्यास, अप्रिय, दीनता, थकावट, विरोध कुछभी नही है। क्या देवता, क्या मनुष्य सबकी चाह भरनेकी भांति भांतिकी सामग्री वहां बनी बनायी धरी है। चबाने, चूसने, चाटने,

पुण्यगन्धाः स्रजस्तस्यां नित्यं कामफला द्रुमाः॥६॥
रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव ह ।
तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः॥ ७ ॥
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते ।
ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ॥ ८ ॥
त्रसदस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः ।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ॥ ९ ॥
प्रतर्दनः शिबिर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः ।
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुवः ॥१०॥
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः ।
भारतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठोऽनलः ॥ ११ ॥
दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः ।
व्यश्वः सदश्ववाध्र्यश्च पृथुवेगः पृथुश्रवाः ॥ १२ ॥
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः ।
रुषद्गुर्वृषसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ॥ १३ ॥
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाप्युशीनरः ।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः॥१४॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः।

पीने सब प्रकारके स्वादिष्ट भोजनकी सामग्रीका वहां ढेर लगा है.हे शत्रुमथन! वहाकी फूलहारकी मनचुरावनी गन्धसे चारों दिशा प्रमुदित हो रही है, वृक्ष मनमाने फल देते है : और मीठे ठण्डे और गर्म जल रखे है।उस सभामे पवित्र राजर्षि और विशुद्ध ब्रह्मर्षिगण प्रसन्न मनमे सूर्यनन्दन यमराजकी उपासना करते है । (१–८)

हे महाराज! ययाति. नहुष, पूरु, मान्धाता. सोमक. नृग राजर्षि त्रसदस्यु, कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमि, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिवि, मत्स्य,पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त्त, मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, कार्तवीर्य, भारत, सुरथ, सुनीथ, निशठ,अनल. दिवोदास सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व. वध्यश्व, पृथुवेग, पृथुश्रवा, पृषदश्व वसुमना, बलवान् क्षुप, रुषद्गु, वृषसेन पुरुकुत्स,ध्वजी. रथी आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि पुण्डरीक,

भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ॥ १५ ॥
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान्मधुः ।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान्पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा ।
व्यश्वःसाश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः॥१७॥
रामो दाशरथिश्चैव लक्ष्मणोऽथ प्रतर्दनः ।
अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १८ ॥
जामदग्न्योऽथ रामश्च नाभागसगरौ तथा ।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १९ ॥
राजा वैन्यो वारिषेणः पुरुजिज्जनमेजयः ।
ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ २० ॥
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः ।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च अरिद्युम्नः प्रसेनजित् ॥ २१ ॥
अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा ।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं हयाः॥२२॥
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः ।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरिणामीरिणां शतम्॥२३ ॥
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम् ।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः२४॥
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः ।

शर्याति,शरभ,शुचि,अङ्ग,अरिष्ट,वेन,दुष्यन्त, सृञ्जय, जय, भाङ्गासुरि, सुनीथ, निषध, वहीनर,करन्धम, बाह्लिक सुद्युम्न, बलवन्त मधु, ऐल, मरुत्त, कपोतरोमा, तृणक सहदेव,अर्जुन,व्यश्व,साश्व, कृशाश्व,शशबिन्दु,दशरथपुत्र राम और लक्ष्मण, प्रतर्दन, अलर्क, कक्षसेन, गय, गाराश्व,जामदग्न्य राम,नाभाग,सगर,भूरिद्युम्न,महाश्व,पृथाश्व,जनक, वैन्य,वारिषेण, पुरुजित, जनमेजय, ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त्त, उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित,अरिष्टनेमी, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, मत्स्यवंशी सौ नरेश, नीप वंशी सौ राजा, हयवंशी सौ भूपाल, एक सौ धृतराष्ट्र, अस्सी जनमेजय, सौ ब्रह्मदत्त, वीरिणों के एक सौ, दोसौसे अधिक भीष्म, सौ भीम सौ प्रति-

शान्तनुश्चैव राजेन्द्र पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २५ ॥
उशंगवः शतरथो देवराजा जयद्रथः ।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान्सह मंत्रिभिः ॥ २६ ॥
अथाऽपरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः।
इष्ट्वाऽश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७॥
एते राजर्षय' पुण्या' कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः।
तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २८ ॥
अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च ।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २९ ॥
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये ।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथाऽपरे ॥ ३० ॥
कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान्हव्यवाहनः ।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३१ ॥
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये ।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ॥
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ॥ ३२ ॥
एते चाऽन्ये च बहवः पितृराजसभासदः ।
न शक्याः परिसंख्यातु नामभिः कर्मभिस्तथा ३३॥

विन्ध्य सौ नाग, सौ हय, सौ पलाश, सौ काश कुशादि, महाराज शान्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु, उशङ्गव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, मन्त्रियोंके सहित बुद्धिमान राजर्षि वृषदर्भ और वे सहस्रों शशविन्दु जिन्होंने बहुत दक्षिणा दे देकर अगणित बडे बडे अश्वमेध यज्ञ किये थे, यह सब कीर्ति शाली बडे शास्त्र ज्ञानयुक्त पवित्र राजर्षि उस सभामे वैवस्वतकी उपासना में लगे है। (८-२८)

और भी अगस्त्य, मतङ्ग, काल, मृत्यु, यागशीलगण, योगशरीरी सिद्ध, अग्निष्वात्त, फेनप, उष्मप, स्वधायुक्त बर्हिषद, और दूसरे मूर्तिमान पितृगण, कालचक्र साक्षात् भगवान अग्नि, अविद्या कर्मयुक्त दक्षिणायनमे मरे मनुष्य, समय ठहरानेवाले यमराजके नौकर चाकर और शिंशप पलाश काशकुशादि स्वरूप लेकर उस सभामे यमराजकी उपासना कर रहे है। (२९-३२)

हे नरनाथ ! पितृनाथके इन सब और दूसरे अगणित सभासदोंके नाम वा

असंबाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा ।
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥३४॥
ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत ।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३५ ॥
शान्ताः संन्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोम्बराः ॥ ३६ ॥
चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः ।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः ॥ ३७ ॥
गन्धर्वाश्च महात्मानः संघशश्चाऽप्सरोगणाः ।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ॥३८॥
पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः ।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः॥३९॥
शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम् ।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ॥ ४० ॥
ईदृशी सा सभा राजन्पितृराज्ञो महात्मनः।
वरुणस्याऽपि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥४१॥ [३६०]

इति श्री० शत० महि० वैया० सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नामाऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

कर्मोंका वर्णन करना शक्तिके बाहर है। वह काम-गामिनी सुन्दर सभा किसी प्रकार संकीर्ण नहीं है। उस सभामें किसीके जानेको मनाही नहीं है ; विश्वकर्माने बहुत दिनों तक तप करके उसे बनाया है। हे भरतनन्दन ! वह सभा अपने तेजसे जलती और दमकती है। कठोर तप किये हुए शान्तस्वभावी, सत्यवादी, व्रतधारी, सुन्दर देहवाले पुण्य कर्मसे पवित्र बने, सन्यासी अमल चीर पहिरे, सुन्दर केयूर धरे, बढियां माला लटकाये, उज्वल कुण्डल लगाये, उस सभामें जाते है। (३३-३७)

वे सब अच्छे पुण्यकर्म और सुन्दर लिबाससे सुहाते है, महात्मा गन्धर्व और बहुतेरी अप्सरा नाच गान हंसी बाजेमे उस सभाकी सब ठौरको भर रही है, सर्वत्र पवित्र गन्ध और पुण्य-ध्वनि उड रहा है, और मनहरणी माला इधर उधर बिखरी पडी है। उस सभामें सहस्रों धार्मिक दिव्यरूपी मनस्वी प्रजानाथ महात्मा यम महाराजकी उपासना करते है। महाराज ! यमकी वह सभा ऐसी गुणवती है । अब वरुणकी

नारद उवाच— युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्याऽमितप्रभा ।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभ्रप्राकारतोरणा ॥ १ ॥
अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा ।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥
नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि ।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥
तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः ।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥
सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा ।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥
यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः ।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ६ ॥
स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः ।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥
वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।

पुष्करतीर्थ मालिनी सभाकी कथा कहता हूं। (३७-४१) [३६०]

सभापर्वमें आठ अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें नौ अध्याय।

श्रीनारदजी बोले कि हे युधिष्ठिर! वरुणकी अति तेजवाली दिव्य सभा मापमे यमकी सभाके समान है। उसकी प्राचीर और तोरण शुभ्रवरण है। विश्वकर्माजीने जलके भीतर वह सभा रची है। उनकी चारो ओर फल फूल धरे रत्नोंके दिव्य और मञ्जरी जाल जडे गुल्म, नीले पीले काले स्यामले धौले लाल वरणोंके सुन्दर चंदवा समान बन के सुहाते है। सैकडों सहस्रों परम सुन्दर कलेवर लिये मीठी धुन उडाती अनदेखी वरणकी चिडियां इधर उधर उडती फिरती है। (१-४)

उस सभाका स्पर्श बडा सुखदायी है, वहा न तो बहुत शीत न बहुत शीघ्र ग्रीष्म होता है। उस वरुणपाली, वरण-में धौली, मनहरणी सभाकी सब ठौरमें दिव्य आसन और दिव्य भवन बने है। वरुणजी दिव्य चीर और दिव्य रत्न आभूषणोंमे बन ठन वरुणानीके सङ्ग उस सभामें एकत्र विराजते है, माला लटकाये दिव्य चन्दन मले दिव्य गन्ध लगाये आदित्यगण वहां जलनाथ वरुणकी उपासना करते है। (५-७)

कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
मणिमान्कुण्डकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ ९ ॥
पाणिमान्कुण्डधारश्च बलवान्पृथिवीपते ।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥ १० ॥
पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः ॥ ११ ॥
एते चाऽन्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः ॥ १२ ॥
बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवींजयः ।
संह्रादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः ॥ १३ ॥
सुहनुर्दुर्मुखः शंखः सुमनाः सुमतिस्ततः ।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ॥ १४ ॥
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ॥ १५ ॥
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः ।
दैत्यदानवसंघाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ॥ १६ ॥
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ॥ १७ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उस सभामें वासुकि, तक्षक, ऐरावत, कृष्ण, लोहित, पद्म, चित्र, कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, मणिमान्, कुण्डक, कर्कोटक, धनञ्जय, पाणिमान, कुण्डधार, बलवान् प्रह्लाद, मूषिकाद और जनमेजय यह सब पताकी, मण्डली तथा फणाधारी नाग और दूसरे अगणित सर्प बिन थके चित्त से वरुणजीकी उपासनामें लगे हैं। (८-१२)

हे धरतीनाथ ! विरोचननन्दन बलि, पृथ्वीविजयी नरक, संह्लाद विप्रचित्ति, कालखञ्जादि दानव, सुहनु, दुर्मुख, शङ्ख, सुमना, सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशग्रीव, वाली, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्लाद, इन्द्रतापनादि दैत्य दानव दिव्य लिबाससे सुहाय, माला लटकाये, किरीट चमकाय, सुन्दर कुण्डलादि दिव्य गहनोंसे जगमगाय, उस सभामें धर्मपाश धारी श्रीवरुणजीकी उपासना करते हैं। उन सब शूर दानवोंने मृत्युके भयसे हाथ धो डाला और

तं तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ॥१८॥
तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ।
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी ॥१९॥
विपाशा च शतद्रूश्च चन्द्रभागा सरस्वती ।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा ॥ २० ॥
गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा ।
किंपुना च विशल्या च तथा वैतरिणी नदी ॥२१ ॥
तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः ।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २२ ॥
सरयूर्वारवत्या च लाङ्गली च सरिद्वरा ।
करतोया तथाऽऽत्रेयी लौहित्यश्च महानदः ॥२३ ॥
लङ्घती गोमती चैव सन्ध्या त्रिःस्रोतसी तथा ।
एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः २४॥
सरितः सर्वतश्चान्यास्तीर्थानि च सरांसि च।
कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २५ ॥
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत ।
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥२६ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा ।
गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २७॥

तपमे सिद्ध होय वर प्राप्त कियाहै १३-१८)

हे महाराज ! चार समुद्र, गङ्गानदी, कालिन्दी, विदिशा, वेणा, वेगवती, नर्मदा, विपाशा, शतद्रू, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु, देवनदी, गोदावरी, कृष्णवेणा, कावेरी, किम्पुना, विशल्या वैतरणी, तृतीया, ज्येष्ठिला, महानद शोण, चर्मण्वती पर्णा, महानदी, पर्णाशा, सरयू, वारवत्या लाङ्गली करतोया, आत्रेयी, लौहित्य महानद, लघन्ती, गोमती, सन्ध्या और त्रिःस्रोतसी लोकोंमें प्रख्यात यह सब और दूसरे अच्छे अच्छे तीर्थ सोत सरोवर कूप तडाग और ताल अपना अपना स्वरूप लेके महात्मा वरुणकी उपासना कर रहे है, फिरभी पृथ्वी, सब दिशा, पर्वत और सब जलचर जीव जलनाथकी उपासनामें लगे रहते है, गाजे बाजेसे गन्धर्व और

स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते ।
महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २८ ॥
कथयन्त सुमधुराः कथास्तत्र समासते ।
वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ॥ २९ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च ।
सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ ३० ॥
एषा मया संपतता वारुणी भरतर्षभ ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३१ ॥[३०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

नारद उवाच— सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता ।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥
तपसा निर्जिता राजन्स्वयं वैश्रवणेन सा ।
शशिप्रभाप्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥
गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते ।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥

अप्सरा वरुणजीका स्तव करती हुई उस सभामें विराजती है, जितने पर्वत रत्नकी खानि और सुन्दर करके प्रसिद्ध हैं वे भी मीठी मीठी बातें करते हुए वहां टिके हैं। (१९-२९)

वरुणके मन्त्री सुनाभ बेटे पोतोंसे घेरे जाय गोनामक पुष्करतीर्थ के साथ जलनाथकी सेवा करते हैं, इस प्रकार सब जन शरीरके साथ वरुणकी उपासना करते हैं, हे भरतवंशि ! मैंने घूमते हुए वरुणजीकी वह सुन्दर सभा देखी थी, अब कुबेरकी सभाका कथा कहता हूं, सुनो। (२९—३१) [३०१]

सभापर्वमें नवां अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें दश अध्याय।

श्रीनारदजी बोले, महाराज! कुबेरजी की सभा लम्बाईमें सौ योजन और चौडाईमें सत्तर योजन फैली है। कुबेरजी ने तपके प्रभावसे स्वयं वह सभा बनायी है। कैलासशिखरके समान वह सभा ऐसी शुभ्र चमक रखती है, कि उसके सामने चन्द्रमाकी प्रभा भी भागती है। गुह्यकोंसे वह लिवायी जानेसे जान पडता है, कि मानो आकाशमें चिपटी हुई शोभायमान है। वह दिव्य गन्धभरी मनोहरी विचित्र सभा बहुविध अच्छे

महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा ।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ।
दिव्यैर्हेममयै रङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता ॥ ४ ॥
तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ।
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः ॥ ५ ॥
दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते ।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ६ ॥
मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन् ।
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ॥ ७ ॥
नलिन्याश्चालकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च ।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥
तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥
मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता ।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ॥ ११ ॥
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ।
एता सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ॥ १२ ॥

अच्छे रत्नोंसे खची जाय और सुनौले दिव्य वरणोंसे मानों विजली दलसे रंगाय धवल बादलके पहाड का स्वरूप पाय तैरती हुई प्रतीत होती है। (१-४)

उज्वल कुण्डलधारी श्रीमान राजा वैश्रवण विचित्र वसन आभूषण पहिरे सहस्रों नारिओंमे घिरे उस सभामे दिव्य पाद पीठ लगे दिव्य चादरोंमे ढंपे सूर्य समान उजाले परम आसन पर बैठते है। हृदय प्रमोदन शीतल पवन, उदार मन्दार वन हिलोडकर और नन्दन कानन कलार वन और अलका नामक सरोवरकी मधु वहन कर यज्ञनाथ कुबेरकी सेवा करता है। महाराज उस सभाके सभासद देव और गन्धर्व अप्सराओंसे घेरे जाय दिव्य तानके साथ गान करते है। (५—९)

मिश्रकेशी रंभा शुचिस्मिता चित्रसेना, चारुनेत्रा घृताची, मेनका, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा और लता यह सब नाचने

उपातिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ॥१३॥
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
किंनरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ॥ १४ ॥
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः ।
कशेरको गण्डकण्डूः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १५ ॥
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः ।
वराहकर्णस्ताम्रौष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १६ ॥
हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिंगलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥१७॥
वृक्षबाष्पनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ।
एते चाऽन्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥१८॥
सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबरः ।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥१९॥
ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे ।
क्रव्यादाश्च तथैवाऽन्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ॥२०॥
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ।
भगवान्भूतसंघैश्च वृतः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥

बजानेमें तेज सहस्रों गन्धर्व और अप्सरा वृन्द उस सभामें धननाथकी उपासना करते हैं । गन्धर्व और अप्सराओंके सुन्दर नृत्य गीत और बाजोंसे सभा सदा गूंजती हुई बडी सुहावनी बनी है । (१०-१४)

किन्नर और नरनाम दूसरे कुछ गन्धर्व और मणिभद्र, धनद, श्वेतभद्र, गुह्यक, कशेरक, गण्डकण्डु, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु, पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रोष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड, शिखावर्त्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिङ्गलक, शोणितोद, प्रवालक वृक्षबाष्पनिकेत और चीरवासा, यह सब और दूसरे सहस्रों यक्ष वहां उपस्थित रहते है (१४-१८)

हे भरतनन्दन! भगवती लक्ष्मीजी सदा उस सभामें विराज रही है । कुबेरनन्दन नलकूबर, मै और मेरे समान बहुत दूसरे ब्रह्मर्षि और देवर्षि सब उस सभामेंरहते हैं, मांसखोर राक्षसादि और अति बलवान् दूसरे गन्धर्व उस सभामें धनदाता महात्मा

उमापतिः पशुपतिः शूलभृद्भगनेत्रहा　　।
त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ॥ २२ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः　　।
मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः　　॥ २३ ॥
नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः ।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप　　॥ २४ ॥
प्रहृष्टाः शतशश्चाऽन्ये बहुशः सपरिच्छदाः ।
गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हाहा हूहूः ॥ २५ ॥
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथाऽपरः　　।
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च　　॥ २६ ॥
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते　　।
विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः　　॥ २७ ॥
उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम्　।
किंनराः शतशस्तत्र धनानामीश्वरं प्रभुम्॥ २८ ॥
आसते चाऽपि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ।
द्रुमः किंपुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम्　　॥ २९ ॥
राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः　।
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ॥ ३०॥

धननाथकी उपासना करते हैं । हे राजशार्दूल! महाबली शूलप्रचारी उग्रचाप धारी पशु-हित-कारी उमा-विहारी, भगनेत्रहारी भगवान महादेव त्र्यम्बक विकट, कुबडे, लालनेत्र चढे, ध्वनि घोर, मेद मांसखोर, बहु अस्त्र लिये पवनके आगे चलने वाले सहस्रों भयावने महचर भूत निकर संग लिये अथकित देवी भगवती सहित उस सभामें अपने सखा धनेश के निकट सदा विराजते हैं । (१९--२४)

विश्वावसु,हाहा, हूहू, तुम्बुरु, पर्वत, शैलूष, गान प्रधान चित्रसेन,चित्ररथादि सैकडों गन्धर्वनाथ और दूसरे सहस्रों गन्धर्व अपना लिबास पहिन प्रसन्न मन होय धननाथकी उपासना करते है । अनुजोंके संग विद्याधरनाथ चक्रधर्मा और सैकडों किन्नर तथा भगदत्तादि राजालोग भी धनेश कुबेरजीकी सेवा करते है । किम्पुरुष-पाति द्रुम और राक्षसाधिप महेन्द्र आर गन्धमादन, यक्ष गन्धर्व और राक्षसोंके साथ धनेशकी

विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ।
हिमवान्पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ॥ ३१ ॥
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ॥ ३२॥
एते चाऽन्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ।
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ ३३ ॥
नन्दीश्वरश्च भगवान्महाकालस्तथैव च ।
शंकुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ॥३४॥
काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजयश्च तपाधिकः ।
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ॥ ३५ ॥
धनदं राक्षसाश्चाऽन्ये पिशाचाश्च उपासते ।
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ॥ ३६ ।
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३७ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां संप्राप्य महादेवाद्धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचिद्भगवान्भवो धनपतेः सखा ॥ ३८ ॥
निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।

उपासनामें लगे रहते है । राक्षसनाथ धार्मिकवर विभीषणभी प्रभावी भाई कुबेर की सेवा करते हैं। (२०--३१)

हिमालय, पारियात्र, विंध्य, कैलास, मन्दर, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन, इन्द्रकील, सुनाभ, यह सब और दूसरे अगणित पर्वत अपना अपना स्वरूप धर मेरुको सामने रख महात्मा कुबेरकी उपासना करते है। भगवान नन्दीश्वर, महाकाल शङ्खसे कर्ण और मुखवाले सब दिव्य सहचरी काष्ट, कुटीमुख, दन्ती, अति तपोवती विजयी और बहुत गर्दनयुक्त महाबली श्वेतवृष वहां उपस्थित रहते हैं। इनके सिवाय दूसरे राक्षस और पिशाचभी कुबेरजीकी उपासना करते है, हे भारत ! कुबेर जी सहचर सहित त्रिलोकभावन भगवान देव देव उमाकान्त महादेवजीके निकट सदा जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम कर उनकी आज्ञासे उन के समीप बैठते थे। एक समय महादेवजीने उनसे मित्रता की और उस कालसे उनकी सभामें नित्य विराजते है। (३१-३८)

हे महाराज ! सब रत्नके सार शङ्ख और पद्म सब प्रकारकी निधि बटोर धनेश

सर्वान्निधीन्प्रगृह्याऽथ उपास्ते वै धनेश्वरम् ॥३९॥
सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टाऽन्तरिक्षगा।
पितामहसभां राजन्कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ॥ ४० ॥[४३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वैश्रवणसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

नारद उवाच— पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥
पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान्दिवः ।
अगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ २ ॥
चरन्मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयंभुवः ।
स तामकथयन्मह्यं दृष्ट्वा तत्त्वेन पाण्डव ॥ ३ ॥
अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रुवम् ॥ ५ ॥
भगवन्द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम्।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते॥ ६॥

कुबेरकी उपासना करते है। धननाथ कुबेरकी उस आकाश चरती सभाको मैने ऐसीही मन हरणी देखा है; अब पितामह ब्रह्माजीकी सभाकी कथा कहता हू, सुनो। (३९-४०) [४३१]

सभापर्वमें दश अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें ग्यारह अध्याय।

श्रीनारदजी बोले कि हे भरतनन्दन! ब्रह्माजीकी उस सभाकी कथा प्रारम्भ करता हू, कि जिसका रूप ऐसा है, कि ठीक नहीं कहा जाता. अब सुनो। महाराज! पूर्वकाल. सत्य युगमें भगवान आदित्यजी स्वयम्भू ब्रह्माकी सभा निहार मानव लोकके देखनेकी इच्छा करके स्वर्गसे उतर मानवी रूप लेकर स्वेच्छासे भूलोकमे फिर रहे थे। उसकाल मुझको देख, ब्रह्माजीके मानससे बनी अकथनीय अन जांच रूप ठनी, अपने प्रभावसे सर्वभूत मन हरणी दिव्य सभाकी कथा यथावत कही थी, हे पाण्डव प्रवर! मैने उस सभाको अनन्त गुणोंकी खान सुन, देखनेकी इच्छासे आदित्यजीसे यह कहा कि "हे किरणनाथ! मै ब्रह्माजीकी शुभ सभा देखना चाहता

औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी।
तन्ममाचक्ष्व भगवन्पश्येयं तां सभां यथा ॥ ७ ॥
स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रकम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मव्रतमुपास्व त्वं प्रयतेनाऽन्तरात्मना।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ॥ ९ ॥
ततः स भगवान्सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान्।
अगच्छत्तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः १० ॥
एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ११ ॥
न वेद परिमाणं वा संस्थानं चाऽपि भारत।
न च रूपं मया तादृग्दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥
सुसुखा सा सदा राजन्न शीता न च घर्मदा।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत १३॥
नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा॥१४॥

हूं, अतएव हे नाथ! जैसी तपस्या, जैसा कर्म अथवा जिसे किसी योग्य औषधसे चाहे जिस प्रकार हो वह पापविनाशी शुभराशी सभा मैं देख सकूं, सो कहें।" (१–७)

सहस्र किरणसाथ दिननाथ मेरी वह बात सुन बोले, कि तुम एक चित्त हो, सहस्र, वर्षोंमें पूरा होता हुआ ब्रह्मव्रत करो। उसके पश्चात् मैंने हिमाचल पर वह महाव्रत प्रारंभ किया। अन्तमें वह अथकित, पाप रहित, वीर्य सहित, आदित्य मुजको ब्रह्माजीकी सभामें लेगये। हे भगवान नरनाथ! उस सभाका स्वरूप शक्तिके बाहर है, क्योंकि पल पल पर वह अकथनीय अलग स्वरूप लेती है। हे भरतनन्दन! उस सभाका माप वा जोड किसीसे जांचा नही गया। वास्तव में वैसी शोभा पहिले कभी मेरे देखनेमें नही आयी थी। (८-१२)

उस सभामें बैठनेसे क्षुधा प्यास थकावट कुछ भी नहीं रहती और शीत ग्रीष्म किसीसे पीडा नही पहुचती वरण सदा अपूर्व सुख मिलता है। जान पडता है, कि वह सभा, नानारूप धारी जलती मणियोंके बनी है। स्तम्भो पर खडी नहीं है, कभी उसका नाश

दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भासद्भिरमितप्रभैः ।
अतिचन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयंप्रभा॥ १५ ॥
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम्।
तस्यां स भगवानास्ते विदधद्देवमायया ॥ १६ ॥
स्वयमेकोऽनिशं राजन्सर्वलोकपितामहः ।
उपतिष्ठन्ति चाऽप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ॥१७॥
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः।
भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाऽङ्गिराः ॥ १८ ॥
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ।
अथर्वाङ्गिरसश्चैव वालखिल्या मरीचिपाः ॥ १९ ॥
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही।
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ॥ २०॥
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चाऽन्यत्कारणं भुवः ।
अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान्॥ २१ ॥
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ।
दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ॥२२॥
सनत्कुमारो भगवान्योगाचार्यो महातपाः।
असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ॥ २३ ॥
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ।

नहीं, वह सदा बनी रहेगी, वह आपही अपनेको प्रकाशती हुई स्वर्गकी सभा अनजाचन प्रभासे सुहायी. नानाविध जलते दिव्य भावोंसे, सूर्य, चन्द्रमा और अग्निसे ऊपर होगयी है, और मानो दिननाथको लजाती हुई प्रकटित हो रही है। हे महाराज ! वह सर्व लोकोंके पितामह भगवान ब्रह्माजी स्वयं देवी मायासे अकेले सब लोक रच करके उस सभामें सदा विराजमान है। (१३-१७)

दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, कश्यप, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, अंगिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम आदि प्रजापति, और अथर्वाङ्गिरस, मरीचिप वालखिल्यगण, महातेजा अगस्त्य, वीर्यवन्त मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त्त, च्यवन, महाभाग दुर्वासा, धार्मिकवर ऋष्यशृङ्ग, महातपा योगाचार्य भगवान सनत्कुमार असित, देवल, तत्त्ववेत्ता जैगीषव्य, ऋषभ, जितशत्रु और

आयुर्वेदस्तथाऽष्टांगो देहवांस्तत्र भारत ॥ २४ ॥
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ।
वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ॥ २५ ॥
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ।
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥ २६ ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ।
आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः॥२७॥
विंशतिः सप्त चैवाऽन्ये लोकपालाश्च सर्वशः ।
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ॥ २८ ॥
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ।
मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान्वसुमानपि ॥ २९ ॥
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ।
मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ॥ ३० ॥
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ॥ ३१ ॥
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ।
इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ३२ ॥

महावीर्यमाणि, यह सब उस सभामें ब्रह्माजीकी उपासना करते है, और अष्टाङ्ग सहित आयुर्वेद, नक्षत्रों सहित चन्द्रमा, गभस्तिमान सूर्य, वायुवृन्द, सब यज्ञ, सङ्कल्प, प्राण, मन,आकाश, वायु, तेज, जल, धरती, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, प्रकृति, विचार और रचनेवाले दूसरे पदार्थ, सब अपना अपना स्वरूप लेकर ब्रह्माजीकी उपासनामें सदा दत्तचित्त है,वे सब बडे व्रतशील और महात्मा हैं। (१८-२६)

इनके सिवाय धर्म, अर्थ, काम, हर्ष द्वेष, तप, दम, इत्यादि दूसरे बहुविध पदार्थ भी उस सभामें उपस्थित रहते है। गन्धर्व और अप्सराओंके विंशतिगण और हंस, हाहा, हूहू आदि दूसरे सात प्रधान गन्धर्व, सब लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल, शनैश्चर, राहु आदि ग्रह, मन्त्र, रथन्तर साम, हरिमान् और वसुमान, कर्म विशेष के इन्द्र, अग्नीषोम, इन्द्राग्नी आदि दो नामसे उदाहृत इन्द्र सहित देवगण, मरुद्गण, विश्वकर्मा, अष्टावसु, पितृगण,सब हवि, ऋग्वेद, सामवेद,यजुर्वेद, अथर्ववेद,सब

ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ।
सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ॥ ३३ ॥
मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ।
सामानि स्तुतिशस्त्राणि गाथाश्च विविधास्तथा॥३४॥
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ।
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः॥३५॥
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चाऽन्ये गुरुपूजकाः ।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथैव च ॥ ३६ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ।
संवत्सराः पञ्चयुगमहोरात्रश्चतुर्विधः ॥ ३७ ॥
कालचक्रं च तद्दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ।
धर्मचक्र तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥ ३८ ॥
अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ।
कालिका सुरभी देवी सरमा चाऽथ गौतमी ॥ ३९॥
प्रभा कद्रूश्च वै द्वे्न्पा देवतानां च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ४०॥
पृथिवी गाङ्गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥ ४१ ॥
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा ।

शास्त्र, इतिहास, सब उपवेद, वेदाङ्ग, ग्रह, यज्ञ, सोम सम्पूर्ण देवता सावित्री, दुर्गतरणी, सात प्रकारकी वाणी, मेधा, धृति स्मृति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश, क्षमा, स्तुति, शस्त्र सामगान, भांति, भांतिकी गाथा, युक्ति सहित देहवान भाष्य बहुविध नाटक, काव्य, कथा, कहानी और कारिका यह सब और दूसरे पवित्र, गुरु पूजनेहारे भी वहां रहते है।(३७—३६)

हे भारत! क्षण लव, मुहूर्त, दिवा, रात्रि, अर्धमास, मास, छः ऋतु, संवत्सर, पांच प्रकारके युग चार प्रकारके अहोरात्र और वह नित्य अक्षय दिव्य कालचक्र तथा धर्मचक्र वहां सदा विराजते है। हे युधिष्ठिर! अदिति, दिति, दनु, सुरसा विनता, इरा कालिका, सुरभी, सरमा, गौतमी, प्रभा कद्रू, रुद्राणी श्री, लक्ष्मी भद्रा षष्ठी आदि देवमाता और पृथ्वी, गङ्गा ह्री, स्वाहा, कीर्त्ति, सुरादेवी, शची, पुष्टि, अरुन्धती

एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम्॥ ४२॥
आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाऽश्विनावपि।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ४३ ॥
पितॄणां च गणान्विद्धि सप्त वै पुरुषर्षभ ।
मूर्तिमन्तो वै चत्वारस्त्रयश्चापि शरीरिणः ॥ ४४ ॥
वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४५ ॥
सोमपा एक गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा ।
एते चतुषु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४६ ॥
एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाऽऽप्यायते पुन॰॥ ४७॥
त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ।
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम्॥ ४८॥
राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ।
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते ॥ ४९ ॥
स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथाऽपरे ।
पुरन्दरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ॥ ५० ॥

संवृत्ति, आशा, नियति, सृष्टि और रति यह सब और दूसरी देवी प्रजानाथ ब्रह्मा जीकी उपासना करती है। (३६-४२)

हे भरतनन्दन! आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मरुद्गण, विश्वदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार, मनके समान वेगवान पितृगण और साध्य यहभी प्रजापतिकी उपासना करते है। हे पुरुषप्रवर? पितरोंके सात गण हैं; तिनमें चारके स्वरूप है और तीन विना शरीर के है। हे महाराज! महाभाग वैराज, अग्निष्वात्त और गार्हपत्यादि लोकोंमें प्रसिद्ध यह सब पितृगण स्वर्गमे फिरते हैं, और सोम, एकशृङ्ग, चतुर्वेद और कला यह सब पितृगण ब्राह्मणादि चार वर्णोंमें पूजे जाते है; यह लोग पहिले तृप्त होय पीछे सोमको तृप्त करते है। हे महाराज! वे सब पितृगण उस सभामे अतुलवीर्य ब्रह्माजीकी उपासना करते है। (४२—४८)

हे नरनाथ! राक्षसगण, पिशाचगण, दानवगण, गुह्यकगण, नागगण सुपर्णगण, सब पशुगण और स्थावर जङ्गम दूसरे महाभूतवृन्दभी प्रसन्न मनसे अति तेजस्वी पितामहकी उपासना करते है। देवराज इन्द्र, वरुण कुबेर, यमराज

महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वगः ।
महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ॥ ५१ ॥
देवा नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ।
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा॥५२॥
यच्च किंचित्त्रिलोकेऽस्मिन्दृश्यते स्थाणुजङ्गमम्।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५३ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ५४ ॥
ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथागतम ॥५५॥
अतिथीनागतान्देवान्दैत्यान्नागांस्तथा द्विजान् ।
यक्षान्सुपर्णान्कालेयान्गन्धर्वाप्सरसस्तथा॥ ५६ ॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान्सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ५७ ॥
प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयंभूरमितद्युतिः ।
सान्त्वमानार्थसंभोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ५८ ॥
तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत ।

और उमासहित उमाकान्त, सब सदा वहां जाते हैं। हे महाराज कार्तिकेय, नारायणजी, सब देवर्षि, वालखिल्य ऋषि और विनयोनिमें उपजे और योनिसे उपजे सब जीव उस सभामें उपासना करते हैं। हे नरनाथ ! इस त्रिलोक भरमें स्थावर वा जङ्गम जितने पदार्थ दीख पडते है, उन सबोंको मैंने वहां देखा है। (४८–५३)

हे पाण्डव ! उस सभामें अठासी सहस्र ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास सहस्र सन्तानवान मेरे देखनेमें आये। सब स्वर्गवासी लोग स्वेच्छासे ब्रह्माजीको वहां दर्शन, साष्टाङ्ग प्रणामादि करते हुए निज निज स्थानोंमें लौटते है,हे नरनाथ ! सर्वभूतोंपर दयावान,अपार धीमान, अति तेजोवान,विश्वात्मा सर्वलोक-पिता स्वयंभु ब्रह्मा उस सभामें आये देवता, द्विज, दैत्य नाग, यक्ष,कालेय,गन्धर्व और अप्सरादि महाभाग पाहुनोंको यथोचित आदरकर मीठे सभाषण, सम्मान अर्थ और भोगकी सामग्री दे दे प्रसन्न करते है। (५४—५८)

हे भारत ! वह सुहावनी सभा आने और

आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा॥५९॥
सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा॥६०॥
सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ६१ ॥
एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत ।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ॥ ६२ ॥ [४९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच – प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर ।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ॥ १ ॥
वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो ।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा॥ २ ॥
तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥ ३ ॥
पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ४ ॥

जानेवाले लोगोंसे सदा भरी रहती है । ब्रह्मर्षियोंसे पूजी जाती सर्व तेजोवती, थकावटको भगाती वह दिव्य सभा ब्रह्माजी के निज तेज से जलती परम शोभासे भरी है ! हे राजशार्दूल ! तुम्हारी यह सभा जिस प्रकार मनुष्य लोकमें दुर्लभ है, सर्व लोक दुर्लभ उस ब्रह्म-सभाको मैंने वैसीही देखी है। हे भारत! देवलोकमें पहिले यह सब सभा मुझसे देखी गयी, अब मनुष्यलोक भरमें तुम्हारी यह सभा सबसे बढियां जान पडती है । (५९-६२) [४९३]

सभापर्वमें ग्यारह अध्याय समाप्त ।

सभापर्वमें बारह अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे कथा कहने वालोमें श्रेष्ठ देवर्षे ! आपने मुझसे जैसा कहा, उससे वैवस्वत यमकी सभामें प्रायः सब राजोंके नाम सुन पडे । वरुणकी सभामें अगणित नाग, दैत्यवर, नदी, और सागरोंके नाम लिये गये । धनेश कुबेर की सभामें गुह्यक, गन्धर्व और अप्सरा तथा भगवान वृषभवाहन महादेवके नाम कहे गये । पितामह ब्रह्माकी सभामें महर्षि, समस्त देव और शास्त्रादिका

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने ।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ५ ॥
एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने ।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः॥ ६ ॥
किं कर्म तेनाऽऽचरितं तपो वा नियतव्रत ।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्धते सुमहायशाः ॥ ७ ॥
पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः॥ ८ ॥
किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाऽऽचक्ष्व सुव्रत ।
त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥
नारद उवाच --- यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि महात्म्यं तस्य धीमतः ॥ १० ॥
स राजा बलवानासीत्सम्राट् सर्वमहीक्षिताम् ।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः॥११॥
तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम् ।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥

रहना कहा गया और महात्मा इन्द्रकी सभामें देवगण, बहुविध महर्षि और एक एकके नाम सहित सब गन्धर्व कहे गये। पर हे महामुने! उस सभामें आपने राजोंमें केवल राजर्षि हरिश्चन्द्रकी बात कही। सो हे संयत आत्मन्! महा यशा राजा हरिश्चन्द्रने ऐसी कौनसी भारी तपस्या वा ऐसा क्या बडा कर्म किया था, कि अकेले वही इन्द्रके सदृश बने हैं? हे विप्रवर! त्रिलोकमें स्थित बडे भाग्यवान मेरे पिता पाण्डुके साथ आपकी किस प्रकार भेंट हुई? और उन्होंने आपसे क्या कहा? हे भगवन्। आपसे यह सब कथा सुननेको मुझमें बडा कौतूहल उमड रहा है, सो आप कृपा प्रगटकर वह सब मुझको कह सुनावें। (१—९)

श्रीनारदजी बोले, कि हे महाराज! तुमने धीमान् हरिश्चन्द्रके महात्म्यके विषयमें जो कुछ पूछा, मैं तुमसे वह सम्पूर्ण कहता हूं। वह बलवन्त भूप सब पृथ्वीनाथोंके सम्राट् थे। उनके शासनसे सबही भूपालोंने सिर नवाया था। हे लोकनाथ! उन्होंने रथपर चढ शस्त्रके प्रतापसे सात द्वीप जय किये थे। महाराज! उन्होंने पहाड, वन और कानन सहित

स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम्।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥
तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया ।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन्यज्ञे च तेऽभवन्॥१४॥
प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः ।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥१५॥
अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा ।
प्रसर्पकाले संप्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान् ॥१६॥
भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः ।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम् ॥ १७ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽप्यधिकोऽभवत्।
एतस्मात्कारणाद्राजन्हरिश्चन्द्रो विराजते ॥
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ १८ ॥
समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान् ।
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ॥ १९॥
ये चाऽन्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम् ।
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २० ॥

सम्पूर्ण धरतीमण्डलको जीत कर राजसूय नामक महायज्ञ किया था । सब भूप उनकी आज्ञासे धनादि बटोरकर उस यज्ञमें ब्राह्मणोको बांटनेके कार्यमे नियुक्त हुए । (१०–१४)

उस यज्ञकालमें याचकोंने जो कुछ मांगा था, नरनाथ हरिश्चन्द्रने प्रीतिपूर्वक उनको उससे पांच गुणा अधिक धन दान दिया था । और पूर्ण आहुतिका काल आने पर उन्होंने नानादिशा तथा देशोमे आये ब्राह्मणोको उनके मनमाने भांति भांतिके भक्ष्य भोज्य और बहुविध धनसे प्रसन्न किया । ब्राह्मण लोगभी अन्नोंसे तर्पित और सन्तुष्ट होके सर्वत्र यह कहते फिरे थे, कि राजा हरिश्चन्द्र सब भूपोंसे तेजवन्त और यशस्वी हुए है । हे महाराज ! इस लिये हरिश्चन्द्र उन सहस्रों राजाओंमे भले प्रकार विराजते है । (१५–१८)

उन प्रतापी नरेशने उस महायज्ञको पूरा कर साम्राज्यमें अभिषिक्त होके बडी शोभा प्राप्त की थी । हे भरत नन्दन! दूसरे जो भूप महायज्ञ राजसूय करते है, वे भी इन्द्रके साथ आनन्द लूटते

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः ।
ते तत्सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २१ ॥
तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ।
ते तत्स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भांति नित्यशः ॥२२॥
पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ।
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ॥ २३ ॥
विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप ।
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम्॥२४ ॥
समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥ २५ ॥
त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ।
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत्समाः शक्रस्य संसदि॥२६॥
एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ।
भूर्लोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाऽब्रुवम्॥ २७ ॥
तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ।
गन्ताऽसि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम्॥२८॥

हैं । जो लोग युद्धमें पीठ न दिखाके नष्ट होते है, वेभी इन्द्रजीके सभासद बनके उनसे आनन्द पा सकते हैं । और जो लोग कठोर तप कर देह छोडते है, वेभी इन्द्रधाममें जाय अनन्त सम्पत पाय नित्यकालतक विराजते है । (१९-२२)

हे कुन्तीपुत्र ! तुम्हारे पिता कौरवनन्दन पाण्डुनेभी राजा हरिश्चन्द्रका सौभाग्य देख कर अचरज मान तुमसे कुछ कह भेजा है । हे नरनाथ ! वह मुझको मर्त्यलोकमें आते देखकर प्रणाम करके बोले, "आप युधिष्ठिरको मेरी ओरसे कहना, कि तुम्हारे सब भाई तुम्हारे वशमें हैं, सो तुम सम्पूर्ण धरती जय करनेको समर्थ हो, इस लिये महायज्ञ राजसूय करो । तुम मेरे पुत्र हो, सो तुम्हारे उस महायज्ञके पूरा करनेसे मै भी राजा हरिश्चन्द्र के सदृश महेन्द्रका सभासद बनकर उनके साथ बहुवर्ष आनन्द लूटूंगा। (२३-२६)

हे भारत ! मैने तुम्हारे पिताकी प्रार्थना इस प्रकारसे मानली, कि यदि मैं पृथ्वीमें जाऊं तो राजा युधिष्ठिरसे अवश्यही तुम्हारी इच्छा कहूंगा । सो हे पुरुषवर ! अपने पिता पाण्डुकी चाह मिटानेका प्रयत्न करो । इस महायज्ञके

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः॥२९॥
युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥ ३० ॥
एतत्संचिन्त्य राजेन्द्र यत्क्षेमं तत्समाचर ।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ॥ ३१ ॥
भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ॥ ३२ ॥
एतत्ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ३३॥
वैशम्पायन उवाच- एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय ।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३४ ॥
गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरव ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३५ ॥ [५२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि पाण्डुसन्देशकथने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तं च लोकपालसभाख्यानं पर्व ।

करनेसे तुमभी पूर्वजोंके साथ इंद्रके सभासद बनोगे। हे महाराज! ऐसा कहा है, कि उस महायज्ञके प्रारंभ करनेमे बडी बाधाये आ पडती, यज्ञनाशी ब्रह्मराक्षस सदा उसका दोष ढूंढते है। उस यज्ञके कालमें क्षत्रिय विनाशी भयावने युद्ध उभडते हैं, यहां तक, कि उससे सब भूमण्डलके नाश होजानेकी संभावना होती है, वास्तवमें उसमे कुछभी दोष आ पडनेसे सर्वनाश आपहुंचता है। (२९–३०)

अतएव हे राजेश! यह सब विषय सच विचारके जो शुभ जान पडे, वही करो। ब्राह्मणादि चारों वर्णोकी रक्षाके विषयमें सदा ध्यान लगाये कमर कसे रहो। सबकी सम्मति लो, अनन्त काल आनन्द लूटो, और ब्राह्मणोंको धन देकर प्रसन्न करते रहो। हे नरनाथ! तुमने जो कुछ पूछा वह विस्तार पूर्वक कह सुनाया। अब तुम्हारी आज्ञासे मै द्वारका मे जाऊंगा। (३१—३३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय! श्रीनारदजी पृथाकुमारोंको यह कहके अपने साथी ऋषियोंके साथ चले गये। श्रीनारदके जानेपर धरतीनाथ युधिष्ठिर भाइयोंके साथ राजसूय यज्ञकी परामर्श करने लगे। (३४ ३५) [५२८]

बारह अध्याय और लोकपालसभाख्यान पर्व समाप्त।

अथ राजसूयारम्भ पर्व।

वैशम्पायन उवाच- ऋषेस्तद्वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः।
चिन्तयन्राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥ १॥
राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम्।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च॥ २॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः।
यज्वानं यज्ञमाहर्तु राजसूयमियेष सः ॥ ३॥
युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥ ४॥
स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा।
आहर्तु प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चाऽसकृत्॥ ५॥
भूयश्चाऽद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवाऽनुचिन्तयन्
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥ ६॥
अनुगृह्णन्प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतां वरः।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥ ७॥
सर्वेषां दीयतां देयं मुष्णन्कोपमदावुभौ।

सभापर्वमें तेरह अध्याय और राजसूयारम्भपर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरतनन्दन। श्रीनारदजीकी वह बात सुनके राजा युधिष्ठिरने लम्बी सांस ली। राजसूय यज्ञकी चिन्ता करते हुए उनको और किसी बातका सुख न रहा। महात्मा राजर्षियोंकी महिमा, तथा पुण्य कर्मके अनुष्ठानसे अच्छे लोककी प्राप्ति यज्ञ किये हुए राजा हरिश्चन्द्रकी प्रज्वालित प्रतिमा इत्यादि सुनके तथा विचारके उन्होंने महायज्ञ राजसूयका प्रबन्ध करना चाहा। (१-३)

अनन्तर राजा युधिष्ठिर सभासदोंको पूजके और पलटमें उनसे पूजे जाकर यज्ञहीके लिये परामर्श करने लगे। यज्ञ करनेकी बात बार बार सोचने पर उनका मन उसीमें आकृष्ट हुआ। अद्भुत तेजोवीर्यविशिष्ट, सकल धार्मिकोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर धर्मका ध्यान कर सोचने लगे, कि क्योंकर प्रजाका मङ्गल होगा। वह प्रजाओं पर कृपा दिखाय, बिना विशेष सब का मङ्गल करने लगे। और कोप द्वेष छोडके ऐसी आज्ञा पचार करी, कि "जिसे जो देना चाहिये दिया करो।" इससे सर्वत्रसे केवल यह शब्द सुनाई देने लगा, कि साधु धर्म, साधु धर्म! सदा ऐसे पुण्य

साधुधर्मेति धर्मेति नाऽन्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥८॥
एवं गते ततस्तस्मिन्पितरीवाऽऽश्वसञ्जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याऽजातशत्रुता ॥ ९ ॥
परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः॥१०॥
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
वैनत्यात्सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ॥ ११ ॥
अविग्रहा वीतभयाः स्वकर्मनिरताः सदा ।
निकामवर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा ॥१२॥
वार्द्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक्
विशेषात्सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणा ॥ १३ ॥
अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेव न तत्राऽऽसीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ १४ ॥
दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाऽश्रूयत मृषाकृतम् ॥ १५ ॥
प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ।

कर्मोके करनेसे प्रजा उन्हे अपने पिताकी भांति जान विश्वास करने लगी। कोईभी उनका द्वेष करनेवाला नहीं रहा; इसमे उनका नाम अजातशत्रु हुआ।(४—९)

राजाके सबको परिवार-समान जानने, भीमके पालने,धनञ्जयके शत्रुका नाश करने,धीमान सहदेवके धर्मानुसार शासन करने और नकुलके सर्व प्रकारसे स्वाभाविक विनय जतानेसे जनपदमें झगडा छूटा और भयका क्षय हुआ, सब अपने अपने धन्धेमें सदा अन्ध बने रहे; मनमानी वृष्टिकी सृष्टि होने लगी, सो सब जनपद सम्पदमें एकबारगी बढने लगे। धार्मिकवर युधिष्ठिरके राज्यकालमे सदा उनके सुकर्मके प्रभावसे वृद्धिजीवियोंकी जीविका, यज्ञयोग्य सामग्री, पशुपालन, खेती और वाणिज्य इन सबोंकी बडी उन्नति हुई। (१०–१३)

प्रजासे कर वसूल न होना,अथवा करसे प्रजाको पीडा देना, व्याधिसे कष्ट पाना, और अग्निमें जलना इनमेसे एक का भी रहना सुनाही नहीं गया। लूटेरे और ठगोंने राजासे वा एक दूसरेसे कभी बुरा व्यवहार किया अथवा राजाके प्यारे जनोने कोई अनुचित कर्म किया, ऐसा भी नहीं सुना गया ; करदाता राजा लोग

अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग्जात्यैश्च नैगमैः॥१६॥
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः ॥ १७ ॥
सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट्।
यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः॥१८॥
यत्र राजन्दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः॥१९॥
स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातृंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ २० ॥
ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २१ ॥
येनाऽभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति ।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति॥२२॥
तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन ।

सन्धिविग्रहादिके कालमें सम्राटके प्रियकार्य तथा उपासना करने और नाना जातिके वणिक अपने कामके लिये राजस्व देनेको सदा आते थे; इससे देशकी बडी श्रीवृद्धि हुई। केवल राजा और वणिकों ही से नहीं वरन स्वेच्छापूर्वक भोगनेवाले लोभादिरहित रजोगुणी जनों सेभी देशकी वृद्धि हुई थी । वास्तवमें युधिष्ठिर सब स्थानोंमें जाते, सब गुणों से सुहाते, सब सहते और सब ठौर प्रकाशमान होते थे। महाराज! उस साम्राज्य भोगनेवाले प्रकाशमान यशोवन्तने जो जो ठौर अधिकार की थी, वहांवाले ब्राह्मणसे लेकर गोपतक सब प्रजा उनको पितामातासे भी अधिक चाहती थी। (१४—१९)

वाग्मिश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयों और मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे बारंबार राजसूय यज्ञकी बात पूछी। तब वे एकत्रित मन्त्रीवृन्द उनके वचनका अर्थ समझ बूझकर अति बुद्धिमान, यज्ञकामी युधिष्ठिरसे यह अर्थभरे वचन बोले, कि हे कुरुकुमार! जिस यज्ञमें अभिषिक्त होनेसे नरेशोंको वरुणजीके गुण अर्थात सर्वाधिकारता, शीतलता तृप्ति, साधनादिकी प्राप्ति होती है, स्वभावहीसे प्रजारक्षक होने परभी वे लोग सम्राट्के योग्य उन सब प्रसिद्ध गुणों की प्रार्थना करते हैं। आपभी उन गुणोंको प्राप्त करनेके योग्य पात्र हैं सो। आपके मित्रवर्ग इस

राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २३ ॥
तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसंपदा ।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते संशितव्रतैः ॥२४॥
दर्वीहोमानुपादाय सर्वान्यः प्राप्नुते क्रतून् ।
अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित्तेन चोच्यते॥ २५॥
समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात्त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥ २६ ॥
अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु ।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक्च सह चाऽब्रुवन् ॥ २७ ॥
स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसाऽरिहा ॥ २८ ॥
श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाऽप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥ २९ ॥
स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः॥३० ॥
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित्॥३१ ॥

कालको राजसूयके लिये प्रशस्त समझ रहे है ! । (२०—२३)

शंसितव्रतवाले ऋषिगण जिसमें अग्नि धरनेके लिये सामवेदके मन्त्रोंको पढ कर छः स्थण्डिल रचते है, क्षत्रियसम्पद अर्थात भुज-बलादिसे उन यज्ञके करने का काल आपके अधीन हुआ है । रा-जसूययज्ञ हो जाने पर अभिषिक्त होकर राजा दर्वीहोमादि सब यज्ञका फल पाते है, सो वह सर्वजित कहे जाते है। हे म-हाभुज,महाराज! आपकी सामर्थ्य है, हम सब आपके वशमे है, सो तुरन्तही आप महायज्ञ राजसूय पूरा कर सकेंगे, सो इस विषयमे अधिक विचारका प्रयोजन नहीं, विना विचार उस महायज्ञके करनेमे ध्यान दें। मित्रोंने अलग अलग और एक-त्रित होके इस प्रकार कहा । (२४-२७)

हे महाराज! शत्रुमथन पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने उनका वह धर्मयुक्त प्रगल्भ अभीष्ट और वरिष्ठ वचन सुनके मनहीमनमे उसको मान लिया । मित्रों-की वह बात सुन और अपनी सामर्थ को जान राजसूय यज्ञके विषयमें उन्होने वार वार आन्दोलन किया । धीमान और मन्त्रके जानकार धर्मराज युधि-ष्ठिर मनही मनमे विलक्षण आन्दोलन कर

युधिष्ठिर उवाच— इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदत स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३३ ॥
अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ॥
मन्त्रिणो भ्रातरश्चास्य तद्वचः प्रत्यपूजयन् ॥ ३४ ॥
स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनाऽऽत्मवान् ।
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ॥ ३५ ॥
सामर्थ्ययोगं संप्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ।
विमृश्य सम्यक्च धिया कुर्वन्प्राज्ञो न सीदति ॥ ३६ ॥
न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ।
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ॥ ३७ ॥
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ।
सर्वलोकात्परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ॥ ३८ ॥

भ्रातृगण, महात्मा ऋत्विकगण, धौम्य पुरोहित और व्यासादि ऋषिगणसे फिर परामर्श कर बोले, सम्राटयोग्य महायज्ञ राजसूयके लिये मेरी जो यह चाह उमडी है, केवल श्रद्धा और बातहीसे क्योंकर वह सफल हो सकता है ? (२८—३२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे प्रसन्ननयन ! वे धर्मनाथ युधिष्ठिरसे इस प्रकार पूछे जाय उनसे यह बोले, कि महाराज ! आप राजसूय यज्ञके योग्य पात्र हैं, सो सहजहीं में उसे कर लेंगे । ऋत्विक और ऋषियोंके नरनाथसे यह कहने पर, उनके मन्त्री और भाइयोंने उस बात का बडा आदर किया । बडे बुद्धिमान जितात्मा पृथानन्दन युधिष्ठिर अपनी सामर्थ तथा देश, काल और आयव्ययकी आलोचना कर लोगोंकी हितेच्छासे बारंबार मनही मनमे उस विषयकी चिन्ता करने लगे। वास्तवमें भली प्रकार बुद्धिसे विचार कर कार्य करनेहीके कारण बुद्धिमान जन नहीं गिरते है। (३३–३६)

यह विचारकर, कि "केवल अपनेही निश्चयसे यज्ञ आरम्भ करना उचित नहीं है" धर्मनाथ युधिष्ठिरने यत्नसे कार्यका भार अपने ऊपरसे उठाय उसका उपाय निश्चय करनेके लिये जनार्दन श्रीकृष्ण

अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृषु ।
पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसंमितैः ॥ ३९ ॥
नाऽस्य किंचिदविज्ञातं नाऽस्य किंचिदकर्मजम्।
न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ॥ ४० ॥
स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः।
गुरुवद्भूतगुरवे प्राहिणोद्दूतमञ्जसा ॥ ४१ ॥
शीघ्रगेण रथेनाऽऽशु स दूतः प्राप्य यादवान्।
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ॥ ४२॥
दर्शनाकांक्षिणं पार्थं दर्शनाकांक्षयाऽच्युतः।
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात्तदा ॥ ४३ ॥
व्यतीत्य विविधान्देशांस्त्वरावान्क्षिप्रवाहनः।
इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ॥ ४४ ॥
स गृहे पितृवद्भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत्स्वसारं प्रीतिमान्पितुः॥४५॥
प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ।

ही को सर्व लोकोंसे श्रेष्ठ जानके उन अनजाचन महिमावान जन्मरहित हो करके नरयोनिमें स्वेच्छासे जन्म लिये महाभुज हरिको मनही मनमें स्मरण किया। उनके देवता समान कार्यकी पूरी आलोचना कर युधिष्ठिरने यह तर्क किया, कि कोईभी वस्तु उनकी अनजानी नहीं है, उनके कर्मसे न सिद्ध होनेवाला कोई कार्यही नहीं है और उनके अप्राप्य कोई विषयभी नहीं है। ऐसा विचारकर उन्होंने श्रीकृष्णको स्मरण किया। पृथापुत्र युधिष्ठिरने इस प्रकार निश्चय बुद्धि कर गुरुजनों के योग्य असीम समाचार के साथ लोकोंके गुरु श्रीकृष्णके पास तुरन्त दूत भेजा। (३७—४१)

वह दूत द्रुत चलनेवाले रथ पर चढ के यादवकुलमें पहुंचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णके पास गया। आगे श्रीमहाराज कृष्णचन्द्र दर्शन चाहनेवाले युधिष्ठिर की भेटके लिये उस इन्द्रसेनके साथ इन्द्रप्रस्थको पधारे। शीघ्र कार्य करने वाले जनार्दन द्रुतगामी रथ पर चढके बहुविध देश पीछे छोडकर इन्द्रप्रस्थमें स्थित युधिष्ठिरके निकट आ पहुंचे। गृहमें उपस्थित होने पर उन्होंने फूफी-पुत्र धर्मराज और भीमसे पिताके समान समादर पाय पीछे प्रसन्न मनमें फूफीसे भेट किया, आगे नकुल और

अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत्पर्युपासितः ॥ ४६ ॥
तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्यमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्य ज्ञापयत्स्वप्रयोजनम् ॥ ४७ ॥
युधिष्ठिर उवाच - प्रार्थितो राजसूयो मे न चाऽसौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत्ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ४८ ॥
यस्मिन्सर्वं संभवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ४९ ॥
तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे ।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ५० ॥
केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थहेतोस्तथैवाऽन्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ५१ ॥
प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् ।
एवंप्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५२ ॥
त्वं तु हेतूनतीत्यैतान्कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत्क्षमं लोके यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ५३ ॥ [५८९]

इति श्रीमहा० श० सं०वै० सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि वासुदेवागमने नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

सहदेवसे गुरुकी भांति पूजे जाय प्रसन्नतासे प्रमुदित मित्र अर्जुनसे प्रसन्नमन होके आनन्द करने लगे। (४२—४६)

अनन्तर धर्मनाथ युधिष्ठिर भली ठौरमें थकावट मिटाये, निरोग देहलिये, अवसर पाये अच्युतके पास जाय अपना प्रयोजन जनाय बोले कि हे कृष्ण! मैने राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छा की है. पर केवल इच्छाही रहनेसे वह विषय पूरा नहीं होता, जिस उपायसे वह पूरा हो सकता है. वह भली भांति तुम जानते हो। जिनसे सब सम्भव हो सकता है, जो सर्वत्र पूजे जाते हैं. वो सब भूमण्डलके ईश्वर है, वही राजसूय यज्ञ लाभ कर सकते है। (४७—४९)

मेरे मित्रवर्गने एकत्र होके मुझसे यह महायज्ञ करनेको कहा है, पर हे कृष्ण! उसकी कर्तव्यताके विषयमें तुम्हारी बात ही प्रमाण है, क्योंकि कोई कोई जन मित्रतावश किसी कार्यका दोष कह नहीं सकते. कोई कोई स्वार्थवश केवल प्रभुका प्रिय विषयही कहा करते है, और कोई कोई वही प्रिय करके ठहराय लेते हैं, जो अपने लिये प्रिय जानते है; कार्य्य पूरा करनेके विषयमें लोकोंमें ऐसीही कहावत प्राय दीख पडती है। हे कृष्ण!

श्रीकृष्ण उवाच--- सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि ।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद्वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥
जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवरोपितम् ।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥ २ ॥
कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप ।
निदेशभाग्भिस्तत्ते हि विदितं भरतर्षभ ॥ ३ ॥
ऐलस्यैक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते ।
राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथाऽन्ये क्षत्रिया भुवि॥४॥
ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥ ५ ॥
ययातिस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ॥ ७ ॥
इदानीमिह वै राजञ्जरासन्धो महीपतिः ।

तुम काम क्रोधके वशमें नही हो, सो उस प्रकारके स्वार्थादि दोषके भी वशमें नही हो. अतएव लोकमें जो अच्छा हितकारी है वही सत्य कहो ।(५०-५३)

सभापर्वमें तेरह अध्याय समाप्त ।[७८१)

सभापर्वमें चौदह अध्याय ।

श्रीकृष्णचन्द्र बोले, कि हे महाराज! आप सब गुणोंमें श्रेष्ठ है, सो सब प्रकार-ही आपको राजसूय यज्ञ करनेका अधिकार है । यद्यपि आप सब कुछ जानते हैं, तौभी मैं आपसे कुछ कहना चहाता हूं । जामदग्न्य परशुरामने जिस क्षत्रियकुलका नाश किया था, उनमें यह लोक जो अब क्षत्रियके नामसे पुकारे जाते हैं, निकृष्ट है । हे धर्मनाथ ! निदेशके पात्र अर्थात् परतंत्र उन सब क्षत्रियोंने जैसा सब मिलकर नियम किया है, वह आप जानते ही है । प्रसिद्ध राजोंकी परम्परा और पृथ्वी परमे दूसरे अस्वतन्त्र क्षत्रियगण अपनेको ऐल और इक्ष्वाकु वंशकी सन्तान करके परिचय देते है । (१—४)

हे भरतनन्दन ! ऐल और इक्ष्वाकुके सौ कुल है, ययाति और भोजके वंश अति गुणवन्त और बहुत फैले है, अब उनसे पृथ्वी चारो ओर छा गयी है । सब क्षत्रिय उन राजोंकी सौभाग्य लक्ष्मीकी पूजा करते है , पर हे महाराज ! हालमे जरासन्धने उन नरनाथवंशियोंका सौ-भाग्य पाय पृथ्वीनाथ बन तेजसे सब

अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ॥ ८ ॥
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः ।
सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथो भेदममन्यत॥९॥
प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत ।
स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः॥१०॥
तं स राजा जरासन्धं संश्रित्य किल सर्वशः ।
राजन्सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ॥११॥
तमेव च महाराज शिष्यवत्समुपस्थितः ।
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ॥ १२ ॥
अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ।
जरासन्धं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ॥ १३॥
दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद्यमद्भुतमणिं विदुः ॥ १४ ॥
मुरुं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १५ ॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥ १६॥

पर चढ सर्वोपर बडाई लाभ की है और धरतीके बीच भाग मथुरा आदिमें प्रवेश करना अपने लिये सहज जानके हममें आपसका भेद लानेकी कल्पना की है। हे महाराज! जो राजा सर्वोंके प्रभु है, जो सम्पूर्ण धरतीके एक अधिकारी बने हैं, वही युक्तिके अनुसार साम्राज्य लाभके अधिकारी हैं। (९—१०)

हे पृथ्वीनाथ! प्रतापी शिशुपालने सर्व प्रकारसे जरासन्धका अवलम्ब कर उसके सेनापतिका पद लिया है। अति पराक्रमी मायायोद्धा करूषराज वक्र जरासन्धके निकट शिष्यकी भांति उपस्थित रहता है। दूसरे अति वीर्यवन्त हंस और डिम्भक दोनोंने उस अतिबली जरासन्धकी शरण ली है। दन्तवक्र, करूष, करभ और लोकोंमें जो अद्भुत मणि प्रसिद्ध है उस दिव्य मणिको सिर पर लेनेवाला जो नरनाथ मेघवाहन वह भी उसके वशमें होगये है। मुरु और नरकका शासन करते और पश्चिम देशमें वरुण समान अधिकार फैलाये रहते हैं, वह अतिबली यवननाथ आपके पिताके सखा और वृद्ध राजा भगदत्त वचन और कर्म

स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद्भक्तिमांस्त्वयि ।
प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः १७
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित्कुन्तिवर्धनः ।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १८ ॥
जरासन्धं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १९ ॥
आत्मानं प्रति जानाति लोकेऽस्मिन्पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद्यः स चिह्नं च मामकम्॥ २० ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः२१॥
चतुर्थभाङ् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद्यो व्यजयत्स पाण्ड्यक्रथकैशिकान्॥२२॥
भ्राता यस्याऽऽकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा॥ २३ ॥
प्रियाण्याचरतः प्रह्वान्सदा संबन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २४ ॥

द्वारा जरासंधके आगे सिर नवाते है,पर मनही मनसे आपकी ओर भी पिताके समान भक्ति रखके स्नेहयुक्त है।(११-१७)

हे पुरुषवर ! जो पश्चिम और दक्षिण प्रान्तोंके राजा है, वह कुन्तीवंशके बढानेवाले शूर शत्रुनाशी आपके मामा पुरुजित् अकेलेही स्नेहवश आपकी ओर झुके हैं। हे पुरुषवर ! जो कुमति चेदि देशमें पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात है, इस लोकमें जो अपनेको पुरुषोत्तम करके मानता है, मोहसे शंख चक्रादि मेरे चिन्होंको सदा लिये रहता है.और लोकोंमें जो वासुदेव नामसे बडा प्रसिद्ध हुआ है, वङ्ग पुण्ड्र और किरातराज्योंके नाथ उस बली पौण्ड्रक राजाने भी जरासन्धकी शरण ली है। पहिले मैंने उसको मारा नही। (१७--२१)

महाराज ! जो पृथ्वीके चौथे भागभोगी और इन्द्रके सखा है जिन्होंने विद्याबलसे पाण्ड्य और क्रथ कौशिकोंका जय किया है; जिनके भाई आकृति परशुरामके समान वीर थे, वह शत्रुनाशी बली भोज देशाधिपति भीष्मक जरासन्धके वशमें आगया है । हम उनके कुटुम्ब है,सदा प्रिय तथा आज्ञाधीन रहके सदा उनका प्रिय कार्य करते है, तिस

न कुलं न बलं राजन्नभ्यजानात्तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासन्धमुपास्थितः ॥ २५ ॥
उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासन्धभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥ २६ ॥
शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह २७
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोसलाः २८
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः २९ ॥
तथैव सर्वपञ्चाला जरासन्धभयार्दिताः ।
स्वराज्यं संपरित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ३० ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३१ ॥
अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स ज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३२ ॥

परभी वह हमारे प्रेमी न बने रहकर अप्रिय कार्यमें दत्तचित्त रहते है। हे महाराज! वह अपना बल और कुलकी मर्यादा न जानके जरासन्धके प्रज्वलित यशको देखकर उसके वशमें होगया है। (२२-२५)

हे प्रभो! उत्तर दिशाके भोजोंके अठारह कुल जरासन्धहीके भयसे पश्चिम दिशाको भाग गये हैं। तथा शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुन्ती कुलिन्द और सहचर तथा सहोदरोंके साथ शाल्वायन राजगण दक्षिण पाञ्चाल और पूर्व कोशलके राजोंने कुन्ती देशकी शरण ली है। मत्स्य और सन्यस्तपाद राजगण भय खाय उत्तर दिशाको तज दक्षिण दिशाको गये है और सब पाञ्चाल जरासंधके भयसे भीत होके निज राज्यको छोड कर सब ओर भागे है। (२६-३०)

कुछकाल बीत ने पर मूर्ख कंसने यादवोंको सताय वृहद्रथपुत्र जरासन्धकी कन्याओंसे विवाह किया था। वे कन्या सहदेवकी कनिष्ठ बहिन हैं; उनके नाम अस्ति और प्राप्ति है। जरासन्धसे सम्बन्ध होजाने पर व्यर्थचित्त कंसने उसके बलसे ज्ञातियोंको हराकर बडाई लाभ की थी।

स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद्भक्तिमांस्त्वयि ।
प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः १७
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित्कुन्तिवर्धनः ।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १८ ॥
जरासन्धं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १९ ॥
आत्मानं प्रति जानाति लोकेऽस्मिन्पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद्यः स चिह्नं च मामकम्॥ २० ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमान्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः२१॥
चतुर्थभाङ् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद्यो व्यजयत्स पाण्ड्यक्रथकैशिकान्॥२२॥
भ्राता यस्याऽऽकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा॥ २३ ॥
प्रियाण्याचरतः प्रह्वान्सदा संबन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजन्त्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २४ ॥

द्वारा जरासंधके आगे सिर नवाते है,पर मनही मनसे आपकी ओर भी पिताके समान भक्ति रखके स्नेहयुक्त है।(११-१७)

हे पुरुषवर ! जो पश्चिम और दक्षिण प्रान्तोंके राजा है, वह कुन्तीवंशके बढानेवाले शूर शत्रुनाशी आपके मामा पुरुजित् अकेलेही स्नेहवश आपकी ओर झुके हैं । हे पुरुषवर ! जो कुमति चेदि देशमें पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात है, इस लोकमें जो अपनेको पुरुषोत्तम करके मानता है, मोहसे शख चक्रादि मेरे चिन्होंको सदा लिये रहता है,और लोकोंमें जो वासुदेव नाममे बडा प्रसिद्ध हुआ है, वङ्ग पुण्ड्र और किरातराज्योंके नाथ उस बली पौण्ड्रक राजाने भी जरासन्धकी शरण ली है। पहिले मैने उसको मारा नही। (१७--२१)

महाराज ! जो पृथ्वीके चौथे भागभोगी और इन्द्रके सखा है जिन्होंने विद्याबलसे पाण्ड्य और क्रथ कैशिकोंका जय किया है, जिनके भाई आकृति परशुरामके समान वीर थे, वह शत्रुनाशी बली भोज देशाधिपति भीष्मक जरासन्धके वशमे आगया है । हम उनके कुटुम्ब है,सो प्रिय तथा आज्ञाधीन रहके सदा उनका प्रिय कार्य करते है, तिस

न कुलं न बलं राजन्नभ्यजानात्तथाऽऽत्मनः।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासन्धमुपास्थितः ॥ २५ ॥
उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासन्धभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥ २६ ॥
शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह २७
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोसलाः २८
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः २९॥
तथैव सर्वपञ्चाला जरासन्धभयार्दिताः ।
स्वराज्यं संपरित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ३०॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३१ ॥
अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स ज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३२ ॥

परभी वह हमारे प्रेमी न बने रहकर अप्रिय कार्यमें दत्तचित्त रहते है। हे महाराज! वह अपना बल और कुलकी मर्यादा न जानके जरासन्धके प्रज्वलित यशको देखकर उसके वशमें होगया है। (२२-२५)

हे प्रभो! उत्तर दिशाके भोजोके अठारह कुल जरासन्धहीके भयसे पश्चिम दिशाको भाग गये है। तथा शूरसेन, भद्रकार, बोध श्याल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट कुन्ती, कुलिन्द और सहचर तथा सहोदरोंके साथ शाल्वायन राजगण दक्षिण पाञ्चाल और पूर्व कोशलके राजोने कुन्ती देशकी शरण ली है। मत्स्य और सन्यस्तपाद राजगण भय खाय उत्तर दिशाको तज दक्षिण दिशाको गये है और सब पाञ्चाल जरासंधके भयसे भीत होके निज राज्यको छोडकर सब ओर भागे है। (२६-३०)

कुछकाल बीत ने पर मूर्ख कंसने यादवोंको सताय बृहद्रथपुत्र जरासन्धकी कन्याओसे विवाह किया था! वे कन्या सहदेवकी कनिष्ठ बहिन हैं; उनके नाम अस्ति और प्राप्ति है। जरासन्धसे सम्बन्ध होजाने पर व्यर्थचित्त कंसने उसके बलसे ज्ञातियोंको हराकर बडाई लाभ की थी।

ऐश्वर्यं प्राप्तः स तस्याऽऽसीदतीवाऽपनयो महान्।
भोजराजन्यवृद्धैश्च पीडयमानैर्दुरात्मना ॥ ३३ ॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्संभावना कृता।
दत्वाऽक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३४ ॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत॥३५॥
भये तु समतिक्रान्ते जरासन्धे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन्कुलैरष्टादशावरैः॥ ३६ ॥
अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वय तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम्॥ ३७ ॥
तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३८ ॥
तावुभौ सहितौ वीरौ जरासन्धश्च वीर्यवान्।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः॥३९॥
न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ ४० ॥

हे महाराज! ऐसे व्यवहारसे उसकी बडी कुनीति प्रकाश हुई थी। उस दुरात्माके भोजवंशी वृद्ध राजोंको बहुत सताने पर उन्होंने ज्ञाति त्यागनेकी इच्छासे हमपर आशा प्रगट की थी। उस समय मैंनेअक्रूर से आहुककन्या सुतनुको दानकर बल देवजीसे मिलके प्रसिद्ध कंस और सुनामा को मारा था, सो हमसे एक प्रकार ज्ञातिका कार्य उद्धार हुआ।३१-३५

हे महाराज! इस आये हुए भयके दूर होने पर जब जरासन्ध युद्धके लिये उपस्थित हुआ,तब हमने अठारह कनिष्ट राज-वंशोंसे यह परामर्श निश्चय की, कि हम शत्रु नाशी बडे बडे अस्त्रोंसे तीन सौ वर्ष बिन रुके लडें भी तो उसका बल-क्षय नहीं कर सकेंगे, क्योंकि वह अमर समान तेज रखनेवाला महाबली है। हंस और डिम्भक नामक जो दो पुरुष उसके सहाय है, वे अस्त्रसे मारे जानेके योग्य नहीं है। वे दोनों वीर और जरासन्ध इन तीनोंके मिलनेसे जान पडता है, त्रिलोकी मे कोई भी वीर उनके सामने खडा नहीं हो सकता। हे सुधीवर! यह मत केवल हमाराही नहीं वरन सब धरतीनाथोंका ऐसाही निश्चय हुआ था। (३६—४०)

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान्नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४१ ॥
हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन्यमुनाम्भस्यमज्जत ४२ ॥
विना हंसेन लोकेऽस्मिन्नाहं जीवितुमुत्सहे।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥४३॥
तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४४ ॥
तौ स राजा जरासन्धः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
ततो वयममित्रघ्न तस्मिन्प्रतिगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४६ ॥
यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासन्धं दुहिता मागधं नृपम् ४७ ॥
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ।
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिन्दम ॥ ४८ ॥
ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ।
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ॥ ४९ ॥

हंस नामक प्रख्यात एक बडा नरनाथ था। जरासन्धके साथ हमारी उन सतरह लडाइयोंमें बलरामजीने उस हंस को मारा था। हे भरतनन्दन! डिम्भकने किसीसे हंसके नाश होने का समाचार पाय यह निश्चय कर, कि हंसके विना जीवन व्यर्थ है, यमुनाजीके जलमें डूबके प्राण छोडा। हे शत्रुकुल जय करनवाले! हंसभी लोगोंके मुखमें डिम्भकका वह हाल सुनके यमुनाजीमें डूबा। हे भरतश्रेष्ठ! राजा जरासन्ध हंस और डिम्भककी मृत्युका समाचार सुनकर उदास मनसे पुरकी ओर चला। जरासन्धके लौटने पर हम आनन्दित मनमें फिर मथुरामें बसने लगे। (४१-४६)

आगे जब पद्मपलाशनयना कंसपत्नी पतिकी मृत्युका दुःख मान अपने पिता जरासन्धको यह कहके बारबार उभाडने लगी कि मेरे पतिनाशीका नाश कीजिये, तब हमने उस पहिली परामर्शको स्मरण कर उदास होकर भागना चाहा। महाराज! उस जरासन्धके भयसे हम

पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् ।
पलायामो भयात्तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ॥ ५० ॥
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ।
कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ॥५१॥
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ।
तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ॥ ५२ ॥
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः ।
तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः॥ ५३ ॥
आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ।
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ॥ ५४ ॥
एवं वयं जरासन्धादभितः कृतकिल्बिषाः ।
सामर्थ्यवन्तः संबन्धाद्गोमन्तं समुपाश्रिताः॥५५॥
त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ।
योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ॥ ५६ ॥
अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ।

यह परामर्श कर, कि अनन्त ऐश्वर्य को आपसमें बांटके प्रत्येक मनुष्य स्वल्प भार लेके पुत्र, पौत्र, ज्ञाति और बान्धवों के साथ भागें, आगे सब मिलके पश्चिम दिशाको भागे गये। हे महाराज! उस पश्चिम खण्डमें रैवत पहाडकी चोटियोंसे सुहावनी कुशस्थली नाम्नी एक परम मनहरणी पुरीमें जा बसे और वहांके दुर्गका भले प्रकार संस्कार किया। (४७–५२)

वह दुर्ग ऐसा बना है, कि देवोंके भी जानेके योग्य नहीं है, वहांमें स्त्रिया भी सहजहीमें लड सकती है, वृष्णिवंशी महारथियोंका तो कुछ पूछनाही नहीं। हे शत्रुनाशि! अब हम विनाभय वास करते है। माधव संज्ञक यादवोंके उस गिरिवरके संस्थानादिकी आलोचना तथा इस समझसे कि हम मगध नाथके हाथके बाहर आ गये है, बडा हर्ष हुआ है। इस प्रकार जरासन्धके अनिष्ट करनेसे सब प्रकार दिक होके हमने सामर्थ रहने परभी प्रयोजनसे गोमन्त पर्वत को अवलम्ब किया है। वह पर्वत तीन योजन विस्तृत है, एक योजन के बीचमें उस पर एक एक सैन्यव्यूह बना है, और हर योजनके अन्तर पर सौ सौ द्वार बने है, वीरोंका विक्रमही उसमें तोरणकी भांति भरा है. और युद्धमे कठोर अठारह क्षत्रिय वंशी उसकी रखवारी करते है। हे महाराज!

अष्टादशसहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नः कुले ॥५७॥
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ।
चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ॥५८॥
अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ।
एवमेते रथाः सप्त राजन्नन्यान्निबोध मे ॥ ५९ ॥
कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ।
कङ्कः शंकुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ॥
पुत्रौ चाऽन्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ॥६०॥
वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ॥६१॥
स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ॥ ६२ ॥
न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले ।
राजसूयस्त्वयाऽऽवाप्तुमेषा राजन्मतिर्मम ॥६३॥
तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ॥ ६४ ॥

हमारे कुलमें अठारह सहस्र भाई वर्तमान हैं (५३–५७)

आहुकके सौ पुत्र हैं, उनमेंसे हरेक देवताके समान है। भाइयोंके साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव,सात्यकि, मैं, बलदेवजी और मेरे समान योद्धे साम्ब और प्रद्युम्न तथा हम यह सात अतिरथी हैं। इनके अतिरिक्त जितने महारथी हैं, उनकी बात भी कहता हूं, सुनिये। कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक समितिञ्जय, कङ्क, शङ्कु, और कुन्ती यह सात महारथी हैं। और भी अन्धक भोजके दो पुत्र तथा स्वयं वह वृद्ध भूप, यह महावीर्यवन्त वज्रसमान देहधारी दश महारथी मध्य देशके स्मरण करते हुए वृष्णियोंमें बसते हैं। हे भरतसत्तम! आप नित्यकाल तक साम्राज्य भोगनेके योग्य हैं;सो क्षत्रियोंमें अपनेको सम्राट करके प्रसिद्ध करें। (५८—६२)

पर मुझे जान पडता है, कि अति पराक्रमी जरासन्धके जीते रहते आप कदापि महायज्ञ राजसूय पूरा नहीं कर सकेंगे, क्योंकि सिंह जिस प्रकार महाहस्तियोंको पकडकर गिरिराजकी कन्दरामें बन्धुआ बनाता है, वैसे ही उस जरासन्धने राजोंको पराजय कर गिरिदुर्गमें पकड

स हि राजा जरासन्धो यियक्षुर्वसुधाधिपैः।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिन्दम ॥ ६५ ॥
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम ॥ ६६ ॥
स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान्पृतनागतान्।
पुरमानीय बध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ॥ ६७ ॥
वयं चैव महाराज जरासन्धभयात्तदा ।
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६८ ॥
यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि ।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासन्धवधाय च ॥ ६९ ॥
सभारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन।
राजसूयस्य कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर॥ ७० ॥
इत्येषा मे मती राजन्यथा वा मन्यसेऽनघ।
एवं गते ममाऽऽचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः॥७१॥ [६५२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच – उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नाऽन्यो वक्तुमर्हति।

रखा है। हे शत्रुमथन ! राजोंके द्वारा यज्ञ करनेकी इच्छासे उस जरासन्धने अति कठोर तप करके उमाकान्त महादेवजी की उपासना कर सबही भूपालोंको हरा-या है, और उनके द्वारा उक्त प्रणसेभी मुक्त हो गया है,उसने भूपालोंको सेनाओंके साथ बार बार पराजय करके अपने पुरमें लिवाकर सबोंको इकट्ठे बांध रखा है । (६३—६७)

हे महाराज ! उस कालमें हमभी उसके भयसे मथुरा तज द्वारावती पुरीमें भाग थे । अतएव हे कुरुनन्दन ! यदि आप यज्ञ किया चाहें, तो उन राजोंको छुडाने और जरासन्धको बधनेकी चेष्टा करें। ऐसा न करने से बडी भीड भडाकेसे उस यज्ञको प्रारम्भ कर पूरा नहीं कर सकोगे। हे मतिमान् ! राजसूय महायज्ञ पूरा करना चाहें,तो मेरी समझमें ऐसा करनाही उचित जान पडता है, अब आपकी समझमें जैसा हो करें। वर्तमान दशामें स्वयं कार्य कारणकी विचार कर जो उचित जान पडे, वही करें। (६८-७१) [६५२]

सभापर्वमें चौदह अध्याय समाप्त ।

संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नाऽन्यो विद्यते भुवि॥१॥
गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृच्छ्रभाक्॥२
कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते॥ ३॥
विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह॥ ४॥
शममेव परं मन्ये शमात्क्षेमं भवेन्मम।
आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः॥५॥
एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः।
कश्चित्कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन॥ ६॥
वयं चैव महाभाग जरासन्धभयात्तदा।
शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात्तस्य चाऽनघ॥७॥
अहं हि तव दुर्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो।

सभापर्वमें पन्दरह अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, कि हे कृष्ण! तुम अति बुद्धिमान हो; तुम जैसा कहोगे, वैसा कहना किसीसे बन नहीं पडेगा; पृथ्वी भरमें तुम्हीं एक शङ्का मिटानेवाले हो। देखो, हर राज्य हीमें अपने प्रियकार्य करनेवाले राजा लोग विद्यमान हैं, पर कोई साम्राज्य लाभ नहीं कर सका। वास्तवमें सम्राट शब्द बडा दुर्लभ है। जो पराये बलवीर्यकी बडाई जानता है, वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता है; शत्रुसे युद्धमें मिलकर जो प्रशंसित होते हैं, वही पूजनीय हैं; हे यदुकुलतिलक! बहुत रत्नोंसे भरे बडे भारी मण्डलकी भांति मनुष्यकी चित्तवृत्ति बहुत विस्तृत, भांति भांतिकी और अनेक अच्छे विषयोंसे भरी है। पृथ्वीके दूर देशोंमें घूम फिर मनुष्य जैसे जानकारी लाभ करता है, वैसेही बुद्धिकी परम उन्नति पाय अपना मंगल भली भांति जान ले सकता है। १-४

हे जनार्दन! मैं शान्तिको श्रेय करनेवाली जानता हूं। शान्ति अवलम्ब करनेमें मेरा मङ्गल हो सकेगा। राजसूययज्ञ प्रारम्भ करके अन्त फलका पाना कठिन जान पडता है। हमारे कुलमें जन्म लिये सब मनस्वी पुरुष यह समझते हैं, कि किसी न किसी समय उनमेंसे कोई बडाई लाभ कर सकता है पर हे महाभाग! दुरात्मा जरासन्धके कडेपनसे हमभी बहुत भय खागये थे. विशेष जिसके

नाऽऽत्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद्विशङ्किते॥८॥
त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव।
अर्जुनाद्वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै॥ ९॥
एवं जानन्हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः।
त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा चाऽब्रवीद्भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः ११

भीम उवाच — अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति।
दुर्बलश्चाऽनुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ॥ १२ ॥
अतन्द्रितस्तु प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम्।
जयेत्सम्यक्प्रयोगेण नित्यार्थानात्मनो हितान्॥ १३
कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनञ्जये।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाऽग्नयः॥ १४॥

कृष्ण उवाच — अर्थानारभते बालो नाऽनुबन्धमवेक्षते।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥ १५ ॥
जित्वा जय्यान्यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।

भयसे तुम भी भीत हुए हो,हम तुम्हारे ही भुजबलके आसरेमें रह कर अपनेको क्योंकर उससे बली समझ सकते हैं ? (५–८)

हे महाभुज! यह सोच करकेही, कि तुम,राम,भीम और अर्जुन इन चारोमेसे कोई उसे वधनेको समर्थ होगा वा नहीं, मैं बारबार उदास हो रहा हूं। अथवा मैं अधिक क्या कहूं, सब कर्ममें तुम्ही मेरा प्रमाण हो; तुम जो कहोगे, मैं कभी उसकी विरुद्धता नहीं कर सकूंगा। अनन्तर वक्तृवर भीमसेन यह सब बात सुनकर बोले, कि जो राजा एक बारही उद्योगमे मुह मोडते है और जो दुर्बल और विना उपाय होय बलीसे झगडनेको दौडते है, वे दोनो वल्मीक की भांति स्वयमेव नष्ट होते है। दुर्बल गण यदि आलस्य छोडकर उचित नियम मे बलियोमे लडे,तो वह जय पाके अपना अभीष्ट सिद्धकर सकते है। (९–१३)

हे महाराज! कृष्ण नीतिमे अच्छे हैं; मेरा विलक्षण बल है और धनञ्जयभी सबको जय कर सकते है, सो जैसे तीन प्रकार के अग्निसे यज्ञ पूरा होता है, ऐसे ही हम भी जरासन्धको बधेंगे। श्रीकृष्ण जी बोले, कि अज्ञानी जन परिणाम की बातको न समझ करकेही कार्यमे हाथ डालता है, विज्ञ जन स्वार्थी

कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद्बलात्तु भरतो विभुः ॥ १६ ॥
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान्पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम ।
सम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर ॥ १७ ॥
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर ।
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः ॥ १८ ॥
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तो धर्मार्थनयलक्षणैः ।
बार्हद्रथो जरासन्धस्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ १९ ॥
न चैनमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः ।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः ॥२०॥
रत्नभाजो हि राजानो जरासन्धमुपासते ।
न च तुष्यति तेनाऽपि बाल्यादनयमास्थितः॥२१ ॥
मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात् ।
आदत्ते न च नो दृष्टो भागः पुरुषतः क्वचित्॥२२॥
एवं सर्वान्वशे चक्रे जरासन्धः शतावरान् ।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥ २३ ॥
प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे ।

अनजाने बालकशत्रुको भी कभी क्षमा नहीं करते । महाराज! हमने सुना है, कि पूर्व कालमें उत्तम मंत्रीमंडलमें विचार कर यौवनाश्व, भगीरथ, कार्तवीर्य, भरत और मरुत्त यह पाच पृथ्वीनाथ सब वशीभूत जनोंका विचार कर उनमें से हरेक कर लेनेसे विजय, पालना, तपोवीर्य, बल और सम्पद इन पांच गुणों मेंसे एकके सहारे क्रमशः सम्राट बने थे, पर आप पूर्वोक्त सर्व गुणवन्त होके साम्राज्य लाभकी इच्छा करते हैं; परतु धर्म, अर्थ और न्याययुक्त मन्त्रणाके अनुसार सम्राट बना हुआ बृहद्रथके पुत्र जरासन्ध आपके लिये विघ्नरूप है। १४-१९

हे भरतश्रेष्ठ ! आप यह भली भांति समझके देखें, कि सौ राजवंशियोंमें एकभी जरासन्ध को रोक नहीं सकता! सो वह बलहीसे साम्राज्यको भोग रहा है, रत्नवान राजगण रत्न देकर उसकी उपासना करते हैं, इस परभी वह प्रसन्न न होकर मूर्खतासे कुनीति लेके वशीभूत राजों पर चढ जाता है। ऐसा एकभी मनुष्य दीख नहीं पडता, जिससे वह प्रधान पुरुष राजस्वका अंश नहीं लेता ! इस प्रकार जरासन्धने प्रायः सौ राजोंको अधीन बनादा है। हे भरतनन्दन !

पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ ॥ २४ ॥
क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः।
ततः स्म मागधं सङ्ख्ये प्रतिबाधेम यद्वयम् ॥२५॥
षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश।
जरासन्धेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते ॥ २६ ॥
प्राप्नुयात्स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत्।
जयेद्यश्च जरासन्धं स सम्राण्नियत भवेत् ॥ २७॥ [६७९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५॥

युधिष्ठिर उवाच -- सम्राड्गुणमभीप्सन्वै युष्मान्स्वार्थपरायणः।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥ १ ॥
भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम्।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥ २ ॥
जरासन्धबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम्।
यमो हि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥३॥

आपसे दुर्बल भूप क्यों कर उसमे शत्रुता करेगा? पशुनाथके गृहमें रहनेवाले पशुओंकी भांति बंधुये और बलि चढानेके लिये निश्चय किये राजाके ज नमें कौनसी प्रीति रह सकती है? अस्त्रसे मारे जाने पर जब क्षत्रियलोग सत्कारके पात्र बनते है, तब अवश्यही हम युद्धमे एक होकर जरासन्धको रोकेंगे। हे महाराज! सौमे छियासी भूप जरासन्धसे लिवाये जाय बलि चढाये जानेकी निश्चय किये गये है, केवल चौदहही शेष बचे है, उनके हाथ लगतेही वह बडा कुटिल कार्य पूरा हो जायगा। सो उस लीलामें जो विघ्न डाल सकेंगे, वही प्रदीप्त यश पा सकेंगे और जो उसको जीत सकेंगे वह निश्चयही साम्राज्य भोगेंगे। (२२-२७)

सभापर्वमें पन्द्रह अध्याय समाप्त। (६७९)

सभापर्वमें सोलह अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, कि हे कृष्ण! मैं साम्राज्य पानेकी इच्छासे अति स्वार्थी बन केवल साहस पर निर्भरकर क्योंकर तुम्हे जरासन्धकी वधके लिये भेजूंगा? हे जनार्दन! मै भीमार्जुनको अपनी दो आंखे और तुमको मन करके जानता हू, सो नयन मनसे हाथ धोय क्योंकर जीऊंगा? यमराजभी जरासन्धकी भीम पराक्रमी अपार सेनाओंको पारकर परास्त नहीं कर सकते, सो उस दशामें तुम्हारा

अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ॥४॥
यथाऽहं विमृशाम्येकस्तत्तावच्छ्रूयतां मम ।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्याऽस्य जनार्दन ॥ ५ ॥
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच -- पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥
अर्जुन उवाच -- धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन्दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ ८ ॥
कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः ।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ॥ ९ ॥
कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ॥१०॥
क्षत्रियः सर्वशो राजन्यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये ।

विक्रम प्रकाश करना कैसा होगा ? वरन इस विषयमे हाथ डालनेमे बडा अनर्थ आ पडनेकी सम्भावना है, सो मेरी समझमें प्रस्तावित यज्ञका प्रारम्भ करना उचित नहीं है। जनार्दन ! इस विषयमें मैं अकेला जो विचारता हूं; सुनो। राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छा से मुह मोडनेहीको मैं श्रेय समझता हूं; मेरा चित्त हालमें बडा व्याकुल हो रहा है: मुझको निश्चय जान पडता है कि राजसूय यज्ञ पूरा करना सामर्थके बाहर है। (१—६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अर्जुन अपनी सामर्थसे धनुषश्रेष्ठ गाण्डीव दोनों अक्षय तून, रथ, ध्वज और मनहरणी सभा यह सब वस्तु पानेके कारण साहस कर युधिष्ठिरसे बोले, कि महाराज ! चाप, अस्त्र, वाण, वीर्य, सहाय, भूमि, यश और सेना यह मनलुभावने दुर्लभ पदार्थ मैंने लाभ किये है। देखो साधु समाज तथा भले प्रतिष्ठित विद्वान जन सत्कुलमें जन्म की प्रशंसा करते हैं, पर मेरी समझमें वह भी बल के सदृश नहीं है: वीर्यही पर मेरी चाह दौडती है। वीर्यवन्त वंशमें जन्म लेकर जिसका वीर्य नहीं रहता, वह बडा तुच्छ है। वीर्यहीन कुलमें जन्म लिये वीर्यवन्त नर उससे श्रेष्ठ होते हैं। (७-१०)

हे महाराज ! जो शत्रुको जयकर बढते हैं, वह सब प्रकारसे क्षत्रिय कहे

सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान्हि तरेद्रिपून् ॥ १२ ॥
सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥१२॥
जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैव च संश्रितम् ।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित्प्रमादान्नोपयुज्यते ॥
तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥ १३ ॥
दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते ।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना १४
जरासन्धविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम् ।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥ १५ ॥
अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः ।
गुणान्निः संशयाद्राजन्नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १६ ॥
कषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शमभिच्छताम् ।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ [६९६]

जाते है। क्योंकि मनुष्य कुल-मर्यादादि सब गुणोंसे रहित हो करके केवल वीर्य-वन्त होवे, तो शत्रुको जयकर सकता है, और सब गुण रहने परभी वीर्य विना कोई काय नहीं कर सकता। पराक्रमके सामने सब गुण गुणीभूत है, अर्थात अप्रधान भावमे रहते है। निश्चय पुरुषार्थ और भाग्य यह तीन जयके हेतु है; सो बहुत बलवन्त होने परभी प्रमाद करनेसे कोई जय पानेके योग्य नहीं हो सकता, वरन बलवन्त होने परभी उस कारण शत्रुके हाथमे मरता है। बलवानका भी जैसी हीनता बैरती है, वैसे सबलको मोह पकडता है; सो जय चाहनेवालोको वह बडा अनर्थकारी मोह और दीनता त्यागना उचित है। यज्ञके लिये जरासन्धको वधकर राजा-ओंको छुडा सके, तो हमारे लिये इससे बढकर अच्छा कार्य क्या हो सकेगा ? विशेष इस विषयमे मुह मोडके बैठे रहने-मे लोग हमको निश्चय गुणरहित जानेगे। अतएव हे महाराज! हमारे शङ्काके अयोग्य गुणोके रहते भी आप क्यों निर्गुण समझ रहे है ? पहिलेसे शान्ति-की इच्छाकर मुनि बननेसे पीछे कषाय चीर जैसे सुलभ होता है, वैसेही पहिले

वासुदेव उवाच—जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च ।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥
न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा ।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनाऽनुशुश्रुम ॥ २ ॥
एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम् ।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥
सुनयस्याऽनपायस्य संयोगे परमः क्रमः ।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः ॥४॥
अनयस्याऽनुपायस्य संयुगे परमः क्षयः ।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥५॥
ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ॥ ६ ॥
पररन्ध्रे समाक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥ ७ ॥

प्रबल शत्रुकोजय करनेमे हमको विना चेष्टा साम्राज्य मिल जायगा सो हम अवश्यही लडाईके लिये कमर कसेंगे । (११--१७)

सभापर्वमें सोलह अध्याय समाप्त । [८९६]

सभापर्वमें सतरह अध्याय ।

वासुदेवजी बोले, कि भरतवंशमे जन्म लिये विशेष कुन्तीके गर्भमे उपजे लनका जैसा मन होना चाहिये अर्जुनने वह प्रकटित किया । देखिये, हम नही जानते कि कब रात्रिको वा दिनको मृत्यु होगी और भी कभी यह नहीं सुना, कि न लडने से मृत्यु नही होती सो विधिदर्शित नियमानुसार शत्रु पर चढनेहीसे हृदयको आनन्द पहुंचता है और क्षत्रियके लिये वही उचित है । अपार शक्ति अर्थात उस अच्छे नियम के संयोगसे कि जिसके देवताभी विरुद्ध नही है, कार्य आरंभ किया जावे तो अवश्यही पूर्ण होता है और साम दानादि उपाय वर्जित दुर्नियमोके संयोगसे निश्चय विनाश होता है. उक्त प्रकारके सुनियम से युद्धसे भिड जानेसे भी एक पक्षकी उन्नति होनी सम्भव है क्योंकि दोनो ओरकी तुल्यता प्रायः नहीं होती । तथापि तुल्यताभी हो, तौभी जयके विषयमे सन्देह रहता है, क्योंकि जय वा पराजय दोनो पक्षोंहीको नहीं हो सकता है । (१–५

सो हम नियम अवलम्बन कर शत्रु के सामने खडे होनेसे तो वृक्ष उखाडनेवाली नदीके वेगकी भांति अवश्यही

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममाऽपीह रोचते ॥ ८ ॥
अनवद्या ह्यसंबुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत्।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ९ ॥
एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥ १० ॥
अथ वैनं निहत्याऽऽजौ शेषेणाऽपि समाहताः।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच — कृष्ण कोऽयं जरासन्धः किंवीर्यः किंपराक्रमः।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाऽग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा॥१२॥

कृष्ण उवाच — शृणु राजञ्जरासन्धो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः॥ १३
अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १४ ॥
रूपवान्वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः।

उसको नष्ट कर सकेंगे। अपनी चूक छिपानेका प्रयत्न कर परायी चूक देखके चढ जानेसे क्यों हमारा मनोरथ सफल नहीं होगा? पण्डितोंकी यही नीति है, कि व्यूढसेना युक्त अति बली शत्रुसे न लडें, इसमें मैं भी असम्मत नहीं हूं, पर गुप्तभावसे शत्रुके घरमें घुस कर उसकी देहको पकड कर अभीष्ट सिद्ध करले सकें, तो हम कभी निन्दित नहीं होंगे। पुरुषवर जरासन्ध भूतोंकी अन्तरात्माके समान अकेला नित्य सौभाग्य भोग रहा है, सो हमारा यही अभिप्राय है, कि यह नष्ट होवे। हम ज्ञातियोंकी रक्षाके लिये यह चाहते हैं, कि चाहे उसको हने अथवा उससे मारे जाकर स्वर्गको जाय। (८–११)

युधिष्ठिर बोले, कि हे कृष्ण! जरासन्ध कौन है? उसका बल वीर्य कितना है, शलभके समान जरासन्ध अग्नि समान तुमको छूकर क्यों नहीं जलमरा? श्रीकृष्णजी बोले, महाराज! जरासन्धका जितना वीर्य और पराक्रम है और उसके अनेक बार हमारा अनिष्ट करने परभी हमने जिस कारण उसका बदला नहीं लिया, वह सब कहता हूं, सुनिये। मगधदेशमें तीन अक्षौहिणी सेनासे उछले, युद्धके अहंकारसे फूले, रूपवाले, श्रीमान, वीर्यवान अतिविक्रम

नाऽऽससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥ २३ ॥
अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः ।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥२४॥
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् ।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥ २५ ॥
तमब्रवीत्सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥ २६ ॥
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद्बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ २७ ॥
राजोवाच— भगवन्राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाऽल्पभाग्यस्य किं राज्येनाऽप्रजस्य मे॥२८॥
कृष्ण उवाच— एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत्क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाऽऽम्रवृक्षस्य च्छायायां समुपाविशत् ॥२९॥
तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्संगे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ ३० ॥

परभी कुल बढावना पुत्र नहीं पासके। अनन्तर एक समय यह सुनके कि गौतम-वंशी महात्मा काक्षीवानके पुत्र महानुभव चण्डकौशिक तपस्या पूरी करके मनमाने आते हुए एक वृक्षकी जड पर बैठे है, राजा बृहद्रथने पत्नियोंके साथ उनके सम्मुख जाय मुनियोंको देने योग्य बहुत अच्छे अच्छे पदार्थ देकर उनको प्रसन्न किया। (२२--२५)

सत्य-प्रेमी, और सत्य कहनेहारे ऋषिवर चण्डकौशिक उनसे बोले, कि हे सुव्रतधारी महाराज! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ, अब मनमाना वर मागो। बृहद्रथ तब दोनों पत्नियों के सहित उनको प्रणाम कर पुत्रमुख न देखनेके दुःखसे नयनों में आंसू भरे गदगद होकर यह वचन बोले, कि मैं बडा अभागी हूं। आजतक पुत्रधन नहीं पासका; सो राज्य, धन विन प्रयोजन जानके सब छोड छोड तपोवन के जानेकी इच्छा की है, अतएव इस दशामें मुझको वरका क्या प्रयोजन है? (२६-२८)

श्रीकृष्णजी बोले, कि राजाकी यह बात सुनके क्षुब्धचित्त मुनि इन्द्रियोंको संयत कर उस आमके वृक्षकी छांहमें बैठ के ध्यान करने लगे। वह उस प्रकार बैठे थे, कि उनकी गोदमें शुकादिसे न काटा कूटा एक आम गिरा। महाप्राज्ञ मुनिवर चण्डकौशिक उस अद्भुत फलको

तत्प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाऽभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसंप्राप्तिकारणम् ॥ ३१ ॥
उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन्कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ॥ ३२ ॥
एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३३ ॥
यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात्पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चाऽर्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ३५ ॥
तयोः समभवद्गर्भः फलप्राशनसंभवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३६ ॥
अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते ।
प्राजायेतां शुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥ ३७ ॥
एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥ ३८ ॥

लेकर सोचते हुए उसे पुत्रलाभके लिये कारण स्वरूप राजाको दे दिया और बोले, कि हे नरनाथ! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ, अब लौटकर अपने स्थान को जाओ। (२९—३२)

हे भरतश्रेष्ठ! नृपवर बडे बुद्धिमान बृहद्रथ मुनिकी यह बात सुनके उनके दोनों पावोंमें सिर लोटाय अपने गृहको पधारे और पूर्वकी प्रतिज्ञाको स्मरण कर दोनों पत्नियोंको वह एक फल दिया। उन्होंने भी आपस में बांटकर उस एक फलको खाया। होने वाले अर्थके फलने की निश्चयता और मुनिकी सत्यवादिता के हेतु उन दो राणियोंको फल भोजनके कारण गर्भ हुआ। नृप बृहद्रथ उनको गर्भवती देखकर बडे आनन्दित हुए। (३३—३६)

हे महाप्राज्ञ भूप ! अनन्तर दश महीने पूरे होने पर उन दो राजराणियोंने दो खण्ड शरीर प्रसव किये और उनमेंसे हरेकके एक आंख, एक हाथ, एक पांव, आधा मुख, आधा पेट और आधा लिङ्ग देखकर वे दोनों भयसे थरथराने लगीं। दोनों अबला बहिनने उस समय अति उदास होके आपसमें परामर्श कर उन दोनों जीती देहके खण्डोंको अति दुःखसे

उद्विग्ने सह संमन्त्र्य ते भागिन्यौ तदाऽबले।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३९॥
तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसंप्लवे ।
निर्गम्याऽन्तःपुरद्वारात्समुत्सृज्याऽभिजग्मतुः ४०॥
ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाऽथ राक्षसी ।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना॥ ४१ ॥
कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४२ ॥
ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४३ ॥
ततः सा राक्षसी राजन्विस्मयोत्फुल्ललोचना ।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥ ४४ ॥
बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चाऽऽस्ये निधाय सः ।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥ ४५ ॥
तेन शब्देन संभ्रान्तः सहसाऽन्तःपुरे जनः।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥ ४६ ॥
ते चाऽबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे ।

फेंक दिया। उनकी दो धात्रियोंने उन दो सुन्दर गर्भोंको भले प्रकार तापतापकर अन्तःपुरसे निकलके किसी एक चौराहे पर लेजाकर फेंक दिया। (३७—४०)

हे नरवर! मांसरक्त खानेवाली जरा नाम्नी राक्षसीने उन फेंके हुए देह खण्डोंको ले लिया। उस राक्षसीने तब विधिबल आजानेके कारण उसने सहजहीमें लेजानेकी इच्छासे उन दोनों देह खण्डोंको एक किया। हे पुरुषवर! उन दो आधी देहोंके एक दूसरेमें मिलते हो, एकही स्वरूप धरके एक वीर कुमार बना। हे महाराज ! अनन्तर राक्षसी आश्चर्ययुक्त आखोंमे वज्रसार बचेको उठानेकी चेष्टा करने परभी उठा नही सकी। वह बालक हाथोंसे घूसा बांधके, मुह पर रखकर मुहको फुलाय जलधरे घने बादलके समान गहरे शब्दसे रोने लगा। (४१—४५)

हे शत्रुमथन, नरव्याघ्र! इस शब्दसे पुरवासी भय खाय राजाके साथ एकायक निकले और वह आशा छोडी हुई, मलिन मुख वाली, दूधभरे-स्तन-धरी राजराणियांभी पुत्र पानेकी आशासे

निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाऽभ्यगच्छताम् ॥ ४७॥
तेऽथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम् ।
तं च बालं सुबालिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥४८॥
नाऽर्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४९॥
सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम् ।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ५० ॥

राक्षस्युवाच— बृहद्रथ सुतस्तेयं मया दत्तः प्रगृह्यताम् ।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात् ।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयाऽयं परिरक्षितः ॥ ५१ ॥

कृष्ण उवाच— ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे ।
तं बालमभिपद्याऽऽशु प्रस्नवैरभ्यषिंचताम् ॥ ५२ ॥
ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च ।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५३ ॥

राजोवाच— का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी ।

एकायक दौड चली। तब राक्षसी उन दो राणियोंको उस दशामें, राजाको सन्तान चाहते और उस बचेको बडा बलिष्ठ देखके सोचने लगी, कि मैं इन राजाके अधिकारमें वसती हूं। यह परम धार्मिक और महात्मा है. विशेष पुत्र लाभके लिये बडी इच्छा रखते हैं, सो इनके इस बालक पुत्रको नष्ट करना मुझको किसी प्रकार नहीं चाहिये। यह सोचके वह निशाचरी मानवी शरीर धरके मेघमाला जैसे सूर्यको छाय लेती है, वैसे उस कुमारको लेकर राजासे बोली, कि हे बृहद्रथ ! यह पुत्र तुम्हारा है। मुनिवरके प्रभावसे तुम्हारी पत्नियोंसे उपजा है, अब मैं दिये देती हूं,लो। धात्रियोंने इसे त्याग दिया था,मैंने यत्नसे बचाया है। (४६—५१)

श्रीकृष्णजी बोले हे भरतवंशीश्रेष्ठ ! अनन्तर काशीराजकी उन रूपवती दोनो कन्याओंने उस बालक को पाय स्तनसे निकले दूधसे उसीक्षण उसे नहलाया। इसके पश्चात् राजाने सब हाल जानके, प्रसन्नमनसे उस सुवर्ण वरणी मानवी रूपधारिणी राक्षसीसे पूछा, कि हे कमलगर्भ समान शोभावति! मुझे पुत्र देनेवाली तुम कौन हो ? हे कल्याणी ! तुम स्वेच्छासे विचरनेवाली कोई देवी जान पडती हो; सो अपना ठीक ठीक

कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे॥५४॥ [७२०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः। ॥ १७ ॥

राक्षस्युवाच —जरा नामाऽस्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम् ॥ १ ॥
गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा ॥ २ ॥
दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी।
यो मां भक्त्या लिखेत्कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम् ३॥
गृहे तस्य भवेद्वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात् ।
त्वद्गृहे तिष्ठमाना तु पूजिताऽहं सदा विभो ॥ ४ ॥
लिखिता चैव कुड्येऽहं पुत्रैर्बहुभिरावृता ।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यैर्भोज्यैः सुपूजिता ॥ ५ ॥
साऽहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ॥ ६ ॥
संश्लेषिते मया दैवात्कुमारः समपद्यत ।
तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह ॥ ७ ॥

हाल कहो। (५०—५४) [७५०]

सभापर्वमें सतरह अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें अठारह अध्याय।

राक्षसी बोली, कि हे महाराज! मेरा नाम जरा है, मैंने राक्षसी कुलमें जन्म लिया है। स्वेच्छासे रूप ले सकती हूं। मैं नित्य हर मनुष्यके घरमें घूमा करती हूं। स्वयम्भू ब्रह्माजीने मुझको पहिले गृहदेवी नामसे दिव्य रूपिणी बनाय दानवोंके विनाशके लिये रख दिया है। जो मनुष्य पुत्रवती और नये यौवनसे मदमाती मेरी प्रतिमा अपने घरकी दीवार पर लिख रखता है उसका निःसन्देह मङ्गल होता है, जो नहीं रखता वह नष्ट होता है। हे प्रभो! पुत्रोंसे घिरी मेरी छवि तुम्हारे घरकी दीवारमें लिखी है और तुम्हारे गृहमें बसकर मैं गन्ध पुष्प धूप, भोजनादिकी नाना सामग्रियोंसे सदा भले प्रकार पूजी जाती हूं, सो सदा तुम्हारे उपकारके बदलेमें कोई उपकार किया चाहती थी। (१–६)

हे धार्मिकवर! आज तुम्हारे पुत्रकी दो भागोंमें बटी देहको देखकर दैवसंयोगसे ज्योंही उसे मैंने एकत्रित किया

मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम् ।
गृहसंपूजनात्तुष्ट्या मया प्रत्यर्पितस्तव ॥ ८ ॥

कृष्ण उवाच -- एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः ॥ ९ ॥
तस्य बालस्य यत्कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा ।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम् ॥ १० ॥
तस्य नामाऽकरोच्चैव पितामहसमः पिता ।
जरया संधितो यस्माज्जरासन्धो भवत्वयम् ॥ ११ ॥
सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः ।
प्रमाणबलसंपन्नो हुताहुतिरिवाऽनलः ।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १२ ॥ [७६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८॥

कृष्ण उवाच -- कस्यचित्त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मागधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥

त्योंही वह एक कुमार बना । महाराज! तुम्हारे भाग्यहीसे यह लीला हुई है; मैं इसमें केवल उपलक्षही हूं, मैं सुमेरुको भी खा जा सकती हूं, तुम्हारे इस बच्चे की तो कुछ बातही नहीं, केवल इसीसे कि तुम्हारे गृहमें सदा पूजी जाती हूं, सन्तोष पूर्वक इसे तुमको लौटा देती हूं । (६-८)

श्रीकृष्णजी बोले, राक्षसी इन बातोंको कहके वहांसे अन्तर्हिता होगयी । राजा बृहद्रथ अपने कुमारको गोदमें लेके गृहमें जाय उसके सब जातकर्म कराये और मगधराज्य भरमें राक्षसीके नामसे महोत्सव करनेकी आज्ञा दे दी । और ब्रह्मा के समान उन नरनाथने यह निश्चय करके, कि 'जरा राक्षसीने इसको सन्धित किया अर्थात् मिलाया है; सो इसका नाम जरासन्ध हो, ऐसा निश्चय करके उस बालकका नामकरण किया । मगधनाथका वह बडा तेजोवन्त पुत्र प्रशस्त आकार धारणकर और बलवान होकर आहुति प्राप्त अग्निके समान बढने लगा; सो शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान पिता माताको आनन्द देने लगा । (९—१२) [७६२]

सभापर्वमें अठारह अध्याय समाप्त ।

सभापर्वमें उन्नीस अध्याय ।

श्रीकृष्णचन्द्र बोले कि कुछकाल बीतने पर महात्मा चण्डकौशिक फिर

तस्याऽऽगमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां पार्थिवाद्भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन्प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ४ ॥
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन्दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥
अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥
प्रापयिष्यति तत्सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नाऽनुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥७॥
पततो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चाऽस्य परिपन्थिनः ॥८ ॥
देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥
सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति।

मगध देशमें आगये। राजा बृहद्रथने उनके आनेपर बडा प्रसन्न होकर मन्त्री, पुरोहित दो राणियों तथा पुत्रके सहित निकलके पाद्य, अर्घ, आचमनीय आदिसे उनकी पूजा की । हे भरत नन्दन ! उस भूपालने राज्य-सहित उस पुत्रको उन्हे सौंप दिया। भगवान चण्डकौशिक राजा मगधकी वह पूजा लेकर प्रसन्न मनसे उनसे बोले, कि हे महाराज ! मै दिव्य-नेत्रोंमे सब बात जान चुका हूं। तुम्हारा यह पुत्र भविष्यतमे जो अवस्था प्राप्त करेगा, इसका जैसा रूप, सत्व, बल और पराक्रम होगा, वह सुनो। (१-६)

तुम्हारा यह पुत्र ऐश्वर्यमें बढके और विक्रमसे चढके सब कुछ सम्पद पावेगा। गरुडके उडनेमे दूसरे पक्षी जैसे उसकी चालका अनुसरण नहीं कर सकते, वैसे कोई नरनाथ इसके समान वीर्यवन्त नही हो सकेगा, जो इसकी विरुद्धता करेंगे,वे निश्चय ही मृत्युसे भक्षित होंगे। हे भूनाथ ! देवगणभी यदि इसकी ओर अस्त्र चलावे, तो पहाडमे ठोकर लगे हुए नदीवेगके समान इसको पीडा नही पहुचा सकेंगे। यह समस्त मूर्द्धा-

प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः॥ १०॥
एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥११॥
एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥
एष धारयिता सम्यक्चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १३ ॥
अस्याऽऽज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥
एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः॥१५॥
एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथाऽरिहन् ॥ १६ ॥
प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसंबन्धिभिर्वृतः ।
अभिषिच्य जरासन्धं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ।
अभिषिक्ते जरासन्धे तदा राजा बृहद्रथः ॥ १८ ॥

भिषिक्तोंके ऊपर प्रदीप्त होगा। सूर्य जैसे सब चमकीले पदार्थोंकी चमक नष्ट करता है, वैसेही यह सब भूपोंके सौभाग्यकी चमकको नष्ट करेगा, शलभ जैसे अग्निमें गिरकर मृत्युसे भेंटते हैं, वैसे बहुत बल वाहनवाले राजगण इसको हरानेमें आप नष्ट होंगे। (९–११)

वर्षाकालमें नदनदियोंके नाथ समुद्र जैसे उछलती जलभरी नदियोंको पकड लेता है वैसे यह राजोंकी उन्नत श्रीको स्वयं ले लेगा। सब प्रकार शस्य-धरी पृथ्वी जैसे शुभ तथा अशुभ सबको धरती है वैसे महाबली जरासन्ध चारों वर्णोंका धरनेवाला होगा। शरीरधारी जैसे सर्व भूतोंकी आत्मभूत वायुके वशमें रहते हैं, वैसे सब नरनाथ इसकी आज्ञाके अधीन रहेंगे। अधिक क्या कहूं, सब लोकोंमें अति बलवान यह मागध-प्रधान जरासन्ध त्रिपुर हनन, संसार-हरण महादेव रुद्रका दर्शन करेगा। (१२—१५)

हे शत्रु नाशि! मुनिने ऐसा कहते ही कहते मानो अपना कोई कार्य स्मरण कर नरनाथ बृहद्रथको बिदा कर दिया।

पत्नीद्वयेनाऽनुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १९ ॥
ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते ।
जरासन्धः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद्वशे ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच--अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत्तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २१ ॥
जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् ।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २२ ॥
निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ ।
जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै॥ २३ ॥
भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत ।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥२४ ॥
तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याऽद्भुतकर्मणः ।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग्गदा चैव निवेदिता ।
गदावसानं तत्ख्यातं मथुरायाः समीपतः॥ २६ ॥

मगधनाथ भी नगरमें जाय ज्ञाति कुटुम्बोंको साथ लेय जरासन्धको मगधराज्यमें बैठाय बडे प्रसन्न हुए। जरासन्धके राज्य पर बैठने पर राजा बृहद्रथ दो राणियोंके साथ वनको पधारे। हे प्रजानाथ! पिता तथा दोनों माताओंके वनमें जाने पर जरासन्ध अपने वीर्यके प्रभावसे सब नरनाथोंको वशमें लाया। (१९—२०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि नरनाथ बृहद्रथ तपोवनमें बहुत दिन तपकर दोनों पत्नियोंके संग स्वर्गको सिधारे। नवीन राजा जरासन्ध कौशिकके वचनानुसार सब वर पाकर राज्य पालने लगा। हे भरतनन्दन! उस कालमें जरासन्धके स्वजन भूनाथ कंसके वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णसे मारे जाने पर उनके साथ जरासन्धकी शत्रुता उभडी। बलवन्त मगधनाथने उस शत्रुतासे गिरिव्रजसे एक बडी भारी गदा निनानवे बार घुमाके मथुरामें टिके आश्चर्य कर्म करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके नाममें फेंकी। वह सुहावनी गदा निनानवे योजनकी दूरी पर मथुराके निकट गिरी। पुरवासियोंने भले प्रकार देखके गदा गिरनेका वृत्तान्त श्रीकृष्णचन्द्रसे कह सुनाया। मथुराके निकट जिस ठौरमें वह गदा गिरी थी, वह गदावसान नाममें प्रख्यात हुई। (२१–२६)

तस्याऽऽस्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रविशारदौ॥ २७ ॥
यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः॥ २८ ॥
एवमेष तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥ २९ ॥ [७९१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९॥ समाप्तं च राजसूयारम्भपर्व॥

अथ जरासन्धवधपर्व ॥

वासुदेव उवाच —पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः ।
जरासन्धस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥
न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः ।
प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे ॥ २ ॥
मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चाऽऽवयोर्जयः ।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाऽग्नयः॥ ३ ॥
त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।

महाराज! हंस और डिम्भक जो दो पुरुष जरासन्धके सहाय थे, वे शस्त्रसे मारे जानेके अयोग्य, मन्त्रणामें बडे बुद्धिमान और नीति-शास्त्रमें पण्डित थे। उन अति बलवन्त दोनों वीरोंकी कथा मैंने पहिले आपसे कही है, कि हंस, डिम्भक और स्वयं जरासन्ध इन तीनोंके मिलनेसे ऐसा ज्ञान पडता है, कि त्रिलोक भी उनके समान नहीं होसक्ता था ! कुकुर,अन्धक और वृष्णिवंशियोंने पराक्रमी होने परभी केवल इस कारणसे नीतिके लिये जरासन्धको तुच्छ समझा था। (२७—२९) (७९१)

उन्नीस अध्याय और राजसूयारम्भपर्व समाप्त ।

बीस अध्याय और जरासन्ध वध पर्व ।

श्रीवासुदेवजी बोले, कि हे युधिष्ठिर! हंस और डिम्भकने जलमें डूबके प्राण छोडे हे और कंस भी सहाय सहित मारा गया, सो जरासन्ध-वधका यही ठीक अवसर है । सब सुरासुरभी उसको खुला खुली लडाईमें परास्त नहीं कर सक्ते; अतएव उसका भुजयुद्ध मे ही जय करना उचित है । मुझमें नीति है; भीममे बल है और अर्जुन हमारी रखवारी करेंगे । अतएव तीन अग्नि जैसे यज्ञको पूरा करते हैं,वैसे हम जरासन्धकी मृत्यु पूरी

न संदेहो यथा युद्धमेकेनाऽप्युपयास्यति ॥ ४ ॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति ॥ ५ ॥
अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायाऽन्तको यथा ॥ ६ ॥
यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि ।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच - एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ॥ ८ ॥
युधिष्ठिर उवाच - अच्युताऽच्युत मा मैवं व्याहराऽमित्रकर्शन ।
पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाऽऽश्रिता वयम् ॥ ९ ॥
यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते ।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी ॥ १० ॥
निहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षितः ।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥

करेगे। हम तीनों निरालेमें उससे भिडे तो वह हममेंसे एक न एकसे अवश्यही द्वन्द्व युद्धमें लगेगा; अपमान, लाभप्रकाश और भुजवीर्य देखके दर्पयुक्त होकर वह निश्चय भीमसे लडनेके लिये कमर कसेगा। (१-५)

लोकोंके स्वभावहीसे उझले रहनेसे मृत्यु जैसे उनको नष्ट कर देती है, वैसे अति बलवन्त महाभुज भीमसेनभी उस उझले स्वभावी जरासन्धको नष्ट करनेको समर्थ होंगे। महाराज! आप यदि मेरा हृदय जानते हो और मुझ पर आपका विश्वास रहे, तो और विलम्ब न करके भीमार्जुनको मेरे पास न्यासकी भांति सौंप दीजिये। (६-७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि नारायण से यह कहे जाय और भीमार्जुनको प्रसन्न-मुखसे बैठे देखकर युधिष्ठिरने सम्भ्रम सहित उत्तर दिया, कि हे शत्रुनाशी अच्युत! तुम मुझसे ऐसा मत कहो; तुम पाण्डवोंके नाथ हो, हम तुम्हारी शरणमें है। हे गोविन्द! तुम जो कहते हो, सब युक्तियुक्त है, क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी जिससे मुह मोडती है, तुम कभी उनके आगे नहीं जाते हो। हे जगन्नाथ! तुम्हारी इशारेकी बातोंसे मुझको यह जान पडता है, कि मानो मैंने जरासन्धको मार लिया, भूपालोंको बचाया और राजसूय यज्ञभी लाभ किया है। (८-११)

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत्कार्यं समुपपद्यते ।
अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम ॥ १२ ॥
त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाऽहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मार्थकामरहितो रोगार्त इव दुःखितः ॥ १३ ॥
न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना।
नाऽजेयोस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः॥ १४॥
अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः ।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥१५॥
सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम् ।
अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः॥ १६ ॥
यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम्।
यतश्छिद्रं ततश्चाऽपि नयन्ते धीवरा जलम्॥ १७ ॥
तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम ।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये॥ १८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! अब अप्रमत्त मनसे यही करो, कि जिससे वर्त्तमान कार्य पूरा हो! क्योंकि तुम तीनों के विना मैं धर्मार्थ-काममें वर्जित रोगोंसे पीडित जनकी भांति जीनेका साहस नहीं कर सकता। मेरा स्थिर निश्चय यह है, कि जैसे श्रीकृष्ण विना पार्थ नहीं रह सकते और पार्थ विना श्रीकृष्ण भी रह नहीं सकते वैसे कृष्णार्जुनके जीतनेके अयोग्य त्रिलोक भरमें कोई नहीं है। और यह श्रीमान वृकोदरभी बलवन्तोंमें प्रधान है। यह अति यशो-वन्त वीरवर तुमसे मिलकर क्या नहीं कर सकते? अच्छे नायकसे चलाये जानेहीसे सेनायें भली भांति कार्य पूरा करती है। विनानायक सेनाको पण्डित लोग जड अर्थात् तुच्छ समझते हैं, सो बुद्धिमान सैनिकोंहीको सेना चलानी चाहिये। (१२-१६)

जहां भूमि नीची होती है, बुद्धिमान जन उसी ओरको जल ले जाते हैं; मल्लाह भी जहां गड्ढा रहता है, वहीं जल ले जाते है। ऐसेही बुद्धिमान सैनिकगण शत्रुकी निचाई और चूक समझकर सेना चलाते है.सो नियमकी विधि जानने वाले पुरुषकार रखनेवाले; त्रिलोकमें प्रख्यात गोविन्दको अवलम्ब कर अवश्य कार्य पूरा करनेका प्रयत्न करेंगे। जो कार्य पूरा करनेकी प्रार्थना करते हैं, उनको ऐसी बुद्धि, नीति, बल, क्रिया और उपाय रखनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रही को

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम् ।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥
एवमेव यदुश्रेष्ठं यावत्कार्यार्थसिद्धये ।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम्।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच - एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः॥ २२ ॥
अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् ।
रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत्तदा वपुः ॥ २३ ॥
हतं मेने जरासन्धं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥
ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ ।
धर्मकामार्थकार्याणां लोकानां च प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥
कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।

आगे बढाना चाहिये । पृथापुत्र अर्जुन भी कार्य पूरा करनेके लिये ऐसे गुणनाथ यदुनाथ श्रीकृष्णही के साथ चले और भीम भी अर्जुनकी बाट ले, ऐसा होनेहीसे नीति, विक्रम और बलके विषय में सिद्धि प्राप्त होगी । (१७--२०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि युधिष्ठिर से यह कहे जाय, अति तेजोवन्त श्रीकृष्णचन्द्र, और अर्जुन तीनों भाई मित्रो के मनभावन वचनसे सम्भाषित होके वर्चस्वी स्नातक ब्राह्मणोंके वस्त्र पहिरकर मगधनाथके धामकी ओर चले । उनकी देह सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान स्वभावहीसे अति तेजोपूरित थी, फिर तिस पर ज्ञातियोंके कार्यके लिये उस-काल उनके कोपसे जल उठने पर वह और भी प्रदीप्त हो गयी । युद्धमे हार न खानेवाले भीमके सहित श्रीकृष्ण और अर्जुनको कार्यमे दत्तचित्त देखकर जरासन्ध-वधके विषयमें लोगोंका तुकभी सन्देह नहीं रहा। क्योंकि वही दो महात्मा सब कार्योंको करनेके ईश्वर है,केवल सब कार्य्य ही के नहीं वरण वे धर्मार्थ काम मोक्षके भी कर्त्ता है।(२१-२५)

वे कृष्णार्जुन और भीमसेन कुरुदेशसे पधारकर कुरुजाङ्गलके बीचसे हो कर

रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च ।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याऽव्रजन्त ते ॥ २७ ॥
उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां मालां चर्मण्वतीं नदीम् ॥ २८ ॥
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥ २९ ॥
ते शश्वद्गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥ [८२१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीवासुदेव उवाच--एष पार्थ महान्भाति पशुमान्नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥ १ ॥
वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाऽभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥

सुन्दर पद्मसरोवरको गये; आगे कालकूट को पीछे छोड़के गण्डकी सदानीरा, महाशोण ये एक पहाड़ीकी नदियोंको क्रमसे पार करते हुए चले ! अनन्तर वे मनहरणी सरयूके पार उतरकर पूर्व कौशल देशको निहार मिथिला तथा माला और चर्मण्वती नदीको पारकर आगेको चले, गङ्गा और शोणके पार उतरकर वे अजय उत्साहसे पूरित तीनों वीर उस समय पूर्व दिशाको पधारके कुश और वल्कल परिधान कर मगधराज्यके छोरमें आ पहुंचे । अनन्तर उन्होंने जलभरे, गौपूरे, सुन्दरवृक्ष धरे, गोरथ नामक पर्वतमें उतरकर मगधनाथकी पुरी देखी । (२६--३०) [८२१]

सभापर्वमें बीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें इक्कीस अध्याय।

श्रीवासुदेवजी बोले कि हे पार्थ ! यह देखो, मगधराज्यकी राजधानी कैसी सुन्दर शोभा पाती है । यह अनेक पशुभरी, सदा जलपूरी, उपद्रवोंसे रहित और अच्छे अच्छे भवनोंसे सुशोभित है । ऊंचे ऊंचे चोटी लिये ठण्डे वृक्षवाले एक दूसरेसे मिले वैहार, वराह, वृषभ,

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोरमैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥ ४ ॥
शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः।
औशीनर्यामजनयत्काक्षीवाद्यान्सुतान्मुनिः ॥ ५ ॥
गौतमस्य क्षयात्तस्मादथाऽसौ तत्र सद्मनि ।
भजते मानवं वंश स नृपाणामनुग्रहः ॥ ६ ॥
अङ्गवङ्गाद्यश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुराऽर्जुन ॥ ७ ॥
वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकःसमीपजाः॥८॥
अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्याऽऽलयश्चाऽत्र मणिनागस्यचोत्तमः॥९॥
अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाऽप्यनुग्रहम्॥१०॥
एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः ।

ऋषिगिरि और चैत्यक यह पांच बडे बडे पर्वत मानो एक गृह बनके गिरि-व्रज नगरीकी रखवारी कर रहे है; शाखाओंके अगले भागमें फूल लगे, सुगन्ध फैलाये मनहरण कामी जन प्रेमधन लोध वनोंने मानों उन पहाडोंका ताप रखा है। (१--४)

वहां प्रशमित व्रतधारी महात्मा गौतममुनिने शूद्राणी औशीनरीमें काक्षीवानादि पुत्रोंको उपजाया था। गौतमके वीर्य और शूद्राणीके गर्भमें जन्म लेकर के भी उस वंशके उस भवनमें राजवंश होनेका कारण यही कहना चाहिये, कि राजों पर गौतमकी कृपा थी। हे अर्जुन पूर्वकालमें अति पराक्रमी अङ्ग वङ्गादिक राजगणभी इन गौतमकी कुटीमें आनकर प्रमुदित होते थे। वह देखो, गौतमजीके आश्रमके निकट लोध्र और पीपलके वन कैसी सुन्दर शोभा दे रहे है। (५—८)

यहां अर्बुद और शक्रवापी नामके दो शत्रुतापी नागोंके और स्वस्तिक तथा मणि नागके भवन बने है; भगवान मनुने मागधियोंको ऐसे रचा है, कि कभी उनसे बादलोंकी कृपा नहीं जाती, कदापि उनको जलका कष्ट नहीं होता और कौशिक तथा मणिमानने भी इन पर बडी दया दिखायी है। इस प्रकार सब भांतिसे

अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासन्धोऽभिमन्यते॥ ११ ॥
वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेम हि ।
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ॥ १२ ॥
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम्।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यजनाकुलम् ॥ १३ ॥
स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ।
ततो द्वारं समासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम्॥ १४॥
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः ।
मागधानां तु रुचिरं चैत्यकान्तरमाद्रवन् ॥ १५ ॥
यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः ।
तं हत्वा मानतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत्॥ १६ ॥
स्वपुरे स्थापयामास तेन चाऽऽनह्य चर्मणा ।
यत्र ताः प्राणदन्भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः॥ १७॥
भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन्।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानायुधास्तथा ॥ १८ ॥
मागधानां सुरुचिरं चैत्यकं तं समाद्रवन् ।

कठोर सुन्दर श्रेष्ठपुरको पाकर जरासन्ध अनुपम अर्थ पानेमें कोई शङ्का नहीं करता है, पर आज हम चढ कर उसका अहङ्कार चूर चूर कर देंगे। (९—१२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि ऐसा कह सुनकर अति बलवन्त वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण-चन्द्र और भीमार्जुन दोनों भाई मिलके मगधपुरकी ओर चले आगे वे हृष्ट जनोंसे भरे सदा उत्सव करते हुए, औरोंकी नवके अयोग्य चारों वर्ण पूर्ण गिरिव्रजनगरमें जा पहुंचे और पुरके द्वार निकट न जाकर राजा बृहद्रथके परिवार तथा नगरवासी प्रजाओंसे पूजी जाती हुई, मागधोंकी प्यारी, ऊंची चैतक चोटीको भेद दिया। (१३—१८)

उस स्थानमें राजा बृहद्रथने मांसाद ऋषभदैत्यपर चढाई की थी और उसको हननकर उसके चमडेसे तीन भेरीको ढप करके अपने पुरमें लटकाया था। वे तीन भेरी इतनी बडी थीं, कि एकबार पीटनेसे मासभर उनकी धुन सुन पडती थीं। वे दिव्य फूलोंसे सजायी जाती जहां सजती थीं, जरासन्धके वध चाहने वाले कृष्णादिने मानों उसके सिर पर चोट लगाय मागधों की प्यारी उस चैतक चोटीको तोड डाला, फिर नाति

शिरसीव समाघ्नन्तो जरासन्धं जिघांसवः ॥१९॥
स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत्तत्पुरातनम् ।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम्॥ २० ॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याऽभ्यपातयन्।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २१ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासन्धमदर्शयन् ॥ २२ ॥
पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः ।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासन्धः प्रतापवान्॥२३॥
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ।
स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ॥ २४ ॥
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासन्धेन भारत ।
भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् २५॥
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ।
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः॥२६॥
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्ण भीमधनंजयाः ।
बलाद्गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः॥२७॥

जमी, अति कठोर, बडी भारी और सुहावनी जो पुरानी चोटी गन्धमालादि-से सदा पूजी जाती थी, उक्त तीन वीरोंने अपरिमित भुजबलसे उसको धक्का मारके गिरा दिया और इसके पीछे प्रसन्न मनसे मगधपुरमें जा घुसे। १९-२१

ऐसे समयमें वेदपारग पुरोहित ब्राह्मणोंने कुछ बुरे चिन्ह देख कर नरनाथ जरासन्धको दिखाये और गजपर चढाय नीराजना अर्थात् जलती हुई लकडीसे आरती की। प्रतापी राजा जरासन्धभी उस अशुभकी शान्तिके लिये दीक्षित और नियमयुक्त उपवास पर हो रहे। इधर स्नातक व्रतधारी, बिना अस्त्र भुजमात्र अस्त्र-सहित कृष्णार्जुन और भीम नगरमें आय घुसे। हे भरतनन्दन ! वे राजमार्गसे चलते समय अपने भोजनकी सामग्री और मालाओंकी सर्वगुणयुक्त और सर्वकाम-पूर्ण अति सुहावनी शोभा देखने लगे। (२२—२५)

राजमार्गमें वैसी समृद्धि निहारके उन महाबली नरवरोंने मालाकारसे बलपूर्वक माला छीन ली और इसी प्रकारसे राग युक्त सुन्दर चीर, माला और भले भले

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः।
निवेशनमथाऽऽजग्मुर्जरासन्धस्य धीमतः ॥ २८ ॥
गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा॥ २९ ॥
शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूपिनाः।
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ॥३०॥
तान्दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्छालस्कन्धानिवोद्गतान्।
व्यूढोरस्कान्मागधानां विस्मयः समपद्यत ॥ ३१ ॥
ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥ ३२ ॥
तान्पाद्यमधुपर्कार्हान्गवार्हान्सत्कृतिं गतान्।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ॥ ३३ ॥
उवाच चैतान्राजाऽसौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः।
मौनमासीत्तदा पार्थभीमयोः जनमेजय ॥ ३४ ॥
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णः वचनमब्रवीत्।
वक्तुं नाऽऽयाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥३५॥
अर्वाङ्निशीथात्परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः।
यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ॥ ३६॥
ततोऽर्धरात्रे संप्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः।

कुण्डल धर हिमाचलके सिंह जैसे गोशाला देखते हुए जाते है, वैसे जरासन्धके भवनमे गये। महाराज! उन युद्धदक्ष तीनों वीरोके अगुरु चन्दनसे सुशोभित भुज शाल वृक्षके समान सोहने लगे। (२८-३०)

मगधपुरके निवासी उनको बृहत मत्त हस्तीके समान शालस्कन्ध महत् ऊंचे और किवाडकी भांति छातीवाले देखकर अचम्भे होगये। नरश्रेष्ठ कृष्णादि जनभरी तीन कक्षाओंको पीछे छोड कर निश्चिन्त हृदयसे अहङ्कारकी उमङ्गसे जरासन्धके निकट जा पहुंचे। प्रतापी राजा जरासन्ध उसी क्षण उठकर यह सम्भाषण कर, कि 'आपका शुभागमन होवे' पाद्य, मधुपर्क और गोदानके योग्य पूजनीय कृष्णादिका विधिपूर्वक सत्कार किया। हे जनमेजय! उस काल पार्थ और भीम मौन साधे थे, उनमें बडे बुद्धिमान श्रीकृष्णचन्द्र जरासन्धसे यह बोले, कि हे नरनाथ! यह नियमयुक्त है, सो इस समय कुछ बात नहीं बोलेंगे। आधी रात्रि बीतने पर तुमसे वार्तालाप करेंगे। (३१-३६)

तस्य ह्येतद्व्रतं राजन्बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३७ ॥
स्नातकान्ब्राह्मणान्प्राप्ताञ्छ्रुत्वा स समितिंजयः ।
अप्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ॥ ३८ ॥
तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासन्धो विस्मितश्चाभवत्तदा ॥ ३९ ॥
ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासन्ध नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ ४० ॥
स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ४१ ॥
तानब्रवीज्जरासन्धस्तथा पाण्डवयादवान् ।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥४२॥
अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ।
संप्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाऽग्नयः ॥४३॥
तानुवाच जरासन्धः सत्यसन्धो नराधिपः ।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणवैकृतान् ॥ ४४ ॥
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन्विदितं मम सर्वशः ॥ ४५ ॥

राजा जरासन्ध उनको यज्ञशालामें टिकाय राजभवनमें गया । आगे आधी रात आपहुंचे पर, उन द्विजोंके पास आया' महाराज! समरविजयी नरनाथ जरासन्ध का यह दृढ व्रत था, कि स्नातक ब्राह्मण आधी रातको भी आवें तोभी उस समय सुनतेही वह आकर उनसे भेट करता था । नृपवर जरासन्ध कृष्णादिके निकट पहुंचकर उनका अद्भुत वेश देखके अचम्भेमें होगया । हे भरतश्रेष्ठ! यज्ञशालामें टिके उन शत्रुनाशी नरश्रेष्ठोंने राजा जरासन्धको देखतेही एक दूसरेके मुख देख कर उससे यह कहा, कि हे महाराज! विना विघ्न तुमको मोक्षपद मिल जावे! जरासन्धने कृत्रिम ब्राह्मण वेशधारी यादव और पाण्डवोंको बैठने को कहा । वे सब भी बैठकर महायज्ञके तीन अग्नियोंके समान शोभासे जलने लगे । (३६---४३)

हे कुरुनन्दन! अनन्तर नरनाथ सत्य शर ठाननेवाला जरासन्ध गुप्तवेशधारी श्रीकृष्णादिकी निन्दाकर बोला, कि इस नरलोकमें सब प्रकारसे मुझे विदित है, कि स्नातक व्रतधारी ब्राह्मण गृहस्थों

के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ।
बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ ॥ ४६ ॥
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥ ४७ ॥
चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना ।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात्॥४८॥
वदध्वं चापि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
कर्म चैतद्विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम्॥ ४९॥
एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनाऽर्हणाम् ।
प्रणीतां नाऽनुगृह्णीत कार्यं किं वाऽस्मदागमे॥ ५०॥
एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः॥५१॥

कृष्ण उवाच — स्नातकान्ब्राह्मणान्राजन्विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप ।
स्नातकव्रतिनो राजन्ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥ ५२ ॥

धर्ममें प्रवेश कालके बिना मालादि नहीं धारण करते; पर देखता हूं, कि तुम फूल लगाये हो, और भी तुम्हारी हथेलियोंमें धनुषमें गुण चढानेके चिन्ह बने है.सो तुम कौन हो ? तुममें क्षत्रिय तेज है, पर ऐसे विचित्र रागयुक्त चीर पहिरे और अनुचित माला लटकाये गन्ध लगाय अपनेको ब्राह्मण कहाते हो, सो सच कहो तुम कौन हो ? क्यों- कि राजोंके लिये सत्यहीकी बडी शोभा है । तुम राजाके अनिष्ट करनेका भय न खाकर चैतक पर्वतकी चोटीको भेदकर क्यों बुरे द्वारसे पुरमें आ घुसे हो ? ब्राह्म- णका वीर्य वातहीसे प्रकट होता है, कार्य से नहीं, सो तुम्हारा यह कार्य विलिङ्ग- स्थ अर्थात् क्षत्रिय--योग्य हुआ है । अतएव कहो, कि आज तुम्हारा क्या अभिप्राय है और तुम इस अनुचित व्यव- हारसे मेरे पास आकर क्यों मेरा दिया हुआ विधिसम्मत सत्कार नहीं लेते हो और मेरे पास आनेका प्रयोजन ही क्या है ? (४४–५०)

जरासन्धके ऐसे कहने पर महामना वक्तृवर श्रीकृष्ण चन्द्रने कोमल गम्भीर स्वरसे उत्तर दिया , कि महाराज ! तुम हमको स्नातक ब्राह्मण करके ही जानो । हे नरनाथ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्ण ही स्नातक नियमसे रह सकते हैं और उनमें विशेष और अविशेष दोनों प्रकारके सब नियम रह-

विशेषानियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत ।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रिय. श्रियमृच्छति ।
पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम् ॥५३॥
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद्बार्हद्रथेरितम ॥ ५४ ॥
स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत् ।
तद्दिदृक्षसि चेद्राजन्द्रष्टाऽस्यद्य न संशयः ॥ ५५ ॥
अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान् ।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥५६॥
कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नाऽर्हणां वयम ।
प्रतिगृह्णीम तद्विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५७ ॥ [८७८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णजरासन्धसंवादे एकविंशोऽध्याय ॥२१॥

जरासन्ध उवाच– न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥१॥
वैकृते वाऽसति कथं मन्यध्वं मामनागसम्।

सकते है। और उनमें विशेष नियमवाले क्षत्रिय सदा सौभाग्य प्राप्त करते है,और भी फूल लगाये जन निश्चय श्रीमन्त होते है. सो हमने फूल हार लटकाये हैं। हे बृहद्रथपुत्र ! क्षत्रिय लोग भुजसे जितना वीर्य प्रकाश करते है, बातमे उतना नहीं करते ; अतएव उनके उच्चारे वचन कभी प्रगल्भ नही होते। (५१—५४)

हे महाराज ! विधाताने क्षत्रियोके दोनो भुजोमें ही अपना वीर्य भर दिया है, यदि वह देखना चाहो तो विना सन्देह निश्चयही देखोगे। बुद्धिमान जन शत्रुके घरमे कुद्वारसे और बन्धुके गृहोमे अच्छे द्वारसे जा घुसते है, यही धर्मशास्त्रकी विधि है ; और यह भी जान लो, कि कार्य सिद्धिकी चाहसे शत्रुके घरमे घुसकर हम उसकी दीहुई पूजा नहीं लेते, यह हमारा सदासे प्रसिद्ध नियम है। (२५--५७) [८७८]

सभापर्वमे इक्कीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमे बाईस अध्याय।

जरासन्ध बोले, कि हे विप्रवरो ! स्मरण नहीं होता, कि मैने तुमसे कब शत्रुता की है , और यह सोचकर जान नहीं सकता हूं, कि तुमसे कभी बुराई की है। यदि हानि नहीं की हो,तो सच

अरिं वै व्रत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥
अर्थधर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते ।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः॥ ३ ॥
अतोऽन्यथा चरँल्लोक धर्मज्ञः सन्महारथः ।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥
त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्वै साधुचारिणाम् ।
नाऽन्यं धर्मं प्रशसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥
तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः ।
अनागमः प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥

कृष्ण उवाच— कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः ।
वहते यस्तन्नियोगाद्वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥
त्वया चोपहृता राजन्क्षत्रिया लोकवासिनः ।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम ॥ ८ ॥
राजा राज्ञः कथं साधून्हिंस्यान्नृपतिसत्तम ।
तद्राज्ञः संनिगृह्य त्व रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥

कहा कि बिना दोष तुम क्यों मुझको शत्रु समझते हो। क्योंकि सत्य कहनाही साधुओंका नियम है। देखो धर्माथमें चोट देनेसे मनमें दुःख छा जाता है, सो महारथी क्षत्रिय और धर्मके जानकार होके जो निर्दोषी जन पर उस धर्मार्थमें चोट पहुचानेका कलङ्क लगाता है, वह बिना सन्देह पापियोंकी गतिको प्राप्त करता है और कल्याणसे भी अपनेको हटा लेता है। (२—४)

त्रिलोकमें क्षत्रिय-धर्म साधु व्यवहारियोंको शुभ पहुचाता है, धर्मके जानकार लोग क्षत्रियोंके धर्मकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, सभी भांति अपने आत्माको सयत कर उस क्षत्रियधर्ममें लगा हूं, और प्रजाओंके सामनेभी निर्दोषी हूं, इस परभी तुम मुझ पर धर्मार्थमें चोट पहुंचानेकी कलङ्क लगाते हो, इससे निश्चय जान पडता है, कि तुम भ्रमवश ऐसी कल्पना करते हो। (५-६)

श्रीकृष्णचन्द्र बोले, कि हे महाभुज! कुलप्रवर कोई एक पुरुष कुलकार्यको वहन करते हैं, उन्हीकी आज्ञासे हम तुम पर चढ आये हैं। हे महाराज! तुम जन समाजके सब क्षत्रियोंको बलपूर्वक पकड लाये हो, ऐसा अति उत्कट दोष करके क्योंकर अपनेको निर्दोषी समझ रहे हो? हे नृपवर! राजा राजाके क्यों कर ...

अस्मांस्तदेनोपगच्छेत्कृतं बार्हद्रथ त्वया ।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥
मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥
सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि ।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासन्ध वृथामतिः ॥१२॥
यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत्कर्म करोति यः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समवाप्नुयात् ॥१३॥
ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः ।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहाऽऽगताः॥१४॥
नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव यत् ।
मन्यसे स च ते राजन्सुमहान्बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥
को हि जानन्नभिजनमात्मवान्क्षत्रियो नृप ।
नाऽऽविशेत्स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥
स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः ।

राजोंकी हिंसा कर सकता है ? पर तुम उन राजोंको सताके रुद्रदेवके नामसे बलि चढाना चाहते हो । (७-९)

हे जरासन्ध! तुम्हारा किया वह पाप हमको स्पर्श भी कर सकता है, क्योंकि हम धर्म आचरनेवाले है, और धर्मको रक्षामेंभी समर्थ है । बलि चढानेके लिये नरहत्या तो कभी देखा नहीं गयी, फिर तुम क्यों कर नरबलिके द्वारा शङ्करके नाममें यज्ञ किया चाहते हो ? जरासन्ध ! तुम बडे मूर्ख हो, इसी लिये सवर्ण होके सवर्णों को पशु नाम दिया चाहते हो । तुम्हारे विना दूसरा कौन ऐसा कर सकता है ? जो जैसा कर्म करता है, वह उस कार्यका फल पाता है; अतएव हम भयभीत जनोंका पक्ष लेकर ज्ञातियोंकी वृद्धिके लिये, ज्ञाति नाशी तुमको नष्ट करनेके लिये यहां आये है। (१०-१४)

हे महाराज ! तुम्हारी यह समझ, कि क्षत्रियोंमें तुम्हारे विना दूसरा वीर नहीं है, वह केवल तुम्हारी बुद्धिकी हीनता है ; क्योंकि अपनी वंशमर्यादाको समझ बूझकर कौन आत्मावान क्षत्रिय रणमें प्राण छोडके अनन्त अक्षय स्वर्ग पाना नहीं चाहता होगा ? हे नरवर ! तुम यह निश्चय जानते हो, कि स्वर्गके उद्देशसे क्षत्रियगण रणयज्ञमें दीक्षित होके लोकोंको परास्त करते है । महान् वेद

जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद्विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥
स्वर्गयोनिर्महद्ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद्यशः ।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥
एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः ।
येनाऽसुरान्पराजित्य जगत्पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥
स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद्विग्रहो वै यथा तव ।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ॥ २० ॥
माऽवमंस्थाः परान्राजन्नाऽस्ति वीर्यं नरे नरे ।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ॥ २१ ॥
यावदेतदसंबुद्धं तावदेव भवेत्तव ।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन्ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥
जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध ।
मागमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥
दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः ।

पढना, महान् यश, तपस्या और युद्धमें मृत्यु यह सब ही स्वर्ग पानेके कारण है, उनमें वेद पठनादिसे स्वर्गलाभ नहीं हो सकता है, पर युद्धमें मरनेसे वैसा होनेकी असम्भावना नहीं है, वह स्वर्गप्राप्तिका निसन्देह कारण है। युद्धमें मृत्यु साक्षात इन्द्र सम्बन्धी कृपाके समान है, वह सदा गुणोंसे भरी है; ऐसी मृत्यु लाभ करके ही इन्द्र दैत्योंको परास्त करके जगतको पालते हैं। (१७—१९)

हे महाराज! तुम्हारा विग्रह जैसा स्वर्गकी राहका मार्ग है, वैसा फिर किसका हो सकता है? क्योंकि तुम अगणित मागधी सेना, औरों से बलवान और बहुत बडे बलदर्पसे भरे हो। इसलिये हे नरनाथ! तुम दूसरे लोकोंका अनादर मत करो, क्योंकि मनुष्य मात्र में वीर्य नहीं होता। ऐसे कितने ही मनुष्य विद्यमान हैं, जो तुम्हारे समान वा तुमसे अधिक वीर्यवान हैं! यह बात जबतक अविदित है, तब तक तुम्हारा तेज गिना जा सकता है, पर हे महाराज! यह तेज हमारे लिये बहुत असह्य है, इसी लिये मैं ऐसा कहता हूं। हे मागध! तुम अपने समान जनोंसे अभिमान और दर्प करना छोड दो। पुत्र, मन्त्री और सेनाओंके साथ झटपट यमराजके घर मत जाओ। (२०—२३)

देखो, अहङ्कारसे उछला कार्तवीर्य, उत्तर, बृहद्रथ आदि बली भूप अपनेसे

श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥
मुमुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्॥२५॥
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरो पाण्डवाविमौ ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्ण मां विद्धि ते रिपुम्॥२६॥
त्वामाह्वयामहे राजन्स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन्सर्वान्गच्छ वा त्वं यमक्षयम्॥२७॥

जरासन्ध उवाच—नाऽजितान्वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः॥२८॥
क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत्समाचरेत् ॥२९॥
देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ ३० ॥
सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येयं युगपत्पृथगेव वा॥३१॥

वैशम्पायन उवाच--एवमुक्त्वा जरासन्धः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत्तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३२ ॥

बडे लोगोंका अपमान कर मारे गये है। हम वास्तवमें ब्राह्मण नहीं है, केवल छलसे तुम्हे हननेको ब्राह्मण वेश लिया है। मैं हृषीकेश कृष्ण हूं और यह दो वीर पाण्डुके पुत्र है। हे मगधनाथ ! हम तुमको ललकारते है, स्थिर होकर लड, अथवा सब भूपोंको छोड दो और नहीं तो यमघरको जाओ। (२४-२७)

जरासंध बोला ; कि अहो कृष्ण ! मै विना जय किये किसी भूपको नहीं पकडता, विना हारे क्या कोई भी यहा बधा रहता है ? और ऐसा क्षत्रियही यहा कौन है, जो मुझसे पराजित नहीं हुआ ? यही क्षत्रियोंका उपजीव्य धर्म करके कहा गया है, कि विक्रमसे शत्रुओंको वशमें लाय जैसा चाहे व्यवहार करे। अतएव कृष्ण ! मै देवताके नामसे क्षत्रियोंको पकड लाके क्षात्रिय धर्म स्मरण कर हालमें भय खाय अब क्यों कर उन्हे छोड दे सकता हूं ? पर जो तुम युद्धकी बात कहते हो, मै व्यूहयुक्त सेनाओमे अथवा अकेले एकसे, दोसे वा तीनसे एकबारही वा अलग अलग चाहे जैसे हो लडनेको सम्मत हूं। (२८—३१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजा जरासन्धने यह कह भयावने कर्म करने

स तु सेनापती राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन्युद्ध उपस्थिते ॥ ३३ ॥
ययोस्ते नामनी राजन्हंसेति डिम्भकेति च ।
पूर्वं संकथिते पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३४ ॥
तं तु राजन्विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम् ।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३५ ॥
सत्यसन्धो जरासन्धं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ॥ ३६ ॥
नाऽऽत्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३७ ॥ [९१५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच--ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः ।
उवाच वाग्मी राजानं जरासन्धमधोक्षजः ॥ १ ॥
कृष्ण उवाच— त्रयाणां केन ते राजन्योद्धुमुत्सहते मनः ।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥
एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः ।

वाले कृष्णादिके साथ युद्ध करने पर होके अपने पुत्र सहदेवको राज्यमें बैठनेकी आज्ञा दी। हे भरतश्रेष्ठ! उस उपस्थित युद्धमें उसने कौशिक और चित्रसेन नामक सेनापतियोंको स्मरण किया। हे महाराज! पहिले इस नरलोकमें लोग उनको ही "हंस और डिम्भक यह लोकप्रख्यात नाम कहा करते थे। हे नृप! हलधरके अनुज पुरुषशार्दूल, सत्यसन्ध प्रभु, विभु, मधुसूदन श्रीकृष्णचन्द्र ने उस बलीश्रेष्ठ, शार्दूल समान पराक्रमी भूमण्डल भरमें और किसी भूपाल जरासन्धको युद्धमें भीमहीके योग्य, तथा यादवोंसे मारे जानेके अयोग्य, स्मरण कर ब्रह्माजीकी आज्ञा पालनेके लिये स्वयं उसे नष्ट करना नहीं चाहा॥ (३३-३७)

सभापर्वमें बाईसवां अध्याय समाप्त। [९१५]

सभापर्वमें तेईसवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर वचन कुशल यदुनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने युद्धमें प्रण ठाने हुए राजा जरासन्ध से यह पूछा, कि महाराज! हम तीनोंमें किससे तुम लड़ना चाहते हो? कौन तुमसे लडनेको सज्ज बन ले। श्रीकृष्णकी

जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥
आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च ।
धारयन्नगदान्मुख्यान्निर्वृतीर्वेदनानि च ॥
उपतस्थे जरासन्ध युयुत्सुं वै पुरोहितः ॥ ४ ॥
कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
समनह्यज्जरासन्धः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ५ ॥
अवमुच्य किरीटं स केशान्समनुगृह्य च ।
उदतिष्ठज्जरासन्धो वेलातिग इवाऽर्णवः ॥ ६ ॥
उवाच मतिमान्राजा भीमं भीमपराक्रमः ।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥ ७ ॥
एवमुक्त्वा जरासन्धो भीमसेनमरिन्दमः ।
प्रत्युद्ययौ महातेजाःशक्रं बल इवाऽसुरः ॥ ८ ॥
ततः संमन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली ।
भीमसेनो जरासन्धमाससाद युयुत्सया ॥ ९ ॥
ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः ।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकारिणौ ॥ १० ॥
करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।

यह बात सुनके उस तेजस्वी मगधनाथ ने भीमसे लडना चाहा। तब पुरोहित गोरोचना, माला और दूसरे माङ्गलिक पदार्थोंके साथ पीडा भगावनी चेत-जगावनी औषध लेके युद्धेच्छुक राजा जरासन्धके पास आये (१—४)

भीम–पराक्रमी मतिमान जरासन्ध यशोवन्त ब्राह्मणोंसे स्वस्त्ययन किये जाय क्षत्रिय धर्म स्मरणकर युद्धके लिये प्रस्तुत हुआ! वह किरीट उतारके केश बांधके हिलोडते हुए समुद्रके समान वेगसे उठ खडा हुआ और भीमसे बोला, भीम! तुमसे लडूंगा, देखो श्रेष्ठ जनसे हारनाभी अच्छा है। शत्रुमथन, अति तेजोवन्त जरासन्ध यह कहके बल नामक दैत्य जैसे इन्द्र पर दौडा था, वैसे उन की ओर दौडा। (५—८)

अनन्तर बली भीमसेन श्रीकृष्णसे परामर्श कर और उनसे स्वस्त्ययन किये जाय लडनेके लिये जरासन्धके पास जा पहुंचे। पीछे एक दूसरेकी पराजय चाहनेवाले भुज मात्र शस्त्र लिये हुए वे दोनों नरशार्दूल वीर अति प्रमुदित चित्त से एक दूसरेसे भिड गये! पहिले वे

कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥११॥
स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥१२॥
चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाऽशनिम् ॥१३॥
बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥१४॥
करसंपीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥१५॥
तलेनाऽऽहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम्॥१६॥
अङ्गेनाऽङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ॥१७॥
उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाऽऽक्षिपत्॥१८॥
सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।

एक दूसरेके कर थामके पादाभिवन्दन कर ताल ठोंक कर कक्षाओंसे कक्षाओंको कंपाय ललकारने लगे, दोनों करोंको गलेमें डार डार रगड़के देहसे देह रगड़ाय फिर ललकारते रहे और चित्रहस्तादि अर्थात हाथ सिकोड़ना, घूसा बनाना आदि करके और ताल ठोंकके गलेमें गला गालसे गाल रगड़के आगकी चिनगारी निकालकर मानो बिजली प्रकट की। (११-१३)

हे विभो! वे भुजमात्र अस्त्र लिये दोनों वीर बादल समान गर्जन करनेवाले एक दूसरेके ऊपर भी चोट मारके गर्जन करते हुए हस्तीकी भांति बाहुपाशादि अनेक प्रकारके बन्धन कर उरोहस्त अर्थात् छाती पर थप्पड़ मारना, पूर्णकुम्भ अर्थात एकत्रित उङ्गलियोंसे सिर पर मारना इत्यादि युद्धके कौशल दिखाके एक दूसरेके सिर पर लात मारने लगे और थप्पड़ोंसे घायल होय क्रोधसे उछले दो सिंहोंके समान एक दूसरेको देख देखके और बार बार पकड़ पकड़के लड़ने लगे। परस्पर अङ्गसे अङ्ग भुजोंसे भुज बान्ध फिर और पेटपर पेट लगाके परस्परको गिराया। सुशिक्षित दोनों वीर कमर, स्कन्ध, और पार्श्वभाग

संपूर्णमूर्च्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥ १९ ॥
तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥
तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥
शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ।
निरन्तरमभूत्तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥ २२ ॥
तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात्तथा ।
आसीत्सुभीमसंपातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥
उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनांवरौ ।
अन्योन्यस्याऽन्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २४ ॥
तद्भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपह्वरे ।
बलिनोः संयुगे राजन्वृत्रवासवयोरिव ॥ २५ ॥
प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योन्य जानुभिश्चाऽवजघ्नतुः ॥ २६ ॥
ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।

सिकोड सिकोडके दोनों करोंसे पेटको घेर अपने कण्ठ और छातीके निकट लाय इस प्रकारसे एक दूसरेको सताने लगे और सर्व मर्यादानाशी पीठ तोड, पूरी मूर्च्छा, दोनों भुजोंसे पूर्णकुम्भ तृणपीड, घूसोंके साथ मनमाना पूर्णवेग आदि नाना भांतिसे लडने लगे। १४-२०

हे नरशार्दूल ! उनकी लडाई देखनेके लिये उस समय पुरवासी महस्रो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यहांतक कि स्त्री और वृद्धभी वहां एकत्रित थे। भीड इतनी लगी कि वहा तिलभी स्थान न रहा ! तब लडते हुए वीरोंके भुके और उलट पुलटसे पहाड पर वज्र गिरनेके समान भयावना शब्द होने लगा। वे दोनो महाबली परस्पर विजयेच्छु थे और युद्धमें अति प्रसन्न होते थे, सो एक दूसरेकी चूक ढूंढ रहे थे। २१-२४

हे महाराज ! इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धमें जैसा हुआ था, वैसेही भीड भरे अखाडेमें लोगोंको हटाय भीम और जरासन्धकी वह भयावनी लडाई होने लगी। प्रकर्षण, आकर्षण, अनुकर्षण, विकर्षण आदि बहुविध पेचोंसे एक दूसरेको खींचने और जङ्घोंसे चोट पहुंचाने लगे। अनन्तर वे दृढ हाती तथा दीर्घ

पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ २८ ॥
कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥ २९ ॥
तद्वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्रमात् ॥३०॥
तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं संबोधयन्निव ॥ ३१ ॥
क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥३२
तस्मात्ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः ।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ३३ ॥
एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा ।
जरासन्धस्य तद्रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥
ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ ३५ ॥ [०५०]

इ० म० भारते ० वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धक्लान्तता त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

भुजबल कुश्तीमें तेज दोनों वीर अति घोर शब्दसे एक दूसरेकी निन्दा कर लोहेके परिघ समान भुजोंसे समाश्लिष्ट और संश्लिष्ट पाषाण सदृश अति कठिन आघातसे मारने लगे। महात्मा भीम और जरासन्धकी वैसी लडाई कार्त्तिक मासकी प्रथमा तिथिमें आरम्भ होय त्रयोदशी तक निशिदिन बिना रोकटोक बिना भोजन चली थी और चतुर्दशीकी रातको जरासन्धने थककर कुश्ती त्याग दी। (२७-३०)

जनार्दन राजाको युद्धमें थका देखकर भयावने कर्मचारी भीमको मानो उत्साहित करनेके लिये बोले, कि कुन्तीनन्दन! युद्धमें थके शत्रुको पीडा नहीं पहुंचायी जा सकती, क्योंकि पूर्ण रूपसे पीडित होनेसे वह अपना जीवन छोड सकता है सो इस दशामें राजाको भी पीडा नहीं देनी चाहिये, तुम तुल्यभावसे इनके साथ लडो। श्रीकृष्णके इशारेसे ऐसा कहने पर शत्रुनाशी वृकोदरने जरासन्धकी वैसी दशा समझके उसको

वैशम्पायन उवाच- भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम् ।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासन्धवधेप्सया ॥ १ ॥
नाऽयं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम्।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा ॥ २ ॥
एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम् ।
त्वरयन्पुरुषव्याघ्रो जरासन्धवधेप्सया ॥ ३ ॥
यत्ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः ।
बलं भीम जरासन्धे दर्शयाऽऽशु तदद्य वै ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तदा भीमो जरासन्धमरिन्दमः ।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः ॥ ५ ॥
भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ॥ ६ ॥
करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः ॥ ७ ॥
तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः ।
अभवत्तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयङ्करः ॥ ८ ॥
वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः ।

हनना चाहा। अनन्तर औरोंकी जयके अयोग्य उस जरासन्धको वधनेके लिये बलियोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दनने बडा उत्साह किया। (३१—३७) (९५०)

सभापर्वमें तेइस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें चौबीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर भीमसेन जरासन्धको नष्ट करनेकी इच्छासे अति उत्साह लेके यदुनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रसे बोले, कि हे यदुशार्दूल कृष्ण! यह पापात्मा जरासन्ध वशमें मेरे कटिबद्ध होनेपर भी मेरे बलसे दबाया नहीं जा सकता है। पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णने वृकोदरकी यह बात सुनके जरासन्धके वधके लिये मानो उनको शीघ्रता दिखानेको कहके यह उत्तर दिया, कि हे भीम! तुम्हारा जो परम दैवी बल है और पवनसे तुमने जो बल लाभ किया है वह आज जरासन्ध पर शीघ्र दर्शाओ। (१ ४)

शत्रु दमन महाबली भीमसेन ऐसा कहे जाय उस समय बली जरासन्धको ऊंचे उठाय घुमाने लगे। हे भरतश्रेष्ठ! उन्होंने वैसे उसको सौ फेरा देय जंघेसे उसकी पीठ नवाय तोड डाली, इस प्रकार उसको पीसके गम्भीर गर्जन करने लगे। पिसा जरासन्ध और गरजते

भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह ॥ ९ ॥
किं नु स्याद्धिमवान्भिन्नः किं नु स्विद्दीर्यते मही ।
इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात् ॥ १० ॥
ततो राजकुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः ॥ ११ ॥
जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥ १२ ॥
ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः ।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥ १३ ॥
अक्षतः शस्त्रसंपन्नो जितारिः सह राजभिः ।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥ १४ ॥
यः स सोदर्यवान्नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः ।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥
भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः ।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥ १६ ॥

हुए भीमका सर्व प्राणियोंका भयदायी ऐसा कठोर शब्द उठा, कि मगधवाले सब लोग भय खागये; यहां तक, कि गर्भवती स्त्रियोंका गर्भभी गिर गया। भीमसेनकी भयानक ध्वनि सुनके मागधियोंने यह समझा, कि कदाचित हिमाचल टूट गया अथवा धरती फट रही है। (९—१०)

अनन्तर शत्रुनाशी तीनों भाई रात्रिके समय प्राण छोडे जरासन्धको सोतेकी भांति राजद्वारमें छोडके वहांसे निकले। श्रीकृष्णचन्द्रने जरासन्धके ध्वजासहित रथको जोत कर उस पर चढके और भीमार्जुनको चढाय बन्धुओंको कारागारसे छुडाया। रत्नवान भूपवर्गने बडे भयसे छुडाये जाय श्रीकृष्णके सामने आय उनको नाना रत्नोंका उपहार देय प्रसन्न किया। शस्त्रधारी शत्रु जयकारी, सब राजा बारबार मारनेकी शक्ति रखनेके हेतु शत्रुओंकी उन्नति नाशकारी दोनों हाथोंसे तुल्य युद्धकारी, अच्छे सहोदरवाले दर्शनीय अर्जुन श्रीकृष्णको सारथि बनाय उस सुन्दर रथपर चढ कर राजाओंके साथ गिरिव्रजसे अक्षत शरीरसे निकले। (११—१५)

अनन्तर भीमार्जुनके चढने और श्रीकृष्णके सारथि होने पर सब चापधारियोंके अजेय वह रथ बहुत शोभने

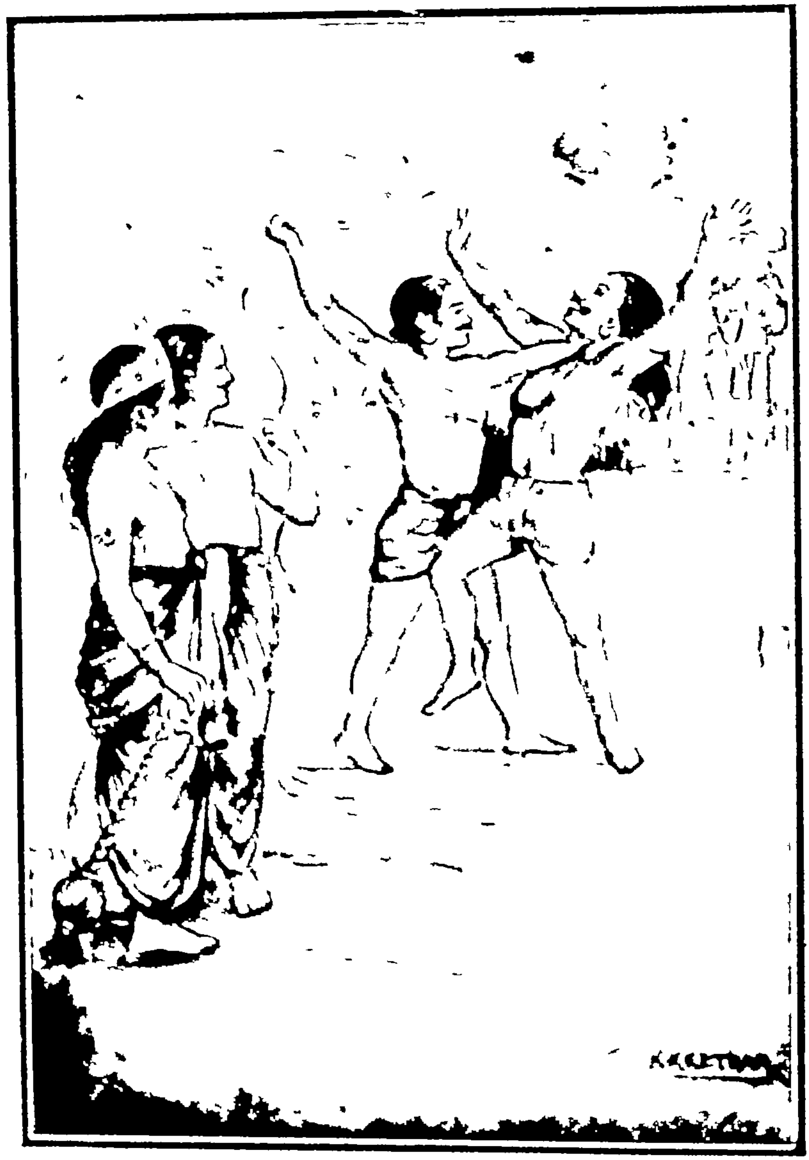
शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये ।
रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ॥ १७ ॥
तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना ।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणाऽमित्रघातिना ॥ १८ ॥
येन शक्रो दानवानां जघान नवतिर्नव ।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १९ ॥
ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः॥ २० ॥
हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनाऽतीव भारत॥ २१ ॥
असङ्गो देवविहितस्तस्मिन्रथवरे ध्वजः ।
योजनाद्ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २२ ॥
चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात् ।
क्षणे तस्मिन्स तेनाऽऽसीच्चैत्यवृक्ष इवोत्थितः ॥२३॥
व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः ।

लगा। बृहस्पतिकी पत्नी तारका जिसमें आमय अर्थात् विनाशहेतु बनती है, उस युद्धके कालमें इन्द्र और उपेन्द्र जिस रथ पर चढे थे, अब श्रीकृष्ण उस पर चढके चले। गर्म सोनेकी कान्ति धरे, किङ्किणीजालमालासे पूरे, बादलके गर्जनसमान गहरे सुनसे, शत्रु संहारी जिस जयकारी रथ पर चढके इन्द्रने निनानव्वे दानवोंको हनन किया था, पुरुषश्रेष्ठ कृष्णादि वह रथ पाकर अति हर्षित हुए। (१७-१९)

मागधिये महाभुज भीमार्जुनके साथ श्रीकृष्णको उस रथ पर चढे देख अचम्भे में होगये। हे भरतनन्दन! दिव्य चार घोडे जुते वायुसमान वेग रखते हुए उस दिव्य रथने श्रीकृष्णके विराजने पर कैसी अपूर्व शोभा धरी थी। उस रथमें देवतोंसे बनी ठनी इन्द्र धनुषकी प्रभाकी भांति सुहासिनी एक अच्छी ध्वजा इतनी ऊंचाई पर लगी थी, कि रथसे वह मिलती नहीं थी, और वह योजन भरकी दूरीसे दीख पडती थी। (२०-२२)

अनन्तर श्रीकृष्णने गरुडका स्मरण किया और गरुडभी उसी क्षण निकट आ पहुंचे। सर्पनाशन गरुत्वान गहरी सुनधारण ध्वजमोहन भूतोंके साथ उस रथ पर चढ बैठे; उनके बैठनेसे वह

महाभारत चित्र माला। चित्र संख्या २१



तस्मिन्रथवरे तस्थौ गरुत्मान्पन्नगाशनः ॥ २४ ॥
दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाऽभ्यधिकं बभौ ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ॥ २५ ॥
न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन्दृश्यते चेह मानुषैः ॥ २६ ॥
तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् ।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाऽच्युतः ॥ २७ ॥
यं लेभे वासवाद्राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः ।
बृहद्रथात्क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृपम् ॥ २८ ॥
स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः ।
गिरिव्रजाद्बहिस्तस्थौ समे देशे महायशाः ॥ २९ ॥
तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाऽभ्ययुस्तदा ।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥
बन्धनाद्विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३१ ॥
नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३२ ॥

रथकी ध्वजा मानो फल कर चैत्य वृक्षके समान सोहने लगी और सहस्रों किरण छिटकाये मध्याह्नकालिक सूर्यकी भांति अधिक तेज पाय प्राणियोंके अयोग्य रही। (२३-२५

भार्जुनके साथ उस बादल समान धुनसे पूरित दिव्यरथ पर चढके पुरीसे निकले। उन महाभुज महायशवन्त पुण्डरीकाक्षने गिरिव्रजसे निकलके बाह-री खण्डमें किसी एक समतल ठांमें

जरासन्धह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥ ३३ ॥
विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे ।
दिष्ट्या मोक्षाद्यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन॥ ३४ ॥
किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान् ।
कृतमित्येव तद्विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥३५ ॥
तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामना. ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३६ ॥
तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्त्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥ ३७ ॥
ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम ।
तथेत्येवाऽब्रुवन्सर्वे प्रतिगृह्याऽस्य तां गिरम्॥ ३८ ॥
रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः ।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३९ ॥
जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम्॥ ४० ॥
स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।

जरासन्धरूपी बडे झीलके दुःखकीचडमें डूबे राजोंको उद्धार कर धर्मपालना आपके लिये कोई बडी बात नहीं है । हे विश्वभरमें फैले यदुनन्दन ! हम कठोर गिरिदुर्गमे बहुत उदास होके पड थे, बडे भाग्यसे आपने हमको छुडा कर प्रदीप्त यश लाभ किया । हे पुरुषव्याघ्र! हम सब प्रकारसे सिर नवाये हैं अब आज्ञा दीजिये कि क्या करें! आप जो कार्य करनेको कहेंगे वह करनेके अयोग्य हो ने परभी यह समझ लीजिये, कि भूपोंने करही दिया है । (३३ — ३५)

महानचित्त हृषीकेश उनको ढाढस देकर बोले कि हे भूपो! युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ करना चाहा है, सो आप यह सब ज्ञात होय उस धर्ममें प्रवृत नरवर की सहायता करे । हे नृपश्रेष्ठ! अनन्तर वे पृथ्वीनाथ राजा लोग प्रसन्न मनसे उनकी वह बात मानके यह बोले, कि 'सब वही करेंगे' और उनको बहुत रत्न भी दिया । यदुनन्दन गोविन्दने उनपर कृपा दिखाय उसका कुछभाग ले लिया। जरासन्ध पुत्र महानचित्त सहदेवनेभी पुरोहितको आगे कर मन्त्री और सज्जनो

सहदेवो नृणां देव वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४१ ॥
अभयाय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाऽभयं तदा।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥
अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासन्धात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥४३॥
विवेश राजा द्युतिमान्बार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासन्धिर्महात्मभिः ॥ ४४ ॥
कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४५ ॥
इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाऽच्युतः।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४६ ॥
दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासन्धो निपातितः।
राजानो मोक्षिताश्चेमे बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४७ ॥
दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४८ ॥
ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४९ ॥

ततः क्षीणे जरासन्धे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥
यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ५१ ॥
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥ ५२ ॥
एवं पुरुषशार्दूलौ महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा ॥ ५३ ॥
घातयित्वा जरासन्धं बुद्धिपूर्वमरिन्दमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ॥ ५४ ॥
सुभद्रां भीमसेनं च फाल्गुनं यमजौ तथा ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५५ ॥
तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना ।
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनाऽनादयन्दिशः ॥ ५६ ॥
ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ५७ ॥
ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।

चित्तसे श्रीकृष्णका यथायोग्य सत्कार कर उनको और भीमार्जुनको गले लगाया। जरासन्धके मारे जाने पर अजातशत्रु युधिष्ठिर दोनों भाइयोंके द्वारा जय पाय हर्षित हुए। आगे भाइयोंसे घेरे जाय उन्होंने आये हुए नरनाथोंको अवस्थाके अनुसार आलिङ्गन वन्दनादि कर सत्कार और पूजापूर्वक विदा कर दिया। नरनाथ लोग सब युधिष्ठिरकी आज्ञा लेके प्रसन्नमनसे अनेक यान वाहनों पर निज निज देशोंको तुरन्त पधारे। (४९-५२)

हे भारत ! महाबुद्धि पुरुषशार्दूल जनार्दनने उस काल पाण्डवोंसे शत्रु जरासन्धको इस प्रकारसे मारके गिराया था। वह शत्रुदमन श्रीकृष्णचन्द्र अपनी बुद्धिसे जरासन्धको मरवा करके ही धर्मनाथादि पांच पाण्डव, धौम्य, पृथा, कृष्णा और सुभद्राको बुलवाकर उनकी आज्ञा लेकर, धर्मनाथके दिये हुए मन समान वेगवान उसी रथ पर चारों ओर धुन मचाय अपने नगरको पधारे। (५३–५६)

हे भरतश्रेष्ठ ! तब युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने कर्म करके न थकनेवाले

जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाऽभयं तदा ॥ ५८ ॥
संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन्परां प्रीतिमवर्धयन् ॥ ५९ ॥
तस्मिन्काले तु यद्युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
तद्राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम् ॥ ६० ॥ [१०१०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धवधे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ समाप्तं चेदं जरासन्धवधपर्व ॥

अथ दिग्विजयपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच—पार्थः प्राप्य धनुःश्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥
अर्जुन उवाच — धनुरस्त्रं महावीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन्दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥
तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम् ।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान्नृपोत्तम ॥ ३ ॥
विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम् ।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाऽभिपूजिते ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णकी परिक्रमा दी, अनन्तर देवकीनन्दन भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके उसकाल महान जय पाय और राजाओंको अभय देय, चले जानेपर उस कर्मसे पाण्डवोंके यशकी सुगन्ध और भी बढी, उससे उन्होंने द्रौपदीकी प्रीति बहुत बढायी। हे भारत! उस समय, प्रजापालन और कीर्तियोग्य धर्मार्थ कामयुक्त जो जो कर्म होने चाहिये थे, राजा युधिष्ठिरने वह सब करके दिखाये थे। (५६-६०) [१०१०]

चौवीसवां अध्याय और जरासन्धवधपर्व समाप्त।

पच्चीसवां अध्याय अथ दिग्विजय पर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अर्जुन अच्छे शरासन, दो अक्षय तून, रथ, ध्वजा और सभा पाय, अति साहसी बन, युधिष्ठिरसे बोले, कि महाराज! धनुष, अस्त्र, बहुत वीर्य, सहाय, दुर्ग, यश और सेना यह सब मनमानी दुर्लभ वस्तु मेरे हाथ लगी है। इस दशामें भण्डार बढनाही मुझको उचित जान पडता है; सो हे नृपवर! मैं सब राजोंको करदाता बनाऊंगा, शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्तमें उत्तर दिशा जय करनेको यात्रा करूंगा। (१—४)

वैशम्पायन उवाच—धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥
स्वस्ति वाच्याऽर्हतो विप्रान्प्रयाहि भरतर्षभ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय ॥ ६ ॥
विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि।
इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महता वृतः ॥ ७ ॥
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाऽद्भुतकर्मणा।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः।
दिशं धनपतेरिष्टामजयत्पाकशासनिः ॥ ९ ॥
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन्दिशं व्यजयताऽस्त्रवित्॥ १०॥
खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत्परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥ ११ ॥ [१०२१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

जनमेजय उवाच— दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणाऽनुकीर्तय ।

श्रीवैशम्पायन बोले, धनञ्जयका वचन सुनकर धर्मनाथ युधिष्ठिरने कोमल गंभीर स्वरसे उनको उत्तर दिया, कि हे भरतवर पार्थ! तुम योग्य विप्रोंसे स्वस्ति कहलाय, शत्रुओंको शोक देने और मित्रोंका आनन्द बढानेको यात्रा करो, अवश्य अभीष्ट लाभ करोगे, सन्देह नहीं, कि तुम निश्चय विजय पावोगे। युधिष्ठिरकी इस बात पर अर्जुनने बडी सेनासे घेरे जाय अग्निदेवके दिये हुए आश्चर्य कार्य करनेहारे दिव्य रथ पर चढकर विजय करनेको यात्रा की। पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन नकुल और सहदेव यहभी सब धर्मनाथके सत्कार सहित सेनाके साथ निकले। (५—९)

हे महाराज! इन्द्रनन्दन अर्जुनने उत्तर दिशा, भीमने पूर्व दिशा, सहदेवने दक्षिण दिशा और अस्त्रके जानकार नकुलने पश्चिम दिशाको जय किया। इधर प्रभावी धर्मनाथ युधिष्ठिर खाण्डवप्रस्थ में मित्रोंसे घेरे जाय परम सौभाग्य भोगने लगे। (९—११) [१०२१]

सभा पर्वमें पच्चीस अध्याय समाप्त।

न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच-- धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥
पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥
आनर्तान्कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं चाऽविजितं कृतवान्सहसैनिकम् ॥ ४ ॥
स तेन सहितो राजन्सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥
शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥
स तानपि महेष्वासान्विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥
तत्र राजा महानासीद्भगदत्तो विशांपते ।
तेनाऽऽसीत्सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥
स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।

सभापर्वमें छव्वीस अध्याय

श्रीजनमेजय बोले, कि हे ब्रह्मन्! मेरे पुरुषोंकी दिग्विजयका वृत्तान्त विस्तार-पूर्वक कहिए क्योंकि उनका महान चरित्र सुन सुनके मेरी तृप्ति होतीही नही है। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि पाण्डवोंने एकही समयमें इस धरतीको जीत लिया था, सो पहिले धनञ्जयकी विजयका वृत्तान्त आपसे कहता हूं। (१—२)

महाभुज धनञ्जयने पहिले कुलिन्द-देशके नृपोंको अल्प चेष्टासे अपना वशी-भूत किया, पीछे आनर्त, कालकूट और कुलिन्दोंको जयकर सुनाथ सुमण्डलको सेना सहित पराजित किया। हे महाराज! शत्रुतापन सव्यसाची उस सुमण्डल से मिलके शाकलद्वीप और पृथ्वीनाथ प्रतिविन्ध्यको जीत लिया। सातद्वीपोंमेंसे शाकल द्वीपमें जितने नरनाथ राज्य करते हैं, सेना सहित उनसे अर्जुनकी बडी भारी लडाई हुई थी। हे नरश्रेष्ठ! अर्जुनने उन बडे चापधारियोंको भी परास्त किया और उन सबोंसे मिलके प्राग्ज्योतिषदेश पर चढाई की। (३—७)

हे पृथ्वीनाथ! उस देशमें भगदत्त नामक प्रचण्ड राजा था। उसके संग अर्जुन का अति घोर युद्ध हुआ। प्राग्ज्योतिष

अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥
ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद्राजा संग्रामे विगतक्लमम् ॥ १० ॥
उपपन्नं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥
अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे ।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि १२॥
त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद्वक्ष्यसि महाबाहो तत्करिष्यामि पुत्रक ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच — कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥
तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् ॥ १४ ॥
भवान्पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च ।
ततो नाऽऽज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् १५॥

भगदत्त उवाच — कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः ।

नाथ भगदत्त किरात, चीन और सागरतीरके दूसरे अनूप देशवासी अगणित योधोंसे मिले थे। वह नरनाथ आठ दिन लड़नेके पीछे युद्धमें न थकनेवाले धनञ्जयसे हसते हुए यह बोले, कि हे महाभुज कौरवनन्दन! तुम पाकशासनके पुत्र हो, युद्धको शोभा बढाने वाले हो, अतएव ऐसा वीर्य प्रकाश करना तुम्हारेही योग्य है! हे तात! मैं महेन्द्रका सखा हूं और युद्धमें भी उनसे कम नहीं हूं, तिसपर भी युद्धमें तुम्हारे सामने स्थिर बना नहीं रह सका। हे महाभुज पाण्डुपुत्र! अब तुम क्या चाहते हो, कहो, मैं तुम्हारा क्या करूं! हे बेटा! तुम जो कहोगे, मैं अवश्य ही वह पूरा करूंगा। (८—१३)

अर्जुन बोले, कि कुरुओंमें सबसे प्रधान धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञकारी हैं; मैं यही चाहता हूं, कि उनको साम्राज्य मिले, सो आप उनको कर देवें। आप मेरे पिताके सखा, विशेष मुझ पर प्रसन्न हो रहे हैं, सो आपको मैं आज्ञा कर नहीं सकता, आप प्रीति पूर्वक देवें। भगदत्त बोले, कि हे कुन्तीनन्दन! तुम मेरे जैसी प्रीतिके पात्र हो, राजा युधिष्ठिरभी वैसे हैं, सो मैं अवश्यही यह सब करूंगा; इसके उपरान्त

सर्वं तेन करिष्यामि किं चान्यत्करवाणि ते ॥ १८ ॥ [१०३७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वण्यर्जुनदिग्विजये भगदत्तजये षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः ।
अनेनैव कृतं सर्वं भविष्यत्यनुजानता ॥ १ ॥
तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
प्रययावुत्तरां तस्माद्दिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥
अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम् ।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥
विजित्य पर्वतान्सर्वान्ये च तत्र नराधिपाः ।
तान्वशे स्थापयित्वा स धनान्याहाय सर्वशः ॥ ४ ॥
तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान्नृपान् ।
उलूकवासिनं राजन्बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥
मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥
ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा ।
निष्क्रम्य नगरात्तस्माद्योधयामास फाल्गुनम् ॥ ७ ॥
सुमहान्संनिपातोऽभूद्धनंजयबृहन्तयोः ।

कहो तुम्हारा और क्या करना होगा।
सभापर्वमें छब्बीसवां अध्याय समाप्त। [१०३७]

सत्ताईसवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, भगदत्तकी यह बात सुनके धनञ्जयने उत्तर दिया, कि आपके लिये इतनाही मानना बहुत है। पुरुषश्रेष्ठ महाबाहु धनञ्जय इस प्रकार प्राग्ज्योतिषको जीत कर उनके आगेको उत्तरको पधारे और अन्तर्गिरि बहिर्गिरि उपगिरि सब जय कर ली। हे महाराज! उन्होंने सब पर्वत और वहांके भूपोंको हराय, वशमें लाय और प्रेमी बनाय, सबके निकटसे धनसंग्रह कर गंभीर मृदङ्ग समान ध्वनि करनेवाले रथके पहियोंकी आहट और गजोंके गर्जनसे धर्तीको कंपाय, उन सब नरनाथोंके साथ उलूकवासी बृहन्तके पास जाके दर्शन दिया। (१-६)

तब बृहन्त चतुरङ्गिणी सेना सहित उस नगरसे निकलकर अर्जुनसे लडने लगा। अर्जुन और बृहन्तमें बडी कडी लडाई हुई। पर अर्जुनने बृहन्तके

न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम्॥ ८॥
सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः।
उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः॥ ९॥
स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ।
सेनाबिन्दुमथो राजन्राज्यादाशु समाक्षिपत्॥१०॥
मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम्।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत्॥ ११॥
तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात्।
किरीटी जितवान्राजन्देशान्पञ्चगणांस्ततः॥ १२॥
स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत्प्रभुः॥ १३॥
स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम्।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभम्॥ १४॥
विजित्य चाऽऽहवे शूरान्पार्वतीयान्महारथान्।
जिगाय सेनया राजन्पुरं पौरवरक्षितम्॥ १५॥
पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः।
गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः॥ १६॥

विक्रम सहा नहीं गया। वह कठोर पर्वतनाथ कुन्तीपुत्रको बहुत असह्य जानके सब प्रकारके धन सहित उनके निकट आये। महाराज! राजा उलूकको राज्यमें बैठाय अर्जुन उसके साथ पधारे और स्वल्पकालहीमें सेनाबिन्दुको राज्यसे च्युत किया। (७-१०)

उसके पीछे वह मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसकुल और उत्तर उलूक देशों और वहां के राजोंको अपने वशमें लाये। हे महाराज! धर्मनाथके शासनसे प्रभावी अति तेजस्वी किरीटिने उन पाच राजोंको परास्त किया। उन्होंने सेनाबिन्दुकी राजधानी देवप्रस्थमें पहुंचकर चतुरङ्गी बल सहित वहां डेरा बनाया था। अब उन पराजित राजोंसे घेरे जाय पुरुवंशी नरनाथ पुरुषवर विश्वगश्व पर युद्धयात्रा की और पर्वत परके महारथी शूरवीरोंको रणमें हराय सेना द्वारा उक्त पौरवकी रक्षी राजधानीको जीत लिया। विश्वगश्वको और पर्वत परके लुटेरोंको युद्धमें पूरा परास्त कर क्षत्रियश्रेष्ठ पाण्डुनन्दनने उत्सवसंकेत नामक सात म्लेच्छ जातियोंको जय किया, आगे

ततः काश्मीरकान्वीरान्क्षत्रियान्क्षत्रियर्षभः।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥
ततस्त्रिगर्तान् कौन्तेयो दार्वान् कोकनदास्तथा।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १८ ॥
अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १९ ॥
ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम्।
प्रामथद्बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ २० ॥
ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत्कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥
ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान्पाकशासनिः।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २२ ॥
गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः।
दरदान्सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनिः ॥ २३ ॥
प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः।
निवसन्ति वने ये च तान्सर्वानजयत्प्रभुः ॥ २४ ॥
लोहान्परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि।
सहितांस्तान्महाराज व्यजयत्पाकशासनिः ॥ २५ ॥

काश्मीर देशके क्षत्रिय वीरोंको और दश छोटे छोटे राजोंके सहित नरनाथ लोहितको परास्त किया। (११—१७)

हे महाराज! अनन्तर त्रिगर्त, दार्व, कोकनद आदि नाना देशी अनेक क्षत्रिय सब प्रकार कुन्तीपुत्रके पास आये जिसके पीछे कुरुनन्दनने सुन्दर अभिसारी नगरी जय कर ली और उरगावासी रोचमान राजाको युद्धमें परास्त किया। जिसके अनन्तर इन्द्रकुमार किरीटीने [illegible] सहित [illegible] रक्षित सिंहपुरको बलसे हिलोड़ डाला; उसके पश्चात् सब सेनाके साथ सुह्म और चोलोंका मथन कर डाला। और बड़ा विक्रम दिखाके बड़ी लड़ाई लड़ते हुए दुर्जय बाह्लीकोंको वशमें लाय और प्रधान प्रधान सेनाके साथ लेके दरद और काम्बोजोंको भी जय किया। महाराज! सब लुटेरे पर्वतके उत्तर भाग आश्रय किये हुए थे और जो वनमें बसते थे, प्रभावी फाल्गुनने उन सबोंको परास्त किया। [illegible] परम [illegible] और उत्तर ऋषिक

ऋषिकेष्वपि संग्रामो बभूवाऽतिभयंकरः ।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ॥ २६ ॥
स विजित्य ततो राजन्नृषिकान्रणमूर्धनि ।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ॥ २७ ॥
मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ॥ २८ ॥
स विनिर्जित्य सङ्ग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत्पुरुषर्षभः ॥ २९ ॥ [१०६६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशजये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किंपुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥ १ ॥
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठः करे चैन न्यवेशयत् ॥ २ ॥
तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥ ३ ॥
तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।

यह सब एकत्र मिले थे; इन्द्रनन्दनने उन्हें भी जीत लिया। ऋषिकोंके साथ भी उनकी बडी भारी लडाई हुई। बृहस्पतिकी पत्नी तारका जिस युद्धमें नाशका हेतु बनी थी, तिसके सदृश पार्थ और ऋषिकोंमें गहरी लडाई मची थी। (२४—२६)

हे महाराज! पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयने तब ऋषिकोंको युद्धस्थलमें जयकर उनसे शुकोदरके समान पीले आठ घोडे करमें ले लिये और उत्तर तथा पश्चिम देशमें उपजे मयूरके समान वरणयुक्त वेगवान और तेज दमरे घोडोंको भी कर लिया। अनन्तर उन्होंने युद्धमें निष्कुट गिरि और हिमाचलको परास्तकर श्वेतपर्वतमें पहुंच के डेरा किया। (२७—२९) [१०६६]

सभापर्वमें सताईस अध्याय समाप्त

सभापर्वमें अठाइस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि पाण्डव-श्रेष्ठ महावीर अर्जुनने श्वेतगिरिको पीछे छोडके क्षत्रिय क्षयकारी बडी लडाई लडते हुए किम्पुरुषोंकी वासभूमि द्रुमपुत्रसे रक्षित किम्पुरुषवर्षको परास्तकर अपने अधीन किया। उस देशको जयकर इन्द्रकुमार गुह्यकोंसे रक्षित हाटक नामक

ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥
सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत्पाण्डवस्ततः ॥ ५ ॥
तत्र तित्तिरिकल्माषान्मण्डूकाख्यान्हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात्तदा ॥ ६ ॥
उत्तरं हरिवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः ।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥
तत एनं महावीर्या महाकाया महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥
पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ॥ ९ ॥
इदं पुरं यः प्रविशेद्ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥
न चाऽत्र किंचिज्जेतव्यमर्जुनाऽत्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नाऽत्र युद्धं प्रवर्तते ॥ ११ ॥
प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन।

न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राऽभिवीक्षितुम्॥१२॥
अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि।
तत्प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात्तव भारत॥१३॥
ततस्तानब्रवीद्राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः॥१४॥
न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः।
युधिष्ठिराय यत्किंचित्करपण्यं प्रदीयताम्॥१५॥
ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम्॥१६॥
एवं स पुरुषव्याघ्रो विजिग्ये दिशमुत्तराम्।
संग्रामान्सुबहून्कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा॥१७॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान्करे च विनिवेश्य तु।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च॥१८॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्शुकपत्रनिभानपि।
मयूरसदृशानन्यान्सर्वाननिलरंहसः॥१९॥
वृतः सुमहता राजन्बलेन चतुरङ्गिणा।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम्॥२०॥

घुमनेसेभी तुम कुछ देख नहीं पाओगे, क्योंकि मनुष्यकी देह रहते यहांके किसी पदार्थको देखनेकी सामर्थ नहीं है। हे पुरुषश्रेष्ठ भारत! पर यदि यहां और कार्य किया चाहो, तो कहो तुम्हारी बातसे हम अवश्यही पूरा कर देंगे। ८-१३

हे महाराज! तब अर्जुन कुछ हंसकर उनसे बोले, कि मैं धीमान धर्मनाथका साम्राज्य चाहता हूं, तुम्हारा यह देश यदि ऐसा हो, कि मानव लोग नहीं जासक्ते हैं, तो मैं इसके भीतर जाना नहीं चाहता, तुम युधिष्ठिरको कुछ वस्तु करमें दो। अनन्तर उन्होंने दिव्य चीर, दिव्य आभूषण, दिव्य क्षौम और दिव्य मृगछाल सब करकी भांति उनको दिये। (१४-१६)

महाराज! उन पुरुषव्याघ्र वीरवर अर्जुनने इस प्रकार क्षत्रियोंसे अगणित संग्राम कर उत्तर दिशाको जीता था। वह उन सब राजोंको परास्त और अधीन करके सबोंसे बहुविध धन रत्न और तित्तिरि, कुल्माष, शुकपक्षवत और मयूर सदृश, नाना पवनके समान चलनेवाले घोडे लेके चतुरङ्गिणी सेनासे घेरे जाय फिर पुरश्रेष्ठ इन्द्रप्रस्थमें लौट आये

धर्मराजाय तत्पार्थो धनं सर्वं सवाहनम् ।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राजा गृहान्ययौ ॥ २१ ॥[१०८७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि
दिग्विजयपर्वण्युत्तरदिग्विजयेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८॥

वैशम्पायन उवाच—एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥
ततो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्धनः ।
स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥ ३ ॥
पञ्चालान्विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः ।
ततः स गण्डकाञ्शूरो विदेहान्भरतर्षभ ॥ ४ ॥
विजित्याल्पेन कालेन दाशार्णानजयत्प्रभुः ॥ ५ ॥
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ।
कृतवान्भीमसेनेन महद्युद्धं निरायुधम् ॥ ६ ॥
भीमसेनस्तु तद्दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥ ७ ॥
ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ।

सैन्येन महता राजन्कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ८ ॥
सोऽश्वमेधेश्वरं राजन्रोचमानं सहानुगम् ।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥ ९ ॥
स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा ।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥ १० ॥
ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत् ।
सुकुमारं वशं चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥ ११ ॥
ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद्भरतर्षभः ।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ॥ १२ ॥
चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम् ।
उपनिष्क्रम्य नगरात्प्रत्यगृह्णात्परंतपः ॥ १३ ॥
तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा ।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १४ ॥
ततो निवेद्य तद्राष्ट्रं चेदिराजो विशांपते ।
उवाच भीमं प्रहसन्किमिदं कुरुतेऽनघ ॥ १५ ॥
तस्य भीमस्तदाचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥ १६ ॥

अनन्तर वह बडी सेना सहित मानो धरतीको कपाते हुए पूर्व दिशाकी ओर भी आगे चले। हे महाराज! वीरश्रेष्ठ, वीरवर वृकोदरने अश्वमेधनाथ रोचमानको साथियों समेत युद्धमें परास्त किया। उसको जयकर महावीर कुरुनन्दनने स्वल्प चेष्टाहीसे पूर्वदेशको जय किया। अनन्तर दक्षिण देशमें बडे फैले पुलिन्द नगरमें प्राप्त होकर उसके भूप सुमित्रको वशीभूत किया॥ (८—११)

हे जनमेजय! उसके पश्चात भीम धर्मनाथके शासनके अनुसार जाते वीरेन्द्र शिशुपालके लिये चले। शत्रुदमन चेदिपतिने भी पाण्डुपुत्रका वह अभिप्राय जान नगरसे निकल उनको सत्कार सहित ग्रहण किया। महाराज! तब वह कुरुश्रेष्ठ और चेदिश्रेष्ठ दोनो मिलजुलकर दोनों कुलोंके कुशलक्षेम पूंछने लगे। हे नरवर! अनन्तर चेदिनाथ अपने राज्यका वृत्तान्त कहके हसते हुए भीमसे बोले, कि हे अनघ! तुम क्यों उत्साह दिला रहे हो? तब भीमने उनसे धर्मनाथका अभिप्राय प्रगट किया। नरनाथ शिशुपालनेभी उनका आदर

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥ १७ ॥ [११०४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि
भीमदिग्विजये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाऽजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिन्दमः ॥ १ ॥
अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥
ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाऽजयत्प्रभुः ॥ ३ ॥
ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशे बली ॥ ४ ॥
एवं बहुविधान्देशान्विजिग्ये भरतर्षभः ।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥
पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ।
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥
युध्यमानं बलात्संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः।
ततो मत्स्यान्महातेजा मलदांश्च महाबलान्॥ ८ ॥
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ।
निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ९ ॥
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान्बलात्१०॥
भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान्बहून्॥ ११ ॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाऽजयद्भीमो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥
शर्मकान्वर्मकांश्चैव व्यजयत्सान्त्वपूर्वकम् ।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ १४ ॥
वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात् ।
किरातानामधिपतीनजयत्सप्त पाण्डवः ॥ १५ ॥
ततः सुह्मान्प्रसुह्मांश्च स्वपक्षानपि वीर्यवान् ।

युद्धमें भिडे सुपार्श्वदेशके राजपति क्रथको बलसे परास्त किया। इसके पीछे मत्स्यदेशवासी और उपद्रववर्जित निडर महाबली मलदोंकी पराजय कर सब पशुभूमि जीत ली और वहां से पलटकर पृथ्वीनाथ मदधार और सोमधेयोंको जय कर उत्तर दिशाको चले। (५-९)

बलवान कुन्तीपुत्रने बडा बल प्रगट कर वत्सभूमि पर अधिकार जमाया और भर्गोंके अधिपति निषादनाथ और मणिपाल आदि अगणित भूपोंको परास्त करने लगे। तब उन्होंने अति अल्प चेष्टासे भोगवान पर्वत और दक्षिण मल्लोंको शीघ्रही जीत लिया। शर्मक और वर्मकोंको ढाढस देकर जय किया। विदेहदेशनाथ जगत्पति राजा जनकको अति अल्पयुद्धसे परास्त किया और शक और बर्बरोंको छलसे अधीन बनाया। ९-१४

वीर्यवान् पाण्डुनन्दनने विदेहदेशमें रहतेही रहते इन्द्र पर्वतके निकटके सात भूपोंको परास्त किया। आगे स्वपक्षी होने पर सुह्म प्रसुह्मोंको युद्धमें जयकर

विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्ययाद्बली॥ १६ ॥
दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन् ।
तैरेव सहितः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥
जारासन्धिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह ।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद्बली ॥ १८ ॥
स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा ।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ॥ १९ ॥
स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत ।
ततो विजिग्ये बलवान्राज्ञः पर्वतवासिनः ॥ २० ॥
अथ मोदागिरिं चैव राजानं बलवत्तरम् ।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ २१ ॥
ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम् ।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम्॥ २२ ॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
निर्जित्याऽऽजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥
समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम् ।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः ।
सर्वान्म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभ ॥ २५ ॥

एवं बहुविधान्देशान्विजित्य पवनात्मजः ।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद्बली ॥ २६ ॥
स सर्वान्म्लेच्छनृपतीन्सागरानूपवासिनः ।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥ २७ ॥
चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम् ।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ॥ २८ ॥
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा ।
अभ्यवर्षन्महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ॥ २९ ॥
इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः ।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद्धनम् ॥ ३० ॥ [११३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच-तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
महत्या सेनया राजन्प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥
स शूरसेनान्कार्त्स्न्येन पूर्वमेवाऽजयत्प्रभुः ।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद्बली ॥ २ ॥
अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्त्रं महाबलम् ।

जय कर सब म्लेच्छोंको भी परास्त किया। (१९—२५)

महाबली पवननन्दन इस प्रकार सब देश जयकर और सर्वत्रसे धन संग्रह कर लौहित्य देशमें जा पहुंचे और सागरतीर आदि जल प्रधान देशवासी सब म्लेच्छ नरेशोंको भांति भांतिके रत्न, चन्दन, अगुरु चीर, कम्बल, मणि, सोना, चांदी, विद्रुम आदि बहुमूल्य वस्तुओंका कर देनेको बाध्य किया। म्लेच्छ नाथोंने उसकाल कोटि कोटि बहुत धन बरसाय महात्मा पाण्डुनन्दनको दान किया था। भीम पराक्रमी भीमसेनने तब इन्द्रप्रस्थ में आये वह सब धन धर्मनाथ को दे दिया। (२६—३०) [११३४]

सभापर्वमें तीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें इकत्तीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महाराज! सहदेव भी धर्मनाथका आदर पाय भीमार्जुनके निकलनेके कालमें ही बडी भारी सेना सहित दक्षिण दिशाको पधारे थे। उस प्रभावी बली कुरुवीरने पहिले शूरसेनोंको सम्पूर्ण रूपसे परास्त कर बल पूर्वक मत्स्यनाथको वशीभूत किया।

जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत् ॥ ३ ॥
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत्स पटच्चरान् ॥ ४ ॥
निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा ।
तरसैवाजयद्धीमाञ्छ्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥
नवराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तीभोजमुपाद्रवत् ।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥ ६ ॥
ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम् ।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥
चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत ।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥
सेकानपरसेकांश्च व्यजयत्सुमहाबलः ।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ॥
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ ॥ ९ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ॥ १० ॥
ततो रत्नान्युपादाय पुरीं भोजकटं ययौ ।

तत्र युद्धमभूद्राजन्दिवसद्वयमच्युतम् ॥ ११ ॥
स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः।
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेण्यातटाधिपम ॥ १२ ॥
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोशलान्नृपान्।
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान्युधि ॥ १३ ॥
मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात्।
नीचानानर्बुकांश्चैव राज्ञश्चैव महाबलः ॥ १४ ॥
तांस्तानाटविकान्सर्वानजयत्पाण्डुनन्दनः।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ॥ १५ ॥
पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुनः।
युयुधे पाण्डयराजेन दिवसं नकुलानुजः ॥ १६ ॥
तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम्।
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् १७॥
तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च।
युयुधे दिवसान्सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥ १८ ॥
ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥

रत्न संग्रह कर भोजकटपुर को पधारे। (७—११)

हे महाराज! वहा कठोर राजा भीष्मक से दो दिन लडाई हुई, अन्तमें सहदेव ने उन्हे जयकर कोशलनाथ वेणातटेश कान्तारक वर्ग और पूर्व कोशलके नरेशों को युद्धमें परास्त किया। आगे नाटकेय मारुध और हेरम्बोंको युद्धमें हराय बलमें रम्यग्राम पर अधिकार किया। तिसके पश्चात नीचीन और अर्बुद नरेशों को तथा उस खण्डवाले सब बनैले भूपों को परास्त कर नरनाथ वाताधिपको वश में लाये। (११—१५)

अनन्तर पुलिन्दोंको लडाईमें जीतके दक्षिण दिशाकी ओर आगे बढे। नकुल के अनुज महाभुज सहदेव पाण्डवनाथके साथ एक दिन लड कर उसे हराय दक्षिण मार्गमे पधारे। वहा लोकप्रसिद्ध किष्किन्धा नाम कन्दराके निकट जाय वह बन्दरनाथ मैन्द और द्विविदके साथ सप्ताह भर लडे, पर तिसपरभी उन्हे जय नहीं कर सके; अनन्तर उन दो बडे बन्दरोंने सहदेव पर प्रसन्न होके प्रसन्न हृदयसे प्रीतिपूर्वक उनसे यह कहा, कि

गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ॥
ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥
पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।
ततोऽस्य सुमहद्युद्धमासीद्भीरुभयंकरम् ॥ २२ ॥
सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम् ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान्हव्यवाहनः ॥ २३ ॥
ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥
ततः सुसंभ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभवज्जनेजय ॥ २५ ॥
जनमेजय उवाच— किमर्थं भगवानग्निः प्रत्यमित्रोऽभवद्युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच— तत्र माहिष्मतीवासी भगवान्हव्यवाहनः ।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात्पारदारिकः ॥ २७ ॥
नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवातीव शोभना ।

साऽग्निहोत्रमुपातिष्ठद्बोधनाय पितुः सदा ॥ २८ ॥
व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत्प्रज्वलते न सः ।
यावच्चारुपुटोष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥
ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम् ।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ॥ ३० ॥
ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया ।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम् ॥ ३१ ॥
तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद्धार्मिकस्तदा ।
प्रजज्वाल ततः कोपाद्भगवान्हव्यवाहनः ॥ ३२ ॥
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसाऽवनिम् ॥ ३३
ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः ।
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः ॥ ३४ ॥
प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा ।
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ॥ ३५ ॥
वरेण च्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः ।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ॥ ३६ ॥

समझे जाते थे। राजा नीलकी एक अति सुन्दरी कुमारी थी, वह अग्निहोत्रके निकट सदा बैठी रहती थी। उसके दो सुन्दर होटोंसे निकली पवन अग्निको जबतक नहीं पहुंचती थी तब तक पंखी डोलानेसे भी जल नहीं उठते थे, जिससे राजा नील और दूसरोंने निश्चय कर लिया कि उसपर अग्निका मन चला है। (२८-३०)

अनन्तर ब्राह्मणके स्वरूपसे मनमाने रमण की इच्छा कर उन्होंने उस सुन्दरी पद्मनयना कन्या पर मन चलाया। परन्तु धार्मिक राजा नीलने उनको शास्त्रके अनुसार शासन किया। भगवान हव्य-वाहन तिससे क्रोधके मारे जल उठे। उनको देखकर राजाने अचम्भेमें होके धरतीकी ओर सिर झुकाय प्रणाम किया, आगे उचित कालमें उसी प्रकार सिर झुकाय उन विप्र रूपी अग्निको कन्या-दान किया। अभीष्ट सिद्ध करनेमें सबके अगुवे भगवान अग्नि राजा नीलकी वह कन्या लेके उक्त नरनाथपर प्रसन्न हुए और उन्हे वर मांगनेको कहा। पृथ्वीनाथ राजा नीलने भी यह वर मांग लिया, कि मेरी सेनाको कभी भय न हो। (३१-३६)

स्वर्गद्वारस्पृशश्चाऽसि हुताशो ज्वलनः शिखी ४४॥
वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः ।
कुमारसूस्त्वं भगवान्रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४५ ॥
अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चाऽऽपो दिशन्तु मे ४६॥
अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर ।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम्॥ ४७ ॥
ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥
धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहाऽनिलसंभवः।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम्॥४९ ॥
एवं स्तुतोऽसि भगवन्प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतं चैव प्रीतिं चाऽग्ने प्रयच्छ मे ॥५० ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन्यो जुहुयाद्विभुम् ।
ऋद्धिमान्सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५१ ॥
सहदेव उवाच— यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नाऽर्हस्त्वं हव्यवाहन ॥ ५२ ॥

चित्रभानु, सुरेश, अनल, स्वर्गद्वार छनेवाले हुताशन, ज्वलन, शिखी, वैश्वानर, पिङ्गेश, प्लवङ्ग, भूरितेजा, कुमारसू, भगवान, रुद्रगर्भ और हिरण्यकृत हो। हे अग्ने ! तुम मुझको तेज दो, पवन प्राण देवें, पृथ्वी बल दे और जल सकल मङ्गल करे । हे जलोत्पादक महाभाग सुरेश्वर जातवेद अग्ने ! तुम देवोंके मुख स्वरूप हो, सो मुझको सत्य ज्योतिसे पवित्र करो । देवता ऋषि ब्राह्मण और असुर सदा सुन्दर रूपसे जिन सब यज्ञोंमें हवन करते है, वहांकी सत्यज्योतिसे मुझको पवित्र करो तुम धूमकेतु शिखी पापनाशी, वायुसे बने और सब प्राणियोंमें सर्वकाल ठहरे रहते हो;अब मुझको सत्यज्योतिसे पवित्र करो । हे भगवान अग्ने! मैने शुचि होकर प्रसन्न चित्तसे तुम्हारी यह स्तुति की, अब मुझको तुष्टि पुष्टि श्रुत और प्रीति दो (४२-५०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले,जो ऐसा आग्नेय मन्त्र पढके प्रभु अग्निका हवन करते है, वह ऐश्वर्य युक्त और सदा दान्त होकर सब पापोंसे मुक्त होजाते है । हे भारत! पुरुषव्याघ्र माद्री कुमार सहदेव यह कहके, कि हे हव्यवाहन ! यज्ञ

माद्रीसुतस्ततः प्रायाद्विजयी दक्षिणां दिशम्॥६१॥
त्रैपुरं स्ववशे कृत्वा राजानममितौजसम् ।
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ॥ ६२ ॥
आकृतिं कौशिकाचार्य यत्नेन महता ततः।
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ॥ ६३ ॥
सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ।
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ॥ ६४ ॥
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ।
स चाऽस्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ॥६५॥
प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ।
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद्युधां पतिः॥६६॥
ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ।
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ॥ ६७ ॥
सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन्म्लेच्छयोनिजान् ।
निषादान्पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ॥ ६८॥
ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ।
कृत्स्नं कोल्लगिरिं चैव सुरभीपट्टनं तथा ॥ ६९ ॥
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ।

माद्रिपुत्र वह पूजा लेके उनको करदाता बनवाय दक्षिणकी ओर पधारे। उन धर्मात्मा महाभुज अपरिमित तेजवन्तने त्रैपुर राजाको वशमें लाय पौरवनाथको बलसे सताया। आगे कौशिकाचार्य सुराष्ट्राधिप आकृतिको अति यत्नसे अपने वशमें ले आये और सुराष्ट्र राज्यहीमें रह करके भोजकटके महामात्र धीमान साक्षात् इन्द्रके सखा भीष्मक नाथ रुक्मीके निकट दूत भेजा, उसने भी वासुदेवजीको स्मरण कर तब पुत्र सहित प्रीति पूर्वक उनका शासन मान लिया; महातेजा महाबली योधपति महदेव उनसे रत्न लेके फिर आगे चले। (५९—६६)

अनन्तर शूर्पारक तालाकट और दण्डकोंको हथेली तले लाये चुके। आगे सागरद्वीपवासी म्लेच्छ योनिसे उपजे नरनाथगण निषादवर्ग, पुरुषादलोग, कर्ण प्रावरणगण, नरराक्षस योनि, कालमुख वर्ग, सब कोल्ल गिरि, सुरभीपट्टन, ताम्रद्वीप, रामक पर्वत और तिमिङ्गल नरेशको वशमें लाय दूतोंसे वनवासी

निमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ॥ ७०॥
एकपादांश्च पुरुषान्केरलान्वनवासिनः ।
नगरीं संजयन्तीं च पाषण्डं करहाटकम् ॥ ७१ ॥
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ।
पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोड्रकेरलैः ॥ ७२ ॥
अन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ।
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ॥ ७३ ॥
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ।
ततः कच्छगतो धीमान्दूतान्माद्रवतीसुतः ॥ ७४ ॥
प्रेषयामास राजेन्द्र पौलस्त्याय महात्मने ।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिंदमः ॥ ७५ ॥
स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम् ।
तच्च कालकृतं धीमानन्वमन्यत स प्रभुः ॥ ७६ ॥
ततः संप्रेषयामास रत्नानि विविधानि च ।
चन्दनागुरुमुख्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ७७ ॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान् ।
न्यवर्तत ततो धीमान्सहदेवः प्रतापवान् ॥ ७८ ॥
एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च ।

करदान्पार्थिवान्कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ ७९ ॥
धर्मराजाय तत्सर्वं निवेद्य भरतर्षभः ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥ ८० ॥ [१२१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि
सहदेवदक्षिणदिग्विजये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच -नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा।
वासुदेवजितामाशां यथाऽसावजयत्प्रभुः ॥ १ ॥
निर्याय खाण्डवप्रस्थात्प्रतीचीमभितो दिशम् ।
उद्दिश्य मतिमान्प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥
सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च ।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥
ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत् ।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥
तत्र युद्धं महच्चाऽऽसीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः ।
मरुभूमिं च कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥
शैरीषकं महेत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः ।

महाराज! भरतश्रेष्ठ शत्रुदमन सहदेव इस प्रकार बल प्रगट कर,समझाके और विजयके द्वारा पृथ्वीनाथोंको जीतके तथा करदाता बनाके मनोरथ सफल कर लौट आये और अपने उपार्जित सब धन धर्मनाथके आगे धर कर परम सुखसे रमने लगे। (७९ --८०)[१२१४]

सभापर्वमें एकतीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें बत्तीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय अब नकुलकी विजय और कर्मोकी कथा सुनाता हूं। उन प्रभावी वीरवरने जैसे वासुदेवकी जीती हुई पश्चिम दिशाको जीता था वह सुनो। मतिमान नकुल बडी भारी सेना लेकर खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिम दिशाको प्रचण्डसिंहनाद, योधोंके गर्जन अनेक और रथोंके पहियो की घरघराहटसे धरातलको कंपाते चले। अनन्तर उन्होंने कार्तिकेयके प्रेमपात्र धनधान्यपूरे, गोधनभरे, अति ऐश्वर्ययुक्त रमणीय रोहितक पर्वत पर चढाई की। वहां शूरतायुक्त उन्मत्त मयूरकोंके साथ बडी लडाई हुई। इसके पीछे अति द्युतिमान पाण्डुनन्दनने सब मरुभूमि, बहुत धनधान्ययुक्त शैरीषक और राजर्षि आक्रोशको वशीभूत तथा

स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशांपते १५॥
रत्नानि भूरीण्यादाय संप्रतस्थे युधां पतिः।
ततः सागरकुक्षिस्थान्म्लेच्छान्परमदारुणान् १६॥
पह्लवान्बर्बरांश्चैव किरातान्यवनाञ्छकान्।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान्
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १७॥
करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १८॥
इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम्।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान्धनं तस्मै न्यवेदयत् १९॥
एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम्।
प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभः॥ २०॥ [१२३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीजये द्वात्रिंशोऽध्यायः॥३२॥ समाप्तं च दिग्विजय पर्व।

अथ राजसूय पर्व।

वैशम्पायन उवाच—रक्षणाद्धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात्।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः॥ १॥

प्रीतिपूर्वक वशीभूत किया। हे महाराज उन नरनाथने जब सत्कारयोग्य योधपति नकुलका उचित सत्कार किया, तब वह बहुत रत्न लेकर आगे चले। (१३—१६)

पीछे सागर गर्भके अति कठोर म्लेच्छों और पह्लव, बर्बर, किरात, यवन और शकोंको वशीभूत किया। विचित्र उपायोंके जानकार कुमार नकुल नरेशोंको वशीभूत कर और बहुत्त रत्नोंके अन्तको लेट आये। महाराज! दश सहस्र ऊंट अति कष्टसे उन महात्माके धनको लेकर चल सके थे! भरतवर श्रीमान माद्रीपुत्र नकुलने इस प्रकारसे वासुदेवजीके जय किये और वरुणसे पाले जातेहुए पश्चिम खण्डको विजयकर इन्द्रप्रस्थस्थित वीरवर युधिष्ठिरके समीप आकर उनके सामने सब धर दिया। (१६-२०) [१२३४]

बत्तीस अध्याय और दिग्विजय पर्व समाप्त

सभापर्वमें तेंतीस अध्याय।

और राजसूय पर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धर्मनाथ युधिष्ठिरकी प्रजारक्षा, सत्य पालन और शत्रुनाशके लिये प्रजा अपने अपने धन्धे

अथैव ब्रुवतामेवं तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्मा दृश्यश्चैव विजानताम्॥१०॥
जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाऽप्ययश्च ह ।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥
प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा ।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् १२ ॥
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महता वृतः ॥ १३ ॥
तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् ।
नादयन्रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ॥ १५ ॥
असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना ।
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ॥ १६ ॥
तं मुदाऽभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभः ।

होकर बोले, कि " विभो! आपके यज्ञ करनेका योग्य काल आ पहुंचा है, सो अब उसका प्रबन्ध करें।" वे सब ऐसी कहा-सुनी करते थे, कि ऐसे समय श्रीकृष्णचन्द्र आ पहुचे। वह धर्मज्ञ, नित्य, वेदात्मा, दर्शनके अविपर्यभूत ऋषि, विज्ञोंके निश्चयकिये स्थितिशीलोंके अगुए, जगकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण भूत भविष्यत तथा वर्त्तमानके नियन्ता, सब वृष्णियोंके प्राकार अर्थात रखवारे विपत्कालके अभय-दाता, शत्रुनाशी केशिसूदन, पुरुषवर केशव, धर्मनाथके लिये बहुविध धन रत्न लेकर वसुदेवको सेनापतिके पद पर बैठाय बहुबलसे घेरे जाय रथकी आहटसे पुरोत्तम खाण्डवप्रस्थको बजाय वहां आजमे और पाण्डवोंके उस भरे पूरे अक्षय रत्न समुद्रके अपूर्ण भागको पूर्णकर शत्रुओंको शोक देने लगे। सूर्य रहित खण्डमे सूर्य उगनेमे अथवा वायुरहित स्थानमें वायु बहनेसे वहांके लोग जैसे आनन्दित होते है, वैसेही श्रीकृष्णके शुभागमनसे भारत पुरी अति आनन्दित हुई। (८—१६)

पुरुषवर युधिष्ठिर अति आनन्दसे उनको गले लगाय और विधिपूर्वक सत्कार कर आनन्दसे सुखसे बैठे। कुशलक्षेम पूछ

युधिष्ठिर उवाच —सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच-अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥ २७ ॥
ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥ २८ ॥
अस्मिन्क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २९ ॥
अधियज्ञांश्च सम्भारान्धौम्योक्तान्क्षिप्रमेव हि।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥ ३० ॥
इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चाऽर्जुनसारथिः।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३१ ॥
सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३२ ॥
तद्वाक्यसमकाल च कृत सर्वं न्यवेदयत्।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥ ३३ ॥

हूं। आप मनमाने यज्ञका प्रबन्ध करें और मुझकोभी किसी कार्यमें नियुक्त करें। मैं आपकी सब आज्ञा पालूंगा। युधिष्ठिर बोले, कि हे हृषीकेश श्रीकृष्ण! मेरी इच्छा होतेही जब तुम आ गये हो, तब मेरा सङ्कल्प भी सिद्ध होगया और सिद्धि-लाभका भी निश्चय हुआ है। (२४ २६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि श्रीकृष्णकी आज्ञा पाय युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित राजसूय यज्ञके साधनोंको बटोरनेका प्रबन्ध किया। अनन्तर शत्रुदमन धर्म-नाथने सहदेवको और मन्त्रियोंको आज्ञा दी, कि इस यज्ञमें ब्राह्मणोंने जिन जिन पदार्थोंको यज्ञके अङ्ग करके निश्चय किया है, तिसके अनुरूप उपकरण, माङ्गलिक वस्तु और धौम्यकी आज्ञा की हुई यज्ञ की सामग्री यथा क्रम से और यथायोग्य रीति पर तुरन्त लेते आओ; अर्जुनके सार-थि इन्द्रसेन विशोक और पुरु यह हमारी प्रिय कामनामें अन्नादि बटोरने में लगे रहें और रसगन्धयुक्त ऐसी काम्य वस्तु बनवावें, कि वे ब्राह्मणो की होवें। (२७-३२)

योधश्रेष्ठ सहदेवने धर्मनाथ युधिष्ठिर के इस आज्ञा वचनको सुनतेही सब पूरा कर उनको समाचार दिया। हे महा-राज! अनन्तर सत्यवतीनन्दन कृष्ण-

वैशम्पायन उवाच–समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चाऽपरान्द्रुतम् ॥४३॥
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४४ ॥
ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ४५ ॥
दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४६ ॥
भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥ ४७ ॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ।
आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ॥ ४८ ॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ।
तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४९ ॥
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान्सगणानां पृथक्पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नाञ्शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ५० ॥
तेषु ते न्यवसन्राजन्ब्राह्मणा नृपसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ५१ ॥

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर शीघ्रगामी दूतोंने आज्ञा पाय सहदेवके वाक्यानुसार सबको नेवता दिया और उनके अतिरिक्त क्या स्वजन क्या अन्य-जन, ऐसे अनेक लोगोंको भी साथ लिवाय लाये। हे भारत! तिसके अनन्तर उन ब्राह्मणोंने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर-को राजसूयके लिये योग्य कालमें दीक्षित किया। तब वह धर्मात्मा धर्मनाथ दीक्षित होके और सहस्रों विप्रोंसे घेरे जाके भाइयों, ज्ञातियों, मित्रों अनेक दिशा-देशोंसे आये मनुष्यश्रेष्ठ क्षत्रिय तथा मन्त्रियोंके सहित मूर्त्तिमान धर्मकी भांति यज्ञस्थानमें गये। (४३-४८)

सर्व विद्याओंमें पण्डित वेदवेदाङ्ग-पारग ब्राह्मणगण नाना देशोंसे वहां आके एकत्रित होने लगे। सहस्रों शिल्पियोंने धर्मनाथकी आज्ञासे साथी समेत उन सब विप्रोंके अलग अलग वासगृह बना दिये। उन गृहोंमें बहुविध भोजनकी सामग्री और वस्त्रादि धरे थे और वसन्तादि सब ऋतुओंके कार्य विद्यमान थे। हे महाराज! ब्राह्मणगण भूपालसे सत्कृत होय वहां बस कर

प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥ २ ॥
संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ॥ ३ ॥
द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ।
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५ ॥
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ।
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ॥ ६ ॥
तथा शल्यश्च बलवान्बाह्लिकश्च महाबलः ।
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ॥ ७ ॥
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ॥ ८ ॥
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ।
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ॥९॥
पार्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ॥ १० ॥

आगे कर प्रीतिपूर्वक यज्ञ देखनेको चले। हे भरतश्रेष्ठ ! यज्ञके जानकार दूसरे सैकडों क्षत्रियभी धर्मनाथके यज्ञकी बात सुनके उस यज्ञसभा और धर्मनाथ को देखने की इच्छासे प्रसन्न मनसे बहु विध बहुमूल्य रत्न बटोर के नाना दिग्दे- शोंसे वहां आ पहुंचे। (२-४)

धृतराष्ट्र, भीष्म, महामती विदुर, दुर्यो- धनादि सब भाई गान्धारनाथ सुबल म- हाबल शकुनि, अचल, वृषक, महारथी कर्ण, बली शल्य, महाबली बाह्लीक, सोमदत्त, कुरुवंशी भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृप, द्रोण, सिन्धुराज जयद्र- थ, पुत्रसहित द्रुपद पृथ्वीनाथ शाल्व सागरतटके जलप्रधान देशोंके सब म्ले- च्छोंसमेत प्राग्ज्योतिषनाथ महारथी [illegible]- रनाथ भगदत्त, पहाडी राजागण, राजा बृहद्बल, पौण्ड्रक वासुदेव, वङ्गाधिप, का- लिङ्गनाथ, आकर्ष, कुन्तल, मालवदेशीय भूपवर्ग, आन्ध्रकवर्ग, द्राविडवर्ग, सिंहल- गण, काश्मीरदेशीय [illegible]तनाथ, तेजस्वी कुन्तीभोज पृथ्वीनाथ गौरवाहन

सुवर्णजालसंवीतान्मणिकुट्टिमभूषितान् ।
सुखारोहणसोपानान्महासनपरिच्छदान् ॥ २१ ॥
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ।
हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ॥ २२ ॥
असंबाधान्समद्वारान्युतानुच्चावचैर्गुणैः ।
बहुधातुनिबद्धाङ्गान्हिमवच्छिखरानिव ॥ २३ ॥
विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन्भूमिपा भूरिदक्षिणम्।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥
तत्सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
भ्राजते स्म तदा राजन्नाकपृष्ठं यथामरैः ॥ २५ ॥ [१३१६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच –पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।

सुहावनी, भांति भांतिकी सामग्रीसे मनहरणी, भलीबनी शुभ्रवर्णी अति उंची अटारिसे सब दिशा बनी सुवर्ण जाल पहिनी मणिकुट्टिमसे मोहिनी, सुखसे चढने योग्य सीढियोंसे सुखदायिनी मूल्यवान चीर आसनोंसे सुहासिनी, मालाओंसे शोभाधारिणी सुन्दर अगुरुगन्धसे मनभावनी, हंस चन्द्रमासी श्वेतवरणी होने परभी योजन भर दूरीसे दर्शनीय, लम्बे चौडे समान द्वारोंसे सुखदायिनी, नाना भांतिकी सामग्री धारिणी और अङ्गो पर बहुविध धातु जडने से हिमाचलकी चोटीसी मनमोहिनी बनी थी। (२०—२३)

आये हुए भूपोंने वहां विश्राम कर अन्तमें बहुत दक्षिणादाता अगणित मन्त्रियोंसे वेष्टित धर्मनाथ युधिष्ठिरको देखा। महाराज ! सम्पूर्ण पृथ्वीनाथ तथा महर्षि ब्राह्मणोंसे भरी पूरी वह सभा उस कालमें अमरवृन्दसे सुहाती स्वर्गपीठकी भांति अति दीप्ति पाने लगी। (२४—२५) [१३१६]

सभापर्वमें चौंतीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें पैंतीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले,कि हे महाराज! अनन्तर युधिष्ठिर आगे बढकर दादा भीष्मजी और गुरु द्रोणाचार्यको प्रणामकर उनको और अश्वत्थामा,

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥ ११ ॥
द्रष्टुकामः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
न कश्चिदाहरत्तत्र सहस्रावरमर्हणम् ।
रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत् ॥ १२ ॥
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ।
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ॥ १३ ॥
भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ।
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ॥ १४ ॥
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ।
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ॥ १५ ॥
राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः ।
अशोभत सदो राजन्कौन्तेयस्य महात्मनः ॥१६॥
ऋद्ध्या च वरुणं देव स्पर्धमानो युधिष्ठिरः।
षडग्निनाऽथ यज्ञेन सोऽयजद्दक्षिणावता ॥ १७ ॥
सर्वाञ्जनान्सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत ॥ १८ ॥
अन्नवान्बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ।

परमी श्रेष्ठ फल पानेकी इच्छासे ब्राह्मणोंके पाव धोनेमें स्वयं नियुक्त हुए। (१०—११)

सभा और धर्मनाथको देखनेके अभिलाषी जनके वहां किसीने सहस्रसे अल्प उपहार नहीं दिया, सबोंने बहु धनरत्न देकर धर्मनाथको बढाया था; राजगण इस अहंकारसे धन देने लगे कि " कुरुनाथ युधिष्ठिर मेरेही धनसे यज्ञ निबटारा लेवें।' महाराज ' दर्शनार्थी देवोंके विमानोंका अगला भाग लगे, वह बलयुक्त उत्तर काल स्थायी सम्पूर्ण भवन इन्द्रादि लोकपालोंके विमान,ब्राह्मणोंके वासस्थान, नृपोंके लिये निर्मित नानारत्न जटित अति सम्पतसे सुशोभित विमान सदृश विचित्र दिव्य वासगृह और परम श्रीसम्पद सहित आये राजोंसे महात्मा कुन्तीकुमारकी वह सभा बहुत सुहावनी बनी। (११—१६)

अनन्तर युधिष्ठिरने ऐश्वर्यमें वरुणजीके समान बनके बहुदक्षिणा सहित षडग्निसाध्य राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया और सब लोगोंको सम्पदयुक्त सर्व प्रकार काम्य वस्तु देकर परितृप्त किया।

कृशानश्चान्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥
अर्थं मेधाविनः केचिदनुमानैः प्रपूरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवाऽऽमिषम् ॥ ६ ॥
केचिद्धर्मार्थकुशलाः केचित्तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ॥ ७ ॥
सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवाऽऽयता ॥ ८ ॥
न तस्यां सन्निधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाऽव्रती ।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥
तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् ।
तुतोष नारदः पश्यन्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥
अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप ।
नारदस्तु तदा पश्यन्सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥
सस्मार च पुरावृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ ।
अंशावतरणे याऽसौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ॥ १२ ॥

उसमेंसे कोई कोई शास्त्रनिश्चित तर्कसहित लघुमें गौरवका अर्थ और गुरुमें लघुका अर्थ सिद्ध करने लगे। (४–५)

बाजगण जैसे आकाशमें उड़ते समय आमिष कुचलते हैं, वैसेही कोई कोई मेधावी जन दूसरेके उदाहरण सहित अर्थको व्यर्थ करने लगे। सब भाष्योंके जानकारोंके वरिष्ठ कोई कोई महाव्रत ब्राह्मण विचारसे धर्मार्थ संयुक्त वचनोंको अलापते हुए रमने लगे। महाराज! वेदयुक्त देवद्विज महर्षियोंसे वह बड़ी फैली वेदी जैसे आकाश नक्षत्र समान सुहाने लगी। युधिष्ठिरके भवनकी उस अन्तर्वेदीके निकट उस कालमें कोई शूद्र वा व्रतवर्जित जन विद्यमान नहीं था। (६–९)

हे मनुष्यनाथ! देवर्षि नारद लक्ष्मीयुक्त धीमान धर्मनाथके यज्ञसे उपजी हुई लक्ष्मी निहारके प्रसन्न हुए। अनन्तर क्षत्रिय कुलकी वह भीड़ देखकर चिन्तावश हुए और ब्रह्माके भवनमें अंशावतरणके विषयमें जिसकी चर्चा हुई थी पुरातन कथाका स्मरण करने लगे। हे पुरुषश्रेष्ठ कुरुनन्दन! उस क्षत्रिय समाजको देवोंका समाज जान नारदने मनही मनमें पद्मनाभ हरिका स्मरण किया। सोचा कि पहिले जिन्होंने

महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥ २१ ॥
ततो भीष्मोऽब्रवीद्राजन्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥ २२ ॥
आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान्नृपं तथा ॥ २३ ॥
एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥
एषामेकैकशो राजन्नर्घ आनीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कस्मै भवान्मन्यतेऽर्घमेकस्मै कुरुनन्दन ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान् ।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णं पूजनीयतमं भुवि ॥ २७ ॥
एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाऽभाति ज्योतिषामिव भास्करः २८
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥२९॥

महाराज! अनन्तर भीष्मजीने धर्मनाथ युधिष्ठिरसे कहा, कि हे कुलतिलक युधिष्ठिर! राजोंकी यथायोग्य पूजा करो, देखो आचार्य, ऋत्विक, स्नातक, सम्बन्धी, मित्र और नरेश यह छः पुरुष अर्घ पानेके योग्य पात्र हैं। पण्डित लोग कहते हैं, कि आकर वर्षभर एकत्र रहनेहीमें ये अर्घ पाते हैं। यह भूपगण बहुदिन हमारे यहां आये हैं, सो इनमेंसे हरेकके लिये एक एक अर्घ एकत्रित करो। पर इनमें जो सबोंसे श्रेष्ठ है, उन्हींको पहिले दो। युधिष्ठिर बोले, कि हे कुरुनन्दन पितामह! मुझसे कहो, कि आप कौनसे असाधारण जनको पहिले अर्घ पानेके योग्य विचारते हो।(२१-२६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर शान्तनु-कुमार वीर्यवन्त भीष्मजी बुद्धिसे निश्चय कर वृष्णिकुलसे उपजे श्रीकृष्णचन्द्रको भूमण्डल भरमें पहिले पूजा पानेके योग्य विचारके बोले, कि जैसे सब ज्योतिर्मालाओंमें आदित्य सबमें तेजोवन्त है वैसेही इन राजोंमें श्रीकृष्णचन्द्र तेज, बल और पराक्रमसे अति प्रकाशित दीख पडते हैं। सूर्य

एवंभूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥१६॥
असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः।
संभावयति चाऽप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्द्दनः॥१७॥
एवमेतत्सर्व्वमिति तत्सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥ १८ ॥
न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिंगशकुनिर्यथा॥ १९ ॥
नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नाऽत्र संशयः ।
अतः पापीयसी चैषां पाण्डवानामपीष्यते ॥ २० ॥
येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २१ ॥
को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः।
कुर्याद्यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥ २२ ॥
चेत्त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं साऽपहृता त्वया ॥२३॥
तां त्वयाऽपहृता भीष्म कन्या नैषितवान्यतः।

अजी भीष्म ! गो घातक और स्त्री हत्यारे होने पर भी यदि तुम्हारी बातमे पूजनीय हो, तो वह उपदेश वचन कहां रहेगा ? अजी भीष्म ! जो ऐसा है वह क्योंकर स्तुति योग्य हो सकता है ? तुम्हारी ऐसी प्रशंसाकी बातोंमे, कि ' यह ज्ञानके मुखिया, जगतके प्रभु है " जनार्दन भी यह सब सच मान अपनेको उन सबोंके योग्य समझ रहा है, पर वास्तव मे वह सब झूठ है। गवैयेके बहुत बार गानेसे भी सङ्गीत उसका शासन नहीं कर सकता. भूलिङ्ग पक्षीके समान सब प्राणी अपनी अपनी आकृति प्राप्त करते है। इसमें कुछभी सन्देह नहीं है, कि तुम्हारी यह प्रकृति भी बहुत बुरी है। और भी कृष्ण जिनका प्रधान पूजनीय और तुम जिनके बाट दिखानेवाले हो यह कहनेमे कथा बढ जाती है, कि उन पाण्डवोंकी प्रकृति तुमसे भी नीच है। (१६—२१)

वास्तवमे तुम धर्मवान् होकरके भी साधुओंके पथसे हट जानेसे अधार्म्मिक बने हो, क्योंकि धर्मसे तुमने जो कर्म किया है क्या कोई ज्ञानकी बडाई रखने वाला वैसा कर सकता है? अजी भीष्म! अम्बा नाम धर्मवती काशीराजकी पुत्रीने और कामना की थी, तुमने प्राज्ञ होनेकी

भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २४ ॥
दारयोर्यस्य चाऽन्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः ।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २५ ॥
को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद्धारयसि मोहाद्वा क्लीबत्वाद्वा न संशयः ॥ २६ ॥
न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥ २७ ॥
इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ २८ ॥
व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् ।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २९ ॥
सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
हंसवत्त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ ३० ॥
एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा ।
भीष्म यत्तदहं सम्यग्वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३१ ॥

बडाई रखकर क्योंकर उसे हर लिया था ? तुम्हारे भाई नरनाथ विचित्रवीर्यने साधुओंकी वाट लेय तुम्हारी हरी उस कन्याका अन्यपूर्वा कहके नहीं लिया। तुम प्राज्ञ कहनेकी ऐसी बडाई रखते हो, कि तुम्हारे सामनेही विचित्रवीर्यकी दो स्त्रियोंमें अन्यजन द्वारा सज्जनसे आचरण किये पथके अनुसार सन्तान उपजायी गई थीं; अजी भीष्म भला तुम्हारा धर्म क्या है? तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य व्यर्थ है, या तो भ्रम, नहीं तो नपुंसक होनेके कारण तुमने इसे लिया है। (२१-२६)

अजी धर्मज्ञ! मैं कहीं भी तुम्हारी उन्नति नहीं देखता हूं। तुम धर्मकी जैसी व्याख्या करते हो, तिससे निश्चय जान पडता है, कि तुमने कभी पण्डितोंकी उपासना नहीं की है। देखो, देव-सेवा, दान, पठन, बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञ, यह सब पुत्र फलके सोलहवां भागके योग्य भी नहीं हो सकते। अजी भीष्म! बहुविध व्रत उपवासमे जो कुछ पुण्य होता है, पुत्र हीन जनका वह सब निः-सन्देह व्यर्थ हो जाता है। तुमभी विना पुत्र वृद्ध हुए हो और झूटे धर्म पर चलते हो, सो हंसकी भांति अब ज्ञातियोंसे वध जाओ। (२७ — ३०)

अजी भीष्म! ज्ञानमे पण्डित दूसरे मानवभी पहिले यह कह गये है, मै

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत्पुरा।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिण सोऽनुशास्ति च॥३२॥
धर्मं चरत माऽधर्ममिति तस्य वचः किल।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः॥३३॥
अथाऽस्य भक्षमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः।
अण्डजा भीष्म तस्याऽन्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम॥३४॥
ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याऽण्डानि सर्वशः।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः॥३५॥
तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत्।
स हंस संप्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि॥३६॥
ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपर।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद्ददर्श ह॥३७॥
ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम्।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम्॥३८॥
ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूत्तम॥३९॥

भली प्रकार तुमसे वह कह सुनाता हूं, सुनो। पहिले समुद्रके निकट एक बूढा हंस रहता था। वह बडा अधर्म किया करता था,पर धर्मकी कथा सुनाय सुनाय पक्षियोंको उपदेश करता फिरता था। सच कहनेवाले पक्षीगण उसकी यह बात, कि "तुम धर्म करो, अधर्म मत कीजे।" सदा सुनते थे। अजी भीष्म! सुना जाता है, कि समुद्रके जलमें चरनेवाले दूसरे अण्डजभी धर्मार्थमें उसको भोजन जुटा देते थे और सब उसके निकट अपने अपने अण्डे धर चरते चरते सागर जलमें डूबते थे। वह पापिष्ठ हंस अपने कर्ममें सदा सावधान रह भूले भटके उक्त पक्षियोंके अण्डे खा जाता था। (३१-३६)

अनन्तर धीरे धीरे उन सब अण्डोंको चुक जाने पर दूसरा एक बडी बुद्धि वाला पक्षी मनही मनमें भय खा गया और किसी एक दिन प्रत्यक्षमें भी वह लीला देख ली। आगे हंसका पापकार्य देख दुःखी होकर उस पक्षीने सब पक्षियोंसे कह दी। अजी कुरुश्रेष्ठ! इसके पीछे उन पक्षियोंने प्रत्यक्षमें उसे देखकर निकट आके उस झूठे बकवादी पक्षीको मार डाला। अजी भीष्म! तुमभी उस हंसके धर्ममें चलते हो, सो पक्षियोंने

ते त्वां हंससधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः ।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तामिवाऽण्डजम् ॥४०॥
गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
भीष्म यां तां च ते सम्यक्कथयिष्यामि भारत ॥४१॥
अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाऽशुचि।
अण्डभक्षणकर्मैतत्तव वाचमतीयते ॥ ४२ ॥ [१५०८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्ये एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

शिशुपाल उवाच—स मे बहुमतो राजा जरासन्धो महाबलः ।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥
केशवेन कृतं कर्म जरासन्धवधे तदा ।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत्साध्विति मन्यते ॥२॥
अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना ।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासन्धस्य भूपतेः ॥ ३ ॥
येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता।
नैषितं पाद्यमस्मै तद्दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥

उसे जैसे मारा था, वैसे यह भूप भी क्रोधवश तुमको हनन कर सकते है। अजी भरतपुत्र! पुराणके जानकार पण्डित लोग इस विषयमें एक कथा कहते है। उसे भी पूरी पूरी तुमसे कह सुनाता हूं। "रे हंस! कामादिसे तेरा अंतरात्मा घायल होने परभी तू धर्मका बकवाद कर रहा है, पर अण्डा खानेके समान यह अपवित्र कर्म तेरी बातके ऊपर चढ जाता है।" (३७—४२) [१५०८]

सभापर्वमें एकतालिस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें बयालिस अध्याय।

शिशुपाल बोला, कि इस कृष्णको दास जानके जिन्होंने इससे लडना नहीं चाहा था, वह महाबली बडे पराक्रमी राजा जरासंध मेरे बडे माननीय थे। जरासन्धके मारे जानेके कालमें केशव और भीमार्जुनने जो कर्म किया था, उसे कौन सुकर्म्म जान सकता है? इस कृष्णने कुद्वारसे घुसकर छलसे अपनेको ब्राह्मण कहके नरनाथ जरासन्धका प्रभाव भले प्रकार समझ लिया। इस दुरात्माको उनके पहिले पाद्य देनेको उद्यत होने पर इसने तब धर्मात्मा बनके अपनी ब्राह्मणाई दिखाके उसे नहीं लिया था। (१—४)

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः ।
जरासन्धेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥
यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे ।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥
इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदीमे पाण्डवास्त्वया ।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥७॥
अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत ।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु ।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥
तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते ।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥
त्रिशिखां भ्रुकुटीं चाऽस्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥
दन्तान्संदशतस्तस्य कोपाद्ददृशुराननम् ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥

अजी कुरुकुमार! जरासन्धने जब कृष्ण, भीम और धनञ्जयको भोजन करनेको कहा था, तब कृष्णने बाधा देके बात नहीं मानी थी। रे मूर्ख! तेरे मतमें यदि यह जगत्का कर्त्ताही होगा तो अपनेको ब्राह्मण करके भली भांति क्यों नहीं जान लेता? मुझको मनमें बड़ा आश्चर्य यह जान पड़ता है, कि यद्यपि तुम पाण्डवोंको साधुओंके पथसे हटाते हो, तिसपर भी वे तुम्हारे अभिप्रायको भला समझते हैं, अथवा स्त्री स्वभावी बनके और अवस्था पाके जब तुम इनके सब अर्थोंके दर्शानेवाले बने हो, तब इसमें आश्चर्य ही क्या है? (५–८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कठोर अक्षरोंकी बहुतेरी कटीली बातोंको सुनके बलियोंमें श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधयुक्त हुए। कमलदल सदृश स्वभावहीसे फैले और क्रोधसे लाल भये दोनों नेत्र और भी फैले और बड़े लाल बन गये। सब भूप त्रिकूट चोटीके निकट रहती तीन धारोंसे चलती गंगाजीके समान उनके ललाट पर त्रिशिखाकी भ्रुकुटि निहारने लगे। क्रोधके मारे दांतसे दांत पीसते हुए उनका मुखमण्डल मानो युगान्तके सब लोगोंको निगलनेवाले कराल कालके

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम् ।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥
तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत ।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४॥
नाऽतिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः ।
मरुद्धूतो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥
शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप ।
नाऽकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६॥
उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिन्दम ।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥ १७॥
प्रहसंश्चाऽब्रवीद्वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमतिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥
मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः ।
मत्प्रभावाविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥
ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत्कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥ [१५२८]

इति श्री० म०संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२

समान दीख पडने लगा। वह महानचित्त वेगसे उठ रहे थे, कि ऐसे समयमें शशिभूषण जैसे षडानन को पकडते है वैसे महाभुज भीष्मजीने उनको रोकलिया।(९-१२)

हे भारत ! पितामह भीष्मजीने भीम को रोक कर बहुविध वचनसे उनका क्रोधवेग शान्त कर दिया; क्योंकि लहराता हुआ महासमुद्र वर्षा बीतने पर तटकी भूमिके ऊपर नहीं चढता, वैसे शत्रु दमन वृकोदर भीष्मजीकी बात पलट नहीं सके। पर भीमसेनके क्रोधसे भरने परभी वीरवर शिशुपाल अपनी बडाई पर निर्भर कर कुछभी टला नहीं! (१३ १६)

हे शत्रुदमन ! सिंह जैसे छोटे मृगको तुकभी नहीं मानता वैसे वृकोदरके वेगसे बारबार चढजानेकी इच्छा दिखाने परभी उनसे उसको कोई भय नहीं हुआ। भीम पराक्रमी भीमसेनको सब प्रकारसे क्रोधित देखकर प्रतापी चेदिनाथ हंसता हुआ यह बोला. कि अजी भीष्म ! उसे छोड दो। यह भूपगण उसे अग्निसे पतङ्ग की भांति मेरे प्रभावाग्निमें जलजाते देख लेवें। अनन्तर चेदिनाथकी वह बात सुनकर प्राज्ञोंके मुखिये कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी भीमसे

भीष्म उवाच-- चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः ।
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ॥ १ ॥
तेनाऽस्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागाय कुरुतां मतिम् ॥ २ ॥
ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् ।
चिन्तासंमूढहृदयं वागुवाचाऽशरीरिणी ॥ ३ ॥
एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो बलाधिकः ।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥४॥
न चैव तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः ।
मृत्युर्हन्ताऽस्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५॥
संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः ।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति ।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥
याथातथ्येन भगवान्देवो वा यदि वेतरः ।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ८॥

पीछे कहे यह वचन बोले । (१७-२०)

सभापर्वमें बयालिस अध्याय समाप्त। (१५७८)

सभापर्वमें तेतालिस अध्याय।

भीष्मजी बोले, कि यह शिशुपाल त्रिनेत्र और चतुर्भुज बनके चेदिकुल में उपजा था, और जन्म लेतेही गदहेके समान चिल्लाया था, उस पर उसके पिता माताने बान्धवों सहित भय पाय वैसे विकृत लक्षण देखकर उसे त्यागना चाहा। अनन्तर स्त्री मन्त्री और पुरोहित सहित घबराये। उन नरनाथ पर यह आकाशवाणी उच्चारी गयी, कि "हे नरनाथ! यह जो तुम्हारा पुत्र उपजा है, यह बडा बली और श्रीमन्त होगा, सो इसमें तुमको भय नहीं है, तुम बिना घबराये इस बच्चेको पालो। हे नरनाथ! तुम्हारे प्रयत्नसे इसकी मृत्यु नहीं होगी, अभी इसके मरनेका काल नहीं आया। शस्त्रसे जो इसे मारेंगे वह जन्मे हैं। ' (-५)

यह देववाणी सुनके माता पुत्रस्नेहसे बहुत दुःख मान तब उस अदृश्यभूतके उद्देशसे यह बोली, कि " मेरे पुत्रपर, जिन्होंने यह वाणी कही, वह भगवान चाहे देवता वा दूसरे कोई प्राणी हो, मैं कर जोड उनको प्रणाम करती हूं। वह सत्य करके और एक बात कहें, मैं सुना

अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः ।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९ ॥
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तृतीयमेतद्बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ।
त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन्दिदृक्षवः ।
तान्पूजयित्वा संप्राप्तान्यथार्हं स महीपतिः ॥ १२ ॥
एकैकस्य नृपस्यांके पुत्रमारोपयत्तदा ।
एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
शिशुरङ्के समारूढो न तत्प्राप निदर्शनम् ।
एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ॥ १४ ॥
ततश्चेदिपुरीं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥
अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम् ।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १६ ॥
साऽभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाऽभ्यधिकं ततः।

चाहती हूं, कि कौन इस पुत्रका मारने वाला होगा। अनन्तर फिर यह देववाणी हुई, " कि जिनकी गोदमें रखनेसे इस बच्चेके दो अधिक भुज, पांच सिरवाले दो सर्पोके सदृश धरती पर गिर जायगे और जिनको देखकर इसके लिलार परका यह तीसरा नेत्र लोप हो जायगा, वही इस को मारेंगे।" (९—१०)

त्रिनेत्रवान् चतुर्भुज बालक और उसपर कही देववाणीका वृत्तान्त सुनकर पृथ्वी भरके सब नरेश उसे देखनेको आये। चेदिनाथने उनको यथा योग्य पूजा कर हर नरेशकी गोदमें पुत्रको रख दिया। इस प्रकारसे क्रमशः सहस्र भूपोंकी गोदमें चढने परभी बच्चे पर देववाणी का वर्त्ताव नहीं हुआ। द्वारका में यह वृत्तान्त सुन यदुनन्दन महाबली बलराम और जनार्दन यदुकन्या फूफीसे भेट करनेको उस समय चेदिनगरमें आये और श्रेष्ठताके अनुसार राजा रानी के पांवमें लगके कुशल क्षेम पूछकर आसनोंपर बैठे। (११–१६)

अनन्तर उन दो वीरोंके पूजे जाने पर राजमहिषीने बहुत अधिक प्रीतिसे

पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी सन्यदधात्स्वयम् ॥ १७॥
न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ।
पेततुस्तच नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥ १८ ॥
तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत।
ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ॥ १९ ॥
त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः ।
एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद्यदुनन्दनः ॥ २० ॥
मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव।
ददामि कं वरं किं च करवाणि पितृष्वसः ॥ २१ ॥
शक्यं वा यदि वाऽशक्यं करिष्यामि वचस्तव ।
एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद्यदुनन्दनम् ॥ २२ ॥
शिशुपालस्यापराधान्क्षमेथास्त्वं महाबल ।
मत्कृते यदुशार्दूल विद्ध्येनं मे वरं प्रभो ॥ २३ ॥

कृष्ण उवाच— अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः ।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः॥२४॥

भीष्म उवाच— एवमेष नृप. पापः शिशुपालः सुमन्दधीः ।

स्वयं दामोदरकी गोदमें पुत्रको दे दिया। कृष्णकी गोदमें जातेही उसके दो अधिक भुज गिर गये और लिलार पर उपजा हुआ वह नेत्र भी अदृश्य हुआ। यह देखकर राणी व्यथा पाय भय खाय कृष्णसे वर माग बोली, कि हे महाभुज कृष्ण ! मैं नयसे घबराय गयी हूं, मुझको एक वर दो, क्योंकि तुम दुखियोंकी आश्रय और भय पायोंको निर्भय करनेवाले हो। फूफीकी ऐसी कातर वाणी सुनके यदुओंके आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र उसको ढाढस देकर बोले, कि देवि ! भय मत खाओ, मुझसे आपको भय नहीं है। हे धर्मवति! मै क्या वर दूं, कहो मुझको क्या करना होगा, चाहे साध्य हो,वा असाध्य हो, मैं अवश्यही आपकी बात मानूंगा। (१७—२२)

श्रीकृष्णकी वह बात सुनके उस समय राजमहिषीने उनसे कहा, कि हे महाबली यदुशार्दूल ! मेरे लिये तुमको शिशुपालका सब दोष क्षमा करना पडेगा। हे प्रभो ! यही मेरी प्रार्थना है। श्रीकृष्ण बोले, कि हे फूफी ! आपका पुत्र वधयोग्य भी हो तो मै इसके सौ दोषोंकी क्षमा करूंगा, अतएव आप शोकयुक्त न होवें। (२३—२४)

त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः ॥ २५ ॥[१५५३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच— नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १ ॥
को हि मां भीमसेनाऽद्य क्षितावर्हति पार्थिवः ।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ॥ २ ॥
एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंशश्च हरेर्ध्रुवम् ।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः ॥ ३ ॥
येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट् ।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो न ममृषे चैद्यस्तद्भीष्मवचनं तदा ।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥ ५ ॥
शिशुपाल उवाच—द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः ।
यस्य संस्तववक्ता त्वं बन्दिवत्सततोत्थितः ॥ ६ ॥

भीष्मजी बोले, कि हे भीम! इस प्रकार गोविन्दके वरसे अहङ्कारी बन करकेही यह अति कुबुद्धि पापात्मा भूपाल शिशुपाल तुमको युद्धके लिये ललकार रहा है। (२५) [१५५३]

सभापर्वमें तेतालीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें चवालिस अध्याय

भीष्मजी बोले, हे वृकोदर! तुम्हारे अक्षय सत्त्ववान् होने पर भी चेदिपतिकी युद्धमें ललकारनेकी बुद्धि उसकी अपनी नहीं जान पडती; इसमें सन्देह नहीं, कि यह जगभर्त्ता श्रीकृष्णचन्द्रकी ही उपाय है। कालग्रसित देहधारी इस कुलाङ्गारने आज मुझको जैसा झिडका पृथ्वी भरमें कौन नरेश वैसा करनेका साहस रखता होगा। यह महाभुज निःसन्देह कृष्णके तेजहीका अंश है, नारायण निश्चयही उस तेजको हर लेना चाहते होंगे। हे कुरुशार्दूल! यह कुबुद्धि चेदिनाथ हम सबोंको अनादर पूर्वक शार्दूल सदृश बहुत हांकता, झिडकता है। (१ - ४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर चेदिनाथसे उस समय भीष्मका वह वचन सहा नहीं गया। वास्तवमें बहुत क्रोधित होके फिर उनका प्रत्युत्तर करने लगा। (५)

शिशुपाल बोला, अजी भीष्म! तुम भाट समान उठके सदा जिसकी स्तुति

संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि ।
तदा संस्तौपि राजस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥
दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद्दारिता मही ॥ ८ ॥
वंगांगविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले ।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥ ९ ॥
यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते ।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥
वासवप्रतिमो येन जरासन्धोऽतिदुर्जयः ।
विजितो बाहुयुद्धेन देहभेदं च लम्भितः ॥ ११ ॥
द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥
ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचरम् ।
इमां वसुमतीं कुर्यान्निशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥
द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम् ।
नाऽश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च तौ स्तोतुमिच्छसि १४

गा रहे हो, उस केशवका जो प्रभाव है, हमारे शत्रुओंका उतनाही हो। अजी भीष्म ! परायी स्तुति पर यदि तुम्हारा मन चला हो, तो राजाको छोडके क्यों इन जनार्दनका स्तव करते हो ? जिन्होंने जन्म लेकर पृथ्वी फाड डाली, उन नरश्रेष्ठ बाह्लीक नाथ दरदकी स्तुति गाओ ! अथवा जिन महाभुजके देवोंसे बने यह दो स्वाभाविक कुण्डल और तपे आदित्य समान प्रभावी दिव्य कवच सुहाते हैं, जिन्होंने इन्द्र समान पराक्रमी कठोर जरासन्धको बाहुयुद्धमें जय किया और देह अलग करदी थी, अङ्ग और वंगके अधीश बाहुबलमें साक्षात् सहस्र नेत्र सदृश सब चापधारियोंमें श्रेष्ठ उन कर्णकी स्तुति गाओ। (६-११)

अजी भीष्म ! स्तुतिके योग्य द्विजोत्तम द्रोण और अश्वत्थामा इन दो पिता पुत्रकी सदा खुशामद करो। मुझको जान पडता है, कि इन दोनोंमें एक क्रोधित होनेसे चराचरयुक्त सब धरतीको नष्ट कर सकते हैं। अजी भीष्म ! ऐसा एकभी राजा नहीं दीखता, जो युद्धमें द्रोण वा अश्वत्थामाके योग्य होसके, पर कैसे आश्चर्यकी बात है, कि इनकी स्तुति करने को तुम्हारा जी नहीं चाहता। (१२-१४)

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत्।
दुर्योधनं तं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम्।
द्रुमं किंपुरुषाचार्य लोके प्रथितविक्रमम् ॥ १६ ॥
अतिक्रम्य महावीर्य किं प्रशंससि केशवम्।
वृद्धं च भरताचार्य तथा शारद्वतं कृपम् ॥ १७ ॥
धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणां पुरुषोत्तमम्।
अतिक्रम्य महावीर्य किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥
भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्त्रं च भूमिपम्।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥ १९ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तमम् २०॥
शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम्।
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिंगं च महारथम् ॥
अतिक्रम्य महावीर्य किं प्रशंससि केशवम् ॥ २१ ॥
शल्यादीनपि कस्मात्त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान्।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥
किं हि शक्यं मया कर्तुं यद्वृद्धानां त्वया नृप।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥ २३ ॥

सागरसहित धरनीभरमें जो तुलनारहित गिने जा सकते है, उन महाभुज राजनाथ दुर्योधनको, अस्त्रमे पण्डित अति विक्रमी राजा जयद्रथको, लोकमें प्रसिद्ध पराक्रमी किंपुरुषाचार्य द्रुमको, और भरताचार्य शारद्वत वृद्ध कृपको छोडके तुम केशवकी प्रशंसा क्यों करते हो? अति वीर्यवन्त भीष्मक, भूनाथ दन्तवक्र, यूपध्वज, भगदत्त मगधनाथ जयत्सेन, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्तीनाथ, विन्द और अनुविन्द, पाण्ड्य, श्वेत, उत्तम महाभाग शङ्ख, अति माननीय वृषसेन, विक्रमी एकलव्य और महारथी अति वीर्यवन्त कलिङ्गनाथ, इन्हें छोडके तुम केशवकी प्रशंसा क्यों करते हो? अजी भीष्म सदा स्तुति गाने ही पर तुम्हारा मन चले, तो शल्यादि भूपालोंका स्तव क्यों नहीं करते? १५-२२

अजी नृप!! पहिले धर्म मानने वाले वृद्धोंकी कथा सुननेमें जब तुमने कोई भी

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः।
अनाचरितमार्याणामिति ते भीष्म न श्रुतम् ॥२४॥
यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात्संस्तौषि भक्तितः।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥ २५ ॥
कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि ।
समावेशयसे सर्वं जगत्केवलकाम्यया ॥ २६ ॥
अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिंगशकुनिर्यथा ॥ २७ ॥
भूलिंगशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे ।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः॥२८॥
मा साहसमितीदं मा सततं वाशते किल।
साहसं चाऽऽत्मनाऽतीव चरन्ती नाऽवबुध्यते॥२९॥
सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात्सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतना ॥ ३० ॥
इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम्।
तद्वत्त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥ ३१ ॥

बात नहीं सुनी है, तब मैं गाल बजाकर क्या कर सकता हूं? अजी भीष्म! तुमने कभी यह बात नहीं सुनी है, कि अपनी निन्दा वा प्रशंसा और परायी निन्दा वा स्तुतिगान आर्योंकी रीति नहीं है। स्तवके अयोग्य इस केशवकी भक्ति सहित तुम्हारा सदा मोहवश स्तव करना किसीको प्रिय नहीं है। अजी भीष्म! केवल अपनी इच्छासे तुम कंसके पशुपालनेहारे दास दुरात्मा जनमें क्यों कर जग भरको पैठा रहे हो? (२३—२६)

अथवा यह बुद्धि भूलिंग पक्षीसी तुम्हारी प्रकृतिसिद्ध नहीं है, मैंने तो यह बात पहिले कह दी थी। अजी भीष्म! भूलिङ्गनाम्नी एक पक्षिणी हिमाचलके पथके किनारे रहती है। उसके अर्थविरोधी उलट पुलट वचन सदा सुन पडते हैं। वह सदा यह कहती है, कि "कोई साहसी कर्म मत करना," पर उसको यह समझ नहीं होती, कि आपही बडा साहसी कर्म कर रही है। वह स्वल्पबुद्धि पक्षिणी भोजन करते हुए सिंहके मुखसे दन्तोंके बीचमें दबाये मांसके खण्डको चोंचद्वारा खींच लेती है। (२७—३०)

अजी भीष्म! इसमें टुकभी सन्देह नहीं है, कि वह सिंहकी इच्छा पर जीती

इच्छता भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम् ।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नाऽन्योऽस्ति भवता समः ३२॥

वैशम्पायन उवाच— ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥ ३३ ॥
इच्छतां किल नामाऽहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
सोऽहं न गणयाम्येनांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥३४॥
एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः ।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद्भीष्मं जगर्हिरे ॥ ३५ ॥
केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद्वचः ।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नाऽयं भीष्मोऽर्हति क्षमाम्॥३६
हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत्साध्वयं नृपाः ।
सर्वैः समेत्य संरब्धो दह्यतां वा कटाग्निना ॥३७॥
इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः ।
उवाच मतिमान्भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥३८॥
उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये ।
यत्तु वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥३९॥

है । रे अधार्मिक ! तू भी वैसी कपटवाणी कहा करता है । इसमें सन्देह नहीं, कि तू भूपालो की इच्छा पर जीता है । क्योंकि लोकहिंसक कार्य्य करनेमें कोई तेरे समान विद्यमान नहीं है । श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे महाराज ! अनन्तर चेदिनाथकी बडी कटीली बाते सुनकर भीष्म उसे सुनाय यह वचन बोले, कि हां ! मै इन भूपोंहीकी इच्छा पर जीता होता हूं, पर इन भूपोंको मै तिनके समानभी नहीं समझता । (३३—३४)

भीष्मके यह वचन कहते ही भूपवर्ग चिल्ला उठे । उनमें किसी किसी बडे चापधारीके रोवें खडे होगये, कोई कोई भीष्मकी निन्दा करने लगे और कोई कोई उनकी यह बात सुनकर बोले, कि "यह पापात्मा भीष्म वृद्ध हो करकेभी गर्व प्रगट करता है, सो इसे क्षमा करना उचित नहीं । हे भूपवर्ग ! इस क्रोधित भीष्मको पशु समान मार डालनाही उचित है, अथवा सब मिल इसे सूखे तिनकेकी आगसे भूज डालो! (३५-३८)

अनन्तर कुरुपितामह महानचित्त भीष्म राजोंके यह वचन सुनके उनसे बोले, अजी भूपो ! देखता हूं, बातें चुकने की नहीं है, ज्यों ज्यों कहते जाओगे, त्यों त्यों बढती

पशुवद्धातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना ।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥४०॥
एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः ।
यस्य वा त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥ ४१ ॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् ।
यादवस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥ ४२ ॥ [१५९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच— ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः ।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥
आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन ।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥
सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः ।
नृपतीन्समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥
ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् ।
अनर्हमर्हवत्कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

जायंगी। पर अब मैं जो कहता हूं, सब ध्यान लगाय सुनो। मैं पशु समान माराही जाऊं वा तिनकोंकी आगसे भूना जाऊं, पर तुम्हारे सिर पर यह भरपूर लात जमाता हूं। अक्षय सत्त्ववान गोविन्दको हमने पूजा है, और वह भी यहां विद्यमान है, सो मरनेकी जिसकी बुद्धि दौडती हो, वह गदा चक्रधारी माधव श्रीकृष्णको आज युद्धमें ललकारे और उसी क्षण मारा जाय इन देवकी देहमें ही लय हो जावे। (३९–४२) [१५९५]

सभापर्वमें चौवालिस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें पैंतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अनन्तर भीष्मका वचन सुन करकेही अति विक्रमी चेदिनाथ वासुदेवसे लडनेकी इच्छा कर उनसे बोला, अजी जनार्दन ! तुम को ललकारता हूं, आओ मुझसे लड जाओ, आज पाण्डव सहित निश्चयही तुमको मारूंगा। अजी कृष्ण ! तुम्हारे राजा नहीं होने परभी जिन्होंने भूपोंको छोडके तुम्हारी पूजा की है, उन पाण्डवों को मैं तुम्हारे साथही सब प्रकारसे निःसंदेह नष्ट करूंगा। रे मन्दबुद्धि ! तू राजा नहीं, दास है, सो किसी प्रकार पूजायोग्य नहीं हो सकता, तिस परभी

महाभारत चित्र माला । चित्र संख्या २३



मयसभा ।

दुर्योधन जलभरे स्थानको स्थल जानकर वस्त्र सहित जलमें जा गिरा ।

[म० भा० सभापर्व अध्याय ४५]

इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्पणः ॥ ५ ॥
एवमुक्ते ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः ।
उवाच पार्थिवान्सर्वान्स समक्षं च वीर्यवान् ॥ ६ ॥
एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः ।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥ ७ ॥
प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत् ।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन्नराधिपाः ॥ ८ ॥
क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ ।
हत्वा बध्वा च तान्सर्वानुपायात्स्वपुरं पुरा ॥ ९ ॥
अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम् ।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत्पापनिश्चयः ॥ १० ॥
सौवीरान्प्रतियातां च बभ्रोरेष तपस्विनः ।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितोगताम् ॥ ११ ॥
एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।

जिन्होंने लडकोंकी बुद्धिसे तुझे योग्य सा बनाय तेरी पूजा की है, मेरे मतसे वे निश्चयही वध योग्य है । राजशार्दूल शिशुपाल क्रोधके मारे यह वचन बोलके गरजने लगा । (१—५)

उसके ऐसा कहनेके पीछे श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके सामने राजोंसे धीमी धुनसे यह बात बोले, कि हे नरेन्द्र ! यह निठुरात्मा यादवीपुत्र मेरे आदि यादवोंका बडा शत्रु हैं, हम इसकी हानिकी चेष्टा नहीं करते, तिस परभी यह बुराईमें कटिबद्ध होता है । हमको प्राग्ज्योतिष पुरसे गये जानके इस निष्ठुरने मेरे पिताका भाञ्जा होने परभी द्वारका नगरीको फूक दिया था । हे नरेशो ! पहिले राजा भोज रैवतक पर्वत पर विहार कर रहे थे । यह दुराचारी उनके सहचरोंको मारके और बधकर अपने पुरको पधारा था । (६—९)

मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये इस पापात्माने दिग्विजयके निमित्त अच्छे रखवारोंसे घिरे यज्ञके अश्वको चुराया था । तपस्वी बभ्रु की स्त्री यहांसे सौवीर राज्यको जा रही थी, इस दुराचारीने उसकी इच्छा न रहने परभी उस नारीको मोहसे हरण किया था । और भी मामाकी बुराई करनेवाले शिशुपालने कपटपनसे राजा करूषके वेशसे देह लुपाय उक्त राजाके लिये निर्दिष्ट विशाली पतिकी पुत्री भद्राको

जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ १२॥
पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ॥ १३ ॥
पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥१४॥
इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद्वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥१५॥
रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः।
न च तां प्राप्तवान्मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥१६॥
वैशम्पायन उवाच- एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराज व्यगर्हयन् ॥ १७॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान्।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥
मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन्।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥१९॥
मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत्।

हर लिया था। केवल फूफीजीके लिये मै इन बडे भारी दुःखोंको सह लेता हूं, पर आज सब राजोंके सामने यह प्रगट होना सौभाग्य ही है। क्योंकि मुझ पर इसकी अति विरुद्धता आज आपने प्रत्यक्ष कर ली और इसने परोक्षमे मेरी जितनी हानि की है वह भी सब सुन चुके. वह चाहे जो कुछ हो. आज सब राजोंके सामने वध योग्य इस नराधमकी गर्व वश जो विरुद्धता दीख पडी उसकी क्षमा मै नहीं कर सकूंगा। इस मूर्खने मूढता से मृत्युका अभिलाषी बनकर रुक्मिणी की प्रार्थना की थी, पर शूद्र के वेद सुननेकी भांति उसका लाभ नहीं कर सका था। (१०-१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अनन्तर वे मिलित नरेशवर्ग वासुदेवकी यह बात सुनके सब चेदिनाथकी निन्दा करने लगे। प्रतापी शिशुपाल उनका वह वचन सुनके जोरसे हंसकर यह बोला, अजी कृष्ण! पहिले मेरे लिये निर्दिष्ट रुक्मिणीकी बात इस सभामें विशेष राजोंके सामने कहते तुमको लाज नहीं आती क्या? अजी मधुसूदन! तुम बिना दूसरा कौन अपनेको पुरुष करके अपनी स्त्रीको साधुसमाजमे अन्य-पूर्वा कह



शिशुपाल वध।

[म० भा० सभापर्व अध्याय ४५]

अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ २० ॥
क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।
क्रुद्धाद्वापि प्रसन्नाद्वा किं मे त्वत्तो भविष्यति॥२१॥
तथा ब्रुवत एवाऽस्य भगवान्मधुसूदनः ।
मनसाऽचिन्तयच्चक्रं दैत्यगर्वनिषूदनम् ॥ २२ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २३ ॥
शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत्क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्य मातुरस्यैव याचने ॥ २४ ॥
दत्तं मया याचितं च तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् २५॥
एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात् ।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणाऽमित्रकर्षणः ॥
स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाऽचलः ॥ २६ ॥
ततश्चेदिपतेर्देहात्तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ।
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम् ॥ २७ ॥
ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।

सकता है ? अजी कृष्ण ! मन चाहे तो मुझको क्षमा करो, नहीं तो न करो। तुम चाहो रिसाओ वा प्रसन्न हो, तुमसे मुझे क्या भय है। (१७–२१)

शिशुपाल ऐसा कहताही था, कि ऐसे समयमें भगवान् मधु सूदनने मनही मनमें दैत्यगर्वनाशी सुदर्शन चक्रको स्मरण किया। पलभरमें चक्र हाथमें आजानेपर भगवान चिल्लाकर वाक्योंमें यह बोले, कि हे भूपालो ! जिस हेतु इसके दोषोंकी क्षमा की थी, वह सुनिये। इसकी माताने मुझसे यह वर मागा था, कि "इसके सौ दोष क्षमा करने होंगे" और मैंनभी उनका मांगा वर दिया था। हे भूपो ! अब वे पूर्ण हुए, सो आपके सामनेही मैं इसको मारूंगा। (२२–२५)

अरिनाशी, यदुश्रेष्ठने यह कहके रिसा कर चक्रसे उसीक्षण शिशुपालका सिर काट डाला। महाभुज शिशुपाल मानो वज्रसे घायल पहाडके समान गिर गया। महाराज ! तब नरेशोंने देखा, कि आकाशतलसे आदित्यसदृश तेजोराशि शिशुपालकी देहसे उड गयी। हे नरनाथ !

ववन्दे तत्तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥ २८ ॥
तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः ।
यद्विवेश महाबाहुं तत्तेजः पुरुषोत्तमम् ॥ २९ ॥
अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताऽशनिः ।
कृष्णेन निहिते चैद्ये चचाल च वसुन्धरा ॥ ३० ॥
ततः केचिन्महीपाला नाऽब्रुवंस्तत्र किंचन ।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३१ ॥
हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः ।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन्क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ३२ ॥
रहश्च केचिद्वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३३ ॥
प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः ।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः॥३४॥
शशंसुर्निर्वृताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम् ।
पाण्डवस्त्वब्रवीद्भ्रातृन्सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३५ ॥
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम् ।

अनन्तर वह तेजोराशि लोकोंके नमस्कार योग्य उन कमल लोचन कृष्णके पांवमें लगके उनकी देहमें मिल गयी। महाभुज पुरुषोत्तममें इस तेजको प्रविष्ट होते देखकर सब राजोंने अचरज माना। श्रीकृष्णचन्द्रके चेदिनाथको मारने पर विना बादल जलवृष्टि, प्रज्वलित वज्रपात और भूकम्प होने लगा। (२६ -३०)

वचनोंसे प्रकाशके अयोग्य उस कालमें किसी किसी भूपालने उनको निहारके उस विषयमें चूं तक नहीं किया, कोई कोई रिसके मारे हाथसे हाथ मलते रह गये, कोई कोई क्रोधमें चेत खोय दांतोंसे होठ काटने लगे, कोई कोई छिपकर वृष्णिनन्दनकी प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार कुछ नरेश अति रिसाये और दूसरे बीचमें रहे। महर्षिवृन्द केशव की स्तुति गाते हुए प्रसन्न चित्तसे उठकर चल दिये। महात्मा ब्राह्मण लोगभी और महाबली महानाचित्त भूपवर्ग कृष्ण का विक्रम निहारके प्रसन्न होय सब उसकी प्रशंसा करने लगे। (३ -३५)

आगे युधिष्ठिर ने भाइयोंको आज्ञा दी, कि तुम दमघोषनन्दन वीरवर भूपालका सत्कार सहित तुरन्त संस्कार कार्य कर डालो। उन्होंने तब बडे भाईकी आज्ञा

तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३६ ॥
चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यषिञ्चत्तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३७ ॥
ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् ।
यूनां प्रीतिकरो राजन्स बभौ विपुलौजसः ॥ ३८ ॥
शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान् ।
अन्नवान्बहुभक्षश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३९ ॥
समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ॥ ४० ॥
तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः ।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ४१ ॥
ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपागम्येदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥
दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि ।
आजमीढाऽजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ॥४३॥
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान्कृतः ।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिता ॥ ४४॥
स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ।

पाली। पृथापुत्र युधिष्ठिरने भाइयों और उन सब राजोंमे मिलकर उस काल महीपाल शिशुपालके पुत्रको चेदिराजके अधिकारमें अभिषिक्त कर दिया। अनन्तर अति तेजस्वी कुरुनाथका वह सुखारम्भ किया हुआ सर्वसम्पतयुक्त प्रचुर धनधान्य और अन्न भरा बहुभोजनका पूरा महा यज्ञ राजसूय केशवकी भली रखवारीमें विघ्नसे साफ और युवाओंका आनन्ददायी बनके सुहाया और युधिष्ठिरनेभी उसे पूरा किया।(३७-४०)

महाभुज भगवान जनार्दनने शौरी-शार्ङ्ग-चक्र-गदाधारी होके अन्ततक उस यज्ञकी रक्षा की। इसके पीछे क्षत्रिय कुलमें उपजे सब पृथ्वीनाथ यज्ञके अन्त में अभिषिक्त धर्मात्मा युधिष्ठिरके सामने आकर बोले, कि हे धर्मज्ञ अजमीढ! आप सौभाग्य से बडे चढे है, साम्राज्य आपकी हथेलीतले आगया। हे महाराज इस कर्मसे आपने अजमीढोंका यश बढाया और बडा धर्मार्जन किया। हे नरव्याघ्र! हम सर्व कामनाओंमें सब प्रकारसे पूजे गये है, अब यह कहना चाहते है, कि सब अपने अपने राज्य

श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४५ ॥
यथार्हं पूज्य नृपतीन्भ्रातॄन्सर्वानुवाच ह ।
राजानः सर्व एवैते प्रीत्याऽस्मान्समुपागताः ॥४६॥
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः ।
तेन व्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४७ ॥
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः ।
यथार्हं नृपतीन्सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४८ ॥
विराटमन्वयात्तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४९ ॥
भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधांपतिः ॥ ५० ॥
नकुलः सुबलं राजन्सहपुत्रं समन्वयात् ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान्महारथान् ॥ ५१ ॥
अन्वगच्छंस्तथैवाऽन्यान्क्षत्रियान्क्षत्रियर्षभाः ।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ॥५२॥
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५३ ॥
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन ।

को जायंगे, सो आप यह आज्ञा दे । (४९—४५)

धर्मनाथ युधिष्ठिर नरेशोंकी यह बात सुन उनकी यथायोग्य पूजा कर भाइयोंसे बोले, यह सब शत्रुदमन राजगण प्रीतिसे हमारे निकट आये थे, अब निमन्त्रणकर अपने अपने राज्यमें जाते है, सो हमारे अधिकारके छोरतक इन भूपश्रेष्ठोंके साथ जाओ । धर्मचारी पाण्डवगण भाईकी आज्ञा मान सब नरेशोंके पीछे यथारीति एक एक कर जाने लगे । हे महाराज ! प्रतापी धृष्टद्युम्न राजा विराटके, धनञ्जय महारथी महात्मा यज्ञसेनके, महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके, योधपति सहदेव द्रोणाचार्यके, नकुल पुत्रसहित राजा सुबलके, द्रोपदीके पुत्र और सुभद्रानन्दन पहाडी महारथियोंके और दूसरे बडे बडे क्षत्रियोंके साथ चले ! सहस्रों ब्राह्मणभी इस प्रकार भले पूजे जाकर लौट चले । (४६—५२)

सब राजा और ब्राह्मणोंके चलेजाने पर प्रतापी वासुदेव युधिष्ठिरसे यह बोले,

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥५४॥
तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम् ।
तव प्रसादाद्गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥५५॥
क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद्वशे स्थितम्।
उपादाय बलिं मुख्य मामेव समुपस्थितम् ॥५६॥
कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित्॥५७॥
अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी ।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान्॥ ५८॥
अधिगम्याऽब्रवीत्प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः॥५९॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि।
अनुज्ञातस्त्वया चाऽहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥६०॥
सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः ।
निष्क्रम्याऽन्तःपुरात्तस्माद्युधिष्ठिरसहायवान्॥६१॥
स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान्स्वास्ति वाच्य च।
ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम् ॥६२॥

कि हे कुरुनन्दन! सौभाग्यसे आपने यज्ञश्रेष्ठ राजसूय कर लिया, अब आज्ञा करें, मैं द्वारकाको जाऊं। जनार्दनकी यह बात सुनकर धर्मनाथ उनसे बोले, कि हे गोविन्द! केवल तुम्हारी कृपासे मैंने यह बड़ा यज्ञ लाभ किया, तुम्हारी ही कृपा से सब क्षत्रिय मेरे वशीभूत हुए, और अच्छे अच्छे उपहार बटोर कर मेरी उपासना की। हे अनघ! तुम्हारे बिना मैं कदापि प्रीति पा नहीं सकता। सो तुम्हारे जानेके विषयमें क्यों कुछ कहूं। पर क्या करूं, तुमको अवश्य द्वारकानगरमें जाना है। (५३-५८)

धर्मात्मा अति यशोवन्त श्रीकृष्णचन्द्र ऐसा कहे जाय युधिष्ठिरके साथ पृथाके पास जाय प्रीतिसे बोले, कि हे फूफी आपके पुत्र अब साम्राज्य प्राप्तकर कृतार्थ और सम्पदयुक्त हुए हैं। अतएव आप प्रसन्न होवें, और आपकी आज्ञा पाने से मैभी द्वारकाको जाऊं। अनन्तर केशवने सुभद्रा और द्रोपदीसे भी विदाकालके योग्य सम्भाषण किया। आगे युधिष्ठिरके सहित अन्तःपुरसे निकलकर स्नान आह्निक करके ब्राह्मणोसे स्वस्ति

योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः।
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम् ॥६३॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६४ ॥
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्वासुदेवं महाबलम् ॥६५॥
ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः।
अब्रवीत्पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६६॥
अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशांपते।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥ ६७ ॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवाऽमराः।
कृत्वा परस्परेणैव संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥ ६८ ॥
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान्प्रति।
गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥ ६९ ॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥७०॥ [१६६९]

इति श्री०म०शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥ समाप्तं च शिशुपालवधपर्व।

कहाथी। (५८-६२)

अनन्तर महाभुज दारुक बादलकी देहके समान सजा सजाया रथ जोतकर आ पहुचा। तब महानचित्त पुण्डरीकाक्षने गरुडध्वज रथको आ पहुंचते देखकर परिक्रमा देके उस पर चढकर द्वारकाकी यात्रा की। श्रीमान धर्मनाथ युधिष्ठिर भाइयों सहित महाबली वासुदेवके सङ्ग पैदल चले। तब वाग्मीवर पद्मनेत्र हरि क्षणभर रथ ठहराय, धर्मनाथको बोले, महाराज! सदा अप्रमत्त और उत्साही बनके प्रजा पालिये। (६२-६७)

बादल जैसे प्रजाओंके जिलानेका कारण है, बडा वृक्ष जैसे पक्षियोंका जिलाने का हेतु है और पुरन्दर जैसे अमरोंको जिलानेके उपाय है, वैसेही आप बान्धवोंके उपजीव्य बने है। श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर एक दूसरेसे ऐसा सम्भाषण कर एक दूसरेकी आज्ञा लेके अपने भवनोंको पधारे। हे महाराज! यदुवर श्रीकृष्णके द्वारका मे चले जाने पर केवल राजा दुर्योधन और सुबलनन्दन शकुनि यह दो कुछ काल उस दिव्य सभामें टिके रहे। (६८-७०)

पैतालीस अध्याय और शिशुपाल वधपर्व समाप्त।

अथ द्यूतपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच— समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे ।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात्समपद्यत ॥ १ ॥
सोऽभ्ययादासनात्तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाद्येनाऽऽसनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥
अथोपविश्य भगवान्काञ्चने परमासने ।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥
अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
उवाच भगवान्व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥
दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥
आपृच्छे त्वा गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशांपते ।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाऽब्रवीत् ।
युधिष्ठिर उवाच— संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ॥ ७ ॥
तस्य नाऽन्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ।

सभापर्वमें छियालिस अध्याय और द्यूतपर्व ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि निर्विघ्न समाप्त होनेमें अत्यंत कठिन राजसूय यज्ञ की परिसमाप्ति होनेके पश्चात्, शिष्यगणोंसे परिवेष्टित व्यासमुनि धर्मराज के सन्मुख उपस्थित होगये। उनको देखकर भ्राताओंके साथ युधिष्ठिरने सत्वर अपने आसन से उठकर, पाद्य आसन आदिसे अपने पितामह व्यासमुनिकी पूजा की। उत्कृष्ट सुवर्ण आसन पर विराजमान होकर भगवान् व्यास देवजीने "बैठो" ऐसा धर्मराज से कहा। भ्राताओंसे परिवेष्टित युधिष्ठिरके बैठ जाने पर वक्तृश्रेष्ठ भगवान व्यासमुनि बोलने लगे। (१–४)

" हे कुंतिपुत्र ! दुर्लभ साम्राज्य प्राप्त होके तुम्हारा अभ्युदय हो रहा है, यह अत्यंत आनंदकी बात है। हे कुरुवंशमें श्रेष्ठ ! तेरे कारणही संपूर्ण कौरवोंकी कीर्त्ति वृद्धिगत होरही है। हे प्रजाओंके पालक ! मेरा उत्तम सत्कार हुआ है, अब तुझे पूछकर मैं गमन करना चाहता हूं। " यह व्यासमुनिका भाषण सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर प्रणाम पूर्वक पितामह व्यासदेवके चरण छूकर बोले, कि " हे द्विजश्रेष्ठ! मेरे मनमें एक बडी भारी आशंका उत्पन्न होगई है। हे मनुष्यश्रेष्ठ! तेरे विना

उत्पातांस्त्रिविधान्प्राह नारदो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
दिव्यांश्चैवाऽऽन्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच—राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥
त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशांपते ॥ ११ ॥
त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ॥
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १२ ॥
स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ॥१३॥
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।
हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ॥ १४ ॥
कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ॥१५ ॥
एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशांपते ।

इसका निराकरण करनेवाला कोई नहीं है। हे पितामह! भगवान् नारदमुनि ने स्वर्ग, अंतरिक्ष और पृथ्वीके ऊपर होनेवाले तीन प्रकारके उत्पात कहे हैं। अब चेदिराज शिशुपालके मृत्युसे उत्पातोंका भय दूर हुआ या नहीं?" (५—८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, राजा युधिष्ठिरका यह भाषण सुनके पराशरपुत्र कृष्णद्वैपायन कहने लगे, कि "हे प्रजापालक युधिष्ठिर! तेरह वर्षोंकी अवधि तक उत्पातोंका बडा भयानक फल होता रहेगा और उसका परिणाम संपूर्ण क्षत्रियों का विनाश से होगा। तात्पर्य हे भरत श्रेष्ठ! तेरेही कारण और दुर्योधन के अपराधके हेतु तथा भीम और अर्जुनके बल से संपूर्ण क्षत्रिय युद्धभूमिमें इकट्ठे होकर विनष्ट हो जायंगे। हे नृपश्रेष्ठ! प्रभात कालमें स्वप्नमें तुम देखोगे कि वृषभध्वज, नीलकंठ, भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरांतक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूल, पिनाकी, कृत्तिवास कैलास शिखर समान श्वेत शिव वृषभारूढ होकर पितृराजाश्रित दक्षिण दिशामें निरीक्षण कर रहा है।

मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः॥१६॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥१७॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वा स भगवान्कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः॥१८॥
गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ १९ ॥
कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥ २० ॥
ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान्भ्रातॄन्युधिष्ठिरः।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥२१॥
तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥ २२ ॥
कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः।
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

हे प्रजापालक ! यह स्वप्न तू देखेगा, परंतु उसकारण तू चिंता न कर, क्योंकि काल का उल्लंघन करना अत्यंत कठिन है। तेरा कल्याण हो ! अब मैं कैलासके प्रति गमन करूंगा। तू जितेन्द्रिय होकर प्रमाद रहित व्यवहार करेगा तो पृथ्वी का पालन कर सकेगा। " (९-१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इस प्रकार युधिष्ठिरके साथ भाषण करके वेदाध्यायी शिष्योंके साथ व्यासमुनि कैलास पर्वतकी ओर चले गये। पितामह व्यास मुनिके गमन के पश्चात युधिष्ठिर चिंता युक्त और शोकाकुल होकर दीर्घ और उष्ण श्वासोच्छ्वास लेता हुआ उसी बात की चिंता करने लगा। " पौरुष प्रयत्नसे दैवका प्रतिकार किस रीतिसे किया जा सकता है ? निश्चयसे जो व्यासमुनिने कहा है, वैसाही बन जायगा। " यही विचार उनके मनमें वारंवार आने लगा। इस प्रकारकी चिंता करनेके पश्चात् महा तेजस्वी युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंसे कहने लगे, कि " हे पुरुषश्रेष्ठ भाइयो ! जो व्यासदेवजीने मुझे कहा वह आपने सुनाही है। उनका भाषण श्रवण करने के पश्चात् मेरी मृत्युका तो निश्चयही हो गया है। यदि सब क्षत्रियोंके विनाश के लिये मेरा ही निमित्त कालने ही निश्चित ठहराया हो, तो मेरे जीवित

मा राजन्कश्मलं घोरं प्राविशो बुद्धिनाशनम् ।
संप्रधार्य महाराज यत्क्षमं तत्समाचर ॥२४॥
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिर्भ्रातॄन्सर्वान्युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनस्य वचनं तत्रैव समचिन्तयन् ॥ २५ ॥
अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत ।
त्रयोदश समास्तात को ममाऽर्थोऽस्ति जीवतः॥२६॥
न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत्समुदाहरन् ॥२७
एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च ।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥२८॥
विग्रहं दूरतो रक्षन्प्रियाण्येव समाचरन् ।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥२९॥
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः सन्निशम्य तत् ।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥ ३०॥

रहनेमें कौनसा लाभ है ? " (१८-२३)

युधिष्ठिरके इस भाषण के पश्चात् उससे अर्जुन कहने लगा, कि ' हे राजा! बुद्धिनाशक घोर मोहमें प्रवेश न कर। हे महाराज ! जो व्यासमुनिने कहा है, उसे स्मरण रख कर जो समय के लिये उचित है वही करना। इसके पश्चात् व्यासमुनिके भाषण का विचार करने वाला सत्यनिष्ठ युधिष्ठिर अपने भाइयोंसे बोला, कि 'आप सबका कल्याण आजसे होवे ! अब मेरी प्रतिज्ञा तुम सुन लो, तरह वर्ष जीवित रहकर भी मुझे करना क्या है ? मै आजसे अपने भाइयो के साथ तथा अन्य भूपालों के साथ कठोर भाषण नहीं करूंगा। ज्ञातियों की आज्ञा के अनुसार व्यवहार करता हुआ जो कुछ करना होगा उसको बताकर करता रहूंगा। इस प्रकार मै अपने पुत्रोंसे तथा अन्य संबंधियोंसे व्यवहार करूंगा, इससे मतभेद ही नहीं होगा और मतभेदके अभाव के कारण कलह भी कभी नहीं होगा क्यों कि जगत् मे कलह का कारण मतभेद ही है। हे मनुष्यों मे श्रेष्ठ पुरुषो ! इस ढंगसे मैं कलहसे दूर रह कर जनों का प्रिय कार्य ही करने लगा तो लोगोंमे कभी मेरी निंदा नहीं होगी। ' (२४-२९)

यह ज्येष्ठ भाई का भाषण श्रवण करके धर्मराज का हित चाहनेवाले वे भाई उसी के अनुसार चलने लगे। हे महाराज भाई

संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराट् भ्रातृभिः सह ।
पितृंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशाम्पते ॥ ३१ ॥
कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः ।
गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ३२ ॥
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३३ ॥
दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चाऽपि सौबलः ।
सभायां रमणीयायां तत्रैवाऽऽस्ते नराधिप॥ ३४ ॥ [१६९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि
युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच– वसन्दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥
तस्यां दिव्यानभिप्रायान्ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥
स कदाचित्सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥ ३ ॥
स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान्बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥
ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः ।

यों के साथ उस सभामें उक्त प्रतिज्ञा करने के पश्चात् धर्मराज ने पितरों और देवोंकी तृप्ति की। तदनन्तर सब क्षत्रिय वहांसे वापस जानेके पश्चात् भाइयोंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरने मंगल कारक और कल्याणप्रद धर्मानुष्ठान करके मंत्रियोंके साथ अपने उत्तम नगरमें प्रवेश किया। हे नरनाथ महाराज! दुर्योधन और सुबल पुत्र शकुनि ये दोनों वहां उसी रमणीय सभामें कुछ कालतक टिके रहे। (३०—३४) [१६९९]

सभा पर्वमें छियालीस अध्याय समाप्त।

सभापर्व मे सैतालीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरतश्रेष्ठ! कुरुनन्दन दुर्योधनने शकुनि सहित उस सभामें टिके रहकर धीरे धीरे उसके सब भागोंको देखा। वहां उन्होंने जो सब सुन्दर बनावटकी रीति देखी, पहिले हस्तिनानगरमे कभी वैसी दीख नहीं पडी थी। उस राजा धृतराष्ट्र पुत्रने किसी एकदिन स्फटिकके बने स्थल-भागके निकट जाय बुद्धिके मोहसे जल जान अपना

निःश्वसन्विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम् ॥५॥
ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकांबुजशोभिनाम्।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥
जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
जहास जहसुश्चैव किंकाराश्च सुयोधनम् ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रदद्‌ राजशासनात्॥७॥
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा ॥ ८ ॥
नाऽमर्षयत्ततस्तेषामवहासममर्षणः ।
आकारं रक्षमाणस्तु न स तान्समुदैक्षत ॥ ९ ॥
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ।
आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः ॥१० ॥
द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥११॥
तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम् ।
विघट्टयन्कराभ्यां तु निष्क्रम्याऽग्रे पपात ह॥१२॥
द्वारं तु विततकारं समापेदे पुनश्च सः ।

चीर उतारा और उससे विमुख होनेके कारण उदास होय सभामे फिरने लगा। (१—५)

आगे स्फटिकके समान अमल जल भरे स्फटिकके बने फूले कमलवाले एक तालको स्थल जानके वस्त्र सहित जल में जा गिरा। उसको जलमें गिरते देखकर भीम और नौकर चाकर बहुत हंसे और राजाकी आज्ञासे अच्छा चीर दिया। उसकी वह दशा निहारके उस समय महाबली भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव सब हसने लगे। रिसभरे सुयोधनसे उन की वह हंसी सही नहीं गयी। पर बाहरी आकारको लुपाय उस काल मुह उठाय उनकी ओर नहीं ताका मानो यह समझ के, कि जलको पार करेंगे, वह फिर चीर उतार स्थल पर आया। तिस परभी सब कोई फिर हंस उठे। (६—१०)

एक बन्द स्फटिक के द्वारको निहारके खुला जानकर दुर्योधन ज्यों प्रवेश करने को था। त्योंही सिरमे चोट खाय चेहरे से हाथ धो बैठा। वैसेही स्फटिकके दो बडे बडे किवाड सहित दूसरे एक खुले द्वारको बन्द जानकर दोनो हाथसे खोलक

तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥ १३ ॥
एवं प्रलम्भान्विविधान्प्राप्य तत्र विशांपते ।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥१४॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥ १५ ॥
पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः ।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १६ ॥
पार्थान्सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥ १७ ॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८ ॥
स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥ १९ ॥
प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
नाऽभ्यभाषत्सुवलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥ २०॥
अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।

निकलकर गिर पडा । फिर वैसेही दूसरे एक खुले द्वारके निकट जाय पहिलके समान बन्द जानके वास्तव में द्वारके स्थानसे लौट आया । हे महाराज ! नरेश दुर्योधन राजसूय महायज्ञमे वैसी अधिक सम्पद देखके और म नमें उक्त रूपसे बहुविध लज्जा पाय अन्तमें युधिष्ठिरकी आज्ञासे अप्रसन्न चित्तसे हस्तिनानगरमें लौट आया । (११-१५)

पाण्डवोंकी लक्ष्मीको देखकर दुःखी होय चिन्तायुक्त चित्तसे जाते हुए राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापसे पूरित हुई । कुरुश्रेष्ठ! महात्मा पाण्डवोंको प्रसन्न, सब भूपों को उनके वशीभूत और बालक से वृद्ध तक सब लोगोंको उनका हित चाहने वाले देखकर तथा उनकी परम महिमाको निहारके धृतराष्ट्रपुत्र खेदमे विवर्ण बना । मलिन मनमे जाते हुए वह धीमान धर्मनाथकी उस अनुपम सभा और सम्पदकी बातही सोचने लगा; यहांतक, कि वह इतना भूलासा बना, कि सुबलनन्दनके बार बार पुकारने परभी उसका कुछ उत्तर नहीं दिया । (१६-२०)

शकुनिने उसको चंचलचित्त देखकर पूछा, कि तुम लम्बी सांस लेते हुए क्यों जाते हो ? दुर्योधन बोले, कि हे मामा !

दुर्योधन कुतो मूलं निःश्वसन्निव गच्छसि॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच-- दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥ २२ ॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥
अमर्षेण तु संपूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत्तोयमिवाऽल्पकम्॥२४॥
पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
न च तत्र पुमानासीत्कश्चित्तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥
दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत्क्षन्तुमर्हति॥२६ ॥
वासुदेवेन तत्कर्म यथायुक्तं महत्कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् २७ ॥
तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥ २८ ॥
श्रियं तथागतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥ २९ ॥

महात्मा अर्जुनके अस्त्रके प्रतापसे जीती इस सब धरती को युधिष्ठिरके हाथ लगते और देवलोकमें इन्द्रसे उन प्रभावी पृथापुत्रका वह यज्ञ पूरा होते देखके दुःखसे भरकर निश दिन जलनेसे मैं ग्रीष्म के अल्प जलयुक्त सरोवरके समान सूख रहा हूं। देखिये शिशुपाल जब कृष्णसे मारे गये तब ऐसा कोईभी वहां विद्यमान नहीं था, कि उनकी रक्षाके लिये सहायता करे। (२१–२५)

पाण्डवोंसे बढे अग्निसे जल जाकर राजोंने वासुदेवके उस दोषको क्षमा करी थी, नहीं तो उसने जैसा अति अनुचित कार्य किया था क्या कोई भी उसकी क्षमा कर सकता था? केवल महात्मा पाण्डुपुत्रोंके प्रभावसे वह सिद्ध हुआ था, उसका यह एक प्रमाण देख लीजिये, कि नरेशोंने बहुविध रत्न बटोरकर वैश्योंके समान करदाता बनके पृथ्वीनाथ कुन्तीपुत्रकी उपासना करी थी। मैं द्वेष करने वाला तो नहीं हूं, पर तौभी युधिष्ठिरकी वैसी प्रकाशमती राजश्री देखकर द्वेषसे जल रहा हूं। (२६—२९)

नरनाथ दुर्योधन उस अग्निसे जलकर

एव स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत् ।
पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाऽग्निना ॥ ३० ॥
वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम ॥ ३१ ॥
को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्ववान् ।
सपत्नानृध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥ ३२ ॥
सोऽहं न स्त्री न चाऽप्यस्त्री न पुमान्नाऽपुमानपि।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम्॥ ३३ ॥
ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥
अशक्तश्चैक एवाऽहं तामाहर्तुं नृपश्रियम् ।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये॥ ३५ ॥
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुद्धां श्रियं तामहृतां तथा ॥ ३६ ॥

यह निश्चय कर फिर गान्धारनाथसे बोला, कि हे मामा ! मुझसे जीना बन नहीं पडेगा, मै आग्निमे वा जलमें पैठूंगा और नहीं तो विष खाकर मर जाऊंगा। क्योंकि किस लोकमें कौन सत्त्ववान जन शत्रुकी उन्नति पर और अपनेको नीचे गिरा हुआ देखकर सह सकता है ? अब पाण्डवोंका वैसे सौभाग्यम देखकर मेरा सह लेना यह प्रगट करता है, कि मैं न तो नारी, न अनारी, न तो पुरुष न नंपुसक कुछभी नहीं हूं। (क्योंकि यदि नारी न होता, तो ऐसा व्यर्थ पुरुष बनके क्यों दुःख सहता, यदि नारी न होता, तो क्षत्रिय कुलमें जन्म लेकर पुरुषके कार्यसे क्यों चूकता ? यदि पुरुष होता, तो सौतकी सम्पद् सहनेवाली नारीके समान सपत्नका दिया दुःख क्यों सहता ? यदि नपुंसक होता तो व्यर्थ बडाई के अभिमानसे क्यो फूलता? सो पुरुषका अभिमान रहते भी जब उसे नहीं दिखा सकता हूं, तो कुछभी नहीं हूं, इसके विना और क्या कहूंगा ?) पूरी धरतीका अधिकार, वैसा धन सम्पद् और वैसा यज्ञ देखके मेरे समान कौन दुःखी न होगा ? मै अकेला वैसी राजलक्ष्मी हरनेको असमर्थ हूं, और सहाय भी दीख नहीं पडते, सो मृत्युके सोचमें हूं। (३०—३५)

कुन्तीपुत्रकी महाजनसदृश वह अमल राजश्री निहार मुझे निश्चय जान पडता

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ।
तच्च सर्वमतिक्रम्य सवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥ ३७ ॥
तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥
सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम् ।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाऽग्निना ॥ ३९ ॥
स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम् ।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥ [१७३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

शकुनिरुवाच— दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः ।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥ २ ॥
आरब्धापि महाराज पुनः पुनररिन्दम ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥
तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।

है, कि दैवही प्रधान है, पुरुपार्थ व्यर्थ है, देखिये, उसके नाशके लिये मैंने पहिले बडा प्रयत्न किया था, पर यह जलमें कमल समान सब पार कर बढ उठा है। सो मैं दैवहीको श्रेष्ठ और पुरुपार्थको व्यर्थ समझ रहा हूं। क्योंकि पुरुपार्थ पर चलनेवाले धृतराष्ट्र पुत्रगण दिन पर दिन घटते हैं और दैवका आसरा ढूढनेवाले पृथानन्दनगण बढते जाते हैं, हे मामा! वह श्री और वैसी सभा देखकर और रखवारोंकी वह हंसी सुनके अति दुःखी बनके मानों अग्निमें मैं तपा जाता हूं, सो आप मुझको मरनेकी आज्ञा देवें। और मुझ पर इस विमर्षके छा जानेका हाल धृतराष्ट्रको जतावें। (३६-४०) [१७३९]

सभापर्वमें सैतालीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें अडतालीस अध्याय।

शकुनि बोले, कि दुर्योधन! युधिष्ठिरका द्वेष करना तुमको नहीं चाहिये; पाण्डव सदा अपना भाग्यही भोगते हैं। देखो, पहिले तुमने वैसे बडे बडे उपायोंसे बारबार उनको नष्ट करनेकी चेष्टा करी थी, पर वे नरव्याघ्र भाग्यकी सहायतामें ही उससे बचे हैं। हे महाराज!

सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥
लब्धश्चाऽनभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते ।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥
धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी ।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम् ६॥
तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चाऽऽत्मनः ।
कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ॥ ७ ॥
अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ॥ ८ ॥
तेन चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः ।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ॥ ९॥
यच्चाऽसहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ॥
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः॥१०॥
द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ ११ ॥
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ।

उन्होंने द्रौपदीको पत्नी लाभ किया है, पुत्रसहित द्रुपद और वीर्यवन्त वासुदेव को पृथ्वी लाभके सहाय प्राप्त किया है और पैत्रिक राज्यके अंशमें निराश न होकर उसे पाय अपने प्रतापसे बढे चढे हैं, भला इस पर तुम्हारे द्वेषकी क्या संभावना हो सकती है? (१–५)

धनञ्जयने अग्निको प्रसन्न कर गाण्डीव शरासन, दो अक्षय तूण और दिव्य अस्त्रोंको लाभ किया है. और अपने भुज वीर्यके सहारे सब भूपोंको वशीभूत किया है, भला उसमें तुम्हारा द्वेष क्यों उमड रहा है ? फिरभी शत्रुको दुःख देनेहारे अर्जुनने अग्निसे जलनेमें मयदानवको बचाय उससे उस सभाको बनवा लिया है, उस मयकी आज्ञासे किंकर नामक भयावने राक्षस उस सभाको लजाया करते है, भला इसमें तुमको क्या दुःख है ? (६–९)

हे भारत ! तुमने जो असहायताकी बात कही, वह ठीक नहीं है, क्योंकि यह सब भाई तुम्हारे वशमें हैं. बडे चापधारी वीर्यवन्त द्रोण और उनके पुत्र, सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, पृथ्वीनाथ सौमदत्ति, मैं और मेरे भाई, हम सब तुम्हारे सहाय हैं, इन सबोंसे मिलकर

एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम्॥१२॥
दुर्योधन उवाच— त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चाऽन्यैर्महारथैः।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १३ ॥
एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम ।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना॥१४॥
शकुनिरुवाच— धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥ १५ ॥
नैते युधि पराजेतु शक्या देवगणैरपि ।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः॥ १६ ॥
अहं तु तद्विजानामि विजेतु येन शक्यते ।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुपस्व च ॥ १७ ॥
दुर्योधन उवाच— अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम् ।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाऽऽचक्ष्व मातुल१८॥
शकुनिरुवाच— द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स्म जानाति देवितुम् ।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ॥ १९॥
देवने कुशलश्चाऽहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि ।

तुमभी सब धरनीका जय करो, दुर्योधन बोला, कि हे महाराज ! आपकी आज्ञा होवे, तो आपसे और दूसरे भूपोंसे मिलकर मै पाण्डवोंको जय करूंगा । इनको जय करनेसे सब पृथ्वीनाथ और बहुत धनभरी वह सभा मेरी हो जायगी । (१०–१४)

शकुनि बोला, कि धनञ्जय, वासुदेव, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, द्रुपद और उनके पुत्र, इनको देवताभी युद्धमे जय नही कर सकते वह सब महारथी है, बडे चापधारी, अस्त्रमे पण्डित और युद्धमें कठोर है, पर मै जानता हूं, कि किस उपायसे युधिष्ठिर परास्त किया जा सकता है ! हे महाराज ! तुम उसे सुन लो और उनको मानो । दुर्योधन बोला, कि हे मामा ! स्वजन और दूसरे महात्माओंको प्रमादसे विनाश करनेके विना यदि जय करनेका कोई उपाय हो, तो कहे । (१५– १८)

शकुनि बोला कि कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर खेल नही जानता है, पर चौसडका बडा प्रेम रखता है, खेलनेके लिये बुलानेसे वह कभी मुह नही मोडे-गा । हे कुरुकुलतिलक ! चौसडमे मुझे बडी दक्षता है तीनो भुवन मे मुझसे

त्रिषु लोकेषु कौरव्य त त्वं ब्रूते समाह्वय ॥ २० ॥
तस्याऽक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम् ।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थे पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥
इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय ।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान्न संशयः ॥ २२ ॥
दुर्योधन उवाच— त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल ।
निवेदय यथान्यायं नाऽहं शक्ष्ये निवेदितुम् ॥ २३ ॥ [१७६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच— अनुभूय च राज्ञस्त राजसूयं महाक्रतुम् ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गांधारीपुत्रसंयुतः ॥ १ ॥
प्रियकृन्मतमादाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत् ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २ ॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥
शकुनिरुवाच— दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः ।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप ॥ ४ ॥

खेलनेमें तेज दूसरा नहीं है, सो चौसड खेलनेके लिये तुम उसको बुलवाओ। हे पुरुषवर महाराज दुर्योधन! चौसडमें मेरी जैसी चातुरी है, तिसमें मैं विना सन्देह उसका राज्य और प्रज्वलित लक्ष्मीको जीत लूंगा। पर तुम राजाकी यह बात जताओ, तुम्हारे पिता कहें, तो मैं अवश्यही उनको जय करूंगा। दुर्योधन बोला, कि हे सुबलकुमार! आप कुरुओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्रसे न्यायके अनुसार कह सुनावें, मुझसे कहना नहीं बन पडेगा। (१९—२३) [१७६२]

सभापर्वमें अडतालीस अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें उनचास अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि सुबलकुमार शकुनि गान्धारीपुत्रके सहित नरनाथ युधिष्ठिरके उस महायज्ञ राजसूयके और उसके विषयमें दुर्योधनकी यह बातें सुनके उसका अभिप्राय जानकर प्रिय करनेकी इच्छासे आसन पर विराजमान प्रज्ञानेत्र बडे ज्ञानी महाराज धृतराष्ट्रके निकट जाय उसकाल यह बोला, कि हे महाराज! दुर्योधन मलिन, दीन, मनहीन, पीला, दुबला बना है सो आप

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसंभवम् ।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नाऽवबुध्यसे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच— दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक ।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ॥ ६ ॥
अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव संभवम् ॥ ७ ॥
ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाऽऽचरन्ति तवाऽप्रियम् ॥ ८ ॥
आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनाऽसि हरिणः कृशः॥ ९ ॥
शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥१०॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्षः कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच— अश्नाम्याच्छादये चाऽहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

उसकी ओर ध्यान करें। ज्येष्ठपुत्रका शत्रुसे उपजा असह्य चित्त-दहन शोक-कारण ध्यानमे लाके क्यों नहीं जान लेते? (१–५)

शकुनिसे इतना सुन धृतराष्ट्र दुर्योधन से बोले, बेटा दुर्योधन! तुम्हारा इतना कातर होनेका क्या कारण हुआ? हे कुरुवर! यदि वह मेरे सुनने योग्य हो, तो प्रगट करो, यह शकुनि कहते है, कि तुम मैले पीले दुबले बने, पर सोच समझकर मुझको तुम्हारे शोकका हेतु सूझ नहीं पडता; क्योंकि यह अपरिमित सम्पद सब तुम्हारे ही हाथमे है; तुम्हारे भाई मित्र कभी तुम्हारा चित्त नहीं दुखाते; तुम सुन्दरसे सुन्दर चीर पहिनते हो, अच्छेसे अच्छे पकान्न खाते हो, सुन्दर घोडो पर चढते हो, फिर तुम क्यो पीले दुबले बनते हो? हे शत्रुजित्! मूल्यवान् सेज, मनहरणी रमणी, नानाविध साजसे सजे गृह, मनमाने विहारस्थान यह सब देवोंकी भांति तुम्हारी बातके आगे प्रस्तुत है, तुम्हारी आज्ञा होतेही पल भरमे बने बनाये मिलते है; सो बेटा! ऐसी सम्पद रहते भी तुम किस सोचमे पडे हो? (६–११)

दुर्योधन बोला, कि मुझको खाने

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान्मुमुक्षुः परजात्स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥
संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमान च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाऽश्नुते महत्॥ १४ ॥
न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अतिज्वलन्तीं कौन्तेय विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥
सपत्नानृध्यतोऽत्मानं हीयमानं निशाम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यान्निवोद्यताम् । १६॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ॥ १७ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ १८॥
दशाऽन्यानि सहस्राणि नित्यं तत्राऽन्नमुत्तमम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ १९ ॥
कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ।
काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान् २०

पहिरनेका दुःख ता नहीं है, पर बुरे पुरुषके समान काल-परम्पराकी बाट ताक कर मैं गहरासा गहरा दुःखभी सह रहा हूं। जो कोई शत्रुकी वृद्धिको सहनेमें अशक्त होवे शत्रुके दिये दुःखसे प्रजाको बचाय तथा उसे विपदमें डालकर विराजता है, वही पुरुष कहाता है, जो इस समझमें, कि मेरी सम्पद बहुत हुई, संतुष्ट रहता है, वह सन्तापही उसकी श्री और अभिमान को नष्ट करता है! दया और भयसे आक्रष्ट होकर वह कभी ऊंचे पद पर चढ नहीं सकता है। मैं जो कुछ भोगता हूं, युधिष्ठिरकी श्री देखकर उनसे मन हटता है, कुन्तीनन्दनकी अति चमकीली राजश्रीही हमारो श्रीको मलिन बनाती है। इस समय मैं उसकी श्री तो नहीं देखता, पर तिस परभी वह मेरे मनमें मानो उछल रही है। शत्रुकी वृद्धि और अपनी हीनता देखतेही मैं मलिन, दीन, पीला, दुबला बना जाता हूं। (१३–१७)

युधिष्ठिर अठासी सहस्र गृहमेधी स्नातकोंको हरेकके पीछे तीस तीस दासी लगाके पालता पोषता है, इनके सिवाय दूसरे दश सहस्र ब्राह्मण उसके घरमें नित्य सुवर्ण बर्तनमें अच्छा अन्न भोजन करते हैं। राजा काम्बोजने उसके यहां कदली नामक मृगके काले श्यामले, उजाले खाल और मूल्यवान कम्बल भेजे थे।

गजयोषिद्गवाऽश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।
त्रिशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २१ ॥
पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ।
आहरन्क्रतुमुख्येऽस्मिन्कुन्तीपुत्राय भूरिशः ॥२२॥
न क्वचिद्धि मया तादृग्दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
यादृग्धनाऽगमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः॥ २३ ॥
अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ।
शर्म नैवाऽभिगच्छामि चिन्तयानो विशां पते॥ २४
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः ।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥२५॥
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एतद्धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २६ ॥
यन्नैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः ।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ॥ २७ ॥
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ।
शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्न विभूषितम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा च मम तत्सर्वं ज्वररूपमिवाऽभवत् ।

राजभवनमें सैकडों, सहस्रों खच्चर, घोडे, हाथिनी और तीस सहस्र ऊंट चरा करते है, राजा लोग उन सब उपहारोंके सहित आके एकत्रित हुए थे। हे पृथ्वीनाथ ! महायज्ञ राजसूयमें भूपोंने कुन्तीपुत्रके लिये भांति भांतिका बहुत धन बटोराथा, वास्तवमें धीमान पाण्डुनन्दनके यज्ञमें जितने धन रत्नका ढेर लगा था मैंने कहीं पहिले न तो उतना देखा और न सुना था। (१८—२३)

हे पृथ्वीनाथ ! शत्रुका वह अनन्त धन देखके सदा चिन्तासे आकृष्ट होके मुझको सुख चैन नहीं है। क्षेत्रादि वृत्ति भोगनेहारे गोयुक्त, सैकडों ब्राह्मण तीन खर्वके समान उपहार लेकर रखवारोंसे रुके जाय द्वार पर खडे थे। घृत भरे सुवर्णके कमण्डलु बलिके लिये लाके वे भीतर जा नहीं सके। देवबाला इन्द्रके लिये भी जो मधु नहीं ले जातीं, वरुण प्रेषित वह मधु कांसेके पात्रमे भर कर समुद्र युधिष्ठिरके पास ले आया था। सहस्र सुवर्णसे बने बहुत रत्नोंसे सुहावने

गृहीत्वा तत्तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २९ ॥
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिणः ॥ ३० ॥
तत्र गत्वाऽर्जुनो दण्डमाजहाराऽमितं धनम् ।
इदं चाऽद्भुतमत्राऽऽसीत्तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३१ ॥
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम् ।
स्थापिता तत्र संज्ञाऽभूच्छंखो ध्मायति नित्यशः॥ ३२
मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत ।
अनिशं शब्दमश्रौष ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥ ३३॥
पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ।
अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवाऽमला ॥ ३४ ॥
सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ ३५ ॥
वैश्या इव महीपाल द्विजातिपरिवेषकाः ॥ ३६ ॥
न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।

समुद्र-जलसे पूर्ण शंख्य और अच्छे अच्छे शंख लाके वासुदेवने उनका अभिषेक किया था। (२४–२९)

वह सब देखकर मानो मेरा देहमें ज्वर आगया था। हे पिता भरतश्रेष्ठ! शंख्य लेकर लोग पूर्वदक्षिण समुद्रमें जाते है और पश्चिम समुद्रमें भी पधारते है पर खेचरी जातिके विना कोईभी उत्तरी समुद्रमें जा नहीं सकता; अर्जुनने वहां भी जाय अपरिमित धन बटोरा था। विशेष उस यज्ञमें औरभी आश्चर्य लीला देखनेमें आई। वह कहता हूं, सुनिये, ऐसा संकेत निश्चय किया गया था, कि भोजनमें लगे ब्राह्मणोंकी संख्या लाख पूरी हो जाने पर एक एक बार शंख बजाया जाने। हे भारत! वारवार बजते हुए उस शंखकी धुनको मैं सुना करता था जिससे मेरे शरीरके रोंवे खडे हो जाते थे। (२९–३३)

महाराज! देखनेको आये बहुतेरे भूपोंके भर जानेसे वह सभा नक्षत्रमाला के समान शोभने अमल आकाशमण्डल सी सुहावनी बनी थी। हे जननाथ! उन धीमान पाण्डुनन्दनके यज्ञमें पृथ्वीपाल नरेशवर्ग वैश्योंकी भांति सर्व प्रकारके रत्नोंके साथ द्विजोंके परोसने वाले बने थे। वास्तवमें जो श्री युधिष्ठिर में विराज रही है, वह न यमराज, न इन्द्र,

गुह्यकाधिपतेर्वाऽपि या श्री राजन्युधिष्ठिर ॥ ३७॥
तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३८ ॥
शकुनिरुवाच— यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३९ ॥
अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ॥ ४० ॥
द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।
आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥ ४१ ॥
नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्या चोपाह्वयस्व तम् ४२
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४३ ॥
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४४ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने ।

न ब्रह्मा, न कुबेर किसी की नहीं है। हे महाराज! पाण्डुपुत्रकी वैसी अनुपम श्री निहारके मेरा हृदय जल रहा है; मुझको किसी प्रकार चैन नहीं मिलता है। (३४–३८)

दुर्योधनकी इस बात पर शकुनि बोला, कि हे सच्चे पराक्रमी भारत! युधिष्ठिरकी तुमने जो यह अनुपम लक्ष्मी निहारी है, उसके पानेका उपाय मुझसे सुनलो। धरती भरमें मेरे समान चौसड जाननेवाले बहुत अल्प है। मै चौसडमें हार जीत का भेद जानता हूं, तथा उसके विशेष प्रकारोंका भी ज्ञान रखता और देश कालादिकी विशेषता समझता हूं युधिष्ठिरकी चौसडमें प्रीति तो है, पर वह खेलना नहीं जानता, चौसड वा युद्धके लिये बुलाये जाने पर वह अवश्य ही आवेगा, मैं भी कपटखेलसे उसको निश्चयही परास्त करूंगा और उसकी बडी सम्पदको ला सकूंगा, सो तुम उसको बुलवाओ। (३९—४२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, शकुनिके ऐसा कहते ही राजा दुर्योधनने उसीक्षण धृतराष्ट्रसे यह कहा, कि महाराज! यह चौसडमें दक्ष मामा चौसड खेलकर पाण्डुपुत्रोंकी सम्पत हरा चाहते है, सो

तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्याऽस्य विनिश्चयम् ॥ ४५ ॥
स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥ ४६ ॥

दुर्योधन उवाच-- निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येहमसंशयम् ॥ ४७ ॥
स त्वं मयि मृते राजन्विदुरेण सुखी भव ।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥४८॥

वैशम्पायन उवाच– आर्तवाक्यं तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत्प्रेष्यान्दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४९ ॥
स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥५०॥
ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥ ५१ ॥
दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद्विदुराय वै ॥ ५२ ॥

आप उससे आज्ञा देवें। धृतराष्ट्र बोले, कि बडे बुद्धिमान विदुर मेरे मन्त्री हैं, उन्हीकी परामर्शसे मैं सदा बना हूं। सो उनसे मिलकर यह कार्य उचित है वा नहीं, इसका विचार करूंगा, क्योंकि वह बहुदर्शी पुरुष धर्मको सामने धर ऐसी अच्छी युक्ति कहेगा, कि जिससे दोनों ओरका मङ्गल होवे। दुर्योधन बोला, हे महाराज! यदि विदुर आपसे मिलके परामर्श करेंगे, तो वह मेरी इच्छासे आपका चित्त टाल देंगे, आप जी हटावेंगे, आप टुक भी सन्देह न कीजिये, कि मैं भी प्राण छोडूंगा। मेरे मरनेसे आप विदुरके सहित सुखी होंगे और पूरी धरतीको भोगेंगे, मुझसे आपको क्या लाभ मिलना है? (४३—४८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि दुर्योधनकी वह प्रेमभरी कातर वाणीको सुनके उस की हां में हां मिलाय धृतराष्ट्रने नौकरों से आज्ञा करी, कि मेरी आज्ञासे शिल्पी लोग मेरे लिये एक बडी विस्तृत सहस्र खम्भवाली और सौद्वार युक्त एक मनहरणी सभा रचें और बन जाने पर तुम सब देशोंसे मणिवालोंको बुलवाय उस सभा को रत्नसे खचित करके सुखसे प्रवेश करने योग्य बनवाय मुझसे कहो। (४९—५२)

अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत्कश्चिद्विनिश्चयः।
द्यूते दोषांश्च जानन्स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ५३ ॥
तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान्कलिद्वारमुपस्थितम्।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५४ ॥
सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

विदुर उवाच— नाभिनन्दामि ते राजन्व्यवसायमिमं प्रभो।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद्द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥ ५६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच— क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥ ५७ ॥
अशुभं वा शुभं वाऽपि हितं वा यदि वाऽहितम्।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५८ ॥
मयि संनिहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत।
अनयो दैवविहितो न कथंचिद्भविष्यति ॥ ५९ ॥
गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥ ६० ॥

महाराज! भूपाल धृतराष्ट्रने दुर्योधनके चित्तमें शान्ति पहुचानेका ऐसा निश्चय कर विदुरके पास दूत भेजा; विदुरसे विना पूछे वह स्वयं किसी कार्यकी कर्त्तव्यता नहीं निश्चय करते थे, और यह भी जानते थे, कि चौसडमें बहुत दोष है, पर पुत्रस्नेहसे आकृष्ट थे, धीमान विदुर यह व्योरा सुन, और यह समझके कि, झगडे का द्वार खुल गया तथा सत्यानाशकी जड जमगयी, धृतराष्ट्रके पास आये। वह महात्मा ज्येष्ठ भ्राताके पास आय उनके पावोंमें सिर लुटाय यह बोले, कि महाराज! मै आपके इस निश्चयमें सहमत नहीं हो सकता हूं। हे प्रभो! ऐसा करें, कि द्यूतके कारण पुत्रोंके बीचमें बिगाड न होवे। (५३-५६)

धृतराष्ट्र बोले, कि हे क्षत्त! यदि देवोंकी प्रसन्नता हम पर बनी रहे, तो कभी पुत्रोंमें झगडा नहीं उभडेगा। अतएव चाहे शुभ हो वा अशुभ हो; हित हो वा अहित हो मित्रतासे चौसडका खेल होनेदो! इसमें सन्देह नहीं, कि यह दैवी कार्य है। हे भारत! मेरे तुम्हारे द्रोणके और भीष्मके निकट रहनेसे कभी दैवका कहा अनियम नहीं होने पावेगा; सो तुम पवन-समान तेज घोडेवाले रथ पर

न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद्‍ब्रवीमि ते।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥ ६१ ॥
इत्युक्तो विदुरो धीमान्नैदस्तीति चिन्तयन्।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत्सुदुःखितः ॥ ६२ ॥ [१८२४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि
दुर्योधनसंतापे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

जनमेजय उवाच– कथं समभवद्‍द्यूतं भ्रातृणां तन्महात्ययम्।
यत्र तद्‍व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ॥ १ ॥
के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन् ॥ २ ॥
विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज।
मूलं ह्येतद्विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच— एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान्।
आचचक्षेऽथ यद्‍वृत्तं तत्सर्वं वेदतत्त्ववित् ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच– शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम ।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ५ ॥

चढके आजहीं खाण्डवप्रस्थको जाके युधिष्ठिरको लेते आओ। हे विदुर! ऐसा मत कहना, कि मुझसे यह बात कही गई है; जिस दैवसे यह कार्य हो रहा है, मैं उसीको प्रधान करके मानता हूं। धृतराष्ट्रकी इस बात पर विदुर यह शोचते हुए, कि अब इस कुलका अन्त हो चुका बडे दुःखी होय विज्ञवर भीष्मके निकट गये। (५७—६२) [१८२४]

सभापर्वमें उनचास अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें पचास अध्याय

जनमेजय बोले, कि हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! हमारे दादे जिससे विपदमें पडे, भाईयोंमें बडा अनर्थ मचानेवाला वह चौसड किस रीति पर हुआ था? चौसडसभामें कौन कौन राजा उपस्थित थे? किन किनने उनको खेलनेमें बहकाया और किन किनने रोका? हे द्विजवर! मैं चाहता हूं, कि आप विस्तृत रूपसे यह कथा कहें, क्यों कि वह पृथ्वीनाशकी जड थी! श्रीसौतिजी बोले, कि राजा जनमेजय के ऐसे पूछने पर सब वेदोंके जानकार महानचित्त श्रीव्यासजी के शिष्यने उस काल पूर्व कालका सब हाल कह सुनाया। (१-४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरतश्रेष्ठ महाराज! आप सुना चाहें तो फिर

विदुरस्य मतं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥
अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ७ ॥
हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत्प्रभाषते।
क्रियतां पुत्र तत्सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ८ ॥
देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते।
यत्प्राह शास्त्रं भगवान्बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ९ ॥
तद्वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः।
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक ॥ १० ॥
विदुरो वाऽपि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः।
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप ॥ ११ ॥
तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते।
भेदे विनाशो राज्यस्य तत्पुत्र परिवर्जय ॥ १२ ॥
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद्वै कार्यं परं स्मृतम्।

विस्तार पूर्वक यह कथा सुने। अम्बिका-पुत्र धृतराष्ट्र विदुरका मत जानके दुर्योधनसे निरालेमें फिर यह बोले, कि बेटा! चौसड खेलनेका प्रयोजन नहीं है; क्यों कि विदुरने इसकी प्रशंसा नहीं करी; यह बुद्धिमान पुरुष कभी हमारी अहित की बात नहीं कहता। विदुर जो कुछ कहते है, मैं उसे परम हित समझता हूं, सो बेटा! तुम उन्हीका कहना मानो क्योंकि वही तुम्हारे हितकारी है। (५-८)

अमरोंके गुरु देवर्षि उदार बुद्धिमान भगवान बृहस्पतिजीने धीमान देवनाथ का जो जो शास्त्र सुनाये थे महाकवि विदुर रहस्यसहित वह सब जानते है। हे बेटा! मैभी उन्होंकी परामर्शसे सदा कार्य किया करता हूं। हे नरनाथ! अति बुद्धिमान उद्धवजी जैसे वृष्णियोंमें प्रशंसित है, वैसेही मेधायुक्त विदुर कुरुओंमें प्रधान गिने जाते है; सो बेटा! जब वह अमरमत है तो फिर चौसड मत खेलो; चौसडमें मित्रोंमे बिगाड होना दीख पडता है और मित्रोंमे बिगाड होनेसे राज्य जाता रहता है, सो तुम यह इच्छा त्याग दो। (९—१२)

पुत्र पर पिता माताका जो कर्त्तव्य सुना गया है, उसीके अनुसार पितरोंके राज्यमे तुम बढे हो, लिखे पढे हो, शास्त्रमें

प्राप्तस्त्वमसि तन्नाम पितृपैतामहं पदम् ॥ १३ ॥
अधीतवान्कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ।
भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम् ॥ १४ ॥
पृथग्जनैरलभ्यं यद्भोजनाऽऽच्छादनं परम् ।
तत्प्राप्तोसि महाबाहो कस्माच्छोचासि पुत्रक ॥ १५ ॥
स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत् ।
नित्यमाज्ञापयन्भासि दिवि देवेश्वरो यथा ॥ १६ ॥
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १७ ॥
दुर्योधन उवाच— अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन्पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ १८ ॥
न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १९ ॥
सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद्ब्रवीमि ते ॥ २० ॥
आवर्जिता इवाऽऽभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः ।

मे दक्ष भये हो, और गृहमें सदा पाले पोसे जाते हो। हे महाराज! तुम भाइयोंमें ज्येष्ठ होकर राज्यमें बैठे कौनसा सुन्दर पदार्थ नहीं प्राप्त करते हो! जो भोजन चीर साधारण के लिये दुर्लभ है तुम वह पाते हो, बडाभारी पैत्रिक राज्य तुममे और बडा है और सदा आज्ञा प्रचार कर स्वर्गमें विराजमान देवनाथके समान शोभा पाते हो, इस पर भी क्यों शोक करते हो? बेटा! तुम अज्ञान नहीं हो, जानने योग्य सब कुछ जानते हो, फिर भला कहो तो सही, इस दुःखदायी शोकने क्या तुमको घेर लिया? (१३-१७)

दुर्योधन बोला, कि हे महाराज! मै बडा पापी हूं, इसीसे शत्रुकी उन्नति देखने परभी खान पान कर रहा हूं। शत्रुकी उन्नति देखनेसे जिसको क्रोध नहीं उभडता, पण्डित लोग उसे नीच पुरुष कहते है। हे प्रभो! यह साधारण लक्ष्मी मुझे प्रीति नहीं देती, कुन्ती पुत्रको राजलक्ष्मी विराजती है और पूरी धरतीभी उसके पांव पर लोटती देखकर मै गहरे दुःखसे घेरा गया हूं, अधिक क्या कहूं, मेरा हृदय बडा कठोर है, इसीसे इतने दुःख परभी जीता हूं। (१८-२०)

नीप, चित्रक, कौकुर, कारस्कर और

कारस्करा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥२१॥
हिमवत्सागराऽनूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २२ ॥
ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशांपते ।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २३ ॥
उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् ।
नाऽदृश्यत परः पारो नाऽपरस्तत्र भारत ॥ २४ ॥
न मे हस्तः समभवद्वसु तत्प्रतिगृह्णतः ।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥ २५ ॥
कृतां विन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यन्नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥ २६ ॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत्स वृकोदरः ।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥ २७ ॥
तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम् ।
यदि कुर्यां समारम्भं भीम हन्तु नराधिप ॥ २८ ॥
शिशुपाल इवाऽस्माकं गतिः स्यान्नाऽत्र संशयः ।

लोहजंघगण युधिष्ठिर भवनमें दासों की भांति सिर नवाये रहते हैं। धरतीके अन्तभागस्थित हिमालय, समुद्र, जलप्राय देश आदि सब रत्नाकर युधिष्ठिरसे परास्त हुए हैं। हे पृथ्वीनाथ ! युधिष्ठिरने मुझको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जानके सत्कारसहित रत्न बटोरनेमें नियुक्त किया था। वहां जितने रत्नसे बने बनाये अच्छेसे अच्छे पदार्थ आये थे उनका परिमाण नहीं हो सक्ता था। हे भारत ! उस धनके लेते मेरे हाथ थक गये थे; मेरे थकने पर उपहार बटोरनेवाले उपहार बटोरनेकी मेरी प्रतीक्षामें खडे रहते थे।(२१-२५)

मयदानवने बिन्दु सरोवरके आस पाससे रत्न लाके वहां जो एक स्फटिक पद्मवाला कृत्रिम सरोवर रचा था, उसको मैंने जलभरा सच्चे सरोवरके समान देखा था, उस भ्रममें ज्योंही मैंने वस्त्र उतारा त्योंही वृकोदर मुझको शत्रुकी उन्नतिसे मोहित और रत्नवर्जित जानकर हंस उठा। हे नरनाथ ! यदि बन पडे तो मैं वृकोदरको उसका बदला लेनेके लिये गिरा दूंगा, पर यदि उसे मारनेका उत्साह दिखाऊं तो निःसन्देह हमारी भी शिशुपालके समान गति होगी। हे भारत ! सपत्नकी वह हंसी मानो

सपत्ननाऽवहासो मे स मां दहति भारत॥ २९ ॥
पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप॥३०
तत्र मा प्राहसत्कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥३१॥
क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः ।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ।
प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद्वदतो मे नराधिप ॥ ३२ ॥
अद्वारेण विनिर्गच्छन्द्वारसंस्थानरूपिणा ।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनाऽस्मि विक्षतः ३३॥
तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याऽभिहतं तदा ।
बाहुभिः परिगृण्हीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥३४॥
उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव ।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च ।
संबोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३६ ॥

मुझको जला रही है ॥(२८—२९)

और भी देखिये, मैं कमल वाले वैसेही एक सच्चे तालको पत्थर समान जानके जलमें गिर गया था, इस पर कृष्णने अर्जुन के साथ मीठा वालीसे मेरी हंसी की थी और द्रौपदी भी स्त्रियाके सहित मेरा हृदय काटती हुई हंसी थी। मेरा चीर भीगने पर नौकरोंने राजा की आज्ञासे दूसरा चीर लादिया था, वह भी मेरे लिये गहरा दुःख हुआ। (३०—३)

हे नाथ ! और भी एक ठगनेकी बात कहता हूं, सुनिये ! ऐसा एक स्थान बना है, कि ठीक द्वारके समान दीख पडता है, पर वास्तवमें द्वार नहीं है, उससे ज्यों निकलने पर था, त्योंही सिरमें बडी चोट आयी । तब नकुल सहदेव दोनोंने दूरसे मुझको घायल देख कर दुःख दिखाय भुजोंसे मुझे थाम लिया पर उस दशामें सहदेवने मानो मुसकिराते हुए कहा था, कि महाराज! यह द्वार नहीं है, इधरसे जाइये । महाराज ! भीमसेनने उस दशामें बडे जोरसे हंस कर मुझे ऐसे पुकार कहा था, कि "अजी धृतराष्ट्र-पुत्र !" द्वार इधर है । इनके अतिरिक्त मेरे और भी दुःखका

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे ।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥३७॥ [१८६१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्या संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि
दुर्योधनसंतापे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

दुर्योधन उवाच— यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥
नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाऽहं तदरेर्धनम् ।
फलतो भूमितो वाऽपि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥
और्णान्बैलान्वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥३॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान्।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥
गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः ।
प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः ॥ ५ ॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ६॥
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ।
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ॥ ७ ॥

हेतु यह है, कि पहिले जिन सब रत्नोंका नाम तक नहीं सुना था, वे उस सभामे दीख पडे। (३३-३७) [१८६१]

सभापर्वमें पचास अध्याय समाप्त ।

सभापर्वमें एकावन अध्याय।

दुर्योधन बोला, हे भारत ! भूपालोंने नाना ठोरसे जो सब धन एकत्रित किया था और मैंने अपनी आखोंसे देखा था उनकी बात सुनिये । महाराज ! शत्रुका वह धन देखकर मेरी बुद्धि जाती रही और मैं अपने को भूल गया; अब यह सुनिये, कि किस देशसे कितना धन आया था। राजा काम्बोजने भेड मूषादि बिलवासी प्राणी तथा बिल्लीके रोवेंसे जडे, सुवर्ण जालसे मढे अगणित अच्छे अच्छे दुपट्टे और छाल, तीतर पक्षीके समान चिलकबरे तथा शुकवर्ण नाक वाले तीनसौ घोडे और पीलू, शमी तथा इङ्गूदफलसे पुष्ट तीनसौ सांडिनी दी थीं। (१-४)

हे महाराज ! बैल पालनेवाले और शूद्र सदृश ब्राह्मण तीन खर्व का उपहार लाय सभामे न जाने पाय द्वार पर खडे थे। क्षेत्रादि वृत्ति भोगनेहारे गोयुक्त

एव बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ।
शत दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाऽऽभरणभूषिताः ।
शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्याजिनानि च ॥ ९ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज हयान्गान्धारदेशजान् ॥ १० ॥
इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः ।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥ ११ ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह ।
विविध बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलज मधु ।
कम्बलान्विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १३ ॥
प्राग्ज्योतिषाऽधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १४ ॥
आजानेयान्हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १५ ॥
अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।

सैकडों ब्राह्मण घृत-भरे सुवर्ण कमण्डलु का उपहार लाके भीतर घुस नहीं सके। सामुद्रतटके शूद्रगण कार्पासिककी रहनेवाली श्यामली दुबली लम्बे बालवाली सुवर्ण अलङ्कारोंसे सजी सैकडों दासी, ब्राह्मणोंके योग्य अच्छे राङ्कव और मृगछाल तथा गान्धार देशी घोडे यह सब उपहार बटोरके बहुर आये थे। (५-१०)

सिन्धुपार और समुद्र तटके गृह और फुलवाडियोंमें उपजे जो मनुष्य देवमातृक और गृहमातृक धान्यसे जीविका कर लेते है, वे वैराम, पारद, आभीर और कितवगण बहुविध रत्न, सुवर्ण, बकरे भेड, गौ, ऊंट आदि पशु फलसे उपजे मधु और भांति भांतिके कम्बलका उपहार लेकर सभामें जानेसे रोके जाय द्वार पर खडे थे। प्रागज्योतिषनाथ म्लेच्छोंके स्वामी शूर बली महारथी राजा भगदत्त यवनों सहित वायुसे वेगवान् तेजचलनेवाले सुजात घोडे और दूसरे उपहार लेकर सभामें न जाने पाय द्वार पर खडा था। (११-१५)

तब वह प्रागज्योतिषनाथ भगदत्त बडे मूल्यवान मणि का बना पात्र और

प्राग्ज्योतिषाऽधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत्तदा ॥ १६ ॥
त्र्यक्षांस्त्र्यक्षांल्ललाटाक्षान्नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान्पुरुषादकान् ॥ १७ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १८ ॥
कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभान्दूरपातिनः ।
आजह्रुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥ १९ ॥
प्रमाणरागसंपन्नान्वङ्क्षुतीरसमुद्भवान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ।
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥
इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान्मनोजवान् ।
तथैवेन्द्रायुधनिभान्सन्ध्याभ्रसदृशानपि ॥ २१ ॥
अनेकवर्णानारण्यान्गृहीत्वाऽश्वान्महाजवान् ।
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ॥ २२ ॥
चीनाञ्छकांस्तथा ओड्रान्बर्बरान्वनवासिनः ।
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमवतांस्तथा ॥ २३ ॥
नीपानूपानधिगतान्विविधान्द्वारवारितान् ।

अमल गजदन्तकी मूठवाले खड्ग देकर चलने पर हुआ। इनके अतिरिक्त मैंने वहा अनेक देशोंमे आये दोनेत्र लिलार-नेत्र औष्णिक, अन्तवासी, रोमक नरभक्षी और एक पांव वालोंको द्वार पर रोके जाते देखा था। कर देनेको आये भूप अनेक जातिके बडे बडे शरीर धारी काले गलेवाले, दूर जाने वाले, भले सिखाये पढाये सब दिशाओंमें प्रख्यात, यथा प्रमाण और मनहरण वरण धारण किये दश सहस्र रासभ और अनेक सोना चांदीका उपहार ले आये थे. और वह सब देकर युधिष्ठिरके यहा जा सके थे। (१६—२१)

एक पांव वाले इन्द्रगोप कीटके समान लाल शुक्र, सन्ध्याके समय उगे बादल वरण इन्द्र-धनुषके समान शबल वरण. ऐसे नाना वर्णवाले मनकी भांति तेज वनैले घोडे और बहुमूल्य सुवर्ण लाकर युधिष्ठिरको दिया था। चीन, शक, ओड्र, बर्बर, वनवासी वार्ष्णिवंशी, हारहूणकृष्ण-हिमाचलवासी, नीप, अनूप आदि बहुविध लोग उनकी भांति भांतिकी अपरिमित वस्तु उपहारके लिये देनेको आके

बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ॥ २४ ॥
कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभान्दूरपातिनः ।
आहार्षुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥२५॥
प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २६ ॥
कुटीकृतं तथैवाऽत्र कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २७ ॥
निशिताश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशून्शितान्॥ २८ ॥
रसान्गन्धांश्च विविधान्रत्नानि च सहस्रशः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः २९॥
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः।
महागजान्दूरगमान्गणितानर्बुदान्हयान् ॥ ३० ॥
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसंमितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥३१
आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ ३२ ॥
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।

द्वार पर रोके गये । वङ्क्षतटवासी काले गलेवाले बडे देहवाले सौकोस दौडनेवाले यथा प्रमाण वर्णवाले और छूनेमें कोमल दशों दिशामें प्रसिद्ध, भले सिखाये पढाये खच्चर, उनके सदृश बने राङ्कव, कीटज पट्टज आदि बिनकपासका बना चमकीला लच्छेदार पद्मसे सहस्रों चीर, भेडोंकी कोमल खाल, बडे बडे तेज खड्ग, ऋष्टिक और परश्वध पश्चिम देशमें उपजे नोंखदार परशु, भांति भांतिकी गन्धरस और सहस्रों रत्नादि सहित सब उपहार लेके द्वार पर खडे थे। (२१–२९)

शक, तुषार कङ्क, रोमश, और शृङ्गी लोग दूर चलनेहारे अगणित बडे बडे गज अर्बुद अश्व दश करोड पद्म सुवर्णादिका उपहार लाके द्वार पर रोके गये। पूर्वदेशी नरेश बडे मूल्यवान आसन बिछाना यान मणि काञ्चनमें ने सुन्दर कवच, भांति भांतिके शस्त्र, सुवर्ण बाघकी खालसे ढंपे भले सिखाये घोडे सहित अनेक आकारके रथ, सुन्दर सुन्दर गा I, कम्बल, अनेक भांतिके रत्न,

रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ॥ ३३ ॥
हयैर्विनीतैः संपन्नान्वैयाघ्रपरिवारितान् ।
विचित्रांश्च परिस्तोमान्रत्नानि विविधानि च ॥ ३४ ॥
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च ॥ ३५ ॥
एतद्दत्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ।
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३६ ॥ [१८९७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच —दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥ १ ॥
मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥
तद्वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत्पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥
कृष्णाँल्ललामांश्चमराञ्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥

नाराच, अर्द्ध नाराच आदि बहुविध शस्त्र यह सब बडी बडी वस्तु देने पर महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञभवनमें जा कर बैठ सके। (२०—३६) [१८९७]

सभापर्वमें एकावन अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें बावन अध्याय।

दुर्योधन बोला, कि हे अनघ ! भूपालोंने यज्ञके लिये युधिष्ठिरको जो अपरिमित धन दिया था उन अनेक प्रकार के उपहारोंको देनेकी कथा कहता हूं, सुनिये। जो सुमेरु और मन्दर गिरिवरके बीचमें स्थित शैलोदा नाम्नी नदीकी दोनों ओर कीचक नामक छिद्रवाले बांसकी सुन्दर छांहमें बैठे सुख भोगते है, वह खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, कुलिन्द, तङ्गण और परतङ्गण भूपवर्ग चिउंटियोसे उठाये पिपीलिक नामक द्रोणमेय सुवर्णका ढेर लाये थे। (१–४)

महाबली पहाडीगण मनहरण कालेवरण और चन्द्रमा समान शुभ्रवरण चॅवर, हिमाचलके फूलोमे उपजे बहुत

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाऽप्यपोढं माल्यमम्बुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥
पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥
ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ।
कारूपे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ॥ ८ ॥
फलमूलाशना ये च किरातश्चर्मवाससः ।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥ ९ ॥
चन्दनाऽगुरुकाष्ठानां भारान्कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ १० ॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशांपते ।
आहृत्य रमणीयाऽर्थान्दूरजान्मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥१२॥
कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा ।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह॥१३ ॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः ॥ १४ ॥

स्वादिष्ट मधु, उत्तर कुरुसे जल सहित माला, उत्तर कैलाशसे औषधि और दूसरे सब उपहार बटोरके सिरनाय कर खडे होके नरेश युधिष्ठिरके द्वार पर रोके गये थे। हे प्रभो ! हिमाचलके आधे भागमें सूर्योदय शिखर पर, करुप देशीय समुद्र के छोरमे और लौहित्य पर्वतकी दोनो ओर बसनेवाले भूपवर्ग और फल मूलाहारी चमडा परिधायी कुटिल शस्त्र-धारी, कुटिल कार्य्यकारी किरातोंकोभी मैंने वहां देखा था।(६—९)

महाराज ! वे बहंगियों पर चन्दन, अगुरु ढेरके ढेर चर्म-रत्न सुवर्ण और गन्धके पदार्थ किरात जातिकी दश सहस्र दासी और दूरदर्शी सुन्दर सुन्दर मृग तथा पक्षी बटोर बटोरके और बडे पहाड से एकत्रित किये बहुत तेजयुक्त सुवर्ण और दूसरे उपहार लेके द्वार पर रोके गये थे। (१०—१२)

हे पृथ्वीनाथ ! कैरात, दरद, दर्व्व, शूर, वैयामिक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लिक, काश्मीर कुमार, घोरक

अम्बष्ठाः कौकुरास्ताक्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥१५॥
पौण्ड्रिकाः कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशांपते ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥१६॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयासः शस्त्रधारिणः ।
अहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥१७॥
वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सुपुण्ड्रकाः ।
दौवालिकाः सागरकाः पत्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥१८॥
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत ।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ॥१९॥
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥२०॥
ईषादन्तान्हेमकक्षान्पद्मवर्णान्कुथावृतान् ।
शैलाभान्नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकं सरः ॥२१॥
दत्त्वैकैको दशशतान्कुञ्जरान्कवचावृतान् ।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तथा ॥ २२ ॥
एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥ २३ ॥

हसकायन शिवी, त्रिगर्त्त यौधेय, मद्र, कैकय, अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, पौण्ड्रिक, कुक्कुर, शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाणावत्य, और गय यह सुजाति श्रेणिमन्त, श्रेष्ठ और शस्त्रधारी क्षत्रियगण युधिष्ठिरके लिये सैकड़ों मुद्रा लाये थे। (१३—१७)

हे भारत! वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्रोर्ण शैशव और बहुतेरे कर्णप्रावरण वहां आये राजशासन अनुसार द्वारपालों से ऐसा कहे गये, कि आप कालकी प्रतीक्षा कर सकते हो और सुन्दर उपहार लाये हो तो द्वारके भीतर जा सकोगे। आगे उनमेंसे हरेक काम्यक सरोवरकी दोनों ओर उपजे, हरकी लकडी के समान दांतवाले सुवर्ण कक्ष वाले कुथसे अच्छादित होनेके कारण मानो पद्म समान वर्ण वाले पहाड सदृश सदा उन्मत्त कवच लगाये, धीरज धरे अच्छे अच्छे कुलों के दशसौ हस्ती देकर द्वारसे घुस सके थे। (१८—२२)

नाना दिशा तथा देशोंसे आये यह

राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥ २४ ॥
तुम्बरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम्।
आम्रपत्रसवर्णानामददद्धेममालिनाम् ॥ २५ ॥
कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशांपते।
अददद्गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥ २६ ॥
विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम्।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥ २७ ॥
पांशुराष्ट्राद्वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान्।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन्काञ्चनमालिनाम्॥ २८ ॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत्॥ २९ ॥
यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशांपते ॥ ३० ॥
अददद्गजरत्नानां शतानि च बहूनि च।
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा।
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम् ३१ ॥
वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन्किरीटिनः।

सब ओर दूसरे अगणित मनुष्य तथा महात्मा रत्नसे बनी वस्तु लाये थे। हे कुरुनन्दन! महाराज! इन्द्रके साथी चित्ररथ नामक गन्धर्वनाथने पवनके आगे चलनेवाले चारसौ घोडे दिये थे। गन्धर्व तुम्बरुने प्रसन्न चित्तसे आमके पत्तेके रंगके सुवर्ण सदृश चमकीले सौ घोडे दिये। शूकर नामक म्लेच्छोंके सुयोग्य भूपने सैकडों गज दिये। मत्स्यनाथ विराटने उपहारके लिये दो सहस्र सुवर्ण वरण हस्ती छोडे थे। (२३-२७)

हे नरनाथ! राजा वसुदानने पांशु राज्यसे छब्बीस हाथी वेग और सत्ववान युवा दो सहस्र सुवर्ण समान चमकीले घोडे तथा दूसरे उपहार लाके पाण्डवोंको दिया था। हे महाराज! राजा यज्ञसेनने चौदह सहस्र दासी, स्त्री सहित दशसहस्र दास, सैकडों गज, गज सहित छब्बीस रथ, यहां तक, कि अपना सब राज्य पाण्डवोंकी सेवामें धर दिया था। वृष्णि नन्दन वासुदेवनेभी अर्जुनका मान बढानेको चौदह सहस्र अच्छे हस्ती दिये,

अददुर्गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश ॥ ३२ ॥
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्याऽऽत्मा धनंजयः ।
यद्ब्रूयादर्जुनः कृष्ण सर्वं कुर्यादसंशयम् ॥ ३३ ॥
कृष्णो धनञ्जयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत् ॥३४॥
सुरभींश्चन्दनरसान्हेमकुम्भसमास्थितान् ।
मलयाद्दर्दुराच्चैव चन्दनाऽगुरुसंचयान् ॥ ३५ ॥
मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ।
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ ॥३६॥
समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासंघांस्तथैव च ।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ॥ ३७ ॥
संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ।
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥३८॥
प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ।
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा ॥ ३९ ॥
प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन्युधिष्ठिरम् ।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा॥४०

क्योंकि कृष्ण धनञ्जयकी और धनञ्जय कृष्णकी आत्मा है। अर्जुन कृष्णको जो कुछ क्यों न कहें वह सब विना शङ्का पूरा कर सकते हैं; यहां तक, कि वह धनञ्जयके लिये स्वर्गलोकको भी छोड सकते है और अर्जुन भी कृष्णके लिये प्राण तक सौंप सकते हैं। (२८–३४)

चोलनाथ और पाण्ड्यनाथ मलयागिरिमे सुवर्णके घडे भर भरके सुगन्धि चन्दन रस, दर्दुर पर्वतसे चहगियो पर चन्दन अगुरुका ढेर, चमकीले मणिरत्न और सुवर्ण समान सुहावने पतले चोर यह सब बटोरके द्वार नहीं पा सके। सिंहल वालोंने समुद्रका सारभाग वैदूर्य-मणि और मोतीके लच्छे तथा सैकडों गज और कम्मलको भेंट दीथी। लाल अपाङ्ग तथा श्याम आंखवाले, मनुष्य मणिके टुकडोंसे सजे चादरवालोंके द्वारपर खडे थे। (३५—३८)

युधिष्ठिरकी प्रीतिके लिये ब्राह्मण, अजेय क्षत्रिय, वैश्यवर्ग और शूद्रोंनेभी भेंट दी थी। प्रीति और बडे मानसे म्लेच्छभी युधिष्ठिरके भवनमें गये थे। इस प्रकार उत्तम मध्यम और अधम सब

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ।
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४१ ॥
उच्चाऽवचानुपग्राहानराजभिः प्रापितान्बहून्।
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत॥४२॥
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव।
येषामामं च पक्कं च संविधत्ते युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ।
रथानामर्बुदं चाऽपि पादाता बहवस्तथा ॥ ४४ ॥
प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ।
विसृज्यमानं चाऽन्यत्र पुण्याहस्वन एव च॥ ४५ ॥
नाऽभुक्तवन्तं नापीतं नाऽलंकृतमसत्कृतम् ।
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४६ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४७॥
सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥४८॥
दशाऽन्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।

प्रातिकूलोमे उपज सब वर्णही वहां आजमे थे। नाना देशासे नाना जातिके लोगोके नटुरनेके कारण जान पडता था, कि मानो युधिष्ठिरके भवनमे भूमण्डल भरके लोग एकत्र आ मिले है। भूपागं की भांति भातिका अपरिमित धन देते देखकर दुखके मारे मुझे मृत्यु की इच्छा हुई थी। (३०—४२)

हे महाराज! पाण्डवोंके जितने नौकर चाकर हैं और जिनको युधिष्ठिर कच्ची पक्की खिलाते हे उनको बात कहता हूं, सुनिये, तीन पद्म अयुत फीलवान और घुड-सवार सेना, एक अर्बुद रथारूढ और अगणित पदल है। कहीं कच्ची भोजन सामग्री तौली जाती है और पुण्य धुन सुन पडती है। वास्तवमें मैने युधिष्ठिरके भवनमें सब वर्णोंमेंसे किसीको बिन खाया, बिन पीया, बिन सतकृत नहीं पाया। अठासी सहस्र गृहमेधी स्नातक विप्रोंको हरेकके पीछे तीस तीस दासी नियत कर युधिष्ठिर पाल पोष रहे है। और वे भी सुप्रसन्न और सुतृप्त होय उनके शत्रु-नाशकी कामना कर रहे है!। (४३—४८)

इनके अतिरिक्त युधिष्ठिर भवनमे दश सहस्र ऊर्ध्वरेता यतिलोग सुवर्ण पात्रमे

भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४९ ॥
अभुक्तं भुक्तवद्वाऽपि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद्विशांपते ॥ ५० ॥
द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ।
सांबन्धिकेन पाञ्चालाः सख्येनाऽन्धकवृष्णयः॥५१॥[१९४८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

दुर्योधन उवाच— आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसन्धा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदान्तावभृथाप्लुताः ॥ १ ॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेधा धर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥ २ ॥
दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्त्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥
आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥
बाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम् ।

भोजन करते हैं। हे पृथ्वीनाथ ! कुबडे बौने तकको भोजन मिला वा नहीं इसकी खोजके लिये द्रौपदी स्वयं भूखी रह कर पूछ पाछ करती फिरती है; हे भारत ! विवाहसम्बन्धसे पाञ्चाल लोग और मित्रता से अन्धक तथा वृष्णिगण केवल यह दो कुन्तिपुत्रको कर नहीं देते नहीं तो और सब उनके कर दाता बने हैं। (४९—५१) [१९४८]

सभापर्वमें बावन अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें तिरपन अध्याय।

दुर्योधन बोला, कि जो सब महानचित्त महाराज सत्यदर्शी अतिव्रतप्रेमी, महाविद्यावान, अच्छे वाग्मीवान, वेदान्त और यज्ञोंमें दक्ष, धृतिरक्ष, लज्जाशील धार्मिक तथा यशोवन्त हैं, वे मूर्द्धाभिषिक्त राजालोग भी सब प्रकारसे युधिष्ठिर की उपासना करते हैं। दक्षिणाके लिये राजोंसे लाये कांसके बने एक एक दोहनीके पात्र सहित बहुतेरी गाय ठौर ठौर देखी। हे भारत ! अभिषेकके लिये नरेशगण वहां घबराके मनमें नाना भांतिके भाण्ड आदर सहित स्वयं उठाय उठाय ले आये। (१-४)

राजा बाह्लीक काञ्चन जटित रथ लाये राजा सुदक्षिणने उसमें काम्बोजमें

तुङ्गिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ॥ ५ ॥
सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः ।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमाहार्षीत्स्वयमुद्यतम् ॥ ६ ॥
दाक्षिणात्यः सनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥ ७ ॥
मत्स्यस्त्वक्षान्हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमपो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत् ।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥९॥
अभ्यषिञ्चत्ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः ।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चाऽसितं मुनिम् ॥ १० ॥
प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः ।
जामदग्न्येन सहितास्तथाऽन्ये वेदपारगाः॥ ११ ॥
अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद्भूरिदक्षिणम् ।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥
आधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
धनञ्जयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥

उपजे श्वेत चार घोडे जोत दिये। महाबली सुनीथ प्रसन्न होय अनुकर्पण अर्थात् नीचे कि लकडी और चेदिनाथ स्वयं ध्वजा उठाय लाये। राजा दाक्षिणात्य कवच, राजा मगध माला और पगडी, बडे चापधारी वसुदान साठ वर्ष अवस्थाके गजेन्द्र, मत्स्यनाथ सुवर्णसे आच्छादित अक्ष, एकलव्य दोनों जूते, अवन्तीनाथ अभिषेकके लिये बहुविध जल, चेकितान तून, काशीनाथ धनुष और शल्य शिक्यभूत, काञ्चन भूषित मुष्टियुक्त असि उठा लाये, अनन्तर बडे तपश्चारी धौम्य और व्यासजी नारद, देवल और असित मुनियोंको आगे रख अभिषेकका कार्य करने लगे। (५—१०)

महर्षि लोग प्रसन्न मनसे अभिषेकके निकट बैठे। जामदग्न्य सहित दूसरे वेदपारग महात्मा भी ऐसे मन्त्र उचारते हुए बहुत दक्षिणादाता युधिष्ठिरके निकट गये, कि जैसे देवलोकमे सप्तर्षि गण देवराज इन्द्रके पास जाते है। उस कालमे सच्चे पराक्रमी सात्यकिने उनके सिर पर छत्र लगाया। धनञ्जय और भीमसेन पंखे

चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तदा ।
उपागृह्णाद्यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥ १४ ॥
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ।
शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ॥ १५ ॥
तेनाऽभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत्।
गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चाऽपि दक्षिणम्॥ १६ ॥
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः ।
तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान्मङ्गलकारकान् ॥ १७॥
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन्।
प्रापतन्भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ॥१८॥
धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः।
सत्त्वस्था वीर्यसंपन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः ॥१९॥
विसंज्ञान्भूमिपान्दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ।
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् ॥ २०॥
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत ।

डोलाने लगे और नकुल सहदेव श्वेत चंवर भालने लगे। जिस शङ्खको पूर्व कल्पमें प्रजापतिने इन्द्रको दिया था, उस विश्वकर्मासे सहस्र निष्कोंसे भले बने वरुण सम्बन्धी शङ्खको शिवयके ऊपर धरके समुद्र युधिष्ठिरके लिये लाया था। उस शंखमें कृष्णको उन्हें अभिषिक्त करते देखकर मैं मोहसे आकृष्ट हुआ। (११--१६)

हे पिता! लोग पूर्वसे पश्चिम समुद्रको जाते और दक्षिण समुद्रको भी पधारते हैं पर उत्तरी समुद्रमें खेचरी जातिके विना कोई भी जा नहीं सकता। पाण्डवोंने उस स्थानमें भी शासन फैलाया है। वहांके सकडों शङ्ख मङ्गलके लिये बजने लगे। उन सबोंके एकही कालमें बजनेसे बडा शब्द फैला, तिससे मेरी सब देहके रोंये खडे हो गये। वे भूप जिनको अपना कुछ भी तेज नहीं है, उस शब्दसे धरती पर लोट गये। तब सत्वयुक्त वीर्यवन्त एक दूसरेको प्यार देखनेहारे धृष्टद्युम्न,पांचो पाण्डव सात्यकि और कृष्ण यह आठ उन भूपोंको चेत खोते और मुझको बुद्धिसे हाथ धोते देखकर बहुत हसने लगे। (१७--२१)

हे भारत! अनन्तर अर्जुनने प्रसन्न मनसे श्रेष्ठ द्विजोंको सुवर्ण सिंग वाले पांच सौ बैल दिये। वास्तवमें प्रभावी

न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च ॥२१॥
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाऽप्यासीद्भगीरथः।
ययातिर्नहुषो वाऽपि यथा राजा युधिष्ठिरः ॥ २२॥
यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युत ।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥ २३ ॥
एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥ २४ ॥
अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ॥ २५ ॥
एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि
दुर्योधनसंतापे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ [१९७८]

धृतराष्ट्र उवाच – त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान्द्विषः।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥
अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम्।

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर हरिश्चन्द्रकी भांति इस प्रकार राजसूय लाभ कर जैसे परम श्रीमान बने, न रन्तिदेव, न नाभाग, न यौवनाश्व, न मनु, न वेनपुत्र राजा पृथु, न भगीरथ, न ययाति, न नहुष कोई भी वैसे नहीं होसके। हे विभो भारत! हरिश्चंद्रके समान पृथा कुमारकी ऐसी श्री देखकर मेरा जीना क्योंकर मंगलदायी समझ रहे हैं। हे नरनाथ अन्धेके हर चलानेके लिये बैल जोतनेसे वह जैसे जिधर तिधर हो जाते हैं, वैसे-ही विधाताने अन्धे बनके विपरीत भाव ज्येष्ठ और कनिष्ठका जोडा बना दिया है; देखिये कनिष्ठकी दिन पर दिन वृद्धि हो रही है और ज्येष्ठ निकृष्ट बने जाते हैं। हे कुरुवर! यह देखकर सब प्रकारसे आलोचना करने पर मुझको सुख नहीं मिलता है, इसीसे ऐसा दुबला, मैला और शोकसे बावला बना जाता हूं। (२०—२६) [१९७८]

सभापर्वमें तिरपन अध्याय समाप्त

सभा पर्वमें चौवन अध्याय।

धृतराष्ट्र बोले, कि ए बेटा! तुम मेरे सब बेटोंसे बडे हो और बडी राणीके गर्भसे हो, सो पाण्डवोंका द्वेष मत करो, क्योंकि द्वेषीको मृत्यु कष्ट होता है, कि

अद्विषन्तं कथं द्विष्यात्त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥
तुल्याऽभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥३॥
अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥
आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥
अनार्याचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥ ६ ॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपात्तानामेतद्वैभवलक्षणम् ॥ ७ ॥
विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥८॥
बाहूनिवैतान्मा च्छैत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते ।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ॥ ९ ॥

मृत्युके कष्टसे कुछ भी विशेषता नहीं रहता। हे भरतश्रेष्ठ! युधिष्ठिर कपट करना नहीं जानता, तुम्हारे समान धन रखना और तुल्य मित्रोंसे घेरा जाता है; विशेष किसीका द्वेष नहीं करता; सो तुम्हारे समान जनको कब उसका द्वेष करना उचित है? ऐ बेटा! युधिष्ठिरके जितने अनुचर और वीर्य है, तुम्हारे भी उतने है, फिर तुम क्यों भाईकी लक्ष्मी हरनेको मन दौडा रहे हो? इतने लोभी मत बनो, मान जाओ, शोक न करो! पर यदि वैसी सम्पद चाहते हो, तो पुरोहित लोग सप्ततन्तु अर्थात् महायज्ञ करें। (२–४)

भूपवर्ग बडे मानसे तुम्हारे लिये भी प्रीति सहित बहुत धन और रत्न आभूषण ले आवेगे। ऐ बेटा! पराये धनकी ओर हाथ बढाना बडे नीचका कार्य है जो अपने धर्ममे बने रहके अपनेही धन से प्रसन्न रहते है वेही सुख पाते है। पराये धन पानेकी चेष्टा न करना, अपने कर्मका सदा उद्यम करना, और प्राप्त धनको बचाना यही कल्याणके लक्षण है। विपदके कालमें न दबराकर, काम मे उठा रहना, सदा उद्यमी बनना, अप्रमत्त और नम्रचित्त होनाही सदा लोगो का कुशल मूल है। (५–८)

देखो, पाण्डुपुत्र तुम्हारे भुज-स्वरूप

पाण्डोः पुत्रान्मा द्विषस्वेह राजंस्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम् ।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ॥ १० ॥
अन्तर्वेद्यां ददद्वित्त कामाननुभवन्प्रियान् ।
क्रीडन्स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ११ ॥[१९८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि
द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

दुर्योधन उवाच— यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥ १ ॥
जानन्वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ॥२॥
न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ॥ ३ ॥
परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान्प्रति मुह्यति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥

है, सो उनको मत काटो, और भाइयोंके उस धनके लिये मित्र-बिगाडमें मत फंसो। हे महाराज ! पाण्डुके बेटोंका कभी द्वेष मत करो, तुम्हारे भाइयोंका जितना धन है तुम्हाराभी उतनाही है। बेटा ! मित्र बिगाडसे बडा अमङ्गल होता है ; देखो जो तुम्हारे दादे हैं वही उनके भी दादे हैं। हे भरतवर ! तुम्हारा चित्त बहुत बिगडा हो, तो यज्ञमें धन दान, प्रेमभरी कामनाओंका अनुभव और शङ्का छोडके कामिनियोंके साथ विहार कर शान्त होओ। (१-११) [१९८५]

सभापर्वमें चौवन अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें पचपन अध्याय।

दुर्योधन बोला, कलच्छुल जैसे दाल रस चख नहीं सकती, तैसेही जिसने बहुतसे विषयोंको सुना है, पर कुछभी धी शक्ति नहीं रखता, वह कभी शास्त्रार्थ समझ नहीं सकता, पर आप समझ बूझके भी एक नौकसे जुडे दूसरे नौकके समान मुझको भ्रममें डाल रहे हैं; अथवा स्वार्थ पर आपकी दृष्टि नहीं है, या मेरा द्वेष कर रहे हैं? वास्तवमें आपके शासनमें चलनेसे तो इन धृतराष्ट्रपुत्रोंका नाश हो चुका क्योंकि आप सामनेसे शत्रुका धन लेनेके समान उपस्थित कार्यको भावी अर्थात् यहकालिक निश्चय करते हैं। (१—३)

जिसका बाट दिखाने वाला पराया शिक्षासे चलता है, उसका बाट खोना

राजन्परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान्स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥ ५ ॥
लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः ।
तस्माद्राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥
क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥७॥
प्रकालयेद्दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः ।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥
प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते ।
तद्वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥९ ॥
शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका ।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥ १० ॥
असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम् ।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन्परमो नयः ॥ ११ ॥

बहुत सहज है, वैसे नायकसे चलाये जानेवाले क्योंकर सच्ची बाटमें चल सकते हैं? महाराज ! आपकी बुद्धि पक्की होगयी, आपने वृद्धोंकी सेवा की और इन्द्रियोंको जीत चुके हैं, फिर हमको स्वकार्य साधन करनेसे क्यों बारम्बार हटाते हैं? देखिये, बृहस्पतिजीने कहा है, कि लौकिक व्यवहारसे राज्य व्यवहार अलग है; सो राजाको अप्रमत्त बन सदा स्वार्थकी चिन्तामें मगन रहना चाहिये। (४—६)

महाराज! क्षत्रियका व्योपार जयही पर बना है; सो चाहे वह धर्म वा अधर्म हो, अवश्य ही करना चाहिये। जिससे अपनी वृद्धि निश्चित है, उसका फिर क्या विचार करना है? हे भरतश्रेष्ठ! सारथि जैसे लकडीसे घोडोंको वशमें लाता है, वैसे शत्रुकी प्रज्वलित श्री हरनेकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रियोंको वशमें करना चाहिये। चाहे गुप्त हो वा प्रकाशित हो जिस किसी उपायसे शत्रु वशमें आजाय उसीको शस्त्रोंके जानकारोंको शस्त्र कहते सुना है, जिससे काटा जाता है वही शस्त्र नहीं है। (७—९)

हे नरनाथ ! इसकी कोई लिखापढी वा प्रमाण नहीं है, कि कौन शत्रु वा मित्र है। जो जिसको दुःख पहुचाता है, वही उसका शत्रु कहा जाता है। हे महाराज! असन्तोषही सम्पदकी जड है, सो मै उसको ग्रहण कर रहा हूं। जो पूरी

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा ।
पूर्वाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥
अद्रोहे समयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः ।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥ १३ ॥
द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥
नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशांपते ।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥
शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात्समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ १६ ॥
अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः ।
वाल्मीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ १७ ॥
आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत ।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि धिष्ठितः ॥ १८ ॥
जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते ।

उन्नतिका प्रयत्न करता है वही अच्छे नियमका जानकार है । सम्पद वा धनका मोह करना उचित नहीं है; क्योंकि पहिलेका बटोरा धन किसीसे हराभी जा सकता है, जब कि बलसे हर लेनाही राजाका धर्म कहा गया है। (११—१२)

देवराज इन्द्रने द्रोह न करनेका प्रण ठाननेपरभी नमुचिका सिर काटा था। शत्रुसे ऐसा सनातन व्यवहार करनेमें उनकी संमति थी, इसीसे उन्होंने ऐसा किया था। सर्प जैसे गड्ढेमें पडे मेंढक आदि जन्तुओंको निगल जाता है, वैसे विरोध न करनेवाले राजा और गृह न छोडनेवाले सन्यासीको धरती निगल जाती है। हे पृथ्वीनाथ! पुरुषका स्वभावहीसे बना एकभी शत्रु नहीं है; जिसके साथ तुल्य व्योपार रहता है, वही शत्रु है, दूसरा नहीं। (१३—१५)

बढते हुए शत्रु का जो मोह वा उपेक्षा करता है, क्रमसे बढती हुई व्याधिके समान वह शत्रु ही उसकी जडको काट देता है। वृक्षकी जडसे उपजी दीमक जैसे विना विलम्ब उसको मार डालती है, वैसे छोटा शत्रुभी पराक्रममें बढता जाय; तो दूसरे पक्षको शीघ्रही नष्ट कर देता है। हे आजमीढ! शत्रुकी लक्ष्मी आपको प्रीति न दे; देखिये, सत्ववान मनुष्य को नियमरूप भार सिर पर चढाना चाहिये।

एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥ १९ ॥
नाऽप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति ।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शिष्ये वा निहतो युधि॥२०॥
एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशांपते ।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥ [२००६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि
द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

शकुनिरुवाच— यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतांवर ॥
आहूयतां परं राजन्कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
अगत्वा संशयमहमयुद्ध्वा च चमूमुखे ।
अक्षान्क्षिपन्नक्षतः सन्विद्वानविदुषो जये ॥ २ ॥
ग्लहान्धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ।
अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्फुरम् ॥३॥

दुर्योधन उवाच— अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४ ॥

जो जन्मादि जीवदेहकी स्वाभाविक वृद्धिके समान अर्थकी उन्नति चाहता है, वह विना सन्देह ज्ञातियोंमें बढा करता है। वास्तवमें विक्रमही शीघ्र बढनेका हेतु है। वास्तवमें पांडवोंकी सम्पद विना हाथ लगे मैं फिर सुखसे सो नहीं सकूंगा। मैं चाहे उस श्रीको लाभ करूंगा, और नहीं तो युद्धमें सो जाऊंगा। हे महाराज! हमारी उन्नतिका निश्चय नहीं; पर पाण्डव सदा बढते जाते हैं, सो ऐसी दशामें मेरे जीनेका क्या प्रयोजन है? (१९—२१) [२००६]

सभापर्वमें पचपन अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें छप्पन अध्याय।

शकुनि बोला, कि हे जयी-शिरोमणि दुर्योधन! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको जिस लक्ष्मीको देखकर तुम दुःख करते हो, मैं चौसडमें उसे हर लूंगा। हे महाराज! उनको बुलवाओ। देखो, जाननेवाले चौसड द्वारा चढके न जाननेवालाको परास्त करते हैं। हे भारत! बाजी मेरा चाप है, अक्ष बाण है, अक्षोंका भीतरी भाग गुण है और कपट चाल मेरा रथ है। (१—३)

दुर्योधन बोला, कि महाराज! यह चौसडके सुजान मामा चौसड खेलके

धृतराष्ट्र उवाच— स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्याऽस्य विनिश्चयम् ॥ ५ ॥
दुर्योधन उवाच— व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः ।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ६ ॥
नारभेतान्यसामर्थ्यात्पुरुषः कार्यमात्मनः ।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ७ ॥
भयं परिहरन्मन्द आत्मानं परिपालयन् ।
वर्षासु क्लिन्नकटवत्तिष्ठन्नेवावसीदति ॥ ८ ॥
न व्याधयो नाऽपि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत्कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ ९ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद्वै शस्त्रमनायसम् ॥ १० ॥
अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र संग्रन्थनं कलहस्याति याति ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथंचित्सृजेदसीन्निशितान्सायकांश्च ॥ ११ ॥

पाण्डवोंकी राजश्री हरलेनेका उत्साह करते हे, सो आप उसको आज्ञा दीजिये। धृतराष्ट्र बोले, कि मैं महात्मा भ्राता विदुरके शासनसे बना हूं, सो उससे मिलके यह कार्य उचित है वा नहीं उसका निश्चय करूंगा। दुर्योधन बोला, कि हे कौरव ! विदुर पाण्डवोंका हित जितना ढूंढते है, हमारा वैसा नहीं करते, सो वह विना सन्देह इस कार्यसे आपकी बुद्धि टाल देंगे। हे कुरुनन्दन परायी बुद्धिबल लेके पुरुषको अपना कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि विषयमें दोका मत एक नहीं होता। (४-७)

बुरा मनुष्य चौसड आदि भयावने कार्योंको तज अपनी रक्षा कर वर्षा के क्लेशयुक्त कीटके समान विना चेष्टा रह के घट जाता है। मनुष्यके मङ्गलके लिये व्याधि भी बाट नहीं निहारती और यमराजभी आसरा नहीं जोहते सो जब तक व्याधि नहीं है, तबतक मङ्गल पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। धृतराष्ट्र बोले, कि ऐ बेटा ! बलियोंसे झगडेमें हाथ डालनेकी इच्छा कदापि मुझे प्रिय नहीं है। देखो, शत्रुता विकार लाती है, और वही विना लोहेका बना शस्त्र बन जाता है। हे राजकुमार ! झगडा उपजानेवाले भयावन चौसड रूपी अनर्थको तुम अर्थ मान रहे हो, किसी प्रकार एक बार उसमें फसनेसेही तेज असि और सायक रच जाते है। (८-११)

दुर्योधन उवाच —कृते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीतस्तत्रात्ययो नास्ति न संप्रहारः।
तद्रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १२ ॥
स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच– वाक्यं न मे रोचते यत्त्वयोक्तं यत्ते प्रियं तत्क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात्तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं न हीदृशं भावि वचो ह्यधर्म्यम् ॥१४॥
दृष्टं ह्येतद्विदुरेणैव सर्वं विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति महद्भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच– एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च।
शशासोच्चैः पुरुषान्पुत्रवाक्ये स्थितो राजा दैवसंमूढचेताः ॥ १६॥
सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥१७ ॥
श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥ १८ ॥

दुर्योधन बोला, कि पूर्वकालवाले चौसडकी रीति बना गये है, उसमे न तो सत्यानाश और न युद्ध-लीला होती है, सो अब शकुनिकी बात पर जी जमाय आप शीघ्र सभा रचनेकी आज्ञा करें। देखिये चौसडमें फंसनेसे हमारे शत्रु हारने रूपी स्वर्गके द्वार खुल जायगा। वास्तवमे उसके करनेवालोंके लिये उस प्रकार सहजमें हाथ लगनेवाला स्वर्गही योग्य है। ऐसा होनेसे आपसे पाण्डवों-कासी तुल्यता होगी, सो आप उनसे चौसडका प्रबन्ध कीजिये। धृतराष्ट्र बोले, कि तुमने जो कहा, उस पर मेरा मन नहीं चलता है। हे नरनाथ जो तुम चाहो, सोही करो, पर उस बात पर कार्य करके पीछे पछताओगे। क्योंकि ऐसी अधर्मयुक्त बात कभी हित नहीं कर सकती। बुद्धि विद्यासे चलनेवाले दूरदेश विदुरने यह सब जाना था, अब क्षत्रिय-प्राण-नाशी वह बडा भय दैववश आ खडा हुआ। (१२-१५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि दैवसे चित्त खोये महानचित्त राजा धृतराष्ट्रने दैव हीको श्रेष्ठ और उससे पार पानेके अयोग्य समझके वह बात कहके पुत्रकी बात पर ध्यान जमाय नोकर चाकरोंको विशेष आज्ञा दी, कि तुम ध्यान लगाय सहस्र खंभोंवाली, सुवर्ण वदूर्य आदिसे सुहावनी सौ द्वारवाली, लम्बाई मे सो मे कोस फैला, तोरण-स्फटिक नामक शीघ्र एक

कालेनाऽल्पेनाऽथ निष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ १९ ॥
ततो विद्वान्विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहाऽऽनयस्व ॥ २० ॥
सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥ (२०२७)

वैशम्पायन उवाच– मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद्राजंश्चकार ह ॥ १ ॥
अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः ।
नाऽभ्यनन्दद्वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥
विदुर उवाच-नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं मैवं कृथाः कुलनाशाद्बिभेमि ।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्यादेतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ ३ ॥

बढिया सभा रची । तब सहस्रों प्रज्ञावान शिल्पियोंने उनकी आज्ञा सुनके त्वरा लगाय शङ्का भगाय ध्यान जमाय वे अविलम्ब वैसी सभा बनाय, उसमें सब वस्तु लाय धरी । आगे प्रसन्न मनसे उस स्वल्प कालमें बनी, नाना रत्नोंमे बनी ठनी सुवर्णसे रची, नाना वरणोंके आसन बिछी मनहरणी तथा सुहावनी सभाकी बात राजासे कह सुनायी । आगे विद्यमान नरनाथ धृतराष्ट्र मन्त्रियोंमें प्रधान विदुरसे यह बोले कि तुम मेरी आज्ञासे राजकुमार युधिष्ठिरके निकट जाय उनको शीघ्र यहां लेके आओ । वह भाइयोंसे मिलके मेरी यह बहुरत्नजटित मूल्यवान सेजआसनोंसे आच्छादित सुन्दरतासे सुशोभित सभाको निहारे और इसमें मित्र चासड खेलें । (१९–२१)

सभापर्वमें छप्पन अध्याय समाप्त ।

सभापर्वमें सतावन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि महाराज! नरनाथ धृतराष्ट्रने पुत्रका मत जान और दैवको अपार मान ऐसा किया । उस समय विज्ञवर विदुर अनुचित रीति पर ऐसो कहे जाय भाईकी हां से हां न मिलाय यह बोले, कि महाराज! आपकी यह आज्ञा मुझे अच्छी नहीं लगती । आप कदापि यह न कीजिये । मै कुलका मूल उखडनेका भय खाता हू । हे नरनाथ! मुझको यह शङ्का होती है, कि चौसडमे आपके पुत्रोंमें भेद होके

धृतराष्ट्र उवाच-नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां न चेद्दैवं प्रतिलोमं भविष्यत।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम् ॥ ४॥
तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात्।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५॥ [२०३२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि
युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैर्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥ १॥
सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम्।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ २॥
स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम्।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३॥
तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढस्ततोऽपृच्छद्धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४॥
युधिष्ठिर उवाच-विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः कच्चित्क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि।

निःसन्देह बिगाड मचेगा। (१—३)

धृतराष्ट्र बोले, कि विदुर! यदि दैव विरोधी न नवे, तो बिगाडमेभी मुझको दुःख नहीं पहुंचेगा। देखो, यह विश्व स्वाधीन नहीं है, दैववश स्थापित करने हारे विधाताहीके नियममें चेष्टित हो रहा है; सो मेरे शासनसे आज तुम कुन्तीकुमार अजेय राजा युधिष्ठिरके निकट जाय उनको तुरन्त ले आओ। (४-५)

सभापर्वमें सतावन अध्याय समाप्त। (२०३२)

सभापर्वमें अठावन अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजा धृतराष्ट्रसे बलपूर्वक नियुक्त होकर विदुर सुशिक्षित बडे वेगमण्डित, श्रेष्ठ, बलिष्ठ घोडोंके द्वारा इन्द्रप्रस्थको महानचित्त पाण्डवोंके निकट गये। वह बडे बुद्धिमान धर्मात्मा नरनाथ युधिष्ठिरकी राजधानीकी बाट लेके उनके सन्मुख आय स्तुति योग्य द्विजों से पूजे जाय उसमें गये; आगे कुबेर भवनके सदृश राजभवनको पाय धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास जा पहुंचे। अजमीढनन्दन सत्य-सदन महात्म्यवान राजा युधिष्ठिरने उनको यथावत पूजा कर अन्तमें धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंकी कुशल-क्षेम पूछी। (१—४)

युधिष्ठिर बोले, कि हे क्षत्त! आपका चित्त उदास दीखता है, आप कुशलसे तो आये? धृतराष्ट्रके बेटे उनके विरोधी

काश्चित्पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा वशानुगाश्चापि विशोऽन्न काश्चित्॥ ५ ॥
विदुर उवाच- राजा महात्मा कुशली सपुत्र आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः।
प्रीतो राजन्पुत्रगुणैर्विनीतो विशोक एवात्मरतिर्दृढात्मा ॥ ६ ॥
इदं तु त्वां कुरुराजोभ्युवाच पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च ।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र ॥ ७ ॥
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां संगमेन समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥
दुरोदरा विहिता ये तु तत्र महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा ।
तान्द्रक्ष्यसे कितवान्संनिविष्टानित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच-द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचयेद्बुध्यमानः।
किं वा भवान्मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म॥ १० ॥
विदुर उवाच-जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे।
राजा च मां प्राहिणोत्त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व॥ ११ ॥

तो नहीं बने ? प्रजा भी तो उनके वशमें है ? विदुरजी बोले, कि हे महाराज! ज्ञातियोंमें घेरे इन्द्र समान भाग्य धरे महात्मके पूरे राजा धृतराष्ट्र पुत्रों सहित कुशलमें है; वह सिर नाये पुत्रोंसे मन मिलाय शोकरहित हाथ थाय मन दृढ किये अपनी उन्नति पर सन्नद्ध है । पर कुरुनाथने तुम्हारी कुशल क्षेम और धनादिके व्यय नाशका प्रश्न पूछके यह कहा है, कि ऐ बेटा! तुम्हारे भाइयोंकी यह सभा तुम्हारी सभाकीसमा बनी है, सो तुम आय इसे निहारो। हे पार्थ! भाइयोंसे मिलकर इस सभामें मित्र-चौसड खेलो और आनन्द लूटो, तुम्हारे आनेसे हम भी प्रसन्न होंगे और सब एकत्रित कौरव भी सुख पावेंगे । हे महाराज! महात्मा राजा धृतराष्ट्रने वहां जिन चौसडबाजोंको नियुक्त किया है,उन को तुम वहां बैठे पाओगे, इसीको कहनेके लिये यहां आया हूं। सो इस राजाज्ञा को पालन करो। (५—९)

युधिष्ठिर बोले, कि हे क्षत्त! चौसड खेलनेमें हममें बिगाड होना यदि निश्चय हो, तो कौन समझ बूझकर उस बिगाड पर मन चलावेगा? आपही क्या समझते है, कह दीजिये; हम तो आपहीकी बात पर बने हैं। विदुरजी बोले, कि मै भलेही जानता हूं चौसड अनर्थ की जड है, मैंने इस रोकनेके विषयमें बडा प्रयत्न भी किया था, तिस पर भी राज ने मुझको तुम्हारे यहां भेज दिया है; सो हे विद्वान! यह सुनके जो कुछ

युधिष्ठिर उवाच-के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य ॥१२॥
विदुर उवाच गान्धारराजः शकुनिर्विशांपते राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥१३॥
युधिष्ठिर उवाच- महाभयाः कितवाः संनिविष्टा मायोपधा देविनोऽत्र सन्ति।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगत्तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥१४॥
नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासनान्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम्।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ॥१५॥
न चाकामः शकुनिना देविताहं न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम्।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥१६॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम्
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा॥१७॥
दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवाऽपतत्।

उचित हो करो। युधिष्ठिर बोले, कि राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंके अतिरिक्त वहां कौन कौन दूसरे कपटी खेलनेको बैठे हैं? जिन चौसडबाजोंसे मिलके हमको अपरिमित धनसे खेलना होगा, उनकी बात पूछता हूं, कहिये। (१०—१२)

विदुरजी बोले, कि हे पृथ्वीनाथ! चौसडके बडे जानकार मर्यादा छोडके खेलनेहार फेकनेमें तेज हाथ गान्धारनाथ शकुनि. राजा विविंशति, चित्रसेन, सत्यव्रत, पुरुमित्र, और जय यह सब चौसड बाज वहां उपस्थित हैं। युधिष्ठिर बोले, तब तो वहां बडे बडे कपटी धूर्त चौसड बाज जो मिले हैं; पर मैं क्या कर सकता हूं, विधाताकी आज्ञासे दैववश यह सम्पूर्ण जगत नियमानुसार है यह कदापि स्वाधीन नहीं है। हे कवे! पिता सदा पुत्रको इष्ट है; इसलिये मैं राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे झगडीले चौसडमें गमन करना अवश्य चाहता हूं, पर आप मुझको जैसा कहेंगे, अवश्य वही करूंगा; फिर यदि शकुनि गाल बजाय मुझे सभामें न बुलावे तो मैं बिना इच्छा उससे न खेलूंगा; मेरा सदासे यह निश्चय है, कि बुलाने से कदापि मुंह नहीं मोडता। (१३—१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धर्मनाथ विदुरसे ऐसा कहके यात्रा योग्य सजने धजनेकी आज्ञा देकर दूसरे दिन स्वजन, द्रौपदी आदि नारी और सहचरों सहित पधारे; कोई तेजयुक्त पदार्थ गिर कर जैसे नेत्रोंकी शक्ति हर लेता है,

धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः ।
अमृष्यमाणस्तस्याऽथ समाह्वानमरिन्दमः ॥ १९ ॥
बाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा ।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥२०॥
राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरः सरः ।
धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥ २१ ॥
स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥
तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह॥२३॥
समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥
ये चाऽन्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चाऽपि सर्वशः ।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ २७ ॥

ऐसे दैव ही मनुष्यकी बुद्धि मुग्ध देता है; मनुष्य मानो जालमें फंसके दिशाताके वशमें हो जाता है।" यह पृथानन्दन शत्रुदमन युधिष्ठिर उस बुलावेका कुछ विचार न कर विदुरके साथ चले। कालके नियमानुसार धृतराष्ट्र बुलाये जाकर शत्रुनाशी राजा पाण्डुकुमार बाह्लीक के रथ पर चढके वेश पहिरके और राजलक्ष्मीसे प्रकाशित होके ब्राह्मणोंको आगे कर भाइयों सहित हस्तिनापुरको गये। (१७-२१)

वहां पहुंचकर वह धर्मात्मा वीर्यवन्त महाभुज प्रभु, धृतराष्ट्रके भवनमें जाय उनसे मिले। पहिले उन्होंने भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप और अश्वत्थामासे मिलके यथारीति वन्दन आलिङ्गनादि किये, पीछे सोमदत्त, दुर्योधन, शल्य, शकुनि, दुःशासन आदि भाइयों, जयद्रथ, सब कुरुओं, तथा जितने भूप वहां पहिलेसे आये हुए थे, उन सबोंसे भेंट की। तिसके पीछे वह महाभुज सब भाइयोंसे मिलके धीमान महाराज धृतराष्ट्रके वासगृहमें गये। (२२—२७)

ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ।
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत्ताराभिरिव रोहिणीम्॥२८॥
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ।
ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २९ ॥
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन्भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३० ॥
ततो हर्षः समभवत्कौरवाणां विशांपते ।
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्पाण्डवान्प्रियदर्शनान्॥ ३१ ॥
विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च।
ददृशुश्चोपयातांस्तान्द्रौपदीप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३२ ॥
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नाऽतिप्रमनसोऽभवन्॥ ३३॥
ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥३४।
ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ॥
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ॥ ३५ ॥
उपगीयमाना नारीभिरस्वपन्कुरुपुङ्गवाः ।
अनन्तरं च तत्प्राप्य प्रीताः परपुरञ्जयाः ॥ ३६ ॥

वहां दस तारोंसे सदा घिरी रोहिणी की भांति पुत्रवधुओंमे घिरी पतिव्रता सती गान्धारीसे भेंट कर उनके पांव लगा। और गान्धारीनेभी उनको असीम दिया। अन्तमें युधिष्ठिरने वृद्ध पिता प्रभु धृतराष्ट्रकी भेंट की। हे महाराज! राजा धृतराष्ट्र ने उनके और भीमसेन आदि दूसरे चार पाण्डवोंके सिरका घ्राण लिया। कौरव लोग सुन्दर दर्शनीय पुरुषव्याघ्र पांडवोंको निहार कर सब प्रसन्न हुए। (२८-३१)

अनन्तर पाण्डवगण सबकी आज्ञासे रत्न-मण्डित गृहमें गये, वहां पहुंचने पर द्रौपदी आदि नारियोंने उनको देखा। द्रौपदीकी परम प्रकाशमता उन्नति देख कर धृतराष्ट्रकी पुत्रवधुओंकी आंख फिरायी। पुरुषव्याघ्र पाण्डवोंने स्त्रियोंसे वार्तालाप कर व्यायामपूर्वक नित्य कृत्य कर सजधज लिया। आगे दिव्य चंदन लगाय आह्निक कर लेकर कल्याणकी इच्छाप, ब्राह्मणोंसे स्वस्ति कहवाय,

जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथाऽत्यजन् ॥३७॥
सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥३८॥ [२०७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभाप्रवेशेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

वैशम्पायन उवाच- प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान्सर्वान्पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ॥ २ ॥
तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥
शकुनिरुवाच— उपस्तीर्णा सभा राजन्सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच- निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः ।

सुन्दर अन्न भोजन कर सोनेके घरको गये; आगे जो कुछ पाना योग्य है, सब पाय प्रीति सहित नारियोंके गीत सुनते हुए सोगये ! शत्रुपुरञ्जयी कुरुश्रेष्ठ वह शुभरात रतिविहारमें कटी, व सुख से सोय, थकावट मिटाय, वन्दियोंसे स्तुति किये जाय, सबेर उचित समय पर नींदसे जग उठे और आह्निक कृत्य कर जुआडियोंके प्रणाम नमस्कार लेते हुए सुहावने सभा मण्डपमें गये। (२–३८)

सभापर्वमें अठावन अध्याय समाप्त । [२०७०]

सभापर्वमें उनसठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि युधिष्ठिरादि पाण्डव सभामें जाय, भूपोंसे मिल, पूजनीय जनोंको पूज और अवस्थाके अनुसार सबोंको गले लगाय और सम्भाषणादि कर बडे मूल्यवान चादरोंसे ढपे आसनो पर विराजे। उनके और सब दूसरे नरेशों के आसनों पर बैठने पर सुबलकुमार शकुनि युधिष्ठिरको पुकारके यह बोला, कि महाराज ! चौसड खेलने और तुमको देखनेको आये भूपोंसे सभा छा गयी है; सब तुम्हारी बाट ताकते हैं सो अब चौसड खिलाय खेलका नियम बना लेना चाहिये। (१–४)

युधिष्ठिर बोले, कि हे राजन् ! कपट चौसड बडा पाप है, इसमें न तो क्षत्रिय-धर्म दीख पडता और न कोई निश्चित

न च नीतिर्ध्रुवा राजन्किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥ ५ ॥
न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥
शकुनिरुवाच- यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञश्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥
अक्षग्लहः सोऽभिभवेत्परं नस्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः ॥८॥
युधिष्ठिर उवाच— एवमाहाऽयमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥९॥
इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥
नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत्सत्पुरुषव्रतम् ॥ ११ ॥
शक्तितो ब्राह्मणार्थाय शिक्षितुं प्रयतामहे ।

नीति है, फिर आप जूएकी प्रशंसा क्यों कर रहे है? देखिये ठगनेमें जुआडी जैसे बडाई मानते हैं, बुद्धिमान लोग उसकी कुछभी प्रशंसा नहीं करते है? सो हे शकुने! निठुरके समान हमको अनुचित रीतिसे मत हराना! शकुनि बोला, जो बडे बडे जुआडी हार जीतको समझ रखते है, विपक्षीकी चतुरता पकड लेते है और जूएकी बहुविध चेष्टासे नहीं थकते है, वही जूएका स्वाद जानते है और उसकी सब चाल सह लेते है। हे पार्थ! जूएमें हार जीतकी बाजी हम को भय दिखा सकती है और वही इस में दोषयुक्त गिना जाता है, इस लिये हे महाराज! तुम मत डरो आओ हम खेले; अधिक विलम्बका प्रयोजन नहीं है, अब ठहरा लो क्या बाजी बदोगे। (५—८)

युधिष्ठिर बोले, कि जो स्वर्गादि लोक दिखानेहारे इन सब कर्म ज्ञानादिके विषयमें सदा घूमा करते है, उस असित मुनिपुत्र मुनिश्रेष्ठ देवलने यह कहा है, कि जुआडियोंके साथ कपट करके चौसर खेलना बडा पाप है, धर्मसहित युद्ध जीतनाही अच्छा खेल है, जुआ अच्छा नहीं है। आर्यपुरुष म्लेच्छ भाषा नहीं कहते और छल नहीं करते; कुटिलता और जुआ चोरी विना लडनाही अच्छे पुरुषका व्रत है। हे शकुने! हम जिस धनसे शक्त्यनुसार ब्राह्मणोंका

तद्वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ॥१२॥
निकृत्या कामये नाऽहं सुखान्युत धनानि वा ।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥ १३ ॥

शकुनिरुवाच— श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः॥१४॥
अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः॥१५॥
अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः ।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर ॥ १६ ॥
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥१७॥
एवं त्वं मामिहाऽभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे।
देवनाद्विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच— आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
विधिश्च बलवान्राजन्दिष्टस्याऽस्मि वशे स्थितः ॥१९॥

उपकार पहुचानेका सीखनेका बडा प्रयत करते है, आप मर्यादा तजके खेल कर उसे मत हरलीजिये, शत्रुओंका व्यर्थ पराजय मत कीजिये। ठगकर सुख वा धन पाना मै नहीं चाहता;ठगनेकी इच्छा न रहने परभी जुआडियोंकी यह रीति सराही नही जाती। (१— ३)

शकुनि बोला, कि हे युधिष्ठिर ! देखो जय की इच्छारूपी शठताके साथ श्रोत्रिय श्रोत्रियके पास जाते है, तत्त्वज्ञानी पुरुष शठताहीके साथ तत्त्वके अज्ञानीके पास पहुचते है, और विद्वान पुरुषभी शठता-के साथ अल्पज्ञानी जनोंके निकट जाते है; वैसी शठताको लोग शठताही नही कहते। उसी प्रकार चौसडमे सुशिक्षित जन चौसड लेकर शठताके साथ उन जनोंके समीप जाते है, सो वहभी शठता गिनी नही जा सकती। हे युधिष्ठिर ! शठताहीके साथ अस्त्रज्ञ पुरुष अस्त्र न जाननेवालोंके पास और बलशाली, दुर्बलके पास उपस्थित होते है, इसी प्रकार सब कार्योंहीमें शठतापूर्वक व्यव-हार होता है; सो तुमभी इस प्रकारसे मेरे पास आकर यदि शठताही समझते हो यदि जुएमें तुमको भय होता हो, तो मत खेलो। (१४-१८)

युधिष्ठिर बोले, कि मेरा यह व्रत निश्चित है, कि बुलाये जाने पर नहीं लौटता हू। हे राजन् विधाताही बलवान है,मैभी दैवके वशमें आगया हू; साम्प्रत

अस्मिन्समागमे केन देवनं मे भविष्यति ।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम् ॥२०॥
दुर्योधन उवाच— अहं दाताऽस्मि रत्नानां धनानां च विशांपते ।
मदर्थे देविता चाऽयं शकुनिर्मातुलो मम ॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच— अन्येनाऽन्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे ।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम् ॥ २२ ॥ [२०९२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवादे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच—उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥ १ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः ।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत ॥ २ ॥
ते द्वन्द्वशः पृथक्चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि विभेजिरे ॥ ३ ॥
शुशुभे सा सभा राजन्राजभिस्तैः समागतैः ।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥ ४ ॥

यह कहो कि इस जनसमाजमें किससे मेरा खेल होगा और मुझसे हरवार बाजी रख सके ऐसा कौन विद्यमान है, आगे खेलो। दुर्योधन बोला, कि हे पृथ्वीनाथ ! मैं धनरत्न सब देता हूं, मेरे सह मामा शकुनि मेरे लिये खेलेंगे। युधिष्ठिर बोले, कि एकके लिये दूसरेका खेलना मुझको अनुचित जंचता है, हे विद्वन ! तुमभी यह बात मानते होगे, पर यदि विशेष इच्छा हुई हो, तो खेल आरम्भ करो। (१९-२२) [२०९२]

सभापर्वमें उनसठ अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें साठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि जुआ आरंभ करनेकी बात ठहर जाने पर, वे सब उपस्थित राजा धृतराष्ट्रको सामने बैठाकर सभा-मण्डलमें बैठे। हे भरत नन्दन ! भीष्म द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, और महामति विदुर अति अप्रसन्न चित्तसे उनके पीछे बैठे। महाभाग देवोंके एकत्र मिलित होनेसे स्वर्गकी जैसी शोभा होती है, उन सब सिंह समान गर्दनवाले, अति तेजस्वी नरेशोंके एकत्रित होकर अनेकानेक विचित्र आसनों पर पृथक् पृथक् और एक एकमें दो दोके बैठनेपर उस सभाकी वैसीही शोभा हुई।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच — अयं बहुधनो राजन्सागरावर्तसंभवः ।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान्कनकोत्तमभूषणः ॥ ६ ॥
एतद्राजन्मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ॥ ७ ॥

दुर्योधन उवाच — सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च ।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच— ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥ [२१०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारम्भे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच— मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे ।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ॥ १ ॥
सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः ।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः ।

वास्तवमें वे सब कोई सूर्य मूर्ति, शूरतामें सुशोभित और [illegible] थे। दर्शकों के बैठने पर, मित्र द्यूत आरंभ हुआ। (१—५)

युधिष्ठिर बोले, कि राजन् दुर्योधन ! मैं सागर जलमें उत्पन्न श्रेष्ठ सुवर्णसे सुशोभित इस सुन्दर बहुमूल्य मणिमय हारकी बाजी रखता हूं, इसके बदलमें तुम किस धनकी बाजी रखोगे, दुर्योधन बोला, कि मेरे पास भी सब मणि है, और धन अपरिमित है, पर मुझे धनका अहङ्कार नहीं है; चाहे जो कुछ हो, आप यह बाजी मार लीजिये।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि आगे चौसड के अच्छे जानकार शकुनिने पाशोंको लिया और उसीक्षण युधिष्ठिरसे कहा, कि यह मैं जीता। (६-९) २१०१]

सभापर्वमें साठ अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें एकसठ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, कि शकुने ! केवल कपट चौसडहीसे बाजी जीतली, क्या इसीलिये अहङ्कार कर रहे हो ? बहुत अच्छा आओ, हम सहस्रों बाजी रखकर खेलेंगे; मेरे सहस्रों सुवर्ण मुद्रा-भरे अनेक सन्दूक, कोष, अक्षय धन और अनेक सुवर्ण चांदी आदि धातु हैं, हे राजन् !

एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच– कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम् ।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम्॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच– अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः ।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान्किङ्किणीजालमण्डितः ॥ ४ ॥
संह्रादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत् ।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिस्वनः ॥ ५ ॥
अष्टौ यं कुमुदच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसंमताः ।
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद्भूमिमुपस्पृशन् ॥ ६ ॥
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच– एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच– शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलङ्कृताः ॥ ९ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यश्चतु षष्टिविशारदाः ॥ १० ॥

मै इस धनकी बाजी रखता हूं, मै इससे तुम्हारे साथ खेलता हूं। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर शकुनिने कुरुकुलमे श्रेष्ठ अक्षय धनवान पृथ्वीनाथ ज्येष्ठ पाण्डवसे कहा, यह मै जीता। (१—३)

महाराज युधिष्ठिर बोले, कि बादल और समुद्रके समान घोर शब्दकारी, सुन्दर चक्र और उपकरणधारी, घुंघुरु जालसे सजा और हृदयानन्दकारी जो राजरथ हमको यहां लाया है और जिसे अपने पदविक्रमसे किसी प्रकार जीवको न बचाने हारे श्वेत कुमुदके समान कान्ति-धारे राज्यभरके प्यारे आठ श्रेष्ठ घोडे खींचते है, मै इस बार उसी जयशील पवित्र रथराजकी बाजी रखता हूं। राजन्! उसीसे मै तुम्हारे साथ खेल रहा हूं। वैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पाशा फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मै जीता। (४-८)

युधिष्ठिर बोले, कि भद्रिका, शंखके कडे तथा जुगनू आदि भांति भांतिके मणि-काञ्चनयुक्त अलङ्कारोंसे सुहावनी, महामूल्य माल्याभरणधारिणी, सुन्दर वस्त्र पहिनी चन्दनादि गन्धसे सुवासिनी, चौंसठ कलाओंमे सुहासिनी, विशेष नृत्य

अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु ।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात् ॥
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच— एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच— एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १३ ॥
प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन्भोजयन्त्युत ॥ १४ ॥
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच— एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर उवाच— सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल ।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ १७ ॥
सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि ।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाऽष्टकरेणवः ॥ १८ ॥

गीतमें अति गुणी मेरी एकलक्ष युवती दासी है; मेरी आज्ञासे वे देव, द्विज और राजोंकी सेवा करती है; हे राजन् इसवार उस दासीरूपी धनकी बाजी रखता हूं, मैं उसीसे तुम्हारे साथ खेलता हूं। वैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर छलपूर्वक पाशा फेंककर शकुनि युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मैं जीता (९ --१२)

युधिष्ठिर बोले, कि मेरे सदा वस्त्र पहिरे हुए, कुण्डल धारी, कार्यदक्ष, अनुकूल, प्राज्ञ, बुद्धिमान और जितेंद्रिय सैकडों अल्प अवस्थावाले दास है, वे निशदिन हाथोंमें पात्र लेके अतिथियोंको भोजन कराते है; हे राजन् ! इसवार मेरी उसी दासरूपी धनकी बाजी रही, उसीको लेके मैं तुमसे खेलता हूं। वैशम्पायनजी बोले, यह सुनके छलपूर्वक पाशा फेंककर शकुनि युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मैं जीता । (१३ -१६)

युधिष्ठिर बोले, कि हे सुबलकुमार ! मेरे सुवर्णके हौदावाले अलंकृत पद्मराग रङ्गे हुए, हेममाली, अच्छे दांतवाले राजोंको वहनेयोग्य, युद्धमें सर्व प्रकारके शब्द सहनेवाले, हरकी लकडीके समान दन्तयुक्त, बडेभारी शरीरधारी, वन

सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच— इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २० ॥
युधिष्ठिर उवाच— रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः ।
हयैर्विनीतैः संपन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ २१ ॥
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् ।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच— इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरी दुरात्मवान् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २३ ॥
युधिष्ठिर उवाच— अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान्गान्धर्वान्हेममालिनः ।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान्गाण्डीवधन्वने ॥ २४ ॥
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिन्दमः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २५ ॥

मेघोंके समान एक सहस्र मत्तहस्ती हैं। वे सब पुरोंको भेदनेमें समर्थ हैं; और प्रत्येककी आठ आठ हस्तिनी हैं। हे राजन्! अबकी मैं उसी धनकी बाजी रखता हूं। उसीसे मैं तुमसे खेलता हूं। (१७–१९)

वैशम्पायन बोले कि, युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर सुबलकुमार शकुनि मानो उनकी हंसी करके बोला, कि यह मैं जीता। युधिष्ठिर बोले, कि जितने हाथी हैं, रथ भी उतनेही हैं, वे सब सुवर्ण दण्डीवाले, झण्डोंसे सुहावने, सुशिक्षित घोडोंसे बने ठने और अद्भुत युद्ध करनेवाले, रथियोंसे सुशोभित हैं। उन सब रथियोंमेंसे हरएकको चाहे युद्ध करना पडेगा वा नहीं सहस्र मुद्रातकको मासिक वेतन मिलती है, हे राजन्! इसबार मेरी उस रथरूपी धनकी बाजी रही; उससे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं। वैशम्पायनजी बोले युधिष्ठिरके इतनी बात कहने पर, वैरी और दुरात्मा शकुनिने उनसे कहा, कि यह मैं जीता। (२०–२३)

युधिष्ठिर बोले, कि गन्धर्वराज चित्ररथने युद्धमें हारके धनञ्जयको प्रसन्न होकर, जो गन्धर्वसम्बन्धी सुवर्णसे सुशोभित तित्तिरि, कल्माष घोडे दिये थे, अबकी मेरी उन्हींकी बाजी रही, हे राजन्! उसीसे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं।

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २६ ॥
युधिष्ठिर उवाच — रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चाऽयुतानि मे ।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥ २७ ॥
एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः ।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥ २८ ॥
क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः ॥ २९ ॥
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच- एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥
युधिष्ठिर उवाच- ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः ।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याऽहतस्य वै ॥ ३२ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घ्येयस्य भारत ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३४ ॥[२१३५]

इति श्रीमहाभारते० वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन बोले, यह सुनकर शकुनि छल पूर्वक पाशा फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, यह मै जीता। (२४– २६)

युधिष्ठिर बोले, कि मेरे दश सहस्र अच्छे रथ और गाडी है; उनमें सदा अनेक प्रकारके वाहन जुते रहते है, और प्रत्येक वर्णमे सहस्र सहस्र वीर पुरुष चुनके साठ सहस्र योद्धे नियुक्त किये गये है। वे सब महाबली, और पराक्रमी, क्षीर पीनेवाले और शाली चावल भोजन [illegible] । इसबार मेरी उसी धनकी बाजी रही; मै उससे तुम्हारे साथ खेलता हूं। (२७–३०)

वैशम्पायन बोले, यह सुनकर शकुनि छल-पूर्वक पाशे गिराके युधिष्ठिरसे बोला कि यह मै जीता। युधिष्ठिर बोले कि तामेके पात्रोंमे आच्छादित मेरे चारसौ निधि है, उनमेंसे प्रत्येक अमूल्य श्रेष्ठ विशुद्ध, जातरूप और सुवर्ण के पाच द्रोणके समान है। हे राजन्! इसबार मेरी उसी धनकी बाजी रही। मै उससे तुम्हारे साथ खेलता हूं। [३१-

वैशम्पायन उवाच— एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि ।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
विदुर उवाच— महाराज विजानीहि यत्त्वां वक्ष्यामि भारत ।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेताऽपि ते श्रुतम् ॥ २ ॥
यद्वै पुरा जातमात्रो रुराव गोमायुवद्विस्वरं पापचेताः ।
दुर्योधनो भारतानां कुलघ्नः सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः॥ ३ ॥
गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे ।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥ ४ ॥
मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते ।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाऽधिगच्छति ॥ ५ ॥
सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते ।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥ ६ ॥
विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवाऽसमञ्जसम् ।

म्पायन बोले, यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पाशा फेककर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मै जीता। (३१–३४) [२१३५]

सभापर्वमें एकसठ अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें बासठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इस प्रकार सर्वनाशी भयावना चौसड आरम्भ होने पर सर्व शङ्काओंके हरनेवाले विदुर पुकार कर धृतराष्ट्रसे यह बोले, कि महाराज ! मृत्युके द्वार पर पहुंचे-हुए मनुष्यको जैसे औषध पीनेकी रुचि नहीं होती, वैसेही आपको मेरी बात सुननेकी इच्छा नहीं होसकती है, तिस परभी मै जो कुछ कहता हूं, उसपर विशेष ध्यान दीजिये। भरत कुलका नाश करनेवाले दुर्योधनने जब जन्म लेतेही गोमायुके समान विकट स्वरसे शब्द किया था तब इसमे सन्देह नहीं है, कि यह अपने सब लोगोंको ध्वंस करेगा। दुर्योधन रूपी गोमायु गृहमे वास कर रहा है, आप मोहवश यह नहीं समझते है; साम्प्रत शुक्राचार्यके नीतिपूरित वचन मुझसे सुनिये। (१—४)

मधुका व्योपारी मधु पाके टीलेको समझ नहीं सक्ता है, मधुके लोभसे पर्वतके उस ऊंचले भागमे चढके वह मधुमें ही मग्न रहता है, या पतन को भी प्राप्त करता है। यह दुर्योधनभी मधुके समान चौसडमें उन्मत्त होकर भले बुरे की आलोचना नहीं करता है; यह समझ नहीं सकता है, कि महारथियोंसे शत्रुता-साधनके लिये शीघ्रही नष्ट हो

पुरा सत्यक्तवान्पूर्व प.र.ण. हितकाम्यया ॥ ७ ॥
अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् ।
नियोगात्तु हते तस्मिन्कृष्णेनामित्रघातिना ॥ ८ ॥
एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः ।
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ॥
निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ॥ ९ ॥
काकेनेमांश्चित्रबर्हाञ्छार्दूलान्क्रोष्टुकेन च ।
क्रीणीष्व पाण्डवान्राजन्मा मज्जीः शोकसागरे १० ॥
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ११ ॥
सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः ।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान् ॥ १२
हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित्पक्षिणो वनगोचरान् ।
गृहे किल कृताबासाँल्लोभाद्राजा न्यपीडयत् ॥ १३ ॥
स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परन्तप ।

[illegible]यगा । महाराज ! आप जानते [illegible], पहिले भोजोंमे विरोध रहते हुए कंसको अन्धक यादव और भोजोंने एकदिल होके त्याग दिया था, उनकी आज्ञासे जब शत्रु-विनाशी श्रीकृष्णचन्द्रने उस [illegible] [illegible] किया था, तब सब ज्ञातियोंने [illegible] [illegible] [illegible] सैकडों वर्षकी वृद्धिको [illegible] किया था ! उसी प्रकार आपकी आज्ञासे अर्जुन सुयोधनको [illegible] कर, इस पापात्माका नाश होनेसे [illegible] सुखमे आनन्द [illegible] ॥ (७-९)

हे महाराज ! [illegible] काएके बदले उन पाण्डवरूपी [illegible] प्राप्त कीजिये । पियारके बदले शार्दूलोंको मोल लीजिये, बिना कारण शोक-समुद्रमें मत डूबिये । देखिये, सब जीवोंके अभिप्रायोंके जाननेवाले सर्वज्ञ, सब शत्रुओंको भय दिखानेवाले शुक्राचार्य जम्भासुरको त्यागनेके लिये महासुरोंसे यह वचन बोले थे, कि " वंशकी रक्षाके लिये एक पुरुषको त्याग देना चाहिये, ग्रामकी रक्षाके लिये वंशको त्याग देना चाहिये, जनपदके लिये ग्राम और अपने लिये पृथ्वी तकको त्यागना चाहिये । " (१०—१२)

हे शत्रुतापी ! किसी राजाने वनमें सुवर्ण उगलनेवाले [illegible] एक पक्षियोंको अपने [illegible] [illegible] [illegible] था । [illegible] और लोभ[illegible] [illegible] उनसे सुवर्ण

आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत्॥१४॥
तदर्थकामस्तद्वत्त्वं मा द्रुहः पाण्डवान्नृप ।
मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात्पक्षिहा पुरुषो यथा ॥१५॥
जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ।
मालाकार इवाऽऽरामे स्नेहं कुर्वन्पुनः पुनः ॥ १६ ॥
वृक्षानङ्गारकारीव मैनान्धाक्षीः समूलकान् ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥१७॥
समवेतान्हि कः पार्थान्प्रतियुध्येत भारत ।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१८॥ [२१५३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

विदुर उवाच—द्यूतं मूलं कलहस्याऽभ्युपैति मिथो भेदं महते दारुणाय ।
तदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥ १ ॥
प्रातिपेयाः शान्तनवा भीमसेनाः सबाह्लिकाः।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥

की आशा से वर्तमान और भविष्यत् दोनों कालोंके मङ्गलको एकही समयमे नष्ट किया था। अत एव हे कुरुश्रेष्ठ! आप मोहवश और धनकी कामनासे पाण्डवोंके साथ द्रोह न कीजिये ; यदि करेंगे, तो उस पक्षीनाशी पुरुषके समान पीछे क्लेशित होंगे। (१२—१५)

हे भारत ! माली जैसे फुलवाटीमे वृक्षोपर स्नेह दिखाकर बार बार फूल तोडता है वैसेही आप पाण्डवरूपी वृक्षोमे क्रमशः जमते हुए फूलोंको लीजिये; अङ्गार बनानेवालेकी भांति उन्हें जडसे न जलाइये ! तथा आपभी सुत अमात्य और सेनाओंके साथ नष्ट न हो। हे राजन् ! एकत्रित पृथा-पुत्रोंके साथ ऐसा कौन है, जो लड सकता है ? दूसरोकी बात छोड दीजिये, इन सुरोंके साथ स्वयं इन्द्रभी नहीं लड सकते है। (१६-१८) [२१५३]

सभापर्वमें बासठ अध्याय समाप्त ।

सभापर्वमें तिरसठ अध्याय ।

विदुर बोले, जूआ झगडेकी जड है, उससे आपसमें बिगाड होता है, इस लिये वह केवल भय लानेके लियेही खेला जाता है; धृतराष्ट्र का यह पुत्र दुर्योधन उसकी शरण लेकर भयावनी शत्रुता रच रहा है। बडी भारी सेना रखनेवाले प्रतीप वंशी शान्तनुके पुत्रगण

दुर्योधनो मदेनैष क्षेमं राष्ट्रादपोहति ।
विषाणं गौरिव मदात्स्वयमारुजतेत्मनः ॥ ३ ॥
यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्वीर· कविः स्वामवमन्य दृष्टिम् ।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रामारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥
दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन प्रीयायसे त्वं जयतीति तच्च ।
अतिनर्मा जायते संप्रहारो यतो विनाशःसमुपैति पुंसाम्॥ ५ ॥
आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण कलहस्तवाऽयमचिन्तितोऽभिमतः स्वबन्धुना॥ ६॥
प्रातिपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम्।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥
यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रुर्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च कोऽत्र द्वीपः स्यात्तुमुले वस्तदानीम् ॥ ८ ॥

तथा बाह्लिक आदि राजसमूह सब दुर्योधनके दोषसे क्लेशकी दशा प्राप्त करेंगे। जैसे मदमाता हुआ बैल आप अपना सिंग तोड डालता है वैसेही इस दुर्योधनके पागलपनके कारण राज्यसे मङ्गल दूर होता जाता है। हे महाराज ! जैसे बालकसे चलाये जानेवाली नाव पर चढके मनुष्य बीच समुद्रमे भारी विपदकी दशामें होता है उसी प्रकार जो पुरुष स्वय वीर और कवि होके अपनी बुद्धिका अपमान करके परायी इच्छा-नुसार कार्य करता है, उसकीभी वैसीही दशा हो जाती है। (१—४)

दुर्योधन युधिष्ठिर से बाजी रखके खेलकर जयको प्राप्त करता है, इससे आप बडे प्रसन्न होते है; पर ऐसीही जयसे लडाई और उसीसे पुरुषोंका नाश होता है। आपने यह जो [illegible] बुरे कार्यका प्रारम्भ किया है, इसका फल केवल नीचेकी ओर गिरना है, यह युक्ति करके सम्पूर्ण मन पीडाओंसे आपके चित्तको अधिकार करनेका कारण हुआ है। यद्यपि आपने यह नहीं सोचा होगा, कि आपके मित्र युधिष्ठिरसे झगडा मचेगा, तोभी यह आपके लिये अनुचित हुआ है। हे प्रतीप वंशी शान्तनुकुमारो! तुम कौरवोंकी [illegible] पण्डितोंके योग्य इन वचनोंको श्रवण करो; दुष्ट दुर्योधनकी हांमें हां मिलाके भयानक रूपसे प्रज्व-लित अग्निमे मत गिरो। (५– ७)

अजातशत्रु युधिष्ठिर यदि चौसडके नशेमें डूबके क्रोधको न रोकें तो जब वृकोदर, अर्जुन और नकुल तथा सहदेव क्रोधित होंगे, तब [illegible] घोर लडाईमें

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः।
बहुवित्तान्पाण्डवांश्चेज्जयस्त्वं किं ते तत्स्याद्वसु विन्देह पार्थान्॥ ९॥
जानीमहे देवितं सौबलस्य वेद द्यूते निकृतिं पार्वतीयः।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान्॥ १०॥

इति श्री० शत० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥ २,१६२

दुर्योधन उवाच–परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं सदा क्षत्तः कुत्सयन्धार्तराष्ट्रान्।
जानीमहे विदुर यत्प्रियस्त्वं बालानिवाऽस्मानवमन्यसे नित्यमेव॥ १॥
स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो न ज्यायसः कुथा मनसः प्रातिकूल्यम्॥ २॥
उत्सङ्गे च व्याल इवाऽऽहितोऽसि मार्जारवत्पोषकं चोपहंसि।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहुस्तस्मात्क्षत्तः किं न बिभेषि पापात्॥ ३॥

तुममेंसे कौन द्वीप अर्थात आश्रयका स्थान बनेगा? हे महाराज आप धनकी खानि हैं; चौसड न खेलके भी आपको चाहे जितने धनकी इच्छा हो उतनाही पासक्ते हैं; पाण्डवोंसे यदि बहुत धन जीत ले तो उससे आपका क्या होगा? आप तुच्छ धनके अभिलाषी न होकर पाण्डवोंकोही अनमोल धनके समान प्राप्त कीजिये। सुबल-पुत्रके खेलका वृत्तान्त हम जानते हैं; यह पर्वतका रहनेवाला चौसडमें अच्छी रीति ठगना जानता है, हे भारत! शकुनि जहांसे आया है, वहीं चला जावे, आप पाण्डवोंको लडाईमें सन्नद्ध न कीजिये। (८–१०)

सभापर्वमें तिरसठ अध्याय समाप्त। (२१६२)

सभापर्वमें चौसठ अध्याय।

दुर्योधन बोला, कि हे क्षत्त तुम धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निंदा करके सदा शत्रुओंके यशके घमण्डमें रहते हो। हे विदुर! हम जानते हैं किसको तुम प्रिय समझते हो, तुम सदा हमको मूर्खोंके समान घृणा करते हो। प्रिय जय और अप्रिय पराजयसे जिसकी इच्छा है, वह उसकी निन्दा और प्रशंसा करनेकी रीतिमेंही विशेष रूपसे जानी जाती है; तुम्हारी जिह्वा और चित्तहीसे तुम्हारे हृदयका आशय प्रगट होता है, तुम मनहीं मनसे हमारे प्रतिकूल हो। हाही, पर भीतरी प्रतिकूलतासे तुम्हारी बाहरी प्रतिकूलता बहुत अधिक है। हे क्षत्त! तुमको मानो सांपके समान हमने गोदमें स्थान दिया है, तुम बिल्लीकी तरह पालनेवालेको हिंसा करते हो। देखो, पण्डितलोग कहते हैं, कि पालनेवालेके विरुद्ध खडे होनेके समान अधिक पाप नहीं है, इस घोर पापसे तुम्हें क्यों नहीं भय होता है? (१–३)

जित्वा शत्रून्फलमाप्त महद्वै माऽस्मान्क्षत्तः परुषाणीह वोचः ।
द्विषद्भिस्त्वं संप्रयोगाभिनन्दी मुहुर्द्वेषं यासि नः संप्रयोगात् ॥ ४ ॥
अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे।
तदाश्रितोऽपत्रप किं नु बाधसे यदिच्छसि त्वं तदिहाऽभिभाषसे ॥ ५ ॥
मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात्।
यशो रक्षस्व विदुर संप्रणीतं मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ॥ ६ ॥
अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः ।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून्क्षिणु त्वम्॥ ७ ॥
एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनाऽनुशिष्टः प्रवणादिवाऽम्भो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ८ ॥
भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः ।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम् ॥ ९ ॥

हे क्षत्त ! हम शत्रुओंको जीतकर बडा भारी फल पाचुके है, इससे तुम हमको कठोर वचन मत कहो; शत्रुओंसे मित्रता करनेको तुम बहुत उद्यत हो, उस मोहके लियेही वारंवार हमारी हिंसा करते हो। मनुष्य अनुचित वचन कहके लोगोंका शत्रु हो जाता है, और शत्रुकी प्रशंसाके समय गुप्त विषयको गुप्त रखता है। अतएव हे निर्लज्ज! तुम हमारे आश्रयमें रहके क्यों हमारे कार्यमें बाधा देते हो? तुम्हारा मन चाहता है, तुम वहा वही कह देते हो। अजी विदुर! तुम हमें तुच्छ मत समझो, तुम्हारा मन हम जान चुके है, तुम वृद्धोंसे ज्ञान सीखो, लोकोमें जो यश प्राप्त कर चुके हो उसकी रक्षा कर दूसरोंके कार्यमें मत बुझो। (४-६)

अजी विदुर ! यह समझके, कि मै कर्ता हूं, तुम आगे हमारा अपमान मत करना और अहंकारकी बाते भी न प्रगट करना; मै यह तो नहीं पूछता हूं, कि क्योंकर हमारा हित होगा, सो हे क्षत्त ! तुम सहनशील पुरुषोंको अब मत क्रोधी बनाओ। एकही पुरुष सबका शासन करता है, दूसरा शासनेहारा नहीं है; वह शासनहारा गर्भरूपी बिस्तर पर लेटे हुए पुरुषकाभी शासन करता है मै उसका शासन मानता हूं। जल जैसे, नीचेकी ओर जाता है, वैसेही वह मुझे जैसे नियुक्त करता है मै वैसेही कार्य करता हूं। जो पुरुष सिरसे पहाड फोडता है, और सपको भोजन देता है, उस की बुद्धिही उन कार्योंका शासन करती है, उसी प्रकार जआ हानिकारी होने परभी मेरी बुद्धिहीने मुझे उसमें प्रवृत्त

यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति।
मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः ॥ १० ॥
प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक्त्वरं नाऽभिधावति।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत ॥ ११ ॥
न वासयेत्पारवर्ग्यं द्विषन्तं विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम्।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति ॥ १२ ॥
विदुर उवाच-एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति तेषां सख्यमन्तवद्ब्रूहि राजन्।
राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति ॥ १३ ॥
अबालत्वं मन्यसे राजपुत्र बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥ १४ ॥
न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।

कराया है। (७-९)

पर जो पुरुष बलसे औरोंका शासन करता है, वह वैसे अनुचित शासनसे शत्रुओंको प्राप्त करता है, मित्रता दिखाने परभी पण्डितलोग उसको तुच्छ समझते हैं। जो मनुष्य तेज जलनेवाले पदार्थ कपूरको जलाके बडे वेगसे उसे बुझाने को दौडता है, वह कहीं उसका भस्म भी शेष नहीं देख सक्ता है; उसी प्रकार हम लोग पाण्डवोंसे वैरकी आग्नि बालके यदि शीघ्र उसे बुझानेकी चेष्टा न करें, तो वे जड-सहित नष्ट होंगे। अजी क्षत्त! अन्य पक्षवाले, डाह करनेवाले और विशेष अहित चाहनेवाले मनुष्यको कदापि गृहमें स्थान न देना चाहिये; इसलिये हे विदुर जहां मन चले, तुम वहीं चले जाओ; असती नारीको भली रीतिसे समझाने बुझाने परभी वह पतिको छोड देती है। (१०—१२)

विदुर बोले, कि महाराज! ऐसे कारण से अर्थात् अहंकारके वचनोंसे नीतिशिक्षा देकर जो लोग आश्रय लिये हुए पुरुषको त्याग देते हैं, तुम विना पक्षपात यह प्रगट करो, कि तुम्हारा चरित्र कैसा है! क्योंकि राजोंका चित्त बहुत चञ्चल है, वह पहिले समझाके पीछे मूसल मारते हैं, अरे मन्द-बुद्धि राजपुत्र! तुम अपनेको पण्डित और मुझको मूर्ख समझते हो, पर विचारके देखो, कि जो पुरुष शरण लिये हुए मनुष्यको पाहिले मित्रके समान पूजकर पीछे दोष लगाता है उसीको लोग मूर्ख कहते हैं। वास्तवमें श्रोत्रिय-के गृहमें रहती हुई बुरे चरित्रवाली स्त्रीके समान दुष्टबुद्धि जनको कभी हित पथमें नहीं ले जाया जाता है। ह

ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥
अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥१६॥
लभ्यते खलु पापीयान्नरो नु प्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १७ ॥
यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १८ ॥
अव्याधिजं कटुकं तीक्ष्णमुष्णं यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ १९ ॥
वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत् ।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः॥२० ॥
आशीविषान्नेत्रविषान्कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २१ ॥ [२१८४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।

भरतश्रेष्ठ! साठ वर्षके पति पर जैसे कुमारीका मन नहीं चलता है, वैसेही हितउपदेश करनेवाले पर तुम्हारी रुचि नहीं होती है। (१२–१५)

हे राजन्! अबसे यदि तुम हित तथा अहित सब कार्योंमें प्यारी बोली सुना चाहते हो, तो स्त्री, जड,लङ्गडे जडे और वैसेही मनुष्योंसे पूछना! संसारमें पाप चिन्तायुक्त प्रिय बोलनेवाले मनुष्य सहजहीमें मिलते हैं, पर चाहे कडी हो, परन्तु हितकारी वाणीके कहनेवाले तथा सुननेवाले दोनों ही बहुत कम मिलते हैं। जो मनुष्य प्रिय तथा अप्रिय पर ध्यान देकर धर्मानुसार कार्य करता है और अप्रिय होने परभी हितकारी वाणी कहता है, उसीसे राजाकी सहायता होती है। (१६—१८)

महाराज! जो मन्यु दवाके समान व्याधि करनेवाली,कडवी वस्तुओंसे बनी, दुखदायी, सन्ताप लानेवाली कीर्ति नाशकारी, रूखी और दुर्गन्धी है तथा जिसे साधुलोगही पीते हैं असाधु नहीं पीसके, उसेही पीकर शान्त हो जाओ। मैं सदा पुत्रोंसहित धृतराष्ट्रके यश धनकी कामना करता हूं, अब तुमको जो होना है, वही होवे; तुमको मैं यह दण्डवत करता हूं; ब्राह्मणलोग मेरी स्वस्ति निर्णय करें। हे कुरुनन्दन! पण्डित पुरुष देखनेमें विषमान सर्पको कदापि क्रोधित नहीं करते. मैं यत्नपूर्वक

शकुनिरुवाच- बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम्॥ १॥
युधिष्ठिर उवाच- मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ।
अथ त्वं शकुने कस्माद्वित्तं समनुपृच्छसि ॥ २ ॥
अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथार्बुदम् ।
खर्वं शंखं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः ॥ ३ ॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं चात्र पण्यताम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच- एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥
युधिष्ठिर उवाच - गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत्किंचिदनुपर्णाशां प्राक्सिन्धोरपि सौबल ॥ ६ ॥
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ८ ॥

तुमसे केवल इसी उपदेश-वचनको कहता था। (१०–२१) [२१८४]

सभापर्वमें बारह अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें पैंसठ अध्याय।

शकुनि बोला, कि हे कुन्तिपुत्र युधिष्ठिर! तुम पाण्डवोंका बहुत धन हार चुके हो, अब यदि कोई धन हारनेमें बाकी हो, तो प्रगट करो। युधिष्ठिर बोले, कि हे सुबलकुमार शकुने! मैं जानता हूं मेरा अपरिमित धन है तुम क्यों धनकी बात पूछते हो? तुम दश सहस्र लक्ष, करोड, अर्बुद, खर्व, निखर्व, शङ्ख, पद्म, महापद्म, मध्य परार्द्ध, वा उससे भी अधिककी बाजी रखो। हे महाराज! मैं इस धनकी बाजी रखता हूं, उससे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं। (१–४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पासा फेंककर युधिष्ठिरसे बोले, कि यह मैं जीता। युधिष्ठिर बोले, कि हे सुबलकुमार! पर्णाशासे लेकर सिन्धुनदीके पूर्वतक मेरे अनेक गौ, घोडे, बैल और अगणित बकरे, भेड आदि जो कुछ धन रहे हैं, उसपारी उन सबकी बाजी रखता हूं, उसीसे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पासा फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मैं जीता। युधिष्ठिर

युधिष्ठिर उवाच— पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्छिष्टं धनं मम ॥
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच— एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच— राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः ।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वराजविभूषणम् ॥ ११ ॥
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच— एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच — श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥ १४ ॥

शकुनिरुवाच — प्रियस्ते नकुलो राजन्राजपुत्रो युधिष्ठिर ।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच— एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्शकुनिः प्रत्यदीव्यत ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

बोले, कि हे महाराज! पुर, जनपद, भूमि ब्राह्मणोंके विना औरका धन और ब्राह्मणोंके विना अन्य सब पुरुष मेरे शेष धन बचे है इसबार मेरी इसी धनकी बाजी रही; उसीसे मै तुम्हारे साथ खेलता हूं । श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पाशा फेंककर युधिष्ठिरसे बोला कि यह मै जीता । युधिष्ठिर बोले, कि हे महाराज ! यह सब राजकुमार जिनसे अलंकृत होकर शोभा पाते है, इसबारी मेरी उन्हीं कुण्डल, निष्क आदि सब राजअलंकारोंकी बाजी रही, इस धनसे मै तुम्हारे साथ खेलता हू । (५–९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पाशा फेंक कर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मै जीता । युधिष्ठिर बोले, कि श्याम देहयुक्त, लाल नेत्र, सिंहसमान गर्दनवाले महाभुज युवापुरुष एकले नकुल को मै इसबार बाजीमे रखता हू इन्हीको मेरा धन समझो । शकुनि बोला, कि महाराज युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्यारे राजकुमार नकुल हमारे वशमें होगये, अब तुम किस वस्तुकी बाजी रखकर खेलोगे ? श्री वैशम्पायनजी बोले, कि यह कहके शकुनि

युधिष्ठिर उवाच—अयं धर्मान्सहदेवोऽनुशास्ति लोके ह्यस्मिन्पण्डिताख्यां गतश्च।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं चाऽप्रियवत्प्रियेण ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच— एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच— माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनञ्जयौ ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अधर्मं चरसे नूनं यो नाऽवेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि॥ २० ॥

शकुनिरुवाच— गर्ते मत्तः प्रपतति प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति।
ज्येष्ठो राजन्वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥ २१ ॥
स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव॥२२॥

युधिष्ठिर उवाच—यो नः संख्ये नौरिव पारनेता जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी।

ने पाशाओंको लेलिया और युधिष्ठिर से बोला, कि यह मैं जीता। युधिष्ठिर बोले, कि यह सहदेव धर्मपूर्वक शासन करते हैं, और इस लोकमें पण्डित नामसे प्रसिद्धभी है, मेरे बडे प्रियपात्र होने परभी अप्रियके समान बाजी रखनेके अयोग्य, उसी राजपुत्रकी बाजी रखकर मैं खेलता हूं। (१०—१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यह सुन कर शकुनि छल पूर्वक पाशा फेंकके युधिष्ठिरसे बोला कि यह मैं जीता। महाराज! तुम्हारे प्यारे इस माद्रीकुमारको मैंने जीत लिया; जान पडता है, कि भीमसेन और अर्जुन इनसे भी अधिक प्रिय हैं। युधिष्ठिर बोले, कि रे मूर्ख! नीतिकी ओर दृष्टि न देकर, प्रेमसे बंधे हुए हम भाइयोंमें बिगाडकी चेष्टा करना तेरेलिये बडेही अधर्मका कार्य है। (१८—२०)

शकुनि बोला, कि हे महाराज! उन्मत्त होनेसे मनुष्य गड्ढेमें गिर जाता है, वहां स्थाणुके समान जडताको प्राप्त करता है। हे भरत-श्रेष्ठ! तुम मुझसे बडे और गुणवान हो, सो मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं। तुम मेरी अनुचित वाणीकी क्षमा करो। युधिष्ठिर! जुआडी लोग खेलते समय उन्मत्तके समान जो सब पागलपनकी बातोंको कह देते हैं, उन्हे जागनेकी बात न समझिये; सोनेकी दशामें भी कभी उनकी चिन्ता नहीं करते। युधिष्ठिर बोले, कि हे शकुने! शत्रुओंके जयकारी बलशाली जो राजपुत्र नौकाके

अनर्हता लोकवीरेण तेन दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥ २३॥

वैशम्पायन उवाच एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।

जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

शकुनिरुवाच—अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः पराजितः पाण्डवः सव्यसाची।

भीमेन राजन्दयितेन दीव्य यत्कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम ॥२५॥

युधिष्ठिर उवाच-यो नो नेता यो युधि नः प्रणेता यथा वज्री दानवशत्रुरेकः ।

तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूर्महात्मा सिंहस्कन्धो यश्च सदाऽत्यमर्षी ॥२६॥

बलेन तुल्यो यस्य पुमान्न विद्यते गदाभृतामग्र्य इहाऽरिमर्दनः ।

अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।

जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥

शकुनिरुवाच —बहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातृंश्च सहयद्विपान् ।

आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातृणां दयितस्तथा ।

समान बनकर हमको युद्ध सागरके पार पहुंचाते है, बाजीके अयोग्य होने परभी लोकोमें उन महावीर अर्जुनकी बाजी रखकर मै खेलता हू। (२ –२३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शकुनि छलपूर्वक पाशा फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मै जीता ! महाराज युधिष्ठिर ! पाण्डवोंमें प्रधान चापधारी इस सव्यसाची धनुष्यको तो मै जीत चुका। अब तुम्हारी बाजीके योग्य जो शेष बचा है, तुम्हारे प्यारे उस भीमसेनको बाजी रखकर खेलो। युधिष्ठिर बोले, कि हे महाराज दानवोंके शत्रु इन्द्रके समान जो एकले हमारे पथ दिखानेवाले तथा युद्धमें सबसे पूर्व चलने वाले है जो वक्र दर्शी, धन्वाकी भांति भौंहवाले महात्मा सिंहसमान गर्दनवाले और सदा अमर्पसे पूरित है, बाहुबलमें जिनके समान कोई दूसरे पुरुष विद्यमान नही है, जो शत्रुनाशी इस भूमण्डलके गदा धारियोमसे सबके अगुए है, बाजीके अयोग्य होने पर भी उस राजकुमार भीमसेनकी बाजी रखकर मै खेलता हू। (२४–२७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शकुनि छलपूर्वक पाशा फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मै जीता। हे कुन्तीपुत्र ! तुम बहुत धन, घोडे, हाथी यहांतक कि भाइयो तकको भी हार चुके, अब यदि तुम्हारा कोई धन जीतनेमें शेष हो, तो कहो। युधिष्ठिर बोले, कि मै सब

कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लवे ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

शकुनिरुवाच — एतत्पापिष्ठमकरोर्यदात्मानं पराजये ।
शिष्टे सति धने राजन्पाप आत्मपराजयः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा मताक्षस्तान्ग्लहे सर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक्पृथक् ॥ ३३ ॥

शकुनिरुवाच— अस्ति ते वै प्रिया राजन्ग्लह एकोऽपराजितः ।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच— नैव ह्रस्वा न महती न कृशा नातिरोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३५ ॥
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३६ ॥
तथैव स्यादानृशंस्यात्तथा स्याद्रूपसंपदा ।

भाइयोंसे बडा और उनका प्रेम-पात्र हूं, साम्प्रतमें स्वयं पराजित होने पर जो कार्य करना होता है, मैं स्वयं जीते जाकर उसी कार्यके करनेको प्रस्तुत हूं। (२८–३०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि यह सुनकर छलपूर्वक शकुनि पाशा फेंककर युधिष्ठिर से बोला, कि यह मैं जीता। महाराज! तुम्हारा अपनेको पराजित करना बडा पाप हुआ, इसमें सन्देह नहीं है, कि शेष धन रहते अपनेको पराजित करना पापका कारण है। (३१ – ३२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि बडा भारी जुआडी शकुनि बाजीके विषयमें युधिष्ठिरसे इतनी बातें कहके वहां बैठे हुए, प्रसिद्ध वीरोंके साथ पाण्डवोंमेंसे प्रत्येककी हारका वृत्तान्त कहकर फिर युधिष्ठिरसे बोला, कि महाराज ! अबभी तुम्हारी प्यारी स्त्री हारजानेसे शेष बची है, सो तुम पाञ्चालकी कन्या कृष्णा की बाजी रखो, उस बाजीसे खेलकर अपनेको फिर जीतलो। युधिष्ठिर बोले, कि जो न नाटी, न लम्बी, न दुबली, न मोटी है उस नीले घुंघराले बाल-वाली शरत्कालके पद्म-समान नेत्रवती, शारदीय पद्मसदृश गन्धवती, शारदीय पद्मपर बैठी लक्ष्मीके समान रूपवती और लावण्य तथा सौभाग्य आदिमें लक्ष्मीरूपिणी है, उसी पाञ्चालकुमारीकी बाजी रख कर तुमसे खेलता हूं। हे सुबल-पुत्र !

तथा स्याच्छीलसंपत्त्या यामिच्छेत्पुरुषः स्त्रियम् ॥३७॥
सर्वैर्गुणैर्हि संपन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् ।
यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥ ३८ ॥
चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ३९ ॥
आभाति पद्मवद्वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च ।
वेदीमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ॥ ४० ॥
तयैवंविधया राजन्पाञ्चाल्याऽहं सुमध्यया ।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥४१॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता ।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ४२ ॥
चुक्षुभे सा सभा राजन्राज्ञां संजज्ञिरे शुचः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ४३ ॥
शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्व इवाऽभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ४४ ॥

लक्ष्मीके समान गुण-वती जैसी स्त्री की पुरुष कामना करता है, चाहे दया, चाहे रूप-सम्पद, चाहे शील-सम्पद, जिस किसी बातकी कहिये, हर विषयमें जो कामनाके योग्य है; अनुकूल तथा प्रिय-कहने- वाली और धर्म -अर्थ तथा कामको सिद्ध करने-वाली जैसी स्त्री की मनुष्य इच्छा करता है, वैसे सब गुणोंसे जो सुशोभित है; जो सबके पीछे सोती और सबसे पहिले जागती है और गो तथा भेड़ चराने-वाले तक सबलोगोंका समाचार लेती है; पसीनेके बूंदोंसे जिसका मुखमण्डल कमल और बेलाके समान शोभा धारण करता है, जो वेदीसदृश सुमध्यमा दीर्घकेशा ताम्रवद-ना तथा न बहुत लोम युक्त है, इसी प्रकार की सर्वाङ्ग सुन्दरी पञ्चाल कुमारी द्रौप-दीकी बाज़ी रखकर खेलता हूं। (३३-४१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धीमान धर्मराजके इतनी बात कहने पर सभामें बैठे बूढोंके मुखसे "धिक्कार है" ऐसे शब्द निकलने लगे। हे महाराज! सम्पूर्ण सभा एकही बार हिलोड उठी; राजोंको शोकने घेर लिया; भीष्म, द्रोण, कृप, आदिको पसीना निकलने लगा; विदुर सिर थामकर मानो चेत खोके नीचे मुह किये सर्पकी भांति स्वासा छोडते हुए चिन्तामें मन हुए। परन्तु धृतराष्ट्र बहुत

धृतराष्ट्रस्तु संहृष्टः पर्यपृच्छत्पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत॥ ४५ ॥
जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४६ ॥
सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान्पुनरेवाऽन्वपद्यत ॥४७॥ [२२३१]

इति श्रीम० शत०संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ६५॥

दुर्योधन उवाच —एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व प्रियां भार्यां संमतां पाण्डवानाम्।
संमार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥ १ ॥
विदुर उवाच — दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन न मन्द संबुध्यसि पाशबद्धः।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि व्याघ्रान्मृगः कोपयसेऽतिवेलम् ॥२॥
आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन्मागमस्त्वं यमक्षयम्॥ ३॥
न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥ ४ ॥

प्रसन्न होके बार बार यह पूछने लगे, कि क्या जीता, क्या जीता? बाहरके भावसे चित्तके भावको लुपा नहीं सके। कर्ण दुःशासन आदिके साथ बहुत हर्ष-युक्त हुए; पर दूसरे सभ्योंके नेत्रोंसे वारिधारा निकलने लगी। जीतनेके अहङ्कारसे उछलता हुआ सुबलकुमार यह कहके, कि यह जीता उन पाशाओंको फिर ले लिया। (४५—४७) [२२३१]

सभापर्वमें पैंसठ अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें छासठ अध्याय।

दुर्योधन बोला, कि हे क्षत्त! आओ पाण्डवोंकी मनमोहनेवाली प्यारी नारी द्रौपदीको लेते आओ; वह पुण्यरहित स्त्री शीघ्र आके घर झाडे और वहां दासियोंके साथ साथ रहे। विदुर बोले, कि रे मन्द बुद्धि! तुम बडे मूर्ख हो; इसीसे ऐसी कठोर बात कही। तुम जिस बन्धनमें अपनेको फसा रहे हो, तुम्हें उसकी समझ नहीं होती; तुम जिसे जलधारा पर लटक रहे हो, उसका बोध तुम्हें नहीं होता है, तुम मृग होके व्याघ्रोंको क्रोधित कर रहे हो। रे दुरात्मा! सम्पूर्ण क्रोधरहित महाविषयुक्त सर्पसमूह तुम्हारे सिर पर बैठे हैं; उनको अब अधिक क्रोधित करके तुम यमराजका पाहुना मत बनो। मेरी समझमें कृष्णा किसी प्रकारके दासीपन प्राप्त नहीं कर

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकाले ॥ ५ ॥
नाऽरुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययाऽस्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ६ ॥
समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्यैराहतः शोचति राज्यहानि ।
परस्य नाऽमर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥ ७ ॥
अजो हि शस्त्रमगिलत्किलैकः शस्त्रे विपन्ने शिरसाऽस्य भूमौ ।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं तद्वद्वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः ॥ ८ ॥
न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था वनेचरं वा गृहमेधिनं वा ।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥ ९ ॥
द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।

सक्ती है, क्योंकि युधिष्ठिरने अपनी प्रभुताई खोकर उसे बाजीमें रखा था। बांस जैसे अपने नाशके लिये फल धारण करता है, वैसेही यह धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन चौसड खेलता है; इस विनाश कालमें वह नहीं समझ सक्ता है कि चौसड बडे भयावने वैरका कारण होता है। (१-५)

अन्य जनके मर्मस्थानमें आघात और पुरुषार्थ पर अहंकार न करना चाहिये, चौसड आदि नीच कार्योंसे शत्रुको वश में नहीं लाना चाहिये, और मनुष्योंके जिन वाक्योंसे दूसरोंके चित्तमें हलचल मच सक्ती है, ऐसी जलानेवाली, नरकलानेवाली वाणी कदापि न कहनी चाहिये। एक मनुष्यके मुखसे लम्बी चौडी बातें उचारी जाती है, पर उससे घायल होकर दूसरा मनुष्य निशदिन शोकमें डूबा रहता है;वह सब वाक्यरूपी शैल अन्य मनुष्योंके मर्मस्थानमें ही जा गिरते है; इसलिये पण्डित पुरुषको औरोंसे कदापि वैसी बातें न कहनी चाहिये। (६-७)

एक बकरा किसी समय शस्त्र निगल गया था, पश्चात उसने मुख भूमिपर रख कर शस्त्र निगलना शुरू किया इससे उस बकरेका गला कट गया; अतएव तुम पाण्डवोंसे वैसी भयावनी शत्रुता मत करो;तुम जैसी कडी बातें कहते हो, पृथा-पुत्र वैसी एकभी बात नहीं कहते। नीच मनुष्य कुत्तोंकी तरह क्या वानप्रस्थ, क्या गृहमेधी, क्या पूर्ण विद्यावान, तपस्वी, सबको ऐसा कठोर वचन कहा करता है। धृतराष्ट्रका पुत्र अब यह नहीं समझ सक्ता है कि ठगपन नरककी भयावने द्वारोंके समान है;चौसडके प्रबंध

तमन्वेतारो बहवः कुरूणां द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥ १० ॥
मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ॥ ११ ॥
अन्तो नूनं भविताऽयं कुरूणां सुदारुणः सर्वहरो विनाशः।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥ [२२४३]

वैशम्पायन उवाच–धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभायामुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥ १ ॥
दुर्योधन उवाच–त्वं प्रातिकामिन्द्रौपदीमानयस्व न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥
प्रातिकाम्युवाच-युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत्।

में कुरुओंके बहुतेरे दुःशासन के साथ उसके साथी बने है। [८-१०]

यदि लौकी सदा जलमें डूबे, पत्थर जल पर बहता रहे और नाव जलमें डूब जाये तथापि धृतराष्ट्रका मुर्ख पुत्र दुर्योधन मेरे पथ्यरूपी वचनोंपर ध्यान नहीं देता है; इससे निश्चय जान पडता है, कि यह कुरुओंका नाशकारी होगा; जब मित्रोंके युक्तिपूर्ण हितकारी पथ्य, समान वचन सुने नहीं जाते है, केवल लोभकी वृद्धि होती है, तब अवश्यही कठोर सर्वनाशी विनाश उपस्थित होगा। (११-१२) [२२४३]

सभापर्वमें सातठ अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें अडसठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि धृतराष्ट्र-कुमार दुर्योधनने अहंकारसे उन्मत्त होकर "क्षत्तापर धिक्कार है" यह कटुवचन कहके सभामें स्थित आज्ञावाहीकी ओर निरीक्षण किया और प्रधान आर्योंके समाजमें उसमे यह वचन बोला, कि आज्ञावाही! तुम जाके द्रौपदीको ले आओ, पाण्डवोंसे तुम्हे कोई भय नहीं है, यह क्षत्ता केवल भयवशही विपरीत बाते कहा करते है, विशेष यह सदा हमारी अवनति की कामना करते है। (१-२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कुत्ता जैसे सिंहके वनमें प्रवेश करता है, वह सूतपुत्र आज्ञावाही राजाकी आज्ञा पाय वैसेही पाण्डवोंके वासगृहमें शीघ्र जाके उनकी रानी द्रौपदीके निकट जाकर उसमे यह वचन बोला, कि द्रौपदि!

सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥४॥

द्रौपद्युवाच—कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्को हि दीव्येद्भार्यया राजपुत्रः ।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो ह्यभून्नाऽन्यत्कैतवमस्य किंचित् ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच-यदा नाऽभूत्कैतवमन्यदस्य तदाऽदेवीत्पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच— गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवाऽपि माम् ॥ ७ ॥
एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥८॥

वैशम्पायन उवाच– सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद्वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥ ९ ॥
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवाऽपि माम् ॥ १० ॥

युधिष्ठिरके चौसडसे उन्मत्त होने पर दुर्योधनने तुम्हे जीत लिया है, सो तुम धृतराष्ट्रके भवनमें चलो । हे याज्ञसेनि! दासीका कार्य करानेके निमित्त मै तुम्हे ले जाऊंगा । द्रौपदी बोली, कि आज्ञा-वाही! तुम ऐसी बातें क्योंकर कहते हो? कौन राजकुमार स्त्रीका दाव रखकर खेलता है! चौसडके नशेमे उन्मत्त होने पर राजा युधिष्ठिर निःसन्देह मुग्ध बने थे, नहीं तो क्या उनको कोई दूसरी दावकी वस्तु नहीं थी। (३-५)

आज्ञावाही बोला, कि जब उनको कोई दूसरी वस्तु शेष नहीं थी, तभी अजातशत्रु युधिष्ठिरने तुम्हे दाव लगा-कर खेला था । हे राजपुत्री ! उस राजा ने पहिले भाइयोंको, पीछे अपनेको, आगे तुमको दावमें रखा था । द्रौपदी बोली, कि हे सूत पुत्र ! तुम एकवार जाओ, सभामें उस चौसडिय से पूछो, कि उन्होंने पहिले अपनेको हारा, वा मुझे ! हे सूतपुत्र ! तुम पहिले यह पूछ आओ, पीछे ले जाना, मै राजाका अभिप्राय जानकर अन्तको दुःखी चित्तसे जाऊंगी । (६-८)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि उस समय आज्ञावाहीने सभामें लौटकर द्रौपदीका वह वचन कह सुनाया; नरेन्द्रोंमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे यह कहा, कि "द्रौपदीने आपसे पूछा है, कि किसके प्रभु बनके तुमने हमे चौसडमे हारा है? क्या पहिले अपनेको हारा है, वा मुझे ?" आज्ञावाही ने यह बात कही, पर युधिष्ठिर मानों

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्व इवाऽभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥ ११ ॥
दुर्योधन उवाच— इहैवाऽगत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद्वचः ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथन्निव ॥ १३ ॥
प्रातिकाम्युवाच-सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति मन्ये प्राप्तः संशयः कौरवाणाम्।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ॥ १४ ॥
द्रौपद्युवाच-एवं नूनं व्यदधात्संविधाता स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥
सोऽयं धर्मो माऽत्यगात्कौरवान्वै सभ्यान्गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे।
ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत्करिष्ये धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचुर्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ॥ १७ ॥

चेतन तथा जीवन वर्जितके समान बैठे रहे; उसकी बातोंका न भला, न बुरा कोई उत्तर नहीं दिया। तब दुर्योधन बोला, कि पाञ्चाली यहीं आके इस प्रश्नको कहे, उसके और इनके बीच जो कुछ बातें हों वह सब लोग सुनें। (९—१२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि सूत आज्ञावाही दुर्योधनकी आज्ञाके वशमें चलकर मानो दुःखी हृदयसे बोला, कि राजपुत्री! वहां सभ्यगण तुम्हें बुलाते हैं, समझ पडता है, कि कौरवोंके नाशकी दशा आ पहुंची है। हे राजकुमारी! लघुचित्त दुर्योधन जब तुमको सभामें लेजाने का सङ्कल्प करते हैं, तब वह फिर सम्पद की रक्षा नहीं कर सकेंगे। द्रौपदी बोली, कि विधिने ऐसीही विधि रची है। पण्डित तथा मूर्खको सुख वा दुःख घेरता है; पर लोग धर्महीको एक मात्र परम पदार्थ कहते हैं। वह रक्षित होवे, तो अवश्यही हमारे लिये शान्तिका विधान करेगा। वह धर्म कौरवोंको न त्याग देवे। तुम कौरवोंके निकट जाकर हमारा यह धर्मानुसारी-वचन पूछो, वे सब नीतिमान श्रेष्ठ धर्मात्मा लोग निश्चय करके जो कहेंगे, मैं अवश्य वही करूंगी। आज्ञावाहीने द्रौपदीका वह वचन सुनकर सभामें जाके प्रकाश किया; पर सभ्यगण दुर्योधनका बडा आग्रह देखकर नीचे मुंह किये बैठे रहे, कुछ नहीं बोले। (१३—१७)

वैशम्पायन उवाच— युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् ।
द्रौपद्याः संमतं दूतं प्राहिणोद्भरतर्षभ ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।
सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याऽग्रतो भव ॥१९॥
अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे विनिन्देरन्मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ॥ २०॥
स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ।
न्यवेदयन्मतं धीमान्धर्मराजस्य निश्चितम् ॥ २१ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनाऽतिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ॥२२ ॥
ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैनामानय प्रातिकामिन्प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥ २३ ॥
ततः सूतस्तस्य वशानुगामी भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्यानुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥ २४ ॥
दुर्योधन उवाच—दुःशासनैष मम सूतपुत्रो वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः।
स्वयं प्रगृह्याऽऽनय याजसेनीं किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥२५ ॥

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरत-श्रेष्ठ! इस रीतिमें युधिष्ठिरने दुर्योधनके उस अभिप्रायको सुनकर द्रौपदीके पास एक विश्वासी दूतको यह कहके भेज दिया, कि पाञ्चाली यद्यपि रजस्वला होनेके कारण अधोनीवी तथा एक वस्त्र पहिने हुई है, तथापि रोतेरोते ससुरके सामने आवे हे महाराज! उस बुद्धिमान दूतने कृष्णाके भवनमें शीघ्र जाकर धर्मराजके निश्चय किये हुए मतको प्रकाश [illegible] । इधर आज्ञाकारीका वचन सुनकर दुःखसे आच्छादित, दीनभावयुक्त पाण्डवगण प्रतिज्ञाद्वारा बांधे रहनेके कारण कुछ निश्चय नहीं कर सके, कि क्या करना चाहिये । अनन्तर राजा दुर्योधनने उन्हें दुःखी देखकर प्रसन्न होके सूतको आज्ञा की, आज्ञाकारी! उसे यहीं ले आओ, कौरवगण प्रत्यक्षमें उसके प्रश्नका उत्तर देवें । (१८—२३)

दुर्योधनके यह वचन कहने पर उसके वशीभूत आज्ञाकारी सूतपुत्र द्रुपदकुमारीके क्रोधसे भीत होकर फिर सभामें बोला कि मैं कृष्णासे क्या कहूंगा ? तब दुर्योधनने कहा, दुःशासन! मेरा यह बुद्धिहीन सूतपुत्र भीमका भय कर रहा है, सो तुम स्वयं द्रौपदीको पकड़ कर ले

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः।
प्रविश्य तद्वेश्म महारथानामित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २६ ॥
एह्येहि पाञ्चालि जिताऽसि कृष्णे दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा।
कुरून्भजस्वाऽऽयतपत्रनेत्रे धर्मेण लब्धासि सभां परेहि ॥ २७ ॥
ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा विवर्णमामृज्य मुखं करेण।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २८ ॥
ततो जवेनाऽभिससार रोषाद्दुःशासनस्तामभिगर्जमानः।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २९ ॥
ये राजसूयावभृथे जलेन महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं बलात्प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ ३० ॥
स तां पराकृष्य सभासमीपमानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम्।
दुःशासनो नाथवतीमनाथवच्चकर्ष वायुः कदलीमिवाऽऽर्ताम् ॥ ३१ ॥
सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः शनैरुवाचाऽद्य रजस्वलाऽस्मि।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ॥ ३२ ॥

आओ, स्वाधीनतासे हाथ धोये हुए शत्रु तुम्हारा क्या कर सक्ते हैं? अनन्तर वह राजपुत्र भ्राताकी आज्ञा सुनकर, नेत्रों को लाल किये उठा, और महारथी पाण्डवोंके वासगृहमें प्रवेश करके राजपुत्री द्रौपदीसे यह बोला, कि पाञ्चाली! आओ,आओ तुम हारी गयी हो,हे कृष्णा! अब लज्जा तज दुर्योधनको निहारो; हे विशाल कमल-नयना! अब कुरुओं की सेवा करो, हमने धर्मानुसार तुम्हें प्राप्त किया है; आओ सभामें चलो। (२४-२७)

दुःशासनके इस प्रकार कहने पर द्रौपदी अति कातर होकर उठी अश्रुद्वारा मैले हुए मुखमण्डलको हाथोंसे पोंछ कर जिधर कुरुश्रेष्ठ वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी नारीगण थीं, उसी ओर कातर भावसे चली। तब दुःशासन क्रोधसे भरकर वेग पूर्वक राजेन्द्रपत्नी द्रौपदीके पीछे कहता हुआ-दौडा और उसके काले लम्बे घुंघराले बालको पकड लिया। जो केश राजसूय महायज्ञमें मन्त्रोंसे पवित्र किये हुए जलद्वारा सिक्त हुए थे; उन्हें धृतराष्ट्र के पुत्रने पाण्डवोंके बलका निरादर करके पकड लिया। दुःशासन अति लम्बे बालवाली, दुःखिनी नाथवाली द्रौपदी को अनाथवतीके समान सभाके पास ला कर जैसे वायु केलेको खींचता है, वैसे ही खींचने लगा। वह खींची जाती हुई मुडे शरीरवाली द्रौपदी धीरेसे बोली, कि 'मैं रजस्वला हूं और एकवस्त्र पहिनी

ततोऽब्रवीत्तां प्रसभं निगृह्य केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३३ ॥
दुःशासन उवाच—रजस्वला वा भव याज्ञसेनि एकाम्बरा वाऽप्यथवा विवस्त्रा ।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच— प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा दुःशासनेनावधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३५ ॥
द्रौपद्युवाच—इमे सभायामुपनीतशास्त्राः क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३६ ॥
नृशंसकर्मस्त्वमनार्यवृत्त मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकार्षीः ।
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः सेन्द्रापि देवा यदि ते सहायाः ॥ ३७ ॥
धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्रमिच्छामि दोषं न गुणान्विसृज्य ॥ ३८ ॥
इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये रजस्वलां यत्परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित्कुरुतेऽत्र कुत्सां ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेतः ॥ ३९ ॥

हुई हूं । इसलिये, हे दुष्टबुद्धे ! अनार्य ! मुझे सभामें खींचकर लेजाना तुझे योग्य नहीं है ।" (१८—३२)

पश्चात् ' हे भगवान् कृष्ण! हे अर्जुन! हे हरे! हे नर! मेरी रक्षा कर" ऐसा शोक द्रौपदी करने लगी, इतनेमें दुःशासनने उसके काले केश पकडे और वह बोला, कि हे याज्ञसेनी ! चाहे तुम रजस्वला हो, वा एकवस्त्रा हो अथवा वस्त्र रहितही क्यों न हो, जुएमें जीती गयी हो, अत एव दासी बनी हो, दासियोंको स्वामी की इच्छानुसार वस्त्रादि दिया जाता है । (३३ ३४)

वैशम्पायन बोले, बिखरे केशवाली, अधगिरे वस्त्र-वाली, दुःशासनसे खींची जाती हुई, लज्जा-क्रोधमे जलती हुई, द्रौपदी धीरेसे यह बोली— "सभामे ये सब शास्त्रज्ञ कृपावान् इन्द्रके समान मेरे बडे लोग बेठे है, इनके आगे मे ऐसे नहीं खडी रह सकती हू। रे दुष्टकर्मकारिन्! अनार्य कर्म मत कर, मुझे सभामें वस्त्रहीन मत कर; रे दुष्ट! यदि इन्द्रादि देवभी तेरी सहायता करेंगे, तौभी पाण्डव तुझे क्षमा न करेंगे। महात्मा धर्मपुत्र धर्मने स्थित है, और धर्म सूक्ष्म है, उसे महात्माही जान सकते है, मैं गुणोंके अतिरिक्त अपने पतिके दोषों को वचनमे भी सुनना नहीं चाहती। कुरु वीरोंके मध्यमें जो तू मुझ रजस्वला-को खींचता है, सो कर्तव्य नहीं है, तुझे

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥ ४० ॥
द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं क्षत्तुस्तथैवाऽस्य महात्मनोऽपि ।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ४१ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा भर्तॄन्कटाक्षैः कुपितानपश्यत् ।
सा पाण्डवान्कोपपरीतदेहान्संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४२ ॥
हृतेन राज्येन तथा धनेन रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव ।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४३ ॥
दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णामवेक्षमाणां कृपणान्पतींस्तान् ।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पामुवाच दासीति हसन्सशब्दम् ॥ ४४ ॥
कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः संपूजयामास हसन्सशब्दम् ।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्रस्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४५ ॥
सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव ।
तेषामभूद्दुःखमतीव कृष्णां दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४६ ॥

कोई भी कुत्सित नहीं कहता है; निश्चय ये सब तेरे मतमें है। धिक्कार है, भरत वंशी क्षत्रियोंको, निश्चय इनसे धर्म नष्ट होगया और क्षत्रियोंका चरित्रभी नष्ट होगया जो आज सभामें बैठे सब कुरुवंशी कुरु समुद्रवेलाको नष्ट देख रहे है। द्रोण, भीष्म, महात्मा विदुर और राजा धृतराष्ट्र इन सबको कुछ भी वीर्य-बल नहीं है, जो मुख्यलोग मेरे परम धर्मको कुछभी नहीं सुनते। (३५-४१)

वैशम्पायनजी बोले, इस प्रकारसे रोती हुई वह सुमध्यमा कुपितपतियोंको कटाक्षों मे देखने लगी, और अपने कटाक्षसे पाण्डवों का क्रोध प्रदीप्त कर दिया। पाण्डवोंको राज्य, धन रत्न और मुख्य वस्तुओंके नाश होनेसे ऐसा दुःख नहीं हुआ था, जैसे लज्जा और क्रोध भरे द्रौपदीके कटाक्षोंसे हुआ। दुःशासनने जब देखा, द्रौपदी अपने पति पाण्डवोंको देखती है, तब संज्ञाशून्य द्रौपदीको बलसे खींचकर शब्द सहित हंसकर बोला, तू तो दासी है। कर्ण यह वचन सुनकर शब्दसहित हंसता हुआ प्रसन्न होकर दुःशासनकी प्रशंसा करने लगा और गान्धारदेशके सुबल राजा का पुत्र शकुनि भी दुःशासनकी प्र-शंसा करने लगा। कर्ण शकुनि और धृतराष्ट्रके पुत्रोंको छोडकर वहां और जितने सभासद थे सबको सभामें द्रौपदी को खिंचती देखकर महा दुःख हुआ। (४२—४६)

भीष्म उवाच—न धर्मसौक्ष्म्यात्सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४७ ॥
त्यजेन सर्वां पृथिवीं समृद्धां युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात्।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ ४८॥
द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिरस्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४९॥
द्रौपद्युवाच—आहूय राजा कुशलैरनार्यैर्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम्।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥ ५० ॥
अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तैरबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः।
संभूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः॥५१ ॥
तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभायामीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम्।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥ ५२ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्तीमवेक्षमाणा कृपणान्पतींस्तान्।

भीष्म बोले, हे सुभगे! धर्म अत्यंत सूक्ष्म है, अतएव तुम्हारे प्रश्नका ठीक विवेक हम नही कर सकते; जो पुरुष स्वामी नही है, सो पराये धनको पण नही कर सकता; पत्नी स्वामीके आधीन है; युधिष्ठिर ऋद्धिभरी सब पृथ्वीको छोड सकते है, परन्तु धर्मको नहीं छोडेंगे; इन्होने पहिले कहा था, मे जीता गया इसलिये हम तुम्हारे प्रश्नका उत्तर ठीक नहीं दे सकते है, पर जुएमें अद्वितीय (असामान्य) शकुनिने तुम्हें पण करनेको कहा अर्थात् राजाने अपनी इच्छासे तुम्हे पण नहीं किया और युधिष्ठिर उस कृत्यको छल नहीं मानते; अतएव हम ठीक नही कह सकते। (४७—४९)

द्रौपदी बोली, राजाने जुएमें अभ्यास रहित हो करभी, जुएमें निपुण अनार्य द्यूतप्रिय दुष्टात्मा छलियोसे अपने आप को हार करभी मुझे सभामे क्यो बुलाया और शत्रुओंके मनोरथ सफल किये? कौरव और पाण्डवोंमे अग्रगण्य धर्मराजने, अशुद्ध भावयुक्त, छलमे प्रवृत्त, ज्ञान रहित और निरादर सहित होकर पहिले अपने शरीरको हारा, पीछे यह जुआ खेला! इस सभामे ये जितने कुरुवंशी बैठे है, यह पुत्र और बधुओंके नाथ है, सो सब लोग मेरे प्रश्नका उत्तर यथा योग्य दें। (५०—५२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, उस प्रकारसे रोती हुई और अपने दुःखी पतियोंको देखती हुई द्रौपदीसे दुःशासन कठिन,

दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि वाक्यान्युवाचाऽमधुराणि चैव ॥ ५३ ॥
तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम् ।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च चकार कोपं परमार्तरूपः ॥ ५४ ॥ [२२९७]

इति श्रीमहाभारते० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७

भीम उवाच— भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर ।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥
काश्यो यद्धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चाऽन्यदुत्तमम् ।
तथाऽन्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥ २ ॥
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च ।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥
न च मे तत्र कोपोऽभूत्सर्वस्येशो हि नो भवान् ।
इमं व्यतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥ ४ ॥
एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान्प्राप्य कौरवैः ।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥
अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन्निपात्यते ।
बाहू ते संप्रधक्ष्यामि सहदेवाऽग्निमानय ॥ ६ ॥

कड़ुवा, कुप्यारा वचन बोला। उस खिचती हुई, रजस्वला, पतितवस्त्रा, उस कार्यके अयोग्य, द्रौपदीको देखकर भीमको युधिष्ठिर पर महाक्रोध हुआ। (५३-५४) [२२९७]

सभापर्वमें सड़सठ अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें अड़सठ अध्याय।

भीमसेन बोले, हे युधिष्ठिर! जुआरी लोगोंके घरमें भी दासी रहती है, तो वे उनको जुएमें नहीं लगा देते है, उनपर भी कृपा करते हैं। जो धन काश्यने दिया था और जो द्रव्य उत्तम था इसी प्रकारसे और राजोंने जो जो धन भेट किया था, वाहन, धन, कवच, शस्त्र, राज्य, अपना शरीर और हम सब को जुएमें आप हार गये, तब इतना क्रोध हमको नहीं भया; क्योंकि हमारे सर्वस्वके आप स्वामी है; हम इसको अधर्म मानते हैं, जो आपने द्रौपदीको पण किया; यह बाला इस कर्ममें अयोग्य थी, यह पाण्डवोंको पति प्राप्त करके भी आपके कारण क्षुद्र दुरात्मा पापी कौरवोंसे क्लेश पा रही है, हे राजन्! इस कारण मैं अपना क्रोध तुम्हारे पर डालता हूं, हे सहदेव! अग्नि ले आओ हम तुम्हारे सामने बलसे इसका हाथ जलावेंगे। (१-६)



द्रौपदी वस्त्र हरण।
[म० भा० सभापर्व अध्याय ६८]

अर्जुन उवाच— न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः ।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥
न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाऽऽचरोत्तमम् ।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥
आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥

भीमसेन उवाच —एवमस्मिन्कृतं विद्यां यदि नाहं धनञ्जय ।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—तथा तान्दुःखितान्दृष्ट्वा पाण्डवान्धृतराष्ट्रजः ।
क्लिश्यमानां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत्॥ ११ ॥
याज्ञसेन्या यदुक्तं तद्वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः ।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२ ॥
भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ ।
समेत्य नाहतुः किंचिद्विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥
भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च ।
कुत एतावपि प्रश्नं नाऽऽहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥

अर्जुन बोले, हे भीमसेन ! तुमने पहिले ऐसी वाणी कभी नहीं कही थी, निश्चय ज्ञात होता है कि तुम्हारा धर्म लज्जारहित शत्रुओंने नाश कर दिया, शत्रुओंका मनोरथ सफल करने योग्य नहीं है, तुम उत्तम धर्महीका आचरण करो, धर्मात्माओंको ज्येष्ठ भाईका अनादर करना नहीं चाहिये, राजा क्षत्रियोंके धर्मका स्मरण करके शत्रुओंकी (उन्हींकी) इच्छानुसार जुआ खेलते हैं, सो कर्म हमारी कीर्तिको बढाने वाला है। (७–९)

भीमसेन बोले, हे अर्जुन ! यदि हम ऐसा न समझते, तो जलती हुई अग्निमें बलसे इनके हाथोंको जला देते। (१०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले इस प्रकार से पाण्डवोंको दुःखित और द्रौपदीको खिंचती हुई देखकर धृतराष्ट्रका पुत्र विकर्ण यह बोला, हे राजालोगो ! द्रौपदीने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर दो, क्योंकि प्रश्नका विवेक न करनेसे शीघ्र ही नरक होता है, ये भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंही कुरुकुलके वृद्ध हैं और ये महाबुद्धिमान विदुर, और ये लोग कुछभी नहीं कहते हैं, सबके गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ये दोनों ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हैं, प्रश्नका

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशम्।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥
यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥
एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान्सभासदः।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥
उक्त्वाऽसकृत्तथा सर्वान्विकर्णः पृथिवीपतीन्।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥१८॥
विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन।
मन्ये न्याय्यं यदत्राऽहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥१९॥
चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम्।
मृगया पानमक्षाश्च ग्राम्ये चैवाऽतिरक्तता ॥ २० ॥
एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते।
तथाऽयुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥
तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम्।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥
साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता।

कुछभी उत्तर क्यों नहीं देते? और आर जो अन्य देशोंके राजालोग हैं, सो काम और क्रोधको छोडकर मतिके अनुसार उत्तर दें; द्रौपदीने सभामें यह वाक्य कहे उसका विचारकर जो जिसका मत हो स्पष्ट कह दें। (११–१६)

इस प्रकारसे विकर्णने बहुतवार सभासदोंसे कहा परन्तु किसीने अच्छा वा बुरा कुछभी उत्तर न दिया। विकर्णने सब राजोंसे पुनः कहकर हाथसे हाथको लगाकर सांस लेकर ऐसा कहा, हे पृथ्वीपालगण! आपलोग इस प्रश्नको कहो वा मत कहो, मैं यहां जो न्याय्य समझता हूं, सो कहता हूं। राजोंके निमित्त चार दुष्कर्म कहे हैं, मृगया(शिकार) मद्यपान, जुआ, और स्त्रियोंपर अधिक आसक्ति; जब पुरुष इनकामोंमे आसक्त होता है, तो धर्मको छोडकर गमन करता है और इन सबके किये काम जगत्में प्रमाण नहीं माने जाते। सो यह द्रौपदी पण युधिष्ठिरने मत्त होकर और जुआरियोंसे प्रेरित हो कर किया है, ये अनिन्दिता द्रौपदी साधारण रूपसे सब पाण्डवोंकी स्त्री है और राजा अपने शरीरको हार

जितेन पूर्वं चाऽनेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥
इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत्सर्वं विचार्याऽहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४॥
एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥ २५ ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

कर्ण उवाच —दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाऽग्निररणिप्रजः ॥ २७ ॥
एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥
त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद्ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥ २९ ॥
न च धर्मं यथातत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद्ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥
कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज ।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान्पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥

चुके, तब इसको पण किया, और शकुनि ने कहा, तब युधिष्ठिरने इसे पण किया, ये सब हेतु विचारकर मैं जानता हूं, कि द्रौपदी जीती नहीं गयी । (१७-२४)

विकर्णके ये वचन सुनकर सब सभासद विकर्णकी प्रशंसा और शकुनिकी निन्दा करने लगे । ये शब्द बहुत समय तक रहा, जब समाप्त भया तो राधापुत्र कर्ण महाक्रोध करके हाथ पकड कर बोला । (२५-२६)

हे विकर्ण ! अनेक प्रकारके विपरीत लक्षण दीखते हैं; जो उसीके विनाशके मूल हैं, जैसे वनमेंसे उत्पन्न अग्नि वन ही को नाश करती है । ये सब राजा लोग द्रौपदीसे पूछनेपरभी कुछ न बोले, क्योंकी वे जानते है, कि द्रौपदी धर्मसे जीती गयी है; हे धृतराष्ट्रके पुत्र ! तुम केवल मूर्खतासे बकते हो, क्यों कि तुम बालक होकर सभाके बीचमें बूढों कीसी बात करते हो ! हे दुर्योधनानुज ! तुम धर्मको ठीक नहीं जानते, इसीसे जिती हुई द्रौपदीको बिन-जिती बताते हो, हे धृतराष्ट्रपुत्र ! जब पाण्डवाग्रज युधिष्ठिर ने जुवेमें अपना सर्वस्व लगादिया तब

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥
कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः ।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥
मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम् ।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन ।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः ।
एकाम्बरधरत्वं वाऽप्यथवाऽपि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥
यच्चैषां द्रविणं किंचिद्या चैषा ये च पाण्डवाः ।
सौबलेनेह तत्सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥
दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः ।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥
तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत ।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥
ततो दुःशासनो राजन्द्रौपद्या वसनं बलात् ।

द्रौपदीको विना जिती कैसे कहते हो? हे भरतर्षभ! द्रौपदी तो युधिष्ठिरके सर्वस्व में ही थी तब तुम द्रौपदीको अजिता किस हेतुसे मानते हो; द्रौपदी पाण्डवों के वचनसे क्रीत हुई और अनुज्ञात हुई तब कैसे अजिता हो सकती है; यदि तुम कहो कि इसको एक वस्त्र धारण किये सभामें लाना अधर्म हुआ; सो भी मैं कहता हूं तुम सुनो। (२७–३४)

हे कुरुनन्दन! देवतोंने स्त्रियोंके निमित्त एकही पति कहा है और यह अनेक की स्त्री है अतएव निश्चय वेश्या है इसको सभामें लाना एकवस्त्रा वा नङ्गीही होना हमारी बुद्धिमें कोई भी आश्चर्य नहीं है। जो पाण्डवोंका धन था, उसमें यह भी थी; इस कारणसे शकुनिने इसे धर्मसेही जीता है, हे दुःशासन! यह विकर्ण बालक है और पण्डितोंके ऐसा वाद करता है। अतएव तुम पाण्डव और द्रौपदीके वस्त्र उतार लो। (३५–३८)

हे जनमेजय! पाण्डव लोग यह वचन सुन कर अपना वस्त्र उतार कर सभामें बैठ गये; हे राजन्! तब दुःशा-सन सभाके बीचमें बलसे द्रौपदीका



द्रौपदीवस्त्राहरण

(स. सा. मुद्रणालय-अहमदाबाद)　　(सभापर्व अ० ६८)

सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाकृष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच— आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः ।
गोविन्द द्वारकावासिन्कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥ ४१ ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥ ४२ ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ ४३ ॥
इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रारुदद्दुःखिता राजन्मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥ ४४ ॥
याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ।
त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाऽभ्यगात् ॥ ४५ ॥
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा समावृणोद्वै विविधैः सुवस्त्रैः ॥ ४६ ॥
आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते ।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥ ४७ ॥

वस्त्र खींचने लगा । (३९—४०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, जब द्रौपदी का वस्त्र खींचा गया, तब उसने कृष्ण को स्मरण किया । हे गोविन्द! हे द्वारकावासिन् ! हे गोपीजन प्रिय! हे केशव ! क्या तुम नहीं जानते हो, कि कौरवोंने मेरा अपमान किया है ! हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ! हे दुःखनाशन ! हे जनार्दन ! कौरवसमुद्रमें डूबती हुई मेरी रक्षा करो । हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! हे गोविन्द ! कौरवोंके बीचमें दुखित बनी मेरी रक्षा कीजिये । हे राजन् ! इस प्रकारसे जगदीश्वर कृष्णको स्मरण कर अपना मुख आच्छादित करके द्रौपदी सभामें रोयी । (४१—४४)

उसी समय द्रौपदीका वचन सुनकर कृष्ण करुणासे आर्द्र हो गये; अपनी शय्याको छोड पैरोंही दौडे । जब द्रौपदी छूटनेके लिये कृष्ण! जिष्णु नरनारायण ! इस प्रकारसे रक्षाके निमित्त पुकारने लगी, तब महात्मा धर्मरूपी कृष्णने आकर उसके वस्त्रमें वास किया । हे राजन् ! जब द्रौपदीका वस्त्र खींचा गया, तो वस्त्रके भीतरसे न वस्त्र और उसमेंसे

नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥ ४८ ॥
ततो हलहलाशब्दस्तत्राऽऽसीद्घोरदर्शनः ॥ ४९ ॥
तदद्भुततमं लोके वीक्ष्य सर्वे महीभृतः।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥ ५० ॥
शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः।
क्रोधाद्विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥ ५१ ॥
भीमसेन उवाच—इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चाऽन्यो यद्वदिष्यति ॥ ५२ ॥
यद्येतदेवमुक्त्वाऽहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः।
पितामहानां पूर्वेषां नाऽहं गतिमवाप्नुयाम् ॥ ५३ ॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च।
न पिबेयं बलाद्वक्षो भित्वा चेद् रुधिरं युधि ॥ ५४ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य ते तद्वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम्।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥ ५५ ॥
यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥ ५६ ॥

अन्य इस प्रकारसे रंग विरंगके, अनेक वस्त्र निकलने लगे। यह फल धर्म पालनका था, तब सभामें महा हाहाकारका महाशब्द उठा; इस महा अद्भुत कार्यको देखकर सब राजालोग द्रौपदीकी प्रशंसा और धृतराष्ट्रपुत्रकी निन्दा करने लगे, तब राजोंके मध्यमें क्रोधसे ओष्ठ फरकाते हुए, हाथसे हाथको मलकर, घोर शब्द से भीमने यह प्रतिज्ञा की। (४५–५१)

भीमसेन बोले, हे लोक के वासी क्षत्रियो! तुम सब मेरे यह वचन सुनो, जो पहिले किसीने नहीं कहे और न कोई कहेगा, यदि मैं इस पापी दुर्बुद्धि भरतकुल कलंक दुःशासनका हृदय क्रोधसे चीरकर युद्धमें रुधिर न पीयूं तो हे राजालोगो! मैं अपने पुरुषालोगोंकी गति को प्राप्त न होऊं। (५२–५४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, भीमके ऐसा कठिन रोमहर्षण वचन सुनकर सब लोग उनकी प्रशंसा और धृतराष्ट्रपुत्रकी निन्दा करने लगे, जब सभाके बीचमें द्रौपदीके वस्त्रोंका ढेर होगया तब दुःशासन थक कर और लज्जित होकर बैठ रहा; इसप्रकारसे पाण्डवोंको देखकर सब

विकृशब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः ।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥ ५७ ॥
न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह ।
सुजनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥ ५८ ॥
ततो बाहू समुत्क्षिप्य निवार्य च सभासदः ।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५९ ॥
विदुर उवाच — द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति त्वनाथवत् ।
न च विब्रूत मे प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥ ६० ॥
सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ ६१ ॥
धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः ।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥ ६२ ॥
विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः ।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥ ६३ ॥
यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥ ६४ ॥
यः पुनर्वितथं ब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।

सभासदोंके मुखसे धृतराष्ट्रपुत्रको धिक्कार है, ऐसा महाशब्द निकला, धृतराष्ट्रकी निन्दा करते हुए सब सभासद कहने लगे, कि द्रौपदीका प्रश्न कौरवलोग क्या नहीं कहते है। (५७–५८)

तब हाथ उठाकर सब सभासदोंको निवारण करके सब धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विदुर यह बोले, हे सभासदो! द्रौपदी प्रश्न करके अनाथके समान रोती है, तुम लोग उत्तर नहीं देते; इससे धर्म नष्ट होता है। राज सभामें दुःखी, जलते अग्निके समान प्रवेश करता है, परन्तु सभासद सत्य और धर्मसे उसको शांत करते हैं, अतएव आर्य पुरुष सत्यधर्मसे सत्य प्रश्नको काम क्रोध त्याग कर वर्णन करें। (५९–६२)

हे राजालोगो! जिस प्रकारसे विकर्णने प्रश्नका उत्तर दिया था, वैसेही आपलोगभी बुद्धिके अनुसार उत्तर कहिये, जो सभासद धर्मको जानकर सभामें प्रश्नका उत्तर न दे, सो उस पापके आधे फलका भागी होता है. और जो धर्मदर्शी सभासद प्रश्नके उत्तर को झूठ. वा उलटा कहे, सो झूठके पूरे फल

अनृतस्य फलं कृत्स्नं संप्राप्नोतीति निश्चयः ॥ ६५ ॥
अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥ ६६ ॥
प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः ।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥ ६७ ॥
अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा ।
तयोर्देवनमत्राऽऽसीत्प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥ ६८ ॥
तयोः प्रश्नविवादोऽभूत्प्रह्लादं तावपृच्छताम् ।
ज्यायान्क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥ ६९ ॥
स वै विवदनाद्भीतः सुधन्वानं विलोकयन् ।
तं सुधन्वाऽब्रवीत्क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥ ७० ॥
यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाऽथ न वक्ष्यसि ।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥ ७१ ॥
सुधन्वना तथोक्तः सन्व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् ।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥ ७२ ॥
प्रह्लाद उवाच — त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहाऽऽसुरस्य च ।

को प्राप्त करता है। (६३–६५)

पण्डित लोग इसही स्थानमें इस प्रह्लाद और आंगिरस मुनिके इतिहासका उदाहरण देते हैं। प्रह्लाद नामक दैत्यराज थे और उनके पुत्रका नाम विरोचन था, सो एक कन्याके निमित्त अङ्गिरा के पुत्र सुधन्वासे उसका विवाद हुआ; हमने सुना है कि उन दोनोंमें ऐसा विवाद हुआ, कि एक कहता था हम कुलीन हैं और दूसरा कहता था हम कुलीन हैं। इसवादमें दोनोंने प्राण पर्यन्त पण किया, तब उन दोनोंने जाकर प्रह्लादसे पूछा, कि तुम सत्य कहो हम दोनोंसे कुलीन कौन है? प्रह्लाद सुधन्वा को देखकर असत्य बोलनेसे डरे, तब सुधन्वा क्रोधसे ब्रह्मदण्डके समान जलता हुआ बोला, हे प्रह्लाद! यदि तुम झूठ कहोगे, वा कुछ न कहोगे, तो इन्द्र तुम्हारे शिर को वज्रसे सौखण्ड कर देगा। (६६—७१)

प्रह्लाद सुधन्वाका यह वचन सुनकर पीपलके पत्तेके समान कांपने लगे, तब प्रह्लाद महातेजस्वी कश्यप मुनिके पास यह पूछने गये। प्रह्लाद बोले, हे महाभाग! तुम देव असुर और ब्राह्मणोंके सब धर्मोंको जाननेवाले हो; यह धर्मकष्ट

ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥ ७३ ॥
यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद्वितथं वैव निर्दिशेत् ।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाऽऽचक्ष्व पृच्छतः ॥ ७४ ॥
कश्यप उवाच — जानन्नविब्रुवन्प्रश्नकामात्क्रोधाद्भयात्तथा ।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७५ ॥
साक्षी वा विब्रुवन्साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन् ।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७६ ॥
तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात्सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥ ७७ ॥
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥७८॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥७९॥
अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ ८० ॥
वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते ।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥ ८१ ॥

उपस्थित है इससे कहिये कि जो प्रश्नके उत्तरको न दे उलटा उसको कौन लोग मिलते है। (७२—७४)

काश्यप बोले, हे प्रह्लाद ! जो प्रश्नके उत्तरको जानता हो और काम क्रोध वा भयसे न कहे उसके गलेमे वरुणकी फांसी सहस्रवार पडती है और जो साक्षी दोनो पक्षोकी बात कहे सोभी अपने निमित्त हजार वरुणपाश ग्रहण करता है. उसको एक वर्ष पूर्ण होनेसे एकपाश छूटता है, अतएव जाननेवाले पुरुपको सत्यही कहना चाहिये। (७५-७७)

जिस सभामे अधर्मसे धर्म बद्ध हो और सभासद उस असत्यको न निकाले, वहा सभासद अधर्मसे विद्ध होते है। उस पापका आधाभाग सभापतिको प्राप्त होता है, एक चरण कर्त्ताको और एक चरण उन सभासदोंको प्राप्त होता है, जो निन्दितकी निन्दा नही करते। जहा निन्दायोग्यकी निन्दा करी जाती है, वहा सभापति और सभासद पापसे मुक्त हो जाते है, और वह पाप केवल कर्त्ताहीको प्राप्त होता है। (७८—८०)

हे प्रह्लाद ! जो पूछनेवालेसे मिथ्या

हृतस्वस्य हि यद्दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत् ।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ॥ ८२॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् ।
अपुत्रायाश्च यद्दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥ ८३ ॥
अध्यूढायाश्च यद्दुःखं साक्षिभिर्विहितस्य च ।
एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥ ८४ ॥
तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन् ।
समक्षदर्शनात्साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥ ८५ ॥
तस्मात्सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥ ८६ ॥
श्रेयान्सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाऽङ्गिराः ।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव ।
विरोचन सुधन्वाऽयं प्राणानामीश्वरस्तव ॥ ८७ ॥
सुधन्वोवाच— पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः ।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ८८ ॥
विदुर उवाच— एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।

कहते है, सो सात पहले और सात आगेके यज्ञादिको नष्ट करते है, जो दुःख छीने हुए धनवालेको होता है, जो पुत्र मारनेवालेको, ऋणीको, अपने धनसे नष्टको, पतिसे हीन स्त्रीको, राजासे पकडे हुए को, अपुत्रा स्त्रीको, व्याघ्रसे आहतको, साक्षियोंसे नष्टको, और जो दुःख सौतली स्त्री को होता है, वह सब दुःख देवता में समान कहे है, जो झूठ कहता है, उसको यह सब दुःख प्राप्त होते है। सुननेसे, धारण करनेसे और प्रत्यक्ष देखनेसे साक्षी कहता है, अतएव साक्षी सत्य कहनेसे धर्म और अर्थसे नष्ट नहीं होता है। (८१—८६)

कश्यपका ऐसा वचन सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा, तुझसे सुधन्वा श्रेष्ठ है, मुझसे अङ्गिरा श्रेष्ठ है, और सुधन्वाकी माता तेरी मातासे श्रेष्ठ है; हे विरोचन! यह सुधन्वा अब तेरे प्राणोंका स्वामी है। (८६-८७)

सुधन्वा बोले, तुमने पुत्रस्नेह छोडकर धर्मको ग्रहण किया, अतएव मैं तुम्हारे पुत्रको तुम्हें देता हूं, अब ये सौ वर्ष पर्यंत जीवें। (८८)

विदुर बोले हे सभासदो! आप इस प्रकारसे धर्मको जान कर द्रौपदी के

प्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥८९॥

वैशम्पायन उवाच– विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः ।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहं नय ॥ ९० ॥
तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान् ।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥९१॥ [२३८८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि
द्रौपदीकर्षणे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

द्रौपद्युवाच– तावत्प्रतीक्ष दुष्प्रज्ञ दुःशासन नराधम ।
पुरस्तात्करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम् ॥ १ ॥
विह्वलाऽस्मि कृताऽनेन कर्षता बलिना बलात् ॥२॥
अभिवादं करोम्येषां कुरूणां कुरुसंसदि ।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच– सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी ।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच— स्वयंवरे याऽस्मि नृपैर्दृष्टा रंगे समागतैः ।
न दृष्टपूर्वा चाऽन्यत्र साऽहमद्य सभां गता ॥ ५ ॥
यां न वायुर्न चाऽऽदित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे ।

प्रश्नका उत्तर दीजिये । (८९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि विदुरके वचनको सुनकर राजालोग कुछ न बोले, कर्णने दुःशासनसे कहा तुम इस दासी को घरमें पहुंचा दो । तब कांपती हुई, लज्जावती, पाण्डवोंको देखती हुई तपस्विनी द्रौपदीको सभामें नीचमति दुःशासन खींचने लगा । (९०–९१) [२३८८]

सभापर्वमें अड़सठवां अध्याय समाप्त ।

सभापर्वमें उनहत्तरवां अध्याय ।

द्रौपदी बोली पहिले मेरे प्रश्नका उत्तर देना उचित था, सो नहीं किया। मुझे यह बलवान् बलसे खींचता है, अतएव मैं अत्यन्त व्याकुल हुई हूं, इस कुरु-सभामें सब कौरवोंको प्रणाम करती हूं । यह अपराध मेरा नहीं है ।(१–३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि जब दुःशासनने उसे खींचा तो वह तपस्विनी द्रौपदी सभामें गिर गयी और यों कहकर रोने लगी । (४)

द्रौपदी बोली, जिसे मुझे स्वयंवरके रंगस्थानमें आये राजोंके अतिरिक्त किसीने भी कहीं नहीं देखा था, सो मैं आज सभामें प्राप्त हुई हूं, जिसके घरमें

साऽहमद्य सभामध्ये दृश्याऽस्मि जनसंसदि ॥ ६ ॥
यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमाना गृहे पुरा ।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ७ ॥
मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम् ।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम् ॥ ८ ॥
किं त्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा ।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम् ॥ ९ ॥
धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ॥ १० ॥
कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती ।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम् ॥ ११ ॥
तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् ।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥
अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः ।
क्लिश्नाति नाऽहं तत्सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः १३॥
जितां वाऽप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः ।
तथा प्रत्युक्तामिच्छामि तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ १४ ॥

कभी सूर्य और वायुनेभी नहीं देखा था, इस मुझे आज सभामें सब देख रहे है, जो पाण्डव कभी मुझे छूते हुए वायु परभी क्षमा नहीं करते थे, सो इस दुष्टपर क्षमा कर रहे है; जान पडता है, कि कुछ समयही विपरीत हो गया, जो सब कौरव लोग इस दुःखके अयोग्य बहूको ऐसा क्लेश देख रहे है, इससे अधिक नीचकर्म क्या होगा? जो मै सती स्त्री सभाके मध्यमे आयी, अब राजोका धर्म कहां गया? (६—९)

मैने पहले सुना था, कि स्त्री धर्मसभा में नहीं बुलायी जाती, सो सनातन धर्म कुरुवंशसे नष्ट होगया, पाण्डवोकी स्त्री धृष्टद्युम्नकी बहिन, श्रीकृष्णकी सखी! होकर सभामे कैसे रहूं। हे कौरव लोगो! धर्मराजकी सदृशवर्णमे उत्पन्न धर्मपत्नी हूं मै। तुम सब मुझे दासी वा अदासी जो कहो सोही मै करूं, यह कौरवोका यश नाशक क्षुद्र दुःशासन मुझे बलसे क्लेश देरहा है, जिसे मै बहुतकाल पर्यन्त नहीं सह सकती। हे राजा लोगो! हे कुरुवंशियो! मुझे तुम जिती वा बिनाजिती जो मानते हो, सो मै सुनना चाहती हूं,

भीष्म उवाच— उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमां गतिम् ।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञैर्महात्मभिः ॥ १५ ॥
बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः ।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः ॥ १६ ॥
न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात् ।
सूक्ष्मत्वाद्गहनत्वाच्च कार्यस्याऽस्य च गौरवात् ॥ १७ ॥
नूनमन्तः कुलस्याऽस्य भविता न चिरादिव ।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ॥ १८ ॥
कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम् ।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता ॥ १९ ॥
उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम् ।
यत्कृच्छ्रमपि संप्राप्ता धर्ममेवाऽन्ववेक्षसे ॥ २० ॥
एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः ।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवाऽऽनताः ॥ २१ ॥
युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन्प्रमाणमिति मे मतिः ।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति ॥ २२ ॥[२४१०]

इति श्रीमहाभारते० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

सुनकर बैसाटी करूंगी । (१०—१४)

भीष्म बोले, कि हे कल्याणि ! हम पहलेही धर्मकी गति कह चुके हैं, कि उसे महात्मा विज्ञ लोगभी नहीं जान सकते, लोकमें बलवान पुरुष जिसे धर्म कहे, सोही धर्म है; चाहे वह मर्यादाके बाहरभी हो तो भी उत्तम कहा जाता है, धर्मकार्य भारी कठिन और सूक्ष्म है; इससे हम तुम्हारे प्रश्नका निश्चय नहीं कर सकते । हम निश्चय करके कह सकते है, कि बहुत शीघ्र इस कुलका नाश होनेवाला है, देखो इस समय, ये सब कौरवलोग लोभ मोहमें परायण होगये ; जिन पांडवोंकी तुम बधू हो सो सब इस बडे कुलमें उत्पन्न हुए है, और संकटोंसे ग्रस्त होते ही धर्ममार्गसे पतित नहीं होते । हे पाञ्चाली ! तुमको यह समय ऐसा कठिन उपस्थित है तो भी तुम धर्महीको देखती हो; देखो ये द्रोणादिक सबही धर्मज्ञ है, पर वेभी इस समय बिना प्राणके ऐसे बैठे है, मेरी बुद्धिमे इस प्रश्नमे युधिष्ठिर ही प्रमाण है. ये ही तुम्हे जिती वा विनाजिती कह सकते है । (१५-२२)

सभापर्वमें उनहत्तर अध्याय समाप्त । (२४१०)

वैशम्पायन उवाच-तथा च दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं रोरूयमाणां कुररीमिवाऽऽर्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाऽप्यसाधु महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ॥ १ ॥
दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रांस्तूष्णींभूतान्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
स्मयन्निवेदं वचनं बभाषे पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ॥ २ ॥
दुर्योधन उवाच-तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥ ३ ॥
अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः।
कुर्वन्तु सर्वे चाऽनृतं धर्मराजं पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ॥ ४ ॥
धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथवैष वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ ५ ॥
सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्पतींश्च ते समवेक्ष्याऽल्पभाग्यान् ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो हाहेत्यासीदपि चैवाऽऽर्तनादः ॥ ७ ॥

सभापर्वमें सत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इस प्रकारसे कुररीके समान बहुत रोती हुई देवी द्रौपदीको देखकर कोईभी राजा दुर्योधनके भयसे न बोला जब दुर्योधनने सब राजपुत्र और राजपौत्रोंको चुप देखा, तो हंसता हुआ द्रौपदीसे ऐसा बोला। (१-२)

दुर्योधन बोला, कि हे याज्ञसेनि! यह तेरा प्रश्न उदारवीर्य भीमसेन, अर्जुन, सहदेव और तेरे पति नकुलके अधीन रहे, ये लोग इसका उत्तर कहें हे पाञ्चालि! ये सब लोग आर्योंके मध्यमें कहें, कि युधिष्ठिर द्रौपदीके स्वामी नहीं हैं, तेरे निमित्त ये सब युधिष्ठिर को झूठा कह दें तो तू दासीभावसे छूट जायगी। (३—४)

अथवा धर्ममें स्थित इन्द्रके समान महात्मा धर्मराजही कहें, कि ये तुम्हारे स्वामी हैं वा नहीं? इनके कहनेके पश्चात् तुम शीघ्रही एकको पति बनालो, इस सभामें ये सब कुरुवंशी लोग तुम्हारे ही दुःखसे दुःखित हो रहे हैं, तुम्हारे मन्दभाग्य पतियोंको देखकर ये आर्यसत्त्व कुछ भी नहीं बोलते। (३—६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कुरुराज दुर्योधनके ऐसे वचन सुनकर सब सभासद उसकी प्रशंसा करने लगे, परस्पर नेत्र चालनभी करने लगे, और तब उस सभामें महा हाहाकार शब्द उठा, उस बातको

श्रुत्वा तु तद्वाक्यमनोहरं तद्धर्षश्चासीत्कौरवाणां सभायाम् ।
सर्वे चासन्पार्थिवाः प्रीतिमन्तः कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥ ८ ॥
युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः ।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥
किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ॥ १० ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥
भीमसेन उवाच— यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः ।
न प्रभुः स्यात्कुलस्याऽस्य न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥
ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः ।
मन्यते जितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥
न हि मुच्येत मे जीवन्पदा भूमिमुपस्पृशन् ।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥ १४ ॥
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव ।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येताऽपि शतक्रतुः ॥ १५ ॥
धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि सङ्कटम् ।
गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥ १६ ॥

सुनकर कौरवोंकी सभामें महा आनन्द हुआ, सब राजालोग प्रसन्न होकर धार्मिक कुरुराजकी प्रशंसा करने लगे, उन सब राजालोगोने युधिष्ठिरकी ओर देखकर ये क्या करेंगे, इस अपेक्षासे मुखको नीचा किया, अथवा संग्राममें अपराजित अर्जुन, भीम, नकुल वा सहदेव क्या कहेगे ऐसाही सबको कौतूहल हुआ। जब यह शब्द समाप्त हो गया, तो चन्दनचर्चित दिव्य सुन्दर बाहुको ग्रहण करके भीमसेन बोले। (८—११)

भीमसेन बोले, यदि ये महामति धर्मराज हमारे गुरु और कुलके प्रभु न होते तो हम कदापि क्षमा न करते; हमारे पुण्य,तप और प्राणोंके भी ये ईश्वर है,यदि ये अपनेको जित माने, तो हम सबही विना जित है, भूमिमे चलनेवाला कोई भी मनुष्य द्रौपदीके केशको स्पर्श करके मुझसे जीता नहीं छूट सकता, तुम लोग इन मोठे और लम्बे मेरे हाथोको देखो इनके बीचमे आकर इन्द्रभी छूट नहीं सकता, मै धर्मपाशमे बंधा हुआ हूं, धर्म-

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।
धार्तराष्ट्रानिमान्पापान्निष्पिषेयं तलासिभिः ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च ।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि ॥ १८ ॥[२४२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

कर्ण उवाच— त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चाऽस्वतन्त्रा च नारी।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ॥ १ ॥
प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व तत्ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र ।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा न पार्थाः ॥ २ ॥
अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि यस्माद्दास्यं न लभसि देवनेन ।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये विदितं तत्तवाऽस्तु ॥ ३ ॥
पराजितो नकुलो भीमसेनो युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च ।
दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥ ४ ॥
प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः ।

राजके गौरव और अर्जुनके निरोधमें ये सङ्कट भोगता हूं, यदि धर्मराज मुझको आज्ञा दें तो जैसे सिंह क्षुद्र हरिणोंको नाश करता है, वैसेही इन पापी धृतराष्ट्र पुत्रोंको चरणमें पीस डालूं। (१२-१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, तब भीमसे भीष्म द्रोणाचार्य और विदुर कहने लगे, कि जो तुम कहते हो, सो सब यथार्थ है, तुम सब कुछ कर सकते हो; पर इस समय क्षमा करो। (१८) [२४२८]

सभापर्वमें सत्तर अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें इकहत्तर अध्याय।

कर्ण बोला, कि हे भद्रे! ये तीन पुरुष निर्द्धन होते है, दास, पुत्र और पराधीन स्त्री, नियम है, दासकी स्त्री, हीन पतिवाली और दासका धन ये स्वामीहीके होते है, हे राजपुत्रि! राजा दुर्योधनके घरमें जाकर जो काम मिले सो करो, अब तुम्हारे पति धृतराष्ट्र के सब पुत्र है, पाण्डव नहीं। हे भामिनि! तू दूसरा पति कर ले जिससे दासीका दाग प्राप्त न हो; दास-भावमें स्त्रियोंको पतियोंमें कामवृत्ति अनन्त है, यह तुम्हें मालूम है, कि नकुल, भीमसेन, अर्जुन, सहदेव और युधिष्ठिर ये सब हार गये। हे याज्ञसेनि! तुम दासी होगयी और ये पराजित पाण्डव तुम्हारे पति नहीं रहे। क्या कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर जन्ममें प्रयोजन, पराक्रम और पुरुषार्थ

पाञ्चालस्य द्रुपदस्याऽऽत्मजामिमां सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी भृशं निशश्वास तदाऽऽतरूपः ।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥ ६ ॥

भीमसेन उवाच—नाऽहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राजन्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः ।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयुर्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच— भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णींभूतमचेतनम् ॥ ८ ॥
भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने ।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥
एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम् ।
स्मयन्निवैक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ १० ॥
कदलीदण्डसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
राजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ११ ॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव ।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १२ ॥
भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते ।

को नहीं मानते. जो पाञ्चालराज द्रुपद की पुत्रीको जुएमें लगा दिया । (१–५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि परम क्रोधी भीमसेन कर्णके ये वचन सुनकर, दुःखी होकर राजाके वशवर्ती और धर्म पाशमे बद्ध होनेके कारण लालनेत्र कर के कर्णको जलाते हुए के समान सांस लेकर ऐसा कहने लगे । (६)

भीमसेन बोले, कि हे राजन् ! हम कर्णके ऊपर कुछभी क्रोध नहीं करते, क्योंकि इसने ठीक वैसाही कहा, जैसा दास को कहना चाहिये । हे नरेंद्र ! यदि आप द्रौपदीको पण न करते, तो क्यों शत्रु लोग मेरे आगे ऐसा बोलते । (७)

श्री वैशम्पायनजी बोले, कि भीमसेन के ऐसे वचन सुनके राजा दुर्योधनने चुप बैठे अचेतन युधिष्ठिरसे ऐसा कहा। हे महाराज ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञामे स्थित है, सो आप यदि द्रौपदीको अजित मानते है, तो इसके प्रश्नका उत्तर दो । कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर, ऐश्वर्यके मदसे मोहित दुर्योधन अपने वस्त्रको उठाकर हंसते हुए द्रौपदीकी ओर देखकर कर्ण का उत्साह बढानेके निमित्त और भीम को धर्षित करनेके वास्ते केलेके खंभके

प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १३ ॥
पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद्वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १४ ॥
क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः ।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्य प्रदह्यतः ॥ १५ ॥

विदुर उवाच — परं भयं पश्यत भीमसेनात्तद्बुध्यध्वं पार्थिवाः प्रातिपेयाः ।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १६ ॥
अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा यस्मात्स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ पापान्मन्त्रान्कुरवो मन्त्रयन्ति १७॥
इमं धर्मं कुरवो जानताऽऽशु ध्वस्ते धर्मे परिषत्संप्रदुष्येत् ।
इमां चेत्पूर्वं कितवोऽग्लहीष्यदीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १८॥
स्वप्ने यथैतद्धि जितं धनं स्यादेवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य धर्मादस्मात्कुरवो मापयात ॥ १९ ॥

समान, सब लक्षणयुक्त हाथीके सूंडके समान सुन्दर, वज्रके समान कठिन द्रौपदीके सामने बाईंजंघा दिखलाने लगा। ८-१२

भीमसेन उसको देखकर लाल लाल नेत्रोंको फैलाकर सब सभाको सुनाते हुए राजोंके मध्यमें दुर्योधनसे ऐसा बोला, यदि मै महायुद्धमें इसकी जांघको गदासे न तोडूं, तो जिन लोकोंमे मेरे पितामह लोग गये है उनमें न जाऊं। जैसे जलते हुए वृक्षकी जलती हुई खोखरोंमेंसे अग्नि निकलती है, वैसेही क्रोधभरे भीमसेनके रोम-छिद्रोंसे अग्नि निकलने लगी। (१३-१५)

विदुर बोले, हे प्रतीपवंशोत्पन्न राजा लोगो! अब जो भीमसेनसे महाभय उत्पन्न हुआ, उसे देखो और जानो, कि प्रारब्धवशसे कुरुवंशमें यह भयानक नीति उत्पन्न हुई है, धृतराष्ट्रके पुत्रोंने महा अन्याय किया, जो सभामें स्त्रीसे ऐसा प्रलाप करते हैं, कुरुवंशके योग और कुशल सब नष्ट हो गये; क्योंकि यह लोग पापयुक्त मन्त्रोंका विचार करते है, हे कौरवो! तुम यह धर्म जानो, कि जहा धर्म नष्ट होता है, सो सभा दूषित होती है, यदि राजा अपने हारनेके पहिले द्रौपदीको हारते, तो उसके ईश होते, जिस धनको अनीश जुएमें लगावे, सो स्वप्नके ऐसा धन है अर्थात् जीतनेवालेको मिल नही सकता, शकुनिके इस वचन को सुनकर कौरव नष्टमति न हो। दुर्योधन बोला, कि हे याज्ञसेनि! मै भीमसेन अर्जुन, नकुल और सहदेवके

दुर्योधन उवाच—भीमस्य वाक्ये तद्वदेवाऽर्जुनस्य स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव।
युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीशमनो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥ २०॥
अर्जुन उवाच—ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहे नः कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा।
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ २१॥
वैशम्पायन उवाच—ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २२॥
तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च।
भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥२३॥
ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वांस्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे ।
निवेदयामासतुरार्तवत्तदा ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २४॥
धृतराष्ट्र उवाच—हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम् ।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २५॥
एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी हितान्वेषी बान्धवानामपायात् ।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत्सान्त्वपूर्वं विमृश्यैतत्प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २६॥
धृतराष्ट्र उवाच— वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि ।

वाक्यमें स्थित हूं, ये लोग यदि युधिष्ठिर को अनीश कह दें, तो तू दासभावसे छूट जायगी । (६—२०)

अर्जुन बोले, हे कौरवो ! ये महात्मा कुन्तीपुत्र, धर्मराज जुएमे पहिले हमारे स्वामी थे, परन्तु जब अपने को हार गये तब किसके ईश हो सकते हैं । आप ही लोग जान लीजिये । (२१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, उसी समय महाराज धृतराष्ट्रके घरमें और यज्ञशालामें एक सियार (गीदड) आकर उच्चस्वर मे बोलने लगा ; तब ही गधे और भयानक पक्षी भी घोर शब्द करने लगे, उस शब्दको तत्त्वज्ञ विदुर और गान्धारीने सुना, भीष्म द्रोणाचार्य और विद्वान कृपाचार्य उच्च स्वरमे स्वस्ति स्वस्ति ऐसा कहने लगे । तब विद्वान् विदुर और गान्धारीने इसे घोर उत्पात जान दुःखी होकर राजा धृतराष्ट्रसे कहा; वह ऐसा बोले । (२२–२४)

धृतराष्ट्र बोले, हे मन्दबुद्धि दुर्विनीत दुर्योधन ! तू नष्ट हुआ, तू कुरुश्रेष्ठोंकी सभाके बीचमें स्त्रीसे ऐसे वचन कहता [illegible] कर धर्मपत्नी द्रौपदीसे। ऐसा कहकर दुःखसे बान्धवोंके हित चाहनेवाले तत्त्वबुद्धि धृतराष्ट्र सान्त्वनापूर्वक पाञ्चाली द्रौपदीसे ऐसा बोले, कि हे पाञ्चालि! तुम मेरी सब बहुओंमे उत्तम हो, तुम

वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच— ददासि चेद्वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः ।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममाऽऽत्मजम् ॥२९॥
राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नाऽन्यः पुमान्क्वचित् ।
राजभिर्लालितस्याऽस्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच— एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे ।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह । ॥ ३१ ॥
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ।

द्रौपद्युवाच— सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ ॥ ३२॥
यमौ च वरये राजन्नदासान्स्ववशानहम् ।

धृतराष्ट्र उवाच— तथाऽस्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ॥३३॥
तृतीयं वरयाऽस्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता ।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥ ३४ ॥

द्रौपद्युवाच— लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन्नाऽहमुत्सहे ।

धर्मपरायण और पतिव्रता हो, जो तुम्हारी इच्छा हो, हमसे वर मांगो।(२१—२७)

द्रौपदी बोली, हे भरतर्षभ! यदि आप मुझको वर देना चाहते हो, तो मै मागती हूं, दीजिये। सर्वधर्मकर्ता श्रीमान् युधिष्ठिर दासभावसे छूटें और मनस्वी मेरे पुत्र प्रतिविंध्यको कोई राजकुमार यह न कहे, कि ये दासपुत्र हैं; पहले राजपुत्र होकर राजोंमे लालित होकर इसको दासपुत्र होना अयोग्य है ।(२८–३०)

धृतराष्ट्र बोले, हे कल्याणि ! हे भद्रे! जो तुमने मागा, सो हमने दिया, परन्तु हमारे मनमें यह होता है, कि तुम एक वरदानके योग्य नहीं हो, अतएव दूसरा वर मांगो हम देंगे। (३१)

द्रौपदी बोली, हे राजन् ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन चारोंको धनुष और रथके समेत मागती हूं, ये दास भावसे मुक्त हों (३२)

धृतराष्ट्र बोले, हे महाभागे ! हे नन्दिनि ! जो तू चाहती, सो ऐसाही हो, अब तीसरा वर मागो, तुम मेरी सब बहुओंमे उत्तम और धर्मचारिणी हो। (३३- ३४)

द्रौपदी बोली, हे भगवन ! लोभपापका मूल है, मै उसे करना नहीं चाहती।

अनर्हा वरमादातु तृतीय राजसत्तम ॥ ३५ ॥
एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रियो वरौ ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३६ ॥
पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम ।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन्पुण्येन कर्मणा ॥३७॥ [२४६५]

इति श्री० महा० संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१॥

कर्ण उवाच— या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मताः ।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥ १ ॥
क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति ।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाऽभवत्॥ २ ॥
अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम् ।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाऽभवत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच— तद्वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः ।
स्त्री गतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

भीम उवाच— त्रीणि ज्योतींपि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत् ।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥

हे राजसत्तम ! मैं तृतीय वर मांगने में अयोग्य हूं, वैश्यको एकवर, क्षत्री और स्त्रीको दो, राजाको तीन और ब्राह्मणको सौ वर मांगनेका अधिकार है, हे राजन्! मेरे पति पापदासकर्मसे उत्तीर्ण हुए, अब अपने पुण्य कर्मोंसे अनेक कल्याणोंको प्राप्त कर लेंगे। (३५-३७)

सभापर्वमें इकहत्तर अध्याय समाप्त (२४६५)

सभापर्वमें बाहत्तर अध्याय।

कर्ण बोले कि हमने मनुष्योंमें जितनी रूपवती स्त्री सुनी थीं, उनमेंसे ऐसा कर्म किसीका भी नहीं सुना था, अत्यन्त क्रोधप्राप्त पाण्डव और कौरवोंको द्रौपदी ही शांतिरूप हुई; बिन नावके जलमें डूबते हुए पाण्डवोंको यह पाञ्चाली पार लेजानेको नौका होगयी। (१-३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, परम क्रोधी भीमसेनने जब सभा कौरवोंके मध्यमें ऐसे वचन सुने, पाण्डवोंको उनकी स्त्री गति भई तो दुर्मन होकर ऐसा कहने लगे। (४)

भीमसेन बोले, कि देवल मुनिने पुरुषमें तीन ज्योति लोक प्रकाशक कही है, पुत्र, कर्म और विद्या, इन तीनों ज्योतियोंसे प्रजा उत्पन्न हुई है, अपवित्र देह जब शून्य प्राणहीन और ज्ञातियोंसे च्युत होता है

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते।
देहे त्रितयमेवैतत्पुरुषस्योपयुज्यते ॥ ६ ॥
तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात्।
धनञ्जय कथं स्वित्स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच-- न चैवोक्ता न चाऽनुक्ता हीनतः परुषा गिरः।
भारत प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसंभावनाः स्वयम् ॥९॥

भीम उवाच— इहैवैतानहं सर्वान्हन्मि शत्रून्समागतान्।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान्हन्मि भारत ॥१०॥
किं नो विवादितेनेह किमुक्तेन च भारत।
अद्यैवैतान्निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥११॥
इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥ १२ ॥
सान्त्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाऽक्लिष्टकर्मणा।
स्विद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥ १४ ॥

तब ये ही तीनों पुरुषकी गति है। हे धनञ्जय! सो सभामें हमारी स्त्रीके स्पर्श करनेसे हमने इनकी ज्योति जान ली तब ऐसे पुत्र नीच कैसे न हों?(५-७)

अर्जुन बोले, कि हे भारत! उत्तम पुरुष नीचसे उक्त वा अनुक्त कठिन बातोंका उत्तर नहीं देते, महात्मा केवल सुकृतहीका स्मरण करते हैं,और को स्मरण भी नहीं करते। पूजनेयोग्य महात्मा स्वयंही प्रत्युपकारको जान लेते हैं। (८-९)

भीमसेन बोले,कि हे राजेन्द्र! हे भारत युधिष्ठिर! मैं यहांसे निकलता हूं, इन सब आये हुए शत्रुओंको समूल नाश करता हूं। हे भारत! इससे वादविवाद करनेमें क्या लाभ, अभी हम इनको मार देते हैं,आप सब पृथिवीका राज्य कीजिये। भीमसेन ऐसा कह कर छोटे तीनों भाइयोंके सग जैसे सिंह लोग क्षुद्र हरिणोंको देखते हैं, वैसेही सबको बार बार देखने लगे, उस समय अक्लिष्टकर्मा अर्जुनने उनकी ओर देखकर शान्त किया, परन्तु अंतःकरणमें जलने लगे सब कान

भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत्तस्य तन्मुखम् ।
युगान्तकाले संप्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥
युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम् ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥ १६ ॥
निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् ।
पितरं समुपातिष्ठद्धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥ [२४८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर उवाच— राजन्किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः ।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत ।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥
इदं चैवाऽवबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनात् ।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥
वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर ।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥

आदि कुछ मार्गोंसे भीमसेनके पतङ्गे निकलने लगे; उस समय उनका मुख टेढी भौंहयुक्त तथा ऐसा कठिण होगया जैसा युगके अन्तमें रूपधारी यमराजका हो, तब युधिष्ठिरने उस बाहुशालीको हाथसे निवारण किया और कहा, कि ऐसा मत करो शान्त होकर बैठो! इसप्रकार क्रोधसे लालनेत्रवाले महाबाहु भीमसेनको निवारण करके हाथ जोडकर धृतराष्ट्र पिताके पास गये। (१०–१७)

सभापर्वमें बाहत्तर अध्याय समाप्त।(२४८२)

सभापर्वमें तिहत्तर अध्याय।

युधिष्ठिर बोले कि हे महाराज! हे भारत! हमको आज्ञा दीजिये, हम आपका कौन प्रियकार्य करें, आप हमारे स्वामी है, हम सदा आपकी आज्ञामें रहना चाहते है। (१)

धृतराष्ट्र बोले, कि हे अजातशत्रो! तुम्हारा कल्याण हो, तुम निर्विघ्न कल्याणपूर्वक हमसे आज्ञा लेकर धनके समेत अपने राज्यका शासन करो, और मुझ इस उढे पथ्यरूप कल्याणमय शासनको स्मरण रखो, हे प्यारे युधिष्ठिर! तुम धर्मकी गतिको जानते हो तुम विनीत और वृद्धोंके उपासक हो। (२–४)

यतो बुद्धिस्ततः क्षान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ।
नाऽश्मनि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥
न वैराण्यभिजानन्ति गुणान्पश्यन्ति नाऽगुणान् ।
विरोधं नाऽधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम्॥७ ॥
संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ८ ॥
न चोक्ता नैव चाऽनुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः॥१०॥
असंभिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः ।
तथाऽऽचरितमार्येण त्वयाऽस्मिन्सत्समागमे ॥
दुर्योधनस्य पारुष्यं तत्तात हृदि मा कृथाः ॥११॥
मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकांक्षया ।
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत ॥ १२ ॥

हे भारत! जहां बुद्धि है, तहां शांति है, तुम शान्त हो जाओ क्योंकि शस्त्र काठहीमें लगता है, पत्थरमें नहीं; जो उत्तम पुरुष हैं सो वैरको नहीं जानते, गुणहीको देखते हैं, दोषोंको नहीं; विरोध भी नहीं करते, पराये कल्याण करनेवाले साधु सुकृतहीको स्मरण करते हैं, वैरको कदापि नहीं, द्वेष क्रियाको भी महात्मा नहीं देखते। (५–७)

हे युधिष्ठिर! विवादमें जो कठोर बात कहे, सो पुरुष अधम है, जो उसका उत्तरमें कठोर बोले सो मध्यम है, जो उसे सुनकर भी कुछ न कहेगा उत्तम पुरुष है, कही वा बिना कही कठोर बातोंके धीर पुरुष उत्तर नहीं देते, महात्मा लोग जाननेवाले आत्मज्ञान पाकर सुकृतही को स्मरण करते हैं, और किये हुए वैर कोभी भूल जाते हैं। साधुलोग धर्मकी मर्यादाको छोडनेवाले नहीं होते और प्रियदर्शन होते हैं, ऐसाही तुमने इस समागममें आचरण किया, हे तात! मेरी और गान्धारीकी ओर ध्यान देकर दुर्योधनकी कठोर बातोंको हृदयमें मत रहने देना। हे भारत! मुझ अन्धपर ध्यान देना, यह अपूर्व द्यूत मेरी अनिच्छाहीमें

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ।
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ॥ १३ ॥
अशोच्याः कुरवो राजन्येषां त्वमनुशासिता ।
मन्त्री च विदुरो धीमान्सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १४ ॥
त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ।
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः ॥ १५ ॥
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच— इत्युक्तो भरतश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥
ते रथान्मेघसङ्काशानास्थाय सह कृष्णया ।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥ [२५००]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ समाप्तं च द्यूतपर्व ॥

अथानुद्यूतपर्व ॥

जनमेजय उवाच—अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा सरत्नधनसंचयान् ।
पाण्डवान्धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥

हुआ है, हे राजन्! मित्रोंके देखनेकी और पुत्रोंके बल अबलको हम जानते है, इससे कौरवोंको कुछभी सोच नहीं है जिनके तुम शासन करनेवाले हो। जहां सब शास्त्र जाननेवाले बुद्धिमान विदुर मन्त्री है, तुममें धर्म अर्जुनमें धैर्य, भीमसेनमें पराक्रम पुरुषाग्रगण्य नकुल और सहदेवमें विनय है, वहां क्या शोच है। हे अजातशत्रो! आपका कल्याण हो, खाण्डव प्रस्थको जाओ, तुम्हारे भाईयोंमें स्नेह हो, तुम्हारा मन धर्मको धारण करे। (८–१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरत श्रेष्ठ! (जनमेजय) उस प्रकार से धृतराष्ट्रकी बात सुनकर और "जो आपने कहा, सो सब वैसाही होगा" यही प्रतिज्ञा करके भाइयोंके सङ्ग चले, वे लोग द्रौपदीके सङ्ग मेघके समान रथोंमें बैठकर नरश्रेष्ठ इन्द्रप्रस्थको प्रसन्न मनसे चले। (१७–१८) [२५००]

सभा पर्वमें तिहत्तर अध्याय और द्यूतपर्व समाप्त।

सभापर्वमें चौहत्तर अध्याय और अनुद्यूतपर्व।

जनमेजय बोले कि रत्नधनसञ्चय और बांधवोंके समेत सब पाण्डवोंको धृतराष्ट्रकी आज्ञा सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका मत कैसा हुआ? (१)

वैशम्पायन उवाच– अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन्दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
दुःशासन उवाच—दुःखेनैतत्समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद्गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥
अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चाऽपि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान्प्रतिमानिनः ॥ ५ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥
दुर्योधन उवाच— न त्वयेदं श्रुतं राजन्यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन्विद्वान्देवपुरोहितः ॥ ७ ॥
सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरा युद्धाद्बलाद्वापि प्रकुर्वन्ति तवाऽहितम् ॥ ८ ॥
ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान्संपूज्य पार्थिवान् ।
यदि तान्योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति ॥ ९ ॥

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! जब बुद्धिमान धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दी, तब सुनतेही दुःशासन शीघ्रतासे अपने भाई दुर्योधनके पास गया, हे भरतर्षभ ! वहां जाकर मंत्रियोंके समेत बैठे हुए राजा दुर्योधनसे दुःखित होकर यह वचन बोला। (२-३)

दुःशासन बोला, कि हे महारथलोगो! जो दुःखसे यह सब धन उपार्जन किया था, सो सब इस बुड्ढेने नष्ट कर दिया, यह सब धन शत्रुओंके वशमें होगया; तब दुर्योधन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनी यह सब पाण्डवोंके प्रतिमानी होकर परस्पर मन्त्रणा करके विचित्रवीर्यपुत्र मनीषी धृतराष्ट्रके पास शीघ्र जाकर मीठी वाणीसे ऐसा कहने लगे। (४—६)

दुर्योधन बोले, हे राजन्! आपने क्या बृहस्पतिकी कही यह नीति नहीं सुनी है जो देवताओंके विद्वान् पुरोहितने इन्द्रसे कही थी, हे शत्रुसूदन ! शत्रुलोग सब प्रकारसे नाश करने योग्य है, क्योंकि ये तुम्हारे युद्धादिसे अहित करेंगे सो हम लोग पाण्डवोंकेही धनसे राजालोगोंकी पूजा करते अर्थात पाण्डवोंका धन और राजोंको देकर यदि पाण्डवोंसे लडेंगे, तो क्या वे राजा हमारी ओर न होंगे ?

अहीनाशीविषान्क्रुद्धान्नाशाय समुपस्थितान् ।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥१०॥
आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः ।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ११॥
संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी ।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निश्वसंश्च निरीक्षते ॥ १२ ॥
गदां गुर्वी समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः ।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् १३॥
नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत् ।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिंगितैः ॥ १४ ॥
ते त्वास्थाय रथान्सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान् ।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान्सेनायोगाय निर्ययुः ॥ १५ ॥
न क्षंस्यन्ते तथाऽस्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥
पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः ।
एवमेतान्वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥
ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १८ ॥
त्रयोदशं सजनेन अज्ञाताः प्रतिवत्सरम् ।

[illegible] विषभरे क्रोधयुक्त नाशको उप[illegible] सर्पोंको कंठ और पीठमें धारण [illegible] कौन त्याग सकता है ? (७–१०) हे तात ! शस्त्र और रथ प्राप्त करके, [illegible] समान क्रुद्ध पाण्डव हमारा नाश [illegible]गे, अर्जुन महातूणीर धारण करके [illegible] धनुषको लेता हुआ, क्रोधसे [illegible] हुआ भीम भारी गदाको उद्यत [illegible] शीघ्रता सहित अपने रथमें बैठकर, [illegible] खड्ग और अर्धचन्द्र तुल्य ढाल लेकर, सहदेव और राजाभी इङ्गिताकार करते गये हैं, ऐसा हमने सुना है, वे लोग रथोंके वेगसे रथसमूहोंको पीछे करते हुए बहु शस्त्र सहित सेना इकट्ठी करनेको यहांसे गये हैं, वे हमसे बहुतही अपमानित हुए हैं क्षमा न करेंगे, भला द्रौपदीके [illegible] [illegible] कौन सह सकता है ? ([illegible] – १६)

हे पुरुषर्षभ ! हम वनवासके अर्थ पाण्डवोंसे जुआ खेलें, यही उनको वशमें करनेका एक उपाय है, जुएमें हारनेसे वे

वैशम्पायन उवाच— अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन्दु शासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
दुःशासन उवाच—दुःखेनैतत्समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद्गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥
अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चाऽपि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान्प्रतिमानिनः ॥५ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥
दुर्योधन उवाच— न त्वयेद श्रुतं राजन्यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन्विद्वान्देवपुरोहितः ॥ ७ ॥
सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरा युद्धाद्बलाद्वापि प्रकुर्वन्ति तवाऽहितम् ॥ ८ ॥
ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान्संपूज्य पार्थिवान् ।
यदि तान्योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति ॥ ९ ॥

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! जब बुद्धिमान धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दी, तब सुनतेही दुःशासन शीघ्रतासे अपने भाई दुर्योधनके पास गया, हे भरतर्षभ ! वहां जाकर मंत्रियोंके समेत बैठे हुए राजा दुर्योधनसे दुःखित होकर यह वचन बोला। (२-३)

दुःशासन बोला, कि हे महारथलोगो! जो दुःखसे यह सब धन उपार्जन किया था, सो सब इस बुड्ढेने नष्ट कर दिया, यह सब धन शत्रुओंके वशमें होगया; तब दुर्योधन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनी ये सब पाण्डवोंके प्रतिमानी होकर परस्पर मन्त्रणा करके विचित्रवीर्यपुत्र मनीषी धृतराष्ट्रके पास शीघ्र जाकर मीठी वाणीसे ऐसा कहने लगे। (४—६)

दुर्योधन बोले, हे राजन्! आपने क्या बृहस्पतिकी कही यह नीति नहीं सुनी है जो देवताओंके विद्वान् पुरोहितने इन्द्रसे कही थी, हे शत्रुसूदन ! शत्रुलोग सब प्रकारसे नाश करने योग्य हैं, क्योंकि ये तुम्हारे युद्धादिसे अहित करेंगे सो हम लोग पाण्डवोंकेही धनसे राजालोगोंकी पूजा करते अर्थात पाण्डवोंका धन और राजोंको देकर यदि पाण्डवोंसे लडेंगे, तो क्या वे राजा हमारी ओर न होंगे ?

अहीनाशीविषान्क्रुद्धान्नाशाय समुपस्थितान् ।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥१०॥
आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः ।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ११॥
संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी ।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निश्वसंश्च निरीक्षते ॥ १२ ॥
गदां गुर्वी समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः ।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् १३॥
नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत् ।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिंगितैः ॥ १४ ॥
ते त्वास्थाय रथान्सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान् ।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान्सेनायोगाय निर्ययुः ॥ १५ ॥
न क्षस्यन्ते तथाऽस्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥
पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः ।
एवमेतान्वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥
ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १८ ॥
त्रयोदशं सजनेन अज्ञाताः प्रतिवत्सरम् ।

कठिण विषभरे क्रोधयुक्त नाशको उपस्थित सर्पोको कंठ और पीठमें धारण करके कौन त्याग सकता है ? (७-१०)

हे तात ! शस्त्र और रथ प्राप्त करके, सर्पके समान क्रुद्ध पाण्डव हमारा नाश कर देंगे, अर्जुन महातूणीर धारण करके गाण्डीव धनुषको लेता हुआ, क्रोधसे देखता हुआ भीम भारी गदाको उद्यत करके शीघ्रता सहित अपने रथमें बैठकर, नकुल खड्ग और अर्धचन्द्र तुल्य ढाल लेकर, सहदेव और राजाभी इङ्गिताकार करते गये है, ऐसा हमने सुना है, वे लोग रथोंके वेगसे रथसमूहोंको पीछे करते हुए बहु शस्त्र सहित सेना इकट्ठी करनेको यहांसे गये है, वे हमसे बहुतही अपमानित हुए है क्षमा न करेंगे, भला द्रौपदीके क्लेशको कौन सह सकता है ? (११-१६)

हे पुरुषर्षभ ! हम वनवासके अर्थ पाण्डवोंसे जुआ खेले, यही उनको वशमें करनेका एक उपाय है, जुएमें हारनेसे वे

ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १९ ॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम् ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २० ॥
एतत्कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसंपदम् ॥ २१ ॥
दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च ।
सारवद्विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥ २२ ॥
ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद्व्रतम् ।
जेष्यामस्तान्वयं राजन्रोचतां ते परन्तप ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान्कामं व्यध्वगतानपि ।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच— ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः ।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २५ ॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः ।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥२६॥
अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम् ।

या हम बारहवर्ष पर्यन्त मृगछाल धारण करके वनमें बसें और तेरहवें वर्ष पुरुषमय स्थानमें रहें पर कोई जान न सके, यदि जान ले तो पुनः बारह वर्ष वनमें रहें, ऐसा जुआ पुनः होय; फांसे छोड कर पाण्डव लोग पुनः जुआ खेलें, हे राजन् ! हे भरतर्षभ ! हमको यह परम कर्तव्य है क्योंकि शकुनि अक्षविद्याको अच्छी प्रकारसे जानता है, हे राजन् ! हे परन्तप ! यदि वे लोग बारह वर्षतक वनवास रूप व्रतको धारण करेंगे, तो इतने राज्यमें हमारी जड जम जायगी, तब अपने मित्रोंको लेकर बलवान महासेना ठीक करके उनको जीत लेंगे, यह मन्त्र आपको प्रिय लगना उचित है।(१७-२३)

धृतराष्ट्र बोले, कि यदि वे दूरभी निकल गये हों तौभी उन्हें शीघ्र लौटाके ले आओ, पाण्डव आकर पुनः जुआ खेलें ।(२४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, उस समय द्रोण, भीष्म, कृप, सोमदत्त, बाह्लीक, विदुर, अश्वत्थामा, बलवान् युयुत्सु, भूरिश्रवा, और महारथ विकर्ण, ये सब एकबार कहने लगे, अब जुआ न होना चाहिये और अब शान्ति हो, परन्तु पुत्रप्रिय धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके बुलानेमें अर्थदर्शी कामरहित बान्धवोंकी कोईभी बात

अकरोत्पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥ २७ ॥ [२५२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच– अथाऽब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहार्दाद्धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्शिता ॥ १ ॥
जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ २ ॥
व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्याऽस्य कुरवस्तन्निबोधत ॥ ३ ॥
मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥४ ॥
मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद्धमेच्छान्तं च पावकम् ॥५ ॥
शमे स्थितान्को नु पार्थान्कोपयेद्भरतर्षभ ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढं स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥
शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद्राजन्कथंचन ॥ ७ ॥

बुलाया। (२५-२७) [२५०६]

सभापर्वमें चौहत्तर अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें पचहत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले,कि हे महाराज! अनन्तर शोकमे पीडित पुत्रस्नेहयुक्ता धर्मवर्ती गान्धारी राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहने लगी, जब यह दुर्योधन उत्पन्न हुआ था, तबही विदुरने कहा था कि इस कुलकलङ्कको मार डालो। हे राजन! जो उत्पन्न होतेही शियारके समान शब्द करने लगा था, कौरवोंमें निश्चय करके यह कुलका नाशक है, हे भारत! हे प्रभो! आप अपने दोषसे मत डूबिये, बालकोंके समान बुद्धि धारण मत कीजिये। (१-४)

अब आप घोर कुलक्षयमे कारण मत हूजिय,कौन वैध वे पुलको तोडता कौन बुझी आगको धौंकता है, हे भरतर्षभ! शान्त पाण्डवोंको कौन कुपित कर सकता है, आप अजमीढवंशमें उत्पन्नको स्मरण करते कुन्तीपुत्रको कौन कुपित कर सकता है और मैभी स्मरण कराऊंगी। हे राजन्! दुर्बुद्धिको कल्याण वा हानि शास्त्रभी नहीं जता सकता है

त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयं मद्वचनात्त्यज्यतां कुलपांसनः ॥ ८ ॥
तथा ते न कृतं राजन्पुत्रस्नेहान्नराधिप ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥ ९ ॥
शमेन धर्मेण नयेन युक्ता या ते बुद्धिः साऽस्तु ते मा प्रमादीः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥
अथाऽब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तः कामं कुलस्याऽस्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥ ११ ॥
यथेच्छन्ति तथैवाऽस्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥ [२५३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच वचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १ ॥
उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाहेति भारत ॥ २ ॥

और बूढा बालकोंके ऐसी बुद्धिवाला नहीं होता। तुम्हारे पुत्रोंको तुम्हारी आज्ञामे रहना चाहिये, तुमसे भिन्न होकर वे नष्ट होंगे। इसही लिये इस कुलकलङ्कको मेरे वचनसे तुम त्यागदो। (७–८)

परन्तु हे नराधिप! तुमने पुत्रस्नेह मे विदुरका कहना नहीं माना, उसका कुलनाशरूप यह फल अब प्राप्त भया, मनमे धर्मसे और नीतिसे युक्त जो तुम्हारी बुद्धि है, सो वैसीही रहनी चाहिये, उन्मत्त मत हो। जो लक्ष्मी दुष्ट कर्मसे प्राप्त होती है, सो नाशकारिणी है, और जो उत्तमतासे प्राप्त होती है, वह प्रौढ है, पुत्र और पौत्र पर्यन्त स्थिर रहती है। (९–१०)

हे महाराज! यह सुनकर महाराज धृतराष्ट्र धर्मदर्शिनी गान्धारीसे बोले, कि, भलेही उस कुलका नाश होजाय, मैं निवारण नहीं कर सकता हूं, उनकी जैसी इच्छा है वे वाही हो, पाण्डव पुनः आवें और उनके सङ्ग जुआ खेलें। (११–१२)

सभापर्वमें पचहत्तर अध्याय समाप्त। [२५३९]

सभापर्वमें छिहत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तब बहुत दूर गये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी

युधिष्ठिर उवाच— धातुर्नियोगाद्भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् ।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्य पुनर्यदि ॥ ३ ॥
अक्षद्यूते समाह्वान नियोगात्स्थविरस्य च ।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच- असंभवे हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥
इति ब्रुवन्निवबृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥ ६ ॥
विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः ।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ७ ॥
यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये ।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ८ ॥
शकुनिरुवाच— अमुञ्चत्स्थविरो यद्वो धन पूजितमेव तत् ।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

सूत ऐसा कहने लगा, हे राजन् युधिष्ठिर! आपके पिताने ऐसा कहा है कि सभा उपस्थित है, यहां आओ और अक्ष फेंककर जुआ खेलो। (१ २)

युधिष्ठिर बोले, कि प्रारब्धके बल पुरुष शुभ अशुभ सबको प्राप्त करता है, यदि पुन. हमको जुआ खेलना हो तो यह निश्चय है कि पुरुष शुभ और अशुभ कर्मसे निवृत्त नहीं हो सकता है, बूढे की आज्ञासे पुनः जुवेमें जाना है, यद्यपि मै जानता हूं कि, जुआ नाशकर है तथापि निवृत्त होनेसे असमर्थ हूं। (३-४)

श्रीवैशम्पायन जी बोले, कि यद्यपि सुवर्णका जन्तु होना असंभव है, तथापि राम हिरनके प्रति लोभी हुए, इससे निश्चय होता है कि, जिन पुरुषोंका पराभव होनेको होता है, उनकी बुद्धि प्रायः विपरीत हो जाति है। इस प्रकारसे कहते हुए और शकुनीकी मायाको जानते हुए भी युधिष्ठिर भाइयोंके समेत पुनः जुएके स्थानमे पहुंचे। वे पांचों महारथ भरतकुल-सिंह अपने मित्रोंके हृदयोंको कंपाते हुए पुन उस सभामें प्राप्त हुए। दैवसे पीडित सर्व लोकविनाशार्थ पुनः जुएके निमित्त सुखसे बैठे। (५-८)

शकुनि बोले, कि हे भरतर्षभ युधिष्ठिर! जो धन बूढेने आपको दे दिया, सो तुमनेभी मान लिया, अब सो महाधन एकही दावपर इस प्रकार से लगाइये, यदि आप लोग जीते तो हम लोग

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ १० ॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ ११ ॥
अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १२ ॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १३ ॥
त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥ १४ ॥
अनेन व्यवसायेन सहाऽस्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १५ ॥
अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा ।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात्सर्व एव हि ॥ १६ ॥

सभ्या ऊचुः — अहो धिग्बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद्भयम् ।
बुद्ध्या बुध्येन्नवा बुध्येदयं वै भरतर्षभ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच — जनप्रवादान्सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात्पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥ १८ ॥

हरिणका चर्म ओढकर बारहवर्ष वनमें रहें और तेरहवें वर्ष मनुष्यमय स्थानमें छिपकर रहें यदि कोई जानले तो पुनः बारहवर्ष वनमें रहें। अथवा यदि हम जीतें तो आप भाइयोंके सहित मृगचर्म धारण करके बारह वर्ष वनमें रहें और तेरहवें वर्षमें पुरुषमय स्थानमें छिपकर एक वर्ष वास करें यदि प्रगट हो जाय तो पुनः वनमें बारह वर्ष रहें, जब ऐसे तेरह वर्ष बीत जाय तो पुनः अपना राज्य पावें हम या आप, हे युधिष्ठिर! हे भारत! इसी नियमसे पुनः पाशा फेंक कर जुआ खेलिये। तब सब सभासद घबडा कर हाथ उठा कर वेगसे कहने लगे। (९--१६)

सभासद बोले, कि ओः धिक्कार है बान्धवोंको, जो युधिष्ठिरको उपस्थित भय बता नहीं देते हैं, यह अपनी बुद्धिसे समझें वा न समझें (१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इस प्रकारसे महाराज युधिष्ठिर अनेक प्रकारके पुरुषोंके दुर्वचन सुनते हुए भी लज्जा और धर्मके वशमें होकर पुनः द्यूत खेलने लगे।

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात्कुरूणामिति चिन्तयन् १९॥

युधिष्ठिर उवाच— कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥ २०॥

शकुनिरुवाच — गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम् ।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः ॥२१॥
एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ॥ २२ ॥
त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा ।
अनेन व्यवसायेन दीव्यामः पुरुषर्षभाः ॥ २३ ॥
समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ॥ २४ ॥
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २५ ॥ [२५६४]

इतिश्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ।

वैशम्पायन उवाच— ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर जानते भी थे तौभी यह निश्चय करके कि कुरुवंशका नाशकाल समीप है, पुनः जुआ खेलने लगे। १८-१९

युधिष्ठिर बोले, हे शकुने ! मेरे समान धर्मको पालनेवाला राजा बुलाये जाकर निवृत्त नहीं होसकता है, अतएव मैं तुमसे जुआ खेलता हूं । (२०)

शकुनी बोले, कि हे पाण्डवो ! गाय, घोडा बैल अनन्त बकरी भैंसे हाथी कोष सुवर्ण सब दासी दास यह सब हम एक ही दावपर वनवासार्थ लगाते हैं, तुम या हम जो हारै सो वनमें रहे और तेरह वे वर्ष मनुष्यमय स्थानमें छिपकर रहें। हे पुरुषर्षभ ! हम इसी प्रतिज्ञामें जुआ खेलते हैं; हे भारत ! एकही बारके पाशा फेकनेसे ऐसा हो जाय । युधिष्ठिरने यह सब स्वीकार किया। और शकुनीने पाशा उठाया, बस शकुनीने कह दिया, कि युधिष्ठिर हार गये । (२१—२५)

सभापर्वमें छिहत्तर अध्याय समाप्त । [२५६४]

सभापर्वमें सतहत्तर अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, तब हारे हुए कुन्तीपुत्रोंने वनवास के वास्ते दीक्षित होकर क्रमसे चर्म और वस्त्रोंको धारण

अजिनैः संवृतान्दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान् ।
प्रस्थितान्वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः ।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ॥ ३ ॥
अद्य देवाः संप्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः ।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद्वयं परैः ॥ ४ ॥
नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥५॥
धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान्प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ६ ॥
चित्रान्सन्नाहानवमुञ्चन्तु चैषां वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति ।
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः ॥ ७ ॥
न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा ।
ज्ञास्यन्ति तेऽऽत्मानमिमेऽद्य पाण्डवा विपर्यये षण्ढतिला इवाऽफलाः॥८
इदं हि वासो यदि वेदृशानां मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥
महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।

किया। शत्रुओंको दमन करनेवाले पाण्डवोंको राज्यसे भ्रष्ट और चर्मधारी वनको जाते हुए देखके दुःशासन बोला, कि महात्मा दुर्योधनका राज्य अखण्ड हुआ पाण्डवलोग हारकर महाविपतको प्राप्त हुए है। आज सब देवता हमारे ऊपर प्रसन्न हुए है, क्योंकि हमलोग शत्रुओंसे गुणमें बडे, अवस्थामें बडे और प्रशंसाके योग्य है। (२—४)

कुन्तीपुत्र अनन्त नरकमें बहुत काल के वास्ते गिराये गये, राज्य और सुखसे सदाके लिये रहित होगये। जो धनके अभिमानसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हंसते थे वही पाण्डव धनरहित होके वनको जायंगे। विचित्र कवच और प्रकाशयुक्त दिव्य वस्त्र इनके उतारे जाय, यह सब मृगचर्म पहिरे जैसा शकुनिके जुएमें इनको प्राप्त हुआ है। जो सदा यही बुद्धि रखतेथे कि हमारे समान जगतमें कोई नहीं है वह पाण्डव अब अपने आपको नपुंसक और वीर्यहीन समझे। जैसे मृगचर्म यज्ञोंमें महात्मा लोग धारण करते है वैसेही अबलवान् पाण्डवोंके मृगचर्मको देखिये। (५–९)

र्हि सुकृतं नेह किंचित्क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥१० ॥
प्रावारानजिनोत्तरीयान्हष्ट्वाऽरण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ॥११॥
हि सर्वे कुरवः समेताः क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
वृणीष्वैकतम पतित्वे न त्वां नयेत्कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥
यथाऽफला षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगा ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥ १३ ॥
पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य मोघः श्रमः पण्ढतिलानुपास्य ।
नृशंसः परुषाणि पार्थानश्रावयद्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥
श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।
चैन सहसैवोपगम्य सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥
वाच— क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥ १६ ॥
यथा तुदसि मर्माणि वाक्छरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽह कृन्तन्मर्माणि संयुगे ॥ १७ ॥
ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।

...न् राजा द्रुपदने पाण्डवोंको देके कुछ भला कार्य नही ...श्चर्य है कि याज्ञसेनीके नपुं...नन्दन पति हो!हे द्रौपदि!वनमें ...स्त्र मृगचर्मधारी निर्धन तथा ...हित पाण्डवोंको देखकर तू क्या ...गी ? यहा पर और जिसे तेरी ...उसे पति कर ले। यह सब ...जो यहा इकट्ठे है, इनमेंसे ...पति बनाले, जिससे तेरा समय ...जाय। जैसे नपुंसक मनुष्य नि-...से धानकी भूमी निष्फल होती ...पाण्डव निष्फल हैं। नपुसककी सेवा करनेसे केवल कष्टही होता है, पाण्डवोंकी सेवा करनेसे तुझे क्या मीलेगा ? ऐसे निर्लज्ज वाक्य पाण्डवोंको धृतराष्ट्रके पुत्रने सुनाये। महाक्रोधी भीमसेन उन वचनोको सुनके ऊंचे स्वाससे उसकी निन्दा करके ऐसे बोले, जैसे हिमाचलका सिह सियारको दबाता है। (१०—१५)

भीमसेन बोले, कि दुष्ट और पापियोंके समान तू निष्फल बकता है, शकुनिकी विद्यामे राजोंके बीचमें गाल बजाता है। जैसे तू वचनके बाणसे हमको बींधता है वैसेही मै युद्धमें तुझे उनका स्मरण कराऊंगा

गोमारः सानुबन्धांस्तानेताऽस्मि यमसादनम् ॥१८॥

वैशम्पायन उवाच —एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं गौर्गौरिति स्माह्वयन्मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥

भीमसेन उवाच— नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति॥ २० ॥
मैव स्म सुकृताँल्लोकान्गच्छेत्पार्थो वृकोदरः।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे॥२१॥
धार्तराष्ट्रान्रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम्।
शमं गन्तास्मि न चिरात्सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात्।
गतिं स्वगत्याऽनुचकार मन्दो निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥
नैतावता कृतमित्यब्रवीत्तं वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं संस्मार्याऽहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥
एवं समीक्ष्याऽऽत्मनि चावमानं नियम्य मन्युं बलवान्स मानी।
राजानुगः संसदि कौरवाणां विनिष्क्रामन्वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥

भीमसेन उवाच —अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनञ्जयः।

जो लोग क्रोध वा लोभके वशमें होके तेरी रक्षा करने आवेंगे उनको साथियोंके सहित यमराजके घर भेजूंगा। १६-१८

श्रीवैशम्पायन जी बोले, कि मृगछाल पहिने भीमसेनके ऐसे कहने पर दुःशासन कुरुवीरोंके बीचमें निर्लज्ज होके नाचकर 'गौ गौ' कहने लगा। भीमसेन बोले, कि हे निर्लज्ज! तू कठोर बातें कह सकता है, क्योंकि तेरे बिना कौन ऐसा है जो छलसे धन लेकर उन्माद करे। यदि तेरी छातीको फाड़कर भीमसेन खून न पिये तो उत्तम लोकको प्राप्त न हो। धृतराष्ट्रके पुत्रोंको सब धनुर्धारियोंके सम्मुख मारकर शीघ्र ही शान्तिको पाऊंगा, यह मैं सत्य तुमसे कहता हूं। (१९—२२)

श्रीवैशंपायनजी बोले, जब पाण्डव लोग सभासे चले तब राजा दुर्योधन सिंहके समान गतिवाले भीमसेनकी चालके समान चालसे चलने लगा। भीमसेनने तिरछा होके कहा, हे मूढ! इससे क्या होता है, शीघ्रही तुझे साथियोंके सहित मारकर स्मरण कराऊंगा। ऐसे अपना अपमान देखके वह बलवान् अपने क्रोधको रोककर राजा युधिष्ठिरके पीछे चलते हुए सभाके बीचमें भीमसेनने यह वाक्य कहा। (२३—२५)

शकुनिं चाऽक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥
इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद्वचः ।
सत्यं देवा करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥
सुयोधनमिमं पापं हन्ताऽस्मि गदया युधि ।
शिरः पादेन चाऽस्याऽहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥
वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाताऽस्मि मृगराडिव ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच— नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम् ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद्भविष्यति ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच— दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच— असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम् ।
भीमसेन नियोगात्ते हन्ताऽहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥
अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्ताऽस्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥
ये चाऽन्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥

भीमसेन बोले, कि मैं दुर्योधनको मारूंगा, अर्जुन कर्णको मारेंगे, पाशोंके छली शकुनिको सहदेव मारेंगे। फिर मैं सभाके बीचमें यह बडी बात कहता हूं, जब हमारा युद्ध होगा तब देवता उसे सत्य करेंगे। युद्धमें इस पापी दुर्योधन को गदासे मारूंगा, इसके सिरको अपने पैरसे पृथ्वीपर कुचलूंगा। इस वचनवीर कडुवादी दुःशासनके खूनको सिंहके समान पीऊंगा। (२६-२९)

अर्जुन बोले, सज्जनोंके बीचमें भीमसेन जो कहते हैं, वह केवल वचनसेही नहीं कहते वरण अबसे चौदहवें वर्षमें जो होगा उसे आप लोग देखेंगे। भीमसेन बोले, दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और चौथे दुःशासनका रुधिर पृथिवी पीवेगी। अर्जुन बोले,हे भीमसेन! निन्दा करनेवाले, दुर्बुद्धिका मार्ग दिखानेवाले, कुबुद्धि और बकवादी कर्णको युद्धमें मैं मारूंगा। भीमकी प्रसन्नताके वास्ते अर्जुन प्रतिज्ञा करने लगे, कि कर्णके सङ्गियोंको मैं बाणोंसे मारूंगा। जो और राजा लोग बुद्धिके भ्रमसे मेरे साथ युद्ध करेंगे, उन सबको बाणोंके द्वारा मैं यमघरको भेजूंगा।

चलेद्धि हिमवान्स्थानान्निष्प्रभः स्याद्दिवाकरः।
शैत्यं सोमात्प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद्यदि ॥ ३५ ॥
न प्रदास्यति चेद्राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद्भविष्यति ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान्माद्रवतीसुतः।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत्।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥
सहदेव उवाच- अक्षान्यान्मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥
यथा चैवोक्तवान्भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम्।
कर्ताऽहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥
हन्ताऽस्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम्।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥ ४१ ॥
सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥
नकुल उवाच— सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन्धृतराष्ट्रजैः।

यदि हिमाचल अपने स्थानसे चलायमान हो जाय, सूर्य प्रकाश रहित हो जाय, चन्द्रमाकी शीतलता नष्ट हो जाय। आजसे तेरहवें वर्षमें यदि दुर्योधन आदर पूर्वक हमको राज्य न देगा तो यह सब सत्य होगा। (३०-३६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, अर्जुनके ऐसे कहने पर श्रीमान् माद्रीनन्दन सहदेव भारी भुजाको हिलाकर क्रोधसे लालनेत्र करके सर्पके समान श्वास लेते हुए शकुनिको मारनेके इच्छुक होके ऐसा वचन बोले। हे मूढ ! हे गान्धार देशीय जनोंके यशनाशक ! तू जिनको अक्ष मानता है, वे अक्ष नहीं हैं परंतु युद्धमें प्रयुक्त तीक्ष्ण बाण ही हैं। भीमसेनने बन्धुबान्धवोंके सहित तेरे वास्ते वचन कहा, मैं उस कर्मको करूंगा। हे शकुनि! यदि तू क्षत्रियोंके धर्मानुसार युद्धमें खडा होगा, तो भाइयों सहित युद्धमें शीघ्रही तुझे मारूंगा। (३७-४१)

हे राजन् ! सहदेवका वचन सुनके, परम सुन्दर नकुल यह वचन बोले, राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदीको इस जुएमें धृतराष्ट्रके जिन पुत्रोंने दुर्योधनकी

यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥
तान्धार्तराष्ट्रान्दुर्वृत्तान्मुहूर्तात्कालचोदितान् ।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥
निदेशाद्धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि न चिरादिव ॥ ४५ ॥
[illegible]उवाच– एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥ [२६१०]

[illegible] महाभारते [illegible] सभापर्वणि [illegible]
[illegible]

[illegible]उवाच—आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम्
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १ ॥
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥ २ ॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान्सभासदः ।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥
[illegible]उवाच–न ते किंचिदथोचुस्ते ह्रिया सन्तो युधिष्ठिरम् ।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥

विदुर उवाच— आर्या पृथा राजपुत्री नाऽरण्यं गन्तुमर्हति ।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥५॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि ।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥

पाण्डवा ऊचुः— तथेत्युक्त्वाऽब्रुवन्सर्वे यथा नो वदसेऽनघ ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ॥ ७ ॥
यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः ।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद्विधत्स्व महामते ॥ ८ ॥

विदुर उवाच— युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ।
नाऽधर्मेण जितः कश्चिद्व्यथते वै पराजये ॥ ९ ॥
त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः ।
हन्ताऽरीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥ १० ॥
संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः ।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥ ११ ॥
अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः ।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥ १२ ॥

वृद्धा है, नित्यही उन्हे सुख करना उचित है, इस कारणसे वह वनको जानेके योग्य नही है। वह आदरके साथ यहीं मेरे घर रहेंगी, हे कुन्तीपुत्रो ! आपलोग इसे समझो आपका सदा कल्याण हो। (४ — ६)

पाण्डव बोले; जैसा आप कहते है, आपको वैसाही उचित है, आप हमारे चचा है, पिताके समान है। हे विद्वन्! जैसी आप आज्ञा करते है, वैसाही हम करेंगे, आप हमारे गुरु है, हम आपके सेवक है और जो हमारे करने योग्य हो वही आप बतलाते। (७ – ८)

विदुर बोले, हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यही मेरा उपदेश समझो, कि कोईभी, अधर्मसे हारा हुआ अपनी हारसे दुःखी नहीं होता। तुम धर्मको जानते हो, युद्धमे जीतनेवाले अर्जुन है, भीमसेन शत्रुओंको मारनेवाले, नकुल धन इकट्ठा करनेवाले, नियममे चलनेवाले सहदेव, ब्रह्मको जाननेवालोंमे उत्तम धौम्य है। धर्म और अर्थमे चतुर धर्म करनेवाली द्रौपदी है। आप लोग आपसमे सबसे सब प्यारे है, सब सुन्दर है, शत्रु आप लोगोंमें फूट नहीं डाल सक्ता, आपको यहां कौन नहीं चाहेगा ? यही आपका

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत ।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणाऽपि समोऽच्युत ॥ १३ ॥
हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा ।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥ १४ ॥
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शम्भुना ।
अश्रौषीरसितस्याऽपि महत्यैरञ्जनं प्रति ॥ १५ ॥
कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः ।
द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥ १६ ॥
मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥ १७ ॥
शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन्धर्मोपसेवया ।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥ १८ ॥
तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे ।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥१९ ॥
भूमेः क्षमां च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् ।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चाऽऽत्मसंपदम् ॥२०॥

सब कल्याण है, जो आप मनको स्थिर रखते है, शत्रु चाहे इन्द्रके तुल्य भी क्यों न हो, इसे नहीं जीत सक्ता है। (९-१३)

पहिले समयमें हिमाचल पर्वतपर मेरुसावर्णिने आपको शिक्षा दी थी, हास्तिनापुरमें कृष्णद्वैपायन व्यासने आपको शिक्षा दी थी, भृगुतुङ्ग क्षेत्रमें परशुरामने, दृषद्वती नदीके तट पर महादेवने, अञ्जन पर्वतमें महर्षि असितका उपदेश आपने सुना है। कल्माषी नदीके तटपर आप भृगु मुनिके शिष्य हुए थे; नारद आपको सदा देखते है। आपको यह पुरोहित धौम्य ऋषि है। वह ऋषियोंसे पूजी बुद्धि परलोकमें भी तुम्हें त्याग न करे, हे पाण्डुपुत्र ! अपने बुद्धिसे इलाके पुत्र पुरूरवाको जीत लिया है। और बलसे अन्य राजाओंको जीता है, धर्मके आचरणसे ऋषियोंको जीता है, मनकी धारणासे इन्द्रकी जय, क्रोधको जीतनेमें यमराज की जय, दानमें कुबेरकी जय, और इन्द्रियोंको वश करनेमें वरुणकी जय आपको प्राप्त हो ! परोपकारके वास्ते अपने शरीरकोभी देदना, चन्द्रसे सौम्यभाव, जलसे जीना, भूमिसे क्षमा, सम्पूर्ण तेज सूर्यमण्डलसे, वायुसे बल और सम्पूर्ण प्राणियोंसे तुम्हे

अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रष्टास्मि पुनरागतान् ।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥ २१ ॥
यथावत्प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ २२ ॥
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
न हि वो वृजिनं किंचिद्वेद कश्चित्पुरा कृतम् ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच– एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः॥ २४ ॥ [२६३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच– तस्मिन्संप्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम् ।
आपृच्छद्भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः॥१॥
यथार्हं वन्दनाश्लेषान्कृत्वा गन्तुमियेष सा ।
ततो निनादः सुमहान्पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥
कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् ।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद्वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् ।

सम्पत्ति प्राप्त हो। (१४–२०)

तुम निरोग रहो, तुम्हारा कल्याण हो, फिर तुम्हें लौटकर आये हुओंको मैं देखूं-गा। हे युधिष्ठिर ! धर्ममें तथा सब कामोंमें उचित कार्य करना। हे भरतवंशी! जगत में तुम्हारा कल्याण हो। कृतार्थ और कल्याणयुक्त तुमको फिर आया हुआ हम लोग देखें तुम्हारे पिछले दुःखोंको कोई नहीं जानता है। श्रीवैशम्पायनजी बोले, विदुरके ऐसे कह जाने पर सत्यप्रण युधिष्ठिरने तथास्तु कहके भीष्म और द्रोणाचार्यको प्रणाम करके प्रस्थान किया। (२१—२४) [२६३४]

सभापर्वमें अठहत्तर अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें उनासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि युधिष्ठिर के चलने पर द्रौपदी, यशोवती कुन्ती-की वन्दना तथा और स्त्रियोंसे मिलकर चलने लगी, उस समय पाण्डवोंके रनिवासमें हाहाकारका शब्द भर गया, कुन्तीभी द्रौपदीको जाती हुई देखकर बहुत सन्तापयुक्त शोकसे विह्वल वाणीसे कष्टके साथ यह बोली। (१–३)

हे पुत्रि ! इसको पाकर तुमको

स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ॥ ४ ॥
न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तृन्प्रति शुचिस्मिते ।
साध्वी गुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥
सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयाऽनघे ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥
भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैकृतं नोपजायते ।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥ ७ ॥
सहदेवश्च मे पुत्रः सदाऽवेक्ष्यो वने वसन् ।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नाऽयं सीदेन्महामतिः ॥ ८ ॥
तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥ ९ ॥
तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथाऽपश्यत्सुतान्सर्वान्हृताभरणवाससः ॥ १० ॥
रुरुचर्मावृततनून्ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।
परैः परीतान्संहृष्टैः सुहृद्भिश्चाऽनुशोचितान ॥ ११ ॥
तदवस्थान्सुतान्सर्वानुपसृत्याऽतिवत्सला ।
स्वजमानाऽवदच्छोकात्तत्तद्विलपती बहु ॥ १२ ॥

शोक करना न चाहिये, क्योंकि तुम स्त्रियोंके धर्मको जाननेवाली, शील और आचारसे युक्त हो। हे शुचिस्मिते ! तुम्हे मै क्या उपदेश करूं, तुम आपही साध्वी और गुणयुक्त हो, तुमने दोनों कुलोंको आभूषित किया। हे पापवर्जिते! यह कुरुलोग भाग्यवान् है जो तुमने इन्हे जलाया नही। तुम सुखसे जाओ मेरे ध्यानसे तुम्हारी वृद्धि हो। होनेवाले कार्योंमें स्त्रियोंको विकार नहीं होता है, बडे जनोंके धर्मसे तुम रक्षित हो, शीघ्रही तुम्हे कल्याण प्राप्त होगा, मेरे पुत्र सहदेव की वनमें सदा रखवाली करना, जिससे यह दुःख पाके शोक न करे। (४-८)

देवी द्रौपदी तथास्तु कहके नेत्रोंसे आंसू बहाती हुई रजसे भरे एक वस्त्रको पहिने हुए, सिर खोले चली। उस रोती चिल्लाती हुईके पीछे पीछे कुन्तीभी चली। पश्चात् अलङ्कार और वस्त्र रहित, मृगचर्म ओढे हुए, लज्जासे कुछ नीचा मुख किये हुए, अपने पुत्रोंको, प्रसन्नमुखवाले शत्रुओंसे और शोकयुक्त मित्रोंसे युक्त देखा। उस दशामें पुत्रोंको देखकर मातृ-प्रेमसे पुत्रोंको गलेसे लगा-

कुन्त्युवाच— कथं सद्धर्मचारित्रान्वृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान्दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान्सदा ॥ १३ ॥
व्यसनं वः समभ्यागात्कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्यापध्यानजं चेदमागः पश्यामि वो धिया ॥ १४ ॥
स्यात्तु मद्भाग्यदोषोऽयं याऽहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥ १५ ॥
कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥ १६ ॥
यद्येतदहमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम् ।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥ १७ ॥
धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा ।
यः पुत्राधिमसंप्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत्प्रियाम् ॥ १८ ॥
धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् ।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥ १९ ॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाऽहमभिसन्धिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ॥ २० ॥
पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान्प्रियान्सतः ।

कर बहुत विलाप करने लगी । ९-१२

कुन्ती बोली, सत्यधर्मको करनेवाले शुद्ध-वृत्ति और स्थितिवालोंको, दृढभक्त तथा देवताओंकी पूजा करनेवालोंको दुःख कैसे प्राप्त हुआ, यह कैसी उलटी गति हुई । यह किसके क्रोधका पाप तुम्हारी बुद्धिसे मैं देखती हूं । यह मेरे ही भाग्यका दोष है, जो मैंने उत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी दुःख भोगनेके वास्ते तुम्हें उत्पन्न किया था । तुम लोग सम्पत्तिके बिना वनमें कैसे बसोगे; वीर्य, सत्त्व, बल, उत्साह और तेजसे भरे कैसे दीन बनोगे । यदि मैं जानती कि वनमें रहना ही तुम्हारा निश्चय है, तो पाण्डुके मरनेके पश्चात् शतशृङ्ग पर्वतसे हस्तिनापुरमें न आती । मैं तुम्हारे तप और बुद्धियुक्त पिताको धन्य मानती हूं जो पुत्रशोकसे प्रथमही स्वर्गको चले गये । धर्मज्ञ कल्याणी माद्रीको भी मैं धन्य मानती हूं जो इन्द्रियोंसे जाननेके अयोग्य परम गतिको प्राप्त होगई । रति मति और गतिमें जो सदासङ्ग रहनेवाली जिसे केवल जीना ही प्यारा है, मुझ दुःखिनीको धिक्कार है । (१३-२०)

साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् २१ ॥
अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन्धात्रा किं नु प्रमादतः ।
ममाऽन्तो नैव विहितस्तेनाऽऽयुर्न जहाति माम् ॥ २२ ॥
हा कृष्ण द्वारकावासिन्क्वाऽसि सङ्कर्षणानुज ।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥२३॥
अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः ।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् २४॥
इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः ।
नाऽर्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥२५॥
सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु ।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥ २६ ॥
हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे ।
पुत्रान्विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥ २७ ॥
सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः ।
शरीरादपि माद्रेय मां मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥ २८ ॥
व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसन्धिनः ।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ॥ २९ ॥

हे पुत्रो ! तुम्हें नहीं छोडूंगी वनको मैंभी चलूंगी, हाय ! द्रौपदि ! मुझे क्यों छोडती है ? प्राणोंका धर्म नाशवान है, तो ब्रह्माने किस प्रमादमें मेरा अन्त नहीं बनाया, जो अवस्था मुझे नहीं छोडती है । हा ! द्वारकावासी ! बलरामके अनुज ! मुझे और इन नरोत्तमोंको दुःखसे क्यों नहीं बचाते हो ? मनुष्य तुम्हें अनादि और अनन्त समझके तुम्हारा ध्यान करते है, उनकी तुम रक्षा करते हो यह कहावत अब झूठी कैसे होगई ? यह लोग सद्धर्म, माहात्म, यश और बलमें पूर्ण है दुःख भोगनेके योग्य नहीं है, इन पर दया कीजिये । नीतिके तत्वार्थोंको जाननेवाले कुलनाथ भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके बैठे हुए यह विपद कैसे आगई । हाय महाराज पाण्डो ! तुम कहा हो ? शत्रुओंसे हारे हुए साधुपुत्रोंको क्यों त्यागते हो ? हे सहदेव ! तुम लौट आओ ! तुम मुझे प्राणसेभी प्यारे हो, हे माद्रीनन्दन ! कुपुत्रके समान मुझे मत त्यागो । यदि सत्यको पालनेवाले तेरे भाई जाते है तो जाने दे. तू मेरी

वैशम्पायन उवाच- एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥
विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।
प्रावेशयद्गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥ ३१ ॥
धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत् ।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून्भृशम् ।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ॥ ३३ ॥
राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा ।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ३४ ॥
स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः ।
क्षत्तुः संप्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ ३५ ॥
ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत्संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ ३६ ॥ [२६७०]

इति श्रीमहाभारते० वैयासिक्यां सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि द्रौपदीकुन्तीसंवादे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन उवाच- तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १ ॥

यहीं प्राप्त करो। (१९-२९)

वैशम्पायन बोले, कि इस प्रकारसे विलाप करती हुई कुन्तीको प्रणाम करके, दुःखसे पूरित हो पाण्डवलोग वनको चले गये। विदुर उस दुःखिनी कुन्तीको समझाकर और आपभी दुःखी उनके घरमें ले गये। धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी स्त्रियां जुएमें द्रौपदीके वस्त्र खींचने और उनको जानेकी कथा सुनके बहुत रोने और कुरु लोगोंकी निन्दा करने लगीं। अनेक स्त्रियां मुखपर हाथ रखके बहुत देरतक सोचती रहगई। उस समय राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके अन्यायका ध्यान करके शान्ति को प्राप्त न हो सके। (३०—३४)

राजा धृतराष्ट्रने शोकसे व्याकुल और चञ्चलचित्त होके विदुरको बुलाया। तब विदुर राजा धृतराष्ट्रके घर पर गये नराधिप धृतराष्ट्रने विदुरसे पूछा। ३५-३६

सभापर्वमें उनासीवां अध्याय समाप्त। [२६७०]

सभापर्वमें अस्सीवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि तब आए हुए दीर्घदर्शी विदुरसे अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र शङ्का सहित ऐसा कहने लगे। (१)

धृतराष्ट्र उवाच— कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २ ॥
धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥
विदुर उवाच— वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बाहू विशालौ संपश्यन्भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥
सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥
कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥
धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशांपते ।
गायन्गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः ।
तन्ममाऽऽचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ९ ॥
विदुर उवाच— निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।

धृतराष्ट्र बोले, हे क्षत्त ! कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन,नकुल और सहदेव ये पांचो पाण्डुपुत्र किस प्रकारसे वनको जाते है ? धौम्य और यशस्विनी द्रौपदी कैसे वनको जाती है, सो सब सुननेकी हम इच्छा रखते है.तुम उन की चेष्टा हमसे कहो (२-३)

विदुर बोले.कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर वस्त्रसे अपने मुखको छिपाकर जाते है, भीम अपनी विशाल बाहुओंको देखते. अर्जुन बालु उडाते उडाते राजाके पीछे गमन करते है, माद्रीके पुत्र सहदेव अपने मुखको लिप्त करके और अत्यन्त सुन्दर नकुल भी विह्वलचित होकर अपने सब शरीरको मिट्टीसे पोतकर राजाके पीछे जाते है ! विशालनेत्रा सुन्दरी द्रौपदी बालोंसे मुखको छिपा कर राजाके पीछे रोती हुई जाती है। हे राजन् ! हाथमें कुशलिये भयानक यम है देवता जिनका ऐसे सामवेदके मन्त्रोंको गाते हुए धौम्य भी जाते है। (४-८)

धृतराष्ट्र बोले,हे विदुर ! पाण्डव लोग अनेक प्रकारके रूप बनाकर वनको जो जाते है, इसमें क्या कारण है सो तुम

न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥
योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत ।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥ ११ ॥
नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा ।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद्गच्छति पाण्डवः ।
यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु ॥ १२ ॥
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ।
बाहू विशालौ कृत्वाऽसौ तेन भीमोऽपि गच्छति ॥ १३ ॥
बाहू विदर्शयन्राजन्बाहुद्रविणदर्पितः ।
चिकीर्षन्कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ॥ १४ ॥
प्रदिशञ्छरसंपातान्कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ।
सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ॥ १५ ॥
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा संप्रति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥ १६ ॥
न मे कश्चिद्विजानीयान्मुखमद्येति भारत ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥ १७ ॥
नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ।

।स्तु दौर्बल्यं भीमसेनमृते महत्।
ऽवतो ज्ञात्वा न यातिष्यन्ति दुर्बलाः॥१४॥
षु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
मरे राजन्यथाशास्त्रं निबर्हणम् ॥१५॥
ियाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम्।
कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम्॥ १६॥
व राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
ः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः॥ १७॥
यस्ते निर्दोषवान्मतः ।
नातिष्ठ पुरा कालोऽतिवर्तते ॥१८॥
विश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
ते शक्या न शक्यास्तु ततः परम्॥१९॥
मातिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते ।
यदि वाऽसाध्वी किं वा राधेय मन्यसे॥२०॥ ७६०६

न र्वणि दुर्योधनवाक्ये त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३॥

हो सकता। ...डव अपनेको ...धिक बलवन्त ... नहीं करेंगे। ...मारे अधीन ... हम उन पर ...नीति दण्ड ...–१५) ...री युवतीसे ...मा करनेसे ...गा। अथवा ... राधानन्दन ...नके एकत्र ...भी उपायसे

वे नष्ट किये जा सकेंगे। हे पिता! इन सब उपायोंमेंसे आपकी समझमें जो दोष-रहित जान पडे, वही करें, काल बीत रहा है, अधिक विलम्ब करना उचित नहीं है। जब तक पृथ्वीनाथ द्रुपद पर उनका विश्वास न जमे, उसके पहिले योग्य उपाय करनेसे उनसे बढ चढ सकेंगे; राजा द्रुपद पर उनका विश्वास होजानेसे फिर कोई उपाय न चलेगा। हे पिता! उनको सतानेके लिये मैने यह उपाय निश्चय किये। यह भले है वा बुरे, आप समझ ऊ। कर्ण! तुम क्या समझते हो? (१६–२०) [७६०६]

आदिपर्वमें दोसो तीनवां अध्याय समाप्त।

। पुनःपुनः २६॥
गतम् ।
स्वनः ॥ २७॥
...त्यात्।
...कम्पनः॥ २८॥
।
...शीर्यन॥ २९॥
...यसाः।
॥ ३०॥
...ाः ।
...व ॥ ३१॥
।
...ः ॥ ३२॥
...श्विनः।
...न ह ॥ ३३॥
...ाः ।
॥ ३४॥
...ीयन ।

...पात सब भरतवंशके नाशके ...ंका मन्त्रणामें प्रत्यक्ष होते ...२–३१)

...पायनजी बोले, कि इस प्रकार ...नो राजा धृतराष्ट्र और बुद्धिमा-...न बातें कर रहे थे वहां कौ-...मनमें नारद मुनि आये। महर्षि ...संयुक्त आनेहो यह जानके ...हने लगे, उनमें चौदहवें वर्ष दु-...की अपराध और भीमसेन तथा ...बलसे समस्त कुरुकुल नष्ट हो

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥१९॥
यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥ २० ॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः ।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् २१॥
कृत्वा तु नैर्ऋतान्दर्भान्धीरो धौम्यः पुरोहितः ।
सामानि गायन्याम्यानि पुरतो याति भारत २२॥
हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति २३॥
हा हा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक्कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम्॥२४॥
राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादाँल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः २५॥
दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।

मार्गमे स्त्रियोंका मन मेरे ऊपर न आवे इसलिये सहदेव सब अङ्गमे मिट्टी पोतकर जाते हैं, एकवस्त्रा रोती हुई खुले केशवाली रजस्वला रुधिर से भरे वस्त्रवाली द्रौपदी यह कहती जाती है, कि जिनके कारणसे मेरी यह दशा हुई है, अब से चौदहवें वर्ष उनकी स्त्रियांभी पति पुत्र भाई और प्यारे पुरुषों के मर जानेसे बहुत रुधिरमे डूबे शरीर वाली खुले केशवाली, रजस्वला इस प्रकार से उनको जलदान करके हस्तिनापुरमे प्रवेश करेंगी ॥ १७-२१ ॥

देव देवताओंके सामवेदीय मन्त्र गाते धौम्य यों कहते हुए आगे जाते हैं, कि जब महायुद्धमे सब कौरव मारे जायंगे तब उनके गुरुभी इन्हीं मन्त्रोंका गान करेंगे। हे महाराज ! नगरवासी प्रजागण यों कह कह रोते हैं, हाय हाय देखो यह हमारे स्वामी लोग वनको जाते हैं, धिक्कार है बड़े कुरुवंशियोंको जिनका मूर्ख लोगोंके समान कर्म है, धिक्कार है उन लोभी लोगोंको जो पाण्डुपुत्रोंको राज्य-से निकालते हैं हाय हम सब पाण्डुनन्दनोंके बिना आज अनाथ होगए, हम

ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद्देवर्षिसत्तमः ॥ ३५ ॥
ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥३६॥
अथाऽब्रवीत्ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥३७॥
अवध्यान्पाण्डवान्प्राहुर्देवपुत्रान्द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान्वर्तमानो यथाबलम् ॥ ३८ ॥
गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्तराष्ट्रान्सराजकान् ।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥ ३९ ॥
धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवा ४०॥
चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद्दुःखाय पाण्डवाः ॥४१॥
मया च भ्रंशितो राजन्द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद्राजा वधाय मम भारत ॥ ४२ ॥
याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात्सुमध्यमा ॥ ४३ ॥

जायगा। इस प्रकारसे कहकर बहुत ब्राह्मलक्ष्मीको धारण किये हुए, ब्रह्मर्षियोंमे उत्तम भगवान् नारद आकाशमे जाकर अन्तर्ध्यान हो गए, तब दुर्योधन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनी इन सबने द्रोणाचार्यको आश्रय जानकर सब राज्य उनको अर्पण कर दिया। (३५-३६)

अनन्तर द्रोणाचार्यने क्रोधी दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और सब कौरवोंसे कहा, ब्राह्मणोंने देवपुत्र पाण्डवोंको अवध्य कहा है, परन्तु मै अपने बलके अनुसार भक्तिपूर्वक सब प्रकारसे शरणागत राज सहित धृतराष्ट्रपुत्रका अनुगामी हूं, परन्तु प्रारब्धबलको छोड नहीं सकता हूं, सब पाण्डवलोग जुएमे हारकर धर्मपूर्वक वनको जारहे है, वे बारह वर्ष वनमें रहेंगे, वे ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करके क्रोधके वशमें हो वैर निकालेंगे, सो बडे भारी दुःखका कारण होगा; हे राजन्! मैने मित्रभावके युद्धमें द्रुपदको भ्रष्ट किया है, अतएव उसने एक यज्ञ किया जिससे मुझे मारनेवाला पुत्र हो। (३७—४२)

याज और उपयाज मुनियोंके तपसे उसने अग्निवेदीके मध्यसे [illegible]

धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः संबन्धनो मतः ।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥४४ ॥
ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान्कवची शरी ।
मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ॥ ४५ ॥
गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।
रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥
सृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत्संगमो मम ।
किमन्यद्दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥ ४७ ॥
धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः ।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥
सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ॥ ४९ ॥
मुहूर्तं सुखमेवैतत्तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥ ५० ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत्प्राप्स्यथ वैशसम् ।
द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥

पुत्र और सुमध्यमा द्रोपदी पुत्री प्राप्त की ! सो धृष्टद्युम्न सम्बन्धसे पाण्डवोंका साला हुआ है, अतएव पाण्डवोंके प्रियकाममें निरत है, मुझे उससे बहुतही भय है, अग्निवर्ण देवदत्त चक्रधनुष और बाण-युक्त धृष्टद्युम्नसे मुझे मूर्तिमान् मृत्युके ऐसा भय मान होता है, सो शत्रुनाशक धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके पक्षमें है, जो युवा अर्जुन रथी और महारथी वीरोंकी स-ख्यामें अगाडी गिना जाता है, यदि उ-ससे मेरा युद्ध हो, तो हे कौरवो ! जगत् मे इससे अधिक और क्या दुःख होगा ? (४३—४७)

धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यकी मृत्यु है, यह जगतमें प्रसिद्ध है, और धृष्टद्युम्नभी मेरे मारनेको प्रसिद्ध और बलसे भी ज-गतमें बहुतही प्रसिद्ध है। सो निश्चय कर-के तुम्हारे कारण अब वह उत्तमकाल आगया, सो अब शीघ्र कल्याणका यत्न करो, पाण्डवोंके वनमें जानेसे अच्छा नहीं हुआ, यह तुम्हारा मन सुख वैसा-ही क्षणभंगी है, जैसी हेमन्तऋतुमें ताड की छाया। महायज्ञोंको करो, भोगो, दान दो, अबसे चौदहवें वर्ष महा नाशमें प-डोगे । द्रोणाचार्यके ऐसे वचन सुनकर धृतराष्ट्र ऐसा कहने लगे ! (४८—५१)

सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ॥ ५२ ॥
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५३ ॥ [२७२३]

इति श्रीमहाभारते० वैयासिक्या सभापर्वण्यनुद्यतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

वैशम्पायन उवाच—वने गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे ।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥
तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥

संजय उवाच— अवाप्य वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिप ।
प्रव्राज्य पाण्डवान्राज्याद्राजन्किमनुशोचसि ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच— अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥

संजय उवाच— तवेदं सुकृतं राजन्महद्वैरमुपस्थितम् ।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥
वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ६ ॥

हे विदुर! गुरुजीने सत्य कहा तुम पाण्डवोंको लौटा लाओ और यदि वे न फिरे तो अच्छी रीतिसे जाय, शस्त्र, रथ, पदाति और सब भोगकी वस्तु उनके सङ्ग रहें। (५२—५३)

सभा पर्वमें अस्सी अध्याय समाप्त।

सभापर्वमें एकासी अध्याय

श्रीवैशम्पायनजी बोले, हे महाराज! जब पाण्डव हारकर वनको चलेगए, तब धृतराष्ट्रको चिन्ता हुई। चिन्ता सहित स्वास लेते हुए उद्विग्न बैठे उस राजा धृतराष्ट्रसे सञ्जय ऐसा कहने लगे। सञ्जय बोले हे पृथिवीनाथ! धनसे पूर्ण पृथिवी को प्राप्त करके और हे राजन्! पाण्डवों को राज्यसे निकालकर अब क्यों आप सोचते हो। (१—३)

धृतराष्ट्र बोले, कि जिनका युद्ध विशारद, महारथ बलवान पाण्डवोंसे वैर होनेवाला है, वह बिना सोच कैसे रह सकता है? (४)

सञ्जय बोले, हे राजन् यह महावैर जिससे लोकोंका नाश जडसमेत होगा, सो आपहीके करनेसे हुआ है भीष्म द्रोण विदुरके निवारण करने पर भी तुम्हारे निर्लज्ज मूर्ख पुत्र दुर्योधनने प्रतिकामीसे कहा कि धर्मचारिणी पाण्डवोंकी प्यारी

प्रातिकामिन्नयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥ ७ ॥
यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥
अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नून तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥
न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥
आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥
अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः ।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत्सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ॥ १४ ॥
एकवस्त्राऽथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत ।
हृतस्वान्हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान्हृतश्रिय ॥ १५ ॥

नीको सभामें लेही आओ। देवता जिसकी पराजय चाहते है, उसकी बुद्धि नष्ट कर देते है, सो उसे विपरीतही दीख पड़ता है, जब बुद्धि विपरीत होती है और नाश उपस्थित होता है, तब अन्याय हृदयमें न्यायको स्थान ही नहीं देता है, उस पुरुषको अनर्थ अर्थरूप और अर्थ अनर्थरूप दीखने लगते है, और वेही उसे प्रिय लगते है; काल लाठी लेकर किसीका शिर नहीं फोड़ता है. विपरीत भाव यही कालका बल है, तपस्विनी अयोनिसे उत्पन्न रूपवती अग्निसे उत्पन्न पाञ्चाली द्रौपदीको सभाके बीचमें परिकर्षण करके यह महालोमहर्षण भयानक वैर उत्पन्न किया गया है, जुआरियोंके बिना कौन उस सब धर्मको जाननेवाली यशस्विनीको सभामें लासकता है, ऋतुमती उक्त सुमुखी रुधिरसे भरे हुए एक वस्त्रवाली द्रौपदीने नष्ट छीने धनवाले राज्यसे भ्रष्ट, हतवस्त्र नष्टश्री सब कामोंसे हीन दासत्वको प्राप्त धर्मकी कामीसे बंधे हुए पराक्रमके असमर्थ पाण्डवो

तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः २५॥
प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ।
कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामनाः ॥ २६ ॥
ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायै कांक्षितं यद्यदिच्छति २७॥
अवृणोत्तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम् ।
सरथान्सधनुष्कांश्चाऽप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥ २८ ॥
अथाऽब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित् ।
एतदन्तास्तु भरता यद्वः कृष्णा सभां गता ॥२९॥
यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा ।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान्दैवसृष्टोपसर्पति ॥ ३० ॥
तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः ।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पञ्चाला वा महारथाः३१॥
तेन सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
आगमिष्यति बीभत्सुः पञ्चालैः परिवारितः ३२॥
तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवाऽन्तकः ३३॥
ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः ।

के निमित्त ध्वजा टूट गई, दुर्योधनकी अग्निशालामें सियारी घोर शब्द करने लगी, सब ओर से उनके शब्द सुनकर गधे बोलने लगे। (१८—२५)

हे सञ्जय! द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य, बाह्लीक और महात्मा सोमदत्त मेरे पास आए; तब मैंने विदुरसे प्रेरित होकर कहा, कि मैं द्रौपदीको इच्छानुसार वर देता हूं, तब द्रौपदीने पाण्डवोंकी अदासता मांगी। रथ धनुषके समेत मैंने भी उन्हें देनेकी आज्ञा दी, उसी समय महाप-ण्डित सब धर्मोंके जाननेवाले विदुरने कहा कि जब जो द्रौपदी सभामें आई कुरुकुल तब वहींतक था, यह जो पाञ्चालराजकी पुत्री द्रौपदी है, सो लक्ष्मी है, प्रारब्धसे पाण्डवोंके पीछे फिरती है, उसका दुःख पाण्डव, महाबलवान सत्यसन्ध वासुदेवसे रक्षित महाबल वृष्णिवंशी और पाञ्चाल नहीं सह सकेंगे, जब पञ्चालियोंसे वेष्टित अर्जुन और उनके बीचमें महाबाहु भीमसेन कालदण्डके समान गदा को घुमाता हुआ पहुंचेगा,

तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं क्षमा॥ ८
आर्यव्रतश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः।
न संत्यक्ष्यति कौन्तेयान्राज्यदानैरपि ध्रुवम्॥ ९
तथाऽस्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान्।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन॥
इदं त्वद्य क्षमं कर्तुमस्माकं पुरुषर्षभ॥ १०
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशांपते।
तावत्प्रहरणीयास्ते तत्तुभ्यं तात रोचताम्॥ ११
अस्मत्पक्षो महान्यावद्यावत्पाञ्चालको लघुः।
तावत्प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय॥ १
वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद्विक्रम पार्थिव॥ १
यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः।
सहपुत्रैर्महावीर्यैस्तावद्विक्रम पार्थिव॥ १
यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन्यादववाहिनीम्।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां पाञ्चाल्यसदनं प्रति

महाभारत — सभापर्व

विषयसूची

दिग्विजयपर्व ।

राजसूयपर्व ।

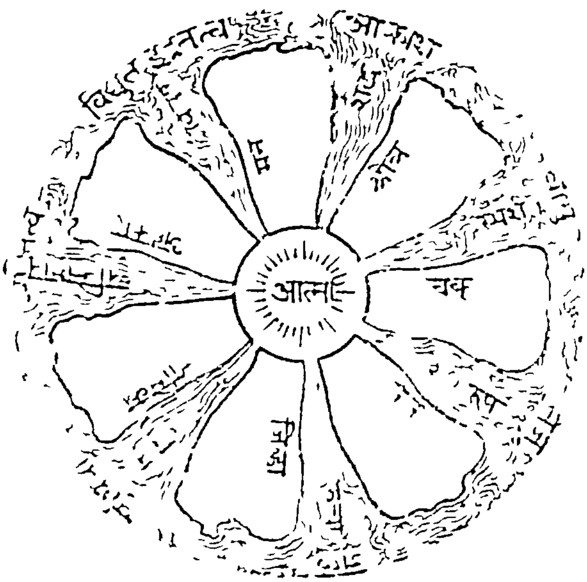
अर्घाहरणपर्व ।

शिशुपालवधपर्व ।

द्यूतपर्व ।

अनुद्यूतपर्व।

सभापर्व समाप्त।



विस्मयोत्कम्पहृदया नाम चक्रुर्महाखगे ॥ ६ ॥
गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एष विहंगमः ।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तस्मात्पन्नगभोजनः ॥ ७ ॥
ततः शनैः पर्यपतत्पक्षैः शैलान्प्रकम्पयन् ।
एवं सोऽभ्यपतद्देशान्बहून्सगजकच्छपः ।
दयार्थं वालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत ॥ ८ ॥
स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमञ्जसा ।
ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम् ॥ ९ ॥
ददर्श तं पिता चाऽपि दिव्यरूपं विहंगमम्।
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम् ॥ १० ॥
शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।
अचिन्त्यमनाभिध्येयं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ११ ॥
महावीर्यधरं रौद्रं साक्षादग्निमिवोद्यतम् ।
अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः ॥ १२ ॥
भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां समुद्रजलशोषणम् ।
लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम् ॥ १३ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान्कश्यपस्तदा ।

दृढताके साथ गज और कच्छप को पकडकर ऋषियों के नष्ट होनेके भयसे उस शाखा को दोनो चोचो से सम्भाल लिया। महर्षियों ने गरुड का यह अद्भुत कार्य देखकर, अचंभे में होकर उनका "गरुड" नाम रखा, क्योंकि वह सर्पभक्षक पक्षीवर भारी भार लेकर उडे (१-७)

अनन्तर गरुड पंखोकी हवासे पर्वतो को विकल करते हुए वहां से धीरे धीरे चले। आगे वालखिल्यों की रक्षाके निमित्त उस शाखाको और गजकच्छपको लेकर अनेक देश घूम डाले; पर कहीं बैठके भोजन करने को योग्य स्थान न मिला। अनंतर उन्होंने पर्वतश्रेष्ठ गन्धमादन पर जाकर अपने पिता कश्यप को तप मे मग्न देखा। भगवान् कश्यपभी उस तेज-वीर्य-भरे, मन और हवा के समान वेगवान् दिव्य-देही पर्वतशृंगवत्, उद्यत ब्रह्मदंड-रूपी, चिन्तातीत, अद्भुत विकटाकार, भयंकर-मूर्ति महावीर्यशाली, साक्षात् प्रज्वालित अग्नि-सदृश रौद्रमूर्ति, देवदैत्य और दानवोंके अधृष्य तथा अजेय, पर्वत-शृंगविदारक, जलसमुद्र सोखने वाले, तीनो लोकोको मथने योग्य, घोर यमराज-

विदित्वा चाऽस्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥
कश्यप उवाच— पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम् ।
मा त्वां दहेयुः संक्रुद्धा वालखिल्या मरीचिपाः ॥ १५ ॥
सौतिरुवाच— ततः प्रसादयामास कश्यपः पुत्रकारणात् ।
वालखिल्यान्महाभागांस्तपसा हतकल्मषान् ॥ १६ ॥
कश्यप उवाच —प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः ।
चिकीर्षति महत्कर्म तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १७ ॥
सौतिरुवाच— एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः ।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोर्थिनः ॥ १८ ॥
ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतासुतः ।
शाखाक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम् ॥ १९ ॥
भगवन्क विमुञ्चामि तरोः शाखामिमामहम् ।
वर्जितं मानुषैर्देशमाख्यातु भगवान्मम ॥ २० ॥
ततो निष्पुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकंदरम् ।
अगम्यं मनसाऽप्यन्यैस्तस्याऽचख्यौ स कश्यपः ॥२१॥
तं पर्वतं महाकुक्षिमुद्दिश्य स महाखगः ।

सदृश, भयानक पक्षीराज को उपस्थित होते देखकर और उनका अभिप्राय समझकर बोले, "बेटा! सावधान! साहस मत करो, आजही कष्ट भोगना न पडे, मरीचिप वालखिल्य लोग क्रोधित होकर तुमको भस्म न करें"। (८–१५)

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर कश्यपने पुत्र के निमित्त तपोबलसे निष्पाप महाभाग्यवान् वालखिल्य मुनियों को प्रसन्न किया और बोले, "हे तपोधनो! गरुड लोकोंके मंगलके निमित्त जिस कार्य में उद्यत हुआ है और जिस महान कार्य के करने की अभिलाषा की है, आप लोग उसे उस कार्य को करने की आज्ञा दें।"

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि भगवान कश्यप के ऐसा कहने पर वालखिल्य मुनिगण उस शाखा को छोडकर तपके निमित्त अति पवित्र हिमालय पर्वत को पधारे। पर विनता-पुत्रने, अपने शाखाभार से कातर-मुखसे अस्पष्ट बातों में कश्यपजी से पूछा, "भगवन! मैं इस वृक्ष शाखा को कहां रक्खूं, मुझे बताइये, कि मनुष्यों से खाली देश कहां है।" (१५–२०)

यह सुनकर कश्यपजीने, हिम से आच्छादित कन्दरवाले, मनसे भी औरोंके न पहुंचनेके योग्य, मनुष्यों

जवेनाऽभ्यपतत्तार्क्ष्यः सशाखागजकच्छपः ॥२२॥
न तां वध्री परिणह्येच्छतचर्मा महातनुम् ।
शाखिनो महतीं शाखां यां प्रगृह्य ययौ खगः॥ २३ ॥
स ततः शतसाहस्रं योजनान्तरमागतः ।
कालेन नाऽतिमहता गरुडः पतगेश्वरः ॥ २४ ॥
स तं गत्वा क्षणेनैव पर्वतं वचनात्पितुः ।
अमुञ्चन्महतीं शाखां सस्वनं तत्र खेचरः ॥२५॥
पक्षानिलहतश्चाऽस्य प्राकम्पत स शैलराट् ।
मुमोच पुष्पवर्षं च समागलितपादपः ॥ २६ ॥
शृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त गिरेस्तस्य समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शोभयन्ति महागिरिम्॥२७॥
शाखिनो बहवश्चाऽपि शाखयाऽभिहतास्तया ।
काञ्चनैः कुसुमैर्भान्ति विद्युत्वन्त इवाऽम्बुदाः॥२८॥
ते हेमविकचा भूमौ युताः पर्वतधातुभिः ।
व्यराजञ्छाखिनस्तत्र सूर्यांशुप्रतिरञ्जिताः॥ २९॥
ततस्तस्य गिरेः शृङ्गमास्थाय स खगोत्तमः ।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ ॥ ३० ॥

मे खाली एक पर्वत निश्चय कर दिया। महापक्षी तार्क्ष्य उस बडे भारी पर्वत की ओर गज, कूर्म और उस शाखा को ले कर अति वेग से चले गये। विनता पुत्र जिस भारी शाखा को लेचले, वह एक सौ चमडों मे बनी एकावली रस्सों से भी घेरी नहीं जा सकती थी। अनन्तर विहंगवर गरुडने सैकडों योजन चलकर थोडे ही काल में पिता के बताये हुए उस पर्वत मे पहुंच कर बडे शब्द से उस भारी शाखा को छोडा। गरुडके पंखो की हवा खाकर वह गिरिवर कंपित हुआ और वहांके वृक्षो के उखड कर गिर जाने से चारो ओर फूल बरसने लगे। मणि कांचन से पची हुई जिन चोटियो ने गिरिको सुशोभित किया था, वे सब टूट फूट कर इधर उधर गिरने लगी। वृक्षसमूह उस बडी शाखा की रगड खाकर गिरते हुए सुवर्ण फूलोसे बिजलीदार बादल के समान बडी शोभा पाने लगे। सुनौले रगके वृक्ष धरती पर गिर कर और धातुओं से रंगे जाकर सबेरे उगे हुए सूर्य के किरण मे रंगे हुए जान पडने लगे। अनन्तर पक्षीराज गरुड पहाड की चोटी पर

तावुभौ भक्षयित्वा तु स ताक्ष्र्यः कूर्मकुञ्जरौ ।
ततः पर्वतकूटाग्रादुत्पपात महाजवः ॥ ३१ ॥
प्रावर्तन्ताऽथ देवानामुत्पाता भयशंसिनः ।
इन्द्रस्य वज्रं दयितं प्रजज्वाल भयात्ततः ॥ ३२ ॥
सधूमा न्यपतत्साचिर्दिवोल्का नभसश्च्युता ।
तथा वसूनां रुद्राणामादित्यानां च सर्वशः ॥ ३३ ॥
साध्यानां मरुतां चैव ये चाऽन्ये देवतागणाः ।
स्वं स्वं प्रहरणं तेषां परस्परमुपाद्रवत ॥ ३४ ॥
अभूतपूर्वं संग्रामे तदा देवासुरेऽपि च ।
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पेतुरुल्काः सहस्रशः ॥ ३५ ॥
निरभ्रमेव चाऽऽकाशं प्रजगर्ज महास्वनम् ।
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् ॥ ३६ ॥
मम्लुर्माल्यानि देवानां नेशुस्तेजांसि चैव हि ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च ववृषुः शोणितं बहु ॥ ३७ ॥
रजांसि मुकुटान्येषामुत्थितानि व्यधर्षयन् ॥ ३८ ॥
ततस्त्राससमुद्विग्नः सह देवैः शतक्रतुः ।
उत्पातान्दारुणान्पश्यन्नित्युवाच बृहस्पतिम् ॥ ३९ ॥

बैठकर उस गज और कूर्म दोनों को भोजन करने लगे। आगे वह हाथी और कछुए को खाकर पर्वत की चोटी से अतिवेग से उड गये। (२१--३१)

गरुड के आकाशको उडने पर देवताओं के भयदायी उपद्रव होने लगे। देवराजका प्रिय वज्र भयसे जल उठा, आकाशसे धुआ-सहित शिखायुक्त उल्कापिंड बहुत गिरने लगे, जो पहिले देवता और असुरों की लडाई में भी नहीं हुआ था; वसु, रुद्र, आदित्य, साध्य, मरुत् और दूसरे सब देवों के सहस्रों अस्त्र आपस में भिडने लगे; आग की चिनगारियां गिरने लगीं; और बिना बादल निर्मल आकाश महाशब्दसे गरजने लगा; जो देवों के भी देवता है वह भी रक्त वर्षाने लगे; देवताओं की माला मलिन और तेज नष्ट हुआ; घोर उपद्रव की घनघटासे बहुत अधिक रक्तरूप वृष्टि होने लगी; अधिक धूल उडनेसे देवों के मुकुट मलिन हुए। अनन्तर उन कठोर उपद्रवों को देखकर भीतचित्त चिन्तित देवराज इन्द्रजी देवों के साथ एकत्र होकर देवों के गुरु बृहस्पतिजी से बोले, " भगवन्!

इंद्र उवाच — किमर्थं भगवन्घोरा उत्पाताः सहसोत्थिताः ।
न च शत्रुं प्रपश्यामि युधि यो नः प्रधर्षयेत् ॥४०॥
बृहस्पतिरुवाच — तवाऽपराधाद्देवेन्द्र प्रमादाच्च शतक्रतो ।
तपसा वालखिल्यानां महर्षीणां महात्मनाम् ॥४१॥
कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः ।
हर्तुं सोममभिप्राप्तो बलवान्कामरूपधृक् ॥ ४२ ॥
समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्तुं सोमं विहंगमः ।
सर्वं संभावयाम्यस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत् ॥ ४३ ॥
सौतिरुवाच— श्रुत्वैतद्वचनं शक्रः प्रोवाचाऽमृतरक्षिणः ।
महावीर्यबलः पक्षी हर्तुं सोममिहोद्यतः ॥ ४४ ॥
युष्मान्संबोधयाम्येष यथा न स हरेद्बलात् ।
अतुलं हि बलं तस्य बृहस्पतिरुवाच ह ॥ ४५ ॥
तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः ।
परिवार्याऽमृतं तस्थुर्वज्री चेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ४६ ॥
धारयन्तो विचित्राणि काञ्चनानि मनस्विनः ।
कवचानि महार्हाणि वैदूर्यविकृतानि च ॥ ४७ ॥

किस कारणसे एकायक यह उपद्रव मचा?" ऐसा कोई शत्रु तो देखते नहीं, कि को लड़ाई में हरा सके।" (३२–४०)

बृहस्पतिजी बोले, "देवराज इन्द्र! तुम्हारे अपराध और प्रमाद के कारण अति प्रभावी, वालखिल्य महर्षियोंके तपोबलसे विनता के गर्भ से उपजा हुआ, कश्यपपुत्र, कामरूपी, महाबली पक्षीराज अमृत हरने को आ रहा है, वह बडा शक्तिशाली है; जान पडता है, कि अमृत हर ले जा सकेगा, उस पक्षी के लिये कुछ भी असंभव नहीं है, अनायास ही असाध्य साधन कर सकता है।" (४१ ४३)

श्री उग्रश्रवाजी बोले, "इन्द्रजी गुरुदेवके वचन सुन कर अमृतके रखवारों से बोले, "देखो, महाबली पक्षीवर अमृत हरनेके उद्यत हुआ है, इस लिये तुम्हे सावधान किये देता हूं, कि वह बल से अमृत न हरने पावे, बृहस्पतिजीने कहा है, कि वह पक्षी अतुल बलशाली है; अमृत रखवारे देवोंने इन्द्रकी बात सुनकर के अचरज मानकर यत्नसहित अमृत को घेर रखा, प्रभावी देवराज भी वहां हाथ में वज्र को लेकर खडे रहे। मनस्वी देवता लोग सर्व शरीर मे विचित्र सुवर्णयुक्त महामूल्य वैदूर्य-

चर्माण्यपि च गात्रेषु भानुमन्ति दृढानि च ।
विविधानि च शस्त्राणि घोररूपाण्यनेकशः ॥ ४८ ॥
शिततीक्ष्णाग्रधाराणि समुद्यम्य सुरोत्तमाः ।
सविस्फुलिंगज्वालानि सधूमानि च सर्वशः ॥ ४९ ॥
चक्राणि परिघांश्चैव त्रिशूलानि परश्वधान् ।
शक्तीश्च विविधास्तीक्ष्णाः करवालांश्च निर्मलान् ॥ ५० ॥
स्वदेहरूपाण्यादाय गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥ ५१ ॥
तैः शस्त्रैर्भानुमद्भिस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
भानुमन्तः सुरगणास्तस्थुर्विगतकल्मषाः ॥ ५२ ॥
अनुपमबलवीर्यतेजसो धृतमनसः परिरक्षणेऽमृतस्य ।
असुरपुरविदारणाः सुरा ज्वलनसमिद्धवपुः प्रकाशिनः ॥ ५३ ॥
इति समरवरं सुराः स्थितास्ते परिघसहस्रशतैः समाकुलम् ।
विगलितमिव चाऽम्बरान्तरं तपनमरीचिविकाशितं बभासे ॥ ५४ ॥ [१४५३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

शौनक उवाच— कोऽपराधो महेन्द्रस्य कः प्रमादश्च सूतज ।
तपसा वालखिल्यानां संभूतो गरुडः कथम् ॥ १ ॥
कश्यपस्य द्विजातेश्च कथं वै पक्षिराट् सुतः ।

मणि-जटित कवच धारण कर कठिन तथा सुहावने ढाल और भांति भांति के घोररूप अगणित सान-लगाये, तीखे अस्त्र उठाकर चिनगारी सहित धूंआ और अग्नि शिखायुक्त चक्र परिघ, त्रिशूल परशु, विविध तेजयुक्त शक्ति, निर्मल तलवार और अपनी देहके समान गदा लेकर भांति भांति के सुन्दर आभूषण और जलते हुए सुहावने अस्त्रों से भूषित हो रहे। अनुपम बलवीर्यशाली, पाप के लेश से खाली, असुरपुरी-विदारी, जलती आग के समान तेजसमूह से शोभायमान संपूर्ण देवगण मन लगाकर अमृत-रक्षा में लगे रहे। वह सहस्रों परिघ से रंगा हुआ रणस्थल भी सूर्य किरण से गले हुए आकाश की भांति शोभा पाने लगा (४८-५४) [१४५३]

आदिपर्व में तीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में इकतीसवां अध्याय।

श्री शौनकजी बोले, कि हे सूतपुत्र! इन्द्रका कौनसा दोष और कसी भूल हुई थी और गरुडजी कैसे बालखिल्य मुनियों के

अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्चाऽभवत्कथम् ॥ २ ॥
कथं च कामचारी स कामवीर्यश्च खेचरः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुराणे यदि पठ्यते ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच—
विषयोऽयं पुराणस्य यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
शृणु मे वदतः सर्वमेतत्संक्षेपतो द्विज ॥ ४ ॥
यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापतेः ।
साहाय्यमृषयो देवा गन्धर्वाश्च ददुः किल ॥ ५ ॥
तत्रेध्मानयने शक्रो नियुक्तः कश्यपेन ह ।
मुनयो वालखिल्याश्च ये चाऽन्ये देवतागणाः ॥ ६ ॥
शक्रस्तु वीर्यसदृशमिध्मभारं गिरिप्रभम् ।
समुद्यम्याऽऽनयामास नाऽतिकृच्छ्रादिव प्रभुः ॥ ७ ॥
अथाऽपश्यदृषीन्ह्रस्वानङ्गुष्ठोदरवर्ष्मणः ।
पलाशवर्तिकामेकां वहतः संहतान्पथि ॥ ८ ॥
प्रलीनान्स्वेष्विवाङ्गेषु निराहारांस्तपोधनान् ।
क्लिश्यमानान्मन्दबलान्गोष्पदे संप्लुतोदके ॥ ९ ॥
तान्सर्वान्विस्मयाविष्टो वीर्योन्मत्तः पुरंदरः ।
अवहस्याऽभ्यगाच्छीघ्रं लंघयित्वाऽवमन्य च ॥ १० ॥

तप के प्रभाव से उत्पन्न हुए, द्विजवर कश्यप के क्योंकर पक्षीपुत्र उत्पन्न हुए और वह पुत्र कैसे काम चारी, काम-वीर्य, अधृष्य और सर्वजीवों के अवध्य हुए, यदि वह सब विषय पुराणों मे कहे गये हों, तो कीर्तन करो, मैं सुनना चाहता हूं। (१–३)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि "हे द्विजवर! आप जो कुछ पूछते है, वह पुराण ही के विषय हैं, मैं यह सब संक्षेप मे कहता हूं, सुनिये। जब प्रजापति कश्यपजीने पुत्र की कामना से यज्ञ किया था तब देवता, ऋषि और गन्धर्वों ने उनके यज्ञ की सहायता की थी। कश्यपजी ने यज्ञकी लकडी लाने को इन्द्र, वालखिल्य-मुनि और दूसरे देवों को नियुक्त किया था। देवराज इन्द्र अपनी शक्तिके अनुसार पर्वत के समान लकडी का बोझ लेकर बिना कष्ट आने लगे और पथ में देखा, कि अंगूठेके समान नाटे नाटे ऋपिलोग एकत्र मिल कर पलाश की एक ही छोटी डाली लेकर अति कष्टसे आ रहे हैं। वे निराहारी पतले तपोधनगण तपस्यासे ऐसे दुबले हो गये थे, कि गोष्पदभर जल मे भी डूब कर कष्ट पा रहे थे। बलके गर्व से उछले हुए

तेऽथ रोषसमाविष्टाः सुभृशं जातमन्यवः।
आरेभिरे महत्कर्म तदा शक्रभयंकरम् ॥ ११ ॥
जुहुवुस्ते सुतपसो विधिवज्जातवेदसम।
मन्त्रैरुच्चावचैर्विप्रा येन कामेन तच्छृणु ॥ १२ ॥
कामवीर्यः कामगमो देवराजभयप्रदः।
इन्द्रोऽन्यः सर्वदेवानां भवेदिति यतव्रताः ॥ १३ ॥
इन्द्राच्छतगुणः शौर्ये वीर्ये चैव मनोजव।
तपसो नः फलेनाऽद्य दारुणः संभवत्विति ॥ १४ ॥
तद् बुद्ध्वा भृशसंतप्तो देवराजः शतक्रतुः।
जगाम शरणं तत्र कश्यपं संशितव्रतम् ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा देवराजस्य कश्यपोऽथ प्रजापतिः।
वालखिल्यानुपागम्य कर्मसिद्धिमपृच्छत ॥ १६ ॥
एवमस्त्विति तं चाऽपि प्रत्यूचुः सत्यवादिन।
तान्कश्यप उवाचेदं सान्त्वपूर्वं प्रजापतिः ॥ १७ ॥
अयमिन्द्रस्त्रिभुवने नियोगाद्ब्रह्मणः कृतः ॥
इन्द्रार्थे च भवन्तोऽपि यत्नवन्तस्तपोधना ॥ १८ ॥

इन्द्रजी उन ऋषियों को देख कर अचरज मानके उनकी हंसी करते हुए लांघ कर वेगसे चले गये। इस से बडे बडे तपस्वी वालखिल्य ऋषियोंने अति दुःखी और क्रोध युक्त होकर इन्द्रके भयदायी एक महान कार्य का अनुष्ठान किया। हे शौनकजी ! आप सुने जाइये। वे व्रतशील ऋषिलोग इस कामनासे, कि" हमारे व्रत और तपके फल से आज कामवीर्य, कामचारी, देवराज के भयदायी, इन्द्र से सैकडों गुणी शूरता और वीरतापूर्ण मनोहर उग्रमूर्त्ति दूसरे एक इन्द्र देवलोक मे उत्पन्न होवे" बडे बडे मन्त्रों से अग्नि मे आहुति देने लगे। (४– १४)

देवराज इन्द्र यह सुनकर बडे दुःखी हुए और व्रतशील कश्यप ऋषि की शरण ली। प्रजापति कश्यप ने देवराजकी बात सुन कर वालखिल्य ऋषियों के समीप जाकर पूछा, कि ' क्या आप लोगोंका कार्य पूरा हो गया ? ' सत्यवादि वालखिल्य लोग बोले, कि " हां हुआ है। " श्री कश्यप प्रजापति जी उनको समझाकर बोले, " हे तपोधनो ! इन्होंने ब्रह्माजी की आज्ञा से तीनों भुवन के इन्द्रका पद प्राप्त किया है आप लोगभी दूसरे इन्द्रके लिये चेष्टा कर रहे है, पर ब्रह्माजी की

न मिथ्या ब्रह्मणो वाक्यं कर्तुमर्हथ सत्तमा।
भवतां हि न मिथ्याऽयं संकल्पो वै चिकीर्षितः॥ १९॥
भवत्वेष पतत्रीणामिन्द्रोऽतिबलसत्त्ववान्।
प्रसादः क्रियतामस्य देवराजस्य याचतः ॥ २० ॥
एवमुक्तः कश्यपेन वालखिल्यास्तपोधनाः।
प्रत्यूचुरभिसंपूज्य मुनिश्रेष्ठं प्रजापतिम् ॥ २१ ॥
वालखिल्या ऊचु — इन्द्रार्थोऽयं समारम्भ सर्वेषां नः प्रजापते।
अपत्यार्थं समारम्भो भवतश्चाऽयमीप्सितः॥ २२॥
तदिदं सफलं कर्म त्वयैव प्रतिगृह्यताम्।
तथा चैवं विधत्स्वाऽत्र यथा श्रेयोऽनुपश्यसि॥ २३ ॥
सौतिरुवाच— एतस्मिन्नेव काले तु देवी दाक्षायणी शुभा।
विनता नाम कल्याणी पुत्रकामा यशस्विनी॥ २४॥
तपस्तप्त्वा व्रतपरा स्नाता पुंसवने शुचिः।
उपचक्राम भर्तारं तामुवाचाऽथ कश्यप ॥ २५ ॥
आरम्भ सफलो देवि भविता यस्त्वयेप्सितः।
जनयिष्यसि पुत्रौ द्वौ वीरौ त्रिभुवनेश्वरौ ॥ २६ ॥
तपसा वालखिल्यानां मम संकल्पजौ तथा।

बात झूठी कर देनी आपको नहीं चाहिये, हे सत्तमो ! आपके अभीष्ट संकल्प को भी मिथ्या करना नहीं चाहता हूं, आपने जिसको इन्द्र बनाना चाहा है, वह महा बली और वीर्यशाली पुरुष पक्षीयों का इन्द्र होवे; देवराज इन्द्र प्रार्थना कर रहे है, कि आप उन पर प्रसन्न होवें। तपोधन वालखिल्यगण, मुनिश्रेष्ठ कश्यप प्रजापति से ऐसे कहे जाकर संमान पूर्वक उनसे बोले, " हे प्रजापते ! हम सबोंने इन्द्रकी उत्पत्ति के निमित्त और आपकी संतान उपजाने की अभिलाषासे इस यज्ञ का प्रारंभ किया है, सो आप हमारे कर्मफल को लेकरके जो कुछ अच्छा जान पडे, वही कीजिये।"

(४–२३)

श्री सौतिजी बोले, कि इस समय शुभलक्षणा कल्याणी यशस्विनी दक्षपुत्री तपोरता विनता ऋतुस्नान-पूर्वक व्रत कर और शुचि होकर पुत्र की कामनासे पतिके पास गई। कश्यप जी उससे बोले, " देवि ! तुम जो चाहती हो, वह पूरा होगा, मेरे संकल्प और वालखिल्य मुनियोंके तपोबल से तुम्हारे गर्भ से

भविष्यतो महाभागौ पुत्रौ त्रैलोक्यपूजितौ ॥ २७ ॥
उवाच चैनां भगवान्कश्यपः पुनरेव ह ।
धार्यतामप्रमादेन गर्भोऽयं सुमहोदयः ॥ २८ ॥
एतौ सर्वपतत्रीणामिन्द्रत्वं कारयिष्यतः ।
लोकसंभाविनौ वीरौ कामरूपौ विहंगमौ ॥ २९ ॥
शतक्रतुमथोवाच प्रीयमाणः प्रजापतिः ।
त्वत्सहायौ महावीर्यौ भ्रातरौ ते भविष्यतः ॥ ३० ॥
नैताभ्यां भविता दोषः सकाशात्ते पुरंदर ।
व्येतु ते शक्र संतापस्त्वमेवेन्द्रो भविष्यसि ॥ ३१ ॥
न चाऽप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः ।
न चाऽवमान्या दर्पात्ते वाग्वज्रा भृशकोपनाः ॥ ३२ ॥
एवमुक्तो जगामेन्द्रो निर्विशङ्कस्त्रिविष्टपम् ।
विनता चाऽपि सिद्धार्था बभूव मुदिता तथा ॥ ३३ ॥
जनयामास पुत्रौ द्वावरुणं गरुडं तथा ।
विकलाङ्गोऽरुणस्तत्र भास्करस्य पुरःसरः ॥ ३४ ॥
पतत्रीणां च गरुडमिन्द्रत्वेनाऽभ्यषिंचत ।

बडे भाग्यवान्, तीनों भुवन में प्रधान दो पुत्र उत्पन्न होकर त्रिलोक में पूजे जायंगे। (२४-२७)

भगवान् कश्यपजी फिर विनता से बोले, "प्यारी! तुम अप्रमत्त होकर के अपने सुमहान् गर्भ को धारण किये रहना, क्योंकि यह लोकों में माननीय महावीर कामरूपी दोनों पक्षी संपूर्ण पक्षियों पर अधिकार फैलाये रहेंगे।" (२८-२९)

अनन्तर कश्यप प्रजापति जी प्रसन्न हृदय से देवराज से बोले, "हे पुरन्दर! तुम्हारी सहायता करनेवाले दो भाई उपजेंगे, उन से तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी, हे इन्द्र! तुम्हारा दुःख दूर होवे, तुम सदा इन्द्र बने रहोगे, पर तुम फिर कभी ब्रह्मज्ञानी, वज्रसमान वचन बोलनेवाले, अति क्रोधी ब्राह्मणों का अहंकारसे अपमान न करना। कश्यपजी के इतना कहने पर स्वर्गनाथ भय को छोडकर स्वर्गधाम को पधारे; विनता भी मनोरथ पूर्ण होने के कारण प्रसन्न हुई और समय आने पर अरुण और गरुड यह दो सन्तान प्रसव कीं; पर अरुण विकलाङ्ग होकर सूर्य के सारथि बने; गरुड पक्षियोंके इन्द्र के पद पर बैठे। हे भृगुनन्दन! उस पक्षीराज गरुडके आश्चर्य रूपे

तस्यैतत्कर्म सुमहच्छ्रूयतां भृगुनन्दन ॥ ३५॥ (१४८८)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

सौतिरुवाच— ततस्तस्मिन्द्विजश्रेष्ठ समुदीर्णे तथाविधे।
गरुडः पक्षिराट् तूर्णं संप्राप्तो विबुधान्प्रति ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वाऽतिबलं चैव प्राकम्पन्त सुरास्ततः।
परस्परं च प्रत्यघ्नन्सर्वप्रहरणान्युत ॥ २ ॥
तत्र चाऽऽसीदमेयात्मा विद्युदग्निसमप्रभः।
भौमनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता ॥ ३ ॥
स तेन पतगेन्द्रेण पक्षतुण्डनखक्षतः।
मुहूर्तमतुलं युद्धं कृत्वा विनिहतो युधि ॥ ४ ॥
रजश्चोद्धूय सुमहत्पक्षवातेन खेचरः।
कृत्वा लोकान्निरालोकांस्तेन देवानवाकिरत् ॥ ५ ॥
तेनाऽवकीर्णा रजसा देवा मोहमुपागमन्।
न चैवं ददृशुश्छन्ना रजसाऽमृतरक्षिणः ॥ ६ ॥
एवं संलोडयामास गरुडस्त्रिदिवालयम्।
पक्षतुण्डप्रहारैस्तु देवान्स विददार ह ॥ ७ ॥

की कथा कहता हूं, सुनिये। (३०–३५)

[१४८८] आदिपर्व में इकतीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में बत्तीसवां अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि हे द्विजश्रेष्ठ! बृहस्पतिजी के वचन सुनके देवों के पूर्वोक्त रीति से बनठन लेने पर पक्षीराज गरुड बडे वेगसे उनके पास आ पहुचे। देवगण महाबली गरुड को देखते ही कांपने लगे और भयसे यह भूलकर, कि क्या करना चाहिये, आप ही आप सर्व अस्त्रों से एक दूसरे को मारने लगे। उन में बिजली और आगके समान प्रकाशमान् अति वीर्यवान्, अप्रमेयात्मा विश्वकर्मा जी अमृत रखते थे वह क्षणभर पक्षीवर से लडकर पंख, चोंच और नखों की चोट से काटे कूटे जाकर मरने पर हुए। आगे पक्षीराजने पंखो की हवासे संपूर्ण लोकों को उजाले से खाली करके उस धूलसे देवो को भी आच्छादित कर लिया। देवगण धूलसे आच्छादित होकर मोहयुक्त हो गये और अमृत के रखवारे भी अन्धो के समान बनकर गरुड जी को देख नहीं सके। पक्षीनाथने इस प्रकार से स्वर्गधाम को विकल किया

ततो देवः सहस्राक्षस्तूर्णं वायुमचोदयत् ।
विक्षिपेमां रजोवृष्टिं तवेदं कर्म मारुत ॥ ८ ॥
अथ वायुरपोवाह तद्रजस्तरसा बली ।
ततो वितिमिरे जाते देवाः शकुनिमार्दयन् ॥ ९ ॥
ननादोच्चैः स बलवान्महामेघ इवाऽम्बरे ।
वध्यमानः सुरगणैः सर्वभूतानि भीषयन् ।
उत्पपात महावीर्यः पक्षिराट् परवीरहा ॥ १० ॥
समुत्पत्याऽन्तरिक्षस्थं देवानामुपरिस्थितम् ।
वर्मिणो विबुधाः सर्वे नानाशस्त्रैरवाकिरन् ॥ ११ ॥
पट्टिशैः परिघैः शूलैर्गदाभिश्च सवासवाः ।
क्षुरप्रैर्ज्वलितैश्चाऽपि चक्रैरादित्यरूपिभिः ॥ १२ ॥
नानाशस्त्रविसर्गैस्तैर्वध्यमानः समन्ततः ।
कुर्वन्सुतुमुलं युद्धं पक्षिराण्न व्यकम्पत ॥ १३ ॥
निर्दहन्निव चाऽऽकाशे वैनतेयः प्रतापवान् ।
पक्षाभ्यामुरसा चैव समन्ताद्व्यक्षिपत्सुरान् ॥ १४ ॥
ते विक्षिप्तास्ततो देवा दुद्रुवुर्गरुडार्दिताः ।

और पंख और चोंचों की चोटोसे देवों को घायल करने लगे। (१ ७)

अनन्तर सहस्रनेत्र इन्द्रने पवन देवको आज्ञा दी, कि "हे पवन! तुम तुरन्त इस धूल-वृष्टि को रोको। यह तुम्हारा ही कर्तव्य है।" यह सुनकर महाबली वायु ने संपूर्ण धूल हटा दी, इससे आकाश की अंधेरी साफ होनेपर देवोंने उस पक्षी पर चढाई की। महाबली गरुड देवों से आघात पाकर सर्वभूतों में भय उपजाने वाले प्रलयकालिक बादल के समान अति घोर गर्जन करने लगे और वह महावीर्यवान् शत्रुनाशी पक्षीनाथ आकाश

को उडे। कवचधारी [illegible]
देवोंने आकाश को उडे [illegible]
विराजते हुए गरुडजी [illegible]
शूल, गदा, प्रज्व[illegible]
चक्रादि नाना [illegible]
नाथ चारों [illegible]
की मार [illegible]
लगे. [illegible]
वरण [illegible]
वह [illegible]
[illegible]

नखतुण्डक्षताश्चैव सुस्रुवुः शोणितं बहु ॥ १५ ॥
साध्याः प्राचीं सगन्धर्वा वसवो दक्षिणां दिशम् ।
प्रजग्मुः सहिता रुद्राः पतगेन्द्रप्रधर्षिताः ॥ १६ ॥
दिशं प्रतीचीमादित्या नासत्यावुत्तरां दिशम् ।
मुहुर्मुहुः प्रेक्षमाणा युध्यमाना महौजसः ॥ १७ ॥
अश्वक्रन्देन वीरेण रेणुकेन च पक्षिराट् ।
क्रथनेन च शूरेण तपनेन च खेचरः ॥ १८ ॥
उलूकश्वसनाभ्यां च निमेषेण च पक्षिराट् ।
प्ररुजेन च संग्रामं चकार पुलिनेन च ॥ १९ ॥
तान्पक्षनखतुण्डाग्रैरभिनद्विनतासुतः ।
युगान्तकाले संक्रुद्धः पिनाकीव परंतप ॥ २० ॥
महाबला महोत्साहास्तेन ते बहुधा क्षताः ।
रेजुरभ्रघनप्रख्या रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥ २१ ॥
तान्कृत्वा पतगश्रेष्ठः सर्वानुत्क्रान्तजीवितान् ।
अतिक्रान्तोऽमृतस्यार्थे सर्वतोऽग्निमपश्यत ॥ २२ ॥
आवृण्वानं महाज्वालमर्चिर्भिः सर्वतोऽम्बरम् ।
दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं चण्डवायुसमीरितम् ॥ २३ ॥

घायल होकर लडाई करते हुए बडे तेजस्वी देवगण अति कातर चित्तसे मुह से रक्त गिराने लगे। और पूरी हार मान कर बार बार पीछे देखते हुए भागने लगे। उनमें से साध्य और गन्धर्व लोग पूर्व ओर, वसु और रुद्रगण दक्षिण ओर, आदित्यगण पश्चिम ओर और दोनो अश्विनीकुमार उत्तर ओरको पधारे। पक्षीनाथ गरुड अश्वक्रन्द, रेणुक, क्रथन, तपन, उलूक, श्वसन, निमिष, प्ररुज, पुलिन इन महावीरों से घोर युद्ध करने लगे। जिस प्रकार प्रलय काल में पिनाकधारी क्रुद्ध होकर पिनाक से सबों का नाश करते हैं, उसी प्रकार शत्रु-मथने हारे विनतापुत्रने पंख, चोंच और नखों से उन वीरों को घायल किया। महाबली बडे उत्साही वे सब देवता सर्व शरीर में घायल होकर रक्त-वर्षानेवाले बादल की भांति शोभा पाने लगे। पक्षीश्रेष्ठ गरुडने उन वीरों को घायल कर अमृत लाने को जाकर देखा, कि अग्नि-देवता अमृत को चारो ओर से घेरे हैं, उस अग्नि की शिखायें सब तरफ फैली हैं, जान पडता है, कि मानो वह

ततो नवत्या नवतीर्मुखानां कृत्वा महात्मा गरुडस्तरस्वी।
नदीः समापीय मुखैस्ततस्तैः सुशीघ्रमागम्य पुनर्जवेन॥ २४ ॥
ज्वलन्तमग्निं तममित्रतापनः समास्तरत्पत्ररथो नदीभिः।
ततः प्रचक्रे वपुरन्यदल्पं प्रवेष्टुकामोऽग्निमभिप्रशाम्य॥ २५ ॥ [१५१३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
सौपर्णे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

सौतिरुवाच — जाम्बूनदमयो भूत्वा मरीचिनिकरोज्ज्वलः।
प्रविवेश बलात्पक्षी वारिवेग इवार्णवम् ॥ १ ॥
स चक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके ।
परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम् ॥ २ ॥
ज्वलनार्कप्रभं घोरं छेदनं सोमहारिणाम्।
घोररूपं तदत्यर्थं यन्त्रं देवैः सुनिर्मितम् ॥ ३ ॥
तस्यान्तरं स दृष्ट्वैव पर्यवर्तत खेचरः ।
अरान्तरेणाभ्यपतत्संक्षिप्याङ्गं क्षणेन ह ॥ ४ ॥
अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती ।

शिखा तेज हवा से उडकर दिननाथ को भी जला रही है। यह देख करके वेगवान्, महात्मा, शत्रुदुःखदायी, कामरूपी गरुडने चलकर आठ सहस्र एक सौ मुह धारण करके उन सब मुखों से संपूर्ण नदियों का जल पीकर फिर अतिवेग से आकर उस जलको छिरकाकर जलती हुई आगको बुझाया और बुझा करके ही अमृत लाने के निमित्त भीतर घुसने को दूसरी एक अति छोटी देह धारण की।
(८—२५) [१५१३]

आदिपर्व में बत्तीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व मे तेतीसवां अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि गरुड, किरणो से सुशोभित उस सुवर्णमय शरीरको धारण कर जिस प्रकार जल का सोता समुद्र में जा घुसता है, उसी प्रकार से बलपूर्वक वहां जा घुसे और देखा, कि जलते हुए सूर्य की भांति, अति भयानक, लोहे से बने अस्तुरेके समान तीक्ष्णधार एक चक्र अमृतकी चारों ओर सदा घूम रहा है। देवोंने अमृत चुराने वालों को काटने के लिये उस कठोर यन्त्रको बनवा रक्खा था। पक्षीनाथ उस यन्त्र मे पैठने की थोडीसी जगह देखकर आरों के बीच के छेद से भीतर जा घुसे और उस में देखा कि प्रज्वलित अग्निके समान चमकीले बिजली के समान

विद्युज्जिह्वौ महावीर्यौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ॥ ५ ॥
चक्षुर्विषौ महाघोरौ नित्यं क्रुद्धौ तरस्विनौ।
रक्षार्थमेवाऽमृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ॥ ६ ॥
सदा संरब्धनयनौ सदा चाऽनिमिषेक्षणौ।
तयोरेकोऽपि यं पश्येत्स तूर्णं भस्मसाद्भवेत्॥ ७ ॥
तयोश्चक्षूंषि रजसा सुपर्णः सहसाऽऽवृणोत्।
ताभ्यामदृष्टरूपोऽसौ सर्वतः समताडयत्॥ ८ ॥
तयोरङ्गे समाक्रम्य वैनतेयोऽन्तरिक्षगः।
आच्छिनत्तरसा मध्ये सोममभ्यद्रवत्ततः॥ ९ ॥
समुत्पाट्याऽमृतं तत्र वैनतेयस्ततो बली।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान्॥ १० ॥
अपीत्वैवाऽमृतं पक्षी परिगृह्याऽशु निःसृतः।
अगच्छदपरिश्रान्त आवार्याऽर्कप्रभां ततः॥ ११ ॥
विष्णुना च तदाऽऽकाशे वैनतेयः समेयिवान्।
तस्य नारायणस्तुष्टस्तेनाऽलौल्येन कर्मणा॥ १२ ॥
तमुवाचाऽव्ययो देवो वरदोऽस्मीति खेचरम्।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरिक्षगः ॥ १३ ॥

चंचल जीभवाले अति वीर्यशाली, प्रज्वलित मुख और नेत्रवान् देखने में विषसमान, महाघोर, सदा क्रोधी, अति बली, लाल नेत्रवाले, आखों की पुतली हर घडी स्थिर किये हुए, दो कराल सर्प अमृत रखने के निमित्त सदा नियुक्त है। उन दोनों में से एक जभी किसिको देखे, तभी वह भस्म हो जाय। विनता-पुत्र गरुडने सहसा धूल फेंककर उन दोनों सर्पों की आखें बन्द कर दी और आकाश से अलक्षित भावसे चढाई कर उनके शरीर में मारने लगे, और विना विलंब उन को टुकडे टुकडे कर अमृत पर दौडे (१-९)

अनन्तर महाबली विनता पुत्र यन्त्र को पूर्णरूप से मथनपूर्वक अमृत का कलसा उठाकर स्वयं न पी करके बाहर निकलने के पश्चात् बडे वेगसे उडे और ऐसी लडाई आदिसे भी न थककर सूर्य का तेज रोककर चलने लगे। जानेके काल में आकाश मे विष्णुजीसे भेट हुई। श्रीनारायणजी उनको अमृत पीने के लोभ से रहित देख करके प्रसन्न होकर बोले, "हे पक्षि! तुम वर मांगो।"

उवाच चैनं भूयोऽपि नारायणमिदं वचः ।
अजरश्चाऽमरश्च स्याममृतेन विनाऽप्यहम् ॥ १४ ॥
एवमस्त्विति तं विष्णुरुवाच विनतासुतम् ।
प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत् ।
भवतेऽपि वरं दद्यां वृणोतु भगवानपि ॥ १५ ॥
तं वव्रे वाहनं विष्णुर्गरुत्मन्तं महाबलम् ।
ध्वजं च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीति तम् ॥१६ ॥
एवमस्त्विति तं देवमुक्त्वा नारायणं खगः ।
वव्राज तरसा वेगाद्वायुं स्पर्धन्महाजवः ॥ १७ ॥
तं व्रजन्तं खगश्रेष्ठं वज्रेणेन्द्रोऽभ्यताडयत् ।
हरन्तममृतं रोषाद्गरुडं पक्षिणां वरम् ॥ १८ ॥
तमुवाचेन्द्रमाक्रन्दे गरुडः पततां वरः ।
प्रहसञ्श्लक्ष्णया वाचा तथा वज्रसमाहतः ॥ १९ ॥
ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्याऽस्थिसंभवम् ।
वज्रस्य च करिष्यामि तवैव च शतक्रतो ॥ २० ॥
एतत्पत्रं त्यजाम्येकं यस्याऽन्तं नोपलप्स्यसे।
न च वज्रनिपातेन रुजा मेऽस्तीह काचन ॥ २१ ॥

पक्षीवर बोले "मुझको यह वर दो, कि मै तुम्हारे ऊपर विराजूं" और फिर यह प्रार्थना की, कि अमृत न पीने पर भी मै अजर अमर हो सकूं। विष्णुजीने "तथास्तु" कहकर वही वर दिया। (१०-१५)

विनतानन्दन गरुड दोनों वर पाकर विष्णुजी से बोले, कि तुम भी कोइ वर मांगो। मै वह तुमको दूं। विष्णुने महा बली, वीर्यशाली गरुड से प्रार्थना की कि "तुम मेरे वाहन बनो।" आगे भगवान् नारायणने ऊपर रखने के निमित्त गरुड को ध्वजा पर विराजने कहा। गरुड जी देवों के देव श्रीनारायणजी से "तथास्तु" कहकर वायु को हरा करके अति वेगसे चलने लगे। इन्द्रजीने पक्षीनाथ गरुड को अमृत हरकर ले जाते देख क्रोध से उन पर वज्र मारा। पक्षीनाथ गरुड वज्रकी मार खाकर हंसकर देवराज से बोले, "हे इन्द्र! जिन ऋषिकी हड्डी से वज्र बना है, उनके संमान रखनेके निमित्त और तुम्हारे वज्रकी मर्यादा बनाये रखने को मै एक पर त्याग देता हूं, तुमको इसका भी अन्त नहीं मिलेगा। देखो तुम्हारे इस वज्रकी चोट से मुझको कुछ

स्मृत्वा चैवोपधिकृतं मातुर्दास्यनिमित्ततः ॥ १२ ॥
ईशोऽहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थिताम्।
भवेयुर्भुजगाः शक्र मम भक्ष्या महाबलाः ॥ १३ ॥
तथेत्युक्त्वाऽन्वगच्छत्तं ततो दानवसूदनः।
देवदेवं महात्मानं योगिनामीश्वरं हरिम् ॥ १४ ॥
स चाऽन्वमोदत्तं चाऽर्थं यथोक्तं गरुडेन वै।
इदं भूयो वचः प्राह भगवांस्त्रिदशेश्वरः ॥ १५ ॥
हरिष्यामि विनिक्षिप्तं सोममित्यनुभाष्य तम्।
आजगाम ततस्तूर्णं सुपर्णो मातुरन्तिकम्॥ १६ ॥
अथ सर्पानुवाचेदं सर्वान्परमहृष्टवत् ।
इदमानीतममृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः ॥ १७ ॥
स्नाता मङ्गलसंयुक्तास्ततः प्राश्नीत पन्नगाः ।
भवद्भिरिदमासीनैर्यदुक्तं तद्वचस्तदा ॥ १८ ॥
अदासी चैव मातेयमद्यप्रभृति चाऽस्तु मे ।
यथोक्तं भवतामेतद्वचो मे प्रतिपादितम् ॥ १९ ॥
ततः स्नातुं गताः सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत।
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ॥ २० ॥

सुन करके गरुड कद्रूके पुत्रों के व्यवहार ओर माताके दासीपन के कारणरूपी कद्रूके छल को स्मरण कर बोले, "मै हर तरह से समर्थ होने पर भी तुमसे यह वर मांगता हूं, कि हे शक्र ! महाबली सर्पगण मेरे भोजन की सामग्री बनें।" दानवनाशी इन्द्रने "तथास्तु" कहकर योगीश्वर, देवों के देव महाप्रभावी हरि के समीप जा करके यह सब कह सुनाया। हरिके गरुड की कही हुई हरेक बात मान लेने पर भगवान् स्वर्गनाथने गरुड को पुकार कर फिर कहा, कि तुम्हारे अमृत रखते ही मै उसे हर लाऊंगा। (१२-१६)

अनन्तर गरुड उसी क्षण माता के निकट लौट गये ओर प्रसन्न हृदयसे सर्पों से बोले, कि हे नागो ! मै तुम्हारे निमित्त यह अमृत लेता आया हू, और उसे कुशापर रखता हूं, तुम स्नान और मंगलाचरण करके अमृत पिओ। तुम सबोंने मिलकर जैसा कहा था, मैने वैसा ही किया है, सो आजसे मेरी माता सेवकाई से छूट जायं। यह सुनकर सर्पगण ने गरुड जीसे "तथास्तु" कह कर विनता को सेवकाई से छुडाकर नहाने गये, इस अवसरमें

अथाऽगतास्तमुद्देशं सर्पाः सोमार्थिनस्तदा ।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च प्रहृष्टाः कृतमङ्गलाः ॥ २१ ॥
यत्रैतदमृतं चाऽपि स्थापितं कुशसंस्तरे ।
तद्विज्ञाय हृतं सर्पाः प्रतिमायाकृतं च तत् ।
सोमस्थानमिदं चेति दर्भांस्ते लिलिहुस्तदा ॥ २२ ॥
ततो द्विधाकृता जिह्वाः सर्पाणां तेन कर्मणा ।
अभवंश्चाऽमृतस्पर्शाद्दर्भास्तेऽथ पवित्रिणः ॥ २३ ॥
एवं तदमृतं तेन हृतमाहृतमेव च ।
द्विजिह्वाश्च कृता सर्पा गरुडेन महात्मना ॥ २४ ॥
ततः सुपर्णः परमप्रहर्षवान्विहृत्य मात्रा सह तत्र कानने ।
भुजङ्गभक्षः परमार्चितः खगैरहीनकीर्तिर्विनतामनन्दयत् ॥२५॥
इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा पठेत वा द्विजगणमुख्यसंसदि ।
असंशयं त्रिदिवमियात्स पुण्यभाङ्महात्मनः पतगपतेः प्रकीर्तनात् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ (१५६३)

इन्द्र भी अमृत का कलसा लेकर स्वर्गधाम को पधारे। (१९-२०)

सर्पो ने प्रफुल्लित चित्तसे स्नान, जप और मंगलाचरण करके अमृत पीने के निमित्त, जहां कुशासन पर अमृत का कलसा धरा था, वहां आ करके देखा, कि कलसा चोरी गया है, तब उन्होंने सोचा कि, "हमने जैसे छल से विनता को दासी बनाया था, गरुड ने भी वैसे ही छल से उस को सेवकाई से छुडाया है।" आगे इस विचारसे, कि कुशासन पर अमृत रखा था, सर्पगण उन कुशों को चाटने लगे, इससे उनकी जीभ कट कर दो भागों में बंट गई। अमृत के स्पर्श से कुश भी पवित्र हुआ। महात्मा गरुड इस प्रकारसे अमृत हरण तथा प्रत्याहरण करके सर्पों को दो जीभवाले बनाया। अनन्तर वह पक्षीराज प्रफुल्लित हृदयसे माता के साथ उस वन में बसने लगे और सम्पूर्ण पक्षियों से भले प्रकार पूजे जाकर और सर्पभक्षक बनकर दूसरों के करने के अयोग्य कीर्ति से माताका आनन्द बढाने लगे। जो नर ब्राह्मणों की सभा में यह कथा सुनते वा पढते हैं, वह अति प्रभावी पक्षी-राज गरुडजी के चरित्र कहने का पुण्य लेकरके विना सन्देह देवलोक में पधारते हैं। २१-२६ [१५६४]

आदिपर्व में चौंतीसवां अध्याय समाप्त।

शौनक उवाच — भुजङ्गमानां शापस्य मात्रा चैव सुतेन च ।
विनतायास्त्वया प्रोक्तं कारणं सूतनन्दन ॥ १ ॥
वरप्रदानं भर्त्रा च कद्रूविनतयोस्तथा ।
नामनी चैव ते प्रोक्ते पक्षिणोर्वैनतेययोः ॥ २ ॥
पन्नगानां तु नामानि न कीर्तयसि सूतज ।
प्राधान्येनाऽपि नामानि श्रोतुमिच्छामहे वयम्॥ ३ ॥

सौतिरुवाच — बहुत्वान्नामधेयानि पन्नगानां तपोधन ।
न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु॥ ४ ॥
शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम् ।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ५ ॥
कालियो मणिनाथश्च नागश्चाऽऽपूरणस्तथा ।
नागस्तथा पिञ्जरक एलापत्रोऽथ वामनः ॥ ६ ॥
नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा ।
आर्यकश्चोग्रकश्चैव नागः कलशपोतकः ॥ ७ ॥
सुमनाख्यो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः ।
आप्तः कर्कोटकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा॥ ८ ॥
निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ।
बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः ॥ ९ ॥

श्रीशौनकजी बोले, कि हे सूतनन्दन! माता से सर्पोंका शाप और अरुण से विनता का शाप इन दोनों के कारण तुमने कह सुनाये और पति से कद्रु और विनता के वर पाने का वृत्तान्त वर्णनपूर्वक विनता के पुत्रों के नाम कह चुके हो, पर हे सौति! सर्पों के नाम कहे नहीं हो; और कुछ प्रधान प्रधान सर्पों के नाम कह सुनाओ, हमको सुनने की अभिलाषा है। (१-३)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि हे तपोधन! सर्पों के बहुत होने के कारण सबों के नाम नहीं कहूंगा, केवल प्रधान प्रधानों के नाम कहता हूं, सुनिये। सबों से पहिले शेष नागने जन्म लिया, अनन्तर वासुकि का जन्म हुआ, इसके पश्चात् ऐरावत, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, मणि-नाथ, आपूरण, पिजरक, एलापत्र, वामन, नील, आनिल, कल्माष, शबल, आर्यक, उग्रक, कलशपोतक, सुमन, दधिमुख, विमलपिडक, आप्त, कर्कोटक, शख, वालिशि-ख, निष्टानक, हेमगुह, नहुष, पिंगल, बाह्य-कर्ण, हस्तिपद, मुद्गरपिडक, कम्बल,

कम्बलाश्वतरौ चाऽपि नागः कालीयकस्तथा ।
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ ॥ १० ॥
नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कूष्माण्डकोऽपरः ।
क्षेमकश्च तथा नागो नागः पिण्डारकस्तथा ॥ ११ ॥
करवीरः पुष्पदंष्ट्रो बिल्वको बिल्वपाण्डुरः ।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णभद्रो हरिद्रकः ॥ १२ ॥
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शङ्खपिण्डश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
विरजाश्च सुबाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान् ।
हस्तिपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः ॥ १४ ॥
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः ।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा ॥ १५ ॥
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः ।
कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदरमहोदरौ ॥ १६ ॥
एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम ।
बहुत्वान्नामधेयानामितरे नाऽनुकीर्तिताः ॥ १७ ॥
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ।
असंख्येयेति मत्वा तान्न ब्रवीमि तपोधन ॥ १८ ॥
बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ॥ १९ ॥ [१५८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि आस्तीकपर्वणि
सर्पनामकथने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

शौनक उवाच— आख्याता भुजगास्तात वीर्यवन्तो दुरासदाः।
शापं तं तेऽभिविज्ञाय कृतवन्तः किमुत्तरम् ॥ १ ॥
तेषां तु भगवाञ्छेषः कद्रूं त्यक्त्वा महायशाः।
उग्रं तपः समातस्थे वायुभक्षो यतव्रतः ॥ २ ॥
गंधमादनमासाद्य बदर्यां च तपोरतः ।
गोकर्णे पुष्करारण्ये तथा हिमवतस्तटे ॥ ३ ॥
तेषु तेषु च पुण्येषु तीर्थेष्वायतनेषु च ।
एकान्तशीलो नियतः सततं विजितेन्द्रियः॥ ४ ॥
तप्यमानं तपो घोरं तं ददर्श पितामहः ।
संशुष्कमांसत्वक्स्नायुं जटाचीरधरं मुनिम्॥ ५ ॥
तमब्रवीत्सत्यधृतिं तप्यमानं पितामहः ।
किमिदं कुरुषे शेष प्रजानां स्वस्ति वै कुरु ॥ ६ ॥
त्वं हि तीव्रेण तपसा प्रजास्तापयसेऽनघ ।
ब्रूहि कामं च मे शेष यस्ते हृदि व्यवस्थितः॥ ७ ॥
शेष उवाच— सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः ।

भी बहुत हैं, इस लिये उनकी कथा भी नहीं सुनाई, वास्तव में अनेक सहस्र, अनेक अयुत, अनेक अर्बुद नाग हैं, उनकी संख्या भी नहीं हो सकती है ।(४–१९)

आदिपर्व मे पैंतीसवा अध्याय समाप्त ।[१५८३]

आदिपर्व में छत्तीसवा अध्याय ।

श्रीशौनकजी बोले, कि बेटा ! तुम महावीर्यशाली सर्पों की कथा कह चुके, पर यह बोलो, कि उन्होंने माताके शाप को सुनने के पश्चात् क्या किया था । श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि तब सर्पों में अति यशस्वी भगवान् शेष नाग कद्रूको छोड कर गन्धमादन, बदरिका, गोकर्ण, पुष्कर, हिमालय आदि संपूर्ण तीर्थ और आश्रमों में घूमकर तपोमग्न, व्रतशील, एकान्तवासी, जितेन्द्रिय और वायुभक्षी होके कठोर तप करने लगे । जटा और चीरधारी हो करके कठोर तप करते करते उनका मांस, चमडा और नसे सूख गई। आगे पितामह ब्रह्माजी से उनकी भेट होने पर ब्रह्माजी ने उनको अटल धैर्य से तप करते देखकर कहा, कि हे शेष ! तुम यह क्या करते हो ? प्रजाओं का जिससे मंगल हो, वही करो; हे अनघ तुम कठोर तपसे प्रजा को दुःख दे रहे हो ; हे शेष ! मुझसे कहो, कि तुम्हारे चित्त में कौनसी अभिलाषा है । (१–७)

शेषजी बोले, कि मेरे सब सहोदर

सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ८ ॥
अभ्यसूयन्ति सततं परस्परमभित्रवत् ।
ततोऽहं तप आतिष्ठं नैतान्पश्येयमित्युत ॥ ९ ॥
न मर्षयन्ति ससुतां सततं विनतां च ते ।
अस्माकं चाऽपरो भ्राता वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ॥ १० ॥
तं च द्विषन्ति सततं स चाऽपि बलवत्तरः ।
वरप्रदानात्स पितुः कश्यपस्य महात्मनः ॥ ११ ॥
सोऽहं तपः समास्थाय मोक्ष्यामीदं कलेवरम् ।
कथं मे प्रेत्यभावेऽपि न तैः स्यात्सह संगम ॥ १२ ॥
तमेवं वादिनं शेषं पितामह उवाच ह ।
जानामि शेष सर्वेषां भ्रातॄणां ते विचेष्टितम ॥ १३ ॥
मातुश्चाऽप्यपराधाद्वै भ्रातॄणां ते महद्भयम ।
कृतोऽत्र परिहारश्च पूर्वमेव भुजङ्गम ॥ १४ ॥
भ्रातॄणां तव सर्वेषां न शोकं कर्तुमर्हसि ।
वृणीष्व च वरं मत्तः शेष यत्तेऽभिकाङ्क्षितम् ॥ १५ ॥
दास्यामि हि वरं तेऽद्य प्रीतिर्मे परमा त्वयि ॥ १६ ॥
दिष्ट्या बुद्धिश्च ते धर्मे निविष्टा पन्नगोत्तम ।

भाई ही दुष्ट-बुद्धि हैं उनके साथ एकत्र बसना नहीं चाहता, सो आप ऐसी आज्ञा दीजिये। वे आपस में शत्रु के समान सदा द्वेष रखते हैं, इस हेतु मैं मनमें यह सोचकर तप कर रहा हूं कि फिर उनसे भेट न करना पड़े। वे सदा विनता और उनके पुत्रकी हानि किया करते हैं हमारे मंझले भाई विनता पुत्र गरुड़ अपने पिता महानुभाव कश्यप प्रजापति के वर से अति बलवीर्यशाली हुए हैं, इस हेतु मेरे सहोदरगण सदा उनकी हिंसा किया करते हैं, सो मैं तप करके यह शरीर पतन करूंगा, कि फिर दूसरे जन्म में भी उन भाइयों से किसी प्रकार संसर्ग करना न पड़े। ८—१२

शेषके यह कहने पर पितामहने उत्तर दिया, कि हे शेष ! मैं तुम्हारे भाइयों के सब व्यवहार जानता हूं, तुम्हारी माता के शाप से उनको जो अतिभय हुआ है वह भी जानता हूं, पर पहिले ही उसका प्रतिकार होगया है सो तुम भाइयों के निमित्त दुःख मत करो। हे शेष! मैं तुम पर अति प्रसन्न हुआ हूं, तुमको वर दूंगा, जो तुम चाहोगे, मांगो। हे

भूयो भूयश्च ते बुद्धिर्धर्मे भवतु सुस्थिरा ॥ १७ ॥

शेष उवाच— एष एव वरो देव काङ्क्षितो मे पितामह ।
धर्मे मे रमतां बुद्धिः शमे तपसि चेश्वर ॥ १८ ॥

ब्रह्मोवाच— प्रीतोऽस्म्यनेन ते शेष दमेन च शमेन च ।
त्वया त्विदं वचः कार्यं मन्नियोगात्प्रजाहितम् ॥ १९ ॥
इमां महीं शैलवनोपपन्नां ससागरग्रामविहारपत्तनाम् ।
त्वं शेष सम्यक्चलितां यथावत्संगृह्य तिष्ठस्व यथाऽचलास्यात्॥

शेष उवाच— यथाऽऽह देवो वरदः प्रजापतिर्महीपतिर्भूतपतिर्जगत्पतिः ।
तथा महीं धारयिताऽस्मि निश्चलां प्रयच्छतां मे शिरसि प्रजापते ॥२१॥

ब्रह्मोवाच— अधो महीं गच्छ भुजङ्गमोत्तम स्वयं तवैषा विवरं प्रदास्यति।
इमां धरां धारयतां त्वया हि मे महत्प्रियं शेष कृतं भविष्यति ॥ २२ ॥

सौतिरुवाच—तथैव कृत्वा विवरं प्रविश्य स प्रभुर्भुवो भुजगवराग्रजः स्थितः ।
बिभर्ति देवीं शिरसा महीमिमां समुद्रनेमिं परिगृह्य सर्वतः ॥ २३ ॥

ब्रह्मोवाच— शेषोऽसि नागोत्तम धर्मदेवो महीमिमां धारयसे यदेकः ।

सर्पश्रेष्ठ ! सौभाग्यवश तुम्हारा चित्त धर्म पर झुका है, सो तुम्हारी बुद्धि किसी तरह धर्म से न हटे। शेषजी बोले कि हे देवों के पितामह ! प्रभो ! आप मुझे वही वर दीजिये, कि धर्म, शान्ति और तप में मेरा चित्त बना रहे; यही मेरा अभिप्राय है। (१३–१८)

ब्रह्माजी बोले, कि हे शेष ! मैं तुम्हारे इस शान्तिगुणसे प्रसन्न हुआ, तुम मेरी आज्ञासे प्रजाओं के हित के निमित्त यह कार्य करो, कि पर्वत, नगर, वन, फुलवारी और समुद्र सहित इस धरती को ऐसी दृढता से धरे रहो, कि वह अचके समान किसी प्रकारसे न डोलने पावे। शेष जी बोले, कि देव! आप वरदायी महीपति, भूतपति, प्रजापति और जगपति है, अतएव जब आप आज्ञा करते है, मैं तब पृथ्वी को ऐसे धरे रहूंगा कि वह डोलने न पावेगी; हे प्रजापति ! आप इस पृथ्वी को मेरे सिर पर रख दीजिये। ब्रह्माजी बोले, कि हे सर्पनाथ ! तुम महीमंडल के नीचे चले जाओ पृथ्वी आपही तुमको बिल दे देगी, हे शेष ! तुम्हारे इस धरती-मंडल को धारण करनेसे मेरा अति प्रिय कार्य होगा। (१९–२२)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि वासुकि के बडे भाई सर्पनाथ, प्रभु अनन्त, "तथास्तु" कहकर बिल में घुस करके पूरी धरती-देवी को सिर पर धरे रहे। यह देखकर ब्रह्माजी बोले, कि हे धार्मिकवर नाग-

अनन्तभोगैः परिगृह्य सर्वां यथाऽहमेवं बलभिद्यथा वा ॥ २४ ॥

सौतिरुवाच— अधो भूमौ वसत्येवं नागोऽनन्त प्रतापवान्।
धारयन्वसुधामेकः शासनाद्ब्रह्मणो विभुः ॥ २५ ॥
सुपर्णं च सहायं वै भगवानमरोत्तमः ।
प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामहः ॥ २६ ॥ (१५०९)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्या–
स्तीक पर्वणि शेषवृत्तकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सौतिरुवाच— मातुः सकाशात्तं शापं श्रुत्वा वै पन्नगोत्तमः।
वासुकिश्चिन्तयामास शापोऽयं न भवेत्कथम्॥ १ ॥
ततः स मन्त्रयामास भ्रातृभिः सह सर्वशः ।
ऐरावतप्रभृतिभिः सर्वैर्धर्मपरायणैः ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच —अयं शापो यथोद्दिष्टो विदितं वस्तथाऽनघाः।
तस्य शापस्य मोक्षार्थं मन्त्रयित्वा यतामहे ॥ ३ ॥
सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते ।
न तु मात्राऽभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते ॥ ४ ॥
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य सत्यस्य च तथाऽनघाः।

श्रेष्ठ शेष ! तुमने अकेले अनन्त फणाओंके मंडल से जिस प्रकार इस धरती को धारण किया है, मेरे और इन्द्रके बिना कोई दूसरा ऐसे स्थिर भाव से इसे ले नहीं सकता है। श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि प्रतापी प्रभु अनन्त ब्रह्माजी की आज्ञासे अकेले धरती को धारण किये पातालतल में बसने लगे। तब भगवान् देवश्रेष्ठ, पितामहने विनतानन्दन सुपर्ण को भी अनन्त की सहायता करने की आज्ञा दी। (२३–२६)

आदिपर्व में छत्तीसवां अध्याय समाप्त। [illegible]

आदिपर्व में सैंतीसवां अध्याय

श्रीसौतिजी बोले कि नागराज वासुकि भी माता से शाप के वचन सुनकर यह सोचने लगे, कि क्यों कर यह शाप दूर होगा। अनन्तर वह ऐरावतादि सब धार्मिक भाइयों के साथ विचार करने लगे। वासुकि जी बोले, कि हे निष्पाप भाइयो! माता ने जो शाप दिया है, वह सभी जानते हैं, अब आओ सब कोई मिलके विचार करके उस शाप से मुक्त होने का प्रयत्न करें। देखो सब शाप का उपाय हो सकता है पर माता के शाप से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं। विशेष करके अव्यय, सत्य और अप्रमेय पितामहजी के सामने यह शाप दिया

शप्ता इत्येव मे श्रुत्वा जायते हृदि वेपथुः ॥ ५ ॥
नूनं सर्वविनाशोऽयमस्माकं समुपागतः ।
न ह्येतां सोऽव्ययो देवः शपन्तीं प्रत्यषेधयत् ॥ ६ ॥
तस्मात्संमन्त्रयामोऽद्य भुजङ्गानामनामयम्।
यथा भवेद्धि सर्वेषां मा नः कालोऽत्यगादयम् ॥७॥
सर्व एव हि नस्तावद्बुद्धिमन्तो विचक्षणाः॥ ८ ॥
अपि मन्त्रयमाणा हि हेतुं पश्याम मोक्षणे।
यथा नष्टं पुरा देवा गूढमग्निं गुहागतम् ॥ ९ ॥
तथा स यज्ञो न भवेद्यथा वाऽपि पराभवः।
जनमेजयस्य सर्पाणां विनाशकरणाय वै ॥ १० ॥
सौतिरुवाच— तथेत्युक्त्वा ततः सर्वे काद्रवेयाः समागताः ।
समयं चक्रिरे तत्र मन्त्रबुद्धिविशारदाः ॥ ११ ॥
एके तत्राऽब्रुवन्नागा वयं भूत्वा द्विजर्षभाः।
जनमेजयं तु भिक्षामो यज्ञस्ते न भवेदिति ॥ १२॥
अपरे त्वब्रुवन्नागास्तत्र पण्डितमानिनः ।

गया है; उसी से मेरा हृदय कांप रहा है; जान पडता है, कि हमारा सर्वनाश विना सन्देह आ पहुंचा है, नहीं तो शाप देने के काल में अव्यय देवों के देव पितामहने क्यों माताको मना नहीं किया ? सो आओ, आज सब मिलकर ऐसी युक्ति करें, कि जिससे सर्पों का मंगल हो, इस समय काल गवांने का कुछ भी समय नहीं है। इस स्थान में जो सर्प उपस्थित हैं, वे सब बुद्धिमान्, और ज्ञानवान् है, सो सबों से मिल जुलकर विचार करने से अवश्य ही शाप से मुक्त होने का कोई उपाय निकल सकता है। जिस प्रकार अगले समय में अग्नि के दूर होने पर देवों ने उनको फिर प्राप्त करने के लिये उपाय ठहराया था, उसी प्रकार ऐसा कोई उपाय निश्चय किया जावे, कि जिससे राजा जनमेजय का सर्पयज्ञ न होने पावे वा निष्फल हो जावे। (१-१०)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर विचार-बुद्धि में पंडित कद्रुपुत्रोंने 'तथास्तु" कहकर स्वीकार-पूर्वक एकठे होकर अभिलाषा पूरी करने की प्रतिज्ञा की। आगे विचारके कालमें किसी किसी सर्पने कहा, कि हम उत्तम ब्राह्मण हो करके जनमेजयके निकट यह भिक्षा मांगें, कि वह सर्प-यज्ञ न करें। पंडिताईके

मन्त्रिणोऽस्य वयं सर्वे भविष्यामः सुसंमताः ॥१३॥
स नः प्रक्ष्यति सर्वेषु कार्येष्वर्थविनिश्चयम् ।
तत्र बुद्धिं प्रदास्यामो यथा यज्ञो निवर्त्स्यति ॥१४॥
स नो बहुमतान्राजा बुद्ध्या बुद्धिमतां वरः ।
यज्ञार्थं प्रक्ष्यति व्यक्तं नेति वक्ष्यामहे वयम् ॥१५॥
दर्शयन्तो बहून्दोषान्प्रेत्य चेह च दारुणान् ।
हेतुभिः कारणैश्चैव यथा यज्ञो भवेन्न सः ॥ १६ ॥
अथवा य उपाध्यायः क्रतोस्तस्य भविष्यति ।
सर्पसत्रविधानज्ञो राजकार्यहिते रतः ॥ १७ ॥
तं गत्वा दशतां कश्चिद्भुजङ्गः स मरिष्यति ।
तस्मिन्मृते यज्ञकारे क्रतुः स न भविष्यति ॥ १८ ॥
ये चाऽन्ये सर्पसत्रज्ञा भविष्यन्त्यस्य चर्त्विजः ।
तांश्च सर्वान्दशिष्यामः कृतमेवं भविष्यति ॥ १९ ॥
अपरे त्वब्रुवन्नागा धर्मात्मानो दयालवः ।

अभिमान रखते हुए किसी सर्प ने कहा, कि चलो, हममें से कोई कोई जनमेजय के निकट जाकर उनके प्यारे मन्त्री बने रहें, ऐसा करनेसे वह हमसे हर विषय का ही कर्तव्याकर्तव्य पूछेंगे, उस समय हम ऐसी युक्ति देंगे, कि जिससे सर्प-यज्ञ न होने पावे। राजा जनमेजय बड़े बुद्धिमान् हैं हम भी उनके बड़े प्यारे मन्त्री बने रहेंगे, जब वह पूछेंगे, कि सर्प यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये या नहीं, हम तभी कहेंगे, कि नहीं महाराज! ऐसा कार्य न कीजिये, इस यज्ञ में बड़ा भारी दोष होगा, जीवों की हिंसा करनेसे पर-लोक होने पर नरक में जाना पड़ता है और सर्पगण क्रोधित होकर प्रजाओं को काट खायेंगे; ऐसी भांति भांति की युक्ति दे करके इस लोक और परलोक के अनेक दोष दिखाकर उनको ऐसे रोकेंगे, कि सर्प-यज्ञ न होने पावेगा। अथवा सर्प यज्ञ की विधि जानने वाले और राजकार्य में दक्ष जो ब्राह्मण उस सर्प यज्ञ के आचार्य होंगे, कोई सर्प जाकर उन्हीं को काटेगा। काटने ही से वह मर जायेंगे, सो यज्ञके प्रधान उपाध्याय के मारने से यज्ञ फिर न होगा। इसके पश्चात् भी कोई दूसरे सर्प-यज्ञ की विधि जाननेवाले पुरोहित होंगे तो उनको भी उसी प्रकारसे काटेंगे ऐसा करनेही से सारा कार्य पूरा होगा। ...

अनन्तर धार्मिक दयावान और महा-

अबुद्धिरेषा भवतां ब्रह्महत्या न शोभनम् ॥ २० ॥
सम्यक्सद्धर्ममूला वै व्यसने शान्तिरुत्तमा।
अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ॥ २१ ॥
अपरे त्वब्रुवन्नागाः समिद्धं जातवेदसम् ।
वर्षैर्निर्वापयिष्यामो मेघा भूत्वा सविद्युतः॥ २२ ॥
स्रुग्भाण्डं निशि गत्वा च अपरे भुजगोत्तमाः ।
प्रमत्तानां हरन्त्वाशु विघ्न एवं भविष्यति ॥ २३ ॥
यज्ञे वा भुजगास्तस्मिञ्छतशोऽथ सहस्रशः।
जनान्दशन्तु वै सर्वे नैवं त्रासो भविष्यति॥ २४ ॥
अथवा संस्कृतं भोज्यं दूषयन्तु भुजङ्गमाः ।
स्वेन मूत्रपुरीषेण सर्वभोज्यविनाशिना ॥ २५ ॥
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र ऋत्विजोऽस्य भवामहे ।
यज्ञविघ्नं करिष्यामो दीयतां दक्षिणा इति ॥ २६ ॥
वश्यतां च गतोऽसौ नः करिष्यति यथेप्सितम्।
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र जले प्रक्रीडितं नृपम् ॥ २७ ॥
गृहमानीय बध्नीमः क्रतुरेवं भवेन्न सः ।

नीय कुछ नागों ने कहा, कि यह तुम्हारी कुबुद्धि ही है, ब्रह्महत्या न करनी चाहिये, विपतके समय निर्दोष और धर्मयुक्त उपाय ही कल्याणदायी होता है; अधर्म के कार्यसे संपूर्ण जगत् नाश होता है। दूसरे कुछ नाग बोले, कि बिजलीदार बादल का स्वरूप लेकर प्रतिक्षण जल वर्षाकर यज्ञकी आग बुझा देंगे और रात्रि के समय ऋत्विकोंके बेसुध होने पर कोई कोई सर्प यज्ञके संपूर्ण अंग सुकभांडको चुरा लावेंगे, ऐसा करने ही से यज्ञ में विघ्न पडेगा । अथवा उस यज्ञके आरंभ होनेके समय सैकडों सर्प एकत्र होकर सब लोगों को काटने लगेंगे, ऐसा करनेही से सबो को भय उपजेगा या सर्पगण मूत्र और विष्ठा छोड छोडकर यज्ञ के पवित्र भोज्य बिगाड देंगे, ऐसा करनेसे सब भोज्य नष्ट हो जायंगे। (२०—२५)

दूसरे कुछ नाग बोले, कि चलो, हम जाकर राजाके पुरोहित बने, आगे यह कहकर, कि " पहिले यज्ञ की दक्षिणा दो " यज्ञमे विघ्न डालेंगे, ऐसा करने ही से वह राजा हमारे वश मे आकर हम जो कहेंगे, सो ही करेंगे। दूसरे कुछ सर्प बोले, कि राजा जब जल-क्रीडा करेंगे,

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र नागाः पण्डितमानिनः ॥ २८ ॥
दृशामस्तं प्रगृह्याऽऽशु कृतमेवं भविष्यति ।
छिन्नं मूलमनर्थानां मृते तस्मिन्भविष्यति ॥ २९ ॥
एषा नो नैष्ठिकी बुद्धिः सर्वेषामीक्षणश्रवः ।
अथ यन्मन्यसे राजन्द्रुतं तत्संविधीयताम् ॥ ३० ॥
इत्युक्त्वा समुदैक्षन्त वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।
वासुकिश्चाऽपि संचिन्त्य तानुवाच भुजङ्गमान् ॥ ३१ ॥
नैषा वो नैष्ठिकी बुद्धिर्मता कर्तुं भुजङ्गमाः ।
सर्वेषामेव मे बुद्धिः पन्नगानां न रोचते ॥ ३२ ॥
किं तत्र संविधातव्यं भवतां स्याद्धितं तु यत् ।
श्रेयः प्रसादनं मन्ये कश्यपस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
ज्ञातिवर्गस्य सौहार्दादात्मनश्च भुजङ्गमाः ।
न च जानाति मे बुद्धिः किंचित्कर्तुं वचो हि वः ॥ ३४ ॥
मया हीदं विधातव्यं भवतां यद्धितं भवेत् ।

उसी समय हम लोग उनको पकड लाकर घरमें बांध रखेंगे, ऐसा होने से फिर सर्पयज्ञ होनेकी संभावना नहीं रहेगी । आगे पंडिताई के अभिमान रखने वाले कुछ सर्प बोले, कि उस प्रकार से भी कुछ नहीं होगा, आओ हम जनमेजयको पकड लाकर काटें, ऐसा करने ही से हमारा अभीष्ट पूर्ण होगा, क्यों कि उनकी मृत्यु होने पर एकबारगी सब बुराई की जड कट जायगी । हे चतुरवर वासुके ! हमारी बुद्धि की सीमा इतनीही है, अब आपकी समझ में जो उचित जान पडे वही कीजिये । (२८-३०)

सर्पगण, सर्पनाथ वासुकि को यह बात कह कर उनके मुह की ओर ताकने लगे, वासुकि भी बहुत सोचकर उन सर्पों से बोले, कि हे सर्पगण ! तुमने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार जो निश्चय किया, वह मेरी समझ में अति अनुचित लगता है, वास्तव में तुम लोगों ने जो कुछ कहा है, उनमें से कोई भी बात मुझे अच्छी नहीं जचती; क्यों कि उन में ऐसा कोई भी कर्तव्य विषय नहीं है, जिनके करने से तुम्हारा मंगल हो सके। वास्तव में मेरी समझ में महानुभाव कश्यप को प्रसन्न करना ही हमारे लिये मंगलकारी है । हे सर्पगण ! अपनी और स्वजनों की आत्मा पर विशेष आदर रहने के कारण तुम्हारी और मेरी बुद्धि किसी बात पर सब

अनेनाऽहं भृशं तप्ये गुणदोषौ मदाश्रयौ ॥ ३५ ॥ [१६४४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि वासुक्यादिमन्त्रणे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

सौतिरुवाच — सर्पाणां तु वचः श्रुत्वा सर्वेषामिति चेति च।
वासुकेश्च वचः श्रुत्वा एलापत्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
न स यज्ञो न भविता न स राजा तथाविधः।
जनमेजयः पाण्डवेयो यतोऽस्माकं महद्भयम् ॥ २ ॥
दैवेनोपहतो राजन्यो भवेदिह पूरुषः ।
स दैवमेवाऽऽश्रयते नाऽन्यत्तत्र परायणम् ॥ ३ ॥
तदिदं दैवमस्माकं भयं पन्नगसत्तमाः ।
दैवमेवाऽऽश्रयामोऽत्र शृणुध्वं च वचो मम ॥ ४ ॥
अहं शापे समुत्सृष्टे समश्रौषं वचस्तदा ।
मातुरुत्सङ्गमारूढो भयात्पन्नगसत्तमाः ॥ ५ ॥
देवानां पन्नगश्रेष्ठास्तीक्ष्णास्तीक्ष्णा इति प्रभो।
पितामहमुपागम्य दुःखार्तानां महाद्युते ॥ ६ ॥
देवा ऊचुः — का हि लब्ध्वा प्रियान्पुत्राञ्छपेदेवं पितामह।

नहीं चलता है। पर चाहे, जिस प्रकार से होसके, तुम्हारी भलाई मुझे करनी ही होगी। मैं तुम से बडा हूं, सो मेरे ही ऊपर सब दोष गुणों का भार है; इसी से मे बहुत ही उदास हो रहा हूं। (३१–३५) [१६४४]

आदिपर्व मे सैंतीसवा अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में अडतीसवा अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि आगे एलापत्र नामक एक सर्प संपूर्ण सर्प और वासुकि की इतनी कथा सुनकर बोला, कि हे महाराज! ऐसा नहीं होगा, कि यह सर्पयज्ञ न हो, और जिनसे हम लोगों को बडा भय हो गया है, वह पांडव-कुमार राजा जनमेजय भी कुछ ऐसे वैसे नहीं है। वास्तव मे जो पुरुष दैववश विपत्ति में गिरता है, वह दैव ही को आश्रय कर लेता है, उसका कोई दूसरा उपाय नहीं है, हे सर्पश्रेष्ठगण! हम को दैवही से यह भय हो गया है, सो दैवही की शरण लेनी उचित है। तुम मेरी बात सुनो जब माताने हमको शाप दिया, तब मै ने भीतचित्त से उनकी गोदमे बैठकर सोच मे घबराए देवों की यह बात सुनी, कि वे अति दुःखी होकर पितामहजी के समीप जाकर बोले, कि हे प्रभो देव देव

ऋते कद्रूं तीक्ष्णरूपां देव देव तवाऽग्रतः ॥ ७ ॥
तथेति च वचस्तस्यास्त्वयाऽप्युक्तं पितामह ।
एतदिच्छाम विज्ञातुं कारणं यन्न वारिता ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच— बहवः पन्नगास्तीक्ष्णा घोररूपा विषोल्बणाः ।
प्रजानां हितकामोऽहं न च वारितवांस्तदा ॥ ९ ॥
ये दन्दशूकाः क्षुद्राश्च पापाचारा विषोल्बणाः ।
तेषां विनाशो भविता न तु ये धर्मचारिणः ॥ १० ॥
यन्निमित्तं च भविता मोक्षस्तेषां महाभयात् ।
पन्नगानां निबोधध्वं तस्मिन्काले समागते ॥ ११ ॥
यायावरकुले धीमान्भविष्यति महानृषिः ।
जरत्कारुरिति ख्यातस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ १२ ॥
तस्य पुत्रो जरत्कारोर्भविष्यति तपोधनः ।
आस्तीको नाम यज्ञं स प्रतिषेत्स्यति तं तदा ।
तत्र मोक्ष्यन्ति भुजगा ये भविष्यन्ति धार्मिकाः ॥ १३ ॥

देवा ऊचुः— स मुनिप्रवरो ब्रह्मञ्जरत्कारुर्महातपाः ।
कस्यां पुत्रं महात्मानं जनयिष्यति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

पितामह ! आपके सामने ही तीक्ष्णरूपा कद्रूने जैसा शाप दिया है, दूसरी कोई स्त्री अपने प्यारे पुत्र को वैसा कठोर शाप नहीं दे सकती, पर जो आपने "तथास्तु" कहकर कद्रूकी बात मान ली और उसे रोका नहीं, इसका क्या कारण है, हम लोग सुनना चाहते हैं। (१–८)

ब्रह्माजी बोले, कि अनेक सर्प तीक्ष्ण बड़े विषैले और घोर रूप हो गये हैं, सो मैने प्रजाके हितके निमित्त उस समय कद्रूको रोका नहीं. वास्तव में जो सब सर्प नीचाशय, काटने में बड़े तय्यार, पापात्मा और बड़े विषैले हैं, सर्पयज्ञ में वही नष्ट होंगे, पर जो धार्मिक हैं, उन की हानि नहीं होगी। उस सर्पयज्ञका समय आने पर जिस उपायसे उस नागी भयसे सर्पो की मुक्ति होगी, वह कहता हूं, सुनो। "जरत्कारु नामके अति बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, तपमें रत एक महर्षि यायावर वंशमें उत्पन्न होंगे। उनके आस्तीक नामक एक तपस्वी पुत्र जन्म लेंगे, उन्होंने सर्पयज्ञ बन्द करावा जायगा। इससे जो सब सर्प धर्मशील हैं, वही बचेंगे।" (९–१३)

देवगण बोले, 'ब्रह्मन्' वह मुनियों में प्रधान बड़े तपोनिधान जरत्कारु,

ब्रह्मोवाच— सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तमः ।
अपत्यं वीर्यसंपन्नं वीर्यवाञ्जनयिष्यति ॥ १५ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य जरत्कारुः स्वसा किल ।
स तस्यां भविता पुत्रः शापान्नागांश्च मोक्ष्यति १६॥

एलापत्र उवाच— एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाऽब्रुवन् ।
उक्त्वैवं वचनं देवान्विरिञ्चिस्त्रिदिवं ययौ ॥ १७ ॥
सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव ।
जरत्कारुरिति ख्याता तां तस्मै प्रतिपादय ॥ १८ ॥
भैक्षवद्भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये ।
ऋषये सुव्रतायैनामेष मोक्षः श्रुतो मया ॥ १९ ॥ (१६६३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां-
मादिपर्वण्यास्तीकपर्वण्येलापत्रवाक्येऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

सौतिरुवाच— एलापत्रवचः श्रुत्वा ते नागा द्विजसत्तम ।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाऽब्रुवन् ॥ १ ॥
ततः प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत ।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ॥ २ ॥

किसके गर्भ मे उस बडे प्रभावी पुत्रको उत्पन्न करेंगे ? " ब्रह्माजी बोले, " वीर्यवान द्विजश्रेष्ठ जरत्कारुजी निज नामवाली कन्या से उस वीर्यशाली पुत्रको उपजायेंगे । " सर्पनाथ वासुकि की जरत्कारु नाम्नी एक बहिन है। उसी जरत्कारु के गर्भ मे जरत्कारुजी के वीर्य से वह आस्तीकमुनि जन्म लेकर नागों को माताके शापसे मुक्त करेंगे । एलापत्र बोला, कि देवों ने पितामहसे "एवमस्तु" कहा और भगवान् विरिंचि भी देवों की यह कथा सुनकर स्वर्गधाम को पधारे। हे वासुके ! मै यह उपाय देखता हूं, कि जब वह व्रतशील महर्षि जरत्कारु विवाहके निमित्त कन्या मागेंगे, तब तुम सर्पों की शापशान्ति के लिये जरत्कारु नाम्नी अपनी बहिन को दान कर देना; मैने सुना है, कि माताके शाप को दूर करने का यह एकही उपाय है। (१४–१९)

आदिपर्व मे अडतीसवा अध्याय समाप्त। [१६६३]

आदिपर्व मे उनतालीसवा अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि हे द्विजश्रेष्ठ ! संपूर्ण सर्प एलापत्र नाग की बात सुनकर अति प्रसन्न हुए और सभी उनको "साधु" कहने लगे। वासुकि ने आनन्दित होकर जरत्कारु नाम्नी अपनी बहिन को कुमारी

ततो नाऽतिमहान्कालः समतीत इवाऽभवत् ।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥ ३ ॥
तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः ।
समाप्यैव च तत्कर्म पितामहमुपागमन् ॥ ४ ॥
देवा वासुकिना सार्धं पितामहमथाऽब्रुवन् ।
भगवञ्छापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ॥ ५ ॥
अस्यैतन्मानसं शल्यं समुद्धर्तुं त्वमर्हसि ।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितमिच्छतः ॥ ६ ॥
हितो ह्ययं सदाऽस्माकं प्रियकारी च नागराट् ।
प्रसादं कुरु देवेश शमयाऽस्य मनोज्वरम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मोवाच— मयैव तद्वितीर्णं वै वचनं मनसाऽमराः ।
एलापत्रेण नागेन यदस्याऽभिहितं पुरा ॥ ८ ॥
तत्करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचः स्वयम् ।
विनाशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः ॥ ९ ॥
उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः ।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु ॥ १० ॥

रख छोडा। अनन्तर कुछ कालान्तर
देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र-
मन्थन किया; उसमें महाबली वासुकि
मथन रस्सी हुए। आगे उस कार्यके
पूर्ण होने पर देवोंने वासुकिके साथ
पितामहजीके निकट जाकर कहा, " भग-
वन् यह वासुकि अपनी माता के शाप
से भय खाकर अति दुःखी हुए हैं; आप
कृपापूर्वक इनकी माता के शाप से उपजी
हुई उदासी को दूर कीजिये यह स्वज-
नों के हितेच्छुक हुए हैं। यह नागराज
सदा से हमारे प्रियकारी और हितकारी
हैं, हे देवेश ! आप कृपा करके इनके
चित्त की पीडा को दूर कीजिये।" ॥ ५-७ ॥

ब्रह्माजी बोले, "हे अमरो ! एलापत्र
नागने पहिले ही वासुकि से जो कुछ कही
थी, वह मेरी ही सिखाई हुई बात है।
मैंने जैसा कहा था, काल आजाने पर
वासुकि वैसा ही करें; जो सब सर्प सदा
से पापाचारी हैं, वे ही सर्पसत्र में नष्ट
होंगे, जो धार्मिक हैं वे नष्ट नहीं होंगे।
हाल में उन द्विजराज जरत्कारु ने
लोक में जन्म लिया है और महान
कठोर तपस्या में रत हैं, अतएव वासुकि
जाकर उचित समय में उनको अपनी
जरत्कारु नामी बहन सौंप दें। हे देव-

ब्रह्मोवाच— सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तमः।
अपत्यं वीर्यसंपन्नं वीर्यवाञ्जनयिष्यति ॥ १५ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य जरत्कारुः स्वसा किल।
स तस्यं भविता पुत्रः शापान्नागांश्च मोक्ष्यति १६॥

एलापत्र उवाच— एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाऽब्रुवन्।
उक्त्वैवं वचनं देवान्विरिञ्चिर्दिवं ययौ ॥ १७ ॥
सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव।
जरत्कारुरिति ख्याता तां तस्मै प्रतिपादय ॥ १८ ॥
भैक्षवद्भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये।
ऋषये सुव्रतायैनामेष मोक्षः श्रुतो मया ॥ १९ ॥(१६६३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या-
मादिपर्वण्यास्तीकपर्वण्येलापत्रवचनेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

सौतिरुवाच— एलापत्रवचः श्रुत्वा ते नागा द्विजसत्तम।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाऽब्रुवन् ॥ १ ॥
ततः प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ॥ २ ॥

किसके गर्भ से उस बडे प्रभावी पुत्रको उत्पन्न करेंगे ? ” ब्रह्माजी बोले,“ वीर्यवान् द्विजश्रेष्ठ जरत्कारुजी निज नामवाली कन्या से उस वीर्यशाली पुत्रको उपजायंगे। ” सर्पनाथ वासुकि की जरत्कारु नाम्नी एक बहिन है। उसी जरत्कारु के गर्भ मे जरत्कारुजी के वीर्य से वह आस्तीकमुनि जन्म लेकर नागो को माताके शापसे मुक्त करेंगे। एलापत्र बोला, कि देवों ने पितामहसे “एवमस्तु” कहा और भगवान् विरिञ्चि भी देवों की यह कथा सुनकर स्वर्गधाम को पधारे। हे वासुके ! मै यह उपाय देखता हूं, कि जब वह व्रतशील महर्षि जरत्कारु विवाहके निमित्त कन्या मांगेगे, तब तुम सर्पो की शापशान्ति के लिये जरत्कारु नाम्नी अपनी बहिन को दान कर देना; मैंने सुना है, कि माताके शाप को दूर करने का यह एकही उपाय है। (१४–१९)

आदिपर्व मे अडतीसवा अध्याय समाप्त। [१६६३]

आदिपर्व मे उनतालीसवा अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि हे द्विजश्रेष्ठ ! संपूर्ण सर्प एलापत्र नाग की बात सुनकर अति प्रसन्न हुए और सभी उनको “साधु” कहने लगे। वासुकि ने आनन्दित होकर जरत्कारु नाम्नी अपनी बहिन को कुमारी

ततो नाऽतिमहान्कालः समतीत इवाऽभवत्।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥ ३ ॥
तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः ।
समाप्यैव च तत्कर्म पितामहमुपागमन् ॥ ४ ॥
देवा वासुकिना सार्धं पितामहमथाऽब्रुवन् ।
भगवञ्छापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ॥ ५ ॥
अस्यैतन्मानसं शल्यं समुद्धर्तुं त्वमर्हसि ।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितमिच्छतः ॥ ६ ॥
हितो ह्ययं सदाऽस्माकं प्रियकारी च नागराट्।
प्रसादं कुरु देवेश शमयाऽस्य मनोज्वरम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मोवाच— मयैव तद्वितीर्णं वै वचनं मनसाऽमराः ।
एलापत्रेण नागेन यदस्याऽभिहितं पुरा ॥ ८ ॥
तत्करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचः स्वयम् ।
विनाशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः॥ ९ ॥
उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः ।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु ॥ १० ॥

रख छोडा। अनन्तर कुछ कालान्तर देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र-मन्थन किया; उसमें महाबली वासुकि मंथन रस्सी हुए। आगे उस कार्यके पूर्ण होने पर देवोंने वासुकिके साथ पितामहजीके निकट जाकर कहा, "भगवन् यह वासुकि अपनी माता के शाप से भय खाकर अति दुःखी हुए हैं; आप कृपापूर्वक इनकी माता के शाप से उपजी हुई उदासी को दूर कीजिये, यह स्वजनों के हितेच्छुक हुए हैं। यह नागनाथ सदा से हमारे प्रियकारी और हितकारी हैं; हे देवेश! आप कृपा प्रगटकर इनके चित्त की पीडा को दूर कीजिये।" (१-७)

ब्रह्माजी बोले, "हे अमरो! एलापत्र नागने पाहिले ही वासुकि से जो कुछ कही थी, वह मेरी ही विचारी हुई बात है। मैंने जैसा कहा था, काल आजाने पर वासुकि वैसाही करें; जो सब सर्प सदा से पापचारी हैं, वे ही सर्पयज्ञ में नष्ट होंगे; जो धार्मिक है, वे नष्ट नहीं होंगे। हाल में उस द्विजराज जरत्कारु ने भूलोक में जन्म लिया है और सदासे कठोर तपस्या में मग्न है, अतएव वासुकि जाकर उचित समय में उनको अपनी जरत्कारु नाम्नी बहन सौंप दे। हे देव-

एलापत्रेण यत्प्रोक्तं वचनं भुजगेन ह ।
पन्नगानां हितं देवास्तत्तथा न तदन्यथा ॥ ११ ॥

सौतिरुवाच— एतच्छ्रुत्वा तु नागेन्द्रः पितामहवचस्तदा ।
सन्दिश्य पन्नगान्सर्वान्वासुकिः शापमोहितः॥१२॥
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ।
सर्पान्बहूञ्जरत्कारौ नित्ययुक्तान्समादधत् ॥ १३ ॥
जरत्कारुर्यदा भार्यामिच्छेद्वरयितुं प्रभुः । (१६७७)
शीघ्रमेत्य तदाऽऽख्येयं तन्नः श्रेयो भविष्यति १४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
जरत्कार्वन्वेषणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

शौनक उवाच— जरत्कारुरिति ख्यातो यस्त्वया सूतनन्दन ।
इच्छामि तदहं श्रोतुमृषेस्तस्य महात्मनः ॥ १ ॥
किंकारणं जरत्कारोर्नामैतत्प्रथितं भुवि ।
जरत्कारुनिरुक्तिं त्वं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

सौतिरुवाच— जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं कारुसंज्ञितम् ।
शरीरं कारु तस्याऽऽसीत्तत्स धीमाञ्छनैः शनैः ३॥

गण ! एलापत्र नागने सर्पों के हित के निमित्त जो कुछ कहा है, वह सब ठीक वैसाही होगा, कभी उसका विपरीत न होगा ।" श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि शापसे मुग्ध वासुकि पितामहजीकी यह बात सुनकर जरत्कारु ऋषिको बहिन दान करने का प्रण ठानकर संपूर्ण सर्पों को यह आज्ञा देकरके जरत्कारुके पास नियुक्त कर रखा, कि जब जरत्कारु, पत्नीके निमित्त कन्या मांगेंगे, तब तुम लोग आकर मुझे तुरन्त समाचार देना; ऐसा करनेही से हमारा मंगल हो सकेगा। (८–१४) [१६७७]

आदिपर्व में उनतालीसवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में चालीसवां अध्याय ।

श्रीशौनकजी बोले, कि हे सूतपुत्र ! तुमने जिस जरत्कारु का वृत्तान्त कहा, उस महानुभाव ऋषि का किस लिये "जरत्कारु" यह नाम भूमंडल में प्रसिद्ध हुआ, वह मैं सुनना चाहता हूं, । जरत्कारु शब्द की व्युत्पत्ति कैसी है, वह ठीक ठीक कहो । श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि जरत् शब्द का अर्थ क्षय और कारु शब्दका अर्थ दारुण है; जरत्कारु का शरीर बहुत दारुण अर्थात् विशेष पुष्ट था; पर जरत्कारु ने कठोर तपस्यासे

क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते ।
जरत्कारुरिति ब्रह्मन्वासुकेर्भगिनी तथा ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा शौनकः प्राहसत्तदा ।
उग्रश्रवसमामन्त्र्य उपपन्नमिति ब्रुवन् ॥ ५ ॥

शौनक उवाच— उक्तं नाम यथापूर्वं सर्वं तच्छ्रुतवानहम् ।
यथा तु जातो ह्यास्तीक एतदिच्छामि वेदितुम्॥ ६ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सूतः प्रोवाच शास्त्रतः ॥ ७ ॥

सौतिरुवाच — संदिश्य पन्नगान्सर्वान्वासुकिः सुसमाहितः।
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ॥ ८ ॥
अथ कालस्य महतः स मुनिः संशितव्रतः ।
तपस्याभिरतो धीमान्स दारान्नाऽभ्यकाङ्क्षत ॥ ९ ॥
स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः स्वाध्यायवान्वीतभयः कृतात्मा ।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा न चाऽपि दारान्मनसाऽध्यकाङ्क्षत् ॥ १० ॥
ततोऽपरस्मिन्संप्राप्ते काले कस्मिंश्चिदेव तु ।
परीक्षिन्नाम राजाऽऽसीद्ब्रह्मन्कौरववंशजः ॥ ११ ॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि ।

धीरे धीरे उस दारुण शरीर को सुखा लिया था; हे ब्रह्मन ! इसही लिये वह जरत्कारु नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वासुकि की बहिन के नाम की व्युत्पत्ति भी वैसी ही है । धर्मात्मा शौनकजी यह सुनकर हसने लगे और उग्रश्रवाजीसे बोले, कि हां तुमने जो कहा वही ठीक है। आगे उन्होंने फिर कहा, कि तुमने पहिले जो जो कथा कही है, वह सब हमने सुना, आस्तीक मुनिने जिस प्रकारसे जन्म लिया था, अब वही सुनना चाहता हूं। उग्रश्रवाजी यह वचन सुनकर शास्त्रके अनुसार कहने लगे। (१-७)

ब्रह्माजी की आज्ञासे वासुकि जरत्कारु ऋषि को अपनी बहिन दान करना ठानकर सपूर्ण सर्पों को जरत्कारुके पास नियुक्त रखकर सावधान हो रहे! आगे बहुकाल व्यतीत हुआ, पर धीमान् व्रतपरायण वह ऋषि केवल तपही मे उत्तचित्त रहे; विवाह करना नहीं चाहा। वह महात्मा केवल जितेन्द्रिय, भयरहित स्वाध्याय मे नियुक्त, ऊर्ध्वरेता और तपःपरायण होकरके संपूर्ण पृथ्वीमडल मे घूमने लगे, एक बार मनसे भी विवाह करने की कल्पना नहीं की। हे ब्रह्मन्! कुछ कालान्तर परीक्षित् नामक राजाने

बभूव मृगयाशीलः पुराऽस्य प्रपितामहः ॥ १२ ॥
मृगान्विध्यन्वराहांश्च तरक्षून्महिषांस्तथा ।
अन्यांश्च विविधान्वन्यांश्चचार पृथिवीपतिः ॥ १३ ॥
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा बाणेनाऽऽनतपर्वणा ।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने ॥ १४ ॥
यथैव भगवान्रुद्रो विद्ध्वा यज्ञमृगं दिवि ।
अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः पर्यन्वेष्टुमितस्ततः ॥
न हि तेन मृगो विद्धो जीवन्गच्छति वै वने ॥१५॥
पूर्वरूपं तु तत्तूर्णं सोऽगात्स्वर्गगतिं प्रति ।
परीक्षितो नरेन्द्रस्य विद्धो यन्नष्टवान्मृगः ॥ १६ ॥
दूरं चाऽपहृतस्तेन मृगेण स महीपतिः ।
परिश्रान्तः पिपासार्त आससाद मुनिं वने ॥ १७ ॥
गवां प्रचारेष्वासीनं वत्सानां मुखनिःसृतम् ।
भूयिष्ठमुपयुञ्जानं फेनमापिबतां पयः ॥ १८ ॥
तमभिद्रुत्य वेगेन स राजा संशितव्रतम् ।

कौरव वंश मे जन्म लिया। वह महाराज अपने प्रपितामह पांडुराजा के समान युद्ध मे अद्वितीय धनुषधारी और आखेटक थे; सो वह मृग, शूकर, चीता भैसे, और दूसरे भांति भांति के वनैले जन्तुओं को मार कर मृगया करते हुए फिरा करते थे। (८--१३)

एक समय परीक्षित् विचित्र बाणसे एक मृग को वींधकर पीछे पर धनुष चढाये उसके पीछे दौडते हुए घने वन मे जा घुसे। जैसे पहिले भगवान् रुद्रजी देवलोक में यज्ञ के मृगको वींधकर उसके पीछे पीछे हाथ में चाप लिये ढूंढने के निमित्त इधर उधर घूमते फिरे थे, वह भी वैसेही वींधे हुए मृग के पीछे पीछे दौडते हुए वन मे घूमने लगे! परीक्षित् से वींधा हुआ कोई मृग पहिले जीवित रहकर वन में भाग नही सका था। इस मृग का वींधे जाकर भागना और उससे उनका बडी दूरतक वन वन मे लिवाये जाना उनके केवल बहुत शीघ्र स्वर्गप्राप्ति का पूर्वलक्षण था। आगे परीक्षित् ने थके, मादे और प्यासे होकर वनमे देखा, कि एक मुनि गौचराने के स्थान मे बैठे है और बछडों के दूध पीने के काल में उनके मुहसे गिरे हुए फेनको पी रहे है। राजा परीक्षित्ने भूख और थकावट से कातर

अपृच्छद्धनुरुद्यम्य तं मुनिं क्षुच्छ्रमान्वितः॥ १९ ॥
भो भो ब्रह्मन्नहं राजा परीक्षिदभिमन्युजः ।
मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित्तं दृष्टवानसि॥ २० ॥
स मुनिस्तं तु नोवाच किंचिन्मौनव्रते स्थितः॥ २१ ॥
तस्य स्कन्धे मृतं सर्पं क्रुद्धो राजा समासजत्।
समुत्क्षिप्य धनुष्कोट्या स चैनं समुपैक्षत॥ २२ ॥
न स किंचिदुवाचैनं शुभं वा यदिवाऽशुभम्।
स राजा क्रोधमुत्सृज्य व्यथितस्तं तथागतम् ॥
दृष्ट्वा जगाम नगरमृषिस्त्वासीत्तथैव सः ॥ २३ ॥
न हि तं राजशार्दूलं क्षमाशीलो महामुनिः ।
स्वधर्मनिरतं भूपं समाक्षिप्तोऽप्यधर्षयत् ॥ २४ ॥
न हि तं राजशार्दूलस्तथा धर्मपरायणम् ।
जानाति भरतश्रेष्ठस्तत एनमधर्षयत् ॥ २५ ॥
तरुणस्तस्य पुत्रोऽभूत्तिग्मतेजा महातपाः ।
शृङ्गी नाम महाक्रोधो दुष्प्रसादो महाव्रतः॥ २६ ॥

होकर वेग से व्रत में रत उस मुनि के निकट जाकर धनुप उठाकर पूछा, "हे ब्रह्मन्! मै अभिमन्यु का पुत्र, राजा परीक्षित् हूं; मुझ से बींधा हुआ एक मृग अदृश्य हो गया है, आप ने उसको देखा कि नहीं? मौनव्रत किये हुए उस मुनिने कुछ उत्तर नहीं दिया; आगे राजाने क्रोधवश होकर चाप के अगले भाग से एक सर्पको उठाकर उनके गले में मालाके समान लपेट दिया। मुनिने उस पर ध्यान न देकरके भली बुरी कुछ भी नहीं कही। (१४-२३)

राजा ऋषि को इस दशामें देखकर क्रोध छोड़के कातर हृदयमे राजधानी में लौट गये ऋषि भी उसी दशा मे रहे! वह क्षमाशील महामुनि जानते थे कि राजसिंह परीक्षित् स्वधर्म मे रत रहते है, इस हेतु अपमानित होने पर भी शाप नही दिया। भरतवंश के अवतंस राजशार्दूल परीक्षित् भी उस मुनि को वैसा धर्मशील करके नहीं जानते थे, इसी लिये ऐसी धृष्टता प्रगट की। उस ऋषिका शृंगी नाम एक तरुण पुत्र था; वह अति तेजस्वी, तपस्यायुक्त और व्रतनिष्ठ था; उसको क्रोध आने से शान्त करना असाध्य था! वह बीच बीच में भले प्रकार संयत होकर आदरपूर्वक सुखसे बैठे हुए सर्वभूतों के हित में रत, पितामह ब्रह्माजी

स देवं परममासीनं सर्वभूतहिते रतम् ।
ब्रह्माणमुपतस्थे वै काले काले सुसंयतः ॥ २७ ॥
स तेन समनुज्ञातो ब्रह्मणा गृहमेयिवान् ।
सख्योक्तः क्रीडमानेन स तत्र हसता किल ॥ २८ ॥
संरम्भात्कोपनोऽतीव विषकल्पो मुनेः सुतः।
उद्दिश्य पितरं तस्य यच्छ्रुत्वा रोषमाहरत् ॥ २९ ॥
ऋषिपुत्रेण धर्मार्थे कृशेन द्विजसत्तम ॥ ३० ॥

कृश उवाच— तेजस्विनस्तव पिता तथैव च तपस्विनः ।
शवं स्कन्धेन वहति मा शृङ्गिन्गर्वितो भव ॥ ३१ ॥
व्याहरत्स्वृषिपुत्रेषु मा स्म किंचिद्वचो वद ।
अस्मद्विधेषु सिद्धेषु ब्रह्मवित्सु तपस्विषु ॥ ३२ ॥
क्व ते पुरुषमानित्वं क्व ते वाचस्तथाविधाः ।
दर्पजाः पितरं द्रष्टा यस्त्वं शवधरं तथा ॥ ३३ ॥
पित्रा च तव तत्कर्म नाऽनुरूपमिवाऽऽत्मनः।
कृतं मुनिजनश्रेष्ठ येनाऽहं भृशदुःखितः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सौपर्णे परीक्षिदुपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ (१७११)

के निकट गमन किया करता था। जिस दिन परीक्षित् ने उसके पिता के गले मे मृत सर्प डाल दिया था, उस दिन वह पितामहजी से आज्ञा पाकर घर को आ रहा था। (२३–२८)

ऐसे समय उसके साथी कृश नामक ऋषि पुत्र खेलता हुआ धर्म के विषय मे उसकी हंसी कर उसके पिता का हाल सुनाया। अति क्रोधी ऋषि-कुमार शृंगी उसे सुनते ही क्रोधसे परिपूर्ण होकर एकबार ही विषके समान बना। कृश बोला, " हे शृंगि ! तुम जैसे तपस्वी वैसे ही तेजस्वी भी हो, फिर कभी अहंकार न करना, तुम्हारे पिताने एक मरे सर्पको गले में धारण किया है। हमारे समान ब्रह्मज्ञानी सिद्ध तपस्वी ऋषिपुत्रों के कुछ कहने पर तुम फिर कभी कुछ मत कहना, तुम्हारा पुरुषाभिमान कहां रहा ? तुम्हारे अहंकारके वचन कहां गये ? अभी घरमे जाकर देखोगे, कि तुम्हारे पिता गले में एक मुर्देको लिये हुए है। हे मुनिजनों में श्रेष्ठ पुरुष ! तुम्हारे पिताको कोई दोष करते नहीं देखा, विना दोष ही इस प्रकार से अपमानित होते देखकर

सौतिरुवाच — एवमुक्तः स तेजस्वी शृङ्गी कोपसमन्वितः।
मृतधारं गुरुं श्रुत्वा पर्यतप्यत मन्युना ॥ १ ॥
स तं कृशमभिप्रेक्ष्य सूनृतां वाचमुत्सृजन्।
अपृच्छत्तं कथं तातः स मेऽद्य मृतधारकः ॥ २ ॥

कृश उवाच— राज्ञा परीक्षिता तात मृगयां परिधावता ।
अवसक्तः पितुस्तेऽद्य मृतः स्कन्धे भुजङ्गमः॥ ३ ॥

शृङ्ग्युवाच— किं मे पित्रा कृतं तस्य राज्ञोऽनिष्टं दुरात्मनः।
ब्रूहि तत्कृश तत्त्वेन पश्य मे तपसो बलम् ॥ ४ ॥

कृश उवाच— स राजा मृगयां यातः परीक्षिदभिमन्युजः।
ससार मृगमेकाकी विद्ध्वा बाणेन शीघ्रगम् ॥ ५ ॥
न चाऽपश्यन्मृगं राजा चरंस्तस्मिन्महावने।
पितरं ते स दृष्ट्वैव पप्रच्छाऽनभिभाषिणम् ॥ ६ ॥
तं स्थाणुभूतं तिष्ठन्तं क्षुत्पिपासाश्रमातुरः ।
पुनः पुनर्मृगं नष्टं पप्रच्छ पितरं तव ॥ ७ ॥
स च मौनव्रतोपेतो नैव तं प्रत्यभाषत ।

मैं बडा दुःखी हुआ हूं । "(२८–३४)

आदिपर्व में चालीसवां अध्याय समाप्त ।[१७११]

आदिपर्व में इकतालीसवां अध्याय ।

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि कृश के इतनी कथा कहने पर वह तेजस्वी शृंगी क्रोधयुक्त होकर पिता के मृत सर्प धारण की बात सुनकर मनकी पीडा से जलने लगा, आगे कृशकी ओर देखकर मीठी बातों से पूछा, आज क्यों कर मेरे पिताके गले मे मृत सर्प आया ? " कृश बोला " आज राजा परीक्षित् मृगयाको आकर तुम्हारे पिता के गले में मरा सर्प डाल गये है । " शृंगी बोला, " हे कृश! सच बोलो, मेरे पिताने उस मन्दबुद्धि राजा का कौनसा अनिष्ट किया था और देखो, मेरा तपोबल कितना है ।" (१–४)

कृश बोला, "अभिमन्युके पुत्र परीक्षित् मृगयाके निमित्त वन मे प्रवेश कर बाण से एक शीघ्रगामी मृगको बींधकर अकेले उसको पछियाने लगे; आगे जब घोर बन मे देर तक घूमने पर भी मृग को नहीं देखा, तब भूख, प्यास और थकावट से विकल होकर जड के समान बैठे मोन साधे तुम्हारे पिता को देखते ही उस भागे हुए मृग की बात बार बार पूछने लगे । तुम्हारे [illegible] व्रत किये हुए थेः सो कुछ [illegible] दिया । उसीसे राजाने [illegible]

तस्य राजा धनुष्कोट्या सर्पं स्कन्धे समासजत्॥ ८॥
शृङ्गिंस्तव पिता सोऽपि तथैवाऽऽस्ते यतव्रतः।
सोऽपि राजा स्वनगरं प्रस्थितो गजसाह्वयम् ॥ ९॥

सौतिरुवाच— श्रुत्वैवमृषिपुत्रस्तु शवं स्कन्धे प्रतिष्ठितम्।
कोपसंरक्तनयनः प्रज्वलन्निव मन्युना ॥ १०॥
आविष्टः स हि कोपेन शशाप नृपतिं तदा।
वार्युपस्पृश्य तेजस्वी क्रोधवेगबलात्कृतः ॥ ११॥

शृंग्युवाच— योऽसौ वृद्धस्य तातस्य तथा कृच्छ्रगतस्य ह।
स्कन्धे मृतं समास्राक्षीत्पन्नगं राजकिल्बिषी॥ १२॥
तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः॥ १३॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति।
द्विजानामवमन्तारं कुरूणामयशस्करम् ॥ १४॥

सौतिरुवाच— इति शप्त्वाऽतिसंक्रुद्धः शृङ्गी पितरमभ्यगात्।
आसीनं गोव्रजे तस्मिन्वहन्तं शवपन्नगम् ॥ १५॥
स तमालक्ष्य पितरं शृङ्गी स्कन्धगतेन वै।

एक मृत सर्पको उठाकर उनके गले पर रख दिया। हे शृंगिन्! तुम्हारे व्रतशील पिता भी उसी दशा में है, राजा परीक्षित् अपनी राजधानी हस्तिनापुर को पधारे हैं।" (५-९)

श्री उग्रश्रवाजी बोले, कि यह सुनकर कि पिताके गलेमें मृत सर्प रखा हुआ है, ऋषि-पुत्र क्रोधाग्नि से जल उठे, उनके दोनों नेत्र लाल हो गये। उस क्रोधी और तेजस्वी ऋषि-कुमारने क्रोध से बावले बनकर जल छूकर भूपाल को यह शाप दिया, कि "जिस पापिष्ठ राजाने मौनव्रतयुक्त मेरे वृद्ध पिता के गले में मृत सर्प डाल दिया है, कठोर विषधारी सर्पनाथ तक्षक मेरे वाक्यानुसार अति क्रोधित होकर उस ब्राह्मण के अपमान करनेवाले कुरुकुल के कलंक रूपी राजा को सात रातों के बीच में यमराज के पाहुने बनावेंगे।" (१०-१४)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि क्रोधवश इस प्रकार शाप देकर पिताके निकट गया। उसके पिता मृतसर्प लेकर गो चरानेके स्थान में बैठे थे, शृंगी उनको उस दशा मे देखकर फिर क्रोधयुक्त होकर मन की पीडासे आंसू गिराने लगा और बोला," पिता! यह सुनकर, कि

शवेन भुजगेनाऽऽसीद्भूयः क्रोधसमाकुलः ॥ १६ ॥
दुःखाच्चाऽश्रूणि मुमुचे पितरं चेदमब्रवीत्।
श्रुत्वेमां धर्षणां तात तव तेन दुरात्मना ॥ १७ ॥
राज्ञा परीक्षिता कोपादशपं तमहं नृपम् ।
यथाऽर्हति स एवोग्रं शापं कुरुकुलाधमः ॥ १८ ॥
सप्तमेऽहनि तं पापं तक्षकः पन्नगोत्तमः ।
वैवस्वतस्य सदनं नेता परमदारुणम् ॥ १९ ॥
तमब्रवीत्पिता ब्रह्मंस्तथा कोपसमान्वितम् ॥ २० ॥

शमीक उवाच— न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम् ।
वयं तस्य नरेन्द्रस्य विषये निवसामहे ॥ २१ ॥
न्यायतो रक्षितास्तेन तस्य पापं न रोचये ।
सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञो ह्यस्माद्विधैः सदा ॥ २२ ॥
क्षन्तव्यं पुत्र धर्मो हि हतो हन्ति न संशयः।
यदि राजा न संरक्षेत्पीडा नः परमा भवेत्॥ २३ ॥
न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम् ।
रक्ष्यमाणा वयं तात राजभिर्धर्मदृष्टिभिः ॥ २४ ॥
चरामो विपुलं धर्मं तेषां भागोऽस्ति धर्मतः।

दुरात्मा राजा परीक्षित् ने आपका यह अपमान किया है,मैंने क्रोधसे उस कुरुकुल के कलङ्की को उसके कुकार्ययोग्य यह कठोर शाप दिया है, कि सातवे दिन सर्प श्रेष्ठ तक्षक उसको यमघर पहुचावेंगे।" हे ब्रह्मन् ! शमीक ऋषि उस प्रकार क्रोधयुक्त शृंगी से बोले, " बेटा! तुमने जो किया, उससे मै अप्रसन्न हुआ, तपस्वियों का ऐसा धर्म नहीं है ; हम उस राजाके अधिकार में वसते है और वह भी न्यायानुसार हमारी रक्षा कर रहे है, इसलिये उनका दोष लेनेयोग्य नहीं है। बेटा ! राजा के दोष करने पर भी उनको क्षमा करना हमारा कर्तव्य है, हमारे धर्म को बिगाडने से धर्म भी हमको बिगाडता है । यदि राजा हमारी रक्षा न करे, तो हमारा भारी अमंगल हो सकता है, हम फिर सुखसे धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकते; बेटा ! धार्मिक राजों से भले प्रकार रक्षित होकर हम बहुत धर्मार्जन किया करते है, सो राजा धर्मतः हमारे धर्मके भी भागी होते है ; अतएव राजाके दोष करने पर भी उनको क्षमा करना चाहिये । विशेष कर जिसप्रकार से प्रजा

सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञः क्षन्तव्यमेव हि ॥ २५ ॥
परीक्षित्तु विशेषेण यथाऽस्य प्रपितामहः ।
रक्षत्यस्मांस्तथा राज्ञा रक्षितव्याःप्रजा विभो॥२६ ॥
तेनेह क्षुधितेनाऽद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ॥ २७॥
अराजके जनपदे दोषा जायन्ति वै सदा ।
उद्वृत्तं सततं लोकं राजा दण्डेन शास्ति वै॥ २८ ॥
दण्डात्प्रतिभयं भूयः शान्तिरुत्पद्यते तदा ।
नोद्विग्नश्चरते धर्मं नोद्विग्नश्चरते क्रियाम् ॥ २९ ॥
राज्ञा प्रतिष्ठितो धर्मो धर्मात्स्वर्गः प्रतिष्ठितः।
राज्ञो यज्ञक्रियाः सर्वा यज्ञाद्देवाः प्रतिष्ठिताः॥ ३० ॥
देवाद्वृष्टिः प्रवर्तेत वृष्टेरोषधयः स्मृताः ।
ओषधिभ्यो मनुष्याणां धारयन्सततं हितम्॥ ३१ ॥
मनुष्याणां च यो धाता राजा राज्यकरः पुनः।
दशश्रोत्रियसमो राजा इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥ ३२ ॥
तेनेह क्षुधितेनाऽद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।

ओं को पालना राजा का कर्तव्य है,परीक्षित् उसी प्रकारसे अपने प्रपितामह पाण्डुराजा के समान आदर-यत्न से हमारी रक्षा कर रहे हैं। जान पडता है, कि उस तपस्वी राजाने भूखे और थके रह कर मेरा जो मौनव्रत है, उसे न जानके ही ऐसा किया है। बेटा ! देश मे राजा न रहने से सदा लुटेरों के भय आदि नाना दोष आ पडते हैं, लोगो के निद्रोही होने से राजा ही दण्ड देकर उनका शासन करते है; जब सब लोग राजाके दण्ड के भय से भीत होते है, तभी शान्ति भले प्रकार संस्थापित होती है। सदा भययुक्त रहने से कोई धर्माचरण वा यागादि क्रिया नही कर सकता, सो राजाही से धर्म और धर्म ही से स्वर्ग मिलता है; भूपाल द्वारा संपूर्ण यागादि क्रिया ओं के अनुष्ठान होने से देवगण प्रसन्न होकर वृष्टि करते है, वृष्टि से अन्नआदि उपजते है। और अन्नआदि से प्रजाके जीवन बने रहते है। राजा राज्य की रक्षा करते है , इसी लिये वह मनुष्यों के धाता होते है, भगवान् मनुजी कह गये है, कि राजा दश श्रोत्रीय ब्राह्मण के समान माननीय है! अतएव जान पडता है, कि तपस्वी परीक्षित्ने भूखे होकर और

अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ॥ ३३ ॥
कस्मादिदं त्वया बाल्यात्सहसा दुष्कृतं कृतम् ।
न ह्यर्हति नृप: शापमस्मत्तः पुत्र सर्वथा ॥ ३४ ॥ (१७४५)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि परीक्षिच्छापे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

शृङ्ग्युवाच— यद्येतत्साहसं तात यदि वा दुष्कृतं कृतम् ।
प्रियं वाऽप्यप्रियं वा ते वागुक्ता न मृषा भवेत् ॥ १ ॥
नैवाऽन्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते ।
नाऽहं मृषा ब्रवीम्येवं स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ॥ २ ॥

शमीक उवाच— जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा ।
नाऽनृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ ३ ॥
पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।
यथा स्याद् गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥ ४ ॥
किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः सदा ।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ॥ ५ ॥
सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर ।

थककर मेरे इस मौनव्रत को न जानके ही ऐसा किया है; बेटा! तुमने बालस्वभाव से क्या ऐसा कुकर्म किया? राजा को शाप देना हमारे लिये किसी प्रकार कर्तव्य नहीं होता।" (२०–३४)

आदिपर्व में एकतालीसवां अध्याय समाप्त। [१७४५]

आदिपर्व में बयालीसवां अध्याय ॥

शृङ्गी बोला, "हे पिता! यदि परीक्षित् को शाप देने से मेरा साहस प्रकाश वा कुकर्म हुआ हो, तो होवे और आप भी उसे प्रिय वा अप्रिय जो कुछ समझना हो, समझें; पर मेरी कही हुई बात व्यर्थ नहीं होगी। हे तात! मैं आपको निश्चय करके कहता हूं, कदापि मेरी वह बात झूठी न होगी, मेरा शाप का व्यर्थ होना तो दूर रहा, मैं हंसी से भी कभी झूठ नहीं बोलता।" शमीक बोले, "बेटा! मैं जानता हूं, कि तुम्हारा प्रभाव बडा कठोर है और तुम सत्यवादी हो, कभी झूठ नहीं बोले हो और तुम्हारा दिया हुआ यह शाप भी व्यर्थ नहीं जायगा; पुत्र के वयःप्राप्त होने पर भी सदा उसको ऐसा उपदेश करना पिताका कर्तव्य है, कि वह गुणवान् और यशयुक्त होवे। तुम तो बालक हो, सदा तप ही में रत हो, महात्माओं के भी प्रभाव बढने के

पुत्रत्वं बालतां चैव नवाऽवेक्ष्य च साहसम् ॥ ६ ॥
स त्वं शमपरो भूत्वा वन्यमाहारमाचरन् ।
चर क्रोधमिमं हत्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ॥ ७ ॥
क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥ ८ ॥
शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ९ ॥
तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान्ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥१०॥
मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै ।
तत्करिष्याम्यहं तात प्रेषयिष्ये नृपाय वै ॥ ११ ॥
मम पुत्रेण शप्तोऽसि बालेन कृशबुद्धिना ।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ॥ १२ ॥
सौतिरुवाच— एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः ।
परीक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ॥ १३ ॥

साथ साथ क्रोध भी बहुत बढता है। हे धार्मिकवर! तुम्हारा बालस्वभाव और अनुचित साहस देखकर जान पडता है, कि मुझे पुत्र प्रेमवश तुमको बहुतेरे विषयोंकी शिक्षा देनी होगी। (१-६)

हे पुत्र! तुम क्रोध तज, शमयुक्त होकर वनके फल मूल खाकर तप किया करो, इस प्रकारसे फिर धर्मक्षय न करना, क्योंकि जितेन्द्रिय मुनियों का बडे दुःख से बटोरा हुआ जो धर्म है, वह क्रोधसे लोप हो जाता है और धर्मके लोप होनेही से वाञ्छित सद्गति नहीं मिलती। क्षमाशील यतियों को क्षमाही सिद्धि की जड है, तुम सदा क्षमाशील और जितेन्द्रिय होकर तप करते रहो, एक क्षमा को आश्रय करके ब्रह्मलोकको प्राप्त करोगे। बेटा! मैं शान्ति को आश्रय करके आज जितना संभव हो सके, सब करूंगा, अवश्य ही नरनाथके निकट यह बात कहला भेजूंगा, कि "राजन्! तुम जो हमारे गले पर मृत सर्प डालकर मेरा अपमान कर गये हो, वह देखकर मेरे न सहनेहारे बालक पुत्रने अज्ञानता से तुमको शाप दिया है।" (७-१२)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि सुव्रतकारी महातपा शमीक का हृदय दया से गल गया! उन्होंने गौरमुख नामक सुशील और सावधान शिष्य को यह आज्ञा

संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम्॥ १४॥
सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्धनम्।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ॥ १५॥
पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा ।
आचख्यौ च परिश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः।
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसन्निधौ ॥ १६ ॥
गौरमुख उवाच— शमीको नाम राजेन्द्र वर्तते विषये तव ।
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः १७॥
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः।
अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्धे मौनान्वितस्य च १८॥
क्षान्तवांस्तव तत्कर्म पुत्रस्तस्य न चक्षमे ।
तेन शप्तोऽसि राजेन्द्र पितुरज्ञातमद्य वै ॥१९॥
तक्षकः सप्तरात्रेण मृत्युस्तव भविष्यति ॥२०॥
तत्र रक्षां कुरुष्वेति पुनः पुनरथाऽब्रवीत् ।
तदन्यथा न शक्यं च कर्तुं केनचिदप्युत ॥२१॥
न हि शक्नोति तं यन्तुं पुत्रं कोपसमन्वितम् ।

देकर भेज दिया, कि तुम राजाके पास जाकर कुशल-क्षेम पूछकर सम्पूर्ण समाचार कहना। गौरमुख उसी क्षण पधारकर द्वारपाल से पहिले निवेदित होकर कुरुकुलके बढाने वाले राजा परीक्षित् के मन्दिर में गये। आगे थकावट दूर कर मन्त्रियों के सामने ही राजा के पास शमीक मुनिके कहे हुए कठोर समाचारको आदि से अन्ततक कहने लगे, " हे राजेंद्र! आपके अधिकार में परम धार्मिक, शान्त, दान्त महातपोवन्त शमीक नामक एक महर्षि हैं; हे नरसिंह! वह मौनव्रतधारी है. आपने चाप की कोटि से एक मृतसर्प को उठाकर उनके गले में लपेट दिया था. शमीक मुनिने आपके उस कार्य से क्रोधित न हो करके क्षमा की थी, पर उनके पुत्रने क्षमा न करके आज पिताके न जानने में आपको यह शाप दिया है, कि सात रातों के बीच में तक्षक सर्प महाराज को काटेगा। शमीक-ऋषि, पुत्र को बार बार बोले थे, कि ऐसा करो, कि जिससे महाराज बच जायं, पर वह बोला, कि कोई भी उस शाप को व्यर्थ न कर सकेगा। ऋषिवर किसी

ततोऽहं प्रेषितस्तेन तव राजन्हितार्थिना ॥ २२ ॥
सौतिरुवाच— इति श्रुत्वा वचो घोरं स राजा कुरुनन्दनः ।
पर्यतप्यत तत्पापं कृत्वा राजा महातपाः ॥ २३ ॥
तं च मौनव्रतं श्रुत्वा वने मुनिवरं तदा ।
भूय एवाऽभवद्राजा शोकसंतप्तमानसः ॥ २४ ॥
अनुक्रोशात्मतां तस्य शमीकस्याऽवधार्य च ।
पर्यतप्यत भूयोऽपि कृत्वा तत्किल्बिषं मुनेः ॥ २५ ॥
न हि मृत्युं तथा राजा श्रुत्वा वै सोऽन्वतप्यत ।
अशोचदमरप्रख्यो यथा कृत्वेह कर्म तत् ॥ २६ ॥
ततस्तं प्रेषयामास राजा गौरमुखं तदा ।
भूयः प्रसादं भगवान्करोत्विह ममेति वै ॥ २७ ॥
तस्मिंश्च गतमात्रेऽथ राजा गौरमुखे तदा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रयामास सह संविग्नमानसः ॥ २८ ॥
संमन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥ २९ ॥
रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।

प्रकारसे क्रोधयुक्त पुत्रके क्रोध को शान्त न कर सके, इस हेतु आपकी हितेच्छा से मुझे भेजा है!"(१३—२२)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि कुरुवंशावतंस तपस्वी राजा परीक्षित् उस कठोर बात को सुनकर यह जान करके, कि मैंने पापकार्य किया है, अति दुःखी हुए; विशेष कर जब सुना, कि उस महामुनिने मौनव्रत के कारण उत्तर नहीं दिया था, तब और भी अधिक शोक से कातर हुए और यह सोचते हुए कि ऐसे दया-स्वभावी शमीक मुनि का मैंने अपमान किया है, पूर्वके किये पाप को स्मरण कर बार बार कातर होने लगे। देव-समान राजा परीक्षित् यह समझकर कि क्षमाशील ब्राह्मण का अपमान किया है, जैसे दुःखी हुए, अपनी मृत्यु के समाचार सुनने परभी वैसे कातर नहीं हुए। अनन्तर यह प्रार्थना जताकर कि भगवान् शमीकमुनि फिर मुझ पर प्रसन्न होवें, गौरमुख को विदा किया। (२३-२७)

गौरमुख के चलेजाने पर राजा सोचयुक्त हो उसी क्षण मन्त्रियों से मन्त्रणा करने लगे। स्वयं मन्त्रतत्त्वज्ञ होकरके भी उन्होंने मन्त्रियों से विचार कर अच्छे प्रकारसे रक्षित एकस्तम्भवाला एक गृह बनवाया; आगे बचने के निमित्त चिकि-

ब्राह्मणान्मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥३०॥
राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाऽकरोच्च सः।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञः समन्तात्परिरक्षितः ॥३१॥
न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम् ।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशो विनिवार्यते ॥३२॥
प्राप्ते च दिवसे तस्मिन्सप्तमे द्विजसत्तमः ।
काश्यपोऽभ्यागमद्विद्वांस्तं राजानं चिकित्सितुम् ३३
श्रुतं हि तेन तद्भूद्यथा तं राजसत्तमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठो नेष्यते यमसादनम् ॥३४॥
तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण करिष्येऽहमपज्वरम् ।
तत्र मेऽर्थश्च धर्मश्च भवितेति विचिन्तयन् ॥३५॥
तं ददर्श स नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं पथि ।
गच्छन्तमेकमनसं द्विजो भूत्वा वयोतिगः ॥३६॥
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं मुनिपुङ्गवम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ३७॥

काश्यप उवाच— नृपं कुरुकुलोत्पन्नं परीक्षितमरिंदमम् ।

तक्षक और दवा पास रक्खी और मन्त्र मे सिद्ध ब्राह्मणोंको शरीर की रक्षाके निमित्त नियुक्त किया। परम धार्मिक वह परीक्षित् मन्त्रियों से चारों ओर से सुरक्षित होकर उसी स्थान मे सब राजकार्य करने लगे। उस सुरक्षित गृह मे राजा के पास कोई भी जाने नहीं पाता था। अधिक कहना व्यर्थ है, सर्वत्र चलनेवाली हवा भी वहा पहुंचने नहीं पाती थी।(२८–३२)

आगे सातवां दिन आ पहुंचने पर द्विजश्रेष्ठ विद्वान् काश्यप राजा की चिकित्सा करने को पधारे। उन्होंने सुनाथा, कि सर्पनाथ तक्षक राजा परीक्षित् को यमराजके घर पहुंचावेगा, इसमे उन्होंने मनही मन में निश्चय किया था, कि सर्पनाथ के राजा को काटने ही से मै विषमे मुक्तकर आरोग्य करूगा ऐसा करने मे मुझे धर्मार्थ दोनों प्राप्त होंगे। यह सोचते हुए एकचित्त होकर काश्यपजी जारहे थे, कि ऐसे समयमें नागराज तक्षक बूढे ब्राह्मण का वेश धरकर उन मे जा मिला और बोला," हे मुनिश्रेष्ठ! आप शीघ्रता से कहां जारहे है? आपने कौनसा कार्य साधने की इच्छा की है?' (३३–३७)

काश्यपजी बोले," आज सर्पनाथ तक्ष-

तक्षकः पन्नगश्रेष्ठस्तेजसाऽद्य प्रधक्ष्यति ॥ ३८ ॥
तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण तेनाऽग्निसमतेजसम् ।
पाण्डवानां कुलकरं राजानममितौजसम ॥
गच्छामि त्वरितं सौम्य सद्यः कर्तुमपज्वरम्॥३९ ॥
तक्षक उवाच— अहं स तक्षको ब्रह्मंस्तं धक्ष्यामि महीपतिम् ।
निवर्तस्व न शक्तस्त्वं मया दष्टं चिकित्सितुम्॥४० ॥
काश्यप उवाच— अहं तं नृपतिं गत्वा त्वया दष्टमपज्वरम् ।
करिष्यामीति मे बुद्धिर्विद्याबलसमन्विता ॥ ४१ ॥ (१७८३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि काश्यपागमने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

तक्षक उवाच— यदि दष्टं मयेह त्वं शक्तः किंचिचिकित्सितुम् ।
ततो वृक्षं मया दष्टमिमं जीवय काश्यप ॥ १ ॥
परं मन्त्रबलं यत्ते तद्दर्शय यतस्व च ।
न्यग्रोधमेनं धक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥
काश्यप उवाच— दश नागेन्द्र वृक्षं त्वं यद्येतदभिमन्यसे ।
अहमेनं त्वया दष्टं जीवयिष्ये भुजङ्गम ॥ ३ ॥

क कुरुकुल-नन्दन शत्रुनाशी राजा परीक्षित् को विष से जलावेगा, हे सौम्य ! अग्निके समान तेजस्वी पाण्डवकुलतिलक महाबली राजा को तक्षकके काटने ही से मै उसीक्षण आरोग्य करूंगा, इस अभिप्राय से मै शीघ्र जारहा हूं।" तक्षक बोला," ब्रह्मन् ! मै ही तक्षक हूं, परीक्षित् को भस्म करूंगा; मेरे काटने से तुम आरोग्य नही कर सकोगे,तुम लौट जाओ।" काश्यपजी बोले," यह मुझको निश्चयरूपसे जान पडता है, कि तुम्हारे राजाको काटने से मै जाकर विद्याबल द्वारा विष से बचा सकूंगा। (३८–४१)

आदिपर्व मे बयालीसवा अध्याय समाप्त। [१७८३]

आदिपर्व मे तैतालीसवा अध्याय॥

तक्षक बोला, कि हे काश्यप ! यदि तुमको ऐसी समझ हो, कि मेरे काटने से तुम आरोग्य कर सकोगे, तो मै इस बडको काटता हूं, तुम उसको जिलादो, और अपनी शक्तिके अनुसार मन्त्रबल दिखाने में त्रुटि मत करो; हे द्विजसत्तम! देखो, तुम्हारे सामने ही इस वृक्ष को भस्म कर देता हूं। काश्यपजी बोले," हे नागनाथ ! यदि तुमको ऐसी समझ हुई हो, कि मै आरोग्य नहीं कर सकूंगा, तो इस वृक्ष को काटो, तुम्हारे काटनेसे मै

सौतिरुवाच— एवमुक्तः स नागेन्द्रः काश्यपेन महात्मना ।
अदशद्वृक्षमभ्येत्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तमः ॥ ४ ॥
स वृक्षस्तेन दष्टस्तु पन्नगेन महात्मना ।
आशीविषविषोपेतः प्रजज्वाल समन्ततः ॥ ५ ॥
तं दग्ध्वा स नगं नागः काश्यपं पुनरब्रवीत् ।
कुरु यत्नं द्विजश्रेष्ठ जीवयैनं वनस्पतिम् ॥ ६ ॥
सौतिरुवाच— भस्मीभूतं ततो वृक्षं पन्नगेन्द्रस्य तेजसा ।
भस्म सर्वं समाहृत्य काश्यपो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
विद्याबलं पन्नगेन्द्र पश्य मेऽद्य वनस्पतौ ।
अहं संजीवयाम्येनं पश्यतस्ते भुजङ्गम ॥ ८ ॥
ततः स भगवान्विद्वान्काश्यपो द्विजसत्तमः।
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ॥ ९ ॥
अङ्कुरं कृतवांस्तत्र ततः पर्णद्वयान्वितम् ।
पलाशिनं शाखिनं च तथा विटपिनं पुनः ॥ १० ॥
तं दृष्ट्वा जीवितं वृक्षं काश्यपेन महात्मना ।
उवाच तक्षको ब्रह्मन्नैतदित्यद्भुतं त्वयि ॥ ११ ॥
द्विजेन्द्र यद्विषं हन्या मम वा मद्विधस्य वा ।
कं त्वमर्थमभिप्रेप्सुर्यासि तत्र तपोधन ॥ १२ ॥

उसको फिर जिला दूंगा।" (१–३)

श्रीउग्रश्रवा जी बोले, कि महात्मा काश्यपके यह कहने पर नागेश तक्षकने उस बड को काटा, सर्प के बडे प्रयत्न से काटते ही वह वृक्ष विषम सर्पविष से जलने लगा। तक्षक उस वृक्ष को भस्म करके काश्यपजीसे फिर बोला," हे द्विजराज! तुम अपनी शक्ति के अनुसार यत्न करके इस वृक्ष को फिर जिलाओ।" सौतिजी बोले, कि काश्यपने तक्षक के तेज से भस्म हुए वृक्षके भस्म को लेकर के कहा," हे सर्पनाथ! आज इस वृक्ष पर मेरी विद्या का बल देखो, तुम्हारे सामने ही मैं इस को जिलाता हूं।"(४–८)

अनन्तर उस द्विजश्रेष्ठ विद्वान् भगवान् काश्यपने उस भस्म हुए वृक्षको विद्या के बल से जीवन दिया। उसमें पहिले, अङ्कुर, आगे दोपत्ते, उसके पश्चात् महाशाखा, फिर छोटी छोटी शाखा और संपूर्ण पत्ते निकल पडे। महात्मा काश्यप को वृक्षको फिर जिला देते देखकर तक्षक बोला," हे ब्रह्मन्! यह तुम्हारे

यत्तेऽभिलषितं प्राप्तुं फलं तस्मान्नृपोत्तमात् ।
अहमेव प्रदास्यामि तत्ते यद्यपि दुर्लभम् ॥ १३ ॥
विप्रशापाभिभूते च क्षीणायुषि नराधिपे ।
घटमानस्य ते विप्र सिद्धिः संशयिता भवेत् ॥ १४ ॥
ततो यशः प्रदीप्तं ते त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
निरंशुरिव घर्मांशुरन्तर्धानमितो व्रजेत् ॥ १५ ॥

काश्यप उवाच— धनार्थी याम्यहं तत्र तन्मे देहि भुजङ्गम ।
ततोऽहं विनिवर्त्तिष्ये स्वापतेयं प्रगृह्य वै ॥ १६ ॥

तक्षक उवाच— यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद्राज्ञस्ततोऽधिकम् ।
अहमेव प्रदास्यामि निवर्तस्व द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच— तक्षकस्य वचः श्रुत्वा काश्यपो द्विजसत्तमः।
प्रदध्यौ सुमहातेजा राजानं प्रति बुद्धिमान् ॥ १८ ॥
दिव्यज्ञानः स तेजस्वी ज्ञात्वा तं नृपतिं तदा ।
क्षीणायुषं पाण्डवेयमपावर्त्तत काश्यपः ॥ १९ ॥
लब्ध्वा वित्तं मुनिवरस्तक्षकाद्यावदीप्सितम् ॥ २० ॥

लिये बड आश्चर्य का विषय नहीं है, कि तुम मेरे सदृश किसी दूसरे सर्प के, तेज विषको दूरकर सकते हो, पर हे तपोधन! बोलो, तुम कैसी प्रार्थना सहित राजाको विष से मुक्त करने को जा रहे हो; तुमने राजासे जो वस्तु पाने की अभिलाषा की है वह दुर्लभ भी हो तो मै दे देता हूं।" (९—१३)

"हे विप्र! विप्रशापवश उस राजा की आयु अन्त हुई है, तुम्हारे वहां जाने से अभिप्राय के सिद्ध होने में सन्देह है, अतएव यदि आरोग्य न कर सको, तो तुम्हारा तीनों लोकों मे प्रसिद्ध, प्रकाशमान यशरूपी प्रकाश प्रकाश-वर्जित सूर्यकी भांति छिप जायगा।' श्रीकाश्यप जी बोले, 'हे सर्पराज! मै धन की आशा से वहां जाता हूं तुम वह मुझे दो; मे सुवर्ण पाने से लौट जाऊंगा।" तक्षक बोला "हे द्विजोत्तम! तुमने राजासे जितना धन पाने की आशा की है, मै उससे भी अधिक दे देता हूं, लौट जाओ।" (१४—१७)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, बुद्धिमान् द्विजश्रेष्ठ अति तेजस्वी काश्यपमुनि तक्षक की बात सुनकर राजा परीक्षित् के विषय में ध्यान करने लगे। आगे दिव्यज्ञान के प्रभाव से यह देखकर, कि पाण्डवपुत्र राजा परीक्षित की आयु अन्त हुई है, तक्षक से मनमाना धन पाकर लौट गये।

निवृत्ते काश्यपे तस्मिन्समयेन महात्मनि ।
जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ॥ २१ ॥
अथ शुश्राव गच्छन्स तक्षको जगतीपतिम् ।
मन्त्रैर्गदैर्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः ॥ २२ ॥
सौतिरुवाच— स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः ।
मया वञ्चयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति ॥ २३ ॥
ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत्स भुजङ्गमान् ।
फलदर्भोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः ॥ २४ ॥
तक्षक उवाच— गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया ।
फलपुष्पोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम् ॥ २५ ॥
सौतिरुवाच— ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजङ्गमाः ।
उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च ॥ २६ ॥
तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
कृत्वा तेषां च कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान् ॥ २७ ॥
गतेषु तेषु नागेषु तापसच्छद्मरूपिषु ।
अमात्यान्सुहृदश्चैव प्रोवाच स नराधिपः ॥ २८ ॥
भक्षयन्तु भवन्तो वै स्वादूनीमानि सर्वशः ।
तापसैरुपनीतानि फलानि सहिता मया ॥ २९ ॥

महात्मा काश्यपके उस नियम से लौट जाने पर तक्षक तुरन्त हस्तिनापुर को पधारा और पथमें सुना, कि राजा विष हरने वाली दवा और मन्त्रोंसे बडे यत्नसे रक्षित हो रहे हैं। तब सोचने लगा, कि माया के बल से राजा को ठगना पडेगा, अब कौनसा उपाय करूं। (१८--२३)

अनन्तर उस तक्षक-सर्पने साथी-नागोंको तपस्वी का रूप धारणकर तथा फल, दर्भ और उदक लेकर राजा के पास जाने की आज्ञा दी और कहा, कि तुम हडबडी न दिखाकर किसी काम के बहाने से राजा के पास जाकर उनको फल, फूल और जल देना । सर्पो ने तक्षक की आज्ञानुसार कार्य किया और राजा को फल, फूल और जल दिया। वीर्यशाली राजा परीक्षित् ने वह सब ले लिये और उनको कार्य पूराकर चले जाने की आज्ञा दी। तपस्वीरूपी सर्पो के चले जाने पर राजाने साथी और मित्रों से कहा, कि तुम मेरे साथ तपस्वियों से लाये हुए, यह मीठे फल खाओ। आगे उन्हों

ततो राजा ससचिवः फलान्यादातुमैच्छत ।
विधिना संप्रयुक्तो वै ऋषिवाक्येन तेन तु ॥ ३० ॥
यस्मिन्नेव फले नागस्तमेवाभक्षयत्स्वयम् ।
ततो भक्षयतस्तस्य फलात्कृमिरभूदणुः ॥ ३१ ॥
ह्रस्वकः कृष्णनयनस्ताम्रवर्णोऽथ शौनक ।
स तं गृह्य नृपश्रेष्ठः सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ३२ ॥
अस्तमभ्येति सविता विषादद्य न मे भयम् ।
सत्यवागस्तु स मुनिः कृमिर्मां दशतामयम् ॥ ३३ ॥
तक्षको नाम भूत्वा वै तथा परिहृतं भवेत् ।
ते चैनमन्ववर्तन्त मन्त्रिणः कालचोदिताः ॥ ३४ ॥
एवमुक्त्वा स राजेन्द्रो ग्रीवायां संनिवेश्य ह ।
कृमिकं प्राहसत्तूर्णं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ॥ ३५ ॥
प्रहसन्नेव भोगेन तक्षकेण त्ववेष्ट्यत ।
तस्मात्फलाद्विनिष्क्रम्य यत्तद्राज्ञे निवेदितम् ॥ ३६ ॥
वेष्टयित्वा च वेगेन विनद्य च महास्वनम् ।
अदशत्पृथिवीपालं तक्षकः पन्नगेश्वरः ॥ ३७ ॥ (१८२३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि तक्षकदंशे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

ने मन्त्रियों के सहित फल खाना चाहा और जिस फलके भीतर तक्षक था, ऋषिपुत्रके शापानुसार दैव-प्रेरणासे उसीको स्वयं खाने लगे। (२३—३१)

हे शौनक! भोजन करने के समयमें एक अणु-प्रमाण छोटा कालेनेत्रवाला, तामे के रङ्ग का कीट देखा। राजश्रेष्ठ परीक्षित् ने उस कीट को लेकर मन्त्रियों से कहा, कि देखो, सूर्यदेव अस्ताचलशिखर पर पहुंच रहे हैं, आज अब मुझे विष का भय नहीं रहा; सो यह कीट तक्षक का प्रतिनिधि होकर मुझे काट देवे, तभी उस मुनिकी बात भी सच ठहरेगी और मेरा शाप भी दूर होगा। राजा यह कहकर मुर्झाकर और चेतना वार्जित होकर उसीक्षण उस कीटको गलेमें लगाकर हंसने लगे। विधि के नियमानुसार मन्त्रियों ने भी उनके मत को समर्थन किया। राजा हंस रहे थे, कि ऐसे समय में तक्षकने तपस्वियो के दिये हुए उस फलसे निकलकर अपने शरीर से अति वेगपूर्वक उनको घेर लिया। हे शौनक!

सौतिरुवाच— ते तथा मन्त्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम् ।
विषण्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥
तं तु नादं ततः श्रुत्वा मन्त्रिणस्ते प्रदुद्रुवुः ।
अपश्यन्त तथा यान्तमाकाशे नागमद्भुतम् ॥ २ ॥
सीमन्तमिव कुर्वाणं नभसः पद्मवर्चसम् ।
तक्षकं पन्नगश्रेष्ठं भृशं शोकपरायणाः ॥ ३ ॥
ततस्तु ते तद्गृहमग्निना वृतं प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः ।
भयात्परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे पपात राजाऽशनिताडितो यथा ॥ ४ ॥
ततो नृपे तक्षकतेजसा हते प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः ।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ॥ ५ ॥
नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः ।
नृपं यमाहुस्तममित्रघातिनं कुरुप्रवीरं जनमेजयं जनाः ॥ ६ ॥
स बाल एवाऽऽर्यमतिर्नृपोत्तम सहैव तैर्मन्त्रिपुरोहितैस्तदा ।

सर्पनाथ तक्षकने शरीर से महाराज को घेर लेकर अति गर्जन के साथ उनको काट लिया । (३१–३७) [१८२३]

आदिपर्व मे तैतालीसवा अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व मे चवालीसवा अध्याय ॥

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि मन्त्रीगण राजा को तक्षक के भोगके द्वारा घिरे हुए देखकर अति दुःखी होकर और मुख को खेदयुक्त बनाकर रोने लगे, आगे तक्षक के गर्जन का शब्द सुनकर सब भागने लगे और शोकवश होकर देखा, कि अद्भुत लालवर्ण सर्पनाथ तक्षक नाग आकाश मार्ग से जा रहा है और रमणी के काले केशके समान आकाश के बीच मे सेंदुरके चिह्न की सुहावनी भागमी शोभा दे रहा है । इधर तक्षक के विषम विष से उपजी हुई आगसे वह एकस्तम्भशाला गृह सर्वप्रकार से घेरे जाकर जल रहा है । तब वे भय युक्त चित्तमे उस घरको छोडकर चारों ओर पधारे । राजा भी वज्राघात से घायल हुए पुरुष के समान उसीक्षण गिर पडे । (१–४)

राजा परीक्षित् के तक्षक के तेज मे जल जाने पर मन्त्री और शुद्धाचारी ब्राह्मणश्रेष्ठ राज-पुरोहितों ने राजाके संपूर्ण और्ध्वदेहिक कार्य सम्पन्न किये। अनन्तर नागरिकों ने मिलकर शत्रु-नाशी कुरुवंश में श्रेष्ठ जनमेजय नामक परीक्षित् के बालक पुत्रको गद्दीपर बैठाया । आर्यमति नृपश्रेष्ठ जनमेजय बालक होने पर भी उन मन्त्रियों और पुरोहितो के साथ अपने पितामह युधिष्ठिर के समान राज्य

शशास राज्यं कुरुपुङ्गवाग्रजो यथाऽस्य वीरः प्रपितामहस्तथा ॥ ७ ॥
ततस्तु राजानममित्रतापनं समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः।
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं वपुष्टमार्थं वरयांप्रचक्रमुः ॥ ८ ॥
ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः ।
स चाऽपि तां प्राप्य मुदा युतोऽभवन्न चाऽन्यनारीषु मनो दधे क्वचित् ॥ ९ ॥
सरःसु फुल्लेषु वनेषु चैव प्रसन्नचेता विजहार वीर्यवान्।
तथा स राजन्यवरो विजह्रिवान्यथोर्वशीं प्राप्य पुरा पुरूरवाः ॥ १० ॥
वपुष्टमा चाऽपि वरं पतिव्रता प्रतीतरूपा समवाप्य भूपतिम् ।
भावेन रामा रमयाम्बभूव तं विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी ॥ ११ ॥ [१८३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
जनमेजयराज्याभिषेके चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

सौतिरुवाच— एतस्मिन्नेव काले तु जरत्कारुर्महातपाः ।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां यत्रसायंगृहो मुनिः ॥ १ ॥
चरन्दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ।
तीर्थेष्वाप्लवनं कृत्वा पुण्येषु विचचार ह ॥ २ ॥

शासने लगे । कुछ कालान्तर उनके मन्त्रियों ने उनको शत्रुनाशी देखकर काशीराज सुवर्णवर्मा के पास जाकर वपुष्टमा नाम्नी कन्याकी प्रार्थना की । सुवर्णवर्मा ने कुरुप्रवीर जनमेजय की धर्मानुसार परीक्षाकर वपुष्टमा नाम्नी कन्या को दान किया । (७–९)

जनमेजय वपुष्टमा को लाभकर अति प्रसन्न हुए, उन्होंने किसी दूसरी स्त्री पर कभी मन नहीं चलाया था । जिसप्रकार पूर्वकाल में पुरूरवाने उर्वशी को लाभकर प्रसन्नचित्त से उससे विहार किया था, उसी प्रकार राजश्रेष्ठ वीर्यशाली जनमेजय प्रसन्नहृदय से वपुष्टमा के साथ कभी सुन्दर ताल में, कभी वनमें विहार करने लगे । प्रसिद्ध रूपवती अन्तःपुरकी ज्योति, सुन्दरी सती वपुष्टमा भी उस भूपाल को पति पाकर विहार के समय अति प्रेम दिखा कर प्रसन्न करने लगी । ९–११

आदिपर्व में चवालीसवां अध्याय समाप्त । [१८३४]

आदिपर्व में पैतालीसवां अध्याय ।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि इस समय महातपा जरत्कारु ऋषि यत्रसायंगृह होकर अर्थात् जहां सन्ध्या हो जाती थी, वहीं टिके रहकर सम्पूर्ण पृथ्वी में घूम रहे थे; वह महातेजा मुनि पवित्र तीर्थ मे नहाकर दूसरों के करने के अयोग्य कठोर तप करके कभी निराहार से, कभी वाताहार

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्नहरहर्मुनिः ।
स ददर्श पितॄन्गर्ते लम्बमानानधोमुखान् ॥ ३ ॥
एकतन्त्ववशिष्टं वै वीरणस्तम्बमाश्रितान् ।
तं तन्तुं च शनैराखुमाददानं बिलेशयम् ॥ ४ ॥
निराहारान्कृशान्दीनान्गर्ते स्वत्राणमिच्छतः।
उपसृत्य स तान्दीनान्दीनरूपोऽभ्यभाषत ॥ ५ ॥
के भवन्तोऽवलम्बन्ते वीरणस्तम्बमाश्रिताः।
दुर्बलं खादितैर्मूलैराखुना बिलवासिना ॥ ६ ॥
वीरणस्तम्बके मूलं यदप्येकमिह स्थितम् ।
तदप्ययं शनैराखुरादत्ते दशनैः शितैः ॥ ७ ॥
छेत्स्यतेऽल्पावशिष्टत्वादेतदप्याचिरादिव ।
ततस्तु पतितारोऽत्र गर्ते व्यक्तमधोमुखाः ॥ ८ ॥
तस्य मे दुःखमुत्पन्नं दृष्ट्वा युष्मानधोमुखान् ।
कृच्छ्रमापदमापन्नान्प्रियं किं करवाणि वः॥ ९ ॥
तपसोऽस्य चतुर्थेन तृतीयेनाऽथवा पुनः ।

से अपने शरीर को सुखाकरके घूमा करते थे। एक समय घूमते हुए देखा, कि उनके पिता और पितामहलोग एक वीरणस्तम्ब अर्थात् खस्खस् के गुच्छे को आश्रय कर गड्ढे के भीतर नीचे मुह करके लटक रहे है; उस वीरणस्तब का एक ही तात शेष रहा, गड्ढे में रहता हुआ मूष उसे भी धीरे धीरे काट रहा है। (१–४)

जरत्कारु ने उनको निराहारी, दुबले पतले, दीन और अपनी रक्षा के अभिलाषी देखकर दुःखी हृदय से निकट जाकर पूछा, आप कौन है ? किस हेतु इस वीरणस्तम्ब को आश्रय किये हुए लटक रहे है ? इस गड्ढे के रहनेवाले मूष के प्रायः सब जडको काटने से यह उशीरस्तम्ब बहुत दुर्बल हो गया है; इसकी एकही जड जो शेष है, उसे भी यह मूष अपने तेज दांतोसे धीरे धीरे काट रहा है, यह अल्पशेष मूल भी थोडे ही कालमें टूटेगा, तब निःसन्देह आप नीचे मुह किये ही इस गड्ढे में गिर जायंगे; आप को नीचे मुह किये और विपद् में पडे हुए देखकर मुझे बडा दुःख हो रहा है; कहिये, मै आपका कौनसा उपकार करूं। मेरी तपस्या के चौथे भाग वा तीसरे भाग वा आधे भाग से, अथवा मेरी सम्पूर्ण तपस्या से आप लोग इस

अर्धेन वाऽपि निस्तर्तुमापदं ब्रूत मा चिरम्॥ १० ॥
अथवाऽपि ममग्रेण तरन्तु तपसा मम ।
भवन्तः सर्व एवेह काममेवं विधीयताम् ॥ ११ ॥

पितर ऊचुः— वृद्धो भवान्ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छसि।
न तु विप्राग्र्य तपसा शक्यते तद्व्यपोहितुम्॥१२ ॥
अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतांवर ।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्पताम निरयेऽशुचौ ॥ १३ ॥
संतानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः ।
लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै॥ १४॥
येन त्वां नाऽभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम्।
वृद्धो भवान्महाभागो यो नः शोच्यान्सुदुःखितान् ॥१५॥
शोचते चैव कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज ।
यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ॥ १६ ॥
लोकात्पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयान्मुने।
प्रनष्टं नस्तपस्तीव्रं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ॥ १७ ॥
अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोपि नास्ति यथा तथा।

विपद् से बच जाइये, इसमें आप जैसा चाहें, वैसाही कीजिये। (५—११)

पितृगण बोले, कि हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ! आप बूढे ब्रह्मचारी होकर हमारी रक्षा करना चाहते है, पर हमारी यह विपद तपस्या से दूर होनेवाली नहीं है। हे वाग्मिन्! हमलोगों का भी बहुत तपका फल बटोरा हुआ है; हे ब्रह्मन्! केवल सन्तान न रहने ही के कारण हम इस अपवित्र नरक मे गिर रहे है, क्योंकि भगवान् पितामहने कहा है, कि सन्तान जन्माना परम धर्म है। हम यहां लटकते हुए अचेतनवत् हुए है, इस हेतु आपका यश तीनों लोको में प्रसिद्ध रहने पर भी हम आपको पाहिचान नहीं सकते हैं, आप वृद्ध और बडे भाग्यवान् है, इस हेतु हमारे इस बडे भारी दुःख और शोचनीय दशाको देख कर दया प्रगट कर रहे है। (१२—१६)

हे विप्र! सुनिये हम कौन है, हम यायावर नामक व्रतनिष्ठ ऋषि है, हमारा वंश लोप होने पर है; इससे सम्पूर्ण कठोर तपस्या निष्फल हुई है और पुण्य लोकसे च्युत हो रहे है; ऐसा न समझिये, कि हमारी सन्तान नहीं है, पर हम स्वल्प भाग्यवाले है; हमारी एकही

मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः १८
जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ॥ १९ ॥
तेन स्म तपसो लोभात्कृच्छ्रमापादिता वयम्।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वाऽस्ति कश्चन॥२०॥
तस्माल्लम्बामहे गर्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत् ।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्टो ह्यस्माकं नाथवत्तया ॥ २१ ॥
पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना अधोमुखाः ।
साधुदारान्कुरुष्वेति प्रजामुत्पादयेति च ॥ २२ ॥
कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन ।
यस्त्वंपश्यसि नो ब्रह्मन्वीरणस्तम्बमाश्रितान्॥२३॥
एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आस्ते स्वकुलवर्धनः।
यानि पश्यसि वै ब्रह्मन्मूलानीहाऽस्य वीरुधः ॥२४ ॥
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः ।
यस्त्वेतत्पश्यसि ब्रह्मन्मूलमस्यार्धभक्षितम् ॥ २५ ॥
यत्र लम्बामहे गर्ते सोऽप्येकस्तप आस्थितः
यमाखुं पश्यसि ब्रह्मन्काल एष महाबलः ॥ २६ ॥

दुर्भाग्य सन्तान है, उसका रहना और न रहना समान है, उसका नाम जरत्कारु है। वह सन्तान वेद-वेदाङ्गों में निपुण, व्रतशील, जितेन्द्रिय, महात्मा और बडा तपस्वी है, उसने केवल तपही को आश्रय किया है; उस कुसन्तानने तपके लोभ से हमको इस विपद के समुद्र में डुबाया है,उसकी स्त्री, पुत्र, स्वजन, बन्धु, कोई नहीं है; उस हेतु हम अनाथकी भांति इस गड्ढे में लटके है। (१६–२१)

आप कृपा प्रगट कर जरत्कारु से भेट करके कहना, कि " हे तपोधन ! तुम्हारे पितरलोग दीनों के समान नीचे मुह कर गड्ढे में लटक रहे हे, तुम विवाह कर पुत्रोत्पादन करो; क्योंकि तुम बुद्धिमान् और कुल की एकमात्र आशा हो।" हे ब्रह्मन् ! आप हमको जिस वीरणस्तम्ब में आश्रित देखते हैं, यह हमारा कुल बढाने वाला कुलस्तम्ब है; इसकी जो सब जड देखते हैं, वे हमारी सन्तान है. सभी काल से भक्षित हुई है; यह जो आधी खाई हुई एकही जड है, जिसे पकड हम गड्ढे के ऊपर लटके है, यह वही जरत्कारु है. उसने केवल तपस्या को आश्रय

स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन् ।
जरत्कारुं तपोलुब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ॥ २७ ॥
न हि नस्तत्तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम ।
छिन्नमूलान्परिभ्रष्टान्कालोपहतचेतसः ॥ २८ ॥
अधः प्रविष्टान्पश्याऽस्मान्यथा दुष्कृतिनस्तथा।
अस्मासु पतितेष्वत्र सह सर्वैः सबान्धवैः ॥ २९ ॥
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः।
तपो वाऽप्यथवा यज्ञो यच्चाऽन्यत्पावनं महत् ॥ ३० ॥
तत्सर्वमपरं तात न संतत्या समं मतम् ।
स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्त्वं जरत्कारुं तपोधन ॥ ३१ ॥
यथा दृष्टमिदं चाऽत्र त्वयाऽऽख्येयमशेषतः ।
यथा दारान्प्रकुर्यात्स पुत्रानुत्पादयेद्यथा ॥ ३२ ॥
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया।
बान्धवानां हि नस्येह यथा चाऽऽत्मकुलं तथा ॥३३॥
कस्त्वं बन्धुमिवाऽस्माकमनुशोचासि सत्तम।
श्रोतुमिच्छाम सर्वेषां को भवानिह तिष्ठति ॥ ३४ ॥ [१८६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
जरत्कारुपितृदर्शने पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

किया है। यह जो मूप देखते हैं वह महाबली काल है; यह काल तप मे रत, मन्दमति, चेतनाहीन और तपस्यालोभी उस जरत्कारु को धीरे धीरे निगल रहा है; हे सत्तम ! उसकी तपस्या हमको बचा नहीं सकेगी। (२१–२८)

देखिये इस जडके टूटते ही हम लोग काल से मारे गये हुए पापियों के समान उखडकर इस गड्ढे में गिर जायंगे। हम बंधुओं के साथ इसमें गिर जायंगे, तो जरत्कारु भी काल से भक्षित होकर इस स्थान में गिरकर नरक मे जायगा। तपस्या,यज्ञ वा पाप दूर करनेवाले जितने महत् कार्य है, वे सब पुत्रोत्पादन के समान नही होते; आपने जैसा देखा, वह सब तपोधन जरत्कारु से भेट कर कह देना। हे ब्रह्मन् ! आप हमारे नाथ के समान होकर इस प्रकारसे कहना, कि जिससे जरत्कारु विवाह करके पुत्रोत्पादन करे। हे सत्तम ! जान पडता है, कि आप जरत्कारुके मित्रों में से कोई होंगे, क्योंकि मित्र वा अपने कुलवालों के समान

सौतिरुवाच— एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्भृशं शोकपरायणः ।
उवाच तान्पितॄन्दुःखाद्बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ १ ॥
जरत्कारुरुवाच— मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
तद्ब्रूत यन्मया कार्यं भवतां प्रियकाम्यया ॥ २ ॥
अहमेव जरत्कारुः किल्बिषी भवतां सुतः ।
ते दण्डं धारयत मे दुष्कृतेरकृतात्मनः ॥ ३ ॥
पितर ऊचुः— पुत्र दिष्ट्याऽसि संप्राप्त इमं देशं यदृच्छया ।
किमर्थं च त्वया ब्रह्मन्न कृतो दारसंग्रहः ॥ ४ ॥
जरत्कारुरुवाच— ममाऽयं पितरो नित्यं हृद्यर्थः परिवर्तते ।
ऊर्ध्वरेताः शरीरं वै प्रापयेयममुत्र वै ॥ ५ ॥
न दारान्वै करिष्येऽहमिति मे भावितं मनः ।
एवं दृष्ट्वा तु भवतः शकुन्तानिव लम्बतः ॥ ६ ॥
मया निवर्तिता बुद्धिर्ब्रह्मचर्यात्पितामहाः ।
करिष्ये वः प्रियं कामं निवेक्ष्येऽहमसंशयम् ॥ ७ ॥

हमको देखकर शोक प्रगट कर रहे हैं; हम सुनना चाहते हे, कि आप कौन यहां आये है ? " (२८—३४) [१८६८]

आदिपर्वमें पैतालिसवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व मे छियालीसवां अध्याय ।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि जरत्कारु पितरों की यह सब बात सुनकर अति शोकयुक्त होकर मनःपीडा से आंखों में आसू भरकर और गद्गद होकर बोले, आप मेरे ही पितृपितामह हैं; आज्ञा कीजिये, कि आपके अभीष्टको पूरा करनेके निमित्त मुझको क्या करना चाहिये, मैंही आपका पुत्र पापात्मा जरत्कारु हूः मे अकृतआत्मा हूं मुझसे जो दोष हुआ है, उसका दण्ड दीजिये।

पितरलोग बोले, " बेटा ! तुम इच्छानुसार घूमते हुए हमारे सौभाग्यसे इस देशमे आ गये हो; कहो तो सही; तुमने क्यों विवाह नहीं किया ? " (१– ४)

जरत्कारु बोले, पितृगण ! मेरे हृदय में सदा यह बात जगती है, कि मैं ऊर्ध्वरेता होकर देह को विसर्जन करूंगा, कभी विवाह नहीं करूंगा, मैंने मनही मन में ऐसाही निश्चय किया था; हे पितामहगण ! वर्तमान मे आपको यहां पक्षियों के समान इस प्रकार लटकते हुए देखकर मै ब्रह्मचर्य से चित्त हटाता हूं, मे आपका प्रियकार्य करूंगा; सन्देह नहीं है, कि विवाह करनेको प्रस्तुत हुआ हूं; पर यदि निज नामकी कन्या पाऊं और वह

सनाम्नीं यद्यहं कन्यामुपलप्स्ये कदाचन ।
भविष्यति च या काचिद्भैक्ष्यवत्स्वयमुद्यता ॥८॥
प्रतिग्रहीता तामस्मि न भरेयं च यामहम् ।
एवंविधमहं कुर्यां निवेशं प्राप्नुयां यदि ॥
अन्यथा न करिष्येऽहं सत्यमेतत्पितामहाः ॥९॥
तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै ।
शाश्वताश्चाऽव्ययाश्चैव तिष्ठन्तु पितरो मम ॥१०॥
सौतिरुवाच — एवमुक्त्वा तु स पितॄंश्चचार पृथिवीं मुनिः ।
न च स्म लभते भार्यां वृद्धोऽयमिति शौनक॥११॥
यदा निर्वेदमापन्नः पितृभिश्चोदितस्तथा ।
तदाऽरण्यं स गत्वोच्चैश्चुक्रोश भृशदुःखितः ॥१२॥
स त्वरण्यगतः प्राज्ञः पितॄणां हितकाम्यया ।
उवाच कन्यां याचामि तिस्रो वाचः शनैरिमाः॥१३॥
यानि भूतानि सन्तीह स्थावराणि चराणि च ।
अन्तर्हितानि वा यानि तानि शृण्वन्तु मे वचः॥१४॥
उग्रे तपसि वर्तन्ते पितरश्चोदयन्ति माम् ।

कन्या मुझको भिक्षा के समान स्वयं आ मिले तथा मुझे उसका पालन करना न पडे, तो उस कन्याको लेकर विवाह करूंगा। हे पितामहगण! मै सच कहता हूं, इसके विपरीत होने से मै विवाह नही कर सकूंगा। उस विवाहिता स्त्री के गर्भ से जो सन्तान उपजेगी, वही आपका उद्धार करेगी और उसी से आप नित्य अव्यय हो करके स्वर्ग में वसेगे।" (५-१०)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि हे शौनक! वह मुनि पितरों से यह बात कहकर विवाहार्थी होकर संपूर्ण भूमण्डल मे घूमने लगे, पर वृद्ध जानकर किसीने उनको अपनी कन्या दान नही की। आगे पितरों की आज्ञा से जरत्कारु निर्वेद पाकर वनमे घुसके दुःखी हृदय से चिल्लाकर रोने लगे। अनन्तर प्रज्ञावान् उस ऋषि ने पितरों की हितेच्छा से उस वन मे धीरे धीरे तीन बार यह कहा, कि "मैं कन्या की भिक्षा मांगता हूं, इस स्थान में स्थावर जङ्गमात्मक जितने भूत विराजमान हों और जो भूत अप्रकाशित हों, सब मेरी बात सुनें, मै कठोर तपस्या मे रत हूं; पितरोंने दुःखी होकर सन्तानोत्पादन के निमित्त

निविशस्वेति दुःखार्ताः संतानस्य चिकीर्षया ॥ १५॥
निवेशायाऽखिलां भूमिं कन्याभैक्ष्यं चरामि भोः।
दरिद्रो दुःखशीलश्च पितृभिः संनियोजित ॥१६ ॥
यस्य कन्याऽस्ति भूतस्य ये मयेह प्रकीर्तिताः।
ते मे कन्यां प्रयच्छन्तु चरतः सर्वतो दिशम्॥१७॥
मम कन्या सनाम्नी या भैक्ष्यवचोदिता भवेत्।
भरेयं चैव यां नाऽहं तां मे कन्यां प्रयच्छत॥ १८॥
ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः ।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन् ॥ १९ ॥
तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रस्तां कन्यां समलंकृताम्।
प्रगृह्याऽरण्यमगमत्समीपं तस्य पन्नगः ॥ २० ॥
तत्र तां भैक्ष्यवत्कन्यां प्रादात्तस्मै महात्मने।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन्न स तां प्रत्यगृह्णत ॥ २१ ॥
असनामेति वै मत्वा भरणे चाऽविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चाऽपि द्वन्द्वभूतः परिग्रहे ॥ २२॥
ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।

मुझको आज्ञा दी है, कि तुम विवाह करो। हे जीव-गण ! भूमण्डल में कन्या की भिक्षा मांग रहा हूं, मै अति दरिद्र और दुःखी हूं, पितरों ने मुझको विवाह करने को नियोग किया है, मै सर्वत्र घूम रहा हूं; पर मैने जिनसे यह प्रस्ताव किया, यदि उनमे से किसी की कन्या हो तो दान करो ; पर वह कन्या मेरे नाम की होगी और भिक्षा के समान मुझे मिलेगी, तथा मै उसका पोषण न करूंगा; यह हो तो दान करो।" अनन्तर जो नाग जरत्कारु की रक्षा में नियुक्त थे, उन्होने वासुकि को यह समाचार सुनाया। (१५–१९)

नागनाथ वासुकि जरत्कारु की विवाह की इच्छा सुनतेही सजी सजाई बहिन को लेकर वन में उस ऋषि के निकट पधारे और उस महात्मा मुनि को भिक्षा के समान उस कन्या को दान किया। तब जरत्कारुने एकायक उसको प्रतिग्रह नहीं किया ; वह सोचने लगे, कि यह कन्या मेरे नाम की नभी हो सकती है, और कदाचित इसे पालना पोषना भी होगा। मोक्ष के पथिक जरत्कारु इस प्रकारसे दो मन करने लगे। हे भृगुनन्दन ! आगे उस ऋषिने वासुकि

वासुकिं भरणं चाऽस्या न कुर्यामित्युवाच ह ॥ २३ ॥ [१८९१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि वासुकिजरत्कारुसमागमे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

सौतिरुवाच— वासुकिस्त्वब्रवीद्वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसाऽन्विता ॥ १ ॥
भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम।
रक्षणं च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ॥ २ ॥
त्वदर्थं रक्ष्यते चैषा मया मुनिवरोत्तम ॥ ३ ॥
न भरिष्येऽहमेतां वा एष मे समयः कृतः ।
अप्रियं च न कर्तव्यं कृते चैनां त्यजाम्यहम् ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच— प्रतिश्रुते तु नागेन भरिष्ये भगिनीमिति ।
जरत्कारुस्तदा वेश्म भुजगस्य जगाम ह ॥ ५ ॥
तत्र मन्त्रविदां श्रेष्ठस्तपोवृद्धो महाव्रतः ।
जग्राह पाणिं धर्मात्मा विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ६ ॥
ततो वासगृहं रम्यं पन्नगेन्द्रस्य संमतम् ।
जगाम भार्यामादाय स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ७ ॥
शयनं तत्र संक्लृप्तं स्पर्ध्यास्तरणसंयुतम् ।

से कन्या का नाम पूछा और कहा, कि मै उसको न पालूंगा। (२०-२३)[१८९१]

आदिपर्व मे छियालिसवा अध्याय समाप्त

आदिपर्व मे सैंतालीसवां अध्याय।

श्री उग्रश्रवा जी बोले, कि वासुकिने जरत्कारु ऋषि से कहा, " हे द्विजोत्तम! तपस्विनी यह कन्या मेरी बहिन और तुम्हारे नाम की है; तुम इसको भार्यार्थ ग्रहण करो, हे तपोधन ! यथाशक्ति मै इसको पालूंगा और रखूंगा ; हे मुनि वर ! मैने तुम्हारे निमित्त इतने दिनो तक इस कन्या को रखा है।" ऋषि बोले, "अच्छा मेरा यह नियम रहा, कि मै इसका पोषण न करूंगा और यह कन्या कभी मेरा अप्रिय कार्य नही करेगी, करने ही मे मै इसको त्याग दूंगा।' (१-४)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि वासुकि के यह स्वीकार करने पर, कि " मै बहिन का पोषण करूंगा, " जरत्कारु वासुकि के घरको गये ! मन्त्रप्रयोग मे निपुण, तपोवृद्ध, महा व्रतशील, धर्मात्मा जरत्कारु ने विधिपूर्वक मन्त्र पढकर जरत्कारु से प्रशंसित होकर पत्नी के साथ सर्पनाथ की इच्छानुसार सुन्दर वासगृह मे वहां

तत्र भार्यासहायो वै जरत्कारुरुवास ह ॥ ८ ॥
स तत्र समयं चक्रे भार्यया सह सत्तमः ।
विप्रियं मे न कर्त्तव्यं न च वाच्यं कदाचन ॥ ९ ॥
त्यजेयं विप्रिये च त्वां कृते वासं च ते गृहे ।
एतद्गृहाण वचनं मया यत्समुदीरितम् ॥ १० ॥
ततः परमसंविग्ना स्वसा नागपतेस्तदा ।
अतिदुःखान्विता वाक्यं तमुवाचैवमस्त्विति॥ ११ ॥
तथैव सा च भर्तारं दुःखशीलमुपाचरत् ।
उपायैः श्वेतकाकीयैः प्रियकामा यशस्विनी १२ ॥
ऋतुकाले ततः स्नाता कदाचिद्वासुकेः स्वसा ।
भर्तारं वै यथान्यायमुपतस्थे महामुनिम् ॥ १३ ॥
तत्र तस्याः समभवद्गर्भो ज्वलनसन्निभः ।
अतीव तेजसा युक्तो वैश्वानरसमद्युतिः ॥ १४ ॥
शुक्लपक्षे यथा सोमो व्यवर्धत तथैव सः ।
ततः कतिपयाहस्य जरत्कारुर्महायशाः ॥ १५ ॥
उत्सङ्गेऽस्याः शिरः कृत्वा सुष्वाप परिखिन्नवत् ।

परम रमणीय चादरा से ढंपी हुई सुन्दर सेज पर सोकर स्त्रीसे एकत्र रहने लगे। साधुश्रेष्ठ ऋषिने उस वासगृह में पत्नी से यह नियम किया, कि तुम कभी मेरा अप्रिय कार्य करने वा अप्रिय कहने न पाओगी; ऐसा करने से मैं फिर तुम्हारे घर में न रहूंगा और तुमको त्याग दूगा; मैंने जो कहा, उसे स्मरण रखना। अनन्तर वासुकि की बहिन जरत्कारुने अति सोचयुक्त और दुःखी होकर "एवमस्तु" कहके वह बात मानली। आगे पतिका प्रिय चाहने वाली यशस्विनी नागेश की बहिन श्वानकाकीय उपाय से अर्थात् कुत्ता, हरिण और कौये की सावधानी, भय और इङ्गित समझने के सहज गुण आश्रय करके दुःखी पति की सेवा करने लगी। (५–१२)

कुछ कालान्तर वासुकि की बहिन उस जरत्कारुने ऋतुस्नान कर महामुनि पतिके पास यथाविधि गमन करके अग्नि के समान गर्भ धारण किया, शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भांति वह गर्भ दिनोंदिन बढने लगा। एक दिन अति यशस्वी श्रीजरत्कारुजी नागकी बहिन जरत्कारु की गोद में सिर रखकर थके-मादे समान सोते रहे; सूर्यदेव अस्ताचल की चोटी

तस्मिंश्च सुप्ते विप्रेन्द्रे सवितास्तमियाद्गिरिम्॥१६॥
अह्नः परिक्षये ब्रह्मंस्ततः साऽचिन्तयत्तदा।
वासुकेर्भगिनी भीता धर्मलोपान्मनस्विनी॥ १७॥
किं नु मे सुकृतं भूयाद्भर्तुरुत्थापनं न वा।
दुःखशीलो हि धर्मात्मा कथं नाऽस्याऽपराध्नुयाम् १८
कोपो वा धर्मशीलस्य धर्मलोपोऽथ वा पुनः।
धर्मलोपो गरीयान्वै स्यादित्यत्राऽकरोन्मतिम् १९॥
उत्थापयिष्ये यद्येनं ध्रुवं कोपं करिष्यति।
धर्मलोपो भवेदस्य सन्ध्यातिक्रमणे ध्रुवम्॥ २०॥
इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम् ॥ २१॥
उवाचेदं वचः श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी।
उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति॥ २२॥
सन्ध्यामुपास्य भगवन्नपः स्पृष्ट्वा यतव्रतः।
प्रादुष्कृताऽग्निहोत्रोऽयं मुहूर्तो रम्यदारुणः॥ २३॥
सन्ध्या प्रवर्तते चेयं पश्चिमायां दिशि प्रभो।
एवमुक्तः स भगवाञ्जरत्कारुर्महातपाः ॥ २४॥
भार्यां प्रस्फुरमाणौष्ठ इदं वचनमब्रवीत्।

पर चढ गये, तौभी उनकी नीद न टूटी। तब मनस्विनी वासुकि की बहन धर्म लोप होनेके भय से भीत होकर सोचने लगी, कि पति को नीद से जगाऊं वा नही। ऐसा करने से दु खशील धर्मात्मा पति के निकट दोषी बनना पडेगा; नींद से न जगाने से इस धार्मिक पतिका धर्म लोप होने की सम्भावना है, नीद से जगाने से भी यह क्रोधित हो सकते है; इसका क्या करना चाहिये। जिससे धर्म लोप न होने पावे, वही करूं; इसमें सन्देह नही, कि नीद से जगाने से क्रोधित होंगे पर यदि सन्ध्या लंघन होवे, तो निःसन्देह धर्म लोप होगा। मीठी बोलनेवाली सर्पबहिन ने मनही मन मे ऐसा निश्चय करके नीदयुक्त अग्नि-समान तेजस्वी ऋषि को विनययुक्त बातोसे कहा "हे महाभाग, व्रतशील भगवन्! सूर्यदेव डूब रहे है, उठकर जल छू करके सन्ध्योपासन कीजिये; देखिये अग्निहोत्र का समय आया है; यह मुहूर्त्त दारुण और रमणीय है, देखिये, पश्चिम ओर को

अवमानः प्रयुक्तोऽयं त्वया मम भुजङ्गमे ॥ २५ ॥
समीपे ते न वत्स्यामि गमिष्यामि यथागतम्।
शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ॥ २६ ॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते ।
न चाऽप्यवमतस्येह वासो रोचेत कस्यचित् ॥ २७ ॥
किं पुनर्धर्मशीलस्य मम वा मद्विधस्य वा ।
एवमुक्ता जरत्कारुर्भर्त्रा हृदयकम्पनम् ॥ २८ ॥
अब्रवीद्भगिनी तत्र वासुकेः संनिवेशने ।
नाऽवमानात्कृतवती तवाऽहं विप्र बोधनम ॥ २९ ॥
धर्मलोपो न ते विप्र स्यादित्येतन्मया कृतम् ।
उवाच भार्यामित्युक्तो जरत्कारुर्महातपाः ॥ ३० ॥
ऋषिः कोपसमाविष्टस्त्यक्तुकामो भुजङ्गमाम्।
न मे वागनृतं प्राह गमिष्येऽहं भुजङ्गमे ॥ ३१ ॥
समयो ह्येष मे पूर्व त्वया सह मिथः कृतः ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे ब्रूयास्त्वं भ्रातरं शुभे ॥ ३२ ॥
इतो मयि गते भीरु गतः स भगवानिति ।

संध्या उपस्थित हो रही है।"(१३—२४)

पत्नी के यह बात कहने पर महातपा भगवान् जरत्कारु क्रोध से होठों को फुलाकर बोले, "अरी सर्पिणि ! तूने मेरा इस प्रकारसे अपमान किया ? मै तेरे साथ अब न रहूंगा; जहां मन चाहे, चला जाऊं, री वामोरु ! मै निश्चित जानता हूं, कि मेरे सोये रहने से सूर्यदेव कभी उचित समय में अस्त नहीं हो सकते; देख, अपमानित होकर कोई पुरुष वसना नहीं चाहता; विशेष कर यह तो असम्भव ही है, कि मै वा मेरे सदृश कोई दूसरा अपमानित होकर वास करे।' (२४-२८)

पति से इस हृदयसुखानेवाली बात को सुनकर वासुकि के घरमें रहती हुई बहिन जरत्कारु बोली, "हे विप्र! मैने अपमान करनेके निमित्त आपको नींदसे नहीं जगाया; इसी हेतु ऐसा किया है, कि आपका धर्म लोप होने न पावे। सर्प की बहिनके ऐसा कहने पर महातपा जरत्कारु क्रोधवश और पत्नी त्यागने के अभिलाषी होकर सर्पिणी से बोले, री सर्पिणी ! मेरी बात कभी झूटी नहीं होती ; मै अवश्य जाऊं गाः मैने पहिलेही तेरेमे निराले मे यह नियम किया था ; भद्रे ! मेरे चले जाने पर अपने भाई मे कहना कि मुनि

त्वं चाऽपि मयि निष्क्रान्ते न शोकं कर्तुमर्हसि॥ ३३॥
इत्युक्ता साऽनवद्याङ्गी प्रत्युवाच मुनिं तदा।
जरत्कारुं जरत्कारुश्चिन्ताशोकपरायणा ॥ ३४ ॥
बाष्पगद्गदया वाचा मुखेन परिशुष्यता ।
कृताञ्जलिर्वरारोहा पर्यश्रुनयना ततः ॥ ३५ ॥
धैर्यमालम्ब्य वामोरूर्हृदयेन प्रवेपता ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥ ३६ ॥
धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम्।
प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
तदलब्धवतीं मन्दां किं मां वक्ष्यति वासुकिः।
मातृशापाभिभूतानां ज्ञातीनां मम सत्तम ॥ ३८ ॥
अपत्यमीप्सितं त्वत्तस्तच्च तावन्न दृश्यते ।
त्वत्तो ह्यपत्यलाभेन ज्ञातीनां मे शिवं भवेत् ॥ ३९ ॥
संप्रयोगो भवेन्नाऽयं मम मोघस्त्वया द्विज।
ज्ञातीनां हितमिच्छन्ती भगवंस्त्वां प्रसादये ॥ ४० ॥

चले गये है, फिर मै यहां जितने दिनोंतक वसा, परम सुखसे रहा; री भीरु! मेरे जाने से तू शोक से विकल मत हो।" (२८-३३)

जरत्कारु मुनि की यह बात सुनकर सुश्रोणी सुन्दरी जरत्कारु एकबारही शोक से विकल और चिन्तायुक्त हुई, उसका हृदय कांपने लगा, मुखपद्म सूख गया और दोनो आंखों से आंसू की धार बहने लगी। वामोरु जरत्कारु तब कुछ धीरज धरकर दोनों हाथ जोडकर आंसू से गद्गद होकर बोलने लगी, हे द्विजोत्तम! निर्दोषी पत्नी को त्यागना आप को नहीं चाहिये, क्योंकि आप धर्मज्ञ है; विशेष कर मै सदा धर्मपथ में रहकर आप की सेवा, हितानुष्ठान और प्रिय-साधन कर रही हूं। जिस अभिप्राय से मेरे भाईने आप से मेरा विवाह कर दिया, मन्द भाग्यवती मै वह भी लाभ नहीं कर सकी; अतएव वह अब मुझसे क्या कहेंगे? हे साधुश्रेष्ठ ! मेरे स्वगणोंने माता के शाप से कातर होकर प्रार्थना की है, कि आपके वीर्य से मेरे गर्भ में एक सन्तान उत्पन्न होवे, वह भी आजतक नहीं हुआ। आपके वीर्य से पुत्र उत्पन्न होनेसे मेरे स्वगणोंका मङ्गल होगा ; हे भगवन्! मै स्वजनो के हित की इच्छा से प्रार्थना करती हू कि आप प्रसन्न होवे आपसे मेरा यह सम्बन्ध निष्फल न

इममव्यक्तरूपं मे गर्भमाधाय सत्तम ।
कथं त्यक्त्वा महात्मा सन्गन्तुमिच्छस्यनागसम्४१
एवमुक्तस्तु स मुनिर्भार्यां वचनमब्रवीत् ।
यद्युक्तमनुरूपं च जरत्कारुं तपोधनः ॥४२॥
अस्त्ययं सुभगे गर्भस्तव वैश्वानरोपमः ।
ऋषिः परमधर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारगः ॥४३॥
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा जरत्कारुर्महानृषिः।
उग्राय तपसे भूयो जगाम कृतनिश्चयः॥ ४४ ॥ (१९३५)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्या संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि जरत्कारुनिर्गमे सप्तचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४७ ॥

सौतिरुवाच— गतमात्रं तु भर्तारं जरत्कारुरवेदयत् ।
भ्रातुः सकाशमागत्य याथातथ्यं तपोधन ॥ १ ॥
ततः स भुजगश्रेष्ठः श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
उवाच भगिनीं दीनां तदा दीनतरः स्वयम् ॥ २ ॥
वासुकिरुवाच— जानासि भद्रे यत्कार्यं प्रदाने कारणं च यत् ।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात्ततो यदि ॥ ३ ॥
स सर्पसत्रात्किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान्।

कीजिये। हे सत्तम! आप महात्मा हो कर के भी यह अप्रकाशित गर्भाधान कर क्यों कर निर्दोषी पत्नीको तजके चले जानेको उद्यत हो रहे है? (३४-४१)

पत्नीकी ऐसी बातें सुनकर तपोधन जरत्कारुने उस कालोचित वचनोंसे कहा "हे सुभगे! अग्नि के समान परम धार्मिक, वेदवेदाङ्गो में निपुण एक ऋषि तुम्हारे गर्भ में विराज रहे हे। ' धर्मात्मा महर्षि जरत्कारु पत्नी से यह बात कहकर फिर कठोर तप करनेका प्रण ठानकर चले गये। (४२-४४)

आदिपर्व में सैतालीसवा अध्याय समाप्त। [१९३५]

आदिपर्व मे अडतालीसवा अध्याय।

श्रीउग्रश्रवा जी बोले. कि हे तपोधन पतिके चले जाते ही जरत्कारुने भाईके निकट जाकर संपूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। नागेश वासुकि दीनचित्त से दीना बहिन से बोले," भद्रे! हमारा जो अभिप्राय है और जिस अभिप्राय से तुम्हारा विवाह किया था. वह तो तुम जानती हो; पहिले पितामहजी ने देवों मे कहा था. सर्पो के हित के निमित्त तुम्हारे गर्भ में उस ऋषिके वीर्य से यदि एक

एवं पितामहः पूर्वमुक्तवांस्तु सुरैः सह ॥ ४ ॥
अप्यास्ति गर्भः सुभगे तस्मात्ते मुनिसत्तमात्।
न चेच्छाम्यफलं तस्य दारकर्म मनीषिणः ॥ ५ ॥
कामं च मम न न्याय्यं प्रष्टुं त्वां कार्यमीदृशम्।
किं तु कार्यगरीयस्त्वात्ततस्त्वाऽहमचूचुदम् ॥ ६ ॥
दुर्वार्यतां विदित्वा च भर्तुस्तेऽतितपस्विनः।
नैनमन्वागमिष्यामि कदाचिद्धि शपेत्स माम्॥ ७ ॥
आचक्ष्व भद्रे भर्तुः स्वं सर्वमेव विचेष्टितम्।
उद्धरस्व च शल्यं मे घोरं हृदि चिरस्थितम् ॥ ८ ॥
जरत्कारुस्ततो वाक्यमित्युक्त्वा प्रत्यभाषत।
आश्वासयन्ती संतप्तं वासुकिं पन्नगेश्वरम् ॥ ९ ॥

जरत्कारुरुवाच— पृष्टो मयाऽपत्यहेतोः स महात्मा महातपाः।
अस्तीत्युत्तरमुद्दिश्य ममेदं गतवांश्च सः ॥ १० ॥
स्वैरेष्वपि न तेनाऽहं स्मरामि वितथं वचः।
उक्तपूर्वं कुतो राजन्सांपराये स वक्ष्यति ॥ ११ ॥
न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे।

पुत्र का जन्म हो, तो वह वीर्यवान् पुत्र सर्पों को सर्पयज्ञ से बचावेगा; हे सुभगे! उन मुनिश्रेष्ठ से तुम्हे गर्भ हुआ है वा नहीं? मै चाहता हूं, कि तुमको जिस अभिप्राय से दान किया है, वह निष्फल न होवे। यद्यपि ऐसा प्रश्न करना मेरे लिये अनुचित है, तौभी इसे अपना गुरुकार्य जानके ही ऐसा अनुचित प्रश्न कर रहा हूं। तुम्हारे पति बडे भारी तपस्वी है, किसी प्रकारसे वह लौटाये नहीं लौटेंगे; यदि उनके पीछे जायं, तो वह शाप भी दे सकते है। भद्रे! तुम्हारे पतिके संपूर्ण कार्यों को विशेष रूप से प्रगट करो और बहुत दिनो से गडे हुए मेरे हृदयके कठोर शल्य को उठालो!" (१–८)

जरत्कारु यह बात सुनकर दुःख से कातर सर्पपति वासुकि से ढाडस देकर बोली," राजन्! मैने उस महात्मा महातपा पति से सन्तान की बात पूछी थी, उस पर वह मुझसे यह कहकर, कि "अस्ति" अर्थात् सन्तान तेरे गर्भमें है, वन को पधारे। मुझको स्मरण होता है, कि वह हंसी में भी कभी झूठ नहीं कहते, फिर इस विपदके समयमे क्यों झूठ कहेंगे? भैया! उन्होंने मुझसे कहा है, कि

उत्पत्स्यति च ते पुत्रो ज्वलनार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥
इत्युक्त्वा स हि मां भ्रातर्गतो भर्ता तपोधनः।
तस्माद्व्येतु परं दुःखं तदेवं मनसि स्थितम् ॥ १३ ॥

सौतिरुवाच— एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रो वासुकिः परया मुदा।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं भगिन्याः प्रत्यगृह्णत ॥ १४ ॥
सान्त्वमानार्थदानैश्च पूजया चाऽनुरूपया ।
सोदर्यां पूजयामास स्वसारं पन्नगोत्तमः ॥ १५ ॥
ततः प्रववृधे गर्भो महातेजा महाप्रभः ।
यथा सोमो द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षोदितो दिवि ॥ १६ ॥
अथ काले तु सा ब्रह्मन्प्रजज्ञे भुजगस्वसा ।
कुमारं देवगर्भाभं पितृमातृभयापहम् ॥ १७ ॥
ववृधे स तु तत्रैव नागराजनिवेशने ।
वेदांश्चाऽधिजगे साङ्गान्भार्गवाच्च्यवनान्मुने॥ १८॥
चीर्णव्रतो बाल एव बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः ।
नाम चाऽस्याऽभवत्ख्यातं लोकेष्वास्तीक इत्युत १९॥
अस्तीत्युक्त्वा गतो यस्मात्पिता गर्भस्थमेव तम् ।
वनं तस्मादिदं तस्य नामाऽऽस्तीकेति विश्रुतम्॥ २०॥

अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी तुम्हारे एक पुत्र उत्पन्न होगा; मेरे तपोधन पति यह कह करके ही चले गये हैं; अतएव भैया ! अपनी यह चित्तपीडा दूर करो ! " (९-१३)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले कि नागनाथ वासुकि ने यह बात सुनकर आनन्द से कूदती हुई आखोंमें " एवमस्तु " कहकर बहिन की बात मानली। अनन्तर धन देकर समझा बुझाकर और उचित पारितोषिक देकर उस सहोदरा बहिनका सम्मान करने लगे। हे द्विजश्रेष्ठ! आकाश मे उगे हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान अति प्रकाशमान् बडा तेजावान् वह गर्भ दिनोंदिन बढने लगा ; हे ब्रह्मन्! आगे समय आने पर उस सर्पबहिन ने पितृ-मातृ कुलों के भयनाशी एक पुत्र प्रसव किया। कुमार उस नागनाथ के घरमें पाले जाकर बढने लगा और बालपनही मे सत्त्वगुणी और व्रतनिष्ट होकर असाधारण बुद्धि के प्रभाव मे भगवान् च्यवन के निकट साङ्गवेद पाठ किया। वह " आस्तीक " नाम मे प्रसिद्ध हुए, वह जब गर्भ मे थे, तब उनके पिता

स बाल एव तत्रस्थश्चरन्नमितबुद्धिमान् ।
गृहे पन्नगराजस्य प्रयत्नात्परिरक्षितः ॥ २१ ॥
भगवानिव देवेशः शूलपाणिर्हिरण्मयः ।
विवर्धमानः सर्वांस्तान्पन्नगानभ्यहर्षयत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वण्यास्तीकोत्पत्तौ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ [१९०७]

शौनक उवाच— यदपृच्छत्तदा राजा मन्त्रिणो जनमेजयः ।
पितुः स्वर्गगतिं तन्मे विस्तरेण पुनर्वद ॥ १ ॥
सौतिरुवाच— शृणु ब्रह्मन्यथाऽपृच्छन्मन्त्रिणो नृपतिस्तदा ।
यथा चाऽऽख्यातवन्तस्ते निधनं तत्परीक्षितः ॥ २ ॥
जनमेजय उवाच—जानन्ति स्म भवन्तस्तद्यथावृत्तं पितुर्मम ।
आसीद्यथा स निधनं गतः काले महायशाः ॥ ३ ॥
श्रुत्वा भवत्सकाशाद्धि पितुर्वृत्तमशेषतः ।
कल्याणं प्रतिपत्स्यामि विपरीतं न जातुचित् ॥४॥
सौतिरुवाच— मन्त्रिणोऽथाऽब्रुवन्वाक्यं पृष्टास्तेन महात्मना ।
सर्वे धर्मविदः प्राज्ञा राजानं जनमेजयम् ॥ ५ ॥

"अस्ति" यह बात कहकर वन को सिधारे थे, इस लिये उनका नाम आस्तीक हुआ। असाधारण बुद्धिमान् आस्तीक बालपन में नागों के घरमें रहकर वासुकि के अति यत्नसे भली भांति रक्षित होकर घूमते हुए प्रकाशमान् भगवान् देवोंके देव शूलधारी के समान दिनोंदिन बढकर सम्पूर्ण सर्पो को आनन्द देने लगे।(१८–२२)[१९५७]

आदिपर्व में अडतालीसवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में उनचासवां अध्याय ॥

श्रीशौनकजी बोले, कि राजा जनमेजय ने पिताके परलोक के विषय में मन्त्रियों से जो कुछ पूछा था, उसे फिर विस्तार-पूर्वक कहो। श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि ब्रह्मन्! राजाने मन्त्रियों से जैसा पूछा था और मन्त्रियों ने परीक्षित् की स्वर्ग-प्राप्ति के विषयमें जैसा वर्णन किया था वह सुनिये। जनमेजय ने पूछा," हे मन्त्रियो! मेरे पिताका जैसा चरित्र था और वह महायशा नरेश कालवश जिस प्रकार नाश हुए, वह तुम भले प्रकार जानते हो; मैं तुमसे पिता का सम्पूर्ण चरित्र सुनकर जैसे मङ्गल हो सके वही करूंगा कदापि विपरीत न करूंगा।" १-४

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि महात्मा राजा जनमेजयके यह प्रश्न करने पर धर्मज्ञ और

मन्त्रिण उचुः— शृणु पार्थिव यद्ब्रूषे पितुस्तव महात्मनः।
चरितं पार्थिवेन्द्रस्य यथा निष्ठां गतश्च सः ॥ ६॥
धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालः पिता तव।
आसीदिह यथावृत्तः स महात्मा शृणुष्व तत्॥ ७॥
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत।
धर्मतो धर्मविद्राजा धर्मो विग्रहवानिव ॥ ८॥
ररक्ष पृथिवीं देवीं श्रीमानतुलविक्रमः।
द्वेष्टारस्तस्य नैवाऽऽसन्स च द्वेष्टि न कञ्चन ॥ ९॥
समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाऽभवत्।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु॥ १०॥
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वधिष्ठिताः।
विधवाऽनाथविकलान्कृपणांश्च बभार सः ॥ ११॥
सुदर्शः सर्वभूतानामासीत्सोम इवाऽपरः।
तुष्टपुष्टजनः श्रीमान्सत्यवाग्दृढविक्रमः ॥ १२॥
धनुर्वेदे तु शिष्योऽभून्नृपः शारद्वतस्य सः।
गोविन्दस्य प्रियश्चाऽऽसीत्पिता ते जनमेजय॥ १३॥

प्राज्ञ मन्त्रियोंने कहा, " राजन्! आपने अपने पिता महात्मा जनश्रेष्ठ परीक्षित् के चरित्र के विषयमें जो कुछ पूछा और जिस प्रकार वह परलोक को सिधारे,वह सुनिये। आपके पिता जैसे धर्मात्मा, महात्मा तथा प्रजापालक थे, वह कहता हूं। धर्म्मशील राजा साक्षात् धर्मके अवतार के समान धर्म-पथ अवलम्बन करके चारोंवर्णों को निज निज धर्म में रखकर प्रजा पालते थे; अतुल विक्रमी श्रीमान् पृथ्वीनाथ पृथ्वी को भले प्रकार रक्षा करते थे; उनका द्वेषी कोई नहीं था; वह भी किसीका द्वेष नहीं करते थे; वह प्रजापति के समान सब प्रजाको समान जानते थे, कभी पक्षपात नहीं करते थे; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह राजा से सुरक्षित होकर प्रसन्नचित्त से निज निज कार्य में लगे रहते थे; वह विधवा, अनाथ, दीन, दुःखियों का पोषण करते थे और द्वितीय चन्द्रमा की भांति प्रजाओं के नेत्रों के आनन्ददायी थे। उस श्रीमान्, सत्यवादी, दृढविक्रमी,महीपाल सब से लोग ही तुष्ट और पुष्ट होते थे; हे जनमेजय ! ऐसे गुणवान् आपके पिता धनुर्वेद में शारद्वतजी के शिष्य और गोविन्द के प्रियपात्र थे; वह किसीके

लोकस्य चैव सर्वस्य प्रिय आसीन्महायशाः।
परिक्षीणेषु कुरुषु सोत्तरायामजीजनत् ॥ १४ ॥
परीक्षिदभवत्तेन सौभद्रस्याऽऽत्मजो बली।
राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्वृतः ॥ १५ ॥
जितेन्द्रियश्चाऽऽत्मवांश्च मेधावी धर्मसेविता।
षड्वर्गजिन्महाबुद्धिर्नीतिशास्त्रविदुत्तमः ॥ १६ ॥
प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत्।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन्॥ १७ ॥
ततस्त्वं पुरुषश्रेष्ठ धर्मेण प्रतिपेदिवान्।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कुरुकुलागतम्।
बाल एवाऽभिषिक्तस्त्वं सर्वभूतानुपालकः॥ १८ ॥

जनमेजय उवाच—नाऽस्मिन्कुले जातु बभूव राजा यो न प्रजानां प्रियकृत्प्रियश्च।
विशेषतः प्रेक्ष्य पितामहानां वृत्तं महद्वृत्तपरायणानाम्॥१९॥
कथं निधनमापन्नः पिता मम तथाविधः।
आचक्षध्वं यथावन्मे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ २० ॥

सौतिरुवाच— एवं संचोदिता राज्ञा मन्त्रिणस्ते नराधिपम्।

भी अप्रिय नहीं थे। कुरुकुलके क्षय होने पर अभिमन्युके पुत्र उस बलवान्, महायशा परीक्षित्ने उत्तरा के गर्भ से जन्म लिया था, इस हेतु उनका नाम परीक्षित् हुआ था। राजधर्म में निपुण, सर्व गुणों से भूषित, जितेन्द्रिय, मेधायुक्त, बुद्धिमान धर्मसेवक, कामक्रोधादि के अवशीभूत, महाबुद्धियुक्त और नीतिशास्त्र में अच्छे पण्डित आपके पिता प्रजा पालकर साठ वर्ष की अवस्था में सब लोगों को दुःखके समुद्र में डुबाकर परलोक को सिधारे हैं। (५-१७)

हे पुरुषश्रेष्ठ! उसके पश्चात् आपने कुरुकुल से क्रमागत अनेक सहस्र वर्ष तक शासित होते हुए इस राज्य को धर्मानुसार प्राप्त किया है और बालपनही में अभिषिक्त होकर संपूर्ण प्रजाको पालन कर रहे है।" जनमेजय बोले, 'लोकों में असाधारण कीर्तिमान अगले पुरुषों के चरितों को जानकर मुझे समझ पडता है, कि इस वंश में कभी ऐसे कोई भूप नही थे, जो प्रजाओं के प्रिय और प्रिय करनेवाले नही हुए थे; अतएव यह सुनना चाहता हूं, कि मेरे पिता वैसे गुणशील होने पर भी किस हेतु अकाल में कालवश हुए; तुम आदि से अन्ततक यथावत् प्रकट

ऊचुः सर्वे यथावृत्तं राज्ञः प्रियहितैषिणः ॥ २१ ॥

मन्त्रिण ऊचुः— स राजा पृथिवीपालः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
बभूव मृगयाशीलस्तव राजन्पिता सदा ॥ २२ ॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि ।
अस्मास्वासज्य सर्वाणि राजकार्याण्यशेषतः ॥२३॥
स कदाचिद्वनगतो मृगं विव्याध पत्त्रिणा ।
विद्ध्वा चाऽन्वसरत्तूर्णं तं मृगं गहने वने २४ ॥
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशस्ततायुधकलापवान् ।
न चाऽऽससाद गहने मृगं नष्टं पिता तव ॥ २५ ॥
परिश्रान्तो वयस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः ।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम् ॥ २६ ॥
स तं पप्रच्छ राजेंद्रो मुनिं मौनव्रते स्थितम् ।
न च किंचिदुवाचेदं पृष्टोऽपि स मुनिस्तदा ॥२७ ॥
ततो राजा क्षुच्छ्रमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवत्स्थितम् ।
मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशं गतः ॥ २८ ॥
न बुबोध च तं राजा मौनव्रतधरं मुनिम् ।
स तं क्रोधसमाविष्टो धर्षयामास ते पिता ॥ २९ ॥

करो ।" (१८–२०)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि राजाके हितैषी मन्त्रीगण राजासे इस प्रकार पूछे जाकर यथाविधि आद्योपान्त कहने लगे। मन्त्रिओंने कहा," राजन् ! आपके पिता महाबाहु पाण्डुके समान सर्वशास्त्रों मे निपुण, अद्वितीय चापधारी और सदा मृगयाशील थे । एक समय वह हमलोगों पर राजकार्य का सपूर्ण भार सौंपकर मृगया के निमित्त वन में गये ! आगे एक मृग उन के बाण से बींधे जाकर घने वनमें जा घुसा । वह खड्ग तूणीर आदि युद्धकी साजों से सजधज कर अकेले उस मृगको ढूंढने लगे; पर देख नहीं पाया, कि मृग कहां भागा; वह साठ वर्ष की आयुमें पहुंचे थे और बूढे हो गये थे, इस हेतु थक गये और भूख से कातर हुए; आगे उस घोर वन में मोनव्रत किये हुए एक मुनि को देखकर भागे हुए मृग का समाचार पूछा। मुनि मौनी थे, सो पूछे जाने पर भी कोई उत्तर नहीं दिया। राजा एक तो भूख और थकावट मे कातर थे, फिर उस पर शाखावर्जित वृक्ष के समान बैठे हुए उस ऋषि को बात न बोलते

मृतं सर्पं धनुष्कोट्या समुत्क्षिप्य धरातलात्।
तस्य शुद्धात्मनः प्रादात्स्कन्धे भरतसत्तम ॥ ३० ॥
न चोवाच स मेधावी तमथो साध्वसाधु वा।
तस्थौ तथैव चाऽक्रुद्धः सर्पं स्कन्धेन धारयन्॥ ३१ ॥ (१९८८)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि पारीक्षितीय एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ४९ ॥

मान्त्रिण ऊचुः— ततः स राजा राजेन्द्र स्कन्धे तस्य भुजङ्गमम्।
मुनेः क्षुत्क्षाम आसज्य स्वपुरं प्रययौ पुनः ॥ १ ॥
ऋषेस्तस्य तु पुत्रोऽभूद्गवि जातो महायशाः।
शृङ्गी नाम महातेजास्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ॥ २ ॥
ब्रह्माणं समुपागम्य मुनिः पूजां चकार ह।
सोऽनुज्ञातस्ततस्तत्र शृङ्गी शुश्राव तं तदा ॥ ३ ॥
सख्युः सकाशात्पितरं पित्रा ते धर्षितं पुरा।
मृतं सर्पं समासक्तं स्थाणुभूतस्य तस्य तम ॥ ४ ॥
वहन्तं राजशार्दूल स्कन्धेनाऽनपकारिणम्।
तपस्विनमतीवाऽथ तं मुनिप्रवरं नृप ॥ ५ ॥

देखकर उसीक्षण क्रोधयुक्त हो गये; पर आपके पिता नहीं जानते थे, कि वह मुनि मौनव्रत किये हैं इससे उन्होंने क्रोधयुक्त होने के कारण उनकी मानहानि की अर्थात् चाप की कोटि से धरती पर से एक मृत सर्प को उठाकर उस पवित्रात्मा मुनि के गले पर रखा; उस मेधायुक्त मुनिने भली या बुरी कुछ न कही, क्रोध भी नहीं किया था, उसी प्रकार सर्प को गलेमें लिये रहे।" (२१–३१)

आदिपर्व मे उनचासवां अध्याय समाप्त [१९८८]

आदिपर्व में पचासवां अध्याय।

मन्त्रीगण बोले, हे राजेन्द्र! आपके पिता भूख से कातर होकर मुनिके गले पर मृत सर्प डालकर नगर मे लौट आये। उस ऋषि के शृङ्गी नामक गौके गर्भमें जन्म लिये हुए महायशा, महातेजा, तिग्मवीर्य, अति क्रोधी एक पुत्र थे; वह ब्रह्माजी के निकट जाकर उनकी पूजाकरके उनकी आज्ञा से आश्रम को लौट आरहे थे; पथ में अपने साथी से सुना, कि घोरतपस्वी, मुनिश्रेष्ठ, जितेन्द्रिय, विशुद्धात्मा, आश्चर्य कार्य मे नियुक्त, तपस्या से प्रकाशमान यतात्मा, सदा शुभाचार मे रत, सत्क्रिया मे स्थित, लोभवर्जित, सुस्थित, अक्षुद्राक्षय, असूयारहित वृद्ध,

जितेन्द्रियं विशुद्धं च स्थितं कर्मण्यथाऽद्भुतम् ।
तपसा द्योतितात्मानं स्वेष्वङ्गेषु यतं तदा ॥ ६ ॥
शुभाचारं शुभकथं सुस्थितं तमलोलुपम् ।
अक्षुद्रमनसूयं च वृद्धं मौनव्रते स्थितम् ॥ ७ ॥
शरण्यं सर्वभूतानां पित्रा विनिकृतं तव ॥ ८ ॥
शशापाऽथ महातेजाः पितरं ते रुषान्वितः ।
ऋषेः पुत्रो महातेजा बालोऽपि स्थविरद्युतिः ॥ ९ ॥
स क्षिप्रमुदकं स्पृष्ट्वा रोषादिदमुवाच ह ।
पितरं तेऽभिसंधाय तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ १० ॥
अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत् ।
तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा प्रदहिष्यति ॥ ११ ॥
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ।
सप्तरात्रादितः पापं पश्य मे तपसो बलम् ॥ १२ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र पिता यत्राऽस्य सोऽभवत् ।
दृष्ट्वा च पितरं तस्मै तं शापं प्रत्यवेदयत् ॥ १३ ॥
स चाऽपि मुनिशार्दूलः प्रेरयामास ते पितुः ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं गुणान्वितम् ॥ १४ ॥
आचख्यौ स च विश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ।

सर्वभूतों को शरण देने योग्य और मौनव्रत में बैठे हुए उनके पिता का अपमान कर आपके पिता ने एक मृत सर्प उठाकर उनके गले पर डाला है और वह वृद्ध ऋषि भी जडके समान उस मृत सर्प को गले में लिये हुए हैं; हानिकारी राजाकी बदलेमें कोई हानि नही की। (१-८)

महातेजा ऋषि कुमार बालक होने परभी वृद्धके समान थे, सो वह उसे सुनकर अति क्रोधित हुए और अपने तेज से मानो जलकर जल छूकर आपके पिताका नाम लेकर यह शाप दिया, कि जिस पापात्मा ने विना अपराध मेरे पिता के गले में मृत सर्प डाला है, उसको महातेजा विषधारी तक्षक सर्प मेरे तपोबल के प्रभाव से भेजा जाकर सात रात्रियों के बीच में क्रोधपूर्वक तेज से जला देगा ; हे मित्र ! मेरे तपोबल को देखो। शृङ्गीने यह बात कहकर जहां उसके पिता थे, वहां जाकर उनको देखकर शाप देने का वृत्तान्त कह सुनाया। उस मुनिशार्दूल शमीक ने गौरमुख नामक गुणवान् सुशील शिष्य को आपके पिताके निकट

शप्तोऽसि मम पुत्रेण यत्तो भव महीपते ॥ १५ ॥
तक्षकस्त्वां महाराज तेजसाऽसौ दहिष्यति।
श्रुत्वा च तद्वचो घोरं पिता ते जनमेजय ॥ १६ ॥
यत्तोऽभवत्परित्रस्तस्तक्षकात्पन्नगोत्तमात् ।
ततस्तस्मिंस्तु दिवसे सप्तमे समुपस्थिते ॥ १७ ॥
राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत ।
तं ददर्शाऽथ नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं तदा ॥ १८ ॥
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं त्वरितं द्विजम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति १९॥
काश्यप उवाच— यत्र राजा कुरुश्रेष्ठः परीक्षिन्नाम वै द्विज ।
तक्षकेण भुजङ्गेन धक्ष्यते किल सोऽद्य वै ॥ २० ॥
गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम् ।
मयाऽभिपन्नं तं चाऽपि न सर्पो धर्षयिष्यति ॥२१॥
तक्षक उवाच— किमर्थं तं मया दष्टं संजीवयितुमिच्छसि ।
अहं स तक्षको ब्रह्मन्पश्य मे वीर्यमद्भुतम् ॥ २२ ॥
न शक्तस्त्वं मया दष्टं तं संजीवयितुं नृपम् ।
इत्युक्त्वा तक्षकस्तत्र सोऽदशद्वै वनस्पतिम् ॥२३॥

भेजा । गौरमुख यहां आकर थकावट मिटाकर राजा को सब वृत्तान्त सुनाकर गुरु की यह आज्ञा जताई, कि हे महोदय! मेरे पुत्रने तुमको शाप दिया है । सावधान होओ, हे महाराज ! तक्षक तुमको तेजद्वारा जलावेगा। "(९–१६)

हे जनमेजय ! आपके पिता यह कठोर बात सुनकर नागोत्तम तक्षक का भय खाकर सावधान हो रहे। अनन्तर उस सातवें दिनके आने पर महर्षि काश्यप राजाके समीप आरहे थे, पथ में नागनाथ तक्षकने उनको देखा। तक्षक बोला " हे द्विज ! तुम शीघ्रतापूर्वक कहां जा रहे हो ? क्या करना चाहते हो ? " काश्यपने उत्तर दिया, " हे विप्र ! आज नागराज तक्षक कुरुकुलप्रदीप राजा परीक्षित को तजे से जलावेगा, मैं आज ही आरोग्य करने के अभिप्राय से शीघ्रतापूर्वक जा रहा हूं ; मेरे वहां जाने पर तक्षक उनका प्राण नहीं ले सकेगा । " तक्षक बोला, " हे ब्रह्मन् ! मैं ही तक्षक हूं, मेरे काटने पर तुम क्यों उनको बचाना चाहते हो? कभी बचा नहीं सकोगे वरण मेरा आश्चर्य वीर्य प्रत्यक्ष करो।" (१६-२३)

स दष्टमात्रो नागेन भस्मीभूतोऽभवन्नगः।
काश्यपश्च ततो राजन्नजीवयत तं नगम् ॥ २४ ॥
ततस्तं लोभयामास कामं ब्रूहीति तक्षकः।
स एवमुक्तस्तं प्राह काश्यपस्तक्षकं पुनः ॥ २५ ॥
धनलिप्सुरहं तत्र यामीत्युक्तश्च तेन सः।
तमुवाच महात्मानं तक्षकः श्लक्ष्णया गिरा ॥२६॥
यावद्धनं प्रार्थयसे राज्ञस्तस्मात्ततोऽधिकम्।
गृहाण मत्त एव त्वं संनिवर्तस्व चाऽनघ ॥ २७ ॥
स एवमुक्तो नागेन काश्यपो द्विपदां वरः।
लब्ध्वा वित्तं निववृते तक्षकाद्यावदीप्सितम्॥२८॥
तस्मिन्प्रतिगते विप्रे छद्मनोपेत्य तक्षकः।
तं नृपं नृपतिश्रेष्ठं पितरं धार्मिकं तव ॥ २९ ॥
प्रासादस्थं यत्तमपि दग्धवान्विषवह्निना।
ततस्त्वं पुरुषव्याघ्र विजयायाऽभिषेचितः ॥ ३० ॥
एतद्दृष्टं श्रुतं चाऽपि यथावन्नृपसत्तम।
अस्माभिर्निखिलं सर्वं कथितं तेऽतिदारुणम्॥ ३१ ॥
श्रुत्वा चैवं नरश्रेष्ठ पार्थिवस्य पराभवम्।

तक्षकने यह बात कहकर एक वृक्ष को काटा; आगे काटनेहीसे वह वृक्ष उसी क्षण भस्म हो गया। हे राजन्! तब काश्यपने उस वृक्ष को बचाया यह देखकर तक्षक काश्यप को यह कहकर लुभाने लगा, कि बोलो, तुम क्या पाने की इच्छासे राजा के पास जा रहे हो। काश्यपने उत्तर दिया, कि मैं धन पाने की आशासे जाता हूं। अनन्तर तक्षकने उस महात्मा को मीठी बातों में कहा, हे अनघ! तुमने राजासे जितना धन पाने की आशा की है, मैं उससे भी अधिक धन देता हूं, लौट जाओ।" (२३-२७)

तक्षक की यह बात सुनकर मानवश्रेष्ठ काश्यप प्रार्थना से अधिक धन पाकर लौट गये। अनन्तर परम धार्मिक नृपश्रेष्ठ आपके पिताके सुरक्षित गृह में बडे सावधान रहने पर भी तक्षकने वेष बदलकरके आकर विषरूपी आगमे उनको भस्म किया। उसके पश्चात् आप विपक्षियों को जीतने को उनके पदपर आरूढ हुए हैं; हे नृपश्रेष्ठ! हमने जो सब अति भयावनी लीला देखी और सुनी है, वह सब आद्योपान्त कह

अस्य चर्षेरुत्तङ्कस्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ३२ ॥

सौतिरुवाच— एतस्मिन्नेव काले तु स राजा जनमेजयः ।
उवाच मन्त्रिणः सर्वानिदं वाक्यमरिंदमः ॥ ३३ ॥

जनमेजय उवाच—अथ तत्कथितं केन यद्वृत्तं तद्वनस्पतौ ।
आश्चर्यभूतं लोकस्य भस्मराशीकृतं तदा ॥ ३४ ॥
यद्वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै ।
नूनं मन्त्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ॥ ३५ ॥
चिन्तयामास पापात्मा मनसा पन्नगाधमः ।
दष्टं यदि मया विप्रः पार्थिवं जीवयिष्यति ॥ ३६ ॥
तक्षकः संहतविषो लोके यास्यति हास्यताम् ।
विचिन्त्यैवं कृता तेन ध्रुवं तुष्टिर्द्विजस्य वै ॥ ३७ ॥
भविष्यति ह्युपायेन यस्य दास्यामि यातनाम्।
एकं तु श्रोतुमिच्छामि तद्वृत्तं निर्जने वने ॥ ३८ ॥
संवादं पन्नगेन्द्रस्य काश्यपस्य च कस्तदा ।
श्रुतवान्दृष्टवांश्चाऽपि भवत्सु कथमागतम् ॥ ३९ ॥
श्रुत्वा तस्य विधास्येऽहं पन्नगान्तकरीं मतिम् ॥ ४० ॥

सुनाई। हे नरनाथ ! अपने पिता और उतङ्क ऋषि की पराजय का वृत्तान्त तो सुन चुके, अब जो उचित हो, कीजिये। (२८—३२)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर शत्रुकुल नाशी राजा जनमेजय ने मन्त्रियोंसे कहा, "यह आश्चर्य लीला कि तक्षकने वनस्पति को जलाया और काश्यपने उसको जीवन दिया, तुमने किस्से सुना है ? मुझको जान पडता है, कि तक्षकने उस समय सोचा था, कि इस ब्राह्मण के मन्त्रद्वारा विष से मुक्त होकर वृक्ष को जीवन मिला है, सो मेरे राजाको काटनेसे यह ब्राह्मण जाकर यदि उनको जिला दे, तो लोग यह कहकर मेरी हंसी करेंगे, कि तक्षक का अब वैसा विष न रहा। सर्पाधम पापात्मा तक्षकने मनही मन में यह सोचकर काश्यपजी को प्रसन्नकर विदाकर दिया था, इस में कुछ भी सन्देह नहीं है ; पर मैं चाहे जिस उपायसे हो, उस पापात्मा के इस पाप का उचित प्रतिफल दूंगा; परन्तु मैं एक बात पूछता हूं, कि निर्जन वन में काश्यप और तक्षक से बातों का होना किसने सुना है, वा किसने देखा है, अथवा क्योंकर वह तुम्हारे कानों तक पहुंचा ?

मन्त्रिण ऊचुः— शृणु राजन्यथाऽस्माकं येन तत्कथितं पुरा ।
समागतं द्विजेन्द्रस्य पन्नगेन्द्रस्य चाऽध्वनि ॥ ४१ ॥
तस्मिन्वृक्षे नरः कश्चिदिन्धनार्थाय पार्थिव ।
विचिन्वन्पूर्वमारूढः शुष्कशाखा वनस्पतौ ॥ ४२ ॥
न बुध्येतामुभौ तौ च नगस्थं पन्नगद्विजौ ।
सह तेनैव वृक्षेण भस्मीभूतोऽभवन्नृप ॥ ४३ ॥
द्विजप्रभावाद्राजेन्द्र व्यजीवत्स वनस्पतिः ।
तेनाऽऽगम्य द्विजश्रेष्ठ पुंसाऽस्मासु निवेदितम् ४४ ॥
यथावृत्तं तु तत्सर्वं तक्षकस्य द्विजस्य च ।
एतत्ते कथितं राजन्यथा दृष्टं श्रुतं च यत् ॥ ४५ ॥
श्रुत्वा च नृपशार्दूल विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ४६ ॥

सौतिरुवाच— मन्त्रिणां तु वचः श्रुत्वा स राजा जनमेजयः ।
पर्यतप्यत दुःखार्तः प्रत्यपिंषत्करं करे ॥ ४७ ॥
निःश्वासमुष्णमसकृद्दीर्घं राजीवलोचनः ।
मुमोचाऽश्रूणि च तदा नेत्राभ्यां प्ररुदन्नृप ॥ ४८ ॥
उवाच च महीपालो दुःखशोकसमन्वितः ।

मैं यह सुनकर ऐसी चेष्टा करूंगा, कि सर्पकुलका नाश होवे । ' (३३ ४०)

मन्त्रियों ने कहा, कि हे राजन ! काश्यप और तक्षक का मिलनवृत्तान्त जिसने हमसे जिस प्रकारसे कहा था, वह कहता हूं, सुनिये । हे पृथ्वीपते ! एक मनुष्य लकडी के निमित्त उस वृक्ष पर चढ कर सूखी शाखा बटोर रहा था; उक्त ब्राह्मण और तक्षकने वृक्ष पर चढे हुए उस मनुष्य को देखा नहीं था, हे राजन ! वह मनुष्य तक्षक के विषाग्नि से वृक्ष सहित भस्म हो गया था, फिर काश्यपजीके प्रभाव से वृक्ष के साथ जी उठा. उस पुरुषने हमारे पास आकर तक्षक और ब्राह्मण का सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा था; हे राजन् ! हमने जो कुछ देखा है और सुना है वह सब कह चुके । हे राजसिंह ! इसे सुनकर जो उचित हो कीजिये (४१–४६)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि राजा जनमेजय मन्त्रियोंकी बात सुनकर दुःखसे अति कातर और खेदयुक्त होकर हाथसे हाथ मलने लगे और बार बार लम्बी सांस लेकर उन कमल नेत्रों से आंसू गिराने लगे । पिताके शोकसे रोने से उनके आंसू गिरने योग्य न रहे, अनन्तर वह यथाविधि जल छूकर

दुर्धरं बाष्पमुत्सृज्य स्पृष्ट्वा चाऽपो यथाविधि ॥४९॥
मुहूर्त्तमिव च ध्यात्वा निश्चित्य मनसा नृपः।
अमर्षी मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ॥५०॥

जनमेजय उवाच— श्रुत्वैतद्भवतां वाक्यं पितुर्मे स्वर्गतिं प्रति।
निश्चितेयं मम मतिर्या च तां मे निबोधत ॥५१॥
अनन्तरं च मन्येऽहं तक्षकाय दुरात्मने ॥५२॥
प्रतिकर्त्तव्यमित्येवं येन मे हिंसितः पिता।
शृङ्गिणं हेतुमात्रं यः कृत्वा दग्ध्वा च पार्थिवम् ५३॥
इयं दुरात्मता तस्य काश्यपं यो न्यवर्तयत्।
यद्यागच्छेत्स वै विप्रो ननु जीवेत्पिता मम ॥५४॥
परिहीयेत किं तस्य यदि जीवेत्स पार्थिवः।
काश्यपस्य प्रसादेन मन्त्रिणां विनयेन च ॥५५॥
स तु वारितवान्मोहात्काश्यपं द्विजसत्तमम्।
संजिजीवयिषुं प्राप्तं राजानमपराजितम् ॥५६॥
महानतिक्रमो ह्येष तक्षकस्य दुरात्मनः।
द्विजस्य योऽददद्द्रव्यं मा नृपं जीवयेदिति ॥५७॥
उत्तङ्कस्य प्रियं कर्तुमात्मनश्च महत्प्रियम्।

खेदयुक्त चित्तसे क्षणभर सोच करके मनही मन में कार्य ठहराकर मंत्रियो से बोले, "मेरे पिताके परलोक सिधारने के विषय में तुमने जो कहा, उसे सुनकर मैने मनही मन में जैसा निश्चय किया है, वह सुनो। (४९-५१)

मैने सोचा है, कि जिस दुरात्मा तक्षकने शृङ्गी नामक ऋषि पुत्रका मिस मात्र पाकर मेरे पिता को जलाकर नष्ट किया है, उस पापिष्ट का प्रतिफल देना उचित है; देखो उस दुरात्मा का अत्याचार कितना है; काश्यपजी आ रहे थे, उनको उसने धन देकर लौटा दिया; वह ब्राह्मण आये होते, तो मेरे पिता विना सन्देह जी उठते। काश्यपजी के प्रसाद और मंत्रियो के विनय से जी गये होते, तो उसकी कौनसी हानि हुई होती! उस अजेय राजा को जिलाने के निमित्त द्विजोत्तम काश्यप आ रहे थे, उसने मूर्खता से क्यों उनको रोका? यह सोचकर कि ब्राह्मण राजा को जीवन न दे, उनको धन देना उस दुराचारी तक्षकका बडा अत्याचार प्रकट करता है, अतएव मै उतङ्क के, मेरे और तुम्हारे हितानुष्ठान करने के निमित्त

भवतां चैव सर्वेषां गच्छाम्यपचितिं पितुः ॥५८॥ [२०४६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
परीक्षिन्मन्त्रिसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

सौतिरुवाच— एवमुक्त्वा ततः श्रीमान्मन्त्रिभिश्चाऽनुमोदितः ।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः ॥ १ ॥
ब्रह्मन्भरतशार्दूलो राजा पारिक्षितस्तदा ।
पुरोहितमथाऽऽहूय ऋत्विजो वसुधापतिः ॥ २ ॥
अब्रवीद्वाक्यसंपन्नः कार्यसंपत्करं वचः ।
यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान् ॥३॥
प्रतिकुर्यां तथा तस्य तद्भवन्तो ब्रुवन्तु मे ।
अपि तत्कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम् ॥ ४ ॥
तक्षकं संप्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम् ।
यथा तेन पिता मह्यं पूर्वं दग्धो विषाग्निना ।
तथाऽहमपि तं पापं दग्धुमिच्छामि पन्नगम् ॥ ६ ॥
ऋत्विज ऊचुः— अस्ति राजन्महत्सत्रं त्वदर्थं देवनिर्मितम् ।
सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे परिपठ्यते ॥ ७ ॥

पिता की शत्रुता का बदला लूंगा। (५१–५८) [२०४६]

आदिपर्व में पचासवा अध्याय समाप्त

आदिपर्व में एकावनवा अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि ब्रह्मन्! भरतसिंह परीक्षित्पुत्र पृथ्वीनाथ श्रीमान् जनमेजय की यह सब बात मन्त्रियों से अनुमोदित होने पर उन्होंने सर्पयज्ञ करने का प्रण ठान लिया। अनन्तर उन वाक्ययुक्त राजा ने पुरोहित और ऋत्विकों को बुलवाकर कार्योपयुक्त यह बात कही, कि जिस दुरात्मा तक्षक ने मेरे पिता की हिंसा की है; मैंने उसका यथोचित प्रतिफल देने की इच्छा की है; आपलोग कहें, कि ऐसे किसी विधान से विदित है वा नहीं, कि जिससे नागराज तक्षक को मित्रों के साथ जलती हुई आग में डाल सकूं? पहिले तक्षकने जिस प्रकार से विषरूपी आगसे मेरे पिता को जलाया था, मैने भी उस पापिष्ट को उस प्रकार जलती हुई आग मे आहुति चढाकर जलाने की इच्छा की है। (१—६)

ऋत्विकगण बोले, कि राजन्! पुराणोंमे देखते है, कि सर्पयज्ञ नामक एक महान्यज्ञ है; देवताओंने आपही के निमित्त उस

आहर्ता तस्य सत्रस्य त्वत्तान्योऽस्ति नराधिप।
इति पौराणिकाः प्राहुरस्माकं चास्ति स क्रतुः॥ ८ ॥
एवमुक्तः स राजर्षिर्मेने दग्धं हि तक्षकम्।
हुताशनमुखे दीप्ते प्रविष्टमिति सत्तम ॥ ९ ॥
ततोऽब्रवीन्मन्त्रविदस्तान्राजा ब्राह्मणांस्तदा।
आहरिष्यामि तत्सत्रं संभाराः संभ्रियन्तु मे ॥१०॥
ततस्त ऋत्विजस्तस्य शास्त्रतो द्विजसत्तम।
तं देशं मापयामासुर्यज्ञायतनकारणात् ॥ ११ ॥
यथावद्वेदविद्वांसः सर्वे बुद्धेः परंगताः।
ऋद्ध्या परमया युक्तमिष्टं द्विजगणैर्युतम् ॥ १२ ॥
प्रभूतधनधान्याढ्यमृत्विग्भिः सुनिषेवितम्।
निर्माय चाऽपि विधिवद्यज्ञायतनमीप्सितम् ॥१३॥
राजानं दीक्षयामासुः सर्पसत्राप्तये तदा।
इदं चाऽऽसीत्तत्र पूर्वं सर्पसत्रे भविष्यति ॥१४॥
निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा।
यज्ञस्याऽऽयतने तस्मिन्क्रियमाणे वचोऽब्रवीत् ॥१५॥
स्थपतिर्बुद्धिसंपन्नो वास्तुविद्याविशारदः।
इत्यब्रवीत्सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा ॥१६॥

यज्ञको रचा है। पौराणिकलोग कहते है, कि आपके विना कोई दूसरे भूप उस महायज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकेंगे। हे महाराज ! हम लोग भी उसके नियमो से ज्ञात है। (३--८)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि हे सत्तम ! राजाने ऋत्विकों को यह बात सुनकर तक्षक को अग्निके मुहमे पडा हुआ और जला हुआ समझा। आगे मन्त्रज्ञ ब्राह्मणो से बोले, कि मैं सर्पयज्ञ का अनुष्ठान करूंगा; आप लोग आयोजन कीजिये। हे द्विजसत्तम ! बुद्धिमान्, वेदज्ञ ऋत्विक लोगोने यज्ञस्थान के निमित्त एक स्थान ठहराकर यथाविधि उसे सजाया; आगे उन्होने वेदविधिके अनुसार परम ऋद्धियुक्त द्विजोसे निषेवित अपरिमित धन-धान्यवाले ऋत्विको से सेवित इष्ट यज्ञस्थानको बना करके राजा को सर्पयज्ञ में दीक्षित किया; पर तब उस सर्पयज्ञ मे विघ्न डालनेवाला एक भारी निमित्त उपस्थित हुआ। जब यज्ञस्थान बन रहा था, तब वास्तुविद्यामे पण्डित बुद्धिमान् राज

यस्मिन्देशे च काले च मापनेयं प्रवर्तिना ।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नाऽयं संस्थास्यते क्रतुः ॥ १७ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु राजाऽसौ प्राग्दीक्षाकालमब्रवीत् ।
क्षत्तारं न हि मे कश्चिदज्ञातः प्रविशेदिति ॥ १८॥ (२०६४)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

सौतिरुवाच— ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रविधानतः ।
पर्यक्रामंश्च विधिवत्स्वे स्वे कर्मणि याजकाः ॥ १ ॥
प्रावृत्य कृष्णवासांसि धूम्रसंरक्तलोचनाः ।
जुहुवुर्मन्त्रवच्चैव समिद्धं जातवेदसम् ॥ २ ॥
कम्पयन्तश्च सर्वेषामुरगाणां मनांसि च ।
सर्पानाजुहुवुस्तत्र सर्वानग्निमुखे तदा ॥ ३ ॥
ततः सर्पाः समापेतुः प्रदीप्ते हव्यवाहने ।
विचेष्टमानाः कृपणमाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ४ ॥
विस्फुरन्तः श्वसन्तश्च वेष्टयन्तः परस्परम् ।
पुच्छैः शिरोभिश्च भृशं चित्रभानुं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥
श्वेताः कृष्णाश्च नीलाश्च स्थविराः शिशवस्तथा ।
नदन्तो विविधान्नादान्पेतुर्दीप्ते विभावसौ ॥ ६ ॥
क्रोशयोजनमात्रा हि गोकर्णस्य प्रमाणतः ।

(स्थपति) पौराणिक सूतने कहा था, कि जिस देश में और जिस काल में यह नाप आरंभ हुआ है, उससे जान पडता है, कि एक ब्राह्मण के द्वारा यह यज्ञ रोका जायगा। राजा दीक्षित होने के पहिले यह बात सुनकर द्वारपालों से बोले, कि मेरे न जानने मे किसी को भी घुसने न देना। (१--१८ [२०६४]

आदिपर्व मे एकावन अध्याय समाप्त।

आदिपर्व मे बावन अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर यथा विधि सर्पयज्ञ आरंभ हुआ। याजकलोग यथाविधि अपने अपने कार्यों मे लगे। वे लोग काले रङ्गके दुपट्टे लेकर धुंएसे धुंधली आंख बनाकर विधिपूर्वक मन्त्र उच्चारते हुए प्रज्वलित अग्निमे आहुति चढाने लगे, इससे सर्पों के चित्त कांपने लगे। अनन्तर याजक लोग जब सर्पों को उद्देशकर अग्निके मुह में आहुति देने

पतन्त्यजस्रं वेगेन वह्नावाग्निमतां वर ॥ ७ ॥
एवं शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अवशानि विनष्टानि पन्नगानां तु तत्र वै ॥ ८ ॥
तुरगा इव तत्राऽन्ये हस्तिहस्ता इवाऽपरे ।
मत्ता इव च मातङ्गा महाकाया महाबलाः ॥ ९ ॥
उच्चावचाश्च बहवो नानावर्णा विषोल्बणाः ।
घोराश्च परिघप्रख्या दन्दशूका महाबलाः ॥ १० ॥
प्रपेतुरग्नावुरगा मातृवाग्दण्डपीडिताः ॥ ११ ॥ [२०७१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

शौनक उवाच— सर्पसत्रे तदा राज्ञः पाण्डवेयस्य धीमतः ।
जनमेजयस्य के त्वासन्नृत्विजः परमर्षयः ॥ १ ॥
के सदस्या बभूवुश्च सर्पसत्रे सुदारुणे ।
विषादजननेऽत्यर्थं पन्नगानां महाभये ॥ २ ॥
सर्वं विस्तरशस्तात भवाञ्छंसितुमर्हसि ।
सर्पसत्रविधानज्ञविज्ञेयाः के च सूतज ॥ ३ ॥

लगे; तब सादे, काले नीले, बूढे, बाल, कोसभर योजनभर गोकर्णभर सैकडों सहस्रों सर्प लम्बी सांस लेते हुए एक दूसरे को पूंछ और सिर से कसके लपेट-कर धीमे स्वरसे परस्पर को बुलाने के पीछे भांति भांतिके शब्दोंसे चिल्ला चिल्ला कर घूमते चक्कर खाते जलती हुई आग मे गिरने लगे । इस प्रकारसे सैकडों, सहस्रों, अयुतों, अर्बुदों सर्प अग्नि मे गिरते ही विवश शरीर होकर नष्ट हुए। अनन्तर अश्व-समान हाथी की सुंडके समान परिघसमान मत्तहस्ती-समान भारी शरीर-धारी और महाबली, अगणित रङ्गबिरङ्गके भांति भांति के, विष से विषम, घोररूप दन्दशूक सर्प मातृवाक्यरूपी दण्डसे पीडित होकर अग्निके मुह में गिरने लगे (१–११)

आदिपर्व मे बावन अध्याय समाप्त । [२०७१]

आदि पर्व मे तिरपन अध्याय ।

शौनकजीने पूछा, कि बेटा ! पाण्डवनन्दन धीमान राजा जनमेजय ने सर्पों को बडा भय देनेवाले, अति दुःखदायी, बडे कठोर जिस सर्प-यज्ञ का अनुष्ठान किया था, विस्तारपूर्वक कहो, कि उसमें कौन कौन महर्षि ऋत्विक और सदस्य थे, क्यो-कि यह जानना चाहता हूं, कि कौन कौन मुनि सर्पयज्ञके विधानज्ञ विदित थे। (१-३)

सौतिरुवाच — हन्त ते कथयिष्यामि नामानीह मनीषिणाम्।
य ऋत्विजः सदस्याश्च तस्याऽऽसन्नृपतेस्तदा ॥ ४ ॥
तत्र होता बभूवाऽथ ब्राह्मणश्चण्डभार्गवः।
च्यवनस्याऽन्वये ख्यातो जातो वेदविदां वरः ॥ ५ ॥
उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान्कौत्सोऽथ जैमिनिः।
ब्रह्माऽभवच्छार्ङ्गरवोऽथाऽध्वर्युश्चाऽपि पिङ्गलः ॥ ६ ॥
सदस्यश्चाऽभवद्व्यासः पुत्रशिष्यसहायवान्।
उद्दालकः प्रमतकः श्वेतकेतुश्च पिङ्गलः ॥ ७ ॥
असितो देवलश्चैव नारदः पर्वतस्तथा।
आत्रेयः कुण्डजठरौ द्विजः कालघटस्तथा ॥ ८ ॥
वात्स्यः श्रुतश्रवा वृद्धो जपस्वाध्यायशीलवान्।
कोहलो देवशर्मा च मौद्गल्यः समसौरभ ॥ ९ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो ब्राह्मणा वेदपारगाः।
सदस्याश्चाऽभवंस्तत्र सत्रे पारिक्षितस्य ह ॥ १० ॥
जुह्वत्स्वृत्विक्ष्वथ तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ।
अहयः प्रापतंस्तत्र घोराः प्राणिभयावहाः ॥ ११ ॥
वसामेदोवहाः कुल्या नागानां संप्रवर्तिताः।
ववौ गन्धश्च तुमुलो दह्यतामनिशं तदा ॥ १२ ॥

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि जो सब पण्डित लोग सर्प यज्ञ में ऋत्विक और सदस्य थे, उनके नाम कहता हूं सुनिये। च्यवन वंशी वेदज्ञ प्रसिद्ध ब्राह्मण चण्डभार्गव उस महायज्ञ में होता, विद्वान् बूढे कौत्स नामक ब्राह्मण उद्गाता, जैमिनि मुनि ब्रह्मा, शार्ङ्गरव और पिङ्गल मुनि अध्वर्यु हुए थे। पुत्र और शिष्यों के साथ व्यास, उद्दालक, प्रमतक, श्वेतकेतु, पिङ्गल, असित, देवल, नारद, पर्वत, आत्रेय, कुण्ड जठर, कालघट, वात्स्य, वृद्ध श्रुतश्रवा, जप और स्वाध्याय में रत सुशील, कोहल, देवशर्मा, मौद्गल्य, समसौरभ यह सब और दूसरे वेदज्ञ बहुत ब्राह्मण जनमेजयके इस महायज्ञमें सदस्य हुए थे। (४ - १०)

ऋत्विकोंके उस यज्ञमें आहुति चढाना आरम्भ करने पर घोर भयानक सर्पगण आकर गिरने लगे, उनकी वसा और मेदकी नदी बहने लगी। सदा जलते हुए सर्पोंकी कठोर दुर्गन्ध चारों ओर फैलने लगी; आगमें गिरे, आकाशमें

पतन्तां चैव नागानां धिष्ठितानां तथाऽम्बरे।
अश्रूयताऽनिशं शब्दः पच्यतां चाग्निना भृशम् १३॥
तक्षकस्तु स नागेन्द्रः पुरन्दरनिवेशनम्।
गतः श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम् ॥ १४ ॥
ततः सर्वं यथावृत्तमाख्याय भुजगोत्तमः।
अगच्छच्छरणं भीत आगस्कृत्वा पुरन्दरम्॥ १५॥
तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवाऽस्तीह तक्षक।
भयं नागेन्द्र तस्माद्वै सर्पसत्रात्कदाचन ॥ १६ ॥
प्रसादितो मया पूर्वं तवाऽर्थाय पितामहः।
तस्मात्तव भयं नास्ति व्येतु ते मानसो ज्वरः॥ १७॥
सौतिरुवाच— एवमाश्वासितस्तेन ततः स भुजगोत्तमः।
उवास भवने तस्मिञ्छक्रस्य मुदितः सुखी॥ १८॥
अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः।
अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत ॥ १९ ॥
कश्मलं चाऽविशद्घोरं वासुकिं पन्नगोत्तमम्।
स घूर्णमानहृदयो भगिनीमिदमब्रवीत् ॥ २०॥
दह्यन्त्यङ्गानि मे भद्रे न दिशः प्रतिभान्ति च।

ठहरे और अग्निसे जलते हुए, सर्पोंके चिल्लानेके शब्द सदा सुनाई देने लगे। नागनाथ तक्षकने राजा जनमेजयके सर्पयज्ञमे दीक्षित होनेकी बात सुनकर, अपनको दोषी जान, इन्द्रपुरीमे जाय, भययुक्तचित्तसे इन्द्रके पास आद्योपान्त सब बात कहकर उनकी शरण ली। इससे इन्द्रजी प्रसन्न होकर बोले, "हे नागराज तक्षक! सर्पयज्ञसे तुमको कोई भय नहीं है, मैने पहिलेही तुम्हारे लिये पितामह जी को प्रसन्न किया है, सो तुम्हे भय नहीं है, चित्त की पीडाको दूर करो।' (११—१७)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर नागोत्तम तक्षक इन्द्रसे इस प्रकार ढाडस पाकर प्रसन्न चित्तसे इन्द्रके पास रहने लगा। इधर नागोंके हर घडी अग्निमें गिरने पर वासुकि अपने परिवारोंको अल्पशेष देखकर अति दुःखी चित्तमे खेदयुक्त होने लगे, तब वह अति शोक से घेर गये और उनका मन डोलने लगा। अनन्तर उक्त नागनाथने अपनी बहिन से कहा, "भद्रे! मेरा शरीर जल रहा है, मै चारो ओर अंधेरी छायी

सीदामीव च संमोहाद् घूर्णतीव च मे मनः ॥ २१ ॥
दृष्टिर्भ्राम्यति मेऽतीव हृदयं दीर्यतीव च ।
पतिष्याम्यवशोऽद्याऽहं तस्मिन्दीप्ते विभावसौ २२॥
पारिक्षितस्य यज्ञोऽसौ वर्ततेऽस्माज्जिघांसया ।
व्यक्तं मयाऽपि गन्तव्यं प्रेतराजनिवेशनम् ॥ २३॥
अयं स कालः संप्राप्तो यदर्थमसि मे स्वसः ।
जरत्कारौ मया दत्ता त्रायस्वाऽस्मान्सबान्धवान् २४॥
आस्तीकः किल यज्ञं तं वर्तन्तं भुजगोत्तमे ।
प्रतिपेत्स्यति मां पूर्वं स्वयमाह पितामहः ॥ २५ ॥
तद्वत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसंमतम् ।
ममाऽद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥२६॥ (२२०१)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सर्पसत्रे वासुकिवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

सौतिरुवाच— ततं आहूय पुत्रं स्वं जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अहं तव पितुः पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्ततः ।
कालः स चाऽयं संप्राप्तस्तत्कुरुष्व यथातथम् ॥ २ ॥

हुई देखता हूं, मोहसे विवश हो रहा हूं, मेरा चित्त घूम रहा है, देखनेमें भ्रम हो रहा है। आज विवश शरीरसे मुझको भी जलती हुई आगमें गिरना पडेगा, सर्पोंके नाशके निमित्त जनमेजयने यज्ञ आरम्भ किया है। मुझको भी यमराज का पाहुना बनना पडेगा। अरी बहिन! जिस हेतु जरत्कारु ऋषिसे तुम्हारा विवाह कर दिया था, यह वही काल आ पहुंचा है. अब हमको मित्रोंके सहित बचाओ; री नागोत्तमे! पहिले पितामहने स्वयं मुझसे कहा था, कि सर्पयज्ञ आरम्भ होने पर आस्तीक-ऋषि उसे रोकेंगे; सो बहिन! अब मेरी और मेरे परिवारोंकी रक्षाके निमित्त वृद्ध-संमत वेदनिपुण अपने बालकपुत्रसे कहो। (१८—२६)

आदिपर्वमें तिरपन अध्याय समाप्त। [२२०१]

आदिपर्वमें चौवनवां अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर सर्पकी बहिन जरत्कारुने नागनाथ वासुकिके वाक्यानुसार अपने पुत्र को बुलाकर यह कहा, कि बेटा! भ्राताने मुझे तुम्हारे पिताको जिस निमित्त दान दिया था, उसका काल अब आगया है. जो उचित

आस्तीक उवाच— किंनिमित्तं मम पितुर्दत्ता त्वं मातुलेन मे ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन श्रुत्वा कर्ताऽस्मि तत्तथा ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच— तत आचष्ट सा तस्मै बान्धवानां हितैषिणी ।
भगिनी नागराजस्य जरत्कारुरविप्लवा ॥ ४ ॥
जरत्कारुरुवाच— पन्नगानामशेषाणां माता कद्रूरिति श्रुता ।
तया शप्ता रुषितया सुता यस्मान्निबोध तत् ॥ ५ ॥
उच्चैःश्रवाः सोऽश्वराजो यन्मिथ्या न कृतो मम ।
विनतार्थाय पणिते दासभावाय पुत्रकाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ।
तत्र पञ्चत्वमापन्नाः प्रेतलोकं गमिष्यथ ॥७॥
तां च शप्तवतीं देवः साक्षाल्लोकपितामहः ।
एवमस्त्विति तं वाक्यं प्रोवाचाऽनुमुमोद च ॥ ८ ॥
वासुकिश्चाऽपि तच्छ्रुत्वा पितामहवचस्तदा ।
अमृते मथिते तात देवाञ्छरणमीयिवान् ॥ ९ ॥
सिद्धार्थाश्च सुराःसर्वे प्राप्याऽमृतमनुत्तमम् ।
भ्रातरं ते पुरस्कृत्य पितामहमुपागमन् ॥ १० ॥
ते तं प्रसादयामासुः सुराः सर्वेऽब्जसंभवम् ।

हो, करो। आस्तीकजी बोले, कि सच कहो, किस लिये मामाने तुम्हे मेरे पिता को दान किया था, मै सुनकर उसके अनुसार कार्य करूं। (१—३)

उसके अनन्तर बान्धवोंके हित चाहनेवाली सर्पकी बहिन जरत्कारु ढाडस पाकर पुत्रसे बोली, कि संपूर्ण सर्पो की माता कद्रुने जिस कारणसे क्रोधित होकर अपने पुत्रोंको शाप दिया था, वह कहती हूं, सुनो ! उसने विनतासे दासीपन का दाव लगाकर सर्पोंसे कहा था, कि तुमलोग सादे उच्चैःश्रवाको काला बनाओ, सर्पोंके न मानने पर उसने शाप दिया, कि "जनमेजय राजा के सर्पयज्ञमे अग्निदेव तुमको जलावेगे और तुम मरकर परलोकको सिधारोगे।" कद्रुके शाप देने पर सर्वलोकोंके पितामह ब्रह्माने "एवमस्तु" कहके उस बातको समर्थन किया। वासुकिनेभी पितामहजीकी वह बात सुनकर अमृत मथनेके पश्चात् देवों की शरण ली। देवगण दुर्लभ अमृतको पाकर सफलमनोरथ होकर मेरे भाईको साथ लेकर पितामहके समीप जा पहुंचे। (४-१०)

राज्ञा वासुकिना सार्धं शापोऽसौ न भवेदिति॥ ११॥

देवा ऊचुः— वासुकिर्नागराजोऽयं दुःखितो ज्ञातिकारणात्।
अभिशापः स मातुस्तु भगवन्न भवेत्कथम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच— जरत्कारुर्जरत्कारुं यां भार्यां समवाप्स्यति ।
तत्र जातो द्विजः शापान्मोक्षयिष्यति पन्नगान्॥ १३ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वासुकिः पन्नगोत्तमः ।
प्रादान्मामसरप्रख्यं तव पित्रे महात्मने ॥ १४ ॥
प्रागेवाऽनागते काले तस्मात्त्वं मय्यजायथाः ।
अयं स कालः संप्राप्तो भयान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ १५ ॥
भ्रातरं चाऽपि मे तस्मात्त्रातुमर्हसि पावकात्॥ १६ ॥
न मोघं तु कृतं तत्स्याद्यदहं तव धीमते ।
पित्रे दत्ता विमोक्षार्थं कथं वा पुत्र मन्यसे ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच— एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽस्तीको मातरं तदा ।
अब्रवीद्दुःखसंतप्तं वासुकिं जीवयन्निव ॥ १८ ॥
अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ।

आगे सब देवता नागनाथ वासुकिसे मिल कर पद्मयोनि ब्रह्माजीको इसलिये प्रसन्न करने लगे, कि सर्पों का शाप मुक्त होवे । देवगण बोले, कि भगवन् ! यह नागनाथ वासुकि स्वजनोंके निमित्त अति दुःखी है अतएव ऐसा कीजिये, कि माताका शाप दूर होवे । ब्रह्माजी बोले, कि जरत्कारु नामक ऋषि जरत्कारु नाम्नी जिस सर्प बहनसे विवाह करेंगे, उसी के गर्भसे एक श्रीमान ब्राह्मण जन्म लेकर सर्पो को माताके शापसे बचावेगा । बेटा ! नागनाथ वासुकिने पितामहकी यह बात सुनकर तुम्हारे पिताके साथ मेरा विवाह कर दिया, अतएव सर्पयज्ञका काल आनेके पहिलेही तुमने मेरे गर्भसे जन्म लिया है. अब वह कठोर काल आ पहुंचा है, तुम हमको भयसे बचाओ, अग्निके मुखसे मेरे भाईकी रक्षा करो । बेटा ! मै सर्पो की रक्षाके निमित्त तुम्हारे पिताको दी गई थी, सो ऐसा करो, कि मै जिस अभिप्रायसे सौंपी गई थी, वह व्यर्थ न होः अथवा कहो तो सही इस विषयमे तुम्ही क्या सोच रहे हो॥ (११-१७)

आस्तीकने माताकी बात सुनकरके "तथास्तु" कहकर मान ली; आगे दुःखसे जलते हुए वासुकिको जीवन दे कर के ही मानो बोलने लगे, कि हे महाभाग सर्पनाथ वासुके ! मै सच कहता हूं, तुमको

तस्माच्छापान्महासत्त्व सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥
भव स्वस्थमना नाग न हि ते विद्यते भयम् ।
प्रयतिष्ये तथा राजन्यथा श्रेयो भविष्यति ॥ २० ॥
न मे वागनृतं प्राह स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
तं वै नृपवरं गत्वा दीक्षितं जनमेजयम् ॥ २१ ॥
वाग्भिर्मङ्गलयुक्ताभिस्तोषयिष्येऽद्य मातुल ।
यथा स यज्ञो नृपतेर्निवर्तिष्यति सत्तम ॥ २२ ॥
स संभावय नागेन्द्र मयि सर्वं महामते ।
न ते मयि मनो जातु मिथ्या भवितुमर्हति ॥ २३ ॥
वासुकिरुवाच— आस्तीक परिघूर्णामि हृदयं मे विदीर्यते ।
दिशो न प्रतिजानामि ब्रह्मदण्डनिपीडितः ॥ २४ ॥
आस्तीक उवाच— न संतापस्त्वया कार्यः कथंचित्पन्नगोत्तम ।
प्रदीप्ताग्नेः समुत्पन्नं नाशयिष्यामि ते भयम् ॥ २५ ॥
ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम् ।
नाशयिष्यामि माऽत्र त्वं भयं कार्षीः कथंचन ॥ २६ ॥
सौतिरुवाच — ततः स वासुकेर्घोरमपनीय मनोज्वरम् ।

उस शापसे बचाऊंगा; राजन्! तुम चित्त स्थिर करो, तुम्हे कुछ भय नहीं है, मैं विशेष यत्न करूंगा, कि जिससे तुम्हारा मङ्गल होगा, मै हंसीमे भी झूठ नहीं बोलता; फिर कामके समय कहनेकी कौन सी सम्भावना है? मामा! मै उन दीक्षित क्षितिपाल जनमेजयके निकट चलकर मङ्गलयुक्त बातोंसे उसको प्रसन्न करूंगा; हे सत्तम! ऐसा करूंगा, कि वह यज्ञ रुक जाय; हे महाभाग नाग-नाथ! मै जो कह रहा हूं वह असम्भव न जानिये, और तुम्हारे चित्तमे ऐसी समझ न आवे, कि मुझमें यह झूठ ठहर सके। (१७-२३)

वासुकि बोले, कि हे आस्तीक! मै चक्कर खारहा हूं, मेरा हृदय फटा जाता है, ब्रह्मदण्डसे पीसे जाकर चारो ओर अंधेरा देख रहा हूं। आस्तीकजी बोले, कि हे सर्पराज! तुम किसी प्रकार दुःखी मत होओ, मै तुम्हारा प्रज्वलित अग्निका भय दूर करूंगा, मै प्रलय कालिक अग्नि के समान तेजस्वी अति घोर ब्रह्मदण्डको दूर करूगा, तुम इस प्रकारसे किसी विषयमें भय मत करो। (२४-२६)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि अनन्तर द्विजश्रेष्ठ आस्तीक मुनि वासुकिकी कठोर

आधाय चाऽऽत्मनोऽङ्गेषु जगाम त्वरितो भृशम् २७
जनमेजयस्य तं यज्ञं सर्वैः,समुदितं गुणैः ।
मोक्षाय भुजगेन्द्राणामास्तीको द्विजसत्तमः ॥ २८ ॥
स गत्वाऽ पश्यदास्तीको यज्ञायतनमुत्तमम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिः सूर्यवह्निसमप्रभैः ॥ २९ ॥
स तत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन्द्विजसत्तमः ।
अभितुष्टाव तं यज्ञं प्रवेशार्थी परंतप ॥ ३० ॥
स प्राप्य यज्ञायतनं वरिष्ठं द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
तुष्टाव राजानमनन्तकीर्तिमृत्विक्सदस्यांश्च तथैव चाऽग्निम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
सर्पसत्र आस्तीकागमने चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ [२१३४]

आस्तीक उवाच—सोमस्य यज्ञो वरुणस्य यज्ञः प्रजापतेर्यज्ञ आसीत्प्रयागे ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः॥ १ ॥
शक्रस्य यज्ञः शतसंख्य उक्तस्तथा परं तुल्यसंख्यं शतं वै ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः॥२ ॥
यमस्य यज्ञो हरिमेधसश्च यथा यज्ञो रन्तिदेवस्य राज्ञः ।

चित्तपीडाको दूरकर स्वयं सर्पकुलके उद्धारका भार लेकर शीघ्रता पूर्वक सर्व गुणशाली जनमेजयके यज्ञ स्थानको पधारे । आगे वहां पहुंचकर अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशमान अगणित सदस्योंसे भरे हुए, सुन्दर यज्ञस्थान को देखा। यज्ञभूमिमें घुसनेके कालमें द्वारवानोंसे रोके जानेके कारण घुसनेकी इच्छासे उस सर्पयज्ञकी प्रशंसा करने लगे । अनन्तर हे पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ, द्विजोत्तम! आस्तीकमुनि यज्ञ भूमिमें पहुंचकर अनन्त कीर्त्तियुक्त भूपाल ऋत्विक,सदस्य और अग्निका स्तव करने लगे ।

(२७-३१) [२१३४]

आदिपर्वमें चौवनवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्व में पचपन अध्याय ।

श्री आस्तीकजी बोले, कि हे भारतश्रेष्ठ परीक्षित् ! प्रयागमें सोम, वरुण और प्रजापतिका जैसा यज्ञ हुआ था, आपका यह यज्ञ वैसाही हुआ है, प्रार्थना करता हूं कि हमारे प्रियजनों का मङ्गल होवे । हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! देवराजने जो सौ यज्ञ किये थे, आपका यह यज्ञ उस प्रकारके अयुत यज्ञके समान हुआ है । प्रार्थना करता हूं कि हमारे प्रियजनोंका मङ्गल होवे । हे भारतश्रेष्ठ!

तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥३॥
गयस्य यज्ञः शशबिन्दोश्च राज्ञो यज्ञस्तथा वैश्रवणस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥४॥
नृगस्य यज्ञस्त्वजमीढस्य चाऽऽसीद्यथा यज्ञो दाशरथेश्च राज्ञः।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥५॥
यज्ञः श्रुतो दिवि देवस्य सूनोर्युधिष्ठिरस्याऽऽजमीढस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥६॥
कृष्णस्य यज्ञः सत्यवत्याः सुतस्य स्वयं च कर्म प्रचकार यत्र ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥७॥
इमे च ते सूर्यसमानवर्चसः समासते वृत्रहणः क्रतुं यथा ।
नैषां ज्ञातुं विद्यते ज्ञानमद्य दत्तं येभ्यो न प्रणश्येत्कदाचित् ॥८॥
ऋत्विक्समो नास्ति लोकेषु चैव द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे ।
एतस्य शिष्या हि क्षितिं संचरन्ति सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः ॥९॥

पारिक्षित ! यम, हरिमेधा और रन्तिदेवने जो यज्ञ किया था, आपका यह यज्ञ वैसाही हुआ है; प्रार्थना करता हूं, कि हमारे प्रिय जनोंका मङ्गल होवे। हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित! गय, शशबिन्दु और वैश्रवण राजाने जो यज्ञ किया था, आपका यह यज्ञ वैसाही हुआ है, प्रार्थना करता हूं, कि हमारे प्रियजनों का मङ्गल होवे। हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! नृग, अजमीढ, और दाशरथि राजा रामचन्द्रजीने जो यज्ञ किया था, आपका यज्ञ वैसाही हुआ है, प्रार्थना करता हूं, कि हमारे प्रियजनों का मङ्गल होवे। हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित! अजमीढ-वंशी देवपुत्र युधिष्ठिरका यज्ञ स्वर्गमें जैसा प्रशंसित हुआ था, आपका यह यज्ञ वैसा ही हुआ है, प्रार्थना करता हूं, कि हमारे प्रियजनोंका मङ्गल होवे। हे भारत-श्रेष्ठ पारिक्षित ! सत्यवती-पुत्र कृष्णद्वै-पायनने स्वयं सम्पूर्ण धर्मानुष्ठान करके जो यज्ञ किया था, आपका यह यज्ञ वैसाही हुआ है, प्रार्थना करता हूं, कि हमारे प्रियजनोंका मङ्गल होवे। (३-७)

देवराज इन्द्रजीके यज्ञमें जैसे सदस्य थे, उनके ऐसे आपके इस यज्ञमें सूर्यके समान प्रकाशमान यह सब सदस्य बैठे है, इस कालमें ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नही है, जो यह लोग न जाने ; अतएव इनको दान देनेसे कभी नष्ट नहीं होता; मैंने निश्चय कर लिया है, कि भगवान् द्वैपायनके समान ऋत्विक तीनों भुवन मे नहीं है, क्योंकि इनके शिष्यलोग निज निजकार्यमें दक्ष और सब कामोंमें ऋत्विक

विभावसुश्चित्रभानुर्महात्मा हिरण्यरेता हुतभुक्कृष्णवर्त्मा ।
प्रदक्षिणावर्तशिखः प्रदीप्तो हव्यं तवेदं हुतभुग्वष्टि देवः ॥ १० ॥
नेह त्वदन्यो विद्यते जीवलोके समो नृपः पालयिता प्रजानाम् ।
धृत्या च ते प्रीतमनाः सदाऽहं त्वं वा वरुणो धर्मराजो यमो वा॥ ११ ॥
शक्रः साक्षाद्वज्रपाणिर्यथेह त्राता लोकेऽस्मिंस्त्वं तथेह प्रजानाम्।
मतस्त्वं नः पुरुषेन्द्रेह लोके न च त्वदन्यो भूपतिरस्ति जज्ञे ॥ १२ ॥
खट्वाङ्गनाभागदिलीपकल्प ययातिमांधातृसमप्रभाव ।
आदित्यतेजःप्रतिमानतेजा भीष्मो तथा राजासि सुव्रतस्त्वम् ॥ १३ ॥
वाल्मीकिवत्ते निभृतं स्ववीर्यं वासिष्ठवत्ते नियतश्च कोपः ।
प्रभुत्वमिन्द्रत्वसमं मतं मे द्युतिश्च नारायणवद्विभाति ॥ १४ ॥
यमो यथा धर्मविनिश्चयज्ञः कृष्णो यथा सर्वगुणोपपन्नः ।
श्रियां निवासोऽसि यथा वसूनां निधानभूतोऽसि तथा क्रतूनाम्॥ १५ ॥
दम्भोद्भवेनाऽसि समो बलेन रामो यथा शास्त्रविदस्त्रविच्च ।

होकरके भूमण्डलमें घूम रहे है। विभावसु, चित्रभानु, महात्मा हिरण्यरेता, हुतभुक् और कृष्णवर्त्मा अग्निदेव प्रज्वलित, और दक्षिण ओरकी शिखायुक्त होकरके देवोंको तृप्त करनेके लिये आपकी यह हवनकी वस्तु माग रहे है। हे राजन्! इस धरती भरमें आपके सदृश प्रजापालक महाराज और कोई नहीं है, आपके धीरज को भी देखकरके मै सदा प्रसन्न रहता हूं; आप वरुण और धर्मराज यमके समान अनुशासक है; साक्षात् वज्रधारी देवराजकी भाति मर्त्यलोकमे प्रजाको पाल रहे है। हे पुरुषश्रेष्ठ! आप हमारे सम्मानके पात्र है, ऐसा यज्ञशील नरेश इस लोकमें कोई नहीं है। (८–१२)

आप खट्वाङ्ग, नाभाग और दिलीप नरेशो के सदृश है, आपका प्रभाव ययाति और मान्धाता की भाति है और आप भीष्म जीके सदृश व्रतशील होकरके विराजमान है। आपका वीर्य वाल्मीकिके वीर्यवत् गुप्त है, आपका क्रोध वसिष्ठके सदृश वशमें है, आपकी प्रभुताई इन्द्रजी की सी है और आपका प्रकाश नारायणजीके प्रकाशके सदृश प्रगट होता है। आप धर्मराजकी नाई धर्म ठहरानेवाले है, श्रीकृष्णजीके सदृश सर्व गुणयुक्त है, लक्ष्मीजीके रमनेके अद्वितीय आधार है, दम्भोद्भवके समान बली है, श्रीरामचन्द्रजी ऐसे अस्त्रज्ञ और शास्त्रज्ञ है, नित और और्वके समान प्रतापी और भगीरथ की भांति भेट के लिये दुर्लभ हुए हैं।(१३–१६)

औवेत्रिनाभ्यामसि तुल्यतेजा दुष्प्रेक्षणीयोऽसि भगीरथेन ॥ १६ ॥
सौतिरुवाच–एवं स्तुताः सर्व एव प्रसन्ना राजा सदस्या ऋत्विजो हव्यवाहः।
तेषां दृष्ट्वा भावितानीङ्गितानि प्रोवाच राजा जनमेजयोऽथ ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि
सर्पसत्र आस्तीककृतराजस्तवे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ [२१४९]

जनमेजय उवाच बालोप्ययं स्थविर इवावभाषते नायं बालः स्थविरोयं मतो मे।
इच्छाम्यहं वरमस्मै प्रदातुं तन्मे विप्राः संविदध्वं यथावत् ॥ १ ॥
सदस्या ऊचुः–बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञां विद्वान्यो वै स पुनर्वै यथावत्।
सर्वान्कामांस्त्वत्त एवाऽर्हतेऽद्य यथा च नस्तक्षक एति शीघ्रम् ॥ २ ॥
सौतिरुवाच–व्याहर्तुकामे वरदे नृपे द्विजं वरं वृणीष्वेति ततोऽभ्युवाच ।
होता वाक्यं नातिहृष्टान्तरात्मा कर्मण्यस्मिंस्तक्षको नैति तावत् ॥ ३ ॥
जनमेजय उवाच–यथा चेदं कर्मसमाप्यते मे यथा च वै तक्षक एति शीघ्रम्।
तथा भवन्तः प्रयतन्तु सर्वे परं शक्त्या स हि मे विद्विषाणः ॥ ४ ॥
ऋत्विज ऊचुः–यथा शास्त्राणि नः प्राहुर्यथा शंसति पावकः ।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि राजा, सदस्य, ऋत्विक और अग्नि सभी इस प्रकार स्तव किये जाने पर प्रसन्न हुए। राजा जनमेजय उनके हृदय के भावको समझकर कहने लगे। (१६–१७) [२१४९]

आदिपर्वमें पचपन अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें छप्पनवां अध्याय।

जनमेजय बोले, कि यह बालक ऋषि, वृद्धकी नाई बातें कह रहे हैं, बातोंसे जान पडता है, कि यह बालक नहीं, वृद्ध है। मुझे इच्छा हो रही है, कि इनको मनमाना वर दूं। ब्राह्मणो ! आप इस विषयका उचित विचार करें। सदस्यलोग बोले, कि ब्राह्मण बालकभी होवे, तो राजाके माननीय होते हैं; वे विशेष पूजा पाते हैं, अतएव आप इनके मनमाने सब वर दे सकते हैं, पर ऐसा करना चाहिये, कि हमारा उद्देश्य किया हुआ तक्षक शीघ्र आवे। (१-२)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि राजा वर देनेको अभिलाषी होकर आस्तीक मुनिसे यह कहने ही पर थे, कि "वर मांगो," कि ऐसे समयमें होताने कुछ असन्तुष्ट चित्त होकर कहा, कि महाराज ! कुछ विलम्ब कीजिये, अभीतक तक्षक नहीं आया है। जनमेजय बोले, कि आपलोग शक्तिके अनुसार ऐसी चेष्टा कीजिये, कि मेरा कार्य पूरा हो और तक्षक शीघ्र आवे, क्योंकि वह तक्षकही हमारा शत्रु है। ऋत्विक बोले, कि हे राजन् ! हमारे

इन्द्रस्य भवने राजंस्तक्षको भयपीडितः ॥ ५ ॥
यथा सूतो लोहिताक्षो महात्मा पौराणिको वेदितवान्पुरस्तात् ।
स राजानं प्राह पृष्टस्तदानीं यथाऽऽहुर्विप्रास्तद्वदेतन्नृदेव ॥ ६ ॥
पुराणमागम्य ततो ब्रवीम्यहं दत्तं तस्मै वरमिन्द्रेण राजन् ।
वसेह त्वं मत्सकाशे सुगुप्तो न पावकस्त्वां प्रदहिष्यतीति ॥ ७ ॥
एतच्छ्रुत्वा दीक्षितस्तप्यमान आस्ते होतारं चोदयत्कर्मकाले ।
होता च यत्तोऽस्याऽऽजुहावाऽथ मन्त्रैरथो महेन्द्रः स्वयमाजगाम ॥८॥
विमानमारुह्य महानुभावः सर्वैर्देवैः परिसंस्तूयमानः ।
बलाहकैश्चाऽप्यनुगम्यमानो विद्याधरैरप्सरसां गणैश्च ॥ ९ ॥
तस्योत्तरीये निहितः स नागो भयोद्विग्नः शर्म नैवाऽभ्यगच्छत् ।
ततो राजा मन्त्रविदोऽब्रवीत्पुनः क्रुद्धो वाक्यं तक्षकस्याऽन्तमिच्छन् ॥१०

जनमेजय उवाच— इंद्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः ।
तमिन्द्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ ॥ ११ ॥

सौतिरुवाच— जनमेजयेन राज्ञा तु नोदितस्तक्षकं प्रति ।
होता जुहाव तत्रस्थं तक्षकं पन्नगं तथा ॥ १२ ॥

शास्त्रोंमें कहा है और अग्निदेवभी प्रकाश कर रहे हैं, कि तक्षक, भय खाकर इन्द्रके गृहमें शरण लिये हुए है। (३–५)

महात्मा पौराणिक सूतजी लोहिताक्षने राजासे पूछे जाकर पहिले जिस प्रकार कहा था, तबभी फिर वैसाही कहा, कि महाराज ब्राह्मणलोग जो कहते हैं, वह सत्य है। मैं पुराणके अनुसार कहता हूं, कि इन्द्रने उस तक्षकको यह वर दिया है, कि "तुम मेरे पास छिप रहो, अग्निदेव तुम को जला नहीं सकेंगे।" यज्ञमें दीक्षित राजाने यह बात सुनकर चित्तमें दुःख मान करके होता से कहा, कि मन्त्र उच्चारण कर तक्षककी आहुति चढाओ। होता अति यत्नसे मन्त्र उच्चारण करते हुए तक्षकके नामसे आहुति देने लगे। (६-८)

अनन्तर सम्पूर्ण देवोंसे स्तव पानेवाले महानुभाव देवराज रथमें चढकर आकाश-मण्डलमें स्वयं उपस्थित हुए। मेघ, विद्याधर और अप्सरा उनके साथ आईं, नागराज तक्षक भयसे उनके दुपट्टेमें लिपट रहा। इधर राजाने क्रोधित होकर फिर मन्त्रज्ञ ऋषियोंसे कहा, कि ब्राह्मणो! यदि तक्षकने इन्द्रके गृहमें शरण ली हो, तो इन्द्रके सहित उनको अग्निमें गिराइये। होताने तक्षकके निमित्त जनमेजयसे ऐसी आज्ञा पाकर इन्द्रके सहित तक्षकके नाम आहुति दी। होताके ऐसी आहुति देनेही

ह्रियमाणे तथा चैव तक्षकः सपुरन्दरः ।
आकाशे ददृशे चैव क्षणेन व्यथितस्तदा ॥ १३ ॥
पुरन्दरस्तु तं यज्ञं दृष्ट्वोरु भयमाविशत् ।
हित्वा तु तक्षकं त्रस्तः स्वमेव भवनं ययौ ॥ १४ ॥
इन्द्रे गते तु राजेन्द्र तक्षको भयमोहितः ।
मन्त्रशक्त्या पावकार्चिः समीपमवशो गतः ॥ १५ ॥
ऋत्विज ऊचुः— वर्तते तव राजेन्द्र कर्मैतद्विधिवत्प्रभो ।
अस्मै तु द्विजमुख्याय वरं त्वं दातुमर्हसि ॥ १६ ॥
जनमेजय उवाच—बालाऽभिरूपस्य तवाऽप्रमेयं वरं प्रयच्छामि यथानुरूपम् ।
वृणोष्व यत्तेऽभिमतं हृदि स्थितं तत्ते प्रदास्याम्यपि चेददेयम् ॥ १७॥
ऋत्विज ऊचुः- अयमायाति तूर्णं स तक्षकस्ते वशं नृप ।
श्रूयतेऽस्य महान्नादो नदतो भैरवं रवम् ॥ १८ ॥
नूनं मुक्तो वज्रभृता स नागो भ्रष्टो नाकान्मन्त्रविस्रस्तकायः ।
घूर्णन्नाकाशे नष्टसंज्ञोऽभ्युपैति तीव्रान्निःश्वासान्निःश्वसन्पन्नगेन्द्रः ॥१९॥
सौतिरुवाच— पतिष्यमाणे नागेन्द्रे तक्षके जातवेदसि ।

पर इन्द्रजी तक्षकके साथ पीडित होकर आकाश-मण्डलमें दिखाई देने लगे। उस यज्ञको देखतेही इन्द्र अति भीत होकर तक्षकको छोडकर हडबडाते हुए अपने घरको भागे। (९–१४)

इन्द्रके इस प्रकार भागनेपर तक्षक भयसे मोहित और विवश होकर यज्ञकी अग्निशिखाके समीप आ पहुंचा ! तब ऋत्विकलोग बोले, कि हे राजेन्द्र ! अब आपका कार्य विधिपूर्वक हुआ, अब इन ब्राह्मणश्रेष्ठको वर दे सकते है। जनमेजय बोले, कि हे अप्रमेय बालक! तुम जैसे योग्य पात्र हो, मै तुमको वैसा ही वर दूंगा। तुम्हारे चित्तमें जैसा हो और जो कुछ चाहते हो मागो; यदि मेरे देनेके अयोग्यभी हो, तोभी दूंगा। इस बीच ऋत्विकोंने कहा, कि हे महाराज ! वह देखिये, तक्षक आपके वशमें होकर शीघ्र आ रहा है और भयसे विकल होकर चिल्लानेके हेतु उसकी घोर आहट सुनाई देती है; निश्चय जान पडता है, कि वज्रधारी देवराजने उसको छोड दिया है, सो मंत्रके बलसे खींचे जाकर स्वर्गसे गिर रहा है; देखिये, वह सर्पनाथ तेज श्वास छोडता हुआ आकाशमें चक्कर खा खाकर और चेतना-वर्जित होकर आ रहा है।(१५-१९)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि नागनाथ तक्षक अग्निमें गिर रहा था, कि ऐसे समय

इदमन्तरमित्येव तदाऽऽस्तीकोऽभ्यचोदयत् ॥ २० ॥

आस्तीक उवाच— वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय ।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तदा तेन ब्रह्मन्पारीक्षितस्तु सः ।
नातिहृष्टमनाश्चेदमास्तीकं वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥
सुवर्णं रजतं गाश्च यच्चाऽन्यन्मन्यसे विभो ।
तत्ते दद्यां वरं विप्र न निवर्त्तेत्क्रतुर्मम ॥ २३ ॥

आस्तीक उवाच— सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन्वृणोम्यहम् ।
सत्रं ते विरमत्वेतत्स्वस्ति मातृकुलस्य नः ॥ २४ ॥

सौतिरुवाच— आस्तीकेनैवमुक्तस्तु राजा पारिक्षितस्तदा ।
पुनः पुनरुवाचेदमास्तीकं वदतां वरः ॥ २५ ॥
अन्यं वरय भद्रं ते वरं द्विजवरोत्तम ।
अयाचत न चाऽप्यन्यं वरं स भृगुनन्दन ॥ २६ ॥
ततो वेदविदस्तात सदस्याः सर्व एव तत् ।
राजानमूचुः सहिता लभतां ब्राह्मणो वरम् ॥ २७ ॥ (२१७६)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वण्या—स्तीकवरप्रदानं नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

मे आस्तीक मुनिने इस वरके मांगने का अवसर लिया, कि हे जनमेजय ! यदि वर दें तो मेरी यह प्रार्थना है, कि आपका यह सर्पयज्ञ बन्द होवे और सर्प इसमें अब न गिरें। ब्रह्मन् ! आस्तीक की यह वर पानेकी प्रार्थना सुनकरके परीक्षित्-पुत्रने अनधिक प्रसन्न चित्तसे कहा, विभो ! आप सोना, चांदी, गौ, वा और कुछकी प्रार्थना कीजिये, सभी दे सकूंगा; पर मेरा यह यज्ञ बन्द नहीं होगा। आस्तीकने उत्तर दिया, कि राजन् ! मैं सोना, चांदी, गौ आदि कुछ नहीं मांगता, आपका यह यज्ञ बन्द हो, उसीमे मेरे मातृकुलका मङ्गल होगा। (२०-२४)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि मुनि आस्तीक के ऐसा उत्तर देने पर बोलनेमें तेज राजा जनमेजय बार बार कहने लगे, कि "हे द्विजश्रेष्ठ! आप दूसरा वर मांगिये तो आपके लिये मङ्गल होगा, पर आस्तीक ने किसी प्रकार दूसरे वरकी प्रार्थना नहीं की। अनन्तर वेदज्ञ सम्पूर्ण सदस्योंने मिलकर राजासे कहा, कि ब्राह्मण कुमारको मनमाना वर दीजिये। (२५-२७)

आदिपर्वमें छप्पनवां अध्याय समाप्त [२१७६]

शौनक उवाच -- ये सर्पाः सर्पसत्रेऽस्मिन्पतिता हव्यवाहने ।
तेषां नामानि सर्वेषां श्रोतुमिच्छामि सूतज ॥ १ ॥
सौतिरुवाच — सहस्राणि बहून्यास्मिन्पतितान्यर्बुदानि च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं बहुत्वाद्विजसत्तम ॥ २ ॥
यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे ।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥ ३ ॥
वासुकेः कुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे ।
नीलरक्तान्सितान्घोरान्महाकायान्विषोल्बणान् ॥४॥
अवशान्मातृवाग्दण्डपीडितान्कृपणान्हुतान् ।
कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ॥५ ॥
पिच्छलः कौणपश्चक्रः कालवेगः प्रकालनः ।
हिरण्यबाहुः शरणः कक्षकः कालदन्तकः ॥ ६ ॥
एते वासुकिजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहने ॥ ७ ॥
अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुलसंभवाः ।
प्रदीप्ताग्नौ हुताः सर्वे घोररूपा महाबलाः ॥ ८ ॥
तक्षकस्य कुले जातान्प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ।
पुच्छाण्डको मण्डलकः पिण्डसेक्ता रभेणकः ॥ ९ ॥
उच्छिखः शरभो भङ्गो बिल्वतेजा विरोहणः ।

आदि पर्व मे सतावनवां अध्याय ।

श्रीशौनकजीने पूछा, कि हे सूतपुत्र ! उस सर्पयज्ञमें जो सब सर्प आ गिरे थे, उनके नाम सुनने चाहता हूं। श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि हे द्विजोत्तम ! सहस्रों, अयुतों, अर्बुदों सर्प अग्निमे हवन हुए थे, बहुत होनेके हेतु उनकी संख्या नहीं हो सकती, पर जितना स्मरण है, कहता हूं। पहिले उनमें वासुकि-वंशी नीले, लाल, सादे, बडे, घोर विषसे भयावने जितने बडे बडे सर्प माताके वाक्यरूपी दण्डसे पीसे जाकर विवश और पीडायुक्त हृदय से अग्नि मे हवन हुए थे, उनके नाम सुनिये।(१-५)

कोटिश, मानस, पूर्ण, शल, पाल, हलीमक, पिच्छल, कौणप, चक्र, कालवेग, प्रकालन, हिरण्यबाहु, शरण, कक्षक और कालदन्तक वासुकि-वंशी यह सब और महाबली घोररूपी दूसरे सर्प भी जलती हुई आग में गिरे थे ! तक्षक कुल से उपजे हुए सर्पो के नाम कहता हूं, सुनिये । पुच्छाण्डक, मण्डलक, पिण्डसेक्ता, रभेणक, उच्छिख, शरभ, भङ्ग,

शिलिः शलकरो मूकः सुकुमारः प्रवेपनः ॥ १० ॥
मुद्गरः शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनुः ।
एते तक्षकजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहने ॥ ११ ॥
पारावतः पारियातः पाण्डरो हरिणः कृशः ।
विहङ्गः शरभो मेदः प्रमोदः संहतापनः ॥ १२ ॥
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
कौरव्यकुलजान्नागाञ्छृणु मे त्वं द्विजोत्तम ॥१३॥
एरकः कुण्डलो वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः ।
बाहुकः शृङ्गवेरश्च धूर्तकः प्रातरातकौ ॥ १४ ॥
कौरव्यकुलजास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
धृतराष्ट्रकुले जाताञ्छृणु नागान्यथातथम् ॥
कीर्त्यमानान्मया ब्रह्मन्वातवेगान्विषोल्बणान् ॥१५॥
शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ ।
पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहासः शकुनिर्दरिः ॥ १६ ॥
अमाहठः कमठकः श्वसनो मानसोऽव्ययः ।
भैरवो मुण्डवेदाङ्गः पिशङ्गश्चोद्रपारकः ॥ १७ ॥
ऋषभो वेगवान्नागः पिण्डारकमहाहनू ।
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धपटवासकौ ॥ १८ ॥
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिकः ।

बिल्वतेजा, विरोहण, शिली, शलकर मूक, सुकुमार, प्रवेपन, मुद्गर, शिशुरोमा, सुरोमा और महाहनु, तक्षकवंशी यह सब सर्प अग्निमें घुसे थे । (५-११)

पारावत, परिपात्र, पाण्डर, हरिण, कृश, विहङ्ग, शरभ, मेद, प्रमोद और संहतापन ऐरावत वंशी यह सब नाग आगमें गिरे थे । हे द्विजोत्तम ! एरक, कुण्डल, वेणी, वेणीस्कन्ध, कुमारक, बाहुक, शृङ्गवेर, धूर्तक, प्रातर, आतक कौरव्य वंशी यह सब नाग आगमें घुसे थे । हे ब्रह्मन् धृतराष्ट्रवंशी विषधारी वायुवत वेगवान नागोंके नाम कहता हूं सुनिये । शङ्कुकर्ण, पिठरक, कुठार, मुखसेचक पूर्णाङ्गद पूर्णमुख, प्रहास, शकुनि, दरि, अमाहठ, कमठक, श्वसन, मानस, अव्यय, भैरव, मुण्डवेदाङ्ग, पिशङ्ग, उद्रपारक ऋषभ, वेगवान, नाग पिण्डारक महाहनु, रक्ताङ्ग, सर्वसारङ्ग, समृद्ध, पटवासक, वराहक, वीरणक, सुचित्र, चित्र-

पराशरस्तरुणको मणिः स्कन्धस्तथाऽरुणिः ॥ १९ ॥
इति नागा मया ब्रह्मन्कीर्तिताः कीर्तिवर्धना।
प्राधान्येन बहुत्वात्तु न सर्वे परिकीर्तिताः ॥ २० ॥
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ।
न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः ॥ २१ ॥
त्रिशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च दशशीर्षास्तथाऽपरे।
कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः ॥ २२ ॥
महाकाया महावेगाः शैलशृङ्गसमुच्छ्रयाः।
योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः ॥ २३ ॥
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्बणाः।
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सर्पनामकथने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ [२२००]

सौतिरुवाच— इदमत्यद्भुतं चाऽन्यदास्तीकस्याऽनुशुश्रुम ।
तथा वरैश्छन्द्यमाने राज्ञा पारिक्षितेन हि ॥ १ ॥
इन्द्रहस्താच्च्युतो नागः ख एव यदतिष्ठत ।
ततश्चिन्तापरो राजा बभूव जनमेजयः ॥ २ ॥

वेगिक, पराशर, तरुणक, मणि, स्कन्ध और अरुणि। (१२–१९)

हे ब्रह्मन् ! यह सब बडे बडे सर्पोंके नाम कह चुका, अधिक होने के हेतु सब सर्पोंके नाम नहीं कह सका; इनके बेटे और इनके पोते जो जलती हुई आग मे गिरे थे, उनकी संख्या नहीं लगती। इनके सिवाय तीन शीर्षयुक्त सात शीर्ष युक्त, दश शीर्ष युक्त प्रलय कालिक अग्नि ऐसा विष धरनेवाले भयानक, बडे भारी भारी अति तेज पहाडकी चोटी ऐसे ऊंचे योजन भर फैले हुए दो योजन घेरे हुए, कामरूपी कामबलसे जगते हुए, अग्निवत् विषधारी भांति भांतिके सैकडों, सहस्रो सर्प ब्रह्मदण्डके समान माताकी शापसे पीसे जाकर उस महायज्ञमें जल गये थे। (२०—२४) [२२००]

आदिपर्व मे सतावनवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व मे अठावनवां अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि सुनिये परीक्षितपुत्र जनमेजयके उस प्रकार वर देनेके प्रस्तुत होने पर और एक आश्चर्य लीला हुई थी। नागनाथ तक्षक इन्द्रजीके हाथसे फिसलकर आकाशही में रहने

हूयमाने भृशं दीप्ते विधिवद्वसुरेतसि ।
न स्म स प्रापतद्वह्नौ तक्षको भयपीडितः ॥ ३ ॥

शौनक उवाच— किं सूत तेषां विप्राणां मन्त्रग्रामो मनीषिणाम् ।
न प्रत्यभात्तदाऽग्नौ यत्स पपात न तक्षकः ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच— तमिन्द्रहस्ताद्विस्रस्तं विसंज्ञं पन्नगोत्तमम् ।
आस्तीकस्तिष्ठ तिष्ठेति वाचस्तिस्रोऽभ्युदैरयत् ॥ ५ ॥
वितस्थे सोऽन्तरिक्षे च हृदयेन विदूयता ।
यथा तिष्ठति वै कश्चित्खं च गां चान्तरा नरः ॥ ६ ॥
ततो राजाऽब्रवीद्वाक्यं सदस्यैश्चोदितो भृशम्।
काममेतद्भवत्वेवं यथाऽऽस्तीकस्य भाषितम् ॥ ७ ॥
समाप्यतामिदं कर्म पन्नगाः सन्त्वनामयाः ।
प्रीयतामयमास्तीकः सत्यं सूतवचोऽस्तु तत् ॥ ८ ॥
ततो हलहलाशब्दः प्रीतिदः समजायत ।
आस्तीकस्य वरे दत्ते तथैवोपरराम च ॥ ९ ॥
स यज्ञः पाण्डवेयस्य राज्ञः पारिक्षितस्य ह ।
प्रीतिमांश्चाऽभवद्राजा भारतो जनमेजयः ॥ १० ॥
ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो ये तत्राऽऽसन्समागताः।

लगा। तब राजा जनमेजय सोचने लगे, कि भयसे विकल होने पर भी तक्षक विधि-पूर्वक आहुति दी हुई आगमें क्यों नही गिरा। शौनकजीने पूछा, कि हे सूत! क्या उस समय मनीषासम्पन्न ब्राह्मणो का मन्त्र प्रतिभायुक्त नही हुआ था, कि तक्षक आगमें नहीं गिरा? (१—४)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले कि नागराज तक्षक चेतना खोकरके जब इन्द्रजीके हाथसे फिसलकर गिर रहा था, तब मुनि आस्तीकने "रहो, रहो, रहो" यह बात तीन बार कही थी; जैसे कोई पुरुष आकाश और धरतीके बीचमें ही रहे, वैसेही तक्षक दुःखी चित्तसे आकाशहीमें रहने लगा। अनन्तर सदस्योंके अति अनुरोधसे राजाने कहा कि अच्छा, आस्तीक जो कहते है वही होवे; सर्पयज्ञ बन्द होवे, सर्प दुःख से बचें। (५—८)

अनन्तर चारों ओर आनन्दध्वनि उठने लगी; मुनि आस्तीकको वर देनेसे पाण्डवनन्दन राजा जनमेजयका यज्ञ बन्द हुआ। आगे राजा परीक्षित-पुत्रने प्रसन्न होकर ऋत्विक, सदस्य और दूसरे लोगों को, जो उस यज्ञमें आये थे, सकड़ों

तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥
लोहिताक्षाय सूताय तथा स्थपतये विभुः ।
येनोक्तं तस्य तत्राऽग्रे सर्पसत्रनिवर्तने ॥ १२ ॥
निमित्तं ब्राह्मण इति तस्मै वित्तं ददौ बहु ।
दत्वा द्रव्यं यथान्यायं भोजनाच्छादनान्वितम् १३॥
प्रीतस्तस्मै नरपतिरप्रमेयपराक्रमः ।
ततश्चकाराऽवभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥
आस्तीकं प्रेषयामास गृहानेव सुसंस्कृतम् ।
राजा प्रीतमनाः प्रीतं कृतकृत्यं मनीषिणम् ॥ १५ ॥
पुनरागमनं कार्यमिति चैनं वचोऽब्रवीत् ।
भविष्यसि सदस्यो मे वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ १६ ॥
तथेत्युक्त्वा प्रदुद्राव तदाऽऽस्तीको मुदा युतः
कृत्वा स्वकार्यमतुलं तोषयित्वा च पार्थिवम् ॥ १७ ॥
स गत्वा परमप्रीतो मातुलं मातरं च ताम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य तथावृत्तं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा प्रीयमाणाः समेता ये तत्राऽऽसन्पन्नगा वीतमोहाः।
आस्तीके वै प्रीतिमन्तो बभूवुरूचुश्चैनं वराभिष्टं वृणीष्व ॥ १९ ॥

सहस्रों मुद्रा दान दिये। जिसने पहिलेही कहा था, कि एक ब्राह्मणसे यज्ञ बन्द होगा, उस (राज) स्थपतिके बेटे लोहिताक्षको भी बहुत धन दिया। उस अपरिमित पराक्रमी राजाने प्रसन्न होकर उस लोहिताक्षको भोजन वस्त्रादि देकर अन्तमे विधिके अनुसार यज्ञान्त स्नान किया। आगे सन्तुष्ट होकरके उस कृत्य किये हुए और प्रसन्नचित्त पण्डित आस्तीकको यथोचित पूजाकर घरमें जानेकी आज्ञादी और कह दिया, कि आप फिर आना, मै जब अश्वमेध नामक महायज्ञ करूंगा, तब आपको सदस्य होना पडेगा। (९-१६)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि आस्तीक इस प्रकार अलोकिक कार्य साधकर अति प्रीतिचित्तसे राजाको प्रसन्न करके तथास्तु कहकर चले गये! आगे जब उन्होने आनन्दित हृदयसे माता और मामाके पास चलकर प्रणामपूर्वक सब वृत्तान्त कह सुनाये, तब वहां जो सर्प उपस्थित थे, वे भयरहित हुए और मुनि आस्तीक पर प्रसन्न होकर कहा, कि तुम मनमाना वर मांगो हमको बचानेके हेतु हम सब तुम पर बडे सन्तुष्ट हुए हैं, अब तुम्हारा

भूयो भूयः सर्वशस्तेऽब्रुवंस्तं किं ते प्रियं करवामाऽद्य विद्वन् ।
प्रीता वयं मोक्षिताश्चैव सर्वे कामं किं ते करवामाऽद्य वत्स ॥ २० ॥
आस्तीक उवाच—सायंप्रातर्ये प्रसन्नात्मरूपा लोके विप्रा मानवा ये परेऽपि।
धर्माख्यानं ये पठेयुर्ममेदं तेषां युष्मन्नैव किंचिद्भयं स्यात् ॥ २१ ॥
तैश्चाऽप्युक्तो भागिनेयः प्रसन्नैरेतत्सत्यं काममेवं वरं ते ।
प्रीत्या युक्ताः कामितं सर्वशस्ते कर्तारः स्म प्रवणा भागिनेय ॥ २२ ॥
असितं चाऽऽर्तिमन्तं च सुनीथं चाऽपि यः स्मरेत्।
दिवा वा यदि वा रात्रौ नाऽस्य सर्पभयं भवेत्॥२३॥
यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः ।
आस्तीकः सर्पसत्रे वः पन्नगान्योऽभ्यरक्षत ।
तं स्मरन्तं महाभागा न मां हिंसितुमर्हथ ॥ २४ ॥
सर्पाऽपसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष ।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ॥ २५ ॥
आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिंशवृक्षफलं यथा ॥ २६ ॥
सौतिरुवाच— स एवमुक्तस्तु तथा द्विजेन्द्रः समागतैस्तैर्भुजगेन्द्रमुख्यैः ।

कौनसा प्रिय कार्य करें ? सर्पगण बार बार कहने लगे. कि बेटा! तुम्हारा कौनसा वाञ्छित कार्य पूरा कर दें? (१७–२०)

आस्तीकजी बोले. कि इस भूमण्डलमें जो सब ब्राह्मण वा दूसरे मनुष्य प्रसन्न चित्त होकर प्रातःकाल वा सन्ध्याके समय मेरा यह धर्मआख्यान पढेंगे. उनको तुमसे कोई भय नहीं रहेगा। सर्पोने प्रसन्न मनसे कहा, कि हे भाञ्जे ! तुम जो वर मांगते हो. वह हम सिर नायकर और आनन्दचित्त होकर देयंगे। " जो दिन को वा रात्रिमें असित, आर्त्तिमान और सुनीथ को स्मरण करेंगे उनको सर्पों से भय नहीं रहेगा जिस यशयुक्त आस्तीक ने जरत्कारुके वीर्य और जरत्कारुके गर्भसे जन्म लिया था, जिन्होंने सर्प-यज्ञोंमें तुम्हारी रक्षा की थी. हे महाभाग सर्पो ! हम उनको स्मरण करते हैं. अब हमारी तुम हिंसा नहीं कर सकते हो, हे अति विषयुक्त सर्प ! भागो तुम्हारा मङ्गल होवे. हे सर्प! चले जाओ राजा जनमेजयका यज्ञ अन्त होने पर मुनि आस्तीकने जो बात कही थी. वह स्मरण करो: जो सर्प आस्तीक का वाक्य सुनकर चला नहीं जाता है. शिशवृक्षके फलके सदृश उसका सिर सैकडों टुकडोंमें फट जाता है। २१-२६

संप्राप्य प्रीतिं विपुलां महात्मा ततो मनो गमनायाऽथ दध्रे ॥ २७ ॥
मोक्षयित्वा तु भुजगान्सर्पसत्राद्द्विजोत्तमः।
जगाम काले धर्मात्मा दिष्टान्तं पुत्रपौत्रवान् ॥ २८ ॥
इत्याख्यानं मयाऽऽस्तीकं यथावत्तव कीर्तितम्।
यत्कीर्तयित्वा सर्पेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २९ ॥
सौतिरुवाच— यथा कथितवान्ब्रह्मन्प्रमतिः पूर्वजस्तव ।
पुत्राय रुरवे प्रीतः पृच्छते भार्गवोत्तम ॥ ३० ॥
यद्वाक्यं श्रुतवांश्चाऽहं तथा च कथितं मया।
आस्तीकस्य कवेर्विप्र श्रीमच्चरितमादितः ॥ ३१ ॥
श्रुत्वा धर्मिष्ठमाख्यानमास्तीकं पुण्यवर्धनम्।
यन्मां त्वं पृष्टवान्ब्रह्मञ्छ्रुत्वा डुण्डुभभाषितम् ३२
व्येतु ते सुमहद्ब्रह्मन्कौतूहलमरिंदम॥ ३३॥ (२२३३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यास्तीकपर्वणि सर्पसत्रेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८॥ समाप्तं चास्तीकपर्व। अथाऽंशावतरणपर्व।

शौनक उवाच— भृगुवंशात्प्रभृत्येव त्वया मे कीर्तितं महत् ।
आख्यानमखिलं तात सौते प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १ ॥

बडे बडे सर्पोंके मिलकर यह वर देने पर महात्मा द्विजवर आस्तीकने परलोक सिधारने की कल्पना की। धर्मात्मा द्विजोत्तम आस्तीक इस प्रकार सर्पोंको सर्पयज्ञसे रक्षा कर पुत्र पौत्रादि छोडकर उचित समयमें परलोकको सिधारे। यह आस्तीकोपाख्यान आपके समीप यथावत् कीर्तन किया; इसको कीर्तन करनेसे सर्पका भय जाता रहता है। ब्रह्मन्! आपके पूर्व पुरुष भार्गवोत्तम प्रमतिने निजपुत्र रुरुसे पूछे जाकर जिस प्रकार कहा था और मैंनेभी जैसा सुनाथा, कविवर आस्तीकके सुन्दर चरित्रको वैसाही कह सुनाया। ब्रह्मन्! डुण्डुभ का वाक्य सुनकर आप जो यह बहुधर्मयुक्त और पुण्य बढानेवाला यह आस्तीकोपाख्यान सुनकर इस क्षण आपका महत् कौतूहल दूर होवे। (२७–३३) [२२३३]

आदिपर्वमें अठावनवा अध्याय और आस्तीकोपाख्यान समाप्त।

आदिपर्वमें उनसठवा अध्याय। अंशावतरणपर्व।

श्रीशौनकजी बोले, कि बेटा! तुमने मेरे पास भृगुवंशी आदि जो सब महत् आख्यान कीर्तन किये है, उनसे मैं बडा प्रसन्न हूं। हे सूतनन्दन! तुमसे फिर कहता हूं, कि व्यासजीके विषयमें जो

वक्ष्यामि चैव भूयस्त्वां यथावत्सूतनन्दन ।
याः कथा व्याससंपन्नास्ताश्च भूयो विचक्ष्व मे ॥ २ ॥
तस्मिन्परमदुष्पारे सर्पसत्रे महात्मनाम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य सदस्यानां तथाऽध्वरे ॥ ३ ॥
या बभूवुः कथाश्चित्रा येष्वर्थेषु यथातथम् ।
त्वत्त इच्छामहे श्रोतुं सौते त्वं वै प्रचक्ष्व नः ॥ ४ ॥
सौतिरुवाच— कर्मान्तरेष्वकथयन्द्विजा वेदाश्रयाः कथाः ।
व्यासस्त्वकथयच्चित्रमाख्यानं भारतं महत् ॥ ५ ॥
शौनक उवाच— महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम् ।
जनमेजयेन पृष्टः सन्कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ६ ॥
श्रावयामास विधिवत्तदा कर्मान्तरे तु सः ।
तामहं विधिवत्पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम ॥ ७ ॥
मनःसागरसंभूतां महर्षेर्भावितात्मनः ।
कथयस्व सतां श्रेष्ठ सर्वरत्नमयीमिमाम् ॥ ८ ॥
सौतिरुवाच— हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
कृष्णद्वैपायनमतं महाभारतमादितः ॥ ९ ॥

सब कथा है, उनको यथावत् कीर्त्तन करो। उस बडे भारी यज्ञमें महात्मा सदस्योंके अवसर के समय जिन जिन विषयों में जो आश्चर्य कथायें हुई थीं, वह सब तुम्हारे मुहसे सुनना चाहता हूं। हे सौते ! तुम वह सब हमसे कहो, उग्रश्रवाजी बोले, कि सर्पयज्ञके अवसरके समय ब्राह्मणोंने वेदाश्रययुक्त अनेक कथा कही थी, उनमें व्यासजीने महाभारत नामक विचित्र आख्यान को कीर्तन किया था। (१—५)

शौनकजी बोले, कि कृष्णद्वैपायन जनमेजयसे पूछे जाकर अवसरके अनुसार पाण्डवोंका यश बढानेवाले महाभारत नामक जिस आख्यानको विधिपूर्वक सुनाया था, वह पवित्र कथा विधिके अनुसार सुनना चाहता हूं; हे साधुओं में श्रेष्ठ सूतपुत्र ! महानुभाव महर्षिके हृदयसमुद्रमें निकले हुए, उस कथारूपी अमृतका कीर्तन करो, अभीतक मेरी सुननेकी इच्छा निवृत्त न होनेके कारण तृप्त नहीं हुआ हूं। श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि आपके निकट कृष्णद्वैपायनके कहे हुए महाभारत नामक अति श्रेष्ठ महाख्यानको आदि से अन्ततक कहूंगा। हे द्विज ! मैं नाना रूपसे सब कहता हूं।

शृणु सर्वमशेषेण कथ्यमानं मया द्विज ।
शंसितुं तन्महान्हर्षो ममाऽपीह प्रवर्तते ॥ १०॥ (२२४३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यंशावतरण-
पर्वणि कथानुबन्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

सौतिरुवाच— श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम् ।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान्कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १ ॥
जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात्पराशरात् ।
कन्यैव यमुनाद्वीपे पाण्डवानां पितामहम् ॥ २ ॥
जातमात्रश्च यः सद्य इष्टया देहमवीवृधत् ।
वेदांश्चाऽधिजगे साङ्गान्सेतिहासान्महायशाः॥ ३ ॥
यन्नैति तपसा कश्चिन्न वेदाध्ययनेन च ।
न व्रतैर्नोपवासैश्च न प्रसूत्या न मन्युना ॥ ४ ॥
विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः ।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥ ५ ॥
यः पाण्डुं धृतराष्ट्रं च विदुरं चाऽप्यजीजनत् ।
शान्तनोः सन्ततिं तन्वन्पुण्यकीर्तिर्महायशाः ॥६॥
जनमेजयस्य राजर्षेः स महात्मा सदस्तथा ।

सुनिये इसके कहनेमें मुझे बडा हर्ष आ-रहा। (६—१०) [२२४३]

आदिपर्व में उनसठवा अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में साठवा अध्याय।

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि पण्डित ऋषि कृष्णद्वैपायनजी जनमेजयके सर्पयज्ञमे दीक्षित होना सुनकर वहां पहुचे। जिन पाण्डव पितामहने शक्तिपुत्र पराशरके वीर्य से सत्यवतीकी कन्यादशाहीमे उसके गर्भमें यमुनाद्वीप पर जन्म लिया था; जिन अतियशयुक्त महर्षिने जन्म लेतेही उसीक्षण निज इच्छासे देहको बढाकर वेद, वेदाङ्ग, इतिहास आदि सम्पूर्ण शास्त्र पढे थे; तप, वेदपाठ, व्रत उपवास, सन्तानोत्पादन वा यज्ञसे कोई भी जिनसे बढ चढकर नहीं हो सका है; जिन परात्पर परमेश्वरके तत्त्व जाननेवाले, सत्यव्रतधारी, अतीतदर्शी शुद्धाचारी, वेदज्ञ, ब्रह्मर्षिने एक वेदको चार भागोंमे बांटा था; जिन पुण्यकीर्त्तियुक्त अति यशवान् महर्षिने शान्तनुवंशकी रक्षाके निमित्त पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुरको जन्म दिया था; उन्ही महात्माने वेद वेदाङ्ग मे पण्डित शिष्योंके साथ राजर्षि जनमेजय

विवेश सहितः शिष्यैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ७ ॥
तत्र राजानमासीनं ददर्श जनमेजयम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्देवैरिव पुरन्दरम् ॥ ८ ॥
तथा मूर्धाभिषिक्तैश्च नानाजनपदेश्वरैः ।
ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च कुशलैर्यज्ञसंस्तरे ॥ ९ ॥
जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तम ॥ १० ॥
काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ॥११ ॥
तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥
पाद्यमाचमनीयं च अर्घ्यं गां च विधानतः ।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयत् ॥ १३ ॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां पाण्डवाज्जनमेजयात् ।
गां चैव समनुज्ञाप्य व्यासः प्रीतोऽभवत्तदा ॥१४॥
तथा च पूजयित्वा तं प्रणयात्प्रपितामहम् ।
उपोपविश्य प्रीतात्मा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ १५ ॥

की यज्ञ-सभामें प्रवेश किया। वहां देखा, कि जिस प्रकार देवोंसे घेरे जाकर इन्द्रजी बैठते है, वैसाही राजा जनमेजय अगणित सदस्यों, मूर्धाभिषिक्त बहु देशाधिपों और ब्रह्मवत् कर्मदक्ष ऋत्विकों से घेरे जाकर यज्ञसभामें बैठे है। (१-९)

भरतवंशके आभूषणरूपी राजर्षि जनमेजय उन ऋषिका स्वागत देखकर प्रसन्नचित्तसे साथियोंके साथ उठ खडे हुए। देवराज जिसप्रकार बृहस्पतिजीको आसन देते है, वैसेही प्रभु जनमेजयने सदस्योंसे सहमत होकर स्वागत महर्षि को सुवर्ण आसन दिया और वह उसपर बैठे और देवर्षियोंसे पूजे जाते हुए उन पितामह कृष्णद्वैपायनकी शास्त्रोचित कर्मसे पूजा कर उनको योग्य पाद्य अर्घ्य, आचमनीय और गौ विधिपूर्वक निवेदन किया। भगवान् व्यासजीने प्रीतिचित्तसे पाण्डव जनमेजयसे वह सब पूजा लेकर विना कारण जीवन हिंसा करना उचित नहीं है, कहके गोवध नहीं करने दिया। (१०-१४)

जनमेजयने प्रेम दिखाकर इस प्रकार प्रपितामहको पूजकर निकट बैठकर प्रसन्न

भगवानपि तं दृष्ट्वा कुशलं प्रतिवेद्य च ।
सदस्यैः पूजितः सर्वैः सदस्यान्प्रत्यपूजयत् ॥ १६ ॥
ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः ।
इदं पश्चाद् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत्कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

जनमेजय उवाच— कुरूणां पाण्डवानां च भवान्प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ॥ १८ ॥
कथं समभवद्भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ॥ १९ ॥
पितामहानां सर्वेषां दैवेनाऽविष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाऽऽचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ॥ २० ॥

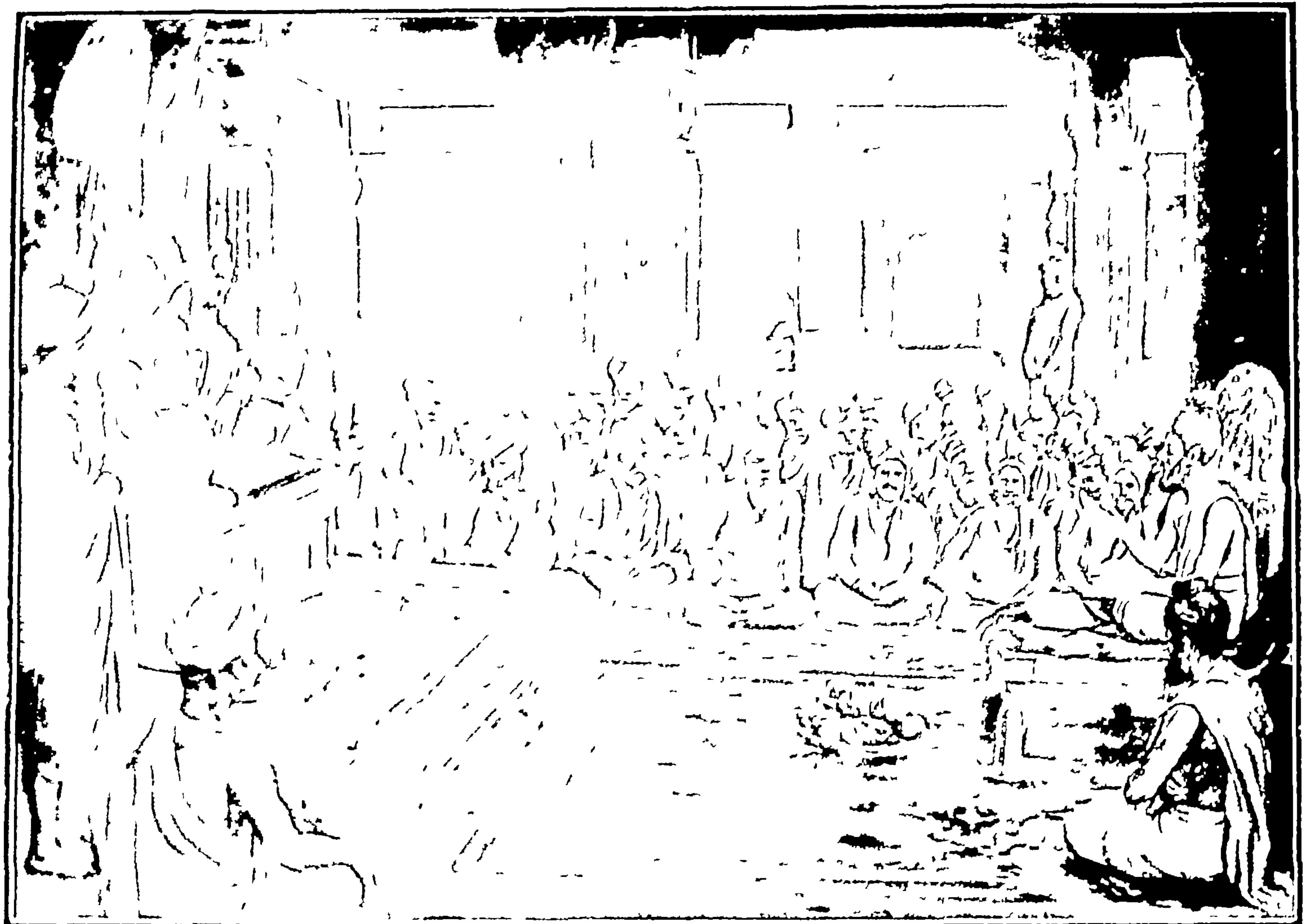
सौतिरुवाच— तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥ २१ ॥

व्यास उवाच— कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत्पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ॥ २२ ॥
गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा ।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ॥ २३ ॥

चित्तसे कुशल पूछा। भगवान् व्यासजीने भी उनसे अपना कुशल कहा; आगे सदसलोगोंके उनको स्वागत करने पर उन्होंने भी उनकी यथोचित अभ्यर्थना की। अनन्तर जनमेजयने सदस्योंसे हाथ जोडकर द्विजश्रेष्ठ प्रपितामहसे पूछा, कि हे द्विज! आपने कुरुपाण्डवोंके अनन्त चरितको प्रगट किया है; अतएव कृपा कर उसे कहिये, मुझे सुननेकी इच्छा हुई है। मेरे प्रपितामह लोग सभी क्रोधद्वेषसे वर्जित थे, तिस परभी क्यों वे दैववश वैसी बडी शत्रुतामे गिरे? फिर किस हेतु वैसी अगणित जीवनाशी लडाई हुई? हे द्विजोत्तम! यह सब आदिसे अन्ततक भली भांति सुनाइये। (१६—२०)

श्रीउग्रश्रवाजी बोले, कि तब कृष्ण द्वैपायनजीने उनकी यह बात सुनकर निकट बैठे हुए शिष्य वैशम्पायनसे कहा, कि पहिले जिस प्रकार कुरुपाण्डवोंमे घरू झगडा हुआ था, वह तुमने मुझ से जैसा सुना है, इस नरेशके समीप ठीक वैसाही कह सुनाओ। विप्रर्षि वैशम्पायनजी गुरु की आज्ञा पाकर महाराज जनमेजय, सदस्यों और सब राजाओंके सामने कुरुपाण्डवोंके झगडे और सर्वनाश आदि विषय सम्बन्धी पौराणिक कथाओंको

महाभारत चित्रसंख्या २



सम्राट् जनमेजय की राजसभामें श्री० वैशम्पायनजी महाराज भारतीय उपाख्यान को कह रहे हैं।
(म. भा. आ. अ. ६१।५)

मनोरंजन प्रेस, बम्बई नं. ४.

राज्ञे तस्मै सदस्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च सर्वशः।
भेदं सर्वविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ॥ २४ ॥ (२२६७)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यंशावतारपर्वणि कथानुबन्धे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच- गुरवे प्राङ्‌ नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः।
संपूज्य च द्विजान्सर्वांस्तथाऽन्यान्विदुषो जनान् ॥ १ ॥
महर्षेर्विश्रुतस्येह सर्वलोकेषु धीमतः।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्याऽस्य महात्मनः॥२॥
श्रोतुं पात्रं च राजंस्त्वं प्राप्येमां भारतीं कथाम्।
गुरोर्वक्त्रपरिस्पन्दो मनः प्रोत्साहतीव मे ॥ ३ ॥
शृणु राजन्यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत्।
राज्यार्थे द्यूतसंभूतो वनवासस्तथैव च ॥ ४ ॥
यथा च युद्धमभवत्पृथिवीक्षयकारकम्।
तत्तेऽहं कथयिष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ॥ ५ ॥
मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम्।
न चिरादेव विद्वांसो वेदे धनुषि चाऽभवन् ॥ ६ ॥
तांस्तथा सत्त्ववीर्यौजःसंपन्नान्पौरसंमतान्।

सुनाने लगे। (२१—२४)[२२६७]

आदिपर्व में साठवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्व में इकसठवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि पहिले गुरुके पदोंपर भक्तिसहित एकचित्तसे साष्टाङ्ग प्रणाम कर, विद्वान जनों और सम्पूर्ण ब्राह्मणोंको पूज करके सर्व लोकोंमे प्रशंसित धीमान् महर्षि महात्मा व्यासजीका सम्पूर्ण मत कहता हूं। महाराज! आप इस भारतीय उपाख्यानको सुननेके योग्य पुरुष हैं; गुरुजीकी आज्ञा मेरे चित्त को उत्साहित कर रही है, हे भरतकुल-श्रेष्ठ महाराज! जिस प्रकार कुरु पाण्डवों का घरू झगडा था राज्यके निमित्त जिस प्रकार जुएका खेल, पाण्डवोंका वनवास और सर्वनाशी कठोर लडाई हुई थी, यह सब आपसे कहता हूं, सुनिये। (१—५)

युधिष्ठिर आदि वह सब वीरवर्ग पिता की मृत्युके पश्चात् निज घरमें लौटकर थोडे समयमें धनुष-विद्या में दक्ष और वेदज्ञ होगये। कौरवलोग उनको रूप, बल, वीर्य, उत्साह श्री और यशयुक्त और पुरवासियोंके प्रिय देखकर खेदयुक्त

नाऽभ्यसूयन्कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवाञ्छ्रीयशोभृतः ॥ ७ ॥
ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सह सौबलः ।
तेषां निग्रहनिर्वासान्विविधांस्ते समारभन् ॥ ८ ॥
ततो दुर्योधनः शूरः कुलिङ्गस्य मते स्थितः ।
पाण्डवान्विविधोपायै राज्यहेतोरपीडयत् ॥ ९ ॥
ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः ।
जरयामास तद्वीरः सहाऽन्नेन वृकोदरः ॥ १० ॥
प्रमाणकोट्यां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम् ।
तोयेषु भीमं गङ्गायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ ११ ॥
यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो गतव्यथः ॥ १२ ॥
आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाऽङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ १३ ॥
तेषां तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः ।
मोक्षणे प्रतिकारे च विदुरोऽवहितोऽभवत् ॥ १४ ॥
स्वर्गस्थो जीवलोकस्य यथा शक्रः सुखावहः ।
पाण्डवानां तथा नित्यं विदुरोऽपि सुखावहः ॥ १५ ॥

हुए। अनन्तर क्रूरचित्त दुर्योधन, कर्ण और शकुनि उनको सताना और घरसे खदेडना आदि भांति-भांति के बुरे व्यवहार करने लगे। एकदिन पापात्मा दुर्योधनने भीमको अन्नके साथ विष पीने को दियाथा, वृकोदर भी उसे पी गये थे। एक दिन भीम प्रमाणकोटि अर्थात् गंगाजीके तट पर एक खेलके घरमें सोये थे, उस समय वह पापात्मा उनको बांध कर गंगाजीके सोतेमें छोडकर अपने घरमें लौट आया! कुन्तीपुत्र महाभुज भीमसेन जब जगे, तब जलमें बन्धनको तोडकर पीडा दूर करके उठ आये।(६-१२)

किसी दूसरे समय वह सोते थे, धृतराष्ट्र-पुत्रने कालसर्पसे उनके सर्व शरीर को कटाया था; शत्रुनाशी भीमसेनका तिस परभी प्राण न गया। जब कौरव-लोग धोखा देकर, पाण्डवोंके प्राण लेने की चेष्टा किया करते थे, तब महामति विदुर उनके उपायको नष्ट करने और पाण्डवोंकी रक्षाके निमित्त सयत्न रहते थे; जिसप्रकार देवलोकके देवराज मर्त्य लोकोंके सुखदायी होते है, उनके समान विदुर सदा पाण्डवोंके शुभाकांक्षी

यदा तु विविधोपायैः संवृतैर्विवृतैरपि ।
नाऽशकद्विनिहन्तुं तान्दैवभाव्यर्थरक्षितान्॥ १६ ॥
ततः संमन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः ।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ॥ १७ ॥
सुतप्रियैषी तान्राजा पाण्डवानम्बिकासुतः ।
ततो विवासयामास राज्यभोगबुभुक्षया ॥ १८ ॥
ते प्रातिष्ठन्त सहिता नगरान्नागसाह्वयात् ।
प्रस्थाने चाऽभवन्मन्त्री क्षत्ता तेषां महात्मनाम् १९ ॥
तेन मुक्ता जतुगृहान्निशीथे प्राद्रवन्वनम् ।
ततः संप्राप्य कौन्तेया नगरं वारणावतम् ॥ २० ॥
न्यवसन्त महात्मानो मात्रा सह परंतपाः ।
धृतराष्ट्रेण चाऽऽज्ञप्ता उषिता जातुषे गृहे ॥ २१ ॥
पुरोचनाद्रक्षमाणाः संवत्सरमतान्द्रिताः ।
सुरुङ्गां कारयित्वा तु विदुरेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥
आदीप्य जातुषं वेश्म दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
प्राद्रवन्भयसंविग्ना मात्रा सह परंतपाः ॥ २३ ॥
ददृशुर्दारुणं रक्षो हिडिम्बं वननिर्झरे ।
हत्वा च तं राक्षसेद्रं भीताः समवबोधनात् ॥ २४ ॥

थे। जब कौरवोंने देखा, कि न गुप्त न प्रगट किसी उपायसे पाण्डवोंके प्राण नष्ट न होकरके दैववश उनकी रक्षा होने लगी, तब दुर्योधनने कर्ण और दुःशासन आदि मन्त्रियोंसे युक्तिकर धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकरके जतुगृह बनवाया। पुत्रके प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्रने राज्य भोगनेकी इच्छासे पाण्डवोंको घरसे खदेडा। पाण्डवलोग सब एकत्र होकर हस्तिनानगर से पधारे; जानेके कालमें विदुरने उन महानुभावोंको अच्छी युक्ति दी थी, उसीसे वे रात्रिके समय जतुगृह से बचकर वनमें भाग सके। (१३–२०)

शत्रुनाशी महात्मा पाण्डवलोग माताके साथ वारणावत नगरमें जाकर बसने लगे। उन्होंने पहिले अति सावधान होकर पुरोचनसे अपनी रक्षाकर धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार वर्षभर जतुगृहमें वास किया था, आगे विदुरके परामर्शसे बिल खोदवाकर जतुगृहमें आग लगाकरके पुरोचन को जलाकर भयभीत चित्तसे माताके साथ भागे। अनन्तर वनमें हिडिम्ब नाम

निशि संप्राद्रवन्पार्थो धार्तराष्ट्रभयार्दिताः ।
प्राप्ता हिडिम्बा भीमेन यत्र जातो घटोत्कचः॥ २५ ॥
एकचक्रां ततो गत्वा पाण्डवाः संशितव्रताः ।
वेदाध्ययनसंपन्नास्तेऽभवन्ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
ते तत्र नियतं कालं कंचिदूषुर्नरर्षभाः ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २७ ॥
तत्राऽऽससाद क्षुधितं पुरुषादं वृकोदरः ।
भीमसेनो महाबाहुर्बकं नाम महाबलम् ॥ २८ ॥
तं चाऽपि पुरुषव्याघ्रो बाहुवीर्येण पाण्डवः ।
निहत्य तरसा वीरो नागरान्पर्यसान्त्वयत् ॥ २९ ॥
ततस्ते शुश्रुवुः कृष्णां पञ्चालेषु स्वयंवराम् ।
श्रुत्वा चैवाऽभ्यगच्छन्त गत्वा चैवाऽलभन्त ताम् ३०
ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसंवत्सरोषिताः ।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिन्दमाः ॥ ३१ ॥
त उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति ॥

बडे भारी एक राक्षसको देखकर मार डाला; आगे आत्म-प्रकाश और धृतराष्ट्र पुत्रोंके भयसे भीत होकर एकचक्रा नामक नगरीमें गये। पथमें हिडिम्ब नाम्नी राक्षसीके साथ भीमसेनके मिलनसे घटोत्कच नामक उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। नरों में श्रेष्ठ पाण्डवलोग उस नगरीमें पहुंचकर वेद पढनेवाले व्रतशील और जितेन्द्रिय ब्रह्मचारियों का वेष लेकर माताके साथ एक ब्राह्मणके घरमें कुछकाल वसे। महाभुज वृकोदर भीमसेनने उस नगरीमे महाबली, क्षुधित बक नामक एक राक्षसको देखा; पुरुषश्रेष्ठ महावीर भीमसेनने निज भुजबलसे एकबारही उसका प्राण नष्ट कर नगरवालों के भयको दूर किया। (२०-२९)

अनन्तर पाण्डवोंने सुना, कि पाञ्चाल नगरमें पाञ्चाल-राजपुत्री स्वयंवरकी अभिलाषिणी हुई है। यह सुन करकेही उन्होंने वहां जाकर उसको प्राप्त किया। शत्रुनाशी पाण्डवलोग द्रौपदीको प्राप्तकर, वहां वर्षभर वसनेके पीछे जाने जाकर हस्तिनापुरको लौट गये। (३०-३१)

आगे धृतराष्ट्र और भीष्मजी उनसे बोले, कि बेटा! इसलिये, कि तुममें भ्रातृविरोध न खडा हो, हमने सोचकर

अस्माभिः खाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः ३२
तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम् ।
वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमत्सराः ॥ ३३ ॥
तयोस्ते वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः ।
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ३४ ॥
तत्र ते न्यवसन्पार्थाः संवत्सरगणान्बहून् ।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीभृतः ॥ ३५ ॥
एवं धर्मप्रधानास्ते सत्यव्रतपरायणाः ।
अप्रमत्तोत्थिताः क्षान्ताः प्रतपन्तोऽहितान्बहून् ३६
अजयद्भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महायशाः ।
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा ॥ ३७ ॥
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा ।
एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ ३८ ॥
पञ्चभिः सूर्यसंकाशैः सूर्येण च विराजता ।
षट्सूर्येवाऽभवत्पृथ्वी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः ॥ ३९ ॥
ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
वनं प्रस्थापयामास तेजस्वी सत्यविक्रमः ॥ ४० ॥

यह ठहराया है, कि तुम खाण्डवप्रस्थमें जाय बसो; अतएव तुम द्वेषको छोडकर नाना देशयुक्त अच्छी चोडी सडकोंसे शोभित खाण्डवप्रस्थमें वसनेको जाओ। पाण्डवलोग उनकी इस बातके अनुसार सब आत्मजनों के साथ सम्पूर्ण धन ऐश्वर्य लेकर खाण्डवप्रस्थ नगरको पधारे। परम धार्मिक, सत्यव्रतशील, अप्रमत्त, उत्साहपूर्ण, क्षमाशील, शत्रुको दुखानेवाले पाण्डवलोग बहुत दिनोंतक वहां बसकर शस्त्रके प्रभावसे सम्पूर्ण नरेशोंको वशमें लाये। (३२—३६)

अति यशयुक्त भीमसेनने पूर्व दिशा, वीर अर्जुनने उत्तर दिशा, नकुलने पश्चिम दिशा और शत्रुनाशी सहदेवने दक्षिण दिशाको जय किया। इस प्रकार से सबोंको वशमें लाकर सम्पूर्ण भूमण्डलमें एकही अधीश हुए। सूर्यके समान तेजस्वी, अटल विक्रमी पांच पाण्डवों और आकाश मण्डलमें सुशोभित एक सूर्यसे मानो धरती छः सूर्ययुक्त हुई। (३७—३९)

अनन्तर सत्यविक्रमी, तेजस्वी गुणवान् स्थिर प्रणधारी युधिष्ठिर ने प्यारे भाई, सव्यसाची अर्जुनको वनवास को भेजा।

प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं स्थिरात्मानं गुणैर्युतम् ॥ ४१ ॥
स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वने वसन् ।
ततोऽगच्छद्‌धृषीकेशं द्वारवत्यां कथंचन ॥ ४२ ॥
लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम् ।
अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ४३ ॥
सा शचीव महेन्द्रेण श्रीः कृष्णेनेव संगता ।
सुभद्रा युयुजे प्रीत्या पाण्डवेनाऽर्जुनेन ह ॥ ४४ ॥
अतर्पयच्च कौन्तेयः खाण्डवे हव्यवाहनम् ।
बीभत्सुर्वासुदेवेन सहितो नृपसत्तम ॥ ४५ ॥
नाऽतिभारो हि पार्थस्य केशवेन सहाऽभवत् ।
व्यवसायसहायस्य विष्णोः शत्रुवधेष्विव ॥ ४६ ॥
पार्थायाऽग्निर्ददौ चाऽपि गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
इषुधी चाऽक्षयैर्बाणै रथं च कपिलक्षणम् ॥ ४७ ॥
मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं तत्र महासुरम् ।
स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमन्विताम् ॥ ४८ ॥
तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः ।

अर्जुन (सौर मासकी गणनाके अनुसार) ग्यारह वर्ष दश महीने वनमें वसे । उस समय एक दिन उन्होंने द्वारका में श्रीकृष्ण के निकट जाकर कृष्ण की छोटी वहिन प्रसन्ननयना मधुरभाषिणी सुभद्रा को प्राप्त किया। इन्द्राणी जिसप्रकार इन्द्रसे मिलकर प्रसन्न हुई थी, और श्रीलक्ष्मीजी जिसप्रकार विष्णुजीसे मिलकर सन्तुष्ट हुई थी, उस प्रकार सुभद्रा पाण्डुपुत्र अर्जुनसे संयुक्त होकर अति आनान्दित हुई, हे नृपश्रेष्ठ ! अर्जुनने श्रीकृष्ण के साथ खाण्डव वनको जलाकर अग्निको सन्तुष्ट किया। दृढ निष्ठा पर भरोसा रखनेहारे श्रीकृष्ण को जिस प्रकार शत्रुओंके मारनेमें कठिनता नहीं जान पडती है, उस प्रकार केशव पर भरोसा रखने हारे अर्जुन को कोई कार्य असाध्य जान नहीं पडता था। (४०-४६)

अनन्तर अग्निदेवने खाण्डवदहन होने से सन्तुष्ट होकर अर्जुनको सुन्दर गाण्डीव धनुष अक्षयबाणयुक्त तरकस और कपिध्वजयुक्त रथ दिया। अर्जुनने मय नामक असुरको खाण्डवके साथ जलजानेसे बचाया था, तिसहेतु मयासुरने उनको सब से सुहावना एक सुन्दर सभागृह बना

ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम् ॥ ४९ ॥
वनं प्रस्थापयामास सप्त वर्षाणि पञ्च च ।
अज्ञातमेकं राष्ट्रे च ततो वर्षं त्रयोदशम् ॥ ५० ॥
ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु ।
नाऽलभन्त महाराज ततो युद्धमवर्तत ॥ ५१ ॥
ततस्ते क्षत्रमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम् ।
राज्यं विहितभूयिष्ठं प्रत्यपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ५२ ॥
एवमेतत्पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
भेदो राज्यविनाशाय जयश्च,जयतां वर ॥ ५३ ॥ (२३२०)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यंशावतरणपर्वणि
भारतसूत्रं नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

जनमेजय उवाच–कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम ।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत् ॥ १ ॥
कथां त्वनघ चित्रार्थां कथयस्व तपोधन ।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ॥ २ ॥
स भवान्विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति ।
नहि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ ३ ॥

दिया । दुष्टबुद्धि दुर्मति दुर्योधनने उस सभाको देखकर लोभवश होकरके शकुनि के द्वारा चौसरमें युधिष्ठिर को ठग करके बारह वर्ष वनमें और वर्षभर गुप्तभाव से बसाया । हे महाराज ! तेरह वर्षके वनवासके पश्चात् चौदहवां वर्ष आ पहुचने पर पाण्डवोंने अपनी सम्पत्ति मागी, पर नहीं मिली, इसीसे लडाई खडी होगई । अनन्तर पाण्डवलोगोंने क्षत्रियों को ध्वंस करनेके पश्चात् दुर्योधन को मारकर उस राज्यको प्राप्त किया जिसके लिये अनेक लोग मारे गयेथे । हे जगशील ! क्रोध द्वेषादिवर्जित पाण्डवोंका इस प्रकार घरेलू झगडेमें राज्यनाश और पश्चात् जयलाभ हुआ था और यही उनके प्राचीन इतिहासका वृत्तान्त है । (४७–५३) [२३२०]

आदिपर्वमें इकसठवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें बासठवां अध्याय ।

जनमेजय बोले, कि हे द्विजोत्तम ! आपने कुरुवंशियोंके चरित्र-सम्बन्धी महाभारत नामक महान आख्यानको संक्षेपमें कीर्त्तन किया । हे अनघ तपोधन ! उस विचित्र उपाख्यानको फिर विस्तृतरूपसे

मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा ।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा॥२० ॥
महीं विजयते राजा शत्रूंश्चाऽपि पराजयेत् ।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ॥२१ ॥
महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा ।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥२२ ॥
धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनाऽमितबुद्धिना॥२३ ॥
संप्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चाऽपरे ।
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः ॥२४ ॥
शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च ।
सर्वं संत्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ॥२५ ॥
भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम् ।
नाऽस्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥२६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च ।

पाप दूर होते है। जिस प्रकार राहुसे चन्द्रमण्डल मुक्त होता है, वैसेही अति-दुराचारी पुरुषभी इस इतिहासके सुननेसे सर्व पापोंसे मुक्त होता है। इस इतिहास का नाम जय है,जयचाहनेवाले जनको इसे सुनना चाहिये। इसे सुननेसे राजा पृथ्वी को जय कर सकते है और शत्रु को हरा सकते है। यह श्रेष्ठ पुंसवन और महान् स्वस्त्ययनरूपी है। युवराज रानी के साथ वार वार इसे सुने, तो उनके वीरपुत्र वा राज्याधिकारिणी कन्या होती है। असीम वुद्धियुक्त व्यासजीका रचा हुआ यह आख्यान पवित्र धर्मशास्त्रवत्, श्रेष्ठ अर्थशास्त्रके सदृश और मोक्षशास्त्ररूपी बना है। (१८–२३)

वर्तमानमें कोई कोई महाभारत कीर्तन कर रहे है, भविष्यतमें भी बहुतेरे सुनेंगे। पुत्रगण इसे सुन कर पिताको आज्ञा मानते और उनका प्रिय करते है। जो इसे सुनते है, वह शारीरिक, मानसिक और वाचानिक सम्पूर्ण पापोंसे उसी क्षण मुक्त होते है। जो भरतकुलके इस महत् जन्मवृत्तान्तको सुनकर गुणमें दोष नहीं लगाते, उनको परलोक का भय तो दूर रहा, पीडाका भय भी जाता रहता है। महात्मा पाण्डवों और बहुधन, सम्पत्ति और तेजयुक्त सर्व विद्यामें पण्डितजन प्रसिद्ध क्षत्रियों की कीर्तिको प्रकाश कर-

कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा ॥ २७ ॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ २८ ॥
सर्वविद्यावदातानां लोके प्रथितकर्मणाम् ।
य इदं मानवो लोके पुण्यार्थे ब्राह्मणाञ्छुचीन्॥२९॥
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः ।
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्तयन्सततं शुचिः ॥ ३० ॥
वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत् ।
योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः ॥ ३१ ॥
चतुरो वार्षिकान्मासान्सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् ॥ ३२ ॥
देवा राजर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
कीर्त्यन्ते धूतपाप्मानः कीर्त्यते केशवस्तथा ॥ ३३ ॥
भगवांश्चापि देवेशो यत्र देवी च कीर्त्यते ।
अनेकजननी यत्र कार्तिकेयस्य संभवः ॥ ३४ ॥
ब्राह्मणानां गवां चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यते ।
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥ ३५ ॥
य इदं श्रावयेद्विद्वान्ब्राह्मणानिह पर्वसु ।

नेके निमित्त पुण्य चाहनेवाले कृष्णद्वैपायन जीने इस धन, यश, आयु तथा स्वर्ग दिलाने हारे पवित्र इतिहास को कीर्तन किया है ! जो इस लोकमें पवित्र ब्राह्मणों को यह महापुण्ययुक्त महाभारत सुनाते है, उनको सनातन धर्म प्राप्त होता है, जो नर शुचि होकर सदा कुरुओंके प्रसिद्ध वंशको कीर्तन करता है, वह लोकसमाज में पूजा जाता है और सदा उसका वंश बढता है। (२४ — ३१)

जो ब्राह्मण वर्षाके चार महीने सदा व्रतशील होकर इस महाभारतको पाठ करते है, वह सर्वपापोंसे मुक्त होते है। जिन्होंने इसे पढा है, वे वेदज्ञ कहे जाते है, इस महाभारतमें पापसे छूटते बचे पवित्र देवता, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, केशव, भगवान् भूतनाथ और भवानीकी कथा है। इसमें छः माताओंके पुत्र कार्तिकेय की उत्पत्तिका वृत्तान्त और गो ब्राह्मणादि का माहात्म्य कीर्तित है। सर्व वेदयुत इस महाभारतको धर्म सञ्चय करनेके अभिलाषियोंको सुनना चाहिये। जो

धूतपाप्मा जितः स्वर्गो ब्रह्म गच्छति शाश्वतम् ॥ ३६ ॥
श्रावयेद्ब्राह्मणाञ्छ्राद्धे यश्चैनं पादमन्ततः ।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपावर्तेत्पितॄनिह ॥ ३७ ॥
अह्ना यदेनः क्रियते इन्द्रियैर्मनसाऽपि वा ।
ज्ञानादज्ञानतो वाऽपि प्रकरोति नरश्च यत् ॥ ३८ ॥
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥ ३९ ॥
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
भरतानां यतश्चाऽयमितिहासो महाद्भुतः ॥ ४० ॥
महतो ह्येनसो मर्त्यान्मोचयेदनुकीर्तितः ।
त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ ४१ ॥
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः।
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा ॥ ४२ ॥
तस्मान्नियमसंयुक्तैः श्रोतव्यं ब्राह्मणैरिदम्।
कृष्णप्रोक्तामिमां पुण्यां भारतीमुत्तमां कथाम्॥ ४३ ॥
श्रावयिष्यन्ति ये विप्रा ये च श्रोष्यन्ति मानवाः।
सर्वथा वर्तमाना वै न ते शोच्याः कृताकृतैः ॥ ४४ ॥

विद्वज्जन पर्वानुसार इसे ब्राह्मणोंको सुनाते हैं, वह निष्पाप हो करके देवलोकको जयकर शाश्वत ब्रह्मलोकको सिधारते हैं। जो श्राद्धके कालमें कमसे कम इसका एक पाद भी ब्राह्मणोंको सुनाते हैं, उनके उस श्राद्धमें पितरोंकी अक्षय तृप्ति होती है। दिनको इन्द्रियोंसे वा मनसे ज्ञानपूर्वक जो पाप होता है, महाभारत सुननेसे वह उसी क्षण दूर होता है। (३६—३९)

भरतकुलका महत् जन्मवृत्तान्त इसमें कीर्तित है, इस लिये इसका नाम महाभारत हुआ; जो महाभारतके इस व्युत्पत्तियुक्त अर्थको जानते हैं, उनका सम्पूर्ण पाप नष्ट होता है, क्योंकि इसमें भरतकुलके अति आश्चर्य इतिहास कथित हैं इस हेतु इसकी कथा कहनेसे मनुष्यों का महापातक दूर होता है। पूर्णाभिलाषी, कार्यकुशल, मुनि कृष्णद्वैपायनने नित्यके उद्योगसे और शुद्धाचारी होकर तीनवर्षतक तप और नियम आश्रय करके इसको रचा है, अतएव ब्राह्मणोंको नियमयुक्त होकर इसको सुनना चाहिये। जो सब ब्राह्मण श्रीकृष्णद्वैपायन की कही हुई यह उत्तम पवित्र महाभारतीय कथा

नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि ।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ४५॥
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः ।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥ ४६ ॥
शृण्वञ्छ्राद्ध पुण्यशीलः श्रावयंश्चेदमद्भुतम्।
नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ४७ ॥
यथा समुद्रो भगवान्यथा मेरुर्महान्गिरिः ।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ ४८ ॥
इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम् ॥ ४९ ॥
य इदं भारतं राजन्वाचकाय प्रयच्छति ।
तेन सर्वा मही दत्ता भवेत्सागरमेखला ॥ ५० ॥
पारिक्षित कथां दिव्यां पुण्याय विजयाय च ।
कथ्यमानां मया कृत्स्नां शृणु हर्षकरीमिमाम् ॥ ५१ ॥
त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ॥ ५२ ॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।

कहेंगे और जो लोग इसको सुनेंगे, चाहे सुकर्म करे वा कुकर्म करें, पर कभी पापसे छुए नहीं जायंगे। इस इतिहासको सम्पूर्ण सुननेसे धार्मिक जन सिद्धि लाभ कर सकते हैं; इस अति पवित्र इतिहास को सुनकर लोग जैसा सन्तोषको प्राप्त होते हैं, स्वर्गलाभ करके भी वैसा सन्तुष्ट नहीं होते। (३० —४६)

पुण्यशील जन श्रद्धापूर्वक इस इतिहास को सुन कर राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंके फलको प्राप्त करते हैं। जैसे भगवान समुद्र और महागिरि सुमेरु रत्नोंकी खानि करके प्रसिद्ध हैं, वैसेही यह महाभारत भी है। यह महाभारत वेदके समान पवित्र, सुन्दर सुननेयोग्य शब्दोंसे सुशोभित, सुखदायी, पापहारी और शील-वृद्धिकारी है। हे राजन् ! जो याचकको यह भारत देते हैं मानो वह समुद्रोंसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीही को दे देते हैं। हे परिक्षित पुत्र ! पुण्य और जयके निमित्त मैं दिव्य आनन्ददायी यह सम्पूर्ण कथा कहता हूं, सुनिये। मुनिवर कृष्ण-द्वैपायनजीने तीन वर्षों तक सदा उद्योगी रहकर इस आश्चर्य आख्यान महाभारत

यदिहाऽस्ति तदन्यत्र यन्नेहाऽस्ति न तत्क्वचित्५३॥(२३८३)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यंशावतरण-
पर्वणि महाभारतप्रशंसायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच राजोपरिचरो नाम धर्मनित्यो महीपतिः ।
बभूव मृगयां गन्तुं सदा किल धृतव्रतः ॥ १ ॥
स चेदिविषयं रम्यं वसुः पौरवनन्दनः ।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह रमणीयं महीपतिः ॥ २ ॥
तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं निवसन्तं तपोनिधिम् ।
देवाः शक्रपुरोगा वै राजानमुपतस्थिरे ॥ ३ ॥
इन्द्रत्वमर्हो राजाऽयं तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात्तपसः संन्यवर्तयन् ॥ ४ ॥
देवा ऊचुः — न संकीर्येत धर्मोऽयं पृथिव्यां पृथिवीपते ।
त्वया हि धर्मो विधृतः कृत्स्नं धारयते जगत् ॥ ५ ॥
इन्द्र उवाच— लोके धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः ।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान्पुण्यान्पश्यासि शाश्वतान्॥६॥

को रचा है; हे भारतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसम्बन्धी जो जो विषय इसमें है, वही सब अन्यत्र दीख पडते हैं, जो विषय इस भारत में नहीं है, वह और कहीं नहीं मिलेंगे। (४७—५३)

आदिपर्वमें बासठवां अध्याय समाप्त। [२३८३]

आदिपर्वमें त्रेसठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि उपरिचर नामक धर्मशील एक पृथ्वीनाथ थे; (उनका और एक नाम वसु था) मृगया करनेका उनको बडा प्रेम था। उस पौरवनन्दन राजा वसुने देवराजके उपदेशसे चेदि नामक सुहावने देशपर अधिकार किया था। एक समय अस्त्र शस्त्र छोडकर उनके कठोर तपमें प्रवृत्त होने पर इन्द्रादि देवोंने सोचा, कि यह जैसी कठोर तपस्या कर रहे है, उससे इन्द्रका पद प्राप्त कर सकते है। ऐसी चिन्ता कर देवगण उक्त राजाके निकट जा पहुंचे और समझा बुझाकर उनको तपस्यासे निवृत्त करने लगे। देवगण बोले, कि हे महाराज! ऐसा करो, कि सब धरतीमें धर्म न घटे। तुम धर्मकी रक्षा करोगे, तो सम्पूर्ण भूमण्डलमें धर्म रक्षित होगा। (१–५)

इन्द्रजी बोले, कि तुम सदा उत्साही और समाहित होकर ऐसा करो, कि इस धरतीमें धर्म रक्षित हो; ऐसा करनेसे

दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं सखाभूतो मम प्रियः ।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ॥ ७ ॥
पशव्यश्चैव पुण्यश्च प्रभूतधनधान्यवान् ।
स्वारक्ष्यश्चैव सौम्यश्च भोगैर्भूमिगुणैर्युतः ॥ ८ ॥
अर्थवानेष देशो हि धनरत्नादिभिर्युतः ।
वसुपूर्णा च वसुधा वस चेदिषु चेदिप ॥ ९ ॥
धर्मशीला जनपदाः सुसंतोषाश्च साधव ।
न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा॥१०॥
न च पित्रा विभज्यन्ते पुत्रा गुरुहिते रताः ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशान्संधुक्षयन्ति च ॥ ११ ॥
सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः सदा चेदिषु मानद ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ॥ १२ ॥
देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत्।
आकाशगं त्वा मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते ॥ १३ ॥
त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः ।
चरिष्यस्युपरिष्ठो हि देवो विग्रहवानिव ॥ १४ ॥

तुम अच्छा धर्मार्जन कर के शाश्वत पवित्र स्वर्गलोकमें गमन करोगे । तुम मर्त्य लोकमें वास करते हो; मैं स्वर्गमे रहता हूं, तथापि तुम मेरे प्रिय सखा हुए । हे नरनाथ ! इस धरतीमें जो देश सुन्दर, पशुओंके मङ्गलकारी, पवित्र, बहुत धनधान्यपूर्ण; स्वर्गके समान रमणीय सौम्य और अच्छी भूमिके गुणयुक्त हो, तुम वहां जाय बसो । हे चेदिप ! यह चेदि देश ऐश्वर्ययुक्त और अगणित धनरत्नोंसे भरा हुआ है, यहां वसुधा वसुओंसे भरी हुई है, अतएव इस स्थानहीमें बसो । (७-९)

इस देशके निवासी धर्मशील सदा सन्तुष्ट और साधु हैं; हंसीमें भी कोई झूठ नहीं बोलता; पुत्रगण पितासे अलग नहीं होते और सदा गुरुकी सेवामें लगे रहते हैं, इस स्थानमें कोई दुबले पतले बैलको बोझा ढोने या हल जोतनेमें नहीं लगाता है । हे माननीय ! इस चेदि देशमें सदा सब जन स्वधर्ममें सन्नद्ध रहते हैं । तीनों लोकोंमें जो कुछ होता है उसमें कुछभी तुम्हारे जाननेमें शेष नहीं है । मैं तुमको देवोंके भोग योग्य, आकाश गामी सुन्दर स्फटिकका बना महान् विमान देता हूं; वह सदा तुम्हारे पास उपस्थित रहेगा । इस मर्त्यलोकमें तुम्हीं

ददामि ते वैजयन्तीं मालामम्लानपङ्कजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे या त्वां शस्त्रैरविक्षतम्॥ १५ ॥
लक्षणं चैतदेवेह भविता ते नराधिप ।
इन्द्रमालेति विख्यातं धन्यमप्रतिमं महत् ॥ १६ ॥
यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां प्रतिपालिनीम्॥ १७ ॥
तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा ।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ॥ १८ ॥
ततः प्रभृति चाद्यापि यष्ट्याः क्षितिपसत्तमैः ।
प्रवेशः क्रियते राजन्यथा तेन प्रवर्तितः ॥ १९ ॥
अपरेद्युस्तथा तस्याः क्रियतेऽत्युच्छ्रयो नृपैः ।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धमाल्यैश्च भूषणैः ॥ २० ॥
माल्यदामपरिक्षिप्ता विधिवत्क्रियतेऽपि च ।
भगवान्पूज्यते चात्र हंसरूपेण चेश्वरः ॥ २१ ॥
स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः ।
स तां पूजां महेन्द्रस्तु दृष्ट्वा देवः कृतां शुभाम्॥ २२ ॥

अकेले यानपर चढ़कर साक्षात् शरीरधारी देवताकी भांति ऊपर विचर सकोगे। तुमको अम्लान पङ्कजा वैजयन्ती-माला देता हूं; यह रणभूमिमें तुम्हारी रक्षा करेगी, इसके पहिरनेसे तुम्हारे शरीरमें अस्त्र नहीं घुसेंगे। हे नरेश! यह माला इन्द्रमाला करके प्रसिद्ध होगी और यह तुम्हारा श्रेष्ठ प्रतिमारहित महान् चिह्न होगा। (१०—१६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर इन्द्रने प्रेमचिह्नकी भांति उठाकर उनको शिष्ट पालनेवाली एक बांस की लाठी दी। आगे वर्ष भर व्यतीत होने पर पृथ्वीनाथ वसुने इन्द्रके पूजाके निमित्त उस बांस की लाठीको धरतीमें गाड दिया। हे राजन्! उपरिचर राजाने जैसे बांसकी लाठीको गाडा था, आजतक राजालोग वैसाही किया करते हैं और उसके दूसरे दिन सुगन्धी, माला, वस्त्र, आभूषण आदि से उस बांसकी लाठीको सुशोभितकर उठा लेते हैं तथा विधिपूर्वक उसको मालासे लपेट रखते हैं। उस कालमें हंसरूपी भगवान् महादेव जी की पूजा होती है; क्योंकि वसुकी प्रीतिके निमित्त महात्मा महेश्वर स्वयं हंसका स्वरूप धरकर पूजने गये थे। (१७—२२)

वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीत्प्रभुः ।
ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम ॥ २३ ॥
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः ।
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति ॥ २४ ॥
तथा स्फीतो जनपदो मुदितश्च भविष्यति ।
एवं महात्मना तेन नरेन्द्रेण नराधिप ॥ २५ ॥
वसुः प्रीत्या मघवता महाराजोऽभिसत्कृतः ।
उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः ॥ २६ ॥
भूमिरत्नादिभिर्दानैस्तथा पूज्या भवन्ति ते ।
वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन च ॥ २७ ॥
संपूजितो मघवता वसुश्चेदीश्वरो नृपः ।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम् ॥ २८ ॥
इन्द्रप्रीत्या चेदिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः ।
पुत्राश्चास्य महावीर्याः पञ्चासन्नमितौजसः ॥ २९ ॥
नानाराज्येषु च सुतान्स सम्राडभ्यषेचयत ।
महारथो मागधानां विश्रुतो यो बृहद्रथः ॥ ३० ॥

वैभवयुक्त देवराज महेन्द्रने राजश्रेष्ठ वसुसे हुई उस पूजाको देखकर अति प्रसन्न होकर कहा, कि जो सब नर और नरेश चेदिराजके समान प्रेमसे और उत्सवसे मेरी पूजा करेंगे, उनसे राज्यकी श्री और जय होगी और उनके अधिकारके देश विस्तृत और हर्षपूर्ण होंगे। हे नरनाथ! महात्मा महेन्द्रने इस प्रकारसे प्रेमसहित महाराज वसुका सत्कार किया। जो सब जन भूमि रत्नादि देकरके सदा महेन्द्रका उत्सव करेंगे, वे राजा वसुके समान पूजे जायगे! वर पाकर चेदिनाथ उस महायज्ञ और इन्द्रोत्सव करनेके कारण इन्द्रसे सत्कृत होकर चेदिदेशमें वासपूर्वक धर्मके अनुसार इस धरतीको पालने लगे; और इन्द्रजी पर प्रेम दिखाकर इन्द्रका महोत्सव करने लगे। (२२—२९)

बडे तेजस्वी वसुके महावीर्यवान पांच पुत्र जन्मे थे। उक्त सम्राटने पुत्रोंको नाना राज्योंमें अभिषिक्त किया, उनमेंसे प्रसिद्ध प्रधान रथी बृहद्रथ नामक एक पुत्र मगध देशके राजा हुए। उनके दूसरे एक पुत्रका नाम प्रत्यग्रह, अन्य एकका कुशाम्ब वा मणिवाहन अन्य एकका मावेल्ल एवम् और एक राज-

प्रत्यग्रहः कुशाम्बश्च यमाहुर्मणिवाहनम् ।
मावेल्लश्च यदुश्चैव राजन्यश्चाऽपराजितः ॥ ३१ ॥
एते तस्य सुता राजन्राजर्षेर्भूरितेजसः ।
न्यवेशयन्नामभिः स्वैस्ते देशांश्च पुराणि च ॥ ३२ ॥
वासवाः पञ्च राजानः पृथग्वंशाश्च शाश्वताः ।
वसन्तमिन्द्रप्रासाद आकाशे स्फाटिके च तम् ॥ ३३ ॥
उपतस्थुर्महात्मानं गन्धर्वाप्सरसो नृपम् ।
राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याऽथ विश्रुतम् ॥ ३४ ॥
पुरोपवाहिनीं तस्य नदीं शुक्तिमतीं गिरिः ।
अरौत्सीच्चेतनायुक्तः कामात्कोलाहलः किल ॥ ३५ ॥
गिरिं कोलाहलं तं तु पदा वसुरताडयत् ।
निश्चक्राम ततस्तेन प्रहारविवरेण सा ॥ ३६ ॥
तस्यां नद्यामजनयन्मिथुनं पर्वतः स्वयम् ।
तस्माद्विमोक्षणात्प्रीता नदी राज्ञे न्यवेदयत ॥ ३७ ॥
यः पुमानभवत्तत्र तं स राजर्षिसत्तमः ।
वसुर्वसुप्रदश्चक्रे सेनापतिमरिन्दमः ॥ ३८ ॥
चकार पत्नीं कन्यां तु तथा तां गिरिकां नृपः।

पुत्र का यदु नाम था; ये कभी हारे नहीं थे। हे महाराज ! उन राजर्षिके यह पांच पुत्र थे; उन्होंने अपने नामसे देश और राजधानी बसायी थी। वसुके उन पाच महीपाल पुत्रोंसे अति विस्तृत स्थायी अलग अलग पाच वंशोंकी उत्पत्ति हुई। महात्मा राजा वसु जब इन्द्र के दिये स्फटिक के बने यान मे बैठकर आकाशको उडते थे, तब गन्धर्व और अप्सरागण आकर उनकी स्तुति पढते थे। इस प्रकार ऊपर विचरनेके कारण वह उपरिचर नामसे प्रसिद्ध हुए थे।(२९-३४)

उनकी राजधानीके समीप शुक्तिमती नाम्नी एक नदी बहती थी।कोलाहल नामक एक सजीव पर्वतने कामयुक्त होकर उसको रोका। राजा वसुने उस पर्वतको लात मारी उनके पांवकी चोटसे जो बिल बना, उसीसे शुक्तिमती नदी बह निकली। कोलाहल पर्वतके मिलनसे उस नदीको एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई; नदीने उपरिचरसे मुक्त होनेके कारण सन्तुष्ट होकर राजाको वह पुत्र और कन्या दे दी। राजर्षिश्रेष्ठ अरिन्दम वसुदाता वसुने उस नदी पुत्रको सेनापति और गिरिका नाम्नी

वसोः पत्नी तु गिरिका कामकालं न्यवेदयत् ॥ ३९ ॥
ऋतुकालमनुप्राप्ता स्नाता पुंसवने शुचिः ।
तदहः पितरश्चैनमूचुर्जहि मृगानिति ॥ ४० ॥
तं राजसत्तमं प्रीतास्तदा मतिमतां वर ।
स पितॄणां नियोगं तमनतिक्रम्य पार्थिवः ॥ ४१ ॥
चचार मृगयां कामी गिरिकामेव संस्मरन् ।
अतीव रूपसंपन्नां साक्षाच्छ्रियमिवाऽपराम् ॥ ४२ ॥
अशोकैश्चम्पकैश्चूतैरनेकैरतिमुक्तकैः ।
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च बकुलैर्दिव्यपाटलैः ॥ ४३ ॥
पाटलैर्नारिकेलैश्च चन्दनैश्चाऽर्जुनैस्तथा ।
एतै रम्यैर्महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥ ४४ ॥
कोकिलाकुलसंनादं मत्तभ्रमरनादितम् ।
वसन्तकाले तत्तस्य वनं चैत्ररथोपमम् ॥ ४५ ॥
मन्मथाभिपरीतात्मा नाऽपश्यद्गिरिकां तदा ।
अपश्यन्कामसंतप्तश्चरमाणो यदृच्छया ॥ ४६ ॥
पुष्पसंछन्नशाखाग्रं पल्लवैरुपशोभितम् ।

उस कन्याको रानी बनाया । एक समय वसुकी रानी गिरिकाने ऋतुकाल आनेसे गर्भधारणके योग्य समयसे ऋतुस्नान करके पतिसे अभिलाषा प्रगट की । उस दिन राजश्रेष्ठ वसुके पितरोंने प्रसन्न होकर उनको आज्ञा दी, कि आज तुम मृगया को जाओ । (३९–४१)

वह पृथ्वीनाथ पितरोंकी आज्ञालंघन न करके मृगयाको पधारे, पर कामयुक्त चित्तसे अनुपम रूप यौवनवती साक्षात् लक्ष्मीके समान उस गिरिकाहीको स्मरण करने लगे; वसन्त तो विराजमानही था, फिर तिसपर वह वन सुंदरताकी फुल वाडीसा था; उसमें अशोक, चम्पा आम, माधवी, नागकेशर, कर्णिकार, बकुल, दिव्यपाटल, पाटल, नारिकेल, चन्दन, अर्जुनादि सुंदर फूल और फलयुक्त भांति भांतिके वृक्ष चारों ओर सुशोभित थे, और कोयलकुलकी मीठी आलापचारी और मतवाले भौंरोंकी गुनगुनाहट चारों दिशामें गूंज रही थी । राजा कामवश हो करके चारों ओर देखते रहे, पर गिरिका को न देखकर कामाग्निसे बहुत जलने लगे । (४२–४६)

आगे उन्होंने इच्छानुसार घूमते हुए नये पत्ते और फूलोंके गुच्छोंसे ढंपा हुआ

अशोकं स्तवकैश्छन्नं रमणीयमपश्यत ॥ ४७ ॥
अधस्तात्तस्य च्छायायां सुखासीनो नराधिपः।
मधुगन्धैश्च संयुक्तं पुष्पगन्धमनोहरम् ॥ ४८ ॥
वायुना प्रेर्यमाणस्तु धूम्राय मुदमन्वगात् ।
तस्य रेतः प्रचस्कन्द चरतो गहने वने ॥ ४९ ॥
स्कन्नमात्रं च तद्रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः ।
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न पतेद्रेत इत्युत ॥ ५० ॥
इदं मिथ्या परिस्कन्नं रेतो मे न भवेदिति ।
ऋतुश्च तस्याः पत्न्या मे न मोघः स्यादिति प्रभुः ५१
संचिन्त्यैवं तदा राजा विचार्य च पुनः पुनः।
अमोघत्वं च विज्ञाय रेतसो राजसत्तमः ॥ ५२ ॥
शुक्रप्रस्थापने कालं महिष्याः प्रसमीक्ष्य वै।
अभिमन्त्र्याऽथ तच्छुक्रमारात्तिष्ठन्तमाशुगम्॥५३॥
सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्वज्ञो गत्वा श्येनं ततोऽब्रवीत्।
मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय ॥ ५४ ॥
गिरिकायाः प्रयच्छाऽऽशु तस्या ह्यार्तवमद्य वै।
गृहीत्वा तत्तदा श्येनस्तूर्णमुत्पत्य वेगवान् ॥ ५५ ॥

एक सुन्दर अशोक वृक्ष देखा ; उस वृक्षपर फूलके समूह इतने सुशोभित थे, कि उसकी एक भी शाखा दीख नहीं पडती थी; उसके मनोहर मधु और फूलोंकी गन्ध चारों ओर फैल रही थी। नरनाथ उस अशोककी छाहमें सुखसे बैठकर अमल वायुसे हर्षयुक्त हुए। इस बीचमें उस स्थानमें उनका वीर्य गिरा ; राजा उस गिरे हुए, वीर्यको वृक्षके पत्तेमें धारकर सोचने लगे कि क्योंकर हमारा यह गिरा हुआ वीर्य और स्त्रीकी ऋतु व्यर्थ न हो? आगे देरतक सोचकर बार बार विचारनेके पश्चात् निश्चय किया, कि मेरा यह वीर्य अव्यर्थ है और रानीके पास भेजनेका भी समय हुआ है ; सो किसी प्रकारसे इसे भेजनाही चाहिये। (४६—५३)

अनन्तर ऐसा निश्चय करके सूक्ष्म धर्मार्थतत्त्वोंके जाननेवाले राजा उपरिचरने मन्त्रोंसे उस वीर्यको सुधारकर पाससे ठहरे हुए, शीघ्र चलनेवाले एक बाजपक्षीसे कहा, कि "हे सौम्य! तुम मेरे उपकारके निमित्त मेरे इस वीर्यको मेरे अन्तःपुरमें ले जाओ, आज गिरिकाने ऋतुस्नान किया है, इसे उसको दो।" तेजोवान् बाजपक्षी

जव परममास्थाय प्रदुद्राव विहंगमः ।
तमपश्यदथाऽऽयान्तं श्येनं श्येनस्तथाऽपरः॥ ५६॥
अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवाऽमिषशङ्कया ।
तुण्डयुद्धमथाऽऽकाशे तावुभौ संप्रचक्रतुः ॥ ५७ ॥
युध्यतोरपतद्रेतस्तच्चाऽपि यमुनाम्भसि ।
तत्राऽद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद्वराप्सरा ॥५८॥
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी ।
श्येनपादपरिभ्रष्टं तद्वीर्यमथ वासवम् ॥ ५९ ॥
जग्राह तरसोपेत्य साऽद्रिका मत्स्यरूपिणी ।
कदाचिदपि मत्सीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः ॥६० ॥
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम ।
उज्जह्रुरुदरात्तस्याः स्त्रीं पुमांसं च मानुषम ॥ ६१ ॥
आश्चर्यभूतं तद्गत्वा राज्ञेऽथ प्रत्यवेदयन ।
काये मत्स्या उभौ राजन्संभूतौ मानुषाविति ॥ ६२॥
तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा ।
स मत्स्यो नाम राजाऽऽसीद्धार्मिकः सत्यसंगरः ६३॥
साऽप्सरा मुक्तशापा च क्षणेन समपद्यत ।

उस वीर्यको लेकर उसीक्षण आकाशको उडकर अति वेगसे चला। जानेके कालमें उसे दूसरे एक बाजने देखा और उसकी चोंचमें मांस जानकर उसके पीछे उडने लगा। अनन्तर उस आकाश ही में उनमें चोंचोंकी लडाई मची। लडनेमें बाजके मुखसे वीर्य यमुनाजीके जलमें गिर गया। अद्रिका नामसे प्रसिद्ध एक अप्सरा ब्रह्मशापसे मछली बनकरके यमुनाजीके जलमें रहती थी, ज्योंही राजा वसुका वीर्य बाजके मुखसे वहां गिरा, त्योंही उस मत्स्यरूपी अद्रिकाने वेगसे झपटकर उसको ले लिया। ५६-६०

हे भारतश्रेष्ठ ! उसके पश्चात् दशवें महीनेमें एक दिन मछुहोंने उस मछलीको फांसा; और उसके पेटमें एक पुत्र और एक कन्या पाकर अति आश्चर्ययुक्त होकरके राजासे जा कर कहा, कि महाराज! मछलीके शरीरसे यह दो मनुष्य उपजे हैं। तब राजा उपरिचरने उस दोनोंमें से बालकको ले लिया। वह मछली से जन्मा हुआ लडका पीछे मत्स्य नामक सत्यशील धार्मिक राजा हुआ था। वह अप्सरा उस क्षणमें शापसे मुक्त हुई,

या पुरोक्ता भगवता तिर्यग्योनिगता शुभा॥ ६४ ॥
मानुषौ जनयित्वा त्वं शापमोक्षमवाप्स्यसि।
ततः सा जनयित्वा तौ विशस्ता मत्स्यघातिना॥६५॥
संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च।
सिद्धर्षिचारणपथं जगामाऽथ वराप्सराः ॥ ६६ ॥
सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी ।
राज्ञा दत्ता च दाशाय कन्येयं ते भवत्विति ॥ ६७ ॥
रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सा तु सत्यवती नाम मत्स्यघात्यभिसंश्रयात्॥ ६८ ॥
आसीत्सा मत्स्यगन्धैव कंचित्कालं शुचिस्मिता ।
शुश्रूषार्थं पितुर्नावं वाहयन्तीं जले च ताम्॥ ६९ ॥
तीर्थयात्रां परिक्रामन्नपश्यद्वै पराशरः ।
अतीव रूपसंपन्नां सिद्धानामपि काङ्क्षिताम्॥७० ॥
दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम्।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः॥ ७१ ॥
संगमं मम कल्याणि कुरुष्वेत्यभ्यभाषत ।

क्यों कि जब अद्रिका शाप से भ्रष्टा होकर मत्स्य योनिमें आ गिरी थी, तब भगवानने कृपापूर्वक कहा था, कि तू दो मनुष्य प्रसव करके शापसे मुक्त होगी। अनन्तर अद्रिका दो मनुष्यपुत्र प्रसव करके मछुहोंसे मारी गयी और मछलीका स्वरूप छोडके दिव्यरूप धर सिद्ध और चारणोंसे सेवित आकाशमार्गको चली गयी। राजाने मत्स्यकी गन्ध युक्त मत्स्यके गर्भसे उपजी हुई कन्याको मछुहेको दे दिया और कहा, कि यह कन्या तुम्हारी बेटी होगी। रूप-यौवन वती सर्वगुणवाली मृदु-हासिनी उस सत्यवती नाम्नी कन्याके मछुहेके घरमें कुछ दिन पाले जानेके हेतु उसका नाम मत्स्यगन्धा हुआ था। (६०-६९)

एक समय मत्स्यगन्धा पिताकी आज्ञासे नाव चलाती थी, कि ऐसे समय तीर्थ-यात्रामें निकले हुए धीमान् पराशरने उसको देखा और अति रूपवती, सिद्धोंकी भी प्रार्थनाके योग्य रम्भोरु, मृदुहासिनी, मनोरमा उस वसुकी बेटीको देखते ही मुनिवर एकबारही कामवश हुए और बोले, हे कल्याणि! मेरा मनोरथ पूरा कर। कन्या बोली, कि भगवन्! नदीके दोनों ओर ऋषिलोग हैं,वे हमको देखते हैं,

साऽब्रवीत्पश्य भगवन्पारावारे स्थितानृषीन् ॥ ७२॥
आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात्समागमः ।
एवं तयोक्तो भगवान्नीहारमसृजत्प्रभुः ॥ ७३ ॥
येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाऽभवत् ।
दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ॥ ७४ ॥
विस्मिता साऽभवत्कन्या व्रीडिता च तपस्विनी ।

सत्यवत्युवाच—
विद्धि मां भगवन्कन्यां सदा पितृवशानुगाम्॥ ७५॥
त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममाऽनघ ।
कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम ॥ ७६ ॥
गृहं गन्तुमृषे चाऽहं धीमन्न स्थातुमुत्सहे ।
एतत्संचिन्त्य भगवन्विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ७७ ॥
एवमुक्तवतीं तां तु प्रीतिमानृषिसत्तमः ।
उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि॥ ७८॥
वृणीष्व च वरं भीरु यं त्वमिच्छसि भाविनि ।
वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते ॥ ७९ ॥
एवमुक्ता वरं वव्रे गात्रसौगन्ध्यमुत्तमम् ।
स चाऽस्यै भगवान्प्रादान्मनसः काङ्क्षितं भुवि॥८०॥

अतएव इसकालमें क्योंकर हमारा सङ्गम हो सकता है? मत्स्य-गन्धाकी ऐसी आपत्ति सुनकर प्रभु भगवान् पराशरने कोहरा रचा; तब सम्पूर्ण देश अन्धकारसे घिर गया। (६९–७४)

अनन्तर महर्षिके रचे हुए कोहरेको देखकर तपस्विनी कन्या आश्चर्य और लज्जायुक्त हुई। आगे सत्यवती बोली, "भगवन्! मैं पिताके वशमें रहनेवाली कन्या हूं; मेरा विवाह नहीं हुआ है! हे अनघ! आपसे मिलनेसे मेरे कन्याभाव में दोष पहुंचेगा। हे द्विजोत्तम! कन्याभावमें दोष पहुंचनेसे मैं क्योंकर घरको लौट जाऊंगी? हे धीमान् ऋषि! ऐसा होनेसे मैं घरमें नहीं रह सकूंगी! हे भगवान्! आप इसका विचारकर जो कुछ करना हो, कीजिये। कन्याके ऐसा कहने पर ऋषि प्रसन्न होकर बोले कि मेरेसे मिलनेसे तेरे कन्याभावमें दोष नहीं पहुंचेगा। हे भीरु! तेरी जो कुछ अभिलाषा हो, वर मांग। हे सुन्दरी, मृदु हासिनि! मेरी प्रसन्नता कभी निष्फल नहीं हुई। (७५–७९)

पराशरजीके यह बात कहने पर सत्य-

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता ।
जगाम सह संसर्गमृषिणाऽद्भुतकर्मणा ॥ ८१ ॥
तेन गन्धवतीत्येवं नामाऽस्याः प्रथितं भुवि ।
तस्यास्तु योजनाद्गन्धमाजिघ्रन्त नरा भुवि ॥ ८२ ॥
तस्या योजनगन्धेति ततो नामाऽपरं स्मृतम् ।
पराशरोऽपि भगवाञ्जगाम स्वं निवेशनम् ।
इति सत्यवती हृष्टा लब्ध्वा वरमनुत्तमम् ॥ ८३ ॥
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा ।
जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः स वीर्यवान् ॥ ८४ ॥
स मातरमनुज्ञाप्य तपस्येव मनो दधे ।
स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत् ॥ ८५ ॥
एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात् ।
न्यस्तो द्वीपे स यद्बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः ॥ ८६ ॥
पादापसारिणं धर्मं स तु विद्वान्युगे युगे ।
आयुः शक्तिं च मर्त्यानां युगावस्थामवेक्ष्य च ॥ ८७ ॥

गन्धाने अपने शरीरकी अच्छी गन्ध होनेकी प्रार्थना करी। मुनिने "तथास्तु" कहकर उस प्रार्थित वरको दिया। अनन्तर सत्यवती ऋषि के प्रभावसे ऋतुमती और प्रार्थित वरके पानेसे प्रसन्न होकर अद्भुत कार्यकुशल ऋषि पराशरसे सङ्गम किया। तबसे मत्स्यगन्धाका "गन्धवती" यह नाम धरतीमे प्रसिद्ध हुआ। मनुष्यलोग योजन भर दूरसे भी उसके शरीरकी गन्धको सूंघते थे; इसलिये उसका "योजनगन्धा" यह नाम भी प्रसिद्ध हुआ था। सत्यवतीने इस प्रकार से अच्छा वर पाकर आनन्दित चित्तसे पराशरका मनोरथ पूरा करके उसी दिन गर्भ धरकर प्रसव किया। इससे वीर्यवान् पाराशरने यमुनाद्वीपमे जन्म लिया। वह जन्म लेतेही माताकी आज्ञा से तपस्या करनेको दत्तचित्त हुए और उसको यह कहकर चले गये, कि जब प्रयोजन हो तब मुझे स्मरण करनेसे मै आ पहुंचगा। (८०-८५)

श्रीद्वैपायनजीने इस प्रकार पराशरके वीर्य और सत्यवतीके गर्भसे जन्म लिया था। उस बालकके द्वीपमे प्रसव किये जानेपर उसका नाम द्वैपायन हुआ। विद्वान् द्वैपायनने देखा, कि हर युगमे धर्मका एक एक पाद घट रहा है और युगानुसार मनुष्योंकी शक्ति और आयु

ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथाऽनुग्रहकाङ्क्षया ।
विव्यास वेदान्यस्मात्स तस्माद्व्यास इति स्मृतः ॥८८॥
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ॥८९॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च ।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥९०॥
तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः ।
वसुवीर्यात्समभवन्महावीर्यो महायशाः ॥९१॥
वेदार्थविच्च भगवानृषिर्विप्रो महायशाः ।
शूले प्रोतः पुराणर्षिरचौरश्चौरशङ्कया ॥९२॥
अणीमाण्डव्य इत्येव विख्यातः स महायशाः ।
स धर्ममाहूय पुरा महर्षिरिदमुक्तवान् ॥९३॥
इषीकया मया बाल्यादिद्धा ह्येका शकुन्तिका ।
तत्किल्बिषं स्मरे धर्म नाऽन्यत्पापमहं स्मरे ॥९४॥
तन्मे सहस्रममितं कस्मान्नेहाऽजयत्तपः ।
गरीयान्ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधाद्यतः ॥९५॥

क्षीण होती जाती है। तब उन्होंने वेदकी रक्षाके निमित्त ब्राह्मणो पर दया दिखाकर वेदका व्यास याने विभाग किया इस हेतु उन का नाम वेदव्यास हुआ। श्रेष्ठ वर देनेहारे प्रभु व्यासजीने शिष्य सुमन्तुको, जैमिनिको, पैलको और वैशम्पायनको तथा स्वपुत्र शुकदेवको महाभारतके साथ चारों वेद पढाये। उन सुमन्तु आदि शिष्योंमे से हरेकने महाभारतकी अलग अलग एक एक संहिता प्रकाश की। (८८-९०)

महावीर्य, महायशा, अपरिमित प्रकाशमान् शन्तनुपुत्र भीष्मजीने वसुओंके अंशसे गङ्गाजीके गर्भसे जन्म लिया था। प्रसिद्ध महायशा वेदार्थज्ञ पुराण ऋषि विप्र अणीमाण्डव्य चोरी न करने परभी झूटमूठ चोरीके कलङ्कमे शूलीपर चढाये गये थे ; इसहेतु उन्होंने धर्मको पुकार कर कहा, कि हे धर्म ! मैंने बालपनमें कुशके द्वारा पतिङ्गको बांधा था, स्मरण होता है कि जन्म भरमे इतनाही पाप किया है ; यह स्मरण होता नहीं, कि फिर कभी कोई और पाप किया हो ; पर जितना पाप हुआ है, उससे सहस्रगुणी अधिक तपस्या की है ; तथा इतने पर भी वह पाप क्षय नहीं हुआ ? क्योंकि सब

तस्मात्त्वं किल्बिषी धर्म शूद्रयोनौ जनिष्यसि।
तेन शापेन धर्मोऽपि शूद्रयोनावजायत ॥९६॥
विद्वान्विदुररूपेण धार्मी तनुरकिल्बिषी।
सञ्जयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ॥९७॥
सूर्याच्च कुन्तिकन्यायां जज्ञे कर्णो महाबलः।
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ॥९८॥
अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः।
वसुदेवात्तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ॥९९॥
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ॥१००॥
आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम्।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम् ॥१०१॥
अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम्।
धातारमजमव्यक्तं यमाहुः परमव्ययम् ॥१०२॥
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम्।
पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूतपितामहः ॥१०३॥
धर्मसंवर्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु।

जीवोंको पीडा देनेकी अपेक्षा ब्राह्मण-पीडनका पाप अधिक होता है, अतएव तुम ब्राह्मणपीडनके पापसे पापी होनेके कारण शूद्रयोनिमें जन्म लोगे।(९१-९६)

धर्मने उस शापसे शूद्रयोनिमें विद्वान धार्मिक और पाप वर्जित विदुरके स्वरूपसे जन्म लिया था। मुनिकल्प सूत सञ्जयने गवल्गणसे जन्म लिया था। कवच-कुण्डल धारी प्रसन्न मुख महाबली कर्णने कुन्तीकी कन्यादशामें उसके गर्भ और सूर्यके वीर्यसे जन्म लिया था। अनादि, अनन्त, जगत्कर्ता, जगत्प्रभु, लोकोंके नमस्कारयोग्य, महायशस्वी भगवान विष्णुने लोकोंपर दया दिखाकर वसुदेवके वीर्य और देवकीके गर्भमें जन्म लिया था। पण्डितलोग जिनको अव्यक्त, नित्य, ब्रह्म, प्रकृति, त्रिगुणात्मक, आत्मा, अव्यय, प्रधान, जगत्कारण विभु, पुरुष, विश्वकर्मा सत्यगुणाश्रय प्रणवस्वरूप, अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण-प्रभु, धाता, अजर, दिव्य, श्रेष्ठ, अविनश्वर, कैवल्य, निर्गुण, अपरिच्छिन्न, कारण-विहीन और जन्म मृत्यु-वर्जित कहा करते हैं, उन सब भूतोंके पितामह जगत्कर्ता

अस्त्रज्ञौ तु महावीर्यौ सर्वशास्त्रविशारदौ ॥ १०४ ॥
सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ ।
सत्यकाद्धृदिकाच्चैव जज्ञातेऽस्त्रविशारदौ ॥ १०५ ॥
भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत ।
महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद् द्रोणो व्यजायत ॥ १०६ ॥
गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्बाच्छरद्वतः ।
अश्वत्थाम्नश्च जननी कृपश्चैव महाबलः ॥ १०७ ॥
अश्वत्थामा ततो जज्ञे द्रोणादेव महाबलः ।
तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ॥ १०८ ॥
वैताने कर्मणि तते पावकात्समजायत ।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुरादाय वीर्यवान् ॥ १०९ ॥
तत्रैव वेद्यां कृष्णाऽपि जज्ञे तेजस्विनी शुभा ।
विभ्राजमाना वपुषा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ ११० ॥
प्रह्रादशिष्यो नग्नजित्सुबलश्चाऽभवत्ततः ।
तस्य प्रजा धर्महन्त्री जज्ञे देवप्रकोपनात् ॥ १११ ॥
गान्धारराजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौबलस्तथा ।
दुर्योधनस्य जननी जज्ञातेऽर्थविशारदौ ॥ ११२ ॥

विष्णु पुरुषने धर्मवृद्धिके निमित्त अंधक वृष्णिवंशमें जन्म लिया था। (९६-१०४)

अस्त्रज्ञ, महावीर्य, सर्वशास्त्रज्ञ, अस्त्र चलानेमें सुदक्ष, नारायणकी भक्तियुक्त सात्यकि और कृतवर्माने सत्यक और हृदिकसे जन्म लिया था। कठोर तपयुक्त महर्षिभरद्वाजका वीर्य द्रोणी अर्थात् गिरि-कन्दरामें गिरकर और वृद्धि पाकर द्रोणाचार्य का जन्म हुआ। गौतमजीका वीर्य सरकण्डेके गोछपर गिरकर दो भागोंमें बट जानेके कारण उससे अश्वत्थामाकी माता कृपी और महाबली कृपने जन्म लिया। अनन्तर द्रोणाचार्यके वीर्य से महाबली अश्वत्थामाका जन्म हुआ। साक्षात् अग्निकी भांति तेजोवीर्यवान् वीर धृष्टद्युम्नने यज्ञके समय अग्निसे द्रोणको नष्ट करनेके निमित्त चापसहित जन्म लिया। और उस यज्ञकी वेदी पर तेजस्विनी, शुभलक्षणा, प्रज्वलित देहधारिणी, अनुपम रूपवती, कृष्णाका जन्म हुआ। (१०४-११०)

और प्रह्लादके शिष्य नग्नजित और सुबलने जन्म लिया। इसी वंशमें सुबल का पुत्र धर्मविनाशक [illegible] हुआ। उस गान्धारराज सुबलसे अर्थशास्त्र

कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्चैव महाबलः ॥ ११३ ॥
धर्मार्थकुशलो धीमान्मेधावी धूतकल्मषः ।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥ ११४ ॥
पाण्डोश्च जज्ञिरे पञ्च पुत्रा देवसमाः पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद्युधिष्ठिरः ॥ ११५ ॥
धर्माद्युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः ।
इन्द्राद्धनञ्जयः श्रीमान्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ११६ ॥
जज्ञाते रूपसंपन्नावश्विभ्यां च यमावपि ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥ ११७ ॥
तथा पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
दुर्योधनप्रभृतयो युयुत्सुः करणस्तथा ॥ ११८ ॥
तथा दुःशासनश्चैव दुःसहश्चाऽपि भारत ।
दुर्मर्षणो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ॥ ११९ ॥
जयः सत्यव्रतश्चैव पुरुमित्रश्च भारत ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च एकादश महारथाः ॥ १२० ॥
अभिमन्युः सुभद्रायामर्जुनादभ्यजायत ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य पौत्रः पाण्डोर्महात्मनः ॥ १२१ ॥

शकुनि और दुर्योधनकी माता गान्धारीका जन्म हुआ। कृष्णद्वैपायनके वीर्य और विचित्रवीर्यकी स्त्रीके गर्भमे राजा धृतराष्ट्र और महाबली पाण्डु उत्पन्न हुए, और उन्ही द्वैपायनसे धर्मयुक्त श्रीमान् मेधावी, पापकी छूतसे रहित विदुरने शूद्र योनिमें जन्म लिया। पाण्डुकी दो राणियोमे देवतान् पाच पाण्डवोंका जन्म हुआ। उनमेंसे युधिष्ठिर सर्वगुणयुक्त और बडे थे, उन्हों ने धर्मके वीर्य से जन्म लिया था। वायु से वृकोदर, इन्द्रसे श्रीमान् सर्वशास्त्रधारी श्रेष्ठ धनञ्जय और दोनो अश्विनीकुमारों से रूपवान् नकुल और सहदेवने जन्म लिया। श्रीमान् धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र और वैश्यागर्भसे जन्मा हुआ युयुत्सु नामक एक पुत्र हुआ। ११३-११८

हे भारत! जिनमेंसे दुःशासन, दुर्योधन, दुःसह दुर्मर्षण, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति जय, सत्यव्रत, पुरुमित्र तथा वैश्यापुत्र युयुत्सु यह ग्यारह महारथी थे। महात्मा पाण्डुके पोते, श्रीकृष्णके भाञ्जे अभिमन्युने अर्जुनके वीर्य और सुभद्राके गर्भसे जन्म

पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ १२२ ॥
प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात्सुतसोमो वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्त्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः १२३॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान् ।
हिडिम्बायां च भीमेन वने जज्ञे घटोत्कचः ॥ १२४ ॥
शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता ।
यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया ॥ १२५ ॥
कुरूणां विग्रहे तस्मिन्समागच्छन्बहून्यथ ।
राज्ञां शतसहस्राणि योत्स्यमानानि संयुगे ॥ १२६ ॥
तेषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः ।
न शक्यानि समाख्यातुं वर्षाणामयुतैरपि ॥ १२७ ॥
एते तु कीर्तिता मुख्या यैराख्यानमिदं ततम् ॥१२८॥ [२५०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आदिपर्वणि अंशावतारण-
पर्वणि व्यासाद्युत्पत्तौ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

जनमेजयउवाच— य एते कीर्तिता ब्रह्मन्ये चान्ये नानुकीर्तिताः।
सम्यक्ताञ्छ्रोतुमिच्छामि राज्ञश्चान्यान्सहस्रशः ?

लिया। पांच पाण्डवोंके वीर्य और द्रौपदी के गर्भसे सर्वशास्त्रोंमें निपुण, रूपवान् पांच कुमार उत्पन्न हुए : उनमेंसे युधिष्ठिर के पुत्र प्रतिविन्ध्य, वृकोदरके पुत्र सुत-सोम,अर्जुनके पुत्र श्रुतकीर्त्ति,नकुलके पुत्र शतानीक और सहदेवके पुत्र प्रतापी श्रुत-सेन है। इनके सिवाय वृकोदरसे वनमें हिडिम्बा गर्भसे घटोत्कच नामक एक पुत्र हुआ था। शिखण्डीने द्रुपदसे जन्म लिया था.उसने कन्या होकरके पुत्रत्व प्राप्त किया था। स्थूण नामक यक्षने प्रिय साधन की इच्छासे उसको पुरुष बनाया था।

कुरुपाण्डवोंके युद्धके कालमें युद्ध करनेके निमित्त सैकडों सहस्रों नृप एकत्र हुए थे। दश सहस्र वर्षोंमें भी उन अगणित राजा ओंके नाम निश्चय नहीं किये जा सकते. पर जिन प्रधान प्रधान राजाओंसे यह कथा पूर्ण हुई है, केवल उनहीका नाम कहे गये। १२२–१२८ [२५०१]

आदिपर्वमें त्रिसठवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें चौसठवां अध्याय।

जनमेजय बोले कि हे ब्रह्मन्! जिन राजा ओंके नाम आपने यह सुनाये, और जिनके नाम नहीं लिये उन देवतुल्य महाराजों

यदर्थमिह संभूता देवकल्पा महारथाः ।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच— रहस्यं खल्विदं ब्रह्मन्देवानामिति नः श्रुतम्।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ॥ ३ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥ ४ ॥
तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति।
ब्राह्मणान्क्षत्रिया राजन्सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः॥५॥
ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः संशितव्रताः।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नाऽनृतौ तथा ॥ ६ ॥
तेभ्यश्च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः।
ततः सुषुविरे राजन्क्षत्रियान्वीर्यवत्तरान् ॥ ७ ॥
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये।
एवं तद्ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ॥ ८ ॥
जातं वृद्धं च धर्मेण सुदीर्घेणाऽऽयुषाऽन्वितम्।
चत्वारोऽपि ततो वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः ॥ ९ ॥

महानुभावोंने जिस कारण भूमण्डलमें जन्म लिया था, वह मैं सुनना चाहता हूं; हे महाभाग! आप पूरा वर्णन कीजिये! श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजन्! सुनचुका हूं, कि जो विषय पूछते हैं, वह देवोंका रहस्य है, हम हालमें स्वयंभूके पांव छूकर आपके पास वह देवरहस्य प्रकाश करते हैं। (१-३)

पूर्वकालमें जामदग्न्य इस भूमण्डलको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे खाली कर महेन्द्र पर्वतपर तप करने लगे। हे राजन्! जब पृथ्वी जामदग्न्य भार्गवके द्वारा क्षत्रियोंसे खाली हुई, तब क्षत्रियोंकी स्त्रियां ब्राह्मणोंकी उपासना करने लगीं। हे नरव्याघ्र! व्रतशील ब्राह्मणलोग ऋतुकालमें उन क्षत्राणियोंके पास गमन करने लगे, ऋतुकालके सिवाय किसी दूसरे समयमें कामवश हो करके नहीं जाते थे। राजन्! सहस्रों क्षत्रियोंकी रानियां ब्राह्मणोंसे गर्भधारण कर क्षत्रियोंके वंश बढानेके निमित्त फिर महावीर्यवान् कुमार और कुमारी प्रसव करने लगीं; इस प्रकार क्षत्रियोंने अच्छे अच्छे तपस्वी ब्राह्मणोंके वीर्य और क्षत्राणियोंके गर्भमें जन्म लेकर दीर्घायु प्राप्तकर धर्मानुष्ठान करके वृद्धि पायी थी, इससे फिर ब्राह्म-

अभ्यगच्छन्नृतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा।
तथैवाऽन्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि॥ १० ॥
ऋतौ दारांश्च गच्छन्ति तत्तदा भरतर्षभ ।
ततोऽवर्धन्त धर्मेण सहस्रशतजीविनः ॥ ११ ॥
ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः॥ १२॥
अथेमां सागरापाङ्गां गां गजेन्द्रगताऽखिलाम्।
अध्यतिष्ठत्पुनः क्षत्रं सशैलवनपत्तनाम् ॥ १३ ॥
प्रशासति पुनः क्षत्रे धर्मेणेमां वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणाद्यास्ततो वर्णा लेभिरे मुदमुत्तमाम्॥ १४ ॥
कामक्रोधोद्भवान्दोषान्निरस्य च नराधिपाः ।
धर्मेण दण्डं दण्ड्येषु प्रणयन्तोऽन्वपालयन्॥ १५ ॥
तथा धर्मपरे क्षत्रे सहस्राक्षः शतक्रतुः ।
स्वादु देशे च काले च वर्षेणाऽपालयत्प्रजाः॥ १६ ॥
न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
न च स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ॥ १७ ॥

णादि चार वर्ण पूर्ण हुए ।(४–९) पहाड़ नगर और [illegible] धर्मपूर्वक

एवमायुष्मतीभिस्तु प्रजाभिर्भरतर्षभ ।
इयं सागरपर्यन्ता समापूर्यत मेदिनी ॥ १८ ॥
ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः ।
साङ्गोपनिषदान्वेदान्विप्राश्चाऽधीयते तदा ॥ १९ ॥
न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश्च तदा नृप ।
न च शूद्रसमाभ्याशे वेदानुच्चारयन्त्युत ॥ २० ॥
कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाङ्गांश्चाऽप्यजीवयन् ॥ २१ ॥
फेनपांश्च तथा वत्सान्न दुहन्ति स्म मानवाः ।
न कूटमानैर्वणिजः पण्यं विक्रीणते तदा ॥ २२ ॥
कर्माणि च नरव्याघ्र धर्मोपेतानि मानवाः ।
धर्ममेवाऽनुपश्यन्तश्चक्रुर्धर्मपरायणाः ॥ २३ ॥
स्वकर्मनिरताश्चाऽऽसन्सर्वे वर्णा नराधिप ।
एवं तदा नरव्याघ्र धर्मो न ह्रसते क्वचित् ॥ २४ ॥
काले गावः प्रसूयन्ते नार्यश्च भरतर्षभ ।
भवन्त्यृतुषु वृक्षाणां पुष्पाणि च फलानि च ॥ २५ ॥

कोई बालेपनमें, अकालमें कालवश नहीं मरता था और यौवन दशाको न प्राप्त करने पर कोई विवाह नहीं करता था। हे भरतकुलतिलक! ऐसी आयुयुक्त प्रजासे समुद्रतक धरती पूरित हुई। क्षत्रियलोग अनेक दक्षिणा देकर बडे बडे यज्ञोंका अनुष्ठान करने लगे। ब्राह्मणलोग शिक्षा कल्प व्याकरणादि अङ्ग और उपनिषत् सहित वेदोंको पढने लगे; उन दिनों वे वेदोंको नहीं बेचते थे और शूद्रोंके सामने वेदके मन्त्र नहीं उचारते थे, पतले और दुबले बैलोंको बोझा ढोनेमें नहीं लगाते थे और उनको यत्नसे पालन करते थे। (१६–२१)

उन दिनों कोई मनुष्य थोडी अवस्थाके बछडेवाली गायको दूहते नहीं थे और वणिकलोग कुटिल तौलसे ठगकर बिक्रीकी वस्तुओंको नहीं बेचते थे। हे नरव्याघ्र! उन दिनों सब जन धार्मिक होकर धर्ममार्गकी ओर दृष्टि रखकर धर्मके कर्मोंको करते थे। हे नरेश! उन दिनों चारों वर्ण निज निज धर्ममें लगे रहते थे; किसी स्थानमें धर्मकी घटी नहीं थी। हे भरतवंशश्रेष्ठ! उस कालमें गौ और नारी उचित समयमें प्रसव करती थीं, ऋतुओंके अनुसार वृक्षके फूल और

एवं कृतयुगे सम्यग्वर्तमाने तदा नृप ।
आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभिर्भृशम् ॥ २६ ॥
एवं समुदिते लोके मानुषे भरतर्षभ ।
असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञां तु मनुजेश्वर ॥ २७ ॥
आदित्यैर्हि तदा दैत्या बहुशो निर्जिता युधि ।
ऐश्वर्याद्भ्रंशिताः स्वर्गात्संबभूवुः क्षिताविह ॥ २८ ॥
इह देवत्वमिच्छन्तो मानुषेषु मनस्विनः ।
जज्ञिरे भुवि भूतेषु तेषु तेष्वसुरा विभो ॥ २९ ॥
गोष्वश्वेषु च राजेन्द्र खरोष्ट्रमहिषेषु च ।
क्रव्यात्सु चैव भूतेषु गजेषु च मृगेषु च ॥ ३० ॥
जातैरिह महीपाल जायमानैश्च तैर्मही ।
न शशाकाऽऽत्मनाऽऽत्मानमियं धारयितुं धरा ॥ ३१ ॥
अथ जाता महीपालाः केचिद्बहुमदान्विताः ।
दितेः पुत्रा दनोश्चैव तदा लोक इहाच्युताः ॥ ३२ ॥
वीर्यवन्तोऽवलिप्तास्ते नानारूपधरा महीम् ।
इमां सागरपर्यन्तां परीयुररिमर्दनाः ॥ ३३ ॥
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्याञ्छूद्रांश्चैवाऽप्यपीडयन् ।
अन्यानि चैव सत्त्वानि पीडयामासुरोजसा ॥ ३४ ॥

फल फलते फूलते थे। हे पृथ्वीनाथ! तब इस प्रकार सत्ययुग प्रवर्तित होने पर सम्पूर्ण पृथ्वी अगणित जीवोंसे पूरित हुई। २२-२६

हे भरतवंशके प्रधान महाराज! जब मर्त्यलोक ऐसा आनन्द धाम बन गया, तब राजाओंके क्षेत्रोंमें असुरलोग जन्म लेने लगे। वे युद्धमें देवोंसे बार बार हारकर ऐश्वर्य और स्वर्गसे निकाले जानेपर भूतलमें जन्म लेने लगे। हे राजेन्द्र! मनस्वी असुर लोग भूलोकमें देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छापर गौ, घोड़े, ऊंट गदहे, भैंसे, क्रव्याद, हाथी, मृगादि अनेक जीवों मे उत्पन्न होने लगे। हे महीपाल! इस प्रकार दिति और दनुके पुत्रोंमेंसे कुछने जन्म लिया, कुछ जन्म लेने लगे, इससे धरनी भारयुक्त होकर आपहीको भी सम्हालनेके योग्य न रही। २७-३१

अनन्तर उनमेंसे अति अहङ्कारी, बलवान छोटे छोटे दैत्य और दानव मानवकुलमें जन्म लेकर महीपाल बने। वह वीरवर इस सागरपूर्ण वसुमती-हारे अगणित दैत्य-दानव अनेक स्वरूप धारण

त्रासयन्तो विनिघ्नन्तः सर्वभूतगणांश्च ते ।
विचेरुः सर्वशो राजन्महीं शतसहस्रशः ॥ ३५ ॥
आश्रमस्थान्महर्षींश्च धर्षयन्तस्ततस्ततः ।
अब्रह्मण्या वीर्यमदा मत्ता मदबलेन च ॥ ३६ ॥
एवं वीर्यबलोत्सिक्तैर्भूरियत्नैर्महासुरैः ।
पीड्यमाना मही राजन्ब्रह्माणमुपचक्रमे ॥ ३७ ॥
न ह्यमी भूतसत्त्वौघाः पन्नगाः सनगां महीम्।
तदा धारयितुं शेकुः संक्रान्तां दानवैर्बलात्॥ ३८ ॥
ततो मही महीपाल भारार्ता भयपीडिता ।
जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् ॥ ३९ ॥
सा संवृतं महाभागैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
ददर्श देवं ब्रह्माणं लोककर्तारमव्ययम् ॥ ४० ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवकर्मसु निष्ठितैः ।
वन्द्यमानं मुदोपेतैर्ववन्दे चैनमेत्य सा ॥ ४१ ॥
अथ विज्ञापयामास भूमिस्तं शरणार्थिनी ।
सन्निधौ लोकपालानां सर्वेषामेव भारत ॥ ४२ ॥

कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और दूसरे जीवों को सताने लगे ! हे राजन् वे बलगर्वित वीर्यके अहङ्कारसे उन्मत्त और वधके अयोग्य होकर सम्पूर्ण सत्त्व गुणियोंको भय दिखा वा नष्ट कर और आश्रमके महर्षियोंका अपमानकर सर्वत्र विचरने लगे। (३५–३६)

हे राजन् ! इस प्रकार बलवीर्यके अहङ्कारसे उन्मत्त बडे बडे असुरोंसे सताई जाकर धरती ब्रह्माजीके पास गयी, क्योंकि उस कालमें जब धरती दानवोंसे बल पूर्वक जकडी गयी थी, तब शेषनाग दिग्गज तथा कूर्मादियोंमेंसे कोई भी उसको धरे रहनेको समर्थ नहीं था। हे महीपाल ! इसी हेतु भारयुक्त और भयसे कातर होकर पृथ्वीने सब भूतोंके पितामह ब्रह्माजीकी शरण ली। आगे उसने वहां उपस्थित होकर महाभाग देवता, द्विज और महर्षियोंसे घिरे हुए, देव-कार्यमें नियुक्त, हर्षभरे गन्धर्व तथा अप्सराओंसे स्तुति किये जाते हुए तीनों लोकोंके प्रभु, अव्यय, देव ब्रह्माजीका दर्शनकर उनकी उपासना की। (३७–४१)

हे भारत ! अनन्तर पृथ्वीने शरण लेनेकी लालसासे सम्पूर्ण लोकपालोंके सामने उनसे सब वृत्तान्त कह सुनाया।

तत्प्रधानात्मनस्तस्य भूमेः कृत्यं स्वयंभुवः ।
पूर्वमेवाऽभवद्राजन्विदितं परमेष्ठिनः ॥ ४३ ॥
स्रष्टा हि जगतः कस्मान्न संबुध्येत भारत ।
ससुरासुरलोकानामशेषेण मनोगतम् ॥ ४४ ॥
तामुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिः प्रभुः ।
प्रभवः सर्वभूतानामीशः शंभुः प्रजापतिः ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोवाच — यदर्थमभिसंप्राप्ता मत्सकाशं वसुंधरे ।
तदर्थं संनियोक्ष्यामि सर्वानेव दिवौकसः ॥ ४६ ॥

वैशंपायन उवाच — इत्युक्त्वा स महीं देवो ब्रह्मा राजन्विसृज्य च ।
आदिदेश तदा सर्वान्विबुधान्भूतकृत्स्वयम् ॥ ४७ ॥
अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक्पृथक् ।
अस्यामेव प्रसूयध्वं विरोधायेति चाऽब्रवीत् ॥ ४८ ॥
तथैव च समानीय गन्धर्वाप्सरसां गणान् ।
उवाच भगवान्सर्वानिदं वचनमुत्तमम् ॥ ४९ ॥

ब्रह्मोवाच — स्वैः स्वैरंशैः प्रसूयध्वं यथेष्टं मानुषेषु च ।
अथ शक्रादयः सर्वे श्रुत्वा सुरगुरोर्वचः ।
तथ्यमर्थ्यं च पथ्यं च तस्य ते जगृहुस्तदा ॥ ५० ॥
अथ ते सर्वशोऽशैः स्वर्गन्तुं भूमिं कृतक्षणाः ।

हे राजन्! सबोंके प्रधान स्वयम्भू परमेष्ठी पहिलेसे पृथ्वीका अभिप्राय जानते थे, क्योंकि जो जगत्के सृष्टि-कर्ता है, वह सुरासुरादि सम्पूर्ण लोकोंके चित्तके भावोंसे क्यों न विदित रहेंगे! हे महाराज! सर्व भूतोंके सृष्टिकर्त्ता, नियन्ता और मङ्गल करनेवाले प्रभु प्रजापति पृथ्वीसे बोले, वसुन्धरे! तुम जिस लिये मेरे पास आयी हो, उस कार्यके पूरा करनेके निमित्त मै सम्पूर्ण देवोंको नियुक्त करूंगा। ४२-४६

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! सृष्टिकर्त्ता देव ब्रह्माने इस वाक्यसे धरतीको ढाढस देकर बिदा किया। आगे सब देवोंको आज्ञा दी, कि तुम पृथ्वीके भारको दूर करनेके निमित्त अपने अपने अंशोंसे इस मर्त्यलोक हीमें उतरकर विरोध मचाओ और गन्धर्व तथा अप्सराओंको बुलाकर उनसे ऐसेही अर्थ-भरे हित वचनोंसे कहा, कि तुम अपने अपने अंशोंसे मनुष्यलोकमें जन्म लो। अनन्तर इन्द्रादि देवताने उन देवगुरु उस सत्यार्थयुक्त अति उत्तम वचनको

नारायणमामित्रघ्नं वैकुण्ठमुपचक्रमु ॥ ५१ ॥
यः स चक्रगदापाणिः पीतवासाः शितप्रभः।
पद्मनाभः सुरारिघ्नः पृथुवक्षाश्रितेक्षणः ॥ ५२ ॥
प्रजापतिपतिर्देवः सुरनाथो महाबलः ।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः ॥ ५३ ॥
तं भुवः शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम् ।
अंशेनाऽवतरेत्येवं तथेत्याह च तं हरिः ॥ ५४ ॥ (२५५५)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यंशावतारपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ समाप्तमंशावतरणपर्व। अथसम्भवपर्व।

वैशम्पायन उवाच—अथ नारायणेनेन्द्रश्चकार सह संविदम् ।
अवतर्तुं महीं स्वर्गादंशतः सहितः सुरैः ॥ १ ॥
आदिश्य च स्वयं शक्रः सर्वानेव दिवौकसः ।
निर्जगाम पुनस्तस्मात्क्षयान्नारायणस्य ह ॥ २ ॥
तेऽमरारिविनाशाय सर्वलोकहिताय च ।
अवतेरुः क्रमेणैव महीं स्वर्गाद्दिवौकसः ॥ ३ ॥
ततो ब्रह्मर्षिवंशेषु पार्थिवर्षिकुलेषु च ।
जज्ञिरे राजशार्दूल यथाकामं दिवौकसः ॥ ४ ॥

सुनकर मान लिया। आगे वे अपने अपने अंशसे पृथ्वीमें जन्म लेना निश्चयकर वैकुण्ठनिवासी शत्रुमथने हरि मधुसूदनके पास गये। (४७–५१)

जो गदा-चक्रधारे पीतचीर पहिरे, नये नीलबादलकी द्युतिसे घिरे, पद्मनाभिसे सुहारे, दैत्यमर्दन कमलनयन प्रजापति-पति, सुरनाथ, महाबली, श्रीवत्साङ्क हृषीकेश तथा सर्वदेवोंके पूजित करके प्रसिद्ध है, उन पुरुषोत्तमसे इन्द्रजीने पृथ्वीके निमित्त कहा, कि आप अपने अंशसे भूमण्डलमें अवतीर्ण होवें; हरिने भी "तथास्तु" कहके मान लिया। (५२–५४) [२५५५]

आदिपर्वमें अंशावतरण पर्व और चौंसठवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें पैंसठवां अध्याय। सम्भव पर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर इन्द्रने नारायणजीके सम्मुख सब देवोंके सहित स्वर्गसे अपने अंशसे भूमण्डलमें अवतीर्ण होनेकी प्रतिज्ञा करी; आगे सब देवोंको आज्ञा देकर नारायणजीके मन्दिरसे लौट गये। सुरगण असुरोंके नाश और सब लोगोंके हितके निमित्त क्रमा-

दानवान्राक्षसांश्चैव गन्धर्वान्पन्नगांस्तथा ।
पुरुषादानि चाऽन्यानि जघ्नुः सत्त्वान्यनेकशः ॥ ५ ॥
दानवा राक्षसाश्चैव गन्धर्वाः पन्नगास्तथा ।
न तान्बलस्थान्बाल्येऽपि जघ्नुर्भरतसत्तम ॥ ६ ॥
जनमेजय उवाच—देवदानवसङ्घानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
मानवानां च सर्वेषां तथा वै यक्षरक्षसाम् ॥ ७ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन संभवं कृत्स्नमादितः ।
प्राणिनां चैव सर्वेषां संभवं वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच—हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयंभुवे ।
सुरादीनामहं सम्यग्लोकानां प्रभवाप्ययम् ॥ ९ ॥
ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ १० ॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः ।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥ ११ ॥
अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका तथा ।
क्रोधा प्राधा च विश्वा च विनता कपिला मुनिः ॥ १२ ॥

तुसार स्वर्गसे पृथ्वीमें अवतीर्ण होने लगे। हे राजसिंह! उन्होंने इच्छानुसार ब्रह्मर्षि और राजर्षियोंके वंशोंमें जन्म लिया और दानव, राक्षस, गन्धर्व, पन्नग आदि तथा दूसरे भांति भांतिके अगणित जन्तुओं को नष्ट करने लगे। (१-५

हे भरतवंश श्रेष्ठ! वे ऐसे बलवन्त हुए थे, कि दानव, राक्षस, गन्धर्व, वा पन्नगगण उनको बालपनमें भी कोई हानि नहीं पहुंचा सकते थे। जनमेजयने कहा कि मुझे पूर्ण रीतिसे यह सुननेकी इच्छा है, कि देव, दानव, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष राक्षस और सम्पूर्ण मनुष्य तथा दूसरे सब जीव क्योंकर उत्पन्न हुए थे; आप आद्योपान्त सम्पूर्ण कहें। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि मैं स्वयम्भूको प्रणाम करके देवता और दूसरे जीवोंकी उत्पत्ति और प्रलयको वर्णन करता हूं। ६ ९

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु यह छः प्रसिद्ध महर्षि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। कश्यपजी मरीचि के पुत्र हैं और उन कश्यपसे ही ये सब प्रजा पैदा हुई। प्रजापति दक्षके अति भाग्यवती तेरह कन्या उत्पन्न हुई थीं उनके नाम अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा,

कद्रूश्च मनुजव्याघ्र दक्षकन्यैव भारत ।
एतासां वीर्यसम्पन्नं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ १३ ॥
अदित्यां द्वादशादित्याः संभूता भुवनेश्वराः।
ये राजन्नामतस्तांस्ते कीर्तयिष्यामि भारत ॥ १४ ॥
धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च।
भगो विवस्वान्पूषा च सविता दशमस्तथा ॥ १५ ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः॥ १६ ॥
एक एव दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
नाम्ना ख्यातास्तु तस्येमे पञ्च पुत्रा महात्मनः ॥ १७॥
प्रह्लादः पूर्वजस्तेषां संह्लादस्तदनन्तरम् ।
अनुह्लादस्तृतीयोऽभूत्तस्माच्च शिविबाष्कलौ ॥ १८ ॥
प्रह्लादस्य त्रयः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।
विरोचनश्च कुम्भश्च निकुम्भश्चेति भारत ॥ १९ ॥
विरोचनस्य पुत्रोऽभूद्बलिरेकः प्रतापवान् ।
बलेश्च प्रथितः पुत्रो बाणो नाम महासुरः ॥ २० ॥
रुद्रस्याऽनुचरः श्रीमान्महाकालेति यं विदुः ।
चत्वारिंशद्दनोः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ॥ २१ ॥

विनता, कपिला, मुनि और कद्रू है। यह कश्यपकी स्त्री थी। हे मनुष्यव्याघ्र! इनके अनन्त वीर्यवान अगणित पुत्र पौत्र उत्पन्न हुए थे। (१०—१३)

अदितिके गर्भमें भुवनेश द्वादश पुत्रों ने जन्म लिया है। हे राजन्! उनमेंसे प्रत्येकके नाम कहता हूं; यथा धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु। इन बारह पुत्रोंमेंसे सबसे छोटे सबोंमें गुणवान है। दितिका एक पुत्र, उसका नाम हिरण्यकशिपु था। महात्मा हिरण्यकशिपु के पांच पुत्र हुए थे; उनमें प्रह्लाद सबों से बडा, संह्लाद दूसरा, अनुह्लाद तीसरा, शिवि चौथा और बाष्कल पांचवां था। हे भारत! प्रह्लादके सर्वत्र प्रसिद्ध तीन पुत्र थे; उनके नाम विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ थे। १४-१९

विरोचनसे बलि नामक एक प्रतापी पुत्रका जन्म हुआ था; बलिके बाण नामक एक प्रख्यात महावीर पुत्र उत्पन्न हुआ; वह श्रीमान महाकाल नामसे प्रसिद्ध होकर

तेषां प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशाः ।
शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ॥ २२ ॥
असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः ।
अयःशिरा अश्वशिरा अश्वशंकुश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
तथा गगनमूर्धा च वेगवान्केतुमांश्च सः ।
स्वर्भानुरश्वोऽश्वपतिर्वृषपर्वाऽजकस्तथा ॥ २४ ॥
अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महाबलः ।
इषुपादेकचक्रश्च विरूपाक्षमहोदरौ ॥ २५ ॥
निचन्द्रश्च निकुम्भश्च कुपटः कपटस्तथा ।
शरभः शलभश्चैव सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥ २६ ॥
एते ख्याता दनोर्वंशे दानवाः परिकीर्तिताः ॥ २७ ॥
अन्यौ तु खलु देवानां सूर्याचन्द्रमसौ स्मृतौ ।
अन्यौ दानवमुख्यानां सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥ २८ ॥
इमे च वंशाः प्रथिताः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
दनुपुत्रा महाराज दश दानववंशजाः ॥ २९ ॥
एकाक्षो मृतपा वीरः प्रलम्बनरकावपि ।
वातापी शत्रुतपन शठश्चैव महासुरः ॥ ३० ॥
गविष्ठश्च वनायुश्च दीर्घजिह्वश्च दानवः ।

रुद्रदेवका साथी बना है। हे भारत! दनु नाम्नी दक्षपुत्रीने तीनों लोकमें प्रसिद्ध चालीस पुत्र प्रसव किये थे; उनमेंसे विप्रचित्ति नामक अति यशस्वी बडे पुत्र राजा हुए थे। शम्बर, नमुचि, पुलोमा असिलोमा, केशी, दुर्जय, अयःशिरा अश्वशिरा, वीर्यवान् अश्वशंकु, गगनमूर्धा, वेगवान, केतुमान्, स्वर्भानु, अश्व, अश्वपति, वृषपर्वा, अजक, अश्वग्रीव, सूक्ष्म, महाबली तुहुण्ड, इषुपाद एकचक्र, विरूपाक्ष, महोदर, निचन्द्र निकुम्भ, कुपट, कपट, शरभ शलभ, सूर्य और चन्द्र, यह सब दानव दनुवंशमें उत्पन्न हुए थे। देवोंमें गिने जाते हुए सूर्य और चन्द्र उक्त दनुवंशी सूर्य और चन्द्रसे भिन्न हैं। २० -२८

दनुवंशमें ये तीन दानव प्रसिद्ध थे और उस वंशमें महाबली पराक्रमी इतर दश अन्यान्य दानवोंने जन्म लिया था, उनके नाम एकाक्ष, सुतप, वीर, प्रलम्ब नरक, वातापी, शत्रुतपन, महासुर, शठ, गविष्ठ, वनायु और दीर्घजिह्व थे।

असंख्येयाः स्मृतास्तेषां पुत्राः पौत्राश्च भारत ॥ ३१ ॥
सिंहिका सुषुवे पुत्रं राहुं चन्द्रार्कमर्दनम् ।
सुचन्द्रं चन्द्रहर्तारं तथा चन्द्रप्रमर्दनम् ॥ ३२ ॥
क्रूरस्वभावं क्रूरायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम् ।
गणः क्रोधवशो नाम क्रूरकर्माऽरिमर्दनः ॥ ३३ ॥
दनायुषः पुनः पुत्राश्चत्वारोऽसुरपुङ्गवाः ।
विक्षरो बलवीरौ च वृत्रश्चैव महासुरः ॥ ३४ ॥
कालायाः प्रथिताः पुत्राः कालकल्पाः प्रहारिणः ।
प्रविख्याता महावीर्या दानवेषु परंतपाः ॥ ३५ ॥
विनाशनश्च क्रोधश्च क्रोधहन्ता तथैव च ।
क्रोधशत्रुस्तथैवाऽन्ये कालकेया इति श्रुताः ॥ ३६ ॥
असुराणामुपाध्यायः शुक्रस्त्वृषिसुतोऽभवत् ।
ख्याताश्चोशनसः पुत्राश्चत्वारोऽसुरयाजकाः ॥ ३७ ॥
त्वष्टाधरस्तथाऽत्रिश्च द्वावन्यौ रौद्रकर्मिणौ ।
तेजसा सूर्यसंकाशा ब्रह्मलोकपरायणाः ॥ ३८ ॥
इत्येष वंशप्रभवः कथितस्ते तरस्विनाम् ।
असुराणां सुराणां च पुराणे संश्रुतो मया ॥ ३९ ॥
एतेषां यदपत्यं तु न शक्यं तदशेषतः ।

हे भारत! इनके पुत्र-पौत्र इतने थे, कि उनकी संख्या नहीं होती। सिंहिकासे चन्द्र और सूर्यको ग्रास करने वाले राहु, सुचन्द्र, चन्द्रहर्ता, और चन्द्रप्रमर्दन जन्मे थे। इसके अतिरिक्त उस कुटिलाके कुटिल स्वभावी अगणित पुत्र पौत्रादि थे। उनमेंसे कुछ क्रोधवश होकर कुटिल कार्य करनेवाले, शत्रुनाशी गण थे। विक्षर, बल, वीर और महासुर वृत्र असुरोंमें श्रेष्ठ इन चार पुत्रोंने दनायु के गर्भमें जन्म लिया था। काला नाम्नी दक्ष-पुत्रीके कालसमान प्रसिद्ध, असुरोंसे बडे वीर्यवान, शत्रु-मथने हारे बहुत पुत्र थे; वे विनाशन, क्रोध, क्रोधहन्ता, क्रोधशत्रु आदि नामोंसे प्रसिद्ध थे। (२९-३६)

ऋषिकुमार शुक्राचार्य असुरोंके उपाध्याय थे; उशनाके प्रख्यात चार पुत्र असुरोंके याजक थे, उनके अतिरिक्त त्वष्टा धर और अत्रि यह दो रौद्रकर्मा थे। यह सब सूर्यके समान तेजस्वी और ब्रह्मलोक पर भक्ति रखनेवाले थे। हे महीपाल! मैंने पुराणोंमें तरस्वी असुर और असुरोंका

प्रसङ्ख्यातुं महीपाल गुणभूतमनन्तकम् ॥ ४० ॥
तार्क्ष्यश्चाऽरिष्टनेमिश्च तथैव गरुडारुणौ ।
आरुणिर्वारुणिश्चैव वैनतेयाः प्रकीर्तिताः ॥ ४१ ॥
शेषोऽनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुजङ्गमः ।
कूर्मश्च कुलिकश्चैव काद्रवेयाः प्रकीर्तिताः ॥ ४२ ॥
भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥ ४३ ॥
सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चाऽपि विश्रुतः ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद्वशी ॥ ४४ ॥
तथा शालिशिरा राजन्पर्जन्यश्च चतुर्दश ।
कालः पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडशः ॥
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्तिताः ॥ ४५ ॥
अथ प्रभूतान्यन्यानि कीर्तयिष्यामि भारत ।
अनवद्यां मनुं वंशामसुरां मार्गणप्रियाम् ॥ ४६ ॥
अरूपां सुभगां भासीमिति प्राधा व्यजायत ।
सिद्धः पूर्णश्च बर्हिश्च पूर्णायुश्च महायशाः ॥ ४७ ॥
ब्रह्मचारी रतिगुणः सुपर्णश्चैव सप्तमः ।
विश्वावसुश्च भानुश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा ॥ ४८ ॥

जो वंशवृत्तान्त सुना था, सो कह चुका। उनके पुत्र कन्या इतने अधिक हैं, कि उन की संख्या नहीं होती। (३७—४०)

पर्जन्य, काल और नारद इन सोलह देव और गन्धर्वोंने इस पुत्री मुनिके गर्भसे जन्म लिया था। (४१—४५)

इत्येते देवगन्धर्वा वरिष्ठाः परिकीर्तिताः ।
इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम् ॥ ४९ ॥
प्राधाऽसूत महाभागा देवी देवर्षितः पुरा ।
अलम्बुषा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ॥ ५० ॥
अरुणा रक्षिता चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ।
केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरजा तथा ॥ ५१ ॥
सुप्रिया चाऽतिबाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहूः ।
तुम्बुरुश्चेति चत्वारः स्मृता गन्धर्वसत्तमाः ॥ ५२ ॥
अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्तितम् ॥ ५३ ॥
इति ते सर्वभूतानां संभवः कथितो मया ।
यथावत्परिसंख्यातो गंधर्वाप्सरसां तथा ॥ ५४ ॥
भुजङ्गानां सुपर्णानां रुद्राणां मरुतां तथा ।
गवां च ब्राह्मणानां च श्रीमतां पुण्यकर्मणाम् ॥ ५५ ॥
आयुष्यश्चैव पुण्यश्च धन्यः श्रुतिसुखावहः ।
श्रोतव्यश्चैव सततं श्राव्यश्चैवाऽनसूयता ॥ ५६ ॥
इमं तु वंशं नियमेन यः पठेन्महात्मनां ब्राह्मणदेवसंनिधौ।
अपत्यलाभं लभते स पुष्कलं श्रियं यशः प्रेत्य च शोभनां गतिम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
संभवपर्वण्यादित्यादिवंशकथने पंचषष्टितमोऽध्यायः । ॥ ६५ ॥ [२६१२]

लिया है; इनके अतिरिक्त उस महाभागा देवी प्राधाने महात्मा कश्यपके सहवाससे प्रख्यात पुण्य लक्षणयुक्त अप्सराओंके वंशको प्रगट किया है । (४९–५०)

उनके नाम अलम्बुषा, मिश्रकेशी, विद्युतपर्णा, तिलोत्तमा, अरुणा, रक्षिता, रम्भा, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुरता, सुरजा और सुप्रिया है; एवम् अतिबाहु, प्रख्यात हाहा, हूहू और तुम्बुरु यह चार गन्धर्वराजभी उसकी सन्तान है। पुराणोंमें कहा है, कि अमृत, ब्राह्मण, गौ, गन्धर्व और अप्सरा यह सब कपिलासे जन्मे हैं । आपको गन्धर्व, अप्सरा, सर्प, सुपर्ण, रुद्र, मरुत्, गौ और पुण्य कार्य करनेवाले श्रीमान् ब्राह्मणादि सर्व जीवों की उत्पत्ति की कथा सुना चुका। यह आयुवृद्धिकारी, पुण्यभरी, धन्य तथा कानों को सुखदेनेवाली है; इस लिये सदा

वैशम्पायन उवाच—ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
एकादश सुताः स्थाणोः ख्याताः परमतेजसः ॥ १ ॥
मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥ २ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भवश्च भगवान्रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ३ ॥
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
षडेते ब्रह्मणः पुत्रा वीर्यवन्तो महर्षयः ॥ ४ ॥
त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रताः ॥ ५ ॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप ।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥ ६ ॥
राक्षसाश्च पुलस्त्यस्य वानराः किंनरास्तथा ।
यक्षाश्च मनुजव्याघ्र पुत्रास्तस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
पुलहस्य सुता राजञ्शलभाश्च प्रकीर्तिताः ।

द्वेष छोडकर इसे सुनना और सुनाना । जो जन देवता और ब्राह्मणके सामने नियमके अनुसार महात्माओं की यह वंशावली पाठ करेंगे वह अच्छे पुत्र, लक्ष्मी और यशके सहित अन्तमें सुगति प्राप्त करेंगे । (५०—५७) [२६४२]

आदिपर्वमें पैंसठवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें छांछठवां अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि प्रख्यात छः महर्षि ब्रह्माजीके मानसपुत्र थे । उनके सिवाय सातवें पुत्र स्थाणुके अति तेजस्वी ग्यारह सन्तान हुई थीं उनके नाम मृगव्याध, सर्प, अति यशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य बडे तपस्वी पिनाकी, ईश्वर, दहन, महाद्युतिवान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव यह ग्यारह रुद्र करके प्रख्यात हैं । मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु, यह वीर्यवान् छः महर्षि ब्रह्माके पुत्र हैं । अङ्गिराके सर्वत्र प्रसिद्ध तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे, उनके नाम बृहस्पति उतथ्य और व्रतशील संवर्त हैं । (१—५)

हे नराधिप ! कहा है कि अत्रिके अनेक पुत्र जन्मे थे, वे सब वेदशास्त्र सिद्ध, शान्तचित्त और महर्षि थे । हे मनुजव्याघ्र ! राक्षस, वन्दर, किन्नर और यक्षोंने धीमान् पुलस्त्यके पुत्र हुए । हे राजन् ! शलभ सिंह, किंपुरुष व्याघ्र,

सिंहाः किंपुरुषा व्याघ्रा यक्षा ईहामृगास्तथा ॥ ८ ॥
क्रतोः क्रतुसमाः पुत्राः पतङ्गसहचारिणः ।
विश्रुतास्त्रिषु लोकेषु सत्यव्रतपरायणाः ॥ ९ ॥
दक्षस्त्वजायताऽङ्गुष्ठाद्दक्षिणाद्भगवानृषिः ।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल शान्तात्मा सुमहातपाः ॥१०॥
वामादजायताऽङ्गुष्ठाद्भार्या तस्य महात्मनः ।
तस्यां पञ्चशतं कन्याः स एवाऽजनयन्मुनिः ॥११॥
ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे ।
दिव्येन विधिना राजन्कश्यपाय त्रयोदश ॥ १३ ॥
नामतो धर्मपत्न्यस्ताः कीर्त्यमाना निबोध मे ।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा ॥१४॥
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश ।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयंभुवा ॥ १५ ॥
सप्तविंशति सोमस्य पत्न्यो लोकस्य विश्रुताः ।

सल्लक और ईहामृग, यह पुलहके पुत्र हुए। क्रतुके क्रतुवत् पाप दूर करनेहारे और सूर्यके साथी बालखिल्य नामक बेटे तीनों लोकोंमें प्रख्यात और सत्य व्रतशील थे। (६-९)

हे पृथ्वीपाल! शान्तचित्त, बडे तपस्वी भगवान् दक्ष मुनिने ब्रह्माजीके दाहिने अंगूठेमें जन्म लिया और उन महात्मा-की स्त्री ब्रह्माके बायें अंगूठेमें उत्पन्न हुई थी। प्रजापति दक्षने उस स्त्रीमें पचास कन्याओंको उत्पन्न कराया; वे कन्या सब कमललोचना और सुन्दरी थीं। दक्षके पुत्र न रहनेके कारण उन्होंने कन्याओंको पुत्रिका बनायी थी अर्थात् इस नियमसे उनको दान किया था, कि उनके गर्भसे जो पुत्र जन्मे, वेही उनके पुत्र बनेंगे। उन्होंने दिव्य विधिके अनुसार धर्मको दश कन्या, चन्द्रको सत्ताइस कन्या और कश्यपको तेरह कन्या दान की थीं। (१०—१३)

धर्मकी धर्मपत्नियोंके नाम लेते हैं, सुनिये। कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया बुद्धि, लज्जा और मति, इन दश धर्मकी पत्नीयोंको भगवान् स्वयम्भू ने धर्मके द्वार बना दिये थे। चन्द्रकी सत्ताइस स्त्री तीनों लोकोंमें

कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुचिव्रताः ॥ १६ ॥
सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधानतः ।
पैतामहो मुनिर्देवस्तस्य पुत्रः प्रजापतिः ॥ १७ ॥
तस्याऽष्टौ वसवः पुत्रास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥ १८ ॥
धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवाऽनिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १९ ॥
धूम्रायास्तु धरः पुत्रो ब्रह्मविद्यो ध्रुवस्तथा ।
चन्द्रमास्तु मनस्विन्याः श्वासायाः श्वसनस्तथा ॥ २० ॥
रतायाश्चाऽप्यहः पुत्रः शाण्डिल्याश्च हुताशनः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च प्रभातायाः सुतौ स्मृतौ ॥ २१ ॥
धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा ।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान्कालो लोकप्रकालनः ॥ २२ ॥
सोमस्य तु सुतो वर्चा वर्चस्वी येन जायते ।
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ॥ २३ ॥
अहः सुतस्तथा ज्योतिः शमः शान्तस्तथा मुनिः ।
अग्नेः पुत्रः कुमारस्तु श्रीमाञ्छरवणालयः ॥ २४ ॥
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ।

कृत्तिकाभ्युपपत्तेश्च कार्त्तिकेय इति स्मृतः ॥ २५ ॥
अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥ २६ ॥
प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाऽथ देवलम् ।
द्वौ पुत्रौ देवलस्याऽपि क्षमावन्तौ मनीषिणौ ॥ २७ ॥
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी ।
योगासक्ता जगत्कृत्स्नमसक्ता विचचार ह ।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ॥ २८ ॥
विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः ।
कर्त्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः ॥ २९ ॥
भूषणानां च सर्वेषां कर्त्ता शिल्पवतां वरः ।
यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह ॥ ३० ॥
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः ।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ॥ ३१ ॥
स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः ।
निःसृतो भगवान्धर्मः सर्वलोकसुखावहः ॥ ३२ ॥
त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः ।

कार्त्तिकेय का जन्म हुआ है। शाख, विशाख और नैगमेय, यह कार्त्तिकेयके छोटे भाई थे। अनिलके वीर्य और शिवा नाम्नी उनकी स्त्रीके गर्भमें मनोजव और अविज्ञातगति इन दो पुत्रोंका जन्म हुआ। देवल नामक ऋषि प्रत्यूषसे उत्पन्न हुए थे। देवलके क्षमावान् और मनीषी, यह दो पुत्र हुए थे। (२४-२७)

ब्रह्मज्ञाननेवाली सुन्दरी स्त्री बृहस्पति जी की बहन संसार-आश्रममें न फंस कर योगमें चित्तको लगाकरके सम्पूर्ण भूमण्डलमें विचर चुकी थीं; आगे उन्होंने वसुओंमें आठवें प्रभासकी स्त्री होकर शिल्प विद्यामें दक्ष विश्वकर्मा नामक महानुभाव पुत्र प्रसव किया, जो विश्वकर्मा सहस्रों शिल्प कार्योंके सृष्टिकर्त्ता, जो देवोंके वर्द्धकि अर्थात् शिल्पकारी, जिन्होंने सम्पूर्ण अलङ्कार बनाये हैं, जो शिल्पियोंमें प्रधान पुरुष देवोंको दिव्य यान बना देते हैं, मनुष्यलोग जिन महात्माकी शिल्पविद्या सीखकर जीविका निर्वाह करते हैं, जो अव्यय और मनुष्यों के सदा पूजनीय हैं, वह प्रभासके पुत्र है। (२८-३१)

सर्व लोकोंको सुख देनेहारे भगवान् धर्म

शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणः ॥ ३३ ॥
कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥३४॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः ।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु सः ॥ ३५ ॥
त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी ।
असूयत महाभागा साऽन्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥३६॥
द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप ।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३७ ॥
त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव ।
अन्वयं संप्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान् ॥ ३८ ॥
रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा ।
वसूनां भार्गवं विद्याद्विश्वेदेवांस्तथैव च ॥ ३९ ॥
वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा ।
बृहस्पतिस्तु भगवानादित्येष्वेव गण्यते ॥ ४० ॥
आश्विनौ गुह्यकान्विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशून् ।

नरविग्रहके स्वरूपमें ब्रह्माजीके दाहिने स्तनको भेद करके निकले थे। तेजसे लोकरक्षक और सब जीवोंमें मनोहर शम, काम और हर्ष, यह पुत्र धर्मसे उत्पन्न हुए थे। कामकी स्त्री रति, शमकी स्त्री प्राप्ति और हर्षकी स्त्री नन्दा हुई इन्होंने लोकोंमें बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। हे राजसिंह ! मरीचिके पुत्र कश्यप हैं, कश्यप हीसे सुरासुरों सबोंने जन्म लिया है, अतएव वही आदि पुरुष करके बखाने जाते हैं। (३२-३५)

वडवा-रूपधारिणी सूर्यपत्नी महाभागा त्वाष्ट्रीने आकाशमें दोनों अश्विनीकुमारों को प्रसव किया है। हे नराधिप ! अदितिके गर्भमें इन्द्रादि बारह पुत्रोंने जन्म लिया था। उनमेंसे जिनमें सब लोक प्रतिष्ठित हैं, वही विष्णु सबोंमें छोटे हैं। तेतीस प्रधान देवोंके पक्ष, कुल और गण के अनुसार आपसे कथा कहता हूं। रुद्रगण, साध्यगण, मरुद्गण, वसुगण, भार्गवगण और विश्वदेवगण यह एक एक पक्ष है। विनतानन्दन गरुड़, बलवान, अरुण और भगवान बृहस्पति आदित्य गणमें गिने जाते हैं। दोनों अश्विनीकुमार, सब औषधि और पशुओंको गुह्यकगणमें गिने जाते हैं। हे राजन् ! आदिमें अन्न

कृत्तिकाभ्युपपत्तेश्च कार्तिकेय इति स्मृतः ॥ २५ ॥
अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥ २६ ॥
प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाऽथ देवलम् ।
द्वौ पुत्रौ देवलस्याऽपि क्षमावन्तौ मनीषिणौ ॥२७॥
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी ।
योगासक्ता जगत्कृत्स्नमसक्ता विचचार ह ।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ॥ २८ ॥
विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः ।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः ॥२९॥
भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः ।
यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह ॥३०॥
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः ।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ॥ ३१॥
स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः ।
निःसृतो भगवान्धर्मः सर्वलोकसुखावहः ॥ ३२ ॥
त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः ।

कार्तिकेय का जन्म हुआ है । शाख, विशाख और नैगमेय, यह कार्त्तिकेयके छोटे भाई थे। अनिलके वीर्य और शिवा नाम्नी उनकी स्त्रीके गर्भसे मनोजव और अविज्ञातगति इन दो पुत्रोंका जन्म हुआ । देवल नामक ऋषि प्रत्यूषसे उत्पन्न हुए थे। देवलके क्षमावान् और मनीषी, यह दो पुत्र हुए थे। (२४-२७)

ब्रह्मजाननेवाली सुन्दरी स्त्री बृहस्पति जी की बहन संसार-आश्रममें न फंस कर योगमें चित्तको लगाकरके सम्पूर्ण भूमण्डलमें विचर चुकी थी ; आगे उन्हो ने वसुओंमे आठवें प्रभासकी स्त्री होकर शिल्प विद्यामें दक्ष विश्वकर्मा नामक महानुभाव पुत्र प्रसव किया. जो विश्वकर्मा सहस्रों शिल्प कार्योंके सृष्टिकर्त्ता, जो देवोंके वर्द्धकि अर्थात् शिल्पकारी, जिन्हो ने सम्पूर्ण अलङ्कार बनाये है, जो शिल्पियोंमें प्रधान पुरुष देवोंको दिव्य यान बना देते है, मनुष्यलोग जिन महात्मा की शिल्पविद्या सीखकर जीविका निर्वाह करते है, जो अव्यय और मनुष्यों के सदा पूजनीय है, वह प्रभासके पुत्र है। (२८-३१)

सर्व लोकोंको सुख देनेहारे भगवान् धर्म

शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिण ॥३३॥
कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥३४॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः ।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु स ॥३५॥
त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी ।
असूयत महाभागा साऽन्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥३६॥
द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप ।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥३७॥
त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव ।
अन्वयं संप्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान ॥३८॥
रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा ।
वसूनां भार्गवं विद्याद्विश्वेदेवांस्तथैव च ॥३९॥
वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा ।
बृहस्पतिस्तु भगवानादित्येष्वेव गण्यते ॥४०॥
आश्विनौ गुह्यकान्विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशन ।

नरविग्रहके स्वरूपमें ब्रह्माजीके दाहिने स्तनको भेद करके निकले थे। तेजसे लोकरक्षक और सब जीवोंमें मनोहर शम, काम और हर्ष, यह पुत्र धर्मसे उत्पन्न हुए थे। कामकी स्त्री रति, शमकी स्त्री प्राप्ति और हर्षकी स्त्री नन्दा हुई इन्होंने लोकोंमें बडी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। हे राजसिंह! मरीचिके पुत्र कश्यप हैं, कश्यप हीसे सुरासुरों सबोंने जन्म लिया है, अतएव वही आदि पुरुष करके कहाते जाते हैं। (३२-३५

वडवा-रूपधारिणी सूर्यपत्नी महाभागा त्वाष्ट्रीने आकाशमें दोनों अश्विनीकुमारों को प्रसव किया है। हे नराधिप! अदितिके गर्भसे इन्द्रादि बारह पुत्रोंने जन्म लिया था। उनमेंसे जिनमें सब लोक प्रतिष्ठित हैं, वही विष्णु सबोंसे छोटे हैं। तेतीस प्रधान देवोंके पक्ष, कुल और गण के अनुसार अन्वय कहता हूँ। रुद्रगण, साध्यगण, मरुद्गण, वसुगण, भार्गवगण और विश्वदेवगण यह सब एक पक्ष हैं। विनतानन्दन गरुड, बलवान् अरुण और भगवान् बृहस्पति आदित्य गणमें गिने जाते हैं। दोनों अश्विनीकुमार, सब ओषधि और पशुगण गुह्यकगणमें गिने जाते हैं। हे राजन्! आदिसे जन्म

एते देवगणा राजन्कीर्तितास्तेऽनुपूर्वशः ।
यान कीर्तयित्वा मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४१ ॥
ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान्भृगुः ।
भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रह ॥ ४२॥
त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थं वर्षावर्षे भयाभये ।
स्वयंभुवा नियुक्तः सन्भुवनं परिधावति ॥ ४३ ॥
योगाचार्यो महाबुद्धिर्दैत्यानामभवद् गुरुः ।
सुराणां चाऽपि मेधावी ब्रह्मचारी यतव्रतः ॥ ४४ ॥
तस्मिन्नियुक्ते विधिना योगक्षेमाय पार्थिवे ।
अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम् ॥ ४५ ॥
च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं यशस्विनम् ।
यः स रोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ॥४६॥
आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः।
और्वस्तस्यां समभवदूरुं भित्त्वा महायशाः ॥ ४७ ॥
महातेजा महावीर्यो बाल एव गुणैर्युतः ।
ऋचीकस्तस्य पुत्रस्तु जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥ ४८ ॥

तक यह सब देवोंकी कथा कही। जिनके वर्णनसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होता है। (३६—४१)

भगवान् भृगु ब्रह्माके हृदयको भेदकर निकले। कविपुत्र कवि स्वयं विद्यामें पण्डित शुक्रने भृगु के वीर्यसे जन्म लिया। वह ब्रह्माजीकी आज्ञासे ग्रहके स्वरूपसे तीनों लोकोंकी प्राणयात्रा निर्वाहके लिये वर्षना और न वर्षना, भयका रहना और न रहना विषयोंपर दृष्टि रखनेके निमित्त नियुक्त होकर भूमण्डलमें विचर रहे हैं। व्रतशील, मेधावी, ब्रह्मचारी, और बुद्धिमान् योगाचार्य शुक्र योगबलसे बृहस्पति और शुक्र यह दो स्वरूप लेकरके देव और असुरोंके गुरु हुए। विधातासे दैत्योंके योगक्षेम-कार्यमें नियुक्त होनेपर भृगुने च्यवन नामक एक दूसरे धर्मात्मा प्रज्वलित तेजधारी यशस्वी, अनिन्दित पुत्रको उत्पन्न किया। हे भारत ! वह क्रोधयुक्त होकर राक्षसके हातसे माताको छुडानेके निमित्त गर्भसे गिरे थे।(४२-४६)

मनीषी मुनि च्यवनने आरुषी नाम्नी मनुजीकी बेटीसे विवाह किया था। अति यशस्वी और्व आरुषीकी जांघको चीरकर निकले। वह बालेपनहीमें सब गुणोंसे भूषित, अति तेजस्वी और बडे वीर्यवान

जमदग्नेस्तु चत्वार आसन्पुत्रा महात्मनः ॥ ४९ ॥
रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः ।
सर्वशस्त्रेषु कुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी ॥ ५० ॥
और्वस्याऽऽसीत्पुत्रशतं जमदग्निपुरोगमम् ।
तेषां पुत्रसहस्राणि बभूवुर्भुवि विस्तरः ॥ ५१ ॥
द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस्त्वन्यौ ययोस्तिष्ठति लक्षणम् ।
लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मुनिना सह ॥ ५२ ॥
तयोरेव स्वसा देवी लक्ष्मीः पद्मगृहा शुभा ।
तस्यास्तु मानसाः पुत्रास्तुरगा व्योमचारिणः ॥ ५३ ॥
वरुणस्य भार्या या ज्येष्ठा शुक्राद्देवी व्यजायत ।
तस्याः पुत्रं बलं विद्धि सुरां च सुरनन्दिनीम् ॥ ५४ ॥
प्रजानामन्नकामानामन्योन्यपरिभक्षणात् ।
अधर्मस्तत्र संजातः सर्वभूतविनाशकः ॥ ५५ ॥
तस्याऽपि निर्ऋतिर्भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः ।
घोरास्तस्यास्त्रयः पुत्राः पापकर्मरताः सदा ॥ ५६ ॥
भयो महाभयश्चैव मृत्युर्भूतान्तकस्तथा ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा कश्चिदस्त्यन्तको हि सः ॥ ५७ ॥

थे। और्वके पुत्र ऋचीक हुए, ऋचीकके पुत्र जमदग्नि थे, महात्मा जमदग्निके चार पुत्र थे, उनमें राम सबोंसे छोटे होने परभी गुणोंके लिये सबोंसे बडे हुए थे, वह जितेन्द्रिय क्षत्रियकुलनाशक और शास्त्रज्ञ थे। और्वके जमदग्नि आदि सौ पुत्र थे। उनके सहस्र पुत्र पृथ्वीमें फैल गये। (४९-५१)

देवी लक्ष्मी उनकी बहिन है; आकाशको उडनवाले घोडे लक्ष्मीजीके मानस-पुत्र है। वरुणकी बडी स्त्री देवीने शुक्रसे जन्म लिया; उन्होंने बल नामक एक पुत्र और सुरा नाम सुरनन्दिनी एक कन्या प्रसव की। पेट भरनेके निमित्त प्रजाओंके एक दूसरेको खानेसे सर्वभूतनाशी अधर्म उत्पन्न हुआ है। उसकी स्त्रीका नाम निर्ऋति

काकीं श्येनीं तथा भासीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम्।
ताम्रा तु सुषुवे देवी पञ्चैता लोकविश्रुता ॥ ५८ ॥
उलूकान्सुषुवे काकी श्येनी श्येनान्व्यजायत।
भासी भासानजनयद् गृध्रांश्चैव जनाधिप ॥ ५९ ॥
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ।
चक्रवाकांश्च भद्रा तु जनयामास सैव तु ॥ ६० ॥
शुकी च जनयामास शुकानेव यशस्विनी ।
कल्याणगुणसंपन्ना सर्वलक्षणपूजिता ॥ ६१ ॥
नव क्रोधवशा नारीः प्रजज्ञे क्रोधसंभवाः ।
मृगी च मृगमन्दा च हरी भद्रमना अपि ॥ ६२ ॥
मातङ्गी त्वथ शार्दूली श्वेता सुरभिरेव च ।
सर्वलक्षणसंपन्ना सुरसा चैव भामिनी ॥ ६३ ॥
अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्च परंतप ॥ ६४ ॥
ततस्त्वैरावतं नागं जज्ञे भद्रमनाः सुतम् ।
ऐरावतः सुतस्तस्या देवनागो महागजः ॥ ६५ ॥
हर्याश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
गोलाङ्गूलाश्च भद्रं ते हर्याः पुत्रान्प्रचक्षते ॥ ६६ ॥
प्रजज्ञे त्वथ शार्दूली सिंहान्व्याघ्राननेकशः ।

मृत्युके स्त्री पुत्र कोई नहीं थे, क्योंकि वह स्वयंही अन्तक हैं। (५२—५७)

काकी, श्येनी, भासी, धृतराष्ट्री और शुकी, लोकोंमें प्रसिद्ध इन पांच कन्याओंने देवी ताम्राके गर्भसे जन्म लिया। काकीने उल्लुकोंको, श्येनी ने बाजोंको, भासीने मुरगों और गिद्धोंको और भद्रा धृतराष्ट्रीने, हंस, राजहंस और चकवों को प्रसव किया। सर्वलक्षण-धारिणी कल्याणी, गुणशालिनी, यशस्विनी शुकीसे शुक पक्षियोंका जन्म हुआ। (५८-६१)

मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमना, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि और सर्वलक्षणवाली भामिनी सुरसा, क्रोधवशा यह नौ नारी क्रोधसे उत्पन्न हुई थीं। हे नरोत्तम ! सब मृगोंने मृगीसे जन्म लिया है; ऋक्ष और स्वमरोंने मृगमन्दासे जन्म लिया है; देवनाग महागज ऐरावत भद्रमनाके गर्भसे उत्पन्न हुए है; और लंगूर बन्दरों और वेगवान् घोडोंने हरीसे जन्म

द्वीपिनश्च महासत्त्वान्सर्वानेव न संशयः ॥ ६७ ॥
मातङ्ग्यपि च मातङ्गानपत्यानि नराधिप ।
दिशां गजं तु श्वेताख्यं श्वेताऽजनयदाशुगम् ॥ ६८ ॥
तथा दुहितरौ राजन्सुरभिर्वै व्यजायत ।
रोहिणीं चैव भद्रं ते गन्धर्वीं तु यशस्विनीम् ॥ ६९ ॥
विमलामपि भद्रं ते अनलामपि भारत ।
रोहिण्यां जज्ञिरे गावो गन्धर्व्यां वाजिनः सुताः ॥ ७० ॥
सप्त पिण्डफलान्वृक्षाननलाऽपि व्यजायत ।
अनलायाः शुकी पुत्री कङ्कस्तु सुरसासुतः ॥ ७१ ॥
अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ ।
संपातिं जनयामास वीर्यवन्तं जटायुषं ॥ ७२ ॥
सुरसाऽजनयन्नागान्कद्रूः पुत्रांस्तु पन्नगान् ।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु विख्यातौ गरुडारुणौ ॥ ७३ ॥
इत्येष सर्वभूतानां महतां मनुजाधिप ।
प्रभवः कीर्तितः सम्यङ्मया मतिमतां वर ॥ ७४ ॥
यं श्रुत्वा पुरुषः सम्यङ्मुक्तो भवति पाप्मनः ।
सर्वज्ञतां च लभते गतिमग्र्यां च विन्दति ॥ ७५ ॥ २६८७

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

लिया है। शार्दूलीने सिंह, व्याघ्र और महासत्त्व सम्पूर्ण चीतोंको जन्म दिया है। (६२-६७)

हे नराधिप! हस्तीगण मातङ्गीके बेटे हैं, श्वेतासे श्वेताक्ष, द्रुतगामी दिग्गज उत्पन्न हुआ था। हे राजन्! कल्याणी यशस्विनी गन्धर्वी और रोहिणी इन दो कन्याओंने सुरभिके गर्भसे जन्म लिया, उनके सिवाय सुरभिसे और दो कन्या थीं; उनके नाम विमला और अनला है। रोहिणीसे गौ और गन्धर्वीसे घोडे उत्पन्न हुए। खजूर, ताड, हिन्ताल, ताली, [illegible] पिण्डफलवाले वृक्ष अनलासे उत्पन्न हुए हैं। उनके सिवाय अनलाकी शुकी नामी एक बेटी थी। सुरसाने कङ्क उपजा। अरुणकी स्त्री श्येनीने सम्पाती और जटायु नामक महाबलवान दो पुत्रोंको प्रसव किया था। और नागगण सुरसासे तथा पन्नगगण कद्रूसे उत्पन्न हुए हैं। गरुड और अरुणको विनताने जन्म दिया था। हे मतिमान मनुजाधिपते! यह

जनमेजय उवाच--देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सिंहव्याघ्रमृगाणां च पन्नगानां पतत्रिणाम् ॥ १ ॥
सर्वेषां चैव भूतानां संभवं भगवन्नहम् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन मानुषेषु महात्मनाम् ॥
जन्म कर्म च भूतानामेतेषामनुपूर्वशः ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच--मानुषेषु मनुष्येन्द्र संभूता ये दिवौकसः ।
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः ॥ ३ ॥
विप्रचित्तिरिति ख्यातो य आसीद्दानवर्षभः ।
जरासन्ध इति ख्यातः स आसीन्मनुजर्षभः ॥४॥
दितेः पुत्रस्तु यो राजन्हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
स जज्ञे मानुषे लोके शिशुपालो नरर्षभः ॥ ५ ॥
संह्लाद इति विख्यातः प्रह्लादस्याऽनुजस्तु यः ।
स शल्य इति विख्यातो जज्ञे बाह्लीकपुङ्गवः ॥ ६ ॥
अनुह्लादस्तु तेजस्वी योऽभूत्ख्यातो जघन्यजः ।
धृष्टकेतुरिति ख्यातः स बभूव नरेश्वरः ॥ ७ ॥
यस्तु राजञ्छिबिर्नाम दैतेयः परिकीर्तितः ।
द्रुम इत्यभिविख्यातः स आसीद्भुवि पार्थिवः ॥८॥

सर्वभूतोंकी उत्पत्तिकी कथा कह सुनाई; इसके सुननेसे मनुष्यलोग सर्वज्ञ बन जाते हैं और पापोंसे मुक्त होकर अच्छी गति प्राप्त करते हैं। (६८—७५)

आदिपर्वमें चौसठवां अध्याय समाप्त। [२६८७]

आदिपर्वमें पैंसठवां अध्याय।

जनमेजय बोले, कि भगवन् ! देव, दानव, गन्धर्व, उरग, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, मृग, पन्नग, पक्षी और महात्मा मानवोंके जन्म कर्मादि सम्पूर्ण आद्योपान्त सुनने चाहता हूं। श्रीवैशम्पायन जी बोले, कि हे मनुष्येन्द्र ! जिन सब देवता और दानवोंने मानवोंके स्वरूपमें जन्म लिया था, पहिले उनकी कथा कहता हूं। (१—३)

विप्रचित्ति नामक प्रख्यात दानवराज जरासन्ध नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ था। हे नरनाथ ! हिरण्यकशिपु नामक दितिके पुत्रने शिशुपाल होकर नरयोनिमें जन्म लिया था। प्रह्लादका छोटा भाई प्रसिद्ध संह्लाद शल्य नामसे प्रख्यात होकरके बाह्लीकों में श्रेष्ठ हुआ था। प्रह्लादका सबसे छोटा भाई प्रसिद्ध तेजस्वी अनुह्लाद धृष्टकेतु नामक राजा हुआ था। हे राजन् !

बाष्कलो नाम यस्तेषामासीदसुरसत्तमः ।
भगदत्त इति ख्यातः स जज्ञे पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥
अयःशिरा अश्वशिरा अश्वशङ्कुश्च वीर्यवान् ।
तथा गगनमूर्धा च वेगवांश्चात्र पञ्चमः ॥ १० ॥
पञ्चैते जज्ञिरे राजन्वीर्यवन्तो महासुराः ।
केकयेषु महात्मानः पार्थिवर्षभसत्तमाः ॥ ११ ॥
केतुमानिति विख्यातो यस्ततोऽन्यः प्रतापवान् ।
अमितौजा इति ख्यातः सोग्रकर्मा नराधिपः ॥ १२ ॥
स्वर्भानुरिति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ।
उग्रसेन इति ख्यात उग्रकर्मा नराधिपः ॥ १३ ॥
यस्त्वश्व इति विख्यातः श्रीमानासीन्महासुरः ।
अशोको नाम राजाऽभून्महावीर्योऽपराजितः ॥ १४ ॥
तस्मादवरजो यस्तु राजन्नश्वपतिः स्मृतः ।
दैतेयः सोऽभवद्राजा हार्दिक्यो मनुजर्षभः ॥ १५ ॥
वृषपर्वेति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ।
दीर्घप्रज्ञ इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥ १६ ॥
अजकस्त्ववरो राजन्य आसीद्वृषपर्वणः ।
स शाल्व इति विख्यातः पृथिव्यामभवन्नृपः ॥ १७ ॥

शिबि नामक दैत्य द्रुम नामक प्रसिद्ध राजा हुआ था । (४–८)

हे पुरुषश्रेष्ठ ! असुरश्रेष्ठ बाष्कल मानवयोनिमें जन्म लेकर भगदत्त नामसे प्रसिद्ध हुआ था । अयःशिरा, अश्वशिरा, अश्वशंकु, गगनमूर्धा, और वेगवान्, इन पाँच वीर्यवान् महात्मा महासुरोंने केकय देशमें श्रेष्ठ भूपति होकर जन्म लिया था । प्रख्यात प्रतापी केतुमान् अमितौजा नामक प्रसिद्ध नरेश हुआ था । स्वर्भानु नामसे प्रसिद्ध श्रीमान् महासुर, उग्रसेन नामक उग्रकर्मा राजा होकर प्रसिद्ध हुआ था । श्रीमान् महासुर अश्वने अशोक नामक महादुर्जय नरेश होकर जन्म लिया था । (९—१४)

अश्वका छोटा भाई दैत्य अश्वपति, हार्दिक्य नामक महीपाल हुआ था । श्रीमान् महासुर वृषपर्वाने दीर्घप्रज्ञ नामसे प्रख्यात राजा होकर जन्म लिया । वृषपर्वाका छोटा भाई अजक शाल्व नामक पृथ्वीनाथ हुआ । श्रीमान् महासुर अश्वग्रीवने रोचमान नामक नरेश होकर जन्म

अश्वग्रीव इति ख्यातः सत्त्ववान्यो महासुरः।
रोचमान इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥ १८॥
सूक्ष्मस्तु मतिमान्राजन्कीर्तिमान्यः प्रकीर्तितः ।
बृहद्रथ इति ख्यातः क्षितावासीत्स पार्थिवः॥ १९॥
तुहुण्ड इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः।
सेनाबिन्दुरिति ख्यातः स बभूव नराधिपः॥ २०॥
इषुपान्नाम यस्तेषामसुराणां बलाधिकः ।
नग्नजिन्नाम राजाऽऽसीद्भुवि विख्यातविक्रमः॥ २१॥
एकचक्र इति ख्यात आसीद्यस्तु महासुरः ।
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ॥ २२॥
विरूपाक्षस्तु दैतेयश्चित्रयोधी महासुरः ।
चित्रधर्मेति विख्यातः क्षितावासीत्स पार्थिवः॥ २३ ॥
हरस्त्वरिहरो वीर आसीद्यो दानवोत्तमः ।
सुबाहुरिति विख्यातः श्रीमानासीत्स पार्थिवः ॥२४॥
अहरस्तु महातेजाः शत्रुपक्षक्षयंकरः ।
बाह्लीको नाम राजा स बभूव प्रथितः क्षितौ ॥२५॥
निचन्द्रश्चन्द्रवक्त्रस्तु य आसीदसुरोत्तमः ।
मुञ्जकेश इति ख्यातः श्रीमानासीत्स पार्थिवः॥ २६॥
निकुम्भस्त्वजितः संख्ये महामतिरजायत ।

लिया; कीर्तिशाली मतिमान् सूक्ष्म नामक दैत्यने बृहद्रथ नामक प्रख्यात महीपति होकर जन्म लिया था। (१८—१९)

असुरराज तुहुण्ड सेनाबिन्दु नामक प्रशंसित भूपालके स्वरूपमें अवतीर्ण हुआ। असुरोंमें अति बलवान् इषुपादने नग्नजित् नामक प्रख्यात विक्रमी राजा होकर जन्म लिया। प्रसिद्ध महासुर एकचक्र पृथ्वीमें प्रतिविन्ध्य नामक प्रशंसित पृथ्वीपति हुआ था। अद्भुत योद्धा महासुर दैत्य विरूपाक्षने क्षितिमण्डलमें चित्रवर्मा नामक प्रख्यात क्षितिपति होकर जन्म लिया। शत्रुनाशी वीर दैत्यवर हर, श्रीमान् प्रख्यात अवनीपति सुबाहु होकर अवतीर्ण हुआ था। (२०--२४)

विपक्षपक्ष-क्षयकारी महातेजा अहरने भूमण्डलमें बाह्लीक नामक प्रशंसित राजा होकर जन्म लिया। असुरोत्तम चन्द्रानन निचन्द्र महीपति श्रीमान् मुञ्जकेशके स्वरूपमें अवतीर्ण हुआ था। लड़ाईमें

भूमौ भूमिपतिश्रेष्ठो देवाधिप इति श्रुतः ॥२७॥
शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः ।
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरोत्तम ॥ २८ ॥
कुपटस्तु महावीर्यः श्रीमान्राजन्महासुरः ।
सुपार्श्व इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ॥२९॥
कपटस्तु राजन्राजर्षिः क्षितौ जज्ञे महासुरः ।
पार्वतेय इति ख्यातः काञ्चनाचलसंनिभः ॥ ३० ॥
द्वितीयः शलभस्तेषामसुराणां बभूव ह ।
प्रह्लादो नाम बाह्लीकः स बभूव नराधिपः ॥ ३१ ॥
चन्द्रस्तु दितिजश्रेष्ठो लोके ताराधिपोपमः ।
चन्द्रवर्मेति विख्यातः काम्बोजानां नराधिपः ॥३२॥
अर्क इत्यभिविख्यातो यस्तु दानवपुङ्गवः ।
ऋषिको नाम राजर्षिर्बभूव नृपसत्तमः ॥ ३३ ॥
मृतपा इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ।
पश्चिमानूपकं विद्धि तं नृपं नृपसत्तम ॥ ३४ ॥
गविष्ठस्तु महातेजा यः प्रख्यातो महासुरः ।
द्रुमसेन इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥३५॥

मयूर इति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ।
स विश्व इति विख्यातो बभूव पृथिवीपतिः ॥ ३६ ॥
सुपर्ण इति विख्यातस्तस्मादवरजस्तु यः ।
कालकीर्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ३७ ॥
चन्द्रहन्तेति यस्तेषां कीर्तितः प्रवरोऽसुरः ।
शुनको नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ॥ ३८ ॥
विनाशनस्तु चन्द्रस्य य आख्यातो महासुरः ।
जानकिर्नाम विख्यातः सोऽभवन्मनुजाधिपः ॥३९॥
दीर्घजिह्वस्तु कौरव्य य उक्तो दानवर्षभः ।
काशिराजः स विख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपते ॥४०॥
ग्रहं तु सुषुवे यं तु सिंहिकाऽर्केन्दुमर्दनम् ।
स क्राथ इति विख्यातो बभूव मनुजाधिप ॥४१॥
दनायुषस्तु पुत्राणां चतुर्णां प्रवरोऽसुरः ।
विक्षरो नाम तेजस्वी वसुमित्रो नृपः स्मृतः॥ ४२ ॥
द्वितीयो विक्षराद्यस्तु नराधिप महासुरः ।
पाण्ड्यराष्ट्राधिप इति विख्यातः सोऽभवन्नृपः॥४३॥
बली वीर इति ख्यातो यस्त्वासीदसुरोत्तमः ।
पौण्ड्रमात्स्यक इत्येवं बभूव स नराधिपः ॥ ४४ ॥
वृत्र इत्यभिविख्यातो यस्तु राजन्महासुरः ।
मणिमान्नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ॥ ४५ ॥

प्रसिद्ध सुपर्ण कालकीर्त्ति नामसे धरतीमें अवतीर्ण हुआ। प्रधानोंमें प्रशंसित असुर चन्द्रहन्ता शुनक नाम राजर्षि हुआ। महासुर चन्द्रविनाशनने जानकि नामक प्रख्यात राजा होकर जन्म लिया। हे कुरुवंशश्रेष्ठ! दानवश्रेष्ठ दीर्घजिह्व काशीराज नामक प्रसिद्ध राजा हुआ। चन्द्र-सूर्यके मथनेहारा जो ग्रह सिंहिकामें प्रसव किया गया था, उस ग्रहने क्राथ नामक प्रसिद्ध भूप होकर जन्म लिया था। दनायुके चार पुत्रोंमें बड़ा पुत्र असुर तेजस्वी विक्षर वसुमित्र नामक राजा हुआ। (३५–४२)

हे नराधिप! उसके दूसरे पुत्र महासुरने पाण्ड्य देशमें सुप्रसिद्ध राजा होकर जन्म लिया। असुरोत्तम प्रशंसित बली पौण्ड्रमत्स्यक नामक भूप हुआ। हे राजन्! महासुर प्रख्यात वृत्रने मणिमान् नामक

क्रोधहन्तेति यस्तस्य बभूवाऽवरजोऽसुरः ।
दण्ड इत्यभिविख्यातः स आसीन्नृपतिः क्षितौ ॥४६॥
क्रोधवर्धन इत्येवं यस्त्वन्यः परिकीर्तितः ।
दण्डधार इति ख्यातः सोऽभवन्मनुजर्षभः ॥ ४७ ॥
कालेयानां तु ये पुत्रास्तेषामष्टौ नराधिपाः ।
जज्ञिरे राजशार्दूल शार्दूलसमविक्रमाः ॥ ४८ ॥
मगधेषु जयत्सेनस्तेषामासीत्स पार्थिवः ।
अष्टानां प्रवरस्तेषां कालेयानां महासुरः ॥ ४९ ॥
द्वितीयस्तु ततस्तेषां श्रीमान्हरिहयोपमः ।
अपराजित इत्येवं स बभूव नराधिपः ॥५० ॥
तृतीयस्तु महातेजा महामायो महासुरः ।
निषादाधिपतिर्जज्ञे भुवि भीमपराक्रमः ॥५१॥
तेषामन्यतमो यस्तु चतुर्थः परिकीर्तितः ।
श्रेणिमानिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥५२॥
पञ्चमस्त्वभवत्तेषां प्रवरो यो महासुरः ।
महौजा इति विख्यातो बभूवेह परंतपः ॥५३॥
षष्ठस्तु मतिमान्यो वै तेषामासीन्महासुरः ।
अभीरुरिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥५४॥
समुद्रसेनस्तु नृपस्तेषामेवाऽभवद्गुणात् ।

विश्रुतः सागरान्तायां क्षितौ धर्मार्थतत्त्ववित् ५५॥
बृहन्नामाऽष्टमस्तेषां कालेयानां नराधिप ।
बभूव राजा धर्मात्मा सर्वभूतहिते रतः ॥ ५६ ॥
कुक्षिस्तु राजन्विख्यातो दानवानां महाबलः।
पार्वतीय इति ख्यातः काञ्चनाचलसन्निभः॥ ५७ ॥
क्रथनश्च महावीर्यः श्रीमान्राजा महासुरः ।
सूर्याक्ष इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः॥ ५८ ॥
असुराणां तु यः सूर्यः श्रीमांश्चैव महासुरः ।
दरदो नाम बाह्लीको वरः सर्वमहीक्षिताम्॥ ५९ ॥
गणःक्रोधवशो नाम यस्ते राजन्प्रकीर्तितः ।
ततः संजज्ञिरे वीराः क्षिताविह नराधिपाः॥ ६० ॥
मद्रकः कर्णवेष्टश्च सिद्धार्थः कीटकस्तथा ।
सुवीरश्च सुबाहुश्च महावीरोऽथ बाह्लिकः ॥ ६१ ॥
क्रथो विचित्रः सुरथः श्रीमान्नीलश्च भूमिपः ।
चीरवासाश्च कौरव्य भूमिपालश्च नामतः ॥ ६२ ॥
दन्तवक्त्रश्च नामाऽऽसीद्दुर्जयश्चैव दानवः ।
रुक्मी च नृपशार्दूलो राजा च जनमेजयः ॥ ६३ ॥
आषाढो वायुवेगश्च भूरितेजास्तथैव च ।
एकलव्यः सुमित्रश्च वाटधानोऽथ गोमुखः ॥ ६४ ॥

जाननेवाले नरेश होकर जन्म लिया। हे नराधिप! कालेओंमेंसे आठवां असुर बृहत नामक सर्वभूतोंके हित करनेवाला राजा हुआ। (४८—५६)

हे राजन् ! दानवोंमें सुवर्णके पर्वतवत् महाबली प्रसिद्ध कुक्षि पार्वतीय नामक प्रसिद्ध क्षितीश हुआ। हे राजन् ! अति वीर्यवान महासुर श्रीमान् क्रथनने पृथ्वी-पर सूर्याक्ष नामक प्रसिद्ध क्षितिपति होकर जन्म लिया। असुरोंमें श्रीमान् महासुर सूर्यने सर्व भूतोंमें श्रेष्ठ बाह्लीकराज दरद होकर जन्म लिया। हे राजन्! क्रोधवश नामक जिन गणोंकी कथा कह चुका हूं, उन्होंने धरतीमें सूरवीर पृथ्वीनाथ होकर जन्म लिया। (५७–६०)

मद्रक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ, कीटक, सुवीर, सुबाहु, महावीर बाह्लीक, क्रथ, विचित्र, सुरथ, भूमिपति, श्रीमान् नील, चीरवासा, भूमिपाल, दन्तवक्र, दुर्जय, नृपसिंह, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ,

कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिस्तथैव च ।
अनायुरुद्धहश्चैव बृहत्सेनस्तथैव च ॥ ६५ ॥
क्षेमोग्रतीर्थः कुहरः कलिङ्गेषु नराधिपः ।
मतिमांश्च मनुष्येन्द्र ईश्वरश्चेति विश्रुतः ॥ ६६ ॥
गणात्क्रोधवशादेवं राजपूगोऽभवत्क्षितौ ।
जातः पुरा महाभागो महाकीर्तिर्महाबलः ॥ ६७ ॥
कालनेमिरिति ख्यातो दानवानां महाबलः ।
स कंस इति विख्यात उग्रसेनसुतो बली ॥ ६८ ॥
यस्त्वासीद्देवको नाम देवराजसमद्युतिः ।
स गन्धर्वपतिर्मुख्यः क्षितौ जज्ञे नराधिपः ॥ ६९ ॥
बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्देवर्षेर्विद्धि भारत ।
अंशाद्द्रोणं समुत्पन्नं भारद्वाजमयोनिजम् ॥ ७० ॥
धन्विनां नृपशार्दूल यः स सर्वास्त्रवित्तमः ।
महाकीर्तिर्महातेजाः स जज्ञे मनुजेश्वर ॥ ७१ ॥
धनुर्वेदे च वेदे च यं तं वेदविदो विदुः ।
वरिष्ठं चित्रकर्माणं द्रोणं स्वकुलवर्धनम् ॥ ७२ ॥
महादेवान्तकाभ्यां च कामक्रोधाच्च भारत ।

एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परंतपः ॥ ७३ ॥
अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षभयावहः ।
वीरः कमलपत्राक्ष क्षितावासीन्नराधिप ॥ ७४ ॥
जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शन्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद्वासवस्य च ॥ ७५ ॥
तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयंकरः ।
मतिमान्वेदविद्वाग्मी शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥ ७६ ॥
जामदग्न्येन रामेण सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
योऽयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ॥ ७७ ॥
यस्तु राजन्कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत्क्षितौ ।
रुद्राणां तं गणाद्विद्धि संभूतमतिपौरुषम् ॥ ७८ ॥
शकुनिर्नाम यस्त्वासीद्राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन्संभूतमरिमर्दनम् ॥ ७९ ॥
सात्यकिः सत्यसन्धश्च योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात्स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ॥ ८० ॥
द्रुपदश्चैव राजर्षिस्तत एवाऽभवद्गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन्सर्वशस्त्रभृतां वर ॥ ८१ ॥
ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजञ्जनाधिपम् ।

एक होनेसे उन चारोंके अंशसे शत्रुपक्षनाशी, शूरवीर, शत्रुमथनेहारे, पद्मपत्राक्ष, अति वीर्य वान् अश्वत्थामा उत्पन्न हुए। वसिष्ठके शाप और इन्द्रके नियोगके कारण, अष्टवसुओंने शान्तनुके वीर्य और गंगाजीके गर्भमें जन्म लिया; उनमें भीष्म सबोंसे छोटे हैं; यह मतिमान वेदज्ञ, सद्वक्ता, शत्रुकुलनाशी और कौरवोंके दाढस देनेवाले थे; सब अस्त्रोंके व्यवहारमें दक्ष महातेजा यह महात्मा जमदग्निके पुत्र महानुभाव, भार्गव, परशुरामसे लडे थे। (७३–७७)

हे राजन् ! अति पौरुषयुक्त ब्रह्मर्षि कृप रुद्रोंके अंशसे पृथ्वीमें अवतीर्ण हुए। हे राजन् द्वापर अंशसे शत्रुपीडक महारथी शकुनिने जन्म लिया था; वृष्णिवंशश्रेष्ठ शत्रुमथनेहारे, सत्यशील, सात्यकि मरुद्गणसे उत्पन्न हुए थे। हे नृप ! अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि द्रुपद उन्हीं देवोंसे भूलोकमें अवतीर्ण हुए थे। हे राजन्! अनुपम कर्म करने वाले, क्षत्रियकुलमें श्रेष्ठ भूपाल कृतवर्माभी उन्हीं देवोंसे उत्पन्न

तमप्रतिमकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ॥ ८२ ॥
मरुतां तु गणाद्विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजानं परराष्ट्रप्रतापनम् ॥ ८३ ॥
अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥ ८४ ॥
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ॥ ८५ ॥
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत ॥ ८६ ॥
तस्यैवाऽवरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ।
स पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः ॥ ८७ ॥
अत्रेस्तु सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम् ।
विदुरं विद्धि तं लोके जातं बुद्धिमतां वरम् ॥ ८८ ॥
कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ॥ ८९ ॥
जगतो यस्तु सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः ।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पृथिवीपतिः ॥ ९० ॥

एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परंतपः ॥ ७३ ॥
अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षभयावहः ।
वीरः कमलपत्राक्ष क्षितावासीन्नराधिप ॥ ७४ ॥
जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शन्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद्वासवस्य च ॥ ७५ ॥
तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयंकरः ।
मतिमान्वेदविद्वाग्मी शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥ ७६ ॥
जामदग्न्येन रामेण सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
योऽयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ॥ ७७ ॥
यस्तु राजन्कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत्क्षितौ ।
रुद्राणां तु गणाद्विद्धि संभूतमतिपौरुषम् ॥ ७८ ॥
शकुनिर्नाम यस्त्वासीद्राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन्संभूतमरिमर्दनम् ॥ ७९ ॥
सात्यकिः सत्यसन्धश्च योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात्स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ॥ ८० ॥
द्रुपदश्चैव राजर्षिस्तत एवाऽभवद्गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ८१ ॥
ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजञ्जनाधिपम् ।

एक होनेसे उन चारोंके अंशसे शत्रुपक्षनाशी, शूरवीर, शत्रुमथनहारे, पद्मपत्राक्ष, अति वीर्यवान् अश्वत्थामा उत्पन्न हुए। वसिष्ठके शाप और इन्द्रके नियोगके कारण, अष्टवसुओंने शान्तनुके वीर्य और गंगाजीके गर्भसे जन्म लिया; उनमें भीष्म सबोंमे छोटे है; यह मतिमान् वेदज्ञ, सद्वक्ता, शत्रुकुलनाशी और कौरवोंके दाढस देनेवाले थे; सब अस्त्रोंके व्यवहारमे दक्ष महातेजा यह महात्मा जमदग्निके पुत्र महानुभाव, भार्गव, परशुरामसे लडे थे। (७३--७७)

हे राजन् ! अति पौरुषयुक्त ब्रह्मर्षि कृप रुद्रोंके अंशसे पृथ्वीमे अवतीर्ण हुए। हे राजन् द्वापर अंशसे शत्रुपीडक महारथी शकुनिने जन्म लिया था; वृष्णिवंशश्रेष्ठ शत्रुमथनहारे, सत्यशील, सात्यकि मरुद्गणसे उत्पन्न हुए थे। हे नृप ! अस्त्रधारियोंमे श्रेष्ठ राजर्षि द्रुपद उन्ही देवोंसे भूलोकमे अवतीर्ण हुए थे। हे राजन्! अनुपम कर्म करनेवाले, क्षत्रियकुलमे श्रेष्ठ भूपाल कृतवर्माभी उन्ही देवोंसे उत्पन्न

तमप्रतिमकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ॥ ८२ ॥
मरुतां तु गणाद्विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजानं परराष्ट्रप्रतापनम् ॥ ८३ ॥
अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥ ८४ ॥
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ॥ ८५ ॥
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत ॥ ८६ ॥
तस्यैवाऽवरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ।
स पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः ॥ ८७ ॥
अत्रेस्तु सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम् ।
विदुरं विद्धि तं लोके जातं बुद्धिमतां वरम् ॥ ८८ ॥
कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ॥ ८९ ॥
जगतो यस्तु सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः ।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ९० ॥

हुए। (७८–८२)

विपक्ष राज्यको पीडा पहुंचाने वाले, शत्रुमथनेहारे नरेश विराटभी उन्हीं मरुद्गणके अंशसे अवतीर्ण हुए थे। अरिष्टाके पुत्र प्रख्यात गन्धर्वनाथ हंसने कृष्णद्वैपायननन्दन कुरुवंश बढानेवाले धृतराष्ट्रके स्वरूपमें जन्म लिया। वह दीर्घभुज महातेजस्वी बुद्धिमान् नरेश माताके दोष और ऋषिके क्रोधसे जन्मसे अन्धे हुए थे। उनके और एक भाई थे, उनका नाम पाण्डु था; वह सत्यधर्म में रत, शुद्धाचारी महासत्त्वयुक्त और महाबली थे। (८३—८७)

पुत्रवान् पुरुषोंमें प्रधान जो अत्रिके पुत्र महाभाग धर्म हैं, अति बुद्धिमान महामति विदुर उन धर्मके अवतार होकर उत्पन्न हुए थे। हे पृथ्वीपते! जो कलि पुरुष सबोंका द्वेष करनेवाला तथा भूमण्डलमें सर्वनाशका कारण हुआ और जिस मन्दचित्तने भूतनाशी बडे भारी विद्वेषके अग्निको प्रज्वलित किया था, वह कुरुकुलमें कलह लगानेवाला मन्दमति दुर्योधन कलिके अंशसे उत्पन्न हुआ। पौलस्त्योंने दुर्योधनके भाई बनकर मनुष्ययोनिमें जन्म लिया। हे नरश्रेष्ठ! दुःशासनादि [illegible]

उद्दीपितं येन वैरं भूतान्तकरणं महत् ।
पौलस्त्या भ्रातरश्चाऽस्य जज्ञिरे मनुजेष्विह ॥ ९१ ॥
शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम् ।
दुर्मुखो दुःसहश्चैव ये चाऽन्ये नाऽनुकीर्तिताः ॥ ९२ ॥
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ॥ ९३ ॥
जनमेजय उवाच—ज्येष्ठानुज्येष्ठतामेषां नामधेयानि वा विभो ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्येण कीर्तय ॥ ९४ ॥
वैशम्पायन उवाच—दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन्दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव दुर्मुखश्च तथा परः ॥ ९५ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ।
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ॥ ९६ ॥
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्राङ्गदश्च ह ॥ ९७ ॥
दुर्मदो दुष्प्रहर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ।
ऊर्णनाभः पद्मनाभस्तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ९८ ॥
सेनापतिः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ।
चित्रबाहुश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ॥ ९९ ॥
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्रचापसुकुण्डलौ ।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी भीमविक्रमः ॥ १०० ॥

मे लगे हुए सौ भाईयोंमेसे दुर्मुख दुःसह आदि जिनके नाम कहे गये और जिनके नही कहे गये है तथा धृतराष्ट्रके वैश्यापुत्र युयुत्सु नामक सौसे अधिक जो और एक पुत्र था, वे सभी पौलस्त्योंके अंश और दुर्योधनके सहायक थे। (८८–९३)

जनमेजय बोले, कि हे विभो! धृतराष्ट्र के पुत्रोंके नाम बडे छोटेके क्रमसे आद्योपान्त कहिये। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! दुर्योधन, युयुत्सु, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्मुख, विविंशति, विकर्ण जलसन्ध, सुलोचन, विन्द, अनुविन्द, दुर्धर्ष, सुबाहु, दुष्प्रधर्षण, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, कर्ण, चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारु, चित्रांगद, दुर्मद, दुष्प्रहर्ष, विवित्सु, विकट, सम, ऊर्णनाभ, पद्मनाभ, नन्द, उपनन्दक, सेनापति, सुषेण कुण्डोदर, महोदर, चित्रबाहु, चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्वि-

उग्रायुधो भीमशरः कनकायुर्दृढायुधः ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ १०१ ॥
जरासन्धो दृढसन्धः सत्यसन्धः सहस्रवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः क्षेममूर्तिस्तथैव च ॥ १०२ ॥
अपराजितकः पण्डितको विशालाक्षो दुराधनः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥ १०३ ॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तानुयायिनौ ।
कवची निषङ्गी दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ॥ १०४ ॥
उग्रो भीमरथो वीरो वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथश्च यः ॥ १०५ ॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ।
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकाङ्गदः ॥ १०६ ॥
कुण्डजश्चित्रकश्चैव दुःशला च शताधिका ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ॥ १०७ ॥
एतदेकशतं राजन्कन्या चैका प्रकीर्तिता ।
नामधेयानुपूर्व्या च ज्येष्ठानुज्येष्ठतां विदुः ॥ १०८ ॥
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव राजशास्त्रे च पारगाः ॥ १०९ ॥

लोचन, अयोबाहु, महाबाहु, चित्रचाप, सुकुण्डल, भीमवेग, भीमबल, बलाकी, भीमविक्रम, उग्रायुध, भीमशर, कनकायु, दृढायुध, दृढवर्मा, दृढक्षत्र, सोमकीर्ति, अनूदर, जरासन्ध, दृढसन्ध, सत्यसन्ध, सहस्रवाक्, उग्रश्रवा, उग्रसेन, क्षेममूर्ति, अपराजित, पण्डितक, विशालाक्ष, दुराधन, दृढहस्त, सुहस्त, वातवेग, सुवर्चा, आदित्यकेतु, बह्वाशी, नागदत्त, अनुयायी, कवची, निषङ्गी, दण्डी, दण्डधार, धनुर्ग्रह, उग्र, भीमरथ, वीर, वीरबाहु, अलोलुप, अभय, रौद्रकर्मा, दृढरथ, अनाधृष्य, कुण्डभेदी, विरावी, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, महाबाहु, व्यूढोरु, कनकांगद, कुण्डज, और चित्रक धृतराष्ट्रके, यह सौ पुत्र थे; इनके सिवाय दुःशला नाम्नी एक कन्या और युयुत्सु नामक वैश्या-गर्भसे जन्मा हुआ एक पुत्र था। ९४-१०७

धृतराष्ट्रके पुत्रोंके नाम बड़े छोटे के क्रम से कहे गये; ये सब महारथी और युद्ध में दक्ष होकर राजनीतिक और युद्धविद्या में सुपण्डित थे। हे महीपते! इनमें

सर्वे संग्रामविद्यासु विद्याभिजनशोभिनः ।
सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ॥ ११० ॥
दुःशलां समये राजन्सिन्धुराजाय कौरवः ।
जयद्रथाय प्रददौ सौबलानुमते तदा ॥ १११ ॥
धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन्युधिष्ठिरम् ।
भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चाऽर्जुनम् ॥ ११२ ॥
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाऽप्रतिमौ भुवि ।
नकुलः सहदेवश्च सर्वभूतमनोहरौ ॥ ११३ ॥
यस्तु वर्चा इति ख्यातः सोमपुत्रः प्रतापवान् ।
सोऽभिमन्युर्बृहत्कीर्तिरर्जुनस्य सुतोऽभवत् ॥ ११४ ॥
यस्याऽवतरणे राजन्सुरान्सोमोऽब्रवीदिदम् ।
नाऽहं दद्यां प्रियं पुत्रं मम प्राणैर्गरीयसम् ॥ ११५ ॥
समयः क्रियतामेष न शक्यमतिवर्तितुम् ।
सुरकार्यं हि नः कार्यमसुराणां क्षितौ वधः ॥ ११६ ॥
तत्र यास्यत्ययं वर्चा न च स्थास्यति वै चिरम् ।
ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखा ॥ ११७ ॥
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान् ।

सबोको विवाहमे योग्य स्त्री मिली थी। हे राजन्! कौरव धृतराष्ट्रने शकुनिके मतमे सिंधुराज, जयद्रथको उचित समयमें दुःशलानाम्नी कन्या दान की थी १०८-१११

हे धरतीनाथ! धर्मके अंशसे युधिष्ठिर, पवनके अंशसे भीम, देवराजके अंशसे अर्जुन और दोनों अश्विनीकुमारोंके अंशसे अतिरूपवान सर्वभूतोंमे मनोहर सर्वप्रकारसे सुन्दर नकुल सहदेवने जन्म लिया था। वर्चा नामक प्रख्यात प्रतापी सोमके पुत्र अर्जुननन्दन महाकीर्तिमान अभिमन्युके स्वरूपमें अवतीर्ण हुए थे। हे राजन्! उनके अवतार होनेके कालमे चन्द्रने देवोंसे कहा था, कि मैं प्राणसे भी प्यारे पुत्रको भूमण्डलमें भेज नहीं सकता पृथ्वीमें असुरवधरूपी सुरकार्य हमारा अवश्यमेव कर्तव्य होगया है, इसके विरोधी कभी नहीं हो सकते, अतएव इस नियमसे वर्चाको भेजता हूं, कि वह भूतलमें अवतीर्ण होकर बहु काल नहीं रहेंगे, शीघ्र ही लौट आवेंगे। (११२—११७)

नारायणके साथी नरदेव इन्द्रके वीर्यसे प्रसिद्ध पाण्डवनन्दन प्रतापी

तस्याऽयं भविता पुत्रो बालो भुवि महारथः॥ ११८ ॥
ततः षोडश वर्षाणि स्थास्यत्यमरसत्तमाः ।
अस्य षोडशवर्षस्य स सङ्ग्रामो भविष्यति ॥ ११९ ॥
यत्रांशा वः करिष्यन्ति कर्म वीरनिषूदनम् ।
नरनारायणाभ्यां तु स संग्रामो विनाकृतः ॥ १२० ॥
चक्रव्यूहं समास्थाय योधयिष्यन्ति वः सुराः
विमुखाञ्छात्रवान्सर्वान्कारयिष्यति मे सुतः॥१२१॥
बालः प्रविश्य च व्यूहमभेद्यं विचरिष्यति।
महारथानां वीराणां कदनं च करिष्यति ॥ १२२ ॥
सर्वेषामेव शत्रूणां चतुर्थांशं नयिष्यति ।
दिनार्धेन महाबाहुः प्रेतराजपुरं प्रति ॥ १२३ ॥
ततो महारथैर्वीरैः समेत्य बहुशो रणे ।
दिनक्षये महाबाहुर्मया भूयः समेष्यति ॥ १२४ ॥
एकं वंशकरं पुत्रं वीरं वै जनयिष्यति ।
प्रनष्टं भारतं वंशं स भूयो धारयिष्यति ॥ १२५ ॥
एतत्सोमवचः श्रुत्वा तथास्त्विति दिवौकसः।
प्रत्यूचुः सहिताः सर्वे ताराधिपमपूजयन् ।

अर्जुनके स्वरूपमें अवतीर्ण होंगे; हे अमरवृन्द ! मेरे पुत्र धरतीतलमें उन अर्जुनके वीर्यसे जन्म लेकर बालेपनहीमें महारथी होकरके, सोलह वर्ष रहेंगे जब इनकी सोलह वर्षकी अवस्था होगी, तब वह भारी लडाई मचेगी, जिनमें तुम्हारे अंशवाले अगणित वीरोंको गिरावेंगे । हे सुरो ! लडाईके समय शत्रु-लोग चक्राकार व्यूह रचकर लडेंगे; मेरे वह महाभुज पुत्र बालक होने पर भी नरनारायणके सिवाय औरोंके भेदनके अयोग्य उस व्यूहमें घुसकर बिना भय घूमते हुए उन सबोंको विमुखकर महारथी वीरोंको मथन करके दिनके चौथे भागके बीचमें यमराजके घरमें भेजेंगे । ११७—१२३

अनन्तर दिन बीतने पर एकत्र मिले हुए अनेक वह महारथी वीरोंसे घोर युद्ध कर मेरे महाभुज पुत्र मेरे समीप चले आवेंगे; वह एक वंशरक्षक पुत्र उत्पन्न करेंगे । वह पुत्र नष्ट होते हुए भरत-कुलका रक्षाकर होगा । सम्पूर्ण सुरोंने चन्द्रमाकी यह बात सुनकर "तथास्तु" कहके उनकी पूजा की । हे राजन् !

एवं ते कथितं राजंस्तव जन्म पितुः पितुः ॥ १२६ ॥
अग्रेर्भागं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम्।
शिखण्डिनमथो राजन्स्त्रीपूर्वं विद्धि राक्षसम् ॥ १२७ ॥
द्रौपदेयाश्च ये पञ्च बभूवुर्भरतर्षभाः ।
विश्वान्देवगणान्विद्धि संजातान्भरतर्षभ ॥ १२८ ॥
प्रतिविन्ध्यः सुतसोमः श्रुतकीर्तिस्तथाऽपरः।
नाकुलिस्तु शतानीकः श्रुतसेनश्च वीर्यवान् ॥ १२९ ॥
शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वासुदेवपिताऽभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाऽसदृशी भुवि ॥ १३० ॥
पितुः स्वस्रीयपुत्राय सोऽनपत्याय वीर्यवान्।
अग्रमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्याऽपत्यस्य वै तदा ॥ १३१ ॥
अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षया।
अददत्कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा ॥ १३२ ॥
सु नियुक्ता पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरद्धोरं ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १३३ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ १३४ ॥

आपके पितामहकी यह जन्म-कथा कह सुनाई । (१२४—१२६)

महारथी धृष्टद्युम्न अग्निके अंशसे उत्पन्न हुए थे । हे राजन् ! जो शिखण्डी पहिले कन्या थे, उन्होंने राक्षसके अंशसे जन्म लिया था । हे भरतवंश श्रेष्ठ ! विश्वदेव गणने द्रौपदीके पांच पुत्र होकर जन्म लिया था; उनके नाम प्रतिविन्ध्य, सुतसोम श्रुतकीर्त्ति, शतानीक और श्रुतसेन है । यदुकुलमें श्रेष्ठ शूर वसुदेवके पिता थे; उनको पृथा नाम एक कन्या ऐसी रूपवती थी, कि उसके समान भूमण्डलमें कोई दूसरी स्त्री नहीं थी । वीर्यवान् शूरने कृपाकी आशापर अपने फुफेरे भाई कुन्तीभोजराजसे पहिले अङ्गीकार किया था, कि मेरी पहिली सन्तान होने पर तुमको दे दूंगा, इस अङ्गीकारके अनुसार पहिले गर्भसे उत्पन्न हुई उस कन्याको उनको दे दिया । (१२७–१३२)

पृथा पितृगृहमें ब्राह्मणोंकी सेवा और अतिथिओंके सत्कारमें लगी रहती थी। एक समय उसने जितेन्द्रिय व्रतशील अति रूखस्वभावी, धर्मके रहस्यज्ञ ब्राह्मण ऋषि दुर्वासाको सर्वप्रकारसे सेवा करके सन्तुष्ट

तुष्टोऽभिचारसंयुक्तमाचचक्षे यथाविधि ।
उवाच चैनां भगवान्प्रीतोऽस्मि सुभगे तव ॥ १३५ ॥
यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणाऽऽवाहयिष्यसि ।
तस्य तस्य प्रसादात्त्वं देवि पुत्राञ्जनिष्यसि ॥ १३६ ॥
एवमुक्ता च सा बाला तदा कौतूहलान्विता ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ १३७ ॥
प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा ।
अजीजनत्सुतं चाऽस्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥ १३८ ॥
सकुण्डलं सकवचं देवगर्भश्रियाऽन्वितम् ।
दिवाकरसमं दीप्त्या चारुसर्वाङ्गभूषितम् ॥ १३९ ॥
निगूहमाना जातं वै बन्धुपक्षभयात्तदा ।
उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम् ॥ १४० ॥
तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरथस्तदा ॥ १४१ ॥
चक्रतुर्नामधेयं च तस्य बालस्य तावुभौ ।
दम्पती वसुषेणेति दिक्षु सर्वासु विश्रुतम् ॥ १४२ ॥
संवर्धमानो बलवान्सर्वास्त्रेषूत्तमोऽभवत् ।

सर्वलक्षणसंपूर्णा वैदूर्यमणिसंनिभा ।
पञ्चानां पुरुषेन्द्राणां चित्तप्रमथनी रहः ॥१६०॥
सिद्धिर्धृतिश्च ये देव्यौ पञ्चाना मातरौ तु ते।
कुन्ती माद्री च जज्ञाते मतिस्तु सुबलात्मजा॥१६१॥
इति देवसुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
अंशावतरणं राजन्राक्षसानां च कीर्तितम् ॥१६२॥
ये पृथिव्यां समुद्भूता राजानो युद्धदुर्मदाः।
महात्मानो यदूनां च ये जाता विपुले कुले॥१६३॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मया ते परिकीर्तिताः१६४॥
धन्यं यशस्यं पुत्रीयमायुष्यं विजयावहम् ।
इदमंशावतरणं श्रोतव्यमनसूयता ॥१६५॥
अंशावतरणं श्रुत्वा देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
प्रभावाप्ययवित्प्राज्ञो न कृच्छ्रेष्ववसीदति॥ १६६ ॥ (२८५२)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वण्यंशावतरणे समाप्तो सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

जनमेजय उवाच— त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन्देवदानवरक्षसाम् ।

गन्धभरी पद्म समान प्रशस्त नेत्रवती सुश्रोणी सर्वलक्षणोंसे सुहासिनी वैदूर्यमणिसी और सदा सिंहरूपी पांच पुरुषोंकी चित्त मोहिनी थी। सिद्धि और धृति इन दो देवियोंने पांचों पाण्डवोंकी माता कुन्ती और माद्रीके स्वरूपमें जन्म लिया था। मति देवीने सुबलकन्या गान्धारीके स्वरूप में जन्म लिया। (१५७— १६१)

हे राजन्! सुर, असुर, अप्सरा, गन्धर्व राक्षसादियोंकी अंशमे अवतीर्ण होने की कथा कह चुका। जो सब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पृथ्वीमें जन्म लेकर युद्धमें जयके अयोग्य राजा बने थे और जिन सब महात्माओंने बडे भारी यदुकुलमें जन्म लिया था, उन सबोंकी कथाभी कह चुका; इसके पढनेसे धन, यश, पुत्र, आयु और जय मिलता है। द्वेष छोडकर यह अंशावतरण की कथा सुनना। ज्ञानीलोग देव, गन्धर्व, राक्षसोंके अंशावतरणकी कथा सुननेसे जन्म मृत्यु के वृत्तान्तमें विदित होकर विपतके समय शोकादिके वशमें नहीं होते। १६२-१६६)

आदिपर्वमें सडसठवां अध्याय समाप्त। (२८५३)

आदिपर्वमें अडसठवां अध्याय।

जनमेजय बोले कि हे ब्रह्मन् ! आपसे देव, दानव राक्षस, गन्धर्व, और अप्सरो

अंशावतरणं सम्यग्गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १ ॥
इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ॥ २ ॥
वैशंपायन उवाच —पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान् ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥ ३ ॥
चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुंक्ते मनुजेश्वरः ।
समुद्रावरणांश्चापि देशान्स समितिंजयः ॥ ४ ॥
आम्लेच्छावधिकान्सर्वान्स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः ।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ॥ ५ ॥
न वर्णसंकरकरो न कृष्याकरकृज्जनः ।
न पापकृत्कश्चिदासीत्तस्मिन्राजनि शासति ॥ ६ ॥
धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे ।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ७ ॥
नाऽऽसीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि ।
नाऽऽसीद्व्याधिभयं चाऽपि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ८ ॥
स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्माणि निस्पृहाः ।

के अंशावतरण की कथा सुन चुका। हे विप्र अब इन ब्राह्मणोंके सन्मुख आप प्रथमसे कुरुवंशकी कथा कहिये, मुझे सुननेकी बडी इच्छा हो रही है। (१-२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरत-श्रेष्ठ! दुष्यन्त नामक वीर्यवान् भूप पौरवोंके आदि पुरुष थे। वह चार समुद्रान्तक धरती रखते थे और इस भूमण्डलमें जितने पदार्थ उत्पन्न होते थे उनका चौथा अंश ग्रहण करते थे। वह शत्रु मर्दनकारी रत्नसहित चातुर्वर्ण्य ब्राह्मण और क्षत्रियोंसे भरे चारों समुद्रोंसे लेके म्लेच्छदेशतक सम्पूर्ण देशोंको भोग करते थे। उनके शासनके कालमें वर्ण-संकर नहीं थे, प्रजाको खेतीकरके अनाज उपजाना नहीं पडता था और कोई पाप कर्मसे हाथ नहीं डालता था। हे नरव्याघ्र! दुष्यन्त जब नगरके स्वामी थे, तब सबलोग धर्ममें नियुक्त रहकर धर्म और अर्थ उपार्जन करते थे, चोरीका भय, रोगका भय और क्षुधाका भय कुछभी नहीं था। ३—८

उनदिनो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निज निज धर्ममें लगे रहते थे, वृष्टि आदिके निमित्त किसीको दैवकर्म नहीं

शक्रोपममभित्रघ्नं परवारणवारणम् ।
पश्यन्त्यः स्त्रीगणास्तत्र वज्रपाणिं स्म मेनिरे ॥ १० ॥
अयं स पुरुषव्याघ्रो रणे वसुपराक्रमः ।
यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ॥ ११ ॥
इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम्।
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ॥ १२ ॥
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ।
निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया ॥ १३ ॥
तं देवराजप्रतिमं मत्तवारणधूर्गतम् ।
द्विजक्षत्रियविट्शूद्रा निर्यान्तमनुजग्मिरे ॥ १४ ॥
ददृशुर्वर्धमानास्त आशीर्भिश्च जयेन च ।
सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तथा ॥ १५ ॥
न्यवर्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह ।
सुपर्णप्रतिमेनाऽथ रथेन वसुधाधिपः ॥ १६ ॥
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा ।
स गच्छन्ददृशे धीमान्नन्दनप्रतिमं वनम् ॥ १७ ॥

और अच्छी राजसभायुक्त उक्त राजाको देखने लगीं। (४–९)

स्त्रियां इन्द्रके समान शत्रुनाशने हारे, अमित्र रूपी हाथियोंमें हस्तीवत उस पृथ्वीनाथ को निहार कर वज्रधारी इन्द्र समझने लगीं और यह कहकर उनका स्तव करने लगीं, कि यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जन रणभूमि में वसुवत पराक्रमी है, इनके भुजबलसे शत्रु लय पाते हैं। रमणीगण प्रेमसे यह कहती हुई उनके शिरपर फूल वर्षाने लगीं। दुष्यन्त सब स्थानोंमें चारों ओर ब्राह्मणोंसे प्रशंसित होकर मृगयाके लिये अति प्रसन्नचित्तसे वनको पधारे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रलोग मत्तहस्ती समान महाबली देवराजकी भांति उस पृथ्वीनाथके पीछे चले और चारों ओरसे अशीस और जयजयकार करते हुए उनको देखने लगे। (१०–१५)

पुरवासी और जनपदवासी इसप्रकार बडी दूरतक धरतीपति के पीछे चलकर उनकी आज्ञासे लौट आये। वह नरनाथ सुपर्णके रंगसे सजी हुई रथमण्डलीसे महीमण्डलको और रथके पहियोंकी घर घराहटसे मिले हुए कोलाहलसे आकाश मण्डलको भरने लगे। धीमान् धरतीनाथ दुष्यन्तने जाते समय बेल, खैर, मदार,

बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम् ।
विषमं पर्वतप्रस्थैरश्मभिश्च समावृतम् ॥ १८ ॥
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ।
मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः ॥ १९ ॥
तद्वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ।
लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन्विविधान्मृगान् ॥ २० ॥
बाणगोचरसंप्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान्बहून् ।
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः ॥ २१ ॥
दूरस्थान्सायकैः कांश्चिदभिनत्स नराधिपः ।
अभ्याशमागतांश्चान्यान्खड्गेन निरकृन्तत ॥ २२ ॥
कांश्चिदेणान्समाजघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ।
गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचाराऽमितविक्रमः ॥ २३ ॥
तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकर्पणैः ।
चचार स विनिघ्नन्वै वन्यांस्तत्र मृगद्विजान् ॥ २४ ॥
राज्ञा चाऽद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ।
लोड्यमाने महारण्ये तत्यजुः स्म मृगाधिपाः ॥ २५ ॥

कथा आदि नाना वृक्षोंसे घेरा हुआ, पहाडोंसे गिरे हुए पत्थरोंसे रूखा, जल और नरोंसे रहित, बहुयोजन तक फैला हुआ और मृग, सिंहों तथा दूसरे भयानक वनैले जीवोंसे भरा हुआ नन्दनवनके समान एक वन देखा। (१६–१९)

नौकर चाकर और वाहनोंसे उस वनको हिलाडुलाकर भांति भांतिके मृगोंको बेधन करने और अगणित व्याघ्रोंको लक्ष्यकर बाणोंसे बेधके धरती पर गिराया। वह दूरके मृगोंको बाणोंसे बेधने और निकटके हिरणोंको खड्गोंसे काटने लगे और उन श्रेष्ठ शक्तिवान पुरुषने किसी किसी जन्तुको शक्तिसे नष्ट किया। गदा युद्धमें दक्ष अतुल विक्रमी भूपाल तोमर, असि और गदा चलाते हुए भांति भांतिके वनैले मृग और पक्षी मारकर घूमने लगे। आश्चर्य वीर्यशाली राजा और लडाई प्यारी सेनाओंसे वह सारा वन हिलाडुल जानेसे सब सिंह उस को छोडकर भागने पर हुए। मृगदल पतिके नष्ट होनेपर शोचयुक्त हृदयसे कोलाहल करते हुए इधर उधर भागने लगे। इससे निचुडे मृग थके मांदे होकर जल पीनेके लिये सूखी नदीमें जाकर आशा और [illegible] साथ [illegible] गिरने लगे। मृगदलके

तत्र विद्रुतयूथानि हतयूथपतीनि च ।
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः ॥ २६ ॥
शुष्काश्चापि नदीर्गत्वा जलनैराश्यकर्शिताः।
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः ॥ २७ ॥
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि।
केचित्तत्र नरव्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः ॥ २८ ॥
केचिदग्निमथोत्पाद्य संसाध्य च वनेचराः ।
भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकुट्य विधिवत्तदा ॥ २९ ॥
तत्र केचिद्गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः ।
संकोच्याऽग्रकरान्भीताः प्राद्रवन्ति स्म वेगिताः ३०
शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ।
वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान्बहून् ॥ ३१ ॥
तद्वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम् ।
व्यरोचत मृगाकीर्णं राज्ञा हतमृगाधिपम् ॥ ३२ (२८०९)

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

वैशम्पायन उवाच— ततो मृगसहस्राणि हत्वा सबलवाहनः ।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद्विवेश ह ॥ १ ॥
एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।

भूख प्यासके मारे थके मादे होकर धरती पर गिर जाने पर भूखी सेना आनकर उनको खाने लगी; किसी किसीने काटकर आग पैदाकरके उनके मांसको पकाकर खालिया। उस वनमें कुछ महाबली मत्तहस्ती अस्त्रों से कटे कुटे जाकर और भय खाकर सुंडके अगले भागको सिकोड करके भागने लगे; कुछ वनैले हाथी भागनेके कालमें मलमूत्र छोडते और रक्त गिराते हुए अगणित लोगोंको कुचलकर चले। मरे मृगाधिप और मृगोंसे भरे हुए उस वनमें जलरूपी बादल और बाणधारारूपी जलधारासे भरा पूरा हो कर अपूर्व शोभा धारण की। (२०–३२)

आदिपर्वके शकुन्तलोपाख्यानमें उन-सत्तरवां अध्याय समाप्त [२८०९]

आदिपर्वमें सत्तरवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजा दुष्यन्त वाहन और सेनाओंके साथ सहस्रों मृग मारकर मृगोंको पछियाते हुये

स वनस्याऽन्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत्॥ २ ॥
तच्चाऽप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम् ।
मनःप्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ॥ ३ ॥
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद्वनम् ।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ॥ ४ ॥
विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ॥ ५ ॥
प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ६ ॥
नाऽपुष्पः पादपः कश्चिन्नाऽफलो नाऽपि कण्टकी ।
षट्पदैर्नाप्यवाकीर्णस्तस्मिन्वै काननेऽभवत्॥ ७ ॥
विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च ।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ॥ ८ ॥
मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम् ।
मारुताकलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशालिनः ॥ ९ ॥
पुष्पवृष्टिं विचित्रां तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः।

अकेले दूसरे एक वनमें जाघुसे । वह अति बलवन्त होनेपर भी थकगये और भूख प्यासके मारे विकल हुए । आगे उस वनको पारकर एक बडाभारी मैदान देखा । भूपाल उस निराले मैदानको छोडकर सुन्दर आश्रमयुक्त चित्तानन्द-दायी और मनोहर दूसरे एक वनमें जा घुसे, देखा कि वहां ठण्डी हवा बह रही है, पाये खिले हुए फूलोंसे भरे हैं, और हरी घाससे धरती छिपी है, मीठी बोली बोलनेवाले पक्षियोंकी ध्वनि, कोयलोंकी कूकें और झींगुरोंकी झनकारसे वनमें शब्द हो रहा है; बडी बडी डालों वाले और ठण्डी छाहयुक्त वृक्षोंसे चारों दिशा घिरी हुई है उन पेडोंके नीचे मधुलोभी भंवरोंके गूंजते हुए घूमनेपर अति सुन्दर शोभा होरही है। (१-६)

उस वनमें फूल और फलोंसे रहित और कांटोंसे जकडा हुआ एकभी पेड न था और सबही वृक्ष भंवरोंसे भरे हुए थे। तब चापधारी दुष्यन्त पक्षियोंके कलोलोंसे पूर्ण, फूलोंसे सजेसजाये, मनोहर, सबोंसे बढिया और सबप्रकार फूलोंसे सुशोभित सुन्दरडालवाले उस वनको निहारकर उसमें जा घुसे। तब हवासे हिलते हुए फूलोंके वृक्ष बारम्बार फूलों

दिवस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ॥ १० ॥
विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः ।
तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु ॥ ११ ॥
रुवन्ति रावान्मधुरान्षट्पदा मधुलिप्सवः ।
तत्र प्रदेशांश्च बहून्कुसुमोत्करमण्डितान् ॥ १२ ॥
लतागृहपरिक्षिप्तान्मनसः प्रीतिवर्धनान् ।
संपश्यन्सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा ॥ १३ ॥
परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमान्वितैः ।
अशोभत वनं तत्तु महेन्द्रध्वजसन्निभैः ॥ १४ ॥
सिद्धचारणसंघैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिंनरम् ॥ १५ ॥
सुखः शीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः ।
परिक्रामन्वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया ॥ १६ ॥
एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः ।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसंनिभम् ॥ १७ ॥
प्रेक्षमाणो वनं तत्तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।

से बार बार सुन्दर सुन्दर फूल बर्षाने लगे। पोधे फूलरूपी वस्त्रसे और पक्षियों की आकाशतक पहुंचती हुई मीठी बोली से सुशोभित होरहे थे। फूलोंके भारसे उन वृक्षोंके नीचे सिर किये नये-पल्लवों पर बैठकर मधुलोभी भौंरे मीठे स्वरसे गीत गारहे थे। महातेजा दुष्यन्त उस स्थानमें फूलोंसे सजे नाना प्रदेश और हृदयमें मानन्द पहुंचाते हुए लता-मण्डपोंको देखकर अति प्रसन्न हुए। एक दूसरीसे मिली हुई शाखा और फूलों से सुहावने तथा महेन्द्रकी ध्वजाके समान वृक्षोंसे वह वन सुशोभित होरहा था। वहां सिद्ध चारण, गन्धर्व, किन्नर, बन्दर, और अप्सरा बावलोंकी भांति खेल रहे थे। अनुभवमें सुखदायी, ठण्डी, फूलों की रेणु लेजानेवाली, अच्छी गन्धयुक्त हवा इधर उधर घूमती हुई मानो खेलने ही के लिये पोधोंके निकट पहुंच रही थी। (७ – १६)

राजा ऐसे बहुगुणयुक्त उडती हुई ध्वजाकी नाईं, नदी तटसे उत्पन्न सुन्दर वनको देखने लगे। आगे पुण्यशीला, सुख मालिला, अगणित पक्षियोंसे घिरा हुआ और तपोवनकी मनभावनी मालिनी नदीके पास मनोहर आनन्दित पक्षियों

आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ॥१८॥
नानावृक्षसमाकीर्णं संप्रज्वलितपावकम् ।
तं तदाऽप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत् ॥१९॥
यतिभिर्वालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम् ।
अग्न्यगारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम् ॥२०॥
महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च ।
मालिनीमभितो राजन्नदीं पुण्यां सुखोदकाम्॥२१॥
नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोवनमनोरमाम् ।
तत्र व्यालमृगान्सौम्यान्पश्यन्प्रीतिमवाप स २२
तं चाऽप्रतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत ।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम् ॥२३॥
नदीं चाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः ।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव तिष्ठिताम् ॥२४॥
सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम् ।
सकिंनरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम् ॥२५॥
पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम् ।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम् ॥२६॥
तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः ।

से परिपूर्ण, भांति भांतिके वृक्षोंसे छपा, आहुति चढाई हुई प्रज्वलित अग्निसे सुशोभित निकटहीसे उनके नेत्रोंके सामने एक आश्रम दीख पडा। राजन्! श्रीमान् भरतीपति दुष्यन्त यति, मुनि और बालखिल्योंसे घिरा हुआ, अनेक अग्निगृहोंसे सुशोभित और फूलोंसे सुसज्जित, विस्तृत मनोहर तपोवनको देखकर बार बार उसकी प्रशंसा करने लगे और वहां के सर्पों और मृगोंकी शान्तभावको देखकर प्रसन्न हुए। (१९-२२)

आगे जाकर श्रीमान् दुष्यन्त देवलोकके समान सर्वप्रकारसे सुन्दर उस आश्रमकी ओर चलकर सब जीवोंकी माताके समान विराजमाना पुण्य जलपूर्ण आश्रममें सुहावनी मालिनी नदीको देखा। जो नदी किनारेकी बालभूमि और सुन्दर तथा चक्रवाकोंसे सेवा पा रही है; जिसके रेत पर चकवा चकई रहते हैं जिसकी धारमें फेनके समान फूल बहता है; जिसका तट बन्दर और भालुओंसे सुशोभित है और ...

आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम् ॥ २७ ॥
नदीमाश्रमसंबद्धां दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तथा ।
चकाराऽभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥ २८ ॥
अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया ।
नरनारायणस्थानं गंगयेवोपशोभितम् ॥ २९ ॥
मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद्वनम् ।
तस्य चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरर्षभः ॥ ३० ॥
अतीवगुणसंपन्नमनिर्देश्य च वर्चसा ।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम् ॥ ३१ ॥
ध्वजिनीमश्वसंबाधां पदातिगजसंकुलाम् ।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः ॥ ३२ ॥
मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम् ।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम ॥ ३३ ॥
तद्वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः ।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा मुदं चाऽवाप पुष्कलाम्॥३४॥
सामात्यो राजलिङ्गानि सोपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाऽऽश्रममुत्तमम् ॥ ३५ ॥
दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाऽव्ययम् ।

बडे सर्प विचर रहे हैं, उस नदीतटमें महात्मा कण्वका आश्रम विराजमान है। महर्षिओंसे बसा हुआ सुन्दर आश्रमकी पालनेवाली उस नदीको देखकर पृथ्वीनाथने उसमें प्रवेश करना चाहा। गंगाजीमें शोभायमान नरनारायण जीके आश्रमकी भांति रमणीय तट और द्वीपोंसे सुहावनी मालिनी नदीमें सजे हुए, उन्मत्त मोरके केका शब्दसे गूंजते हुए चैत्ररथ सदृश उस तपोवनमें प्रवेशकर भूपालने अति गुणशाली अपरिमित तेजोपूर्ण तपोधन कश्यपनन्दन महर्षि कण्वका दर्शन करना चाहा। तब हाथी, घोडे और पैदलोंसे परिपूर्ण सेनाको वनके द्वारपर छोडकर बोले, सेनाओ ! मैं रजोगुणके अतीत तपोधन मुनिवर कण्वके दर्शन को जाता हूं। मेरे लौटनेके काल तक तुम मेरे लिये यहां ठहरी रहो। (२३–३३)

अनन्तर मानवेन्द्र नन्दनवन समान उस तपोवनमें प्रवेशकर भूख-प्यासको भूलकर अपार आनन्दरूपी जलमें डूबे। वहां मन्त्री और पुरोहितके साथ सम्पूर्ण

ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य ह।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ॥ ३६ ॥
ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥ ३७ ॥
यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम्।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ॥ ३८ ॥
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः।
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ॥ ३९ ॥
अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ॥ ४० ॥
शब्दसंस्कारसंयुक्तैर्ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः।
नादितः स बभौ श्रीमान्ब्रह्मलोक इवापरः ॥ ४१ ॥
यज्ञसंस्तरविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः।
न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसंपन्नैर्वेदपारगैः ॥ ४२ ॥
नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः।

राजचिह्न छोड कर उन अव्यग्र तपस्वी ऋषिको देखनेके लिये उस सुन्दर आश्रम में जापहुंचे। आगे उस भ्रमरोंकी गुनगुनाहट से गूंजते हुए और भांति भांतिके पक्षियों

अनुसार पवित्र यज्ञमें साम वेद गानेसे उस अथर्ववेदमें पण्डित मुनि लोग पद और क्रमयुक्त संहिताके पाठ करते थे। ३३-४०

विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥ ४३ ॥
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥ ४४ ॥
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
पक्षिवानररुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥ ४५ ॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥ ४६ ॥
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान्नियतान्संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान्विप्रान्ददर्श परवीरहा ॥ ४७ ॥
आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स्म दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ४८ ॥
देवतायतनानां च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥ ४९ ॥
स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नाऽतृप्यत्प्रेक्षमाणो वै तपोवनगुणैर्युतम् ॥ ५० ॥
स काश्यपस्याऽऽयतनं महाव्रतैर्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः ।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

छन्द शब्द और प्राचीन शास्त्रोंका ज्ञान रखनेवाले, कालज्ञानयुक्त, द्रव्यगुणकर्मज्ञ, कार्यकारण वेत्ता, पक्षी तथा बन्दरोंकी बोली समझनेमें समर्थ विस्तीर्ण ग्रन्थ समाश्रित और नानाशास्त्रोंमें विज्ञ द्विजोंसे उचारे जाते हुए और प्रधान चार्वाकोंके चारों ओरसे बजते हुए शब्द भूपालसे सुने गये । (४१—४६)

शत्रुनाशी नरेशने स्थान स्थान में ऐसे व्रतशील नियमयुक्त जपहोम करनेहारे ब्राह्मणों को देखा। महीपति दुष्यन्त ने यत्नमें बिछाये हुए विचित्र मनोहर आसनोंको देखकर चित्तमें अचरज माना और ब्राह्मणोंके बनाये हुए देवस्थानोंका संस्कार देख देख कर अपनेको ब्रह्मलोक में टिका हुआ जाना । ऋषि कण्वके तपसे रक्षित तपोगुण और वनकी शोभा युक्त उस परम मङ्गलमय आश्रमको देखनेकी लालसा न भरने पर नृपश्रेष्ठ दुष्यन्त सन्तुष्ट न होसके । शत्रुनाशी

वैशम्पायन उवाच- ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान्विसृज्य तान् ।
नाऽपश्यच्चाऽऽश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ १ ॥
सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम्।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं संनादयन्निव ॥ २ ॥
श्रुत्वाऽथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी।
निश्चक्रामाऽऽश्रमात्तस्मात्तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥
सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥
आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि।
पप्रच्छानामयं राजन्कुशलं च नराधिपम् ॥ ५ ॥
यथावदर्चयित्वाऽथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥
तामब्रवीत्ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम्।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत्प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम्।

राजाने मन्त्री और पुरोहितोंके साथ महाव्रतशील तपोधन मुनियोंसे सर्वत्र घिरे हुए ऋषि काश्यपके उस बडे मनोहर सुन्दर स्थानमें प्रवेश किया । ४७ ५१

॥ सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ [illegible]

तब साक्षात् लक्ष्मीकी भांति रूपवती तपस्विनीका वेष धारण किये एक कन्या उस आश्रमसे निकल आई। उस कृष्णाक्षी नारीने राजर्षि दुष्यन्तको देखते ही उसी क्षण अभ्यर्थना करके स्वागत

विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥ ४३ ॥
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥ ४४ ॥
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
पक्षिवानररुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥ ४५ ॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥ ४६ ॥
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान्नियतान्संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान्विप्रान्ददर्श परवीरहा ॥ ४७ ॥
आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स्म दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ४८ ॥
देवतायतनानां च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥ ४९ ॥
स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नाऽतृप्यत्प्रेक्षमाणो वै तपोवनगुणैर्युतम् ॥ ५० ॥
स काश्यपस्याऽऽयतनं महाव्रतैर्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः ।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

छन्द शब्द और प्राचीन शास्त्रोंका ज्ञान रखनेवाले, कालज्ञानयुक्त, द्रव्यगुणकर्मज्ञ, कार्यकारण वेत्ता, पक्षी तथा बन्दरोंकी बोली समझनेमें समर्थ विस्तीर्ण ग्रन्थ समाश्रित और नानाशास्त्रोंमें विज्ञ द्विजोंसे उचारे जाते हुए और प्रधान चार्वाकोंके चारों ओरसे बजते हुए शब्द भूपालने सुने गये । (४१—४६)

शत्रुनाशी नरेशने स्थान स्थान में ऐसे व्रतशील नियमयुक्त जपहोम करनेहारे ब्राह्मणों को देखा। महीपाति दुष्यन्त ने यत्नसे बिछाये हुए विचित्र मनोहर आसनोंको देखकर चित्तमें अचरज माना और ब्राह्मणोंके बनाये हुए देवस्थानोंका संस्कार देख देख कर अपनेको ब्रह्मलोकमें टिका हुआ जाना । ऋषि कण्वके तपसे रक्षित तपोगुण और वनकी शोभा युक्त उस परम मङ्गलमय आश्रमको देखनेकी लालसा न लगने पर नृपश्रेष्ठ दुष्यन्त सन्तुष्ट न होसके । शत्रुनाशी

वैशम्पायन उवाच- ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान्विसृज्य तान् ।
नाऽपश्यच्चाऽऽश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ १ ॥
सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम्।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं संनादयन्निव ॥ २ ॥
श्रुत्वाऽथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी।
निश्चक्रामाऽऽश्रमात्तस्मात्तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥
सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥
आसनेनाऽर्चयित्वा च पाद्येनाऽर्घ्येण चैव हि।
पप्रच्छाऽनामयं राजन्कुशलं च नराधिपम्॥ ५ ॥
यथावदर्चयित्वाऽथ पृष्ट्वा चाऽनामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥
तामब्रवीत्ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम्।
दृष्ट्वा चैवाऽनवद्याङ्गीं यथावत्प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम्।

राजाने मन्त्री और पुरोहितो के साथ महाव्रतशील तपोवन मुनियोंसे सर्वत्र घिरे हुए ऋषि काश्यपके उक्त बडे मनोहर शुभस्थानमें प्रवेश किया । (४७-५१)

आदिपर्वमें सत्तरवां अध्याय समाप्त [२९७०]

आदिपर्व में एकहत्तरवां अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर महाबाहु दुष्यन्त मन्त्री और पुरोहितको विदा करके अकेले चलकर ऋषि कण्वके आश्रममें जा पहुंचे, पर वहां उन संयत व्रतयुक्त महर्षिको न देखकर आश्रमको सूना पाकर चिल्ला कर यह बात कही, कि "यहां कौन है," इससे आश्रम प्रतिध्वनित हुआ । अनन्तर उनकी ध्वनिको सुन साक्षात् लक्ष्मीकी भांति रूपवती तपस्विनीका वेषधारण किये एक कन्या उस आश्रमसे निकल आई। उस कृष्णाक्षी नारी ने राजर्षि दुष्यन्त को देखते ही उसीक्षण अभ्यर्थना करके स्वागत पूछा । (१—४)

हे राजन् ! कन्याने राजाको आसन, पाद्य और अर्घसे पूजकर स्वास्थ्य और कुशल पूछा; अनन्तर लज्जायुक्त मुखसे कहा, कि कहिये, क्या कार्य करना होगा । राजा विधिपूर्वक पूजे जाकर उस अनिन्दिताङ्गी, मधुरभाषिणी की ओर देखकर बोले, कि भद्रे ! मै महाभाग ऋषि कण्वकी उपासना करने आया हूं,

क्व गतो भगवान्भद्रे तन्ममाऽऽचक्ष्व शोभने ॥ ८ ॥
शकुन्तलोवाच — गतः पिता मे भगवान्फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं संप्रतीक्षस्व द्रष्टाऽस्येनमुपागतम् ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच — अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसंपन्नामित्युवाच महीपतिः ॥ ११ ॥
का त्वं कस्याऽसि सुश्रोणि किमर्थं चाऽऽगता वनम् ।
एवंरूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥ १२ ॥
दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाऽऽचक्ष्व शोभने ॥ १३ ॥
एवमुक्ता तु सा कन्या तेन राज्ञा तमाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ॥ १४ ॥
कण्वस्याऽहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
दुष्यन्त उवाच — ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद्धर्मोऽपि न चलेत्संशितव्रतः ॥ १६ ॥

हे शोभने ! बोलो, कि वे भगवान् कहां गये है। शकुन्तला बोली, भगवान् पिता फल बटोरनेको आश्रमसे निकले है। आप क्षणभर ठहरिये उनको लौटे हुए पावेंगे। (५—९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजा ऋषि को न पाकर शकुन्तलाको सुन्दरी, और रूपयौवनवती देखकर बोले, कि री सुश्रोणि ! तुम कौन ? किसकी बेटी हो? री शोभने ! तुम ऐसी रूपगुणवती होकर क्यों इस वनमें आई हो ? और कहासे आई ? री शुभे ! तुमने दर्शन मात्रमे मेरा मन हर लिया है, री शोभने ! बोलो मै तुम्हारा परिचय लेना चाहता हूं। (१०—१३)

आश्रममे राजाके इस प्रकार कहने पर माधुशीला शकुन्तलाने मीठे अक्षर-युक्त बातोसे कहा, कि हे दुष्यन्त ! मै धृतिमान धर्मज्ञ महात्मा कण्वकी बेटी हूं। दुष्यन्त बोले, कि लोकपूजित महाभाग भगवान् कण्व ऊर्ध्वरेता हैं; यदि धर्मभी निज चरित्रसे टल सके पर तो भी संयत व्रतशील महर्षि कदापि निज वृत्तमे नहीं टलते है, अतएव री सुन्दरी!

कथं त्वं तस्य दुहिता संभूता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तन्मे छेत्तुमिहाऽर्हसि ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच— यथाऽयमागमो मह्यं यथा चेदमभूत्पुरा ।
शृणु राजन्यथातत्त्वं यथाऽस्मि दुहिता मुनेः॥ १८॥
ऋषिः कश्चिदिहाऽगम्य मम जन्माऽभ्यचोदयत् ।
तस्मै प्रोवाच भगवान्यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ १९ ॥

कण्व उवाच— तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत्तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥ २० ॥
तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति।
भीतः पुरंदरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे ।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु २२॥
असावादित्यसंकाशो विश्वामित्रो महातपाः।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ॥ २३॥
मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे।
शंसितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्तते ॥ २४॥
स मां न च्यावयेत्स्थानात्तन्मे गत्वा प्रलोभय ।

मुझे बडी शङ्का होती है, कि तुम क्योंकर उनकी कन्या हुई, तुम मेरी यह शङ्का दूर करो। (१४—१७)

शकुन्तला बोली, कि हे राजन् ! यह जिस प्रकार हुआ है, मैंने जैसा सुना है और मै जैसे महर्षि की बेटी हुई हूं , सब कहती हूं, सुनिये। किसी समय एक ऋषि ने आकर पिता कण्वसे मेरा जन्म-वृत्तान्त पूछा था; उस समय भगवान्ने उनसे जैसा जैसा कहा था, कि हे पृथ्वीनाथ ! वह सुनिये। कण्वजी कहने लगे, कि पूर्वकालमें ऋषि विश्वामित्रनें बडी तपस्या आरंभ की थी; इससे देवराज बडे चिन्तायुक्त और भयभीत होकर सोचने लगे, कि यह ऋषि तपस्याके बलसे बडे तेजस्वी हुए हैं, सो मुझको पदसे च्युत कर सकते है, ऐसी चिन्ता कर मेनका नामक अप्सरासे बोले, कि मेनका! तुम दिव्य गुणोंसे अप्सरोंमें श्रेष्ट हो । कल्याणि ! तुम मेरा हित करो, मै जो कहता हूं, सुनो । मेनके ! आदित्यवत् तेजस्वी महा तपस्वी विश्वामित्रकी कठोर तपस्यासे मेरा हृदय कांप रहा है, वह मयतात्मा दुर्धर्प क्रमशः कठोरतर

चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मेऽविघ्नमुत्तमम् ॥ २५ ॥
रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषणैः ।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ॥ २६ ॥

मेनकोवाच— महातेजाः स भगवांस्तथैव च महातपाः ।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ॥ २७ ॥
तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः ।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ॥ २८ ॥
महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत् ।
क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद्ब्राह्मणो बलात् ॥ २९ ॥
शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः ।
या तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ॥ ३० ॥
बभार यत्राऽस्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः ।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ॥ ३१ ॥
अतीतकाले दुर्भिक्षे अभ्येत्य पुनराश्रमम् ।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ॥ ३२ ॥
मातङ्गं याजयाञ्चक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम् ।

तपस्यामें प्रवृत्त हो रहे हैं। री सुमध्यमे ! मैं तुमपर भार देता हूं, तुम जाकर उनको लुभाओ, कि वह मुझको पदसे निकाल न सकें, उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेको यत्नवती हो, कि मैं विना विघ्न पदमें बना रह सकूं। री सुन्दरी ! तुम रूप यौवनकी शोभा, हाव, भावादि और लाज से मिली हुई बातोंसे मुनिको लुभाकर तपस्यासे निवृत्त करो। (१८-२६)

मेनका बोली, कि भगवान् विश्वामित्र महातेजस्वी, महातपस्वी और बडे कोधी हैं ; आप भी उनको जानते हैं, जिन महात्माके तेज, तपस्या और क्रोधसे आप देवराज होकरके भी भय खा रहे हैं, उनसे क्यों नहीं, मैं भयभीत होऊंगी ? जिन्होंने महात्मा वसिष्ठके प्यारे पुत्रोंको मृत्यु की पीडा अनुभव करायी थी, जो पहिले क्षत्रिय कुलमें जन्म लेकर पीछे बलसे ब्राह्मण हुए हैं ; जिन्हों ने स्नानादिके निमित्त एक बहुजलभरी पुण्य मयी अपार नदी बहाई है ; व्याधरूपीमतङ्ग नामक धर्मात्मा राजर्षिने दुर्भिक्षके कालमें उक्त नदीके तटपर जिन महात्माके परिवारको पाला पोसा था ; दुर्भिक्ष कालके अन्त होने पर जिस प्रभुने फिर आश्रममें लौटकर उस कौशिकी नदीका

त्वं च सोमं भयाद्यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ॥ ३३ ॥
चकाराऽन्यच्च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ॥ ३४ ॥
गुरुशापहतस्याऽपि त्रिशङ्कोः शरणं ददौ ॥ ३५ ॥
एतानि यस्य कर्माणि तस्याऽहं भृशमुद्विजे।
यथाऽसौ न दहेत्क्रुद्धस्तथाऽऽज्ञापय मां विभो॥ ३६ ॥
तेजसा निर्दहेल्लोकान्कम्पयेद्धरणीं पदा।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेद्दिशः ॥ ३७ ॥
तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम्।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत्॥ ३८ ॥
हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम्।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत् ॥ ३९ ॥
यमश्च सोमश्च महर्षयश्च साध्या विश्वे वालखिल्याश्च सर्वे।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्तस्मात्कस्मान्मादृशी नोद्विजेत॥ ४० ॥
त्वयैवमुक्ता च कथं समीपमृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र।

"पारा" यह नाम रखा था और प्रसन्न होकर स्वय उन मतङ्ग नामक राजर्षिका याजन कार्य किया था; हे नरेश! आपभी जिनके भयमे सोमरस पीनेको गये थे; जिन्होंने क्रोधित होकर प्रतिज्ञा पूर्वक दूसरा एक नक्षत्र-लोक रचा है; जिन्होंने गुरुशाप ग्रस्त त्रिशंकुको ढाढस दिया था, हे प्रभो! जिनके कार्य यह सब है, मै उनसे वडा भय खाती हू ऐसी आज्ञा कीजिये, कि वह क्रोधित होकर मुझको भस्म न कर डालें। जो तेजसे संपूर्ण लोकोंको जला सकते है, सुमेरु पर्वतको क्षुद्र बना सकते है और अति शीघ्र सब दिशाओंको उलट पलट कर सकते है, प्रज्वलित अग्नि सदृश तपोराशियुक्त जितेन्द्रिय महर्षिको मेरीसी अबलाकी जाति क्योंकर छू सकती है? हे सुरश्रेष्ठ! जिनका मुख प्रज्वलित अग्निका स्वरूप है, जिनके नेत्रोंके तारे चन्द्र सूर्यके स्वरूप है, जिनकी जिह्वा कालस्वरूप है, उन दुर्धर्ष महर्षिको मेरी सी अबलाकी जाति क्योंकर छू सकती है? यम, सोम, महर्षिगण, साध्यगण और वालखिल्य मुनिगण जिनके प्रभावसे भय खाते है, मेरीसी अबलाकी जाति क्यो उनसे भय न खायेगी? हे सुरेन्द्र! आप जब उन ऋषिके समीप जानेकी आज्ञा कर रहे है, तब मैं क्योंकर बिना गये रह सकूंगी, पर हे देवराज! मेरी

रक्षां तु मे चिन्तय देवराज यथा त्वदर्थं रक्षिताऽहं चरेयम्॥ ४१ ॥
कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः प्रक्रीडिताया विवृणोतु देव।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये सहायभूतस्तु तव प्रसादात्॥ ४२ ॥
वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायात्तस्मिन्काले तमृषिं लोभयन्त्याः।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मिंस्ततो ययौ साऽऽश्रमं कौशिकस्य॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने [२९९२]
एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

कण्व उवाच-- एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम्।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह ॥ १ ॥
अथाऽपश्यद्वरारोहा तपसा दग्धकिल्बिषम्।
विश्वामित्रं तप्यमानं मेनका भीरुराश्रमे॥ २ ॥
अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडदृषिसंनिधौ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसंनिभम्॥ ३ ॥
साऽगच्छत्त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिप्सती।
स्मयमानेव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी ॥ ४ ॥
पश्यतस्तस्य तत्रर्षेरप्यग्निसमतेजसः ।

रक्षाका प्रयत्न कीजिये, कि मैं आपसे भलाप्रकार रक्षिता होकर आपका कार्य साधन करनेके लिये चल फिर सकूं, पर मेरी और भी प्रार्थना यह है, कि जब मैं आश्रममें खेलती रहूंगी, उस समय वायु मेरा पहिना हुआ वस्त्र हरलेवें और आप की आज्ञासे उस कार्यमें मन्मथ और मेरे सहायक होवें। और भी मैं जब ऋषि को लुभाने लगूंगी, तब वनमें सुरभि हवा चलती रहेगी। मेनकाकी ऐसी प्रार्थना पर देवराजने "तथास्तु" कहकर वैसाही प्रबन्ध कर दिया, अनन्तर मेनका विश्वामित्रके आश्रमको पधारी। २९९३

आदिपर्व में एकहत्तरवां अध्याय समाप्त। [२९९३]

आदिपर्व में बहत्तरवां अध्याय।

कण्वजी बोले, कि देवराजके मेनका की बातमें वायुको आज्ञा देने पर पवन-देव मेनकाके साथ चले। अनन्तर उस सुन्दरी अप्सराने तपस्यामें जले, तप करते हुए विश्वामित्रको आश्रममें पाया और ऋषिको प्रणाम करके उनके साथमें भयके साथ खेलने लगी। वायुनेभी उस समय उसके चन्द्रमा सदृश वस्त्रको हर लिया, सुन्दरी मेनका, वायुके उस कार्य में मानों अचरज मानकर लाज दिखा-ती हुई वस्त्र चुन लेनेके लिये अग्नि स-

महाभारत चित्र माला। चित्र संख्या १८



विश्वामित्र मेनका। (शकुंतला जन्म)
[म० भा० आदिपर्व अध्याय ७२]

विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम्॥ ५॥
गृद्धां वाससि संभ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद्विवृतां तदा ॥ ६॥
तस्या रूपगुणान्दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा।
चकार भावं संसर्गान्तया कामवशं गतः ॥ ७॥
न्यमन्त्रयत चाऽप्येनां सा चाऽप्यैच्छदनिन्दिता।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्याहरतां तदा ॥ ८॥
रममाणौ यथाकामं यथैकदिवसं तथा।
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥ ९॥
प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम्।
जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु॥ १०॥
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम्।
तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ॥ ११॥
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात्पर्यवारयन्।
नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः॥ १२॥
पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम्।

मान तेजस्वी महर्षि विश्वामित्रकी आंखों-के सामने गई। (१—५)

मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र उस समय उस जांचनेके अयोग्य अवस्थावाली रूपवती अनिन्दिता मेनकाको वस्त्रहीना, वस्त्र लेने की अभिलाषिणी भूली भटकीसी और विपत्में पडी हुई देखकर विशेषत उसके अतुलरूप गुण निहारकर कामवश हुए और मिलनकी अभिलाषासे उसको बुलाया। अनिन्दिता मेनकाभी उसपर सम्मत हुई। तब मुनि और मेनका दोनों उस स्थानमें बहुत कालतक विहार करने लगे और मनमाने खेलके सुखसे बहुत दिनोंको भी एक दिनके समान गंवाया; इसपर मुनिके वीर्य और मेनका के गर्भसे हिमालयपर्वतके मनोहर,चट्टान पर, मालिनी नदीके किनारे शकुन्तला का जन्म हुआ (६—१०)

मेनका सफल मनोरथ होकर उस हाल-की पैदा हुई सन्तानको मालिनी नदीके तटपर छोडकरके उसीक्षण इन्द्रकी सभा में गयी। सिंह-व्याघ्रोंसे भरे हुए उस घने वनमें उस हालकी भयी हुई बालिकाको सोती हुई देखकर पक्षियोंने चारों ओरसे घेर लिया। शकुन्त लोग उस वनमें इस लिये मेनका-पुत्रीकी रख-

उपस्प्रष्टुं गतश्चाऽहमपश्यं शयितामिमाम् ॥ १३ ॥
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम् ।
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ॥ १४ ॥
शरीरकृत्प्राणदाता यस्य चाऽन्नानि भुञ्जते।
क्रमेणैते त्रयोप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ॥ १५ ॥
निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिपालिता।
शकुन्तलेति नामाऽस्याः कृतं चाऽपि ततो मया॥१६॥
एवं दुहितरं विद्धि मम विप्र शकुन्तलाम् ।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच— एतदाचष्ट पृष्टः सन्मम जन्म महर्षये ।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥ १८ ॥
कण्वं हि पितरं मन्ये पितरं स्वमजानती ।
इति ते कथितं राजन्यथावृत्तं श्रुतं मया ॥ १९ ॥ [३०१२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने द्विसप्ततितमोऽध्याय ॥ ७२ ॥

दुष्यन्त उवाच— सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे।

वारी करते रहे, कि मांसलोभी जन्तु उस बालिकाकी हिंसा न कर सकें; उस समय मैंने स्नानार्थ जाकर उस मनोहर निर्जन वनमें उसको उस दशामें देखकरके आश्रममें ले जाकर कन्याकी भांति रक्षा की । धर्मशास्त्रोमें कहा है, कि जन्मदाता, प्राणदाता और अन्नदाता यह तीनोंही पिता होते हैं । यह कन्या निर्जन वनमें शकुन्तोंसे बचायी गयी थी, इसलिये मैंने इसका ' शकुन्तला ' यह नाम दिया है; हे विप्र! शकुन्तला इस प्रकार मेरी कन्या हुई है, यह अनिन्दिता शकुन्तला मुझकोही पिता करके जानती है । (११ – १७)

शकुन्तला बोली, कि हे नराधिप ! पिताने आये हुए महर्षिसे पुछे जाकर इस प्रकार मेरा जन्म वृत्तान्त उस महर्षिसे कहा था; सो मुझको कण्वकी बेटी करके जानना; मैं जन्मदाता पिताको नहीं जानती; कण्वहीको पिता करके मानती हूं; हे राजन्! मेरे जन्मके विषयमें जैसी घटना हुई थी और उसे मैंने जैसे सुना था, वह मैं सब कह चुकी। (१८–१९)

आदिपर्वमें बहात्तरवां अध्याय समाप्त। [३०१२]

आदिपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय ।

दुष्यन्त बोले, कि री कल्याणि ! तुम

भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥
सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च काञ्चने ॥ २ ॥
आहरामि तवाऽद्याऽहं निष्कादीन्यजिनानि च ।
सर्वराज्यं तवाऽद्यास्तु भार्या मे भव शोभने॥ ३ ॥
गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुंदरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते॥ ४ ॥

शकुन्तलोवाच— फलाहारो गतो राजन्पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्तं संप्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ॥ ५ ॥

दुष्यन्त उवाच— इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥ ६ ॥
आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः ।
आत्मनैवाऽत्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥ ७ ॥
अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः ।
ब्राह्मो दैवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः॥ ८ ॥
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाऽष्टमः स्मृतः ।

ने जो कहा, उससे निश्चय होता है, कि तुम राजपुत्री हो। री सुश्रोणि! तुम मेरी स्त्री होओ; कहो, उसके निमित्त क्या करना होगा? आज तुम्हारे लिये सुवर्ण हार, वस्त्र, सुवर्णके कुण्डल, नाना नग-रोंसे बटोरे शोभादेनेहारे शुक्ल मणि, रत्न, और मृगचर्म, सन्दूक आदि सभी लाता हूं, आज सम्पूर्ण राज्यही तुम्हारे हाथमें होजावेः री शोभने! तुम मेरी पत्नी हो-ओ। री सुन्दरि! री भीरु' मुझको गा-न्धर्व विवाहसे वरोः री रम्भोरु! सब वि-वाहोंमेंसे गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ करके उक्त है। (१ – ४)

शकुन्तला बोली, कि राजन्! मेरे पिता फल बटोरनेके लिये इस आश्रमसे गये है; आप क्षणभर ठहरें, वह आकर आपको मुझे सम्प्रदान करेंगे । दुष्यन्त बोले, कि री सुन्दरी! मैं चाहता हूं कि तुम स्वयं मुझको भजो, री अनिन्दिते! मै तुम्हारे निमित्तही यहां हूं, मेरा हृदय तुम परही आसक्त हुआ है। देखो, आप ही अपना बन्धु है, आपही अपनी गति है, सो धर्मानुसार तुम अपनेको दान करो। धर्मानुसार आठ प्रकारके विवाह संक्षेपमें कहे है यथा ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर,गान्धर्व, राक्षस

तेषां धर्म्यान्यथापूर्वं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान्ब्राह्मणस्योपधारय ।
षडानुपूर्व्या क्षत्रस्य विद्धि धर्म्याननिन्दिते ॥ १० ॥
राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या अधर्म्यौ द्वौ स्मृताविह ॥ ११ ॥
पैशाच आसुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता ॥ १२ ॥
गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्किथाः।
पृथग्वा यदि वा मिश्रौ कर्तव्यौ नाऽत्र संशयः॥ १३ ॥
स त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनी ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥ १४ ॥
शकुन्तलोवाच— यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चाऽऽत्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥ १५ ॥

और पैशाच। स्वायम्भुवमनुने इस आठ प्रकारके विवाह में जो जिसके लिये धर्म-युक्त है, उसकी कथा आद्योपान्त कही है, कि पहिले कहे हुए चार प्रकार के विवाह ब्राह्मणके लिये प्रशस्त है। (५- १०)

री अनिन्दिते' पहिलेसे आद्योपान्त कहे हुए छ: प्रकारके विवाह क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त है; राजाके लिये राक्षस विवाहभी धर्म-सम्मत है और वैश्य और शूद्रके लिये आसुर विवाह धर्मयुक्त करके कहा है। पहिले गिने हुए पांच प्रकारके विवाहोंमें ब्राह्म, दैव, और प्राजापत्य यह तीन प्रकारके विवाह सब प्रकारसे धर्मसंयुक्त है। आर्ष तथा आसुरविवाह धर्म-विहित नही है और पैशाच तथा आसुर विवाह किसी प्रकारसे कर्त्तव्य नही है। धर्म की गति ऐसी है; विधिके अनुसार विवाह करना कर्त्तव्य है; अतएव इसकी शङ्का न करना, कि गान्धर्व और राक्षस-विवाह क्षत्रियोंके लिये धर्म-संयुक्त है; इसमें सन्देह नही है, कि यह दो प्रकारके विवाह, चाहे अलग रूपमे हो वा मिल कर हो, राजाके लिये उचित है। री सुन्दरी ! मै तुमसे विवाह करनेको अभिलाषी हुआ हूं, और उसमे तुम्हारीभी इच्छा है, सो गान्धर्वविवाहके अनुसार मेरी पत्नी होना तुम्हारे लिये अनुचित नहीं होगा ! (१०—१४)

शकुन्तला बोली, कि हे प्रभो पौरवश्रेष्ठ! यदि यह धर्म पथके अनुसार होवे और आत्मसमर्पणके विषयमे मुझको अधिकार रहे, तो सुनिये मेरा एक प्रण है ।



दुष्यन्त-शकुन्तला।
(आदिपर्व अध्याय ७३)

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरः ॥ १६ ॥
युवराजो महाराज सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
यद्येनदेवं दुष्यन्त अस्तु मे संगमस्त्वया ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच– एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाऽविचारयन्।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं त्वं शुचिस्मिते॥१८॥
यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम्॥१९॥
जग्राह विधिवत्पाणावुवास च तया सह ।
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच पुनः पुनः ॥ २० ॥
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।
तया त्वामानयिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते २१॥

वैशम्पायन उवाच -इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय ।
मनसा चिन्तयन्प्रायात्काश्यपं प्रति पार्थिवः॥२२॥
भगवांस्तपसा युक्त श्रुत्वा किं नु करिष्यति ।
एवं स चिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ २३ ॥

महाराज ! मै इस निर्जन स्थानमें कहती हूं, कि मुझसे प्रण कीजिये, कि मेरे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह पुत्र युवराज और आपके पीछे अधिकारी होगा; हे दुष्यन्त मै सच कहती हूं, कि यदि ऐसा हो, तो आपसे विवाह करने में मुझे आपत्ति नहीं है। (१५-१७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजाने और कुछ न विचार करके शकुन्तला की बात मानली और बोले, कि री स्मितमुखि ! तुम जिस योग्य हो, वही करूंगा और तुमको राजधानीमें लेजाउंगा री सुश्रोणि ! मै तुमसे यह प्रण कर चुका। राजर्षि दुष्यन्त सुचलन शकुंतलासे यह कह कर यथाविधि पाणिग्रहण करके उसके साथ मिले। अनन्तर उसको समझा बुझा करके विश्वास कराकर निज नगरी को पधारे; आनेके काल शकुन्तला से वारवार बोले, कि री शुद्धमुखि! राजधानी मे चलकर तुम्हारे लिये चतुरङ्गिनी सेना भेजूंगा और उस सेनाके साथ तुमको राजधानीमें ले जाउंगा। १८-२१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय! राजा शकुन्तलासे वह प्रतिज्ञाकर यह सोचते हुए चले, कि तपस्वी कण्व आश्रम मे आकर यह सब सुनकरके क्या समझेंगे ,

मुहूर्तयाते नारिंमस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत्।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नापजगाम तम् ॥२४॥
विज्ञायाऽथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः।
उवाच भगवान्प्रीतः पश्यन्दिव्येन चक्षुषा ॥२५॥
त्वयाऽद्य भद्रे रहसि मामनादृत्य यः कृतः।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः ॥२६॥
क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः २७॥
धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तम।
अभ्यगच्छः पतिं यस्त्वं भजमानं शकुन्तले ॥२८॥
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः।
य इमां सागरापांगीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम् २९
परं चाऽभिप्रयातस्य चक्रं तस्य महात्मनः।
भविष्यत्यप्रतिहतं सततं च वर्तिनः ॥३०॥
ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत्।
विनिधाय ततो भारं संनिधाय फलानि च ॥३१॥

क्या करेंगे ऐसेही सोचते हुए उन्होंने निज राजधानी में प्रवेश किया। अनन्तर कुछ कालके पश्चात् महर्षि कण्वके आश्रममें आ पहुंचने पर, शकुन्तला लज्जावश होकर उनके पास नहीं गयी। दिव्य ज्ञानयुक्त महातपा भगवान् कण्व दिव्यनेत्रोंसे सम्पूर्ण वृत्तान्त को जानकर प्रसन्नचित्त हुए और बोले, कि भद्रे! आज मेरी सम्मतिके विना एकान्तमें पुरुषसे मिलनेसे तुम्हारे धर्मकी हानि नहीं हुई; क्योंकि कहा है, कि क्षत्रियके लिये गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ होता है; निर्जन स्थानमें कामयुक्ता नारीसे कामयुक्त विना मन्त्र जो मिलन होता है, वही गान्धर्व विवाह कहाता है। दुष्यन्त धर्मात्मा, महात्मा और पुरु[illegible] है; जो शकुन्तले! वह तुमको [illegible] चुके हैं, और तुमनेभी उनको पति[illegible] वरण कर लिया है; इससे तुम्हारे ग[illegible] एक महात्मा महाबली पुत्र जन्म ले[illegible] वह पुत्र सम्पूर्ण भूमण्डलका अधि[illegible] होगा और विपक्ष के विरुद्ध रणा[illegible] करनेके कालमें उस महात्मा चक्रव[illegible] रथके चक्र कभी नहीं रुकेंगे। (२२-३०)

अनन्तर शकुन्तलाने फल और [illegible] लकड़िके बोझको रखकर मुनिके पां[illegible] दिये, आगे उनकी थकावट दूर होते[illegible]

कुन्तलोवाच— मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥
कण्व उवाच— प्रसन्न एव तस्याऽहं त्वत्कृते वरवर्णिनि ।
ग्रहाण च वरं मत्तस्त्वं शुभे यदभीप्सितम्॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच- ततो धार्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चाऽस्खलनं तथा ।
शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया ॥३४॥ [३०४६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि शकुंतलोपाख्याने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

वैशम्पायन उवाच–प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तला ।
गर्भं सुषाव वामोरुः कुमारममितौजसम् ॥ १ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम् ।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौष्यन्तिं जनमेजय ॥ २ ॥
जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः ।
विधिवत्कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ॥ ३ ॥
दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो महान्।
चक्रांकितकरः श्रीमान्महामूर्धा महाबलः ॥ ४ ॥
कुमारो देवगर्भाभः स तत्राऽऽशु व्यवर्धत।

सुखसे बैठे देखकर बोली, कि पिता ! पुरुषश्रेष्ठ राजा दुष्यन्तको मैंने पतित्वमें वरण कर लिया है, इस क्षण आप कृपाकर उस राजा और उनके मन्त्रियोंपर प्रसन्न होवें । कण्व बोले, कि री बेटी ! तुम्हारे लिये उनपर प्रसन्न हुआ हूं, री शुभे ! तुम मुझसे मनमाना वर लो । (३१-३३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर शकुन्तलाने दुष्यन्तकी हिताभिलाषिणी होकर पौरवोंकी धर्मनिष्ठा और राज्यसे च्युत न होनेका वर मांगा । (३४) [३०४६]

आदिपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें चौहत्तरवां अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजा दुष्यन्त प्रतिज्ञामें आबद्ध होकर राजधानी को लौट गये । सुन्दरी शकुन्तलाने तीन वर्षके पूरे होने पर दुष्यन्तके वीर्यसे जन्म लिये हुए प्रज्वालित अग्निके समान अपार वीर्यवान उदार गुणवान् एक पुत्र प्रसव किया । श्रीमान् कुमार दिनोंदिन बढने लगा; पुण्यशील ऋषिने विधिपूर्वक उसके जातकर्मादि संस्कार किये । शुक्ल और तेज दांतयुक्त सिंह समान कठोर देहधारी चक्रवर्तीके चक्रवत् चिह्नसे रंग

षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ ५ ॥
सिंहव्याघ्रान्वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा ।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ॥ ६ ॥
आरोहन्दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ।
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ॥ ७
अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ॥ ८
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः ।
तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ॥ ९
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम् ।
तस्य तद्बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितो गृहात् ।
भर्तुः प्रापयताऽगारं सर्वलक्षणपूजितम् ॥ १
नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥
तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः

हुए हस्तयुक्त, महामर्षी, अतिबलवन्त, महासत्व देवकुमार समान वह कुमार मुनिके आश्रममें शीघ्र बढने लगा। (१-५)

वह बलवान बालक छः वर्षकी अवस्थामें आश्रमके सिंह, व्याघ्र, शूकर, भैंसे, हाथी आदिको पकडकर निकटके वृक्षोंमें बांध रखता था और उन सिंह व्याघ्रोंमें किसी पर खेलता हुआ घूमता फिरता था। कण्वके आश्रममें रहनेवाले मुनिलोग उन लीलाओंको देखकर समझा करते थे, कि यह बालक सब जीवोंका ही दमन करता है, सो इसका "सर्वदमन" ना रहा। विक्रममें तेजोवन्त और बलवान् भीसे सर्वदमन नाए सिद्ध हुए। (५-८

महर्षि कण्वने कुमारका असाधारण बल और देखकर शकुन्तलासे कहा, कि बालकके युवराजके पद पर अ होनेका समय आ पहुंचा है। ता उन्होंने शिष्योंको बुलाकर क हो कि तुम इस आश्रमसे पुत्र सहित न्तलाको सर्व लक्षणयुक्त पतिके घ लजाओ। स्त्रियों को सदा पिताके घर रहना नहीं चाहिये; ऐसा होनेसे कीर्ति चरित्र और धर्म बिगड सकता है, इसको पतिके घर ले जानेमें और भी विलंब मत करो। (९—१२)

शकुन्तलां पुरस्कृत्य सपुत्रां गजसाह्वयम् ॥ १३ ॥
गृहीत्वाऽमरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम् ।
आजगाम ततः सुभ्रूर्दुष्यन्तं विदिताद्वनात् ॥ १४ ॥
अभिसृत्य च राजानं विदिता च प्रवेशिता ।
सह तेनैव पुत्रेण बालार्कसमतेजसा ॥ १५ ॥
निवेदयित्वा ते सर्व आश्रमं पुनरागताः ।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ॥ १६ ॥
अयं पुत्रस्त्वया राजन्यौवराज्येऽभिषिच्यताम् ।
त्वया ह्ययं सुतो राजन्मय्युत्पन्नः सुरोपमः ॥
यथासमयमेतस्मिन्वर्तस्व पुरुषोत्तम ॥ १७ ॥
यथा मत्सङ्गमे पूर्वं यः कृतः समयस्तथा ।
तं स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ १८ ॥
सोऽथ श्रुत्वैव तद्वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसी ॥ १९ ॥

महातेजस्वी शिष्य लोग ऋषि कण्व की आज्ञाको मानकर पुत्रसहित शकुन्तला को आगे करके हस्तिनापुरको पधारे। अच्छे भौंवाली शकुन्तला भी अमर समान प्रकाशमान पद्मनेत्रवान् निज पुत्र को लेकर दुष्यन्तके जाने हुए उस वनसे आने लगी। आगे वे सब उस नये सूर्य-सदृश तेजस्वी बालकके साथ राजाके द्वार पर पहुंचकर द्वारपालसे राजाको खबर देकर राजमन्दिरमें प्रविष्ट हुए। अनन्तर ऋषि कण्व के शिष्यलोग सपूर्ण हाल राजाके सम्मुख कहकर आश्रमकी ओर लौटे। (१३—१६)

शकुन्तला राजाका यथानियम सत्कार कर बोली, कि आपके इस पुत्रने मेरे गर्भसे जन्म लिया है; देवता समान यह पुत्र आपहीके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है; सो इसको युवराजके पद पर बैठाइये; हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप जिस प्रकार स्वीकृत हुए थे, वैसाही कार्य कीजिये। हे महाभाग! पहिले आपने मुनि कण्वके आश्रममें मुझसे सङ्गमके समय जो प्रतिज्ञा की थी, उसको स्मरण कीजिये। (१६—१८)

अनन्तर शकुन्तलाके यह वचन सुनते ही नरनाथ दुष्यन्तको अपना किया हुआ पूर्व कार्य स्मरण हुआ; तिस पर भी वह कहने लगे, कि मुझे कुछभी स्मरण नहीं है। अरी दुष्ट तपस्विनि ! तू किसकी स्त्री है ? तुझसे मेरा धर्म, अर्थ और काम किसी विषयके सम्बन्ध का

धर्मकामार्थसंबन्धं न स्मरामि त्वया सह ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद्वापीच्छसि तत्कुरु ॥ २० ॥
सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी ।
निःसंज्ञेव च दुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला ॥ २१ ॥
संरम्भामर्षताम्राक्षी स्फुरमाणोष्ठसंपुटा ।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग्राजानमैक्षत ॥ २२ ॥
आकारं गूहमाना च मन्युना च समीरिता ।
तपसा संभृतं तेजो धारयामास वै तदा ॥ २३ ॥
सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा दुःखामर्षसमन्विता ।
भर्तारमभिसंप्रेक्ष्य क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे ।
न जानामीति निःशङ्कं यथाऽन्यः प्राकृतो जनः ॥२५॥
अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवाऽनृतस्य च ।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः ॥२६॥
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥ २७ ॥

रहना मुझको स्मरण नहीं होता, सो तू अब जो चाहती है कर, चाहे चली जा, चाहे रह। (१९—२०)

दुष्यन्तके ऐसी निष्ठुर वाणी कहनेपर तपस्विनी सुन्दर शकुंतला लज्जासे मलिन और अचेतन बनकर दुःखसे जडके समान खडी रही। अभिमान और दुःखसे उसकी आंखें लाल हो गयी और दोनों होठ हिलने लगे। तब वह तिरछी दृष्टिसे राजाकी ओर देखकर कटाक्षसे मानो उसको भस्म करने लगी, उसने क्रोधयुक्ता होने परभी बाहर कुछ न प्रगटकर तपसे हुए तेजको रोक लिया। (२१-२३)

अनन्तर कुछकाल सोचकर दुःख और खेदयुक्त होके क्रोधसे पतिकी ओर देखकर वे बोली, कि महाराज! आप सब जान कर-केभी क्यों नीचजनके समान बिन सोचे विचारे "नहीं जानता" यह बात कह रहे है? चाहे यह विषय सच वा झूठ हो, पर आपका हृदय सभी जानता है, सो आत्माकी गवा-हीसे जो मगलयुक्त होवे कह दीजिये, आत्माकी मान हानि न कीजिये। जो जन हृदय मे जो कुछ रखता है बाहर कुछ और प्रगट करता है, उस आत्मचोर चोरसे ऐसा कौन पाप है, जो नही होता! क्या आपने यह समझ लिया है, कि मैंने अकेले यह कार्य

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम्।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्याऽन्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥२८॥
मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद्वेत्ति मामिति।
विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवाऽन्तरपूरुषः ॥२९॥
आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥३०॥
यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम्।
हृदि स्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति॥३१॥
न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम् ॥३२॥
योऽयमन्याऽऽत्मनाऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्याऽऽत्माऽपि न कारणम्३३
स्वयं प्राप्तेति माऽमेवं मावमंस्था पतिव्रताम्।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम्॥३४॥
किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि।

किया है, साथ कोई नहीं था, कौन जानेगा? क्या आप नहीं जानते, कि पुराण मुनि परमेश्वर सबके हृदय मन्दिरमें सदा सजग है? उसके पास कोई पाप छिपा नहीं रहता; आप उसके सामनेही यह पाप कर रहे है? (२४-२८)

लोग पापकर समझते है, कि किसीने नहीं जाना, पर देवों और हृदयके परम पुरुषको कुछ अज्ञात नहीं रहते। आदित्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, धरती, जल, हृदय, यम, दिवा रात्रि, दोनों संध्या और धर्म यह लोग सम्पूर्ण चरित्रोंसे ज्ञात रहते है: सब कामोंके साक्षी हृदय मध्यके क्षेत्रज्ञ पुरुष जिनपर प्रसन्न रहते है, वैवस्वत काल उनकी सम्पूर्ण दुष्क्रियां नष्ट कर देते हैं और जिस दुरात्माकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं होती, काल उसको पापके कीचडमें गाडकर पीडा पहुंचाते है। जो जन आप आत्माका अपमान कर कुछका और कुछ विश्वास दिलाता और आत्माकी गवाही नहीं मानता है, देवगण उसका हित नहीं करते। (२९-३३)

मैं पतिव्रता स्वयं आ पहुंची हूं कहके मेरा अपमान न कीजिये। मैं आदरयोग्या स्त्री स्वयं आयी हूं, इस समय आदरपूर्वक मुझे लेना आपका कर्त्तव्य है, पर आप नहीं लेते है। आप क्यों नीचजनकी भांति इस सभामें मुझको तुच्छ समझ रहे

न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥ ३५ ॥
यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि ।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ॥ ३६ ॥
भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥ ३७॥
यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते ।
तत्तारयति सन्तत्या पूर्वप्रेतान्पितामहान् ॥ ३८ ॥
पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ ३९ ॥
पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणाऽनन्त्यमश्नुते ।
अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः ॥ ४० ॥
सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥ ४१॥
अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥४२॥
भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।

है ? क्यों मैं शून्यमें चिल्ला रही हूं ? हे दुष्यन्त मैं बार बार प्रार्थना करती हूं, पर यदि मेरी बात न मानेंगे, तो आज आपका सिर सैकडों भागोंमें बँट जायगा। प्राचीन कविलोग कहा करते हैं, कि पति स्वयं गर्भके स्वरूपमें पत्नीमें प्रविष्ट होकर फिर पुत्रके स्वरूपमें जन्म लेताहै। पतिके उस जन्म लेनेके लियेही पत्नी जाया कही जाती है, ज्ञानी पुरुषके पुत्र होनेमें वह पुत्र सन्तानोंमें परलोकवासी पितरोंका उद्धार करता है। (३४–३८)

भगवान् स्वयंभूने स्वयं कहा है, कि पुत्र पुन्नामक नरकमें त्राण करता है, इस लिये वह पुत्र कहा जाता है ! पुत्रसे स्वर्ग मिलता है और प्रपौत्रसे प्रपितामह लोग आनन्दित होते हैं। जो गृहकार्योंमें दक्षा है, वह भार्या है, जिन्होंने पुत्र प्रसव किया है, वही भार्या है, जो पतिप्राणा है, वही भार्या है, जो पतिव्रता है, वही भार्या है। मनुष्योंका स्त्री ही आधा अङ्ग है, भार्या सबोंमें बढ कर साथी है, भार्याही धर्मार्थ काम इन तीनों वर्गोंकी जड है और भार्या ही संसारमें पार करनेका निदान है। जिनकी भार्या है वही क्रियादि क्रिया करते हैं; जिनकी भार्या है, वही गृहवासी हैं। जिनकी

भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः ४३॥
सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥ ४४ ॥
कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याऽध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दाराः परा गतिः ४५
संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम् ।
भार्यैवाऽन्वेति भर्तारं सततं या पतिव्रता ॥ ४६ ॥
प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते ।
पूर्वं मृतं च भर्तारं पश्चात्साध्व्यनुगच्छति ॥ ४७॥
एतस्मात्कारणाद्राजन्पाणिग्रहणमिष्यते ।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिहलोके परत्र च ॥ ४८ ॥
आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
तस्माद्भार्यां नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम् ॥ ४९ ॥
भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाऽऽननम् ।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ॥५०॥
दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चाऽऽतुरा नराः ।

भार्या है, वही आमोद प्रमोदसे काल काटते है; जिनकी भार्या है, वही श्रीमान् है। (३९—४३)

प्रियंवदा भार्या निरालेमें अच्छे परामर्श देनेवाले मित्रके समान है, धर्मकर्ममें हितैषी पिताके समान है, पीडाकी दशामे स्नेहवती मातावत् है, और रूखे मार्गमें पथिक पतिका विश्रामका स्थल है; फिरभी जिसकी भार्या रहती हे, उसीका सब लोग विश्वास करते हे; सो भार्याही मनुष्योंकी परम गति है। किसीके सांसारिक लीला अन्त करने पर नरकमे पठनेसे उसके उद्धारके निमित्त केवल पतिव्रता भार्याही साथी होती है; पतीके पहिले परलोग सिधारनेसे वह पतिके निमित्त पथ ताकती रहती है, और पतिके पहिले देह छोडनेसे सती भार्या उसके पीछे जाती है। (४४-४७)

हे राजन् ! ज्योंकि भर्त्ता इस लोक और परलोक दोनों लोकोमे भार्याको प्राप्तकरता है, इसालिये विवाहकर्म विधिबद्ध हुवा है। पण्डितलोग कहा करते हैं, कि आपहीआप पुत्रके स्वरूपमे जन्म लेता है,सो पुत्रवती भार्याको अपनी माताकी नाई जानना। पुण्यवान् स्वर्ग पानेसे जैसे आनान्दित होते है, आइनेमें देखे जाते हुए मुखकी

ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्त्ताः सलिलेष्विव ॥ ५१ ॥
सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥ ५२ ॥
आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥ ५३ ॥
प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ ५४ ॥
स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम् ।
प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥ ५५ ॥
अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः ।
न भरेथाः कथं नु त्वं धर्मज्ञः सन्स्वमात्मजम् ॥ ५६ ॥
न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥ ५७ ॥
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।

नाई भार्याके गर्भमे जन्म लिये हुए पुत्रको देखकर जन्मदाता तैसेही आनन्दित होते है । घर्मोंमे न्हाया हुआ जन जिस प्रकार ठण्डे जल से सन्तुष्ट होता है, मनुष्यगण मनःपीडामे जलने और रोगोंमे जकडे जानेपरभी भार्यामे वैसेही आनन्दित होते है; अतिक्रोधित होनेपरभी पतिको पत्नीका अप्रिय कार्य न करना चाहिये; क्योंकि रति, प्रीति और धर्म सबही भार्याके हाथमे है । (४८--५२)

स्त्रियां आत्माका सनातन पवित्र जन्मक्षेत्र है; ऋषियोंको भी ऐसी शक्ति नहीं है, कि स्त्रीके बिना प्रजा रचे । यदि पुत्र धरतीकी धूलमे शरीरको रङ्गकर निकट आकरके पिताके गलेमे लगे, तो उससे फिर क्या अधिक सुख मिलना है ? हे राजन् ! आपका यह पुत्र स्वयं आकर उत्साहयुक्त नेत्रोंसे आपको देख रहा है, तिस परभी आप किस लिये उसका अपमान कर रहे है ? देखिये चींटियां छोटी प्राणी होने परभी प्रसव किये हुए अण्डोकी रक्षा करती है, बिगाडती नहीं; आप धर्मज्ञ होनेपरभी क्यों अपने पुत्रको नहीं पालेंगे ? छोटी सन्तानके गलेसे लगनेसे उसका अनुभव पिताको जैसा सुखदायी जान पडता है, कोमल वस्त्र, जल और नारीका अनुभव भी वैसा सुखदायी नहीं होता । (५३-५७)

जिस प्रकार दो पाये जन्तुओंमे ब्राह्मण प्रधान है, चार पायोंमे गौ श्रेष्ठ है,

सरसीवाऽमले त्मानं द्वितीयं पश्य वै सुतम् ॥ ६६ ॥
यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात्प्रणीयते ।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन्द्विधाकृतः॥ ६७ ॥
मृगावकृष्टेन पुरा मृगयां परिधावता ।
अहमासादिता राजन्कुमारी पितुराश्रमे ॥ ६८ ॥
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका ।
विश्वाची च घृताची च षडेवाऽप्सरसां वराः ॥ ६९ ॥
तासां सा मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः ।
दिवः संप्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत् ॥ ७० ॥
सा मां हिमवतः प्रस्थे सुषुवे मेनकाप्सराः ।
अवकीर्य च मां याता परात्मजमिवाऽसती ॥ ७१ ॥
किं नु कर्माऽशुभं पूर्वं कृतवत्यन्यजन्मनि ।
यदहं बान्धवैस्त्यक्ता बाल्ये संप्रति च त्वया ॥ ७२ ॥
कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम्।
इमं तु बालं संत्यक्तुं नाऽर्हस्यात्मजमात्मन. ॥ ७३ ॥
व— न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले ।

.वनीय अग्निकी उत्पत्ति होती
ेसब.ाप एक होने परभी आपसे
वार इस पुत्रके स्वरूपमे स्वयं
र्न..। (६३–६७)
राज ! म .. . .के आश्रममें
थी, तब आपने मृगयामे जाकर
पाछियाते हुए वहा पहुच करके
विवाह कर लिया था। उर्वशी,
ने, सहजन्या. मेनका, विश्वाची
ताची यह छः अप्सरा ओंगसे
, उनमें ब्रह्माजीसे जन्मी हुई
मेनकाने देवलोकसे भूतलमें उतर
धारण किया था। आगे वह

मन्दस्वभावा मेनका हिमाचलके चट्टान पर मुझको प्रसव कर पराँगी सन्तानकी नाई छोडके चली गयी; हा ! मैने पूर्व जन्ममें कैसा पाप किया होगा, कि बच पनमें पिता माताने मुझे त्याग दिया और अब आपभी मुझको छोड रहे है ! आप के मुझे छोडनेमे मै स्वच्छासे निज आश्रमको चली जाऊंगी, पर यह बालक आपकी सन्तान है, आपको इसे छोडना नहीं चाहिये। (६८—७३)

दुष्यन्त बोले, कि शकुन्तले ! मै नहीं जानता, कि तुम्हारा गर्भोत्पन्न यह बा- लक मेरा पुत्र है. ना नहीं; तुम्हारी

गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥ ५८ ॥
स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात्सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥ ५९ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताऽहमरिंदम ।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकविनाशनम् ॥ ६० ॥
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसङ्ख्यस्य पौरव ।
इति वागंतरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत्पुरा ॥ ६१ ॥
ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद् ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनंदन्ति मानवाः ॥ ६२ ॥
वेदेष्वपि वदंतीमं मंत्रग्रामं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवाऽपि विदितं तथा ॥ ६३ ॥
अङ्गादङ्गात्संभवासि हृदयादभिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ६४ ॥
जीवितं त्वदधीनं मे संतानमपि चाऽक्षयम् ।
तस्मात्त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ॥ ६५ ॥
त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात्पुरुषोऽपरः ।

और माननीय जनोंमें गुरु, सुखानुभवोंमे पुत्रानुभवही श्रेष्ठ है। यह सुन्दरमूर्ति पुत्र आपको गलेसे लग कर अनुभव करे, क्योंकि पुत्रानुभवसे दूसरा सुखदायी अनुभव पृथ्वीमें नहीं है। हे अरिन्दम राजेन्द्र! तीनवर्ष पूरे होनेपर मैंने आपके इस शोकनाशी पुत्रको प्रसव किया है; हे पौरव! पहिले मौरिमें आकाशवाणी हुई थी, कि यह पुत्र सौ अश्वमेध यज्ञ करेगा! मनुष्यलोग दूसरे गावमें जाकर जब घरको लौटते है, तब पुत्रको गोदमें लेकर सिर चूम कर परमानन्द प्राप्त करते है। (५८-६२)

पुत्रके जातकर्ममें ब्राह्मणलोग जो यह वैदिकमन्त्र पाठ करते हैं, कि [illegible] अङ्गसे निकले हो, तुम [illegible] पुत्ररूपी आत्मा हो, तुम्हा[illegible] आयु होवे; [illegible] जीवन और [illegible] अक्षय होना तुम्हारेही अधीन है, तुम शत वर्षकी आयु पाकर परम सु[illegible] काल काटो" उसमे आपभी ज्ञात[illegible] हे राजन्! आपके अङ्गसे यह दू[illegible] पुरुष उत्पन्न हुआ है, निर्मल सर[illegible] दीख पडती हुई, निज परछांहीभी अ[illegible] दूसरी आत्मा इस पुत्रमें आप दे[illegible] लीजिये। जिस प्रकार एक गार्हपत्य

नाऽहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया॥ ८२ ॥

शकुन्तलोवाच— राजन्सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि॥ ८३॥
मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चाऽनुमेनकाम् ।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यन्त तव जन्मनः ॥ ८४ ॥
क्षितावटसि राजेन्द्र अन्तरिक्षे चराम्यहम् ।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥ ८५ ॥
महेन्द्रस्य कुवेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥ ८६ ॥
सत्यश्चापि प्रवादोऽयं यं प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
निदर्शनार्थं न द्वेषाच्छ्रुत्वा तं क्षन्तुमर्हसि ॥ ८
विरूपो यावदादर्शे नाऽऽत्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥ ८८
तदा स्वमुखमादर्शे विकृतं सोऽभिवीक्षते ।
तदाऽन्तरं विजानीत आत्मानं चेतरं जनम् ॥८९
अतीव रूपसम्पन्नो न कंचिदवमन्यते ।

है, वह सब मेरा अनजाना, अनसुना और अनसोचा है; मै तुझको नही जानता, जहां तेरी इच्छा हो वहां चली जा। (७४-८२)

अनन्तर शकुन्तला बोली, कि राजन्! पराया दोष सर्सोंके समान होनेसेभी देख लेतेहै, पर अपना दोष बेलपत्रके समान होनेपरभी नही देखते। हे दुष्यन्त! मेनका देवोंकीही प्रेमी और देवगण मेनकाहीके प्रेमी है, सो आपके जन्मसे मेरा जन्म श्रेष्ठ है। हे राजेन्द्र! देखिये मेरु और सर्सोंके समान हम दोनोंमे प्रभेद है, आप धरतीपर चलते है, और मै आकाशको उडती हूं। हेर कि हमारा प्रभाव कितना है; ग्ठी यम और वरुण इनके मानो ज हूं। हे अनघ! एक स नि मै उदाहरणके लिये अलकी द्वेषमे नही कहती, यो .विय मेरी बात क्षमा क नभावी वि जबतक दर्पणमे अम्हारे जन तबतक अपनेको के मेनका है, पर जब द वैश्वामित्र देखता है, तब जीनि मकी अपना कितना प्रभेद है। (८-

अच्छे रूपवान् जन किसीका

अतीव जल्पन्दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ॥९०॥
मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥९१॥
प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः।
गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाऽम्भसः ॥९२॥
अन्यान्परिवदन्साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥९३॥
अभिवाद्य यथा वृद्धान्सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम्।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥९४॥
सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः ।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ९५॥
अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जनमित्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ॥९६॥
सत्यधर्मच्युतात्पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किंपुनरास्तिकः॥९७॥

नहीं करते ; बहुत कडी बात कहनेसे लोग निन्दक या औरोंके पीडा देने वाले गिने जाते है। सूअर जैसे और सब वस्तुओं में से केवल विष्ठाको चुन लेता है, तैसेही मूर्ख जन कहनेवालेके हिताहित वाक्योंमेंसे केवल अहित वाक्यहीको ध्यानमें लाते है; फिर हंस जैसे जल और दूधकी मिलावट से जल के भागको छोडकर दूध ले लेना है, वैसेही ज्ञानी पुरुष कहनेवालेकी हिताहित बातोंको सुनकर केवल गुणयुक्त बातकोही ध्यानमें लाते है। औरोंकी निन्दा करनेसे जिस प्रकार साधु दुःख मानते है, वैसेही परायी निन्दा कर असाधु जन प्रसन्न होते है। साधुजन वृद्धोंका सम्मान कर जैसे सन्तुष्ट होते है, वैसेही निन्दित जन सज्जनोंकी निन्दाकर आनन्दित होते हैं। (९०—९४)

मूर्खलोग नहीं जानते, कि दोष क्या है, पर पराये दोषोंके देखनेवाले बनकर सुख-चैनसे काल काटते है ; वे जिन दोषोंके कारण पण्डितोंसे निन्दनीय होते है, पण्डितोंको उन्ही दोषोंसे निन्दित कहा करते है। पर लोकोंमें इससे अधिक हंसीकी बात और क्या हो सकती है, कि स्वयं कुजन होकर सुजनको कुजन कह के लाञ्छन करे ? जिस प्रकार क्रोधित सर्पसे भय होता है, वैसेही सच्चे धर्मसे गिरे हुए जनसे नास्तिक भी भय खाता

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ॥ ९८ ॥
कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन् ।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात्पुत्रं न संत्यजेत् ॥ ९९ ॥
स्वपत्नीप्रभवान्पञ्च लब्धान्क्रीतान्विवर्धितान्।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान्पुत्रान्वै मनुरब्रवीत् ॥ १०० ॥
धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः ।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ॥ १०१ ॥
स त्वं नृपतिशार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि ॥ १०२ ॥
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन्पृथिवीपते ।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहाऽर्हसि ॥ १०३ ॥
वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात्क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशताद्वरम् ॥ १०४ ॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ १०५ ॥

है फिर आस्तिकके भयभीत होनेमें कौनसा अचरज है ? जो पुरुष स्वयं आत्मरूपी सन्तान उत्पन्न कर स्वीकार नहीं करता है, देवगण उसकी श्री बिगाड देते हैं और उसका स्वर्गभोग नहीं होता। (९५-९८)

पितृगण पुत्रको वंश और स्वजनोकी प्रतिष्ठारूपी और सर्व धर्ममें श्रेष्ठ कहा करते हैं, सो ऐसे पुत्रको त्याग देना उचित नहीं है। भगवान मनुने स्वपत्नीसे उत्पन्न एक, और अन्य स्त्रियोंमें उत्पन्न, लब्ध क्रीत, विवर्धित तथा संस्कारित ये चार मिलकर पांच प्रकार के पुत्र कहे हैं। हे राजसिंह ! धर्म, कीर्ति और चित्तकी प्रीति बढानेवाले पुत्रगण जन्म लेकरके धर्मरूपी नाव बनकर पितरोंको नरकसे उद्धार करते हैं; सो पुत्रको त्यागना नहीं चाहिये। हे पृथ्वीनाथ ! सत्य, धर्म और आत्माकी रक्षा कीजिये। हे नरेन्द्रसिंह ! इस विषयमें आपको कपट करना योग्य नहीं है; देखिये, सैकडों कूपोंकी प्रतिष्ठासे एक तालकी प्रतिष्ठा श्रेष्ठ है, सैकडों तालोंकी प्रतिष्ठासे एक यज्ञका करना श्रेष्ठ है, सैकडो यज्ञों से एक पुत्र श्रेष्ठ है और सैकडों पुत्रोंसे एक सत्यनिष्ठा श्रेय है। (९९-१०४)

यदि एक तौलपर एक ओर सहस्र अश्वमेध और दूसरी ओर सत्यनिष्ठाको रखकर तौला जाय, तो सहस्र अश्वमेधों

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन्समं वा स्यान्न वा समम्॥१०६॥
नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥१०७॥
राजन्सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन्सत्यं संगतमस्तु ते ॥१०८॥
अनृते चेत्प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत्स्वयम् ।
आत्मना हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम्१०९॥
त्वामृतेऽपि च दुष्यन्त शैलराजावतंसिकाम्।
चतुरंतामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥११०॥
वैशम्पायन उवाच–एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथांऽतरिक्षाद्दुष्यंतं वागुवाचाऽशरीरिणी॥१११॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्च वृतं पुरा ।
भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ११२॥
भरस्व पुत्रं दुष्यंत मावमंस्थाः शकुंतलाम् ।
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ॥११३॥

से एक सत्यनिष्ठा भारी होगी। हे राजन्! इसमे सन्देह है, कि सर्व वेदों-का पठन और सर्व तीर्थोंमें स्नान एक सत्य वाक्य के तुल्य होता है वा नहीं। सत्यके समान धर्म नहीं है, असत्यसे बढकर पाप और कोई भी नहीं है। हे राजन्! सत्यही परब्रह्म और सत्यही परम नियम है। हे नृपते! आपने मुझसे जो नियम किया था, उसका लङ्घन न कीजिये; अपना प्रण पूरा कीजिये। पर यदि मिथ्याही पर आपको प्रेम हो और उससे आप मेरी इस सत्य बातकी परतीत न करें, तो मैं स्वयं चली जाती हूं; आपसे मेरे मिलनका प्रयोजन नहीं है। हे दुष्यन्त! आपके न लेनेसेभी मेरा यह पुत्र शैलराजसे अलंकृता इस पृथ्वीका चारों समुद्रों तक शासन करेगा। (१०६–११०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शकुन्तला यह सब कहकर चली गयी। अनन्तर ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य और मन्त्रियोंसे घिरे हुए राजाको आकाशवाणी हुई, कि "हे दुष्यन्त! माता चमडेके कोषके समान है, उसमेंसे पिता स्वयं ही पुत्रके स्वरूपमें जन्म लेता है, सो पुत्रको पालो, पोषो। शकुन्तलाका अनादर मत करो। हे नरदेव! निज वीर्यसे उत्पन्न

त्वं चाऽस्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला।
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधाकृतम् ॥११४॥
तस्माद्भरस्व दुष्यंत पुत्रं शाकुन्तलं नृप ।
अभूतिरेषा यत्त्यक्त्वा जीवेज्जीवंतमात्मजम् ११५॥
शाकुन्तलं महात्मानं दौष्यन्तिं भर पौरव ।
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ॥११६॥
तस्माद्भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः ।
तच्छ्रुत्वा पौरवो राजा व्याहृतं त्रिदिवौकसाम् ॥११७॥
पुरोहितममात्यांश्च संप्रहृष्टो ब्रवीदिदम् ।
शृण्वन्त्वेतद्भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ॥११८॥
अहं चाऽप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ।
यद्यहं वचनादेव गृह्णीयामि स्वमात्मजम् ।
भवेद्धि शङ्को लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम् ॥११९॥
वैशम्पायन उवाच-तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत ।
हृष्टः प्रमुदितश्चाऽपि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥ १२० ॥

हुई सन्तान यमराजके घरसे उद्धार करती है; ऐसा सन्देह न करना, कि यह पुत्र तुम्हारा है वा नहीं, तुम्हीने यह गर्भाधान किया है। शकुन्तलाने जो कुछ कहा है, सब सत्य है। हे दुष्यन्त! अपना अङ्ग दो भागोंमें बंटकर पुत्रके स्वरूपसे भार्याके गर्भमें जन्म लेता है; अतएव शकुन्तला के गर्भजात निजपुत्र का पालन करो। हे पौरव! जीते हुए पुत्रको तजकर जीवन धरना अति दुर्भाग्य की बात है; शकुन्तलाके गर्भजात इस महात्मा दुष्यन्त-नन्दनका पालन करो; हमारी बातके अनुसार तुमको इस पुत्रका भरण करना होगा, इस हेतु इसका नाम भरत होगा।" (१११—११७)

पुरुकुलोत्पन्न राजा दुष्यन्तने ऐसी दैववाणी सुनकर प्रसन्नचित्तसे पुरोहित और मन्त्रियोंसे कहा, कि आप इन देवदूतकी बात पर ध्यान दीजिये और मैभी वैसाही जानता हूं, कि इस पुत्रने मुझसेही जन्म लिया है; यदि मैंने शकुन्तलाके वाक्यानुसार अपने पुत्रको ले लिया होता, तो प्रजा यह शङ्का करती, कि यह पुत्र शुद्ध न भी हो सकता है। (११७—११९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! तब राजाने देवदूतसे पुत्रको विशुद्ध कराकर प्रसन्न और प्रमुदित चित्तसे बुलवाकर ले लिया। अनन्तर प्रीतियुक्त

ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वशः ।
कारयामास मुदितः प्रीतिमानात्मजस्य ह॥ १२१ ॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे ।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च बन्दिभिः १२२॥
स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृप ॥ १२३ ॥
तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १२४ ॥
कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धोऽयं त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि तच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥१२५॥
मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम् ।
पुत्रश्चाऽयं वृतो राज्ये मया तस्माद्विचारितम्॥१२६॥
यच्च कोपितयाऽत्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे१२७
तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥१२८॥
दुष्यन्तस्तु ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।

और प्रमुदित होकर कुमारको पितृ-योग्य कर्म सम्पन्न करके सिर चूमकर स्नेह प्रकट करते हुए, गलेमें लगाया। तब ब्राह्मण लोग अशीस देने लगे और भाट स्तुति पढने लगे; राजा पुत्रस्पर्शका लाभकर परम आनन्दित हुए. आगे धर्मानुसार पतिव्रता पत्नीका सम्मान कर समझाते हुए कहने लगे. कि देवि ! लोकोंमे कोई नहीं जानता. कि मैंने तुमसे विवाह किया है इस हेतु तुम्हारी शुद्धिके निमित्त मैंने ऐसा व्यवहार किया और लोग ऐसा समझ सकते हैं. कि केवल सुखकी अभिलाषासे इनका सङ्गम हुआ, विवाह नहीं हुआ, यह विना विधिसे उत्पन्न हुआ पुत्र राज्यका अधिकारी बना, बस लोकापवादको दूर करनेके लिये ऐसा चरित्र प्रकट किया। (१२०-१२६)

प्यारी विशालाक्षी ! तुमने क्रोधिता होकर मुझको जो अप्रिय बातें कही है, हे शुभे ! तुम मेरी प्यारी हो, इस लिये उन सबों की क्षमा करता हूं। हे भारत! राजर्षि दुष्यन्तने प्यारी महिषी शकुन्तला से उस प्रकार कहकर अन्न, पान और वस्त्रादिकोंसे उसका सम्मान किया। आगे शकुन्तलाके गर्भजात पुत्रको 'भरत' यह नाम देकर युवराजके पदमें अभिषिक्त

भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत्॥ १२९॥
तस्य तत्प्राथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत्॥ १३०॥
स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनः।
चचार च सतां धर्मं प्राप चाऽनुत्तमं यशः॥१३१॥
स राजा चक्रवर्त्यासीत्सार्वभौमः प्रतापवान्।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः॥ १३२॥
याजयामास तं कण्वो विधिवद्भूरिदक्षिणम्।
श्रीमान्गोविततं नाम वाजिमेधमवाप सः॥ १३३॥
यस्मिन्सहस्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ।
भरताद्भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्॥ १३४॥
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः।
भरतस्याऽन्ववाये हि देवकल्पा महौजसः॥ १३५॥
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः।
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः॥ १३६॥
तेषां तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत।
महाभागान्देवकल्पान्सत्यार्जवपरायणान्॥१३७॥ [३१८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७४॥

किया। तबसे उन महात्मा भरत के प्रज्वलित, जीतनेके अयोग्य, दिव्य और लोकोंमें प्रख्यात महत् चक्र प्रवर्तित हुआ। वह महीपालोंको जीतकर वशमें लाये और साधुओंसे आचरण किये जाते हुए धर्मका अनुष्ठान करने लगे, उनका सुन्दर यश भूमण्डलमें फैल गया, वह महा प्रतापी और सार्वभौम चक्रवर्ती हुए; और देवराज इन्द्रकी भांति बहुयज्ञानुष्ठान करने लगे। महर्षि कण्वने उनसे प्रचुर दक्षिणा-युक्त यज्ञ कराया था। उन श्रीमान् भरतने गोवितत नामक अश्वमेध-यज्ञ करके उसमें भगवान् ऋषि कण्वको सहस्र पद्म धन दान दिया था। (१२९-१३४)

यह भारतीय कीर्ति उन भरतहीसे हुई है और उन्हींमें यह भरत-वंश फैला है। भरतके वंशमें जिन सब देवव्रत महात्मा, ब्रह्मकल्प, अनेक राजश्रेष्ठोंने जन्म लिया था, वे भारत नामसे प्रख्यात हुए; उन सबोंके नाम अगणित हैं। हे भारत!

वैशम्पायन उवाच- प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढस्य चाऽनघ ॥ १ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः ।
तथैव भारतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ।
तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ॥ ३ ॥
दश प्राचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः।
मुखजेनाऽग्निना यैस्ते पूर्वं दग्धा महौजसः ॥ ४ ॥
तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः।
संभूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः ॥ ५ ॥
वीरिण्या सह सम्भूता दक्षः प्राचेतसो मुनिः।
आत्मतुल्यानजनयत्सहस्रं शंसितव्रतान् ॥ ६ ॥
सहस्रसंख्यान्संभूतान्दक्षपुत्रांश्च नारदः ।
मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ॥ ८ ॥

उनमें जो प्रधान, महाभाग्यवान् देवकल्प और सत्यशील हे, उन्हींके नाम कहूंगा। (१३४—१३७) [३१८३]

आदिपर्वमें चौहत्तरवा अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें पचहत्तरवा अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे अनघ! प्रजापति दक्ष,वैवस्वत मनु,भरत,कुरु,पुरु, आजमीढ, यादव और सम्पूर्ण कौरवोंकी पवित्र महत् स्वस्त्ययनयुक्त धन और यश तथा आयु देनेवाली संपूर्ण वंशकी कथा तुमसे कहता हूं। प्रचेताके दश पुत थे; वे सब तेजसे प्रज्वलित महर्षिसमान तेजस्वी, साधु और पुण्यशील थे; उनके मुखसे निकली हुई आगसे पहिले वृक्ष-ओषधि सब जल भुन गयी थीं। उन दशोंसे प्राचेतस प्रजापति दक्ष उत्पन्न हुए थे। दक्षसे यह सब प्रजा रची गयी है। हे पुरुषव्याघ्र! वह दक्षही लोकोंके पितामह है। (१–५)

प्राचेतस मुनि दक्षने वीरिणी नाम्नी पत्नी के मिलनसे अपने सदृश संशितव्रत सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। ऋषि नारदने दक्षसे जन्म लिये हुए उन सहस्र पुत्रोंको मोक्षसाधन और अत्युत्तम साङ्ख्यज्ञान की शिक्षा करायी। हे जनमेजय! आगे उन प्रजापति दक्षने यह प्रजा रचनेकी

ददौ दश स धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥ ९ ॥
त्रयोदशानां पत्नीनां या तु दाक्षायणी वरा ।
मारीचः कश्यपस्त्वस्यामादित्यान्समजीजनत् ॥१०॥
इन्द्रादीन्वीर्यसंपन्नान्विवस्वन्तमथापि च ।
विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ॥ ११ ॥
मार्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः ।
यमश्चापि सुतो जज्ञे ख्यातस्तस्याऽनुजः प्रभुः ॥१२॥
धर्मात्मा स मनुर्धीमान्यत्र वंशः प्रतिष्ठितः ।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥१३॥
ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्तान्मनोर्जातास्तु मानवाः ।
ततोऽभवन्महाराज ब्रह्म क्षत्रेण संगतम् ॥ १४ ॥
ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमधारयन् ।
वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ॥ १५ ॥
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाऽष्टमीमिलाम् ।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ॥ १६ ॥
नाभागारिष्टदशमान्मनोः पुत्रान्प्रचक्षते ।

इच्छासे पचास कन्याओंको पुत्रिका बनाया ! उन पचास कन्याओंमेंसे दश धर्मको, तेरह कश्यपको, और समय-दर्शानेवाली सत्ताइस कन्याओंको चन्द्रको दिया। कश्यपजीकी तेरह पत्नियोंमेंसे दाक्षायणी अदिति बडी थी, उस अदितिने मरीचिके पुत्र कश्यपजीके मिलनसे वीर्य-वान इन्द्रादि देवता और विवस्वान सूर्यको प्रसव किया। (९—११)

विवस्वान सूर्यके मनु नाम एक धीमान पुत्र उत्पन्न हुए; वह सवशास्त्रोंके विधान करनेवाले थे। उन विवस्वानहीसे मनुके छोटे भाई प्रभु वैवस्वत यमने जन्म लिया। मनु बडे बुद्धिमान् और धर्मात्मा थे, उन्हींसे यह मानव-वंश प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित हुआ है। ब्राह्मण क्षत्रियादिकोंने उन्हीं मनुसे जन्म लिया है, इस हेतु वे मानव करके प्रसिद्ध हुए। हे महाराज! अनन्तर ब्राह्मण लोग क्षत्रियोंसे संगत हुए। सम्पूर्ण गुणोंसे मनुज ब्राह्मणगणने साङ्गवेद धारण किया। मनुके वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारूष, शर्याति, पृषध्र, और नाभागारिष्ट यह नौ क्षत्रिय धर्मशील पुत्र और इला नाम्नी

पञ्चाशत्तु मनोः पुत्रास्तथैवाऽन्येऽभवन्क्षितौ ॥ १७ ॥
अन्योन्यभेदात्ते सर्वे विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ॥ १८ ॥
सा वै तस्याऽभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम् ।
त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन्पुरूरवाः ॥
अमानुषैर्वृतः सर्वैर्मानुषः स महायशाः ॥ १९ ॥
विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवाः ।
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि ॥ २० ॥
सनत्कुमारस्तं राजन्ब्रह्मलोकादुपेत्य ह ।
अनुदर्शं ततश्चक्रे प्रत्यगृह्णान्न चाऽप्यसौ ॥ २१ ॥
ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्यः शप्तो व्यनश्यत ।
लोभान्वितो बलमदान्नष्टसंज्ञो नराधिपः ॥ २२ ॥
स हि गन्धर्वलोकस्थानुर्वश्या सहितो विराट् ।
आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन्यथावद्विहितांस्त्रिधा ॥ २३ ॥
षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ।

एक कन्या हुई थी । इनके अतिरिक्त इस पृथ्वीमें उन मनुके और पचास पुत्र हुए थे, सुन चुका हूं, कि वे आपसमें लडकर नष्ट हुए है । (१९—१८)

अनन्तर विद्वान् पुरुरवाने इलासे जन्म लिया था ; हमने सुना है, कि इलाही पुरूरवाकी माता और पिता थी । महाशोभावान् पुरूरवाने मनुष्य होने परभी अमनुष्य साथियोंसे घेरे जाकर महासागरके तेरह द्वीपों को अधिकारमें कर लिया था । उन्होंने वीर्यके बलसे चवलेमें बनकर ब्राह्मणोंमे झगडा मचाया, तिसपर विप्रोंके चिल्लाचिल्लाकर रोने परभी उनका सम्पूर्ण रत्न हर लिया था । हे राजन् अनन्तर ब्रह्मलोकमे सनत्कुमारने आकर उनको श्रुतिके अनुसार उपदेश किया ; उसपरभी उन्होंने ध्यान नहीं दिया ; इनसे महर्षियोंने एकत्र होकर उनको शाप दिया ; बलसे अहंकृत लोभी भूप शापग्रस्त होतेही चेतना खोकर उसीक्षण नष्ट हुए । वह विराजमान पुरुरवा उर्वशीके साथ गन्धर्व लोकसे क्रियाके लिये विधिपूर्वक दाक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय इन तीन प्रकारके अग्निको लाये थे । (१८-२३)

इलापुत्र पुरूरवाके वीर्य और उर्वशीके गर्भसे छः पुत्रोंने जन्म लिया था; उनके नाम आयु, धीमान, अमावसु ,दृढायु,

इढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः ॥ २४ ॥
नहुषं वृद्धशर्माणं रार्जि गयमनेनसम् ।
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान्प्रचक्षते ॥ २५ ॥
आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान्सत्यपराक्रमः ।
राज्यं शशास सुमहद्धर्मेण पृथिवीपते ॥ २६ ॥
पितॄन्देवानृषीन्विप्रान्गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
नहुषः पालयामास ब्रह्मक्षत्रमथो विशः ॥ २७ ॥
स हत्वा दस्युसङ्घातानृषीन्करमदापयत् ।
पशुवच्चैव तान्पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान् ॥ २८ ॥
कारयामास चेन्द्रत्वमभिभूय दिवौकसः ।
तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा ॥ २९ ॥
यतिं ययातिं संयातिमयातिमयतिं ध्रुवम् ।
नहुषो जनयामास षट् सुतान्प्रियवादिनः ॥ ३० ॥
यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः ॥ ३१ ॥
ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत्सत्यपराक्रमः ।
स पालयामास महीमीजे च बहुभिर्मखैः ॥ ३२ ॥
अतिभक्त्या पितॄनर्च्चन्देवांश्च प्रयतः सदा ।

वनायु और शतायु थे। आयुके वीर्य और स्वर्भानुपुत्रीके गर्भसे नहुष, वृद्धशर्मा, रार्जी, गय और अनेना यह पांच पुत्र भये; आयुके पुत्र नहुष धीमान तथा सच्चे पराक्रमी थे। हे पृथ्वीनाथ! उन्होंने उत्तम रीतिसे धर्मानुसार राज्य का शासन किया। नहुषने पितृगण, देवगण, विप्रगण और गन्धर्व, सर्प, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंका पालन किया था। उन्होंने निज भुजबलसे लुटेरोंका नाश करके ऋषियोंको करदाता बनाया, और एक समय उन ऋषियोंको पशुकी भांति वाहन बनाया था। वह तेज, यश, बल और विक्रमसे देवोंको हराकर इन्द्रके पदपर आरूढ हुए थे। उनके यति, ययाति, संयाति, आयाति, अयति, और ध्रुव यह छः प्रिय बोली बोलनेवाले पुत्र जन्मे थे। यति योगाश्रय करके ब्रह्मज्ञ मुनि बने थे। (२४–३१)

सत्य पराक्रमी नहुषपुत्र ययाति सम्राट हुए, उन्होंने पृथ्वीका पालन कर अनेक यज्ञ किये थे और यतात्मा होकर अति भक्तिसे देवगण और पितृगणकी उपासना करते थे। और ययाति सम्पूर्ण प्रजाओं पर दया प्रगट करते थे, हे महाराज!

अन्वगृह्णात्प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः ॥ ३३ ॥
तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः ।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥ ३४ ॥
देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च ।
द्रुह्युश्चाऽनुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां प्रजज्ञिरे ॥ ३५ ॥
स शाश्वतीः समा राजन्प्रजा धर्मेण पालयन् ।
जरामार्छन्महाघोरां नाहुषो रूपनाशिनीम् ॥ ३६ ॥
जराभिभूतः पुत्रान्स राजा वचनमब्रवीत् ।
यदुं पूरुं तुर्वसुं च द्रुह्युं चानुं च भारत ॥ ३७ ॥
यौवनेन चरन्कामान्युवा युवतिभिः सह ।
विहर्तुमहमिच्छामि साह्यं कुरुत पुत्रकाः ॥ ३८ ॥
तं पुत्रो दैवयानेयः पूर्वजो वाक्यमब्रवीत् ।
किं कार्यं भवतः कार्यमस्माकं यौवनेन ते ॥ ३९ ॥
ययातिरब्रवीत्तं वै जरा मे प्रतिगृह्यताम् ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ४० ॥
यजतो दीर्घसत्रे मे शापाच्चोशनसो मुनेः ।
कामार्थः परिहीणोऽयं तप्येयं तेन पुत्रकाः ॥ ४१ ॥

देवयानी और शर्मिष्ठाके गर्भसे उनके सर्वगुणयुक्त चापधारी पुत्रने जन्म लिया था । उनमें देवयानीके गर्भसे यदु और तुर्वसुका जन्म हुवा; द्रुह्यु, अनु और पुरु, इन्होंने शर्मिष्ठाके गर्भमे जन्म लिया । (३३—३५)

हे राजन् ? ययाति बहु वर्षों तक धर्मानुसार प्रजा पालनकर अन्तमें रूपनाशी अति कठोर जरासे जकडे गये। हे महाराज ! तब राजा जरासे जकडे जाकर यदु, पुरु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु इन पांच पुत्रोंको बुलाकर बोले, कि मे युवा बनकर युवतियोंसे मनमाना भोगकर विहार करना चाहता हूं, हे पुत्र ! तुम उस विषयमें सहारा दो । अनन्तर देवयानीके गर्भजात बडे पुत्रने कहा, कि कहिये, हमारे यौवनसे आपका कौनसा कार्य करना है । ययाति उनसे बोले, कि तुम मेरे बुढापेको लो, मैं तुम्हारे यौवनसे ऐश्वर्य भोगूं। हे पुत्र ! मै दीर्घयज्ञमें दीक्षित था, उस कालमें मुनि शुक्राचार्यके शापसे जराग्रस्त हुआ हूं, इस कारण मैं अत्यन्त संतापित हो रहा हूं, सो तुममेंसे कोई मेरे इस जराग्रस्त शरीरको लेकर

मामकेन शरीरेण राज्यमेकः प्रशास्तु वः।
अहं तन्वाऽभिनवया युवा काममवाप्नुयाम्॥ ४२॥
ते न तस्य प्रत्यगृह्णन्यदुप्रभृतयो जराम्।
तमब्रवीत्ततः पूरुः कनीयान्सत्यविक्रमः॥ ४३॥
राजंश्चराऽभिनवया तन्वा यौवनगोचरः।
अहं जरां समादाय राज्ये स्थास्यामि तेऽऽज्ञया॥४४॥
एवमुक्तः स राजर्षिस्तपोवीर्यसमाश्रयात्।
संचारयामास जरां तदा पुत्रे महात्मनि॥ ४५॥
पौरवेणाऽथ वयसा राजा यौवनमास्थितः।
यायातेनाऽपि वयसा राज्यं पूरुरकारयत्॥ ४६॥
ततो वर्षसहस्रान्ते ययातिरपराजितः।
स्थितः स नृपशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमः॥ ४७॥
ययातिरपि पत्नीभ्यां दीर्घकालं विहृत्य च।
विश्वाच्या सहितो रेमे पुनश्चैत्ररथे वने॥ ४८॥
नाऽध्यगच्छत्तदा तृप्तिं कामानां स महायशाः।
अवेत्य मनसा राजन्निमां गाथां तदा जगौ॥४९॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

राज्य शासन करो, मै फिर युवा बनकर नये शरीरसे मनमाना भोग करूं(३९ ४२)

यदु आदि भाइयोंमेसे किसीने उनके बुढापेको नहीं लिया। अनन्तर छोटे पुत्र सत्य-विक्रमी पुरुने उनसे कहा, कि महाराज! आप मेरे यौवनको प्राप्तकर नये शरीरसे विराजिये, मै आपकी आज्ञासे जरा लेकर राज्यशासन करता हूं! पुरुके यह बात कहने पर राजर्षि ययातिने तप और वीर्यके बलसे उस महात्मा पुत्रमे बुढापा प्रविष्ट कराया। राजा अपने पुत्र पुरुका यौवन पाकर युवा बने पुरु ययाति की वृद्धावस्था लेकरके राज्य-शासन करने लगे। न हारनेहारे राजसिंह ययाति सहस्रवर्ष बीतने परभी सिंह समान विक्रमी बने रहे और दो पत्नियोंसे दीर्घकालतक विहारकर फिर विश्वाचीके साथ कुबेर जीकी फुलवाडीमे खेलने लगे! (४३-४८)

महायशा ययाति ऐसा करकेभी भोग मे तृप्त नहीं हुए; यह समझकर उन महात्माने यह कविता पढी, कि जिस प्रकार आगमे घृत छोडनेसे आग न बुझ कर बढतीही जाती है, उस प्रकार कामकी वस्तुओंके भोगसे काम निवृत्त न होकर

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥ ५०॥
पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नाऽलमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥५१॥
यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५२ ॥
यदा चाऽयं न बिभेति यदा चाऽस्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५३॥
इत्यवेक्ष्य महाप्राज्ञः कामानां फल्गुतां नृप।
समाधाय मनो बुद्ध्या प्रत्यगृह्णाज्जरां सुतात् ॥५४॥
दत्वा च यौवनं राजा पूरुं राज्येऽभिषिच्य च।
अतृप्त एव कामानां पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥ ५५॥
त्वया दायादवानस्मि त्वं मे वंशकरः सुतः।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति॥ ५६॥
वैशम्पायन उवाच—ततः स नृपशार्दूल पूरुं राज्येऽभिषिच्य च।
तपः सुचरितं कृत्वा भृगुतुङ्गे महातपाः ॥ ५७॥
कालेन महता पश्चात्कालधर्ममुपेयिवान् ।

बढ जायाही करता है। रत्नोंसे भरीपूरी पृथ्वी, सुवर्ण, पशु और स्त्री यह सब वस्तु एक मनुष्यके भोगमें आनेसेभी उससे पूरी तृप्ति नहीं हो सकती, यह समझकर शान्तिका आश्रय लेनाही उचित है। जब कोई जन कामना भरनेके लिये कर्म मन और वाक्यसे प्राणीपर कदापि पापाचरण नहीं करते है। जब कोई जन किसी प्रकारसे भय नहीं खाते और उनसे कोई भय प्राप्त नहीं करता तथा वह किसी कामकी वस्तु पर अभिलाषा और किसीका द्वेष नहीं करते, तभी वह ब्रह्मको प्राप्त करते है। हे नृप! महाप्राज्ञ ययातिने इस प्रकार कामकी तुच्छताका विचार कर बुद्धिसे मनको ठीक कर पुत्रसे फिर अपना बुढापा लेलिया। वह मनमाने भोगसे तृप्त न हो करकेही पुत्र पुरुको यौवन देकर उसे राज्यमें बैठाकर बोले, कि तुम्हीसे मै पुत्रवान् हुआ हूं; तुम्ही मेरे वंशतिलक पुत्र हो, यह वंश तुम्हारे नामहीसे प्रख्यात अर्थात् लोकोंमे—पौरव वंशकरके प्रसिद्ध होगा। (४९—५६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर नृपसिंह ययातिने पुरुको राज्यमें अभिषिक्त करके भृगुतुङ्ग पर्वतपर भली प्रकार

कारयित्वा त्वनशनं सदारः स्वर्गमाप्तवान् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥ [३२४१]

जनमेजय उवाच—ययातिः पूर्वजोऽस्माकं दशमो यः प्रजापतेः।

कथं स शुक्रतनयां लेभे परमदुर्लभाम् ॥ १ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन।

आनुपूर्व्या च मे शंस राज्ञो वंशकरान्पृथक्॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—ययातिरासीन्नृपतिर्देवराजसमद्युतिः।

तं शुक्रवृषपर्वाणौ वव्राते वै यथा पुरा ॥ ३ ॥

तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि पृच्छते जनमेजय।

देवयान्याश्च संयोगं ययातेर्नाहुषस्य च ॥ ४ ॥

सुराणामसुराणां च समजायत वै मिथः।

ऐश्वर्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ५ ॥

जिगीषया ततो देवा वव्रिरेऽङ्गिरसं मुनिम्।

पौरोहित्येन याज्यार्थे काव्यं तूशनसं परे ॥ ६ ॥

तपका अनुष्ठान करके महा तपस्वी होकर अनेक काल काटा, अन्तमें वह पत्नी सहित अनसन व्रतमें कालधर्मको प्राप्तकर स्वर्गको पधारे। (५७-५८) [३२४१]

सम्भवपर्वमें पचहत्तरवां अध्याय समाप्त।

सम्भवपर्वमें छिहत्तरवां अध्याय।

जनमेजय बोले, कि हे तपोधन ! मैं विस्तृत रूपमें सुनना चाहता हूं, कि प्रजापतिसे दशवीं सङ्ख्यामें गिने जाते हुए हमारे पूर्वपुरुष ययातिने परम दुर्लभा शुक्रपुत्रीको क्योंकर प्राप्त किया था; और भी आप हमारे वंशको बनानेवाले राजाओंकी कथा आद्योपान्त गिनिपूर्वक कह चलिये। (१—२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे जनमेजय ! पूर्वकालमें देवराजके समान तेजस्वी नृपति ययातिको शुक्र और वृषपर्वाने जिस प्रकार दमादके पद पर वरण किया था और नहुषपुत्र ययातिसे जिस प्रकार देवयानिका मिलन हुआ था, वह आपसे कहता हूं, सुनिये। (३—४)

इस चराचरसहित त्रिलोकके ऐश्वर्य पानके विषयमें देवासुरोंमें आपसकी अहङ्कारयुक्त गहरी लडाई मची; देवोंने द्वेषवश याजनकार्यके निमित्त अङ्गिराके पुत्र मुनि बृहस्पतिको पुरोहितीमें वरित किया, असुरोंनेभी शुक्रको नियुक्त किया; वे दोनो पुरोहित ब्राह्मण नित्य आपसमें

ब्राह्मणौ तावुभौ नित्यमन्योन्यस्पर्धिनौ भृशम् ।
तत्र देवा निजघ्नुर्यान्दानवान्युधि संगतान् ॥ ७ ॥
तान्पुनर्जीवयामास काव्यो विद्याबलाश्रयात् ।
ततस्ते पुनरुत्थाय योधयाञ्चक्रिरे सुरान् ॥ ८ ॥
असुरास्तु निजघ्नुर्यान्सुरान्समरमूर्धनि ।
न तान्संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ९ ॥
न हि वेद स तां विद्यां यां काव्यो वेत्ति वीर्यवान् ।
संजीविनीं ततो देवा विषादमगमन्परम् ॥ १० ॥
ते तु देवा भयोद्विग्नाः काव्यादुशनसस्तदा ।
ऊचुः कचमुपागम्य ज्येष्ठं पुत्रं बृहस्पतेः ॥ ११ ॥
भजमानान्भजस्वाऽस्मान्कुरु नः साह्यमुत्तमम् ।
या सा विद्या निवसति ब्राह्मणेऽमिततेजसि॥ १२ ॥
शुक्रे तामाहर क्षिप्रं भागभाङ् नो भविष्यसि।
वृषपर्वसमीपे हि शक्यो द्रष्टुं त्वया द्विजः ॥ १३ ॥
रक्षते दानवांस्तत्र न स रक्षत्यदानवान् ।
तमाराधयितुं शक्तो भवान्पूर्ववयाः कविम् ॥१४॥
देवयानीं च दयितां सुतां तस्य महात्मनः ।

अहङ्कार किया करते थे । देवतालोग युद्धस्थलमें उपस्थित हुए जिन दानवोंको वध करते थे, शुक्र विद्याके बलसे फिर उनको जिला देते थे; पर असुरलोग युद्धमें जिन देवोंको गिराते थे, सरल बुद्धियुक्त बृहस्पतिजी उनको जिला नहीं सकते थे; क्योंकि वीर्यवान् शुक्रजी जो सञ्जीवनी विद्यामें ज्ञात थे बृहस्पतिजी उसे नहीं जानते थे; इससे देवगण बडे दुःखी हुए। (६—१०)

अनन्तर देवोंने कविपुत्र उशनाको देखकर अति भयसे कातर होकर बृहस्पतिके बडे बेटे कचके निकट आकर कहा, कि हमने तुम्हारी शरण ली बचाओ, तुम हमारी सहायता करो। अति तेजस्वी ब्राह्मण शुक्रमें जो सञ्जीवनी विद्या है, उसे शीघ्र सीख लो; तुमको यज्ञांशके भागी बनावेंगे; तुम ही वृषपर्वाके निकट उन ब्राह्मणकी भेट कर सकोगे, वह दानवोंकी रक्षा करते हैं; देवोंको नहीं बचाते । तुम्हारी अवस्था कम है सो तुम शुक्रकी आराधना कर सकोगे और तुम्हीं उन महात्माकी द यिता कन्या देवयानीकी उपासना कर

त्वमाराधयितुं शक्तो नाऽन्यः कश्चन विद्यते ॥ १५ ॥
शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च ।
देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तां प्राप्स्यसि ध्रुवम् १६
तथेत्युक्त्वा ततः प्रायाद् बृहस्पतिसुतः कचः ।
तदाऽभिपूजितो देवैः समीपे वृषपर्वणः ॥ १७ ॥
स गत्वा त्वरितो राजन्देवैः सम्प्रेषितः कचः ।
असुरेन्द्रपुरे शुक्रं दृष्ट्वा वाक्यमुवाच ह ॥ १८ ॥
ऋषेरंगिरसः पौत्रं पुत्रं साक्षाद् बृहस्पतेः ।
नाम्ना कचमिति ख्यातं शिष्यं गृह्णातु मां भवान् १९
ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरौ ।
अनुमन्यस्व मां ब्रह्मन्सहस्रं परिवत्सरान् ॥ २० ॥

शुक्र उवाच— कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः ।
अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—कचस्तु तं तथेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह तद्व्रतम् ।
आदिष्टं कविपुत्रेण शुक्रेणोशनसा स्वयम् ॥ २२ ॥
व्रतस्य प्राप्तकालं स यथोक्तं प्रत्यगृह्णत ।
आराधयन्नुपाध्यायं देवयानीं च भारत ॥ २३ ॥

सकोगे; इस विषयमें तुम्हारे बिना कोई दूसरा समर्थ नहीं है । देवयानी तुम्हारी शीलता, दाक्षिण्य, मधुरता, आचार और दमसे सन्तुष्ट होवे, तो तुम उस सञ्जीवनी विद्याको अवश्य प्राप्त करोगे। अनन्तर बृहस्पतिके यह बात कहकर देवोंसे पूजे जानेके पश्चात् वृषपर्वा के निकट पधारे । (११—१७)

हे राजन् देवोंसे भेजे हुए वह कच शीघ्र चलकर असुरराजके मन्दिरमें शुक्रको देखकरके बोले, कि मैं ऋषि अङ्गिराके पौत्र और बृहस्पति का औरस पुत्र हूं । मेरा नाम कच है; आप मुझको शिष्य बनावें । हे ब्रह्मन् ! मैं आपको गुरु मानकर सहस्र वर्षोंतक परम ब्रह्मचर्य अवलम्बन करूंगा, आप आज्ञा कीजिये । शुक्रजी बोले, कि हे कच ! तुम्हारा कल्याण होवे, तुम्हारी बात मान ली, तुम मेरे आदरके पात्र हो, तुम्हारे सम्मादर करनेसे बृहस्पतिभी पूजे जायगे । (१८—२१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर कचने कविपुत्र शुक्रकी आज्ञासे ब्रह्मचर्यव्रतको अवलम्बन किया । हे भारत ! कच

नित्यमाराधयिष्यंस्तौ युवा यौवनगोचरे ।
गायन्नृत्यन्वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ॥ २४॥
स शीलयन्देवयानीं कन्यां संप्राप्तयौवनाम् ।
पुष्पैः फलैः प्रेषणैश्च तोषयामास भारत ॥ २५ ॥
देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतधारिणम् ।
गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत्तथा ॥ २६ ॥
पञ्च वर्षशतान्येवं कचस्य चरतो व्रतम् ।
तत्राऽजानीयुरथो बुद्ध्वा दानवास्तं ततः कचम् ॥२७॥
गा रक्षन्तं वने दृष्ट्वा रहस्येकममर्षिताः ।
जघ्नुर्बृहस्पतेर्द्वेषाद्विद्यारक्षार्थमेव च ॥ २८ ॥
हत्वा सालावृकेभ्यश्च प्रायच्छँल्लवशः कृतम् ।
ततो गावो निवृत्तास्ता अगोपाः स्वं निवेशनम् २९॥
सा दृष्ट्वा रहिता गाश्च कचेनाऽभ्यागता वनात् ।
उवाच वचनं काले देवयान्यथ भारत ॥ ३० ॥
देवयान्युवाच— आहुतं चाऽग्निहोत्रं ते सूर्यश्चाऽस्तं गतः प्रभो।
अगोपाश्चाऽऽगता गावः कचस्तात न दृश्यते ॥ ३१ ॥

उस व्रतकालको प्राप्त कर उपाध्याय शुक्र और देवयानीकी आराधना करने लगे। युवा कच शुक्रको सन्तुष्ट कर गीत, नाच और बाजेस तथा फूल, फल और भांति भांतिकी वस्तु देकर और टहलुएके समान आज्ञा मानते हुए युवती देवयानीको सन्तोष देने लगे। देवयानीभी उस निर्जनपुरमें गीत और लालित्यसे नियम-व्रतशील उन ब्राह्मण कुमारकी सेवा करने लगी। इस प्रकार व्रतानुष्ठान करते हुए, कचको पाच सौ वर्ष बीत गये॥ २२-२७।

अनन्तर एकदिन वह निर्जन वनमें अकेले गाकी रखवारी कर रहे थे, कि ऐसे समयमे दैत्योंने उनको देखकर यह जान करके, कि यह बृहस्पतिके पुत्र कच हैं, सञ्जीवनी विद्याकी रक्षाके लिये और बृहस्पतिजी पर द्वेष कर क्रोधपूर्वक उनको मार डाला; आगे उनको टुकडे टुकडे कर सियार कुत्तों को दे दिया। हे भारत! इसके अनन्तर गाओंके रखवारेके विना अपने घर लौटनेपर, देवयानीने देखा, कि गौ वनसे लौट आई, पर कच नहीं आये, तब वह कुछकाल ठहरकर पितासे बोली, कि हे प्रभो पिता! सूर्यदेव अस्ताचल को पधारे, आपका अग्निहोत्र आहुत हुआ और गौ रखवारेसे रहित

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति।
तं विना न च जीवेयमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३२ ॥

शुक्र उवाच— अयमेहीति संशब्द्य मृतं संजीवयाम्यहम्।
ततः संजीविनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत् ॥ ३३ ॥
भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि वृकाणां स विनिर्गतः।
आहूतः प्रादुरभवत्कचो हृष्टोऽथ विद्यया ॥ ३४ ॥
कस्माच्चिरायितोऽसीति पृष्टस्तामाह भार्गवीम्।
समिधश्च कुशादीनि काष्ठभारं च भाविनि ॥ ३५ ॥
गृहीत्वाऽऽश्रममारात्तं वटवृक्षं समाश्रितः।
गावश्च सहिताः सर्वा वृक्षच्छायामुपाश्रिताः॥ ३६ ॥
असुरास्तत्र मां दृष्ट्वा कस्त्वमित्यभ्यचोदयन्।
बृहस्पतिसुतश्चाऽहं कच इत्यभिविश्रुतः ॥ ३७ ॥
इत्युक्तमात्रे मां हत्वा पेषीकृत्वा तु दानवाः।
दत्वा सालावृकेभ्यस्तु सुखं जग्मुः स्वमालयम्॥३८॥
आहूतो विद्यया भद्रे भार्गवेण महात्मना।
त्वत्समीपमिहाऽऽयातः कथञ्चित्समजीवितः॥३९॥

होकर लौट आई, पर कचको नहीं देखा। हे पिता! मुझको निश्चय जान पडता है, कि कच मरे या मारे गये; मैं सच कहती हूं, कि विना कचके जी नहीं सकूंगी। (२७-३२)

शुक्रजी बोले, कि "हे कच! चले आओ, तुम मरे हो, मैं तुमको जिलाता हूं," यह कहकर मृत-सञ्जीवनी विद्या पढकर कचको बुलाया। कच बुलाये जाते ही सियार कुत्तोंके शरीरको फाड-करके निकलकर आ पहुंचे और सञ्जी-वनी विद्या का प्रभाव देखकर प्रसन्न हुए। देवयानीने उनसे पूछा, कि तुमने क्यों इतनी देर की? कचने उत्तर दिया, कि हे भाविनी! मैंने समिधा लकडीके बोझ और कुशादिको लेकर आनेके कालमें बहुत थककर एक बडको आश्रय किया था और गौ भी उस वृक्षकी छाहमें थी। असुरोंने उस स्थानमें मुझको देखकर पूछा, कि तुम कौन हो? मैंने कहा, कि मैं बृहस्पतिका पुत्र कच हूं; यह बात कहते ही दानवोंने मुझको नष्ट कर टुकडे टुकडे करके सियार कुत्तोंको देकर आनन्दित होके निज स्थानमें पधारे। हे भद्रे! महात्मा भार्गवके सञ्जीवनी विद्या पढकर मुझको बुलाने पर मैं किसी प्रकार जी करके

हतोऽहमिति चाऽऽचख्यौ पृष्टो ब्राह्मणकन्यया ।
स पुनर्देवयान्योक्तः पुष्पाहारो यदृच्छया॥ ४० ॥
वनं ययौ कचो विप्रो ददृशुर्दानवाश्च ते ।
पुनस्तं पेषयित्वा तु समुद्राम्भस्यमिश्रयन् ॥ ४१ ॥
चिरं गतं पुनः कन्या पित्रे तं संन्यवेदयत् ।
विप्रेण पुनराहूतो विद्यया गुरुदेहजः ॥
पुनरावृत्य तद् वृत्तं न्यवेदयत तद्यथा ॥ ४२ ॥
ततस्तृतीयं हत्वा तं दग्ध्वा कृत्वा च चूर्णशः ।
प्रायच्छन्ब्राह्मणायैव सुरायामसुरास्तथा ॥ ४३ ॥
देवयान्यथ भूयोऽपि पितरं वाक्यमब्रवीत् ।
पुष्पाहारः प्रेषणकृत्कचस्तात न दृश्यते ॥ ४४ ॥
व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति ।
तं विना न च जीवेयं कचं सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४५ ॥
शुक्र उवाच— बृहस्पतेः सुतः पुत्रि कचः प्रेतगतिं गतः ।
विद्यया जीवितोऽप्येवं हन्यते करवाम किम् ॥ ४६ ॥

यहां तुम्हारे सामने आया हूं, और शुक्र-कन्यासे पूछे जाकर कचने यह भी कहा, कि हां ! मै मारा गया था।" (३३--४०)

अनन्तर ब्राह्मण कच फिर देवयानीकी आज्ञासे फूल बटोरनेके लिये मनमाने वनमें चले गये। दानवोंने फिर भी उनको देखकर पीस करके समुद्रके जलमें घोल दिया। अनन्तर देवयानीने उनको देरतक न आते देखकर पिताको वह समाचार सुनाया, इससे बृहस्पति-पुत्रने फिर शुक्रकी विद्याके बलसे बुलाये जाकर आ करके वह सब हाल कह सुनाया। अनन्तर असुरोंने तीसरी बार उनको वैसे ही देखकर जलाकर और चूर चूर कर मदिरासे मिलाकरके उन शुक्रहीको पिला दिया। आगे देवयानीने फिर पितासे कहा, कि पिता ! मैने कच को फूल बटोरनेके लिये भेजा था, अबभी आते नहीं देखती हूं, मुझको निश्चय जान पड़ता है, कि वह मरे या मारे गये; मै निश्चय कहती हूं, कि उस कचके बिना मै न जीऊं गी। (४०—४५)

शुक्र बोले, बेटी ! बृहस्पति का पुत्र कच मर गया है ; मै क्या करूं ? विद्याके बलसे मै बार बार उसको जिलाता हूं, तिसपरभी असुरलोग उसको मार डालते हैं, देवयानि ! तुम शोक न करना, मत रोओ, तुम्हारे समान प्रभाववती

मैवं शुचो मा रुद देवयानि न त्वादृशी मर्त्यमनुप्रशोचते ।
यस्यास्तव ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च सेन्द्रा देवा वसवोऽथाऽश्विनौ च ॥ ४७ ॥
सुरद्विषश्चैव जगच्च सर्वमुपस्थाने संनमन्ति प्रभावात् ॥
अशक्योऽसौ जीवयितुं द्विजातिः संजीवितो वध्यते चैव भूयः ॥ ४८ ॥
देवयान्युवाच-यस्याऽङ्गिरा वृद्धतमः पितामहो बृहस्पतिश्चाऽपि पिता तपोनिधिः।
ऋषेः पुत्रं तमथो वाऽपि पौत्रं कथं न शोचेयमहं न रुद्याम् ॥ ४९ ॥
स ब्रह्मचारी च तपोधनश्च सदोत्थितः कर्मसु चैव दक्षः ।
कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये प्रियो हि मे तात कचोऽभिरूपः ॥ ५० ॥
वैशम्पायन उवाच-स पीडितो देवयान्या महर्षिः समाह्वयत्संरम्भाच्चैव काव्य
असंशयं मामसुरा द्विषन्ति ये मे शिष्यानागतान्सूदयन्ति ॥ ५१ ॥
अब्राह्मणं कर्तुमिच्छन्ति रौद्रास्ते मां यथा व्यभिचरन्ति नित्यम् ।
अप्यस्य पापस्य भवेदिहाऽन्तः कं ब्रह्महत्या न दहेदपीन्द्रम् ॥ ५२ ॥
गुरोर्हि भीतो विद्यया चोपहूतः शनैर्वाक्यं जठरे व्याजहार ।

नारि किसी नश्वर जनके लिये कभी शोक प्रकट नहीं करती; देखो, तुम्हारे प्रभावसे ब्रह्मा, ब्राह्मण, इन्द्रादि देवता, वसुलोग, अश्विनीकुमार और असुरगण सम्पूर्ण जगत् तुम्हारी उपासना की आशासे सिर नवाये रहते है, सो तुमको शोकसे क्या प्रयोजन है? उस ब्राह्मणको जीवित रखना मेरा असाध्य हो गया है, क्योंकि उनको बार बार जिलाने परभी असुरलोग बार बार वधकर डालते है। (४६–४८)

देवयानी बोली, कि बडोंसे बूढे अङ्गिरा जिनके पितामह और तपोनिधि बृहस्पति जिनके पिता है ऐसे ऋषि-पौत्र और ऋषिपुत्र उन कचके लिये क्यों नहीं शोक करूंगी? अथवा क्यों नहीं रोऊंगी? अहा! वह ब्रह्मचारी तपोधन थे, वह कर्ममें सदा उत्साही और दक्ष थे; पिता! मै फिर भोजन न करकेही उस कचकी बाट लूंगी; क्योंकि उनका स्वरूप मुझे बडा प्रिय लगता है। ४९-५०

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कविपुत्र महर्षि शुक्राचार्यने देवयानीसे इस प्रकार उत्साहित होकर क्रोधसे दत्योंपर आक्रोश किया और बोले, कि असुरलोग निश्चित मेरा द्वेष किया करते है, नहीं तो मेरे शिष्योंके आनेपर वे क्यों उनको मार डालते है? कुटिलात्मा असुरलोग मुझकोभी ब्रह्महत्याके पापसे पापी बनाते है और सदा मेरा निरुद्धाचरण करते है; ब्रह्महत्या किसको नहीं जला देती है? इन्द्रकोभी भस्मकर सकती है; क्या यह

वैशम्पायन उवाच-तमब्रवीत्केन पथोपनीतस्त्वं चोदरे तिष्ठसि ब्रूहि विप्र॥५३॥
कच उवाच-तव प्रसादान्न जहाति मां स्मृतिः स्मरामि सर्वं यच्च यथा च वृत्तम्।
न त्वेवं स्यात्तपसः संक्षयो मे ततः क्लेशं घोरमिमं सहामि ॥ ५४ ॥
असुरैः सुरायां भवतोऽस्मि दत्तो हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य।
ब्राह्मीं मायां चासुरीं विप्र मायां त्वयि स्थिते कथमेवाऽतिवर्तेत्॥५५॥
शुक्र उवाच-किं ते प्रियं करवाण्यद्य वत्से वधेन मे जीवितं स्यात्कचस्य।
नान्यत्र कुक्षेर्मम भेदनेन दृश्येत्कचो मद्गतो देवयानि ॥ ५६ ॥
देवयान्युवाच-द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः।
कचस्य नाशे मम शर्म नास्ति तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता ॥ ५७॥
शुक्र उवाच-संसिद्धिरूपोऽसि बृहस्पतेः सुत यत्त्वां भक्तं भजते देवयानि।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीवनीं त्वं न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य ॥५८॥
न निवर्तेत्पुनर्जीवन्कश्चिदन्यो ममोदरात्।

पाप कभी नष्ट होता है? अनन्तर उनके मञ्जीवनी विद्यासे कचको बुलाने पर कचने गुरुके पेटमें रहकर गुरुहत्याके भयसे भीत होकर धीरे धीरे उत्तर दिया। उस पर शुक्र बोले, कि हे विप्र! यह कहो कि तुम कौन पथसे मेरे पेटमें जा घुसे हो। (५१-५३)

कच बोले, कि हे गुरो! आपकी कृपासे मुझे स्मरणशक्ति लुप्त नहीं हुई, जो जिस प्रकारसे हुआ, वह सब स्मरण है; इस लिये, कि कहीं हमको गुरुके पेटको फाडनेके लिये पापके कीचडमें डूबना न पडे और तप घट जाय, पेटमें बसनेका अपार कष्ट सह रहा हूं। हे काव्य! असुरोंने मुझको मार, जलाय और चूर चूर करके मदिरामें घोलकर आपको दे दिया था, पर हे विप्र! आपके रहते आसुरिक माया क्योंकर ब्राह्मणिक मायासे बढ सकेगी? तब शुक्रने देवयानीसे कहा, कि बेटी देवयानि! इस समय क्योंकर तुम्हारा प्रियानुष्ठान करूं? मेरे नाश होनेसे कच जी सकता है, क्योंकि कच मेरे पेटके भीतर है; मेरा पेट बिना फाडे नहीं निकल सकेगा। देवयानी बोली, कि कचका नाश और आपकी मृत्यु यह अग्निवत् दोनों शोकही मुझको जलाने लगेंगे; कुछ ऐसा नहीं, कि कचके नाश होनेसे कुशलसे रहूंगी, आपको कोई हानि पहुंचनेसे भी मै जी नहीं सकूंगी। (५४-५७)

तब शुक्रने कचसे कहा, कि हे बृहस्पतिपुत्र कच! तुम बृहस्पतिके पुत्र करके प्रख्यात और देवयानीके प्रेमी हो और देवयानीभी तुमको भज रही है, ऐसी दशामे यदि तुम कचके स्वरूपमें इन्द्र न

ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद्विद्यामवाप्नुहि ॥५९॥
पुत्रो भूत्वा भावय भावितो मामस्माद्देहादुपनिष्क्रम्य तात ।
समीक्षेथा धर्मवतीमवेक्षां गुरोः सकाशात्प्राप्य विद्यां सविद्यः ॥६०॥
वैशम्पायन उवाच-गुरोः सकाशात्समवाप्य विद्यां भित्त्वा कुक्षिं निर्विचक्राम विप्रः
कचोऽभिरूपस्तत्क्षणाद्ब्राह्मणस्य शुक्लात्यये पौर्णमास्यामिवेन्दुः ॥६१॥
दृष्ट्वा च तं पतितं ब्रह्मराशिमुत्थापयामास मृतं कचोऽपि ।
विद्यां सिद्धां तामवाप्याऽभिवाद्य ततः कचस्तं गुरुमित्युवाच ॥ ६२ ॥
यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्विद्यामविद्यस्य यथा ममाऽयम् ।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन् ॥ ६३ ॥
ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः ।
ये नाऽऽद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥ ६४ ॥
वैशम्पायन उवाच-सुरापानाद्वञ्चनां प्राप्य विद्वान्संज्ञानाशं चैव महातिघोरम्।
दृष्ट्वा कचं चापि तथाभिरूपं पीतं तदा सुरया मोहितेन ॥ ६५ ॥

हो, तो आजही सञ्जीवनी विद्या तुमको देता हूं, तुम उसे लो; केवल ब्राह्मणके विना दूसरा जन मेरे पेटमे घुसके फिर जीवन पाकर नहीं निकल सकता, सो तुम यह विद्या लो, मैं तुमको जीवन देता हूं। बेटा! मेरी देहसे निकल कर और पुत्ररूपी होकर मुझको जिलाओ, गुरुसे विद्या लाभ करके विद्यावान् होकर धर्मपथ पर दृष्टि रखना, अकृतज्ञ न होना! (५८—६०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि ब्राह्मण कच गुरुसे सञ्जीवनी विद्या लाभकर जिस प्रकार पौर्णमासीके दिन सूर्यके अस्त होनेपर पूर्णचन्द्रमा प्रकट होता है, वैसेही शुक्रकी कोखको फाडकर उसीक्षण साक्षात् निकली आये। अनन्तर ब्रह्मापुत्र शुक्रको मरे और गिरे हुए देखकर सञ्जीवनी विद्यासे उनको जिलाया और उठा करके उस सिद्ध सञ्जीवनी विद्याको प्रणाम कर बोले, कि जब विद्याहीन था, तब जिन्होंने मेरे कानोंमे विद्यारूपी अमृत डाल दिया है, मैं उनको पिता और माता समझता हूं। जो जन कृतज्ञ होता है, वह कभी गुरुका विपरीताचरण नहीं करता, जो लोग विद्यालाभ कर श्रेष्ठतम सभ्यके उपदेश करनेवाले और निधिकी निधि तथा पूजनीय गुरुका समादर नहीं करते हैं, वे इस लोकमें अप्रतिष्ठा लाभ कर अन्तमे नरकको सिधारते है। (६१—६४)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि विद्वान् शुक्रने मदिरा पीकर उन्मत्त होय और ठगे जाकर कचको उसके साथ पी लिया

समन्युरुत्थाय महानुभावस्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षुः।
सुरापानं प्रति संजातमन्युः काव्यः स्वयं वाक्यमिदं जगाद ॥ ६६ ॥
यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चिन्मोहात्सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिँल्लोके गर्हितः स्यात्परे च ॥ ६७ ॥
मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्रा शुश्रुवांसो गुरूणां देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ॥ ६८॥
इतीदमुक्त्वा स महानुभावस्तपोनिधीनां निधिरप्रमेयः ।
तान्दानवान्दैवविमूढबुद्धीनिदं समाहूय कचोऽभ्युवाच ॥ ६९ ॥
आचक्षे वो दानवा बालिशाः स्थ सिद्धः कचो वत्स्यति मत्सकाशे।
संजीविनीं प्राप्य विद्यां महात्मा तुल्यप्रभावो ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः॥७०॥
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स भार्गवः ।
दानवा विस्मयाविष्टाः प्रययुः स्वं निवेशनम्॥७१॥
गुरोरुष्य सकाशे तु दश वर्षशतानि सः ।
अनुज्ञातः कचो गन्तुमियेष त्रिदशालयम् ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥ [३३१३]

था, यह देखकर मदिरा पानका चेतना-नाशरूपी गहरा दोष समझ करके क्रोधित हुए। तब स्वयं मदिरापान पर क्रोधित उन महानुभाव उशनाने ब्राह्मणों की हितेच्छासे उठकरके कहा, कि आजसे जो ब्राह्मण मोहवश मदिरा पान करेगा, वह मन्दबुद्धि ब्राह्मण धर्मसे च्युत और ब्रह्महत्याके पापमें लिप्त तथा इस लोक और परलोकमें निन्दनीय होगा। मैंने ब्राह्मणोंके धर्मके विषयमें यह सीमा और मर्यादा जगत्में स्थापित की, इसको साधु लोग, ब्राह्मण लोग, देवलोग और गुरुसेवी लोग सबकोई सुनो; अप्रमेय, तपोनिधियों की निधि और महानुभाव शुक्र मदिरा पर यह शापकी वाणी कहकर दैवसे मूढबुद्धि दानवोंको बुलवाकर बोले, कि दानवो! सुनो, तुमसे कहता हूं, कि तुमने अति मूर्खसमान कार्य किया है। यह महात्मा ब्राह्मण कच इसक्षण सञ्जीवनी विद्या पाकर सिद्ध हुए हैं, मेरे पास रहेंगे। यह इस क्षणमें ब्रह्मज्ञ और मेरे तुल्य प्रभावी हुए। भार्गवके इतनाही कहकर चुप होने पर दानवलोग अचरज मानकर निज निज घर को सिधारे। अनन्तर कचने गुरुके यहां सहस्रवर्ष वासकर पीछे गुरुकी आज्ञा से

वैशम्पायन उवाच—समावृत्तव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा ।
प्रस्थितं त्रिदशावासं देवयान्यब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
ऋषेरङ्गिरसः पौत्र वृत्तेनाऽभिजनेन च ।
भ्राजसे विद्यया चैव तपसा च दमेन च ॥ २ ॥
ऋषिर्यथाऽङ्गिरा मान्यः पितुर्मम महायशाः ।
तथा मान्यश्च पूज्यश्च मम भूयो बृहस्पतिः ॥ ३ ॥
एवं ज्ञात्वा विजानीहि यद्ब्रवीमि तपोधन ।
व्रतस्थे नियमोपेते तथा वर्ताम्यहं त्वयि ॥ ४ ॥
स समावृतविद्यो मां भक्तां भजितुमर्हसि ।
गृहाण पाणिं विधिवन्मम मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥
कच उवाच— पूज्यो मान्यश्च भगवान्यथा तव पिता मम ।
तथा त्वमनवद्याङ्गि पूजनीयतरा मम ॥ ६ ॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्गवस्य महात्मनः ।
त्वं भद्रे धर्मतः पूज्या गुरुपुत्री सदा मम ॥ ७ ॥
यथा मम गुरुर्नित्यं मान्यः शुक्रः पिता तव ।

स्वर्गधाममें जाना चहा। (६४—७२)

आदिपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय समाप्त [३३ । ३]

आदिपर्वमें चौहत्तरवां अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि कचको गुरुकुलमें बसनेका ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त होने पर वह गुरुसे विदा लेकर स्वर्ग-धाममें जारहे थे, कि ऐसे समयमें देवयानी उनसे बोली, कि हे ऋषि अङ्गिराके पौत्र ! यह समझकर, कि शीलता, कालिन्य, विद्या, दम और तपसे प्रज्वलित और महायशा महर्षि अङ्गिरा जिस प्रकार मेरे पिताके माननीय हैं, वैसेही बृहस्पतिजीभी मेरे माननीय और पूजनीय हैं, जो कुछ कहती हूं हे तपोधन ! तुम सुनो, तुम जब व्रताचारी और नियमान्वित थे, तब मैंने तुमसे जैसा व्यवहार किया है, वह जानते हो, इस समय तुम ब्रह्मचर्यसे निवृत्त हुए हो, इससे अपनी अनुगत इस नारिको भजना उचित है, अतएव विधिपूर्वक मन्त्र पढकर मुझसे विवाह कर लो। (१—५)

कच बोले, कि हे अनिन्दिताङ्गी ! तुम्हारे पिता भगवान् शुक्र जिस प्रकार मेरे पूजनीय और माननीय हैं, वैसेही तुमभी मेरी पूजनीया हुई हो। हे भद्रे ! तुम मेरे गुरु महात्मा भार्गवके प्राणसेभी प्यारी कन्या हो, सो तुम मेरी गुरुकी पुत्री होनेसे धर्मानुसार सदा पूज्यतम।

देवयानि तथैव त्वं नैवं मां वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच— गुरुपुत्रस्य पुत्रो वै न त्वं पुत्रश्च मे पितुः ।
तस्मात्पूज्यश्च मान्यश्च ममाऽपि त्वं द्विजोत्तम ॥९॥
असुरैर्हन्यमाने च कच त्वयि पुनः पुनः ।
तदा प्रभृति या प्रीतिस्तां त्वमद्य स्मरस्व मे ॥ १० ॥
सौहार्दे चाऽनुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम्।
न मामर्हसि धर्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम् ॥ ११ ॥

कच उवाच— अनियोज्ये नियोगे मां नियुनङ्क्षि शुभव्रते ।
प्रसीद सुभ्रु त्वं मह्यं गुरोर्गुरुतरा शुभे ॥ १२ ॥
यत्रोषितं विशालाक्षि त्वया चन्द्रनिभानने ।
तत्राऽहमुषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भाविनि ॥१३॥
भगिनी धर्मतो मे त्वं मैवं वोचः सुमध्यमे ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे न मन्युर्विद्यते मम ॥ १४ ॥
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शिवमाशंस मे पथि।

हुई हो । हे देवयानि ! तुम्हारे पिता शुक्र मेरे गुरु है, वह जिस प्रकार सदा मेरे माननीय है, तुमभी वैसेही मेरी माननीया हो; इस दशामें मुझसे ऐसा कहना तुमको नहीं चाहिये । (६—८)

देवयानी बोली, कि हे द्विजोत्तम ! तुम मेरे गुरुपुत्रके पुत्र हो, मेरे पिताके पुत्र नहीं हो, सो तुमभी मेरे पूजनीय और माननीय भये हो । हे कच ! जब असुरों ने बार बार तुम्हारा प्राण नष्ट किया था, तबसे तुमपर मेरी जितनी प्रीति है और मित्रता तथा प्रेम प्रकाश होनेसे तुमपर, मेरी जितनी भक्ति है, वह अवश्यही जानते होगे आज एकबार सब स्मरण कर देखो । हे धर्मज्ञ ! मैं भक्तिमती और निर्दोषी हूं, मुझको त्यागना तुमको नही चाहिये ।(९–११)

कच बोले, कि हे शुभव्रते ! अनुचित कार्यमे मुझको नियुक्त कर रही हो; यह उचित नहीं है । हे अच्छे भौंवाली ! हे शुभे ! मुझपर प्रसन्न होओ, तुम गुरुसे मेरी गुरुतरा भयी हो, हे भद्रे ! प्रशस्तनेत्रा ! चन्द्रमुखि, भाविनी सुन्दरी ! यह भी विचारो कि तुमने काव्य के जिस कोखमें वास किया था, मैभी उसी कोख में बस चुका हूं, इससे धर्मानुसार तुम मेरी बहिन हुई हो, सो फिर ऐसा न कहना । हे भद्रे ! तुम्हारे यहां परम सुख से था, कभी दुःख नहीं देखा, अब जाऊंगा तुमसे बिदा मागता हूं, यह अ-

अविरोधेन धर्मस्य स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ॥१५॥
अप्रमत्तोत्थिता नित्यमाराधय गुरुं मम ॥१६॥

देवयान्युवाच— यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि याचितः।
ततः कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति ॥१७॥

कच उवाच— गुरुपुत्रीति कृत्वाऽहं प्रत्याचक्ष्ये न दोषतः।
गुरुणा चाऽननुज्ञातः काममेवं शपस्व माम् ॥१८॥
आर्षं धर्मं ब्रुवाणोऽहं देवयानि यथा त्वया।
शप्तो नाऽर्होऽस्मि शापस्य कामतोऽद्य न धर्मतः॥१९॥
तस्माद्भवत्या यः कामो न तथा स भविष्यति।
ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति ॥२०॥
फलिष्यति न ते विद्या यत्त्वं मामात्थ तत्तथा।
अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति॥२१॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वा द्विजश्रेष्ठो देवयानीं कचस्तदा।
त्रिदशेशालयं शीघ्रं जगाम द्विजसत्तमः ॥२२॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य देवा इन्द्रपुरोगमाः।
बृहस्पतिं सभाज्येदं कचं वचनमब्रुवन् ॥२३॥

शीस दो, कि मार्गमें मेरा मंगल होवे। धर्मकी विरोध-वर्जित कथाके अवसरमें मेरा स्मरण करना और सावधान तथा उत्साहशीला होकर मेरे गुरुकी नित्य पूजा करना। (१२—१६)

देवयानी बोली, कि कच! मैं धर्म कामार्थ बार बार तुम्हारी प्रार्थना करती हूं, यदि इसे न मानो, तो तुम्हारी यह सञ्जीवनी विद्या सिद्ध नहीं होगी। कच बोले, कि मैं तुमको गुरुपुत्री जान करकेही नहीं स्वीकारता, कोई अन्य दोष समझ करकेही ऐसा नहीं करता हूं विशेष इस विषयमें गुरुने मुझे आज्ञा नहीं दी है, सो तुम जो चाहती हो, सो शाप दो। हे देवयानि! ऋषियोंका जैसा धर्म है, उसके अनुसार मेरे व्यवहार करनेसे धर्मानुसार मैं शापके योग्य नहीं हूं, पर तुमने कामके वश मुझको शाप दिया, सो तुम्हारी कामना पूरी नहीं होगी-कोई ऋषिपुत्र तुमसे विवाह नहीं करेगा। और तुमने जो शाप दिया, कि मेरी वह विद्या सफल नहीं होगी, वह सत्यही होगा, पर मैं जिसको वह विद्या पढाऊंगा, उसकी वह विद्या अवश्य सफल होगी। (१७–२१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि द्विजश्रेष्ठ कच देवयानीसे ऐसा कहकर वेगसे स्वर्ग

देवा ऊचुः— यस्त्वयाऽस्मद्धितं कर्म कृतं वै परमाद्भुतम् ।
न ते यशः प्रणशिता भागभाक्त्वं भविष्यसि ॥२४॥ [३३३७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच—कृतविद्ये कचे प्राप्ते हृष्टरूपा दिवौकसः ।
कचादधीत्य तां विद्यां कृतार्था भरतर्षभ ॥ १ ॥
सर्व एव समागम्य शतक्रतुमथाऽब्रुवन् ।
कालस्ते विक्रमस्याऽद्य जहि शत्रून्पुरन्दर ॥ २ ॥
एवमुक्तस्तु सहितैस्त्रिदशैर्मघवांस्तदा ।
तथेत्युक्त्वा प्रचक्राम सोऽपश्यत वने स्त्रियः॥ ३ ॥
क्रीडन्तीनां तु कन्यानां वने चैत्ररथोपमे ।
वायुभूतः स वस्त्राणि सर्वाण्येव व्यमिश्रयत्॥ ४ ॥
ततो जलात्समुत्तीर्य कन्यास्ताः सहितास्तदा।
वस्त्राणि जगृहुस्तानि यथासन्नान्यनेकशः ॥ ५ ॥
तत्र वासो देवयान्याः शर्मिष्ठा जगृहे तदा।
व्यतिमिश्रमजानन्ती दुहिता वृषपर्वणः ॥ ६ ॥

पतिके घरको गये। इन्द्रादि देवता उनको आते देखकर बृहस्पतिकी ओर प्रीतिसे देखके कचसे बोले, कि तुमने हमारा अति आश्चर्य हित कार्य किया है, इससे तुम्हारा यश सदा स्थायी होगा और तुम यज्ञके अंश भागी होगे। (२२-२४) [३३३७]

आदिपर्वमें सतहत्तरवा अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें अठहत्तरवा अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भरतर्षभ! देवगण विद्यावान कचको प्राप्तकर परमसन्तुष्ट चित्तसे उनसे वह विद्या पढकर कृतार्थ हुए। अनन्तर सब देवता देवराजके निकट आकर बोले, कि हे पुरन्दर आप के विक्रम प्रगट करनेका यही समय है, इस क्षण शत्रुकुलको नष्ट कीजिये। सम्पूर्ण देवोंके मिलकर ऐसा कहनेपर इन्द "तथास्तु" कहके मान कर उसके प्रबन्धके निमित्त चले। आगे यह देख कर, कि चैत्ररथके समान एक वनमें कुछ कन्या जलमें खेल रही हैं, उन्होंने वायुका स्वरूप लेकर उन सबोंके वस्त्रोंको एक दूसरेसे मिला दिया। (१-४)

अनन्तर सब कन्याओंने एकही समय निकलकर जिसके निकट जो वस्त्र मिला, वही उसने पहिन लिया। राजा वृषपर्वाकी

ततस्तयोर्मिथस्तत्र विरोधः समजायत ।
देवयान्याश्च राजेन्द्र शर्मिष्ठायाश्च तत्कृते ॥ ७॥

देवयान्युवाच— कस्माद् गृह्णासि मे वस्त्रं शिष्या भूत्वा ममाऽऽसुरि।
समुदाचारहीनाया न ते साधु भविष्यति ॥ ८॥

शर्मिष्ठोवाच— आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम ।
स्तौति वन्दीव चाऽभीक्ष्णं नीचैःस्थित्वा विनीतवत् ९
याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः ।
सुताऽहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ १० ॥
आदुन्वस्व विदुन्वस्व द्रुह्य कुप्यस्व याचकि।
अनायुधा सायुधाया रिक्ता क्षुभ्यसि भिक्षुकि ॥
लप्स्यसे प्रतियोद्धारं न हि त्वां गणयाम्यहम् ११

वैशम्पायन उवाच—समुच्छ्रयं देवयानीं गतां सक्तां च वाससि।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे ततः स्वपुरमागमत् ॥ १२ ॥
हतेयमिति विज्ञाय शर्मिष्ठा पापनिश्चया ।
अनवेक्ष्य ययौ वेश्म क्रोधवेगपरायणा ॥ १३ ॥

कन्या शर्मिष्ठाने वस्त्रोंकी मिलावट न जानकर देवयानीका वस्त्र ले लिया, हे राजेन्द्र ! तब उस हेतु शर्मिष्ठा और देवयानीमें आपसका झगडा खडा होजानेपर देवयानी बोली, कि असुरपुत्री! तुम शिष्या होकर क्यों मेरा वस्त्र ले रही हो ? तुममें शिष्टाचार नहीं है, कभी तुमको मङ्गल नहीं होगा। (७–८)

शर्मिष्ठा बोली, कि मेरे पिता जब बैठे वा सोये रहते हैं, तुम्हारे पिता तब नीचे रहकर नम्रभावसे भाट की भांति सदा उनकी स्तुति करते रहते हैं; तुम्हारे पिता भीखमङ्गे हैं, मेरे पिता दाता हैं; तुम्हारे पिता स्तुति पढनेवाले, मेरे पिता स्तव किये जानेवाले हैं; तुम्हारे पिता दान लेकर जीविका निर्वाह करते हैं, मेरे पिता दान नहीं लेते; री भीखमङ्गिन् ! तुम अस्त्रहीना हो, मैं अस्त्रवती हूं; री भीखसे जीनेवाली ! तुम चाहे क्रोध करो वा दुःख मानो, अथवा विद्रोह मचाओ, वा क्रोधिता होओ, उससे केवल तुम्हारा दरिद्रताके हेतु क्षोभही प्रगट होता है; तुमने समझ लिया है, कि मैं तुम्हारे समान की विरोधी हूंगी, पर मैं तुमको गिनती ही में नहीं लाती हूं । (९—११)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शर्मिष्ठाने वस्त्रके लिये देवयानीकी बडी आसक्ति और चढी देखकर उसको कूपमें डाल

अथ तं देशमभ्यागाद्ययातिर्नहुषात्मजः ।
श्रान्तयुग्यः श्रान्तहयो मृगलिप्सुः पिपासितः ॥१४॥
स नाहुषः प्रेक्षमाण उदपानं गतोदकम् ।
ददर्श राजा तां तत्र कन्यामग्निशिखामिव ॥१५॥
तामपृच्छत्स दृष्ट्वैव कन्याममरवर्णिनीम् ।
सान्त्वयित्वा नृपश्रेष्ठः साम्ना परमवल्गुना ॥१६॥
का त्वं ताम्रनखी श्यामा सुमृष्टमणिकुण्डला।
दीर्घं ध्यायसि चाऽत्यर्थं कस्माच्छोचसि चातुरा १७॥
कथं च पतिताऽस्यस्मिन्कूपे वीरुत्तृणावृते ।
दुहिता चैव कस्य त्वं वद सत्यं सुमध्यमे ॥१८॥

देवयान्युवाच—
योऽसौ देवैर्हतान्दैत्यानुत्थापयति विद्यया ।
तस्य शुक्रस्य कन्याऽहं स मां नूनं न बुध्यते॥१९॥
एष मे दक्षिणो राजन्पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः।
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलिनस्त्वं हि मे मनः॥२०॥
जानामि त्वामहं शान्तं वीर्यवन्तं यशस्विनम्।

दिया; पापचित्ता शर्मिष्ठा यह समझकर, कि देवयानी मर गयी है; न देखकरके ही क्रोधके वश चली गयी। अनन्तर नहुषपुत्र ययाति मृगयाके लिये उस वन में आये थे, उनके वाहन और घोडोंके बहुत थकनेपर उन्होंने जल ढूंढते हुए एक सूखा कूंआ पाया और उसमें देखा, कि अग्निकी शिखा समान एक कन्या रो रही है; नृपोत्तम ययातिने उस दिव्यदेहा कन्याको देखकरके ही मन हरने वाली धीमी बोलीसे समझाकर पूछा, कि तांबे के रङ्ग नखवाली मली हुई मणिके कुण्डल वाली युवती नारि ! तुम कौन हो? क्यों ऐसी चिन्ता कर रही हो ? क्यों कातर होकर शोक प्रकाश कर रही हो ? और क्योंकर इस घासपातसे ढंपे हुए कूपमें गिर गयी हो ? तुम किसकी बेटी हो ? हे सुन्दरि!यह सब सच बोलो। (१२-१८)

देवयानी बोली, कि देवोंसे दैत्यों के मारे जानेपर उन मरे दैत्योंको जो विद्या-के बलसे जिलाते हैं, मैं उन शुक्रकी कन्या हूं, वह मेरी यह दशा जान नहीं सके हैं; हे राजन् ! अपने यह तांबे के रंगवाले नख उंगली युक्त दहिने हाथको ऊपर उठाती हूं, इसे पकडकर मुझे निकालिये क्योंकि आप सुवंशी हैं और निश्चय जानती हूं, कि आप बडे धीर, वीर्य और यशवाले हैं, इससे

तस्मान्मां पतितामस्मात्कूपादुद्धर्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच-- तामथो ब्राह्मणीं राजा विज्ञाय नहुषात्मजः ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणावुज्जहार ततोऽवटात् ॥ २२ ॥
उद्धृत्य चैनां तरसा तस्मात्कूपान्नराधिपः ।
आमन्त्रयित्वा सुश्रोणीं ययातिः स्वपुरं ययौ॥२३॥
गते तु नाहुषे तस्मिन्देवयान्यप्यनिन्दिता ।
उवाच शोकसंतप्ता घूर्णिकामागतां पुरः ॥ २४ ॥

देवयान्युवाच— त्वरितं घूर्णिके गच्छ शीघ्रमाचक्ष्व मे पितुः।
नेदानीं संप्रवेक्ष्यामि नगरं वृषपर्वणः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा तत्र त्वरितं गत्वा घूर्णिकाऽसुरमन्दिरम् ।
दृष्ट्वा काव्यमुवाचेदं सम्भ्रमाविष्टचेतना ॥ २६ ॥
आचचक्षे महाप्राज्ञं देवयानीं वने हताम् ।
शर्मिष्ठया महाभाग दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २७ ॥
श्रुत्वा दुहितरं काव्यस्तत्र शर्मिष्ठया हताम् ।
त्वरया निर्ययौ दुःखान्मार्गमाणः सुतां वने ॥२८ ॥
दृष्ट्वा दुहितरं काव्यो देवयानीं ततो वने ।
बाहुभ्यां संपरिष्वज्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत्२९ ॥

आपको मुझे इस कूपसे निकालना चाहिये। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि नहुषपुत्र राजा ययातिने उसको ब्राह्मणकी कन्या जानकर दहिना हाथ पकडकर उस कूपसे निकाला। वह सुन्दरी देवयानीको ऊपर निकालकर उचित सम्भाषण कर उसीक्षण अपने नगरको पधारे। (२०—२३)

नहुषपुत्रके चले जाने पर अनिन्दिता देवयानी शोकसे खेदवती होकर असुरपुरसे आई हुई घूर्णिका नाम्नी दासीसे बोली कि घूर्णिके! तुम शीघ्र चलकर मेरे पितासे कहो, कि मैं इन दिनों राजा वृषपर्वा के नगर में न जाऊंगी। वैशम्पायन बोले, कि वह घूर्णिका द्रुत वेगसे असुर-मन्दिरमें जाकर शुक्रको देखकरके सम्मानके साथ बोली, कि हे महाभाग! श्रेष्ठ ब्रह्मन! वृषपर्वाकी कन्या शार्मिष्ठा वनमें देवयानीको घायलकर आई है। यह सुनतेही शुक्र वनमें कन्याको ढूंढनेके लिये विषादित चित्तसे वेगपूर्वक सिधारे। (२४—२८)

अनन्तर वनमें कन्या देवयानीको देखकर स्नेहवश दुःखित हृदयसे हाथों से उठाय

आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः ।
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृता ॥३०॥

देवयान्युवाच— निष्कृतिर्मेऽस्तु वा माऽस्तु शृणुष्वाऽवहितो मम ।
शर्मिष्ठया यदुक्ताऽस्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ ३१ ॥
सत्यं किलैतत्सा प्राह दैत्यानामासि गायकः ॥३२॥
एवं हि मे कथयति शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
वचनं तीक्ष्णपरुषं क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ॥ ३३ ॥
स्तुवतो दुहिता नित्यं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अहं तु स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ ३४ ॥
इदं मामाह शर्मिष्ठा दुहिता वृषपर्वणः ।
क्रोधसंरक्तनयना दर्पपूर्णा पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
यद्यहं स्तुवतस्तात दुहिता प्रतिगृह्णतः ।
प्रसादयिष्ये शर्मिष्ठामित्युक्ता तु सखी मया॥ ३६ ॥

शुक्र उवाच— स्तुवतो दुहिता न त्वं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य दुहिता देवयान्यसि ॥ ३७॥
वृषपर्वैव तद्वेद शक्रो राजा च नाहुषः ।

गलेमें लगाकर बोले, कि सभी जन निज दोष और गुणके अनुसार दु ख और सुख भोगते है; मै समझता हूं, कि तुमने कोई बुरा कार्य किया होगा उसीसे निष्कृति-रूपी यह दशा भयी है! देवयानी बोली, कि मेरा बचाव होवे वा न होवे,वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाने मुझसे जैसा कहा है, उसको ध्यान देकर सुनिये । शर्मिष्ठाने कहा है, कि आप दैत्योंके भाट है, क्या यह सच है? और क्रोधमे आखे लालकर अति कटीली और कडवी बातोंमे मुझसे यहभी कहा, कि तुम्हारे पिता स्तुति-पाठ करनेवाले, मदाने निकम्मे और मेरे पिता स्तुति किये जाते हुए दाता और दान देनेवाले है ।" अहङ्कारमे भरी हुई वृषपर्वाकी कन्याने क्रोधसे रक्तनेत्रा बनकर बार बार मुझसे ऐसा कहा; पिता! मैने यह बात कही है, कि यदि मै स्तुतिपाठ करनेवाले और दान लेनेहारे की बेटी हूं, तो शर्मिष्ठाको प्रसन्न करूगी । (२०—३६)

शुक्र बोले, कि देवयानि ! तुम स्तुति पढनेवाले, निकम्मे वा दान लेनेहारे की बेटी नही हो, स्तुति न पढनेवाले और स्तुति किये जानेवाले जन की कन्या हो; वृषपर्वा, इन्द्र और नहुषपुत्र यह

अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ॥ ३८॥
यच्च किंचित्सर्वगतं भूमौ वा यदि वा दिवि।
तस्याऽहमीश्वरो नित्यं तुष्टेनोक्तः स्वयंभुवा॥ ३९ ॥
अहं जलं विमुञ्चामि प्रजानां हितकाम्यया।
पुष्णाम्योषधयः सर्वा इति सत्यं ब्रवीमि ते ॥४०॥

वैशम्पायन उवाच- एवं विषादमापन्नां मन्युना संप्रपीडिताम् ।
वचनैर्मधुरैः श्लक्ष्णैः सान्त्वयामास तां पिता ॥ ४१ ॥[३३७८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८॥

शुक्र उवाच— यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ १ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥ २ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ ३ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति ।

सब लोग जानते है, मेरा विरोध-वार्जित, सोचके बाहर, ऐश्वरिक ब्रह्मबल है; स्वर्ग और भूतलमें जो सब वस्तु है, मै उनका नियन्ता हू, भगवान् स्वयंभुने सन्तोष पूर्वक ऐसा कहा है। तुमसे सच कहता हूं, कि मेही प्रजाओंके हितके निमित्त जल वर्षाता हूं, मुझसेही सम्पूर्ण ओषधि पुष्ट होती है। श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि दुःखवशा और खेदग्रसिता पुत्रीको ऐसी मनोहर मीठी बातोंसे उनके पिता शुक्रने समझाया। (३७—४१)

आदिपर्वमें अठहत्तरवां अध्याय समाप्त [३३७८]

आदिपर्वमें उनासी अध्याय।

शुक्र बोले, कि जो अन्यजनसे निन्दित होकर निन्दा की बातको सहलेते है, देवयानि ! तुम जानना, कि उससेही इस सम्पूर्ण जगत्का जय करना होता है। जो उछले हुए क्रोधको शासित घोडेकी नाई शासित करते है, वही साधुओंसे सारथि करके उक्त होते है। वास्तवमें ऐसा नही, कि वह घोडे की रासहीको पकडनेमे सारथि कहे जाते है। जो क्षमासे चढे हुए क्रोधको रोक लेते है, देवयानि ! तुम जानना, कि उससे ही इस सम्पूर्ण जगत्का जय करना होता है। जो सर्पके केचुल छोडने की भांति चढे हुए क्रोध

यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ ४ ॥
यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥ ५ ॥
यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः ।
न क्रुद्ध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ॥ ६ ॥
यत्कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः ।
न तत्प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ॥ ७ ॥
देवयान्युवाच-- वेदाऽहं तात बालाऽपि धर्माणां यदिहाऽन्तरम् ।
अक्रोधे चाऽतिवादे च वेद चाऽपि बलाबलम् ॥ ८ ॥
शिष्यस्याऽशिष्यवृत्तेस्तु न क्षन्तव्यं बुभूषता ।
तस्मात्संपूर्णवृत्तेषु वासो मम न रोचते ॥ ९ ॥
पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाऽभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत्प्राज्ञः श्रेयोर्थी पापबुद्धिषु ॥१० ॥
ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाऽभिजनेन वा ।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते ॥११ ॥

को क्षमासे रोक लेते है, वेही पुरुष करके कथित होते है। जो क्रोधको रोकते है और किसीकी निन्दा करनेसे उसको सह लेते है, तथा आप दुःखित होने परभी औरों को दुःख नही देते है, वही पुरुषार्थ के भागी है। जो बिना थकावट महीने महीने यागकी क्रिया करते है और सब प्राणियोंके अक्रोधी होते है, इन दोनोंमे अक्रोधी पुरुषही श्रेष्ठ है। अज्ञान बालक बालिका आपसमें जो अनिष्टाचरण किया करती है, प्राज्ञलोग उसका अनुकरण नहीं करते, क्योंकि वे बालक बालिका बलाबलसे ज्ञात नहीं है। (१—७)

देवयानि बोली, कि पिता! मै बालिका होने पर भी धर्म का मर्म जानती हूं, और अक्रोध और क्रोधके विषयमे बलाबलसेभी ज्ञात हूं, पर जो शिष्य होकर शिष्यके समान व्यवहार नहीं करता, मङ्गलेच्छुक जन को उसकी क्षमा न करना चाहिये, और जिनके व्यवहार ऐसे निकृष्ट है, उनके देशमें बसनेकी मुझे इच्छा नहीं होती। जो सब पुरुष कौलिन्य और चरित्रके विषयमें निन्दा करते हैं, उनके साथ मङ्गलार्थी जनका बसना उचित नहीं है। जो सब साधु कुल शीलसे ज्ञात है उनके साथही बसना उचित है और वह बासही श्रेष्ठ करके गिना जाता है। जिस प्रकार

वाग्दुरुक्तं महाघोरं दुहितुर्वृषपर्वणः ।
मम मथ्नाति हृदयमग्निकाम इवाऽरणिम् ॥
न ह्यतो दुष्करतरं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ॥ १२ ॥
यः सपत्नश्रियं दीप्तां हीनश्रीः पर्युपासते ।
मरणं शोभनं तस्य इति विद्वज्जना विदुः ॥ १३ ॥ [३३०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि
ययात्युपाख्याने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

ततः काव्यो भृगुश्रेष्ठः समन्युरुपगम्य ह ।
वृषपर्वाणमासीनमित्युवाचाऽविचारयन् ॥ १ ॥
नाऽधर्मश्चरितो राजन्सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ २ ॥
पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभक्तमिवोदरे ॥ ३ ॥
यदघातयथा विप्रं कचमांगिरसं तदा ।
अपापशीलं धर्मज्ञं शुश्रूषुं मद्गृहे रतम् ॥ ४ ॥

अग्निकामी जन वनकी लकडीका मथन करते हैं, उसप्रकार वृषपर्वाकी कन्याकी अति कठोर कटीली बात मेरे हृदयको मथ रही है। मैं जानती हूं, कि तीनों लोकोंमें इससे अधिक असाध्य कार्य कोई दूसरा नहीं है, जो धनहीन जन शत्रुओं की प्रज्वलित श्री देखकर उपासना करते हैं, विद्वान लोग ऐसा जानते हैं, कि ऐसे जनकी मृत्युही मङ्गल है। (८--१३) [३३०१]

आदिपर्वमें उनासीवां अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें अस्सीवां अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर भृगुश्रेष्ठ काव्य क्रोधसे चलके, बैठे हुए वृषपर्वाके पास पहुंच करके, निर्भय चित्त से यह कहने लगे, कि राजन्! अधर्माचरण करनेसे उसी दिन उनका फल दीख तो नहीं पडता है, पर जिस प्रकार धरतीको जोतने बोनेसे उचित समयमें फल देती है, उस प्रकार अधर्मभी धीरे धीरे आचरित होकर योग्यकालमें अधर्मकारीकी जड काट देता है। जिस प्रकार अधिक भोजन करनेसे उसीक्षण हानि न होनेसेभी अन्तमें अवश्यही हानि होती है, तैसे ही पापकार्यका फल यदि अपनेसे न दीख पडता हो, तो पुत्र वा पौत्रमें वह अवश्यही दीख पडेगा। हे वृषपर्व! मेरे घरमें रहते हुए, धर्मज्ञ,

वधादनर्हतस्तस्य वधाच्च दुहितुर्मम ।
वृषपर्वन्निबोधेदं त्यक्ष्यामि त्वां सबान्धवम् ॥ ५ ॥
स्थातुं त्वद्विषये राजन्न शक्ष्यामि त्वया सह ॥ ६ ॥
अहो मामभिजानासि दैत्य मिथ्याप्रलापिनम्।
यथेममात्मनो दोषं न नियच्छस्युपेक्ष्यसे ॥ ७ ॥

वृषपर्वोवाच— नाऽधर्मं न मृषा वादं त्वयि जानामि भार्गव।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च तत्प्रसीदतु मे भवान्॥ ८ ॥
यद्यस्मानपहाय त्वमितो गच्छसि भार्गव ।
समुद्रं संप्रवेक्ष्यामो नान्यदस्ति परायणम् ॥ ९ ॥

शुक्र उवाच— समुद्रं प्रविशध्वं वा दिशो वा द्रवताऽसुराः।
दुहितुर्नाऽप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे॥ १० ॥
प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम्।
योगक्षेमकरस्तेऽहमिन्द्रस्येव बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

वृषपर्वोवाच — यत्किंचिदसुरेन्द्राणां विद्यते वसु भार्गव ।
भुवि हस्तिगवाश्वं च तस्य त्वं मम चेश्वरः ॥ १२ ॥

गुरु-सेवक और निष्पापी ब्राह्मण बृहस्पति-पुत्र कचको तुमने वध किया था वध के अयोग्य उस कचके वधके कारण और मेरी पुत्रीको तुम्हारी बेटी शर्मिष्ठा ने प्राय मारही डाला था, उस हेतु तुम निश्चय जानना, कि तुमको और तुमारे बान्धवोंको मैं त्याग दूङ्गा। अहो दैत्यराज! जोकि तुम मुझको झूठमूठका प्रलाप बकने वाला समझते हो, पर यह तुम्हारा अपना दोष है, उसे तुम न सुधारकर उडा देते हो, सो तुम्हारे राज्य और साथमें मेरा न रहनाही उचित है। (१-७)

वृषपर्वा बोले कि हे भार्गव! मैं आपको झूठे वा अधार्मिक नहीं समझता हूं: सो आप मुझपर प्रसन्न होवें। हे भार्गव! यदि आप हमको छोडकर यहासे चले जाय, तो मैं समुद्रमें जा डूबूंगा। क्यों कि आपके विना हमारी कोई और गति नहीं है। शुक्रजी बोले, कि असुरगण! तुम चाहे समुद्रमें डूबो वा किसी और पधारो, पर मैं बेटीका अनिष्टाचरण सह नहीं सकूंगा, क्योंकि वह बेटी मेरी बडी स्नेहपात्री है। बृहस्पतिजी जैसे इन्द्रके यागके निर्वाह करनेहारे हैं, मैंभी तुम्हारे वैसा हूं, पर मेरा जीवन देवयानी के अधीन है, अतएव देवयानीको प्रसन्न करो। वृषपर्वा बोले, कि हे भार्गव! इस भू-

शुक्र उवाच— यत्किंचिदस्ति द्रविणं दैत्येन्द्राणां महासुर ।
तस्येश्वरोऽस्मि यद्येषा देवयानी प्रसाद्यताम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच— एवमुक्तस्तथेत्याह वृषपर्वा महाकविः ।
देवयान्यान्तिकं गत्वा तमर्थं प्राह भार्गवः ॥ १४ ॥

देवयान्युवाच— यदि त्वमीश्वरस्तात राज्ञो वित्तस्य भार्गव ।
नाऽभिजानामि तत्तेऽहं राजा तु वदतु स्वयम् ॥ १५ ॥

वृषपर्वोवाच— यं काममभिकामाऽसि देवयानि शुचिस्मिते ।
तं तेऽहं संप्रदास्यामि यदि वाऽपि हि दुर्लभम् ॥ १६ ॥

देवयान्युवाच— दासीं कन्यासहस्रेण शर्मिष्ठामभिकामये ।
अनु मां तत्र गच्छेत्सा यत्र दद्याच्च मे पिता ॥ १७ ॥

वृषपर्वोवाच— उत्तिष्ठ त्वं गच्छ धात्रि शर्मिष्ठां शीघ्रमानय ।
यं च कामयते कामं देवयानी करोतु तम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच— ततो धात्री तत्र गत्वा शर्मिष्ठां वाक्यमब्रवीत् ।
उत्तिष्ठ भद्रे शर्मिष्ठे ज्ञातीनां सुखमावह ॥ १९ ॥
त्यजति ब्राह्मणः शिष्यान्देवयान्या प्रचोदितः ।

मण्डलमें असुरोंके हाथी, गौ, घोडे और जितना धन सम्पद है, आप उन सबोंके और मेरे भी अधिकारी है। शुक्र बोले, कि हे महासुर! असुरराजोंका जितना ऐश्वर्य है, यदि मै सबका अधीश भी बनूं, तोभी देवयानीको प्रसन्न करो। (८-१३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि भार्गवकी ऐसी बात सुनकर महाविज्ञ वृषपर्वाने उसे मान लिया और उसके साथ भार्गव ने देवयानीके पास चलकर वह वृत्तान्त कह सुनाया। अनन्तर देवयानी बोली, कि हे पिता! मै भली भांति नहीं जानती हूं, कि आप दैत्यराजकी सम्पूर्ण सम्पद के अधीश है, सो राजा स्वयं ऐसा कहें।

वृषपर्वा बोले, कि हे सुन्दरि देवयानि! तुम्हारी जो कामना हो, सो कहो, यदि वह दुर्लभ भी हो तो उसे पूरी करूंगा। देवयानी बोली, कि मै कामना करती हूं, कि सहस्र कन्याओंके साथ शर्मिष्ठा मेरी दासी बने, मेरे पिता मुझको जहां दान करेंगे, शर्मिष्ठा वहां मेरे साथ जायगी। वृषपर्वा निकटकी दासीसे बोले, कि दासी! उठो, शीघ्र जाकर शर्मिष्ठाको लाओ, देवयानी जो कामना कर रही है, शर्मिष्ठासे उसे पूरी करनेको कहो। १४-१८

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर दासीने शर्मिष्ठाके पास जाकर कहा; कि भद्रे! शर्मिष्ठे! उठो; बन्धुओंके मङ्गल

सा यं कामयते कामं स कार्योऽद्य त्वयाऽनघे ॥२०॥

शर्मिष्ठोवाच— यं सा कामयते कामं करवाण्यहमद्य तम् ।
यद्येवमाह्वयेच्छुक्रो देवयानीकृते हि माम् ॥
मद्दोषान्मा गमच्छुक्रो देवयानी च मत्कृते ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कन्यासहस्रेण वृता शिबिकया तदा ।
पितुर्नियोगात्त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात् ॥ २२ ॥

शर्मिष्ठोवाच— अहं दासीसहस्रेण दासी ते परिचारिका ।
अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २३ ॥

देवयान्युवाच— स्तुवतो दुहिताऽहं ते याचतः प्रतिगृह्णतः ।
स्तूयमानस्य दुहिता कथं दासी भविष्यसि ॥ २४ ॥

शर्मिष्ठोवाच— येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत् ।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥२५ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रतिश्रुते दासभावे दुहित्रा वृषपर्वणः ।
देवयानी नृपश्रेष्ठ पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २६ ॥

करनेको यत्नवती होओ; ब्राह्मण शुक्र देवयानीसे आदिष्ट होकर शिष्य दैत्योंको त्याग रहे है। हे अनघे! आज उन शुक्र-कन्याने यह कामना की है, कि तुमको सहस्र दासियोंके साथ उनकी दासी बनना पड़ेगा; तभी वह मानेगी। शर्मिष्ठा बोली, कि यदि देवयानीके लिये शुक्र मुझको बुलावें, तो आज देवयानी जो कामना करेगी उसको मै पूरी करनेको सम्मत हूं, मेरे दोषसे शुक्र और देवयानी न जायं। (१९—२१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर शर्मिष्ठा पिताके प्रबन्धके अनन्तर पालकी पर चढकर सहस्र कन्याओंसे घेरी जाकरके श्रेष्ठपुरसे शीघ्र निकली; आगे देवयानी के पास आकर बोली, कि मै सहस्र दासियोंके साथ तुम्हारी सेविका दासी बनी, तुम्हारे पिता जहां तुमको दान करेंगे, मैं वहां तुम्हारे साथ जाऊंगी। देवयानी बोली, कि मै तुम्हारी स्तुति पढनेवाले, भिखमंगे और दान लेनेवाले की कन्या हूं; तुम स्तुति किये जानेवाले की पुत्री हो, फिर क्यों तुम दासी बनोगी? (२२-२४)

शर्मिष्ठाने उत्तर दिया, कि चाहे जिस किसी उपायसे बन्धुवर्ग सुखी होवें, वही मुझको करना होगा, सो तुम्हारे पिता जहां तुमको दान करेंगे, मै वहां तुम्हारी साथी बनी रहूंगी। श्रीवैशम्पायन जी बोले, कि हे नृपश्रेष्ठ! वृषपर्वाकी बेटीके

देवयान्युवाच— प्रविशामि पुरं तात तुष्टाऽस्मि द्विजसत्तम।
अमोघं तव विज्ञानमस्ति विद्याबलं च ते ॥ २७॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तो दुहित्रा स द्विजश्रेष्ठो महायशाः।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूजितः सर्वदानवैः ॥ २८॥ [३४१०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि
ययात्युपाख्यानेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

वैशम्पायन उवाच—अथ दीर्घस्य कालस्य देवयानी नृपोत्तम।
वनं तदेव निर्याता क्रीडार्थं वरवर्णिनी ॥ १ ॥
तेन दासीसहस्रेण सार्धं शर्मिष्ठया तदा।
तमेव देशं संप्राप्ता यथाकामं चचार सा ॥ २ ॥
ताभिः सखीभिः सहिता सर्वाभिर्मुदिता भृशम्।
क्रीडन्त्योऽभिरताः सर्वाः पिबन्त्यो मधुमाधवीम्॥३॥
खादन्त्यो विविधान्भक्ष्यान्विदशन्त्यः फलानि च।
पुनश्च नाहुषो राजा मृगलिप्सुर्यदृच्छया ॥ ४ ॥
तमेव देशं संप्राप्तो जलार्थी श्रमकर्शितः।
ददृशे देवयानीं स शर्मिष्ठां ताश्च योषितः ॥ ५ ॥

दासीपन स्वीकार करने पर देवयानी पिताके पास जाकर बोली, कि हे पिता! मैं सन्तुष्ट हुई, अब नगरको जाऊंगी, मैं जान चुकी, कि आपका विज्ञान और विद्याका बल अव्यर्थ है। वैशम्पायन बोले, कि महायशा, द्विजश्रेष्ठ शुक्र पुत्रीकी यह बात सुनकर सब दैत्योंसे पूजे जाकर प्रसन्नचित्तसे असुरपुरको पधारे।

आदिपर्वमें अस्सी अध्याय समाप्त। [३४१०]

आदिपर्वमें एकासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे नृपोत्तम! अनन्तर बहुकाल पश्चात सुन्दरी देवयानी खेलनेके निमित्त पूर्व कथित उस वन में गयी, आगे वह सहस्र दासी और शर्मिष्ठाके साथ वहां पहुंचकर मनमाना घूमने लगी। वह वहीं सम्पूर्ण सहेलियों के साथ परम आनन्द भोगने लगी; वे सब मधु-वृक्षका मधु पीकर कभी खेल रहीं थीं कभी भांति भांतिके फल और भांति भांतिकी भोजनीय सामग्री खारही थीं, कि ऐसे समयमें नहुषपुत्र ययाति फिर मृगयाके निमित्त आन कर थकावटसे जलपानार्थी होकर स्वेच्छापूर्वक वहां आ पहुंचे। उन्होंने वहां देवयानी, शर्मिष्ठा और अनुपम रूपवती दिव्य आभूषणोंसे सजी धजी मधुपानसे उन्मत्ता खेलती

पिबन्तीर्ललमानांश्च दिव्याभरणभूषिताः ।
उपविष्टां च ददृशे देवयानीं शुचिस्मिताम् ॥ ६ ॥
रूपेणाऽप्रतिमां तासां स्त्रीणां मध्ये वराङ्गनाम् ।
शर्मिष्ठया सेव्यमानां पादसंवाहनादिभिः ॥ ७ ॥

ययातिरुवाच— द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां द्वे कन्ये परिवारिते ।
गोत्रे च नामनी चैव द्वयोः पृच्छाम्यहं शुभे ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच-- आख्यास्याम्यहमादत्स्व वचनं मे नराधिप ।
शुक्रो नामाऽसुरगुरुः सुतां जानीहि तस्य माम् ॥९॥
इयं च मे सखी दासी यत्राऽहं तत्र गामिनी ।
दुहिता दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा वृषपर्वणः ॥ १० ॥

ययातिरुवाच- कथं तु ते सखी दासी कन्येयं वरवर्णिनी ।
असुरेन्द्रसुता सुभ्रूः परं कौतूहलं हि मे ॥ ११ ॥

देवयान्युवाच- सर्व एव नरश्रेष्ठ विधानमनुवर्तते ।
विधानविहितं मत्वा मा विचित्राः कथाः कृथाः १२
राजवद्रूपवेषौ ते ब्राह्मीं वाचं बिभर्षि च ।
को नाम त्वं कुतश्चाऽसि कस्य पुत्रश्च शंस मे ॥ १३ ॥

हुई कामिनियों को देखा; मधुर हासिनी, अनुपम रूपवती, नारियोंमें प्रधाना देवयानी उन बालाओं में बैठी थी, शर्मिष्ठा उसके पांवआदि दाब दाबकर सेवा कर रही थी । यह देखकर राजा ययाति निकट जाकर बोले, कि शुभे ! तुम दो कन्या दो सहस्र कन्याओंसे घिरी हो, तुम दोनोंके नाम गोत्र जानना चाहता हूं। (१—८)

देवयानी बोली, कि हे नराधिप ! यह कहती हूं, सुनिये । जो असुरोंके गुरु, शुक्र नामसे प्रख्यात हैं, मैं उनकी कन्या हूं, यह वृषपर्वा नामक दैत्यराज की दुहिता है, इनका नाम शर्मिष्ठा है, यह मेरी सहेली और दासी है, मैं जहां जाती हूं, यह मेरे साथ जाती है । ययाति बोले, कि यह जाननेके लिये मेरा कौतूहल बढ रहा है, कि यह सुन्दर भौंहवाली, दैत्यराज दुहिता क्योंकर तुम्हारी दासी हुई । देवयानि बोली, कि हे नरश्रेष्ठ ! सब कुछ दैवहीका वशीभूत है, दैवाधीन विषयमें अचरज न मानना, आपका रूप और वेष राजाकी भांति देखती हूं, आप वैदिक वाक्य कह रहे हैं; मुझसे कहिये, कि आप कौन, किनके पुत्र और कहांसे आते है। (९—१३)

ययातिरुवाच— ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः।
राजाऽहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः॥ १४॥
देवयान्युवाच— केनाऽस्यर्थेन नृपत इमं देशमुपागतः।
जिघृक्षुर्वारिजं किंचिदथवा मृगलिप्सया॥ १५॥
ययातिरुवाच— मृगलिप्सुरहं भद्रे पानीयार्थमुपागतः।
बहुधाऽप्यनुयुक्तोऽस्मि तदनुज्ञातुमर्हसि॥ १६॥
देवयान्युवाच— द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह।
त्वदधीनाऽस्मि भद्रं ते सखा भर्ता च मे भव॥ १७॥
ययातिरुवाच— विद्ध्यौशनसि भद्रं ते न त्वामर्होऽस्मि भाविनि।
अविवाह्या हि राजानो देवयानि पितुस्तव॥ १८॥
देवयान्युवाच— संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम्।
ऋषिश्चाऽप्यृषिपुत्रश्च नाहुषाऽङ्ग वहस्व माम्॥ १९॥
ययातिरुवाच— एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने।
पृथग्धर्माः पृथक्शौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः॥ २०॥
देवयान्युवाच— पाणिधर्मो नाहुषाऽयं न पुंभिः सेवितः पुरा।

ययाति बोले, कि मैंने ब्रह्मचर्य लेकर सम्पूर्ण वेद पाठ किये हैं; मैं राजा और राजपुत्र हूं, मेरा नाम ययाति है। देवयानी बोली, कि कहिये, आप जलकी मछली आदि मारने, वा मृगयाकी इच्छासे अथवा अन्य किस कारणसे यहां आये हैं? ययाति बोले, कि हे भद्रे! मृगयाके लिये निकल कर जल पीनेको यहां आपहुंचा हूं, इस समय नाना प्रकारसे थका हूं, आज्ञा हो, तो चला जाऊं। देवयानी बोली, कि इन दो सहस्र कन्या और दासी शर्मिष्ठाके साथ मैं आपकी अधीना बनती हूं आपका मङ्गल होगा, आप मेरे सखा और भर्ता होवें। ययाति बोले, कि हे शुक्रनन्दिनी, भामिनी, देवयानि! तुम्हारा मङ्गल होवे, मैं तुम्हारे योग्य पात्र नहीं हूं, तुम्हारे पिता जैसे हैं, उससे राजालोग तुम्हारे विवाहके योग्य नहीं हो सकते! (१४—१८)

देवयानी बोली, कि ब्राह्मणके साथ क्षत्रिय और क्षत्रियके साथ ब्राह्मण मिले हुए हैं। हे नहुषपुत्र! आपभी उसके अनुसार ऋषि और ऋषिपुत्र हुए हैं, सो मुझसे विवाह कीजिये! ययाति बोले, कि हे वराङ्गने! चारों वर्ण एक ब्रह्माकी देहसे उत्पन्न तो हुए हैं, पर उनमेंसे हरेकके धर्म और शौचादि अलग अलग निर्दिष्ट हैं, उनमें ब्राह्मण सबोंमें श्रेष्ठ है।

तं मे त्वमग्रहीरग्रे वृणोमि त्वामहं ततः ॥ २१ ॥
कथं नु मे मनस्विन्याः पाणिमन्यः पुमान्स्पृशेत् ।
गृहीतमृषिपुत्रेण स्वयं वाऽप्यृषिणा त्वया ॥ २२ ॥
ययातिरुवाच— क्रुद्धादाशीविषात्सर्पाज्ज्वलनात्सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्रो ज्ञेयः पुंसा विजानता ॥ २३ ॥
देवयान्युवाच— कथमाशीविषात्सर्पाज्ज्वलनात्सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्र इत्यात्थ पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥
ययातिरुवाच— एकमाशीविषो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः ॥ २५ ॥
दुराधर्षतरो विप्रस्तस्माद्भीरु मतो मम ।
अतोऽदत्तां च पित्रा त्वां भद्रे न विवहाम्यहम् ॥ २६ ॥
देवयान्युवाच— दत्तां वहस्व तन्मां त्वं पित्रा राजन्वृतो मया ।
अयाचतो भयं नास्ति दत्तां च प्रतिगृह्णतः ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच—त्वरितं देवयान्याऽथ संदिष्टं पितुरात्मनः ।

देवयानी बोली, कि हे नहुष-पुत्र! किसी और पुरुषने पहिले मेरा हाथ नहीं थामा; आपने पहिले मेरा पाणिग्रहण किया है, इससे आपकोही पतित्वमें वरण करती हूं। आपने ऋषि और ऋषिपुत्र होकरके स्वयं मेरा पाणिग्रहण किया है और मैंभी मनस्विनी हूं,सो दूसरा पुरुष क्योंकर मेरे पाणिको स्पर्श करेगा? (१९—२३)

ययाति बोले, कि ज्ञानी पुरुष जानते है, कि क्रोधपूरित विषयुक्त सर्प और तेज शस्त्रसे भी ब्राह्मण कठोर होते है, देवयानीने पूछा, कि हेपुरुषर्षभ! क्योंकर यह कहा, कि क्रोधपूरित तेज विषयुक्त सर्प और तेज शस्त्रसे भी ब्राह्मण कठोर होते है? ययाति बोले कि सर्पके काटने से एक मनुष्य मरता है और शस्त्रसे भी एक मनुष्य मारा जाता है, पर ब्राह्मण क्रोधित होकर राज्य, नगर सम्पूर्ण के साथ एकही कालमें नष्ट कर डालते है, हे भद्रे! मैं इन कारणोंको बडा कठोर समझता हूं, सो तुम्हारे पिताके विना दान किये मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता हूं। देवयानी बोली, कि महाराज! मैंने आपको वरण किया है, अब पिताके दान करने पर मुझसे विवाह करलीजिये; आपने प्रार्थना नहीं की, पिताके दान करने पर ग्रहण करनेमें, आपको भयकी बात क्या है? (२४—२७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर देवयानीने वेगपूर्वक पितासे सम्पूर्ण

सर्वं निवेदयामास धात्री तस्मै यथातथम् ॥ २८ ॥
अन्वैव च स राजानं दर्शयामास भार्गवः ॥ २९ ॥
दृष्ट्वैव चागतं शुक्रं ययातिः पृथिवीपतिः ।
ववन्दे ब्राह्मणं काव्यं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥ ३० ॥
देवयान्युवाच— राजाऽयं नाहुषस्तात दुर्गमे पाणिमग्रहीत् ।
नमस्ते देहि मामस्मै लोके नाऽन्यं पतिं वृणे ॥ ३१ ॥
शुक्र उवाच— वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया ।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज ॥ ३२ ॥
ययातिरुवाच— अधर्मो न स्पृशेदेष महान्मामिह भार्गव ।
वर्णसंकरजो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ॥ ३३ ॥
शुक्र उवाच - अधर्मात्त्वां विमुञ्चामि वृणु त्वं वरमीप्सितम्।
अस्मिन्विवाहे मा ग्लासीरहं पापं नुदामि ते ॥ ३४ ॥
वहस्व भार्यां धर्मेण देवयानीं सुमध्यमाम्।
अनया सह संप्रीतिमतुलां समवाप्नुहि ॥ ३५ ॥
इयं चापि कुमारी ते शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।

वृत्तान्त कहनेकी आज्ञा करी। दासीने शुक्रके पास जाकर आद्योपान्त सब कह सुनाया। वह सब वृत्तान्त सुनकर वनमे आये भार्गवके उस वनमें जा पहुंचने पर पृथ्वीनाथ ययाति ब्राह्मण शुक्रको समागत देखकर सिर नाय करके प्रणाम कर दोनो हाथोंको जोडके खडे रहे; देवयानी बोली, पिता! इन राजा नहुषपुत्रने विप त्कालमें मेरा पाणिग्रहण किया था, सो मै सिरनाय प्रार्थना करती हूं, कि आप इस पात्रको मुझे सम्प्रदान कीजिये, किसी औरको वरण करना मेरी इच्छा नहीं है। २८–३१

शुक्र बोले, कि हे वीर नहुषपुत्र ! मेरी इस प्यारी कन्याने तुमको पतित्वमें वरण किया है, इसक्षण मैं सम्प्रदान करता हूं, तुम इसको महिषी कर लो। ययाति बोले, कि हे ब्राह्मण भार्गव ! मैं आपसे यह वर मांगता हूं, कि इस विषयमें वर्णसङ्कर हेतु महान् अधर्म मुझको स्पर्श न करे। शुक्र बोले, कि मैं तुमको अधर्मसे बचाता हूं, तुम मनमाना वर मांगो, इस विवाहसे तुम दुःखी मत होओ, तुम्हारा सम्पूर्ण पाप दूर किये देता हूं। तुम इस सुन्दरी देवयानीसे धर्मानुसार विवाह कर लो, इसके साथ अपार प्रीति पाओगे, और इस कुमारी वृषपर्वाकी दुहिताकी सदा पूजा करना,

संपूज्या सततं राजन्मा चैनां शयने ह्वयेः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तो ययातिस्तु शुक्रं कृत्वा प्रदक्षिणम्।

शास्त्रोक्तविधिना राजा विवाहमकरोच्छुभम्॥३७॥

लब्ध्वा शुक्रान्महद्वित्तं देवयानीं तदोत्तमाम्।

द्विसहस्रेण कन्यानां तथा शर्मिष्ठया सह ॥ ३८॥

संपूजितश्च शुक्रेण दैत्यैश्च नृपसत्तमः ।

जगाम स्वपुरं हृष्टोऽनुज्ञातोऽथ महात्मना॥ ३९॥ [३४९८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन उवाच--ययातिः स्वपुरं प्राप्य महेन्द्रपुरसन्निभम्।

प्रविश्याऽन्तः पुरं तत्र देवयानीं न्यवेशयत् ॥ १ ॥

देवयान्याश्चानुमते सुतां तां वृषपर्वणः।

अशोकवनिकाभ्याशे गृहं कृत्वा न्यवेशयत् ॥ २ ॥

वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठां वार्षपर्वणीम्।

वासोभिरन्नपानैश्च संविभज्य सुसत्कृताम् ॥ ३ ॥

देवयान्या तु सहितः स नृपो नहुषात्मजः।

परंतु हे राजन्! इसको विस्तर पर न बुलाना। (३३—३६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शुक्रकी यह बात सुनकर राजा ययातिने उनको प्रदक्षिणा करके शास्त्रोक्त विधिके अनुसार देवयानीसे शुभ विवाह किया। उक्त नृपश्रेष्ठ, शुक्रसे दो सहस्र कन्या और शर्मिष्ठा सहित उत्तमाङ्गना देवयानीको और प्रचुर धन लाभ कर, महात्मा शुक्र और दैत्योंसे सत्कार किये जाकर और आज्ञा पाकर प्रसन्न चित्तसे निज राजधानीको पधारे। (३७—३९)

आदिपर्वमें इक्यासी अध्याय समाप्त। [३४९८]

आदिपर्वमें बियासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर ययातिने महेन्द्रकी पुरीसी निज पुरीमें पहुंचकर अन्तःपुरमें प्रवेश पूर्व्वक देवयानीको योग्य वासस्थान दिया। आगे देवयानीकी आज्ञासे अशोक वनके निकट घर बनाकर उसमें वृषपर्वाकी पुत्रीको वासस्थान रखवा दिया और दो सहस्र दासीके साथ उस शर्मिष्ठाको वस्त्र, अलङ्कार अन्न पानादिसे यथोचित विभागके अनुसार आदर सत्कारपूर्वक रख दिया। अनन्तर वह नहुषपुत्र राजा देवयानीसे परम सुखपूर्वक विहार करते

विजहार बहूनब्दान्देववन्मुदितः सुखी ॥ ४ ॥
ऋतुकाले तु संप्राप्ते देवयानी वराङ्गना।
लेभे गर्भं प्रथमतः कुमारं च व्यजायत ॥ ५ ॥
गते वर्षसहस्रे तु शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा चाऽन्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥
ऋतुकालश्च संप्राप्तो न च मेऽस्ति पतिर्वृतः।
किं प्राप्तं किं नु कर्तव्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत्॥ ७ ॥
देवयानी प्रजाताऽसौ वृथाऽहं प्राप्तयौवना।
यथा तया वृतो भर्ता तथैवाऽहं वृणोमि तम् ॥ ८ ॥
राज्ञा पुत्रफलं देयमिति मे निश्चिता मतिः।
अपीदानीं स धर्मात्मा इयान्मे दर्शनं रहः ॥ ९ ॥
अथ निष्क्रम्य राजाऽसौ तस्मिन्काले यदृच्छया।
अशोकवनिकाभ्याशे शर्मिष्ठां प्रेक्ष्य धिष्ठितः॥१०॥
तमेकं रहितं दृष्ट्वा शर्मिष्ठा चारुहासिनी।
प्रत्युद्गम्याऽञ्जलिं कृत्वा राजानं वाक्यमब्रवीत्॥११॥
शर्मिष्ठोवाच— सोमस्येन्द्रस्य विष्णोर्वा यमस्य वरुणस्य च।

हुए, बहुवर्ष विताने लगे। यथासमयमे देवयानीका ऋतुकाल आने पर सुन्दरी देवयानीने गर्भ धारण किया; इससे उसके एक सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। (१–५)

सहस्र वर्ष व्यतीत होनेपर यौवनप्राप्ता शर्मिष्ठाका ऋतुकाल आ पहुंचा। तब वह सोचने लगी, कि मेरा ऋतुकाल उपस्थित हुआ, पर विवाह किया हुआ पति नहीं है, क्या होगा ! क्या करूं ! अथवा क्योंकर कार्य पूरा होवे। देवयानीने पुत्र प्रसव किया है, मेरी यौवनदशा व्यर्थ हुई, सो देवयानीने जिस प्रकार राजाको पतित्वमें वरण किया है, मैं भी वैसाही करूं, मुझको निश्चय जान पडता है, कि राजासे पुत्ररूपी फल प्राप्त करूंगी, अब उन धर्मात्माको निरालेमें पाऊं तब ठीक हो। (६–९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर उस कालमें राजा मनमाने अशोकवनके निकट पहुंचकर शर्मिष्ठाको देखकर बैठ गये। मधुरहासिनी शर्मिष्ठा निरालेमें उनको अकेले पाकरके दोनों हाथ जोडकर निकट आकर बोली, कि हे नहुषपुत्र ! चन्द्र, इन्द्र, विष्णु, यम वा वरुणके और

नच वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं द्रष्टुमर्हति ॥ १२॥
रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन्वेत्थ मां सदा।
सा त्वां याचे प्रसाद्याऽहमृतुं देहि नराधिप॥ १३॥

ययातिरुवाच— वेद्मि त्वां शीलसंपन्नां दैत्यकन्यामनिन्दिताम्।
रूपं च ते न पश्यामि सूच्यग्रमपि निन्दितम् १४॥
अब्रवीदुशना काव्यो देवयानीं यदावहम्।
नेयमाह्वयितव्या ते शयने वार्षपर्वणी ॥ १५॥

शर्मिष्ठोवाच— न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चाऽनृतान्याहुरपातकानि ॥ १६॥
पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ॥१७॥

ययातिरुवाच— राजा प्रमाणं भूतानां स नश्येत मृषा वदन्।
अर्थकृच्छ्रमपि प्राप्य न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ॥ १८॥

शर्मिष्ठोवाच— समावेतौ मतौ राजन्पतिः सख्याश्च यः पतिः।

आपके अन्त पुरमें रहनेवाली स्त्री को कोई देख नहीं सकता। हे राजन्! आप मेरे रूप कुल और शीलकी बात सदासे जानते है सो मै आपको प्रसन्न कर प्रार्थना करती हूं, आप मेरे ऋतुकी रक्षा कीजिये। (१०—१३)

ययाति बोले, कि जानता हूं, कि तुम सुशीला, अनिन्दनीया, दानवकन्या हो, तुम्हारा रूप सूईके अगले भागके समान भी निन्दायोग्य नहीं है, पर मैंने जब देवयानीसे विवाह किया था, तब भगवान् उशनाने कहा था, कि तुम इस वृषपर्वाकी कन्याको बिस्तर पर मत बुलाना। शर्मिष्ठा बोली, कि हे राजन् ! हंसीमें न मिलना हंसीके मिलने योग्य स्त्रीमें मिलनेमें और विवाहके समय और प्राण जाने की संभावनामें, और सब चोरी जानेमे—इन पांच स्थानमें, झूठी बात कहनेमे दोष नहीं होता, हे नरेन्द्र! लोगोंका ऐसा कहना, कि पूछे जाकर झूठी कहनेमे मनुष्य पतित होता है, झूठ है; क्योंकि गौ, ब्राह्मण, स्त्री, दीन, अनाथ आदिके लिये विशेष विशेष स्थानो मे झूठी साक्षी देनेमे पुण्यभी होता है। जिस स्थलमे दोनोंका एकार्थ समाधान करना होगा, वहां झूठी बात दोषकी होती है। (१४—१७)

ययाति बोले, कि राजा प्रजाओंके प्रमाण है वह झूठ बोलनेमे नष्ट होते है; अतएव यदि धनका कष्ट भोगना भी पड़े,

सम विवाहमित्याहुः सख्या मेऽसि वृतः पतिः॥१९॥

ययातिरुवाच— दातव्यं याचमानेभ्य इति मे व्रतमाहितम्।
त्वं च याचसि मां कामं ब्रूहि किं करवाणि ते॥२०॥

शर्मिष्ठोवाच— अधर्मात्पाहि मां राजन्धर्मं च प्रतिपादय।
त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम्॥२१॥
त्रय एवाऽधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम्॥२२॥
देवयान्या भुजिष्याऽस्मि वश्या च तव भार्गवी।
सा चाऽहं च त्वया राजन्भजनीये भजस्व माम्॥२३॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तस्तु राजा स तथ्यमित्यभिजज्ञिवान्।
पूजयामास शर्मिष्ठां धर्मं च प्रत्यपादयत्॥२४॥
स समागम्य शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च।
अन्योन्यं चाऽभिसंपूज्य जग्मतुस्तौ यथागतम्॥२५॥
तस्मिन्समागमे सुभ्रूः शर्मिष्ठा चारुहासिनी।

तौभी मिथ्या कहनेको मुझे साहस नहीं होता। शर्मिष्ठा बोली, कि हे राजन्! सहेलीका पति और अपना पति दोनों समान है। दो सहेलियोंमें एकका विवाह होनेसे दोनोंका विवाह सिद्ध होता है; पहिले मेरी सहेलीने आपको वरण किया है, उससेही आपको मेरा पतित्वमें वरण करना होगया है, ययाति बोले, कि मेरा यह एक व्रत है, कि मांगनेवाला जन जो मांगेगा मैं वही दे दूंगा, तुम मुझसे मांग रही हो, सो कहो तुम्हारी कौनसी अभिलाषा पूरी करनी होगी। (१८—२०)

शर्मिष्ठा बोली, कि महाराज! आप मुझे अधर्मसे बचावें, धर्म रक्षा करें, आपसे पुत्रवती होकर मैं भली भांति धर्मानुष्ठान करूंगी। राजन्! भार्या, दास और पुत्र यह तीन धनपति नहीं होते, पर यह जो धन उपार्जन करते हैं, वह धन उनका होता है, जिनके वे अधीन है। हे राजन्! मै देवयानीकी दासी और आपकी वशभूता हुई हूं, सो देवयानी और मैं दोनों आपके भजनेके योग्य है, सो आप मुझे भजे। (२१—२३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि राजाने शर्मिष्ठाकी बात सुनकर उसे ठीक जान करके शर्मिष्ठाका मनोरथ सफल कर धर्मरक्षा की। इच्छानुरूप सङ्गमसे शर्मिष्ठाका मनोरथ पूरा होनेपर वे दोनों उचित सम्मान से सम्भाषणकर योग्य

लेभे गर्भं प्रथमतस्तस्मान्नृपतिसत्तमात् ॥ २६ ॥
प्रजज्ञे च ततः काले राजन्राजीवलोचना ।
कुमारं देवगर्भाभं राजीवनिभलोचनम् ॥ २७ ॥ [३४८९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच— श्रुत्वा कुमारं जातं तु देवयानी शुचिस्मिता ।
चिन्तयामास दुःखार्ता शर्मिष्ठां प्रति भारत ॥ १ ॥
अभिगम्य च शर्मिष्ठां देवयान्यब्रवीदिदम् ।
देवयान्युवाच— किमिदं वृजिनं सुभ्रु कृतं वै कामलुब्धया ॥ २ ॥
शर्मिष्ठोवाच— ऋषिरभ्यागतः कश्चिद्धर्मात्मा वेदपारगः ।
स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ॥ ३ ॥
नाऽहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते ।
तस्मादृषेर्ममाऽपत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥
देवयान्युवाच— शोभनं भीरु यद्येवमथ स ज्ञायते द्विजः ।
गोत्रनामाभिजनतो वेत्तुमिच्छामि तं द्विजम् ॥ ५ ॥
शर्मिष्ठोवाच— तपसा तेजसा चैव दीप्यमानं यथा रविम् ।

स्थानोंमें पधारे। हे राजन् प्रसन्ननेत्रा, भले भौवाली, मधुरहासिनी शर्मिष्ठाने उस पहिले संगम ही में उन नृपोत्तमसे गर्भवती होकर उचित समयमें देवकुमार समान प्रसन्न नेत्र एक पुत्र प्रसव किया । २४-२७

आदिपर्वमें बियासी अध्याय समाप्त [३४८९]

आदिपर्वमें तिरासी अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे भारत! शर्मिष्ठाके पुत्र जन्मा है यह सुनकर सुन्दरी देवयानी दुःखीचित्त हुई और शर्मिष्ठाके समीप जाकर यह बोली, कि री भले भौवाली! तुमने कामकी वशीभूता होकर यह कैसा पापकर्म कर डाला है? शर्मिष्ठा बोली, कि हे सुन्दरी ! मेरे पास धर्मात्मा वेदपारग एक ऋषि आये थे, उनके वर देनेको उद्यत होनेपर मैने धर्मानुसार उनसे ऋतु रक्षाकी प्रार्थना की थी। हे सुन्दरी! मैं अन्यायपूर्वक काम-चारिणी नहीं हुई हूं, सो मैं सच कहती हूं, कि मेरे गर्भोत्पन्न इस पुत्रने उन ऋषिके औरससे जन्म लिया है। (१-४)

देवयानी बोली, कि री भीरु ! यदि यह सच होय, तो अच्छा है पर क्या तुम उन ब्राह्मणको जानती हो ? मैं उस का नाम गोत्र और कुल जानना चाहती हूं । शर्मिष्ठा बोली, कि हे सुन्दरी!

तं दृष्ट्वा मम संप्रष्टुं शक्तिर्नाऽऽसीच्छुचिस्मिते॥ ६ ॥

देवयान्युवाच- यद्येतदेवं शर्मिष्ठे न मन्युर्विद्यते मम ।
अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठाच्छ्रेष्ठाच्च वै द्विजात्॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच- अन्योन्यमेवमुक्त्वा तु संप्रहस्य च ते मिथः।
जगाम भार्गवी वेश्म तथ्यमित्यवजग्मुषी ॥ ८ ॥
ययातिर्देवयान्यां तु पुत्रावजनयन्नृपः ।
यदुं च तुर्वसुं चैव शक्रविष्णू इवाऽपरौ ॥ ९ ॥
तस्मादेव तु राजर्षेः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
द्रुह्युं चाऽनुं च पूरुं च त्रीन्कुमारानजीजनत् ॥ १० ॥
ततः काले तु कस्मिंश्चिद्देवयानी शुचिस्मिता ।
ययातिसहिता राजञ्जगाम रहितं वनम् ॥ ११ ॥
ददर्श च तदा तत्र कुमारान्देवरूपिणः ।
क्रीडमानान्सुविश्रब्धान्विस्मिता चेदमब्रवीत्॥ १२ ॥

देवयान्युवाच— कस्यैते दारका राजन्देवपुत्रोपमाः शुभाः ।
वर्चसा रूपतश्चैव सदृशा मे मतास्तव ॥ १३ ॥

वह ब्राह्मण तप और तेजसे दिननाथके समान जलते थे, उनको देखकर मेरी ऐसी शक्ति नहीं थी, कि कोई बात पूछूं। देवयानी बोली, कि हे शर्मिष्ठे! यदि ऐसा हो और यदि तुमने अति श्रेष्ठ ब्राह्मणसे पुत्रलाभ किया हो, तो मेरे क्रोधका कोई कारण नहीं है। (५-७)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि वे दोनों निरालेमें ऐसा कहकर हंसी उडाने लगीं। आगे देवयानी यह बात ठीक जानकर निज पुरीमें पधारी। (८)

अनन्तर राजर्षि ययातिके वीर्य तथा देवयानीके गर्भसे इन्द्र और उपेन्द्रके समान दो पुत्रोंने जन्म लिया; उनके नाम यदु और तुर्वसु है। फिरभी उस राजर्षिसे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पुरु यह तीन कुमार प्रसव किये। हे राजन्! अनन्तर कुछ काल बीतने पर सुन्दरी देवयानी ययातिके साथ उस निर्जन वनको गयी; वहां यह देखकर, कि देववत रूपवान् तीन कुमार सुखसे खेल रहे है, देवयानीने अचरज मानकर राजा से पूछा, राजन् कहो, देवकुमार समान यह कुमार किसकी सन्तान है, मुझको जान पडता है, कि रूप और तेजमें यह तुम्हारे ही समान है। (९—१३)

वैशम्पायन उवाच—एवं पृष्ट्वा तु राजानं कुमारान्पर्यपृच्छत ।
देवयान्युवाच— किं नामधेयं वंशो वः पुत्रकाः कश्च वः पिता ॥
प्रब्रूत मे यथातथ्यं श्रोतुमिच्छामि तं ह्यहम् ॥ १४ ॥
तेऽदर्शयन्प्रदेशिन्या तमेव नृपसत्तमम् ।
शर्मिष्ठां मातरं चैव तथाऽऽचख्युश्च दारकाः ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा सहितास्ते तु राजानमुपचक्रमुः ।
नाऽभ्यनन्दत तान्राजा देवयान्यास्तदन्तिके॥ १६ ॥
रुदन्तस्तेऽथ शर्मिष्ठामभ्ययुर्बालकास्ततः ।
श्रुत्वा तु तेषां बालानां सव्रीड इव पार्थिवः ॥ १७ ॥
दृष्ट्वा तु तेषां बालानां प्रणयं पार्थिवं प्रति ।
बुद्ध्वा च तत्त्वं सा देवी शर्मिष्ठामिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥
देवयान्युवाच— मदधीना सती कस्मादकार्षीर्विप्रियं मम ।
तमेवाऽसुरधर्मं त्वमास्थिता न बिभेषि मे ॥ १९ ॥
शर्मिष्ठोवाच— यदुक्तमृषिरित्येव तत्सत्यं चारुहासिनि ।
न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते ॥ २० ॥
यदा त्वया वृतो भर्ता वृत एव तदा मया ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि देवयानी ने राजा से यह बात कहकर कुमारोंसे पूछा, कि बालको! तुम्हारे नाम क्या है? तुमने किस वंशमे जन्म लिया है? सच सच कहो, मैं सुनना चाहती हूं। बालकोंने उङ्गलियोंसे उन राजाहीको दिखाया और कहा, कि शर्मिष्ठा हमारी माता है। (१४-१५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि लडके यह बात कह करके सब मिलकर राजाके पास गये, राजाने तब देवयानीके सामने आनन्द प्रकट वा उनका आदर नहीं किया। आगे लडके रोते हुए शर्मिष्ठाके पास जा पहुंचे। राजा यह देखकर दुःखित हुए। देवी देवयानी राजापर लडकोंकी प्रीति देखकर सत्य तत्त्व जानकर शर्मिष्ठासे बोली, कि तुमने मेरी अधीना होकर क्यों मेरा ऐसा अप्रिय कार्य किया है! तुमने वही असुर-धर्म आश्रय किया, मुझसे नहीं डरी? (१६—१९)

शर्मिष्ठा बोली, कि हे मधुरहासिनी! मैंने जो अपने प्रेमी को ऋषि करके प्रगट किया था वह बात झूठी नहीं है; मैं ने न्याय और धर्मके अनुसार ही व्यवहार किया है, क्यों तुमसे डरूंगी? हे शोभने! तुमने जब इन राजाको भर्ता करके

सर्खीभर्ता हि धर्मेण भर्ता भवति शोभने ॥ २१ ॥
पूज्याऽसि मम मान्या च ज्येष्ठा च ब्राह्मणी ह्यसि ।
त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत् ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच–श्रुत्वा तस्यास्ततो वाक्यं देवयान्यब्रवीदिदम् ।
राजन्नाऽद्येह वत्स्यामि विप्रियं मे कृतं त्वया ॥ २३ ॥
सहसोत्पतितां श्यामां दृष्ट्वा तां साश्रुलोचनाम् ।
तूर्णं सकाशं काव्यस्य प्रस्थितां व्यथितस्तदा ॥ २४ ॥
अनुवव्राज संभ्रान्तः पृष्ठतः सान्त्वयन्नृपः ।
न्यवर्तत न चैव स्म क्रोधसंरक्तलोचना ॥ २५ ॥
अविब्रुवन्ती किंचित्सा राजानं साश्रुलोचना ।
अचिरादेव संप्राप्ता काव्यस्योशनसोऽन्तिकम् ॥ २६ ॥
सा तु दृष्ट्वैव पितरमभिवाद्याऽग्रतः स्थिता ।
अनन्तरं ययातिस्तु पूजयामास भार्गवम् ॥ २७ ॥
देवयान्युवाच — अधर्मेण जितो धर्मः प्रवृत्तमधरोत्तरम् ।
शर्मिष्ठयाऽतिवृत्ताऽस्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २८ ॥
त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञा तेन ययातिना ।

वरण किया है, मैंने तभी इनको वरण किया है, क्योंकि सहेलीके भर्त्ता धनुर्मोमार भर्त्ता होते हैं. तुम ब्राह्मणी और बड़ी हो, सो मेरी पूजनीया और माननीया होती हो, पर यह तुम जानती हो, कि यह राजर्षि तुमसे भी मेरे अधिक पूजनीय हुए हैं । (२०—२२)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि देवयानी शर्मिष्ठाकी यह बात सुनकर राजासे बोली, कि राजन्! अब फिर मैं यहां नहीं रहूंगी । तुमने मेरा अप्रिय कार्य किया है । यह देख कर कि श्यामा देवयानी इतना ही कहकर आंसूभरी आंखोंसे एकायक उठ खडी हो उसीक्षण शुक्रके पास जा रही थी, राजा भारी हृदयसे सम्मानसहित समझाते हुए उस के पीछे चलने लगे, पर देवयानी क्रोध मे आंखें लाल कर चली, किसी प्रकार न लौटी । आगे राजाको कोई उत्तर न देकरकेही आंसुभर नेत्रोंसे उसीक्षण शुक्र के पास जा पहुंची और पिताको देखकर प्रणाम कर सामने खडी रही, अनन्तर ययातिने भी भार्गवकी पूजा की (२३-२७)

देवयानी बोली, कि हे पिता! अधर्म से धर्म हार गया है, नीचकी वृद्धि हुई है, वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मुझको लांघ

दुर्भगाया मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि ते॥ २९ ॥
धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह ।
अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत्कथयामि ते ॥ ३० ॥

शुक्र उवाच— धर्मज्ञः सन्महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम्।
तस्माज्जरा त्वामचिराद्धर्षयिष्यति दुर्जया ॥ ३१ ॥

ययातिरुवाच— ऋतुं वै याचमानाया भगवन्नाऽन्यचेतसा ।
दुहितुर्दानवेन्द्रस्य धर्म्यमेतत्कृतं मया ॥ ३२ ॥
ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमानृतुम् ।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन्स इह ब्रह्मवादिभिः ॥ ३३ ॥
अभिकामां स्त्रियं यश्च गम्यां रहसि याचितः ।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः ॥ ३४ ॥
इत्येतानि समीक्ष्याऽहं कारणानि भृगूद्वह।
अधर्मभयसंविग्नः शर्मिष्ठामुपजग्मिवान् ॥ ३५ ॥

शुक्र उवाच— नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते मदधीनोऽसि पार्थिव ।

गयी है, हे पिता! इस ययातिके वीर्य और शर्मिष्ठा के गर्भसे तीन पुत्रोंने जन्म लिया है, मैं दुर्भागी हूं, मेरे दो पुत्रसे अधिक नहीं हुए. आपको समाचार देती हूं। हे भार्गव काव्य! यह राजा धर्मज्ञ करके प्रख्यात है, पर यहभी आपसे कह देती हूं. कि इन्होंने मर्यादाको अतिक्रम किया है। (२८–३०)

शुक्रजी बोले कि महाराज! इस कारण. कि तुमने धर्मज्ञ होकर अधर्म को प्रिय जाना, बिना विलम्ब, कठोर बुढापा तुमको घेर लेगा। ययाति बोले. कि भगवन्! दानवेन्द्रकी पुत्रीने ऋतु-रक्षाकी प्रार्थना की थी. उसपर मैंने धर्म-कार्य जान करकेही ऐसा किया है. कामके वशीभूत होकर नहीं किया। ब्रह्मन्! किसी कामिनीके ऋतुरक्षाकी प्रार्थना करने पर जो पुरुष ऋतुकी रक्षा नहीं करता, ब्रह्मवादी ब्राह्मणगण उसको भ्रूण-हत्याके पापी कहते है! मिलन–योग्या कामिनीके कामवती होकर निरालेम मिलनकी प्रार्थना करनेपर जो पुरुष उससे नहीं मिलता पण्डितलोग धर्मशास्त्रो मे उसको भ्रूणहत्याकारी कहते है। हे भार्गव! मै अधर्मके भयसे भीत होकर इन सब विषयोंकी भली भांति आलोचना करके शर्मिष्ठासे मिला हूं। शुक्र बोले. कि पृथ्वीनाथ नाहुष! तुम मेरे अधीन हो. सो तुमको मेरे आज्ञाकी अपेक्षा करनी थी. तुमने वह नहीं किया

मिथ्याचारस्य धर्मेषु चौर्यं भवति नाहुष ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच— क्रुद्धेनोशनसा शप्तो ययातिर्नाहुषस्तदा ।
पूर्वं वयः परित्यज्य जरां सद्योऽन्वपद्यत ॥ ३७ ॥

ययातिरुवाच— अतृप्तो यौवनस्याऽहं देवयान्यां भृगूद्वह ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मञ्जरेयं न विशेच्च माम् ॥ ३८ ॥

शुक्र उवाच— नाऽहं मृषा ब्रवीम्येतज्जरां प्राप्तोऽसि भूमिप।
जरां त्वेतां त्वमन्यस्मिन्संक्रामय यदीच्छसि ॥ ३९ ॥

ययातिरुवाच— राज्यभाक्स भवेद्ब्रह्मन्पुण्यभाक्कीर्तिभाक्तथा।
यो मे दद्याद्वयः पुत्रस्तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ४० ॥

शुक्र उवाच— संक्रामयिष्यसि जरां यथेष्टं नहुषात्मज ।
मामनुध्याय भावेन न च पापमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
वयो दास्यति ते पुत्रो यः स राजा भविष्यति ।
आयुष्मान्कीर्तिमांश्चैव बह्वपत्यस्तथैव च ॥ ४२ ॥ [३५२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि
ययात्युपाख्यानेऽत्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३॥

वैशम्पायन उवाच—जरां प्राप्य ययातिस्तु स्वपुरं प्राप्य चैव हि।

है, धर्मविषयमें ऐसा मिथ्याचार करनेसे चोरीके दोषका दोषी बनना पडता है। (३१—३६)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि शुक्रके क्रोधयुक्त होकर शाप देने पर नहुषपुत्र ययाति उसीक्षण पूर्व अवस्थाको छोडके बुढापेको प्राप्त हुए; तब उन्होंने कहा, कि हे भार्गव! मैं यौवन दशामें देवयानी से तृप्त नहीं हुआ हूं हे ब्रह्मन् ! आप प्रसन्न होवें कि यह बुढापा मुझमें प्रविष्ट न होसके। शुक्र बोले, कि पृथ्वीपाल! मेरी बात झूठी नहीं ठहरती है, तुम बुढापेमें ग्रसित हुए हो, पर चाहो तो इस बुढापेको दूसरे जनमें चला सकोगे। ययाति बोले, कि हे ब्रह्मन्! आप यह आज्ञा कीजिये, मेरा जो पुत्र मुझको अपना यौवन देगा, वही पुत्र राज्यभागी पुण्यभागी और कीर्ति-भागी होगा। शुक्र बोले, कि नहुष-पुत्र ! तुम एक चित्तसे मेरा ध्यान कर इच्छानुसार बुढापेको चला सकोगे, उससे तुम पापके भागी नहीं होगे, जो पुत्र तुमको अपनी अवस्था देगा वह आयुमान्, कीर्त्तिमान्, राज्याधिकारी और अनेक सन्तानयुक्त होगा। (३७-४२) [३५२७]

॥ तिरासी अध्याय समाप्त।

पुत्रं ज्येष्ठं वरिष्ठं च यदुमित्यब्रवीद्वचः ॥ १ ॥

ययातिरुवाच— जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ॥ २ ॥
त्वं यदो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ३ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनस्ते यौवनं त्वहम्।
दत्त्वा स्वं प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ४ ॥

यदुरुवाच— जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः।
तस्माज्जरां न ते राजन्ग्रहीष्य इति मे मतिः ॥ ५ ॥
सितश्मश्रुर्निरानन्दो जरया शिथिलीकृतः।
वलीसंगतगात्रस्तु दुर्दर्शो दुर्बलः कृशः ॥ ६ ॥
अशक्तः कार्यकरणे परिभूतः स यौवनैः।
सहोपजीविभिश्चैव तां जरां नाऽभिकामये ॥ ७ ॥
सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप।
जरां ग्रहीतुं धर्मज्ञ तस्मादन्यं वृणीष्व वै ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच— यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि।

आदिपर्वमें चौरासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर, राजा ययाति बुढापेसे ग्रसित होकर निज पुरमें जाकर बडे और श्रेष्ठ पुत्र यदुसे बोले, कि बेटा! शुक्र के शापसे बुढापे ने गात्र ढीला कर दिया, केश पक गये और दुर्बलता छा गयी है, पर मैं यौवनके भोगने भली भाति तृप्त नहीं हुआ हूं, अतएव तुम मेरे इस बुढापेके साथ पाप को ले लो तुम्हारे यौवनसे मैं कामके विषय भोगूं; और सहस्र वर्ष पूरे हो जाने पर मैं तुम्हारा यौवन तुमको लौटा देकर अपनी जराके साथ पाप भोगूंगा! (१—४)

यदु बोले, कि महाराज! बुढापेमें पान भोजादि विषयमें अनेक दोष हुआ करते हैं, इस लिये मैं कहता हूं कि बुढापे को न लूंगा। जिस बुढापे में लोग शुक्ल दाढीयुक्त, आनन्दवर्जित, ढीलेपन ग्रसित लटकते हुए मांसयुक्त सिकुडे हुए शरीरधारी, कदाकारी, दुर्बल, पतले किसी कार्यके करनेमें असमर्थ और तरुणों तथा साथियोंसे अनादृत होते हैं, उस जराको मैं भोगना नहीं चाहता हूं, हे धर्मज्ञ नृपते! मुझसे अधिक प्यारे आपके बहुत पुत्र हैं उनमेंसे किसीको जरा देनेको

तस्मादराज्यभाक्तात प्रजा तव भविष्यति ॥ ९ ॥
तुर्वसो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन चरेयं वै विषयांस्तव पुत्रक ॥ १० ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥११॥

तुर्वसुरुवाच– न कामये जरां तात कामभोगप्रणाशिनीम् ।
बलरूपान्तकरणीं बुद्धिप्राणप्रणाशिनीम् ॥ १२ ॥

ययातिरुवाच– यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि।
तस्मात्प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति ॥ १३ ॥
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि॥ १४ ॥
गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च ।
पशुधर्मिषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवं स तुर्वसुं शप्त्वा ययातिः सुतमात्मनः।
शर्मिष्ठाया सुतं द्रुह्युमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

आज्ञा कीजिये। ययाति बोले, ऐ पुत्र ! तुमने मेरे हृदयमे जन्म ले करके भी अपनी अवस्था नही दी, सो तुम्हारे वंशमें कोई राज्याधिकारी नही होगा (५–९)

आगे तुर्वसुसे बोले, कि बेटा तुर्वसो! तुम मेरी इस जराके साथ पापको लेलो, मे तुम्हारे यौवनमे विषय भोगूं, आगे सहस्र वर्ष पूरे होनेपर तुम्हारा यौवन तुमको देकर अपनी जराके साथ पाप ले लूंगा। तुर्वसुने उत्तर दिया, कि पिता ! जिसमे मनमाने भोगमे हाथ धोना पडता है, जिसमे बल और रूप बिगड जाता है, जिसमे बुद्धि जाती रहती है, और जिसमे प्राण नष्ट हो सकता है, उस बुढापेको मे नहीं चाहता हू। ययाति बोले, कि रे तुर्वसो ! तुमने मेरे हृदयमें जन्म लेकरकेभी अपनी अवस्था नही दी, सो तुम्हारी प्रजा सम्पूर्णरूपसे उखड जायगी और जिनके आचार और धर्म बहुत तङ्ग है, जो लोग अति लोभाचारी मास खानेवाले है, नीचसे जन्मे हुए और गुरुकी पत्नीमे आसक्त हैं, जिनके आचार पक्षियोंकी भांति है और जो पापिष्ठ पशुधर्मी तथा म्लेच्छ है, रे मूर्ख ! तुम उनके राजा होगे। (१०–१५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि ययाति निज पुत्र तुर्वसुको इस प्रकार शाप देकर शर्मिष्ठाके पुत्र द्रुह्युसे बोले, कि हे द्रुह्यो!

ययातिरुवाच— दूरुह्यो त्वं प्रतिपद्यस्व वर्णरूपविनाशिनीम् ।
जरां वर्षसहस्रं मे यौवनं स्वं ददस्व च ॥ १७ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चाऽऽदास्यामि भूयोऽहं पाप्मानं जरया सह १८ ॥

द्रुह्युरुवाच— न गजं न रथं नाऽश्वं जीर्णो भुंक्ते न च स्त्रियम् ।
वाक्सङ्गश्चाऽस्य भवति तां जरां नाऽभिकामये ॥ १९ ॥

यया‍तिरुवाच— यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्माद् द्रुह्यो प्रियः कामो न ते संपत्स्यते क्वचित् २० ॥
यथाऽश्वरथमुख्यानामश्वानां स्याद्गतं न च ।
हस्तिनां पठिकानां च गर्दभानां तथैव च ॥ २१ ॥
वस्तानां च गवां चैव शिविकायास्तथैव च ॥ २२ ॥
उडुपप्लवसंतारो यत्र नित्यं भविष्यति ।
अराजा भोजशब्दं त्वं तत्र प्राप्स्यासि सान्वयः २३ ॥

ययातिरुवाच— अनो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
एकं वर्षसहस्रं तु चरेयं यौवनेन ते ॥ २४ ॥

अनुरुवाच— जीर्णः शिशुवदादत्तेऽकालेऽन्नमशुचिर्यथा ।
न जुहोति च कालेऽग्निं तां जरां नाऽभिकामये ॥ २५ ॥

सहस्र वर्षके लिये मेरे रङ्ग तथा रूपनाशी इस जराको लेकर अपनी यौवन मुझे दो; जब सहस्र वर्ष पूरे होंगे तब तुम्हारा यौवन तुमको देकर फिर निज पापके साथ जराको ले लूंगा। द्रुह्यु बोला, कि जराग्रस्त जन जीर्ण शरीर धारी होनेके कारण घोडे, रथ, हाथी, स्त्री आदिको भोग नहीं सकता और उसकी बातभी बिगड जाती है, सो मैं बुढापेको नहीं मांगता। ययाति बोले; कि द्रुह्यो ! तुमने मेरे हृदयसे जन्म ले करके भी अपनी अवस्था नहीं दी, सो तुम्हारी अति प्रिय इच्छाभी कभी पूरी नहीं होगी। जहां घोडे रथ हाथी राजाके योग्य यान, गौ, गदहे, बकरे, पालकी आदिसे जाना आना नहीं हो सकता, जहां सदा बेडेपर और कूदकर जाना पडता है जहां राजा शब्द कहा नहीं जाता है, तुम वंशसहित उस देशमें रहोगे। (१६–२३)

अनन्तर अनु नामक पुत्रसे बोले, कि हे अनो ! तुम मेरे पापके सहित यह बुढापा लो, मैं तुम्हारे यौवनसे एक सहस्र वर्ष विषय भोगूं। अनुने उत्तर दिया, कि जराग्रस्त जन टूटे फूटे अन्न लेकर अकालमें बच्चेके समान अशुचि शरीरसे

ययातिरुवाच— यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
जरादोषस्त्वया प्रोक्तस्तस्मात्त्वं प्रतिलप्स्यसे॥ २६ ॥
प्रजाश्च यौवनं प्राप्ता विनशिष्यन्त्यनो तव।
अग्निप्रस्कन्दनपरस्त्वं चाऽप्येवं भविष्यसि ॥ २७॥

ययातिरुवाच— पूरो त्वं मे प्रियः पुत्रस्त्वं वरीयान्भविष्यसि।
जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ॥ २८॥
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने।
पूरो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ॥
कंचित्कालं चरेयं वै विषयान्वयसा तव ॥ २९ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तः प्रत्युवाच पूरुः पितरमञ्जसा ।
यथाऽऽत्थ मां महाराज तत्करिष्यामि ते वचः॥३१ ॥
प्रतिपत्स्यामि ते राजन्पाप्मानं जरया सह।
गृहाण यौवनं मत्तश्चर कामान्यथेप्सितान् ॥३२ ॥
जरयाऽहं प्रतिच्छन्नो वयोरूपधरस्तव ।

अन्न ग्रहण करते है, उचित समयमे अग्निमें आहुति नहीं दे सकते, इससे जराको नहीं ले सकूंगा। ययाति बोले, कि तुमने मेरे हृदयमे जन्म ले करकेभी अपनी अवस्था नहीं दी, इस हेतु तुमने जिस जराका दोष कहा, उसीको प्राप्त करोगे। रे अनो ! तुम्हारी प्रजा यौवन में पहुंचनेही मर जायंगी और तुमभी श्रुति और स्मृतिके अनुसार अग्निकार्य्य- मे वर्जित होगे। (२४—२७)

अनन्तर पुरुसे बोले, कि हे पुरो ! तुम मेरे प्यारे पुत्र हो तुम्हीं सबोंमे श्रेष्ठ होगे, बेटा ! बुढापेने वली और पलित से मुझपर चढाई की है, मै शुक्रके शाप से जराग्रस्त होनेके कारण यौवनसे भली भांति तृप्त नहीं हो सका हूं। हे पुरो ! तुम मेरे पापके साथ इस जराको लो, मै तुम्हारे यौवनसे कुछ दिनों तक विषय भोगूं,आगे सहस्र वर्ष पूरे होने पर तुम्हारा यौवन तुमको देकर निज पापके साथ जराको लूगा। (२८—३०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि पिताकी यह बात सुनतेही पुरुने उत्तर दिया, कि महाराज ! आपने जो आज्ञा दी, मै वही करूंगा। मै आपके पापके साथ जराको लूंगा। हे राजन् ! आप मेरा यौवन लेकर

यौवनं भवते दत्वा चरिष्यामि यथाऽऽत्थ माम् ॥३३॥

ययातिरुवाच--- पूरो प्रीतोऽस्मि ते वत्स प्रीतश्चेदं ददामि ते।

सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति ॥ ३४ ॥

एवमुक्त्वा ययातिस्तु स्मृत्वा काव्यं महातपाः।

संक्रामयामास जरां तदा पूरौ महात्मनि ॥ ३५ ॥ [३५६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच--पौरवेणाऽथ वयसा ययातिर्नहुषात्मजः।

प्रीतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान्प्रियान् ॥ १ ॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम्।

धर्माविरुद्धं राजेन्द्र यथाऽर्हति स एव हि ॥ २ ॥

देवानतर्पयद्यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत्पितॄनपि।

दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान् ॥ ३ ॥

अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः।

आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून्संनिग्रहेण च ॥ ४ ॥

धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन्।

मनमाना विषय भोगिये! मै आपकी अवस्था और रूप धरकर जराग्रस्त होकर आपको यौवन देकर आपके नियोगके अनुसार कार्य करूंगा। ययाति बोले, कि बेटा पुरो! मै तुम पर प्रसन्न हुआ, प्रीतिचित्तसे यह वर देता हूं कि तुम्हारे राज्यमे प्रजा सर्वकामनाओं की पूर्त्तिसे प्रसन्न रहेगी। महातपा ययातिने यह कह कर शुक्रको स्मरण करके पुरु नामक महात्मा पुत्रमें जराको संक्रामित किया। (३४-३५ [३५६२]

आदिपर्वमें चौरासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें पचासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि नहुषपुत्र राजश्रेष्ठ ययाति प्रीतियुक्त होकर पुरुके यौवनसे मनमाना विषय भोगने लगे। हे राजेन्द्र! उनकी जैसी कामना और जैसा उत्साह था, वह उसके अनुसार उचित समयमें यथायोग्य धर्मसे विना विरोध किये सुख भोगने लगे। वह यज्ञोंसे देवोंको, श्राद्धसे पितरोंको, मनमानी कृपासे दीनोंको, प्रार्थना पूरी कर ब्राह्मणोंको, अन्नपानसे अतिथियोंको, भले प्रकार पालनसे वैश्योंको और [illegible] निदानसे शूद्रोंको तथा नाति [illegible] कर और सम्पूर्ण रूपसे मनोहर [illegible]

ययातिः पालयामास साक्षादिन्द्र इवाऽपरः।
स राजा सिंहविक्रान्तो युवा विषयगोचरः।
अविरोधेन धर्मस्य चचार सुखमुत्तमम् ॥ ६ ॥
स संप्राप्य शुभान्कामांस्तृप्तः खिन्नश्च पार्थिवः।
कालं वर्षसहस्रान्तं सस्मार मनुजाधिपः ॥ ७ ॥
परिसंख्याय कालज्ञः कलाः काष्ठाश्च वीर्यवान्।
यौवनं प्राप्य राजर्षिः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ ८ ॥
विश्वाच्या सहितो रेमे व्यभ्राजन्नन्दने वने।
अलकायां स कालं तु मेरुशृङ्गे तथोत्तरे ॥ ९ ॥
यदा स पश्यते कालं धर्मात्मा तं महीपतिः।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥ १० ॥
यथाकामं यथोत्साहं यथाकालमरिंदम।
सेविता विषयाः पुत्र यौवनेन मया तव ॥ ११ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥ १२ ॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।

तथा धर्मसे संपूर्ण प्रजाओंको अनुरक्त कर दूसरे देवराजके समान प्रजाको पालने लगे। (५-६)

सिंहवत् विक्रमी वह राजा विषयमें आसक्त होकर धर्मसे बिना विरोध किये भले प्रकार भोग करने लगे; वह अच्छी कामनाकी सामग्री पाकर सन्तुष्ट हुए, पर यह स्मरण कर कि, मेरी यौवनावस्था सहस्र वर्षमें पूरी होजायगी अति खेदयुक्तभी हुए। वीर्यवान कालज्ञ राजर्षि सहस्र वर्षतक यौवन पाकर कला काष्ठा आदि कालके जितने भाग हैं उसमें विश्वाचीके साथ कभी सुशोभित नन्दन-वनमें, कभी अलकामें, कभी पहाडकी चोटीपर अथवा कभी उत्तर प्रदेशमें खेलने लगे। (६-९)

अनन्तर धर्मात्माने जब देखा, कि सहस्र वर्ष पूरे होगये हैं, तब पुत्र पुरुको बुलवाकर बोले, कि हे अरिन्दम पुत्र! मैं तुम्हारे यौवनसे अभिलाषा और उत्साहके अनुसार उचित कालमें विषय भोग चुका हूं; पर जिस प्रकार आगमें घृत छोडनेसे न बुझकर औरभी जल उठती है, उसी प्रकार कामनाकी वस्तुओंको भोगनेसे कभी कामकी निवृत्ति नहीं होती, वरन औरभी क्रमसे बढता रहता

एकस्याऽपि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच- या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् १४

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः ।
तथाऽप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वभिजायते ॥ १५ ॥

तस्मादेनामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह॥१६ ॥

पूरो प्रीतोऽस्मि भद्रं ते गृहाणेदं स्वयौवनम् ।
राज्यं चेदं गृहाण त्वं त्वं हि मे प्रियकृत्सुतः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच– प्रतिपेदे जरां राजा ययातिर्नाहुषस्तदा ।
यौवनं प्रतिपेदे च पूरुः स्वं पुनरात्मनः ॥ १८ ॥

अभिषेक्तुकामं नृपतिं पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन् ॥ १९ ॥

कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो ।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि ॥ २० ॥

है। पृथ्वीमे धान, यव, सुवर्ण, पशु और स्त्री यह सब एक पुरुषमे भोग जाने परभी उसकी पूरी तृप्ति नही होती; अतएव भोगकी प्यास त्यागना उचित है। जो प्यास दुर्मतियोंके त्यागनेके अयोग्य है बुढापा आजानेसेभी जिस प्यासकी हानि नही होती, और जो प्राणविनाशी रोग सदृश है, उस प्यासके छोडे विना सुखी होनेका दूसरा उपाय नही है। मै विषयासक्त था, उससे सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये है, तिस पर भी मेरी विषय की प्यास दिनोंदिन प्रबल होती जाती है, अतएव मै यह प्यास छोडकर परम ब्रह्ममें चित्तको समाधान करके विना झगडा और ममता-रहित होकर वनमे मृगोंके साथ एकत्र बसूंगा। हे पुरो! तुम्ही मेरे प्रियकार्य करनेहारे पुत्र हो।

तत्पर ययातिने निजपुत्र पुरुको राज्य पर अभिषिक्त किया। वह पुरुको राज्य देकर वनवासके लिये सङ्कल्प ठहराकर ब्राह्मण और तपस्वियोंके साथ राजपुरसे

नहुषपुत्र ययातिके पुत्रोंमे यदुके पुरुभी फिर अपना यौवन पाया, तब राजाके कनिष्ठ पुत्रको राज्यमें अभिषिक्त करने की अभिलाषा प्रगट करने पर, ब्राह्मणादि चारो वर्ण सबोंने राजाके समीप आकर यह कहा, कि हे प्रभो! शुक्रके नाती देवयानीके प्रसव किये ज्येष्ठ

यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतो जातस्तमनु तुर्वसुः ।
शर्मिष्ठायाः सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पूरुरेव च ॥ २१ ॥
कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान्राज्यमर्हति ।
एवं संबोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय ॥ २२ ॥

ययातिरुवाच— ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः ।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथंचन ॥ २३ ॥
मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगो नाऽनुपालितः ।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः ॥ २४ ॥
मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः ।
स पुत्रः पुत्रवद्यश्च वर्तते पितृमातृषु ॥ २५ ॥
यदुनाऽहमवज्ञातस्तथा तुर्वसुनाऽपि च ।
द्रुह्युणा चाऽनुना चैव मय्यवज्ञा कृता भृशम् ॥ २६ ॥
पूरुणा तु कृतं वाक्यं मानितं च विशेषतः ।
कनीयान्मम दायादो धृता येन जरा मम ॥ २७ ॥
मम कामः न च कृतः पूरुणा मित्ररूपिणा ।
शुक्रेण च वरो दत्तो काव्येनोशनसा स्वयम् ॥ २८ ॥

यदुको अतिक्रम कर पूरुको क्यों राज्य देते है ? यदु आपके ज्येष्ठ पुत्र, तुर्वसु [illegible] पालने लगे । ([illegible]) [illegible]

सिंहवत् विक्रमी वह राजा विषयमें आसक्त होकर धर्मसे बिना विरोध किये भले प्रकार भोग करने लगे, वह अच्छी कामनाकी सामग्री पाकर सन्तुष्ट [illegible] हुए, पर यह स्मरण कर कि [illegible] धर्म पालन [illegible] । (१८—२२)

ययाति बोले, कि हे ब्राह्मणादि वर्णों ! तुम सब मेरी बात सुनो, मैं ज्येष्ठको किसी प्रकार राज्य नहीं दूंगा, ज्येष्ठ यदुने मेरी आज्ञा नहीं पाली है । जो पुत्र पिताके प्रतिकूल आचरण करता है, साधुओंके मतमें वह पुत्र, पुत्रोंमें नहीं गिना जाता; जो पुत्र माता और पिता की आज्ञामें चलने वाला, तथा हितकारी है, और सहस्र [illegible] पर पुत्रके समान स्नेह करता [illegible] पुत्र पुत्र है; यदु, तुर्वसु द्रुह्यु और अनु, इन्होंने मेरे प्रति बडा अनादर प्रगट किया है, पूरुने मेरी बातको विशेष रूपसे रखकर और मानकर मेरी जराको ले लिया था, इससे पूरु कनिष्ठ होनेसेभी मेरा उत्तराधिकारी दायाद होगा । मित्र-रूपी पूरुने मेरी अभिलाषा पूरी की है और उशना शुक्रने स्वयं मुझको यह वर

पुत्रो यस्त्वाऽनुवर्तेत स राजा पृथिवीपतिः ।
भवतोऽनुनयाम्येवं पूरू राज्येऽभिषिच्यताम् ॥२९॥

प्रकृतय ऊचुः— यः पुत्रो गुणसंपन्नो मातापित्रोर्हितः सदा ।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि सत्तमः ॥ ३० ॥
अर्हः पूरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत्तव ।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच— पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत्ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥ ३२ ॥
दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः ।
पुरात्स निर्ययौ राजा ब्राह्मणैस्तापसैः सह ॥ ३३ ॥
यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः ।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ३४ ॥
पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कारयितुं वशी ॥ ३५ ॥[३५९७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने पूर्वयायातसमाप्तौ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

दिया है, कि जो पुत्र तुम्हारा आज्ञाकारी होगा, वही राज्याधिकारी होगा; अतएव तुमसे विनय करता हूं, कि तुम पुरुको राज्यपर बैठाओ। । (२३—२९)

तब चारो वर्णो की प्रजाओंने कहा, कि जो पुत्र गुणयुक्त साधु, श्रेष्ठ और सदा पिता माताका हितकारी होता है, वह कनिष्ठ होने परभी सम्पूर्ण कल्याणका पात्र हो सकता है, अतएव आपका प्रिय-कारी पुत्र पुरु इस राज्यको प्राप्त करनेके योग्य है, इस विषयमें शुक्रने भी वर दिया है, सो उसकी विरुद्धतामें उत्तर नहीं दिया जा सकता। (३०—३१)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि पुरवासी और जनपदवासियोंके सन्तुष्ट होकर ऐसा कहने पर ययातिने निजपुत्र पुरुको राज्य पर अभिषिक्त किया। वह पुरुको राज्य देकर वनवासके लिये सङ्कल्प ठहराकर ब्राह्मण और तपस्वियोंके साथ राजपुरसे निकले। राजा ययातिके पुत्रोंमें यदुके वंशमे यादव, तर्वसुके वंशमे यवन, द्रुह्युके वंशमे भोज और अनुके वंशमे म्लेच्छ जातिने जन्म लिया है। हे पृथ्वी-नाथ! जिस वंशमें आपने संयतेन्द्रिय होकर सहस्र वर्ष राज्य करनेके लिये जन्म लिया है वह पौरव वंश पुरुसे

वैशम्पायन उवाच–एवं स नाहुषो राजा ययातिः पुत्रमीप्सितम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितो वानप्रस्थोऽभवन्मुनिः ॥ १ ॥
उषित्वा च वने वासं ब्राह्मणैः शंसितव्रतः ।
फलमूलाशनो दान्तस्ततः स्वर्गमितो गतः ॥ २ ॥
स गतः स्वर्निवासं तं निवसन्मुदितः सुखी ।
कालेन नातिमहता पुनः शक्रेण पातितः ॥ ३ ॥
निपतन्प्रच्युतः स्वर्गादप्राप्तो मेदिनीतलम् ।
स्थित आसीदन्तरिक्षे स तदेति श्रुतं मया ॥ ४ ॥
तत एव पुनश्चाऽपि गतः स्वर्गमिति श्रुतम् ।
राजा वसुमता सार्धमष्टकेन च वीर्यवान् ॥ ५ ॥
प्रतर्दनेन शिविना समेत्य किल संसदि ।
जनमेजय उवाच– कर्मणा केन स दिवं पुनः प्राप्तो महीपतिः ॥ ६ ॥
सर्वमेतदशेषेण श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसन्निधौ ॥ ७ ॥
देवराजसमो ह्यासीद्ययातिः पृथिवीपतिः ।
वर्धनः कुरुवंशस्य विभावसुसमद्युतिः ॥ ८ ॥

उत्पन्न हुआ है। (३२—३५)

आदिपर्वमें पचासी अध्याय समाप्त। [३५९७]

आदिपर्वमें छियासी अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि नहुष-पुत्र राजा ययाति एक प्रकार प्यारे पुत्रको राज्यपर अभिषिक्तकर प्रसन्नचित्त से वानप्रस्थाश्रम आश्रय कर मुनि हो गये। वह जितेन्द्रिय संयतव्रत, और फल-मूल भक्षी होकर ब्राह्मणोंके साथ कुछ काल वनमें वसकर स्वर्गको पधारे; स्वर्गमें प्राप्त होकर उन्होंने कुछकाल परम सुखसे काटा। आगे स्वल्प कालहीमें देवराजने फिर उनको स्वर्गसे नीचे गिराया था। सुन चुका हूं, कि वह स्वर्गसे च्युत होकर भूतलको प्राप्त नहीं हुए थे, आकाशहीमें ठहरे थे; आगे उस वीर्यवान् राजाने वसुमान्, अष्टक, प्रतर्दन और शिविके साथ एकत्र होकर फिर स्वर्गारोहण किया था। (१—६)

जनमेजय बोले, कि यह आद्योपान्त सच्चे प्रकार सुना चाहता हूं, कि महीपति ययाति किस कार्यसे फिर देवलोकको प्राप्त हुए, आप इन ब्राह्मणों और ऋषियोंके सामने कहिये। वह कुरुवंशके बढानेवाले, सत्य कीर्तियुक्त, सूर्य समान तेजस्वी पृथ्वीपति ययाति देवराजके

तस्य विस्तीर्णयशसः सत्यकीर्तेर्महात्मनः ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि दिवि चेह च सर्वशः ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—हन्त ते कथयिष्यामि ययातेरुत्तमां कथाम् ।
दिवि चेह च पुण्यार्थां सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ १० ॥
ययातिर्नाहुषो राजा पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितः प्रवव्राज वनं तदा ॥ ११ ॥
अन्त्येषु स विनिक्षिप्य पुत्रान्यदुपुरोगमान् ।
फलमूलाशनो राजा वने स न्यवसच्चिरम् ॥ १२ ॥
शंसितात्मा जितक्रोधस्तर्पयन्पितृदेवताः ।
अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन्वानप्रस्थविधानतः ॥ १३ ॥
अतिथीन्पूजयामास वन्येन हविषा विभुः ।
शिलोञ्छवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः ॥ १४ ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं च एवंवृत्तिरभून्नृपः ।
अब्भक्षः शरदस्त्रिंशदासीन्नियतवाङ्मनाः ॥ १५ ॥
ततश्च वायुभक्षोऽभूत्संवत्सरमतन्द्रितः ।
तथा पञ्चाग्निमध्ये च तपस्तेपे स वत्सरम् ॥ १६ ॥

सदृश थे; उनका यश सर्वत्र फैला हुआ है, उन महात्माके इस लोक और परलोककी सम्पूर्ण कथा सुननेका अभिलाषी हो रहा हूं। (६—९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन् ! स्वर्गमें और इस लोकमें पुण्य उपजानेवाली सर्व पापनाशिनी राजा ययातिकी अच्छी कथा आपसे कहता हूं, सुनिये । नहुष-पुत्र राजा ययाति कनिष्ठपुत्र पुरुको राज्यपर अभिषिक्त और यदु आदि पुत्रोंको नीच देशमें स्थापन करके सन्तुष्ट चित्तसे वानप्रस्थाश्रमको आश्रय कर फलमूलभक्षक होकरके बहुकाल तक वनमें रहे; उसकालमें उन्होंने संयतात्मा और जितक्रोध होकर देवता और पितरोंका तर्पण, वानप्रस्थकी विधिसे अग्निमें आहुति दान और वनके फल मूल और घृतसे अतिथियोंकी पूजा की थी; उक्त विभुने उञ्छवृत्ति अवलम्बन कर शस्यको चुन चुन कर शेष अन्नके भोजनसे पूरे सहस्र वर्ष व्यतीत किये थे; आगे उन्होंने संयतचित्त होकर जलमात्र पीकर एक वर्ष बिताया, अनन्तर तन्द्रा रहित होकर वर्षभर वायु भक्षक हो रहे, अन्तमें एक वर्ष पञ्चाग्निके बीचमें तपस्याकी छः महीने वाताहारी हो एक पांवके बल

एकपादस्थितश्चाऽऽसीत्षण्मासाननिलाशनः ।
पुण्यकीर्तिस्ततः स्वर्गं जगामाऽऽवृत्य रोदसी ॥१७॥ [३६१४]
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भव-
पर्वण्युत्तरयायाते षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

वैशम्पायन उवाच—स्वर्गतः स तु राजेन्द्रो निवसन्देववेश्मनि ।
पूजितस्त्रिदशैः साध्यैर्मरुद्भिर्वसुभिस्तथा ॥ १ ॥
देवलोकं ब्रह्मलोकं संचरन्पुण्यकृद्वशी ।
अवसत्पृथिवीपालो दीर्घकालमिति श्रुतिः ॥ २ ॥
स कदाचिन्नृपश्रेष्ठो ययातिः शक्रमागमत् ।
कथान्ते तत्र शक्रेण स पृष्टः पृथिवीपतिः ॥ ३ ॥
शक्र उवाच— यदा स पूरुस्तव रूपेण राजञ्जरां गृहीत्वा प्रचचार भूमौ ।
तदा च राज्यं संप्रदायैव तस्मै त्वया किमुक्तः कथयेह सत्यम् ॥ ४ ॥
ययातिरुवाच— गङ्गायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव ।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव ॥ ५ ॥
अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्टस्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषेभ्यो मानुषाश्च प्रधाना विद्वांस्तथैवाऽविदुषः प्रधानः ॥ ६ ॥

खडे रहे, अनन्तर पुण्यकीर्त्ति नहुष-नन्दनने आकाश-मण्डलको चमका कर स्वर्गारोहण किया। (१०–१७) [३६१४]

आदि पर्वमें छियासी अध्याय समाप्त ।

आदिपर्वमें सतासी अध्याय ।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि वह राजेन्द्र ययाति स्वर्गारोहण पूर्वक देव, साध्य, मरुत और वसुओंसे भली भांति घेरे जाकर देवालयमें वास पूर्वक देवलोक और ब्रह्मलोकमें विचरने लगे। यह सुन चुका हूं, कि पुण्यकारी, जितेन्द्रिय उस पृथ्वीपतिने इस प्रकारसे बहुकाल स्वर्गवास किया। एक समय उस नृपश्रेष्ठ ययातिके देवराजके पास जानेपर उन्होंने उनसे बातें करनेके पश्चात् उनसे पूछा, कि राजन्! जब पुरु तुम्हारा स्वरूप लेकर जरा ग्रहण पूर्वक भूमण्डलमें घूमे फिरे थे, तब सच कहो तुमने उनको राज्य देकर क्या कहा था। (१–४)

ययाति बोले, कि तब मैंने पुरुसे यह कहा था, कि गङ्गा और यमुनाके बीचमें जितने देश है, वह सबही तुम्हारे है, इस भूमण्डलके बीचमें तुम्ही राजा हुए; और यह उपदेशभी किया था, कि क्रोधीसे अक्रोधी श्रेष्ठ, अक्षमी से क्षमी श्रेष्ठ, नीच जीवसे मनुष्य जाति श्रेष्ठ और अविद्वान

आक्रुश्यमानो नाऽऽक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चाऽस्य विन्दति ॥ ७ ॥
नाऽरुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययाऽस्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥८॥
अरुन्तुदं परुषं तीक्ष्णवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥९॥
सद्भिः पुरस्तादभिपूजितः स्यात्सद्भिस्तथा पृष्ठतो रक्षितः स्यात् ।
सदा सतामतिवादांस्तितिक्षेत्सतां वृत्तं चाऽऽददीताऽऽर्यवृत्तः १०
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाऽमर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नाऽवसृजेत्परेषु॥ ११॥
न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥ १२ ॥
तस्मात्सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।

जनमे विद्वानजन श्रेष्ठ करके गिने जाते है; किसीके आक्रोश करने पर पलटेमे आक्रोश मत करना,क्यो कि सहनशील जन का मन्युही आक्रोशकारीको जला देती है और उस क्षमाशील जनको पुण्यभी लाभ करा देता है, औरों के पीडा देनेवाले वा निठुर वाणी कहने वाले न होना, अभिचार आदि नीच उपायों से शत्रुको वशमें न लाना और जिस बातसे औराके चित्तमें दुःख पहुंचने की संभावना हो, ऐसी जलाने वाली पापयुक्त बातभी किसीसे न कहना। जो जन वाक्यरूपी काटोंसे मनुष्योंको बींधता है, जिसके मुखमें औरको पीडा पहुचाने वाला वाक्यरूपी राक्षस बैठा है, ऐसे कडे कहनेवाले निष्ठुरजनको देखनेसेभी लक्ष्मी छूट जाती है; सुचरित्रजन असाधुओंसे लाञ्छित होनेसेभी सदा साधुओंसे पहिले पूजित और पीछे रक्षित होते है; वे साधुचरित्रको आश्रय करके असाधुओंकी निन्दाकी बातों पर क्षमा दिखाते है। मुखसे वाक्यरूपी तेजबाण निकलकर अन्यके मर्मस्थान ही मे गिरता है, उससे जो जन घायल होता है, वह दिन रात मनके दुःखसे दुःखी रहता है, अतएव पण्डित जन किसीपर वह वाक्यबाण नहीं मारते ! सबजीवो पर दया, दान और मीठी बात इन चारोंकी नाई धन तीनो भुवनमें दूसरा नहीं है; अतएव सदा शान्त वचन कहना, कदापि निष्ठुर बात मत कहना, पूजनीय जनकी पूजा करना और दानशील होना, कभी भीख न

पूज्यान्संपूजयेद्दद्यान्न च याचेत्कदाचन ॥ १३ ॥ [३६२४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
सम्भवपर्वण्युत्तरयायाते सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इन्द्र उवाच— सर्वाणि कर्माणि समाप्य राजन्गृहं परित्यज्य वनं गतोऽसि ।
तत्त्वां पृच्छामि नहुषस्य पुत्र केनाऽसि तुल्यस्तपसा ययाते ॥ १ ॥

ययातिरुवाच— नाऽहं देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु महर्षिषु ।
आत्मनस्तापसा तुल्यं कंचित्पश्यामि वासव ॥ २ ॥

इन्द्र उवाच-यदाऽवमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च अल्पीयसश्चाऽविदितप्रभावः।
तस्माल्लोकास्त्वन्तवन्तस्तवेमे क्षीणे पुण्ये पतिताऽस्यद्य राजन् ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच—सुरर्षिगन्धर्वनरावमानात्क्षयं गता मे यदि शक्र लोकाः ।
इच्छाम्यहं सुरलोकाद्विहीनः सतां मध्ये पतितुं देवराज ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच-सतां सकाशे पतिताऽसि राजंश्च्युतः प्रतिष्ठां यत्र लब्धाऽसि भूयः।
एतद्विदित्वा च पुनर्ययाते त्वं माऽवमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः प्रहायाऽमरराजजुष्टान्पुण्याँल्लोकान्पतमानं ययातिम्।

माँगना। (५—१३) [३६३७]

आदि पर्वमें सतासीवाँ अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें अठासीवाँ अध्याय

इन्द्रजी बोले, कि हे राजन् नहुष-पुत्र ययाते! जब तुम सम्पूर्ण कर्म पूरेकर गृहाश्रमको त्यागकर वनमें सिधारे तब कहो, कि तपस्या में किसके सदृश हुए थे। ययाति बोले, कि हे वासव! देव, मानव, गन्धर्व, और महर्षियोंमें मैं अपने समान तपस्वी किसीको नहीं देखता। इन्द्र बोले, कि हे राजन्! तुमने औरोंके प्रभाव न जान करके ही अपनेसे श्रेष्ठ तुल्य और अधम सबोंका अपमान किया इस हेतु तुम्हारा पुण्यक्षय होगया सो इस स्वर्गभोग का भी अन्त हुआ, इसलिये तुम आज देवलोकसे नीचे गिरोगे। (१—३)

ययाति बोले, कि हे देवराज! देव, ऋषि, गन्धर्व और मनुष्यों पर अपमान प्रगट करने से यदि मेरा स्वर्ग-भोगका अन्त हुआ हो, तो देवलोकसे च्युत होकर साधु-समाजमें गिरना चाहता हूं। इन्द्र बोले, कि हे राजन्! तुम स्वर्ग से गिरकर साधुओंके निकट रहोगे और वहां फिर प्रतिष्ठा लाभ कर सकोगे। हे ययाते! तुमको अब धर्मका मर्म ज्ञात हुआ, सो फिर कभी तुल्य और श्रेष्ठ जनोंपर अनादर न प्रगट करना (४—५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले कि अनन्तर राजा ययाति देवराज से सुशोभित पुण्य

संप्रेक्ष्य राजर्षिवरोऽष्टकस्तमुवाच सद्धर्मविधानगोप्ता ॥ ६ ॥
अष्टक उवाच—कस्त्वं युवा वासवतुल्यरूपः स्वतेजसा दीप्यमानो यथाऽग्निः ।
पतस्युदीर्णाम्बुधरान्धकारात्खात्खेचराणां प्रवरो यथार्कः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा च त्वां सूर्यपथात्पतन्तं वैश्वानरार्कद्युतिमप्रमेयम् ।
किं नु स्विदेतत्पततीति सर्वे वितर्कयन्तः परिमोहिता स्मः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा च त्वां धिष्ठितं देवमार्गे शक्रार्कविष्णुप्रतिमप्रभावम् ।
अभ्युद्गतास्त्वां वयमद्य सर्वे तत्त्वं प्रपाते तव जिज्ञासमानाः ॥ ९ ॥
न चापि त्वां धृष्णुमः प्रष्टुमग्रे न च त्वमस्मान्पृच्छसि ये वयं स्मः ।
तत्त्वां पृच्छामि स्पृहणीयरूप कस्य त्वं वा किंनिमित्तं त्वमागाः ॥ १० ॥
भयं तु ते व्येतु विषादमोहौ त्यजाऽऽशु चैवेन्द्रसमप्रभाव ।
त्वां वर्तमानं हि सतां सकाशे नाऽलं प्रसोढुं बलहाऽपि शक्रः ॥ ११ ॥
सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानां सतां सदैवाऽमरराजकल्प ।
ते संगताः स्थावरजङ्गमेशाः प्रतिष्ठितस्त्वं सदृशेषु सत्सु ॥ १२ ॥
प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः ।

लोकको छोडकर गिर रहे थे, कि ऐसे समयमे साधु धर्म ठहरानेवाले राजर्षिश्रेष्ठ अष्टक उनको देख कर बोले, कि अपने तेजसे अग्नि समान प्रज्वलित, इन्द्र सदृश रूप-यौवनयुक्त और आकाशमे चरनेवाले मे श्रेष्ठ सूर्यके समान तुम कौन मेघरूपी अन्धियारीको हटाते हुए आकाशमे गिर रहे हो ? अग्नि वा सूर्य समान प्रकाशमान तुमको सूर्य की बाटसे गिरते देखकर सम्पूर्ण लोक मोहित होकर यह क्या गिर रहा है ऐसे तर्क कर रहे है। हम सब तुमको उपेन्द्र, इन्द्र और सूर्य सदृश प्रभावी और देवमार्गमे ठहरते हुए देखकर तुम्हारे गिरनेके कारण जाननेके लिये उठ खडे है। हे स्पृहणाके योग्य रूपवान् ! तुमसे पहिले पूछ कर हमने धृष्टता प्रगट न की होती, पर आप यह पूछनेको प्रवृत्त न हुए, कि हम कौन है; इस हेतुसे पूछते है, कि तुम किसके पुत्र हो ? और क्यो आ रहे हो और हे इन्द्रसे प्रभावी ! तुम्हारा भय दूर होवे, तुम खेद और मोहको झट दूर करो, तुम्हारे इन साधुओके पास ठहरनेसे बलनाशी इंद्र भी तुमको सता नही सकेगा। हे अमरराजकल्प! साधुलोग सुखसे च्युत होनेसे उनको साधु-लोगही नित्य सदा रक्षा करते है, इस स्थानमे इन चराचर भूतोंके प्रभु ये साधु भी इकट्ठे है, अतएव तुम अपने समान सज्जनोंके निकटही आन पहुचे हो। जिस प्रकार अग्नि ताप देनेके प्रभु

प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे सतां चाऽभ्यागतःप्रभुः ॥१३॥ [३६४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वण्यु-
त्तरयायातेऽष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

ययातिरुवाच—अहं ययातिर्नहुषस्य पुत्रः पूरोः पिता सर्वभूतावमानात् ।
प्रभ्रंशितः सुरसिद्धर्षिलोकात्परिच्युतः प्रपताम्यल्पपुण्यः ॥ १ ॥
अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भ्यस्तेनाऽभिवादं भवतां न प्रयुञ्जे ।
यो विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥२॥
अष्टक उवाच— अवादीस्त्वं वयसा यः प्रवृद्धः स वै राजन्नाऽभ्यधिकःकथ्यते च।
यो विद्यया तपसा संप्रवृद्धः स एव पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ ३ ॥
ययातिरुवाच–प्रतिकूलं कर्मणां पापमाहुस्तद्वर्तनेऽप्रवणे पापलोक्यम् ।
सन्तोऽसतां नानुवर्तन्ति चैतद्यथा चैषामनुकूलास्तथाऽऽसन् ॥ ४ ॥
अभूद्धनं मे विपुलं गतं तद्विचेष्टमानो नाऽधिगन्ता तदस्मि ।
एवं प्रधार्याऽऽत्महिते निविष्टो यो वर्तते स विजानाति धीरः ॥ ५ ॥

है और सूर्य अंधेरा दूर करनेके प्रभु है, उस प्रकार साधुओंके विषयमें नये आये हुए, जन भी प्रभु होते है।(६-१३) [३६४०]

आदिपर्वमें अट्ठासीवां अध्याय समाप्त

आदिपर्वमें नवासीवां अध्याय।

ययाति बोले, कि मै नहुषका पुत्र और पुरुका पिता हूं, मेरा नाम ययाति है। मैने सर्व जीवोंका अपमान किया था, इस हेतु पुण्य घटनेमे सुर, सिद्ध और ऋषिलोगसे च्युत होकर गिर रहा हूं; मै तुमसे अवस्थामें ज्येष्ठ हूं, इस हेतु तुमको नमस्कार नहीं किया, क्योंकि जो जन विद्या या तपस्या अथवा जन्मसे वृद्ध होते है वही द्विजातियों मे पूजनीय होते है। अष्टक बोले, कि तुमने कहा, कि जो जन अवस्थामें वृद्ध है वह पूजनीय होते है, पर ऐसा कहा है, कि जो जन विद्या और तपस्यासे वृद्ध है, वही द्विजोमे पूजनीय होते हैं। (१—३)

ययाति बोले, विद्या ओर तपस्यादि कर्मके अहङ्कारको पण्डितोने नरक उपजानेवाला पाप कहा है, वह अहङ्कार स्वतन्त्र जनमे ही वर्तता है, साधु-लोग उन स्वतन्त्र असाधुओंके समान अहंकारके वशमें नहीं होते, पूर्वकालके सज्जन भी ऐसे थे; मै वैसा न करकेही स्वर्गसे च्युत हुआ हूं। मुझमे पुण्यरूपी प्रचुर धन संचित था, वह मेरे अहंकारही से नष्ट हुआ है, इस समय विशेष चेष्टा करकेभी उसको फिर पा नहीं सकता। जो मेरी ऐसी गति देखकर आत्महित साधनेमें निविष्ट होंगे, वही विज्ञ और धीर है। जो जन महा-

महाधनो यो यजते सुयज्ञैर्यः सर्वविद्यासु विनीतबुद्धिः ।
वेदानधीत्य तपसा योज्य देहं दिवं समायात्पुरुषो वीतमोहः ॥ ६ ॥
न जातु हृष्येन्महता धनेन वेदानधीयीताऽनहंकृतः स्यात् ॥ ७ ॥
नानाभावा बहवो जीवलोके दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः ।
तत्तत्प्राप्य न विहन्येत धीरो दिष्टं बलीय इति मत्वाऽऽत्मबुद्ध्या ॥८॥
सुखं हि जन्तुर्यदि वाऽपि दुःखं दैवाधीनं विन्दते नाऽऽत्मशक्त्या ।
तस्माद्दिष्टं बलवन्मन्यमानो न संज्वरेन्नाऽपि हृष्येत्कथंचित् ॥ ९ ॥
दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्समेन वर्तेत सदैव धीरः ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो न संज्वरेन्नाऽपि हृष्येत्कथंचित् ॥१०॥
भये न मुह्याम्यष्टकाऽहं कदाचित्संतापो मे मानसो नास्ति कश्चित् ।
धाता यथा मा विदधीत लोके ध्रुवं तथाऽहं भवितेति मत्वा ॥११॥
संस्वेदजा अण्डजा उद्भिदश्च सरीसृपाः कृमयोऽथाऽप्सु मत्स्याः ।
तथाऽश्मानस्तृणकाष्ठं च सर्वे दिष्टक्षये स्वां प्रकृतिं भजन्ति ॥१२॥

धनयुक्त हो करके अच्छे यज्ञोंसे यजन-क्रिया करते है, वे सर्व विद्याओंके जान कर हो करके विनय बुद्धियुक्त होते है, और संपूर्ण वेदोंको पाठ करके तपस्याकर देह छोडते है, वह पुरुषही मोहरहित होकर स्वर्गगामी होते है। पर महत् पुण्य सञ्चय करके उससे कभी सन्तुष्ट चित्त न होना और वेद पढकेभी अहंकृत न होना। इस जीवलोकमे कोइ धर्ममें आसक्त और कोई अधर्मसे आसक्त होते है, क्योंकि सभी दैवाधीन है, इससे उनकी चेष्टा और योग्यता सभी विनष्ट होजाती है। अतएव धीर पुरुष निज बुद्धिसे अष्टक! यह समझकर सुख वा दुःख आनेपर उनसे क्रोध उपसे आत्म चित्त नहीं करते। जीव सारी सुख वा दुःख आत्मशक्तिके अनुसार नहीं भोगते, दैवाधीन भोगते है, अतएव दैवको औरो से बली जानकर सुख दुःखमे प्रसन्न वा दुःखी होना किसी प्रकार उचित नहीं है। धीर जन दुःख भोगनेके कालमे दुःखी वा सुख भोगनेके कालमे प्रसन्न नहीं होते, सदा एकभावसे रहते है, वह यह जानकर, कि भाग्यही सबकी जड है, किसी प्रकारसेही संतोष असंतोषसे खिन्न नहीं होते। हे अष्टक! यह समझकर कि विधाता जो विधान करते है, वह अवश्यही होगा, मै कभी भयसे मोहित नहीं हुआ और मेरा मानसिक कोई सन्तापभी विद्यमान नहीं है; देखो, सर्प, कीट, मछली आदि जलके और स्थल के कीट, पत्थर और तृण

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुध्वा कस्मात्संतापमष्टकाऽहं भजेयम् ।
किं कुर्यां वै किं च कृत्वा न तप्ये तस्मात्संतापं वर्जयाम्यप्रमत्तः॥१३॥
वैशम्पायन उवाच–एवं ब्रुवाणं नृपतिं ययातिमथाऽष्टकः पुनरेवाऽन्वपृच्छत् ।
मातामहं सर्वगुणोपपन्नं तत्र स्थितं स्वर्गलोके यथावत् ॥ १४ ॥
अष्टक उवाच-ये ये लोकाः पार्थिवेन्द्र प्रधानास्त्वया भुक्ता यं च कालं यथावत्।
तान्मे राजन्ब्रूहि सर्वान्यथावत्क्षेत्रज्ञवद्भाषसे त्वं हि धर्मान् ॥ १५ ॥
ययातिरुवाच—राजाऽहमासमिह सार्वभौमस्ततो लोकान्महतश्चाऽजयं वै ।
तत्राऽवसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १६ ॥
ततः पुरीं पुरुहूतस्य रम्यां सहस्रद्वारां शतयोजनायताम् ।
अध्यावसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १७ ॥
ततो दिव्यमजरं प्राप्य लोकं प्रजापतेर्लोकपतेर्दुरापम् ।
तत्राऽवसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १८ ॥
स देवदेवस्य निवेशने च विहृत्य लोकानवसं यथेष्टम् ।
संपूज्यमानस्त्रिदशैः समस्तैस्तुल्यप्रभावद्युतिरीश्वराणाम् ॥ १९ ॥
तथावसन्नन्दने कामरूपी संवत्सराणामयुतं शतानाम ।

काष्ठादि जितने स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज पदार्थ हैं सभी नियतिके अन्तमें निज निज प्रकृतिमें लीन होते हैं। हे अष्टक ! सुख दुःख अनित्य हैं, अतएव क्यों उनमे तापित हूंगा ? यह विचार कर, कि क्या करूं क्या करनेसे सन्ताप जाता रहेगा, अप्रमत्त होकर सतापका विसर्जन कर दिया है। (४—१३)

श्री वैशम्पायनजी बोले, कि कहा ठहरे हुए सर्वगुणयुक्त मातामह भूपाल ययातिके ऐसा कहने पर अष्टकने फिर स्वर्गवास की कथा पूछी, कि हे पृथ्वीपते ! तुम क्षेत्रज्ञ नारद आदिके समान धर्मकी कथा कह रहे हो, अतएव तुमने जितने कालमें जिस प्रकारसे जिन जिन प्रधान लोकोंको भोग किया है, वह सब मुझसे कहो। ययाति बोले, कि मैं इसलोकमें सार्वभौम राजा था, आगे महत् लोकको जयकर वहां सहस्र वर्ष वास किया, पश्चात परमलोकको प्राप्त कर सहस्र द्वारयुक्त सौ योजन फैली हुई सुन्दर इन्द्रपुरीमें सहस्र वर्ष वास किया था, अनन्तर उससे भी श्रेष्ठ दुष्प्राप्य दिव्य अजर लोकपति प्रजापतिलोकको प्राप्तकर वहांभी सहस्रवर्ष वास किया, आगे उससेभी परम लोकको पाकर देव-देवके आलयमें विहार कर देवोंसे पूजे जाय तथा देवोंके तुल्य प्रभावी और तुल्य द्युतिपान होकर मनमाने

सद्धाऽप्सरोभिर्विहरन्पुण्यगन्धान्पश्यन्नगान्पुष्पितांश्चारुरूपान् ॥ २० ॥
तत्र स्थितं मां देवसुखेषु सक्तं कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम् ।
दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिः प्लुतेन स्वरेण ॥ २१॥
एतावन्मे विदितं राजसिंह ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात्क्षीणपुण्यः ।
वाचोऽश्रौषं चाऽन्तरिक्षे सुराणां सानुक्रोशाः शोचतां मां नरेन्द्र ॥२२॥
अहो कष्टं क्षीणपुण्यो ययातिः पतत्यसौ पुण्यकृत्पुण्यकीर्तिः ।
तानब्रुवं पतमानस्ततोऽहं सतां मध्ये निपतेयं कथं नु ॥२३॥
तैराख्याता भवतां यज्ञभूमिः समीक्ष्य चेमां त्वरितमुपागतोऽस्मि ।
हविर्गन्धं दैशिकं यज्ञभूमेर्धूमापाङ्गं प्रतिगृह्य प्रतीतः ॥ २४ ॥ [३६६४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वण्यु-
त्तरयायाते एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९॥

अष्टक उवाच— यदाऽवसो नन्दने कामरूपी संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
किं कारणं कार्तयुगप्रधान हित्वा च त्वं वसुधामन्वपद्यः ॥ १ ॥
ययातिरुवाच— ज्ञातिः सुहृत्स्वजनो वा यथेह क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि ।

लोकोंमें वास किया, अन्तमें कामरूपी होकर दश लक्ष वर्ष नन्दनवनमें वास कर सुगन्धी फूल लगे हुए मनोहर वृक्ष-दलको देखता हुआ अप्सराओंके साथ विहार करने लगा, इस प्रकार स्वर्गीय सुखमें आसक्त रहनेमें बहुत काल व्यतीत हुआ। (१३—२१)

अनन्तर उग्ररूपी देवदूतने मेरे पास आकर "च्युत हो" यह बात उच्च प्लुत-स्वरमें तीन बार कही हे राजसिंह! मैं इतनाही मात्र जानता हूं, आगे उसीक्षण में अल्प पुण्यवान् होकर नन्दन वनमें च्युत हुआ। हे नरेन्द्र! तब शोक करने वाले सुरोंका यह खेद वाक्य आकाश-मार्गमें सुना कि हाय! कैसे दुःखकी बात है! वह देखो, पुण्य-कारी, पुण्य-कीर्तिमान् ययाति क्षीण-पुण्य होकर गिर रहे हैं! आगे मैंने गिरते हुए ही उनसे पूछा, कि मैं क्योंकर साधु समाजमें गिर सकता हूं? अनन्तर जिन्होंने मुझको तुम्हारी यह यज्ञ-भूमि दिखायी; उस यज्ञ भूमिमें धुएंसे सूचित उपदेश करने-वालेकी भांति हविका गन्ध सूंघकर प्रसन्नचित्त होकर इस यज्ञभूमिमें शीघ्र चला आया। (२१—२४) [३६६४]

आदिपर्वमें नवासी अध्याय समाप्त।

आदिपर्वमें नब्बे अध्याय।

अष्टकजी बोले, कि हे सत्यशील! तुम कामरूपी होकर दश लक्ष वर्ष नन्दनवनमें बसे थे, अनन्तर किस हेतु इसको

तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसङ्घाः ॥ २ ॥
अष्टक उवाच—तस्मिन्कथं क्षीणपुण्या भवन्ति समुह्यते मेऽत्र मनोऽतिमात्रम्।
किं वा विशिष्टाः कस्य धामोपयान्ति तद्वै ब्रूहि क्षेत्रवित्त्वं मतो मे ॥ ३ ॥
ययातिरुवाच— इमं भौमं नरकं ते पतन्ति लालप्यमाना नरदेव सर्वे ।
ये कङ्कगोमायुबलाशनार्थे क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति ॥ ४ ॥
तस्मादेतद्वर्जनीयं नरेन्द्र दुष्टं लोके गर्हणीयं च कर्म ।
आख्यातं ते पार्थिव सर्वमेव भूयश्चेदानीं वद किं ते वदामि ॥ ५ ॥
अष्टक उवाच—यदा तु तान्वितुदन्ते वयांसि तथा गृध्राःशितिकण्ठाः पतङ्गाः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति न भौममन्यं नरकं शृणोमि ॥ ६ ॥
ययातिरुवाच— ऊर्ध्वं देहात्कर्मणा जृम्भमाणाद्व्यक्तं पृथिव्यामनुसंचरन्ति ।

छोडकर भूतलमे उतरे । ययाति बोले, कि जिस प्रकार इस लोकमे किसीके स्वल्पवित्त होने पर उसको ज्ञाति, मित्र और स्वजनगण त्याग देते है, उस प्रकार वहा मनुष्यों के क्षीण-पुण्य होनेपर ऐश्वर्य वान् देवगण उनको उसी क्षण त्याग देते है।अष्टकने कहा, कि उस देवलोक-मे वहाके लोग क्योंकर क्षीण-पुण्य-होते है ? इस विषयमे मुझे बडी शङ्का हो रही है। फिर यह भी मुझसे कहो, कि किस पुण्यके करनेमे कौनसे प्रजापति-धाममे जाया जाता है, क्योंकि मेरी समझमे तुम क्षेत्रज्ञ हो। ययाति बोले, कि हे नरदेव ! जो लोग अपनी उन्नति निज मुखसे प्रगट करते है,वे क्षीण पुण्य होकर देवलोकसे इस भूतलरूपी नरकमे गिरकर भोगकी अभिलाषामे थक जाते है, और पक्षी सियार आदिके भोजनके निमित्त कष्टदायी नाना प्रकारके शरीर प्राप्त करते है। हे नरेन्द्र ! इस कारणसे दोषयुक्त और लोकोंमे निन्दा किये जाते हुए कर्म त्याग देना । हे पृथ्वीनाथ ! तुमसे सब कुछ कह चुका; कहो, अब क्या कहना होगा। (१—५)

अष्टकजी बोले, कि जब गिद्ध शिति-कण्ठ आदि पक्षी और पतिङ्गे मनुष्यों को खा लेते है, तब किस प्रकारसे जीव वर्तमान रहता है ? फिर क्योंकर प्रगट होता है ? और रौरव, वैतरणी आदि जो नरक प्रसिद्ध है, उनके अतिरिक्त भौम नरक क्या है ? यह सब सुनना चाहता हूं। ययाति बोले, कि सम्पूर्ण जीव अनुष्ठान किये हुए कर्मके अनुसार देह छोडनेके पीछे माता की कोखमे जन्म लेकर उस स्थानमे संपूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्ग युक्त देहकी उत्पत्ति होनेपर प्रसव किये जाकर प्रकाश रूपमे पृथ्वीमे चलते फिरते रहते है, वही जीवके लिये भौम नरक कहा

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति नाऽवेक्षन्ते वर्षपूगाननेकान् ॥ ७ ॥
षष्टिं सहस्राणि पतन्ति व्योम्नि तथा अशीतिं परिवत्सराणि ।
तान्वै तुदन्ति पततः प्रपातं भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ॥ ८ ॥
अष्टक उवाच—यदेनसस्ते पततस्तुदन्ति भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति कथंभूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ९ ॥
ययातिरुवाच—अस्रं रेतः पुष्पफलानुपृक्तमन्वेति तद्वै पुरुषेण सृष्टम् ।
स वै तस्या रज आपद्यते वै स गर्भभूतः समुपैति तत्र ॥ १० ॥
वनस्पतीनोषधीश्चाऽऽविशन्ति अपो वायुं पृथिवीं चाऽन्तरिक्षं ।
चतुष्पदं द्विपदं चाऽपि सर्वमेवं भूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ११ ॥
अष्टक उवाच—अन्यद्वपुर्विदधातीह गर्भमुताऽऽहोस्वित्स्वेन कायेन याति ।
आपद्यमानो नरयोनिमेतामाचक्ष्व मे संशयात्प्रब्रवीमि ॥ १२ ॥

जाता है, क्योंकि इस प्रकारसे वहा गिरने ने अपनी अवस्थाकी वृद्धि नहीं देखते, अज्ञानवश केवल विषयके भोगहीमें वर्षों-को व्यतीत किया करते हैं। कोई जीव निजके किये हुए कर्मके अनुसार कुछ-काल स्वर्ग भोग कर स्वर्गसे गिरनेके कालमें साठ सहस्र वा अस्सी सहस्र वर्षभी आकाशमें रहकर कष्ट भोगते हैं. गिरने-वाले उन जीवोंको बड़े बड़े दातवाले भय-ङ्कर हल्की, भौमे और राक्षस लोग हिंसा करते रहते है। (६–८)

अष्टक बोले, कि जो लोग पापके हेतु स्वर्गसे च्युत होते हैं, बड़े काटनेवाले भयानक भौम राक्षसोंके उनकी हिंसा करने पर वे क्याकर बने रहते हैं? क्योंकर इन्द्रियादि युक्त होते हैं? अथवा क्योंकर गर्भमें जाकर जन्म लेते हैं? ययाति बोले, कि स्वर्गसे पतन होकर और जल-युक्त शरीर धरकर वीर्यका स्वरूप प्राप्त करता है; पुरुषसे गिराये जाकर वह वीर्य स्त्रीके शोणितमें मिलने पर फल फलके समान होकर "रज" यह संज्ञा पाता है। रज स्त्रीके पेटमें गर्भके स्वरूपमें उत्पन्न होता है। जीवगण पहिले जल, वायु, आकाश और तेज इन पाच महाभूतोंमें प्रविष्ट होते हैं, आगे वनस्पति और औषधिमें व्याप्त होते हैं, अनन्तर शुक्र और शोणितके स्वरूपको पाकर गर्भोत्पत्ति करते है। इसमें दोपाये चारपाये आदिके शरीर प्राप्त करते हैं। (९—११)

अष्टक बोले कि जब जीव नरयोनिको प्राप्त करता है, क्या तब अपने सूक्ष्म शरीरहीको लेकर माताकी कोखमें घूमता है? अथवा कोई अन्य भौतिक शरीर धरकर घूमता है? यह मुझसे कहिये मैं सन्देहयुक्त होकर पूछता हूं, और जीवोंके

शरीरभेदादिसमुच्छ्रयं च चक्षुःश्रोत्रे लभते केन संज्ञाम् ।
एतत्तत्त्वं सर्वमाचक्ष्व पृष्टः क्षेत्रज्ञं त्वां तात मन्याम सर्वे ॥ १३ ॥
ययातिरुवाच–वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनिमृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम् ।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः क्रमेण संवर्धयतीह गर्भम् ॥ १४ ॥
स जायमानो विगृहीतमात्रः संज्ञामधिष्ठाय ततो मनुष्यः ।
स श्रोत्राभ्यां वेदयतीह शब्दं स वै रूपं पश्यति चक्षुषा च ॥ १५ ॥
घ्राणेन गन्धं जिह्वयाऽथो रसं च त्वचा स्पर्शं मनसा वेद भावम् ।
इत्यष्टकेहोपचितं हि विद्धि महात्मनः प्राणभृतः शरीरे ॥ १६॥
अष्टक उवाच–यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा निखन्यते वाऽपि निकृष्यते वा ।
अभावभूतः स विनाशमेत्य केनाऽऽत्मना चेतयते परस्तात् ॥ १७॥
ययातिरुवाच–हित्वा सोऽसून्सुप्तवन्निष्टनित्वा पुरोधाय सुकृतं दुष्कृतं वा ।

क्योंकर शरीर भेद आदि होते हैं? अथवा क्योंकर अपने आंख, कान आदि सम्पूर्ण इन्द्रिय, रूप और शब्दादि विषयोंका ज्ञान लाभ करते हैं? हे पिता! हम तुमको क्षेत्रज्ञ समझ कर पूछ रहे हैं, तुम सब सच्ची रीतिसे कहो। ययाति बोले, कि पांच प्राण, मन, बुद्धि और दश इंद्रिययुक्त अपञ्चीकृत भूतसे बने बनाये सूक्ष्म शरीरमें वीर्यके स्वरूपको धारण कर स्त्रियोंकी ऋतुमें पुष्परससे अनुसबद्ध गर्भाश्रित वह जीव तन्मात्रका अधिकार युक्त किसी विशेष वायुसे उत्कृष्टता और क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होता है; आगे जब सम्पूर्ण आकार पाकर संज्ञालाभ करके मनुष्य के आकारमें जन्म लेता है, तब कानसे शब्द ज्ञान सकता है, चक्षुसे रूप देखता है, नाकसे गंध सूंघता है, जिह्वासे स्वाद लेता है, त्वचासे अनुभव कर सकता है और मनसे पदार्थोंको जान सकता है। हे अष्टक! जीवात्माका सूक्ष्मरूपी वह लिङ्ग शरीर इस प्रकार स्थूल शरीरमें आ पहुंचता है। (१३–१६)

अष्टक बोले, कि जो पुरुष मर जाता है, लोग उसको जलाते वा गाडते हैं, अथवा अन्य किसी प्रकार से उसके शरीरको नष्टकर डालते हैं, सो स्थूल शरीर के साथ लिङ्ग शरीर भी नष्ट हो जाता है, अतएव वह लिङ्ग शरीर नाशको प्राप्तकर क्योंकर मांस पिण्डरूपी स्थूल देहको चेतनायुक्त करता है? ययाति बोले, कि हे राजसिंह! जीवात्मा मृत्यु के कालमें पवनके आगे चलनेवाले पञ्च प्राणादि लिङ्ग शरीरको धारण करके निद्रितकी भांति स्थूलदेहको छोडकर सुकृत और दुष्कृतको सामने लिये एक प्रकारका विशेष शब्द करता हुआ अन्य

अन्यां योनिं पवनाग्रानुसारी हित्वा देहं भजते राजसिंह ॥ १८ ॥
पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति ।
कीटाः पतङ्गाश्च भवन्ति पापा न मे विवक्षाऽस्ति महानुभाव ॥ १९ ॥
चतुष्पदा द्विपदाः षट्पदाश्च तथाभूता गर्भभूता भवन्ति ।
आख्यातमेतन्निखिलेन सर्वं भूयस्तु किं पृच्छसि राजसिंह ॥ २० ॥
अष्टक उवाच- किंस्वित्कृत्वा लभते तात लोकान्मर्त्यः श्रेष्ठांस्तपसा विद्यया वा ।
तन्मे पृष्टः शंस सर्वं यथावच्छुभाँल्लोकान्येन गच्छेत्क्रमेण ॥ २१ ॥
ययातिरुवाच- तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥ २२ ॥
अधीयमानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
तस्याऽन्तवन्तश्च भवन्ति लोका न चाऽस्य तद्ब्रह्म फलं ददाति ॥ २३ ॥
चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाऽधीतमुत मानयज्ञः ॥ २४ ॥

योनिमें जन्म लेता है, उनमें पुण्यात्मा पुरुष पुण्ययोनिमें जन्म लेता है, और पापकारी पुरुष पाप योनिमें कीट पतङ्गादि के स्वरूपमें उत्पन्न होते हैं । महानुभाव राजसिंह ! छःपाये, चारपाये, दोपाये आदि जीवगण इस प्रकारसे गर्भमें आविर्भूत होते हैं, मुझे और कुछ कहनेकी नहीं है, मैं सब कुछ कथा तुमसे कह चुका, कहो और क्या पूछोगे । (१७-२०)

अष्टक बोले, कि हे तात ! तपस्या और विद्या इन दोनों में किससे श्रेष्ठ लोककी प्राप्ति होती है, और जिस क्रमसे शुभ लोकमें जाया जाता है वह सब सत्यरूपसे कहो ! ययाति बोले कि साधु लोग सदा कहा करते हैं, कि तपस्या, दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता और सर्व जीवों पर कृपा, यह सात मनुष्योंके स्वर्गलोकमें जानेके प्रधान द्वार हैं, पर साधुलोग सदा यह कहा करते हैं, कि जो सब पुरुष तमयुक्त होकर अहङ्कार प्रकाश करते हैं, वे मङ्गल पानेके योग्य नहीं हो सकते हैं । जो जन पढ करके ऐसा अभिमानी होकर, कि मैं ही पण्डित हूं विद्यामें औरोंके यशको लोप करता है, उसको स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, यहांतक कि उसका वह पाठ इत्यादि फलदायी नहीं होता । अग्निहोत्र, मानव्रत, अध्ययन, यह चार प्रकारके कर्म शुभ करनेवाले तो हैं पर अहङ्कार के साथ यह सब कर्म किये जानेपर अनुचित रूपसे आचरित होकर भय देते

न मानमान्यो मुदमाददीत न संतापं प्राप्नुयाच्चाऽवमानात् ।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके नाऽसाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ॥ २५ ॥
इति दद्यामिति यज इत्यधीय इति व्रतम् ।
इत्येतानि भयान्याहुस्तानि वर्ज्यानि सर्वशः ॥२६॥
ये चाऽऽश्रयं वेदयन्ते पुराणं मनीषिणो मानसमार्गरुद्धम् ।
तद्वः श्रेयस्तेन संयोगमेत्य परां शान्तिं प्राप्नुयुः प्रेत्य चेह २७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि
सम्भवपर्वण्युत्तरयायाते नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥ [३६०१]

अष्टक उवाच- चरन्गृहस्थः कथमेति धर्मान्कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा ।
वानप्रस्थः सत्पथे संनिविष्टो बहून्यस्मिन्संप्रति वेदयन्ति ॥ १ ॥
ययातिरुवाच–आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी ।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥ २ ॥
धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत दद्यात्सदैवाऽतिथीन्भोजयेच्च ।

वाले होते है। मनुष्य अति सम्मानके पात्र होनेसे भी हर्ष युक्त न होवे और अपमानित होने से भी खेदयुक्त न बने, क्योंकि इस लोकमें साधु-लोगही साधु-लोगोंकी पूजा किया करते है, असाधु लोग कभी साधुओंके समान आचरण नहीं करते। पण्डितोंने ऐसा कहा है, कि इस प्रकार अहङ्कार दिखानेसे दान दिया, यज्ञ किया, पाठ किया, व्रत किया, उसकी सुगति नहीं होती. अतएव सर्व-प्रकारसे अहङ्कारको छोडनाही उचित है। पर जो विद्वानलोग चित्तापथक अदृश्य और अपने समान साधुओंके मङ्गलकारी सनातन ब्रह्मको संयत चित्त होकर अपना आश्रय करके जानते है, वे समाधिसे उस ब्रह्मके साथ एकत्र वास प्राप्तकर अच्छी शांति अर्थात् मुक्तिलाभ करते है। (२१—२७) [३६०१]

आदिपर्वमें नब्बे अध्याय समाप्त।

आदिपर्व मे एकानब्बे अध्याय।

अष्टकजी बोले, कि वैदिकगण इस विषयमे भांति भांतिकी बातें कहा करते है, कि गृही, भिक्षु, ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ, यह सुपथमें रहकर कैसा आचरण करनेसे धर्मार्जन करने को समर्थ होते है। ययाति बोले, कि ब्रह्मचारी गुरुके घरमे वासकर गुरुके बुलाने पर पाठ ले, गुरुके कार्यमे सदा उत्साही बने रहे बडे सबेरे गुरुके उठनेके पहिले उठे. रातको गुरुके सोनेके पीछे सोवे और धीर, जितेन्द्रिय, धैर्ययुक्त प्रमाद-वर्जित पठनशील होवे. तो उनका ब्रह्मचर्य

अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत्पुराणी ॥ ३ ॥
स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङ् मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥ ४ ॥
अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः ।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचारश्चरन्देशानेकचरः स भिक्षुः ॥ ५ ॥
राज्या यया चाऽभिजिताश्च लोका भवन्ति कामाभिजिताः सुखाश्च ।
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वानरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा ॥ ६ ॥
दशैव पूर्वान्दश चाऽपरांश्च ज्ञातीनथाऽऽत्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति विमुच्याऽरण्ये स्वशरीरधातून् ॥ ७ ॥

अष्टक उवाच— कतिस्विदेव मुनयः कति मौनानि चाऽप्युत ।
भवन्तीति तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच— अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं स मुनिः स्याज्जनाधिप ॥ ९ ॥

सिद्ध होता है । प्राचीन उपनिषदों में कहा है, कि गृहीजन धर्मानुसार धनार्जन करके नित्य नैमित्तिकादि अतिथियों को भोजन करावे और किसीके बिना दान करे न ले । वनवासीजन निज शक्तिसे लाभ किये हुए फल मूल पर जीते हुए, पापकार्यसे निवृत्त दानशील, नियमित भोजक सदा चेष्टित और पराई हिंसा आदिसे रहित होनेसे मुनिके स्वरूप से अच्छी सिद्धि प्राप्त करते हैं । जो नाना गुणयुक्त नित्य जितेन्द्रिय और थोडे वस्त्र पहिननेवाले होते हैं और शिल्प से जीविका नहीं करते हैं । गृहस्थके घरके बिना भिक्षा और ध्यानसे सोते हैं, किसी विषय में लिप्त किसी नहीं है और स्वल्प चलते हैं पर निरन्तर नाना देशोंमे घूमते है, वही भिक्षु करके कहे जाते है । जिस समय सब विषय तुच्छ हो जाते है और सुखदेनेवाली वस्तु मनमानी छोड दी जा सकती है, विद्वान् जन उस समयहीमे मन [illegible] होकर ब्रह्मनिष्ठाके निमित्त वनमे जानेकी चेष्टा करें, वानप्रस्थजन निज शरीर और संपूर्ण इन्द्रियोंको वनमे छोडे, तो उपरके पितृ-पितामहादि दश पुरुषोंको, नीचेकी पुत्र पौत्रादि दश पीढियोंको तथा निजको परब्रह्ममे लीन करते है । ३—७

अष्टकजी बोले, हम यह सुनना चाहते है कि मुनि कितने प्रकारके होते है और मौनव्रतवी कितने प्रकारके होते है । ययाति बोले कि हे जनाधिप ! वनमें रहनेसे सम्मुख ग्रामको [illegible] जिन-

अष्टक उवाच– कथंस्विद्वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं कथं भवति पृष्ठतः॥ १०॥
ययातिरुवाच— न ग्राम्यमुपयुञ्जीत य आरण्यो मुनिर्भवेत्।
तथाऽस्य वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः॥ ११॥
अनग्निरनिकेतश्चाऽप्यगोत्रचरणो मुनिः।
कौपीनाच्छादनं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम्॥ १२॥
यावत्प्राणाभिसंधानं तावदिच्छेच्च भोजनम्।
तथाऽस्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः॥ १३॥
यस्तु कामान्परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात्॥ १४॥
धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम्।
असितं सितकर्माणं कस्तमर्हति नार्चितुम्॥ १५॥
तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम्॥ १६॥

समीप रहती है, और ग्राममें टिकने पर भी सम्पूर्ण वन के पदार्थ जिसके सामने आते हैं, उनका नाम मुनि है। अष्टक बोले, कि वनमें बसनेसे ग्रामकी वस्तु और ग्राममें बसनेसे वनकी वस्तु क्योंकर सामने आसकती है? ययाति बोले, कि मुनिके वनमें बसनेसे उन को ग्रामकी वस्तु इकट्ठी करनी नहीं पडती, उनके योगबलसे स्वयं सम्पूर्ण पदार्थ सामने आजाते है, वह निरन्तर सन्यासी, गृहादि वर्जित और परमहंस होते है और विद्याके व्यपदेश रहित होते है एवम् कौपीन तथा उसके ढपनेके योग्य वस्त्रमात्रको लेते हैं; और उतनाही भोजन करते है, कि जिससे केवल प्राण धारण हो सके, उनके ग्राममें बसनेसे भी वनके व्यवहार सब उनके वशमें हो जाते है; जो मुनि संपूर्ण कर्म और कामना त्याग कर जितेन्द्रिय होकर मौन व्रत आश्रय किये रहते है, वह सिद्धिको प्राप्त करते है; जो नित्य शुद्धचित्त और आकांक्षा वर्जित होकर हिंसायुक्त धर्मको त्याग देते है, विशुद्ध भोजन करते है और जिन्होने हिंसा करनेवाले नखोंको काट डाला है, ऐसे मुनिको कौनसा जन न पूजेगा? जो क्षमाशील और तपस्या मे दुबले पतले और जिनका मांस हड्डी और रक्त पतला हो गया है वह इस लोक और परलोकमें जयको प्राप्त करते है; जब मौनकी भली भांति

यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः।
अथ लोकामिमं जित्वा लोकं विजयते परम्॥ १७॥
आस्येन तु यदाऽऽहारं गोवन्मृगयते मुनिः।
अथाऽस्य लोकः सर्वोऽयं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१८॥[३७०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वण्युत्तरयायाते एकनवतितमोऽध्यायः॥ ९१॥

अष्टक उवाच— कतरस्त्वनयोः पूर्वं देवानामेति सात्मताम्।
उभयोर्धावतो राजन्सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥ १॥
ययातिरुवाच— अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः।
ग्राम एव वसन्भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः ॥ २॥
अप्राप्य दीर्घमायुस्तु यः प्राप्तो विकृतिं चरेत्।
तप्यते यदि तत्कृत्वा चरेत्सोऽन्यत्ततस्ततः॥ ३॥
पापानां कर्मणां नित्यं बिभियाद्यस्तु मानवः।

आश्रय किये हुए मुनि अद्वैत भावके अवलम्बनसे द्वन्द्व वर्जित होते है, तब इस लोक और परलोकमे जयको प्राप्त होते है. जिस प्रकारसे गौ आदि पशु, हाथ पाव आदिकी चेष्टासे भोजनको न ग्रहण कर केवल मुखसे आहार निर्वाह करते है, उसही प्रकार जब मुनि प्रत्यगात्मामे एकाग्र होकर बिन मांगे पहुंची हुई भोजनकी सामग्रीको प्राण धरनही के निमित्त मुखसे उठाते है, हाथ पावसे कोई चेष्टा नहीं करते, ऐसी अवस्था होनेसे उनके सामने सम्पूर्ण लोक अमृतके स्वरूप होते है। (१७-१८) [३७०९]

[illegible]

[illegible]

अष्टक बोले, कि सूर्य और चन्द्रके समान दौडनेवाले यति और वानप्रस्थ इन दोनोंमे कौन पहिले देवतन् हो सकते है? ययाति बोले, कि दोनोंमेसे यतिजन संयत रह कर इच्छाचारी गृहस्थ जनोंसे भरे पूरे ग्राममें बस करकेभी पहिले देवके स्वरूपको प्राप्त होते है, पर उन यति-जनसे क्रोध द्वेषादि देहके धर्मोंके हेतु निजकी अनुष्ठान की हुई तपस्याका विपरीत व्यवहार रूपी पाप किया जावे, तो बहुत कालमें होने योग्य तप अनुष्ठान करनेका कालप्राप्त न होनेसेभी वह उस कारण यदि अनुतापित होवे, तो फिर दूसरी तपस्याका अनुष्ठान करे ऐसा करनेसे वह उन पापसे मुक्त होकर सफल मनोरथ हो सकते है और जिस ज्ञानी पुरुषने अविनाशी ब्रह्मको ध्यान दृष्टिने

सुखमप्याचरन्नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ ४ ॥
यद्वै नृशंसं तदसत्यमाहुर्यः सेवते धर्ममनर्थबुद्धिः ।
अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजंस्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम् ॥ ५ ॥
अष्टक उवाच—केनाऽसि दूतः प्रहितोऽसि राजन्युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः।
कुत आयातः कतरस्यां दिशि त्वमुताऽऽहोस्वित्पार्थिवं स्थानमस्ति ॥ ६ ॥
ययातिरुवाच-इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद्विप्रहीणः ।
उक्त्वाऽहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं त्वरन्ति मां लोकपा ब्रह्मणो ये ॥ ७ ॥
सतां सकाशे तु वृतः प्रपातस्ते संगता गुणवन्तस्तु सर्वे।
शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष पतिष्यता भूमितलं नरेन्द्र ॥ ८ ॥
अष्टक उवाच-पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं यदि लोकाः पार्थिव सन्ति मेऽत्र।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ९ ॥

लाभ) किया है, वह सदा इच्छानुसार पापाचरण करनेसेभी अति सुखरूपी मुक्तिको लाभ करता है। हे राजन्! मोक्षकी खोज न करके अनित्य स्वर्ग भोगनेके लिये जिस धर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस धर्मको पण्डितोंने अजितेन्द्रिय जनके धनके सदृश कष्टदायी और असत्य करके कहा है; पर जिस निष्काम धर्मसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है, उसीको उचित पथ और समाधि करके कहा है, एवम् उसी पर चलना योग्य है। (१—५)

अष्टक बोले, कि हे राजन् तुमको मालाधारी, सुतेजस्वी और परम सुन्दर युवा पुरुष देखता हूं, आज तुम कहांसे आये हो! और किस जनके दूतरूपी होकर किस ओर भेजगये हो? अथवा पृथ्वीहीमें तुम्हारा जाने योग्य स्थान है क्या? ययाति बोले, कि मैं क्षीणपुण्य होनेसे स्वर्गसे च्युत होकर इस भौम नरकमें गिरनेके लिये पृथ्वीमण्डलमें प्रवेश कर रहा हूं; तुम्हारे साथ वार्त्तालाप करके गिरूंगा, इस लिये लोकपाल लोग मुझको शीघ्र प्रस्तुत होनेको कहते हैं। हे नरेन्द्र! मेरे भूतलमें गिरनेके पहिले इन्द्रसे प्रार्थना करने पर उन्होंने मुझको वर दिया है, कि तुम गुणवन्त और संगत साधुमण्डलीके समीप गिरोगे। (६—८)

अष्टक बोले, कि हे पृथ्वीनाथ! मुझको जान पडता है, कि तुम धर्मके फलरूपी सब सिद्ध स्थानोंको जानते हो, अतएव पूछता हूं, कि स्वर्गलोक अथवा नक्षत्र लोकादिमें मेरे पुण्यसे उपार्जित कोई भोगनेका स्थान है वा नहीं? यदि हो, तो गिरनेपरभी न गिरोगे। ययाति

ययातिरुवाच—यावत्पृथिव्यां विहितं गवाश्वं सहाऽऽरण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च।
तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ १० ॥
अष्टक उवाच—तांस्ते ददामि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोका दिवि राजेन्द्र संति।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रितास्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ ११ ॥
ययातिरुवाच—नाऽस्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्यस्तथाऽददं पूर्वमहं नरेन्द्र ॥ १२ ॥
नाऽब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्या चाऽपि स्याद्ब्राह्मणी वीरपत्नी।
सोऽहं नैवाऽकृतपूर्वं चरेयं विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ १३ ॥
प्रतर्दन उवाच-पृच्छामि त्वां स्पृहणीयरूप प्रतर्दनोऽहं यदि मे संति लोकाः।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वा तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १४ ॥
ययातिरुवाच—संति लोका बहवस्ते नरेन्द्र अप्येकैकः सप्तसप्ताऽप्यहानि।
मधुच्युतो घृतपृक्ता विशोकास्ते नाऽन्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ १५ ॥
प्रतर्दन उवाच-तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु।

बोले, कि हे नरेंद्रसिंह ! सुनो, इस भूमण्डलमें गौ, घोडे और जितने वनके और पार्वतीय पशु हैं, देवलोकमें उतनेही तुम्हारे पुण्यसे उपार्जन किये हुए स्थान हैं। अष्टक बोले, कि हे राजेन्द्र ! यदि मेरुके पीठ पर वा नक्षत्रलोकमें अथवा स्वर्गधाममें मेरे पुण्यसे उपार्जन किये हुए स्थान हों, तो वह सब तुमको दे देता हूं मत गिरो, मोहसे वर्जित होकर तुम्हीं उनको अधिकार मे लाओ। ययाति बोले, कि हे राजश्रेष्ठ ! मेरे जैसे वेदज्ञ और वेदाचारी जन कभी प्रतिग्रह नहीं करते। हे नरेन्द्र ! ब्राह्मणोंको जैसा सदा दान देना होता है मैंने पहिले वैसा दान दिया है, क्षत्रियादि पुरुष और दिग्विजय करनेवाले वीरकी पत्नी पर मांगने की नाईं दीनताको स्वीकार करके कभी न जायें; अहो ! मैं सुकर्म करनेका अभिलाषी होकर, जो कार्य पहिले कभी नहीं किया था, क्या वही करूंगा ? (९-१२)

अनन्तर वहां टिके हुए प्रतर्दन नामक एक राजाने कहा, कि हे स्पृहणीय-रूपधारिन् ! मैं प्रतर्दन हूं, तुमको पूछता हूं, कि यदि नक्षत्रलोक वा देवलोक में मेरा पुण्यसे उपार्जन किया हुआ स्थान हो, तो कहो; मुझको समझ पडता है, कि धर्मानुष्ठानमें उपार्जन किए हुए सम्पूर्ण सिद्ध स्थानोंसे तुम ज्ञात हो। ययाति बोले, कि हे नरेन्द्र ! मधु घृतकुल्य परम सुखदेनेवाले इतने अधिक स्थान तुम्हारी प्रतीक्षामें हैं, कि इस स्थानमें सात सात दिन बसनेसे भी वे चुकते नहीं।

यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रितास्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ १६ ॥
ययातिरुवाच- न तुल्यतेजाः सुकृत कामयेत योगक्षेमं पार्थिव पार्थिवः सन्।
दैवादेशादापदं प्राप्य विद्वांश्चरेन्नृशंसं न हि जातु राजा ॥१७॥
धर्म्यं मार्गं यतमानो यशस्यं कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः ।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्कुर्यादेवं कृपणं मां यथाऽऽत्थ?८॥
कुर्यादपूर्व न कृतं यदन्यैर्विधित्समानः किमु तत्र साधु ।
ब्रुवाणमेवं नृपतिं ययातिं नृपोत्तमो वसुमानब्रवीत्तम् ॥ १९ ॥ [३७२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भव-
पर्वण्युत्तरयायाते द्विनवतितमोऽध्याय ॥ ९२ ॥

वसुमानुवाच- पृच्छामि त्वां वसुमानौषदश्विर्यद्यस्ति लोको दिवि मे नरेन्द्र।
यद्यन्तरिक्षे प्रथितो महात्मन्क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १ ॥
ययातिरुवाच- यदन्तरिक्षं पृथिवीं दिशश्च यत्तेजसा तपते भानुमांश्च ।
लोकास्तावन्तो दिवि संस्थिता वै ते नाऽन्तवन्तः प्रतिपालयन्ति॥ २ ॥

प्रतर्दन बोले, कि यदि नक्षत्रलोक वा स्वर्गमें मेरे पुण्यसे उपार्जन किये हुए स्थान हों, तो वह सब तुमको दे देता हूं, वह सब तुम्हारे ही होवे, तुम और न गिरो, मोहवर्जित होकर शीघ्र वहां चढ जाओ। ययाति बोले, कि पृथ्वीनाथ! तुल्य तेजयुक्त भूपाल होकरके कोई दूसरे राजासे योगक्षेम करनेवाले सुकृतको प्रार्थना नहीं करते; ज्ञानी राजा दैवकी आज्ञासे विपदग्रस्त होनेपर भी कभी निष्ठुर व्यवहार नहीं करते, अतएव मैं क्योंकर यह स्वीकार करूंगा? राजाको धर्मकी ओर दृष्टि रखकर धर्मयुक्त और यशदायी कार्य करना चाहिये। पर तुम जो कहते हो, वह नीच कर्म है, अतएव मेरे ऐसे धर्मज्ञ जन जान बूझकर यह क्यों मानेंगे? दूसरे राजाओंने जो प्रतिग्रहका कार्य कभी नहीं किया है, मैं सुकर्म करने का अभिलाषी होकर वह क्योंकर करूंगा? नृपति ययाति ऐसा कह रहे थे, कि ऐसे समयमें वसुमान नामक एक नृपोत्तम उनसे बोले। (१४-१९)

आदिपर्वमें बानवे अध्याय समाप्त। [३७२८]

आदिपर्वमें तिरानवे अध्याय।

वसुमानजी बोले, कि हे नरेंद्र! मैं औषदश्वि वसुमान, तुमसे पूछता हूं, कि यदि नक्षत्रमण्डल वा स्वर्गधाममें मेरे पुण्यसे उपार्जित प्रख्यात स्थान हों, तो कहो,हे महात्मन्! मुझको जान पडता है, कि तुम धर्ममें लाभ करने योग्य सम्पूर्ण पुण्य लोकोंमें ज्ञात हो। ययाति बोले, कि सूर्यदेव आकाशमण्डल,पृथ्वी और दिशा

वसुमानुवाच- तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
क्रीणीष्वैतांस्तृणकेनाऽपि राजन्प्रतिग्रहस्ते यदि धीमन्प्रदुष्टः ॥ ३ ॥
ययातिरुवाच- न मिथ्याऽहं विक्रयं वै स्मरामि वृथागृहीतं शिशुकाच्छङ्कमानः ।
कुर्यां न चैवाऽकृतपूर्वमन्यैर्विवित्समानः किमु तत्र साधु ॥ ४ ॥
वसुमानुवाच- तांस्त्वं लोकान्प्रतिपद्यस्व राजन्मया दत्तान्यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
अहं न तान्वै प्रतिगन्ता नरेन्द्र सर्वे लोकास्तव ते वै भवन्तु ॥ ५ ॥
शिबिरुवाच - पृच्छामि त्वां शिबिरौशीनरोऽहं ममाऽपि लोका यदि संतीह तात ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वा तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ६ ॥
ययातिरुवाच- यत्त्वं वाचा हृदयेनाऽपि साधून्परीप्समानान्नाऽवमंस्था नरेंद्र ।
तेनाऽनन्ता दिवि लोकाः श्रितास्ते विद्युद्रूपाः स्वनवंतो महांतः ॥ ७ ॥
शिबिरुवाच - तांस्त्वं लोकान्प्रतिपद्यस्व राजन्मया दत्तान्यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
न चाऽहं तान्प्रतिपत्स्ये ह दत्त्वा यत्र गत्वा नाऽनुशोचंति धीराः ॥ ८ ॥

ओंमें जितना स्थान तापयुक्त करते हैं देवलोकमें उतना अनन्त पुण्यलोक तुम्हारी प्रतीक्षामें है। वसुमान बोले, कि हे राजन्! वह सब पुण्यलोक तुमको दान देता हूं, वह तुम्हारे ही होवें, तुम मत गिरो, हे धीमान्! यदि तुमको प्रतिग्रह जान पडे तो तुम वह सब लोक तिनका देकर मोल ले लो। ययाति बोले कि स्मरण होता है, कि मैंने शिशुके सदृश मरणके कालचक्रसे भय खाकर कभी व्यर्थ मोल लिया नहीं है, हे अन्य राजाओंने जो कभी नहीं की, वह मैं सुकर्म करनेका अभिलाषी होकर क्योंकर करूंगा? वसुमान बोले, कि हे राजन्! यदि तुमको मोल लेना अभीष्ट न हो तो ना मेरे दिये हुए सब पुण्यलोक ले लो हे नरेन्द्र! मैं जिन लोकोंमें न जाऊंगा वह तुम्हारे होवें। (१—५)

अनन्तर शिवि नामक नृपोत्तमने कहा, कि मैं उशीनरका पुत्र शिवि हूं, तुमसे पूछता हूं, कि नक्षत्रलोक वा देवलोकमें यदि मेरे पुण्यार्जित स्थान होवें, तो कहो, हे तात! मुझको ज्ञान पडता है, कि धर्मार्जित उन सब पुण्यलोकोंमें तुम ज्ञात हो। ययाति बोले, कि हे नरेन्द्र! तुमने कभी वचनसे वा मनसे साधु याचक जनका अनादर नहीं किया है इस कारण देवलोकमें बिजलीके समान प्रख्यात अनन्त महत् स्थान तुम्हारे लिये हैं। शिवि बोले कि हे राजन्! तुमको मोल लेना अभीष्ट न हो, तो वह सब मैं तुमको दान कर देता हूं तुम ले लो मैं उन्हें देकर फिर शोक न करूंगा उन स्थानोंमें जानेसे पण्डित लोग शोक नहीं करते।

ययातिरुवाच—यथा त्वमिन्द्रप्रतीमप्रभावस्ते चाऽप्यनंता नरदेव लोकाः।
तथाऽद्य लोके न रमेऽन्यदत्ते तस्माच्छिबे नाभिनंदामि देयम् ॥ ९ ॥
अष्टक उवाच— न चेदेकैकशो राजँल्लोकान्नः प्रतिनंदसि ।
सर्वं प्रदाय भवते गंतारो नरकं वयम् ॥ १० ॥
ययातिरुवाच— यदर्होऽहं तद्यतध्वं संतः सत्याभिनंदिनः ।
अहं तन्नाऽभिजानामि यत्कृतं न मया पुरा ॥११॥
अष्टक उवाच— कस्यैते प्रतिदृश्यन्ते रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
यानारुह्य नरो लोकानभिवाञ्छति शाश्वतान् ॥१२॥
ययातिरुवाच— युष्मानेते वहिष्यन्ति रथाः पञ्च हिरण्मयाः।
उच्चैः सन्तः प्रकाशन्ते ज्वलन्तोऽग्निशिखा इव१३॥
अष्टक उवाच — आतिष्ठस्व रथान्राजन्विक्रमस्व विहायसम्।
वयमप्यनुयास्यामो यदा कालो भविष्यति ॥ १४ ॥
ययातिरुवाच— सर्वैरिदानीं गन्तव्यं सह स्वर्गजितो वयम्।
एष नो विरजः पन्था दृश्यते देवसद्मनः ॥ १५ ॥

ययाति बोले कि हे नरदेव ! तुम इन्द्र समान प्रभावी हो और तुम्हारे सब पुण्यलोकभी अनन्त है, पर हे शिवे ! अन्यके दिये हुए पुण्यलोकमें मैं क्रीडा न करूंगा, अतएव तुम्हारा यह दान मुझे स्वीकृत नहीं है। (५—९)

अष्टक बोले, कि हे राजन् ! हम सबोंमे हरेकने निज निज पुण्यार्जित लोक अलग अलग तुमको दान करदिये, उनको यदि लेना सम्मत तुमको न हो, तो हम सब एकत्र होकर अपने संपूर्ण पुण्यलोक तुमको देकर भौमनरकमें जाते है। ययाति बोले, कि हे सत्यप्रिय साधुओ ! मैंने जो पहिले कभी नहीं किया है, वह स्वीकार नहीं करूंगा, मैं जिस विषयके योग्य हूं, वह पूरा करने में तुम यत्नवान होओ। अष्टक बोले, कि उस आकाशमण्डलमें सुवर्णमय पांच रथ देखता हू, उन पर चढ कर मनुष्यगण स्वर्गधामको जा सक्ते है; यह कहो, कि वे किसके है। ययाति बोले, कि वह जो अग्निशिखाके सदृश प्रज्वलित उच्च, पांच रथ आकाशमण्डलमें प्रगट हो रहे है; वे तुमलोगोंको बैठाकर देवताओंके यहां ले जायंगे। अष्टक बोले, कि हे राजन्। तुम रथ पर आरूढ होओ और आकाशपथको पधारो, जब काल उपस्थित होगा, तब हमभी तुम्हारे पीछे चलेंगे। ययाति बोले, इसीक्षण हम सभी निष्पाप और स्वर्गजय कारी भये है, अतएव हमको एकत्र होकर

वैशम्पायन उवाच–नेऽधिरूह्य रथान्सर्वे प्रयाता नृपसत्तमाः ।
आक्रामन्तो दिवं भाभिर्धर्मेणाऽऽवृत्य रोदसी ॥१६॥
अष्टक उवाच-अहं मन्ये पूर्वमेकोऽस्मि गन्ता सखा चेन्द्रः सर्वथा मे महात्मा ।
कस्मादेवं शिविरौशीनरोऽयमेकोऽत्यगात्सर्ववेगेन वाहान् ॥ १७ ॥
ययातिरुवाच– अददद्देवयानाय यावद्वित्तमविन्दत ।
उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि वः शिविः ॥ १८ ॥
दानं तपः सत्यमथाऽपि धर्मो ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्यतथो विधित्सा ।
राजन्नेतान्यप्रमेयाणि राज्ञः शिवेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्ध्या ॥ १९ ॥
एवंवृत्तो ह्रीनिषेवश्च यस्मात्तस्माच्छिविरत्यगाद्वै रथेन ।
वैशम्पायन उवाच-अथाऽष्टकः पुनरेवाऽन्वपृच्छन्मातामहं कौतुकेनेन्द्रकल्पम् २०
पृच्छामि त्वां नृपते ब्रूहि सत्यं कुतश्च कश्चाऽसि सुतश्च कस्य ।
कृतं त्वया यद्धि न तस्य कर्ता लोके त्वदन्यः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा ॥२१॥
ययातिरुवाच–ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्रः पूरोः पिता सार्वभौमस्त्विहाऽऽसम् ।

चलना पड़ेगा, वह देखो, देवलोकका पथ दीख पड़ता है । (१०—१५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर वे सब नरेश धर्मके प्रभावसे आकाशमण्डल आक्रमण करके रथों पर आरूढ होकर उपमा-रहित राजा शिविके इतने हैं, कि बुद्धिसे उनका नाप नहीं हो सकता; शिवि इतने गुणशाली और लज्जाके मारे नम्र होनेहीसे उनका रथ हमको छोड़ चला । (१६–२०)

गुह्यं चाऽर्थं मामकेभ्यो ब्रवीमि मातामहोऽहं भवतां प्रकाशम् ॥२२॥
सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय प्रादामहं छादनं ब्राह्मणेभ्यः ।
मेध्यानश्वानेकशतान्सुरूपांस्तदा देवाःपुण्यभाजो भवन्ति ॥२३॥
अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः पूर्णामिमामखिलां वाहनेन ।
गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यैस्तदाऽददं गाः शतमर्बुदानि ॥२४॥
सत्येन मे द्यौश्च वसुंधरा च तथैवाऽग्निर्ज्वलते मानुषेषु ।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति ॥२५॥
यदष्टक प्रब्रवीमीह सत्यं प्रतर्दनं चौषदश्विं तथैव ।
सर्वे च लोका मुनयश्च देवाः सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम् ॥ २६ ॥
यो नः स्वर्गजितः सर्वान्यथावृत्तं निवेदयेत् ।
अनसूयुर्द्विजाग्र्येभ्यः स लभेन्नः सलोकताम् ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं राजा स महात्मा ह्यतीव स्वैर्दौहित्रैस्तारितो मित्रसाहः ।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वण्युत्तर-
यायातसमाप्तौ त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥ [३७०८]

परम आत्मजन हो; तुमसे स्पष्ट कहता हूं, कि मै तुम्हारा मातामह हूं। मैने संपूर्ण भूमण्डलको जीतकर ब्राह्मणोंको वस्त्र दान करके पवित्र और सुन्दर सौ घोडे देवोंके नामसे उत्सर्ग कर दिये थे; जो ऐसा करते है, देवगण उन पुण्यवान जनोंकी उपासना करते है। वाहन, गौ, सुवर्ण तथा दूसरे और उत्कृष्ट धनोंसे भरी पूरी यह पृथ्वी और सौ अर्बुद गौ ब्राह्मणोको दान कर दी थी, और मेरी कथित बात कभी निष्फल नहीं हुई; मेरे सत्यसे आकाशमण्डल तथा धरती बनी है और मर्त्यलोकमे अग्नि जल रहा है इस हेतु साधुलोग सत्यहीकी पूजा करते है। हे अष्टक! तुमसे, प्रतर्दनसे और औषदश्विसे जो कहता हूं, वह सच है। यह मुझे निश्चय समझ है, कि मुनिगण और देवगण एक सत्यनिष्ठा ही से पूज्यतम होते है। जो जन द्वेषरहित होकर हमारे इस स्वर्ग प्राप्तिका वृत्तान्त आद्योपान्त संपूर्ण ब्राह्मणोंको सुनावेगा, वह हमारे पुण्यार्जित स्थानको लाभ करेगा। वैशम्पायन जी बोले, कि अति महात्मा उदारकर्मा राजा ययाति नातियोंसे तारण प्राप्त कर कीर्ति से पृथ्वी प्राप्त कर के मित्रों के साथ स्वर्ग को आरूढ हुए। ॥ २२-२८ ॥ [३७०८]

ययाति निपातन । [illegible] समाप्त ।

जनमेजय उवाच– भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान्नृपान् ।
यद्वीर्यान्यादृशांश्चाऽपि यावतो यत्पराक्रमान् ॥ १ ॥
न ह्यस्मिञ्छीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः ।
प्रजाविरहितो वाऽपि भूतपूर्वः कथंचन ॥ २ ॥
तेषां प्रथितवृत्तानां राज्ञां विज्ञानशालिनाम् ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच–हंत ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पूरोर्वंशधरान्वीराञ्छक्रप्रतिमतेजसः ॥
भूरिद्रविणविक्रान्तान्सर्वलक्षणपूजितान् ॥ ४ ॥
प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः ।
पूरोः पौष्ट्यामजायंत प्रवीरो वंशकृत्ततः ॥ ५ ॥
मनस्युरभवत्तस्माच्छूरसेनीसुतः प्रभुः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ॥ ६ ॥
शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः ।
मनस्योरभवन्पुत्राः शूराः सर्वे महारथा ॥ ७ ॥
अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः ।

आदिपर्वमें चौरानब्बे अध्याय ।

जनमेजय बोले, कि भगवन्! पुरुवंशी राजाओंमें जिनका जैसा विक्रम और वीर्य था और जो जैसे थे, वह सुनना चाहता हूं। इस वंशमें कोई राजा कभी कुचरित्र, वीर्यवर्जित अथवा प्रजारहित नहीं हुआ। हे तपोधन! प्रख्यात चरित्र और विज्ञानयुक्त उन राजाओंके चरित्र विस्तृत रूपसे सुननेकी इच्छा हो रही है। (१—३)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! पुरुवंशका वृत्तान्त जो तुमने पूछा उन पुरुके वंशधर और इन्द्रके समान तेजयुक्त, अगणित वित्तशाली, विक्रम और सर्व लक्षणोंसे पूजा योग्य राजोंके वृत्तान्त आपसे कहता हूं, सुनिये। पुरुकी पौष्टि नाम्नी महिषीसे प्रवीर, ईश्वर और रौद्राश्व इन तीन महारथी पुत्रोंका जन्म हुआ था, उनमें प्रवीर वंशधर हुए। प्रवीरके वीर्य और शूरसेनी के गर्भ से मनस्यु नामक पुत्रने जन्म लिया; पद्मनेत्रयुक्त सर्वप्रभु मनस्युने चार समुद्रतक पृथ्वी-का शासन किया था। मनस्युके वीर्य और सौवीरीके गर्भसे शक्त, संहनन और वाग्मी यह तीन पुत्र उत्पन्न हुए, वे सभी शूर और महारथी थे। (४—७)

रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाऽप्सरसि सूनवः॥ ८ ॥
यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावन्तो बहुश्रुताः।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ ९ ॥
ऋचेयुरथ कक्षेयुः कृकणेयुश्च वीर्यवान् ।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महायशाः ॥ १० ॥
तेजेयुर्बलवान्धीमान्सत्येयुश्चेन्द्रविक्रमः ।
धर्मेयुः संनतेयुश्च दशमो देवविक्रमः ॥ ११ ॥
अनाधृष्टिरभूत्तेषां विद्वान्भुवि तथैकराट् ।
ऋचेयुरथ विक्रान्तो देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥
अनाधृष्टिसुतस्त्वासीद्राजसूयाश्वमेधकृत् ।
मतिनार इति ख्यातो राजा परमधार्मिकः ॥ १३ ॥
मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाऽप्रतिमद्युतिः ॥ १४ ॥
तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन् ।
आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ॥ १५ ॥
ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ।

मनस्वी रौद्राश्वके वीर्य और मिश्रकेशी नाम्नी अप्सराके गर्भमे अन्वग्भानु आदि दश पुत्रोंने जन्म लिया था; वे सभी सब शास्त्रों मे निपुण, धर्मशील, बडे चापधारी, योगशील, शूर, प्रजायुक्त और सब शास्त्रज्ञ हुए। उनमे ऋचेयु, कक्षेयु, वीर्यवान कृकणेयु, स्थण्डिलेयु, वनेयु, महा यशोवन्त जलेयु, बलवन्त तेजेयु धीमान सत्येयु, इन्द्रके समान विक्रमी धर्मेयु और देवसदृश पराक्रमी दशवें सन्नतेयु, इन दश पुत्रोंने जन्म लिया था। देवोंमे देवराज जैसे विक्रमी और विद्वान है, ऋचेयु भूमण्डलमे अद्वितीय राजा होकर अनाधृष्टि नामसे प्रसिद्ध हुए। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करनेवाले परम धार्मिक प्रख्यात राजा मतिनारने अनाधृष्टिसे जन्म लिया, हे राजन्! मतिनारके औरससे तंसु, महान, अतिरथ और महा द्योतमान द्रुह्यु यह चार पुत्र उत्पन्न हुए, यह सब अमित विक्रमी थे। (८—१४)

उनमे तंसु अति वीर्यवन्त और यशधर थे, उन्होंने भूमण्डलको जीत कर प्रदीप्त यश उपार्जन किया था! वीर्यवन्त तंसुने ईलिन नामक पुत्रको जन्म दिया; जयशील उस तंसुके पुत्रने भी

सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतां वरः ॥ १६ ॥
रथन्तर्यां सुतान्पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः ।
ईलिनो जनयामास दुष्यन्तप्रभृतीन्नृपान् ॥ १७ ॥
दुष्यन्तं शूरभीमौ च प्रवसुं वसुमेव च ।
तेषां श्रेष्ठोऽभवद्राजा दुष्यन्तो जनमेजय ॥ १८ ॥
दुष्यन्ताद्भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः ।
तस्माद्भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद्यशः ॥ १९ ॥
भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नवपुत्रानजीजनत् ।
नाऽभ्यनन्दत तान्राजा नाऽनुरूपा ममेत्युत ॥२०॥
ततस्तान्मातरः क्रुद्धाः पुत्रान्निन्युर्यमक्षयम ।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत् ॥ २१ ॥
ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा ।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद्भुमन्युं नाम भारत ॥ २२ ॥
ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः ।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ २३ ॥
ततो दिविरथो नाम भुमन्योरभवत्सुतः ।
सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण धरतीतलको जीत लिया था। अनतर रथन्तरीके गर्भ और राजा ईलिनके वीर्यसे पञ्चभूतोंके समान पाच पुत्र उत्पन्न हुए, उनके नाम दुष्यन्त, शूर, भीम, प्रवसु और वसु थे। हे जनमेजय! उनमेंसे श्रेष्ठ दुष्यन्त राजा हुए, दुष्यन्तसे शकुन्तलाके गर्भसे विद्वान् भरतने जन्म लिया, उनसेही भरतवंशका महान् यश फैल गया। (१६—१९

सन्तुष्ट थे, यह देख कर पुत्रों की माताओंने क्रोधके वशमें होकर निज निज पुत्रोंको मार डाला; इससे नरश्रेष्ठ भरतके उन पुत्रोंकी उत्पत्ति व्यर्थ हुई। हे भारत! अनन्तर राजा भरतने महायज्ञका अनुष्ठान करके भरद्वाजसे भुमन्यु नाम पुत्र लाभ किया! हे भरतश्रेष्ठ! आगे पौरवनन्दन भरतने अपनेको पुत्रवान जानकर उस भुमन्यु नामक पुत्रको यौवराज्यपर अभि-

पुष्करिण्यामृचीकश्च भुमन्योरभवन्सुताः ।
तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षिताम्॥२५॥
राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद्बहुभिर्मखैः ।
सुहोत्रः पृथिवीं कृत्स्नां बुभुजे सागराम्बराम्॥२६॥
पूर्णां हस्तिगजाश्वैश्च बहुरत्नसमाकुलाम् ।
ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ॥ २७॥
हस्त्यश्वरथसंपूर्णा मनुष्यकलिला भृशम् ।
सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः॥ २८॥
चैत्ययूपाङ्किता चाऽऽसीद्भूमिः शतसहस्रशः।
प्रवृद्धजनसस्या च सर्वदैव व्यरोचत ॥ २९॥
ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात्पृथिवीपतेः ।
अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥ ३०॥
अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन्वंशः प्रतिष्ठितः ।
षट् पुत्रान्सोऽप्यजनयत्तिसृषु स्त्रीषु भारत॥ ३१॥
ऋक्षं धूमिन्यथो नीली दुष्यंतपरमेष्ठिनौ ।
केशिन्यजनयज्जह्नुं सुतौ व्रजनरूपिणौ ॥ ३२॥
तथेमे सर्वपाञ्चाला दुष्यंतपरमेष्ठिनोः ।

सुयजु, ऋचीक और दिविरथ इन सब पुत्रोंने जन्म लिया;इनमेंसे सुहोत्र ज्येष्ठपुत्र थे,सो उन्होंने राज्य पाया। वह राजसूय अश्वमेध आदि नाना यज्ञ करके हाथी और घोडोंसे भरी नाना रत्नोंसे पूरी, समुद्र से घिरी सम्पूर्ण पृथ्वी भोगने लगे। तब भूमण्डल हाथी घोडे और रथोंसे पूरित और अगणित मनुष्योंसे विकल होकर अति भारसे पीडित होनेके कारण डूबने पर हुआ। राजा सुहोत्रके धर्मानुसार प्रजा शासन करनेसे धरतीमण्डल सकडों सहस्रों स्थानोंमें देवालय और यज्ञके यूपोंसे चित्रित हुआ था। (२४—२९)

हे भारत ! पृथ्वीनाथ सुहोत्रसे स्त्री ऐक्ष्वाकीने अजमीढ, सुमीढ और पुरुमीढ यह तीन पुत्र प्रसव किये ; उनमेंसे अजमीढ ज्येष्ठ पुत्र थे, उनसेही वंश प्रतिष्ठित हुआ। हे भारत ! अजमीढने तीन रानियोंसे छः पुत्र उत्पन्न किये ; उनमें धूमिनीके गर्भसे ऋक्ष,नीली के गर्भसे दुष्यन्त तथा परमेष्ठी और केशिनीके गर्भसे जन्हु व्रजन और रूपिन इन तीन पुत्रोंने जन्म लिया। दुष्यन्त और परमेष्ठीके वंशमें यह सब पाञ्चाल राजा उत्पन्न हुए।

अन्वयाः कुशिका राजञ्जह्नोरमिततेजसः ॥ ३३ ॥
व्रजनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम् ।
ऋक्षात्संवरणो जज्ञे राजन्वंशकरः सुतः ॥ ३४ ॥
आर्क्षे संवरणे राजन्प्रशासति वसुंधराम् ।
संक्षयः सुमहानासीत्प्रजानामिति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥
व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा ।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ॥ ३६ ॥
अभ्यघ्नन्भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च ।
चालयन्वसुधां चेमां बलेन चतुरङ्गिणा ॥ ३७ ॥
अभ्ययात्तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम् ।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ॥ ३८ ॥
ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजा संवरणस्तस्मात्पलायत महाभयात् ॥ ३९ ॥
सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत्तदा ।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः ॥ ४० ॥
तत्राऽवसन्बहून्कालान्भारता दुर्गमाश्रिताः ॥ ४१ ॥
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान् ।
अथाऽभ्यगच्छद्भरतान्वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ४२ ॥

अमिततेजा जन्हुके वंशमे कुशिकोने जन्म लिया । जनाधिप ऋक्ष, व्रजन और रूपिन मे ज्येष्ठ थे; ऋक्षसे वंश करने वाले संवरण नामक पुत्र उत्पन्न हुए ।(३०-३४)

हे राजन्! हम सुन चुके है, कि जब ऋक्षपुत्र सम्वरणने धरतीको शासन किया था, तब बहुत प्रजा क्षय होने लगी; क्षुधा, मृत्यु, अनावृष्टि और व्याधि आदि नाना कारणोसे प्रजा लोप होनेपर राज्य एकबारही नष्ट हो गया; शत्रु पक्षकी सेना भारत पक्षीय योद्धोंको मारने लगी; पाञ्चालके भूप विक्रम से भूमण्डल को जीतकर चतुरङ्गिणी सेनासे पृथ्वी-को डोलाते हुए राजा संवरणके निकट आन पहुंचे; आगे युद्धस्थल मे दश अक्षौहिणी सेनासे राजा सम्वरणको परा-जय किया । तब वह बहुत भय खाकर स्त्री, पुत्र मन्त्री और मित्रोंके साथ भाग कर सिन्धु नामक महानदके तटमे पर्वतके निकट तक फैली हुई एक फुलवाडीमें टिके रहे भारतगण उस जानके अयोग्य वनमें बहुकाल बसने लगे धीरे धीरे

ततागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याऽभिवाद्य च ।
अर्घ्यमभ्याहरंस्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा ॥ ४३ ॥
निवेश्य सर्वन्तस्मै सत्कारेण सुवर्चसे ।
ततासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा ॥ ४४ ॥
पुरोहितो भवान्नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि
ओमित्येवं वसिष्ठोऽपि भारतान्प्रत्यपद्यत ॥ ४५ ॥
अथाऽभ्यषिञ्चत्साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम्।
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नःश्रुतम् ॥ ४६ ॥
भारताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत्पुरोत्तमम् ।
पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः ॥ ४७ ॥
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः ।
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ४८ ॥
ततः संवरणात्सौरी तपती सुषुवे कुरुम् ।
राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे ॥ ४९ ॥
तस्य नाम्नाऽभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम्।
कुरुक्षेत्रं च तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ॥ ५० ॥

अविक्षितमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ।
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुम॥ ५१ ॥
पञ्चैतान्वाहिनी पुत्रान्व्यजायत मनस्विनी ।
अविक्षितः परिक्षित्तु शबलाश्वस्तु वीर्यवान्॥ ५२ ॥
आदिराजो विराजश्च शाल्मलिश्च महाबलः ।
उच्चैःश्रवा भङ्गकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः॥ ५३॥
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः ।
जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ॥ ५४ ॥
परिक्षितोऽभवन्पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ ५५ ॥
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ।
जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलाः ५६ ॥
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ।
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ॥ ५७ ॥
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ।
सर्वे धर्मार्थकुशलाः सर्वभूतहितेरताः ॥ ५८ ॥
धृतराष्ट्रोथ राजाऽऽसीत्तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ।
हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ॥ ५९ ॥

पवित्र और उनके निज नामके अनुसार कुरुक्षेत्र करके प्रसिद्ध हुआ था। वाहिनी नाम्नी उनकी मनस्विनी रानीने तिनमें अविक्षित, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि और प्रख्यात जनमेजय यह पांच पुत्र प्रसव किये। अविक्षितके परीक्षित, शबलाश्व, वीर्यवन्त आदिराज, विराज, महाबली, शाल्मली, उच्चैःश्रवा भङ्गकार और जितारी यह आठ पुत्र उत्पन्न हुए, इनके वंशमें कर्म्म हेतु गुणसे प्रधान जनमेजय आदि सात और दूसरे अनेक महारथियोंने जन्म लिया था। (४९—५४)

जनमेजय, कक्षसेन, उग्रसेन, वीर्यवन्त चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन यह नव पुत्र परीक्षितसे उत्पन्न हुए थे; यह सब धर्मार्थतत्त्वज्ञ थे। जनमेजयसे महाबलवन्त पृथ्वी भरमें प्रख्यात धर्मार्थयुक्त और सर्वभूतोंके हितमें नियुक्त आठ पुत्रोंने जन्म लिया; उनमें ज्येष्ठ धृतराष्ट्र हैं, पीछे पाण्डु, बाह्लीक, महातेजा निषध, बलवन्त जाम्बूनद, कुण्डोदर, पदाति और अष्टम वसाति हैं, उनमें धृतराष्ट्र राजा

दिविःश्रवान्यथेन्द्राभो सुमन्युश्चाऽपराजितः।
धृतराष्ट्रसुतानाहुर्विनितान्प्रथितान्भुवि ॥ ६० ॥
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीप प्रथितस्तेषां बभूवाऽप्रतिमो भुवि ॥ ६१ ॥
प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥ ६२ ॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शान्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥ ६३ ॥
भरतस्याऽन्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥ ६४ ॥
एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥ ६५ ॥ [३८२१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि संभवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

जनमेजय उवाच– श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन्पूर्वेषां संभवो महान्।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन्राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥
किं तु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।

प्रीणात्यतो भवान्भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ॥ २ ॥
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः ।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ॥ ३ ॥
सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम् ।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवस्थितम् ४ ॥
गुणप्रभाववीर्यौजः सत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसंमिताम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच–शृणु राजन्पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानं मया कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥ ६ ॥

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान्विवस्वतो मनुर्मनोरिला इलायाः पुरूरवाः । पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद्ययातिर्ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः॥७॥ उशनसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम।अत्राऽनुवंशश्लोको भवति ॥८॥ यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत । द्रुह्युं चाऽनुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥९॥ तत्र यदोर्यादवाः पूरोः पौरवाः॥१०॥

है, उससे भली प्रकार तृप्त नहीं हुआ हूं, आप फिर विस्तृत रूपसे कहिये । प्रजापति मनुसे लेकर सम्पूर्ण राजाओं के पवित्र जन्म-वृत्तान्त रूपी यह दिव्य कथा सुननेसे किस मनुष्यकी प्रीति नहीं होती? व दानशीलता आदिगुण, असाधारण शक्ति, शारीरिक बल, मानसिक सामर्थ्य,अदीनता और उत्साहयुक्त थे,उनके सुकर्म, गुण और महात्म्यसे बढा हुआ यश तीनों लोकमें व्याप्त होकर और बढकर आजतक विद्यमान है, उनकी अमृत सदृश मीठी कथा संक्षेप में सुनकर भली प्रकार तृप्त नहीं हो सकता हूं । (१–५)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि हे राजन्! मैने पहिले द्वैपायनसे आप के शुभवंशके वृत्तान्तोंको जैसा सुना है, वह सब कहता हूं, सुनिये । दक्षसे अदिति,अदितिसे विवस्वान्, विवस्वानसे मनु,मनुसे इला, इलासे पुरुरवा, पुरुरवासे आयु, आयुसे नहुष और नहुषसे ययातिने जन्म लिया था । ययातिके दो स्त्रियां थीं, शुक्र की पुत्री देवयानी और वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठा । इस स्थानमें वंशकी कथा-सम्बन्धी श्लोक है, कि देवयानीने यदु और तुर्वसु इन दो पुत्रोंको और वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पुरु इन तीन पुत्रोंको प्रसव किया था । आगे यदुसे यादव वंश और पुरुसे पौरव वंश उत्पन्न हुआ । (६–१०)

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥३०॥
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात्।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला॥३१॥

ततोऽस्य भरतत्वम्। भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम तस्यामस्य जज्ञे सुमन्युः ॥३२॥ सुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥ ३३ ॥ सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम तस्यामस्य जज्ञे हस्ती य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास। एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥ ३४ ॥ हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनो नाम ॥ ३५ ॥ विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽजमीढो नाम ॥ ३६ ॥ अजमीढस्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव कैकेय्यां गान्धार्यां विशालायामृक्षायां चेति पृथक्पृथग्वंशधरा नृपतयस्तत्र वंशकरः संवरणः॥३७

माता चमड़ेके धौंकनी नाईं है, उससे पिता आपही पुत्रके स्वरूपसे जन्म लेता है, अतएव पुत्रको पोषो, पालो, शकुन्तला का अनादर मत करो। हे नरदेव! निज वीर्यसे उत्पन्न हुई सन्तान यम-राजके घरसे उद्धार करती है और तुम्हींने यह गर्भाधान किया है; यह सच

सुमन्युने दशार्हकी कन्या विजयासे विवाह कर सुहोत्र नाम पुत्रोत्पादन किया था, सुहोत्रने इक्ष्वाकुकी कन्या सुवर्णासे विवाह किया था, उससे सुवर्णाके गर्भसे हस्ती नामक राजपुत्रका जन्म है॥ महाराज हस्तीने निज नामसे हस्तिना-पुर स्थापन किया था; इसलिये हस्ति-

संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ॥ ३८॥
कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम तस्यामस्य जज्ञे विदूरथः॥३९॥
विदूरथस्तु माधवीमुपयेमे संप्रियां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽनश्वा नाम४०॥
अनश्वा खलु मागधीमुपयेमेऽमृतां नाम तस्यामस्य जज्ञे परीक्षित् ४१ ॥
परीक्षित्खलु बाहुदामुपयेमे सुयशां नाम तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः४२
भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवा
नाम ४३ प्रतिश्रवसः प्रतीपः । प्रतीपः खलु शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम
तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं बाह्लीकं चेति ४४॥ देवापिः
खलु बाल एवाऽरण्यं विवेश शान्तनुस्तु महीपालो बभूव ॥ ४५ ॥
अत्राऽनुवंशश्लोको भवति । यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुख-
मश्नुते । पुनर्युवा च भवति तस्मात्तं शान्तनुं विदुरिति तदस्य शान्त-
नुत्वम् ॥४६॥ शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे तस्यामस्य जज्ञे
देवव्रतो नाम यमाहुर्भीष्ममिति ॥ ४७ ॥

अलग वंश धर हुए थे, उनमेंसे संवरणके पुत्रहीमें वंश प्रतिष्ठित था । संवरणने सूर्यकी पुत्री तपतीसे विवाह किया था, तपतीके गर्भमें कुरुका जन्म हुआ । कुरु ने दशार्हकी पुत्री शुभाङ्गीसे विवाह किया । शुभाङ्गी के गर्भमें विदूरथका जन्म हुआ । माधवपुत्री संप्रियासे विदूरथका विवाह होनेपर संप्रियाके गर्भमें अनश्वाने जन्म लिया । अनश्वाने अमृता नाम्नी मगधराज कुमारीसे विवाह करके उसके गर्भमें परीक्षित् नामक पुत्रोत्पादन किया । (३७ ४१)

परीक्षित्‌ने बाहुदकी कन्या सुयशासे विवाह किया था सुयशाके गर्भमें भीमसेन नामक पुत्रने जन्म लिया । भीमसेनने केकय राजकुमारी, कुमारीसे विवाह किया था, कुमारीके गर्भमें प्रतिश्रवा नाम पुत्रका जन्म हुआ । प्रतिश्रवाके पुत्र प्रतीपने शैब्यराजकुमारी सुनन्दासे विवाह कर उसके गर्भमें देवापि, शान्तनु और बाह्लीक यह तीन पुत्र उत्पन्न किये; देवापी बालेपन ही में वनमें गये थे, शान्तनु राजा भये । इस स्थानमें वंश कीर्तनका श्लोक है, कि "यह भूप भुजसे जिन जिन जीर्ण जनोंको स्पर्श करते थे, वे सब फिर युवा (शान्त तनु) होकर सुख भोगते थे इस हेतु इनका नाम शान्तनु हुआ है। (४२–४६)

शान्तनुने भागीरथी गङ्गासे विवाह किया था, उसने गङ्गाके गर्भमें देवव्रत ने जन्म लिया, जिनको सब भीष्म कहा करते हैं । भीष्मने पिताका प्रिय काय

द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम माद्री चेत्युभे स्त्रीरत्ने ॥ ५८ ॥ अथ पाण्डुर्मृगयां चरन्मैथुनगतमृषिमपश्यन्मृग्यां वर्तमानं तथैवाऽद्भुतमनासादितकामरसमतृप्तं च बाणेनाऽऽजघान ॥५९॥ स बाणविद्ध उवाच पाण्डु चरता धर्ममिमं येन त्वयाऽभिज्ञेन कामरसस्याऽहमनवाप्तकामरसो निहतस्तस्मात्त्वमप्येतामवस्थामासाद्याऽनवाप्तकामरसः पञ्चत्वमाप्स्यसि क्षिप्रमेवेति स विवर्णरूपस्तथा पाण्डुः शापं परिहरमाणो नोपासर्पत भार्ये वाक्यं चोवाच ॥ ६०॥ स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहं शृणोमि च नाऽनपत्यस्य लोकाः सन्तीति सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच सा तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास धर्माद्युधिष्ठिरं मारुताद्भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति ॥ ६१ ॥ तां संहृष्टः पाण्डुरुवाचेयं ते सपत्न्यनपत्या साध्वस्या अपत्यमुत्पाद्यतामिति । एवमस्त्विति कुन्ती तां विद्यां माद्र्याः प्रायच्छत् ॥ ६२ ॥ माद्र्यामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ॥ ६३ ॥ माद्रीं खल्वलंकृतां दृष्ट्वा

कुन्ती और माद्री यह दो स्त्री रत्न पाण्डुकी भार्या भयी थीं; कुन्ती का दूसरा एक नाम पृथा था, अनन्तर एक समय पाण्डु मृगयाके निमित्त वनमे गये थेः वहा देखा, कि एक ऋषि मृगीसे मैथुन कर रहे है, तबतक कामरसके पूर्ण न होनेके हेतु भले प्रकार तृप्त नहीं हुए थे,उन अद्भुत मृगरूपी ऋषि पर उन्होंने बाण मारा । ऋषि बाणसे विद्ध होकर पाण्डुसे बोले, कि तुमने धर्म और काम रसके अभिज्ञ होकर, मुझको अपूर्ण मनोरथ देखने परभी मार डाला ! इस हेतु तुमभी कामरसमें अतृप्त रह कर उस दशामें शीघ्र परलोकको सिधारोगे । पाण्डुका यह शाप सुनतेही मात्र उदास रङ्ग बदल गया और शापसे बचने के लिये स्त्रीसे मिलना त्याग दिया । आगे उन्होंने कुन्ती और माद्रीसे कहा, कि मैंने अपनी चपलतासे यह कुदशा प्राप्त की हैः सुना है, कि पुत्रकी उत्पत्ति न होनेसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती । अनन्तर कुन्तीसे बोले, कि तुम मेरे लिये पुत्र उत्पादन करो । आगे कुन्तीने पतिके उस नियोगके अनुसार धर्मसे युधिष्ठिर पवनसे भीम और इन्द्रसे अर्जुन यह तीन पुत्र उत्पन्न किये । (५८–६१)

पाण्डु उनपर प्रसन्न होकर बोले, कि तुम्हारी सौत यह माद्री निःसन्तान है, तुम यत्नवती होकर इसके पुत्र उत्पन्न कर दो । कुन्तीने यह स्वीकार कर वह विद्या माद्रीको दे दी, कि जिस विद्यासे धर्मादिको बुलाकर वह पुत्रोत्पादन करती

पाण्डुर्भावं चक्रे स तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः ॥ ६४ ॥ तत्रैनं चिता-
ग्निस्थं माद्री समन्वारुरोहोवाच कुन्तीं। यमयोरप्रमत्तया त्वया भवि-
तव्यमिति ॥ ६५ ॥ ततस्ते पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हास्तिनपुरमा-
नीय तापसैर्भीष्मस्य विदुरस्य च निवेदिताः सर्ववर्णानां च निवेद्या-
न्तर्हितास्तापसा बभूवुः प्रेक्षमाणानामेव तेषाम् ६६ तच्च वाक्यमुपश्रुत्य
भगवतामन्तरिक्षात्पुष्पवृष्टिः पपात देवदुन्दुभयश्च प्रणेदुः ॥ ६७ ॥
प्रतिगृहीताश्च पाण्डवाः पितुर्निधनमावेदयन्तस्तस्यौर्ध्वदेहिकं न्यायत-
श्च कृतवन्तस्तांस्तत्र निवसतः पाण्डवान्बाल्यात्प्रभृति दुर्योधनो नाम-
र्षयत ॥ ६८॥ पापाचारो राक्षसीं बुद्धिमाश्रितोऽनेकैरुपायैरुद्धर्तुं व्यवसि-
तो भावित्वाच्चार्थस्य न शकितास्ते समुद्धर्तुम् ॥६९॥ ततश्च धृतराष्ट्रेण
व्याजेन वारणावतमनुप्रेषिता गमनमरोचयन् ॥७०॥ तत्राऽपि जतुगृहे
दग्धु समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेनेति ॥ ७१ ॥ तस्माच्च हि-

थी। आगे माद्रीमें भी दोनों अश्विनीकुमारोंसे नकुल और सहदेव यह दो यमज पुत्र उत्पन्न किये। एक समय पाण्डु माद्रीको गहनोंसे सजी हुई, देखकर कामवश हो गये. उससे माद्रीके स्पर्श करतेमात्र उन्होंने शरीर छोडा। पाण्डुकी देह चिताकी आगमें जला दी जानेपर माद्री उनके पीछे सती हो गयी. और उस समय कुन्तीसे कह गयी, कि तुम सावधान होकर मेरे इन दो यमज सन्तानोंको पालना। अनन्तर तपस्वीगण कुन्तीके साथ पाण्डवोंको हस्तिनापुरमें लिवा लाकर भीष्म विदुरको दे दिया और सारे ब्राह्मणादि सब वर्णोंके निकट पाण्डवोंकी सब जन्मकथा सुनाकर उनके सामनेसे चले गये; उन तपस्वियोंके जानेके अन्त होनेके अनन्तर आकाशसे फलोंकी वृष्टि होने लगी और देवताओंके नगाडे बजने लगे (६२—६७)

पाण्डवोंने भीष्मादिसे लिये जाकर पिताकी मृत्यु-कथा कहकरके विधिपूर्वक पिताका और्ध्वदेहिक कार्य किया, और वे उस स्थानमें बसने लगे। उनसे दुर्योधन लडकपनहीसे झगडने लगा; उस पापात्माने राक्षसी बुद्धि लेकर नाना उपायोंसे उनको वहांसे उखाडने की चेष्टा की थी, पर जो कार्य होनहार है, उसके अवश्य होनेके हेतु उसका मनोरथ सफल नहीं होसका। अनन्तर धृतराष्ट्रने छलपूर्वक उनको वारणावत ग्रामको भेजा, पाण्डव लोग भी सम्मत होकर वहां गये थे। वारणावतमें उन्होंने दुर्योधनके चाहित अनुष्ठानसे जतुगृहमें जल मरने पर होकर विदुरजीके परामर्शके प्रभावसे रक्षा पायी। (६८—७१)

डिम्बमन्तरा हत्वैकचक्रां गताः ॥ ७२ ॥ तस्यामप्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरमधिगताः ॥७३॥ तत्र द्रौपदीं भार्यामविन्दन्स्वविषयं चाऽभिजग्मुः ॥ ७४ ॥ कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः सुतसोमं वृकोदरः श्रुतकीर्तिमर्जुनः शतानीकं नकुलः श्रुतकर्माणं सहदेव इति॥७५॥युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवराल्लेभे तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ॥७६॥ भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्कां तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ॥ ७७ ॥ अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीं भार्यामुदावहत । स्वविषयं चाऽभ्याजगाम कुशली तस्यां पुत्रमभिमन्युमतीव गुणसंपन्नं दयितं वासुदेवस्याऽजनयत् ॥ ७८ ॥ नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत्तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाऽजनयत्॥७९॥ सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरं तस्यां पुत्रमजनयत्सुहोत्रं नाम ॥८०॥ भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां

आगे वारणावतसे एकचक्रा नगरीमें गये, वहां जानेमें प्रथमे हिडिम्बका वध किया था ! उस एकचक्रा नगरीमें बक नामक राक्षसको मारकर पाञ्चाल नगरमें गये,वहां द्रौपदीको भार्या प्राप्त करके निज राज्यमें लौटकर कुछदिन कुशलसे रहे। उस समय द्रौपदीके गर्भसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें युधिष्ठिरके वीर्यसे प्रतिविन्ध्य, भीमके वीर्यसे सुतसोम अर्जुनके वीर्यसे श्रुतकीर्ति, नकुलके वीर्यसे शतानीक और सहदेवके वीर्यसे श्रुतकर्मा का जन्म हुआ। (७२— ७५

युधिष्ठिरने गोवासन नामक शैब्य राजकी कन्या देविकाको स्वयंवरके स्थानसे प्राप्त किया उस देविकाके गर्भसे यौधेय नाम पुत्र उत्पन्न हुआ था। भीमसेनने वीर्यरूपी शुल्कके द्वारा काशीराजकी पुत्री बलन्धरासे विवाह कर उसके गर्भसे सर्वग नामक पुत्रको उत्पन्न किया। अर्जुनने द्वारकामें जाकरके वासुदेवकी बहिन भद्रभाषिणी सुभद्राको हर कर उससे विवाह किया। आगे विनाविघ्न निज नगरमें लौटकर उस सुभद्रासे अति गुणवंत वासुदेवके प्यारे अभिमन्यु नामक पुत्रको उत्पन्न किया। नकुलने चेदिराजकुमारी करेणुमतीनाम्नी कन्यासे विवाह करके उससे निरमित्र नामक पुत्रको उत्पादन किया। सहदेवने स्वयंवरके कालमें द्युतिमान मद्रराज की कन्या विजयासे विवाह किया था, विजयाके

राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ॥ ८१ ॥ इत्येते एकादश पाण्डवानां पुत्रास्तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ॥ ८२ ॥ स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽभवत्तमुत्सङ्गेन प्रतिजग्राह पृथा नियोगात्पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य षाण्मासिकं गर्भमहमेनं जीवयिष्यामीति॥ ८३ ॥ स भगवता वासुदेवेनाऽसंजातबलवीर्यपराक्रमोऽकालजातोऽस्त्राग्निना दग्धस्तेजसा स्वेन स जीवितो जीवयित्वा चैनमुवाच परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति ॥ ८४ ॥ परिक्षित्तत्तु माद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरं तस्यां भवाञ्जनमेजयः ॥ ८५ ॥ भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते शतानीकः शङ्कुकर्णश्च शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नोऽश्वमेधदत्त इति ॥ ८६ ॥ एष पूरोर्वंशः पाण्डवानां च कीर्तितो धन्यः पुण्यः परमपवित्रः सततं श्रोतव्यो ब्राह्मणैर्नियतव्रतैर्निरन्तरं क्षत्रियैःस्वधर्मनिरतैःप्रजापालनतत्परैर्वैश्यैरपि च श्रोतव्योऽभिगम्यश्च तथा शूद्रैरपि त्रिवर्णशुश्रूषुभिः श्रद्दधानैरिति॥८७॥इतिहासमिमं पुण्यमशेषतः श्रावयिष्यन्ति ये नराःश्रोष्यन्ति

गर्भसे सुहोत्र नाम पुत्रका जन्म हुआ। भीमसेनने पहिले ही हिडिम्बासे राक्षस घटोत्कचको उत्पादन किया था। पाण्डवों के यह ग्यारह पुत्र थे; उनमें अभिमन्यु हीसे वंशकी रक्षा हुई है। (७६-८२)

अभिमन्युने विराट राजपुत्री उत्तरासे विवाह किया था, उनके वीर्य और उत्तरा के गर्भसे छः महीने पहिले अस्त्राग्नि- के द्वारा जला मरा पुत्र उत्पन्न हुआ। पुरुषोत्तम वासुदेवने "मैं इस सन्तानको [illegible]" कहकर कुन्ती को नियोग किया, उनके नियोगके अनुसार कुन्तीने उस मरे हुए बालक को गोदमें लिया, और भगवान वासुदेवने उस [illegible] [illegible] अस्त्राग्नि से जले हुए बालकको निज तेजसे जिलाया, अनन्तर बोले, कि कुलके परिक्षीण होने पर इस बालकने जन्म लिया है, इस हेतु इसका नाम परिक्षित होवे। महाराज! परिक्षितने माद्रवती नाम्नी आपकी मातासे विवाह किया था, उससे आपने जन्म लिया है, आपने वपुष्टमा नाम्नी रानीसे शतानीक और शङ्कुकर्ण यह दो पुत्र उत्पन्न किये हैं। शतानीकके वीर्य और वैदेहीके गर्भसे अश्वमेधदत्त नाम एक पुत्र उत्पन्न हुआ है। (८३—८६)

हे नृपते! पुरु और पाण्डवोंकी वंश- कथा कह चुका। धन्य, पुण्यजनक और श्रद्धायुक्त ब्राह्मण लोग नित्य व्रतमें निरत और प्रजा पालनमें लगे

वा नियतात्मानो विमत्सरा मैत्रा वेदपरास्तेऽपि स्वर्गजितः पुण्यलोका भवन्ति सततं देवब्राह्मणमनुष्याणां मान्याः संपूज्याश्च ॥ ८८ ॥ परं हीदं भारतं भगवता व्यासेन प्रोक्तं पावनं ये ब्राह्मणादयो वर्णाः श्रद्धाना अमत्सरा मैत्रा वेदसंपन्नाः श्रोष्यन्ति तेऽपि स्वर्गजितः सुकृतिनोऽशोच्याः कृताकृते भवन्ति॥ ८९ ॥ भवति चाऽत्र श्लोकः ॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः॥ ९० ॥[३९११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि सम्भवपर्वणि पुरुवंशानुकीर्तने पञ्चनवतितमोऽध्याय ॥ ९५ ॥

वैशम्पायन उवाच- इक्ष्वाकुवंशप्रभवो राजाऽऽसीत्पृथिवीपतिः ।
महाभिष इति ख्यातः सत्यवाक्सत्यविक्रमः॥ १ ॥
सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
तोषयामास देवेशं स्वर्गं लेभे ततः प्रभुः ॥ २ ॥
ततः कदाचिद्ब्रह्माणमुपासाञ्चक्रिरे सुराः ।

हुए क्षत्रियगण, वैश्यवर्ग और तीनों वर्णके सेवाकारी और श्रद्धायुक्त शूद्र अवश्यमेव सुने और इसका अर्थ जाने, जो सब देवपरायण ब्राह्मण और दूसरे मानवगण अहङ्काररहित और संयत होकरके इस पवित्र इतिहासको अशेषरूपसे सुनेंगे वा सुनावेंगे, वह स्वर्गको जीत कर पुण्य लोकमें बसेंगे और देवता ब्राह्मण और दूसरे मनुष्योंके समान माननीय और पूजनीय होंगे। यह परम पवित्र महाभारत भगवान् वेदव्याससे रचा गया है। जो सब [illegible] ब्राह्मणादि चारवर्ण अहङ्कारको तज कर श्रद्धायुक्त होकर इसे सुनेंगे, वे सुकृतिशाली और स्वर्गजयकारी होंगे और वे [illegible] करने परभी शोचनीय दशाको प्राप्त नहीं होंगे। इस विषय पर यह श्लोक है, कि " वेदसम पवित्र उत्तम, धन्य, यश बढानेवाला और आयुवृद्धिकारी यह महाभारत नियतात्म जनोंके सुनने योग्य है। (८७-९०)

आदिपर्वमें पचानबे अध्याय समाप्त। [३९११]

आदिपर्वमें छ्यानबे अध्याय।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न महाभिष नामसे प्रख्यात सत्यवादी और सत्य विक्रमी एक नरनाथ थे। उन्होंने सहस्र अश्वमेध और शत संख्यायुक्त राजसूय यज्ञसे देवाधिपको सन्तुष्ट किया था, इससे वह अन्तकालमें स्वर्गको पधारे। अनन्तर एक समय सुरलोक [illegible] उपासना कर रहे थे,

तथारूपांश्च तान्दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितांवरा ॥ ११ ॥
किमिदं नष्टरूपाः स्थ कच्चित्क्षेमं दिवौकसाम् ।
तानूचुर्वसवो देवाः शप्ताः स्मो वै महानदि ॥ १२ ॥
अल्पेऽपराधे संरम्भाद्वसिष्ठेन महात्मना ।
विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम् ॥ १३ ॥
सन्ध्यां वसिष्ठमासीनं तमत्यभिसृताः पुरा ।
तेन कोपाद्वयं शप्ता योनौ संभवतेति ह ॥ १४ ॥
न तच्छक्यं निवर्तयितुं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ।
त्वमस्मान्मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान्वसून्भुवि ॥ १५ ॥
न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे ।
इत्युक्ता तैश्च वसुभिस्तथेत्युक्त्वाऽब्रवीदिदम् ॥ १६ ॥

गङ्गोवाच— मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्ता भविष्यति ॥ १७ ॥

वसव ऊचुः — प्रतीपस्य सुतो राजा शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
भविता मानुषे लोके स नः कर्ता भविष्यति ॥ १८ ॥

गङ्गोवाच— ममाऽप्येवं मतं देवा यथा मां वदथाऽनघाः ।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम् ॥ १९ ॥

भागीरथीने उनको उस दशामें देखकर पूछा, कि तुम क्यों श्रीभ्रष्ट हुए हो? देवोंका कोई अमङ्गल तो नहीं हुआ? (८-१२)

वसुओंने कहा, कि हे महानदी! महात्मा वसिष्ठने अल्प दोषसे क्रोधित बनाओ। हे शुभे! हम मानवीके पेटमें नहीं घुसेंगे। गंगाने वसुओंकी बातको सुनकर जाना और कहा कि मर्त्यलोकमें कौनसे श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारे जन्मदाता होंगे? (१६—१७)

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥
अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥
अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् ।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥ ७ ॥
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥ ८ ॥
ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ ९ ॥
भीष्मे शान्तनवे राजन्स्थिते पुरुषसत्तमे ।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन्कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ १० ॥
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे ।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥
दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे ।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयाऽर्चितः ॥ १२ ॥

नरेशोंमें राजा नामके अयोग्य दाशार्हकी जैसी पूजा की, यह क्योंकर वैसी पूजा पा सकता है? (१—५)

हे पुरुषवर! कृष्णको वृद्ध जानके यदि उसकी पूजा की हो, तो वृद्ध वसुदेव विद्यमान रहते उसका बेटा क्योंकर पूजनीय हुआ? अथवा यदि प्रिय चाहनेवाला वा सहचर करके वसुदेवके बेटेकी पूजा की हो, तो द्रुपदके उपस्थित रहते माधव क्योंकर पूजा गया? अथवा हे कुरुनन्दन! कृष्णको आचार्य जानके यदि पूजा हो, तो द्रोणके विद्यमान रहते द्रोणपुत्रमारको क्यों पूजा? अथवा ऋत्विक मानके कृष्णकी पूजा की हो तो कृष्णद्वैपायनजीके उपस्थित रहते तुमने क्या जानकर कृष्णको पूजा? हे महाराज! स्वेच्छासे मरनेवाले पुरुषश्रेष्ठ भीष्मके विद्यमान रहते तुमने कृष्णको क्योंकर पूजा॥ (६—१०)

हे कुरुनन्दन! सब शास्त्रों में पण्डित वीरवर अश्वत्थामाके उपस्थित रहते तुमने कृष्णको क्योंकर पूजा? पुरुषश्रेष्ठ नरनाथ दुर्योधन और भरताचार्य कृपके उपस्थित रहते तुमने कृष्णकी क्योंकर पूजा की? किम्पुरुषाचार्य द्रुमको छोडके तुमने क्या समझके कृष्णको पूजा? पाद

किमन्यदवमानाद्धि येनेदं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घेणार्चितवानसि ॥ २१ ॥
अकस्माद्धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम् ।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्त्वा नियोजयेत्॥२२॥
योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान्पुरा।
जरासन्धं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥२३॥
अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् ।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घस्य निवेदनात् ॥२४॥
यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयाऽपि बोद्धव्यं यां पूजां माधवोऽर्हसि॥२५॥
अथ वा कृपणैरेतामुपनीता जनार्दन ।
पूजामनर्हः कस्मात्त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥
अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निःस्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने॥२७॥
न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ २८ ॥

अपमानके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? (१७—२१)

वास्तवमें धर्मात्मा करके धर्मपुत्रका यश फैला है, इसमें सन्देह नहीं, कि वह बिना कारण हुआ है। क्योंकि वृष्णिकुलमें उपजे हुए जिस दुरात्माने पहिले महात्मा राजा जरासन्धको अनुचित रूपसे मारा है, इस धर्मत्यागीको कौन धर्मात्माके समान अनुचित पूजा दे सकता है? कृष्णको अर्घ देनेसे युधिष्ठिरकी धार्मिकता भी जाती रही और कृपणता जानी गयी। अजी माधव! तपस्वी कुन्तीपुत्र यद्यपि भीत और कृपण बने, तौभी तुम जैसी पूजाके योग्य हो वह तुमको भी समझना चाहिये था। (२२--२५)

अथवा घृतकी धार पाय कुत्ता जैसे निरालेमें पीकर आनन्द लूटता है, वैसे तुम भी अपनी अयोग्य पूजाको बहुत मानते होगे; ऐसा न होता, तो तुमने योग्य बनके क्योंकर कृपणोंकी दीहुई यह पूजा मान ली? अजी जनार्दन! मैंने जिस अपमानकी बात कही, वह तो कुछ राजोंपर बर्ताव नहीं करती है, निश्चय जान पड़ता है, कि कौरवलोग तुम्हाराही अपमान कर रहे हैं। अजी

मृष्यन्ते चाऽर्हणां कृष्णे तद्वत्त्वं क्षन्तुमर्हसि॥ ४ ॥
वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् ।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच -- नाऽस्मै देयो ह्यनुनयो नाऽयमर्हति सान्त्वनम्।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाऽभिमन्यते ॥ ६ ॥
क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥
अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥
न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥
कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत्सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १०॥
तस्मात्सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चामि नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चाऽर्हस्त्वं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी॥११॥
ज्ञानवृद्धा मया राजन्बहवः पर्युपासिताः ।

है, वैसे आपभी सहन कीजिये । हे चेदिनाथ ! कुरुनन्दन भीष्म यथार्थ रीति पर श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूपसे ज्ञात है । यह श्रीकृष्णको जैसे जानते है, आप उनको वैसे नहीं समझते । (१-५)

भीष्मजी बोले, कि सब लोकोंमें बडे वृद्ध श्रीकृष्णचन्द्रकी पूजा जिसे प्यारी नहीं लगती, ऐसे जनको विनय करना वा समझाना अनुचित है । लडाकोंमे श्रेष्ठ जो क्षत्रिय वीर किसी क्षत्रियको युद्धमें पराजय कर वशमें लाय त्याग देते है, वह उसके गुरु बनते है । यदुनन्दनके तेजसे हार नहीं, ऐसे एकभी भूपाल इस राजसमाजमें दीख नहीं पडते । यह महाभुज अच्युत केवल हमारेही पूजनीय नहीं है, यह त्रिलोक भरके भी प्रधान पूजनीय है, क्योंकि बहुतेरे क्षत्रियश्रेष्ठ युद्धमें श्रीकृष्णसे परास्त हुये है और सम्पूर्ण विश्व इनमें सब प्रकारसे विराजमान है, अतएव वृद्धोंके विद्यमान रहते मैंने श्रीकृष्णचन्द्रकी पूजा की; दूसरोंकी नहीं । हे महाराज ! इस विषयमें तुमको ऐसा न कहना चाहिये था । ऐसी बुद्धि फिर कभी तुमको न घेरे । (६—११)

मैने बहुतेरे ज्ञानमें वृद्धोंकी उपासना की है, इन सब एकत्रित सज्जनोंकी

तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमार्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥ २१ ॥
ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥
कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाऽप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४ ॥
बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥
आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम्॥२७॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥ २८ ॥

लज्जा, कीर्ति, अच्छी बुद्धि, सनती, श्री, धृति, तुष्टि, पुष्टि यह सब गुण कृष्णहीमें सदा प्रतिष्ठित है सो हे भूपो! ऐसे ज्ञानी आचार्य, पिता, गुरु, अर्घपात्र, अर्चनीय अच्युतकी पूजा जानो आप सब मान लीजिये। (१७-२१)

हृषीकेश ऋत्विक गुरु, कन्यादान योग्य स्नातक, भूप और प्यारे यह सबही कुछ बने हैं, इसी लिये हमने इनकी पूजा की। श्रीकृष्णही सब लोकोंके उपजने और लय पानेके कारण हैं। श्रीकृष्णहीके लिये यह चराचर विश्व रचा गया है। यही अव्यक्त प्रकृति, कर्ता सनातन और सब भूतोंसे अतीत है, इसी लिये अच्युत सबसे अधिक पूजनीय बने हैं। (२२-२४)

बुद्धि, मन महान तत्व, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, और जरायुजादि चार भूत, सबही कृष्णमें विराजते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रदल, ग्रहगण, दिग्मण्डल, विदिक् सबही श्रीकृष्णमें प्रतिष्ठित हैं। जैसे चारो वेदोंमें अग्निहोत्र, छन्दोंमें गायत्री, मनुष्योंमें राजा, नदियोंमें सागर, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा ज्योतियोंमें आदित्य, पर्वतपुञ्जमें सुमेरु और पक्षियोंमें गरुड मुखिया है, वैसे क्या ऊर्ध्व, क्या तिर्यक् क्या अध

एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः।
मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ॥ ४ ॥
अर्च्यमर्चितमर्घ्यार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ।
ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम्॥५॥
मानिनां बलिनां राज्ञा मध्ये वै दर्शिते पदे।
ततोऽपतत्पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ६ ॥
अदृश्यरूपा वाचश्चाऽप्यब्रुवन्साधु साध्विति।
आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः॥ ७ ॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचाऽखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ८ ॥
कृष्णं कमलपत्राक्षं नाऽर्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन ॥९॥
वैशम्पायन उवाच—पूजयित्वा च पूजार्हान्ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥ १० ॥
तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान्॥ ११ ॥

नरेशोंसे सहा न जाय वैसे सब बलि-योंके सिर मे यह लात मारता हूं, मेरे इस वचनका वे उचित उत्तर देवें। और जितने भूप महानचित्त करके गिने जाते है, वे इन आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय और अर्घ देनेके योग्यपात्र श्रीकृष्णकी पूजा मान लेवें। (३—५)

बुद्धिमान साधु राजाके उस प्रकार पाद दिखानेसे उनमे किसीने वचन नहीं किया। आगे सहदेवके सिर पर फूल वृष्टि हुई और "साधु साधु" ऐसी आकाशवाणी उचारी जाने लगी। सर्वसं-शयनाशक, सर्वलोक वेत्ता श्रीनारदजी सब भूपोंमेंसे यह स्पष्ट वाणी बोले, कि जो लोग पद्मपलाश लोचन श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करेंगे, वे जीवतेंमभी मृत है, सम्भाषण योग्य नहीं है। (६—९)

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि ब्राह्मण, और क्षत्रियोंके विशेष जानकार नरदेव सहदेवने पूजनीय जनोंकी पूजा करके वह कर्म पूरा किया। उससे श्रीकृष्णचन्द्र के प्रधान रूप से पूजे जानेपर शत्रुनाशी शिशुपाल आंखे लालकर क्रोधके मारे भूपोंसे बोला, कि भूपो! सेनापति, मै विश्व-

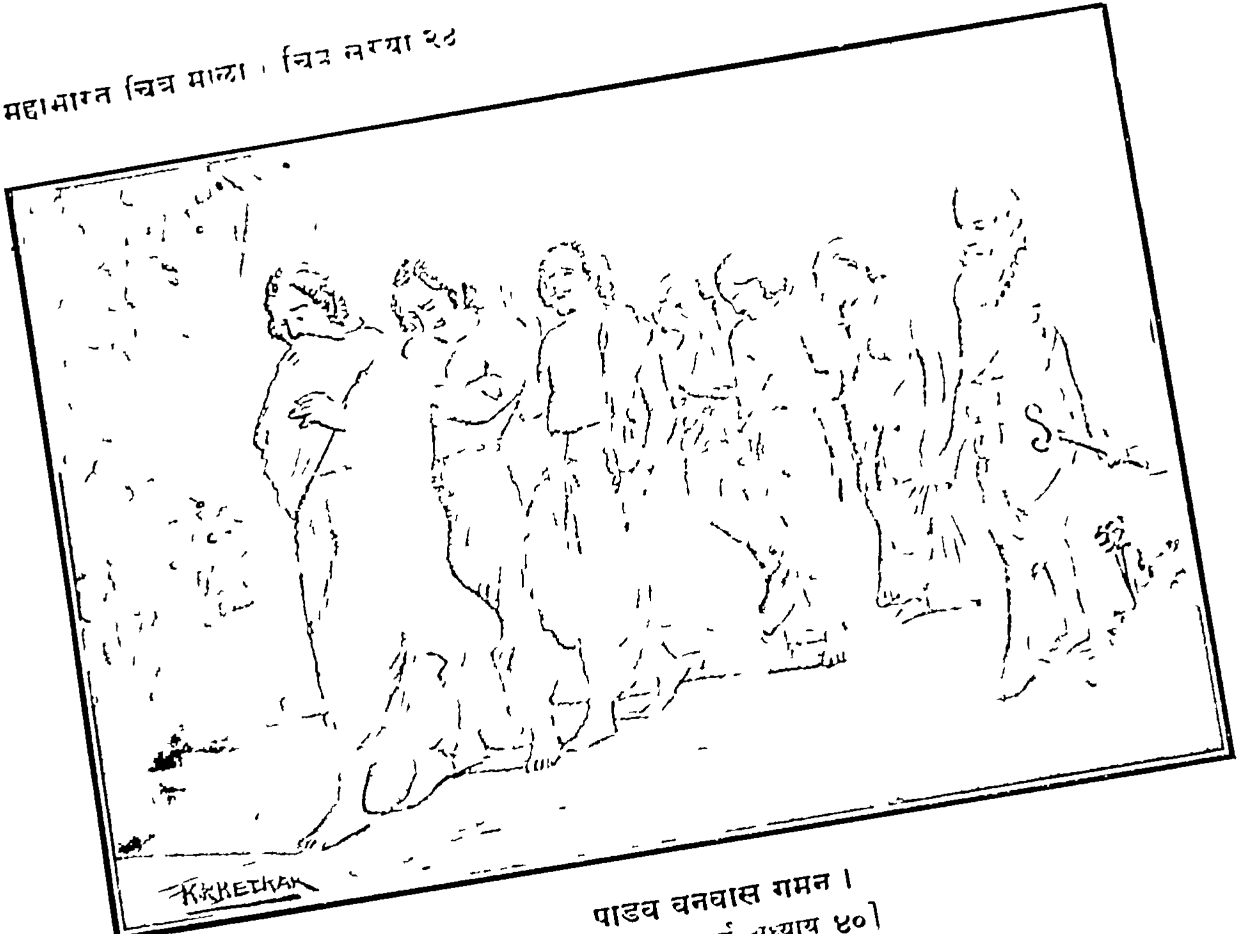
अथ शिशुपालवध पर्व।

वैशम्पायन उवाच—ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम् ।
संवर्त्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवाऽर्णवम् ॥
रोषात्प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम् ।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवाऽरिहा ॥ २ ॥
असौ रोषात्प्रचलितो महान्नृपतिसागरः ।
अत्र यत्प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥
यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात्प्रजानां च हितं भवेत् ।
यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥ ४ ॥
इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ॥ ५ ॥
मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति ।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥ ६ ॥
प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन्समागताः ।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥ ७ ॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथाऽमी प्रमुखे स्थिताः ।

चालीसवां अध्याय और शिशुपालवध पर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर इन्द्र जैसे बृहस्पतिजीसे परामर्श पूछते हैं, वैसे अति तेजस्वी शत्रुनाशी युधिष्ठिर ने क्रोधसे उछले उस नृपसमाजको प्रलय कालीन वायुसे क्षुब्ध सागरके समान निरखकर मतिमानोंके अगुआ कुरुपितामह वृद्ध भीष्मजीसे पूछा, कि हे पितामह! यह विशाल राजसमुद्र क्रोधके मारे लहरा उठा है इस विषयमें जैसा उपाय करना उचित है, जिससे यज्ञमें विघ्न न हो और प्रजाओंका सर्वत्र मङ्गल हो, वर्त्तमानमें वह सब उपाय बतावें। (१—४)

धर्मज्ञ धर्मनाथ युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर कुरु पितामह भीष्म यह वचन बोले, कि हे कुरुशार्दूल! तुम भय मत खाओ। क्या कुत्ता कभी सिंहको मार सकता है? इस विषयमें मैंने पहिलेही अच्छा शुभ उपाय ठहराया है। सिंह सोये रहनेसे कुत्ते उसके सामने आय सब मिलके जैसे चिल्लाने लगते हैं, यह राजगण वैसे गरजते हैं। सिंहके सामने कुत्तोंके सदृश सोये वृष्णिसिंहके सामने रहकर अति



पाडव वनवास गमन ।
[म० भा० सभापर्व अध्याय ८०]

भपन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य सन्निधौ॥८॥
न हि संबुध्यते यावत्सुप्तः सिंह इवाऽच्युतः।
तेन सिंहीकरोत्येनान्नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
पार्थिवान्पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽल्पचेतनः।
सर्वान्सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम्॥ १० ॥
नूनमेतत्समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः ।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ॥ ११ ॥
विप्लुता चाऽस्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम्॥ १२॥
आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ॥ १३ ॥
चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः ।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच –इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः ।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत॥१५॥[१४६६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४० ॥

क्रोधसे चिल्लाते है। नींदमें पडे सिंह समान अच्युत जबतक जागते नहीं है, तबतक नरसिंह चेदिनाथ इन लोगोंको सिंह बना रहा है। (८–९)

हे बेटा! अल्पबुद्धि शिशुपाल सब भूपोंको सब प्रकारसे यमराजके घर ले जाना चाहता है। हे भारत! शिशुपालका यह जो तेज बना है, जान पडता है, कि श्रीकृष्णचंद्र निश्चयही उसे हर लेना चाहते होंगे। हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन! इस कुबुद्धि चेदिनाथकी और सब भूपों ही की बुद्धि बिगडी है। वास्तवमें यह नरव्याघ्र माधव जब जिसको लेना चाहते है, चेदिनाथकी उनकी बुद्धि ऐसेही बिगडती है। हे युधिष्ठिर! नारायण त्रिभुवन भरमें जरायुजादि चार प्रकारके सब भूतों ही की उत्पत्ति और लयके कारण है। श्री-वैशम्पायनजी बोले, हे भारत! भीष्मकी यह बात सुन नरेश चेदिनाथ तब उनको तीक्ष्ण अक्षरोंके वचन सुनाने लगा। (१०––१५) [१४६६]

सभा पर्वमें चालीस अध्याय समाप्त।